श्रीमद्भास्कराचार्यविरचित

सिद्धान्तशिरोमणेः गोलाध्यायः

व्याख्याकार श्री पं० केदारदत्त जोशी
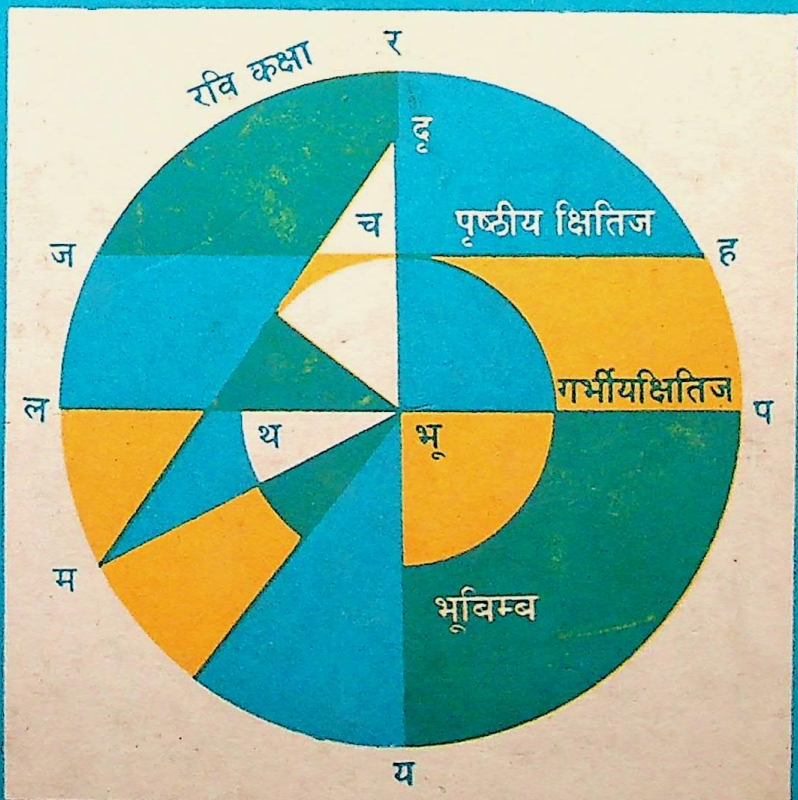
॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भास्कराचार्य विरचिते

सिद्धान्तशिरोमणौ

गोलाध्यायः

स्वोपज्ञवासनाभाष्येण, मुनीश्वरापरनामविश्वरूपविरचित—
मरीचिभाष्येण च समलङ्कृतः
जोश्युपाख्य केदारदत्तविरचितया हिन्दीव्याख्यया उपपत्त्या च सहितः

व्याख्याकार :—

श्री पं० केदारदत्त जोशी

ज्योतिश्शास्त्राचार्य (गणित + फलित)
अवकाशप्राप्त प्राध्यापक ज्यौतिष विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१/२८ हरिहर्ष निकेतन
नगवा (नलगाँव), वाराणसी २२१००५

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली वाराणसी पटना
मद्रास बंगलौर

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के प्राचीन ज्योतिर्विदों में अति महत्त्व का स्थान रखने वाले श्री भास्कराचार्य के प्रसिद्ध 'सिद्धांत शिरोमणि' के गोलाध्याय ग्रन्थ का सटीक विवेचन है। आजकल के पाठकों के लिये इस पुस्तक का विशेष रूप से लाभ लेखक की 'केदारदत्त' हिन्दी टीका एवं उपपत्ति के कारण है। संस्कृत जानने वाले तो मूल ग्रन्थ, उसका 'वासना भाष्य' एवं 'मरीचि' संस्कृत टीका का भी आनन्द ले सकते हैं।

भास्कराचार्य को मैं पूर्व परम्परा के वैज्ञानिकों की मालिका का अन्तिम मणि मानता हूँ। उनका रचनाकाल था बारहवीं-तेरहवीं सदी में (११४४–१२२३ ईसवी सन्)। पहला ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' उन्होंने लिखा ३६ वें वर्ष की आयु में और दूसरा ग्रन्थ 'करण कुतूहल' ६९ वर्ष की अवस्था में! लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणित एवं गोलाध्याय ये पहले ग्रन्थ के चार खण्ड हैं जो भारत में गणित की पाठ्यपुस्तकों के रूप में पाँच सौ वर्ष अध्ययन के विषय बने रहे। फारसी में अनूदित हुए एवं उनकी कीर्ति योरप तक पहुँची।

प्रस्तुत खण्ड से हमें भास्कराचार्य की बौद्धिक प्रगलभता एवं तत्कालीन पार्श्व भूमि पर उनकी विषय की जानकारी के दर्शन मिलते हैं। प्रारम्भ में ही उपपत्ति ज्ञान की महत्ता वे स्पष्ट करते हैं (गोल प्रशंसाध्याय, श्लोक २-४) जिससे आधुनिक वैज्ञानिक या गणितज्ञ पूर्ण सहमत रहेगा। तत्कालीन विचार-धारानुसार भास्कराचार्य भी भूकेन्द्रित सिद्धान्त में विश्वास रखते थे (भुवन-कोश, श्लोक ३) लेकिन पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की कल्पना में (भुवनकोश, श्लोक ६) वे अपने समय से आगे थे। भुवनकोश के १३-१४ वें श्लोक में उन्होंने गोल पृथ्वी की परिधि का छोटा सा भाग समतल लगता है इस महत्त्व के नियम का प्रतिपादन किया था। उसी अध्याय के ५२ वें श्लोक में आचार्य ने पृथ्वी का व्यास $१५८१\frac{१}{२४}$ योजन लिखा है। पाँच मील के योजन से यह मान ठीक उतरता है।

फिर आगे चलकर मध्यगति वासना के पहले तीन श्लोकों से पृथ्वी के चारों ओर फैले वायुमण्डल की विभिन्न सतहों की चर्चा है जो आधुनिक अंतरिक्षज्ञान से तुलना में सही न होने पर भी कल्पना स्वरूप विचारणीय है। ग्रहों का पीछे जाना, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के स्थानानुसार बदलने वाले समय, संपात बिंदुओं का सरकना, चंद्रमा पर से पृथ्वी के रूप की कल्पना एवं ग्रहणों का वैज्ञानिक

विश्लेषण इन सभी बातों से भास्कराचार्य द्वारा प्राप्त खगोल विज्ञान की परिपक्वता का हम अनुमान कर सकते हैं।

इस खंड में ऐसे भी स्थान हैं जहाँ आचार्य ने परंपरागत विचारों से टक्कर लेने के बजाय उनसे समन्वय साधा है। ग्रहण वासना के श्लोक ७-१० में ग्रहणों की वैज्ञानिक मीमांसा करके भी आखिर राहु के अस्तित्व को भी मान लिया है। उसी प्रकार ज्योतिःशास्त्र का प्रयोजन फलित ज्योतिष के लिये है इस पूर्व परंपरागत विचारधारा को भी उन्होंने दुहराया है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से आज ये विचार गलत हैं पर हमें आज उनको तत्कालीन विचार परंपरा के कुशाग्रबुद्धि वैज्ञानिक पर पड़े दबाव के रूप में देखना है।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित कर उसके विचारों की सोपपत्तिक चर्चा पाठकों के सामने प्रस्तुत कर पं० केदारदत्त जी ने जो महत्व का कार्य किया है उसके लिये मैं उन्हें बधाई देता हूँ। आशा है कि हमारी उज्ज्वल परंपरा के सबूत इस ग्रन्थ का रसिक बुद्धिजीवी पाठक स्वागत करेंगे।

खगोल भौतिकी विभाग,
टाटा इंस्टिटयूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई

जयंत विष्णु नार्लीकर
अक्टूबर, १९८७

विषयानुक्रमणिका

अधिक प्रमाणभूत दृष्टांतोंसे, तथा मिताक्षरा के—"यस्मात् क्षुब्ध प्रकृतिपुरुषाभ्याम्" श्लोक की मिताक्षरा में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युन और अनिरुद्ध नामक मूर्ति भेदों का वैष्णव आगमों में विशेष समादर होने से, ये "कार्णाटक" वैष्णव ब्राह्मण थे, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। श्री भास्कराचार्य ने 'सिद्धांतशिरोमणि' ग्रंथ के 'बीजगणित' भाग के उपसंहार में लिखा है कि उनके गुरु उनके पिता "श्री पं० महेश्वर उपाध्याय" ही थे। क्योंकि 'सिद्धांतशिरोमणि' ग्रंथ की प्राचीन प्रतिलिपियों में अध्याय समाप्ति पर "महेश्वरोपाध्यायसुत भास्कराचार्य विरचिते" लेख मिलता है।

श्री भास्कराचार्य विरचित 'सिद्धाँतशिरोमणि' ग्रंथ के चार विभाग हैं—१–लीलावती (अंकगणित), २—बीजगणित, ३—ग्रहगणिताध्याय एवं ४—ग्रहगोलाध्याय। वस्तुतः 'सिद्धांतशिरोमणि' के प्रसिद्ध चार विभागों में ग्रहगोलगणित का महत्व शीर्षस्थ है, जो आज भी निर्विवाद और निर्भ्रान्त रूप में सर्वविदित और सर्वमान्य है।

श्री भास्कराचार्य विरचित 'सिद्धांतशिरोमणि' ग्रंथ के चार विभाग हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, यहां उनके सामान्य परिचय के साथ 'ग्रहगोलाध्याय' का सांगोपांग विवेचन करना मेरा अभीष्ट है। इस विवेचन से पूर्व के अन्य विभागों पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा—

सिद्धान्तशिरोमणि एवं लीलावती (अंकगणित)

भास्कराचार्य विरचित 'सिद्धांतशिरोमणि' ग्रंथ का प्रथम भाग 'लीलावती' है। 'लीलावती' में हमें पाटी·गणित अर्थात् अंकगणित के क्षेत्र में भास्कराचार्य के वैदुष्य का अद्भुत प्रदर्शन देखने को मिलता है। गणित जैसे कठिन विषय को भास्कराचार्य ने 'लीलावती' के माध्यम से सुन्दर सरल काव्य का रूप देकर बुद्धिमान गणितज्ञों के लिए सुसरल काव्य की भाषा के रूप में प्रस्तुत किया है। इसीलिए उन्होंने ग्रंथारम्भ के मंगलाचरण में श्री गणेश जी की स्तुति करते हुये कहा है कि—

प्रीतिं भक्तजनस्य यो जनयते विघ्नं विनिघ्नन् स्मृत-
स्तं वृन्दारकवृन्दवन्दितपदं नत्वा मतङ्गाननम्।
पाटीं सद्गणितस्य वच्मि चतुरप्रीतिप्रदां प्रस्फुटां
संक्षिप्ताक्षरकोमलामलपदैर्लालित्यलीलावतीम्॥

'लीलावती' के प्रारम्भ में आचार्य ने तत्कालीन ई० सन् १११४ के समीप के वाराटक, काकिणी, पण, द्रुम, निष्क, गुन्जा, माषा, कर्ष, पल, अंङ्गुल, हस्त, दण्ड, क्रोश, योजन, निर्वतन (बीघा), खारिका, द्रोण, आढ़क, प्रस्थ और कुडव आदि सुवर्ण, रजत, तौल, भूमिनाप आदि के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख करते हुये दशगुणोत्तर अकों की नामावली का भी वर्णन सुन्दर तरीके से किया है—

एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः ।
अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात् ॥
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः ।
संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः ॥

अर्थात्—

एक	=	१
दश	=	१०
शत	=	१००
सहस्त्र	=	१०००
अयुत	=	१००००
लक्ष	=	१०००००
प्रयुत	=	१००००००
कोटि	=	१०००००००
अर्बुद	=	१००००००००
अब्ज	=	१०००००००००
खर्व	=	१००००००००००
निखर्व	=	१०००००००००००
महापद्म	=	१००००००००००००
शंकु	=	१०००००००००००००
जलधि	=	१००००००००००००००
अन्त्य	=	१०००००००००००००००
मध्य	=	१००००००००००००००००
परार्ध	=	१०००००००००००००००००

उपरोक्त प्रकार से और आगे "अनंत" (न अन्त = अनन्त = ब्रह्म) अंक का स्थानीय मान बताया है। "अंकानां वामतोगतिः" यह सिद्धांत सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र के व्यवहार में आता है। इसमें भी एक रहस्य यह है कि १ (एक) अंक के आगे एक ० (शून्य) देने में, १ (एक) को बाँये ही लिखने से १ (एक) का दशगुना और दो शून्यों के बाँये एक लिखने से १०० हो जाता हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दश स्थानीय एक या कोई भी अंक वाम होने से उत्तरोत्तर दशगुणित अंक मान वृद्धि से अनंतत्व का बोध होता है। पुरुष स्थानीय अंक से वामगतिक स्त्री स्थानीय अंक के विन्यास से दशगुणित वृद्धि होती रहती है, यही सृष्टि क्रम है। अतएव स्त्री माया, आद्या, शक्तिमयी, वामगामिनी,

वामा और हृदयङ्गमा है। उत्तरोत्तर वर्द्धमान ही नहीं अपितु दशगुणित वर्धमान होती है। उक्त प्रकार के अंकविन्यास की यह भी एक उपपत्ति मेरी समझ से सिद्ध होती है।

"तत्कृत्योर्योगपदं कर्णः, दो कर्णवर्गयोर्विवरात् मूलं कोटिः" तथा "राश्योरन्तरवर्गेण द्विघ्ने घाते युते तयोः" इत्यादि वर्गयोग, वर्गमूल साधन के अवसर पर लीलावती में अवर्गाङ्क अङ्क के सावयव सूक्ष्म मूल निकालने का भास्कराचार्य का मौलिक गणित—

यदि भुज = ३$\frac{१}{४}$, कोटि भी = ३$\frac{१}{४}$ तो $\left(\frac{१३}{४}\right)^२ + \left(\frac{१३}{४}\right)^२$

= $\frac{१६९}{१६} + \frac{१६९}{१६} = \frac{३३८}{१६} = \frac{१६९}{८}$, अतः $\frac{१६९}{८}$ का मूल $\frac{१३}{८}$ निरवयव मूल नहीं मिलता है। ऊपर १६९ का मूल = यदि निरवयव १३ है तो ८ का मूल निरवयव नहीं मिल रहा है साधारणतया ८ का मूल ३ से कुछ कम और २ से अधिक है तो सूक्ष्मता क्या होगी ?

यहाँ पर आचार्य का सूत्र है कि—

वर्गेण महतेष्टेन हताच्छेदांशयोर्बधात् ।
पदं गुणपदक्षुण्णच्छिद्भक्तं निकटं भवेत् ॥

ऐसी स्थिति में हर और भाज्य के गुणनफल को किसी बड़े इष्ट अङ्क के वर्ग से गुणाकर गुणनफल के अङ्क का मूल में अभीष्ट बड़े अङ्क के मूल से भाग दे देने से उस अभीष्ट अवगाङ्क अङ्क का मूल सूक्ष्म या सूक्ष्मासन्न हो जाता है।

उदाहरण जैसे $\sqrt{\frac{१६९}{८}}$ = का मूल सूक्ष्मतया क्या होगा ? तो १६९ × ८ = १३५२, इष्टकल्पना = १०० का वर्ग = १०००० को ८ से और भाज्य से गुणा करने पर १६९ × १०००० × ८ = १३५२०००० । इसके मूल = ३६७७ में इष्ट संख्या = १०० गुणित हर = ८ = ८०० का भाग दे देने से ३६७७ ÷ ८०० = ४$\frac{४७७}{८००}$ यही आसन्न मूल होता है।

यदि इष्ट अङ्क की कल्पना = १०००, १०००० इत्यादि जैसे-जैसे अधिक से अधिक इष्ट संख्या कल्पना करेंगे तो आसन्नमूल ४$\frac{४७७}{८००}$ से भी और अधिक सूक्ष्म में आवेगा।

उपपत्ति से भी = यदि राशि = $\frac{य}{ल}$ अतः $\frac{य}{ल} = \frac{य \times ल \times \text{महान् इ. अङ्क}^२}{य \times ल \times \text{महान् इष्ट}^२}$

$$\frac{य \times ल \times म.\ इ^२}{ल^२ \times म.\ इ.^२} = \frac{य \times क \times म.\ इ.^२}{ल \times म.\ इ.} = \sqrt[२]{\frac{य}{ल}} = \text{सूक्ष्ममूल}$$

= $\frac{३६७७}{८००}$ = ४·५९६२५८ दशमलव प्रणाली से भी हो जाता है।

अतः सावयव अङ्कों का सूक्ष्ममूल गणित ज्ञान के लिये आधुनिक दशमलव गणित की कल्पना का आधार भास्कराचार्य की ही देन कही जानी चाहिए।

भास्कराचार्य की अंकगणित की कुछ प्रतिभाएँ

भास्कराचार्य ने लीलावती ग्रन्थ के क्षेत्र व्यवहार में चतुर्भुज क्षेत्र के क्षेत्रफल निकालने के सम्बन्ध में अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। एक चतुर्भुज क्षेत्र है। जिसकी दोनों भुजाएँ क्रमशः ५२ और ३९ हैं। जिसकी भूमि आधार ६० के तुल्य है, तथा जिसका मुख २५ हाथ के तुल्य है। प्राचीनों ने इस क्षेत्र को अतुल्य लम्बक कहते हुये इसके दोनों कर्णों को क्रमशः ५६ और ६३ के तुल्य ही कहा है।
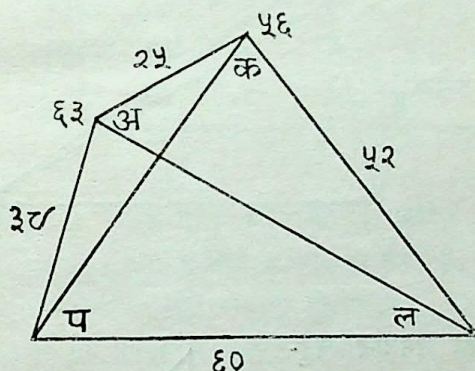
भास्कराचार्य ने प्राचीनों के इस गणित को एक देशीय गणित कहा है। "ब्रह्मगुप्ताचार्य" के मत को आगम मानते हुये भी आचार्य ने सिद्धान्त पक्ष स्थापित करने में सङ्कोच नहीं किया है। ब्रह्मगुप्त का निःसंकोच खण्डन भी किया है।

भास्कराचार्य का कथन है कि—चतुर्भुज की चारों भुजाओं के मान नियत होने पर भी उसके नियत कर्ण नहीं हो सकते। कर्णों की नियत स्थिति न होने से लम्ब मानों में भी अन्तर पड़ता है, जिससे चतुर्भुज का क्षेत्रफल एक रूप का कदापि न होकर अवश्य अनेक रूप का हो सकता है।

जैसे, उक्त अ क ल प चतुर्भुज के अ क और ल क अथवा क कोण की दोनों भुजाओं को भीतर की तरफ संकुचित करने से क ल और क अ भुजाओं के योग ७७ के तुल्य तक कर्ण का परम मान होगा जो ब्रह्मगुप्त के मत से बृहत्कर्ण ६३ के तुल्य मानने पर लघुकर्ण का मान केवल ५६ ही आता है ठीक है, किन्तु भास्कराचार्य का कथन है कि—

(१) चतुर्भुज के एकान्तर कोणों के खिंचाव से चतुर्भुज संकुचित होकर त्रिभुज के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे एक कोण में लगी हुई दो भुजाओं के योग के तुल्य आधार

का मान हो जाता है। और चतुर्भुज की शेष दोनों भुजाएँ त्रिभुज की भुजाएँ बन जाती हैं। दूसरा संकुचित कर्ण चतुर्भुज के लम्ब से कम नहीं होगा और वे दोनों भुजाएँ आधार से बड़ी नहीं होगी। इस कथन के अनुसार ५६ की जगह पर कर्ण के ३२ मानने से इसी चतुर्भुज का दूसरा कर्ण ७६ $\frac{३२}{२५}$ आता है। (सामने चित्र देखिये)
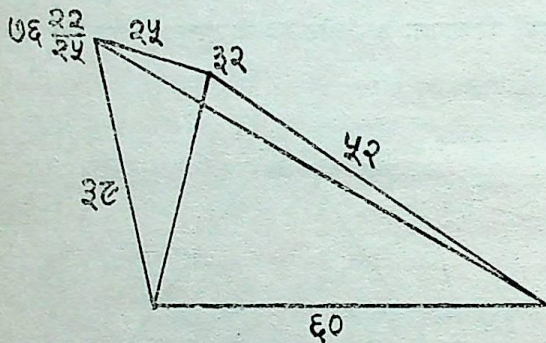
(२) इसी क्षेत्र को समलम्ब चतुर्भुज की स्थिति में रखने से ६० - २५ = ३५ को आधार मानकर, अन्तर्लम्ब त्रिभुज के स्वरूप में ३५ आधार के दो विभागों में एक विभाग का मान $\frac{३}{५}$ और दूसरे विभाग का मान $\frac{१७२}{५}$ होता है। तथा शीर्षकोण से आधार तक लम्ब का मान $\sqrt{\frac{३८०१६}{२५}}$ आता है।
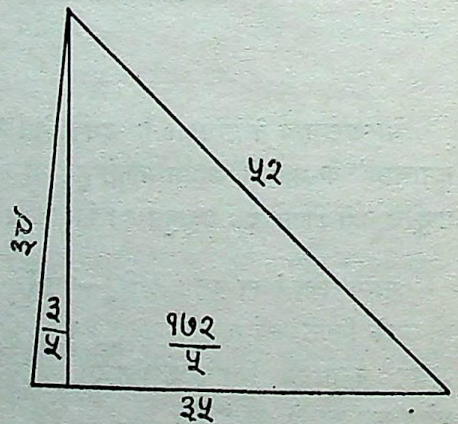
आसन्नमूल लेने से लम्ब का मान ३८ $\frac{६२२}{३२५}$ आता है। $\sqrt{(६०-\frac{३}{५})^२ + \frac{३८०१६}{२५}}$

आसन्न मूल ७१ $\frac{१}{२०}$ तथा $\sqrt{\left(६० - \frac{१७२}{५}\right)^२ + \frac{३८०१६}{२५}}$ आसन्न मूल ४६ $\frac{१३}{२०}$

यह द्वितीय कर्ण होता है।
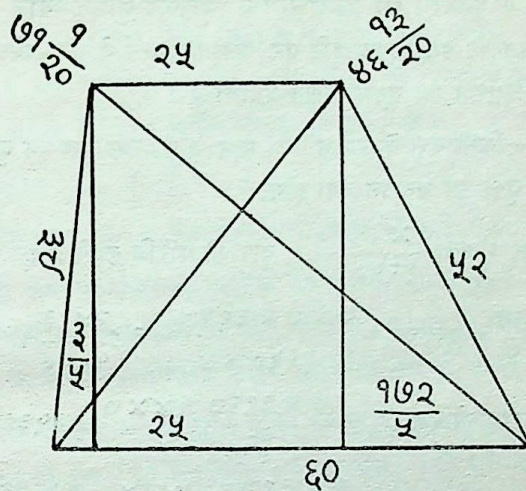
उक्त स्पष्ट विवेचनों से भास्कराचार्य का कथन ("चतुरस्रे तेष्वेव बाहुष्वपरौ च कर्णौं बहुधा भवतः") इन्हीं भुजाओं में और भी कर्ण हो सकते हैं, तथा इन्ही भुजाओं से निर्मित चतुर्भुज का क्षेत्रफल भी बहुत तरह का हो सकता है यह कथन युक्ति युक्त है। आधुनिक अंक गणित में इस प्रकार की सूक्ष्म देनें यदि हैं तो वह सब भास्कराचार्य की ही हो सकती हैं। यदि नहीं हैं तो गङ्गातट पर भी प्यासे होने की तरह आश्चर्य की ही बात कहनी पड़ेगी।

लीलावती में वृत्तक्षेत्र गणित

वृत्तक्षेत्र गणित में ब्रह्मगुप्त श्रीपति—लल्लाचार्य प्रभृति गणितज्ञों से भास्कराचार्य का वृत्त का क्षेत्रफल, वृत्त का पृष्ठफल और गोलक्षेत्र का घनफल विशेष उल्लेखनीय हो जाता है।

भास्कराचार्य ने वृत्त के व्यास और परिधि का $\frac{\text{व्यास} \times ३९२७}{१२५०}$ = वृत्त की सूक्ष्म परिधि बताया है।

लाघव के लिए $\frac{\text{व्यास} \times २२}{७}$ = वृत्त की परिधि कही है। क्योंकि $\frac{३९२७}{१२५०}$ का स्वल्पान्तर मान $\frac{२२}{७}$ कहा है। आधुनिक विकास गणित के युग में व्यास परिधि का सम्बन्ध दशमलीय गणित पद्धति से $\frac{२२}{७}$ = ३·१४२९७ होता है। यह सम्बन्ध भास्कराचार्य का स्थूल सम्बन्ध है।

आचार्य ने स्वयं $\frac{\text{व्यास} \times ३९२७}{१२५०}$ से $\frac{३९२७}{१२५०}$ = ३.१४१६, यही व्यास परिधि का सूक्ष्म सम्बन्ध कहा है।

भास्कराचार्य के पूर्ववर्त्ती श्री लल्लाचार्य ने वृत्तफल गुणित व्यास को गोल का पृष्ठ-फल कहा है। गणित की इस महान त्रुटि पर भास्कराचर्त्य ने गोलाध्याय में बहुत विशद् वर्णन के साथ गोलपृष्ठफल का सूक्ष्म गणित बताया है।

उदाहरणतः—किसी वृत्त के व्यास का मान ७ है, उस वृत्त का वृत्तक्षेत्रफल उसका पृष्ठफल और उसी वृत्त का घनफल क्या होगा ?

$$\text{यतः व्यास} = \text{७ अतः} \frac{\text{७} \times \text{३९२७}}{\text{१२५०}} = \text{वृत्त की परिधि होती है।}$$

$$\frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास}}{\text{४}} = \text{वृत्तफल} = \frac{\text{७} \times \text{७} \times \text{३९२७}}{\text{१२५०} \times \text{४}} = \text{३८}\frac{\text{२४२३}}{\text{५०००}} \text{।} \quad \text{वृत्तफल} \times \text{४} =$$

$$\text{कन्दुक जाल की तरह गोलपृष्ठफल} = \frac{\text{७} \times \text{३९२७} \times \text{४} \times \text{७}}{\text{१२५०} \times \text{४}} = \text{१५३} = \frac{\text{११७३}}{\text{१२५०}}$$

$$\frac{\text{गोलपृष्ठफल} \times \text{७}}{\text{६}} = \text{गोलघनफल} = \frac{\text{७} \times \text{३९२७} \times \text{७} \times \text{४}}{\text{१२५०} \times \text{४} \times \text{६}} = \frac{\text{७} \times \text{३९२७} \times \text{७} \times \text{४} \times \text{७}}{\text{१२५०} \times \text{४} \times \text{६}}$$

$$= \frac{\text{१३४६९६१}}{\text{७५००}} = \text{१७९} \frac{\text{१४८७}}{\text{२५००}} \text{ यह गोल का घनफल हो जाता है।}$$

भास्कराचार्य ने किसी वृत्त के ज्या और उत्क्रमज्या = जिसे शर या बाण भी कहते हैं जानने का भी सरल गणित किया है। किसी वृत्त का व्यास = १० और उसमें जीवा = ज्या = ६ है तो उसमें शर क्या होगा ?

$$\text{इसका हल १०} \pm \text{६} = \text{१६} \times \text{४} = \sqrt{\text{६४}} = \text{८}$$

$$\text{१०} - \text{१} = \text{९}, \; \text{९} \times \text{१} = \text{९ का मूल} = \text{३}, \; \text{३} \times \text{२} = \text{६ जीवा हो जाती है।}$$

विलोम गणित से जीवा और व्यास को जानकर $\left(\frac{\text{जीवा}}{\text{२}}\right)^{\text{२}} = \text{९} \div \text{१} = \text{९}, \text{९} + \text{१} = \text{१०}$ = व्यास मान स्पष्ट होता है। तथा किसी २००० व्यासमान के वृत्तान्तर्गत समभुज त्रिभुज से समनवभुज क्षेत्र तक की भुजाओं के ज्ञान के लिए, वृत्त के व्यास को क्रमशः १०३९२३······८४८५३······४१०३१ गुणाकर १२०००० से भाग देने पर उक्त त्रिगुणादि नवभुजान्त क्षेत्र की प्रत्येक भुजा ज्ञात हो जाती है।

लीलावती में अंकजाल या अंकपाश गणित

अङ्कपाश को अंकजाल के रूप में भी निर्दशित किया जा सकता है। आधुनिक विकसित गणित में इस गणित का महत्वपूर्ण स्थान है। १ से लेकर ९ संख्या तक के अङ्कों के विभिन्न स्थानों से उनके भेद, उनके योग आदि का ज्ञान करने के अध्याय को भास्कराचार्य ने अङ्कपाशाध्याय जिसे अङ्कों के जाल का अध्याय कहा है। उदाहरण से भी अनन्तरूपी भगवान विष्णु का एक सीमित रूप चतुर्भुज (चतुर्वाहु) भी है।

यद्यपि शंख, चक्र, गदा और पद्म चार आभूषणों १, २, ३, ४ से युक्त–भगवान् विष्णु का १ ही रूप होता है। यदि अन्योन्य हाथों में शंख, गदा, चक्र और पद्म को धारण किया जाय तो भगवान् विष्णु के अखंड १ रूप से अन्य कितने रूप हो सकते हैं इन रूपों को भी गणित से निम्न भाँति जाना जा सकता है।

आभूषण संख्या = १, २, ३, ४

अतः १ × २ × ३ × ४ = २४ भेद या भगवान विष्णु के २४ अवतार हो जाते हैं।

इसी प्रकार भगवान शंकर के प्रसिद्ध १० आसन या आभूषण धारण की स्थायी स्थिति में सभी आभूषणों का अन्योऽन्य हस्त परिवर्तन से धारण परिवर्तन किया जाय तो अखण्ड एक रूप के अतिरिक्त भगवान शङ्कर के कितने रूप हो सकते हैं ?

चूंकि भगवान शङ्कर के दश हाथों में (१) पाश, (२) अङ्कुश, (३) सर्प, (४) डमरू, (५) कपाल, (६) त्रिशूल, (७) खट्टवाङ्ग, (८) शक्ति, (९) शर और (१०) धनुष को प्रत्येक हाथ से बदल बदल कर रखने से भगवान शङ्कर के १×२×३×४×५×६×७×८×९×१० = ३६२८८०० (छत्तीस लाख अठाईस हजार आठ सौ) रूप होते हैं, यह कैसे ? इत्यादि भेदों को सुविधा से समझने के लिये एक छोटे से उदाहरण ८२, और २८ = २८ ३, ९, ८ अङ्कों से बनी संख्याओं को कितने बार लिख सकते हैं और उनका योग भी क्या होगा ? यह एक प्रश्न है।

यह छोटा अङ्क जैसे २८ है तो इसे हम २८ और ८२ भी लिखकर इस अंक के भेद = २ और भेद के अंकों का योग = ८२ + २८ = ११० योग कह सकते हैं। जैसे यहाँ पर, अंक २ हैं जिनका योग = १० है, इसलिये १ × २ = २ स्थान = भेद—

आगे सूत्र से, $\frac{\text{भेद} \times \text{स्थान}}{\text{अंकमान}}$ अंकभेद = १ × २ = २, अङ्कयोग = ८ + २ = १०,

अङ्कमान ८२ = २ ही अङ्क है।

इसलिये $\frac{\text{अंकभेद} \times \text{अंकयोग}}{\text{अकस्थान}} = \frac{२ \times १०}{२} = १०$ को एक स्थान दाहिनी तरफ बढा-

कर लिखने से $\begin{array}{r} १० \\ १० \\ \hline ११० \end{array}$ यही अंकभेद और उनका योग हो जाता है। छोटा अंक होने से स्पष्ट समझ में आ जाता है। २८ की तरह और ८२ की तरह लिख सकते हैं और २८ + ८२ का योग उक्त ११० तुल्य हो जाता है।

भगवान विष्णु के रूप भेद = १ × २ + ३ × ४ = २४ अंक योग = १० और अंक-मिति = ४। इसलिए सूत्र से $\frac{२४ \times १०}{४}$ = ६० को ४ जगह दाहिने एक स्थान बढ़ाकर लिखने से—

६ ०
 ६ ०
  ६ ०
   ६ ०

६ ६ ६ ६ ०

अङ्कभेद ज्ञानगणित में तुल्य अंकों के पृथक् भेदों से समग्र भेदों में भाग देने से लब्ध तुल्य अंक के सही भेद होते हैं।

जैसे—४८५५५ यही अंक है तो पूर्व नियमानुसार १×२×३×४×५ = १२० भेद होते हैं। किन्तु ५५५ इनके १×२×३ = ६ भेदों से १२० में भाग देने से $\frac{१२०}{६}$ = २० भेद होंगे अतः ४८५५५, ४५८५५, ४५८८५.... २४ के तुल्य लिखकर योग करना कठिन होने से ४+८+५+५+५ = २७ को भेद से गुणाकर अंक स्थान ५ से भाग देने पर $\frac{२७×२०}{५}$ = १०८ को एक स्थान से हटाकर ५ जगह लिखकर योग

१ ० ८
 १ ० ८
  १ ० ८
   १ ० ८
    १ ० ८
     १ ० ८

१ १ ९ ९ ९ ९ ८ ८

के तुल्य अंक योग हो जाते हैं। आज के युग में गणितविद्या के इस गणितसागर का नाम संभवतः स्टैटिक्स कहा जाता होगा ?

भास्कराचार्य इस गणित के विषय में कहते हैं—

> "न गुणो न हरो, न कृतिर्नघनः पृष्ठस्तथापि दुष्टानाम्।
> गर्वितगणकबहूनां स्यात्पातोऽवश्यमङ्कपाशेऽस्मिन् ॥"

अर्थात् इस गणित में गुणन भजन वर्ग रचना··· आदि कोई नियम न होने पर भी गणिताभिमानी, गर्वी गणितज्ञों के लिये यह एक शिर झुकाने का विषय अवश्य हो जाता है।

श्री भास्कराचार्य के अप्रतिम गणित पाण्डित्य प्रकाशन पर कुछ विद्वान लेखकों, शोधकर्ताओं ने अपने प्रकाशनों पर "लीलावती" ग्रन्थ के सम्बन्ध में 'लीलावती' नामक भास्कराचार्य की कन्या का उल्लेख किया है। जिसे देखकर क्लेश व कष्ट होना स्वाभाविक है। ग्रन्थ के आमुलचूड़ अध्ययन की उपेक्षा होने से लेखकों आदि द्वारा

"लीलावती को भास्कराचार्य की कन्या है" ऐसा कहना बड़ा भ्रामक एवं तथ्यों से बहुत दूर हैं। अतएव उदाहरणार्थ 'लीलावती' ग्रन्थ के कतिपय चमत्कारिक प्रश्नों के हल के साथ यत्र-तत्र आये हुये सम्बोधनों आदि का उल्लेख विज्ञपाठकों वे मनन तथा विचारार्थं प्रस्तुत कर रहा हूं—

१—अंकों के योग उदाहरण के अवसर पर भास्कराचार्य अपनी 'लीलावती' नामक पत्नी से प्रश्न करते हैं—

"अयो बाले ! लीलावति ! मतिमति ब्रूहि सहितान् !" इत्यादि

२, ५, ३२, १९३, १८, १० और १०० अंकों का एकीकरण कितना होगा ? साथ ही 'शतोपेतानेतानयुत वियुतांश्चापि वद मे। यदि व्यक्ते युक्तिर्व्यवकलन मार्गेऽसि कुशला'। उक्त योगांक को १००० में घटाने से क्या फल होगा ? एक ही श्लोक में अंको के स्थानीय मानो के अनुसार योग और अंतर का अत्यंत सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया गया है। (योग, ३६० इसे १००० में घटाने से अंतर = ९६४)

२—"सखे नवानां च चतुर्दशानां ब्रूहित्रिहीनस्य शतत्रयस्य।

पंञ्चोत्तरस्याप्ययुतस्य वर्गं जानासि चेद्वर्गविधानमार्गम् ॥

उपरोक्त श्लोक में भास्कराचार्य कह रहे हैं कि हे मित्र (सखे) यदि तुम वर्ग करने की विधि जानते हो, तो ९, १४, २९७ और १०००५ का वर्ग बताओ ? यदि लीलावती उनकी पुत्री होती तो वे पुत्री या लीलावती सम्बोधन कर सकते थे न कि सखे ! सम्बोधन करते।

३—इसी प्रकार अन्यत्र भी सखे ! सम्बोधन का व्यवहार किया गया हैं।

"नवघनं जिधनस्य घनं तथा कथयस्यपञ्चघनस्य घनञ्च में।

घन पदं च ततोऽपि घनात्सखे। यदिघनेऽस्ति धना भवतो मतिः ॥।

अर्थात हे सखे घनमूल जानने में यदि तेरी बुद्धि घनी हैं तो ९ का घन और ३ के धन का २७ का घन का और ५ के घन १२५ का धन आगत अंको का घनमूल भी बताओ।

४—व्यस्त गणित के उदाहरण में—

यस्त्रि घ्नस्त्रिभिरन्वितः स्वचरणैर्भक्त स्ततः सप्तभिः

स्वत्र्यंशेन विवर्जितः स्वगुणितो हीनो द्विपञ्चाशता।

तन्मूलेऽष्टयुते हृतेऽपि दशभिर्जातं द्वयं ब्रूहि तं

राशि वेत्सि हि चंञ्चलाक्षि ! विमलां बाले ! विलोमक्रियाम् ॥

वह कौन सी राशि है जिसे ३ से गुणा कर उसमें अपना $\frac{३}{४}$ जोड़कर ७ से भाग देकर उसीका तीसरा भाग उसमें घटाकर शेष के वर्ग में ५२ घटाकर उसके मूल में ८ जोड़कर १० से भाग देने पर वह अंक २ होता है। हे बाले हे चंचलाक्षि यदि तुम विलोम विधि गणित जानती हो, तो वह राशि बताओ।

यहाँ राशि का स्वांश अधिक या न्यून की जगह पर युत में $\frac{३}{४}$ की जगह $\frac{३}{७}$ और ऋण में $\frac{१}{३}$ की जगह $\frac{१}{२}$ समझिये।

$२ \times १० = २०,\ \ २० - ८ = १२,\ \ (१२)^{१} = १४४,\ \ १४४ + ५२ = १९६,$

१९६ का मूल = १४, $१४ + \frac{१४}{२} = २१$ और $२१ \times ७ = १४७,\ १४७ - \frac{१४७ \times ३}{७}$

$१४७ - ६३ = २८$ यह दृश्य राशि उत्तर होता है।

आचार्य ने जो व्यस्त गणित का सिद्धांत बताया है, तदनुसार उत्तर के साथ यहाँ पर भी सम्बोधन में चंचलाक्षि ! बाले ! आदि सम्बोधन लड़की को सम्बोधन कहना उचित नहीं है।

५—विश्लेश जाति का उदाहरण—

"पञ्चांशोऽलि बुलात्कदम्बमगम" दिति—

"हे मृगाक्षि ! हे कान्ते"!····इत्यादि सम्बोधनों से बोधिता पत्नी ही कही जायेगी।

भ्रमर समूह से उड़कर भ्रमर समूह का $\frac{१}{५}$ कदम्ब पुष्पों में, $\frac{१}{३}$ शिलीन्ध्र पुष्प में दोनों का त्रिगुणित अन्तर कुटज पुष्प में चला गया, जब उसी भ्रमर कुल में शेष १ भ्रमर रह गया तो वह भी अपने परिवार वियोग में उड़कर पारिवारिक सदस्यों की गवेषणा कर ही रहा था एक स्थल पर केतकी और मालती पुष्प वृक्षों ने उस भ्रमर को आकृष्ट किया जब वह मालती में पहुँच ही रहा था तो द्वेष से केतकी के गहन सुगन्धाकर्षण ने उस भ्रमर को अपने में आकृष्ट कर लिया और केतकी तक पहुँच, स्पर्श को समझ कर मालती ने पुनः ऐसा सौरभ फैलाया कि भ्रमर पुनः मालती की ओर आही रहा था कि पुनः केतकी की हरकत शुरू हो गयी, तात्पर्य कि भ्रमर आकाश में केतकी और मालती के मध्य में एक दूसरे के संदेश वाहक (दूत) की तरह हो गया। बताओ भ्रमर संख्या क्या थी···गणित सरल है १५ उत्तर आता है पर साहित्यक दृष्टि से यह स्पष्ट हो रहा है कि दो भार्यायों के बीच का नायक अकर्मण्य हो जाता है। एक पत्नी व्रती ही सुखी रहता है, इत्यादि साहित्य के रस प्रवाह का अंकगणित लड़की को पढ़ाया जाना क्या संभव है ? मर्यादा का ख्याल होना चाहिए, पत्नी के साथ ही यह रसास्वाद सम्पन्न अंकगणित का व्याख्यान समीचीन होता है।

गणित का यह निम्न उदाहरण यदि प्रक्षिप्त है तो भी तथा कुछ विद्वान् इस पद्य गणित कों भास्कराचार्य की ही कृति कहते हैं ।

६—कामिन्या हारवत्या; सुरतकलहतो मौक्तिकानां त्रुटित्वा ।
प्राप्तः षष्ठः सुकेश्या गणक दशमकः संगृहीत प्रियेण ।। इत्यादि

हे गणितज्ञ ! सुरत कलह में किसी कामिनीं की मोतीमाला के टूट जाने से उस का $\frac{१}{३}$ जमीन पर $\frac{१}{५}$ विस्तर पर और $\frac{१}{२}$ कामिनी को, $\frac{१}{१०}$ स्वामी। पतिको और शेष ६ तागे में गुथे रह गये तो मोती संख्या क्या थी ? क्या इस प्रकार के प्रश्नोत्तर लड़की को पढ़ाये या लड़की से पूछे जा सकते हैं ।

७—"बाले ! मरालकुल मूल दलानि सप्ततीरे" इत्यादि

हे बाले ! किसी सरोवर के हंस समूह का $\frac{७}{२}$ क्रीडा की थकावट के शिथिलगमन से सरोवर के तट पर देखा गया, शेष हंसों को जल में क्रीडा कलह करते देखा गया तो हंस कुल का प्रमाण संख्या क्या है ? मूल संख्या का गुणक $\frac{७}{२}$ और दृश्य = २, गणित क्रिया से $\frac{४९}{१६}$ में + २ गुणकार्ध $\frac{७}{१} \times \frac{१}{२} = \frac{७}{४}$ का वर्ग $\frac{४९}{१६}$ में दृश्य २ का योग $\frac{८१}{१६}$ का मूल = $\frac{९}{४}$ में गुणकार्ध $\frac{७}{४}$ + जोड़ने से $\frac{१६}{४} = ४$ का वर्ग = १६ हंस संख्या यही हंस कुल प्रमाण होता है ।

८—पुनश्च लड़की से नहीं स्त्री से ही प्रश्न और गणित कौशल सूचक उदाहरण और क्रिया —

वर्षा ऋतु के समय हे बाले ! हंस कुल का दश गुणित मूल मानस सर में और उसी का $\frac{१}{८}$ जल के किनारे से उड़कर स्थल कमलिनी वन में, शेष ३ हंस का जोड़ा (= ६) कोमल कमलनाल सुशोभित जल में क्रीड़ा की लालसा के देखे गये तो हंस संख्या क्या है ?

उत्तर $१ - \frac{१}{८} = \frac{७}{८}$ । $६ \div \frac{७}{८} = \frac{४८}{७}$ = नूतन दृश्य, तथा $१० \div \frac{७}{८} = \frac{८०}{७}$ नया गुणांक, $\frac{८०}{७} \div २ = \frac{४०}{७}$ का वर्ग = $\frac{१६००}{४९}$ में $\frac{४८}{७}$ को जोड़ने से $\frac{१९३६}{४९}$ का मूल = $\frac{४४}{७}$ अतः $\frac{४०}{७} + \frac{४४}{७} = \frac{८४}{७} = १२$ का वर्ग हंस कुल प्रमाण = १४४ होता है ।

९—अपि च स्त्री से सम्बन्धित गणित और उत्तर—

अलिकुलदलमूलं मालती यातभष्टौ—
निखिल नवम भागाश्चालिनीं भृङ्गमेकम्
निशिपरिमललुब्धं पद्ममध्ये निरुद्धम्
रणति प्रति रणन्तं ब्रूहि कान्ते ! ऽलिसंख्याम् ।

हे कान्ते ! भ्रमर झुण्ड का $\frac{८}{९}$ भाग तथा झुण्ड का $\frac{१}{२}$ के मूल के बराबर मालतीं पुष्प पर गये, सुगन्धि के प्रलोभन से कमल पुष्प कोश में गन्ध हो जाने के कारण

रात भर गूजते हुए एक भ्रमर के साथ बाहर को एक भ्रमरी पुष्प के भीतरी भ्रमर से युद्ध सा ही करती रही । सूर्योदय के समय भीतरी भ्रमर पुष्प से बाहर होने पर दोनों का संगम हो सका तो भ्रभर संख्या क्या थी ?

यहाँ पर मूल गुणक = $\frac{१}{२}$, भाग = $\frac{८}{९}$, दृश्य = १ । प्रथम प्रकार की क्रिया $१ - \frac{८}{९} = \frac{१}{९}$, $१ \div \frac{१}{९} = ९$ = नूतन दृश्य $\frac{१}{२} \div \frac{१}{९} = \frac{९}{२}$ = नूतन मूल गुणक, अतः गुणार्ध $= \frac{९}{४}$ । $(\frac{९}{४})^२ + ९ = \frac{८१}{१६} + ९ = \frac{२२५}{१६}$ का मूल $= \frac{१५}{४}$ अतः $\frac{१५}{४}$ अतः $\frac{१५}{४} \times \frac{९}{४}$ $\frac{२४}{४} = ६$ का वर्ग = ३६ यह राशि का आधा होता है ।

अतः यदि $\frac{राशि}{२} = ३६$ तो राशि = ७२ सिद्ध होती है ।

१०—त्रैराशिक गणित में भी आचार्य का परिष्कार कैसा व्यावहारिक है, यह देखने योग्य है—

यदि सोलह वर्ष की स्त्री अपेक्षित काल में ३२/ प्राप्त करती है तो २० वर्ष की स्त्री कितना द्रव्य प्राप्त करेगी ?

यद्यपि त्रैराशिक के साधारण नियम के अनुसार $\frac{३२ \times २०}{१६} = ४०$ परिश्रमिक होना चाहिए, किन्तु—

जीवानां वयसो मनौल्ये तौल्ये वर्णस्य हैमने ।
भागहारे च राशीनां व्यस्तं त्रैराशिकं भवेत् ॥

अर्थात् व्यक्तियों की युवा, वृद्ध अवस्था के अनुसार का मूल्य पारिश्रमिक और शुद्ध सोने के साथ मिलावटी सोने की तौल गणित में, और राशियों में लधु बृहत् राशि के भाजक की स्थिति में साधारण त्रैराशिक में, जो गुणक है, वहाँ भाजक गुणक हो जाता है । जैसे उपरोक्त उदाहरण सही से पारिश्रमिक $\frac{३२ \times १६}{२०} = २५\frac{३}{५}$ ही होगा । उक्त प्रश्न में साहित्य शास्त्र अनुसार "षोडसी" सुन्दरी में रसस्वाद सविशेष है अपेक्षया २० वर्षीया से । इस प्रबल प्रमाण से भी सही साबित होता हैं कि लीलावती भाष्कराचार्य की भार्या ही हो सकती है न कि पुत्री ।

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लीलावती भास्कराचार्य की भार्या ही है न कि उनकी पुत्री यह ग्रन्थ के आमूल चूड अध्ययन से स्पष्ट होता है । ग्रन्थ के एकाध टुकड़ों के जानकारों ने माना है कि भास्कराचार्य ने अपनी लड़की लीलावती के नाम के सम्बोधनो का प्रयोग किया है, इस कथन में मेरी अल्प बुद्धि सहमत नहीं हो सकती ।

लीलावती ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में स्वयं आचार्य भास्कर ने कहा है कि—सुन्दर गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल जाति, प्रभाग जाति भिन्न, क्षेत्र व्यवहार, वृत्तक्षेत्र व्यवहार, छाया व्यवहार, अंकपाश आदि के गणितों से विभूषित और

जिसके समग्रगणित व्यवहार दोष शून्य हैं, ऐसी सर्वांग शुद्ध लीलावती नाम की पुस्तिका जिन्हें कण्ठस्थ हो उनकी सुखद गणित सम्पत्ति सदा वर्धमान होती है।

अथवा और भी एक अत्यन्त स्पष्ट अर्थ होता है कि, सुन्दर गुण, वर्ग जाति आदि से विभूषित अंग की, अत्यन्त पवित्र व्यवहार युक्त कण्ठसक्ता (स्त्री, वामा, भार्या, अर्द्धाङ्गिनी) पति प्रिया तथा विनोद जिसमें विद्यमान हो ऐसी सुन्दर सरस भाषिणी या सुन्दर सरस युक्तियों की दृष्टांत दायिका लीलावती (भार्या) गृहिणी अपने अति सुन्दर रूप से जिन ग्रहस्थो के घरों को अलंकृत करती है, उन गृहपतियों की सुख सम्पत्तियाँ (पुत्र, मित्र, बन्धु, लक्ष्मी) सदैव वर्द्धमान और स्थिर होती हैं। जैसे—

"येषां सुजातिगुणवर्गविभूषिताङ्गी शुद्धाखिलव्यवहृतिः खलुकण्ठसक्ता।
लीलावतीह सरसोक्तिमुदाहरन्ती तेषां सदैव सुखसम्पदुपैति वृद्धिम् ॥"

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भास्कराचार्य की इस प्राचीन शुद्ध अंकगणित प्रक्रिया के नवीन अविष्कारों से सुसज्जित ग्रन्थ का नाम स्त्रीलिङ्ग में अति सुन्दर "लीलावती" नामकरण आचार्य ने अपनी अनन्य प्रियतमा आर्धाङ्गिनी पतिलीला-नुरागिणी के लिये किया है। फलतः लीलावती नाम्नी महागणित विदुषी आचार्य भास्कर की धर्म पत्नी हो सकती है या कही जानी चाहिये।

एक संभावित कल्पना यह भी हो सकती हैं कि ऐसी महान् विभूतियों में लौकिक सम्पत्ति कम देखी गई है। अनपत्य (सन्तानहीन) होने से भी पति पत्नी का या पुरुष प्रकृति का ब्रह्म रूप में साक्षात् विलय हो जाता है, जैसा भास्कराचार्य को भी यदि हुआ होगा तो भी राष्ट्र की भविष्य की समग्र शिक्षित सन्तानें उन्हें स्मरण करती हुई दीर्घ समय तक अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पण करती रहेंगी। जैसा भास्कराचार्य के जन्म शक १०३६ से आज के वर्तमान शक १८८५ तक प्रत्येक शताब्दी से भास्कराचार्य के ग्रहगणित को आधार मानकर अपनी-अपनी बहुविध रचनाओं से विद्वानों ने आचार्य का धवल यश दिग्दिगन्त तक पहुँचाया है।

सिद्धान्तशिरोमणि में बीजगणित

भास्कराचार्य के बीजगणित में (१) अवर्गाङ्क अङ्कों का मूल ज्ञात करने के नियम, (२) कुट्टक गणित की अनेक विशेषताएँ, (३ वर्ग प्रकृति गणित में योग अन्तर की भावनाओं से कनिष्ठज्येष्ठ के ज्ञान के अनेक नियम, (४) एक वर्णसमीकरण के पञ्चकशत-दत्तधनात् इत्यादि के उदाहरण में कल्पना लाघव से व्यक्त मान ज्ञात करने की युक्तियाँ, (५) त्रिभिः पारावता पञ्च इत्यादि उदाहरण में क्रिया लाघव से कपोतादि मान ज्ञात करने की विधि, (६) को राशी वद पञ्चषट्क विहताविृत्यादि उदाहरण में क्रिया संकोच का कल्पना कौशल, (७) वर्ग समीकरण में विविध मान प्रदर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन,

(८) आचार्य पद्मनाभ के बीजसूत्र का व्यभिचार प्रदर्शन, (९) अनेक वर्ण मध्यमाहरण के 'यत्स्यात्सात्पवधार्धंतो धन पदम्' इत्यादि उदाहरण में राशि कल्पना की अपूर्व युक्ति प्रदर्शन और (१०) भावित-अध्याय में अभिन्न मान के लिये, 'भावितम् पक्षतोऽभीष्टा-दित्यादि' सूत्र से अपूर्व गणित क्रिया प्रदर्शन प्रभृति बीजगणितीय बुद्धिकौशल, गणितज्ञों के लिये आश्चर्यजनक सिद्ध हो चुके हैं।

उपरोक्त विषयों में आवश्यक कुछ बीजगणितीय विषयों का उल्लेख निम्न भाँति पाठकों के विनोदाय किया जा रहा है।

बीजगणित में अवर्गाङ्क अङ्कों का सूक्ष्म मूल जानने के नियम—

अङ्कगणित का मूल आधार बीजगणित है—"बुद्धिरेव बीजम्" बुद्धि ही गणित का बीज है, अतः यहाँ पर बीजगणित में भी एक से लेकर वर्द्धमान गणित वेग जो अनन्तत्व और ह्रासमान गणित वेग की अति सूक्ष्म अर्थात् उसकी परमाल्पता भी अनन्तत्व जिसे शून्य कहा गया है वह भी ध्यान देने योग्य है—

जैसे—एकादि अनन्त तक के मानों में १, २, ३ आदि में दाहिने ओर ० की स्थापना से १०, २०, ३०, एवं दो शून्य की स्थापना से १००, २००, ३०० और तीन शून्य की स्थापना से १०००, २०००, ३००० इत्यादि होता है तथा एकादि में दाहिने और अनेक शून्य स्थापना से १०, १००, १०००, १००००, १००००० इत्यादि का उच्चारण एक, दश, शत, सहस्र, लक्ष, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्ब, महापद्म, शंख इत्यादि 'अनंत' शब्द से विश्राम करना पड़ता है।

इसी प्रकार पूर्ण अङ्क का आधा, चौथाई करने से $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{८}$, $\frac{१}{१६}$, $\frac{१}{६४}$, $\frac{१}{१२८}$, $\frac{१}{२५६}$, $\frac{१}{[illegible]}$ ...इत्यादि $\frac{१}{०}$ या अनंत होता है अर्थात् महान से महत्तम अनिर्वचनीय अंक का नाम 'अनन्त' और अत्यन्त अनिर्वचनीय लघु अंक को 'शून्य' या 'अनंत' ही कहा जाता है। भास्कराचार्य ने सिद्धांतशिरोमणि के बीजगणित से इस प्रकार का साम्यवाद भी स्पष्ट हो रहा है कि परम महत्तम ब्रह्माण्ड का स्वरूप परम लघुत्तम है अर्थात् $\frac{\text{अनन्त}}{\text{अनन्त}} = ० = १ = \infty$ ....एक ही तत्त्व है।

बीजगणित में शून्य सम्बन्धी गणित

किसी संख्या के साथ शून्य का योग और वियोग करने से धन और ऋण चिह्न यथावत् रहेंगे। किन्तु शून्य में यदि किसी राशि को कम किया जाय तो उस संख्या के धन और ऋण चिह्न में परिवर्तन (व्यत्याश) हो जाता है। जैसे + ३ + ० = + ३ तथा − ३ + ० = − ३ यदि ० में + ३ को कम करने से—३ एवं − ३ को ० में कम करने से ० − ३ = + ३ हो जाता है। तथा गुण्य = ०, गुणक = २, गुणनफल = ०, भाज्य =

०, भाजक = ० लब्धि = ० तथा भाजक = ३, भाज्य = ० तो लब्धि = ३ इसी प्रकार $(०)^२$ = ० तथा शून्य का मूल = शून्य। यदि अ क तो $अ^२ = क^२$ तथा $अ^२ - क^२$ = ० = (अ + क) (अ − क) चूंकि अ − क = ० अतः $\frac{०}{०} = \frac{अ^२ - क^२}{अ - क}$ = अ + क अथवा

$\frac{अ^२ - क^२}{अ^२ - क^२}$ = १ यहाँ इस प्रकार से ऐसा मान भी अनन्त कीतरह हो जाता है। इस प्रकार के मान से अनन्तत्व का भास होने लगता है। यदि − अ ± १ करते हैं तो योग = ० अर्थात् यह संख्या ० से भी कम है तथा $अ^२$ ÷ ० = लब्धि = अनन्त। यदि शून्य से कम − अ से भाग देंगे तो लब्धि = अनन्त से भी अधिक होती है। अतः $\frac{अ}{-अ}$ = − अ, यह संख्या अनन्त से भी अधिक हो जाती है। "गुरूणां गुरु म० म० सुधाकर द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"अत्यल्पमानमुपलभ्य सकृत्प्रकृत्या
मानं महाधिकमनन्तमितेर्यदेति।
मूलञ्च नो मिलति यस्य रसातलेऽपि
तस्मै नमोऽच्युतकलामहतेऽधनाय ॥"

प्रकृतितः अत्यन्त अल्पमान प्राप्ति के साथ जिसका मान महान् से महान् अत्यधिक अनन्त तक हो जाता है और, जिस − ० का मूल लाने का कोई भी सिद्धान्त कहीं रसातल में भी नहीं है, ऐसे सदास्थायो, शास्वत अधन (ऋण) शून्य या शेषस्थायी श्री विष्णु को नमस्कार है। इत्यादि तक कह दिया है।

वर्ग और वर्गमूल प्रसिद्ध होते हुए भी अ ४ − ६ का वर्ग क्या है तो उत्तर = १६ $अ^२$ − ४८ अ + ३६ $अ^२$, १६ $अ^२$ − ४८ अ + ३६ $अ^२$ का मूल = ४ अ - ६।

जिन संख्याओं का पूर्णतया वर्गमूल नहीं मिलता है उन अवर्गाङ्कों का नाम करणी=क संकेत से जाना गया है अतः इस स्थल पर आधुनिक चिह्न करणी अवर्गाङ्क = $\sqrt{}$ है। अङ्कों का योग अन्तर, गुणन, भजन, वर्ग और वर्गमूल ६ प्रकार की गणित क्रिया में २ और ८ अङ्कों के मूलों का योगान्तर क्या है तो उसकी ऐसी गणित क्रिया कहो जा रही है जैसे— $\sqrt{२} + \sqrt{८}$ को करणी को मूल चिह्न की जगह "क" रखने से क २ + क ८ का मान ज्ञात करना है इसके लिए भास्कराचार्य और पूर्ववर्ती ब्रह्म गुप्तादि ने सिद्धान्त (आविष्कार) रचना की है कि, करणियों का साधारण अङ्कों की तरह योग का नाम = महती और करणी संख्या × करणी संख्या (योगान्तर ज्ञान के लिये द्वित्रि···करणी···से प्राप्त अङ्क) का मूल द्विगुणित = लघु मान कर साधारण अङ्क की तरह महती ± लघु = करणियों का योगान्तर हो जाता है। उक्त उदाहरण में (क.२ क.८) का योग = १० = महती दानों के

गुणनफल ८×२ = १६ का मूल = ४×२ = ८ = लघु। अतः महती ± लघु = योगान्तर = योग = क १८। अन्तर = क.२ होता है। इसी प्रकार क ३ + क २७ से २७ + ३ = ३० महती, √२७ × ३ = ८१ का मूल × २ = ९ × २ = १८ = लघु अतः ३० ± १८ = क.४८, क = १२ अथवा क ३ ± क ७ से लघु = १०, क ३ × क ७ = २१ का मूल नहीं मिलने से क ३ ± क ७ = क ३ ± क ७ यथावत् उत्तर होता है।

"पृथक् स्थितिस्याद्यदिनास्तिमूलम्" कहा भी है। करणी अर्थात् अवर्गाङ्क अङ्कों का गुणन—

गुण्य क २ + क ३ + क ८ को गुणक क ३ + ५ से गुणा करिये अवर्गाङ्क का सजातीय रूप ५ = क २५ समझ कर यदि सम्भव हो तो गुण्य गुणक में दी हुई करणियों का योग वियोग कर तब गुणा करने से गुणक के क २ + क ८ = क १८ अतः क १८ + क ३ से गुण्य क ३ + क २५। यहाँ पर स्वतन्त्र रूप ५ = क २५।

क ३ + क २५
क ३ + क १८
क ९ + क ७५ + क ५४ + क ४५०। यहाँ पर क ९ अर्थात्—

√९ = ३ होने से उत्तर = ३ + क ७५ + क ५४ + क ४५० गुणन की विलोम क्रिया से गुणक को = भाजक और गुणनफल को = भाज्य मानकर भाज्य में भाजक से भाग देने पर गुणांक ज्ञात हो जाता है।

बीजगणित में कुट्टक गणित

संक्षेप से कुट्टक गणित दिखाया जा रहा है। धान से चावल निकालने के लिये बार बार धान को कूटना पड़ता है इसी अभिप्राय से "कुट्टतीति कुट्टकः" इस गणित का नामकरण कुट्टक हुआ। प्रश्न है कि २२१ को किससे गुणा करें, और उस गुणनफल में ६५ जोड़ दें, और उसमें १९५ का भाग दें, तो वह संख्या निःशेष हो जाती है।

प्रश्नानुसार भाज्यमान = २२१, हार या हर का मान = १९५ जोड़े जाने वाले अंक का मान क्षेपक = ६५ "भाज्यो हारः क्षेपकश्चापवर्त्यः केनाप्यादौ संभवे कुट्टकार्थम्" इत्यादि सूत्र से बड़े अंकों में यदि किसी १ अंक का अपवर्तन लग जाय तो गणित लाघव के लिए अपवर्तनाङ्क समझकर उससे अपवर्तन देना चाहिए। ध्यान रहे जिस अंक से भाज्य हार कट जाते हैं उस अंक से क्षेपक में पूरा अपवर्तन लगना चाहिए, नहीं तो प्रश्न ही अशुद्ध समझा जाना चाहिए।

अपवर्तनाङ्क की गवेषणा का उपाय बार बार २२१ ÷ १९५, गणित करने से अंतिम भाजक का अंक अपवर्तनाङ्क होता है।

जैसे— १९५) २२१ (१
१९५
———
२६) १९५ (७
१८२
———
१३) २६ (२
२६
———
×

यहाँ पर भाज्य और हार का अपवर्तनांक १३ है। जो क्षेपक ६५ का भी अपवर्तन होता है। अतः लाघव से भाज्य $= \frac{२२१}{१३} = १७$,

हार $= \frac{१९५}{१३} = १५$ और क्षेपक ६५ ÷ १३ = ५। अतः भाज्य भाजक में परस्पर भाग देने से पूर्व की लब्धियों को अधोऽधः रखने से (तब तक भाग देते रहें जब तक शेष १ हो) एक बल्ली लता सी बनती है। जैसे, १७ ÷ १५ = ल० १ शेष २ से १५ में भाग देने से = ल० ७ शेष १ हो जाने से बल्ली भी यहीं समाप्त हो जाने से बल्ली के दो अंक होते हैं। बल्ली के नीचे क्षेपक = ५ और अंत में ० शून्य रखने से बल्ली का स्वरूप $= \begin{matrix}१\\७\\५\\०\end{matrix}$ होता है। अन्तिम अंक = ०, अन्तिम के समीप का ऊपरी अंक = ५ तदुपरि अंक = ७, ५ × ७ = ३५ + ० = ३५, तब बल्ली का स्वरूप $= \begin{matrix}१\\३५\\५\end{matrix}$ पूर्ववत् ३५ × १ + ५ = ४० और ३५ बल्ली का लघु स्वरूप $\begin{matrix}४०\\३५\end{matrix}$ हो जाता है। इनमें दृढ़ भाज्य १७ दृढ़ हार = १५ से शेषित करने पर ४० ÷ १७ = ६, ३५ ÷ १५ शेष ५ अन्तिम बल्ली का फल $= \begin{matrix}६\\५\end{matrix}$ इन दोनों में गुणकांक = ५ और लब्धाङ्क = ६ उत्तर हो जाते हैं। आलाप से $\frac{२२१ \times ५ + ६५}{१९५}$ = ल० ६। इस उत्तर के अतिरिक्त १, २, ३ इष्ट कल्पनावश भा० १७ क्षे० ५, हा० १५, ६ लब्धि, ल० २३, ४०, ५७ गुणांक गु० २० ३५, ५० इत्यादि। अनेक सही उत्तर होते हैं। जैसे, $\frac{२२१ \times २० + ६५}{१९५}$ = २३ लब्धि इत्यादि, अनेक सही उत्तर हो जाते हैं। जैसे, $\frac{२२१ \times ३५ + ६५}{१९५}$ = ४० लब्धि। इस कुट्टक गणित का ग्रह गणित में अत्यधिक उपयोग हुआ है। संक्षेप में सृष्ट्यादि से वर्तमान शक वर्ष के किसी भी अभीष्ट दिन के अहर्गण ज्ञान से कल्प कुदिन में कल्प के ग्रह भगण तो इष्ट अहर्गण में ग्रह की राश्यादि क्या होगी ? जैसे, $\frac{\text{क० ग्र० भ०} \times \text{इ० अहर्गण}}{\text{क० कु० दि०}}$

में इष्ट ग्रह भगण + $\frac{\text{भगण शेष}}{\text{कल्प कुदिन}}$ अतः भगण शेष को १२ से गुणा करने पर भ, शे०

$\frac{\text{भगण शेष} \times १२}{\text{क० कु०}} = \frac{\text{गतराशि + भगण शेष}}{\text{क० कु०}}$ इसी प्रकार आगे विकलादि शेष ज्ञात कर गुणक और लब्धि के ज्ञान से विलोम क्रिया से विकलादि शेषादि समझकर कल्प कुदिन का ज्ञान सुलभ हो जाता है। इसलिए मात्र दिग्दर्शनार्थ संक्षेप से यहाँ पर इस गणित का उल्लेख किया गया है।

वर्ग प्रकृति

जिस गणित की प्रकृति ही वर्गात्मक होती है उसे वर्ग प्रकृति गणित कहा गया है। जैसे, उदाहरण—वह कौन सा वर्गांक है जिसको ८ से गुणाकर उसमें १ जोड़ दें तो वह अंक वर्गांक ही रहता है अर्थात् सदा उसका मूल मिल ही जाता है।

आचार्य यहाँ पर गुणक ८ का नामकरण प्रकृति करते हुए जोड़ें या घटाये जाने वाले पदार्थ का नाम क्षेपक देते हैं। जैसे, इस प्रश्न में प्रकृति = ८ क्षेपक = १ इसका हल निम्न-भाँति से है। इष्ट अंक कल्पनाकर उसको प्रकृति से गुणा करने पर गुणन फल में जितना जोड़ने से मूल मिलता है उसे क्षेप संज्ञा देकर इष्ट का नाम कनिष्ट, प्रकृति × इष्ट वर्ग+क्षेप का नाम जेष्ठ और मूल प्राप्त्यर्थ युक्त अंक का नाम क्षेप कहा गया है। जैसे—यहाँ पर इष्ट का मान यदि १ तो १ का वर्ग = १ इसे प्रकृति से ८ से गुणा करने पर १ × ८ = ८ इसमें फिर हाल १ जोड़ने पर ९, और ९ का मूल = ३ यह ज्येष्ठ होता है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में दोनों क्षेप, ज्येष्ठ और कनिष्ठ उत्पन्न होने से दोनों में परस्पर भावना एक दूसरे का घनिष्ठतम संबन्ध से इष्ट = १ = ज्येष्ठ = ३ क्षेप = १, कनिष्ट = इष्ट १ ज्येष्ठ = ३, क्षेप = १।

ऐसी स्थिति में वज्राभ्यास का तात्पर्य × गुणा अर्थात् कनिष्ठ × ज्येष्ठ + ज्येष्ठ × कनिष्ठ कनिष्ठ, तथा (कनिष्ठ × कनिष्ठ) × प्रकृति + ज्येष्ठ × ज्येष्ठ = ज्येष्ठ मूल और दोनों क्षेपों कागुणनफल क्षेप × क्षेप = तृतीय क्षेप होता है। इस प्रकार कनिष्ठ ज्येष्ठ और क्षेप अनेक नवीन उत्पन्न होते हैं। यथा क × ज्येष्ठ + ज्येष्ठ × क = १ × ३ + १ × ३ = ६ = कनिष्ठ, तथा (कनिष्ठ × कनिष्ठ) × प्रकृति = ८ में ज्येष्ठ × ज्येष्ठ = ३ × ३ = ९ योग = ९ + ८ = १७ = ज्येष्ठ। क्षेप × क्षेप = १ × १ = १ क्षेप। इस प्रकार भावनाओं से अनेक प्रकार के ज्येष्ठ; कनिष्ठ और क्षेप उत्पन्न होते हैं। पुनः प्रथम से भावना देने पर—

क० १, ज्ये० ३, क्षे० १

तथा क० ६, ज्ये० १७, क्षे० १

अतः ६ × ३ + १७ × १ = ३५ = कनिष्ठ तथा दोनों ज्येष्ठों के गुणनफल ५१ में क × क × प = ६ × १ × ८४ = ८ + जोड़ने से ५१ = ९९ = ज्येष्ठ होता है।

और १ × १ = १ = क्षेप की उपलब्धि होती है। पुनः नूतन उत्पन्न क० = ३५ ज्ये० = ९९, क्षे० = १ आलाप मिलाने से ३५ का वर्ग = १२२५, इसे ८ से गुणा करने पर १२२५ होता है। इसको प्रकृति = ८ से गुणा करने पर १२२५ × ८ = ९८०० होता है। इसमें क्षेप = १ जोड़ने से ९८०१ होता है, ९८०१ का मूल निकालने से

```
      ९९
   ─────────
 ९ | ९८०१
   | ८१
   ─────────
१८९| १७०१
   | १७०१
   ─────────
```

मूल = ९९
ज्येष्ठमान स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार एक ही नहीं अनेक अनन्त अंक पदों से प्रश्न का समीचीन उत्तर होता है। यह है आचार्य की सूक्ष्म बुद्धि का महान् अंकगणित कौशल का आविष्कार।

वर्ग प्रकृति और कुट्टक से सम्बन्धित चक्रवाल गणित

चक्र की तरह परिभ्रमणशील होने से इस गणित का कुट्टक और वर्ग प्रकृति संबंधेन कुट्टक से गुण लब्धि की प्राप्ति के अनन्तर पुनः वर्ग प्रकृति पुनः कुट्टक सेगणित क्रिया द्वारा अभीष्ट उत्तर की उपलब्धि हल होने से इस गणित का नाम चक्रवालगणित चक्र की तरह वलयित (भ्रमण) समीचीन नामकरण हुआ है। एक प्रश्न है—

का सप्तषष्टिगुणिताकृतिरेकयुक्ता
का चैकषष्टि गुणिता च सखे सरूपा।
स्यान्मूलदा यदि कृतिप्रकृतिर्नितान्तं
त्वच्चेतसि प्रवद तात तता लतावत्‥‥॥

तात्पर्य है कि वह कौन सा वर्ग है जिसे ६७ से गुणा कर उसमें १ का वर्ग जोड़ दें अथवा वह कौन सा वर्ग है जिसे ६१ से गुणाकर १ का वर्ग जोड़ देने से लब्धाङ्क वर्गांक हो जाता है या उसका निरवयव मूल मिल जाता है।

वर्ग प्रकृति नियम से पहले उदाहरण में—

प्रकृति = ६७, क्षेप = १, दूसरे में प्र० = ६१, क्षे० = १, वर्ग प्रकृति नियम से कनिष्ठ = १ का वर्ग = १ को प्रकृति ६७ से गुणित करने पर ६७ में ३ कम करने से ६४ का मूल = ८ = ज्येष्ठ होता है।

अतः क० = १, ज्ये० = ८, क्षे० ऋण = ३ इस स्वरूप को कुट्टक गणित में परिणत करने से—

भाज्य = १, हर = ३ और क्षेप = ८ मानकर बल्लीज्ञान करते हैं। $\begin{smallmatrix}०\\२\end{smallmatrix}$ ऊर्ध्व अंक में भाज्य के अपवर्तन से शेष = ० नीचे के अंक २ में हर ३ से शेष = २ अतः गुण और लब्धि = $\begin{smallmatrix}०\\२\end{smallmatrix}$ अपने-अपने तत्क्षण (भाजकों) से २ शेषित करने पर $\begin{smallmatrix}२\\१\end{smallmatrix}$, क्षेप तत्क्षण $\begin{smallmatrix}२\\१\end{smallmatrix}$

से प्राप्त शेषित करने पर लब्धि = ३ । गुणांक = १ का वर्ग = १ को प्रकृति ६७ में कम करने से गुण · १, करने से ६७ − १ = ६६ यहाँ अल्प शेष होना चाहिए अधिक शेष होने से क्रिया गौरव होता है । अतः इष्ट = २ की कल्पना से लब्धि = − ५ + −२ = ७ (७)² = ४९ प्रकृति ६७ में कम करने से ६७ - ४९ = १८, क्षेप = ३ से भाग देने पर लब्धि - ६ = क्षेपक होता है । गुण का वर्ग प्रकृति में घट गया है इसलिए प्र० − गु०² = शेष धनात्मक का मान यहाँ पर धनात्मक − ६ = + ६ और लब्धि − ५ = कनिष्ठ हो जाता है । − ५ का धनत्व और ऋणत्व से कोई विकार नहीं है अतः गुण लब्धि = − ५, गुणक ७ का वर्ग = ४९ को प्रकृति ६७ लब्धि में घटाने से शेष = १८ होता है । शेष में − ३ से भाग देने से + ६, − ५ का वर्ग = २५ से गुणित करने पर १६७५, में क्षेप ६ जोड़ने से १६८१ का मूल = ४१ = ज्येष्ठमूल होता है ।

अतः पुनः कुट्टक के लिए भाज्य = ५, हार = ६, क्षेप = ४१ बल्ली = ० / ६ / ० लब्धि=११ गुणक=५

गुणक का वर्ग (५)² = २५, प्रकृति = ६७ में कम करने से शेष = ४२ में क्षेप से भाग देने पर लब्धफल = ७ प्रकृति में घटने पर व्यस्त चिह्न, धन हो तो ऋण और ऋण हो तो धन हो जाने से फल, ७ ऋण हुआ, अतः कनिष्ठ = ११ ज्येष्ठ = ९०, क्षेप = ७ फिर से कुट्टक करने से—

भा० = ११, हा० = - ७, क्षेप = ९० उक्त रीति से गुण = ५ बल्ली विषम है । अतः गुण = ७ − ५ = गुण = २, क्षेप = − ७, को − १ से गुणा करने पर − ७ × − १ = + ७, × + क्षेप = ७ + २ = ९ (९)² = ८१, प्रकृति ही ६७ पर घट रही है, अतः ८१ − ६७, १४ में क्षेप से भाग देने पर = १४/७ = − २, लब्धि, और २७ = कनिष्ठ पुनः कुट्टक से—

क = २७, ज्ये० २२१, क्षेप = − २
क = २७, ज्ये० २२१, क्षेप − २

क २७ × २२१ + २२१ × २७ = ११९३४ । क्षेप = + ४ । ज्ये०, प्र० (२७ × २७) ६७ + २२१ × २२१ = ९७६८४ और क्षेप = − २ × − २ = ४

स्पष्टता से कनिष्ठ = ११९३४ ज्येष्ठ = ९७६८४ और क्षेप = ४ । इष्ट कल्पना = २ का वर्ग ४ = से क्षेप में भाग देने से ४ ÷ ४ = १ तथा $\frac{\text{कनिष्ठ}}{२}$ = कनिष्ठ ५९६७, तथा $\frac{\text{ज्येष्ठ}}{२}$ = ज्येष्ठ = ४८८४२ और क्षेप ४ ÷ ४ = १ इस प्रकार ५९६७ के वर्ग को ६७ से गुणा कर १ जोड़ने से उस वर्गाङ्क संख्या का मूल ४८८४२ होगा । और भी अनेक उत्तर होते हैं ।

विशेष सूत्र—"रूप शुद्धौ खिलोदिष्टं वर्गयोगो गुणो न चेत्" ऋण १ क्षेप में गुणक संख्या किन्हीं दो वर्गांकों के = योग तुल्य होनी चाहिए, यदि प्रकृति दो वर्गांकों का योग नहीं है तो ऐसा प्रश्न अशुद्ध समझना चाहिए । उदाहरण से—

वह कौन सा वर्ग है जिसे १३ से गुणा कर १ जोड़ देने से प्राप्त अंक का मूल मिल जाता है।

प्रकृति १३ है। जो $(२)^२ + (३)^२ = ४ + ९$ दो वर्गाङ्कों को योग तुल्य है अतः प्रश्न सही है।

दोनों वर्गाङ्कों ४, ९ के मूलों २, ३ से १ में भाग देने पर ऋण १ में कनिष्ठ पद = $\frac{१}{२}$, अतः $\frac{१}{२}$ का वर्ग = $\frac{१}{४}$ को प्रकृति १३ से गुणा करने पर $\frac{१}{४} \times १३ = \frac{१३}{४}$

इसमें ऋण १ क्षेप कम करने से $\frac{१३}{४} - १ = \frac{९}{४}$ का मूल $\frac{३}{२}$ यह ज्येष्ठ का मान है।

इष्ट ३ से १ में भाग देने से $\frac{१}{३}$ कनिष्ठ, $\frac{१}{३}$ का वर्ग = $\frac{१}{९}$ को १३ से गुणा करने पर $\frac{१३}{९}$ में ऋण १ कम करने से $\frac{४}{९}$ का मूल = $\frac{२}{३}$ यह ज्येष्ठ का मान भी होता है। अथवा कनिष्ठ १ के वर्ग को १३ से गुणा कर ४ कम कर मूल लेने से क० = १, ज्ये० ३, क्षे० ४, यहाँ पर इष्ट = यदि २ का वर्ग = ४ अतः क $\frac{१}{२}$ ज्ये० $\frac{३}{२}$, क्षे० = − १। यदि प्रकृति १३ में − ९ = ४ का मूल २ से १ में भाग देने से क० $\frac{१}{२}$, ज्ये० $\frac{३}{२}$, क्षे० − १ कुट्टक रीति से भाज्य=^{१} हा० = −१, क्षे० = $\frac{३}{२}$ तीनों में $\frac{१}{२}$ का अपवर्तन देने से भा०=१, हा० − २, क्षे०, ३ अतः कुट्टक से $\begin{matrix} ल० = १, \\ गु० = २ \end{matrix}$ यहाँ पर १ इष्ट मानकर गुण ३ गुणवर्ग $(३)^२$ अतः १३ − ९ = क्षेप = ४ = कनिष्ठ वर्ग $(३)^२$ को प्रकृति १३ से गुणा कर ४ जोड़ने से = १२१ का मूल ११ = ज्ये०।

क० ३ ज्ये० ११ क्षे० = ४

भा० = ३ क्षे० ११ और हा० = ४

पूर्ववत् क० = ५ ज्ये० = १८ क्षे० = १

इस प्रकार अनेक अनन्त उत्तर होते हैं। इस प्रकार उक्त कुट्टक, वर्ग प्रकृति और चक्रवाल गणित का यत्र-तत्र सर्वत्र ग्रह गणित में अति आवश्यक उपयोग होता है जिसको संक्षेप से आवश्यक समझ कर यहाँ पर प्रदर्शित किया गया है।

इस बीजगणित के उत्तरार्द्ध में भी कुट्टक गणित का उपयोग यथा स्थान आगे भी आ रहा है जो दिखाया जायगा। श्री भास्कराचार्य एवं तत्पूर्ववर्ती आचार्यों ने अव्यक्त पदार्थों की अव्यक्त कल्पना के लिए यावत् = या. तावत् - ता. कालक = का. नीलक = नी. पीतक = पी. लोहितक = लो. श्वेतक = श्वे. हरितक = ह. अभ्रक = अ. इत्यादि संकेत दिये हैं। आधुनिक गणित सागर के गोताखोर अव्यक्त मात्र कल्पना के लिए, A, B, C, D, E, F इत्यादि या अ, ब, क, ल, ह, च··· इत्यादि वर्णों के मान से अव्यक्त अर्थात् अज्ञात पदार्थों की कल्पना करते हैं।

सौकर्य के लिए वस्तुतः लिपियों के परिणाम दोनों या अनेकों अव्यक्त कल्पनाओं में बात एक है भी तो प्राचीन आचार्यों की अव्यक्त कल्पना सविशेष महत्व की इसलिये है कि प्राचीनों से सप्त सारथिः, सात बार, सात प्रकार के रंग लाल, पीला, हरा, श्वेतादि सम्बन्धित कालक, पीतक, श्वेतक, इत्यादि रंग बोधक कल्पना की गई है।

भास्करीय बीजगणित के एक वर्ण समीकरण से प्रश्न का हल

एक प्रश्न है कि—एक पुरुष का धन ३०० रु० और ६ घोड़े की पूँजी है तथा दूसरे पुरुष के पास १० घोड़ों के साथ १०० रु० कर्ज (ऋण) देना है दोनों अर्थ विनिमय से तुल्य हैं तो अश्व (घोड़ों) का मूल्य क्या होगा ?

घोड़ों का मूल्य अज्ञात होने से अव्यक्त कल्पना करते हैं अश्व (घोड़े) का मूल्य, जैसे, घोड़े का मूल्य = य रुपया है अतः प्रश्न के अनुसार—

प्रथम का धन = ६ य + ३०० रु०
दूसरे का धन = १०य − १०० रु०
६ य − ३०० = १०० य − १००

} दोनों तुल्य धनी हैं अतः धनात्मक ६ य को धनामक १० य में शोधन करने से ६ य का मान ऋणात्मक हो जाने से १० य − ६ य, ४ य = ३०० + १०० = ४०० इस प्रकार ४ य = ४०० अतः य = $\frac{४००}{४}$ = १०० = अश्व का मूल्य होता है।

अतः य का अव्यक्त मान १०० रु० होने से प्रथम पुरुष का धन = ९०० के तुल्य द्वितीय का भी धन ९०० दोनों तुल्य धन हो जाते हैं।

और भी प्रश्न है—समतल समान भूमि में ३२ हाथ का एक बाँस खड़ा है वायु वेग से यह एक जगह से टूट कर मूल से अग्रभूमि १६ हाथ की दूरी पर लग गया तो बताओ बाँस अपने मूल से आगे कितने हाथ की दूरी पर टूटा था।
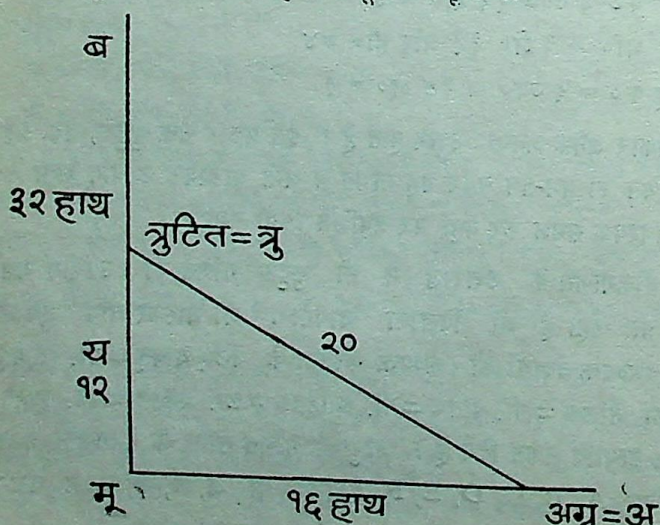
कल्पना किया मू बं = ३२ हाथ । त्रु = मू अ त्रिभुज में मू त्रु = य अतः त्रु अ = ३२ − य । अतः भु^{२} + को^{२} = कर्ण^{२} से, भुज^{२} = (१६)^{२} = २५६ होता है ।

तथा (३२ − य)^{२} = १०२४ − ६४ य + य^{२} + (१६)^{२}

नियमतः य^{२} + २५६ = १०२४ − ६४ य + य^{२}

अतः ६४ य = ७६८

∴ य = १२ मू त्रु

उत्थापन से ३२ हाथ का बांस मूल से १२ हाथ की दूरी पर टूट कर ३२ − १२ = २० हाथ के तुल्य कर्ण का मान होता है ।

बीजगणित में वर्गात्मक अव्यक्त राशियों का गणित

किसी भ्रमर झुण्ड के आधे का मूल मालती पुष्प में, समग्र भ्रमर झुण्ड का $\frac{८}{९}$ अलिनी पुष्प में, शेष एक भ्रमर अपनी भ्रमरी की खोज में रात्रि में कमल पुष्प के निरुद्ध होने पर बारम्बार से रातभर अपनी नायिका का द्वार खटखटाता रहा, और भीतर से (अवरुद्ध द्वार के कारण) नायिका भी जो कमलपुष्प में अवरुद्ध थी रातभर वहिर्गमन के प्रयत्न में सूर्योदय तक विफल रही और रात भर सूर्योदय तक दोनों का संयोग न हो सकने से लड़ते रहे, सूर्योदय पर कमल पुष्प का मुख स्वयं उद्घाटित हो जाने से दोनों का सानुराग सानन्द मिलन हो गया ।

यहाँ भ्रमर कुल प्रमाण = २ य^{२} मानने से $\frac{२ य^{२}}{२} = \sqrt{य^{२}}$ = य मालती पुष्प में तथा

$\frac{२य^{२} \times ८}{९} = \frac{१६ य^{२}}{९}$ अलिनी, में दृश्य भ्रमर = २ अतः ∴ य + $\frac{१६ य}{९}$ + २ य^{२}

संशोधन से = २ य^{२} − ९ य = − १८

यहाँ पर अव्यक्त पक्ष २ य^{२} + ९ में मूल अपेक्षित होने से − १८ इस व्यक्त पक्ष का भी मूल होना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में उभयपक्ष का यथेष्ट गुणा, भाग, योग अन्तर द्वारा मूलानयन आवश्यक हो जाता है ऐसी स्थिति में भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती श्रीधराचार्य का निम्न श्लोक रूप में सूत्र (सिद्धान्त) है—

चतुराहतवर्गसमै रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत् ।
अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्तौ पक्षौ ततो मूलम् ॥

इस सूत्र में प्रथम पक्ष के वर्गात्मक अंक को ४ से गुणाकर लब्ध अंक से दोनों पक्षों को गुणित कर उसमें अव्यक्त पक्ष का रूप वर्ग जोड़ने से उभय पक्षों का मूल मिल जाता है ।

जैसे प्रथम पक्ष में २ य^२ है अतः २ × ४ = ८ से दोनों पक्षों को गुणा करने से तथा व्यक्त (९)^२ = ८१ दोनों पक्षों में जोड़ने से १६ य^२ + ७२ य = १४४, १६य^२ − ७२ य + ८१ = ∴ १४४ + ८१ = २२५

अतः १६ य^२ + ७२ य − ८१ = २२५

मूल = ४ य − ९ = १५
४ य = २४
∴ य = ६
∴ य^२ = ३६
अतः २ य^२ = ७२

आलाप से
७२ ÷ २ = √३६ = ६ = मालती पुष्प में
७२ × ⁸⁄₉ = ६४ = अलिनी ,, ,,
दृश्य = २ = प्रत्यक्ष दृष्टि में
योग = ७२
= भ्रमर कुल होता है।

"शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत्पुनस्तदा राशिः ।
अविकृत एव विचिन्त्यः सर्वत्रैवं विपश्चिद्भिः ॥"

यदि किसी समीकरण में गुणक ० और भाजक भी ० है तो $\frac{०}{०}$ = समीकरण का अविकृत स्वरूप रहता है।

जैसे वह कौन सी राशि है जिसका $\frac{१}{२}$ उसी राशि में जोड़ दें, उसे ० से गुणा करें, पुनः उसका वर्ग कर दें, पुनः उसमें उसका द्विगुणित मूल जोड़ देते हैं और पुनः शून्य से भाग देते हैं तिस पर भी वह राशि १५ हो जाती है।

कल्पना किया राशि मान = य। अतः य + $\frac{य}{२}$ = $\frac{३ य}{२}$ × ० = ० नहीं कहा जावेगा क्योंकि शेष विधि है, यहाँ प्रश्न के अनुसार भी गणित क्रिया जो निम्न है, शेष है।

$$\left(\frac{३ य}{२}\right)^२ = \frac{९ य^२}{४}$$

$$\frac{९ य^२}{४} \text{ का मूल } = \frac{३ य}{२}$$

$$२ \times \text{मूल} = ३ य$$

$$\text{अतः } \frac{९ य^२}{४} + ३ य = १५$$

शून्य से भाग देने पर पहिले शून्य से गुणा करना था, और यहाँ शून्य से भाग देना है।

$$\frac{९ य^२}{४} + ३ य \times \frac{०}{०} = \frac{९ य^२}{४} + ३ य$$

अतः $\frac{९ य^{२}}{४} + ३ य = १५$

$९ य^{२} + १२ य = ६०$

मूल लेने के लिये $(२)^{२}$ दोनों पक्षों में जोड़ने,

$९ य^{२} + १२ य + ४ = ६० + ४ = ६४$

अतः $३ य + २ = ९$

तथा $३ य = ६$

अतः $य = २$

अतः $\left(\frac{३य}{२}\right)^{२} = \frac{९ य^{२}}{४}$ इसका मूल $\frac{३य}{२} \times २ = ३ य$ से युक्त करने पर $\frac{९ य^{२}}{२}$ $+ ३ य = १५$, अतः $९ य^{२} + १२ य = ६०$ दोनों पक्षों में ४ जोड़ देने से $९ य^{२} + १२ य + ४$ ६४ मूल लेने से $३ य + २ = ८$ अर्थात् $३ य = ६$ अतः $य = २$, अतः $\frac{६ \times ० + ९}{०}$ $\frac{६ \times ०}{०} + ९ = ९ + ६ = १५$ ठीक हो जाता है। आलाप मिलाने से, $२ \div २ = १$, $२ + १ = ३$, $३ \times ० = ३$, $(३)^{२} = ९$, ९ का मूल $= ३$, $३ \times २ = ६$।

क्षेत्र व्यवहार में बीजगणित का उपयोग

जिस समकोण त्रिभुज के भुज कोटि १५ और २० हैं उसका कर्णमान बताइये—
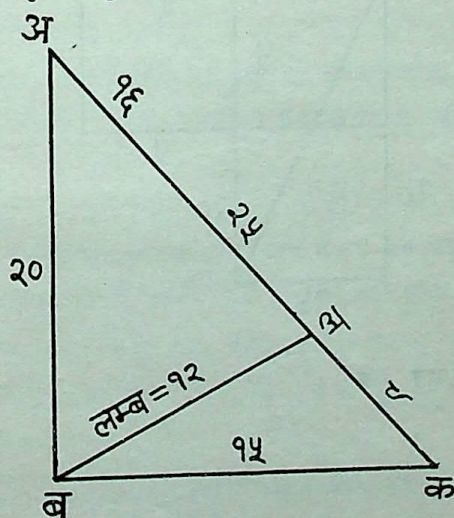
व्यक्तमान से व्यक्तगणित से (२०) = ४०० + (१५) = २२५ = ६२५ का मूल = २५ कर्णमान हो जाता है। बीजगणित से कर्णमान २५ को भूमिमान कर शीर्ष

कोण से भूमि आधार पर लम्ब गिराने से अ ब क त्रिभुज में अ क = कर्ण = भूमि, ब क और अ ब = भुज तथा कोटि । अतः लीलावती से २० + १५=३५ योग तथा अन्तर = ५

$\frac{३५ \times ५}{२५} = ७$, $\frac{२५ \pm ७}{२} = \frac{३२}{२}$, $\frac{१८}{२} = १६$ बड़ी आबाधा और $\frac{२५ - ७}{२} = \frac{१८}{२} = ९$

= लघु आबाधा । $\sqrt{भु^२ - आधाधा^२}$ = लम्ब = $(१५)^२ - (९)^२ = २२५ - ८१ = १४४$

का मूल = १२ = लम्ब अथवा $(२०)^२ - (१६)^२ = १४४$ का मूल = १२ यह भी पूर्ण

तया लम्बमान होता है । $\frac{भूमि \times लम्ब}{२} = \frac{१२ \times ९}{२} + \frac{१२ \times १६}{२} = ५४ + ९६ = १५० =$

दोनों प्रकार से एक रूप का उत्तर में क्षेत्रफल आता है ।

प्रकारान्तर से भी चतुर्भुज के रूप में क्षेत्र रचना निम्न भाँति होती है ।
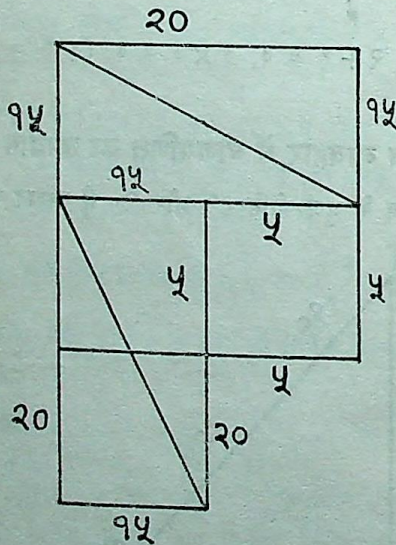
कल्पना किया कर्णमान = य

कोटि = २०

भुज = १५

अन्तर = ५

अन्तर वर्ग = $(५)^२ = २५$
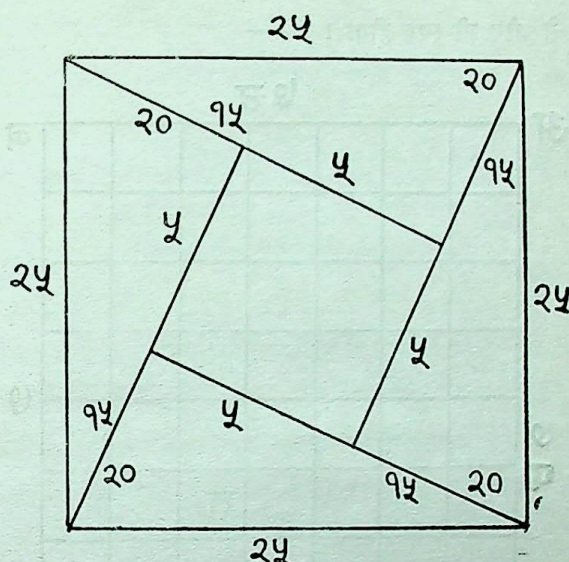
(भु × को) × २

= ४ त्रिभुजों का फल

१५ × २० × २ = ६००

इसमें अन्तर वर्ग = $(५)^२$ = २५

जोड़ देने से ६२५ = $या^२$

अतः २५ = या

ऐसी स्थिति में एक सिद्धान्त जिसे सूत्र कहते हैं उपपन्न होता है कि भुज कोटि के अन्तर वर्ग को भुज कोटि के द्विगुणित गुणनफल में जोड़ देने से वह दोनों भुज कोटि का वर्ग हो जाता है।

अर्थात् $(भु \sim को)^२ + (भु \times को) \times २ = भु^२ + को^२ = कर्ण^२$ उपपन्न होता है।

प्रश्न है कि भुज में ३ कम करने से प्राप्त मूल में १ कम करने से कोटि मान हो जाता है तो एक ही द्वादश भुज में अनेकों कर्णों का मान क्या होगा ?

आलाप से— $\sqrt{भु - ३} - १$ = कर्ण, कोटि, इष्ट = २

$\therefore \sqrt{भु - ३} = २ + १ =$ ३, $\therefore भु - ३ = ९$, भु = ९ + ३ = १२, कोटि = १६, कर्ण = २०

अतः $कर्ण^२ - कोटि^२$ = १४४ = (कर्ण + को) (कर्ण − कोटि) किन्हीं दो राशियों के योग और अन्तर के गुणनफल के तुल्य होता है।

जैसे (२० + १६) (२० − १६) = ३६ × ४ = १४४ = $(२०)^२ - (१६)^२$ = १४४ का मूल = १२ = भुज इत्यादि।

क्षेत्र दर्शन से और भी स्पष्ट होगा । जैसे—
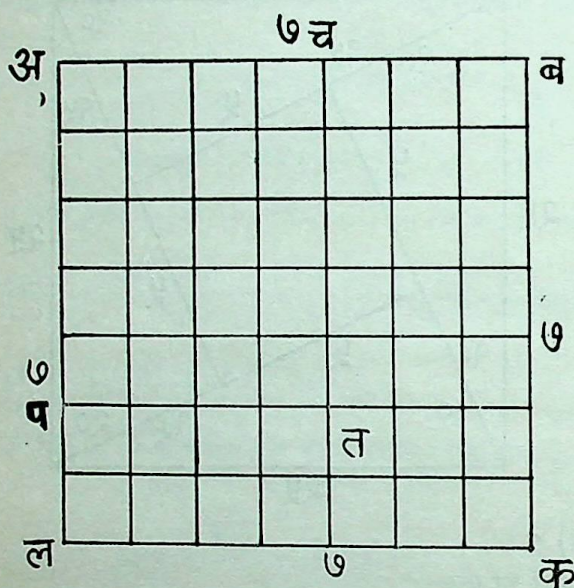
अ ब क ल चतुर्भुज में ७ × ७ = ४९ कोष्ठक हैं । इसमें ५ × ५ = २५ अ च त प को निकाल देने से ४९ − २५ = २४ अर्थात् २४ कोष्ठक निम्न क्षेत्र की तरह १२ × २ = २४ क्षेत्रफलात्मक बन जाते हैं ।
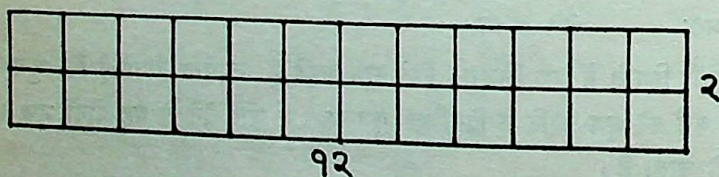
तात्पर्य से जो (७ − ५) × (७ + ५) = २ × १२ = २४ = (७)² − (५)² = ४९ − २५ = २४ के तुल्य अर्थात् दो राशियों के योगान्तर का गुणनफल उन्हीं दोनों राशियों के वर्गान्तरों के तुल्य क्षेत्र से भी सुस्पष्ट है । और भी सूत्र हैं कि—

चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरम् ।
राश्यन्तर कृतेस्तुल्यं द्वयोरव्यक्तयोर्यथा ।।

किन्हीं दो राशियों के अन्तर का वर्ग, उन दोनों राशियों के चतुर्गुणित गुणनफल और उन दोनों राशियों के योग के वर्ग के अन्तर तुल्य होता है ।

क्षेत्र को देखें—

जैसे दो राशियाँ = ५ और ३

(५ × ३) × ४ = ६०

$(५ \times ३)^२ = ६४$

$६४ - ६० = ४ = (५ - ३) = २$ का वर्ग $= ४$ होता हैं।

एक उदाहरण है कि, भु + को + क = ४० तथा भु० × को० = १२०
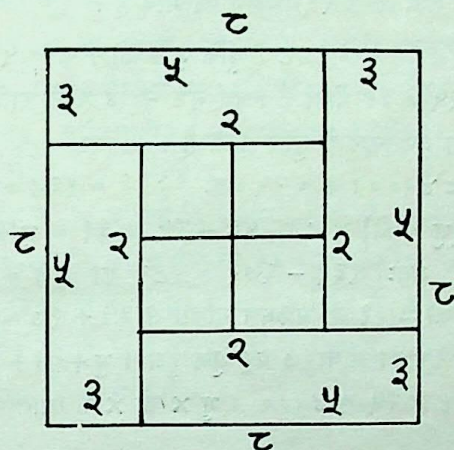
उक्त नियमों से (भु × को) × २ = १२० × २ = २४० = (भु + को)^२ + कर्ण = योग और अन्तर के गुणनफल के तुल्य। अतः $\frac{२४०}{४०}$ = ६ = अन्तर संक्रमण गणित से ४० ± ६ = ४६, ३४ के आधे = २३ = भु + को, और १७ = कर्ण। अतः (भु + को)^२ = ५२९ में भु × को × ४ = १२० × ४ = ४८० को घटाने से ५२९ − ४८० = ४९ का मूल = ७ = भु० को० का अन्तर। अतः संक्रमण से २३ ± ७ ३० और १६ दोनों आधे के १५ तुल्य कोटि और ८ के तुल्य भुज हो जाता है।

और भी एक प्रश्न है कि, यदि भु + को + कर्ण = ५६ तथा भु × को × क = ४२०० है तो भु, को और कर्ण के मान क्या हैं? यहाँ पर कर्ण का मान अव्यक्त ''य'' मानकर गणित करने से कर्ण का वर्ग = य^२ = भु^{२} + को^{२} = वर्ग योग। भु + को + क = ५६, अतः ५६ − य^२ = भु + को = ५६ − य, $\frac{\text{भु} \times \text{को} \times \text{क}}{\text{क}}$ = भु × को। $\frac{४२००}{\text{य}}$ पूर्व सूत्र से वर्ग योग = य^२। और युति वर्ग = यु० व० . य^२ − ११२ य + ३१३६

चूंकि वर्ग योग = य^२ और दो राशियों भु + को = योग का वर्ग = युति^{२} = (५६ − य) = ३१३६ − ११२ य + य^२। दो राशियों का द्विगुणित घात $\frac{४२०० \times २}{\text{य}}$ = $\frac{८४००}{\text{य}}$ के तुल्य है। अतः, ३१३६ − ११२ य − य^२ = $\frac{८४००}{\text{य}}$। दोनों पक्षों से ११२ से भाग देने से भी दोनों पक्ष बराबर हैं। अतः २८ − य^२ = − ७५ दोनों

पक्षों को $-$ १ से गुणा करने पर $य^2 - २८ = -७५$ दोनों में १४ का वर्ग जोड़ देने से $य^2 - २८ + १९६ = १९६ - ७५ = य^2 - २८ य + १९६ = १२१$ मूल लेने से, $य - १४ = ११$ अतः $य = २५$ = कर्ण का मान है।

$\therefore$ $भु \times को = \frac{४२००}{२५} = १६८$। चूँकि $भु + को + क = ५६$, $कर्ण = २५$ अतः $भु + को = ५६ - २५ = ३१$ होता है। पूर्व सूत्र से $४ \times$ दो राशियों का गुणन दोनों राशियों का द्विगुणित गुणनफल के तुल्य होता है।

$भु \times को \times क = ४२००$। $क = २५$ अतः $\frac{४२००}{२५} = १६८ = भु \times को$ तथा $(४ \times १६८) = ६७२ = (भु \times को) \times ४$। $५६ - २५ = ३१ = भु + को$ अतः $(३१)^2 = ९६१ = (भु + को)^2$ अतः $९६१ - ६७२ = २८९$ का मूल $= १७$ = भु और कोटि का अन्तर है। $भु + को = ३१$ है, संक्रमण गणित से $३१ + १७ = ४८$ का आधा $= २४$ कोटि, $३१ - १७ = १४$ का आधा $= ७$ यह भुज हुआ। $भु + को + क = ७ + २४ + २५ = ५६$ तथा $७ \times २४ \times २५ = ४२०० = भु \times को \times क$ आलाप से भी सम्यक् सही होता है।

शोधकर्त्ता गणितज्ञों ने भी अव्यक्त कल्पना से गणित गौरव देखकर इस प्रकार के प्रश्नों के हल के लिए कहा है—

वध योगांशहीनाद्ययोगवेदांशवर्गतः।
पदं योगचतुर्थांश भक्तं कार्णो भवेदिह॥

इस एक प्रकार से अर्थात् राशियों के गुणनफल में राशियों के योग से भाग देकर उसे १६ से विभक्त योग वर्ग में कम कर मूल लेकर मूल में योग चतुर्थांश जोड़ देने से भी कर्ण का मान स्पष्ट होता है।

$$\frac{योग}{४} + २\sqrt{\frac{योगवर्ग}{१६} - \frac{गुणनफल}{योग}}$$

$$= \frac{५६}{४} + २\sqrt{\frac{(५६)}{१६} - \frac{४२००}{५६}}$$

$$= १४ + २\sqrt{\frac{३१३६}{१६} - \frac{४२००}{५६}}$$

$$= १४ + २\sqrt{\frac{३१३६}{१६} - ७५}$$

$$= १४ + \sqrt{१९६ - ७५}$$

$$= १४ + \sqrt{१२१}$$

$= १४ + ११ = २५$ कर्ण का मान निकल जाता है। शेष अग्रिम क्रिया पूर्व प्रकार से हल हो जाती है।

बीजगणित में अनेक वर्णों की कल्पना—

अभी तक अव्यक्त में एक वर्ण से जैसे य, अथवा अ'''इत्यादि तथा तदुपरि एक ही वर्ण सम्बन्धेन एक वर्ण वर्ग से बीजगणित क्रिया प्रदर्शित की गई है, इसके आगे अव्यक्तों में अनेक वर्णों अ, क, य, ल इत्यादि के वर्गादि समीकरणों से सम्बन्धित बीजगणितीय क्रिया का प्रदर्शन पाठकों के बुद्धि विवर्द्धन के लिए आवश्यक समझ कर संक्षेप से अनेक वर्ण वर्ग समीकरणीय (बीजगणितीय) गणित प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है।

उदाहरण में यदि २, ३, ४ इत्यादि राशियाँ होती हैं तो उनके मानों में य, अ इत्यादि से अनेक अव्यक्तों का मान कल्पना कर दोनों पक्षों का शोधन, समशोधन, गुणन, भजन और योगान्तरादि करते हुए पूर्वकथित विधि के अनुसार दोनों समान पक्ष स्थापित करना चाहिए। इसके आगे दोनों पक्षों के समान अव्यक्तों का संशोधनादि से निम्न भाँति गणित क्रिया की जानी चाहिए।

उदाहरण है—

चार व्यापार प्रवृत्ति के बन्धु हैं जिनकी सम्पत्ति निम्न भाँति है—

प्रथम की पशुधन संख्या

	अश्व	ऊँट	खेचर	बैल
प्रथम	= ५	= २	= ८	= ७
द्वितीय ···	··· = ३	७	२	१
तृतीय ···	··· = ६	४	१	२
चतुर्थ की ···	··· = ८	१	३	१

प्रत्येक के उक्त पशुधन के विक्रय से जो द्रव्य आता है वही उतना ही धन सभी के पास है, तो अश्व, ऊँट, खेचर और बैल आदि का मूल्य क्या होगा ? यही समझना है।

यहाँ पर अश्वादिकों का मूल्य कल्पित किया जाता है यथा अश्व का मूल्य = य, ऊँट का मूल्य = क अश्वतर-खेचर का मूल्य = न और बैल का मूल्य = प कल्पना कर गणित प्रस्तार किया जाता है।

इस प्रकार अव्यक्त कल्पना के अनन्तर—

प्रथम धन = ५ य + २ क + ८ न + ७ प
द्वितीय धन = ३ य + ७ क + २ न + १ प
तृतीय धन = ६ य + ४ क + १ न + २ प
चतुर्थ धन = ८ य + १ क + ३ न + १ प

उक्त चारों समान धनी हैं, अतः ५ य + २ क + ८ न + ७ प = ३ य + ७ क + २ न + १ प अतः २ य = ५ क − ६ न − ६ प

$\therefore$ य = $\frac{५ क - ६ न - ६ प}{२}$ = (१)

दूसरे तीसरे से य = $\frac{३ क + १ न - १ प}{३}$ = (२)

तृतीय चतुर्थ से य = $\frac{३ क - २ न + १ प}{२}$ = (३)

इस प्रकार य के तीन मान होकर इस समीकरण माध्यम से अब क का मान निकालना चाहिए ।

प्रथम द्वितीय से, $\frac{५ क - ६ न - ६ प}{२} = \frac{३ क + १ न - १ प}{३}$

अर्थात् १५ क − १८ न − १८ प = ६ क + २ न − २ प

अतः ९ क = २० न − १६ प

अतः क = $\frac{८ न - ५ प}{३} = \frac{२० न + १६ प}{९}$

$\therefore$ ७२ न − ४५ प = ६० न + ४८ प

अतः १२ न = ९३ प $\therefore$ न = $\frac{९३ प}{१२} = \frac{३१ प}{४}$

अतः ७६ × ३ = २२८ + ३१ − ४ = २५९ − ४ = $\frac{२५५}{३}$ = ८५ = य

$\therefore \frac{२० + १६ प}{९} = \frac{८ न - ५ य}{३}$

= ६० न − ४८ प = ७२ न − ४५ प

$\therefore$ १२ न = ९३ प $\therefore$ न = $\frac{९३ प}{१२} = \frac{३१ प}{४}$

पूर्व कथित कुट्टक गणित से गुणक मान यदि इष्ट ल मानने से

न = लब्धि = ३१ ल

प = गुणक = ४ = उत्थापन देने से

क − ७६ ल (८×३१) = २४८ ल

$\frac{\frac{२० ल}{२२८}}{३}$ = ७६ ल

इस प्रकार यदि ल = १···२···३··· अनन्त । यदि इष्ट = १ तो य = ८५, क = ७६, न = ३१ और प = ४ ।

यदि इष्ट = २ तो य = १७० क = १५२, न = ६२, प = ८

इष्ट = ३ तो य = २५५, क = २२८, न = ९३, प = १२ इत्यादि अनेक विध मान होते हैं । आलाप मिलाने से—

प्रथम का धन अश्व मूल्य = ४२५, ऊँट मूल्य = १५२, खच्चर मूल्य = २४८, बैल मूल्य = २८, सबका योग ८५३ ।

द्वितीय का धन = २५५ + ५३२ + ६२ + ४ = ८५३ ।

तृतीय का धन = ५१० + ३०४ + ३१ + ८ = ८५३ ।

चतुर्थ का धन = ६८० + ७६ + ९३ + ४ = ८५३ ।

इस प्रकार के पशु धन का मूल्य से सम्बन्ध करने पर सभी समान धनी सिद्ध हो जाते हैं ।

और भी एक विनोद प्रदर्शन का अर्थात् अंकगणित के साथ बीजगणित से गहन कल्पना सागर के गोताखोर से उपलब्ध रत्नाकर के रत्नात्मक बीज बुद्धि का प्रश्न है कि (मूल ग्रन्थ में द्रम द्रव्य की जगह हम यहाँ रुपये का उपयोग कर रहे हैं ।)—

३ रु० में ५ पारावत पक्षी और ५ रु० में ७ सारस और २ रु० में ९ हंस और ९ रु० में ३ मयूर (मोर) आदि पक्षीगण मिलते हैं, तो हे चतुरराजभक्त १०० रु० में ही १०० पूर्ण संख्या के, पारावत + सारस + हंस और + मोर राजा के विनोद के लिए ले आइये ।

यहाँ पर आचार्य का कल्पना वैचित्र्य है कि पक्षियों की संख्या के तुल्य, य, क, प, न इत्यादि मान मानकर पुनः पक्षी संख्या तुल्य मूल्यों १०० के साथ साम्य कर तथा १०० के साथ उभयतः य − क − प − न मान निकाले हैं । मूल्य सम्बन्ध जैसे ३ प + ५ क + ७ न + ९ य = १०० अतः $य = \frac{१०० - ५ क - ७ न - ९ प}{३}$

एवं पशु सम्बन्ध से $य = \frac{१०० - ७ क - ९ न + ३ प}{५}$ इन दोनों से दोनों पक्षों की समानता है ।

अतः दोनों पक्षों से, ५०० − २५ क − ३५ न − ४५ प = ३०० − २१ क − २७ न − ९ प ।

$\therefore$ क = २०० − ८ न − ३६ प, $\therefore$ $क = \frac{२०० - ८ न - ३६ प}{४}$ = ५० − २ न − ९ प

यदि प मान इष्ट = ४ तो, क = ५० − २ न − ३६ = $\frac{१४ - २ न}{१}$

अतः कुट्टक से २ ल + १४ = लब्धि, १ ल + ० = गुणक

अतः य = ल − २, यदि ल का मान इष्ट कल्पना ३ की जाय तो य = १, क = ८, न = ३ और प = ४ उत्तर होते हैं। इससे मूल्यों और जीवों में उत्थापन देने से—

पक्षी	पारावत ५	सारस ५६	हंस २७	मोर १२	= १०० पक्षी
मूल्य	३ रु०	४० रु०	२१ रु०	३६ रु०	= १०० रुपया

यदि इष्टमान कल्पना व्यक्त संख्या ५ मानें तो

पक्षी	पारावत १५	सारस २८	हंस ४५	मोर १२	पक्षियों की संख्या = १००
मूल्य	९	२०	३५	३६	सभी पक्षियों की मूल्य संख्या द्रव्य = १००

आचार्य ने "एवमिष्टवशादनेकधा" ऐसा भी कहते हुए अनेक प्रकार के मान होते हैं, कहा है, किन्तु यहाँ पर पक्षियों की संख्या १०० (एक सौ) और सभी योगात्मक पशु संख्या १०० का मूल्य भी १०० रु० होने से ऐसी स्थिति में उत्तर में मात्र १६ प्रकार की पक्षी संख्या १६ प्रकार का ही पक्षी संख्याओं का मूल्य··· ···उत्तर हो सकता है। इस अनेक वर्ण समीकरण में बुद्धि विवर्धक अनेक प्रश्नों का हल अनेक वर्णों की अव्यक्त कल्पना से किया गया है। सारा प्रकरण गणितज्ञों के लिए अत्यन्त रोचक एवं गणित ज्ञानवर्धक है, संक्षेप से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल यहाँ पर दे देना आवश्यक है। जैसे—

प्रश्न है कि—वह कौन सी राशि जिसमें २ का भाग देते हैं तो शेष = १, लब्धि में भी २ का भाग देने से शेष भी १, ३ से भाग देने पर लब्धि २ तथा लब्धि में ३ का भाग देने पर भी शेष = २, राशि में ५ से भाग देते हैं तो भाग देने से शेष = ३, लब्धि ३ में भी ५ का भाग देने से शेष भी ३ ही होता हैं तो राशि मान क्या है? अव्यक्त कल्पना से राशिमान् = य।

अतः $\frac{य}{२}$ लब्धि = $\frac{य}{२}$ = २ क + १

∴ यह = ४ क + ३ यहाँ स्वयं एक आलाप घट रहा हैं। फिर $\frac{य}{३}$ = ३ न + २

∴ य = ९ न + ६ + २ = ९ न + ८

अतः ४ क + ३ = ९ न + ८ $\therefore$ क = $\frac{९ न + ५}{४}$, कुट्टक गणित से क = ९ य + ८। पूर्व में य = ४ क + ३ दिखाया गया है।

यहाँ पर क के मान में उत्थापन देने से ९ प + ८ × ४ क ÷ ३ = ३६ प + ३५ = य प्रश्न के तीसरे भाग के अनुसार, य = ३६ प + ३५, तथा राशि = ल मानने से ल में ५ सेभाग देने से ३ शेष। क्रिया करने से ५ ल + ३ = ३६ प + ३५ = $\frac{५ ल - ३२}{३६}$, कुट्टक गगित से २५ ह + ३ = य से ३६ प + ३५ में उत्थापन देने से ९० ह + १४३ = य यदि ह = ० तो य = राशि = १४३, यदि ह = १ तो राशि = १०४३ यदि ह = २ तो राशि १९४३ इस प्रकार अनन्त उत्तर होते हैं। ऐसी गणित स्थिति में सूत्र कहा भी गया है कि—

"निराधारा क्रिया यत्र नियताधारिकाऽपि वा।

न तत्र योजयेत् तान्तु कथं सा वा प्रवर्तते" ॥

जिस गणित की क्रिया निराधार (आधार रहित) या नियत आधार इदमित्थम् आधार होता है उस हल में उक्त अनेक गणित की पद्धतियाँ लागू नहीं हो सकती। जैसे–

वह कौन सी राशि है जिसे ५ से गुणा करें १३ से भाग दें, भाग देने पर प्राप्त लब्धि को राशि में जोड़ देने से ३० के तुल्य हो जातो है। उस राशि का मान क्या है?

यदि राशिमान = य तो $\frac{राशि \times ५}{१३}$ = लब्धि + क अतः य + क = ३०। य = ३० − क, अथवा क = ३० − य ऐसी विचित्र परिस्थिति से कहना पड़ेगा कि यह गणित निराधार है या नियत आधार गणित है जो बीजगणित से भी जिसका साधन नहीं हो रहा है। क्योंकि अन्तर में राशि के मान में फिर भी अव्यक्त ही दृष्टिगोचर होने से राशि का व्यक्त इष्टमान क्या माना जाय?

अतः व्यक्त गणित का ही आश्रय लेकर येन-केन राशिमान निकाला जा रहा है। उपायान्तर का आश्रय लेने से यदि माना राशि + $\frac{५ \times रा०}{१२}$ अर्थात् १३ + ५ = १८ अर्थात् राशि और राशिफल के योग में राशिमान = १३ में, फल = ५ तो ३० में क्या त्रैराशिक से $\frac{५ \times ३०}{१८} = \frac{२५}{३}$ यह लब्धि हुई। अतः ३० − $\frac{२५}{३} = \frac{६५}{३}$ राशिमान होता है। वस्तुतः आचार्य के कथनानुसार "निराधारा क्रिया" समीचीन सी प्रतीत नहीं हो रही है। जैसे—यदि राशिमान् = य, ५ से गुणा करने पर, ५ य, इसमें १३ का भाग देने से

लब्धि = क, अतः लब्धि × भाज्य = ५ य = १३ क ∴ य = $\frac{१३ क}{५}$ । लब्धफल + राशि = ३० अतः य + क = ३० ∴ य = ३० − क अतः ३० − क = $\frac{१३ क}{५}$ = १५०−५ क = १३ क अतः १८ क = १५० ∴ क = $\frac{१५०}{१८}$ = $\frac{२५}{३}$ = लब्धि । राशि और लब्धि = ३० है तो ३० − $\frac{२५}{३}$ = $\frac{६५}{३}$ राशि, पूर्व तुल्य हो जाती है । इसलिए यह क्रिया निराधार नहीं कही जा सकती, जैसे आचार्य ने कहा है—

एक और प्रश्न है वह कौन सी राशि है जिसे २०० से गुणा करने से उसमें ६ गुणित राशिवर्ग जोड़ दें तो वह संख्या वर्गांक हो जाती है । इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने वर्ग प्रकृति गणित का उपयोग किया है । यदि राशिमान अव्यक्त = प्रश्नानुसार य × २ = २ य इसमें ६ × राशि वर्ग = ६ य^२ जोड़ देते हैं तो ६ य^२ + २ य होता है इसका मूल मिलना चाहिए । कल्पना किया इसका मान दूसरे अव्यक्त क वर्ग के तुल्य है तो ६ य^२ + २ य = क^२ मूल निकालने सिद्धान्त से ३६ य^२ + १२ य + १ = ६ क^२ + १ मूल लेने से ६ य + १ = २$\sqrt{६क^२ + १}$, अब यहाँ यह वर्ग प्रकृति गणित का विषय हो जाने से इष्टमान कनिष्ठ = २ का वर्ग = ४ को ६ से गुणा से १ जोड़ने से २५ का मूल = ५ यह जेष्ठमूल होता है अतः परस्पर भावना देने के लिए—

क = २, ज्ये० = ५, क्षे० = १
क = २, ज्ये० = ५, क्षे० = १
क = २०, ज्ये० = ४९, क्षे० = १

अतः ६ य + १ = ५, अथवा ४९····तो य = $\frac{४}{६}$ या $\frac{४८}{६}$ = $\frac{२}{३}$, ८ और क = २ या २० इस प्रकार कनिष्ठ ज्येष्ठ की परस्पर की भावनाओं से अनेक प्रकार के उत्तर हो सकते हैं ।

बीजगणित में भावित प्रकरण

अनेक वर्णों के परस्पर के योगान्तर गुणन, भजन, वर्ग, घनवर्ग, मूल, घनमूल, ऋण और धनादि क्षेप सम्बन्ध के अव्यक्त समीकरणों में अ, क, ल, य···आदि के अव्यक्त गणित सम्बन्धों से अभीष्ट राशि का ज्ञान कर सकना यह भी बीजगणित विद्या का एक सैद्धान्तिक चमत्कार है ।

आचार्य भास्कर ने स्वरचित बीजगणित या अव्यक्त गणित की बीजगणित नाम की अपनी पुस्तक के अन्त में भावित गणित नामक गणित से ग्रन्थ की सम्पूर्णता सम्पन्न की है ।

जहाँ पर उदाहरणों में दो या अनेक वर्णों के गुणनफल से भावित य × क × ल··· य, क, ग उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में किसी अभीष्ट इष्ट वर्ण को छोड़कर शेष अव्यक्त वर्णों का मान व्यक्त मानकर समीकरणों के दोनों पक्षों में उक्त व्यक्तमान का उत्थापन देकर तथा समीकरणों में समान जोड़ घटाओं, गुणा, भागादि कर बीज क्रिया से अव्यक्त मान को व्यक्त किया जाता है। इसी को भावित····अर्थात् भावना से भावित कहा गया है। उदाहरण में जैसे—

चतुस्त्रिगुणयो राश्योः संयुतिर्द्वियुता तयोः।
राशिघातेन तुल्या स्यात् तौ राशी वेत्सि चेद्वद् ॥

अर्थात् कोई दो राशियाँ हैं जिन्हें क्रमशः ४ और ३ से गुणाकर दोनों के गुणनफल में २ जोड़ देते हैं तो वह अंक संख्या उक्त दोनों राशियों के गुणनफल के तुल्य हो जाता है।

कल्पना से राशियाँ = य और क, प्रश्नानुसार

४ य + ३ क + २ = य० क० भा० (भा० से भावित)

यहाँ पर क का मान कोई भी इष्ट मानें जैसे, क = ५, तो ४ य + ३ क + २ = ४ य + १७, य = १७, क = ५ प्रश्नानुसार—१७ × ४ + १५ + २ = ८५ = १७ × ५ यदि क० का मान इष्ट ६ तो ४ य + २० = य० ६ ∴ २ य = २० ∴ य = १०, क = ६ यहाँ भी १० × ४ + ६ × ३ = ४० + १८ = ५८ + २ = ६० = १० × ६ इस प्रकार किसी भी प्रश्न उत्तरों में गणितार्णव के आनन्त्य का संकेत करते हुए "एवमिष्टवशादानन्त्यम्"—इष्ट कल्पना के आधार अनन्त मानों का सही संकेत मिलता है।

इस स्थल पर क का मान ५ ही क्यों, ४ क्यों न माना जाय? ध्यान देने की बात है कि यदि क = ४ तो, ४ य + ३ क + २, यदि क = ४ तो, ४ य + १४ = ४ य असम्भव है अतः क का मान ५ से अधिक यथेष्ट होता है।

पुनः उदाहरण—वह ४ राशियाँ जिनके योग को २० से गुणा करने पर गुणनफल चारों राशियों के गुणनफल के तुल्य हो जाता है वह चार राशियाँ कौन हैं?

प्रथम राशि = य, शेष राशियाँ व्यक्त = ५, ४, २ अतः, ५ + ४ + २ = ११, ∴ य = ११ अतः चारों राशियाँ = ११, ५, ४ और २ होती हैं।

२० (य + ११) = य × ५ × ४ × २ = ४० य अतः २० य + २२० = ४० य। २० य = २२०। य = ११ उत्तर उत्थापन से राशियाँ = ११, ५, ४, २ या २८, १०, ३, १ या ५५, ६, ४, ०। इस प्रकार अनन्तमान होते हैं।

प्रश्न है—४ और ३ से गुणित राशियों के योगफल में २ जोड़ देने से वह अंक उन दोनों राशियों के गुणनफल के तुल्य हो जाता है।

कल्पना से भुज = य, कोटि = क, ये भावित क्षेत्र की भुज और कोटि होती हैं। अतः

	य
क	

भावित क्षेत्र का क्षेत्रफल = य × क इस क्षेत्र से यदि ४ य, ३ (क − ४) इतना कम कर देते हैं तो शेष = य − क−४ य−३ (क−४) = (य − ३) (क − ४)

अतः य × क = ४ य + ३ क + २ अतः (४ य + ३ क + २) − ४ य − ३ क + १२ = १४ अतः १४ = ४ × ३ + २ = (वर्गांक × वर्गांक) + २ के तुल्य है।

इसीलिए आचार्य ने कहा है—

उपपत्तियुतं बीजगणितं गणका जगुः।
न चेदेवं विशेषोऽस्ति न पाटीबीजयोर्यतः।

१० और १४ से गुणित दो राशियों के योग में ५८ कम कर देने से प्राप्त अंक के तुल्य वह कौन संख्या होती है जो उन दोनों का गुणनफल हो जाता है। राशियाँ = य और क द्विगुणित गुणनफल २ य, क = १० य, १० य + १४ क − ५०। अतः य, क = ५ य + ७ क = २९

यहाँ पर वर्गांकों के गुणनफल = ५ × ७ = ३५ में दृश्य अंक २९ कम करने का योग = ३५ − २९ = ६ में यदि इष्ट = २ से भाग देते हैं तो राशि = इष्ट = २ और फल = लब्धि = ३ होते हैं इन २ और ३ को वर्गांकों में ५ + २ और ७ + ३ जोड़ने से ७ और १० अथवा ९, ८ कम करने से ३, ४ या ५, २ होता है। आलाप मिलाने से २ × १० + ३ × १४ = ४० + ४२ = ८२

८२−५८ = २४ = (३ × ४) + (४ × ३) = २४

अथवा,

१० × ५ = ५० में १४ × २ = २८ जोड़ने से ७८ और ७८ में ५८ कम करने से २० = (५ × २) २ होता है।

इस प्रकार सिद्धान्त शिरोमणि के द्वितीय विभाग बीजगणित में भास्कराचार्य की बौद्धिक बीजगणितीय कल्पनायें आज तक गणित के क्षेत्र में सहयोग दे रही है। भास्कराचार्य ने बीजगणित के अनेक परिष्कारों के अन्त में कहा है—

"नैव वर्गात्मकं बीजं न बीजानि पृथक् पृथक्
एकमेव मतिर्बीजमनल्पा कल्पना यतः"

अर्थात् अनल्प कल्पना सागर या बीजगणित सागर में गोता लगाने की युक्ति की गवेषणात्मक बुद्धि को ही "बीजगणित" भी कहा है।

सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगोलाध्याय एवं ग्रहगणिताध्याय

श्रीमद्भास्कराचार्य विरचित सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के अंकगणित (लीलावती) और बीजगणित नामक दोनों भागों के विषयों का पूर्व में संक्षिप्त विवरण हो चुका है। ध्यान देने की बात है कि इन दोनों के महत्व को समझकर, मुगलकाल में बादशाह अकबर ने फारसी भाषा में इनका अनुवाद फैजी नामक विद्वान से सन् १५८७ में तथा बादशाह अकबर के पौत्र बादशाह शाहजहाँ ने भी १६३४ ई० में अल्लाहरसीदी द्वारा बीजगणित का अनुवाद कराया गया। अब तक इन दोनों ग्रन्थों का पश्चिम के गणितज्ञों से आंग्ल भाषा में प्रकाशन, प्रचार और महत्व स्थापित हो चुका है।

श्री भास्कराचार्य ने अंकगणित (लीलावती) एवं बीजगणित की रचना के बाद सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के तृतीय भाग ग्रहगोलाध्याय की रचना की एवं इसके पश्चात् अन्तिम भाग ग्रहगणिताध्याय की सफल रचना की इसकी पुष्टि हमें आचार्य भास्कर के ही कथन से मिलती है।

जैसे—ग्रहगणिताध्याय के भगणाध्याय के श्लोक ७ में "अत्रोपपत्तिर्गोले" तथा अन्यत्र समग्र ग्रहगणिताध्याय में "समं भसूर्याविुदितौ किलार्क्यां" "एवं सर्वमुपपन्नं तच्च गोले सम्यगभिहिता व्याख्याता च", "तात्कालिकीकरण कारणता गोले कथिता व्याख्याता च" तथा "दर्शाग्रत सङ्क्रमकालतः प्राक् सदैव तिष्ठत्यधिमासशेषम्" इत्यादि "गोले कथितं" आदि से सुस्पष्ट है कि आचार्य भास्कर ने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के लीलावती (अंक-गणि) बीजगणित भाग के पश्चात् इस ग्रहगोलाध्याय की रचना कर अन्त में ग्रहगणिता-ध्याय की रचना की है।

सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के ग्रहगोलाध्याय में ग्रहगोल, भूगोल, खगोल का अत्यन्त रोचक, सरल और स्पष्ट वर्णन करने के पश्चात् आचार्य भास्कर को अनुभव हुआ कि ग्रहगोल, खगोल विषयक ज्यौतिष के ग्रहगोलाध्याय में ग्रहगणित की सैद्धान्तिक सोदाहरण उपपत्ति के बावजूद उन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के चतुर्थ भाग ग्रह-गणिताध्याय की सफल रचना की। आचार्य भास्कर की सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ के ये दोनों भाग ज्योति-विद्या (खगोल विद्या) की अद्भुत व आश्चर्यजनक देन हैं।

भारतीय ग्रहगोल खगोलशास्त्रियों के एतद्विषयक ज्ञानलाभ के लिए सिद्धान्तशिरो-मणि ग्रन्थ आज तक इकाई है और विश्व के गणितज्ञान गोल पिपासकों के लिए भी भास्कराचार्य की यह देन अत्यन्त समादरणीय है। अतः ग्रन्थ के दोनों भागों ग्रहगोला-ध्याय व ग्रहगणिताध्याय की समीक्षा जो अतिआवश्यक भी है संक्षेप से इस स्थल पर यथामति-यथाशक्ति की जा रही है।

यद्यपि ग्रहगोलाध्याय और ग्रहगणिताध्याय में विषयों में समानता होते हुए भी कही-कहीं पर गोलाध्याय में खगोल विषयों का अधिक स्पष्ट और विस्तार किया गया है। ग्रहगोलाध्याय में १४ चौदह प्रकरण हैं, इसमें ज्योत्पत्ति और भुवन कोश प्रकरण भी सम्मिलित हैं—

(१) गोलप्रशंसाध्याय, (२) गोलस्वरूप प्रश्नाध्याय, (३) भुवनकोश, (४) मध्यम-गतिवासना, (५) छेद्यकाधिकार, (६) ज्योत्पत्ति वासना, (७) गोलबन्धाधिकार, (८) त्रिप्रश्नवासना, (९) ग्रहण वासना, (१०) उदयास्तवासना, (११) शृङ्गोन्नत्ति-वासना, (१२) यन्त्राध्याय, (१३) ऋतुवर्णनाध्याय और (१४) प्रश्नाध्याय।

ग्रहगणिताध्याय में भी उक्त प्रकरणों के विषयों के वर्णन के वावजूद सूर्यचन्द्रग्रहणा-धिकारों के पृथक् पृथक् अधिकार जैसे पर्वसंभवाधिकार इत्यादि विषयों का पृथक् वर्णन किया गया है। वास्तव में दोनों में ग्रहगणित और ग्रहगोलाध्याय में एक ही विषय का एक तथ्य विषय के सूक्ष्म गणित ज्ञान के लिये गणिताध्याय की रचना खगोलग्रहगोलज्ञान के आधार से इस गोलाध्याय में की गई है।

इस प्रकार ग्रहगोलाध्याय एवं ग्रहगणिताध्याय के इन उक्त प्रकरणों का संक्षिप्त समन्वयात्मक विवेचन नीचे क्रमशः दिया जा रहा है—

१. गोलप्रशंसाध्याय—आचार्य भास्कर ने गोलाध्याय के इस प्रथम गोलप्रशंसाध्याय में कहा है कि गोलाध्याय ग्रन्थ अति प्रांजल है। आज तक के जिन पूर्ववर्ती आचार्यों से जिन आवश्यक विषयों का बोध स्पष्ट नहीं हो पाया है उन कठिन विषयों का वर्णन, व्याख्यान इस गोलाध्याय में कर रहा हूँ, ऐसा कहते हुए गोलाध्याय का प्रारम्भ हुआ है।

'गोलाध्याय के प्रथम श्लोक में भास्कराचार्य ने लालित्य लीलावती भारती सरस्वती अर्थात नर्तक की नर्तकी की तरह मुखरूपी रंगस्थल में नृत्य करती हुई माँ सरस्वती तथा विघ्नराज गणेशजी की स्तुति से ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है—

सिद्धि साध्यमुपैति यत्स्मरणतः क्षिप्रं प्रसादात्तथा
यस्याश्चित्रपदा स्वलंकृतिरलं लालित्यलीलावती।
नृत्यन्ती मुखरङ्गगेव कृतिनां स्याद्भारती भारती
त तां च प्रणपत्य गोलममलं बालावबोधं ब्रुवे॥

इसी प्रकार वराहमिहिराचार्य के 'बृहज्जातक' ग्रन्थ के प्रारम्भ के मंगलश्लोक की तरह "गीर्वाणवन्द्यो रविः" देवताओं से स्तुत्य अनेक किरणवान् भगवान आदित्य की वंदना से ग्रहगणिताध्याय का प्रारम्भ हुआ हैं।

पृथ्वी नक्षत्र-ग्रहादिकों की ब्रह्माण्ड की सही स्थिति कहाँ पर है? अर्थात् ग्रहगणित से प्रतिपाद्य पदार्थस्वरूप प्रतिपादित ग्रन्थ का नाम गोलशब्द से ज्ञात होता है। करा-

मलकवत् गोल ज्ञान होने पर ग्रहगणित साधन की युक्तियों के लिए गणित का मूल स्रोत ज्ञान होने के लिये गोलाध्याय नामक ग्रन्थ रचना में आचार्य प्रवृत्त हुआ—

वासनावगतिर्गोलानभिज्ञस्य न जायते।
व्याख्याता प्रथमं तेन गोले या विषमोक्तयः॥

अर्थात् बिना गोलज्ञान के ग्रहगणित की उपपत्ति का बोध होना सम्भव नहीं है, इसीलिए प्रथम में गोलाध्याय की रचना की गयी है, इत्यादि।

ग्रहगणिताध्याय के प्रथम अध्याय में आचार्य भास्कर ने सुजन गणितज्ञों की प्रार्थना के साथ दुर्जनों (वञ्चकों) के लिए भी यह ग्रन्थ सन्तोषप्रद है कहते हुये दुर्गम गणित शास्त्र ज्ञान से रहित नामधारी ज्योतिषियों के लिए बड़े मजे का व्यङ्ग किया है—

तुष्यन्तु सुजना बुद्ध्वा विशेषान् मदुदीरितान्।
अबोधेन हसन्तो मां तोषमेष्यन्ति दुर्जनाः॥

अर्थात् विद्वान ग्रहगोलज्ञ तो मेरी इन ग्रन्थ रचनाओं में सविषेष बुद्धिवर्धक चमत्कारिक विषयों को समझकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे। किन्तु दुर्जन ज्योतिष समाज मेरे सविषेष ग्रन्थ गहन गिषयों को नहीं समझकर (अपने अबोध से मेरी कथन शैली को नहीं समझकर) मुझे ही दोष देते हुये अपने अबोध से मेरा उपहास कर स्वयं प्रसन्न होंगे। अर्थात मेरी कृतियाँ सुजनों और दुर्जनों दोनों के लिए संतोषप्रद और हास्यप्रद होने से उभयपक्ष को संतोषकर हैं किसी को कष्टप्रद नहीं है।

ग्रहगोलाध्याय के गोलप्रशंसाध्याय में सिद्धान्त ग्रन्थ लक्षण और उस सिद्धान्त की प्रशंसा की गई है। ग्रहगणिताध्याय में ब्रह्मगुप्ताचार्य, वराहमिहिराचार्य और अपने गुरु (श्री महेश्वर) आदि की स्तुति के साथ उनको ग्रन्थ रचनाओं के उल्लेख के साथ उन्हीं की कृतियों के आधार पर मैंने (आचार्य) "अनेक कठिन गणितों का शोधपूर्ण जो हल किया है उससे उनके साथ सुजन गणितज्ञों से मेरी (आचार्य) कृति भी समादरणीय होगी" इत्यादि आचार्य ने कहा है।

गोलप्रशंसाध्याय में आचार्य ने गोलज्ञान की सर्वोच्चता बताते हुए कहा है कि सर्वरस युक्त भोजन की सत्ता के बावजूद घृतरहित नीरस भोजन की तरह, राजारहित प्रशस्त राज्य की नीरसता की तरह, सुन्दर सभ्य सभा में सुवक्ता के अभाव की नीरस सभा की तरह ही गोल गणितज्ञान से रहित मात्र फलित ज्योतिष का उपयोग करने वाले ज्योतिषी उपहास के पात्र हो जाते हैं।

घोड़े आदि से विभूषित राजा की सेना में गर्जनशील हाथियों से रहित सेना की तरह, सुन्दर उत्तम उद्यान आम्रवृक्षों के अभाव से शोभाहीन बगीचे की तरह, जलरहित सुन्दर

सरोवर जैसे शोभाहीन हैं, परदेश गए हुये पति के अभाव से सुशील सुन्दर शोभाहीन नववधू की तरह सिद्धान्त ज्ञान गणित रहित ज्योतिषी भी विद्वद्सभा में उपहास का पात्र हो जाता है। इत्यादि आचार्य भास्कर ने दोनों भागों में उक्त विषय प्रतिपादित किया है।

२. **गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय**—ग्रहगोलाध्याय के गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय में सर्वप्रथम भूस्थान (पृथ्वी की स्थिति), ग्रहों का स्पष्टीकरण, देशांतर, उदयांतर, भुजांतर और चरातर ग्रहों के उच्चनीच, पात-महापात (महान अंधकार, स्थान राहु और केतु) ग्रह केन्द्र आकर्षण बिन्दु से मन्दफल, शीघ्रफल, ग्रहों के उदयास्तादि अनेक गणित जन्य कर्म, भूमध्य रेखा से उत्तर-दक्षिण के भूपृष्ठीय देशों में दिनरात्रिमान की ह्रास वृद्धि का कारण, एक सौर वर्ष की दिन संख्या दिनादि (जो सूर्य सिद्धान्त से ३६५।१५।३१।३० एवं भास्कराचार्य के मत से ३६५।१५।३०।२२।३० के तुल्य है सभी विषयों का विशद व्याख्यान किया गया है जो ग्रन्थ में प्रत्यक्ष है कि भास्कराचार्य का वर्षमान वेधगणित साध्य सूर्य सिद्धान्त से सूक्ष्म है), देव स्थानीय देवताओं का एक दिन, भूपृष्ठीय मानव मान के एक चान्द्रमास तुल्य तीस तिथियों में चन्द्रमा के ऊपर पृष्ठस्थित पितृलोकवासियों का एक ही दिन होने के कारण, तथा मानव मान के १५७७९१७७२८ दिनों अर्थात् १००० मानव महायुगों में ब्रह्मा का मात्र एक ही दिन और इतने ही आँकड़ों में एक रात्रि होने का कारण, खगोलीयय पारिभाषित शब्दों के अनुसार दिज्या, कुज्या, क्रांति, समशंकु, अक्षांश, लम्बांश आदि की गोल में कहाँ कैसी स्थिति ? पूर्णान्त काल में चन्द्रग्रहण होता है तो अमान्त काल में सूर्यग्रहण का मध्यकाल क्यों नहीं ? चन्द्रग्रहण का चन्द्र बिम्ब में पूर्व में स्पर्श, पश्चिम में मोक्ष तो सूर्यग्रहण में सूर्य स्पर्श और मोक्ष में वैपरीत्य क्यों ? भूगर्भकेन्द्राभिप्रायिक ग्रहों की अदृश्यता की दृश्यता के लिए भूपृष्ठाभिप्रायिक ग्रह साधन ग्रह गणित का कारण आदि अनेक प्रश्नों, उदाहरणों से विभूषित गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय आज तक ख्यात नाम है।

गोलाध्याय के इस गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय के अतिरिक्त इन बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन महाप्रश्न अध्याय में मिलता है। ग्रहगणिताध्याय में इस प्रकार का विषद् वर्णन नहीं है।

३. **भुवनकोषाध्याय**—गोलाध्याय के भुवनकोषाध्याय में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंच सूक्ष्म स्थूल तत्वों से पृथ्वी के निर्माण में वेद, वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनशास्त्रों के साथ पृथ्वी का चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति तदुपरि अनेक ताराओं से आवृत्त भूस्वरूप वर्णन के साथ आधार रहित पृथ्वी अपनी शक्ति विशेष से यथास्थान स्थित अष्ट मूर्ति सर्वशक्तिमान भगवान शंकर की एक अचल प्रतिमा पृथ्वी है इस कथन के साथ पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है जो अपने वायुमण्डल के गुरू पदार्थ को

अपने में मिला लेती है, इत्यादि का वैज्ञानिक विषद् वर्णन है। इसी प्रसंग में नक्षत्र भ्रमण दोनों ध्रुवों की स्थिति के साथ योजन मान में पृथ्वी की परिधि, क्षेत्रफल, गोलफल घनफल गणित का प्रदर्शन, प्रलयकाल पृथ्वी की इयत्ता और प्रलयान्तर में उसकी कमी की मात्रा, ब्रह्माण्ड गोल वर्णन में आचार्य के स्त्रयं के मत के प्रतिपादन के साथ इस भुवनकोषाध्याय का समापन हुआ है। यद्यपि ग्रहगणिताध्याय में इस प्रकार का विवेचन नहीं हुआ है।

भुवनाकोषाध्याय में ब्रह्माण्ड गोल

किसी नियत समय से, किसी नियत समय तक के अतिदीर्घ काल की ऐसी विचित्र संख्या ज्ञात की गयी है जिसे एक सृष्टि का आरम्भ और उसके विराम या विनाश के दीर्घकाल की अति विचित्र गणना के लम्बे आँकड़े पूर्वाचार्यों से ज्ञात हुये हैं उन्हें एक कल्प के सावन दिन कहते हैं या कल्प कुदिन (क० कु०) भी कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ में सभी ग्रह मणिगोत माला में ग्रथित मणियों (माणिक्य या मोती या प्रवाल) की तरह जिस समय एक सूत्र में अपनी-अपनी कक्षाओं में एक बिन्दु पर दिखाई दिये उसे मेषादि बिन्दु कहा गया है। सात घोड़े विभिन्न गतियों से एक कालावच्छेदेन एक परिधि के एक बिन्दु से दौड़ शुरू किये और इस वृत्त परिधि के अनन्त अनेक चक्करों के साथ वह बड़े दीर्घ समय में गति शक्ति क्षीणता शून्यता से पुनः उस आदिम मेषादि बिन्दु पर पहुँच कर पुनः उतने ही समय तक विश्राम करने लगे। अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में हमारी यह मानव सृष्टि का प्रचलन और ब्रह्मा की एक रात्रि तक पुनः अन्धकार में होने से मानव सृष्टि का समापन हो गया।

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार मानव मान की दिन महायुग संख्या १५७७९१७८२८०००० और भास्कराचार्य के मत से १५७७९१६४५०००० में (ब्रह्मा का मात्र एक दिन और इतने ही की एक रात्रि) मानव सृष्टि का आरम्भ और सृष्टि का अन्त हो जाता है। सूर्य सिद्धान्त के कल्प कुदिनों से भास्कराचार्य के कल्प कुदिनों की संख्या कम है। जो सूक्ष्म है क्योंकि भास्कराचार्य ने सूर्य सिद्धान्त को आगम प्रामाण्य मानते हुए भी उसके गणित स्थूलता को समय-समय पर ठीक कर गणितज्ञों से सूक्ष्म गणिताभिमुख (समय-समय पर) होने का भी आदेश दिया है। दोनों का अन्तर सम्बन्धी सूर्य सिद्धान्त का एक वर्ष सम्बन्धी कालमान भास्कराचार्य से अधिक और आधुनिक बेधगणित से और कुछ अधिक होता है। तात्पर्य है कि श्री भास्कराचार्य का भी दृढ़ मत है कि समय-समय पर ग्रह वेध से गणितागत ग्रह का साम्य जिस गणित संस्कारों से हो यहाँ देने चाहिए।

उक्त एक ब्रह्म दिन में अश्विनी·······रेवत्यन्त नक्षत्रों की अपनी कक्षागत भ्रमण करने के आंकणे नक्षत्र भ्रमण = भ भ्रमण अर्थात् नक्षत्र का भ्रमण = चक्कर भ्रमण शब्द से व्यवहार में जाना गया है।

भास्कराचार्य के एक ब्रह्म दिन सम्बन्धी भ्रमभ = नक्षत्र भ्रम = भ्रमण = १ चक्कर में एक कल्प सम्बन्धी भू दिन = मानव दिन कम कर देने से दोनों का अन्तर निम्न है—

१५ ८२ २३ ६४५
१५ ७७ ९१ ६४५
―――――――――
××× ४३२०००

इन्हीं सावन दिनों में एक सावन दिन सम्बन्धिनी सूर्यग्रह की (या किसी ग्रह की) गति को कल्प सम्बन्धी सावन दिनों से गुणा करने से एक सावन दिन सम्बन्धिनी रवि गति × कल्प सावन दिन = १ कल्प की रवि गति विकलादि होगी। विकला कलादिकों को राश्यात्मक बनाकर राशियाँ १२ से अधिक होने पर राशियों में १२ का भाग देने से ४३२०००००० एक कल्प में ग्रहों के कक्षावृत्त की भगण संख्या होती है।

इस मूल सिद्धान्त के आधार से रवि के इतने चक्कर पूरे होते हैं। भास्कराचार्य ने ग्रहगणिताध्याय मध्यमाधिकार में एवं ग्रहगोलाध्याय के भुवनकोशाध्याय में ब्रह्माण्ड-कक्षा का योजनात्मक मान भी बताया है। "कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्क्..." इत्यादि से १८७१२०६९२०००००००० यह ब्रह्माण्ड की (कटाहद्वय योगात्मक की एक परिधि के तुल्य) परिधि बताते हुए अन्त में आचार्य ने ब्रह्माण्ड को इयत्ता इतनी ही है कहने में संकोच करते हुए अपनी गणित गोल पद्धति के प्रामाण्य के आधार की ब्रह्माण्ड की उक्त परिधि सटीक ठीक कही है और यह भी कहा है कि "करतलकलितामलकवदमलंसकलम्" अर्थात् हाथ में सुस्थापित स्वच्छ आँवले के प्रत्येक अवयव के दर्शन की तरह जिसके मस्तिष्क में सकल ब्रह्माण्ड गोल सुस्थिर सुदृढ़ परिपक्व है वही इस ब्रह्माण्ड का निर्णयात्मक निर्णय दे सकते हैं इत्यादि कहते हुए ब्रह्माण्ड जितना भी है किन्तु ग्रह गणित सम्बन्धेन कल्प कुदिन सम्बन्धी आकाश की परिधि का नाम ब्रह्माण्ड परिधि कहा गया है। ब्रह्माण्ड परिधि या आकाश कक्षा से भी ग्रहों का ज्ञान आचाय ने किया है जैसे—स्व कक्षा ÷ ग्रह भगण = ग्रह कक्षा योजन अर्थात् सृष्टि आरम्भ से सृष्टि के अन्त अर्थात् एक कल्प तक एक कल्प सम्बन्धी ग्रह गतियों का पुनः सम्मेलन काल = कल्प कुदिन संज्ञक से अनन्त दूरगत आकाश परिधि का नाम ब्रह्माण्ड परिधि कहा गया है। आधुनिक खगोल गणितज्ञ ब्रह्माण्ड के गवेषणात्मक शोध में तन्मयता से प्रवृत्त हो रहे हैं। भास्कराचार्य के इस ब्रह्माण्ड कक्षा के शोध ज्ञान से उन्हें भी सहयोग मिल सकेगा।

यह विषय गणिताध्याय और गोलाध्याय दोनों में यथावत् एक रूप का है।

४. गोलाध्याय में मध्यगतिवासना—आकाशस्थ भू बिम्ब के बाहर अर्थात् पृथिवी पृष्ठ से ऊपरी आकाश में १२ योजन = ४८ क्रोश, एक योजन लगभग = ५ मील है और इससे ६० मील तक में भू वायु में बादल और विद्युत आदि के ऊपर के गोल में शक्ति विशेष प्रवह वायु का स्थान है। इस प्रवह वायु में ऐसी महती शक्ति है कि इस

प्रवह वायुमण्डल में कोई भी ग्रह पिण्ड नित्य पश्चिम गति से पृथिवी के चक्कर लगाने से नित्य वह वस्तु २४ घण्टे में = ६० घटो में अपने क्षितिज में उदित देखी जाती है। अतः नक्षत्रों, ग्रहों के साथ यह राशि चक्र नित्य प्रवह वायु वेग से पश्चिम की ओर घूमकर पुनः २४ घण्टे = ६० घटी में जिस जस जगह से चली थी उसी जगह पर आ जाती है।

प्रवह वायुमण्डल में स्थित कोई भी नक्षत्र नित्य आज जिस समय आकाश में जिस बिन्दु पर दिखाई देता है वह काल या समय ठीक ६० घटी = २४ घण्टे में पुनः उसी जगह पर दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी नक्षत्र स्वयं की अपनी गति से शून्य है। वह नक्षत्र प्रवह वायु की पश्चिम की गति के आधीन है किन्तु कुछ ऐसे भी ग्रह पिण्ड हैं जो प्रवह वायु वेग से पश्चिम जाते हुए अपनी गति से नक्षत्र चक्रस्थ नक्षत्र वृत्त या राशिवृत्त में नित्यपूर्व की ओर जाते रहते हैं।

(कृपया इस सदर्भ में इसी ग्रन्थ का चित्र सहित केदारदत्त व्याख्यान पृष्ठ १२५-१३० तक देखिये।)

तथा सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र, दिनों के साथ सौरमास, चान्द्रमास, अधिकमास, वर्ष आदि अनेक विषयों में इस अधिकार में गोल खगोल की दृष्टि से उपपत्ति के साथ विवेचन के साथ मध्यम गति वासना का समापन हुआ हैं।

ग्रहगणिताध्याय में यही विषय कल्प से लेकर कल्पान्त तक सूर्य, चन्द्र में ग्रहों की पात उच्च इष्ट समय में गणित ग्रहों का सावन, कल्प कुदिन के सौर, सावन, चान्द्र नाक्षत्र, बार्हस्पत्य आदिकों की दिन संख्या, नाक्षत्र दिन संख्या, कल्प कुदिन संख्या, अधिमास अवमशेष का ज्ञान, सूर्य चन्द्र साधन गणित, वर्षेष ज्ञान के साथ प्रत्यब्द शुद्धि, कल्प के आरम्भ दिन से वर्तमान सौर वर्ष के अभीष्ट मास, अभीष्ट अंश के अभीष्ट वार तक की दिन गणना (अहर्गण साधन) का ज्ञान, अहर्गण ज्ञान से अभीष्ट दिन सम्बन्धी मध्यम-मानीय ग्रहों का साधन, देशान्तर साधन, बीजकर्म गणित, मध्यम भूपरिधि और स्पष्ट स्वदेशीय भूपरिधि साधन गणित से मध्यमाधिकार का समापन हुआ हैं।

५-६. छेद्यकाधिकार व ज्योतिपत्ति वासना अध्याय—मध्यम गति वासनाधिकार के पश्चात् गोलाध्याय में छेद्यक-अधिकार नामक अधिकार में गोलरचना, गोल परिभाषा आदि के साथ सर्वप्रथम ज्योत्पत्ति का वर्णन किया है। किसी वस्त्र के निर्माण में उस वस्त्र के सूक्ष्य तन्तुओं सूत्रों का निर्माण आवश्यक होता है। वस्त्र के सूक्ष्म तत्वों से सूत्र ज्ञान के और सूत्र निर्माण के अनन्तर वस्त्र निर्माण आवश्यक होता है। उसी प्रकार ग्रहगोल खगोल ज्ञान के लिए अनन्त वृत्तों की अनन्त परिधियों की एक धरातल में समझकर परिधि खण्डों की वक्रात्मक रेखाओं के सरल रेखाओं को गणित से सावन करते हुए परिधि खण्डों का नाम चाप और उनकी सरल रेखाओं का नाम ज्या कहा गया है। परिधि खण्ड का चतुर्थांश ९०° की सरलाकार रेखा का नाम त्रिज्या कहकर

ज्या और चाप के अनेक विध गणितों में ज्या, कोटि ज्या, स्पर्श, कोटि स्पर्श, छेदन, कोटिछेदन, उत्क्रम और कोट्युत्क्रम रेखाओं के सामञ्जस्य का गणित का नामकरण आचार्य ने "ज्योत्पत्ति" गणित नामकरण करते हुये ज्योत्पत्ति प्रकरण को समझाया है जो आधुनिक विकसित गणित में त्रैकोणमिति आदि नाम से प्रसिद्ध हैं।

गणिताध्याय के स्पष्टाधिकार में मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह साधन के अनेक गणितों का जो उपयोग हुआ हैं उसी तरह गोलाध्याय के छेद्यकाधिकार में मध्यम ग्रहों को स्पष्ट करने ग्रहगोलीय अनेक युक्तियों का व्याख्यान और उनकी उपपत्ति ज्ञान के साथ छेद्याधिकार का समापन हुआ है।

७. गोलबन्धाधिकार—ग्रहगोलाध्याय के गोलबन्धाधिकार प्रकरण के आरम्भ में सुन्दर, सरल, सुदृढ़ बाँस शलाकाओं से गोल रचना के साथ ग्रहगोल भगोल का एक स्वरूप (माडल) बनाया जाना बताया गया है। विषवत्, पूर्वापर, कोण, याम्योत्तर क्षितिज, निरक्ष क्षितिज (उन्मण्डल) वृत्तों की अभीष्ट त्रिज्या (एक हाथ या दो हाथ की या यथेष्ठ मान के व्यासार्ध) से अनेक वृत्तों की रचना का एक गोल में परस्पर बन्धन करके गोल रचना करना चाहिये कहा गया है। गोल में सूर्य, चन्द्र, मंगलादि अनेक ग्रहों के भ्रमण वृत्तों का पारस्परिक पूर्वापर, ऊर्ध्वाधर, याम्योत्तरादि अनेक अनंत कक्षायें समझकर पूर्वापर, क्रांतिवृत्त, नाड़ीवृत्त और ग्रह भ्रमण विमण्डल वृत्तों के याम्यो-तरान्तरादि स्थिति से क्रान्ति, शर को जो कि शिष्य वर्ग को स्पष्ट समझा सकें और इसी आधार से अनन्त ब्रह्माण्ड की अनन्तता का विचार कर सकें इत्यादि से आचार्य ने गोलबन्धाधिकार का समापन किया है। ग्रहगणिताध्याय की अपेक्षा ग्रहगोलाध्याय में यह प्रकरण सविशेष है। ग्रहगणिताध्याय में स्पष्टाधिकार के पश्चात् त्रिप्रश्नाधिकार का प्रारम्भ हुआ है, जबकि ग्रहगोलाध्याय में त्रिप्रश्नाधिकार जैसे महत्व के विषय को समझने के लिए गोलबन्धाधिकार प्रकरण की रचना आचार्य ने की है।

सिद्धांत ग्रन्थों के अध्ययन के लिए यह गोलबन्धाधिकार सर्वोपरि विषय है और अधिक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गोल रचना, गोलज्ञान सिद्धान्त ज्यौतिष की आधारशिला है। तीक्ष्ण बुद्धि के सुयोग्य ग्रह-गणित ज्ञान पिपासु छात्र के लिए ग्रहसिद्धान्त में प्रवेश हेतु गुरु द्वारा गोलबन्धन ज्ञान प्राप्ति अति अनिवार्य हैं। ऐसा आचार्यों का दृढ़ शब्दों में आदेश है।

श्री भास्कराचार्य कृत सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय नामक यह ग्रन्थ ग्रहगणित खगोल से सम्बन्धित है। अतः विद्यार्थियों एवं विज्ञ पाठकों के लाभार्थ संक्षेप से खगोल परिभाषा परिचय के साथ प्रथमतः भूमण्डल में मेरु पर्वत की स्थिति की यथार्थता का क्षेत्रदर्शन पूर्वक सही विचार नीचे दिया जा रहा है। आशा है इस सही विषय को समझकर विद्वान लोग मेरु पर्वत विषयक विवाद से बचेंगे।

"मेरु पर्वत कहाँ है ? किसे मेरु पर्वत माना जाय ?"

एवं प्रह्लादयः सर्वे भगणाद्या यथाक्रमम् ।
अन्तर्बहिर्विभागेन कालचक्रे नियोजिताः ॥ देवी भागवत स्क० ८ अध्या० १७
केतुमालाख्यभद्राश्वपार्श्वयोः प्रथितौ च तौ ।
मन्दरश्च तथा मेरुः मन्दरश्च सुपार्श्वकः ॥ स्क० ८ अ० ६ श्लोक १६,१७,
कुमुदश्चेति विख्याता गिरिणः मेरुपादकाः ।
योजनायुतविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशम् ॥ तथा गीता के अध्या १० में

"वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्"

अर्थात् भगवान् ने पर्वतों में अपने को मेरु अर्थात् ध्रुव कहा है । भगवान् के श्री मुख से मेरु के उच्चारण से सर्वोपरि पृथ्वी में मेरु स्थान वही है जिसके ठीक शिर या स्वखमध्य में ध्रुव तारा हो । वही सूर्यसिद्धान्त के अनुसार "सर्वेषामुत्तरतो मेरुः" वचन से सुमेरु अर्थात् शीर्षगत ध्रुव वेध से दिक्साधन में वास्तव उत्तर दिशा का ज्ञान समीचीन कहा गया है । मध्याह्न कालिक सबसे छोटी छाया को वर्द्धित कर उसके केन्द्र के ऊपर लम्ब रूप रेखा से (पूरब पश्चिम) सूक्ष्म पूर्वापर दिशा का ज्ञान होता है । उत्तर बिन्दु मेरु या सुमेरु एवं दक्षिण बिन्दु, दक्षिण ध्रुव या राक्षस स्थान कहा गया है । इस प्रकार आए दिन मेरु पर्वत पर मुझे अनेक शोध लेख पढ़ने व सुनने में मिले जिन्हें पढ़कर मेरी बुद्धि संशय रहित नहीं हो सकी क्योंकि विषुवद्वृत्त भूमध्य पूर्वापर रेखात्मक वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र बिन्दु ध्रुव है । पृथ्वी की सर्वाधिक गोलाई की परिधि भूमध्य धरातल पर होती है । यदि हम अपने स्थान, जैसे काशी पृष्ठीय धरातलीय भूपरिधि का मान जानना चाहेंगे तो नीचे क्षेत्र दर्शन से—
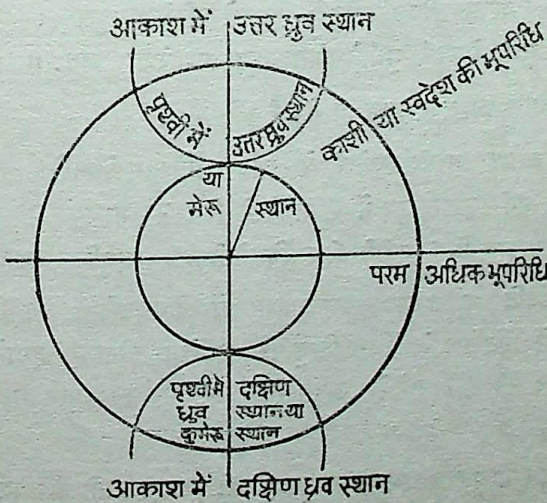
९० − अक्षांश = लम्बांश। अर्थात् ९० - काशी के अक्षांश = ९०° − २५/१८ = ६४/४२ इसकी ज्या का नाम अपने देशीय परिधि की त्रिज्या = स्पष्ट भूपरिधि व्यासार्द्ध होता है। जिसे लम्ब्रांशज्या या लम्बज्या भी कहते हैं, या अपने देश की स्पष्ट भूपरिधि व्यासार्द्ध भी कहते हैं।

अतः अनुपात से $\frac{\text{भू० प० × ज्यालं}}{\text{भूव्या}_{२}}$ = स्पष्ट भूपरिधि

$\frac{\text{परम भूपरिधि × ज्यालं}}{\text{परमाधिक भूव्यासार्ध} \quad \text{त्रि}}$ = अपने देशीय भूपरिधि व्यास

उत्थापन देने से

$$\frac{\text{भूपरिधि × भूव्या}_{२} \text{ × ज्यालं}}{\text{त्रि × भूव्या}_{२}} = \frac{\text{भूपरिधि × ज्यालं}}{\text{त्रि}}$$

गणित से ही स्पष्ट भूपरिधि, मेरु = ध्रुव कहने से सही है।

इसी लिए सूर्य सिद्धान्त में

राक्षसालयदेवोकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः।
रोहीतकमवन्तीच यथा सन्निहितं सरः ॥

देवानामोको वासस्थानरूपः शैलः, पर्वतः मेरुः'''ध्रुव इति स्पष्ट है।

भाष्कराचार्य ने भी—"भूर्लोकारव्यौ दक्षिणे व्यक्षदेशात्, तस्मात् सौम्योऽयं भुवः स्वश्च मेरुः"

तथा—"यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान्स्पृशत्।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ॥''' '''से स्पष्ट किया है कि ध्रुव स्थान का अपर नाम ही मेरु है।

६६° अंश से अधिक अक्षांशीय देशों में लम्बांशाधिक सूर्य क्रान्ति समय तक सदा दिन ही होगा, तथा एवं उत्तर ध्रुव में ६ महीने के दिन २३ मार्च से २३ सेप्टेम्बर तक तथा इस बीच दक्षिण ध्रुव में ६ महीने की रात्रि होती है। (आधुनिक अयनांश से।)

"मेरौ रविर्भ्रमति भू जगतः समन्तादाशा न काचिदपि तत्र विचारणीया" इत्यादि मेरु स्थान में क्षितिज के जिस विन्दु पर सूर्योदय होता है हमारे मान के ६ महीने की दिन माप से उसी सूर्य के उदित विन्दु पर सूर्य का अस्त भी देवता लोग देखते हैं।

अर्थात् मेरु स्थान में पूर्व पश्चिम दिशा पृथक् नहीं एक ही होती है। दिशा ज्ञान मेरु अर्थात् ध्रुव में नहीं होता है इसलिए भू पृष्ठ पर मेरु का अपर नाम ध्रुव बिन्दु स्पष्ट है।

इसी प्रसंग में इसी प्रकार सर्व साधारण के समझने के लिए ग्रह गणित गोल की कुछ परिभाषाएँ तथा संक्षेप से आवश्यक पारिभाषिक शब्दों का परिचय निम्न भाँति दे देना आवश्यक हैं क्योंकि इस गोल-बन्धाधिकार से ही निम्न विषय सविशेष सम्बन्धित हैं।

१. किसी भी खगोलीय वृत के तीन केन्द्र होते हैं। एक गर्भीय केन्द्र और दो पृष्ठीय केन्द्र होते हैं।

२. पृष्ठीय केन्द्रों से ९० अंश के तुल्य चाप से वृहद्वृत्त बनते है। नव्बे अंश से कम दूरी के बनाये गये वृत्तों को लघुवृत्त कहते हैं। नियत एक केन्द्र के बृहद्वृत्त और लघुवृत्त परस्पर समानान्तर भी होते हैं। जैसे नाडीवृत्त (Equator) का समानान्तर (Parallal of Latitude) वृत्त अहोरात्र वृत्त (Diurnal Circle) है।

३. पृथ्वी के गोल केन्द्र से ध्रुव की तरफ वर्द्धित रेखा जहाँ पृथ्वी पृष्ठ में लगती समझी जाती है वहीं पर पृथ्वी में ध्रुव बिन्दु है। उत्तर की ओर उत्तर ध्रुव अर्थात् ध्रुव निष्ठ बिन्दु देवताओं के लिए वास्तविक ध्रुव तारा उनके शिर पर आकाश में खमध्य में होती है। इसी प्रकार दक्षिण ध्रुव पृष्ठ में बसने वालों के लिए दक्षिण ध्रुव, आकाश में उनके शिर के ऊपर दीखेगा। इसी ध्रुव की मेरु पर्वत संज्ञा खगोलज्ञ शास्त्रकारों ने की है।

४. अपने स्थान से आकाश में अपने शिर के ऊपर खमध्य आकाश मध्य (Zenith) बिन्दु है। ठीक अपने खमध्य से १८०° की दूरी पर अधः खमध्य (Nadir) है। अपने दोनों खमध्यों और दोनों ध्रुवों पर गये हुये वृत्त का नाम याम्योत्तर वृत्त (Meridian Circle) है।

५. ध्रुव से (Pole Star) नव्बे अंश की दूरी पर नाड़ीवृत्त (Equatar Circle) होता है। यहाँ पर अक्षांश (Latitude) शून्य होता है।

६. नाडीवृत (Equator) और याम्योत्तर वृत्त (Meridian Circle) के सम्पात (Node) बिन्दु का नाम निरक्ष खमध्य होता है।

७. निरक्ष खमध्य से नव्बे अंश चाप की दूरी पर से बनाये गये वृत्त (Circle) को उन्मण्डल (Six O' Clock Circle) वृत्त कहते हैं।

८. अपने खमध्य (Zenith) से नव्बे अंश चाप की दूरी से जो वृत्त बनता है उसे क्षितिज (Horizon) वृत्त कहते हैं।

९. अपने क्षितिज (Horizon) वृत्त और याम्योत्तर वृत्त (Meridian Circle) के सम्पात बिन्दु का नाम समस्थान (Connecting Point) है। यह समस्थान बिन्दु पूर्वापर (Prime Vertical Circle) वृत्त का पृष्टीय केन्द्र है।

१०. समस्थान और ध्रुवस्थान (Pole Star Pace) का याम्योत्तर वृत्तीय (Meridion Circle) अन्तर चाप का नाम अपना स्वमध्य (Zenith) और निरक्ष खमध्य का का याम्योत्तर वृत्तीय अन्तर चाप का नाम अक्षांश (Latitude, Terrestril Axis) है।

११. ध्रुव स्थान (Pole Star) और स्वखमध्य (Zenith) का याम्योत्तर वृत्तीय अन्तर चाप का नाम लम्बांस (९०°–अक्षांश) है।

१२. दोनों समस्थान चिह्नों से ४५° पैंतालिस अंश पूरब और पश्चिम की तरफ की दूरी पर अपने क्षितिज (Horizon) वृत्तीय बिन्दु पर और दोनों खस्वस्तिक और अधः स्वस्तिक (Zenith and Nadir) बिन्दुओं पर गये वृत्तों के नाम कोणवृत्त हैं। (१) ईशान (North East) से नैऋत्य (South West) तक कोण वृत्त है। (२) वायव्य से (North West) अग्नि कोण (South East) तक गया हुआ होता है। इन्हें विदिग्वृत्त भी कहते हैं।

१३ नाडीवृत्त (Equator Circle) अपना पूर्वापर वृत्त (Prine Vertical Circle) उन्मण्डल (Six O' Glock Circle) और क्षितिज (Horizon) वृत्तों के पृष्ठीय केन्द्र (Center) याम्योत्तर वृत्त में (Meridian Circle) में होते हैं। इसलिए याम्योत्तर वृत्त के पृष्ठीय केन्द्र पूर्व स्वस्तिक बिन्दु पर चारों वृत्त का सम्पात (Connecting Point) बिन्दु का गोल में, पूर्वस्वस्तिक नाम है।

१४. आकाशस्थ ग्रह बिम्ब के गर्भ केन्द्र और दोनों खमध्यों (Zenith and Nadir) पर गये हुए वृत्त का नाम दृग्वृत्त (Verticalcircle) है। इस दृग्वृत्त में खमध्य (Zenith) से ग्रह बिम्ब तक नतांश (Zenithdistarce) तथा क्षितिज से (Horizon) ग्रह (Planet) बिम्ब तक उन्नतांश (Altitude) तथा नतांश को ज्या दृग्ज्या एवं उन्नतांश की ज्या शंकु होती है।

१५. ध्रुव स्थान से २४° चौबीस अंश चाप की दूरी पर कदम्ब भ्रमवृत्त में कदम्ब तारा (Pole of the Ecliptic) रहती है। कदम्ब को केन्द्र मानकर नब्बे अंश की दूरी के चाप से जो वृत्त बनेगा उसे क्रान्ति वृत्त (Ecliptic or Orbit) कहते हैं।

१६. इसी प्रकार कदम्ब से शर चाप की दूरी पर (चन्द्रमा आदिक ग्रह जिस वृत्त में अपनी गतियों से चलकर राशि चक्र की परिक्रमा करते हैं उस मार्ग का नाम विमण्डल है।) विमण्डल वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र विकदम्ब होता है। यथा चन्द्र भ्रमण मार्ग का नाम चन्द्र विमण्डल होता है। इसी प्रकार और ग्रहों का भी विमण्डल होता है।

१७. नाडी (Equator) वृत्त और क्रान्ति वृत्त (Ecli ptic or Orbit) के सम्पात बिन्दु का नाम गोल संधि (Node of an Orbit) या क्रान्ति पात है। इन दो बड़े वृत्तों के इन दो सम्पातों में एक सम्पात का नाम सायन मेषादि (वसन्त-सम्पात) (Ascending node of the Equator) (First Point of Aples, Vernal Equinox) और दूसरे सम्पात का नाम सायन तुलादि (Descending node of the Equatcr first Point of Libra, Aatumnal Equinox) कहा जाता है।

१८. इन सम्पातों में किसी एक केन्द्र से (Centre of a Circle) नब्बे अंश चाप की दूरी पर बने हुए वृत्त का नाम अयन प्रोतवृत्त (Solstitial Colour Lircle) है।

१९. मेष से कन्या तक ६ राशि उत्तर गोलार्द्ध (Northarn Hemis Phere) में, तुला से मीन तक ६ राशियाँ दक्षिण गोलार्द्ध (Southern Hemis Phere) में होती है।

२०. उक्त उसी प्रकार कर्क से धनु राशि तक उत्तर अयन एवं मकर से ६ राशि मिथुन तक दक्षिण अयन सन्धि (Solsfitial Point) होती है।

२१. क्रान्ति वृत्त और विवृत्त के योग बिन्दु का नाम क्रान्तिपात (Equinoctial Point) है। इसी को सूर्य चन्द्र ग्रहण का कारणीभूत राहु (Ascending Node of the Moon's Orbit) कहते हैं।

२२. किसी भी अभीष्ट समय में क्रान्ति वृत्त का जो प्रदेश बिन्दु उदय क्षितिज (Horizon) में लगा रहता है उसे उदय लग्न और अस्तक्षितिजीय बिन्दु को अस्त लग्न कहते हैं।

२३. जिन-जिन बिन्दुओं में कोई महद्वृत् किया जाता है उन्हीं बिन्दुओं के नाम से उस महदवृत्त को वही बिन्दुप्रोत नाम दिया जाता है। जैसे—दोनों ध्रुवों से इष्ट स्थान पर किये गये वृत्त का नाम ध्रुवप्रोत वृत्त एवं दोनों समस्थानों और ग्रह बिम्ब पर गये वृत्त का नाम समप्रोतवृत कहा जाता है।

२४. नाडीवृत्त से ग्रह बिम्ब तक ध्रुवप्रोत वृत्त में क्रान्ति (Declination) चाप होता है। क्रान्ति चाप को ९० में घटाने से शेष का नाम द्युज्या चाप होता है। ध्रुव बिन्दु को केन्द्र (Centre of Circle) मान कर द्युज्या चाप तुल्य व्यासार्ध से रचित वृत्त (Circle) का नाम अहोरात्र वृत्त (Diurnal Circle) है।

२५ ग्रह बिम्ब के केन्द्र में होते हुए कदम्बप्रोतवृत जहाँ पर क्रान्तिवृत्त के साथ सम्पात करता है, उस सम्पात बिन्दु से ग्रह बिम्ब तक कदम्बप्रोत वृत्त में ग्रह का शर (Celestial Latitude) होता है। यह बिम्बीय स्थानीय अहोरात्र वृत्तों का अन्तर हैं, जिसमें ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति ज्ञात होती है।

२६. क्षितिज और अहोरात्र वृत्त के सम्पात के ऊपर किया गया ध्रुव प्रोत वृत्त जहाँ पर नाडी वृत्त के साथ सम्पात करता है उस सम्पात बिन्दु से पूर्व स्वस्तिक बिन्दु तक चर काल होता है। इसके अहोरात्र वृत्तीय लघु स्वरूप का नाम कुज्या है।

२७ ग्रह बिम्ब से पूर्वापर वृत्त तक समप्रतोदृत में भुजांश चाप है। भुजांश चाप को नब्बे में कम करने से शेष का नाम उपवृत्त व्यास होता है। भुजांश चाप की ज्या नलिका वेध के समय भुज संज्ञक है।

२८. गोल सन्धि से ग्रह बिम्बीय स्थान तक क्रांति वृत्तीय चाप का नाम भुजांश चाप है, जो चापीय क्षेत्र का कर्ण है, तथा गोल सन्धि से ग्रह बिम्ब के ऊपर गये हुए ध्रुव प्रोत वृत्त का क्रान्तिवृत्तीय ग्रह स्थान तक भुजांश कर्ण, एवं नाड़ीवृत्तीय स्थान तक विषुवांश कोटि, एवं ध्रुव प्रोतवृत्त में ग्रह की क्रान्ति-भुज, यह एक प्रसिद्ध चापीय क्षेत्र है।

२९. क्षितिज और अहोरात्र वृत्त के सम्पात बिन्दु से पूर्व स्वस्तिक तक क्षितिज वृत्तीय चाप का नाम अग्रा चाप है।

३०. इसी प्रकार क्षितिज और दृग्वृत्त के सम्पात से पूर्व स्वस्तिक तक क्षितिज वृत्तीय चाप का नाम दिगंश चाप है।

३१. भूगोल केन्द्र से अपने खमध्य तक गए हुए सूत्र को ऊर्ध्वाधर सूत्र कहते हैं। एवं भूगर्भ से निरक्ष खमध्य तक गये सूत्र को निरक्षोर्ध्वाधर सूत्र कहते हैं।

३२. इसी प्रकार भूगर्भ से, पूर्व स्वस्तिक तक गत वायु रूप सूत्र का नाम पूर्वापर सूत्र, ध्रुव स्थान गत सूत्र का नाम ध्रुव सूत्र या ध्रुव यष्टि (Polar Axis) समस्थान गत सूत्र का नाम सम सूत्र, कोणवृत्त क्षितिज सम्पात गत सूत्र का नाम कोण सूत्र, दृग्मण्डल क्षितिज सम्पातगत सूत्र का नाम दृक्कुज सूत्र, भूगर्भ से क्षितिज अहोरात्र वृत्त सम्पात गत सूत्र का नाम स्वोदयास्तसूत्र, उन्मण्डल अहोरात्र सम्पात गतसूत्र का नाम निरक्षोदयास्त सूत्र और भूगर्भ से इष्ट स्थान तक गये सूत्र का नाम इष्ट सूत्र हैं।

३३. याम्योत्तर अहोरात्रवृत्त सम्पातस्थ ग्रह बिम्ब केन्द्र से उदयास्त सूत्र के ऊपर लम्ब रूप सूत्र का नाम हृति है तथा पूर्वापर अहोरात्र वृत्त सम्पात से स्वोदयास्त सूत्र पर लम्ब सूत्र का नाम तद्धृति है एवं किसी भी इष्ट स्थानीय ग्रहबिम्ब से स्वोदयास्त सूत्र पर लम्बरूप सूत्र को इष्ट हृति कहते हैं।

३४ निरक्षोदयास्त सूत्र तक उक्त इष्टहृति आदि के खण्डों का नाम कला है यह सब द्युज्या वृत्तीय लघुवृत्तीय होते हैं। अतः ग्रहगणित के उपयोग के लिए इनका मान त्रिज्यावृत्त अर्थात् बृहत्वृत्त में परिणत कर बृहद्वृत्तीय किया जाता है।

३५. द्युज्यावृत्तीय हृति का त्रिज्यावृत्तीय परिणत स्वरूप अन्त्या होता है।

३६. सर्वत्र पूर्वापर और स्वोदयास्त सूत्रों का अन्तर अग्रा होती है। पूर्वापर और निरक्षोदयास्त सूत्रों का अन्तर क्रान्ति ज्या होती है। निरक्षोदयास्त और स्वोदयास्त सूत्रों का अन्तर कुज्या होती है।

३७. इष्ट स्थानीय ग्रह बिम्ब से स्वोदयास्त सूत्र तक गये हुए सूत्र को इष्ट शंकु कहते हैं।

यह शंकु अनेक स्थानों से अनेक प्रकार के होते हैं। मुख्यतः पूर्वापराहोरात्र-वृत्त सम्पात से क्षितिज धरातलगत सूत्र को पूर्वापर शंकु (समशंकु) एवं याम्योत्तराहोत्र-वृत्त

सम्पात से क्षितिज धरातलगत सूत्र की मध्याह्न शंकु, कोणवृत्ताहोरात्रवृत्तसम्पात से क्षितिज धरातलगत शंकु का नामकोण शंकु होता है।

३८. शंकुमूल से स्वोदयास्त सूत्र तक लम्ब रूप याम्योत्तर अन्तर को शंकुतल कहते हैं। इस प्रकार इष्टशंकु कोटि, इष्टहृति कर्ण एवं इष्टशंकुतल भुज ऐसे बहुविध सरल समकोणक त्रिभुजों की खगोलीय बहुविध रचनाओं से तत्तत्स्थलों की छाया आदि ज्ञात करते हुये ग्रहगोलगणित की पृष्ठभूमि सुदृढ़ होती है।

इस प्रकार संक्षेप से खगोल का परिचय करते हुये तथा पौर्वात्य पाश्चात्य खगोलीय ऊपर लिखित शब्द संकेतों की सूची से मेरा विश्वास है कि ग्रन्थ में वर्णित ग्रहगणित के विशेष परिष्कारों से सर्वसाधारण को अवश्य लाभ होगा, जिसे मैं अपना सफल प्रयास समझूंगा।

वस्तुतः प्राचीन परम्परा से ही भारतीय ग्रन्थ भण्डार को ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु-मुख होना तो अनिवार्य है। बिना गुरुमुख हुये ग्रन्थ की विशेष फक्किाएँ समझ में नहीं आ सकती हैं। ग्रन्थ का हृदय तो गुरु का हृदय है और उस हृदय को, विनीत जिज्ञासु परम गुरु भक्त सुयोग्य शिष्य ही प्राप्त कर सकता है। इसीलिए आचार्यों ने बड़े श्रम साध्य ग्रन्थ के क्लिष्ट स्थलों को समझ कर सरल बनाते हुये शिष्य परम्परा से अनुरोध किया है कि (''नैतद्देयं दुर्विनीताय शिष्याय'' तथा दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियमित्यादि) इस पवित्र ज्ञान को शिष्यत्व समझकर सुविनीत शिष्य को ही देना चाहिये।

८. **त्रिप्रश्नवासनाधिकार**—'त्रिप्रश्न' शब्द से भूमण्डल में दिशा, देश, काल का परिचय होता है। ग्रहगोलाध्याय के त्रिप्रश्नाधिकार में कहा गया है—

उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरावृते चरखण्डकालः।
तज्ज्याऽत्र कुज्या चरशिञ्जिनी स्याद्व्यासार्धवृत्ते परिणामिता सा॥

अर्थात भूमण्डल के किसी नियत स्थानीय क्षितिज और विषुवत वृत्तनिष्ठ क्षितिज के बीच में अहोरात्र वृत्त (जिसका काल = ६० घटी अर्थात २४ घण्टा) के एक लघु टुकड़े का नाम चर कहा गया है। अतः ६ घण्टे के समय में इस चर खण्ड को अधिक और कम तुल्य समयों में अपने देशों में सूर्योदय, सूर्यास्त, अर्धरात्रि या मध्याह्न का समय ज्ञान विवेचित किया है।

ग्रहगोल की भाषा में इस त्रिप्रश्नवासनाधिकार को 'कालतंत्र' भी कहा गया है।

विशेषकर के इस प्रकरण में दिन-रात्रि की लघु महत्ता का कारण, ६६ अंश अक्षांश से अधिक अक्षीशीय देशों में लम्बांश से अधिक क्रांति होने पर उन देशों में दीर्घकालीन

दिन-रात्रि, उत्तर-दक्षिण ध्रुवों में मानव मात्र के ६ महीनों में मात्र एक दिन और रात्रि, पृथ्वी में ध्रुवतारा का स्थान आदि के विचार के साथ ही इसी प्रकार चन्द्रपृष्ठ में मानव मान के एक चान्द्रमास के तुल्य पितृ लोक में पितरों का एक दिन, उत्तरायण, दक्षिणायन व्यवस्था, चन्द्रमा के ऊर्ध्व भाग में पितरों की स्थिति, कृष्ण पक्ष की साढ़े सप्तमी को पितृलोक में सूर्योदय, अमान्त में मध्याह्न आदि का विवेचन किया गया है। ब्रह्माण्ड में ऐसा स्थान जहाँ पर सदा सूर्य दर्शन होता है (सदोदित रवि दर्शन) उस स्थान का ज्ञान, लग्न साधन, लग्न साधन में सूर्य तत्कालिककरण, देश विशेष से सदोदित राशियों का आँकलन, दृश्या-दृश्य राशियों के वर्णन में लल्लाचार्य की गणितीय त्रुटियों का वर्णन, शंकु स्थान, दीर्ज्या, कुज्या, अग्रा, क्रांति क्षेत्र आदि की परिभाषा और आठ प्रकार के सजातीय अक्ष क्षेत्रीय त्रिभुजों का स्थान वर्णन के साथ गोलाध्याय में इस अधिकार का समापन हुआ है।

उक्त इसी प्रकार के गणित वर्णनों के साथ सूर्य और लग्न ज्ञान से इष्टकाल ज्ञान, भूपृष्ठीय किसी नगर में छाया ज्ञान से पूर्वादि दिशाज्ञान, सजातीय आठ अक्ष क्षेत्रों का परिचय, नाना प्रकार के गणितों का परिष्कार इत्यादि गोलाध्याय की अपेक्षा ग्रह-गणिताध्याय से त्रिप्रश्नाधिकार विषद् और अधिक व्यापक है।

९. ग्रहणवासना—गोलाध्याय में 'अथ ग्रहणवासना' शीर्षक से ग्रहणवासना अध्याय का आरम्भ हुआ है एवं इस अध्याय में सूर्यग्रहण पर ही आचार्य ने विशेष परिष्कारों से अध्याय को विभूषित किया है। चन्द्र-सूर्य ग्रहण की स्पर्श मोक्ष दिशायें और चन्द्रग्रहण में पृथ्वी छाया का दीर्घ विस्तार का ज्ञान, आकाशस्थ ग्रहणों का परलेख चित्र से विचार, लम्बन, स्पष्ट लम्बन गणित ज्ञान, बलन ज्ञान, बलन गणित में लल्लाचार्य की भयंकर त्रुटियों का दर्शन पूर्वक शुद्ध स्पष्ट बलन ज्ञान के साथ इस अध्याय का समापन हुआ है। यद्यपि ग्रहगणिताध्याय में सूर्य-चन्द्रहण-गणित साधन में पर्वसंभवाधिकार, चन्द्र-ग्रहणाधिकार और सूर्यग्रहणाधिकार नाम के अध्यायों में गोलाध्याय की अपेक्षा सविशेष वर्णन हुआ है।

ग्रहगणिताध्याय में सूर्यग्रहण के उपसंहार के समय में अपने गुरु परम्परा के ब्रह्मगुप्ताचार्य के दृक्क्षेप साधन की स्थूलता या त्रुटि का भी उल्लेख उदाहरण पूर्वक आचार्य भास्कर ने किया है। जो निम्न भाँति द्रष्टव्य है—

ग्रहगणिताध्याय में सूर्यग्रहण के उपसंहार के अवसर पर

आचार्य भास्कर अपने माननीय ब्रह्मगुप्ताचार्य के चन्द्रदृक्क्षेप साधन के सिद्धान्त की त्रुटियों को उदाहरण पूर्वक युक्ति द्वारा बता रहे हैं कि—"चन्द्रदृक्क्षेप साधन में विभिन्न

स्थानीय शर का भी संस्कार करना चाहिए" "ऐसा मत" यह मत मेरा नहीं है। यह मत पूर्ववर्ती मेरे माननीय ब्रह्मगुप्ताचार्य का है। अतएव मेरे मत से चन्द्रदृक्क्षेप में वित्रिभ लग्न शर का संस्कार नहीं करना चाहिए।

क्यों नहीं करना चाहिए ?

इसलिए युक्ति देता हूँ कि २४ अक्षांशीय देशों में उदय काल में तुला राशिस्थ सूर्य चन्द्र और पात भी हैं। पूर्वापर वृत्तानुकारि कान्ति वृत्त में यह स्थिति होती है। यहाँ ऐसी स्थिति में रवि प्राक्स्वस्तिक में तथा वित्रिभ लग्न सममण्डल, खमध्य में है कान्ति-मण्डल और दृङमण्डल ये तीनों वृत्तों का एक ही स्वरूप है, या ये एकाकारक हैं। स्पष्ट शर भी यहाँ शून्य है एवं यहाँ शर का अभाव है।

इस नति का यहाँ तथा वित्रिभ लग्न के शर से संस्कृत नति का यहाँ पर ४ कला के तुल्य जो माना जाता है वह सब व्यर्थ है अर्थात् प्रयोजनाभाव है इत्यादि युक्तियों से वित्रिभ शर संस्कृत नति का प्रयोजनाभाव होने से ब्रह्मगुप्ताचार्य का मत समीचीन नहीं है यही आचार्य भास्कर का भाव है।

क्षेत्रगत वासना के साथ उदाहरण सहित आचार्य ब्रह्मगुप्ताचार्य के मत की असमीचीनता का स्पष्टीकरण कर रहा हैं। जैसे—यद्यपि ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को आगम मान कर भास्कराचार्य ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है तथा ब्रह्मगुप्त के गोलगणित के वैदुष्य पर भास्कराचार्य ने बड़ी आस्था यत्र तत्र सर्वत्र भी प्रगट की है किन्तु महान् गणितज्ञों की भी गणितगोल की स्थूलता का आचार्य ने सदोष उल्लेख करते हुए इसकी सूक्ष्मता के गणित उपायों की अच्छी विधि हम लोगों को दी हैं।

यहाँ पर चन्द्रदृक्क्षेप साधन में वित्रिभ लग्न शर का संस्कार प्रत्यक्ष बाधक और व्यर्थ भी है आचार्य ने यही बताया है।

आचार्य ने वस्तु तथ्य को सामने रखा है और स्थूल पक्ष जो मैंने कहा है वह पूर्व परम्परा से लिखा है। यह मेरा स्वतन्त्र मत नहीं है इत्यादि कहते हुए अपने पूर्व के आदरणीय श्री ब्रह्मगुप्ताचार्य का दोष निम्न भाँति स्पष्ट किया है—

कल्पना करिये कि—

से पू स प = क्षितिज वृत्त है।

से ख नि स = याम्योत्तर वृत्त है।

पू ख प = पूर्वापर वृत्त है।

पू नि प = विषुव वृत्त है।

याम्योत्तर और पूर्वापर वृत्त का संपात बिन्दु का संकेत बिन्दु न बिन्दु है ।
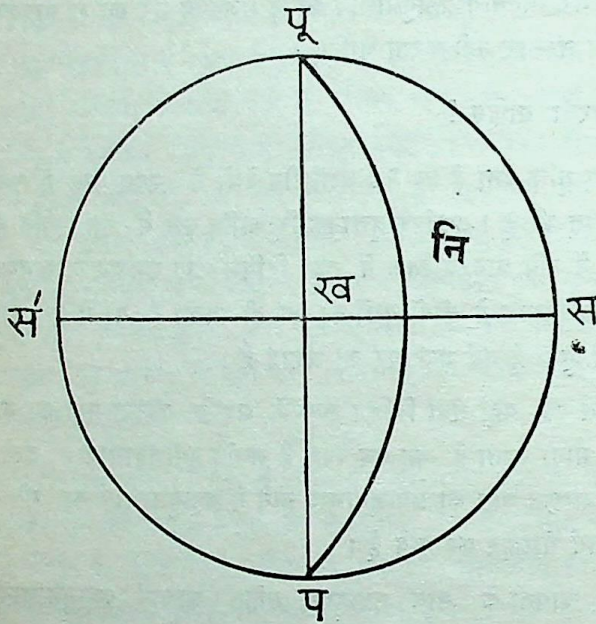
जिस देश में अक्षांश (२४) चौबीस अंश के तुल्य है (यह देश प्रायः विंध्य पर्वत के आसन्न काशी से दक्षिण हो सकते हैं) उस देश में किसी इष्ट समय में स्पष्ट रवि = ६।०'।०'।०'' स्पष्ट चन्द्रमा = ६।०'।०'।०'' पात = ६।०'।०'।०'' इस समय रवि के उदय के समय सूर्य चन्द्रमा और पात पूर्व स्वस्तिक में होते हैं । इस समय उदय लग्न = ६।०'।०'।०'' चन्द्रमा का शर = ०' लग्न – ३रा वित्रिभ लग्न = ६।०'।०'।०'' – ३।०'।०'।०'' वित्रिभ लग्न की क्रान्ति = $१२^\circ + ८^\circ + ४^\circ = २४^\circ$ चौबीस अंश (स्वल्पान्तर से) अतः खमध्य स्थान में स्थित क्रान्ति वृत्त की एकता है यहाँ यह दोनों एक ही वृत्त में होते हैं । इसी क्रान्ति वृत्त के सम्पात बिन्दु पर राश्यादिक पात भी हैं और यहीं चन्द्रमा भी स्थित है । इसी स्थान पर लंबित चन्द्रमा भी क्रान्तिवृत्त में ही लम्बित होगा ।

यहाँ चन्द्रमा लम्बित हुए भी द्रग्वृत्तानुरूप क्रान्तिवृत्त से पृथक नहीं हो सकता । अतः ऐसी स्थिति में याम्योत्तर अन्तर रूप नति का युक्तितः स्पष्ट अभाव भी प्रत्यक्ष है जो स्वतः सिद्ध होता है । किन्तु इस स्थल पर ब्रह्मगुप्त के मत से ४ कला के तुल्य नति का मान आता है जिसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं होने से ब्रह्मगुप्त का यह नति साधन मान गणित प्रपञ्च व्यर्थ हैं । इसलिए ब्रह्मगुप्त का उक्त कथन समीचीन नहीं है । भास्कराचार्य ने नति ४ कला आती है ऐसा ही कहा है ।

चार कला नति कैसे आती है ?

इसे निम्न गणित से समझिये । सपात वित्रिभ का भुज = ९०° वित्रिभ का शर = २७०° इसकी ज्या = २६९।३९ स्वल्पान्तर से ज्या = २६० रवि का दृक्क्षेप = ० । अतः चन्द्रमा का दृक्क्षेप = ० + २७० = २७०

अतः नति उत्पादक गणित सिद्धान्त से– $\frac{\text{चन्द्रदृक्क्षेप} \times \text{चन्द्रदृग्लम्बनज्या}}{\text{चन्द्रदृग्ज्या}} = \frac{\text{चन्द्रगति}}{१५}$

$$\times \frac{२७०}{३४३८} = \frac{(७९०।३५)\ २७०}{१५ \times ३४३८} = \frac{\{(७९०।३५)\ २७०\}}{१५ \times ३४३८} = ४ \text{ (स्वल्पान्तर से)}$$

अतः ब्रह्मगुप्त के दोष को स्पष्ट करते हुए आचार्य भास्कर ने अपना युक्ति युक्त गणित का कथन स्पष्ट किया हैं ।

१०. उदयास्तवासना—गोलाध्याय में ग्रहों के उदय एवं अस्त सम्बन्धित गणितों का स्पष्टीकरण किया गया है । चूंकि सूर्यग्रहण को छोड़कर शेष सभी ग्रह अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त विमण्डल वृत्तों में भ्रमण करते हैं । समस्त ब्रह्माण्ड के ग्रह कक्षाओं का राश्यादिक स्थान अपने दृष्टिगत क्रांति वृत्त में होता है । विमण्डलगत ग्रह बिम्ब की राश्यादिक नियतस्थिति क्रांति वृत्त में कही गई हैं जिसे ग्रह का स्थान कहते हैं । अतः क्षितिज में ग्रहबिम्ब के उदय के पूर्व या पश्चात् ग्रहस्थान का उदय होता है । सारा गणित दृश्य है, बिम्ब दर्शन से ही प्रतीति होती है कि बिम्बोदय हुआ किन्तु गणितागत-ग्रहस्थान भिन्न होने से स्थानाभिप्रायिक ग्रह कदाचित् बिम्ब के साथ याम्योत्तर रूप में क्षितिज में है या बिम्ब पहले उदय होगा इत्यादि स्थानोदय एवं बिम्बोदय के अन्तर-काल का गणित इस अध्याय में हुआ है । इसी प्रकार ग्रहगणिताध्याय में ग्रहों का नित्योदयास्त और सूर्य के समीप एवं दूर के दूरी से अन्तरित उदयास्त, बुध, शुक्र का वक्रादि ज्ञान, ग्रहों के उदय व अस्त के कालांश ज्ञान इत्यादि का सविशेष वर्णन हुआ हैं । गोलाध्याय में 'ग्रहणवासना' के अनन्तर उदयास्तवासना है जबकि ग्रहगणिताध्याय में 'छायाधिकार' के पश्चात् उदयास्ताधिकार का वर्णन है । ग्रहगणिताध्याय के ग्रहछाया-धिकार में आचार्य ने एक कौशलपूर्ण गणित की सूक्ष्मता दर्शायी है जो पूर्वाचार्यों से प्रकाश में नहीं आई थी । जो निम्न है—

भूकेन्द्राभिप्रायिक ग्रह गणित से शंकु मान का गणित भी गर्भाभिप्रायिक होता है जिसे भूगर्भ, भूपृष्ठ भेद से अन्तरित होना चाहिए । छाया दर्शन शंकु निवेशन…यह सब भूपृष्ठ बिन्दु (जो भूपृष्ठ में जहाँ है वहां से) से ही सही होता है । यहाँ शंकु कोटि, दृगज्या भुज कर्ण और १२ अंगुल और त्रिज्या कोटि, शङ्कु छाया, भुज एवं (भूपृष्ठस्थ) छाया कर्ण ही उसकी कर्णमान सही होती है । अतः शास्त्र शोध नियमों से बृहज्ज्या

साधित महाशंकु में जिस ग्रह की छाया ज्ञात करनी है उस ग्रह की गति का पञ्चदशांश (पन्द्रहवाँ भाग) उस ग्रह शंकु में कम करने से शेष तुल्य स्पष्ट शंकु मान होता।

लघु शंकु साधन में यदि लघु ज्या से साधित शंकु में ग्रहगणित का ४३० वाँ भाग कम करने से वह स्पष्ट लघु शंकु होता है।

उक्त दोनों प्रकारों से साधित शंकुओं से साधित दृग्ज्या को १२ से गुणा कर साधित शंकुओं से भाग भाग देने से छाया का मान स्पष्ट होता है। तब छाया^{२} + १२^{२} = कर्ण^{२} का मूल छाया का मान स्पष्ट होता है। पूर्वाचार्यों का यहाँ पर का गर्भीय गणित कहने के लिये स्थूल कहा जा सकता है जिसे स्वल्पान्तर या नगण्य दोष भी कह सकते हैं।

चन्द्र बिम्ब की दृश्यता काल साधन में हो तो उक्त संशोधन आवश्यक होगा।

क्षेत्र देखिये—

$$\frac{\text{ल भू} \times १२}{\text{वि ल}} = \text{इष्ट छाया, अर्थात्} \ \frac{\text{दृग्ज्या} \times १२}{\text{गर्भीय शंकु}}$$

किन्तु गर्भीय शंकु − कुच्छन कला = भू पृ की कला।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{दृग्ज्या} \times १२}{\text{पृष्ठीय शंकु}} = \text{इष्ट समय में छाया।}$$

वस्तुतः इष्ट छाया साधन में गर्भीय शंकु = पृष्ठीय शंकु मान कर प्राचीनों के छाया साधन में कुछ स्थूलता कहने को हो जाती है जिसे "स्वल्प की आन्तरित त्रुटि जो

अव्यवहारिक भी है वह दोष नहीं कहा जाता।" इस कथन में यय तत्र स्थल विशेष के गणितों में सभी आचार्यों से स्वल्पान्तरित दोष जो मात्र कहने के लिए ही है कहते हुये भी भास्कराचार्य ने इस स्थल पर गणित सूक्ष्मता के लिए स्वल्पान्तर दोष का साहस के साथ उद्‌घाटन कर ही दिया है। जो मननशील पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है।

११. शृङ्गोन्नतिवासना—सूर्य किरणों से सूर्य की दिशा की तरफ अमृत का पिण्ड, यह चन्द्रबिम्ब आधे बिम्ब से कम प्रकाशमान दिखाई देता है। तद्विरुद्ध दिशाओं में छायारूप अन्धकार रहता है। सूर्य कक्षा से चन्द्रमा की कक्षा नीचे भूमि के समीप है। नीचे रहने वाला यह दृश्य चन्द्रबिम्ब अमान्त काल में अन्धकारमय और पूर्णान्त काल में आधा उज्ज्वल और दृश्य होता है तथा सूर्य प्रकाश से १२ अंश से आगे की दूरी पर शुक्ल पक्ष की द्वितीया को नाखून के आकार का शृंगाकार चन्द्रमा पश्चिम क्षितिज में सूर्यास्त के बाद दृश्य होता है जिसे दूज का चाँद या ईद का चाँद से लोग कहकर अपने व्यवहार में उपयोग करते हैं, इत्यादि विषयों का लघु विवेचन इस गोलाध्याय में हुआ है।

गणिताध्याय में चन्द्र शंकु साधन, सूर्य का शंकु और शंकुतल का साधन, भुज साधन, कोटि साधन, दिग् बल ज्ञान, शृंगदर्शन योग्य परिलेख सावन के साधन ब्रह्मगुप्ताचार्य के ब्रह्मसिद्धान्त के और चन्द्रशृंग साधन में भुज कोटि साधन में स्थूलता बताते हुए सही गणित की गवेषणा आचार्य ने की है।

गणिताध्याय एवं गोलाध्याय में आचार्य से भी इस चन्द्र शृंगोन्नति साधन में कुछ त्रुटि सी हुई है इस विषय को सुस्पष्ट समझने के लिए गणक सार्वभौम 'गुरुणां गुरु' महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी रचित 'वास्तव चन्द्र शृंगोन्नति साधन' ग्रन्थ का अध्ययन पाठकों के लिए आवश्यक और पूर्ण सन्तोषप्रद होगा। "क्योंकि पूर्णिमा के दिन भी चन्द्रमा भूपृष्ठस्थ मानव को आधे से भी कम ही दिखाई देता है"। इत्यादि द्रष्टव्य है। जैसे—

पूर्णिमा के दिन "पूर्ण चन्द्रोदय हो गया" यह कथन गोलगणित से कभी भी सही नहीं है क्षेत्र देखकर समझिये—

यहाँ पर स्प म स्पं मात्र इतनी ही चन्द्रविम्ब भूस्प, भूस्प दो स्पर्श रेखाओं के बीच का दृश्य विम्ब होता है। जिसका मान गणित से कोण स्प. पृ. स्पे. = ३६०° −∠ पृ. स्पं क
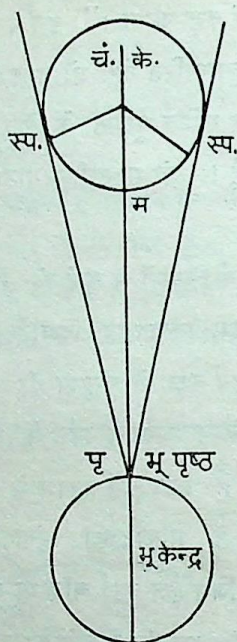
के + ∠ पृ स्पं के + कोण स्प. क स्पं. तुल्य अर्थात् ३६० अंशों ४ समकोणों में दो समकोण से अधिक को कम करते हैं घटाते हैं तो भू स्प चं. स्पं चतुर्भुज के चारों कोणों के योग में ३६० – १८० अंश से अधिक घटाने पर दो समकोण से कम अर्थात् स्प भू स्पं कोण का मान दो समकोण से कम होता है अर्थात् दृश्य विम्ब का मान आधे से कम सिद्ध होता है ।

१२. यंत्राध्याय—गोलाध्याय के इस प्रकरण में दिनगत और दिनशेष समयों का ज्ञान किया गया है । गोल यन्त्र से लग्न का मान स्पष्ट किया गया है । ताम्र धातु के कटोरानुमा एक प्रामाणिक एक ऐसा पात्र जिसके तले में ऐसा छिद्र हो जो प्रथम सूर्योदय से द्वितीय सूर्योदय तक ६० मतंबे स्थापित जलपात्र में डूबता रहे, यही घटी है। चक्रयन्त्र, अर्धं चापयन्त्र, चापयन्त्र का आधा तुरीय यन्त्र, आचार्य से निर्मित अतिकौशल प्रदर्शक फलक यन्त्र, यष्टि यन्त्र, सूर्यदर्शन (इष्टकालिक सूर्य की छाया) दिग्देश काल का ज्ञान, यष्टि यन्त्र से ध्रुववेध द्वारा पलभा का ज्ञान, वंश (बाँस) वेध से नाना प्रकार के वेध गणितफल और स्वयंवह आदि वैज्ञानिक यन्त्रों के निर्माण और उनके उपयोग की व्यवस्था इस प्रकरण में हुई हैं । केवल १२ अंगुल की सूचि आकार की लकड़ी से किसी भी समय भूपृष्ठ में छाया नापकर सूर्यग्रह की इदम् इत्थम् की स्थिति बताई गई है । चूंकि वर्ष में ऐसी स्थितियाँ चार बार हो सकती है तो इस छाया वेध से रवि भुजांश ज्ञान की स्थिति (मार्च, अप्रैल, मई की है या जून, जुलाई, अगस्त की है या आगे)

प्राकृतिक ऋतुओं के चिह्नों से जाननी चाहिए। अतएव आचार्य ने इसी प्रसंग में 'ऋतु-वर्णनाध्याय' नामक अध्याय का इस गोलाध्याय में निवेश किया है। ग्रहगणिताध्याय में यह विषय नहीं है।

१३. ऋतुवर्णनाध्याय—ग्रहगोलाध्याय के इस प्रकरण में ६ ऋतुओं का वर्णन किया गया है। मकर-कुंभ के सूर्य में शिशिर, मीन-मेष में वसन्त, वृष-मिथुन में ग्रीष्म, कर्क-सिंह में वर्षा, कन्या-तुला में शरद एवं वृश्चिक-धनु के सूर्य में हेमन्त ऋतुयें होती हैं। खगोल मर्मज्ञता के साथ साहित्य शास्त्र की अशेष पाण्डित्य शैली का आचार्य भास्कर में विद्यमान थी। अतएव इस कथन में लेशमात्र सन्देह नहीं है कि प्राचीन ग्रन्थ प्रणेता आचार्य सर्वशास्त्रज्ञ होते थे। काश ! संस्कृत वाङ्मय का यह समय विचारणीय व शोचनीय है।

ग्रहगणिताध्याय में शृंगोन्नत्ति अधिकार के पश्चात् ग्रहयुत्याधिकार के वर्णन में ग्रहों के मध्यम बिम्ब, बिम्ब स्पष्टीकरण, ग्रहों का योग साधन इत्यादि विषयों का वर्णन हुआ है। तदुपरि भग्रहयुत्तधिकार में नक्षत्रों के ध्रुवक, शर, नक्षत्र ग्रहों का योग इत्यादि का विचार है तत्पश्चात् गणिताध्याय के अन्तिम प्रकरण पाताधिकार में गोलायनसन्धि, क्रांतिसाम्य, व्यतिपात वैधृत आदि विषयों से गणिताध्याय का आचार्य ने समापन किया है।

१४. प्रश्नाध्याय—ग्रहगोलाध्याय के इस प्रकरण में प्रश्नारम्भ का प्रयोजन, बुद्धिमान दैवज्ञों की प्रशंसा, अनेक प्रकार के खगोलीय प्रश्नों और उनके शंका-समाधान के साथ प्रश्नों के उत्तरों से विभूषित यह प्रश्नाध्याय पाठकों के लिए विवेचनीय, मननीय एवं विचारणीय हैं। समग्र ग्रन्थ के आमूल चूड अध्ययन से अध्येता की ग्रहगोल गणित रूप की यह सम्पत्ति सदा वर्धमान होती रहेगी।

ग्रहगणिताध्याय में त्रिप्रश्नाधिकार में ही इस प्रश्नाध्याय का समावेश है।

इस प्रकार ग्रहगोलाध्याय एवं ग्रहगणिताध्याय के प्रकरणों के समन्वयात्मक अध्ययन एवं विवेचन से पाठकों को महान् गणितज्ञ भास्कराचार्य के वैदुस्वपूर्ण शोध गणित कर्म का आभास होगा।

भास्कराचार्य ने अपनी "सिद्धान्तशिरोमणि" ग्रन्थ की "वासना भाष्य" नामक व्याख्या की। नीचे इस सन्दर्भ में संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है—

सिद्धान्त शिरोमणि और उसका वासना भाष्य

भास्कराचार्य ने स्वरचित पद्यात्मक गणित सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये **"वासना भाष्य"** नामक व्याख्या भी स्वयं की है। आचार्य की स्वयं की इस व्याख्या का नाम उत्पन्न गणित सिद्धान्त के उपपादन का नामकरण "वासना भाष्य" क्यों हुआ होगा ? विचारणीय है।

"उपपत्ति युतं गणितं गणका जगुः"

निराधार का या अटकलपच्चू का गणित, गणित नहीं होता, किसी भी गणित का कोई मूलाधार होना चाहिए।

वस्तुतः "वासना" इस शब्द के अनेक अर्थों में, प्रत्याशा, ज्ञान, भाव या संस्कार स्मृति, हेतु, कारण, कामना, उपपत्ति तर्क द्वारा किसी सिद्धान्त का सही उपपादन, कार्य से कारण का ज्ञान, अनुमान, प्रत्यक्ष, मेल, मिलन, सङ्गति युक्ति, प्राप्ति और प्रसिद्धि इत्यादि अनेक अर्थों से सम्बन्धित शब्द का नाम आचार्य ने "वासना" नामक सुन्दर शब्द से "वासना" भाष्य किया है। उक्त पर्यायवाची शब्द और उनके समान अर्थों से सम्बन्धित यह "वासना" शब्द आचार्य को अधिक प्रिय हुआ है।

श्लोकबद्ध मूल ग्रहगणित सिद्धान्तों की उपपत्ति समझने में शिष्य वर्ग की कठिनता को ध्यान में रखकर आचार्य ने कठिन ग्रहगणित के श्लोकात्मक सिद्धान्तों को अपने इस "वासना भाष्य" से छात्र वर्ग का जो हित किया है पठनशील गुरु शिष्य परम्परा इसे स्वयं समझ कर आनन्दानुभव से शास्त्रज्ञान विवर्द्धक शोध कार्यों में तन्मयता से प्रवृत्त होकर रहेगी शुभाशा है।

भास्कराचार्य के पूर्व एवं पश्चात् के जिन ग्रहगणित खगोलज्ञों में भास्कराचार्य ने जिन रचनाओं को प्रमाणीभूत माना है और भास्कराचार्य को जिन आचार्यों ने प्रमाणीभूत माना है उन एवं अन्य ग्रहगणित खगोल ग्रन्थ प्रणेता महान् आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस स्थल पर दे देना आवश्यक समझकर प्रस्तुत कर रहा हूँ और जो प्रसंगत अत्यन्त उचित भी है। प्रस्तुत प्रकरण का इसी लेखनी से लिखित 'ग्रह लाघव' करण ग्रन्थ की 'केदारदत्तः' टीका की भूमिका में भी उल्लेख हुआ है :—

भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती ग्रहगणित-गोल आचार्यों का इतिवृत्त

भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती ग्रहगणित गोल आचार्यों में आचार्य लगध, आर्यभट्ट, लल्लाचार्य, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, मुञ्जाल, श्रीपतिभट्ट, भास्कर प्रथम आदि प्रमुख हैं। उक्त आचार्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है—

आचार्य लगध—ज्योतिष शास्त्र वेदमूलक हैं, षडंगों में चक्षुस्थानीय है। वर्तमान ज्योतिष का वेदमूलक ग्रन्थ आचार्य 'लगध' प्रणीत 'वेदाङ्ग ज्योतिष' ग्रन्थ है। उपलब्ध ज्योतिष ग्रन्थ कोश में आचार्य लगध प्रणीत यह ग्रन्थ ही आगम ग्रन्थ है। आचार्य लगध और उनके 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ के सन्दर्भ में ऐतिहासिक विद्वानों में विवाद है जिसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। आचार्य लगध ने 'वेदाङ्ग ज्योतिष' ग्रन्थ में ज्यौतिष शास्त्र के गणित स्कन्ध की स्तुति करते हुए कहा है कि वेदांग शास्त्रों में (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) ज्योतिष (गणित) ही मूर्धन्य है।

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा, तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं (गणितं) मूर्ध्नि संस्थितम् ।' 'वेदांग ज्यौतिष' के अपने भाष्य में 'सोमाकर' ने भी 'ज्यौतिष' की जगह 'गणितं' कह कर ज्यौतिष के गणित स्कन्ध को ही सर्वोपरि भी कहा हैं ।

वैदिक साहित्य एक गहन ज्ञान-विज्ञान का भण्डार है । वैदिक-साहित्य के प्रादुर्भाव की परम्परा भी स्वयम् में किसी काल-विशेष की अपेक्षा रखती है । इसलिए काल की भी वैदिक पद्धति प्रचलित हुई ।

"कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः"

कालज्ञान बोधक ज्योतिषशास्त्र का वर्त्तमान विकसित स्वरूप आचार्य लगध मुनि की देन है। कालान्तर में ब्रह्मर्षि वेदव्यास ने जिस प्रकार श्रुति, स्मृति-पुराणों की रचना से ज्ञान संरक्षण एवं संवर्धन किया उसी प्रकार महात्मा लगध ने वेदाङ्ग ज्यौतिष की रचना से ज्यौतिष शास्त्र की प्रतिष्ठा अक्षुण्य की है । 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' (याजुष ज्यौतिष) जो आचार्य लगध प्रणीत कहा जाता है तथा शास्त्रों में "कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः" से ऐसा सिद्ध होता है कि आचार्य लगध तपोनिष्ठ महात्मा थे । शब्दशास्त्र (व्याकरण) के विमल शब्द रूप जल धारा से अज्ञान अन्धकार को मिटाने वाले आचार्य पाणिनी की तरह प्रकाश स्वरूप ज्यौतिष-ज्ञान द्वारा अन्धकार को धोने वाले महात्मा लगध कहे जाते हैं ।

लगधाचार्य ने परमाधिक दिनमान ३६ घटी = १४ घण्टा, २४ मिनट के तुल्य जो उल्लेख किया है, तदनुसार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लगधाचार्य उत्तर भारत के उत्तर हिमालय की किसी चोटी के समीपस्थ गुफा में तपोनिष्ठ थे । लगधाचार्य ग्रह वेध करने में भी कुशल खगोलज्ञ थे । उन्हीं के कथन से पुष्टि होती है । याजुष ज्योतिष में उल्लिखित है—

"प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्
दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥ श्लोक ७ ॥

तात्पर्य यह है कि सूर्य और चन्द्रमा जब घनिष्ठा नक्षत्र के आदि में होते हैं तब उत्तरायण और चित्रा नक्षत्र के आधे में होने से दक्षिणायन होता है अर्थात् सदा सूर्य चान्द्र मासों के सम्बन्ध में माघ चान्द्र मास में उत्तरायण एवं श्रावण मास में दक्षिणायन होना कहा गया है ।

तथा,

पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम् ।
दिनर्त्वयनमासाङ्गं प्रणम्य शिरसा शुचिः ॥ १ ॥
ज्यौतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
सम्मतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालस्यसिद्धये ॥ २ ॥ [याजुष ज्यौ०]

अर्थात्—

समीचीन यज्ञकाल की सिद्धि के लिए पंञ्चसंवत्सरात्मक युगाध्यक्ष शरीर के अवयव युक्त ब्रह्मा को प्रणाम कर दिन, मास, ऋतु, अयन और पुण्य पवित्र वेद नेत्र ब्राह्मणों से सम्मत शास्त्र का वर्णन करता हूँ। आचार्य के कथनानुसार ५ वर्ष का एक युग मानने से—

एक युग में सौर वर्ष = ५ = रविभगण।

एक युग में, ५ × १२ = ६० सौर मास ६० × ३० = १८०० दिन।

एक युग में चान्द्रमास = सौर मास + २ चान्द्रमास = ६२ चान्द्रमास। अतः १८६० से एक युग में क्षय दिन = ३०

तथा इस प्रकार एक युग में सावन दिन = १८६० – ३० = १८३० दिन।

एक युग में नक्षत्रोदय = १८३० + ५ = १८३५।

,, ,, ,, चन्द्रभगण = ६०

,, ,, ,, चान्द्र सावन दिन = १८३५ – ६७ = १७६८।

एक सौर वर्ष के सावन दिन = ३६६, एक सौर वर्ष के चान्द्र दिन = ३७२, एक सौर वर्ष के नक्षत्र दिन = ३६७

तथा एक अयन से द्वितीय अयन तक के सौर दिन = ३६० ÷ २ = १८० एक अयन सम्बन्धी १८० सौर दिन या सौर अंशों में नक्षत्र योग १३°।२०′

$$१३\frac{१}{३} = \frac{४०}{३} \text{ का भाग देने से } \frac{३ \times १८०}{४०} = \frac{२७}{२} = १३।३०$$

१३½ घनिष्ठादि गणना से द्वितीय अयनारम्भ अथवा मकर माघादि में उत्तर अयन से ६ महीने कर्कादिश्रावण में दक्षिणायन होना सोपपत्तिक सिद्ध होता है।

"धर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपा ह्रास उदगतौ........

अर्थात् उत्तरायण सूर्य में प्रतिदिन एक प्रस्थ के तुल्य दिन वृद्धि तथा तत्तुल्य रात्रि में ह्रास होता है। १८० × १ = १८० प्रस्थ तुल्य दिन रात्रि का ६ महीनों में क्रमशः वृद्धि-ह्रास हो सकेगा। सूर्य सञ्चार स्थिति में एक अयन से द्वितीय अयन पर्यन्त दिन और रात्रि मान ३०, ३० घटी होगा। अर्थात् ६ मुहूर्त्त = ६ × २ = १२ घटी (१ मुहूर्त्त = २ घटी) १ मुहूर्त्त के अनुसार दिन रात्रि के मान में ह्रास और वृद्धि होती हैं। जैसे यदि दिन मान = ३६ घटी, तो रात्रि मान = ६० – ३६ = २४ तथा रात्रिमान = ३६ तो दिन मान = ६० – ३६ = २४। अर्थात् ३६ – २४ = १२ घटी = ६ मुहूर्त्त के तुल्य दिन और रात्रि की क्रमिक वृद्धि उत्तर दक्षिण अयनगत रवि में होगी।

इस प्रकार १५ घटी में ३ घटी तुल्य चर मान मानने से १५ + ३ = १८, १५ − ३ = १२ को द्विगुणित करने से ३६ घटी परम दिन मान एवं २४ घटी परमाल्प दिन का मान होता है।

भूमण्डल के किस अक्षांश पर उक्त स्थिति घटित हो सकती है, गणित के आधार पर इसका ज्ञान आवश्यक है।

जहाँ पर तीनों चर खण्डों का योग ३ घटी = १ घण्टा १२ मि० उस देश की पलभा से चर साधन क्रिया से यदि पलभा = ८ अंगुल २६ व्यंगुल तो ग्रहलाघव करण ग्रन्थ की चर साधन प्रक्रिया से सायन मेषादि सूर्य (प्रायः आजकल २३ मार्च) की पलभा से ८।२६ × १०, ८।२६ × ८, ८।२६ × $\frac{१०}{३}$ = स्वल्पान्तर से ८४, ६७, २८

अतः ८४ + ६८ + २८ = १८० पल ÷ ६० = ३ घटी चरमान होता है। उज्जयिनी की पलभा = ५।८, उक्त पलभा = ८।२६ दोनों का अन्तर = ३।१८ अर्थात् उज्जैन के अक्षांश २३।१० भूपृष्ठीय किसी भव्य तपोभूमि में उक्त वेदांग ज्यौतिष प्रणेता आचार्य लगध ने जन्म लिया था या वहाँ तपस्या की थी।

चापीय त्रिभुज गणित से चरज्या = $\frac{\text{अक्षांश स्पर्श × क्रान्तिस्पर्श रेखा}}{\text{त्रिज्या = व्यासार्ध}}$

चूंकि चर = ३ और परमक्रान्ति तुल्य दिन में परम क्रान्ति प्राचीन गणितज्ञों के मत से = २४° अतः सूक्ष्म गणित साधन प्रक्रिया से अक्षांश मान = ३४.४५ सिद्ध होते हैं। फलतः इस गणित से अनुमानतः महात्मा लगध को हिमालय के 'कश्मीर व कैलास या बदरिकाश्रम की गुफाओं में इस ज्ञान की उपलब्धि हुई होगी।

वेदांग ज्यौतिष में मुहूर्त्त आदि ज्ञान के लिए वेध से समय ज्ञान का प्रकार ४२वें श्लोक में स्पष्ट है। "कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः" कथन से यह तो ज्ञात होता ही है कि आचार्य लगध हिमालय की गुफा में तप करते थे; साथ ही यह सम्भव है कि महात्मा लगध अमरनाथ काश्मीर या बद्रिकाश्रम के ज्यौतिषपीठ में तप करते हुए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान भी प्रसारित करते रहे होंगे ?

अर्थात् इस प्रकार से वर्त्तमान भारत का शिरोभाग सुदूर कश्मीर से भी उत्तर में वेदाङ्ग ज्यौतिष की रचना का स्थान सिद्ध होता है। इससे यह भी फलित होता है कि प्राचीन भारतवर्ष की सीमा वर्त्तमान भारत की सीमा से और आगे उत्तर पश्चिम तक व्याप्त थी।

वेदाङ्ग ज्यौतिष प्रणेता के अनुसार ५ वर्ष के एक युग की मान्यता से ५ युग में उत्तरायण + दक्षिणायन = १० होती है। एक अयन से दूसरे अयन तक की दिन संख्या चान्द्रवर्ष सम्बन्धी दिन संख्याओं का अर्द्ध भाग होता है। अर्थात् एक चान्द्रवर्षीय चान्द्र-

दिन संख्या = ३७२ का आधा = ३७२ ÷ २ = १८६, तिथियाँ होंगी । १८६ ÷ ३० = ६ चान्द्र महीने + ६ तिथियाँ होती हैं । प्रथमायन की तिथि में ६ जोड़ देने से द्वितीय-अयन तिथि का मान = ६ + १ + ६··· = १।७।१३।१९।२५।१।७।१३।१९।२५ तिथियों में दूसरी अयन तिथि होगी, यह स्पष्ट है ।

माघशुक्ल प्रतिपद को प्रथम अयनारम्भ होने से १८६ + १ = १८७ ÷ ३० = ७ अर्थात् श्रावण शुक्ल सप्तमी को द्वितीय अयनारम्भ होना स्पष्ट है ।

इसी प्रकार तीसरा अयनारम्भ माघ शुक्ल त्रयोदशी को हो तो १८६ + १३ = १९९ ÷ ३० = शेष १९।१९-१५ = ४ अतः श्रावणकृष्ण चतुर्थी को द्वितीय अयन होना सिद्ध होता है ।

प्रथमं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदश ।
चतुर्थं दशमं चैव द्वियुग्माद्यं बहुलेऽप्यृतौ···

इस प्रकार वेदाङ्ग सम्मत वर्त्तमान पञ्चाङ्ग प्रणाली पर उक्त युक्ति कितनी घटित हो रही है ?—इसपर पाठक स्वयं विचार करेंगे ।

आर्यभट्ट—वेदाङ्ग ज्यौतिष के बाद "आर्यभट्ट" का ग्रहगणित का "आर्यभट्टीय" पौरुषेय ग्रन्थ उपलब्ध है । २३ वर्ष की अवस्था में अर्थात् शक् वर्ष ४२१ (ईस्वी सन् ४९९) में आर्यभट्ट नें ज्योतिष सिद्धान्त के "आर्यभट्टीय" ग्रन्थ की रचना कर ली थी ।

आर्यभट्टीय में वर्गमूल व घनमूल आदि अंकगणित की प्रक्रिया सर्वांश सूक्ष्म मिलती है । 'पृथ्वी अपने अक्ष पर भ्रमण करती है", यह बात सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने ही कही । आर्यभट्ट के परवर्त्ती गणित आचार्यों में 'लल्ल', 'ब्रह्मगुप्त', 'वराहमिहिर' आदि आचार्य प्रमुख हैं । इन परवर्त्ती आचार्यों ने आर्यभट्ट के उक्त भू-भ्रमण मत का खण्डन तो नहीं किया, किन्तु स्पष्टतया समर्थन वाक्य भी उपलब्ध नहीं होते हैं । हाँ, "ग्रह का क्रम सूर्य केन्द्राभिप्रायिक है—" यह बात प्राचीन आचार्यों की बुद्धि में भी स्थिर थी ।

खगोलज्ञ आर्यभट्ट के वैशिष्ट्य सूचक स्मारक रूप में आज भी पटना के अति समीप या पटना से लगा हुआ एक गाँव है, जिसका नाम 'खगोल' ग्राम है । पुष्पपुर पटना के नालन्दा जैसे शिक्षा केन्द्र में रहते हुए आर्यभट्ट का इकाई से अरबों खरबों तक की अंक लेखन प्रणाली अपने आप में, अद्भुत कल्पना वैचित्र्य की द्योतक है ।

"क वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ मौ यः
ख द्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥"

संक्षेप रूप में आर्यभट्टीय अंक संकेत निम्न प्रकार हैं—

क् + अ = क = १, ख = २, ग = ३, घ = ४, ङ = ५, च = ६, ञ = १०, ट = ११, ण = १५, त = १६, न = २०, प = २१, म = २५, ङ और म ङ्मौ ५ + २५ =

३०, इसी प्रकार य = ३०, र = ४०, ल = ५०, व = ६०, श = ७०, ष = ८०, स = ९०, ह = १००

(९) नौ स्वरों अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ को, वर्ग और अवर्गाक्षर में संयुक्त करके इकाई, दहाई आदि १८ स्थान द्योतक अंकों की स्थितियों का परिचायक बताया है।

जैसे—क् + अ = क = १, क् + इ = कि = १००, कु = १००००

एवम् क् + औ = कौ = १,००००००००००००००००

इसी प्रकार, ख् + अ = ख = २, खि = २०, एवं य = ३०, यि = ३०००, यु = ३००००० ।

इन अंक संकेतों से पृथ्वी द्वारा सूर्य चतुर्दिक भ्रमण करने से एक युग सम्बन्धी रवि भगण संख्या स्पष्ट होती हैं—"युगरविभगणाः ख्युघृः" ।

खु = २००००, यु = ३०००००, घृ = ४०००००० इनका योग =

खु   २००००
यु   ३०००००
घृ   ४००००००
     ४३२००००

इस प्रकार आर्यभट्ट के, सूर्य सिद्धान्तानुसार 'युगे सूर्यज्ञशूक्राणां खचतुष्करदार्णवाः' अर्थात् आर्यभट्ट के ४३२०००० के तुल्य हो जाते हैं। आर्यभट्ट के तन्त्र ग्रन्थानुसार बने पञ्चाङ्ग दाक्षिणात्य प्रदेश में आज भी प्रचलित एवं सूक्ष्म माने जाते हैं।

यद्यपि परवर्त्ती आचार्यों में ब्रह्मगुप्त प्रभृतियों से भले ही सहमति न हो किन्तु नक्षत्रभ्रमणवत् पृथ्वी की सूर्य के चारों ओर भ्रमणशीलता की दैनन्दिनीय गति का ज्ञान में आर्यभट्ट ही प्रथम खगोलज्ञ हुए हैं।

अनुलोभगतिनौंस्थः पश्यत्यचलं बिलोमगः यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

आर्यभट्ट ने ग्रहों के भगण मानों में नक्षत्रभ्रम न लिखकर भूभ्रम ही लिखा भी है। "प्राणेनैति कला भूः" अर्थात् ('षड्भिः प्राणै पलम्') १ पल के षष्ठांश में एक विकला चलती है स्पष्ट कहा भी है। अहोरात्र में ६० × ६० × ६ = २१६०० 'एक विंशति सहस्राणि, षट् शतानि च' पुराणोक्त प्रमाण सञ्चार भी इसी अभिप्राय से समीचीन हो जाता है।

उक्त प्रकार के अङ्क संकेतों से अनुमान होता है कि आर्यभट्ट ने किसी यवन ज्योतिविद पण्डित के माध्यम से सूर्यादि ग्रहों के भगण प्राप्त किये होंगे। किन्तु इतना तो निश्चित है कि आर्यभट्ट की अंक कल्पना अपूर्व होने के साथ-साथ विचारणीय है।

लल्लाचार्य

शके ४२१ (ईसवी सन् ४९९) शाम्ब पौत्र भट्टत्रिविक्रम पुत्र लल्लाचार्य ने शिष्य-धीवृद्धिद ग्रहगणित तन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। (आर्यभट्टीय तन्त्र टीका भट्ट दीपिका-कार परमेश्वर के मतानुसार)—

"....आचार्यं भटोदितं सुविषमं व्योमोकसां कर्म—
यच्छिष्याणामभिधीयते तदधुना लल्लेन धीवृद्धिदम्।
विज्ञाय शास्त्रममलयंभटप्रणीतं
तन्त्रणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः
कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तै
कर्म ब्रवीम्यहमतः क्रमशस्तु सूक्तम्।"

लल्लाचार्य ने 'शिष्यधीवृद्धि' ग्रन्थ रचना का कारण बताते हुए स्वयम् को आर्यभट्ट का शिष्य कहा है। किन्तु शके १०३६ (ई० १११४) के ग्रहगणक सार्वभौम आचार्य भास्कराचार्य ने आर्यभटस्य शिष्याः प्रभाकरादय....कहा है। इससे ज्ञात होता कि आर्यभट्ट के और भी शिष्य रहे होंगे। विजय, नन्दि, प्रद्युम्न, श्री सेन, लाट आदि को भी आर्यभट्ट का शिष्य कहा जाता है।

लल्लाचार्य की भूपरिधि क्षेत्रफलादि गणित साधन की स्थूलता पर श्री भास्कराचार्य ने स्पष्ट शब्दों में आपत्ति की है तथा साथ ही गोलफल साधन की सूक्ष्म प्रक्रिया भी बतलाई है।

चन्द्रश्रृङ्गोन्तत्ति साधन में लल्लाचार्य ने चमत्कारिक गणित किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से ठीक दीखता है। किन्तु श्रृङ्गोन्नत्ति गणित साधन प्रक्रियानिश्चय ही त्रुटिपूर्ण है, जिसपर भास्कराचार्य ने बहुत कुछ कह दिया है।

वराह या वराहमिहिर या वराहमिहर

अलविरूनी [Albiruni] के अनुसार शके ४२७ ईसवी सन् ५०५ कम्पिल्लक, वर्तमान कालपी नगर में सूर्य देवता के परम उपासक श्री आदित्यदास के सुपुत्र श्री वराह ने जन्म लिया था। अपने पिता से ज्यौतिष विद्या प्राप्त कर ज्यौतिष सिद्धान्त ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन किया। इस गहन अध्ययन और मनन चिन्तन के फलस्वरूप अवन्ती सम्राट से समादरित होकर वराहमिहिर ने लघुजातक, बृहज्जातक, विवाह पटल, बृहत्संहिता, योग यात्रा और पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थों की रचना की। कुछ ऐतिहासिकों के मतानुसार वराह मगध द्विज थे। इस सन्दर्भ में विद्वानों का मत है कि अपने पिता से आर्यभट्टीय प्रभृति ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद आजीविका प्राप्ति के लिए वराह

मगध से अवन्ती आये जहाँ राज्याभूषित वीर विक्रम की राजधानी में वराह समादरित हुए।

यवन देशीय विद्वानों से वराह का सम्पर्क हो चुका था। वराहाचार्य ने यवनों की विशेष संस्तुति भी की है। जैसा कि पहले भी कह आए हैं—**"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।"**

"बृहज्जातक" में मेषादि द्वादश राशियों तथा अन्य स्थलों के योगादिकों में क्रिय, तावुरि, जितुम, लेय, प्राचोन, यूक या जूक, कौर्प्य, तौक्षिक, आकोकेर, हृदग, इत्यम्, हेलि, हिमन, कोण, आस्फुजित् होरा, अनफा, सुनफा दुरुधरा, केमद्रुम, वंशि, पणकर, हिवुक यूनम्, यूतम्. कुलीर और त्रिकोण इत्यादि अनेक यवनों अर्थात् ग्रीक भाषा के शब्दाचार्यों के नाम क्रम वराह ने प्रस्तुत किये हैं। इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी हेतु बेबर [weber] के ग्रन्थ—Cındische Leteratur Cls chichte, Page No. २२७ को सम्यक् रूप के देखा जा सकता है।

अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि वराह की अन्तिम ग्रंथ-रचना "बृहत्संहिता" है। 'बृहज्जातक' ग्रन्थ पर भट्टोत्पल महादेव, महीधर, केरली टीका के उपरान्त अनेक आचार्यों ने तत्समय में टीका रची है। 'बृहज्जातक' में मय, यवन मणित्य, शक्ति, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन, जीवशर्मा, सत्याचार्य आदि आचार्यों के नाम वराहाचार्य ने स्वयं दिये हैं।

वराहाचार्य के 'पञ्चसिद्धन्तिका' के पन्द्रहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में लङ्का की अर्द्धरात्रि तथा लङ्का के सूर्योदय समय में दिनप्रवृत्ति का उल्लेख आर्यभट्ट के अनुसार किया है।

"लङ्कार्धरात्रसमय दिनप्रवृत्तिं जगाद आर्यभट्टः
भूयः स एव सूर्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम्।"

इस प्रकार वाराहाचार्य ने दिन प्रवृत्ति के दोमत व्यक्त किये हैं। किन्तु आर्यभट्टीय तन्त्र में सूर्योदय से ही दिन प्रवृत्ति का समय कहा गया है। वराहचार्य की 'पञ्चसिद्धान्तिका' अवश्य ही ग्रहगणितज्ञों के लिए विशेष समादरणीय है। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वराह का स्थान ज्यौतिष के तीनों स्कन्धों (सिद्धान्त, संहिता, होरा) में अप्रतिम पाण्डित्य आजतक अपने स्थान की इकाई पर ही है।

ब्रह्मगुप्त

शक ५२० (ई० सन् ५९८) बघेलवंशीय व्याघ्रमुख राजा के शासन काल में विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत् ब्रह्मासिद्धान्त के अनुसार चापवंशीय जीष्णुगुप्त के पुत्र ने ३० वर्ष की अवस्था में अर्थात् शक् ५५० (ई० सन् ६२८) में ब्रह्मास्फुटसिद्धान्त, एवं खण्ड-

खाद्य नामक करण ग्रन्थ की रचना की थी। ब्रह्मगुप्त के पौत्र एवं विष्णुगुप्त के पुत्र होने के कारण वैश्य जाति के समझे जाते हैं।

भास्कराचार्य के 'ब्रह्माह्वयश्रीधरपद्मनाभ बीजानि यस्मादति विस्तृतानि' से ज्ञात होता हैं कि ब्रह्मगुप्त का भी कोई बीजगणित नाम का ग्रन्थ था। जिसका इङ्गलिश अनुवाद ईसवी १८१७ में कोलब्रुक साहब ने किया है। इसी प्रकार ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के १२ वें अध्याय, ब्रह्मगुप्त के व्यक्त अंकगणित और भास्कराचार्य की पाटी अंकगणित एवं बीजगणित का अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। भस्कराचार्य ने अपने सिद्धान्त शिरोमणि के प्रारम्भ में लिखा है—

"कृती जयति जिष्णुजो गणकचक्रचूड़ामणि-
जयन्ति ललितोक्तयः प्रथिततन्त्रसद्युक्तयः।
वराहमिहिरादयः समवलोक्य एषां कृतीः
कृती भवती मादृशोऽप्यतनु तन्त्रबन्धेऽपधीः ॥"

इस प्रकार भास्कराचार्य ने गणकचक्रचूड़ामणि शब्द से ब्रह्मगुप्त के साथ आचार्य वराह की भी स्तुति की है। ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त पर चतुर्वेदाचार्य पृथूदक स्वामी की वासनाभाष्य नाम की टीका प्रसिद्ध है। ब्रह्मगुप्त स्वयम् नलिकावेध से ग्रह-गणित को प्रामाणिक मानते हैं। उदाहरणार्थ निम्न श्लोक इस बात का स्पष्टीकरण है—

"ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महत्ता कालेन यत्खिलीभूतम्,
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन।
संसाध्य स्पष्टतरं बीजं नलिकादियन्त्रेण,
तत्संस्कृतग्रहेभ्यः कर्तव्यौ निर्णयादेशौ ॥"

निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि अपने समय से आज तक के गणिताचार्यों में आचार्य ब्रह्मगुप्त गणित गोल धरातल में ऐतिहासिक खगोलज्ञ हुए हैं।

मुञ्जाल का लघुमानस करण

श्री मुञ्जाल ने शक ५८४ (ई० सन् ६६२) में 'लघुमानस' नामक करण ग्रन्थ की रचना की। प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रहों के ध्रुवक साधन कर वहाँ से इष्ट समय तक का अहर्गण से साधित ग्रह में ध्रुवक संस्कार से इष्टदिन के ग्रहों का संसाधन किया है। भास्कराचार्य ने अपने "सिद्धान्तशिरोमणि" में अयन चलन के सन्दर्भ में 'मुञ्जाल' का उल्लेख किया है—

"अयन चलनं यदुक्तं मुञ्जालाद्यैः स एवाऽयम्।"

मुञ्जाल के मत से ४३४ शक में, अयनांश का अभाव ज्ञात होता है।

श्रीपति या "श्रीपतिभट्ट"

श्रीपति भट्ट का समय शके ९२१ (ई० सन् ९९९) में रहा है। श्रीपति भट्ट ने वर्त्तमान समय में अनुपलब्ध पाटी गणित, बीजगणित और सिद्धान्त शेखर नामक ग्रन्थों की रचना की है। इनका ज्यौतिष के तीनों स्कन्धों में अप्रतिम पाण्डित्य है। फलित ज्यौतिष में भी श्रीपति पद्धति, रत्नावलि, रत्नसार, रत्नमाला, धीकोटि नामक ग्रन्थ रहे हैं। ज्यौतिष-फलित रत्नमाला ग्रन्थ की शैली सर्वोत्तम है। व्यापक पाण्डित्य के साथ-साथ श्रीपति भट्ट की कृतियों से उनके शील सौजन्य का परिचय प्राप्त होता है।

प्रथम भास्कर

यद्यपि प्रथम भास्कर का जन्म, समय, स्थान आदि का ज्ञान नहीं हो पाया है, सन् १९६० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से लघुभास्करीय-महाभास्करीय के अंग्रेजी अनुवाद से प्रथम भास्कर के सिद्धान्त विषयक ज्ञान ग्रन्थों में इनका उल्लेखनीय पाण्डित्य प्रतीत होता है और जो सिद्धान्त शिरोमणि प्रणेता भास्कराचार्य से भिन्न और पूर्ववर्त्ती भी प्रतीत होते हैं। अत एव ऐतिहासिक विचार परम्परा से भास्कर नाम के दो आचार्यों में प्रथम का नाम केवल भास्कर है और द्वितीय का नाम भी "भास्कर" की अपेक्षा भास्कराचार्य विशेष प्रसिद्ध हुआ है।

भूमण्डल की भारतभूमि में भास्करावतार 'भास्कराचार्य"

शके १०३६ (ई० सन् १११४) में सह्य पर्वत के समीप शाण्डिल्य गोत्र में विज्जडविड (आधुनिक बीजापुर) में श्रीमान् १०८ श्री महेश्वर उपाध्याय के पुत्र भास्कराचार्य का जन्म हुआ।

भास्कराचार्य रचित सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ, में स्वयं श्री भास्कराचार्य ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण को आगम कहा है। वासुदेव सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नाम की मूर्ति भेदों की चर्चा से अनुमान होता है कि श्रीमद्भास्कराचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने अंकगणित में **लीलावती,** बीजगणित में **बीजगणित,** सिद्धान्त शिरोमणि **ग्रहगोलाध्याय,** सिद्धान्त शिरोमणि **ग्रहगणिताध्याय** एवं करण ग्रन्थों में **करण कुतूहल** नामक ग्रन्थ की रचना की है। सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सिद्धान्त शिरोमणि के ग्रहों को ब्रह्मासिद्धान्त के तुल्य मानते हुए स्वयम् भास्कराचार्य ने स्पष्ट कहा है—

"यथात्र ग्रन्थे ब्रह्मगुप्तागमः स्वीकृतः।" ग्रहगणित ज्यौतिष में भास्कराचार्य एक अप्रतिम, अनुपम चमत्कारिक खगोल वेत्ता होते हुए एवं सर्वशास्त्रज्ञ ऐतिहासिक विद्वान् हुए हैं।

भास्कराचार्य के गणिताध्याय के प्रथम श्लोक के वार्तिककार नृसिंह दैवज्ञ ने स्वयं लिखा है, जिसका अनुवाद रूप प्रस्तुत है—

"मुनिश्रेष्ठ शाण्डिल्य गोत्रावतंस, कुम्भोदभवालङ्कृत, दिगङ्गनाओं का भूषणसर्वस्व, सह्यकुलाचलाश्रित विज्जडविड नगर निवासी पवित्रितदण्डकारण्य, अनेक यज्ञार्जित पुण्य श्लोक, याज्ञिकों का अग्रणी, यजुः शाखियों का उपाध्याय, सांवत्सरिकों का आचार्य, काव्यनाटकालंकार वेत्ताओं का अध्यापयिता, श्रीवृद्धिद का उपायकारक, ब्रह्मवसिष्ठ गणित तुल्य सर्वतोभद्रादि यन्त्र निर्माता, महाराष्ट्रियों का आश्रयदाता, श्रीमहेश्वराचार्य का नन्दन (पुत्र) परमकारुणिक, श्रीधर ब्रह्मगुप्त, लल्ल, चतुर्वेदाचार्य निर्मित अपार गणितसागर-सार विचार से परिपूर्ण श्री भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थारम्भ कर रहे हैं।" इत्यादि से आचार्य भास्कर की स्तुति की गई है।

वस्तुतः **लीलावती** में चतुर्भुज क्षेत्र गणित का नियत्तत्व, वृत्त पृष्ठ घनफल साधन श्रेढ़ी गणित में गुणोत्तर श्रेढ़ी का सर्वफल साधन, एकाद्वित्र्यादि मूषावहन, अंकपाश गणित, **बीजगणित** में अवगङ्कि का मूल्यज्ञापन, योगात्तरादि साधन, कुट्टक वर्गप्रकृति जैसे अलौकिक गणितज्ञान, एकवर्ण समीकरण में प्रश्नसाधन की अद्‌भुत कल्पना, अनेक वर्ण समीकरण में कल्पना लाघव, वर्ण समीकरण में दो प्रकार का मान साधन, पद्मनाभादि बीजगणित में दोष दर्शन, भावित गणित में चमत्कार दर्शन, **ग्रहगणित** में भगणोपपत्ति दर्शन, युगचतुष्टय सहस्र में ब्रह्मादिक की उत्पत्ति, ग्रहों में उदयान्तर गणित संस्कार का आविष्कार, लघुज्या प्रकार से ज्या साधन, तात्कालिक भोग्यखण्ड साधन, तात्कालिक ग्रहगति साधन, कोणशङ्कु का एक ही प्रकार के एक वार से कोणशंङ्कु का साधन, एक ही सिद्धान्त से सर्वदिक् छाया साधन, प्रश्नाध्याय और उनके स्पष्टीकरण की युक्ति, सूर्य-चन्द्र ग्रहण में भूमा लम्बन, इष्टकालिक ग्रास साधन, स्पष्टशरज्ञान, अयनाक्षकर्म साधन, स्पष्टक्रान्तिज्ञान, नित्योदित नक्षत्र स्वरूप वर्णन, पाताधिकार में चन्द्रगोल अयन सन्धि गणित साधन, **गोलाध्याय** में भूपृष्ठ साधन की उपपत्ति, लल्ल खण्डन, ६६ अंश अक्षांश से अधिक अक्षांश देशीय भूपृष्ठ देशों का विशेष विचार लल्लाचार्य के उत्क्रम ज्या से वलन साधन का त्रुटि प्रदर्शन, यन्त्राध्याय में अनेक यन्त्रों का निर्माण, ग्रहवेध वर्णन, महाप्रश्न करण के साथ प्रश्नाध्याय में जटिल प्रश्नों की समाधान युक्ति इत्यादि गणितज्ञों के लिए **भास्कराचार्य** का अद्‌भुत गणित कौशल चिरस्मरणीय ही नहीं अपितु मार्गदर्शक है और रहेगा। इन सबका विस्तृत वर्णन पूर्व में हो चुका है।

भास्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों का संक्षिप्त इतिवृत्त

भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में 'भास्करावतार' भास्कराचार्य के उपरान्त उन जैसा विद्वान या मौलिक ग्रन्थकार न हो सका, तब भी आचार्य गणेश, मल्लारि, रंगनाथ, मुनीश्वर, कमलाकर भट्ट, बापूदेव शास्त्री एवं सुधाकर द्विवेदी ने अनेक शोधपूर्ण ग्रन्थ रचना कर ग्रहगणित ज्योतिष को आगे वर्द्धमान किया। भास्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों में महादेव, ज्ञानराज, गणेश, मल्लारि, रंगनाथ, श्री विश्वनाथ, नृसिंह, मुनी-

श्वर, कमलाकर भट्ट, जगन्नाथ, बापूदेव शास्त्री एवं सुधाकर द्विवेदी आदि प्रमुख ज्योतिष जगत की विभूतियाँ हुईं। इन सबका संक्षिप्त इतिवृत्त नीचे दिया जा रहा है—

महादेव—शके १२३८ (ई० स० १३१६) में पितामह आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य की सिद्धांत शिरोमणि के आधार पर महादेव ने लाघव प्रकार से ग्रहसाधन 'महादेव सारणी' निर्मित की है।

इसी सारणी की आकृति रूप 'महादेवी' नाम की अन्य सारणी मदनसूरि शिष्य, मलयेन्दुसूरि का गुरु, फिरोजशाह तुगलक नामक यवन बादशाह के प्रधान सभा पण्डित नृसिंह दैवज्ञ ने १४८० (ई० सन् १५५८) में उत्तर-दक्षिण ध्रुव द्वय दृष्टि से विषुवद्वत्त के घरातलीय भू पृष्ठ पर सभी वृत्तों को परिणामित कर 'यन्त्रराज' नामक यन्त्र और गन्थ की रचना की है। इन्हीं के शिष्य मलयेन्दुसूरि ने उदाहरण स्वरूप टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में ५४ विकला अयनांश गति मानी गई हैं, जो प्रायः सूर्य सिद्धान्त से मिलती है। यह ग्रन्थ पारसीक भाषा के ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद प्रतीत होता है।

श्री महादेव—श्री महादेव गोदातीर त्र्यम्बक नामक राजा की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। ब्रह्मसिद्धान्त और आर्यभट्ट के अनुसार शक १२७९ (ई० सन्-१३५७) में 'कामधेनु' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

श्री गङ्गाधर—विन्ध्याचल के दक्षिण सगर नगर निवासी चन्द्रभट्ट के पुत्र श्री गङ्गाधर ने शके १३५६ (ई० सन् १४३४) में वर्त्तमान प्रचलित सूर्य सिद्धान्त के अनुसार 'चान्द्रमानाभिधान' नामक ग्रन्थ रचना की है।

श्री मकरन्द—शके १४०० (ई० सन् १४७८) में सूर्य सिद्धान्त गणित के अनुसार पञ्चाङ्ग साधनोपयोग ग्रन्थ की रचना अपने ही नाम से 'श्री मकरन्द सारणी' की रचना की है। मकरन्द सारणी प्रायः उत्तर भारत में सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है।

श्री केशव—शके १३७८ (ई० सन् १४५६) में कौशिक गोत्रीय श्री कमलाकर के पुत्र, श्री वैद्यनाथ के शिष्य और प्रसिद्ध गणेश दैवज्ञ के पिता का नाम श्री केशव दैवज्ञ है। पश्चिम समुद्र तटवर्ती नन्दिग्राम में इनका जन्म हुआ था। इनकी अनेक ग्रन्थ रचनाओं में, ग्रहकौतुक, वर्षग्रहसिद्धि, तिथिसिद्धि, जातक पद्धति, जातक पद्धति विकृत्ति, ताजक पद्धति, सिद्धान्त वासना पाठ, मुहूर्त्त तत्व, कुण्डाष्टक लक्षण, गणित दीपिका और कायस्थादि धर्म पद्धति विशेष प्रसिद्ध हैं।

लक्ष्मीदास–उपमन्यु गोत्रीय श्री केशव पौत्र लक्ष्मीदास शके १४४२ (ई० सन् १५२०) में श्री भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की उदाहरण सहित के टीकाकार हुए हैं।

ज्ञानराज—ज्ञानराज ने शके १४२५ (ई० सन् १५०३) में 'सिद्धान्त कुमार' नामक ग्रहगणितीय ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। इनमें स्थल विशेष पर पुराणमत समर्थन के साथ भास्कराचार्य-मत का खण्डन भी मिलता है।

ज्ञानराज ने भास्कराचार्य के शिरोमणि ग्रन्थ का खण्डन, "चन्द्रविम्ब सूर्य किरण सम्बन्ध से दृश्य नहीं होता"—इस तरह किया है। इस प्रकार ज्ञानराज भास्कराचार्य के शुक्लाङ्गुल साधन के अवसर पर "तरणि किरणसङ्गादेषपीयूषपिण्डो" सूर्याभिमुख चन्द्रविम्ब उज्जवल एवं विपरीत में कृष्ण से शुक्लाशुक्ल चन्द्रविम्ब को दृश्यादृश्य बिम्ब सम्पात जन्य शृङ्गाकृति जैसे सूक्ष्म गणित सिद्धान्त इत्यादि का खण्डन किया है।

श्री गणेश—उक्त खगोल गणितज्ञ आचार्यों की परम्परा में प्रकृत श्री गणेश के पिता व गुरु केशव माता लक्ष्मी के गर्भ में श्री भगवान गणेश के अवतार स्वरूप गणेश दैवज्ञ का जन्म शके १४२९ (ई० सम् १५०७) में हुआ। गणेश ने अपनी तेरह वर्ष की छोटी अवस्था में ही ग्रहलाघव करण ग्रन्थ की रचना कर ली थी। वह चिरात जनश्रुति प्रसिद्ध है। ग्रहलाघव करण ग्रन्थ के आरम्भ में शक १४४२ से अहर्गण साधन किया है, जिससे १४४२-१४२९ = १३ वर्ष ज्ञात होता है।

ग्रहलाघव ग्रन्थ के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि लम्बे-चौड़े अरबों संख्या के अङ्कों का अपवर्त्तनाङ्क समझ कर उनके स्थान पर छोटे अपवर्त्तित अंकों के माध्यम से, तथा ज्याचाप की क्लिष्ट गणित पद्धति के स्थान पर सर्वसुलभ लघु प्रणाली का प्रचलन के कारण से इस ग्रहसाधन ग्रन्थ की 'ग्रहलाघव' संज्ञा हुई है।

आचार्य गणेश ने—ग्रहलाघव, लघुतिथि चिन्तामणि, बृहत्तिथि चिन्तामणि, सिद्धान्त शिरोमणि टीका, लीलावती टीका, विवाह वृन्दावन टीका, मुहूर्त्त तत्त्व टीका, श्राद्धादि-निर्णय, छन्दोऽर्णव टीका, सुधीरञ्जनी, तर्जनीयत्रम्, कृष्ण जन्माष्टमी निर्णय, होलिका निर्णय इत्यादि अनेक ग्रन्थ रचना से ज्यौतिष-शास्त्र का भण्डार भरा है। ज्यौतिष शास्त्र के प्रगल्भ पाण्डित्य विशेष के साथ-साथ आचार्य गणेश की अन्य रचनाओं से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि श्री गणेश में काव्य साहित्यादि का पूर्ण एवं व्यापक पाण्डित्य है।

बृहत्तिथ्यादि में स्वयं आचार्य गणेश का कथन उल्लेख्य है—

> ब्रह्माचार्यवसिष्ठकश्यपमुखैर्यत्खेटकर्मोदितं
> तत् तत्तत्कालजमेव तत्तमथ तद्भूरिक्षणेऽभूच्छ्लथम्,
> प्रपातोऽथ मयामुर कृतयुगान्तेऽर्कात् स्फुटं तोषितात।
>
> तच्चास्ति स्म कलौ तु सान्तरमथाऽभूच्चारु पाराशरम,
> तदज्ञात्वार्यभट्टः खिलं बहुतिथे कालेऽकरोत्स्फुटम्।
> तत् स्रस्तं किल दुर्गसिंहमिहिराद्यैस्तान्निबद्धं स्फुटम्॥
>
> तच्चाभूच्छिथिलं तु जिष्णुतनयनेऽकारि वेधात्स्फुटम्,
> ब्रह्मोक्त्याश्रितमेतदाप्यथ बहो कालेऽभवत् सान्तरम्॥

श्री केशवः स्फुटतरं कृतवान् हि सौरा—
सन्नमेतदपि पष्टिमिते गतेऽब्दे—
दृष्ट्वा श्लथं किमपितत्तनयो गणेश ।
स्पष्टं यथा ह्यकृत् दृग्गणितैक्यमत्र,
कथमपि यदिदं भूरिकाले श्लथं स्यात् ।
मुहुरपि परिलक्ष्येन्दुग्ग्रहाद्यृक्षयोग्यम्,
सदमलगुरुतुल्यप्राप्तबुद्धिप्रकाशैः ।
कथितसदुपपत्त्या शुद्धि केन्द्रे प्रचाल्ये ॥

वाराहचार्य ने अपनी पञ्च सिद्धान्तिका में १—पौलिश, २—रोमक, ३—वासिष्ठ, ४—सौर एवं ५—पैतामह इन पाँचों में सूर्य सिद्धान्त का गणित "स्पष्टतरः" सविता से सूक्ष्म कहा है। तदुपरि के आचार्यों ने सौर सिद्धान्त की अपेक्षा आर्यभट्ट का गणित अधिक सूक्ष्म माना। कालान्तर में आर्यभट्ट का ग्रहगणित स्थूल हो जाने से ब्रह्मगुप्त का वेघसिद्ध ग्रहगणित सूक्ष्म हुआ। किन्तु बहुकालान्तर में ब्रह्मगुप्त की स्थूलता को समझ कर श्री केशवाचार्य ने सौर एवं आर्य-सिद्धान्त के समीप का वेघसिद्ध ग्रहगणित स्वीकार किया है। इस उत्तरोत्तर गणित-सूक्ष्मता प्राप्ति के लिए आचार्य गणेश ने स्पष्ट दृग्गणितैक्य सिद्ध ग्रहगणित साधन पद्धति से भारतीय ज्यौतिष को समुज्ज्वल किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य गणेश का मत स्पष्ट है—"इस प्रकार के गणित के स्थूल भय को दूर करने के लिये सूर्यचन्द्रग्रहणादि प्रत्यक्ष दृग्योग्यता सम्पादनार्थ समय-समय पर वेधादि विचार से उत्पन्न त्रुटियाँ दूर करते हुए प्रश्न का समाधान करते रहना चाहिए। अर्थात् सूक्ष्मता प्राप्ति हेतु ग्रहों में संस्कारान्तर स्वीकृत करने चाहिए" इत्यादि स्पष्ट भी कहा है।

सम्प्रति यह आशा की जा सकती है कि वर्तमान दृश्य एवं अदृश्य पञ्चाङ्गों का भयंकर विवाद उक्त प्रमाणों से समाप्त हो जा सकेगा।

श्री विष्णु दैवज्ञ—शक १४७८ (ई० सन् १५५६) में दिवाकर दैवज्ञ के पुत्र, कृष्ण दैवज्ञ के अनुज श्री विष्णु दैवज्ञ ने सौरपक्षीय करण ग्रन्थ की रचना शके १५३० में की है, जिस पर उन्हीं के भाई श्री विश्वनाथ दैवज्ञ ने शके १५४५ में उदाहरण द्वारा गणित किया है।

श्री सूर्य—शके १४६३ (ई० सन् १५४१) में आचार्य भास्कर को लीलावती की टीका श्री सूर्य ने गणितामृत भूमिका नाम से की है।

कृष्ण दैवज्ञ—कृष्ण दैवज्ञ यवन बादशाह जहाँगीर के प्रधान सभापण्डित थे। इनके पिता का नाम श्री वल्लभ तथा माता का नाम गोजि था। इन्होंने "नवाङ्कुर" नाम की श्रीमद्भास्कराचार्य की बीजगणित पर टीका रची है।

रघुनाथ शर्मा—ओमभटात्मज श्री रघुनाथ शर्मा ने शके १४८७ (ई० सन् १५६५) में भास्कराचार्य और सूर्यसिद्धान्त मत से 'मणिप्रदीप' नामक करण ग्रन्थ की रचना की है।

श्री मल्लारि—शके १४९३ (ई० सन् १५७१) में श्री दिवाकर दैवज्ञ के पुत्रों में श्री कृष्ण एवं विष्णु दैवज्ञ से मल्लारि छोटे थे। अपने पिता दिवाकर दैवज्ञ से ज्यौतिष-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया था। श्री गणेश दैवज्ञ कृत 'ग्रहलाघव' करण ग्रन्थ की टीका श्री मल्लारि ने अत्यन्त शुद्ध एवं सूक्ष्म गणित साधिका उपपत्ति के साथ की है। श्री गणेश दैवज्ञ के समान ही गणित गोल वैदुष्य की असाधारण प्रतिभा के साथ श्री मल्लारि में भी काव्य-साहित्य का प्रौढ़ पाण्डित्य और गणित की सूक्ष्मता स्पष्ट परिलक्षित है।

मल्लारि ने ग्रहलाघव की उपपत्ति में यत्र-तत्र-सर्वत्र अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों के उदाहरण की अपेक्षा श्री भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि के उद्धरणों का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

श्री रङ्गनाथ—श्री रङ्गनाथ का शके १४९५ (ई० सन् १५७३) में श्री काशी में जन्म हुआ। इनके पिता का नाम श्री दैवज्ञ तथा माता का नाम गोजि था। कृष्ण दैवज्ञ के अनुज तथा सिद्धान्त शिरोमणि के मरीचि भाष्य रचयिता श्री मुनीश्वर के पिता श्री रङ्गनाथ हैं। इन्होंने शके १५२५ में सूर्यसिद्धान्त का सौरभाष्य 'गूढार्थप्रकाशिका' नाम से रचा है। रङ्गनाथ के समय यूरोपीय लोगों का भारत के साथ व्यापार वृद्धिगत हो चुका था। जैसा कि श्री रङ्गनाथ ने सूर्यसिद्धान्त के गोलाध्याय के यन्त्राधिकार के २२वें श्लोक की टीका में स्पष्ट लिखा है—

"पारदाम्बुसूत्राणि शुल्बतैलजलानि च।
बीजानि पांसवस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः॥" एवं

२२ श्लोक की टीका में—**"इयं स्वयंवहविद्या समुद्रान्तरनिवासिजनैः फिरंगाख्यैः सम्यगभ्यस्तेति॥"**

श्री रङ्गनाथ के उक्त स्पष्टीकरण से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय यूरोपीय लोगों का भारत में गमनागमन बाहुल्य हो चुका था। सूर्यसिद्धान्त की रङ्गनाथकृत उपपत्तियों में प्रायः श्री भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि के सिद्धान्त को बहुलता से उद्धृत हैं।

शके १५२५ चैत्र शुक्ल पक्ष चतुर्दशी, बुधवार की रात्रि में श्री सूर्योदयादिष्ट घटिका ४२।३० में प्रसव दुःख की असह्य वेदना से पीड़ित पत्नी के दुःख की उद्विग्नता से श्री रङ्गनाथ दैवज्ञ ने "दुःख निवृत्त हो" सूर्य-सिद्धान्त की व्याख्या मैं ही लिखूंगा।.....ऐसी प्रतिज्ञा की ही थी कि उसी क्षण ग्रहगणित गोलज्ञ, सिद्धान्त शिरोमणि के मरीचि भाष्य-

कार श्री मुनीश्वर, अपर नाम "विश्वरूप" ने जन्म लिया था। अतएव श्री रङ्गनाथ दैवज्ञ ने अपने ग्रन्थ "गूढ़ार्थप्रकाशिका" को मुनीश्वर का सहज (भाई) भी कहा है।

रङ्गनाथकृत सौरभाष्य की टिप्पणी में उल्लिखित है—

"यत्स्मृत्याभीष्टकार्यस्य निर्विघ्नां सिद्धिमेष्यति-
नरस्तं बुद्धिदं वन्दे वक्रतुण्डं शिवोद्भवम्।
पितरौ गोजिवल्लालौ जयतोऽम्बाशिवात्मकौ
याभ्यां पञ्चसुता जाता ज्योतिःसंसार हेतवः।
सार्वभौमजहाँगीरविश्वास्पदभाषणम्
यस्य त भ्रातरं कृष्णं बुधं वन्दे जगद्गुरुम्
नाना ग्रन्थान् समालोक्य सूर्यसिद्धान्तटिप्पणम्
करोमि रङ्गनाथोऽहम् तद्गूढार्थं प्रकाशकम्।"

और ग्रन्थ समाप्ति पर—

"भागीरथी तीर संस्थे शम्भोवार्राणसी पुरे,
बल्लालगणको रूद्रजपासक्तोऽभवद्बुधः।
तस्यात्मजापञ्चगुणाभिरामा ज्येष्ठः स रामः सकलागमज्ञः।
येनोपपत्तिः स्वधिया नितान्तं प्रकाशिताऽनन्त सुधाकरस्य॥
ततः स कृष्णो जहांगीरसार्वभौमस्य सर्वाधिगतप्रतिष्ठः।
श्रीभास्करीयं विवृत्तं तु येन बीजं तथाश्रीपतिपद्धतिः सा॥
गोविन्दसंज्ञस्ततस्तृतीयः तस्यानुजोऽहं गुरुलब्धविद्यः,
विश्वेशतत्पदनिविष्टचेताः काशी निवासी सकलाभिमान्य-
श्रीरङ्गनाथोऽर्कमुखोस्थ शास्त्रे गूढ़प्रकाशाभिधटिप्पणं सः
कृत्वा महादेवबुधाग्रजोऽथ विश्वेश्वरायार्पितवान् सुवृद्धयै
शके तत्वतिथ्युन्मिते चैत्रमासे सिते शम्भुतिथ्यां बुधेऽर्कोदयान्मे
दलाढ्यद्विनाराद्गनाडीषु जातो मुनीश्वरार्कसिद्धान्तगूढ़प्रकाशौ
गूढ़प्रकाशकं दृष्ट्वा रङ्गनाथभवं भुवि।
मुनीश्वरस्य सहजं लभन्तां गणकाः सुखम्॥"

श्री विश्वनाथ—शके १५०० (ई० स० १५७८) दिवाकर पुत्र, विष्णु कृष्ण मल्लारि से सर्व कनिष्ठ हैं।

सूर्य सिद्धन्त, सिद्धान्त शिरोमणि, नीलकण्ठी, विष्णुकरण **ग्रहलाघव** मकरन्द और अनन्तसुधार आदिक ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार ज्यौतिर्विद् हुए हैं इन्होंने गणित क्रम-दर्शन पूर्वक उदाहरणों के द्वारा उक्त ग्रन्थों को समलंकृत किया है।

सभी उदाहरणों से इनका प्रखर वैदुष्य स्पष्ट प्रतीत होता हैं। ग्रहलाघव ग्रन्थ के उदाहरणों से तो इनमें असाधारण गोल गणित का पाण्डित्य झलकता है।

नृसिंह दैवज्ञ—शके १५०८ (ईसवी १५८६) कृष्ण दैवज्ञ पुत्र दिवाकर दैवज्ञ का पिता, विष्णु दैवज्ञ और मल्लरि पिता के अनुजों से ज्योविद्या के अध्ययन के साथ २५ वर्ष आयु में सूर्य सिद्धान्त की सौरभाष्य नाम की और ३५ वर्ष में भास्करीय शिरोमणि टीका वासनावार्तिक नाम की सविशेष टीका रची है।

ग्रह वेध करने में प्रवीण थे यन्त्रों में, मयूर यन्त्रब्रह्मचारियंत्र शंख यन्त्र, मेषाज युद्धयन्त्र, शंखवादन यन्त्र, घण्टापटहादिवादन यन्त्र, बानर यन्त्र घटी यन्त्र और अनेक यन्त्रों में हंसादि यन्त्र स्वयंवह गोल यन्त्र आदि बहुत यन्त्रों का उल्लेख किया है।

नीलकण्ठ—आचार्य नीलकण्ठ ने शके १५०९ (ई० स० १५८७) में पारसीक एवं अरवीक शब्द मिश्रित ताजकमत के तीन तन्त्रों से 'ताजिक नीलकण्ठी' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का उपयोग वर्षफल बनाने मे होता है। उक्त ग्रन्थ के द्वारा आचार्य नीलकण्ठ का ग्रहगणित गोलविषयक पाण्डित्य भी सिद्ध होता है। सुधाकर द्विवेदी के अनुसार इन्होंने 'जातक पद्धति' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

रामदैवज्ञ—ये आचार्य नीलकण्ठ के छोटे भाई थे। इन्होंने शक १५५८ में प्रसिद्ध 'मुहूर्त्त चिन्तामणि' ग्रन्थ की रचना की। एक करण ग्रन्थ 'रामविनोद' भी इन्होंने लिखा, इसमें २८० श्लोक हैं।

श्री मुनीश्वर—शके १५२५ (ई० स० १६०३) में सौरभाष्य रचयिता आचाय रंगनाथ दैवज्ञ पुत्र 'मुनीश्वर' जिनका अपरनाम 'विश्वरूप' भी है, उत्पन्न हुये। आचार्य मुनीश्वर के इतिवृत्त के सन्दर्भ में यहाँ विशेष वर्णन आवश्यक समझकर प्रस्तुत किया जा रहा है क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिरोमणि' का यह 'मरिचि' भाष्य इन्हीं की ज्यौतिष जगत को अति महत्वपूर्ण देन है।

'मरीचिटीकाकार' आचार्य मुनीश्वर परम्परा से ज्योतिर्विद्या में पूर्ण मर्मज्ञ थे। बाल्यजीवन से ही उनकी बुद्धि ज्योतिर्विद्या की ओर अग्रे प्रस्फुटित होती थी। इसका एक प्रबल हेतु यह भी है कि मुनीश्वर के पिता श्री रंगनाथ भी ऊँचे स्तर के ग्रहगणितज्ञ हो चुके थे। सूर्य सिद्धान्त पर सर्वप्रथम रंगनाथ कृत सौरभाष्य अपना विशिष्ट महत्व रखता है। अतएव वंश परम्परा में संस्कार से आचार्य मुनीश्वर की ग्रहगणितगोल में तो असाधारण प्रतिभा होनी ही चाहिये थी साथ ही न्याय, काव्य, व्याकरण, प्रभृति शास्त्रों में भी उनका अशेष पाण्डित्य था।

आचार्य मुनीश्वर ने सूर्य सिद्धान्त के भगणों के आधार से शके १५६८ (ई० स० १६४६) में 'सिद्धान्त सार्वभौम' नामक ज्यौतिष सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। स्वरचित

ग्रन्थ की स्वाशय प्रकाशिनी नाम की टीका भी स्वयं मुनीश्वर ने लिखी। इसके अलावा आचार्य मुनीश्वर ने निष्टार्थदूती नाम की लीलावती की टीका, पाटीसार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ एवं भास्कराचार्य कृत सिद्धान्तशिरोमणि की 'मरीचि' नाम की टीका लिखी।

मरीचि भाष्यकार, आचार्य मुनीश्वर भास्कराचार्य के परम भक्त थे, उन्होंने सिद्धान्त सार्वभौम में स्वयं कहा है—

"गूढं स्थूलं स्व सिद्धान्तं मत्वा यस्तच्छिरोमणिम्।
कृतवान्मनुजव्याजादसौ जयति भास्करः।"

'भास्कराचार्य मनुष्य रूप से अवतरित हैं।' ऐसा उक्त कथन से स्पष्ट है। भास्कराचार्य के प्रति मुनीश्वर की यह अनुपम भक्ति, ग्रहगोल मर्मज्ञ सिद्धान्त तत्व विवेककार 'भट्ट कमलाकर' को रुचिकर नहीं हुई। जिसका परिणाम यह भी हुआ कि कमलाकर भट्ट के छोटे भाई श्री रंगनाथ ने मुनीश्वर कृत क्षेत्रभङ्गी का कमलाकर की आज्ञा से खण्डन कर दिया। इस खण्डन का भी खण्डन प्रकार मुनीश्वर का उपलब्ध है एवं किंवदन्ती जो सही है कि माघ मेला प्रयाग के कुम्भ के अवसर पर जहाँ भारत दिग्दिगन्त के महामनीषी शास्त्र पारंगतों में शंकराचार्य प्रभृत्ति सभी आचार्यों का सभागम होता है, वहीं उसी अवसर पर आचार्य मुनीश्वर एवं भट्ट कमलाकर में आचार्य भास्कर की 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ के विषय पर-परस्पर दीनों में शास्त्रार्थ खण्डन-मण्डन हुआ। भारतीय खगोल ग्रह गणितशास्त्र के लिए यह घड़ी उत्तम रही। क्योंकि इस शास्त्रार्थ के पश्चात् ही आचार्य मुनीश्वर ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ की अनुपम 'मरीचि' टीका लिखी एवं भट्ट कमलाकर ने खगोल ग्रहगणित के बृहद्-आकर ग्रन्थ 'सिद्धान्ततत्वविवेक' की रचना कर भारतीय ज्यौतिष को आगे वर्द्धमान किया। सम्भवतः मुनीश्वर एवं कमलाकर भट्ट का उक्त शास्त्राथं भास्कराचार्य से आविष्कृत उदयान्तर ग्रह गणित कर्म में हुआ होगा। वस्तुतः भास्कराचार्य से आविष्कृत यह उदयान्तर गणित कर्म अकाट्य है, अखण्डनीय है एवं ग्रह गणित में आचार्य भास्कर की सुसूक्ष्म देन है।

'सिद्धान्तशिरोमणि' की आचार्य मुनीश्वर की 'मरीचि' नाम की तो टीका है, किन्तु प्राचीनों के बहुत मतों के साथ-साथ ग्रहगोल का निःशेष पाण्डित्य और अनेक सूक्ष्म कथनों के साथ अत्यन्त सुन्दर न्याय (तर्क) शास्त्र की सरिणी से 'सिद्धान्तशिरोमणि' का ऐसा सुन्दर उत्तम भाष्य अभी तक यही 'मरीचि' सिद्ध हुई है। पण्डित परम्परा में 'मरीचि" ने टीका नाम से प्रसिद्धि नहीं पाई है अपि च इस मरीचि टीका ने भी ग्रहगणित गोल का एक ग्रन्थ रूप से अपना नाम सार्थक किया है। मेरे मत से, आचार्य मुनीश्वर कृत 'सिद्धान्तशिरोमणि' की 'मरीचि' टीका जो विशेष प्रसिद्धि पा चुकी है वह ग्रहगणित का अशेष पाण्डित्य सूचक एक सर्वोत्तम ग्रहगोल भाष्य कहा जाना चाहिये।

भास्कराचार्य कृत 'सिद्धांतशिरोमणि' ग्रन्थ की आचार्य मुनीश्वर द्वारा 'मरीचि' टीका अद्वितीय रही है। इसके अतिरिक्त भी अन्य टीकायें हुईं परन्तु मुनीश्वर कृत 'मरीचि' भाष्य ग्रहगोल गणित का एक अद्वितीय भाष्य है जो अभी तक इकाई स्थानीय है। गुरूणां गुरु महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने आचार्य मुनीश्वर के 'मरीचि' भाष्य के सन्दर्भ में अपना निम्न मत दिया है—"सिद्धान्तशिरोमणि की पदार्थ प्रकाशिका 'मरीचि' टीका के सदृश्य और टीकायें नहीं देखी गई हैं। मरीचि में बहुत से प्राचीनों की उक्तियाँ देखने योग्य हैं। इसलिए सभी ज्योतिर्वेताओं ने इसका आदर किया है।"

मुनीश्वर कृत 'मीरचि' भाष्य के देखने और मनन करने से यह स्पष्ट होता है कि निसंशय आचार्य मुनीश्वर में सर्वशास्त्रों की असाधारण प्रतिभा थी। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय के गहन सागर में सानन्द गोता लगाकर अनेक रत्न समूहों की प्राप्तिकर ली थी तथा वे अपार गणितार्णव के उभय पार्श्वदर्शी हो चुके थे उनकी गणित क्रिया ग्रन्थ देखने से स्वतः पाठकों को होगी। 'मरीचि' भाष्यकार मुनीश्वर की अभूतपूर्व खगोल ज्ञान और ग्रहगणितगोल की गवेषणा अभी तक अनुपम है। एक उदाहरण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है—

'मरीचि' भाष्य में ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की व्याख्या

उदय से अस्त तक ऊर्ध्वलोक से तथा अस्त से उदय तक अधोलोक जैसी युक्ति युक्त व्याख्या आज तक कहीं भी मुझे देखने को न मिली जो मुनीश्वर ने 'मरीचि' भाष्य में की है कि—उदय क्षितिज तक ६ राशियाँ दृष्ट गोल में होने से पृथ्वी का यह भाग ऊर्ध्व लोक एवम् अस्त से उदय तक पृथ्वी का अदृश्य भाग अधोलोक है। जैसे भारत के मध्य में मध्याह्न के समय में अमेरिका आदि के मध्य में, उस समय अर्धरात्रि गोल दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

मरीचि का मध्याह्न (शृंगोन्नत्ति अधिकार) 'अह्नो अहोरात्रस्य मध्यं मध्याह्नमिति व्युत्पत्त्या मध्याह्ने सूर्यास्तकाले' द्वितीया के दिन मध्याह्न में कदापि चन्द्रदर्शन सम्भव नहीं होता। सायंकाल में सूर्य चन्द्रमा के अन्तर १२° से अधिक की द्वितीया तिथि में सूर्यास्त के अनन्तर ही पश्चिम क्षितिज में दूज का चाँद देखा जावेगा अर्थात् चन्द्रदर्शन होगा, अतएव यहाँ पर मध्याह्ने पद का सायंकाल अर्थ कितना युक्ति युक्त है, पाठक स्वयं विचार करेंगे।

मुनीश्वर के 'मरीचि' भाष्य के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट होता है कि आचार्य भास्कर एवं भाष्यकार मुनीश्वर को सर्वशास्त्रों की जानकारी थी अर्थात वे सर्वशास्त्री पण्ड़ित थे। इससे इस कथन में लेशमात्र का भी संशय नहीं रह जाता है कि प्राचीन नैयायिक, वैयाकरण और मीमांसक, विद्वान आचार्य, ज्योतिश्शास्त्र के केवल फलित भाग पर ही अबाध गति से चलकर किसी शास्त्रीय निर्णय के निष्कर्ष पर सहसा सम्मति

नहीं देते थे, उन्हें अच्छी तरह विदित होता था कि बिना ग्रहगणित गोल के मर्म को समझे ही धर्मशास्त्रोक्त तिथि व्रत उपवास का सुदृढ़ निर्णय दे सकने में वे अपने को पूर्ण सफल समझने में संकोच करते थे। अतएव उन्हें ज्यौतिश्शास्त्र के मुख्य अंग ग्रह-गणितगोल ज्ञान के लिए सफल गणित स्कन्ध का अध्ययनाध्यापन अत्यावश्यक ही नहीं अपितु मुख्य होता था। आचार्य मुनीश्वर ने अपने मरीचि भाष्य में ग्रन्थ के समग्र आशय न्याय और मीमांसा शास्त्रों की सारणि वर्णित किये है। मुनीश्वर ने अपने भाष्य में मूल ग्रन्थ के सन्देह शब्दों में पाणिनीय व्याकरण में उन्हें उसी प्रकार ठीक कहा है जैसे—स्पष्टाधिकार में कोटिफलघ्नी भृदुकेन्द्र भुक्ति······स्पष्टाधिक······ की व्याख्या के प्रसंग में, दीर्घ ईकारान्तः कोटि शब्द······कृदिकारादक्तिनः······अर्थादित्ये केन्द्रेति वार्तिक वचनात्······'से कोटि शब्द को सम्यक् कहा है। मुनीश्वर के मरीचि भाष्य में साहित्य शास्त्र के रस की पदे पदे आनन्दानुभूति होती है।

मरीचि भाष्यकार मुनीश्वर ने सिद्धान्तशिरोमणि के 'मरीचि' भाष्य की रचना में संस्कृत वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ रत्नों का गम्भीर अध्ययन किया था तथा उन ग्रन्थों के समन्वय के सिद्धान्तों का इस भाष्य में जहाँ आवश्यकता हुई वहाँ उनके स्थल विशेष पर समन्वय अर्थ में यहाँ मरीचि में उद्धरण भी दिये हुये हैं जैसे—

नार्मदसिद्धान्त, तोडरानन्द, वशिष्ठसिद्धान्त, सूर्यसिद्धान्त, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, आर्य-सिद्धान्त, ब्रह्मसिद्धान्त, सिद्धान्तसुन्दर, श्रीपति भट्ट सिद्धान्त, सिद्धान्तशेखर, धीवृद्धितन्त्र, गुरुत्तम विष्णुदैवज्ञ, लघुवशिष्ठसिद्धान्त, चतुर्वेदाचार्य, गुरुतरबीजटीका, लक्ष्मीदासमिश्र, नवीनगणक, न्यायवार्त्तिक, पाणिनीय, कैय्यट, जातक पद्धति, पराशर, नीलकण्ठ, यन्त्रकिरणावलि, बृहत्सूर्यसिद्धान्त, सूर्यसिद्धान्त की भास्कर टीका (चन्द्रग्रहणाधिकार श्लोक २६ की "मरीचि" में जो उपलब्ध नहीं है), वशिष्ठ सूर्यसिद्धान्त, कर्णकुतूहल, सिद्धान्तशेखर, पृथूदक, सिद्धान्तरहस्य और श्रीगणेश दैवज्ञ प्रभृति अनेकों ग्रन्थों और अनेकों आचार्यों की उक्तियों के प्रमाण इस मरीचि भाष्य में यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

'मरीचि' भाष्य में श्रुति स्मृति, पुराणोपुराण, सभी शास्त्रवाक्यों का उल्लेख तो वाहुल्वेन ही मिलेगा।

अपने समय में मुनीश्वर प्रख्यात काव्य कोष व्याकरणाभिज्ञ तथा ज्यौतिष शास्त्र के गोल क्षेत्र विचारों में अत्यन्त प्रौढ़ थे। इसमें इनकी कृतियाँ ही प्रमाण हैं।
मरिचि के आदि में—

श्री रङ्गनाथामिध तात पादाः कृष्णानुजाः श्रीकमलाधिपास्ते।
त्रिस्कन्ध पारङ्गमरङ्गमल्लां बल्लालजा भूमितले जयन्ति॥

नारायणो गणितशास्त्रकलाकलापः ।
श्री सेवितः सकलशास्त्रसरोजभृङ्गः ।।

दैवज्ञकृष्णगुरुपादरतो गुरुर्मे
क्षमायां जयत्यखिल पण्डितवन्द्यपादः
मुनीश्वरापराख्येन विश्वरूपेण धृष्यते
बुद्धिशाणे मरीच्यर्थं तत्सिद्धान्त शिरोमणिः ।।

तात्पर्य यह है कि मुनीश्वर ने बुद्धिशाण में शिरोमणि को घर्षण करके उससे किरणें उत्पादित की हैं। ततः प्रभृति इस सिद्धान्तशिरोमणि का यह 'मरीचि' भाष्य वस्तुतः 'मरीचि' (किरण) का कार्य अनवरत कर रही है। यहीं पर मरीचि भाष्य के प्रकाशन न करने में मुझे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उसका विवरण भी प्रसंगत यहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"मरीचि" प्रकाशन की विषम कठिनाइयाँ

"मरीचि" भाष्य का सर्वप्रथम प्रकाशन सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगणिताध्याय के मेरे द्वारा लिखित सोपपत्तिक हिन्दी 'शिखा' और संस्कृत 'दीपिका' के साथ में सर्वप्रथम प्रकाश में आई है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वृहत् ग्रन्थागार सरस्वती भवन में उक्त मरीचि की पाण्डुलिपियाँ मेरे दृष्टिपथ में आईं जिसकी प्रतिलिपि प्राप्ति के लिए अनेक कठिनाइयों एवं गहन परिश्रम से उसकी प्रतिलिपि की जा सकी।

मरीचि की पाण्डुलिपि को पढ़ना समझना संगति बैठाना और प्राचीन हस्तलिपियों का आधुनिक वर्णलिपियों से समन्वय करना एक पहाड़ सा कठिन कार्य कैसे सफल हो सका, आज मुझे भी स्वयं आश्चर्य सा हो रहा है।

लेखक, अध्यापक, अध्यापन, अध्येतृ सम्बन्ध आदि से उस पाण्डुलिपि में अनेक त्रुटियाँ विद्यमान हैं जिनके संशोधन में मैं अपनी कठिनाइयों को किन शब्दों में लिखूं भविष्य के शोधकर्त्ता उन कठिनाइयों से अवश्य परिचित होंगे।

प्रस्तुत गोलाध्याय की मरीचि भाष्य में पूना से प्रकाशित गोलाध्याय के मात्र मूल और मरीचि के सहयोग से यथोचित सुविधा हो सकी जबकि उसमें भी स्थल विशेष पर संशय मुक्ति नहीं है।

श्री कमलाकर भट्ट—शके १५३८ (ई० स० १६१६) नृसिंह दैवज्ञात्मज श्री दिवाकर दैवज्ञ के अनुज और शिष्य कमलाकर १५८० (ई० स० १६५८) ने श्री काशी में प्रचलित वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के आधार पर ग्रहगोल गणित के बृहद आकर ग्रन्थ

"सिद्धान्त तत्व विवेक" की रचना की। सिद्धान्त विभाग में उक्त ग्रन्थ का बड़ा महत्व आज तक स्थापित है। मुनीश्वर व कमलाकर के पारस्परिक मतभेदों से, भास्कर, भक्त मुनीश्वर से शास्त्रार्थ में भास्कराचार्य की 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ के पदे-पदे वैदुष्य प्रदर्शन से असन्तुष्ट श्री कमलाकर भट्ट ने अपने 'सिद्धान्त तत्त्व विवेक' ग्रन्थ में श्री भास्कराचार्य से आविष्कृत गूढ़ गहन उदयान्तर जैसे गणित का (जिसका खण्डन सम्भव नहीं है,) खण्डन किया जिससे आज तक पराकाष्ठा की ग्रहगोल वैदुष्य सूचक कमलाकर भट्ट पर दैवज्ञ समाज की आस्था कम मानी जाती है। फिर भी सही मायने में भट्ट कमलाकर के 'सिद्धान्ततत्वविवेक' में अपूर्व कल्पना, अपूर्व खोज और अपूर्व नूतन युक्तियों का यत्र तत्र सर्वत्र समावेश हुआ है।

जगन्नाथ सम्राट—(शके १५७४, ई० स० १६५२) ये दाक्षिणात्य तैलङ्ग ब्राह्मण थे। जयपुर महाराज श्री जयसिंह की पण्डित सभा के प्रधान सभापण्डित थे। अरबी भाषा के "मिजास्ती" नामक ज्यौतिष सिद्धान्त ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद इन्होंने किया था, जिसका नाम "सिद्धान्त सम्राट्" है। अरबी भाषा के "युक्लेद" ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद भी इन्होंने शके १६४० (ई० स० १७१८) में किया था, जिसका प्रसिद्ध नाम "रेखागणित" है। "सिद्धान्त सम्राट्" ग्रन्थ में अरबदेशीय गणितज्ञों में "मिर्जा उलकू वेग" आदि यवनों की ज्योत्पत्ति और वेधादि विषय पर प्रकरान्तर से इन्होंने उपपत्तियाँ लिखी हैं। जयपुर के राजा जयसिंह ने नक्षत्र ग्रह वेध के लिए श्री काशी, अवन्ति (उज्जैन) और जयपुर में जो वेधालय स्थापित किये हैं उनकी रचना का आधार जगन्नाथ सम्राट के "सिद्धान्त सम्राज्य" नामक ग्रन्थ का स्थान विशेष रहा। निसन्देह ग्रह वेध परम्परा की इस देन का श्रेय जगन्नाथ सम्राट को है।

महामहोपाध्याय पं० बापूदेव शास्त्री—

शताब्दियों से प्रायः विशेष कर कमलाकर भट्ट के समय से (सन् १६५८ ई० से) क्षीणता की ओर जाते हुए गणित सिद्धान्त ज्यौतिष की जो स्थिति थी वह अत्यन्त शोचनीय थी। यत्र-तत्र ज्यौतिष फलित मात्र के साधारण जानकारों का बोलबाला था। ज्यौतिष की मूलभूत भित्ति इस गणित ज्यौतिष की नींव हिल चुकी थी, किन्तु इन शताब्दियों में गणित खगोल का गौरव बढ़ रहा था और अपने तीव्र वेग से वर्धमान पश्चिम गणित सागर की लहरें ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध से भारत में भी पहुँच चुकी थीं। लगभग सन् १८३१ से सन् १८३५ तक के बीच नागपुर पाठशाला में यूरोप देशीय बीजगणित के साथ-साथ कान्यकुब्ज ढुण्ढिराज मिश्र से भास्करीय लीलावती और बीजगणित पढ़ाते हुए—ज्यौतिष के गणित धरातल में पूनानगर के महाराष्ट्र ब्राह्मण श्री सीताराम देव के पुत्र पं० नृसिंहदेव शास्त्री या पं० बापूदेव शास्त्री का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८३८ में एजेण्ट लान्सटिन विलिकिन्सन् (Mr. Wilkinson) साहब ने इन्हें गणित में निपुण

देखकर, सिहोर नगर के सेवाराम ज्यौतिषी के पास अध्ययन के लिए भेजा। वहाँ दो वर्ष तक रेखागणित आदि पढ़कर एजेण्ट विल्किन्सन साहब की अनुकम्पा से ता० १५ फरवरी, सन् १८८२ में गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस में इनकी नियुक्ति ज्योतिषाध्यापक पद पर हो गई। श्री पं० लज्जाशंकर के निधन के बाद ये प्रधान ज्यौतिश्शास्त्राध्यापक नियुक्त किये गये। इन्होंने [मुद्रित] (१) रेखा गणित प्रथम अध्याय, (२) त्रिभुज गणित, (३) त्रिकोणमिति, (४) सायनवाद, (५) प्राचीन ज्यौतिषशास्त्राचार्यों का आशय वर्णन, (६) १८ प्रकार के विचित्र प्रश्नों का सोत्तरसंग्रह, (७) तत्त्वविवेक परीक्षा [अमुद्रित], (८) काशी के मान मन्दिर यन्त्र का वर्णन, (९) दशमलवादि गणित, (१०) चलन कलन के सिद्धान्त मात्र ज्ञान के २० सिद्धान्त, चापीय त्रिकोण के कुछ सिद्धान्त, (१) ग्रन्थोपयोगी कुछ क्रोड पत्र, (१२) यन्त्र राजोपयोगी परिलेखादि, (१३) हिन्दी भाषा में पाठशालीय छात्रोपकार के लिए, बीजगणित, (१४) फलित विचार, (१५) सायनवाद का अनुवाद, (१६) पञ्चाङ्गोपपादन, (१७) अंग्रेजी में सूर्य सिद्धान्त का अनुवाद, (१८) भास्करीय सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय पर टिप्पणी, (१९) गणित गोलाध्याय की केवल टिप्पणी, (२०) [सन् १८७५-१८८७ तक] यूरोप्रीय देशीय नाटिकल अल्मनाक [Nauticel almanack] पञ्चाङ्गों के अनुसार काशी में संस्कृत भाषा में पञ्चाङ्ग निर्माण भी किया। सन् १८६४ में ग्रेटब्रिटेन व आयरलैण्ड के रायल एशियाटिक सोसाइटी (Royal Asiatic Socity of Great Britain and Irelaud) का आदरणीय सुसभा सदस्य तथा सन् १८६८ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य, सन् १८६९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट सदस्य, (Calcutta University fellow) तथा सन् १८७८ ई० में सी० आई० ई० (Compenian of the order of the Iudian Empirc) नामक पदवियों से ये विभूषित हुए। जुबिली के अवसर पर महा महोपाध्याय की पदवी भी इन्हें प्राप्त हुई। आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के भी सभा सदस्य थे। शरीर की शिथिलता के कारण १ अप्रैल सन् १८८९ ई० को आधे वेतन पर प्रधान गणित ज्यौतिष के पद का त्याग कर दिया तथा विश्राम की स्थिति में होकर काल यापन करने लगे। अन्ततः सन् १८९० ई० में शरीर परित्याग कर परलोकवासी हुए। पाश्चात्य गणित के साधारण ज्ञान से ही भारतवर्ष में इनकी विशेष ख्याति हो गई थी। इसलिए ये बड़े भाग्यवान् समझे जाते थे। यूरोपदेशीय गणित की पद्धति से इन्होंने चन्द्र ग्रहण का परिलेख बनाया जिसका अवलोकन कर जम्मू काश्मीर नरेश श्री रणवीर सिंह वीरपुंगव ने इन्हें एक हजार (१०००) मुद्रा से पुरस्कृत कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। तब से पञ्चाङ्गों में प्रायः इसी पद्धति के परिलेख लिखे जाते हैं। बालबोध के लिए बीजगणित के वर्ग समीकरण को देखकर पश्चिमोत्तर देश के गवर्नर (Goverer of N. W. P.) ने इन्हें २०००) दो सहस्र मुद्रा पुरस्कार स्वरूप प्रदान

किया था। शक सम्बत ८८८ सन् ईसवी ९६६ चैत्र शुक्ल पञ्चमी गुरुवार के दिन इन्होंने (सृष्टि से सन् ९६५ तक के दिनों की संख्या) अहर्गण बनाया। इसी अहर्गण पर डा० श्री कर्न महाशय ने इन्हें 'भारतभूषण' की पदवी दिला दी थी। इन कारणों से इस बीच गणितज्यौतिष पर विद्वानों की आस्था स्थिर एवं सुदृढ़ हो रही थी।

महामहोपाध्याय पं० श्री सुधाकर द्विवेदी—

गुरूणां गुरु महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी का जन्म सन् १८५५ ई० में वरुणा नदी के तट पर श्री काशी (खजुरी) में हुआ था। बाल्यावस्था में दुर्गादत्त जी से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन के बाद त्रिस्कन्ध ज्योतिर्वेत्ता श्री देवकृष्ण जी से लीलावती (ज्यौतिष) पढ़ने लगे तथा महामहोपाध्याय श्री बापूदेव शास्त्री जी से गणित ज्यौतिष का अध्ययन किया।

इस प्रकार सन् १८५५ से १९१० ई० तक निरन्तर अध्ययन अध्यापन और गणित गोल के अनेक ग्रन्थों पर शोधपूर्ण व्याख्या, उपपत्ति के साथ-साथ संहिता होरा स्कन्धों पर भी सविशेष शोधात्मक सुव्याख्यान के साथ स्वरचित स्वतन्त्र ग्रन्थों से स्कन्ध त्रयात्मक ज्यौतिष धरातल में तब से आजतक सुधाकर द्विवेदी का स्थान इकाई पर ही है।

पं० बापूदेव शास्त्री जैसे विख्यात गणितज्ञ के सान्निध्य से तथा सरस्वती भवन के पुस्तकालय के कर्मचारी होने से भी, अनेक ग्रन्थों के अवलोकन मनन पठन आदि की गणित शास्त्र की विलक्षण प्रतिभा से विद्वानों को आकृष्ट करने वाली सुधाकर की असाधारण प्रतिभा भी उन्हीं दिनों शास्त्रीय विवादों के गहन शास्त्रार्थों में यत्र तत्र सुनाई दे रही थी, एक अध्यापक के रूप में और दूसरे छात्र के रूप में शास्त्रीय संघर्ष उत्तरोत्तर वृद्धिगत था। श्री सुधाकर जी ने संस्कृत वाङ्मय के ज्यौतिषशास्त्र का संस्कृत भाषा के माध्यम के साथ ही साथ हिन्दी भाषा की भी सराहनीय पाण्डित्यपूर्ण योग्यता प्राप्त करते हुए आँग्ल भाषा पर भी अपना पर्याप्त अधिकार कर लिया था।

गणित ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों के एक से एक नवीन परिष्कारों से इनके मस्तिष्क में एक अभेद्य गढ़-सा बन गया था। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के अध्यापक ज्यौतिषियों से पढ़ने के बाद सभी छात्र इनके पास आने लग गए थे और इन्होंने सबको निःशुक पढ़ाने का कार्य आरम्भ कर दिया था। सुदूर, बंगाल, मिथिला, गुजरात, काश्मीर, नैपाल, कूर्माचल, प्रभृति देश देशान्तर के शिष्यों में सुधाकर जी कि शास्त्रीय गुरुगरिमा व्याप्त हो गयी थी।

ज्यौतिष शास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन के साथ उनका प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। इस समय गवर्नमेण्ट क्वीन्स कालेज बनारस के गणित तथा अंग्रेजी के योग्य विद्वान् डा० जी थीबो महोदयजी थे। श्री सुधाकर ने अपने अदम्य उत्साह एवं

अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप इंगलिश भाषा का भी अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था और तत्कालीन प्रौढ़ इंगलिश गणितज्ञों में श्री सुधाकर जी का परस्पर पौर्वात्य और पाश्चात्य गणितों की विवेचना भी हो जाया करती थी।

इसी बीच ई० सन् १८८३ के राजकीय संस्कृत कालेज बनारस में ऐशिया की हस्त लिखित पुस्तकों की सबसे बड़ी लाइबरेरी (पुस्तकालय) 'सरस्वती भवन' में पं० सुधाकर जी की नियुक्ति पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर हुई थी। ता० १६-२-१८८७ को महारानी विक्टोरिया जुबुली महोत्सव के अवसर पर इस महान् खगोल शास्त्री को महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित किया गया था।

सन् १८८९ में पं० बापूदेव शास्त्री के अवकाश ग्रहण के पश्चात् इनकी उत्तम वैदुष्य पूर्ण शास्त्र सेवा पुरस्कार में इन्हें उनके स्थान पर गणित का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। बनारस क्वीन्स कालेज के गणित प्राध्यापक मिस्टर एम० एन० दत्त की नियुक्ति स्कूल इन्सपेक्टर पद पर हो जाने से मैथमेटिक और इन्डियन ऐस्ट्रानामी (Indian Astronomcy) के कक्षाओं को शिक्षण देने का गुरुतम कार्य (ऊँची कक्षाओं को गणित पढ़ाना) पं० सुधाकर जी को सौंपा गया था।

पहिले इनके वेष भूषा से छात्रों को कुछ अश्रद्धा सी हुई, किन्तु पहिले ही दिन के पढ़ाने से सर्व साधारण आश्चर्य चकित हो गये, और तदनुसार छात्र समुदाय बड़ी सावधानी से दत्त चित्त होकर बड़ी श्रद्धा से इनकी कक्षाओं में जाकर गणित पढ़ने लगे। बगलबन्दी, धोती और पगड़ी के वेश में गणित की ऊँची कक्षाओं में ऊँचे स्तर के परिष्कारों के साथ पाठ पढ़ाने वाला यही एक भारतीय था, जो ग्रहगोल गणित का विद्वान् ज्यौतिषी और काशी का एक प्रसिद्ध पण्डित था।

इनसे गणित पढ़ कर छात्रों का गणित में परिश्रम करने में मन लगता था और प्रायः सभी छात्र अच्छी श्रेणियों में उत्तीर्ण होते थे। सम्भवतः इस समय ये सब परीक्षाएँ कलकत्ता यूनीवर्सिटी से सम्बद्ध थीं।

संस्कृत तथा हिन्दी वाङ्मय में सुधाकर द्विवेदी रचित ग्रन्थ (गणित ज्यौतिष)

सर्व प्रथम श्री सुधाकर जी के रचित व शोधित ग्रन्थों की एक सूची का पाठकों के समक्ष उपस्थित करना उचित होगा।

(१) वास्तव विचित्र प्रश्नानि। (२) वास्तव चन्द्र शृङ्गोन्नतिः। (३) दीर्घवृत्त-लक्षणम्। (४) भाभ्रमरेखा निरूपणम्। (५) ग्रहणे छादकनिर्णयः। (६) यन्त्रराजः। (७) प्रतिभाबोधकः। (८) धराभ्रमे प्राचीन नवीनयोर्विचारः। (९) पिण्ड प्रभाकरः। (१०) सशल्यवाणनिर्णयः। (११) वृत्तान्तर्गत सप्तदश भुज रचना। (१२) गणक तर-

ङ्गिणी। (१३) दिङ्मीमांसा। (१४) द्युचरचारः। (१५) फ्रेंच भाषा से संस्कृत में बनाई हुई चन्द्रसारिणी तथा भौमादि ग्रहों की सारणी ७ खण्डों में (१६) १.१००००० लघुरिक्थ की सारिणी तथा एक एक कला की ज्यादिसारिणी। (१७) समीकरण मीमांसा (Theorey of Equetinos) दो भागों। (१८) गणित कौमुदी।

प्राचीन आचार्यों के—

सुधाकर द्विवेदी कृत भाष्य, टीका, उपपत्ति और अनेक मतो की मीमांसा के साथ परिष्कृत तथा तथ्य मत प्रदर्शन पूर्वक मुद्रित ग्रन्थ।

(गणित ज्यौतिष)

(१७) वराहमिहिरकृत पञ्चसिद्धान्तिका। (१८) कमलाकर भट्ट विरचितः सिद्धान्त तत्वविवेकः। (१९) लल्लाचार्यकृतशिष्यधीवृद्धिदतन्त्रम्। (२०) करणकुतूहलः वासना विभूषण सहितः। (२१) भास्करीय लीलावती टिप्पणी सहिता। (२२) भास्करीय बीज-गणितं टिप्पणी सहितम्। (२३) वृहत्संहिता भट्टोत्पल टीका सहिता। (२४) ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्तः स्वकृततिलक (भाष्य) सहितः। (२५) ग्रहलाघवः, स्वकृतटीका सहितः। (२६) याजुष ज्यौतिषं सोमाकर भाष्य सहितम्। (२७) श्रीधराचार्यकृत स्वकृतटीका सहिता च त्रिशतिका। (२८) करण प्रकाशः सुधाकर कृत-उपपत्ति सहितः। (२९) सूर्य-सिद्धान्तः सुधाकरकृत सुधावर्षिणीसहितः। (३०) सूर्यसिद्धान्तस्य-एका बृहत्सारिणी तिथिनक्षत्रयोगकरणानां घटीज्ञापिका। उक्त ये ग्रन्थ सर्वत्र सुलभ होते हुये भी अब आज कठिनता से उपलब्ध हैं। इनका पुनर्मुद्रण आवश्यक है।

हिन्दी भाषा में मुद्रित (गणित ज्यौतिष) ग्रन्थ

(३१) चलन कलन। (Defininition Calculus) (३२) चलराशिकलन। (Integral Calculus) (३३) ग्रहण। (३४) गणित का इतिहास। (३५) पञ्चाङ्ग विचार (३६) पञ्चाङ्ग प्रपञ्च तथा काशी की समय समय पर की अनेक शास्त्रीय व्यवस्था।

आज भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी हो गई है। भारतेन्दु कविवर्य्य बाबू हरिश्चन्द्र के साथ-साथ म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपने समय में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उच्च शब्दों में उद्घोषणा कर दी थी। तदनुसार द्विवेदी जी ने अपनी लेखनी को हृदय से हिन्दी की दिशा में भी घुमा कर निम्न लिखित कुछ ग्रन्थों को (अपने विशेष विचारों के साथ) मुद्रित किया था और अपनी मौलिक रचना से भी हिन्दी में ग्रन्थों को लिखा था। जैसे—(३७) भाषा बोधक प्रथम। (३८) भाषा बोधक द्वितीय भाग। (३९) हिन्दी भाषा का व्याकरण (पूर्वार्द्ध) (४०) तुलसी सुधाकर (तुलसी सतसई पर कुण्डलियाँ) (४१) महाराज "माणाघोश" श्री रुद्रसिंह कृत रामायण का मुद्रण।

(४२)"पद्मावत" १–३ खण्ड। (४४) माधव पञ्चक। (४४) राधाकृष्ण रामलीला (४५) तुलसीदास जी की विनय पत्रिका का संस्कृत में अनुवाद। (४६) श्री "भारतेन्दु" हरिश्चन्द्र की जन्म पत्री (नागरी प्रचारिणी में है। मुद्रित है।)

क्वीन्स कालेज बनारस में इस समय गणित की स्पेशल कक्षायें चलती थीं। मैथमेटिक्स और इण्डियन ऐष्ट्रानामी (Indian Astronomey) की कक्षाओं की शिक्षण देने का गुरुतम कार्य श्री सुधाकर जी को ही सौंपा गया। वैदुष्य के गाम्भीर्य एवं उच्च-स्तर के लेक्चरों से प्रभावित होकर बड़े बड़े अंग्रेज भी द्विवेदी जी की गुण गरिमा पर भक्ति प्रदर्शित करने लगे थे।

१९वीं शताब्दी से आज तक के ग्रहगणितज्ञों में सुधाकर द्विवेदी के ही शोधपूर्ण देन-अध्ययन-अध्यापन ग्रन्थ लेखन, प्राचीन महत्त्व के अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन, उनपर उनके अप्रतिम व्याख्यान जो विश्वविश्रुत है और प्रत्यक्ष भी हैं जिनका मुक्त कण्ठ से सभी भारतीय विद्वानों का हार्दिक से समादर आज भी होता आ रहा है।

तदुपरि सुधाकर द्विवेदी की शिष्य परम्परा के प्रातः स्मरणीय मेरे पूज्य १०८ श्री गुरुचरण पं० बलदेव पाठकजी, गणित खगोल विद्या के अप्रतिम प्रभावशाली श्री पं० गेंदालाल चौधरी, गुरुजी के ज्येष्ठ सुपुत्र स्वर्गीय मेरे गुरुभाई श्री पं० गणेशदत्त पाठक, श्री पं० मुरलीधर झा, श्री पं० बलदेव मिश्र, पं० अच्युतानन्द झा प्रभृति प्रसिद्ध खगोल ग्रहगणितज्ञ जो इस संसार में भौतिक रूप से नहीं रह गये किन्तु यथोचित उन लोगों के शोधपूर्ण कतिपय ग्रन्थ भी प्रकाशित एवं उपलब्ध भी हैं।

काश ! यह बीसवीं शताब्दी इस दिशाक्रम से क्यों विमुख हो गई यह शोचनीय है।

ऐसे ग्रहखगोलज्ञ विश्वविख्यात उक्त सुधाकर जी की फलित ज्योतिष पर कितनी आस्था थी (नहीं थी) विज्ञ पाठक इनसे विरचित 'गणकतरङ्गिणी" ग्रन्थ का अन्तिम भाग उपसंहार "आधुनिकाः ज्योतिर्विदः फलमात्रैकवेदिनः" देखकर समझ सकेंगे कि गणित स्कन्ध ज्ञानपूर्वक ही फलित का सदुपयोग होना चाहिए।

(महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी के जीवन और कृतित्व के पूर्ण विवरण के सन्दर्भ में "म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का जीवन एवं कृतियाँ" लेखक—केदारदत्त जोशी देखें।)

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित—

ज्यौतिष विषय के आमूल चूड वेद, पुराण, श्रुति, स्मृति के आधार से सिद्धान्त, संहिता और होरा तीनों स्कन्धों का सुन्दर विवेचन श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितजी ने अपने 'भारतीय ज्यौतिष' नामक रचित ग्रन्थ में किया है जो हिन्दी प्रकाशन ब्यूरो लखनऊ से प्रकाशित है और जिसमें प्रारम्भ से श्री पं० सुधाकर द्विवेदी तक के खगोल

विद्वान् गणितज्ञों एवं फलित ज्यौतिषियों का भी इतिवृत्त वर्णित है। निःसन्देह में ज्यौतिष के इतिहास आदि दृष्टि से पाठकों के लिए यह ग्रन्थ लाभाय है, साथ ही दीक्षित जी के अत्यन्त गहन अध्ययन और श्रम का परिचायक भी है।

इस प्रकार से श्री भास्कराचार्य के पूर्व और परवर्त्ती ग्रह गणितज्ञों एवं फलित ज्योतिर्विदों के संक्षिप्त परिचय से विज्ञ पाठक अवश्य लाभान्वित होंगे।

चिरप्रतीक्षित सिद्धान्तशिरोमणि 'ग्रहगोलाध्याय' भाग की सोपपत्तिक 'केदारदत्तः' व्याख्यान का हेतु इत्यादि

भास्कराचार्य कृत समग्र "सिद्धान्त शिरोमणि" तथा इसका आचार्यकृत स्वयं का "वासना" भाष्य एवं साथ में आचार्य मुनीश्वर की "मरीचि" टीका जिसको मैं "खगोल ग्रह गणित का मरीचिभाष्य" कह रहा हूँ, यह सभी विषय संस्कृत भाषा के माध्यम से लिखे गये हैं। मेरी समझ से "मरीचिभाष्य" में समस्त ग्रन्थ का निशेष ग्रहगोल पाण्डित्य की उपलब्धि के अनन्तर किसी भी अन्य व्याख्यान की संस्कृत वाङ्मय में आवश्यकता नहीं है। फिर भी एक अनिवार्य अत्यन्त आवश्यकता थी भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा "हिन्दी" माध्यम के एक बृहत्सोपपत्तिक व्याख्यान की।

राष्ट्रभाषा "हिन्दी" अति जाग्रत हो चुकी है, सर्वतो वर्द्धमान है एवं सारे राष्ट्र में व्यापक होती हुई विश्व के अन्य देश-देशान्तरों में प्रसिद्धि पा रही है, इसमें सन्देह का स्थान नहीं है। अतएव संस्कृत वाङ्मय के ज्ञान भण्डार को राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से यत्र-तत्र सर्वत्र प्रचारित एवं प्रसारित करना अत्यन्त आवश्यक है, इसी सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर उक्त ग्रन्थ के "मरीचि" संस्कृत भाष्य के बाद श्री भास्कराचार्य के खगोल ग्रहगणित के कौशलपूर्ण गूढ़ आशयों को हिन्दी माध्यम से "राष्ट्र को समर्पण किया जाय" इस प्रकार की ऐसी मेरी चिरप्रतीक्षित इच्छा थी, जो वार्धक्य के कठिन से कठिनतम समय से गुजरते हुये भी सफल हो रही है जिसे मैं श्रद्धारूपिणी माता अन्नपूर्णा और विश्वास का एकमात्र स्थल पिता रूप बाबा विश्वनाथ का आशीर्वाद समझता हूँ।

"सौधाकरीय" गुरु परम्परा से अधीत इस ग्रन्थ की अति महत्त्व की गणित की उपपत्तियाँ इस युग के अध्ययनाध्यापन में लुप्त प्रायः हो चुकी हैं उन्हें आज राष्ट्रभाषा हिन्दी माध्यम से प्रकाश में लाकर उक्त ग्रन्थ का सोपपत्तिक हिन्दी "केदारदत्तः" व्याख्यान जो मननशील विज्ञ पाठकों के लिए सन्तोषप्रद और रुचिकर भी अवश्य होगा। ऐसी मेरी शुभ आशा से यह प्रकाशन सफल हो पा रहा है।

ध्यान देने की बात है कि "सोपपत्तिक केदारदत्तः" व्याख्यान गुरुमुख से शिष्य-मुख तक का एक स्वतन्त्र व्याख्यान है जिसमें किसी भी व्याख्यान, व्याख्या और भाष्य

का सहयोग नहीं लिया गया है, सहयोग है गुरु परम्परा के उन गुरुवर्यों का (गुरुणां गुरु म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी के शिष्य प्राच्य एवं धर्म संकाय, का० हि० वि० वि० के प्रातः स्मरणीय श्री १०८ पूज्य गुरुचरण पं० बलदेव पाठक एवं १०८ गुरु श्री रामयत्न ओझा) जिनका भौतिक शरीर आज तो नहीं है किन्तु जो मेरे मानस मन्दिर में उनका भौतिक रूप और उनका अशेष खगोल पाण्डित्य आज तक पूर्णरूपेण मेरी बुद्धि में विद्यमान है, जैसा उन्होंने पढ़ाया था तदनुसार इस स्मृति के साथ ही अपने बौद्धिक ज्ञान, उपपत्तियों, तर्कों के साथ केदारदत्त की यह लेखनी सोपत्तिक "केदारदत्तः" व्याख्यान लिखने में सफल हुई है।

भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ प्रकाशन का बीज मेरी बुद्धि में अध्ययन काल से ही अङ्कुरित हो गया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या संकाय में ज्यौतिष गणित सिद्धान्त के अध्ययन के उपरान्त ब्रह्मर्षि महामना पं० मदनमोहन मालवीय (कुलपति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने गुरुवर्य पू० पं० बलदेव पाठक प्राध्यापक ज्यौतिष विभाग के सुझाव पर अनेक साम्प्रदायिक राजनीतियों का सामना करते हुए भी मेरी नियुक्ति प्राच्य विद्या संकाय के ज्यौतिष विभाग में १३ सितम्बर १९३८ में की। तत्पश्चात् अनेक असोढ्य संकटों का सामना करते हुए तथा गणित ज्यौतिष में शोध आदि भूरिश्रम के कार्यों को करते हुए सिद्धान्तशिरोमणि (ग्रहगणिताध्याय) की सोपपत्तिक "दीपिका" (संस्कृत) एवं "शिखा" (हिन्दी) व्याख्यान मैंने लिखी, जिसका प्रकाशन व्यय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा हुआ। समग्र यह ग्रहगणिताध्याय का प्रकाशन तीन भागों में हो सका है। प्रथम भाग में मध्यमाधिकार, द्वितीय भाग में स्पष्टाधिकार से त्रिप्रश्नाधिकार तथा तृतीय भाग में पर्व सम्भव से पाताधिकार तक के विषयों का वर्णन है। प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९६१ एवं द्वितीय, तृतीय भाग का प्रकाशन सन् १९६४ में हुआ है।

ज्यौतिष विभाग, का० हि० वि० वि० में गणित ज्यौतिष सिद्धान्त के आचार्य तक के छात्रों को सपरिष्कार ग्रन्थों के अध्यापन के साथ "सिद्धान्तशिरोमणि" के "ग्रहगणिताध्याय" भाग का प्रकाशन हो सका था। इस प्रकाशन से राष्ट्र में ज्यौतिष गणित शास्त्रानुरागी समाज को सन्तोष हुआ और मेरे प्रति गणित ज्यौतिष के शिष्य एवं विज्ञ पाठक वर्ग ने हार्दिक श्रद्धा प्रकट करते हुये यत्र तत्र सर्वत्र से श्री भास्कराचार्य के "सिद्धान्तशिरोमणि" के "ग्रहगोलाध्याय" का भी वैज्ञानिक पद्धति की भाँति से व्याख्यान लिखने का अनुरोध किया। किन्तु जन्मजात शारीरिक रोग से पीड़ित एवं अनेक अन्य कठिनाइयों के कारण "ग्रहगोलाध्याय" की सोपपत्तिक व्याख्यान न लिख सका था। जबकि इस बीच फलित ज्यौतिष के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सोपपत्तिक

व्याख्यान मैंने किया एवं ज्यौतिष जगत में उसे सराहा भी गया और उनके दूसरे, तीसरे संस्करण भी प्रकाशित हुये और हो रहे हैं। फिर भी "ग्रहगोलाध्याय" के सोपपत्तिक व्याख्यान न हो पाने से भीतर ही भीतर मानसिक वेदना से दुःखी तो था ही और एसी वार्धक्य की स्थिति में इस अधूरे कार्य को कैसे पूरा किया जाय, सोचकर ही रह जाता था। विकट की ऐसी स्थिति में मेरे तृतीय पुत्र दिनेश जोशी (एम० ए०) ने बारम्बार मुझसे कहा और अनुरोध किया कि इस कार्य को अवश्य पूरा कर दें। चि० दिनेश के बार-बार कहने एवं अनुरोध करने पर एकाएक इस ओर प्रवृत्त हो गया एवं चि० दिनेश जिसे मैं पूर्ण शुभाशीर्वाद देता हूँ क्योंकि उसी के पूर्ण सहयोग से ५-६ मास में पाण्डुलिपि तैयार हो गई। तत्पश्चात् मोतीलाल बनारसी दास (दिल्ली, पटना, मद्रास, वाराणसी) के सहयोग से यह प्रकाशन प्रकाशित हो सका। यह माता अन्नपूर्णा एवं बाबा विश्वनाथ तथा गुरुवर्यों और पूज्य पूर्वजों का ही शुभाशीर्वाद कहा जावेगा।

अशीति (८०) वर्ष के जर्जर शरीर के इस वार्धक्य में पदे-पदे स्मृति क्षीणता, इन्द्रियों की अतिशिथिल गति के बावजूद यह प्रकाशन हो जाने से अवश्य मेरी मनस्तुष्टि हो गई है। निश्चय ही इस प्रकार के इस प्रकाशन में मेरी कुलपरम्परा के महान ज्योतिर्विद पूर्वजों का और स्थान, ग्राम, वास्तु एवं कुलदेवी और कुलदेवों की (विशेषतः मेरे जन्मस्थान कूर्माचल 'जुनायल' ग्राम, अलमोड़ा, उ० प्र०) जो आध्यात्मिक देन आज तक मुझे मिल रही हैं वह एक रहस्य है, जिसका व्याख्यान मनोऽन्तर्गत ही है, यह सफल आशीर्वाद जीवन के अन्तिम क्षणों तक मुझे मिलेगा ही। अतः पुनरपि उक्त परम्परा को बारम्बार कोटिशः प्रणाम करते हुये, अनेक ग्रन्थों के लेखक अपने द्वितीय अग्रज एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सुयोग्य विद्वान् छात्र स्वर्गीय श्री पं० हरिशङ्कर जोशी साहित्याचार्य, एम० ए० जिन्हें उनके प्रसिद्ध "वैदिकविश्वदर्शन" ग्रन्थ पर प्रसिद्ध "मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार" भी प्राप्त हुआ था, उनके चरणों में यह कृति सादर समर्पण करते हुये उन्हें अपनी श्रद्धा भक्ति से स्मरण कर रहा हूँ। उन्हीं की प्रेरणा से सुदूर अल्मोड़ा जनपद के ज्योतिर्विदों से संसेवित प्रसिद्ध 'जुनायल' ग्राम से स्वर्गीय पूज्य मेरे पिता ज्योतिर्विद पूज्य श्री १०८ श्री पं० हरिदत्त जोशी ने मुझे काशी में गणित ज्योतिर्विद्या के अध्ययन के लिये उन्हीं के चरणों में भेजा था। वैदुष्य कुल परम्परा की इस अनुपम देन को बारम्बार स्मरण करते हुये आशा करता हूँ कि यह ज्ञानलता अनवरत वर्द्धमान होती रहेगी।

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर श्री "जयन्त नार्लीकर" (खगोल भौतिकी विभाग, टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई) ने प्रस्तुत ग्रन्थ के महत्व को समझकर अपने निष्पक्ष विचारों से ग्रन्थ को सुशोभित किया है, अतएव उन्हें हार्दिक शुभाशीर्वाद के साथ धन्यवाद देता हूँ। साथ ही मैं अपने ज्येष्ठ अभिन्न मित्र श्री पण्डित

शिवनन्दन लाल जी दर (पूर्व कुल सचिव, का० हि० वि० वि०) का आभारी हूँ, क्योंकि उनसे मुझे निरन्तर ज्योतिष गणित आदि के शोधपूर्ण कार्यों को करने की प्रेरणा मिलती रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रूफ शोधन का कार्य साहित्याचार्य श्री पण्डित जनार्दन पाण्डेय जी ने बड़े श्रम से किया है, अतएव उन्हें हार्दिक धन्यवाद देकर मनस्तोष करता हूँ। ग्रन्थ के सोपपत्तिक व्याख्यान लिखने में अपने चतुर्थपुत्र श्री तारकेशचन्द्र जोशी (आचार्य ज्यौतिष) के लगन से अध्ययनाध्यापन में उत्पन्न शंका समाधान में ग्रहगणित खगोल विषय के समन्वयात्मक रुचिकर शास्त्रार्थ से जो सहयोग प्राप्त हुआ, उसके लिए हृदय से आशीर्वाद देकर आशा करता हूँ वह वंशपरम्परागत इस विद्या के शोधपूर्ण विबर्धन में अग्रसरित होते रहेगा। साथ ही श्लोकानुक्रमणिका बनाने में मेरे दौहित्र चि० आशीष पंत ने सहयोग दिया, अतः उसे शुभाशीर्वाद देता हूँ कि वह सुयोग्य विद्यार्थी बनेगा।

दीर्घकाल से बुद्धिगत प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन की मेरी प्रबल इच्छा रही है जो आज इस अतिकठिन वार्धक्य में सफल हो रही है, इसे मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ। वार्धक्य अवस्था की विस्मृतियों के बाहुल्य के बावजूद यह प्रकाशन सत्पात्र शिष्य वर्ग एवं विज्ञ पाठकों के लाभाय होगा, शुभाशावादी होकर मुझे परम सन्तोष की अनुभूति हो रही हैं। पाठकवृन्द विस्मृतियों और त्रुटियों पर अवश्य ध्यान देंगे एवं सूचित करेंगे जिससे भविष्य के संस्करणों में विशेष स्वच्छता आती रहेगी।

इस ग्रन्थ प्रकाशन के स्रोत श्री विश्वेश्वर राजधानी श्री काशी के बाबा विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा का बारम्बार स्मरण करता हूँ क्योंकि 'देव' शब्द की सार्थकता का यही एक मूर्त्तरूप है, कहा भी गया है—

"महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरास्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥"

गुरु तत्त्व के विचार में जीवन की इति श्री हो रही है, मात्र एक भगवान् शङ्कर जगद्गुरु ही नहीं अपि वे ब्रह्माण्ड गुरु और ब्रह्माण्ड नायक हैं, इसलिये "ग" कार को ज्ञानसम्पत्ति, "र" कार को प्रकाशपुञ्ज "उ" कार को शिव तादात्म्य भी कहा गया है—

"ग" कारो ज्ञान सम्पती "रे" फस्तत्र प्रकाशकः।
"उ" कारः शिवतादात्म्यम् गुरुरित्यभिधीयते ॥

गुरु के साथ शिष्य का समवाय सम्बन्ध है—

"शरीरमर्थंप्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः।
गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य इत्यभिधीयते ॥"

इस प्रकार गुरु शिष्य की यह साश्वत की एकत्व की चिरस्थायिनी यह भावना "महेश" शब्द में ही निहित है—

"मनोदोषादि दूरत्वाद्धेतुवादादि वर्जनात् ।
श्वादिप्राणिषु साद्दश्यात् रम्यत्वाच्च महेश्वरः ।।"

इस प्रकार जीवमात्र की एकत्व रूप ज्ञान की यह सद्भावना इसी श्री काशी क्षेत्र में जीव मात्र को प्राप्त होकर जीवन्मुक्ति इसी काशी क्षेत्र हुई है और होती रहती हैं और होती भी रहेगी । अत एव यह काशी नगरी धन्य है । इस श्री काशी नगरी में यह लेखनी सार्थक हो रही है और सार्थकता का एकमात्र उपाय यही है कि—

"स्नातव्यं जान्हवीतोये द्रष्टव्यः पार्वतीपतिः ।
स्मृर्तव्यः कमलाकान्तो वस्तव्यं काशिकास्थले" ।।

एवं—

पेयं पेयं श्रवणपुटकैः रामनामाऽभिरामम् ।
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम् ।।
जल्पन् जल्पन् प्रकृति विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले ।
वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशी निवासी ।।

यहाँ पर "कोऽपि" शब्द की व्याख्या असीमित है । मन, वाणी, बुद्धि से इस शब्द का व्याख्यान असम्भव है । ऐसे अनिर्वचनीय मात्र महान तत्व को "शिव शिवेति शिवेति च" से उच्चारित किया जाता है । धन्य है ऐसा 'अनिर्वचनीय', 'समदर्शी', 'अघोर', 'कीनाराम', 'शिव' तत्व ।

उक्त आशय को प्रतिक्षण स्मरण करते हुए शेष जीवन की सार्थकता का एकमात्र भरोसा अघोर रूप बाबा विश्वनाथ को समझ कर यह लेखनी और यह लेखक दोनों विश्राम की कामना कर रहे हैं ।

इति-शम्

हरि-हर्ष निकेतन
१।२८, नगवा (नलगाँव)
श्रीकाशी, वाराणसी उ० प्र०
संवत् २०४५ गुरुवार
अधिक ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया
ता० २-६-१९८८

केदारदत्त जोशी
ज्यौतिश्शास्त्राचार्य
(गणित + फलित)
अवकाश प्राप्त प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्याय
वाराणसी

|| श्रीः ||

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीभास्कराचार्यविरचिते

सिद्धान्तशिरोमणौ

गोलाध्यायः

वासनाभाष्यमरीचिसंस्कृतटीकासमलङ्कृतः
तथा च केदारदत्ताख्यहिन्दीव्याख्योपपत्तिसहितः

गोलाध्याये निजे या या अपूर्वा विषमोक्तयः ।
तास्ता बालावबोधाय संक्षेपाद्विवृणोम्यहम् ॥

वासनाभाष्यम्—गोलग्रन्थो हि सविस्तरतया प्राञ्जलः । किंत्वत्र या या अपूर्वा नान्यैरुक्ता उक्तयो विषमास्तास्ताः संक्षेपाद्विवृणोमि । अत्र या या इति प्रथमान्तं पदं तास्ता इति द्वितीयान्तं पदं बुद्धिमता व्याख्येयम् ।

केदारदत्तः—सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के ग्रहगणिताध्याय में जिन कठिन विषयों में स्पष्ट रूप के बावजूद जो अन्य विशेष परिष्कार हो सकते हैं उन विषयों की विशेष कठिन उक्तियों का संक्षेप से यहाँ बालबोधाय विवरण किया जा रहा है ।

यहाँ पर बाल शब्द से अवस्था का बालक न समझ कर अनधीत गणित गोलशास्त्र वञ्चित बुद्धि के युवा या वृद्ध पुरुष के लिये बाल शब्द का प्रयोग हुआ है ।

तत्राऽऽदौ तावदभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं गोलं ब्रवीमीत्याह—

सिद्धिं साध्यमुपैति यत्स्मरणतः क्षिप्रं प्रसादात्तथा
यस्याश्चित्रपदा स्वलंकृतिरलं लालित्यलीलावती ।
नृत्यन्ती मुखरङ्गगेव कृतिनां स्याद्भारती भारती
तं तां च प्रणिपत्य गोलममलं बालावबोधं ब्रुवे ॥१॥

वा० भा०—ब्रुवे वच्मि । कः । कर्ताऽहं भास्करः । किम् । गोलं गोलाध्यायम् । किंविशिष्टम् । अमलं निर्दूषणम् । पुनः किंभूतम् । बालावबोधम् । अविषममित्यर्थः । किं कृत्वा । प्रणिपत्य । प्रणिपातपूर्वकं नमस्कृत्य । कम् । तम् । न केवलं तम् । तां च । स कः । सा च का । तदाह । यस्य देवस्य स्मरणात् पुंसां साध्यमभीष्टं क्षिप्रं शीघ्रं सिध्यति सोऽर्थाद्विघ्नराजः । तथा यस्या देव्याः प्रसा-

दात् कृतिनां विदुषां भारती वाणी नृत्यन्ती भारतीव स्यात् । भारती नर्तकस्त्री च । कथंभूता वाणी नर्तकी च । चित्रपदा विचित्रपदविन्यासा । स्वलंकृतिः शोभनालंकारमुद्राङ्किता । लालित्यलीलावती माधुर्यगुणसंपन्ना । कथं वाग् नृत्यतीति चेत् । स्रवदमृतबिन्दुसंदोहसदृशसुरससुकोमलोक्तिगुणा गद्यपद्यमयी चतुरजनमनश्चमत्कारकारिणी वाणी नृत्यन्तीव भाति । किंविशिष्टा भारती । मुखरङ्गगा । मुखमेव रङ्गो मुखरङ्गः । रङ्गो नृत्यस्थानम् । यस्याः प्रसादात्कृतिनां मुखेष्वेवंविधा भारती स्यात् । साऽर्थात् सरस्वती । तां च प्रणिपत्येति । मङ्गलादीनि मङ्गलान्तानि च शास्त्राण्यलंकारकृतां मतान्यतः सिद्धिवृद्धिशब्दावाद्यन्तयोर्निक्षिप्तौ ॥१॥

मरीचिः—नित्यानन्दज्ञानरूपं महोऽहं विश्वाज्ञानध्वान्तविध्वंसदक्षम् ।
श्रीकृष्णाख्यं सर्वदाऽभीष्टसिद्ध्यै ध्यायामीशं सर्वगं सर्वहेतुम् ॥१॥

अथोत्तरार्धं गुरुरामकृष्णपितृव्यपादाब्जयुगप्रसादात् ।
व्याख्यायते सद्गणकाभितुष्टयै प्रज्ञानुसारेण मुनीश्वरेण ॥२॥

अथ ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये मङ्गलमाचरेदिति शिष्टाचारानुमितविधिना यथा पूर्वार्धं निर्विघ्नं समाप्तं तथेदमुत्तरार्धमारम्भणीयं समाप्यतामिति कामनया च कृतं नमस्काररूपं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नंश्चिकीर्षितं शार्दूलविक्रीडितवृत्तेन शिष्यावधानार्थं प्रतिजानीते—**सिद्धिमिति** । तं तां सर्वनाम्नां बुद्धिस्थवाचकत्वाद्बुद्धिस्थं देवं देवीं च । चः समुच्चये । तेन द्वावित्यर्थः अलम् । अत्यर्थं यावद्विघ्नाभावमित्यर्थः । तदवगमश्च प्रारिप्सितसमाप्त्या । प्रणिपत्य प्रणिपातपूर्वकं नमस्कृत्य । कर्तव्यापेक्षया पूर्वकालत्वान्नमस्कारस्य क्त्वानिर्देशः । भक्तिश्रद्धातिशयलक्षणः प्रकर्षः प्रशब्देन द्योत्यते । भक्तिश्चाऽऽराध्यत्वेन ज्ञानम् । श्रद्धा तु वेदादिबोधितफलावश्यंभावनिश्चयः । गोलं भूगोलादिनिरूपकग्रन्थम् । तस्यापि गोलपदवाच्यत्वात् । ब्रुव इति क्रियाबलादहमिति कर्त्राक्षेपः । तथा चाहं गोलाध्यायं कथयामीत्यर्थः । ननु भागवतादौ गोलनिरूपणदर्शनात्तव प्रयासो व्यर्थ इत्यत आह—अमलमिति । निर्दूषणम् । भागवतादौ तन्निरूपणं प्रत्यक्षविसंवादाद्ग्रहगणितानुपजीव्यत्वेनोपेक्षितमिति भावः । ननु तथाऽपि सूर्यसिद्धान्तादौ प्रत्यक्षसंवादेन तन्निरूपणाद्व्यर्थोऽयं तव प्रयास इत्यत आह—बालावबोधमिति । बालानां गणितोपपत्त्यज्ञानामवबोधो भूग्रहभादियथार्थस्थितितत्त्वज्ञानं यस्मात् । तथा च सूर्यसिद्धान्तादौ तन्निरूपणं संक्षिप्तमस्तीति तत्र कठिनतयाऽनभिज्ञानां बोधो न जायतेऽतस्तेषां बोधार्थं तदुक्तमेव विशदीकृत्य मया सुगमं तन्निरूपणं क्रियत इति भावः । बुद्धिस्थं विवृणोति—सिद्धिमिति । यस्य परमेश्वरस्य । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यस्येत्यर्थः । स्मरणतः । उक्तध्यानसक्तान्तःकरणात् । क्षिप्रमविलम्बं साध्यं पुरुषकृतिविषयमभीष्टं कार्यम् । सिद्धिं निष्पन्नतामुपैति प्राप्नोति । जगत्कर्तृत्वादिदं फलमुपलक्षणम् । तेनान्यदपि महत्फलं पुरुषकृत्यसाध्यं भवतीति ध्येयम् । आरम्भे मंगलार्थः सिद्धिशब्दः । बुद्धिस्थां

विवृणोति—प्रसादादिति । यस्या देव्याः । अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामित्यादिश्रुतिप्रतिपाद्याया मायाया इत्यर्थः । तथा तादृशानिर्वचनीयात्प्रसादादनुग्रहात् । भारती वाग्देवी । नृत्यन्ती नर्तनकारिणी । स्याद्भवति । नर्तनस्य स्थानापेक्षत्वादाह—मुखरङ्गेति । कृतिनां पण्डितानां मुखमेव रङ्गो नृत्यस्थानं तत्र गता विद्यमाना । कथं नृत्यन्तीति दृष्टान्तमाह—भारतीवेति । भारतस्य नर्तकस्येयं भारती । नर्तकी स्त्री । यथा भाग्यवतां पुरुषाणां गृहाङ्गणस्था रङ्गस्थानाग्रिमभागस्था नर्तकी नायि (टि) का काचन नृत्यं करोति तद्वदित्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सादृश्यावगमाय तुल्यविशेषणान्याह—चित्रपदेति । सरस्वतीपक्षे चित्राणि नानाविधानि पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि विद्यन्ते यस्याम् । नटीपक्षे नानाविधचरणाद्यङ्गविन्यासः । नानाविधगायनपदानि वा । इदमसाधारणं करणं नर्तने । स्वलंकृतिः । सरस्वतीपक्षे सुष्ठु दूषणरहिताः सगुणा अलंकारा वक्रोक्त्यनुप्रासयमकश्लेषचित्रपुनरुक्ताभासाः शब्दालंकाराः, उपमानन्वयोपमेयोपमोत्प्रेक्षासंदेहरूपकापह्नुतिश्लेषसमासोक्तिनिदर्शनेत्यादिकाव्यप्रसिद्धा अर्थालंकाराश्च विद्यन्ते यस्याम् । नटीपक्षे चारुस्वर्णानि भूषणानि द्रष्टॄणां प्रवृत्तिकारणर (स) हायमिदम् । लालित्यलोलावती । सरस्वतीपक्षे ललितस्य भावो लालित्यम् । 'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधय ॥' इति काव्यप्रकाशोक्तगुणसंपन्नतया । दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थं निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलं संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् । अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेवेति तदुक्तदोषनिरासंपन्नतया च सौश्रवस्त्वम् । तस्य लीला विलासः । स विद्योतते यस्याः सा । नटीपक्षे 'विलासो गमनादि स्याच्चेष्टा श्लिष्टाङ्गतया कृता । कान्तया सुकुमाराङ्गापाङ्गत्वं ललितं विदु'रिति संगीतरत्नाकरोक्तं ललितम् । एतच्च नर्तनरूपप्रतिपादकं विशेषणम् । मायाया अपि जगदुत्पादकत्वादिदं फलमुपलक्षणम् । तेन फलान्तराण्यपि भवन्तीति ध्येयम् । केचित्सिद्धिविघ्नाधीशत्वेन भारतीशब्दस्य वागर्थाभ्युपगमेन चात्र गणेशसरस्वत्योः प्रणाम इत्याहुः । तन्न । भूगोलादीनामीश्वरमायानिर्मितत्वात्तत्स्वरूपनिरूपणारम्भे तयोरेव नमस्कारयोः समुचितत्वात् ॥१॥

केदारदत्तः—ग्रन्थ के आरम्भ, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है। अतः आचार्य सिद्धि शब्द प्रयोग के साथ ग्रन्थ में भी लकार जिस मंगलमूर्ति गणेश जी का स्मरण करने मात्र से, तथा जिस भगवती सरस्वती देवी के प्रसाद से विज्ञ पुरुषों के अभीष्ट साध्य कार्य सिद्ध होते हैं या सफल होते हैं । नृत्यांगना की तरह विचित्र पदविन्यास करती हुई और मनोरम अलङ्कार से सुसज्जित एवं मधुर लगने वाली विद्वानों के मुखरूपी रंगमंच पर गद्यपद्यमयी वह भारती नृत्य करती हुई सुशोभित होती है । ऐसे गणेश तथा सरस्वती दोनों को प्रणाम कर बालों को अनायास ज्ञान कराने के लिए दोष रहित इस ग्रहगोलाध्याय का मैं भास्कराचार्य प्रतिपादन कर रहा हूँ । अर्थात् ग्रहगोलाध्याय ग्रन्थ (ग्रहगोलगणितस्कन्ध) प्रारम्भ कर रहा हूँ ।

गणित शास्त्र की उपपत्तिज्ञान रहित भूग्रहादिकों की यथास्थान स्थिति का तत्त्वज्ञान सूर्यसिद्धान्तादिक ग्रन्थों में संक्षिप्त होने से अनभिज्ञों को कठिनता से बोध होने के कारण उस संक्षिप्त ज्ञान का आचार्य द्वारा यहाँ पर इस ग्रन्थ में विशदीकरण किया जा रहा है।

उपपत्तिज्ञान रहित भूग्रहादिकों की यथास्थान स्थिति का तत्त्वज्ञान सूर्यसिद्धान्तादिक ग्रन्थों में संक्षिप्त होनें से अनभिज्ञों के लिए कठिनता से सुबोधक होता है, अतः आचार्य द्वारा उक्त संक्षिप्त ज्ञान का यहाँ पर इस ग्रन्थ में विशदीकरण किया जा रहा है।

आचार्य ने यहाँ पर अनिर्वचनीय सरस्वती की उपमा नर्तकी स्त्री से की है। साधारण नर्तकी की जो नृत्य भूमि होती है वही यहाँ पर पण्डितों (गणितज्ञों) के मुख को ही नृत्य स्थान माना है। मुख में ही सरस्वती का निवास होने से, जैसे भाग्यवान् पुरुषों के घर के आंगन में कोई नर्तकी नाचती है वैसे ही पण्डितों के मुखरूप आंगन में सरस्वती रूपा नर्तकी नित्यमेव नृत्य करती है ।।१।।

अथ गोलग्रथनकारणमाह—

मध्याद्यं द्युसदां यदत्र गणितं तस्योपपत्तिं विना
प्रौढिं प्रौढसभासु नैति गणको निःसंशयो न स्वयम् ।
गोले सा विमला करामलकवत्प्रत्यक्षतो दृश्यते
तस्मादस्म्युपपत्तिबोधविधये गोलप्रबन्धोद्यतः ।।२।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।२।।

मरीचिः—ननु गोलनिरूपणारम्भः प्रयोजनाभावाद्व्यर्थ इत्यतः प्रतिज्ञातं गोलनिरूपणं सप्रयोजनं शार्दूलविक्रीडितेन प्रतिजानीते—**मध्येति** । तस्मात्कारणात् । अत्र सिद्धान्तग्रन्थ-पूर्वार्धे द्युसदां ग्रहाणां मध्याद्यं मध्यस्पष्टादिदशविधं गणितं यत्प्रतिपादितं तस्य ग्रहगणित-निरूपकग्रन्थस्योपपत्तिबोधविधये तदुत्पा (पपा) दकयुक्तिरुपपत्तिस्तस्या ज्ञानार्थं यो विधिः प्रकारस्तन्निमित्तं गोलप्रबन्धोद्यतो गोलस्वरूपज्ञानप्रतिपादकग्रन्थसंदर्भार्थं गोलबन्धार्थं वा। अग्रे तद्बन्धस्योक्त (त्वात्) । अत एव पूर्वं गोलनिरूपणस्य प्रतिज्ञातत्वाद्द्वितीया गोलबन्ध-प्रतिज्ञा युक्ता । अन्यथा प्रतिज्ञायाः पुनरुक्तत्वापत्तेः । प्रवृत्तोऽस्मीति क्रियाबलादहमिति कर्त्राक्षेपः । तथा चोपपत्तिज्ञानं प्रयोजकत्वाद्गोलनिरूपणं व्यर्थं नेति भावः ।

ननूपपत्तिज्ञानार्थमुपपत्तिर्निरूपणीया न गोल इत्यतः सूचितं कारणमाह—गोल इति । सा उपपत्तिः । गोले निरूपिता गोले विमला निर्दूषणा प्रत्यक्षप्रमाणाद्दृश्यते ज्ञायते गोल-स्वरूपविद्भिर्गणकैरिति शेषः । प्रत्यक्षप्रमाणात्कथं ज्ञायत इत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाऽऽह—करामलकवदिति । हस्तस्थितामलकफलं चाक्षुषप्रत्यक्षेण निश्चित्य मम हस्त आमलकोऽ-स्तीति ज्ञानं जा (जा) यते तद्वद्गोलस्वरूपं निश्चित्य तत्र क्षेत्रदर्शनस्य सुशकत्वादुपपत्तिः सुज्ञेया । तस्य गणितपदार्थस्वरूपाश्रयत्वेनोपपत्तिस्वरूपत्वादिति भावः । अत्राऽऽमलक-निदर्शनं गोलस्वरूपावगमार्थमिति ध्येयम् ।

ननूपपत्तिज्ञानप्रयोजककालनिरूपणमपि व्यर्थं प्रयोजनस्य प्रयोजनाभावेनोपेक्षाविषयत्वादित्यत आह—उपपत्तिमिति । गणकः । ग्रहगणितज्ञः । उपपत्तिं विना तदुत्पादनयुक्तिज्ञानव्यतिरेकेण । प्रौढसभासु । प्रौढाः सदसत्पदार्थतत्त्वक्षोददक्षाः । तेषां समाजेषु प्रौढिं सदसद्विवेचनदक्षत्वं नैति न प्राप्नोति । यथा च ग्रहणाद्यादेशकर्तुर्गणकस्य तादृशस्य ग्रहणं कुतो भवतीत्यादिपण्डितप्रश्नोत्तरदानसामर्थ्याभावेन लोकमान्यत्वमतस्तदुपपत्तिज्ञस्य तदुत्तरदानसामर्थ्याल्लोकमान्यत्वमेवोपपत्तिज्ञानप्रयोजनं लोकमान्यत्वे तु तद्वचनप्रामाण्यात्तदादिष्टसंक्रान्त्यादिपुण्यकाले प्रेक्षावतां स्नानदानाचरणोपपत्तिरन्यथा तदनुपपत्त्या धर्मविलोपापत्तेरिति भावः । ननु तदुपपत्त्यज्ञा मान्यगणकवचनादपि तद्धर्माचरणोपपत्तिर्ग्रहणाद्यादेशसंवादबलेन तद्वचनप्रामाण्यनिश्चयादित्यत आह—निःसंशय इति । स्वयं ग्रहगणितज्ञस्तदुपपत्तिज्ञानमन्तरेण निःसंशयो निर्गतः संशयो यस्य निश्चयज्ञानवान्न स्यात् । तथा च केवलग्रहगणितज्ञाने पूर्वग्रन्थानां क्वचिद्भेदे प्रमाणं किमित्येतत्संशयभ्रमस्तत्त्वेन ग्रहणाद्यादेशकत्वासंभवेन धर्मानुष्ठानविलोपापत्त्या तदुपपत्तिज्ञानेन तन्निर्णयज्ञानसंभवादादेशसामर्थ्याच्च तदादेशवचनाद्धर्मानुष्ठानसंभव इति भावः ॥२॥

केदारदत्तः—गोल रचना का कारण—

यहाँ ग्रहों के माध्यमिक स्पष्ट पर्यन्त दशविध गणित की उपपत्ति ज्ञान बिना कोई भी गणितज्ञ खगोलज्ञों की सभा में तत्थ्यातथ्य विवेचन दक्षता की प्राप्ति नहीं कर सकता । हाथ में स्थित आंवले के फल का चाक्षुष प्रत्यक्ष से "मेरे हाथ में आंवले का फल है" ऐसे निश्चित ज्ञान की तरह ग्रहगोल स्वरूप का निश्चय करने के अनन्तर गणित की उपपत्ति ज्ञान विधि के लिए गोलस्वरूप ज्ञान प्रतिपादक ग्रन्थ निर्माण में आचार्य प्रवृत होता है ।।२।।

इदानीं गोलप्रशंसया गोलानभिज्ञगणकोपहासं श्लोकद्वयेनाऽऽह—

भोज्यं यथा सर्वरसं विनाऽऽज्यं राज्यं यथा राजविवर्जितं च ।
सभा न भातीव सुवक्तृहीना गोलानभिज्ञो गणकस्तथाऽत्र ।।३।।

वादी व्याकरणं विनैव विदुषां धृष्टः प्रविष्टः सभां
जल्पन्नल्पमतिः स्मयात्पटुबटुभ्रूभङ्गवक्रोक्तिभिः ।
ह्रीणः सन्नुपहासमेति गणको गोलानभिज्ञस्तथा ।
ज्योतिर्वित्सदसि प्रगल्भगणकप्रश्नप्रपञ्चोक्तिभिः ।।४।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।३।।४।।

मरीचिः—ननु सूर्यसिद्धान्ताद्यार्षसंमतत्वेन मुहुर्ग्रहणाद्यादेशसंवादबलेन च निश्चयज्ञानसंपादनादादेशोपजीव्यधर्मानुष्ठानसंभवादुपपत्तिज्ञानवैयर्थ्येन गोलनिरूपणं व्यर्थमित्यत

उपजातिकयाऽऽह—**भोज्यमिति**। अत्र सिद्धान्तज्ञेषु गोलानभिज्ञो भूगोलादिस्वरूपाज्ञो गणको ग्रहगणितज्ञस्तथा तद्वन्न भाति लोके न चमत्करोति। तथेत्यनेन सूचितं दृष्टान्तमाह— भोज्यमिति। सर्वरसं रसोपलक्षणात्सर्वसामग्र्युपपन्नं भोज्यं घृतव्यतिरेकेण न भाति। ननु भोज्यपदार्थेषु घृतस्य मुख्यत्वं न युक्तम्। मधुररसविवर्जितं च भोज्यमिति लल्लोक्त्या विनिगमनाविरहादित्यस्वरसाद्दृष्टान्तान्तरमाह—राज्यमिति। चो वार्थे। ननु नियन्तारं विना राज्यस्य सोपद्रवत्वसंभवाद्राज्ये राज्ञो मुख्यत्वं, न तथा गणके गोलाभिज्ञत्वं मुख्यम्। आदेशादिव्यवहारस्योक्तरीत्योपपत्तेरिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमित्यस्वरसाद् दृष्टान्तान्तरमाह—सभेति। सुवक्तृहीना। सुष्ठु वदतीति। समानाधिकरणयुक्तिवचोवदद्भिः पण्डितैर्हीना सभा पण्डितसभा। इव यथार्थे। तथा च साधारणपण्डितसभा लोके मनोहराऽप्यतिपण्डिताश्रयेणातिमनोहरा। तथा केवलग्रहगणितज्ञैर्व्यवहारसिद्धावपि गोलज्ञतयोपपत्तिज्ञानाधिक्याद् गोलाभिज्ञगणकस्तेभ्योऽधिक इत्यधिकत्वसंपादनार्थं गोलनिरूपणमव्यर्थमिति भावः ॥३॥

नन्वधिकत्वानपेक्षया तन्निरूपणं व्यर्थमेव। अन्यथा शास्त्रान्तरप्रमेयज्ञानादधिकत्वसिद्धेस्तस्यापि निरूपणापत्तिरित्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—वादीति। गोलानभिज्ञो गणको ज्योतिर्वित्सभायाम्। ज्योतिर्वित्पदेन सर्वे सभासदो गोलाभिज्ञाः। नक्षत्रादीनां गोलाश्रयत्वात्। अन्यथा नक्षत्रसामान्यज्ञानात्सर्वेषां तत्त्वापत्तेः। प्रगल्भगणकप्रश्नप्रपञ्चोक्तिभिः। प्रगल्भाः कल्पका ये गणका गोलस्वरूपतत्त्वज्ञास्तेषां प्रश्नाः पूर्वपक्षास्तत्संबन्धिन्यो याः प्रपञ्चोक्तयो नानाविधभङ्गिभिर्वचनानि। उपहासगर्भितानि तैरित्यर्थः। ह्रीणो लज्जितः। तदुत्तरदानासमर्थत्वात्। सन् साधुः। दुष्टस्य स्वाज्ञानाज्ञत्वेन लज्जानुदयात्। उपहासं तथा दृष्टान्तवत्प्राप्नोति। दृष्टान्तमाह—वादीति। तर्कशास्त्रादिवादी। व्याकरणं विना व्याकरणव्यतिरेकेण। विदुषामेव। एवकारान्मूर्खव्यवच्छेदः। सभां धृष्टः सन्प्रविष्टः स्मयाद्गर्वाद्जल्पन्नसंगतार्थं पण्डितोपहासपूर्वकं वदन्। अल्पमतिः स्वाज्ञानगोपनासमर्थः। विदुषां पटवो व्याकरणादिशास्त्रकुशला ये बटवो बालकाः शिष्या वा। तेषां भ्रूभङ्गास्तैर्द्योतिता या वक्रोक्तयः कथमनेन शुद्धं संस्कृतं प्रमेयमुच्यत इत्यादयस्ताभिर्ह्रीणः पण्डितबालका अपि मां मूर्खं ज्ञात्वा वक्रोक्त्योपहसन्तीति। अहमेतादृशो मूर्खोऽस्मीति लज्जितः सन् साधुः स्वदोषज्ञ इति यावत्। उपहासमेति तथा केवलग्रहगणितज्ञस्योपपत्त्यज्ञानात्सर्वज्योतिर्विदुपेक्षितत्वेन तद्वचनप्रामाण्यसंशयादप्रयोजकत्वम्। ज्योतिर्विद्बहिर्भूतत्वं चातस्तदुपपत्तिज्ञानावश्यकत्वेन गोलनिरूपणं न त्वदधिकज्ञानार्थमिति न तद्वैयर्थ्यमिति भावः ॥४॥

केदारदत्तः—यहाँ गोल की प्रसंसा के साथ गोलज्ञानरहित ज्योतिषी का उपहास किया जा रहा है—सर्वरस युक्त होते हुए भी घी रहित भोजन, राजा से रहित राज्य और सु वक्ता रहित सभा की तरह गोलज्ञान रहित गणितज्ञ को भी नीरसता की स्थिति होती है।

प्रौढ पण्डित सभा में प्रविष्ट व्याकरणज्ञानरहित धृष्ट वादी जैसे (अल्पमति अपने अज्ञान के गोपन के लिए असंगत भाषण करने वाले से) व्याकरणादि शास्त्र कुशल बालकों या शिष्यों के भ्रूभंग से द्योतित वक्रोक्तियों से उपहास का पात्र बन जाता है कि "मैं इस प्रकार का मूर्ख हूँ" समझ कर लज्जित हो जाता है इसी प्रकार उपपत्ति ज्ञान रहित ग्रहगणितज्ञ या गोलज्ञान रहित ज्यौतिषी भी प्रौढगणितज्ञों के प्रश्नप्रपञ्चोक्तियों से ज्योतिर्विदों की उस सभा में उपहास का पात्र बन जाता है ॥३-४॥

अथ गोलस्वरूपमाह—

दृष्टान्त एवावनिभग्रहाणां संस्थानमानप्रतिपादनार्थम् ।
गोलः स्मृतः क्षेत्रविशेष एष प्राज्ञैरतः स्याद्गणितेन गम्यः॥५॥

वा॰ भा॰—स्पष्टार्थम्—॥५॥

मरीचिः—ननूपपत्तिज्ञानप्रयोजकगोलस्वरूपनिरूपणं सर्वशास्त्रप्रयोजकव्याकरणवत्सिद्धान्तनिरूपणभिन्नत्वेन युक्तम् । नहि सिद्धान्तपदार्थोपदेश उपपत्तिरप्युद्दिष्टा । येनात्र तन्निरूपणं संगतम् । तस्माद्ग्रहगणितप्रतिपादनानन्तरं द्विधागणितप्रतिपादनं तदनन्तरं च सोत्तरप्रश्नप्रतिपादनं ततो भूधिष्ट(ष्ण्य)ग्रहसंस्थितिकथनमित्यादि युक्तमित्यतोऽत्र गोलनिरूपणसमर्थनच्छलेन प्रतिज्ञातगोलबन्धवशादग्र उक्तगोलबन्धसिद्धगोलस्य प्रयोजनमिन्द्रवज्रयाऽऽह—**दृष्टान्त इति** । अवनिभग्रहाणां भूनक्षत्रग्रहाणां संस्थानं स्थितिः । तस्यां मानं प्रत्यक्षादिप्रमाणं युक्तिभिः स्थितिस्वरूपनिर्णय इत्यर्थः । तत्प्रतिपादनार्थं तन्निरूपणार्थम् । गोलः । वक्ष्यमाणगोलबन्धप्रकारसिद्धत्वादिवंशादिवृत्तजनितगोलः । दृष्टान्त एव । एवकारान्न वस्तुरूपः । प्राज्ञैः प्रज्ञावद्भिर्गोलस्वरूपतत्त्वज्ञैः । स्मृतः प्रोक्तः । तथा चोपपत्तिज्ञानार्थं गोलस्वरूपनिरूपणं विना दृष्टान्तं सुज्ञेयं न भवतीति गोलबन्धविधिना दृष्टान्तः सिद्धः कृतः । अत्रैव भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितिज्ञानात्सिद्धान्तपदार्थस्यैव निरूपणम् । नातिरिक्त निरूपणमुपपत्तेस्तदन्तर्गतत्वादिति भावः । एवस्य दृष्टान्तत्वे किं मानमत आह—**क्षेत्रविशेष इति** । गोलस्वरूपनिरूपणे यानि क्षेत्राणि जात्यशास्त्राणि ज्ञातानि तान्यत्र वंशादिवृत्तगोले प्रत्यक्षाणि । तिर्यगूर्ध्वाधरसूत्रबृत्तादिसंबन्धेन गोलस्य क्षेत्रात्मकत्वेन क्षेत्रविशेषत्वाभ्युपगमादिति । ग्रहबिम्बानाश्रयत्वं न दृष्टान्तत्वमिति भावः । ननु ग्रहचारनिरूपणाव्यवहितानन्तर्येण तन्निरूपणं युक्तम् । न द्विविधगणितनिरूपणव्यवहिततदानन्तर्येण । अन्यथोद्देशक्रमेण सोत्तरं प्रश्नाध्यायानन्तरं गोलयन्त्रयोर्निरूपणापत्तेरित्यत आह—**एष इति** । अतः क्षेत्रविशेषात्मकत्वात् । एष गोलः । गणितेन पाटीगणितेन । गम्यो ज्ञेयः स्यात् । तथा च क्षेत्रसंबद्धभुजकोटिकर्णानां ज्ञानं विना क्षेत्रव्यवहारो न भवतीति तस्य पाटीगणितान्तर्गतत्वं न पाटीगणितव्यतिरेकेण तज्ज्ञानासंभवाद्व्यक्ताव्यक्तद्विविधगणितनिरूपणानन्तरं गोलनिरूपणं युक्तमिति भावः । प्रश्नानामानन्त्यात्तदुत्तराणामुपपत्तिज्ञतया कल्पितत्वनियमादनुक्तप्रश्नोत्तरज्ञानसूचकप्रश्नाध्यायस्य प्रतिपादनं गोलनिरूपणात्पूर्वमनु-

चितम्। प्रश्नास्तथा सोत्तरा इति। पूर्वोद्देशस्तुल्यद्य (ध्रु) वाद्गोलप्रश्नोद्देशसिद्धयर्थ-मिति ध्येयम् ॥५॥

केदारदत्तः—यहाँ युक्तियों से गोल स्वरूप बताया जा रहा है—प्रत्यक्षादि प्रमाण से भू नक्षत्र और ग्रहों की स्थिति स्वरूप निर्णय निरूपण के लिए प्राज्ञगणितज्ञों से बाँस आदि शलाकाओं से निर्मित यह दृष्टान्तीभूत गोल रचना के गोलज्ञान से क्षेत्र व्यवहार, बीजगणित त्रैकोणमितिक प्रभृति गणितों से यह ग्रहगोल ज्ञेय होता है या जाना जा सकता है ॥५॥

इदानीं गणितप्रशंसामाह—

ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते
नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम्।
ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोऽपि न ज्ञायते
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति ॥६॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥६॥

मरीचिः—नन्वेवं ग्रहगणितनिरूपणात्पूर्वमेव द्विधागणितनिरूपणपूर्वकं गोलनिरूपणा-पत्तिः। गोलस्थपदार्थज्ञानादेव ग्रहानयनाद्युत्पत्तेर्ग्रहगणितस्य संकलनादिषड्विधसापेक्षत्वा-त्पाटीगणितं विना तदनुपपत्तेश्चेत्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—**ज्योतिरिति।**

पुराणगणकैः प्राचीनज्योतिर्विद्भिर्वराहमिहिरादिभिर्ज्योतिःशास्त्रस्य संहिताजातक-गणितस्कन्धत्रयात्मकस्य फलं प्रयोजनमादेशो वर्तमानभूतभविष्यशुभाशुभकथनमिति तच्छा-स्त्रेण तन्निरूपणनिश्चयाद्धेतोरित्यर्थः। उच्यते। अङ्गीक्रियते। पुनर्वाक्यालंकारे। असा-वादेशः। नूनं निश्चयेन। लग्नबलाश्रितः। व्यवहारैर्जातकादेशो लग्नकुण्डलिकाग्रहसंस्थान-बलाधीन इत्यर्थः। तत्तत्कुण्डलिकाग्रहसंस्थानबलं स्पष्टग्रहाधीनम्। ग्रहणशृङ्गोन्नत्यादि-गणितस्कन्धादेशस्य साक्षादेव स्पष्टग्रहाधीनत्वमिति। तस्माज्ज्योतिःशास्त्रप्रतिपाद्यादेशाः साक्षात्परम्परया वा स्पष्टग्रहज्ञानाधीना इति सिद्धान्ते स्पष्टग्रहगोलाश्रयिणो गोलस्थितत्वेन प्रत्यक्षाः। गोलस्थित्यवगमनोपपत्तिसिद्धं तज्ज्ञानं गोलनिरूपणाधीनमित्यर्थः। गणितमन्तरेण ग्रहगणितव्यतिरेकेण गोलो न ज्ञायते। अपिशब्दात्स्पष्टग्रहास्तदुपजीव्यग्रहणादिकं च न ज्ञायते। गोलावगमार्थं यथाश्रुतग्रहगणितपदार्थज्ञानमतिप्रयोजकं तत्तु तद्गणितनिरूपण-साध्यमित्यर्थः। तथा च गणितज्ञानाधीनगोलज्ञानात्तदनन्तरं निरूपणं युक्तमिति भावः। ननु गोलनिरूपण एव तत्पदार्थस्य सामान्यतो ज्ञानसिद्धेर्न गोलज्ञाने ग्रहगणितज्ञानापेक्षेत्यत उपसंहारव्याजेन तदुत्तरमाह—तस्मादिति। तस्मादुक्तहेतोर्यो गोलाध्यायपिपठिषुर्गणितं ग्रहगणितं न वेत्ति न जानाति स पिपठिषुर्गोलादिकं गोलयन्त्रे प्रश्नोत्तरं कथं केन प्रकारेण ज्ञास्यति न ज्ञास्यतीत्यर्थः। तथा च विना ग्रहगणितज्ञानं गोलज्ञानं सम्यङ् न जायते।

तदाभासज्ञानं भवत्यतो ग्रहगणितं प्रथमं निरूप्य गोलनिरूपणं कृतमिति भावः । एतेन सिद्धान्तसुन्दरे गोलाध्यायानन्तरं ग्रहगणितनिरूपणं कृतं तदपास्तम् ॥६॥

केदारदत्तः—ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन—आर्यभट्ट, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त-प्रभृति प्राचीन ज्योतिर्विदों ने संहिता, जातक, गणित स्कन्धत्रयात्मक ज्योतिषशास्त्र का प्रयोजन, भूत भविष्य और वर्तमान का शुभाशुभ कथन रूप आदेश बताया है। किसी जातक का फल का आदेश लग्नकुण्डलिका में स्थापित ग्रहस्थितिवश किया जाता है। निश्चय है कि लग्न कुण्डलिका में स्थित लग्न बलाश्रित ग्रहस्थिति से ही भविष्यज्ञान होता है।

लग्न कुण्डलिका में स्थापित ग्रह संस्थान केवल स्पष्ट ग्रह ज्ञान के आधीन है। स्पष्ट ग्रह का ज्ञान गोलनिरूपणात्मक उपपत्ति सिद्ध ज्ञान के आधीन होता है। ग्रहगणित ज्ञान के बिना ग्रहगोल का ज्ञान नहीं हो सकता।

अतः गोलाध्याय अध्ययन के इच्छुक छात्र को प्रथमतः गणिताध्याय का ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि गणित ज्ञान बिना गोलज्ञान सम्भव नहीं है। इसी आशय से आचार्य ने प्रथमतः गणिताध्याय का सर्जन कर तदनन्तर इस गोलाध्याय की रचना की है ॥६॥

इदानीं ज्योतिःशास्त्रश्रवणाधिकारिलक्षणमाह—

द्विविधगणितमुक्तं व्यक्तमव्यक्तयुक्तं
तदवगमननिष्ठः शब्दशास्त्रे पटिष्ठः ।
यदि भवति तदेदं ज्योतिषं भूरिभेदं
प्रपठितुमधिकारी सोऽन्यथा नामधारी ॥७॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥७॥

मरीचिः—अथ वादीत्यादिश्लोकत्रयसिद्धं गोलाध्यायपिपठिषुस्वरूपं लाघवान्मालिन्याऽऽह—**द्विविधेति** । द्विविधगणितं प्रकारद्वयेन गणितमुक्तम् । अस्मिन् ग्रन्थे निरूपितम् । प्रकारद्वयं स्फुटयति—व्यक्तमिति । व्यक्तं पाटीगणितम् । अव्यक्तं बीजगणितं तेन युक्तं सहितम् । पाटीगणितं बीजगणितं चेति । तथा च ग्रहगणितनिरूपणानन्तरं प्रक्रियोपयुक्तत्वेन पाटीगणितं निरूप्य तदनन्तरं ग्रहगणितविशेषोपपत्त्युपयुक्तत्वेन बीजगणितं पाटीगणितोपजीव्यं निरूपितमित्यर्थः । उक्तोपयोगमाह—तदवगमननिष्ठ इति । तयोर्गणितयोरवगमनं ज्ञानं तत्र निष्ठा निश्चयो यस्य तज्ज्ञानवानित्यर्थः । तयोर्ग्रन्थमध्ये स्थितत्वात्तच्छब्दादेव ग्रहगणितज्ञानवांश्चेति सिद्धम् । शब्दशास्त्रे व्याकरणे पटिष्ठः । अतिशयेन पटुः कुशलः । व्याकरणशास्त्रतत्त्वज्ञ इत्यर्थः । तादृशो यदि भवति तदा तर्हि स पिपठिषुः, इदं प्रसिद्धं ज्योतिःशास्त्रं भूरिभेदं गोलयन्त्रं प्रश्नाध्यायात्मकग्रन्थैकदेशं प्रपठितुं तत्त्वं ज्ञातुमधिकारी । अन्यथोक्तस्वरूपाभावे नामधारी । तत्पिपठिषुः केवलं भवति न तत्तत्त्वज्ञानेच्छुः । तादृशस्यायं ग्रन्थैकदेशो दुर्ज्ञेय इत्यर्थः ॥७॥

केदारदत्तः—यहाँ गणित भेद बताये जा रहे हैं—यह ग्रंथ अंकगणित और बीज गणित सहित है। इस ग्रन्थ में जिस छात्र की उक्त दोनों गणितों में पूर्णनिष्ठा सर्वांश सम्बन्धित है, ऐसे गणित ज्ञानवान् छात्र को व्याकरण शास्त्र में भी अत्यन्त कुशल होना चाहिए, ऐसा सुयोग्य छात्र, अनेक भेद युक्त गोलयंत्र, प्रश्नाध्याय प्रभृति अध्यायों से युक्त इस ग्रन्थ के अध्ययन का उत्तम पात्र होता है, अन्यथा वह केवल ज्यौतिष नामधारी ही रहेगा। अंकगणित बीजगणितादि अनेक विध गणित गोल ज्ञान रहित छात्र इस ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी नहीं होगा ॥७॥

अथ व्याकरणवर्णनमाह—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्-
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमा-
ञ्शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥८॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥८॥

मरीचि :—ननु वादीत्यादिना दृष्टान्तद्वारेण शास्त्रान्तरं विना व्याकरणमप्रयोजक-मित्युक्तं न तु ज्योतिःशास्त्रं तथोक्तम्। अत्र व्याकरणस्थानापन्नगोलाध्यायस्याभ्युपगमात्। तथा च शब्दशास्त्रे पटिष्ठ इत्युक्तमनुपयुक्तमित्यतः सिंहोद्धतयाऽऽह—य इति। अतोऽस्मा-त्कारणादेतद्व्याकरणं प्रथमं वेदाङ्गेषु प्रथममुद्दिष्टमधीत्य धीमाञ्शास्त्रान्तरस्य श्रवणे पठने। श्रवणस्य श्रोत्रमनःसंयोगविषयत्वात्। अधिकारी स्यात्। लौकिकोक्त्या धीमान्। श्रवण (पठने) इतिपदाभ्यां महीत्कर्षः सूचितः। तथा च ज्योतिःशास्त्रस्यापि शास्त्रान्तरत्वादेत-त्पठनार्थं व्याकरणेऽधिकारीति प्रागुक्तं युक्तमेवेति भावः। ननु शास्त्रान्तराध्ययने तस्य किं प्रयोजनमित्यतः कारणमाह—य इति। यस्मात्कारणाद्यः पिपठिषुर्वेदवदनं व्याकरणं सम्य-क्तत्त्वतो वेद जानाति स पिपठिषुर्वेदमाम्नायम्। अपिशब्दादर्थदुर्गमावधिभूतमित्यर्थः। वेद जानाति। अन्यशास्त्रं तदपेक्षया सुगमं जानातीत्यत्र किं वक्तव्यम्। व्याकरणस्य वेदमुख-त्वेन तदवगमात्संपूर्णवेदार्थज्ञानेऽनायासः। तेन शब्दार्थानां परिच्छिन्नत्वादिति भावः। स्यादेतत्। परं शास्त्रान्तरज्ञानं कुतो जायत इत्यत आह—सदनमिति। हि निश्चयेन। ब्राह्म्याः सरस्वत्याः सर्वशास्त्रमयरूपायाः सदनं गृहम्। व्याकरणं सरस्वतीगृहम्। शास्त्रस्य शब्दात्मकत्वात्। तथा च सकलशास्त्ररूपसरस्वत्या व्याकरणरूपगृहस्य तन्निवास-भूतस्य ज्ञाने सकलं शास्त्रस्वरूपसरस्वतीज्ञानं भवेदिति भावः ॥८॥

केदारदत्त :—सर्वप्रथम व्याकरण ज्ञान आवश्यक है—जिस छात्र ने सर्वशास्त्र मयी सरस्वती का मुख रूप व्याकरण शास्त्र का ज्ञान कर लिया है वह छात्र समग्र ज्ञान भण्डार वेद का भी ज्ञान कर सकता है, ऐसे सुयोग्य वैयाकरण छात्र के लिए अन्य शास्त्रों का ज्ञान भी और अधिक सुलभ हो जाता है।

अतः कोई भी छात्र व्याकरण शास्त्र के ज्ञान के अनन्तर ही शास्त्रान्तर ज्ञान का उत्तम पात्र होता है। व्याकरण ज्ञान के अनन्तर ही अन्य शास्त्रों की ज्ञान कक्षा में प्रवेश समुचित होता है ॥८॥

अथाऽऽत्मनो गोलग्रन्थस्य प्रवृत्त्यर्थमन्योक्तिप्रकारेणाऽऽह—

गोलं श्रोतुं यदि तव मतिर्भास्करीयं शृणु त्वं
नो संक्षिप्तो न च बहुवृथाविस्तरः शास्त्रतत्त्वम् ।
लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्माद्
विद्वन् विद्वत्सदसि पठतां पण्डितोक्तिं व्यनक्ति ॥९॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥९॥

इति गोलप्रशंसाध्यायः ।

मरीचि :—ननु तथाऽपि लल्लश्रीपत्यादिकृतगोलग्रन्थानां सत्त्वात्तत्कृतो गोलग्रन्थो व्यर्थ इत्यतो मन्दाक्रान्तावृत्तेनाऽऽह—**गोलमिति** ।

हे विद्वंश्चतुर तव गोलं गोलाध्यायं श्रोतुं पठितुं बुद्धिर्यदि भवति । यदीत्यनेन प्रागुक्त-युक्त्या गोलाध्यायारम्भो व्यर्थो नेति त्वया निश्चितमन्यथा तत्पठनेच्छानुपपत्तेरिति सूचि-तम् । तर्हि भास्करीयं भास्कराचार्यनिर्मितमेनं गोलाध्यायं शृणु पठ । प्राचीनग्रन्थानां सत्त्वादत्राऽऽग्रहः कथमित्यत आह—स इति ।

यस्मात्कारणात्स भास्कराचार्यनिर्मितोऽयं गोलग्रन्थो विद्वत्सदसि पण्डितसभायां पठतां स्वपाठकपुरुषाणां पण्डितोक्तिं व्यनक्ति प्रकाशयति । पण्डितसभायामेतत्पठतस्तत्स्थाः पण्डितोऽयमस्तीति वदन्तीत्यन्यगोलं पठतस्तादृशोक्त्यनाश्रयत्वान्मदुक्तोऽयं गोलग्रन्थो न व्यर्थ इति भावः । पण्डितोक्तिं कुतो व्यनक्तीति भास्करीयगोलस्य विशेषणमाह—शास्त्र-तत्त्वमिति । सकलगोलग्रन्थसारभूतमित्यर्थः । अत्र हेतुभूतविशेषणद्वयमाह—नो इति । संक्षिप्तोऽल्पविचारो नो । बहुवृथाविस्तरो न च । व्यर्थोक्त्या विस्तृतोऽपि न कृत इत्यर्थः । नन्वेवं कठिनो भविष्यतीत्यत आह—लीलागम्य इति । किंचिदुपदेशेनैवैतद्बोधो भवतीत्यर्थः । अत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—सुललितपदप्रश्नरम्य इति । सुललितानि पदानि विद्यन्ते येषु ते च ते प्रश्नाः । गोलप्रश्नास्तै रम्यः । तथा च ललितपदैः पद्यानां दुर्गमार्थत्वाभावात्प्र-श्नतात्पर्यबोधेन तदुत्तरजिज्ञासयोत्तरपद्यान्यपि तादृशपदैर्न दुर्गमार्थानीति लीलागम्योऽयं गोलाध्याय इति भावः । प्रश्न इत्यनेन गोलप्रश्नाध्यायोऽत्र पृथक्समनन्तरमेवोक्त इति सूचितम् ॥९॥

ननु प्रतिज्ञातगोलाध्यायमुपेक्ष्येदमन्यदेव निरूपितमतः फक्किकयाऽऽह—इति श्रीसिद्धा-न्तशिरोमणौ गोलप्रशंसेति । कस्यचित्पाताधिकारान्तग्रन्थः शिरोमणिः । अयं ग्रन्थस्तु

तद्भिन्नो गोलाध्याय इति भ्रमवारणार्थं सिद्धान्तशिरोमणावित्युक्तम् । पाताधिकारान्तमुद्दिष्टसिद्धान्तपदार्थानामललिला (ता) नामनिरूपणात् । गोलाध्यायनिरूपणसंगतिरुक्तैतद्ग्रन्थेनाग्रे गोलो निरूपयिष्यत इति न क्षतिः ।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
याता शिरोमणिमरीच्यभिधे प्रशंसा गोलस्य सुज्ञगणकाभिमता समाप्तिम् ।।

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकसुतविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचौ गोलप्रशंसा संपूर्णा ।।

केदारदत्तः—आचार्य अपने इस गोलाध्याय के अध्ययन के लिये छात्रों को प्रवृत्त कर रहा है—हे विद्वन् ! यदि आपकी गोलाध्याय पढ़ने की इच्छा है तो भास्कराचार्य विरचित इस गोलाध्याय को सुनिए अर्थात् पढ़िये ।

यतः पण्डित सभा में यह गोलाध्याय पाण्डित्य का प्रकाशक होता है, अर्थात् गोलशास्त्र का पाठक छात्र ही पाण्डित्य पूर्णता से प्रत्येक पण्डित का विशेष आदरणीय हो जाता है ।

यह गोलाध्याय न तो अत्यन्त संक्षिप्त ही है और न क्रम प्राप्त बहुत विस्तार ही है ।

थोड़े ही उपदेश से छात्रों के लिए यह सुबोध मय हो जाता है । इस गोलाध्याय का गर्भ, सुललित पद और सुन्दर प्रश्नों से युक्त होने से बड़ी सरलता से ज्ञान लोलुप सुयोग्य शिष्यों के लिए अत्यन्त सरल है ।।९।।

इति सिद्धांतशिरोमणि गोलाध्याय-१ की पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक 'केदारदत्तः' हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

●

अथ गोलस्वरूपप्रश्नाध्यायः

अथ भूसंस्थानप्रश्नं श्लोकद्वयेनाऽऽह—

भ्रमद्भचक्रचक्रान्तर्गगने गगनेचरैः ।
वृता धृता धरा केन येन नेयमियादधः ॥१॥
किमाकारा कियन्माना नानाशास्त्रविचारणात् ।
कीदृग्द्वीपकुलाद्रीन्द्रसमुद्रैर्मुद्रितोच्यताम् ॥२॥

वा० भा०—इयं भूर्गगनेचरैः खेचरैर्वृता केन धृता सती गगने परितो वर्तमानेऽधो नेयान्न गच्छेत् । कथमियं गगने स्थितेत्यवगतम् । यतो भ्रमद्भचक्रचक्रान्तर्वर्तते । भानां चक्रं समूहः । भचक्रमेव चक्रं भचक्रचक्रम् । यदि भूमेर्मूर्ताधारपम्पराऽङ्गीक्रियते तदा समन्ताद्वर्तमानघनभचक्रस्याऽऽधारे स्खलितस्य भ्रमणं नोपपद्यत इत्यर्थः । तथा च सा भूः किमाकारा कियन्माना द्वीपानां कुलाचलेन्द्राणां च कीदृगवस्थानमिति सर्वं नानाशास्त्रविचारणात् । बौद्धादिप्रतिवादिपक्षमधरीकृत्योच्यतामित्यर्थः ॥१॥२॥

मरीचिः—अथ य(मे)रुधिष्ण्यग्रहसंस्थितिरूपगोलनिरूपणस्योपपत्तिज्ञानोपजीव्यत्वेनाऽऽरम्भणात्पूर्वापरग्रन्थसंगत्यवगमार्थमुपपत्तिप्रश्नरूपगोलप्रश्ननिबन्धनोऽयं प्रश्नाध्यायः । पूर्वाध्यायेन गणितपदार्थानां सामान्यतो ज्ञानात्तद्विशेषजिज्ञासोदयावश्यंभावादयमेव पूर्वार्धखण्डनाध्यायत्वेन फलित इत्यवगम्यते । एतत्पदार्थतत्त्वज्ञातुरग्रे यावत्खण्डनं न क्रियते तज्जिज्ञासकेन तावत्तस्य तत्तत्त्वप्रतिपादने सम्यगिच्छानुदयात् । गुरोस्तत्प्रतिपादनेच्छया शिष्याणां तत्तत्त्वबोधसंभवाधि(दि)त्यारब्धोऽयं प्रश्नाध्यायो व्याख्यायते । तत्र पूर्वाध्यायप्रतिपादितग्रहगणितोवत्यवश(ग)तभचक्रसंस्थानं तदुपजीव्यं निराकर्तुं तन्मध्यस्थितत्वेनावगतभूमिगोलस्य निराधारस्याऽऽधारप्रश्नव्याजेन भूमेर्निराधारतामनुष्टुभा खण्डयति—भ्रमदिति ।

भ्रमद्भचक्रचक्रान्तः । भानामश्विन्यादिनक्षत्राणां चक्रं समूहस्तस्याऽऽश्रयीभूतं यच्चक्रं पाञ्चभौतिकं गोलाकारं वस्तु भ्रमतस्तद्गोलस्यान्तर्मध्ये गोलप्रदेशेभ्यस्तत्परिधिव्यासार्धेन यदेकं स्थानं तन्मध्यस्थिताकाशे ज्ञातं तद्गोलकेन्द्रं तत्र गगने स्थिता धरा गगनेचरैर्ग्रहैश्चन्द्रबुधशुक्रसूर्यादिभिर्वृता समन्ताद्व्याप्ता । यथा नक्षत्राधिष्ठितगोलो भूमेः समन्तात्तुल्यान्तरेणास्ति तथा ग्रहास्तदन्तर्गताकाशे भूमेस्तुल्यान्तरेण भ्रमन्तीत्यर्थः । एतादृशीयं स्वाश्रयतया प्रत्यक्षा भूः केनाऽऽधारेण धृता तन्मध्यस्थाकाशविशेषस्थत्वेन सदा स्थिरेत्यर्थः । येनाऽऽधारेणेयं भूरधस्तन्मध्यस्थाकाशविशेषादधोभागे नेयान्न गच्छेत्तमाधारं वदेति शेषः ।

अयमभिप्रायः। सृष्ट्वा भचक्रमित्यादिना भूमेः समन्तात्तुल्यान्तरेण नक्षत्रचक्रग्रहाः प्रवहवाय्वाघातेनाऽऽकाश उदयास्तदर्शनान्यथानुपपत्त्या भ्रमन्तीति ज्योतिःशास्त्रतत्त्वज्ञैरुक्तं तन्न युक्तिसहम्। एतेषां भूमितोऽभितो ग्रहणे भूमेस्तन्मध्यस्थत्वानुपपत्तेः। नह्याधारं विनाऽऽकाशे किंचिदपि वस्तु प्रसिद्धम्। प्रत्युत गुरुत्वात्पतनमेव भूमेस्तेन भूसमन्ताद्भचक्रादीनां भ्रमणानुपपत्तिः। यदि चाऽऽधारेणैव भूमिस्तद्गोलमध्यस्थैव तदा तदाधारस्याऽऽकाशस्त्वेन पतनसंभवादाधारान्तरमेवं तस्याप्येवमाधारपरम्परा भ्रमद्गोलप्रदेशविशेषसंलग्नेति तद्भ्रमणानुपपत्तिः। तथा चैतद्भचक्रसंस्थानस्यायुक्तत्वात्तन्मूलकसर्वग्रहगणिताद्युक्तोच्छेदः। उक्तग्रहगणितस्य ग्रहगत्युपजीव्यत्वात्। ग्रहगतेश्च पूर्वतोऽपरत्र भूमावाधारे वा प्रतिबन्धकत्वादसंभवः। गणितस्यानियतविषयत्वाभावादिति। भ्रमद्भचक्रचक्रान्तरित्यनेन नक्षत्रग्रहस्वरूपसंस्थानप्रवहवाय्वादीनां प्रश्नोऽपि सूचितः॥१॥

नन्वाधारपरम्परायामप्याधारग्रहनक्षत्राणि विभिद्य गच्छन्तीति तद्भ्रमणे बाधकाभावाद्गणितानुपपत्तिर्नेत्यतो भूमेः प्रश्नविशेषच्छलेन गणितैकदेशानुपपत्तिमनुष्टुभाऽऽह—**भूः किमाकारेति।** उच्यतां निर्णीयतां भूमेराकारः कथमस्तीति विचारणीयम्। तथा च भुवो मुकुरोदराकारत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सर्वदेशेषु युगपत्सूर्योदयास्तसंभावनया दिनमानभेदचरदेशान्तरानुपपत्तेः। क्षितिजभेदाभावात्। दिनमानादिभेदचरदेशान्तरोपपत्त्यर्थं क्षितिजभेदस्याऽऽवश्यकत्वेन तस्य गोलाकारत्वे सूपपन्नत्वात्। तन्मते भुवो गोलाकारत्वसिद्धौ प्रत्यक्षबाधो महान्दोष इति भावः। ननु यथा चन्द्रबिम्बात्मको गोलोऽस्माभिः शृङ्गोन्नत्युपजीव्योऽपि मण्डलाकारतया प्रतीयते तथैव भूगोलोऽपि केनचिद्दोषेणाऽऽदर्शाकारत्वेन प्रतीयत इति न दोष इत्यत आह—कियन्मानेति। भूः कियत् मानं प्रमाणं यस्याः। भूमिः कियद्योजनपरिमिताऽस्तीति निर्णीयताम्। नानाशास्त्रविचारणात्। अनेकशास्त्राणि पुराणज्योतिषार्षग्रन्थादयस्तेषां विचारादेकवाक्यत्वरूपादित्यर्थः। तथा चानेकग्रन्थेषु सूर्यसिद्धान्ताद्यार्यभट्टब्रह्मगुप्तलल्लश्रीपतिभट्टकृतेषु पुराणेषु च भूमेर्माने परस्परमसंवादात्तदेकवाक्यताकरणस्य ब्रह्मणोऽप्यशक्यत्वाच्चैकतरमाननिर्णयासंभवाद्भूमानजनितगणिताद्युच्छेदापत्तिः। ननु यत्परिध्यानीतं गणितं संवदति स एव भूपरिधिस्तेन न गणितोच्छेद इत्यत आह—कीदृगिति। द्वीपानि कुलपर्वता इन्द्रपदादन्यपर्वतेभ्यः श्रेष्ठाः। समुद्राः, एतैर्मुद्रिता भून्र्याप्ता भूः कीदृक्कथमस्तीति निर्णीयताम्। तथा च भुवो गोलाकारत्वे द्वीपादीनामेतेषामूर्ध्वभागस्य स्वल्पत्वेन तत्रावस्थानासंभवादन्यत्र तिर्यगधःस्थत्वेन पतनसंभवादवस्थानासंभवाच्च। मुकुरोदरत्वे तु सर्वेषामवस्थानसंभवाद्देशान्तरादिगणितोच्छेदापत्तिः। एवं चन्द्रबिम्बादिकमपि मुकुरोदरसंनिभमिति दृष्टान्तसिद्धौ मानाभावाच्चेति भावः॥२॥

केदारदत्तः—पृथ्वी की स्थिति कैसी है? अश्विन्यादि नक्षत्र चक्रान्तर्गत ग्रहों से आवृत यह पृथ्वी किससे धारित है? जिससे ये आकाश में नीचे; ऊपर नहीं जा रही है। तथा पृथ्वी किस आकार की है? और पृथ्वी का मान क्या है? उप द्वीप-महाद्वीप-पर्वत, पर्वत श्रेष्ठ समुद्रादिकों से घिरी हुई पृथ्वी कैसी है इन सब विषयों का निर्णय करिए॥१॥२॥

इदानीं ग्रहस्फुटीकरणोपपत्तिप्रश्नाञ्श्लोकद्वयेनाऽऽह—

संसिद्धाद्द्युगणाद्युगादिभगणैः खेटोऽनुपातेन यः
स्यात्तस्यास्फुटता कथं कथमथ स्पष्टीकृतिर्नैकधा ।
किं देशान्तरमुद्गमान्तरमहो बाह्वन्तरं किं चरं
किं चोच्चं मृदु चञ्चलं च तदिदं कस्तात पातः स्मृतः ।।३।।
किं केन्द्रं किमु केन्द्रजं किमु चलं किं वाऽचलं तत्फलं
कस्मात्तत्सहितः कुतश्च रहितः खेटः स्फुटो जायते ।
किं दृक्कर्म तथोदयास्तसमये द्वेधा विदध्युर्बुधाः
सर्वं मे विमलं वदामलमलं गोलं विजानासि चेत् ।।४।।

वा० भा०—अत्र किं देशान्तरमुद्गमान्तरमित्यादि यत् पृष्टं तत् सर्वं मे विमलं यथा भवति तथा वद । यद्यमलं ब्रह्मादिसुकविरचितं गोलमलमत्यर्थं विजानासि । शेषं स्पष्टम् ।।३।।४।।

मरीचिः—अथ भचक्रसंस्थानमूलकत्वेन ग्रहगणितजातं सामान्यतो निरस्य गणितोक्त्याऽपि तन्निराकर्तुं शार्दूलविक्रीडितेन प्रश्नानाह—संसिद्धेति ।

संसिद्धात्सम्यगदुष्टत्वेन सिद्धात्साधिताद्द्युगणादहर्गणात् । कथितकल्पगतोऽर्कसमागण इत्यादिनोक्तादहर्गणादुपपत्तिसिद्धत्वेनादुष्टादित्यर्थः । युगादिभगणैः । ग्रहाणामुक्तयुगसंबन्धिभगणैर्द्वादशराशिभोगपर्यायैः । आदिपदात्कल्पसूर्यसिद्धान्ताभिमतसृष्ट्यादिभगणैरित्यर्थः । अत्र युगग्रहणं शिष्यधीवृद्धिदतन्त्राभ्यासात्कृतमिति ध्येयम् । अनुपातेन प्रामाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोः स्तः । फलमन्यजातीयमुक्तत्रैराशिकविधिना यो ग्रहो द्युचरचक्रहत इत्याद्युक्तप्रकारसिद्धः । तस्य ग्रहस्यास्फुटताऽस्पष्टत्वमवास्तवत्वं कथं भवति । अहर्गणभगणकुदिनानां वास्तवत्वात् । तज्जनितो ग्रहः स्पष्टः कथं न स्यान्मध्यः कुतो ज्ञात इत्यनेन मध्यमाधिकारः खण्डित इति भावः ।

नन्वनुपातानीतग्रहस्याऽऽकाशे संवादाभावादेव फलबलकल्प्यं मध्यमत्वमतो न तदधिकारवैयर्थ्यमित्यत आह—कथमिति । अथ यथाकथंचिदसंवादाद्ग्रहस्य मध्यमत्वे स्थापितेऽपि स्पष्टीकृतिर्ग्रहाणामुक्ता स्पष्टक्रियैकधैकप्रकारेण कथं नोक्ता । यथा सर्वे मध्यग्रहा एकानुगतानुपातेनोक्तास्तथा ते स्पष्टग्रहा अप्यनुगतैकानुपातेन नोक्ता इति । भिन्नभिन्नाव्यवस्थितानयनकल्पने मानाभावात्संवादस्य कादाचित्कत्वेन स्पष्टाधिकारस्त्वयुक्त इति तद्वैयर्थ्यमिति भावः । ननूक्तस्पष्टक्रियया ग्रहाणां संवादावश्यंभावात्स्पष्टक्रियाप्रतिपादकोऽधिकारो न व्यर्थ इत्यत आह—किमिति । देशान्तरं मध्याधिकारोक्तं किं किमर्थम् । व्यर्थमित्यर्थः । अहो इत्याश्चर्ये । उद्गमान्तरमुदयान्तरं ग्रहाणां स्पष्टाधिकारोक्तं किमिति कल्पितम् । पूर्वग्रन्थे तस्यानुक्तेस्त्वया स्वबुद्ध्या यत्कल्पितं तदप्ययुक्तम् ।

प्राचीनोक्तस्य संस्थानमेव संप्रति दुर्घटं जातमस्ति, कथमनेन स्वकल्पितमधिकमुदयान्तरं ग्रहाणां कृतमिति महदाश्चर्यपदम्। बाह्वन्तरं भुजाख्यं यद्ग्रहाणामुक्तं तदपि व्यर्थम्। चरं च व्यर्थम्। तथा चाहर्गणस्योदयाधीनत्वेनोदयकालीनत्वात्तज्जनितमध्यमग्रहस्य तत्कालीनत्वेन तज्जस्य स्पष्टस्यापि तत्कालीनत्वसिद्धेरुदयकालीनत्वसिद्ध्यर्थं देशान्तरोदयान्तरभुजान्तरचरसंस्कारा उक्ता असंगताः। भूमेर्मुकुरोदराकारत्वेन सर्वत्रोदयकालैक्यात्। गोलाकारत्वे चाहर्गणस्य लङ्कोदयकालिकत्वे मानाभावात्। देशोदयकालिकत्वमेवाऽस्तामिति मध्यस्पष्टाधिकारयोः संपूर्णयोरव्यर्थत्वेऽपि देशान्तरचरोदयभुजान्तरप्रतिपादनेन मध्यस्पष्टाधिकारैकदेशो व्यर्थ इति भावः। ननु तथाऽपि तयोरखण्डयोरधिकारयोरसंगतत्वं न सिद्धमित्यत आह—किंचेति। सन्मध्याधिकारोक्तभगणादि सिद्धम्। इदं ग्रहवज्ज्ञातं मृदु उच्चं मन्दोच्चं चञ्चलं चकारादुच्चं शीघ्रोच्चं किं कथमाकाशेऽस्तीत्यर्थः। चकारः प्रश्नसमुच्चये। तथा च रव्यादिसप्तग्रहाणामाकाशदर्शनात्तद्भगणादितन्निरूपणं युक्तम्। उच्चानामाकाशे दर्शनाभावात्तत्सत्त्वे मानाभावात्कथं तेषां भगणाद्युक्तं संगच्छत इति मध्यमाधिकारस्त्वयुक्तः। स्पष्टाधिकारश्च तदुपजीव्यत्वेनैव खण्डित इति भावः। प्रसङ्गाद्ग्रहोपजीव्यत्वेन निरस्तानामधिकारान्तराणां स्फुटोक्त्या निरासार्थं प्रश्नमाह—क इति। हे तात पितः स्मृतौ मध्यमाधिकारे भगणादिनाऽऽनीतः पातः कः किंस्वरूप आकाशेऽस्ति। तथा च रवेः पातस्वरूपादर्शनात्पातसत्त्वे मानाभावात्। पातजनितशरेऽपि तत्त्वात्तदुपजीव्यग्रहणग्रहच्छायाद्यधिकारोक्तं व्यर्थमेवेति तदधिकाराः खण्डिताः। अत्राज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः। ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयतीत्युक्त्यैतादृक्खण्डकस्तत्तत्त्वज्ञेनोपेक्षणीय इति। तत्तत्त्वज्ञानेच्छोः कथमपि ज्ञानं न स्यादतस्तातेति संबोधनम्। तेन च पितुरग्रे बालकेन यत्किंचित्संगतमसंगतं वाऽखण्डयत्तत्तत्सर्वं पित्रा तन्मनःसमाधानपूर्वकं त्वया समाधीयतामिति भावः ॥३॥

ननूच्चादीनां स्वरूपादर्शनेऽपि मध्यमस्पष्टग्रहान्तररूपफलस्य तदुपजीव्यत्वेन तत्स्वभावान्न पूर्वाधिकारयोरसंगतत्वमित्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—**किं केन्द्रमिति।**

केन्द्रं ग्रहोच्चोत्तररूपं किम्। आकाशे किमात्मकमन्तरमित्यर्थः। केन्द्रजं केन्द्रोत्पन्नभुजकोटिज्ज्यादिकं च किमु किमात्मकमस्ति। तत्फलं तस्य भुजज्याया उत्पन्नं फलं चलं शीघ्रं किमु। अचलं मन्दम्। वाकारः समुच्चये। किं। तथा च मध्यस्पष्टग्रहान्तरं रूपफलं भौमादीनामेकरूपेणैव सूर्यचन्द्रवत्कथं न साधितम्। कथं च तच्छकले भिन्नभिन्नकेन्द्रकल्पनया साधिते इत्यत्र युक्त्यभावादनुपपन्नस्पष्टाधिकार इति भावः। नन्वन्तरं येन केन प्रकारेणाऽऽनीयतामित्यत आह—कस्मादिति। खेटो मध्यग्रहस्तद्रहितः फलेन वर्जितः कदाचित्स्फुटो जायते कस्माद्धेतोः। कदाचिच्चकारात्फलेन सहितो युक्तो मध्यः स्फुटः कुतो हेतोर्जायते। तथा च मन्दफलं मेषतुलादिकेन्द्रजं ऋणं धनम्। शीघ्रफलं तत्केन्द्रयोर्धनर्णमित्याद्यनियमे प्रमाणाभावादेकरूपस्यौचित्याच्च स्पष्टाधिकारस्त्वयुक्त एवेति भावः। नन्विदं दृक्साम्यसंपादनात्फलबलसिद्धं तयोर्वैजात्यमतो न किंचि-

द्विरुद्धमित्यत आह—किमिति । बुधास्तदभिज्ञा उदयास्तमययोरुदययोर्नित्योदयसूर्याधीनोदययोरित्यर्थः । अस्तयोर्नित्यास्तसूर्याधीनास्तयोश्चेत्यर्थः । दृक्कर्म द्वेधा । द्विधाभूतमायनमाक्षं चेत्यर्थः । ग्रहे विदध्युः संस्कुर्युः । तत्तथा । उदयास्तयोरेवेति किं नियतमित्यर्थः । तथा च विना दृक्कर्मसंस्कारं दृक्साम्यसिद्धिर्न घटते । अन्यथा दृक्कर्मसंज्ञाव्याघातः । अतो ग्रहस्पष्टत्वसिद्ध्यर्थं दृक्कर्मापि संस्कार्यं मन्दशीघ्रफलवदित्युदयास्तलग्नसाधनार्थमेव तद्दानमुपयुक्तमिति भावः । तस्मादुक्तरीत्या त्वदुक्तं पूर्वार्धप्रतिपादितं ग्रहगणितमयुक्तमित्युपसंहरति—सर्वमिति । चेद्यदि । अमलं निर्दूषणं गोलममलमत्यर्थं विजानासि तर्हि मे मम सर्वं पूर्वार्धोक्तगणितजातं विमलं निर्दूषणं वद । पूर्वार्धेन तत्पदार्थानां सामान्यज्ञानात्तत्पदार्थस्वरूपप्रतिपादनानुक्त्या सर्वमसंगतं गणितजातमिति भावः ।।४।।

केदारदत्तः—कल्पगत अहर्गण से अनुपात द्वारा साधित मध्यम ग्रह की स्पष्टता में अनेक गणितों की क्या आवश्यकता है ? देशान्तर क्या है ? उदयान्तर क्या है ? भुजान्तर क्या है ? चर नामक गणित पदार्थ क्या है ? मृदु शीघ्र उच्च, पात तथा मन्दशीघ्रोच्च फल क्या हैं ? क्यों इन्हें धन वा ऋण किया जाता है ? ग्रहोदयास्त कर्म में द्विविध दृक्कर्म (आयन और आक्ष) क्या हैं ? दोष रहित स्वच्छ गोल ज्ञान यदि है तो उक्त सभी प्रश्नों का निर्दोष उत्तर कहिए ।।३।।४।।

अथ त्रिप्रश्ने दिनमानभेदप्रश्नं श्लोकद्वयेनाऽऽह—

महदहः किमहो रजनी तनुर्दिनमणौ गणकोत्तरगोलगे ।
ननु तनुर्दिवसो महती निशा वद विचक्षण दक्षिणदिग्गते ।।५।।
भवति किं द्युनिशं द्युनिवासिनां द्युमणिवर्षमितं च सुरद्विषाम् ।
पितृषु किं शशिमासमितं तथा युगसहस्रगुणं द्रुहिणस्य किम् ।।६।।

वा० भा०—स्पष्टम् ।।५।।६।।

मरीचिः—अथ चरघटीसहिता रहिता इत्यादिना स्पष्टाधिकारोक्तदिनरात्र्योरुत्तरगोले महदल्पत्वं दक्षिणगोलेऽल्पमहत्त्वं सिद्धं द्रुतविलम्बितेन खण्डयति—महदिति ।

हे गणक गणितज्ञ । उत्तरगोलाधिष्ठिते सायनसूर्ये, अहो इत्याश्चर्ये । अहो दिवसो महान्युक्तो भवति । रात्रिस्तनुरल्पा कुतो भवति । भूमेरविकृत [त्वे] नोदयास्तस्थलयोरेकवृत्तस्थत्वाच्च । गोलसंधौ दिनरात्र्योस्तुल्यत्वेनाग्रे उत्तरगोले दिनरात्र्योर्वृद्धिक्षयौ कुतः संजातौ । कारणाभावात् । विपरीतमेव किं न जातमित्याश्चर्यपदम् । एवं दक्षिणदिग्गते दक्षिणगोलस्थे सायनसूर्ये हे विचक्षण पदार्थस्वरूपविचारक । नन्विति । पूर्वपक्षद्योतकं वितर्के वा । दिवसस्तनुरल्पः किं निशा महती किं, अत्र कारणं वद । तथा च दिनरात्र्योरुत्तरदक्षिणगोलक्रमेण सदृशत्वमयुक्तम् । सदैकरूपस्य युक्तत्वात् । अत्र उक्तं दिनरात्र्योर्विसदृशत्वमसंगतं युक्त्यभावादिति भावः ।।५।।

अथ प्रसङ्गाद्देवपितृप्रजापतीनां मध्याधिकारोक्ताहोरात्राणि द्रुतविलम्बितेन खण्डयति—भवतीति।

द्युनिवासिनां देवानाम्। सुरद्विषां दैत्यानां च। चः समुच्चये। तेन देवदैत्ययोरित्यर्थः। द्युमणिवर्षमितं सौरवर्षप्रमाणं द्युनिशमहोरात्रं किं भवति कस्माद्धेतोर्भवति। यथाऽस्मद्देशे षष्टिघटीमितमहोरात्रं तथा तयोः सौरवर्षमितमहोरात्रं द्युरात्रं च देवासुराणां तदेवेति मध्याधिकारे कया युक्त्योक्तं कथं च षष्टिघटीमितेनोक्तम्। एवं पितृषु पितृविषये। तेषामित्यर्थः। चान्द्रमासमितं तथाऽहोरात्रम्। एतच्च पैत्रं द्युरात्रमित्यनेनोक्तं किं कुतो हेतोः। द्रुहिणस्य ब्रह्मणो युगसहस्रयुगं कल्पद्वयप्रमाणमहोरात्रं स्याद्युगानां सहस्रं दिनं वैधसं सोऽपि कल्पो द्युरात्रं तु कल्पद्वयमित्यनेन कथमुक्तं कारणाभावात्॥६॥

केदारदत्तः – हे गणक उत्तरगोलगत सूर्य में दिनमान अधिक रात्रिमान कम क्यों होता है? तथैव दक्षिण गोलगत सायन सूर्य में रात्रिमान अधिक और दिनमान कम क्यों होता है? एक सौर वर्ष काल प्रमाण के तुल्य समय में देवताओं और असुरों का एक ही दिन क्यों होता है। तथा एक चान्द्र मासतुल्य काल में पितृलोक (चन्द्रपृष्ठ) में एक ही दिन क्यों होता है। तथा कल्पद्वयप्रमाण काल में ब्रह्मा का एक ही अहोरात्र क्यों होता है। (एककल्प तुल्य काल में ब्रह्मा का १ दिन और १ कल्पकाल की ब्रह्मा की १ रात्रि होती है।) ॥५-६॥

अथ राश्युदयभेदप्रश्नमाह—

भवलयस्य किलार्कलवाः समाः
किमसमैः समयैः खलु राशयः।
समुपयान्त्युदयं किमु गोलवि-
न्न विषयेष्वखिलेष्वपि ते समाः॥७॥

वा० भा०—स्पष्टम्॥७॥

मरीचिः—अथैकस्य राशेर्महतो ज्यका येत्याद्युक्तनिरक्षोदयांश्च देशोदयांश्च द्रुतविलम्बितेन खण्डयति—**भवलयस्येति**।

राशयो मेषादयोऽसमैः समयैरतुल्यकालेन खलु निश्चयेनोदयं समुपयान्ति। किं कुतो मेषादिराशीनां सर्वेषामुदयकालाः समाः कथं नोक्ताः, विसदृशाः कथमानीताः। उदयकाला इत्यनु (त्यु) पलक्षणम्। अस्तकालाः कथं न समा इत्यपि ध्येयम्। ननु राशिमानानामतुल्यत्वेनैव तदुदयास्तकालावतुल्याविति युक्तमेवेत्यतो राशिविशेषणमाह—समा इति। तुल्यप्रमाणास्त्रिशद्भागात्मकाः सर्वे राशयः प्रत्येकम्। नहि मेषाद्वृषो वृषभान्मिथुनो भागैरधिको येनोदयास्तकालाः परस्परं न्यूनाधिकाः संभवन्ति। मेषाख्यत्रिशद्भागानां यावुदयास्तकालौ तावेव वृषाख्यत्रिशद्भागानां नेति कथमसंगतं स्पष्टाधिकार उक्तमिति

भावः । समत्वे मानाभाव इत्यत्र आह—भवलयस्येति । राशिसंबन्धिवृत्तस्य द्वादशांशरूपा राशयः । किल निश्चयेऽनति [रि] क्तसमा एव भाव्या इत्यर्थः । तथा च नाक्षत्रषष्टिघटी-भिर्भचक्रपरिवर्तनाद्द्वादशांशः पञ्चघटीमितो राश्युदयास्तकालो युक्तियुक्तो न त्वतुल्य इति भावः । ननु भचक्रप्रदेशविशेषस्य समत्वेऽपि तथा शक्तिरस्तीत्यत आह—किम्विति । हे गोलवित् । गोलतत्त्वज्ञातेऽपि यथाकथंचिदङ्गीकृता अतुल्योदयास्तकाला अखिलेषु सर्वेषु विषयेषु देशेषु समा अविकृताः किमु न भवन्ति । प्रतिदेशं विसदृशा उदयाः कथं संजाताः, भूमेस्तुल्यत्वादिति भावः ।।७।।

केदारदत्तः—क्रान्तिवृत्त के समान द्वादश विभागों में प्रत्येक विभाग का मेषादि से मीन पर्यन्त नाम हैं। ये द्वादश राशियाँ पृथ्वी के सभी देशों में क्षेत्रात्मक मान से तुल्य होती हुई भी कालात्मक विभिन्न विषम समयों में क्यों उदित होती हैं ? ।।७।।

इदानीं द्युज्याकुज्यादिसंस्थानप्रश्नं वृत्तार्धेनाऽऽह—

द्युज्याकुज्यापमसमनराग्राक्षलम्बादिकानां
विद्वन् गोले वियति हि यथा दर्शय क्षेत्रसंस्थाम् ।।७½।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।

केदारदत्तः—हे विद्वन् ! हे गोलज्ञ ! आकाश गोल में द्युज्या, कुज्या, क्रान्ति, समशंकु, अग्रा, लम्बांश आदिकों की सही क्षेत्र संस्था को दिखाओ ।।७½।।

इदानीं चन्द्रार्कग्रहणयोर्दिक्कालभेदाद्युपपत्तिप्रश्नान् सार्धश्लोकेनाऽऽह—

तिथ्यन्ते चेद्ग्रह उडुपतेः किं न भानोस्तदानी-
मिन्दोः प्राच्यां भवति तरणेः प्रग्रहः किं प्रतीच्याम् ।।८।।
लम्बनं बत किं का च नतिर्मतिमतां वर ।
तत्संस्कृतिस्तिथौ बाणे किं ते सिद्धे कुतः कुतः ।।९।।

वा० भा०—अत्र किल प्रष्टुरयमभिप्रायः । चन्द्रग्रहणे भूमा ग्रहणकर्त्री । पौर्णमास्यन्ते भूभेन्द्वोस्तुल्यत्वाद्युतिर्भवितुमर्हति । एवं सूर्यग्रहे चन्द्रश्छादकः । दर्शान्ते तयोस्तुल्यत्वाद्योगेन भवितव्यम् । अत उक्तम्—तिथ्यन्ते चेद्ग्रह उडुपतेः किं न भानोस्तदानीमिति । बत अहो गणक लम्बनं नाम किं नतिश्च का । तत्संस्कृतिस्तिथौ बाणे च किम् । लम्बनेन तिथिः संस्क्रियते नत्या किं बाणश्च । तथाऽन्यः प्रश्नः । ते सिद्धे कुतः कुत इति । ते लम्बनावनती कुतो हेतोः कुतः पृथिव्याः साधिते । भूव्यासार्धेन साधिते इत्यर्थः । तथेन्दोः प्राच्यां दिशि स्पर्शः किं रवेः प्रतीच्यामित्यादि सर्वं वद ।।८–९।।

मरीचिः—अथ त्रिप्रश्नग्रहणाधिकारौ खण्डितप्रायावपि मन्दाक्रान्तया खण्डयन्नाह—

द्युजेति। हे विद्वन्—अज्ञबोधक। द्युज्याकुज्याक्रान्तिज्यासमशङ्क्वग्राक्षलम्बज्यानामादिपदादुद्धृतशङ्कुतद्धृत्यादित्रिप्रश्नाधिकारोक्तानां क्षेत्रसंबद्धपदार्थानां क्षेत्रसंस्थां क्षेत्रस्थितिम्। गोले वक्ष्यमाणगोलबन्धोक्तप्रकारसिद्धवशादिगोले दर्शय। तथा यथा हि निश्चयेन वियत्याकाशे स्थितिरस्तीत्यर्थः। तथा च त्रिप्रश्नोक्तं क्षेत्रादिगोलस्वरूपसिद्धमुख्यगोले यथाऽवगतं स्यात्तथा वदेति। पूर्वं युक्त्या प्रतिपादनाभावादयुक्तमिति भावः। उडुपतेश्चन्द्रस्य मध्यग्रहणं तिथ्यन्ते पौर्णमास्यन्ते चेत्तर्हि सूर्यस्य तदानीममान्त इत्यर्थः। मध्यग्रहणं किं नोक्तम्। तथा च मध्यग्रहः पर्वविरामफल इत्युक्त्या।

चन्द्रस्य मध्यग्रहणं तद्वत्सूर्यचन्द्रयोरमान्ते पूर्णयोगसत्त्वात्सूर्यस्य मध्यग्रहणं तत्र वक्तुमुचितमिति तत्संस्कृतः पर्वविराम एव स्फुटोऽस्य [स] कृतस ग्रहमध्यकाल इत्युक्त्याऽमान्तासन्नप्रागपरकाले कथं मध्यग्रहणमुक्तम्। अतो मध्यकालो युक्त [क्त्य] भावादयुक्त्यो [क्तो] ग्रहणाधिकार इति भावः। ननु चन्द्रग्रहणे लम्बनस्याभावात्तन्मध्यग्रहणं पूर्णान्त एव भवितुमुचितम्। सूर्यग्रहणे तत्सत्त्वेनामान्तासन्नकाले मध्यग्रहणं नामान्ते। अत एव यदा कदाचिल्लम्बनाभावस्तदाऽमान्त एव मध्यग्रहणमिति न क्षतिरित्यस्वरसाद् दूषणान्तरेण खण्डयति--इन्दोरिति। चन्द्रस्य प्रग्रहः स्पर्शः प्राच्यां भवति। सूर्यस्य स्पर्शः प्रतीच्यां भवति किम्। एवमेव चन्द्रस्य मोक्षः प्राच्यां कुत इत्यपि ध्येयम्। तथा च द्वयोर्ग्रहणत्वाविशेषेण स्पर्शमोक्षवलनदानं दिग्भेदेनोक्तमयुक्त्य (क्तं) युक्त्यभावादिति भावः ॥८॥

ननु परिलेखस्यानतिप्रयोजनादुक्तदूषणमदूषणमेवेति युक्त एव ग्रहणाधिकार इत्यतोऽनुष्टुभा पूर्वदूषणं समर्थयति—**लम्बनमिति**।

हे मतिमतां सुबुद्धीनां वर श्रेष्ठ, स्वोक्त्या दूषणनिरासक लम्बनं किम्। बत इति खेदे। येन ग्रहणयोर्मध्यग्रहणभेदस्तल्लम्बनमेव किमर्थम्। ग्रहणत्वाविशेषे चन्द्रग्रहणेऽपि लम्बनं कथं न स्यादिति। नहि चन्द्रग्रहणे लम्बनमयुक्तम्। सूर्यग्रहणे तदावश्यकत्वं युक्त्या प्रतिपादितम्। असंगतमपि स्वोक्त्या संगतं समाधीयत इति खेद इति भावः। त्वदुक्तसमाधानश्रवणाद्दूषणान्तरमपि मम स्फुरितमित्याह--का चेति। नतिः का किंस्वरूपा। चः समुच्चये। चन्द्रग्रहणे नत्यसिद्धिः। सूर्यग्रहे तत्प्रसिद्धिरिति ग्रहणत्वाविशेषात्कथं युक्तम्। दूषणान्तरमाह--तदिति। तिथावमान्ते। बाणे सूर्यग्रहणीयसपातचन्द्रोत्पन्नशरे। क्रमेण तत्संस्कृतिः। तयोर्लम्बननत्योः संस्कारः किं कया युक्त्योक्तः। यदि लम्बनं दर्शान्ते संस्कारयोग्यं तर्हि नतिरपि तत्रैव संस्कारयोग्या किं न स्यादथवा शरे नतिसंस्कारवल्लम्बनसंस्कारस्तत्र किं न स्यात्। उभयोरेकत्र संस्कारः किं न स्यादिति तात्पर्यम्। तिथौ बाणे क्रमेण नतिलम्बनयोः संस्कारः किं न स्यात्। दूषणान्तरमाह--ते इति। ते लम्बननती कुतो भूमितो भूव्यासार्धादिति यावत्। कुतो हेतोः। सिद्धे लम्बनानयने परमं लम्बन घटिकाचतुष्टयात्मकम्। नत्यानयने परमनतिकलाश्च गतिपञ्चदशांशरूपा

भूव्यासार्धयोजनोत्पन्ना इति लम्बननत्योरानयनं भूव्यासार्धादुपपन्नं किमिति। एवं च भूव्यासार्धस्य ग्रहणद्वये साधारणसंबंधाच्चन्द्रग्रहणेऽपि तदावश्यकत्वापत्तिः। तस्माल्लम्बननत्योरव्यवस्थोक्त्या ग्रहणाधिकारस्त्वयुक्त एवेति भावः ॥९॥

केदारदत्तः—अनेक विध प्रश्न चन्द्रमा का पूर्णान्त काल में मध्य ग्रहण होता है तो अमान्त काल में सूर्य का मध्य ग्रहणादिक क्यों नहीं होता। चन्द्र ग्रहण का स्पर्श पूर्व पाली में होता है तो सूर्य का स्पर्श रविबिम्ब की पश्चिम पाली में होने का क्या कारण है। हे बुद्धिमान् गणक! लम्बन और नति नामक पदार्थ क्या हैं? दर्शान्त और शर में क्रमशः लम्बन और नति का संस्कार क्यों किया जाता है? भूगर्भ से लम्बन और नति का गणित भूगर्भ से ही क्यों साधित होता है? ॥८-९॥

अथ शृङ्गोन्नतौ चन्द्रशुक्लस्य क्षयवृद्धिप्रश्नमाह—

शुक्लस्य द्विजराज एष महसो हान्या कुवृत्तः कुतः
सद्वृत्तत्वगतोऽप्यहो भ्रमभवाद्दोषातिसङ्गादिव।
संप्राप्याथ पुनस्त्रयीतनुमतस्तस्याऽऽश्रयेणैव किं
शुक्लस्य क्रमशस्तथैव महसो वृद्ध्यैति सद्वृत्तताम् ॥१०॥

वा० भा०—अहो गणक, एष द्विजराजश्चन्द्रः सद्वृत्तत्वं गतोऽपि पौर्णमास्यां सुवर्तुलतां प्राप्तोऽपि कुतो हेतोः कुवृत्तः कुवर्तुलो भवति। भ्रमभवाद्दोषातिसङ्गादिव। दोषा रात्रिः। तथा पौर्णमास्यां सकलया सकलस्यापि चन्द्रस्य यः सङ्गः सोऽतिसङ्गः। तत्सङ्गानन्तरं शुक्लस्य तेजसो हानिं याति तया हान्या कुवृत्तः कुत्सितवृत्तः स्यादितीव प्रतिभाति। यथा द्विजराजो ब्राह्मणोऽपि सद्वृत्तत्वं सदाचारत्वं गतोऽपि भ्रमभवाच्चित्तचलनसंभवाद्दोषातिसङ्गात् पापातिसङ्गाच्छुक्लस्य शुद्धस्य तेजसो हानिं याति। तया कुत्सितवृत्तः स्यात्। अथ पुनस्त्रयीतनुमादित्यं प्राप्य ततोऽनन्तरं शुक्लस्य तेजसो वृद्ध्या तथैव सद्वृत्ततां सुवर्तुलतां प्राप्नोति। तस्य भगवतस्त्रयीतनोराश्रयेणैव। यथा कुवृत्तो ब्राह्मणस्त्रयीतनुं त्रैविद्यं पर्षत्त्रैविद्यमेव वेति स्मृत्युक्तं पर्षद्रूपमन्यं ब्राह्मणं प्राप्य तेन कृतानुग्रहस्तेजोवृद्धिं तथा पुनः सुवृत्ततामेतीत्यर्थान्तरम् ॥१०॥

इति श्रीसिद्धान्तशिरोमणिवासनाभाष्ये मिताक्षरे गोलाध्याये
गोलास्वरूपप्रश्नाध्यायः ॥२॥

मरीचिः—अथ शृङ्गोन्नत्यधिकारं शार्दूलविक्रीडितेन खण्डयति—**शुक्लस्येति।** **एष** प्रत्यक्षः। द्विजराजश्चन्द्रः। अहो इत्याश्चर्यं। सद्वृत्तत्वगतः। सत्समीचीनं वृत्तं मण्डलं तस्य भावो वर्तुलत्वं गतः प्राप्तः। पूर्णान्ते संपूर्णमण्डलत्वेन परिणतः। अपिशब्दो

विरोधाभासालंकारसूचनाय। कृष्णपक्षारम्भाच्छुक्लस्य श्वेतस्य महसस्तेजसश्चन्द्रबिम्ब-संबन्धस्य हान्याऽपचयेन कुवृत्तः कुत्सितं वृत्तं मण्डलं संजातं यस्येत्येतादृशः कुतः कस्माद्धेतोर्भवति। पूर्णान्ते संपूर्णमण्डलश्चन्द्रः। ततः कृष्णपक्षे त्वसंपूर्णमण्डलश्चन्द्रः कस्माद्भवति। तत्रापि संपूर्णमण्डलः कस्मान्न भवेदिति भावः। यद्यसंपूर्णमण्डल एव स्यात्तदा पूर्णान्तेऽपि संपूर्णमण्डलो न स्यात्। अत एव संपूर्णमण्डलस्य खण्डमण्डलसंभावनाऽतिविरुद्धेत्याश्चर्यपदम्। तत्र शुक्लतेजःक्षये कारणमुत्प्रेक्षते—दोषातिसङ्गादिवेति। दोषा रात्रिस्तस्या अति—

सङ्गोऽत्यन्तसमागमस्तस्मात्। शुक्लपक्षे पौर्णमासीदिनव्यतिरिक्ते संपूर्णरात्र्या चन्द्रस्य समागमो नास्ति। तद्दिने तु संपूर्णरात्र्या चन्द्रस्य समागमः। अत एवैतस्य वस्तुतः कारणत्वासंभवेऽपि कारणत्वं संभावितमित्युत्प्रेक्षासूचकमत्रैवेति पदम्। वस्तुतः कारणत्वे प्रश्नानुपपत्तेरिति भावः। ननु पूर्ववृत्तित्वेनैव दोषातिसङ्गस्य कारणोत्प्रेक्षा तर्हि पूर्णचन्द्रमण्डलस्यैव लाघवात्कारणोत्प्रेक्षा किं नोक्तेत्यतो दोषातिसङ्गस्य विशेषणमाह—भ्रमभवादिति। चन्द्रस्य पश्चिमाभिमुखभ्रमेणोत्पन्नादित्यर्थः। तथा च तद्दिने सूर्यास्तकाले चन्द्रोदयसंभवात्तत्पश्चिमाभिमुखगमने सकलरात्रिसंबन्धावश्यंभावोऽवगत इति दोषातिसङ्गस्यैव कारणत्वं संभावितम्। संपूर्णमण्डलस्य तदन्तक्षणमात्रावस्थायित्वेन कारणोत्प्रेक्षोक्तेति भावः। अथानन्तरमयं चन्द्रस्त्रयीतनुं सूर्यं संप्राप्य दर्शान्त आश्रित्यातोऽनन्तरं शुक्लपक्षारम्भात्। तस्य सूर्यस्याऽऽश्रयेणैकत्रावस्थानेन। एवकाराद्विना सूर्याश्रयमन्यग्रहाश्रयनिरासः। इवेति पाठ उत्प्रेक्षा। सूर्याश्रयस्योपपत्त्या तदहेतुत्वादिति ध्येयम्। शुक्लस्य तेजसः क्रमशः प्रतिपदादितिथिकालक्रमेणेत्यर्थः। तथा यथा कृष्णपक्षादितस्तिथिक्रमेण शुक्लापचयो यत्प्रमाणेन तत्प्रमाणेनेत्यर्थः। एवकारस्तदतिरिक्तप्रमाणनिरासार्थकः। वृद्ध्योपचयेन। पुनर्मण्डलभङ्गादनन्तरं मासान्तरेण पौर्णमास्यन्ते सद्वृद्धतां संपूर्णमण्डलतां किं कुत एति प्राप्नोति। तथा च वृत्तभङ्गानन्तरं पुनस्तथैव किं नाऽऽस्तां संपूर्णमण्डलः कुतो जायते। एवं भौमादयः कुतो न भवन्ति। इत्यव्यवस्थिततया शृङ्गोन्नत्यधिकारः खण्डित इति भावः। एवं ग्रहयुतिनक्षत्रग्रहयुतिपाताधिकाराः खण्डितपदार्थोपजीव्यत्वेन खण्डिताः स्वतः सिद्धा इत्यज्ञोऽपि जानातीति प्राधान्यतस्तत्खण्डनं नोक्तम्। तत्रातिरिक्तकठिनपदार्थानामसत्त्वादिति ध्येयम्। अथैतत्पद्यस्य द्वितीयोऽर्थः—एष कश्चिद्द्विजराजो ब्राह्मणवर्यः सद्वृत्तत्वगतः सदाचारनिष्ठः। अपिशब्दो विरोधाभासय। कदाद्चिद्विषयान्तरसंलग्नस्वान्ततया संजातो यो भ्रमश्चित्तविक्षेपस्तदुत्पन्नाद् दोषो नित्यकर्माननुष्ठानजनितप्रत्यवायरूपस्तदतिसङ्गात्तस्यात्यन्तपरिशीलनाच्छुक्लस्य शुद्धस्य तेजसो ब्राह्मणस्य हान्या नाशेन कुवृत्तः कुत्सितमाचरणं यस्येति गर्हितः कुतः कस्माज्जात इत्याश्चर्यम्। अनन्तरं सोऽतिनिन्द्यस्त्रयीतनुं वेदत्रयोमयशरीरं वेदार्थानुष्ठातारं शिष्टश्रेष्ठं संप्राप्य लब्ध्वाऽनन्तरं तस्य वेदस्वरूपात्मकातिशिष्टपरानुग्रहसमर्थस्याऽऽश्रयेणानुग्रहेण। एवकारात्पापानुग्रहनिरासः। शुद्धस्य ब्राह्मण्यस्य क्रमेण तथासंजातवृद्ध्या। एवकाराद्यावज्जीवमविनाशिन्ये-

त्यर्थः । पुनः सद्वृत्ततां सदाचारनिष्ठतां प्राप्नोतीति किं चित्रम् । शिष्टानुग्रहस्य तथात्वादिति भावः ॥१०॥

एवं खण्डने निरूपिते फक्किकयाऽऽह—इति गोलप्रश्नाध्याय इति । उद्दिष्टप्रश्न निरूपिता इति भ्रमवारणार्थं गोलेति । उद्दिष्टास्तु गणितप्रश्नाः सोत्तरास्ते ग्रन्थान्त उक्ताः । एते तु गोलस्थितपदार्थस्वरूपपृच्छात्मका अनुद्दिष्टा अपि संगत्यर्थं निरूपिता इति भावः ॥१०॥

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्
याता शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्ति पूर्वार्धखण्डनमया खलु गोलपृच्छा ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकसुतविश्वरूपापरनामकमुनीश्वर-
गणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचौ गोलप्रश्नाध्यायः संपूर्णः ।

केदारदत्तः—शृङ्गोन्नति में चन्द्रमा के क्षय और वृद्धि का हेतु—पौर्णमासी की रात्रि में सकलचन्द्रमण्डल रात्रि के अतिसंग से सुवर्तुलता को प्राप्त होते हुए भी रात्रि संग के अनन्तर चन्द्रशुक्ल की क्रमशः हानि से चन्द्रमण्डल पूर्ण वर्तुल न होकर कुवृत्त की तरह क्यों हो जाता है ?

जैसे सदाचार निष्ठ ब्राह्मण, भ्रम से उत्पन्न पाप के संसर्ग से अपने ब्रह्म तेज की हानि से कुवृत्त होकर पुन स्त्रैविद्य पूर्ण अन्य ब्राह्मण के संसर्ग से सदाचार संलग्न होकर क्रमशः तेज वृद्धि से सदाचार सम्पन्न होते हुए सदवृत हो जाता है । तद्वत् चन्द्रमा भी सूर्य के सामीप्य और सान्निध्यवश अपनी कलाओं से क्षीण और वर्द्धमान हो जाता है ॥१०॥

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के गोलस्वरूपप्रश्नाध्यायः–२ की श्री पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

●

भुवनकोशः

वा० भा०—अथ प्रथमप्रश्नस्य पृथ्वीसंस्थानोपपत्तेरुत्तरं विवक्षुरादिसर्गे पृथिव्यादीनां तत्त्वानामादितत्त्वं निखिलजगज्जननैकबीजं परं ब्रह्म मनसा प्रणिपत्याऽऽदौ तावत्तज्जयमाह—

यस्मात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भेऽ-
हंकारोऽभूत्खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेऽच ।
ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरञ्चे-
र्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत्तत्त्वमाद्यम् ॥१॥

जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। किं तत्। परं ब्रह्म। आदितत्त्वं यत्। किंविशिष्टम्। यस्मात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां सकाशान्महानभूत्। महतो गर्भेऽहंकारोऽभूदित्यादि। अत्रैतदुक्तं भवति। सांख्यादियोगशास्त्रेषु श्रुतिपुराणेषु चाऽऽदिसर्गे यथोदितं तदत्रोच्यते। तत्र प्रकृतिर्नामाव्यक्तमव्याकृतं गुणसाम्यं कारणमित्यादयः प्रकृतेः पर्यायाः। तस्याः प्रकृतेरन्तर्भगवान् सर्वव्यापकः पुरुषोऽस्ति। सत्त्वं रजस्तम इति सर्वे गुणास्तुल्या एव सन्ति। अत एव तद्गुणसाम्यम्। तथा प्राकृतिके पूर्वे प्रलये लीनस्तत्राव्यक्तो व्यापकः कालोऽप्यस्ति। यदा स भगवान् वासुदेवः परब्रह्माख्यः सिसृक्षुर्भवति तदा तस्मात्संकर्षणाख्योंऽशो निर्गत्य प्रकृतिपुरुषयोः संनिधिस्थयोः क्षोभं जनयति। ताभ्यां क्षुब्धाभ्यां महानभूत्। महान्वै बुद्धिलक्षण इति। तन्महत्तत्त्वं बुद्धितत्त्वं चोच्यते। यन्महत्तत्त्वं स प्रद्युम्ननामा भगवतोंऽशः। तस्य महत्तत्त्वस्य विकुर्वाणस्य गर्भेऽहंकारोऽभूत्। सोऽनिरुद्धनामा। त एते वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति मूर्तिभेदा वैष्णवागमे विशेषतः प्रसिद्धाः। सोऽहंकारो गुणवशेन त्रिधाऽभवत्। य; सात्त्विकः स वैकारिकः। यो राजसः स तैजसः। यस्तामसः स भूतादिः। यथोक्तं विष्णुपुराणे—

वैकारिकस्तेजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत ॥

तत्र यस्तामसोऽहंकारः स भूतादिः। तस्मात् पञ्चमहाभूतान्यभवन्। कानि तानि भूतानि। खकशिखिजलोर्व्यः। खमाकाशम्। को वायुः। शिखी अग्निः। जलमुदकम्। उर्वी पृथ्वी। एतानि भूतानि स्वस्वगुणपूर्वकाण्यभूवन्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इत्याकाशादीनां मुख्यगुणाः। तत्राहंकाराच्छब्दतन्मात्रम्। गुणस्यातिसूक्ष्मरूपावस्थानं तन्मात्रशब्देनोच्यते। शब्दतन्मात्रादाकाशम्। आकाशात्स्पर्शतन्मात्रम्। तस्माद्वायुः। वायो रूपतन्मात्रम्। तस्मात्तेजः। तेजसो रसतन्मात्रम्। तस्माज्जलम्। जलाद्गन्धतन्मात्रम्। ततः पृथ्वी। एवमाकाशादीन्येकोत्तरगुणान्यभवन्। अथ च तेषां गुणानां शब्दादीनां ग्राहकाणीन्द्रियाणि। श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादगुदमेढ्राणीति

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। अथोभयात्मकं मनः। न हीन्द्रियैः स्वातन्त्र्येण गुणग्रहणं कर्तुं शक्यते। अतस्तदधिष्ठातारो देवाः—

दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रक[चन्द्र]ः। इति।

श्रोत्रेन्द्रियस्य दिशः। त्वचो वायुः। चक्षुषोरर्कः। जिह्वाया वरुणः। नासिकयोरश्विनौ। तथा वाचोऽग्निः। बाह्वोरिन्द्रः। पादयोर्विष्णुः। गुदस्य मित्रः। मेढ्रस्य प्रजापतिः। मनसश्चन्द्रः। इतोन्द्रियाधिदेवताः। तत्र यानीन्द्रियाणि तानि तैजसादहंकारात्। ये देवास्ते वैकारिकादभवन्। यथोक्तं विष्णुपुराणे—

तैजसादिन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिकाद्दश।
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः॥ इति।

ततः संहतेश्च ब्रह्माण्डम्। एवमुत्पन्नानां तत्त्वानां समुदायात्पूर्वं प्राकृतिकप्रलयमिलितसकलजलधिजले बुद्बुदाकारं ब्रह्माण्डकभवत्। तज्जठरे पद्माकारा मही। तत्र कर्णिकाकारो मेरुस्तत्पृष्ठनिष्ठश्चतुर्वदनः कमलोद्भवस्तस्मात्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं विश्वमभवत्। यस्मादाद्यतत्त्वात्परब्रह्मणः क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महदादिपरम्परासमुदायोत्पादितब्रह्माण्डजठरगतजगतीजलजजनिताद्विरञ्चेरिदं विश्वमभवत्। शश्वदनवरतम्। तस्य ब्रह्मणोऽवसानेऽन्यो ब्रह्माऽन्यजगदित्यर्थः। अतस्तदाद्यं तत्त्वं जयति॥१॥

मरीचिः—अथ पृथ्वीसंस्थानप्रश्नोत्तरभूतभुवनकोशाध्यायो व्याख्यायते। तत्र सृष्ट्वा भचक्रमित्याद्युक्तावगतस्वाभिमतभचक्रस्थितेः संस्थानार्थं भूमिप्रश्नोत्तरं भूमिस्थित्यादिस्वरूपभूतं विवक्षुः प्रथममुपस्थितसृष्टिसंभवः कथमित्याशङ्कापाकरणाय मूलभूतसृष्टिप्रक्रियां युक्तियुक्तप्रश्नोत्तरसद्यःस्फुणकामनाचरितमङ्गलनिबन्धनच्छलेन मन्दाक्रान्तयाऽऽह-**यस्मादिति**। तत् 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सहे'ति श्रुतेरनिर्वचनीयं बुद्धिस्थं वस्तु जयति सर्वोत्कर्षेणास्तीत्यनेन नमस्कार आक्षिप्यते। नन्वनिर्वचनीयत्वादेव मिथ्यात्वेन सर्वोत्कृष्टत्वं कथमत आह—तत्त्वमिति। तत्त्वमसीति श्रुत्या वस्तुभूतम्। तेन वेदान्तमतप्रपञ्चवन्मिथ्यात्वं नेति सर्वोत्कृष्टत्वं स्वतः सिद्धमिति भावः। अत्र हेतुभूतं विशेषणं विशेषतस्तदवगमार्थमाह—ब्रह्मेति। बृहत्त्वादपरिच्छिन्नत्वाद्व्यापकमित्यर्थः। ॐ तद्ब्रह्मेति श्रुतेः। प्रपञ्चस्य तथात्वाभावादिति भावः। तत्सद्भावे प्रमाणमाह—आद्यमिति जगत्प्रागभावकालावस्थायित्वेन तन्निमित्तकारणभूतमिति कार्यलिङ्गकानुमानेन तत्सिद्धिर्यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशदिति श्रुतेश्चेति भा। ननु वेदान्तमते एतदुक्त्या मायासिद्धेर्न तत्सिद्धिरत आह—शश्वदिति। नित्यमविनाशीत्यर्थः। मायाया विनाशित्वात्तदसिद्धेरीश्वरसिद्धिरिति भावः। नन्वेवं सांख्यमते नित्यायाः प्रकृतेः सिद्ध्या न तत्सिद्धिरत आह—परममिति। उत्कृष्टम्। तत्त्वं तु नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेः। सर्वज्ञत्वेन सच्चिदानन्दरूपे परमेश्वरे न प्रकृतावचेतनत्वादिति भावः। ननु कपिलमुनिमतेऽचेतनाऽपि प्रकृतिः प्रगाढमात्मोपकण्ठे सकलं तनोति। अचेतनं संचलतीव लोहं

स्वयं यथा भ्रामकसंनिधाने । वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य पुरुषविमोक्ष-निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्येत्युक्त्या जगदुपादानकारणभूतायाः प्रकृतेरचेतनाया जीवासांनिध्यादेव जगत्कर्तृत्वसमर्थनात्परमपदस्याप्युपादानकारणकर्त्रोरभेदोऽर्थ इति शश्वज्जयति परमं ब्रह्मतत्त्वमाद्यमित्यनेन प्रकृतिसिद्ध्या नेश्वरसिद्धिरित्यतः पातञ्जलमताभ्युपगम-पूर्वकसृष्टिप्रक्रियाकथनच्छलेन तत्सिद्धिमाह—यस्मादिति । यस्माद्धेतोरित्यर्थः । क्षुब्ध-प्रकृतिपुरुषाभ्याम् । अविलम्बेन कार्योत्पत्तिकत्वं क्षुब्धत्वम् । क्षुब्धौ यौ प्रकृतिपुरुषौ । प्रकृतिर्गुणसाम्यमव्यक्तं प्रधानं सांख्यशास्त्रे जगत्कारणतया प्रसिद्धम् । तत्क्षोभस्तु गुणाधिक्यरूपः । पुरुष ईश्वरः । स वा एष पुरुष इषि श्रुतेः । तत्क्षोभश्च सिसृक्षा । ताभ्यां प्रकृतीश्वराभ्यां क्षुब्धाभ्यां सकाशादित्यर्थः । असृष्टिकाले सृष्टिवारणाय क्षुब्धेति विशेषणम् । महान् । महान्वै बुद्धिलक्षण इति बुद्धितत्त्वापरपर्यायं महत्तत्त्वमभूत् । ईश्वर-सिसृक्षया प्रकृतेः क्षुब्धाया महत्तत्त्वं व्यक्तमभवत् । तन्मते सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । अस्य महत्तत्त्वस्य । गर्भ उदरे । गर्भ इत्यनेन क्षुब्धमहत्तत्त्वोदर इति सूचितम् । अहंकारोऽभूत् । महत्तत्त्वादहंकारोऽभिव्यक्त इत्यर्थः । अयं सत्त्वरजस्तम आधिक्यवशात्क्रमेण—वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः । त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायतेति विष्णुपुराणोक्त-स्त्रिविधः । ततस्तस्मादहंकारात्खकशिखिजलोर्व्यः । आकाशवाय्वग्निजलपृथिव्यः स्वस्ववि-शेषगुणपूर्वका अभवन् । अत एव तामसाहंकारो भूतादिः । यथा हि—तामसाहंकाराच्छब्द-तन्मात्रम् । तस्मादाकाशः । अस्मात्स्पर्शतन्मात्रम् । अस्माद्वायुरस्माद्रूपतन्मात्रम् । अस्मात्तेजः । अस्मादपि रसतन्मात्रम् । अस्माज्जलम् । अस्माद्गन्धतन्मात्रमस्मात्पृथिवी । आकाशस्य शब्दो गुणः । वायोः शब्दस्पर्शौ । तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि । जलस्य शब्द-स्पर्शरूपरसाः । पृथिव्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इत्येकोत्तरगुणानि तामसाहंकारोत्पन्नानि पञ्च महाभूतानि । तन्मात्रं तु विशेषगुणसमवेतो भतारम्भकोऽवयवः । भूतं तु तन्मात्र-समुदायात्मकम् । उक्तक्रमे तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुर्वायो-रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवीत्यादिश्रुतिर्मानम् । अथ शब्दादिगुणानां ग्राहकाणि श्रोत्र-त्वक्चक्षुरसनाघ्राणानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादगुदमेढ्राणीति पञ्च कर्मेन्द्रि-याणि । उभयात्मकं मन इत्येकादशेन्द्रियाणि तैजसाहंकारोत्पन्नानि । इन्द्रियाणाम-चेतनत्वात्स्वातन्त्र्येण गुणग्राहकत्वमनुपपन्नमिति तदधिष्ठातारो देवाः क्रमेण दिग्वातार्क-प्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रविष्णुमित्रकचन्द्राः सात्त्विकाहंकारोत्पन्नाः । तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश । एकादशं मनश्चात्र देवो वैकारिकः स्मृत इति वैष्णवोक्तेः । एवं चैका प्रकृतिर्महदहंकारपञ्चतन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः सप्त । एकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानीति विकाराः षोडश । एकः पुरुष इति । मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुष इति पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्य-प्रसिद्धानि । तत्कथमेतमद्तार्थमेकादशेन्द्रियोत्पत्तिराचार्यैर्नोक्तेति चेन्न । भचक्रस्थानोपयुक्त-त्वेनोक्तमात्रस्यैवोपपत्तेः । इन्द्रियाणामत्रात्यन्तप्रयोजनाभावाच्च । संहृतेः संमिश्रणादेकी-

भूतात्संघाताच्चकारात्पञ्चमहाभूतानां ब्रह्माण्डमभवत् । तत्तु पञ्चभूतात्मकं गोलाकारं-भाण्डम् । एवं च यस्मादित्यस्य ब्रह्माण्डसमन्वयेन यस्मात् कारणाद्ब्रह्माण्डमुक्तरीत्याऽभवदस्माद्धेतोरीश्वरसिद्धौ न किंचिद्बाधकमित्यर्थः । तथा च प्रकृतिपरिणामित्वेन ब्रह्माण्डस्य सत्त्वात्समवायिकारणापरपर्यायोपादानकारणभूतप्रकृतिरचेतना विना चेतनात्मकर्तारं ब्रह्माण्डमुत्पादितुमसमर्था । घटकर्तृकुलालवद्व्यञ्जयति स एवेश्वर इति भावः । कपिलमुनिमतं चाचेतनस्य कर्तृत्वादर्शनादुपेक्षणीयमन्यथा मृत्पिण्डादपि विना कुलालव्यापारं तत्सांनिध्यादेव घटोत्पत्त्यापत्तेः । तदुक्तदृष्टान्ताभ्यामचेतनस्य चेतनाश्रयत्वेन विशेषसांनिध्येन वा प्रकृतिरिति सिद्धेर्जीवात्मसांनिध्येन कथं प्रकृतेः कर्तृत्वसंभवः जीवात्मनां चेतनत्वात् । नापि प्रकृतिश्चिेतनाश्रिता । जीवात्मना निर्लेपत्वात् । अत एव जीवात्मनामकर्तृत्वादेव पुरुषपदेनाऽऽत्मजीवात्मा न गृह्यते । सांख्यमते पुरुषपदेन जीवात्मोपस्थितावपि द्विवचनसूचितकरणत्वेनावगतः पुरुष ईश्वर एव श्रुतिबलात्सिध्यति । यद्यपि तेषां मत ईश्वरस्य नियन्तृत्वेन तटस्थत्वेन चाभ्युपगमात् कारणस्य चोपादानत्वेनाङ्गीकारात् प्रकृतेरेव जगदुपादानत्वम् । नेश्वरस्तस्य निर्विकारस्यापरिणामितयाऽनुपादानत्वात्परिणामित्वेऽपि कथमचेतनं चेतनपरिणाम इति द्विवचनसूचितोपादानता नेश्वरस्य संगता । तथा चाऽऽचार्यैः प्रकृतेरुपादानतयाऽनुद्देशात्सामान्यकारणतया तयोरुद्दिष्टत्वाद्यथायोग्यं कारणविशेषाभ्यामुपादाननियन्तृसंबन्धेन चोक्तं संगतमेव । यद्वा । उपादानं द्विविधं—परिणममानं विवर्तमानं चेति । तत्र परिणामि विक्रियावत् । यथा मृदादि घटादेः । विक्रियाशून्यं विवर्तमानम् । यथा शुक्त्यादि रजतादेः । तत्रेश्वरस्य परिणाम्युपादानत्वाभावेऽपि विवर्तमानोपादानत्वे न क्षतिरिति वेदान्तमतेन सुस्थम् । भगवद्गीतानुसारेण तु परमं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपं जगत्कारणं कथमित्यत आद्यं विशिनष्टि—यस्मादिति । यस्मात्परमब्रह्मणः सकाशात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानभूदित्यादि । प्रकृतिः प्रसिद्धा । पुरुषो जीवः । एतौ चिदानन्दस्वरूपेश्वरेच्छया क्षुब्धौ । कुर्वद्रूपतामापन्नौ । तत्त्वं च फलोपहितकारणत्वम् । एतावताऽनाद्यनन्ते ईश्वरस्य शक्ती । तस्यानाद्यनन्तत्वात् । प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपीत्युक्तेश्चेत्याहुः । पौराणिकास्तु प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याऽऽशु महेश्वरः । क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः । प्रधानात्क्षोभमानाच्च तथा पुंसः पुरातनात् । प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकमितीति वचनाच्चिदानन्दरूपब्रह्मणो जीवात्मभ्यश्च पुरुषमतिरिक्तं वदन्ति । तत्सांख्यविरुद्धम् । नहीश्वरातिरिक्तं ब्रह्म वेदान्तमतवदङ्गीक्रियते । येन तदविरोधः । न च वेदान्तमतेनैवायं श्लोकः । महदहंकारान्तर्गततया सृष्टिविरोधादित्यलं मतगवेषणापल्लवितेन । ननु ब्रह्माण्डसत्त्वे किं मानम् । यत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिरत आह—विरञ्चेरिति । ब्रह्मणः सकाशाद्विश्वं भूर्भुवःस्वर्लोकाद्यभूत् । तथा च समग्रविश्वस्याप्रत्यक्षत्वेन यत्किंचिद्विश्वदर्शनात्समग्रं विश्वरूपमनुमीयते । तत्कर्ता ब्रह्माऽप्यनुमीयते । तथेदं ब्रह्माण्डमप्यनुमीयताम् । विश्वस्य ब्रह्माण्डैकदेशत्वादिति भावः । ननु विश्वस्य ब्रह्माण्डैकदेशत्वे किं मानमित्यतो ब्रह्मोत्पत्तिप्रकारसूचकं ब्रह्मणो विशेषमाह—यदिति । यस्य ब्रह्माण्डगोलस्य ।

जठरमुदरम् । मध्यगर्भकेन्द्रमिति यावत् । अत्र गता स्थिता । केन्द्रैक्येण रूपेण । या मही पृथ्वी । तस्या यत्पृष्ठम् । सर्वेषामाधारभूतम् । तत्र निष्ठा स्थितिर्यस्येत्येतादृशो विरञ्चिरित्यर्थः । तथा च विश्वस्य निर्माणार्थं परमेश्वरेण स्वांशभूतो ब्रह्मोपकल्पित-स्तच्छरीरजनकप्रकृतिपरिणामरूपं ब्रह्माण्डमेव । प्राकृतेऽण्डे विवृद्धे तु क्षेत्रज्ञो ब्रह्मसंज्ञितः । हिरण्यगर्भो भगवान्ब्रह्मा वै कनकाण्डज इति पुराणोक्तेर्विरञ्चिनिर्मितविश्वस्य पृथिव्यामेव संनिवेशात्तस्याश्च ब्रह्माण्डोदरे संनिवेशादिति पुराणादौ प्रसिद्धतरमतो नाप्रमाणमिति भावः ॥१॥

केदारदत्तः—ग्रहगोल का गणित और ग्रहों की गति आदिक से ग्रहों का आकाशीय स्थान वर्णन करना ही ग्रन्थ का मुख्य विषय है। पृथ्वी आदिक तत्त्वों का एक बीज स्वरूप पर ब्रह्म को प्रणाम पूर्वक ब्रह्म की स्तुति की जा रही है।

यहाँ पर इस श्लोक में आचार्य ने सांख्य वेदान्तादि शास्त्रों का निष्कर्ष ही कह दिया है कि प्रकृति पुरुष की क्षुब्धता से बुद्धि तत्त्व की समुत्पति होती है। महत्तत्त्व के गर्भ में गुण वश तीन प्रकार का सात्विक राजस और तामस रूप अहंकार है। उस अहंकार से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी अपने अपने गुणपूर्वक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इनसे उत्पन्न अनेक तत्त्वों का प्राकृतिक प्रलय सकल जलमय जल में बुदबुदाकार ब्रह्माण्ड की समुत्पत्ति होती है। ब्रह्माण्ड के गर्भ में कमल आकार की पृथ्वी संस्थित होती है। पृथ्वी में कर्णिकाकार मेरु पर्वत है। उसके पृष्ठ में ब्रह्मा रहते हैं। उस ब्रह्म से मनुष्य राक्षस आदिक विश्व का निर्माण होता है इस श्लोक का अति विस्तार यहाँ पर आवश्यक नहीं है। क्योंकि यह विषय ज्यौतिष शास्त्र से सम्बन्धित होते हुए भी शास्त्रान्तर का विषय है जो सुविशद विवर्णित है ॥१॥

इदानीं भूमेः स्वरूपमाह—

भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा-
वृत्तैर्वृत्तो वृतः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽयम् ।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे
निष्ठं विश्वं च शश्वत्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात् ॥२॥
सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव ॥३॥

वा० भा०—योयं मृदनिलसलिलव्योमतेजोमय इति पाञ्चभौमिको भूमेः पिण्डो वृत्तो वर्तुलाकारस्तद्बहिःस्थैः शशाङ्कादिकक्षावृत्तैरावृतः सन्ननन्याधारः स्वशक्त्यैव नियतं निश्चितं वियत्याकाशे तिष्ठति। तत्पृष्ठनिष्ठं च जगत्। सद-

नुजमनुजादित्यदैत्यम् । दनुजा दानवाः । आदित्या देवाः । दैत्या असुराः । तैः समेतं समन्तात् तिष्ठति । शेषं स्पष्टार्थम् ॥२॥३॥

मरीचिः—अथ किमाकारेत्यन्तप्रश्नयोरुत्तरं स्रग्धरावृत्तेनाऽऽह—**भूमेरिति** ।

अयमाश्रयीभूतः । भूमेः पृथिव्याः पिण्डः स्वांशानां दार्ढ्यैनैकीभावः । इह ब्रह्माण्डे वियत्याकाशे ब्रह्माण्डावच्छिन्नाकाशमध्यभागे तिष्ठति स्वमध्यभागैक्यरूपेणास्तीत्यर्थः । नन्वेकीभावो दार्ढ्यत्वेनानुपपन्नः । प्रत्यक्षविरोधादत आह—मृदनिलसलिलव्योमतेजोमय इति । मृत्पृथिवी । तस्या संपूर्णावयवा एकीभावापन्नाः । वायूदकाकाशतेजसां प्रत्येकं पृथिवीसंपूर्णभागचतुर्थांशमिता भागास्तन्मयस्तदेकीभावरूपोऽयं पिण्डः । तथा च केवल-भूभागैस्तद्रूपत्वासंभवेऽपि जलादिभूतभागसहचारेण भूभागैकीभावस्य पिण्डत्वं नानुपपन्नम् । अत एवान्यभागानां सत्त्वेऽपि भूभागानां बहुत्वात्पृथिवीपिण्ड इति व्यवहार इति भावः । नन्वाकाशेऽचेतनवस्तुनः स्थिरत्वादर्शनाद्ब्रह्माण्डावच्छिन्नाकाशे तत्स्थितिरधोऽधो गमनेऽप्यस्तु । परं ब्रह्माण्डमध्यगर्भकेन्द्ररूपाकाशे तत्स्थितिरित्युक्तं तु न युज्यत इत्यत आह—नियतमिति । सदा ब्रह्माण्डकेन्द्रस्थितेन कालक्रमेणन्द्राऽधोऽचेतनविशेषस्याऽऽकाशे स्थिरत्वमरतीत्यग्रे समर्थितत्वादिति भावः । नन्वयं पिण्डो ब्रह्माण्डमध्यगर्भ एवास्तीति कथमवगम्यत इत्यतः पिण्डस्य बहुस्वरूपसंभवात्किमाकारोऽयमित्याशङ्कानिवारकभवचक्र-संस्थानपूर्वकतत्पिण्डस्वरूपकथनच्छलेन तदुत्तरमाह—शशाङ्केति । अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माऽहंकारमूर्तिमत् । मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णस्तेजसां निधिः । अग्निरापो भास्करेन्दू ततस्त्वङ्गारकादयः । तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे । पुनर्द्वादशधाऽऽत्मानं विभ-जद्राशिमण्डलम् । नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी । ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकमित्यादिसूर्यसिद्धान्तोक्तसृष्टिसिद्धम् । चन्द्रबुधशुक्रसूर्यभौमगुरुशनिनक्षत्रबिम्बानां भ्रमणयोग्यमार्गसंबन्ध्याकाशगोलाः कक्षावृत्तपदवाच्याः । तैर्वृत आवृतः । समान्तरेणाभितो व्याप्तः सन्नयं पिण्डो वृत्तो वर्तुलः कन्दुकाकार इत्यर्थः । कक्षापदसमभिव्याहारादुक्तक्रमेण गोलानामूर्ध्वोर्ध्वस्थत्वम् । पूर्वोद्दिष्टस्यानन्तरोद्दिष्टावृत्तत्वं च लभ्यते । तथा च विषुवति यावत्कालमुदयानन्तरं ग्रहादेर्दर्शनं तावदेवास्तानन्तरमदर्शनमिति नियमानुरोधाद्भूगोलस्य ब्रह्माण्डमध्यभागस्थत्वम् । नक्षत्रादिगोलानां ब्रह्माण्डपरिधेरभितस्तुल्यान्तराभावकल्पने मानाभावादिति भावः । ग्रहनक्षत्राणामेकगोलाधिष्ठितत्वे शराभावे युतावेकत्र संनिवेशेन तयोरतिविस्तृतमण्डलयोर्गमनानुपपत्तेर्मण्डलभङ्गापत्तेश्चेति पृथक्पृथग्गोलाः । तत्र नक्षत्रा-काशगोलस्तु पाञ्चभौतिको नीलो मध्याकाशात्मकः अत एव नीलं नभ इति प्रतीतिरत्र नक्षत्राणि ब्रह्मणा स्वेच्छयेतस्ततः स्थापितानि । नक्षत्रगोलस्य केवलाकाशात्मकत्वे तद्द्वादश-विभागानां राशीनां चलनासंभवेन तदधःस्थग्रहस्य प्रवहवशतः पश्चिमाभिमुखभ्रमणे द्वादशराशिभोगापत्तेः । स्वाधिष्ठितराशीनां नियोगापत्तेश्च । नच रेवत्यधिष्ठिताकाश-स्थानात्तदात्मकानां राशीनामङ्गीकारात्तच्चलनं रेवतीचलनादेवाऽऽकाशप्रदेशात्मकत्वेऽपि सिद्धमिति वाच्यम् । अननुगताकाशप्रदेशात्मकत्वेन राश्यनुगमाभावात् । अत एव पाञ्च-

भौतिकगोलस्य द्वादशविभागानां राशीनां नियतत्वेऽपि प्रवहवायुना चलनसंभवात् । ग्रहस्य स्वाधिष्ठितराशिवियोगानुत्पत्तिः । ग्रहस्यापि प्रवहवायुनैव चलनादूर्ध्वाधरान्तरेऽपि पूर्वापरान्तराभावात्समसूत्रबन्धेन तत्स्थत्वाङ्गीकारात् । अत एव च तद्गोलस्य वायुघातेनेतस्ततो गमनसंभवस्तद्वारणार्थं स्वप्रदेशे स्थिरत्वार्थं दक्षिणोत्तरयोर्ध्रुवयोः कल्पनोपपत्तिः । ग्रहास्तु स्वस्वाकाशगोलस्था भ्रमन्तीति बाधकाभावात्तेषां मूर्तगोला न कल्प्या इति ध्येयम् । ननु ब्रह्माण्डमध्यगर्भे स्थितो भूगोल आधारमपेक्षते । अन्यथा तत्स्थत्वानुपपत्तेः । आधारोऽपि स्वस्थैर्यार्थमाधारमपेक्षते । इत्याधारपरम्परया भग्रहभ्रमणानुपपत्तिस्त्यित आह—नेति । अन्यो मूर्त आधारोऽस्य नास्तीत्यर्थः । अत्र मूर्तेश्वरस्य जगदाधारत्वेन जगदन्तर्गतभूगोलाधारत्वं निवारयितुमशक्यत्वादन्येति । अन्यथाऽनाधार इत्युक्तत्वापत्तेः । नन्वेवं भूगोलस्य निराधारत्वेनावस्थानसमर्थनं ब्रह्मणोऽप्यशक्यमित्याह—स्वशक्त्यैवेति । भूगोलो निजशक्त्या निराधारावस्थानसंपादिकयाऽनिर्वचनया तत्रास्तीत्यर्थः । यथा चुम्बकमणेर्लोहाकर्षणशक्तिमत्त्वं तथाऽस्य निराधारावस्थानशक्तिमत्त्वमिति भावः । पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः स्वेऽयस्कान्तो गोल इवावस्थितो वृत इत्यनेन तारागणशक्त्या भमेराकाशस्थितत्वं वाराहेणाङ्गीकृतम् । ध्रुवद्वयं शक्त्या कैश्चिदङ्गीकृतमित्यादिपरशक्तिगुरुकल्पनिवारणार्थमेवकारोऽत्र स्वशक्तिकल्पनस्य लघुत्वादिति ध्येयम् । ननु स्वाश्रयीभूतभूमेर्गोलकत्वेनादर्शनादयं वृत्त इति कथमुक्तम् । भगोलान्तःस्थितभूगोलस्याऽऽश्रयीभूतप्रत्यक्षसिद्धभूमेर्भिन्नत्वागमादित्यत आह—अस्येति । भगोलान्तर्गतभूगोलस्य पृष्ठभागे विश्व भूर्भुवःस्वरात्मकम् । निष्ठं स्थितम् । एतत्पृष्ठे विभागेन लोकभूमयो ब्रह्मणा विभक्ताः । न भगोलान्तोऽवस्थानायोग्यत्वादित्यर्थः । चकारात्समुद्रनदीद्वीपादिकमत्रैवास्तीति ध्येयम् । ननु ब्रह्मणा विश्वं किमर्थमुपकल्पितमित्यतो विश्वविशेषणमाह—सदनुजेत्यादि । दनुजा दानवाः । मनुजा मनुष्याः । आदित्या देवाः । दैत्या दितिपुत्राः । दैत्यदानवभेदस्तु दनुदित्योर्भेदात्प्रसिद्धः पुराणादौ । एतैः सह वर्तमानं संयुतमित्यर्थः । तथा च स्वनिर्मितदेवमनुष्यदैत्यादिजन्त्वसंकीर्णावस्थाननिमित्तं विश्वविभाग उपकल्पित इति भावः । ननु भूमेर्गोलकत्वेनोपरितनसमभागस्य स्वल्पत्वसंभवात्कथमेषामवस्थानसंनिवेशोऽन्यत्र पातशङ्कया तदसंभवादित्यत आह—समन्तादिति । तथा च भूगोल उपरितनभाग एवैष संनिवेश इति नापि तु गोलपृष्ठेऽभितस्तेषां यथायोग्यं संनिवेश इति भावः । ननु तिर्यगधोवस्थानस्यातिविरुद्धेन कालान्तरेण पतनशङ्कायाः संभावितत्वात्कथमवस्थानमित्यत आह—शश्वदिति । अनवरतं तिष्ठति । कालान्तरेऽपि पतनशङ्काया अग्रे निरस्तत्वादिति भावः । तथा च पृथिवी विश्वस्य धारिणीतिश्रुतेर्भगोलान्तःस्थितभूगोलस्यैव स्वाश्रयत्वम् । गोलाकारदर्शनाभावस्तु कारणान्तरवशादित्यग्रे प्रतिपादनात्पृथिवीद्वयावस्थेन भचक्रच्चलनासंभवाच्च न स्वाश्रयीभूतभूमिभिन्नो गोलान्तर्भूमिगोल इति भावः ॥२॥

सर्वत इति । पूर्वश्लोकोपपादितभूमिगोलः सर्वतः । अभितः समन्तात् । पर्वता

आरामा उद्यानाने । निग्रामाः प्रसिद्धाः । गाराणि च । चैत्यं बौद्धदेवायतनम् । एतेषां समुदायैश्चितो व्याप्तोऽस्ति । ननु चेतनपदार्थाः स्वप्रलयैरपि यथाकथंचिद्भूगोले सवत्र स्थितिं कर्तुं समर्था नाचेतनपदार्थाः । पर्वतवृक्षादयस्तिर्यगूर्ध्वाधोभागे स्वव्यापाराभावेन कथं स्थिता इत्याशङ्कावारणाय दृष्टान्तमाह—कदम्बेत्यादि । केसरसमुदायैः कदम्ब-पुष्पग्रन्थिः समन्ताद्व्याप्ता । यथा कदम्बपुष्पग्रन्थावधस्तिर्यक्समन्तात्केसराणि स्थितानि तथैवास्मिन्पर्वतादिकं तिर्यगूर्ध्वाधोभागस्थितमस्तीति शङ्कावकाशो नेति भावः ।।३।।

केदारदत्तः—भूमि स्वरूप—मिट्टी, वायु, जल, आकाश और तेजो मय भूमि पिण्ड चन्द्रमा, बुध, शुक्र सूर्य मंगल बृहस्पति शनि और नक्षत्रों की कक्षाओं से आवृत हैं।

पृथ्वी किसी आधार पर आधारित न होकर स्वयं अपनी शक्ति से आकाश में संस्थित है। भूपृष्ठ में चारों तरफ मानव दानव वन उपवन आदि सुशोभित हैं। पृथ्वी चारों तरफ उद्यान ग्राम नगर, देवस्थान आदि से व्याप्त है। जैसे कदम्बपुष्प ग्रन्थि के चारों तरफ केसर संस्थित हैं तद्वत् इस पृथ्वी में पर्वतादिक भी ऊपर नीचे सीधे खड़े हैं।

प्राचीन आचार्यों का भू केन्द्राभिप्रायिक कक्षा वर्णन की तरह अर्वाचीन आचार्यों के सूर्य के केन्द्राभिप्रायिक कक्षा वर्णन से ग्रह गणित में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है ।।२-३।।

इदानीं पुराणेषु भूमेराधारपरम्परा या पठिता तां निराकुर्वन्नाह—

मूर्तो धर्ता चेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था ।
अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च
मूर्तिः ।।४।।

वा० भा०—स्पष्टम् ।

मरीचिः—ननु भूगोलस्य निराधारात्वमयुक्तम् । प्रत्यक्षबाधात् । गुरुत्वाधिकरणस्य विनाऽश्रयमधः प्रपातावश्यंभावाच्च । शक्तेश्च प्रत्यक्षप्रमाणानवगम्यत्वात् । अत एव तेनेयं नागवर्येण शिरसा विधृता महीत्यादिकाश्यपादिवचनैः पौराणिकसंमताच्च शेषकूर्म-वराहा म्वाधाराः प्रसिद्धाः । अतः कथं नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठती-त्युक्तं युज्यत इत्याशङ्कां निराकुर्वन् शालिन्याऽऽह—**मूर्त इति** । धरित्र्याः सर्वाधार-भूताया भुवः प्रपातशङ्कावारणार्थं मूर्तः । इयत्तावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणं मूर्तमिति लक्षण-लक्षितः । शरीरादिमान् । धर्ता धारकः कश्चनास्तीति चेद्वदसि तर्हि ततोऽनन्तरं तस्य म्वाधारस्यान्यो म्वाधारातिरिक्तो मूर्तो धर्ता कल्प्यः । अन्यथा म्वाधारस्यान्तरिक्षावस्था-नासंभवात् । ततोऽस्य म्वाधाराधारस्यान्यो म्वाधारयोर्भिन्नो धारकः कल्प्यः । अपि-शब्दात्तस्याप्यन्यः कल्प्य इति । एवमनया रीत्या धारकपरम्पराकल्पनेन साधारपक्षे त्वदङ्गीकृतेऽनवस्था । क्वचिदप्यवस्थानासंभवान्महानवस्थादोषः स्यात् । अथैतद्दोष-

वारणाय । अन्त्ये । पुरा पुराणसंमतान्तिमाधारे वराहे स्वशक्तिः । अन्तरिक्षावस्थानरूपा कल्प्येति चेद्वदसि तर्ह्याद्ये भ्त्राधारे शेषे किं कथं ना कल्प्या । देहलीदीपन्यायेनाग्रिमस्य नोकारस्यान्वयात् । वराहे शक्तिकल्पनायाः शेषशक्तिकल्पनस्य लघुभूतत्वेन शेष एव स्वशक्तिः कल्प्यतामित्याधाराधारयोः कूर्मवराहयोर्व्यर्थत्वापत्तेः । नन्विष्टापत्तिः । पुराणोक्ताधाराणां भूमेर्निराधारत्वनिवारणकत्वेन भूम्याधारनिर्णायकत्वतात्पर्यादित्यत आह—किमिति । शेषेऽन्तरिक्षावस्थानशक्तिः कल्प्यते तर्हि भूमेः किं कथं नो साऽन्तरिक्षावस्थानशक्तिः कल्प्या । अतिलाघवात् । भूमेरेवान्तरिक्षावस्थानशक्तिः कल्प्यताम् । शक्तेः प्रत्यक्षावगम्यत्वानियमस्य त्वदुक्त्यैवासिद्धेरित्यर्थः । तथा च भूमेर्मूर्तो नाऽऽधारः । स दाधार दृथिवीं द्यामुतेमामिति श्रुतिप्रामाण्येनेश्वरस्य जगदाधारत्वेन चामूर्तेश्वराधारत्वं भूमेर्नान्याधार इत्यनेनाङ्गीकृतं तत्तु निराधारतुल्यमेवेति भावः । ननु शेषादीनामीश्वरांशतयाऽन्तरिक्षावस्थानशक्तिकल्पनं युक्तम् । भूमेस्तदभावादयुक्तं शक्तिकल्पनमित्यत आह—अष्टमूर्तेरिति । चकारात्सा भूमिरष्टमूर्तेः पृथिवीजलाग्निवाय्वाकाशसूर्यचन्द्रयजमानात्मकस्य महेश्वरस्य मूर्तिः शरीरम् । तथा च भूमेरीश्वरमूर्तित्वादन्तरिक्षावस्थानशक्तिकल्पनं युक्तमेवेति भावः । एतेन जले भूमिगोलस्तुम्बिकावत्तरतीति यवनमतमपास्तम् । सलिले विलयो मृदो भवेदिति गोरप्सु न युज्यते स्थितिः । अथ पात्रगतेति तत्कथं न भवेद्यावदिलेव पार्थिवम् । यदि वाऽम्भसि संस्थिता मही सलिलं तत्क्व वदप्रतिष्ठितम् । गुरुणोऽम्भसि चेत्स्थितिर्भवेत्क्षितिगोलस्य न किं विहायसि । इति लल्लोक्तेर्भूमाविदं जलेमिति सार्वजनीनप्रतीतेर्भूमिजलयोराधाराधेयभावप्रसिद्धेश्च ।।४।।

केदारदत्तः—पृथ्वी वस्तुतः अपने अक्ष में यथा स्थान और ग्रहों की तरह आकाश में स्थित है। पृथ्वी अपनी ही शक्ति से अपने स्थान पर स्थित है। यदि पृथ्वी को धारण करने वाला कोई शक्ति विशेष अन्य पदार्थ माना जाय तो उस पदार्थ को धारण करने वाला कोई और पदार्थ होना चाहिए इस प्रकार की कल्पनाओं में (धारक एवं धार्य पदार्थों की स्थिति) अनवस्था दोष स्वयं उत्पन्न हो जाता है। अन्ततः धार्यधारक पदार्थों की कल्पना में आदि और अन्त का मान ही नहीं हो सकता है तो कहना पड़ता है पृथ्वी को धारण करने वाला कोई है उसको धारण करने वाला अन्य शक्ति पिण्ड है उसका भी धारण करने वाला वह अन्य पिण्ड है इस प्रकार कहाँ तक क्या कहा जावेगा अन्त में कहना पड़ेगा कि वह जो अन्तिम पिण्ड है वह अपनी शक्ति से आकाश में स्थित है तो इस प्रकार की कल्पना से तो अच्छा यही होगा कि पृथ्वी आकाश में अपने कक्ष पर अपनी शक्ति से स्थिर है, अर्थात् यहाँ आधाराधेय कल्पना अनावश्यक है। इसी अभिप्राय से हमारे पुराणाचार्यों ने शक्ति विशेष का नाम शेषनाग, कहते हुये पृथ्वी को शेष नाग ने अपने शिर में धारण किया है जो आकाश में यथा स्थान अनन्तकाल से अनन्त काल तक स्थिर रही है रहेगी। पृथ्वी का धारक कोई अन्य आधार नहीं है अपनी ही शक्ति से पृथ्वी आकाश में यथा स्थान स्थित है।

अथवा यह भूमि अर्थात् भूगोल अष्टमूर्ति शिव की मूर्ति की तरह, अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमानात्मक भगवान् सर्वशक्तिमान् शिव की मूर्ति की तरह एक शिव मूर्ति है जो सर्वशक्ति केन्द्र है उसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं है वही स्वयं ब्रह्माण्ड का आधार है यह भाव स्पष्ट हुआ है ॥४॥

इदानी कथमियं भूमेः स्वशक्तिरित्याशङ्कां परिहरन्नाह—

यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि ।
मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत वस्तुशक्तयः ॥५॥
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क्व पतत्वियं खे ॥६॥

वा० भा०—पूर्वश्लोकः सुगमः । आकृष्टिशक्तिश्च महीत्यनेन भूमेरधःपतनं तत्तिर्यगधःस्थितानां चाधःपतनशङ्का निरस्ता ॥५॥६॥

मरीचिः—ननु महेशाष्टमूर्त्यन्तर्गतत्वेन भूमेरन्तरिक्षावस्थानशक्तिकल्पने जलादीनामप्यन्तरिक्षावस्थानशक्तिः कल्प्यतामित्यतो वंशस्थेनाऽऽह—**यथेति** ।

यथा सूर्याग्न्योरुष्णता, उष्णस्पर्शाधिकरणत्वम् । चो वार्थे । यथा वा दृष्टान्तान्तरम् । चन्द्रे शीतस्पर्शाधिकरणत्वम् । के जले द्रवत्वाधिकरणत्वम् । अश्मनि पाषाणे कठिनत्वम् । वायुश्चञ्चलः । तथा स्वभावतः स्वरूपेणैव भूर्भूमिरचला स्थिरा । ननु स्वरूपेणैवैषां तथात्वं कुत इत्यत आह—यत इति । यतः कारणाद्वस्तुशक्तयः पदार्थानां स्वकार्यजननसामर्थ्यस्वरूपाः शक्तयः । बत इति खेदे । विचित्रा नानाविधाः सन्ति । एतेन वाय्वादावचलत्वमग्नौ शीतस्पर्शाधिकरणत्वमित्यादि स्वरूपेण तत्राऽऽस्तामिति निरस्तम् । कल्पनाया दृष्टान्तानुरुद्धत्वात् । तथा च वाय्वादीनां प्रत्यक्षचलत्वादिशक्त्या भूमेरचलत्वशक्तिरनुमीयत इति भावः । एतदस्तु भवदङ्गीकृताधःप्रदेशाभ्युपगमे शक्तिः स्वभावो वा कल्प्यते । वस्तुतोऽस्मन्मते भूमेरधःप्रदेशाभावात्पतनासंभव इत्यग्रे समर्थनादिति ध्येयम् । अत्र पौराणिकानुयायिनो ज्योतिर्विदस्तु भुवः स्थैर्यं यदुक्तं तत्किमतिरिक्ता शक्तिः स्वभावो वा । तत्राऽऽद्येऽपि सा सहजा किमागन्तुका वा । नाऽऽद्यः । कार्यद्रव्यात्मके वस्तुनि सहजशक्तेः कारणगतरूपादिजन्यकार्यगतरूपादिवत्स्वसमवायिकारणीभूतावयवनिष्ठशक्तिपूर्वकत्वनियमात् । यथा वह्नौ स्फोटकारणतावच्छेदिका दाहकता तत्कारणावयवनिष्ठशक्तिजनितैवमियमपि चेत्तथा तर्हि पृथुतरमृत्पिण्डादावपि तत्प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । शक्तिवादिमते च तथाविधशक्तेस्तथात्वनियमस्वीकारात् । नान्त्यः । तस्याश्चाऽऽगन्तुकत्वे व्रीहीन् प्रोक्षति व्रीहीनवहन्तीत्यादौ व्रीहिषु प्रोक्षणावघातजन्यशक्तिवदन्यप्रयुक्ताभ्युपगमेऽस्मन्मतानुप्रविष्टत्वापत्तेः । स्वभाववादाभ्युपगमे द्वितीयपक्षे तु स्वस्य भावः स्वभाव इति व्युत्पत्तिबलेन स्थैर्यमस्येति । न तावत्तथा स्वरूपमेव भूमेस्तस्यास्तदेकशरीरत्वे भूकम्पादावपि तच्चलनं न स्यात् । कदाऽपि स्वरूपस्यानपायात् । ननु न केवलमस्माभिश्चलनाभावरूपकार्यं प्रति

भूमिस्वरूपमात्रं हेतुरित्युच्यतेऽपि तु सहकारिसमवहितमेवेति प्रतिबन्धकाभावविशिष्टं तत्तथेति । प्रकृते च तदन्यथाभावदर्शनात्तत्र तदा किंचित्प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति चेन्न । किं तद्योग्यमयोग्यं वा । नाऽऽद्यः । उपलम्भाभावात् । त्वयाऽपि विविच्याकथनाच्च । नान्त्यः । तस्यासिद्धतया प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः । कारणीभूतभावप्रतियोगित्वेन प्रतिबन्धकानुसंधानात् । अथाऽऽस्तामनुमितियोग्येश्वरेच्छैव भूकम्पसंपादकत्वेन स्थैर्यप्रतिबन्धिकेति चेन्न । तस्याः सनातनत्वेन नित्यतया स्थिरताप्रतिबन्धे सार्वकालमपि भूचलनमेव स्यात् । तस्या नित्यत्वेनाभावप्रतियोगित्वासंभवेन प्रतिबन्धकत्वासंभवाच्च । अथ मा भूदीश्वरेच्छा तथा, तथाऽपि तत्कालविद्यमानप्राण्यसमीचीनादृष्टं तु प्रतिबन्धकं स्यादेवेति चेर्त्तहि सिद्धमेव भूमेरधोऽधो गमनम् । तेन गणितोच्छेदापत्तेः । तथा हि । एकद्वित्रिदिनावधिकभूकम्पकालपर्यन्तमदृष्टेन स्थैर्यप्रतिबन्धप्रतिबन्धकाभावरूपसहकार्यसत्त्वेनान्तरिक्षावस्थानरूपकार्यानुत्पादे भुवोऽतिगुरुत्वेनाधोगमनस्यैवावसीयमानत्वात् । तावत्कालपर्यन्तं च प्रत्येकं बहुशो जायमानभूकम्पेषु भुवो गुरुत्वेनातिवेगादिव योजनसहस्राणि यावदधोगमनाद्भूसापेक्षग्रहगणितसाधनस्याप्युच्छिन्न [त्व] संकथनत्वादिति । किंचादृष्टस्यासाधारणकारणताया दृढदण्डनुन्नमपि चक्रं न भ्राम्येतेत्यादिप्रतिकूलतर्कादिभिर्मणिप्रभायां निराकरणात् । सति दृष्टकारणसंभवे चादृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अपि च वस्त्वन्तरेऽपि ध्रुवादौ स्थिरत्वोपलम्भो न स्यात् । स्वभावत्वेनैकविशिष्टत्वात् । तथाविधस्वभावस्य द्वैविध्यमिति चेन्न । किमयमसाधारणः साधारणो वा । नाऽऽद्यः । तस्यासाधारणत्वेन तत्तद्वस्तुमात्रगतत्वेनान्नबीजादेरिव स्वस्वाङ्कुरजनकत्ववदन्यवृत्तित्वासंभवेन प्रकृतस्थिरताया ध्रुवाद्यावृतताप्रसङ्गः । नान्त्यः । कार्यद्रव्यसाधारणत्वभावस्य दाहकतादेः साक्षात्समधर्मवस्त्वन्तरवृत्तिसंभवेऽपि स्वावयववृत्तितानियमेन मृत्पिण्डादेरपि तथात्वापत्तेः । यद्धर्मावच्छिन्ने स्वाभावत्वनिर्वाहस्तत्समधर्मबस्तुवृत्तित्वनियमात् । यथा वह्नित्वावच्छिन्ने दाहकतेति सा वह्निव्यक्तिमात्रवर्तिनी । नतु घटादावपि । तद्वदत्रापीति विजातीयतया ध्रुवे सा न स्यादिति स्थैर्यस्य भूमिस्वभावत्वमसंगतम् । वस्तुतस्तु चलनाभाव एवास्थिरत्वम् । तदभाववत्येव स्थिर इति प्रत्ययात् । सति चैवमभावात्मनः स्थैर्यस्य सर्वथाभावरूपत्वसंभावनात् । नन्वभावाभावस्य भावात्मकत्वं दृष्टमेवेति चेन्न । तदास्ताम् । प्रकृते तु चलनस्य कर्मात्मत्वेन भावरूपत्वात्तदभावस्य तु तत्त्वासंभवात् । स च क्वचिदाधारेण । क्वचिदुत्कृष्टवस्त्वन्तरसामर्थ्यात् । क्वचिच्च चेतने स्वप्रयत्नात् । तस्माच्छेषाद्याधारेणैव प्रकृते चलनाभाव एव स्थिरत्वमापद्यते । चलनप्रतिबन्धेनाजातक्रिये वस्तुनि तेनाऽऽधारादिना क्वचित्प्रागभावपरिपालनमेव । जातक्रिये वस्तुनि तद्ध्वंस एवेति तत्त्वम् । ननु शेषादावपि शरीरत्वेन मूर्तत्वात्तद्द्वयं वयमपि विकल्पयाम इति चेन्न । तेषामीश्वरावतारतयाऽतिसमर्थत्वेन तत्रान्तरिक्षात्रस्थानजननसमर्थप्रयत्नवत्त्वं चलनाभावरूपस्थिरत्वापादकमेकमनेकप्रकारपरिक्लृप्तमुपेयते । वियद्विगाहमानविहगादावप्य [वि] वाभ्यस्तसमस्तयोगविद्याविशारदनटपुरुषादाविव कतिपयभारस्वशरीरान्तरिक्षावस्थानक्षमत्ववत्तादृशप्रयत्नाधिकरणत्वस्यैत-

च्छरीराधेयभूम्यादिस्थिरत्वोपधाने नियामकत्वात् । अन्यथोदाहृतस्थले सकललोकप्रतीत्यु-च्छेदापत्तेः । अत एवास्मन्मते भूभारभिन्ननागेन्द्रशीर्षविश्रामसंभवः । भूकम्प इत्यादिकश्य-पादिवचनैर्भूभारखिन्ननागेन्द्रफणाप्रकम्पनादेव भूकम्पोपपत्तिः । आधारचलनेनाऽऽधेयगतेर्ब-हुशः प्रसिद्धत्वात् । न चैवं शेषाद्याधाराणामतिस्थूलशरीरत्वेन भचक्रभ्रमणप्रतिबन्धत्व-संभवेन तद्भ्रमणानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तेषां सप्तमपुरपातालावस्थितत्वेनाभ्यन्तर्गतत्वान्मे-र्वपेक्षयाऽधोभागस्थितत्वेन ग्रहाणां च तं प्रदक्षिणीकृत्य गच्छतां तत्प्रतियोगितिर्यगवस्था [ना] देव ग्रहचारप्रतिबन्धाशक्तत्वात् । अथैवमन्तर्गतत्वेन भूमेरपृथक्त्वेऽपि पुराणप्रामाण्य-स्यान्यथासिद्धत्वावगमे च तत्स्वीकरणं कुलधर्ममात्रप्रयुक्तमिवाऽऽभातीति चेन्न । भूमेर-चेतनतया ब्रह्माण्डमध्याकाशावस्थानासंभवेन परमेश्वरः कूर्माद्यवताररूपेण भूगोलमाविष्टभ्य ब्रह्माण्डमध्याकाशे स्थित इत्याधारस्यावश्यतयाङ्गीकारात् । ननु तर्ह्यभिधानादिषु भूमौ स्थिरा चलेति कथं शब्दप्रयोग इति चेत्तस्य स्वाधारकूर्मगतस्य भूमावुपचरितत्वादभ्र (प) तनशीलत्वस्य चोभयत्र समस्योपचारे बीजत्वात् । तथा च तद्वाक्यम्—मूर्ते कुधर्तरि भवेदनवस्थिकाऽतः स्वाभाविकः खलु गुणः स्थिरता स्थिरायाम् । औष्ण्यं यथाऽनलगुणो द्रवतोदकस्येत्युक्तं हि भास्करकृतौ तदतोऽनुयुक्तम् । गोत्राभ्या (भा) स्वराः पुराणपठिताः शेषादयः सन्तु ते को दोषः खचरोडुपञ्जरगतौ वेदोदितास्ते यतः । भूमौ चेदचलत्वलक्षण-गुणः किं नो तदंशे पुनस्तोयांशे द्रवता यथाऽनललवे दाहत्वमित्यादिवत् । धृतवक्त्रसरी-सृपोऽपि गृध्रः प्रहरं तिष्ठति खेज्य (ल्प) वीर्य एवम् । गगने न कथं स कूर्मरूपः प्रतिकल्पं धृतभूरचिन्त्यशक्तिः । स्वभावाभ्यामभ्युपगतं स्थिरत्वं खण्डयति—तन्न । समनन्तरमेवाऽऽ-चार्यैराकृष्टिशक्तिश्च मही तयेत्यादिना तन्निवारणस्योक्तत्वात् । अन्यथा—आकृष्टि-शक्तिरित्यादिपद्यस्य पूर्वश्लोकेन सह संगत्यनुपपत्त्या भ्रान्तप्रलपितत्वापत्तेः । न चाऽऽकृष्टि-शक्तिरित्यादिपद्यं शिरोमणौ नास्त्येवेति वाच्यम् । भवद्भिरेव स्वग्रन्थ आकृष्टिशक्तिश्च महीति न स्यादित्यनेन तत्पद्यार्थस्य निराकरणोक्त्या तत्सद्भावसमर्थनात् । तस्माद्विना दूषणोट्टङ्कनं ग्रन्थे तदुत्तरसत्त्वे तद्दूषणोपस्थित्या ग्रन्थदूषणजल्पनं स्वाज्ञानसूचकमति-मदनादरयोग्यं सिद्धान्तकर्तॄणां भवादृशामनुचितमेवेति किं बहूक्त्या ॥५॥

ननु दृष्टान्तस्वभावस्य तदवयवेऽपि सत्त्वाद्दार्ष्टान्ते भूमावचलस्वभावस्य वस्वावयवेऽ-सत्त्वाद्दृष्टान्तबलेन कथं भूमेरचलस्वभावो वक्तुमुचितोऽन्यथा निराधारोपस्थापितस्य लोष्टादेः पार्थिवावयवस्याचलत्वेनान्तरिक्षावस्थानतयाऽपतनापत्तेरिति पाखण्डकाभिमता-शङ्काया उत्तरमुपजातिकयाऽऽह—**आकृष्टिशक्तिरिति ।**

मही पृथ्वी । आकृष्टिशक्तिः । आकृष्टिराकर्षणं तत्संपादिका शक्तिर्विद्यते यस्याः सा । चः समुच्चये । तेन भूमेरचलाकर्षणत्वेत्युभयशक्त्योरधिकरणत्वमित्यर्थः । नन्वेतावता प्रकृते किं सिद्धमित्यत आह—तयेति । तया भूम्या । स्वशक्त्या । आकर्षणशक्त्या । खस्थमाका-शस्थं यदाधारशून्यं गुरु । गुरुत्वाधिकरणीभूतम् । जलपृथिव्यवयवसाधारणं वस्तु । स्वाभि-मुखं तद्वस्त्वभिमुखो यः पृथिवीप्रदेशस्तदभिमुखाकाशमार्गेणाऽऽकृष्यते । प्रतिबन्धाभावे

स्वप्रदेशं प्रत्यानीयते। तद्भूम्याकर्षितवस्तु पतति। इवकारात्पतनाभावेऽपि तस्य पतनं भूस्थलोकानां भाति। वियद्विगाहमानविहंगमाद्याकर्षणं वाद्यादिधृतिबद्धमिति त्वत्पक्षतुल्यम्। एतेन भूगोलस्याऽऽकर्षप्रसिध्याऽऽकर्षणासंभवान्नाधोगमनम्। भूगोलस्याऽऽकाशस्थवस्त्वाकर्षकत्वोक्त्या स्वाधिष्ठितलोकाकर्षकत्वं स्वतः सिद्धमिति तिर्यगधःस्थितानां लोकानां नाधः पतनसंभव इत्यपि सूचितम्! तथा च भुवः स्थिरताशक्तिः सहजा। भूम्यवयवानामपि स्थिरत्वात्। यथा चुम्बकाश्मनाऽचलं लोहं समाकर्ष्यते तथा भूम्या स्वाकर्षणशक्त्या स्थिराकाशस्थस्वावयवस्याऽऽकर्षणेन तत्पतनासिद्धचा तदवयवानामपि स्थिरत्वशक्त्यधिकरणत्वात्। पतनप्रतीतिस्तु नीलं तम इतिवदभ्रान्तैव। अत्रास्थिरत्वं स्वावयवभूमध्यगर्भतत्संबन्धिब्रह्माण्डगर्भवद्गोलकत्वम्। तेन लोकादृष्टवशात्प्रवृत्तजलान्तर्गतसत्त्वाघाताद्भूपृष्ठैकदेशसंजातभूमिकम्पे स्थिरत्वानपायान्न क्षतिः। नहि तत्र भूगर्भे सत्त्वसंचरणं येन तच्चलनास्थिरत्वक्षतिरिति वाच्यम्। तत्र लोकाभावादेव कम्पाङ्गीकारात्। जायमानभूकम्पस्यापि सर्वदेशावच्छेदेनाप्रतीतेश्च। एतेन भूकम्पे भूमेरधोगमनापत्त्या साधितभूगोलसंबन्धिगणितोच्छेदापत्तिरिति निरस्तम्। अतएव भूमेः स्थिराऽचलेत्यभिधानम्। औपचारिकत्वे मानाभावात्। नहि स्थिरपदेन कूर्मोऽभिधीयते येन तत्संबन्धाद्भूमौ तदभिधानम्। एतेन स्थिरत्वस्वभावाभ्युपगमे यानि दूषणानि तान्यप्यसंचलग्न (त्व) निवेघा (षेधा) नि। स्थैर्यस्य भावात्मकत्वात्। उक्ताकर्षणशक्त्या मृत्पिण्डस्यापि तत्स्वभावोपपत्तेः। एतत्स्थिरत्वस्य ध्रुवादावसंभवाच्च। अथ भूमेः स्थैर्यशक्तिसंपादिकाकृष्टिशक्तावपि तच्छक्तिविकल्पोक्तदूषणग्रस्तत्वात्तच्छक्त्यसिद्धचा स्थैर्यशक्तिरपि चलैवेति चेन्न। भूम्यवयवेऽपि तच्छक्तिसद्भावाङ्गीकारात्। न चैवमाकाशस्थितपार्थिवावयवेन भूमिगोलोऽप्याकर्ष्यते। न चेष्टापत्तिः। भूमिस्थैर्यार्थं कल्पितशक्त्यैव भूमिचलनसिद्धेरुक्तभूमिसंबन्धिगणितस्य भूमेर्मध्यत्वाभावादनुपपत्तेरिति वाच्यम्। प्रबलाल्पबलपुरुषयोः परस्पराकर्षणलीलाविधौ प्रबलेनाल्पबलाकर्षणरचननियमदर्शनादतिप्रबलया भूम्याकर्षणासंभवात्। खस्थयोः पार्थिवावयवयोः स्वाभिमुखयोर्महल्लघ्वोः परस्पराकर्षणविधौ निकटभूगोलाकर्षकशक्तिसाहचर्यात्क्वचिल्लघुना महत आकर्षणात्। व्यस्तावस्थितयोस्तयोर्महता लघ्वाकर्षणं भूम्याकर्षणप्राबल्यात्। अत्र केचित्। खस्थितपदार्थपतनमात्रं न भूमेराकर्षणशक्तेरुपपादकं व्यभिचाराद्वृत्तविरोधाच्च। तथा हि—यत्र क्वापि दृष्टमाकर्षकेण पुरुषादिना वस्त्वाकर्षणम्। तत्र सर्वत्र लघोरेव प्रथममाकर्षकसंयोगः। यथा सूत्रद्वययन्त्रितक्रमुकफलशिलयोराकर्षणविधौ। अन्यथा सकललोकप्रतीत्यपलापप्रसङ्गः। शिलातलापेक्षया क्रमुकफलस्यैव बाललीलाविधौ द्रुतसंयोगस्य सर्वजनोपलम्भात्। अतश्चेदेषा भूमिरपि तादृशशक्तिमती स्याल्लघुमेवं प्रथममाकर्षयेन्न गुरुमिति। दृश्यते च सर्वत्र विपरीतमतः प्रमाणविधुरत्वेनोपपत्तिशून्यतया कथमेतत्। तथा चाऽऽकर्षणशक्त्यसिद्ध्यैव भूमेः स्थैर्यशक्तिरपास्तेत्याधारं बिना कथमन्तरिक्षावस्थानमित्याधारनिराकरणं ब्रह्मणोऽप्यशक्यम्। तथा च तद्वाक्यम्—आकृष्टिशक्तिश्च महीति न स्याद्यतो घनं शीघ्रमुपैति भूमिम्। आकर्षकं

-याति लघु द्रुतं हि मही स्थिराधारमृते कथं स्यादिति । न चैवं भूगोले तिर्यगधः-प्रदेशयोः पर्वतसमुद्रमनुष्याद्यवस्थानानुपपत्तिरिति वाच्यमिति चेन्न । पतन्त्यधः स्थिताः किं गिरयः सिन्धुसरिन्नराः ख एते । अधृतं गुरु वस्त्वेवैनं यत्तदधः संपततीति दृश्यत इत्यस्माभिराशङ्क्यम् । नाऽऽशङ्कनीयमिति वस्तुनि देशभेदे सामर्थ्य-लक्षणगुणाः कतिचिद्विभिन्नाः । यद्वत्सुशीतलकराश्मशिला द्रवन्ति सूर्याश्मनिर्मलशिलास्वनल-प्रवृत्तिः । वज्राणि वारिषु तरन्ति हि चुम्बकाश्मा लोहं समानयति चाऽऽत्मनि दूरवर्ति । उच्चैस्तरं भवति पर्वतवत्समुद्रे नीरं यतो वत विचित्रगुणाः प्रदेशाः । भाषाकाराचारसामर्थ्य-भेदो ह्यत्रैवार्द्धे देशभेदेन दृष्टाः । नृणामेव किं पुनरन्यिभागे तस्मात्स्थैर्यं नाम शक्तिश्च तेषामित्यनेन तत्तद्देशोत्पन्नवस्तूनां सामर्थ्यातिशयवशेन पतनाभाव इति स्थैर्यशक्त्यङ्गी-कारेण स्वग्रन्थे समर्थितत्वात । अनन्तशक्तिकल्पनागौरवं चान्यथानुपपत्त्या प्रामाणिकत्वाद-दोष इत्याहुः । तन्न । ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भेदेनाऽऽकर्षणस्य त्रैविध्याभ्युपगमेन तिर्यगधःस्थयोरा-कर्षणस्य भवदुक्तनियमत्वेऽप्यूर्ध्वस्थयोरेकस्थानावस्थयोर्गुरुलघ्वोराकर्षणे गुरोरेव प्रथममा-कर्षकसंयोगोऽनन्तरं लघोरिति दर्शनात् । भूमेरूर्ध्वाकर्षणशक्त्यङ्गीकारे बाधकाभावात् । भूमेरभितः सर्वाधस्त्वेनाधःकर्षणशक्त्यसंभवात् । अन्यथा तलतिर्यग्भागयोः कदाचिदपि वृष्टिरनुकूला न स्यात् । तत्तदायत्तस्य सस्यादेरनुत्पादे कथमेतदधःस्थितं जीवेत । किंच वह्नेरूर्ध्वज्वलनमेव स्वाभाविकमिति तलतिर्यग्भागयोरयमपि पाकानुकूलो न स्यात् । तथा चोभयथाऽपि तत्र जीवनसंदेह एव स्यात् । न चैवं भूमेः सर्वाधस्त्वेनाधस्तिर्यग्भागावस्थित-जनादीनां तत्रैव प्रपातसंभवात् । तत्र तदवस्थाने न क्षतिरिति व्यर्थमाकृष्टिशक्तिकल्पन-मिति वाच्यम् । नहि तदवस्थानार्थमेव तच्छक्तिकल्पनं किंतु भूमौ स्थिरत्वशक्तिसंरक्षण-हेतुत्वेन तत्कल्पनात् । किं नोऽमुना बहुतरेण मुधोदितेन गुर्वी स्थिरा वियति येन धृतेय-मुर्वी । सर्वं धराधरचरं धरतीति भाति देवो धराय न निवारणतोऽवतीर्ण इत्यत्र पाताला-वस्थितेन कूर्मेण स्वचरणचतुष्टय उदाकृष्यैव भूमेर्धारणादाकर्षणवशादाकृष्टया भुवा भूता-न्याकृष्टानीति भाव इति भवत्तनयलिखितभवदभिप्रायेण भवद्भिरथाऽऽगन्तुकाकृष्टिशक्ते-रङ्गीकाराच्च । ननु वस्तुन आकर्षणे भूसंयोगानन्तरं तद्वस्तुनः परावर्तनेन स्थलान्तरगम-नानुपपत्तेः पतने चाभिघातात्तदुपपत्तेः पतनानुभवापलापेन तदुच्छेदप्रसङ्गाच्छक्तिद्वयकल्प-नागौरवाच्चेत्यस्वरसादाह—समे इति । इयं गोलरूपा भूमिः समन्तात् । स्वस्थानादभितः सर्वत्र ब्रह्माण्डपरिधिपर्यन्तं समे तुल्ये ख आकाशे क्व कस्मिन्स्थले पततु । न कुत्रापि छिरे [स्थिरै] वेत्यर्थः । तथा च शक्तिद्वयकल्पनं त्वत्संमताधःप्रदेशाभ्युपगमेन भूमेर्निराधारत्व-निर्वाहायोक्तम् । वस्तुतस्तु भूमिगोलस्य ब्रह्माण्डगर्भावस्थानेन भूमिगोलादभितो ब्रह्माण्डा-न्तर्नभसस्तुल्यतया तेनाऽऽधाररहितेन गुरुभूतेनापि भूमिगोलेन केनाऽऽकाशमार्गेण पतनीयं विनिगमनाविरहादभितः पतनं युगपदसंभव्येवेति भूमेरभितस्त्वदूर्ध्वप्रदेशत्वादधःप्रदेशाभावा-त्पतनं न संभवति । तस्या एव सर्वाधारत्वात् । न ह्यधःस्थितं किंचिदपि पतनप्रतिबन्धक-माधारमपेक्षतेऽधःप्रदेशाभावे पततिवेति शक्तिकल्पनानवकाशादुक्तदोषाप्रसङ्गः । क ऊर्ध्वं

उत पार्श्वः साकल्यावधेः स्यादिति लघ्वार्यभट्टोक्तेः। मध्ये समन्ताद्ण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति। बिभ्राणः परमां शक्ति ब्रह्मणो धारणात्मिकामिति सूर्यसिद्धान्ताच्चेति भावः ॥६॥

केदारदत्तः—"पृथ्वी अपनी शक्ति से आकाश में स्थित है" इस कथन की युक्ति से पुष्टि की जा रही है कि—

जैसे सूर्य और अग्नि में स्वाभाविक उष्णता है, जैसे चन्द्रपिण्ड में शैत्यानुभूति होती है, जल में द्रवता, (आर्द्रता) जैसे स्वाभाविक है, जैसे पत्थर में स्वतः काठिन्य है और वायु में स्वाभाविक गमनशीलता है उसी प्रकार पृथ्वी में अचलत्व स्वाभाविक है, अर्थात् वह आकाश में अपनी जगह यथास्थान स्थित है अर्थात् आकाश में पृथ्वी का केन्द्र बिन्दु यथास्थान स्थिर है। परमात्मा की यह अद्भुत शक्ति अतिविचित्र है और अवर्णनीय भी है।

इसके बावजूद पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षणशक्ति है जो आकाश के गुरु पदार्थों को खींचकर अपने धरातल में ले आती है। (Centrc of attianction) पृथ्वी में यह एक ईश्वरदत्त गुरुत्वाकर्षणशक्ति सदा वर्त्तमान रहती है, जो आकाश में अपनी सीमा के भीतर भी किसी भी गुरु पदार्थ को खींचकर अपने धरातल में ले आती है और जो साधारण द्रष्टा को आकाशीय पदार्थों का पृथ्वी में गिरने का सा अनुभव होता है।

पृथ्वी के चारों तरफ ही आकाश है आकाश में पृथ्वी यथास्थान स्थित है तो पृथ्वी आकाश में अपने स्थान से सरासर नीचे जा रही है ऐसी कल्पना का कोई तथ्यगत आधार नहीं है ॥५-६॥

इदानीं बौद्धादियुक्तिमाह—

भपञ्जरस्य भ्रमणावलोकादाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः।
खस्थं न दृष्टं च गुरु क्षमाऽतः खेऽधः प्रयातीति वदन्ति बौद्धाः ॥७॥
द्वौ द्वौ रवीन्दू भगणौ च तद्वदेकान्तरौ तावुदयं व्रजेताम्।
यदब्रुवन्नेवमनम्बराद्या ब्रवीम्यतस्तान् प्रति युक्तियुक्तम् ॥८॥

वा० भा०—भूमेः समन्ताद्वर्तमानस्य भपञ्जरस्य भ्रमणान्यथानुपपत्त्या निराधारा भूरिति तेषां प्रतीतिरभूत्। तथाऽऽकाशस्थं गुरु वस्तु किमपि न दृष्टम्। भूरधो यातीति बौद्धा वदन्ति। यथा नौस्थो नावं गच्छन्तीमपि न वेत्ति तथा भूस्थो जनो न वेत्तीति। तथा द्वौ सूर्यौ। द्वौ चन्द्रमसौ। चतुष्पञ्चाशन्नक्षत्राणि। चतुर्भुजस्तम्भनिभो मेरुः। एकान्तरकोणस्थौ सूर्यौ मेरुकोणवशेनैकान्तरौ तावुदयं गच्छत इति जैनाश्चात्र वन् ॥७॥८॥

मरीचिः—अथ बौद्धमतं विप्रतिपन्नं निराकर्तुं प्रथमं तन्मतमुपजातिकयोपपादयति-भेति । नक्षत्राधिष्ठितगोलस्य ग्रहाणां च भूमेरभितो भ्रमणदर्शनाद्भूमिराधाररहितेति, एव-मस्माकं प्रतीतिरनुभवो जातः । अन्यथोदयास्तसिद्धभ्रमणमाधारसत्त्वेऽनुपपन्नं स्यात् । गुरु गुरुत्वाधिकरणीभूतं वस्तु । आकाशस्थमचेतनं किमपि न दृष्टम् । चकारादिदमप्यनुभव-सिद्धम् । अतोऽनुभवद्वयात् । खे ब्रह्माण्डमध्यावकाशे स्थापिताऽपि क्षमा भूमिराकाश एवाधो गच्छति प्रतिक्षणं भूस्थजनो न जानाति । यथा नौस्थो गच्छति तावन्न जानातीति । एवं बौद्धा वेदानङ्गीकारकाः पापा वदन्ति । अङ्गी कुर्वन्ति ननु भुव आधारकल्पने भपञ्जर भ्रमणानुपपत्तिर्न । तद्भ्रमणस्य मेरुपर्वतप्रदक्षिणत्वेन पुराणादिषु भूमेरूर्ध्वं प्रसिद्धत्वात् । न हि भपञ्जरभ्रमणं भूम्यधोऽङ्गीकृतम् । येन निराधारा भूः कल्प्येतयतो भूसमन्ताद्भ्रमणं तन्मतेनोपपादयंस्तन्निराकरणमुपजातिकया संगत्यर्थं प्रतिजानीते—द्वाविति ॥७॥

द्वौ द्वौ रवीन्दू । द्वौ सूर्यौ द्वौ चन्द्रौ । भगणौ । अश्विन्यादिनक्षत्राणि भौमादयश्च तद्वत् । प्रत्येकं द्वेधा । चः समुच्चये । तौ द्विधात्मकौ । एकान्तरौ । एकमहोरात्रमन्तरं ययोस्तौ । उदयं दर्शनयोग्यतां व्रजेतां प्राप्नुतः । यस्मिन्दिने यः सूर्यादिक उदितस्तद्-द्वितीयदिनेऽन्यः सूर्यादिक उदेति । तृतीयदिने प्रथमश्चतुर्थदिने द्वितीयः । एवं पुनः पुनरित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण । अनम्बराद्याः । न विद्यते अम्बरमावरणं येषां ते दिगम्बरा। बौद्धेषु दिगम्बरभेदस्य मुख्यत्वात्तदाद्या बौद्धाः । स्वग्रन्थे यत्-दो चंदा दो सुज्जा इत्यादि-वाक्येन गोलस्वरूपमब्रुवन्—अङ्गी कुर्युः । अयं भावः—मेरुपर्वताभितस्तत्तटे भपञ्जरस्य भ्रमणं प्रत्यक्षविरुद्धम् । दक्षिणदिगवस्थितनक्षत्रादेस्तत्संबन्धस्यासत्त्वात् । अतो भपञ्जर-भ्रमणं भूसमन्तादेवेत्याधारराहित्यं भूमेरधोगमनं च सम्यगुक्तम् । परंतु वस्तुन ऊर्ध्वाधः-पृष्ठाग्रपार्श्वद्वयभागानां प्रत्यक्षदर्शनाद्भूमेस्ते भागाः प्रत्यक्षसमत्वोपलब्ध्या समचतुरस्राः समकर्णा अभितः सन्तीति कल्पिताः । तत्रोर्ध्वाधःपृष्ठाग्रचतुर्भागोपरि समन्ताद्भूचक्र-भ्रमणम् । स्वभागोपरि सूर्यभ्रमणे तद्दर्शनाद्दिनमन्यभागत्रयसंबन्धेन तद्भ्रमणे तददर्शना-द्रात्रिरिति त्रिगुणितदिनमानस्य रात्रित्वमनुभवविरोधीति तत्संरक्षणार्थं भचक्रं महच्चतुः-पञ्चाशन्नक्षत्रात्मकत्वेन चतुर्विंशतिराश्यात्मकं कल्पितम् । तत्रार्धपरिधौ क्रमेण सप्त-विंशतिर्नक्षत्राणि द्वादश राशय इति संपूर्णपरिधौ दस्रादिनक्षत्राणां वारद्वयं समावेशः । तत्राप्येकसंज्ञयोर्नक्षत्रयोर्भचक्रार्धान्तरमिति भचक्रार्धे ग्रहसंचारवदपरभचक्रार्धे ग्रहसंचारार्थं सूर्यादयोऽपि द्विधा भचक्रार्धान्तरत्वेनैकनक्षत्रस्थाः सन्तीति कल्पितास्ततः सूर्यास्तानन्तरं दिनमानासन्नरात्रिमाने गत एवापरसूर्योदयो भवतीति पूर्वसूर्यादर्शनेऽप्यपरसूर्यदर्शनेन दिनत्वव्यवहारोऽत्रानुभवविरोध इति तन्मतविचारक्षोदसिद्ध इति । यत्तु भूमेरुपर्येव मेरुसमन्तात्तटे भपञ्जरभ्रमणमङ्गीकृत्य मेरोश्चतुरस्राकारत्वं तन्मतेऽङ्गीकृत्य चोक्तदिन-रात्र्यनुभवानुपपत्तिशङ्कावारणाय सूर्यादीनां द्वैगुण्यं युक्ततरमिति तेषामाशयः । अधः पतन्त्याः स्थितिरस्ति नोर्व्या नभस्यनन्तेऽत्र वदन्ति जैनाः । द्वौ द्वौ रवीन्दू द्विगुणां भसंस्थां चतुर्भुजस्तम्भनिभं च मेरुमिति श्रीपत्युक्त्या वर्णयन्ति । तन्न । पूर्वबौद्धमतप्रतिपादने

भपञ्जरस्य भ्रमणावलोकादित्याद्यर्धस्य विरोधापत्तेः । न च मतद्वयं बौद्धभेदाद्भिन्नमिति वाच्यम् । भूस्थितिप्रसङ्गे पूर्वमतप्रतिपादनस्य युक्तत्वेऽपि द्वितीयमतप्रतिपादनस्यात्रासंगतत्वापत्तेः । अग्रे मध्यगतिवासनायां तन्मतोक्तेः संगतत्वाच्च । ननु युक्त्यनुभवसिद्धबौद्धमतात्समे समन्तात्क पतत्वियं ख इति भवन्मतमनुभवविरोधादयुक्तमित्यत आह—ब्रवीमीति । अतोऽनुभवविरोधात् । तान्बौद्धान् प्रति युक्तियुक्तं दूषणं समनन्तरमेवाहं वदामि । तेषां मतमनुभवविरोधादयुक्तमस्मन्मतमुक्तरीत्याऽनुभवाविरुद्धमुक्तमेवेति भावः ॥८॥

केदारदत्त:—पृथ्वी आधार शून्य है—नक्षत्र चक्र की भ्रमणशीलता प्रत्यक्ष दृश्य है कि अपने दृश्य क्षितिज में उदित कोई भी नक्षत्र हो, ६० घटी अर्थात् २४ घण्टे में उस नक्षत्र का क्षितिज में प्रत्यक्ष द्वितीय उदय देखा जाता है । यदि पृथ्वी को धारण करने वाला पृथ्वी के नीचे कोई पदार्थ या बिम्व होता तो वह पदार्थ, नक्षत्र चक्र के भ्रमण में बाधक होता और नक्षत्र चक्र के भ्रमण में अवश्य व्यवधान करता । इसलिए नक्षत्रचक्र की दैनन्दिन परिभ्रमणशीलता जो प्रत्यक्ष दृश्य हो रही है, इस प्रत्यक्षता से स्पष्ट है कि पृथ्वी आधारशून्य है । अर्थात् आकाश में यथा स्थान स्थित है ।

बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि आकाश में कोई भी गुरु पदार्थ स्थिर न रह कर बराबर नीचे गिरता रहता है । कल्पना कीजिए कि किसी ऊँची जगह आकाश से एक पत्थर जमीन में गिरा, वह पत्थर जमीन में कैसे गिरा ? क्योंकि पत्थर में तो कोई गति नहीं है तो कहना उचित होगा कि पृथ्वी ने पत्थर को अपनी तरफ खींच लिया, ठीक है पृथ्वी के आकर्षण ने पत्थर को अपने में मिला दिया ।

अब पृथ्वी को भी आकाश में जो एक पत्थर की अपेक्षा अत्यधिक महान शक्ति सम्पन्न पत्थर की तरह से है तो निरन्तर आकाश में गिरते रहना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी के नीचे मात्र आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् पृथ्वी का कोई आधार नहीं है । इत्यादि विचार से बौद्ध सम्प्रदाय का यह मत युक्ति युक्त सा लगता है कि पृथ्वी निरन्तर आकाश में नीचे गिर रही है इत्यादि ।

बौद्धों की इस कल्पना का खण्डन श्री भास्कराचार्य बहुत सरल युक्ति से कर रहे हैं कि यदि पृथ्वी प्रतिभ्रमण आकाश में नीचे गिर रही है तो उस पूर्व कथित पत्थर का पृथ्वी से संयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि पत्थर के आकाश से नीचे गिरने की गति (वेग) पृथ्वी के नीचे गिरने के वेग से अत्यन्त न्यून है । पृथ्वी और पाषाण के अनन्त अधिक अन्तर में होने से पत्थर और पृथ्वी का आपस में संयोग होना असम्भव है, किन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पत्थर का भूमि से संयोग हो गया है अतः बौद्धाचार्यों का उक्त कथन कि "निरन्तर पृथ्वी आकाश में नीचे गिरती जा रही है" सुतरां गलत है यह बौद्धों का भ्रम है । अतः बौद्धों का उक्त कथन कि "पृथ्वी निरन्तर आकाश में नीचे गिरती जा रही है" यह तथ्य से बाहर है, और भ्रम ही भ्रम है ।

तथा यदि पृथ्वा निरन्तर आकाश में गिरती जा रही है तो एक सूर्योदय के अनन्तर २४ घण्टा = ६० घटी—में दूसरे सूर्योदय का दिखाई देना असम्भव होगा, यह बात बौद्धों की बुद्धि में भी आ गई, इसलिये "पृथ्वी का निरन्तर आकाश में अधोःपतन कथन गलत होगा" ऐसा समझ कर ही बौद्धों ने तथा अनम्बरादि जैनों ने कल्पना की कि, आकाश में दो सूर्य, दो चन्द्रमा २७ × २ = ५४ नक्षत्र तथा समस्त ग्रह मण्डल की दृष्टिगत उपलब्धि को द्विगुणित सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए, आज जिस सूर्य का उदय हुआ है कल इस सूर्य का उदय नहीं हो सकेगा क्योंकि स्थिर पृथ्वी पृष्ठ से आज के सूर्य केन्द्र तक की दूरी पृथ्वी के आकाश में गिरते रहने से द्विगुणित हो जावेगी अर्थात् अद्यतन सूर्य का उदय अग्रिम दिन नहीं होगा, सदा रात्रि की स्थिति हो जावेगी जो प्रत्यक्षतः असम्भव है। क्योंकि दूसरे दिन भी सूर्योदय देखा जाना प्रत्यक्ष है तब कैसे माना जाय कि पृथ्वी निरन्तर आकाश में गिरती जा रही है, इत्यादि यह विरोध सही समझ कर बौद्धों ने पुनः कल भी जो सूर्योदय हो रहा है वह आज का सूर्य बिम्ब नहीं है वह आज के सूर्य बिम्ब से भिन्न इसी प्रकार का दूसरा सूर्य है, इत्यादि दो सूर्य दो चन्द्र की जो दोषपूर्णं कल्पना की थी उस का श्रीभास्कराचार्य जोरदार शब्दों में युक्ति युक्त खण्डन कर रहे हैं ।।७।।८।।

इदानीं तेषां युक्तिभङ्गमाह—

भूः खेऽधः खलु यातीति बुद्धिर्बौद्ध मुधा कथम् ।
जाता यातं तु दृष्ट्वाऽपि खे यत्क्षिप्तं गुरु क्षितिम् ।।९।।

वा० भा—यदि भूरधो याति तदा शरादिकमूर्ध्वं क्षिप्तं पुनर्भुवं नैष्यति। उभयोरधो गमनात्। अथ भूमेर्मन्दा गतिः शरादेः शीघ्रा। तदपि न। यतो गुरुतरं शीघ्रं पतति। उर्व्यतिगुर्वी। शरादिरतिलघुः। रे बौद्धैवं दृष्ट्वाऽपि भूरधो यातीति बुद्धिः कथमियं तव वृथोत्पन्ना ।।९।।

मरीचिः—अथ प्रतिज्ञातं विवक्षुस्तावत्पूर्वप्रतिपादितं भूम्यधोगमनात्मकं बौद्धमतमनुष्टुभा खण्डयति—**भूः ख इति ।**

हे बौद्ध स्वीकृतप्रत्यक्ष ख आकाशे क्षिप्तं यद्गुरु वस्तु। तुकारात्तत्। भूमिं प्रति यातमागतं दृष्ट्वा भूराकाशेऽधो याति गच्छतीति प्रागुक्ता बुद्धिस्तव मुधा व्यर्था निर्हेतुका कथं जातोत्पन्ना। अपिशब्दादुत्क्षिप्तं गुरु वस्तु नो भूमिसंयोगानिश्चये भूम्यधोगमनं वक्तुं तव संभावितम्। तन्निश्चये तु प्रत्यक्षप्रमाणं बाधकमधोगमनस्येत्यर्थः। तथा च लघुपतनापेक्षया गुरोः शीघ्रं प्रपात इति प्रत्यक्षसिद्धानुभवाद्भूमेरधोगमनं त्वदुक्तमयुक्तम् अन्यथा भूमेरतिगुरुत्वादतिशीघ्रपतनादुत्क्षिप्तगुरुतरवस्तुनस्तल्लघुत्वेन मन्दपतनादुत्क्षिप्तगुरुवस्तुनो भूमावपतनापत्तेः। न च भूमौ स्थिरत्वनिर्वाहिकाकृष्टिशक्तिर्भवत्कल्पितैतद्दोषनिवारणार्थं स्वीक्रियत इति वाच्यम्। प्रथमं ब्रह्माण्डमध्याकाशे स्थापिताया भूमेर-

धोगमने तु दिनमध ऊर्ध्वस्थभचक्रार्धयोर्निकटदूरत्वापत्तेश्च । न चेष्टापत्तिः । सदा दिन-रात्र्योर्महल्लघुत्वापत्तेः । किंच भचक्रव्यासार्धस्य नियतयोजनमानज्ञानादधोगमने भूम्या भचक्राधःस्थत्वापत्त्योदयास्तासंभवेन सदा सूर्यदर्शनाद्रात्र्यभावापत्तेः न च भचक्रादीनां कक्षामानानन्त्यं स्वीकार्यमिति वाच्यम् । नियतमाननिबद्धग्रहगणितादेर्दृग्विषयस्योच्छेद-प्रसङ्गात् । अथाऽऽकाशस्थगुरुवस्तुस्थित्यदर्शनाद्भचक्रान्तर्गता भूमिर्भचक्रब्रह्माण्डगोलादि-यावत्पदार्थैः सहाधो गच्छतीति कल्पकोटिशतैरपि न किंचिद्विरुद्धमिति चेन्न । सर्वेषां चलत्वकल्पनातः स्थिरत्वकल्पनाया लघुभूतत्वात् । गुरुलघ्वोस्तुल्याधोगमनस्य प्रत्यक्ष-विरोधात् । ब्रह्माण्डगोलचलनस्य कुत्राप्यश्रुतत्वाच्च । एतेनोर्ध्वक्षिप्तवस्तुनो भूमौ प्रपात-दर्शनान्यथानुपपत्त्याऽऽकाशस्थाचेतनस्थित्यननुभवेन तच्चलनकल्पनाद्द्भूमिरूर्ध्वं गच्छतीति परास्तम् । अचेतनस्योर्ध्वगमनादर्शनात् । ऊर्ध्वस्थभचक्रस्य निकटत्वापत्तेः । भचक्रादूर्ध्व-गमनप्रसङ्गेन सदा सूर्याद्यदर्शनादन्धकाराकलितत्वापत्तेश्च । सर्वपदार्थचलनं तूक्तयुक्त्या पूर्वमेव निरस्तम् । तस्माद्भूमेरधः प्रदेशाभावेन सर्वाधारत्वेन च पतनासंभवाद्ब्रह्माण्ड-मध्याकाशे स्थिरा स्थिरैवेति पूर्वोक्तं युक्ततरमिति भावः ।।९।।

केदारदत्तः—पृथ्वी आकाश में प्रतिक्षण नीचे गिरती जा रही है, हे बौद्ध तेरी ऐसी कल्पना कारिका बुद्धि क्यों व्यर्थ हो गई है । आचार्य भास्कराचार्य यहाँ कह रहे हैं कि हे बौद्ध तुम देख रहे हो कि आकाश में फैंका गया वाण (शर) आदि कोई वस्तु नीचे गिर रही है और तदपेक्षया आपके मत से पृथ्वी तो आकाश में बहुत नीचे गिर जावेगी । पृथ्वी के ऊपर फंके गये गुरु पदार्थ का पृथ्वी से तुम्हारे कथनानुसार संयोग ही नहीं होना चाहिए, किन्तु संयोग प्रत्यक्ष हो रहा है ऐसा देखकर भी हे बौद्ध ! तुम्हारी बुद्धिगत कल्पना से तुम्हारी बुद्धि व्यर्थ क्यों हो रही है ।।९।।

इदानीं जैनयुक्तिभङ्गमाह—

किं गण्यं तव वैगुण्यं द्वैगुण्यं यो वृथाऽकृथाः ।
भार्केन्दूनां विलोक्याह्वा ध्रुवमत्स्यपरिभ्रमम् ।।१०।।

वा० भा०—यदा भरणीस्थो रविर्भवति तदा तस्यास्तमयकाले ध्रुवमत्स्यस्ति-र्यक्स्थो भवति । तस्य मुखतारा पश्चिमतः । पुच्छतारा पूर्वतः । तदा मुखतारासूत्रे रविरित्यर्थः । अथ निशावसाने मुखतारा परिवर्त्य पूर्वतो याति । पुच्छतारा पश्चिमतो याति । ततो मुखतारासूत्रगतस्यैवार्कस्योदयो दृश्यते । अतो द्वौ द्वौ सूर्यावित्यनुपपन्नम् । अत उक्तं—किं किमेकं तव वैगुण्यं गण्यम् । येन ध्रुवमत्स्य-परिभ्रमं दृष्ट्वाऽपि भार्केन्दूनां द्वैगुण्यमङ्गीकृतम् ।।१०।।

मरीचिः—अथ सूर्यादिग्रहाणां द्वैगुण्यनिरासकथनच्छलेन भुवः स्वोक्तं कन्दुकाकार-त्वमनुष्टभोपपादयति—**किमिति** । हे दिगम्बर तव वैगुण्यमज्ञानं क कथं गण्यम् ।

तवाज्ञानसंख्या गणयितुमशक्या । दिगम्बरत्वेन निस्त्रपत्वादगुणानां द (त)त्त्वाश्रितत्वात्त्व-दुक्तमस्माभिरुपेक्षणीयमिति भावः । ननु मया यदुच्यते तत्प्रत्यक्षानुभवसिद्धमतो मय्यज्ञानं कथमित्यत आह—द्वैगुण्यमिति । यस्त्वं प्रत्यक्षैकप्रमाणको ध्रुवमत्स्यपरिभ्रमम् । उत्तरदिक्-स्थाया ध्रुवताराग्रा मत्स्य आसन्नानेकपूर्वापरतारासंनिवेशेन मत्स्याकारः कश्चन नक्ष-त्रगणो भासते । तस्य परिभ्रमणं दृष्ट्वा प्रत्यक्षेण निश्चित्य । अदृष्ट्वा तत्स्वीकरणं घटत इत्यपिशब्दार्थः । भार्केन्द्वादीनां द्वैगुण्यं वृथा । अकरोरित्यर्थः । प्रत्यक्षोत्तरध्रुवतारा-मत्स्यभ्रमानुभवविरुद्धं त्वत्कल्पितद्वैगुण्यं विना प्रत्यक्षं कथमङ्गीकृतम् । न हि तद्द्वयं केनापि चक्षुषा दृष्टं येन त्वदुक्तं युक्तमिति तात्पर्यार्थः । तथा चोत्तरध्रुवस्य पुच्छतारा-सूत्रे भरण्यस्ति । तत्रस्थः सूर्योऽस्तं याति तदा मत्स्यपुच्छतारा पश्चिमतो मुखतारा पूर्वतो रात्र्यारम्भे तदासन्नोत्तरकाले वा भवति । अथ रात्र्यवसाने तदासन्नपूर्वकाले वा पुच्छतारा परिवर्त्य पूर्वतो मुखतारा प्रत्यक्षपरिवर्तनेन पश्चिमत इत्यर्कास्तोदयकालयोरर्कस्य पुच्छतारासूत्रविच्छेदादर्शनादेक एव सूर्यः । न तद्द्वयम् । एवमन्येषामपि । अन्यथा भव-न्मतेऽपि मत्स्यपरिभ्रमाद्भचक्रसंपूर्णभ्रमणाङ्गीकारात्तस्य वाऽहोरात्रद्वयकालसंबाधात्प्रकृते द्वितीयरात्र्यन्ते पुच्छतारायाः पूर्वदिगवस्थानसंभवेन पूर्वरात्र्यन्ते पूर्वदिगवस्थानानुपपत्तेः । अत एवापिशब्दस्थानेऽह्‌नेति पाठः क्वाचित्कः सूपपन्नः । नहि भचक्रस्थैर्यार्थं ध्रुवचतुष्टयं येनोत्तरध्रुवद्वयात्तदुपपत्तिः । दक्षिणोत्तरसूत्रस्य गोल एकत्वेन संभवादुत्तरध्रुवद्वयासंनिवे-शादतो दिगम्बरस्य प्रत्यक्षप्रमाणासिद्धचेदं वक्तुं कथं कथमुचितमिति भावः । एवं च सर्वत्र सदा दिनरात्र्योस्तुल्यत्वापत्त्या तद्द्वयासंभवेन तदेकत्वे भूमेः सर्वतः समकर्णसम-चतुर्भुजाकारत्वे सर्वत्र त्रिगुणितदिनमानस्य रात्रित्वापत्त्या प्रतिदिनं प्रतिदेशं दिनमानरात्रि-मानयोर्भिन्नत्वदर्शनान्यथानुपपत्त्या च भूमेः प्रागुक्तं कन्दुकाकारत्वं सूपपन्नमिति द्योतित-मनेन पद्येनेति सिद्धम् ॥१०॥

केदारदत्तः—भचक्र में ग्रह नक्षत्रादि की द्विगुणित संख्या की कल्पना युक्तियुक्त नहीं हैं—

क्योंकि जब सूर्य ग्रह की स्थिति भरणी नक्षत्र में होती है तो ध्रुवमस्यतारा की मुख और पुच्छ की प्रत्यक्ष दर्शनीय स्थिति से दो सूर्य दो चन्द्रमा इत्यादि जैन बौद्ध मत निरस्त हो जाते हैं ।

सूर्य स्पष्ट जब ०।१३° से ०।२६° तक अर्थात् वर्त्तमान दृश्य सौर मण्डलीय गति के अनुसार लगभग ता० २६ अप्रैल से ता० ९ मार्च तक के निरयण आकाश में भरणी में सूर्य बिम्ब रहता है ।

भरणी नक्षत्र गत सूर्य की स्थिति में ध्रुवमत्स्य तारा ध्रुव के पास आकाश में लम्ब रूप पूर्व पश्चिम में दीखती है ।

सूर्य के अस्त समय में ध्रुव मत्स्य तारा की मुख तारा पश्चिम को और पुच्छतारा पूर्व को होती है । मुख तारा मुख में सूर्योदय दीखता है । रात्रि समाप्ति के समय मुख तारा घूम

कर पूर्व में और पुच्छ तारा पश्चिम में होने से द्वितीय सूर्योदय ध्रुवमत्स्य तारा के मुख तारा गत सूर्य का द्वितीय उदय अर्थात् मुख तारा गत सूत्र में ही द्वितीय सूर्योदय का होना प्रत्यक्ष सिद्ध हो रहा है तो पृथ्वी का आकाश में सरासर नीचे चले जाने की कल्पना करना सुतरां व्यर्थ है। प्रत्यक्ष दृश्य वस्तु को देख लेने के अनन्तर उक्त अनर्गल कल्पना तो मात्र बुद्धि दोषाय ही कही जायेगी ॥१०॥

इदानीं भूगोलस्य समतां निराकुर्वन्नाह—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः ।
उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥११॥
यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते ।
उदगयं ननु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दक्षिणभागके ॥१२॥

वा० भा०—पुराणे भूः समादर्शोदरसन्निभा कथ्यते । तन्मध्ये मेरुः । परितो जम्बूद्वीपं लक्षयोजनव्यासम् । तद्बहिर्लक्षप्रमाणः क्षाराम्भोधिः । ततोऽन्यद्द्वीपं लक्षद्वयम् । ततः समुद्रस्ततोऽन्यद्द्वीपम् । द्वीपाद्द्वीपं द्विगुणम् । समुद्रात्समुद्रो द्विगुणः एवं यत् सप्तमं पुष्करद्वीपं तन्मध्ये मानसोत्तरपर्वतो वलयाकारोऽस्ति । तन्मस्तकोपरि रविरथचक्रं लक्षयोजनान्तरे विषुवद्दिने भ्रमति । उत्तरगोले तदुत्तरतो दक्षिणगोले दक्षिणत इति ।

अथयुक्तिरुच्यते । यदि समा भूस्तदा तदुपरि दूरगतो रविर्भ्रमन् किमस्मदादिभिर्न दृश्यते । सततं देवैरिव । यदि मेरुणाऽन्तर्हितो रविस्तर्हि मेरुः कथं न दृश्यते । यदि मेरुतटान्निःसृतस्यार्कस्योदयस्तर्हि प्राच्या उत्तरत एवार्कस्योदयेन भवितव्यम् । यतो मेरुरुत्तरतः । अथ कथं दक्षिणभाग उद्गच्छन् दृश्यते । अतो भूमेः समतायामिदं नोपपद्यत इत्यर्थः ॥११॥१२॥

मरीचि :—ननु प्रतिदिनं प्रतिदेशं दिनरात्रिमानयोर्भेदान्यथानुपपत्त्या भूमेश्चक्राकारत्वम् । यो वाऽयं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रं यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति । एषां मध्य इलावृत्तं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्येति । यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः कांचन्यन्याऽऽदर्शतलोपमेति च भागवताद्युक्तेरङ्गीकार्यम् । दिनरात्रिमानभेदस्य तत्रैवोपपादितत्वात् । गोलाकारत्वं च प्रत्यक्षविरुद्धमित्याशङ्क्य द्रुतविलम्बितवृत्तेन निरस्यति—**यदीति** ।

धरणी पृथ्वी । मुकुरोदरसंनिभा । आदर्शोदरसंनिभा भगवती विश्वंभरा कीर्तिता कैरिचत् । कैश्चन कूर्मपृष्ठसदृशी । कैश्चित्सरोजाकृतिरिति श्रीपत्युक्तेः । ननु भूमेर्भच-

क्रगोलमध्यस्थत्वादादर्शाकारत्वेन गोलमध्यपरिधिसंलग्नभूम्यैव गोलस्य प्रतिबद्धत्वाद्ग्रहभ्रमणानुपपत्तिरित्यत उत्तरं धरणीविशेषणेनाऽऽह—भगवतीति । गमनं गः । भानां नक्षत्राणाम् । उपलक्षणाद्ग्रहाणां च । गः प्रदक्षिणतया प्रत्यहं यस्मादिति भगो मेरुपर्वतः । तन्मते मेरोरभितो भचक्रभ्रमणाङ्गीकारात् । विद्यते यस्यां सा भगवती । मेरुपर्वतवतीत्यर्थः । तथा च यन्मते भूमेरादर्शाकारत्वं नहि तन्मते भूम्यधो ग्रहभभ्रमणाङ्गीकारो येन तद्भ्रमणानुपपत्तिः । किंतु भूमिमण्डलमध्यकेन्द्रस्थितमेरुपर्वतप्रदक्षिणतया तद्भ्रमणाङ्गीकारो भुवलयोपर्येवेति न क्षतिरिति भावः । अथ तदर्थं भागवतोक्ततात्पर्यमुच्यते । इयं पृथ्वी समवर्तुला चक्राकारा । तत्र भूमेर्मध्यकेन्द्रात्पञ्चाशत्सहस्रयोजनव्यासार्धेन यद्वृत्तं तदवधि भूमण्डलं लक्षयोजनविस्तृतं जम्बूद्वीपं तन्मध्ये मेरुपर्वतश्चतुरशीतिसहस्रयोजनोच्छ्रायो भूमेरुपरि । मूलो (ले) षोडशसहस्रविस्तृतो भूम्यामपि तन्मितोऽस्ति । अग्रे द्वात्रिंशत्सहस्रविस्तृत इति [क]र्णिकाकारः । ततः सार्धलक्षत्रयेण यद्वृत्तं तदपि लवणसमुद्रमभितः परिखारूपं प्लक्षद्वीपम् । ततः सार्धपञ्चलक्षेण पूर्ववदिक्षुरसाब्धिः । सार्धनवलक्षैः शाल्मल(लि)द्वीपम् । सार्धत्रयोदशलक्षैर्मद्यब्धिः । सार्धैकविंशतिलक्षैः क्षीरसमुद्रः । सार्धपञ्चचत्वारिंशल्लक्षैः कुशद्वीपम् । सार्धैकषष्टिलक्षैर्घृताब्धिः । सार्धत्रिनवतिलक्षैः शाकद्वीपम् । अयुताहतरेष्क [रसेष्व]कैर्दधिसमुद्रः । अयुताहतशराङ्कधृतिभिः पुष्करद्वीपम् । अयुताहतपञ्चाग्नितत्त्वैः स्वादूदकसमुद्रः । तत्र पुष्करद्वीपमध्यसिद्धौ मानसोत्तरपर्वतान्तःसमन्वात्तदाकारेणायुतयोजनोच्छ्रितविस्तृतः । केचन 'एकश्चात्र महाभाग विख्यातो वर्षपर्वतः । मानसोत्तरसंज्ञो वै मध्यतो वलयाकृतिः । योजनानां सहस्राणि ऊर्ध्वं पञ्चाशदुच्छ्रितः । तावतैव च बिस्तीर्णः सर्वतः परिमण्डलमित्युक्तेः पञ्चाशत्सहस्रविस्तृतोच्छ्रित इत्याहुः । जम्बुद्वीपकेन्द्रसमसूत्रेण भूमेरेकोनचत्वारिंशच्छक्षयोजनोपरि ध्रुवः । तद्धस्ते ग्रहताराणां युगाक्षकोटिनिबद्धवायुपाशद्वयम् । तत्र सूर्थरथचक्रं मानसोत्तरपर्वतमध्यसमसूत्रेणाऽऽकाशे भूमितो लक्षयोजनान्तरे वायुबद्धभूमौ भ्रमति विषुवदिने । उत्तरगोले तदूर्ध्वम् । दक्षिणगोले तदधः सूर्यरथचक्राधिष्ठितं राशिवृत्तं नक्षत्रचक्रानुमितं वलयाकारं तिरश्चीनम् । एवं चन्द्रमा भूमितो द्विलक्षयोजनान्तरे—अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टादुपलभ्यमान आपूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितॄणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः षोडशकलः परिभ्रमति । तदूर्ध्वमध उत्तरदक्षिणयोः पञ्चलक्षयोजनान्तरे नक्षत्राणि मेरुं प्रदक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताऽष्टाविंशतिः । सप्तलक्षयोजनान्तरे शुक्रः पुरतः पश्चात्सहैव चार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति । बुधस्तु नवलक्षान्तरे । भौम एकादशलक्षान्तरे । गुरुस्त्रयोदशलक्षान्तरे । शनिः पञ्चदशलक्षन्तरे । उत्तरस्मात्सप्तर्षयः षड्विंशतिलक्षान्तरे । नव कोट्य एकपञ्चाशल्लक्षाणि च योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति । पूर्वादिचतुर्दिक्षु क्रमेण देवधानीनिम्लोचनीविभावरी[अलका]पुर्य इन्द्रयमवरुणकुबेराणां तदुपरि सूर्योऽत्र मध्याह्नम् । तद्देशात्सव्येन मानसपर्वतचतुर्थांशान्तर उदयः । अपसव्येनास्तः । तद्देशाभिमुखदेशेऽर्धरात्रम् । तथा च मानसोत्तरपर्वतप्रदेशेषु येषु-

दयादिकं तेभ्यो दक्षिणोत्तरसूत्रस्थितद्वीपादिदेशेष्वपि तत् । एतेनैव सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित इत्युक्तं संगच्छते। पूर्वादिदिशां सर्वदेश एकस्थाननियमाभावात् । एतेन मेरुः सौम्यदिशीति वाक्यार्थानुपपत्त्या भूमेर्गोलाकारत्वमप्युपेयमिति परास्तम् । प्रत्युत पूर्वापरस्थानस्यैकत्वाभावेन मेरोर्नियमाच्चाधःप्रदेशे मेरोर्दक्षिणत्वापत्तेः । मेरुस्थानां दिवसमध्यं गत एव सदाऽऽदित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति । स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मन्दशीघ्रसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमावस्थानेषु यथासमवनमभिपद्यमानो मकरादिराशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते ! उत्तरदक्षिणायनयोः क्रमेणाहोरात्राणि वर्धन्त इति । अथ प्रकृते यदि—एवं पुराणमतमङ्गीकृत्यास्मदभिमतं गोलाकारत्वं नाऽऽद्रियते तर्हीत्यर्थः तरणिः सूर्यः । नरैर्भूपृष्ठस्थैरस्मदादिभिरमरैर्मेरुपृष्ठस्थैः । इव । किमु कथम् । न ईक्ष्यते । दृश्यते । तथा च यथा मेरुस्थानां सदा सूर्यदर्शनं तथाऽस्मदादीनां तद्दर्शनापत्त्या रात्र्यनुपपत्तिरिति भावः । ननु भूपृष्ठे प्रत्यक्षं भूमिसंलग्नतया सूर्योदयास्तयोर्दर्शनात्तदवगतदिनरात्र्योः प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिरित्यत आह—क्षितेरिति । पृथिव्याः सकाशादुपरि ऊर्ध्वं परिभ्रमन् प्रवहानिलेन भ्रममाणः । तथा च तन्मते सूर्यस्य पृथिव्यभितो भ्रमणानङ्गीकारात्तदधो भ्रमणाभावेन भूसंलग्नतानुपपत्त्योदयास्तमययोरेवासंभवप्रसङ्ग इति भावः । ननु मेरोरुच्चत्वात्तत्स्थानां व्यवधायकाभावात्सदा सूर्यदर्शनेन रात्र्यनुपपत्तिर्भूपृष्ठस्थानां तु मेरोरूर्ध्वं तद्भ्रमणेऽपि पर्वतान्तरव्यवधानसंभवात्तत्कृताविर्भावतिरोभावरूपतदुदयास्तोपपत्त्या रात्र्युत्पत्तिः । न चैवमुदयास्तयोर्भूसंलग्नतया सूर्यदर्शनानुपपत्तिरिति वाच्यम् । दूरत्वदोषात्तद्दर्शनस्य भ्रान्त्यङ्गीकारादित्यत आह—दूरगत इति । उक्तरीत्या मानसोत्तरपर्वतसयसूत्रेण मेरोरप्यूर्ध्वं तत्समन्ताद्गतः स्थितः । अतिशब्दादतिदूरस्थत्वेनादर्शनयोग्यतायामपि दर्शनं तेजोगोलकत्वेनाविरुद्धमित्यर्थः । तथा चार्कस्य मेरोरुपरि स्थितत्वात्पर्वतादीनां तदवध्युच्चत्वाभावाद्दर्शनव्यवधायकत्वासंभव इति भावः । यत्तु मुकुरोदराकारत्वे सर्वत्रोदयास्तौ युगपदेव भवेतामिति देवानामिव षण्मासपर्यन्तं मनुष्याणां कथं दिनं न स्यात् । मनुष्याणामिव देवानां षष्टिघटीमितं वा कथं न स्यादित्यभिप्रायार्थ इति । तन्न । तत्रत्यानां दिवसमध्यंगत एव सदाऽऽदित्यस्तपतीति भागवतोक्तेर्देवानां तन्मते सूर्यादर्शनरूपरात्रेरभावात् । उत्तरदक्षिणायनक्रमेणाहोरात्रप्रतिपादनं तु पारिभाषिकम् । तन्मते सर्वत्रोदयास्तयोरेककालत्वाभावाच्च । द्वितीयपक्षे देवदिनस्याप्रत्यक्षत्वात्परस्येष्टापत्तावुत्तरासंभवाच्च ।।११।।

ननु तावत्पर्यन्तं पर्वतादेरुच्चत्वाभावेऽपि व्यवधाने समोच्चत्वस्याप्रयोजकत्वादन्यथा छायानुत्पत्त्यापत्तेरित्यत्र प्रमाणतरुच्छायान्तर्गतपुरुषस्य सूर्यादर्शनोपलम्भवदत्रापि मेरुच्छायान्तर्गतास्मदादीनां रात्र्युत्पत्तौ न काचित्क्षतिरत एवोत्तरगोले सूर्यस्याधिकोच्चत्वेन मेरोरूर्ध्वमधिकान्तरादल्पकालं सूर्यादर्शनं बहुकालं सूर्यदर्शनमतोऽल्पमहद्रात्रिदिनम् । दक्षिणगोलसूर्यस्य मेर्वासन्नत्वाद्बहुकालमदर्शनमल्पकालं च दर्शनमतो महल्लघु रात्रिदिनम् । विषुवदिने तु तुल्यम् । लक्षयोजनान्तरेण भूमेः सत्त्वादिति पुराणमतं प्राक् सम्यगेवोप-

पादितम् । मेरुस्थानां तु मेरुच्छायान्तर्गतत्वाभावाद्रात्र्यभावः । कांचनभूम्यन्तरदले मेरोश्छायाभावात्क्वचित्सदा मेरुस्थवन्न रात्रिरित्याशङ्क्य द्रुतविलम्बितवृत्तेन निषेधति—यदिति ।

अत्रोत्तरार्धस्थनन्विति पूर्वपक्षद्योतकं पदं प्रथममन्वेतीति बोध्यम् । कनकाचलो मेरु- र्निशोत्पादक उक्तरीत्या । यदीति पूर्वपक्षसमाप्तिद्योतकश्चेदित्यर्थपरः । एतत्पू[र्व]पक्षोत्तर- मिदमिति ज्ञानार्थम् । उत्तरार्धस्थाथेतिपदं पूर्वपक्षानन्तर्यार्थकं बोध्यम् । उत्तरमुच्यत इति शेषः । उत्तरमेवाऽऽह—किम्विति तयोर्दृष्टिसूर्ययोरन्तरे मध्ये व्यवधानेन स्थितो मेरुः कथं न दृश्यते । यद्दर्शने यः प्रतिबन्धकस्तदवश्यदर्शननियमान्मेरुदर्शनापत्तेर्न मेरुः सूर्यदर्शनप्रति- बन्धक इति भावः । अथातिदूरत्वात्स दृश्यत इति चेत् । ध्रुवादीनामप्यनुपलम्भापत्तेः । निष्प्रभत्वाच्चेति चेत् । कनकरत्नमयत्वेनार्ककिरणप्रतिफलात्तदुपलम्भप्रसङ्गात् । व्यवहित- त्वादिति चेत् । मेरुप्रमाणेनान्यपर्वतादीनामभावस्य पुराणसिद्धत्वात् । अन्यथा मेरुव्यवधाय- कस्यैव रात्रिजनकत्वापत्तेः । तदनिर्वचनाच्च । अथ दिने सूर्यतेजआधिक्याददर्शनं रात्रौ त्वन्धकारप्राबल्यादिति चेत् । उदयास्तयोरुच्चत्वेनोपलम्भापत्तेर्न भूमिसंलग्नतया । तत्काले मेरुदर्शनापत्तेश्च । अथोच्येत महाप्रमाणोऽपि दूरत्वाद्भूनिमग्न इति चेत् । तर्हि तस्य व्यवधायकत्वानुपपत्तेर्ग्रहभ्रमणस्योच्चैर्दृग्विषयत्वात् । अथोच्येतानेककारणमदर्शनमिति चेत् । उत्तरदिगस्माभिः कथं घनतिमिरच्छन्नैव नोपलभ्यते मेघमण्डलकेनेव । अन्धकारस्य तत एवोत्पत्तेः । ध्रुवोत्तरस्थिततारार्णां यावत्क्षितिजमदर्शनापत्तेश्च । ननु ताराणां सूर्या- पेक्षयाऽतिदूरस्थत्वेन तद्व्यवधानासंभवात्तत्प्रकाशेनोत्तरदिशि घनान्धकारानुत्पत्तेः । क्षितिज- स्यामेरुतटत्वेनोपलम्भाच्च मेरोर्निशोत्पादकत्वाङ्गीकारे न काऽपि क्षतिः पुराणादिषु क्लृप्तत्वाच्चेत्यस्वरसाद्दूषणान्तरमाह—उदगिति । अंशुमान् सूर्यः । दक्षिणभागके स्वाभिमतदक्षिणाश्रितप्रदेशे दक्षिणगोले कथमुदेति । दक्षिणगोले प्रत्यक्षोपलब्धदक्षिणभागो- दयास्तयोरनुपपत्तिरिति भावः । ननूत्तरगोले दक्षिणगोले दक्षिणभागे तत्संधौ पूर्वापर- योरिति किमनुपपन्नमन्यथा गोलानुपपत्तेरित्यत आह-उदगिति । अयं रात्र्युत्पादकत्वेन प्रसिद्धो मेरुपर्वतः । उदक् । स्वस्थानादुत्तरस्थितः । यत्कारणादस्मात्तदनुपपत्तिरित्यर्थः । तथा चोत्तरदिक्स्थमेरोर्व्यवधायकत्वेन तत्तटव्यवधानारम्भसमाप्तितयोदयास्तयोरुत्तरत एव सदा संभवाद्दक्षिणभागे मेरोरसत्त्वात्तदुदयास्तानुपपत्तिः । नहि मेरुर्गोलवशात्तत्तद्दिक्- स्थश्चलति येन तदुपपत्तिः । अचलत्वानुपपत्तेरिति भावः । एवं चार्कस्य मानसपर्वतोपरि तदाकारेणैव भ्रमणात् । तस्य स्वस्थानाद्दक्षिणदिक्स्थत्वेन सदा दिने तत्र तत्त्वाद्दर्शनापत्त्या चतुर्विंशत्यक्षांशावधिदेशे खमध्यस्थत्वानुपपत्त्या प्रत्यक्षोपलब्धच्छाया[भा]वस्यानुत्पत्ति- प्रसङ्गः । कदाचित्ततः स्वत उत्तरदिगवस्थानानुपपत्तिर्दक्षिणोत्तरसूत्रस्थदेशानां प्रत्यक्ष- सिद्धदिनमानभेदानुपपत्तिरुदयास्तस्थानयोस्तन्मते नियतत्वादित्यादिदूषणगणैः पुराणमत- मालम्भतः प्रत्यक्षोपलब्धान्यथानुपपत्त्या भूमेर्गोलाकारत्वमेव परिशेषात्सिद्धम् । तेन च भूम्यभितोऽर्कादीनां भ्रमणसंभवेन स्वस्थानाद्भूमिगोलोर्ध्वखण्डस्य दर्शनादधःखण्डस्या-

दर्शनाच्च प्रतिपदं सूर्यदर्शने भूमिप्रदेश एव व्यवधायक इति प्रतिप्रदेशं दिनरात्रिभेदोपपत्तिः प्रत्यक्षेति न किंचिदपि गणितजातमनुपपन्नमिति ध्येयम् ॥१२॥

केदारदत्तः—पुराणों में पृथ्वी का स्वरूप समतल एक चतुर्भुजाकार एक आदर्श अर्थात् शीशा की तरह कहा गया है। उक्त प्रकार के पृथ्वी के स्वरूप के केन्द्र बिन्दु में मेरु पर्वत कहा गया है, मेरु पर्वत के चतुर्दिक् चारों तरफ एक लाख योजन व्यास मान का जम्बूद्वीप बताया गया है, जम्बूद्वीप के बाहर चारों तरफ क्षार सागर कहा गया है। पुनः दो लाख योजन दूरी पर अन्य द्वीप की संस्थिति कही गई है, तदनन्तर समुद्र तदनन्तर अन्य द्वीप संस्था इत्यादि वर्णन पुराणों में है। सातवें पुष्कर द्वीप के मध्य में बलयाकार मानस पर्वत कहा गया है। मानसपर्वत के शिर से एक लाख योजन की दूरी पर विषुवद्दिन में अर्थात् गोल मेष संक्रमण दिन में सूर्य का रथ-चक्र उत्तर गोल में उत्तर और दक्षिण भ्रमण करता है, इत्यादि प्रकार का सुविशद वर्णन पुराणों में वर्णित है जो सुलभ है दृष्टव्य है मननीय और विचारणीय भी है।

यहाँ पर आचार्य पुराणों में कथित उक्त प्रकार के उल्लेख की चर्चा मात्र पर्याप्त समझ कर, क्वचित् पुराणों में वर्णित कुछ विषयों का ग्रहगणित खगोल से भी समन्वय होना आवश्यक समझ कर जो सही बात है उसे बताते हुये अव्यक्त रूप से खगोल ज्ञान की सर्वोपरिता व्यक्त कर रहे हैं।

सीधी सी बात है कि आदर्श की तरह समतल पृथ्वी की कल्पना से सदोदित ही सूर्य का दर्शन होना चाहिए और वह सदा दिन ही रहना चाहिए—सूर्यास्त का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि द्रष्टा पुरुष के दृष्टि पथ में दृश्य वस्तु के अवरोधक अन्य पदार्थ का अभाव हो जाता है। इत्यादि।

किन्तु पृथ्वीवासी समाज सूर्योदय के वाद सूर्य का अस्त पुनः उदय इत्यादि दिन रात की ग्रहगोलीय गतिविधि प्रत्यक्ष देख कर ऐसी दशा सिद्ध होने पर पृथ्वी समतल आदर्शवत् न होकर गोलाकृतिक है अतः उदयक्षितिज से अस्त क्षितिज तक १८०° प्रदेशीय पृथ्वी समाज में सूर्यदर्शन तक दिन, गोल के अधोभाग १८०° तक में सूर्य का अदर्शन अर्थात् रात्रि का अनवरत क्रम चल रहा है पृथ्वी के गोलाकार होने की यह एक प्रबल युक्ति है। इस सम्बन्ध के और भी अनेक विषय यथा स्थान आगे स्पष्ट होंगे। यहाँ पर यदि मेरुपर्वत से ढका हुआ सूर्य है तो रविराच्छादक मेरुपर्वत का भी दर्शन होना चाहिए वह मेरु पर्वत कहाँ है ? आगे स्पष्ट होगा।

यदि कहिये मेरु के किनारे से सूर्योदय होता है तो प्राची दिशा के उत्तर तरफ ही सदा सूर्य का उदय देखा जाना चाहिए क्योंकि मेरु पर्वत उत्तर में ही है, यह भी नहीं होता क्योंकि दक्षिण दिशाओं के भूपृष्ठ में भी सूर्योदय प्रकृत्या यत्र तत्र दृष्टिगत होता हैं ॥११॥१२॥

अथ प्रत्यक्षविरोधशङ्कां परिहरन्नाह—

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान् ।
नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा ॥१३॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१३॥

इदानीं स्वोक्तस्य भूपरिधिप्रमाणस्योपपत्तिमाह—

पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यात्तदक्षविश्लेषलवैस्तदा किम् ।
चक्रांशकैरित्यनुपातयुक्त्या युक्तं निरुक्तं परिधेः प्रमाणम् ॥१४॥

वा० भा०—निरक्षदेशः स्वदेशाद्यथा यथा दक्षिणतो भवति तथा खस्वस्तिकाद्विषुवद्वृत्तं नतम् । तयोरन्तरेऽक्षांशाः । ते च निरक्षदेशादपसारयोजनैरनुपातेनोत्पद्यन्ते । अतः कस्मिंश्चित्पुरेऽक्षांशान्ज्ञात्वा तस्मात्पुरादुत्तरतोऽन्यस्मिन् पुरे ज्ञेयाः । ततस्तेषामन्तरांशैः पुरान्तरयोजनैश्चानुपातः । यद्यन्तरांशैः पुरान्तरयोजनानि लभ्यन्ते तदा चक्रांशैः ३६० किमिति । फलं भूपरिधियोजनानि ॥१४॥

मरीचिः—नन्वनेकयोजनमुपरि भ्रमतः पुरुषस्य कुत्रापि भूयो गोलावयवत्वानुपलम्भात्सर्वत्राऽऽदर्शोदराकारप्रतीतेश्च गोलाकारत्वं प्रत्यक्षोपलब्ध्यनुपपन्नमित्यत उपजातिकयाऽऽह—**सम इति ।**

अतोऽस्मात्कारणात् । तत्पृष्ठगतस्य भूमिगोलपृष्ठस्थितस्य । तस्य पुरुषस्य । यत्र तत्रावस्थितस्य । सा भूमिर्गोलरूपाणि(पि) कृत्स्ना संपूर्णा । समा । आदर्शाकारा । इवेत्यनेन वस्तुतस्तत्स्वरूपाभावात् । प्रतिभाति । आदर्शाकारेयमिति प्रतीतिर्भवतीत्यर्थः । कुत इत्यतःपदसूचितं हेतुमाह—सम इति । यतो यस्मात्कारणात् । वृत्तपरिधेः शतभागतुल्यदेः समयष्टिवत्स्यान्न तिरश्चीनः । कन्दुकादुपरितनप्रदेशे तत्परिधिशतभागप्रमितमेव सर्षपादि स्थापितं सन्न पतति । तदधिकमामलकादि पतत्येवातो ज्ञातमेवास्य वस्तुनोऽपि कियानपि प्रदेशः समोऽस्तीति । अन्यथाऽवस्थानायोगात् । असमस्यातितिरश्चीनत्वेन स्थापितवस्तुनः प्रपातसंभवनात् । अत उपलब्धं शतभागस्य समत्वम् । किंच वृत्तस्य तिरश्चीनत्वे सर्वोऽपि वृत्तपरिध्यवयवस्तिरश्चीनोऽपि कश्चन वृत्तपरिध्यंशः सूक्ष्मस्तिरश्चीनोऽपि तत्त्वतया न भासते । स तु वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवद्दृश्यते तु स इति शाकल्योक्त्या षण्णवत्यंशरूपः । अयमपि प्रथमः । ज्यायाः सूक्ष्मप्रकाशावगमेन तत्त्वाश्वितुल्यत्वानुत्पत्त्या स्थूल इति मत्वा लब्धा(ग्धा)र्यभट्टेन ततोऽप्यतिसूक्ष्मांशज्ञानार्थं पतनो भागः परिधेयसमस्थ इत्युक्त्या दशाधिकशतभागः सम इत्युक्तम् । तत्राऽऽचार्यैरार्षपौरुषसंमतांशयोर्योगार्धासन्नः शतभागो लाघवादङ्गीकृत इति । तथा च गोलाकारत्वेऽप्यंशे समत्वभानान्मण्डलाकारदर्शने न क्षतिरिति भावः । नन्वेवं कन्दुकस्यापि समतया दर्शनापत्तिरित्यत आह—पृथ्वीति । भूमिः । नितरामतिशयेन पृथ्वी । किंचिदूनपञ्चसहस्रप्रमाणतया महतीत्यर्थः । चः समु-

च्चये । तेन कन्दुकस्यांशे समत्वेऽप्यल्पतया न तस्य तदाकारेण प्रतिभानम् । भूमिगोलकस्य तु किंचिदूनपञ्चाशद्योजनभागे समत्वसद्भावात्तदाकारेण प्रतिभानमिति भावः । नन्वेवं वृहत्कन्दुकाकारमृत्पिण्डगोलेंऽशस्य समतयोपलम्भात्समत्वेन दर्शनेऽपि तदधिकदर्शनेन गोलाकारदर्शनप्रतीतेरभावितत्वाद्भूमिगोलेऽपि पञ्चाशद्योजनप्रदेशे समतया दर्शनप्रती-[ता]वपि तदधिकांशदर्शने गोलांशत्वेनापि प्रतीतिर्भवत्वित्यत आह—तनीयानिति । नरो मनुष्यस्तनीयानतिशयेन लघुभूत इत्यर्थः । तथा च मनुष्याणामल्पप्रमाणत्वेन तद्दृष्टिगोचरभूम्यंशस्य समभागावगतभूमिप्रदेशत्वाभावेन संपूर्णसमभागदर्शनमेव नास्ति कथं तदधिकदर्शनम् । येन गोलाकारप्रतीतिरत एव तत्पृष्ठगतस्येत्यनेनोच्चस्थानां भूपृष्ठदर्शनभागाधिकभागदर्शनाद्दिग्गाधिपस्य ब्रह्मणो वा गोलाकारप्रतीतिरस्तीति सूचितम् । तथा च सूर्यसिद्धान्ते—अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात्सर्वतोमुखम् । पश्यन्ति वृत्तामप्येनां चक्राकारां वसुन्धरामिति । एवं च मण्डलाकारदर्शनेन गोलाकारत्वं विरुद्धं नेति भावः ।।१३।।

अथ कियन्मानेतिप्रश्नोत्तरं प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिरित्यनेन मध्यमाधिकार एवोक्तं तत्पुराणविरुद्धमपि समञ्जसमुपपत्तिसिद्धत्वादित्युदजातिकयाऽऽह-**पुरान्तरमिति** ।

तदक्षविश्लेषलवैः । कयोश्चिद्दक्षिणोत्तरसूत्रस्थयोर्नगरयोर्वक्ष्यमाणरीत्या ज्ञातध्रुवोन्नविरूपाक्षांशमानयोर्विश्लेषेऽन्तरे ये लवास्तैरक्षांशान्तरांशैः प्रमाणभूतैरिदं चतुःक्रोशात्मकयोजनमानमतम् । तत्र नगरान्तरमुत्तरम् । दक्षिणोत्तरान्तररूपं योजनसंख्यामानम् । उत्तरमिति तु न्यूनाद्यदेशादधिकाक्षदेश उत्तर एवेति नियमद्योतकम् । तेनैवाक्षांशसंबन्धिनगरयोस्तिर्यक्कर्णरूपमन्तरं न ग्राह्यमिति ध्येयम् । चेद्यदि स्यात् । फलत्वेनोपलभ्यते । तदा तर्हि । चक्रांशैर्द्वादशराश्यंशैरिच्छारूपैः किम् । कियन्मानं लभ्यत इति । एवमुक्तस्वरूपेण । अनुपातयुक्त्या । अनुपात्यत इत्यनुपातः । प्रमाणसंबन्धिफलमिच्छासंबन्धेन क्रियत इत्यर्थः । सद्बोधिका तयेत्यर्थः । परिधेर्भूगोलपरिधेः निरुक्तं प्रागुक्तमध्यमाधिकारोक्तम् । प्रमाणं योजनात्मकं युक्तम् । असन्नेत्यर्थः । तथा च भूमेर्गोलकत्वेन सर्वतस्तत्तुल्यपरिधित्वाद्दक्षिणोत्तरभूपरिधिमानं भूमेर्भचक्रान्तःस्थिततया भचक्रदक्षिणोत्तरपरिविसमसूत्रस्थं तत्स्थनगरद्वयान्तरज्ञातयोजनसंख्यासमसूत्रसंबन्धेन तत्तन्नगरसमसूत्रस्थितभगोलस्थस्थानद्वयान्तरांशसंबद्धेति पलांशान्तरेण तज्ज्ञानसंभवादर्थाद्भचक्राधिष्ठितगोलवृत्ते चक्रांशानां सर्वतस्तुल्यपरिधित्वेन सत्त्वात्तत्संबन्धेन भूपरिधिज्ञानं संभवत्येव । पलांशयोर्ध्रुवनैयत्यादुक्तदिशैव तज्ज्ञानम् । पूर्वापरान्तरेऽन्यत्र वा तत्समसूत्रेण भगोलनियतस्थानव्याञ्जकतारादीनामभावात्तदन्तरेण च तज्ज्ञानमसुलभम् । यद्यप्यंशानुपातस्य स्थूलत्वादेतत्कथनमनुचितं तथाऽप्यपरमतापेक्षया स्वमतयुक्तिसिद्धमित्युक्तौ तात्पर्यात्स्वल्पान्तराच्च न क्षतिः ।।१४।।

केदारदत्तः – किसी भी गोलाकार पदार्थ की परिधि का अत्यन्त अल्प भाग सीधा समतल दिखाई देता है । पृथ्वी परिधि के किसी बिन्दु पर स्थित मानव की दृष्टि पृथ्वी में जहाँ तक पड़ती है वह वृत्तीय स्थान पूर्ण परिधि की अपेक्षा अत्यन्त लघु सीमा होने से दृष्टिगत भू-भाग सरलाकार ही दीखता है । वस्तुतः वह दृश्य भाग पृथ्वी के शतांश

$\frac{\text{पृथ्वीपरिधि}}{९६}$ यह चाप सीधा नजर आने से हम लोग गोलाकार पृथ्वी को सरल सीधा समझते हैं। जैसे किसी हथ गोले में चींटी चल रही है या किसी छोटे गेंद अनार अंगूर-आम के दाने में चींटी चल रही है या अत्यन्त लघु पदार्थ सरसों या राई आदि का बीच भी छोटे से छोटे गोल में अतिसूक्ष्म जीव भी स्थिर रहते हैं उसी प्रकार विशाल भूगोल परिधि में मानव पशु पक्षी, नगर, जंगल पहाड़ यथास्थान स्थित हैं जो स्पष्ट हैं।
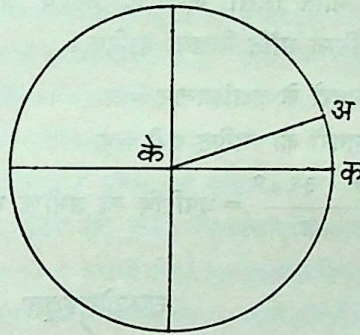
अ विन्दु से पृथ्वी पृष्ठ का क बिन्दु जिसे चापाकार में अ क प्रदेश कहते हैं वह प्रदेश $\frac{३६०^\circ}{९६}$ इस अंशात्मक प्रदेश का सूक्ष्म कलात्मक भाग $= \frac{३६० \times ६०}{९६} = \frac{२१६००}{९६} =$ २२५ कलात्मक चाप और सरल रेखा में अभेद होने से हमारी दृष्टिगत पृथ्वी का सूक्ष्म गोल प्रदेश भी सरल सीधी जमीन की तरह दिखाई देता है। वस्तुतः पृथ्वी का यह एक अ क चाप खण्ड, यह गोल एक गोलाकार होते हुये भी सरल सीधा मैदान सा दीखता है ॥१३॥

विषुवद्वृत्त (भूमध्य रेखा) धरातलगत भूपृष्ठ देशों में अक्षांश का अभाव है। उत्तर ध्रुव या दक्षिण ध्रुव स्थान से ९० अंश चाप से क्रियमाणवृत्त का नाम विषुवद्वृत्त या भूमध्य रेखावृत्त होता है। अपने देश से विषुवद्वृत्त धरातलीय भूपृष्ठ देश उत्तर या दक्षिणध्रुवाभिमुख होने से वहाँ उसे साक्ष देश या अक्षांशीय प्रदेश कहेंगे। दोनों खमध्यों और दोनों ध्रुवों पर गये हुये वृत्त का नाम स्वदेशीय याम्योत्तर वृत्त कहा जाता है। जहाँ अक्षांश नहीं होते उसे निरक्ष देश और उसके खमध्य का नाम निरक्ष खमध्य कहा जाता है। बाँस का खगोल व गोल बनाइये उस गोल के मध्य में उस माप की पृथ्वी का केन्द्र स्थापित कर एक पृथ्वी गोल बिम्ब वहाँ करिये। सिद्धान्तमर्मज्ञ खगोलज्ञ गुरु मुख और क्रिया से ही यह विषय स्पष्टतया समझ में आवेगा।

वेध से इस प्रकार किसी नगर का उत्तर या दक्षिण अक्षांश ज्ञान कर उस नगर के उससे उत्तरीय या दक्षणीय अक्षांशों का ज्ञान करिये। तब दोनों नगरों के अक्षांशों का

अन्तर मान मानिये 'अ' अक्षांशान्तर है। तथा दोनों नगरों की दूरी आधुनिक माप से, मीलों या किलोमीटरों में समझ कर उस दूरी का मान मानिये "क" है।

तब इसी भास्कराचार्य से विरचित पाटीगणित (अंक गणित) लीलावती नामक ग्रन्थ के त्रैराशिकानुपात करिये कि यदि "अ" में दोनों नगरों की दूरी का मान 'क' मिलता है तो एक नगर से दूसरे नगर तक की परिधि के ३६० अंशों में भूपरिधि का मान यथेष्ट मान में क्या होगा ? वह भूपरिधि का अभीष्ट माप में मान हो जाता है। उक्त अनुपात संक्षेप करने के लिये निम्न भाँति लिखा जाता है, अतएव अनुपात परम्परा जहाँ भी होगी विद्यार्थियों को उसे निम्न भाँति लिखना चाहिए।

दोनों नगरों के अक्षांशान्तर = अ

दोनों नगरों की मापित दूरी = क

अतः $\frac{\text{क} \quad ३६०^\circ}{\text{अ}}$ = भूपरिधि का अभीष्ट माप में मान होता है।
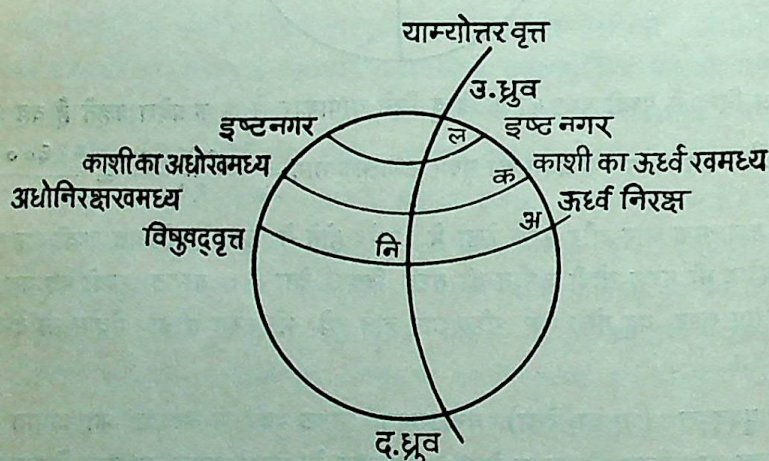
अ ल − अ क = क ल = अक्षांशान्तर

दो नगरों की याम्योत्तर वृत्त में दूरी क ल चाप का अभीष्ट मान दूरी = क

उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव तक की याम्योत्तर वृत्तीय अर्ध परिधि = १८० पूर्ण-परिधि अंश = १८० × २ = ३६०°

$$\frac{\text{क} \times ३६०^\circ}{\text{अल}} = \text{भूपरिधि}$$

ध्यान देने की बात है दोनों देशों का खमध्य एक याम्योत्तर में होने से यही स्पष्ट भूपरिधि भी कही जावेगी ॥१४॥

अथ तदेव दृढीकुर्वन्नाह—

निरक्षदेशात्क्षितिषोडशांशे भवेदवन्ती गणितेन यस्मात् ।
तदन्तरं षोडशसंगुणं स्याद्भूमानमस्माद्बहु किं तदुक्तम् ॥१५॥
शृङ्गोन्नतिग्रहयुतिग्रहणोदयास्तच्छायादिकं परिधिना घटतेऽमुना हि ।
नान्येन तेन जगुरुक्तमहीप्रमाणप्रामाण्यमन्वययुजा व्यतिरेककेण॥१६॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१५॥१६॥

मरीचिः—ननु मेरुमध्यात्स्वादूदकसमुद्रावधि भूविस्तृतियोजनान्यमृताहतपञ्चाग्नितत्त्वमितानि २५३५००० । ततो मेरुमानसोत्तरयुता भूमिविस्तृतिर्योजनमिताऽपरपर्वतोत्तरहतपञ्चाद्रितिथितुल्या । १५७५००० । अग्रेऽपि समन्ताद्भूविस्तृतिः । ततोऽग्रेऽपि समन्तात्काञ्चनी भूर्लक्षाहततर्काग्निनागविस्तृता ८३६००००० लोकालोकपर्वतावधि । एवं मेरोर्लोकालोकावधि भूविस्तृतियोजनानि सार्धद्वादश कोटयः १२५०००००० । मेरोर्मध्यमस्थत्वेनेतरभागेऽपि सार्धद्वादश कोटय इति लोकालोकपर्वतावधि मण्डलाकारभूमेर्विस्तारः पञ्चविंशतिकोटयः २५००००००० । व्यासोभयतो वृत्तार्धत्वाद्द्विगुणो व्यासो लोकालोकपर्वतावधि सकलभूमण्डलपरिधिमानं पञ्चाशत्कोटयः । पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णेत्युक्तेश्च । केचिद्व्यासतुल्यपरिध्यर्धस्यासत्त्वेन पूर्वोक्तमयुक्तम् । यत्त्वालोकाळोकपर्वतात्समन्तात्सार्धद्वादशकोटिविस्तृतोच्छ्रायो भूमावेवेति लोकालोकपर्वतान्तावधिसकलभूमण्डलपरिधिव्यासः पञ्चाशत्कोटयोऽत एव विस्तीर्णेत्युक्तं पुराणे । केचन, कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षणानि(क्षाणि) च ततः परम् । ततस्तु बीज(स्तुका) काञ्चनीः भूमिर्दशकोट्यो वरानने । इति जम्बूद्वीपानन्तरमुक्तेरुक्ता काञ्चनभूमिरुभयत्र । तेनैकत्र पञ्चकोटिविस्तृता सुवर्णभूमिस्ततोऽपि लोकालोकस्ततः पर इति शैवतन्त्रोक्तेरेकत्र लोकपर्वतान्तोऽयुताहतपञ्चरसवेदैर्योजनैरतो भूमध्याद्व्यासार्धं भूमेरष्टकोटय इति षोडशशतविस्तारे पञ्चाशच्छतपरिधेः सूर्यसिद्धान्तोक्त्वात्षोडशकोटिविस्तारे पञ्चाशत्कोटिमितं भूवलयमित्यङ्गीकुर्वन्ति । तत्कथं त्वदुक्तं भूपरिमाणं युक्तियुक्तमपि संगतमित्यतः पूर्वोक्तयुक्त्यन्तरप्रतिपादनपुरःसरमुपजातिकथा पुराणोक्तं निराकरोति—**निरक्षेति** । यस्मात्कारणादवन्ती । उज्जयिनी । निरक्षदेशात् । ध्रुवोन्नतिरूपाक्षाभाववद्देशात्स्वदक्षिणोत्तरसूत्रस्थादासन्नादित्यर्थः । यद्वा निरसमरसाररीत्या(?) विंशतिः । अक्षाणि यस्यासौ दशमुखत्वात् । रावणस्तस्य देशात् । लङ्काप्रदेशात् । क्षितिषोडशांशे भूगोलपरिधिषोडशभागे । गणितेन पूर्वोक्तरीत्यवगतगणितविचारेण । भवेत् । तथा च पूर्वोक्तानुपातार्थं दक्षिणोत्तरपुरयोरक्षांशदर्शनेन क्वचित्स्वदक्षिणसूत्रस्थदेशेष्वपचयवशादक्षांशाभावोऽस्तीत्यनुमितम् । अथ च भगोलवृत्तस्थसंपूर्णांशैः षष्ट्यधिकशतत्रयरूपैर्भूपरिधेः पूर्वोक्तयुक्त्या संभवादुज्जयिनीस्थसार्धद्वाविंशत्यक्षांशोन्नतेश्चक्रां[श]-षोडशभागतुल्यत्वादवन्तीभूपरिधिषोडशभागे लङ्कादेशादन्यनिरक्षदेशानां तद्दक्षिणसूत्रस्थत्वाभावाच्च तेभ्यः परिधिषोडशांशे तदनवस्थि[तौ] तात्पर्यम् । अस्मात्कारणात् । तदन्तरम् । तयोर्लङ्कोज्जयि

न्योरन्तरम् । मध्ययोजनसंख्यामानं लोकसिद्धम् । अन्तरदेशगणनया सिद्धं वा । षोडश-गुणितं भूपरिमानं स्यात् । तदन्तरस्य परिधिषोडक्षांशरूपत्वात् । एतेन यद्देशे येऽक्षांशाद्भु-क्ताश्चक्रांशाः, यत्फलं तत्कृतपरिधिभागे तद्दक्षिणस्थनिरक्षदेशात्तद्देश इति तदन्तरज्ञात-योजनसंख्यामानं तत्फलगुणितं भूपरिधिः स्यादित्युक्तम् । एतद्रीत्याऽस्मदुक्त एव परिधिः सिध्यतीत्यस्मादित्यस्य पुनरावृत्तेरस्मदभिमतभूपरिधेः । तदुक्तं पुराणोक्तं भूपरिधिमानं बहु । पञ्चाशत्कोटिरूपम् । किम् । कथमुपपन्नम् । अयुक्तमित्यर्थस्तथा चास्मदभिमतपरि-धेरागमयुक्तिसिद्धत्वात्केवलागमप्रमाणभूतं पुराणोक्तं भूमानमुपेक्षणीयमिति भावः । एते-नानन्तयोजना भूमिरित्यपास्तम् । अमिता यदि भूरियोजना क्षितिरह्ना परिवर्त्यते कथं भैः । परिधेः खलु षोडशस्थितांशे न च लङ्काविषयाद्भ्रवत्यवन्तीति लल्लोक्तेश्च । यत्तु कोटि-शब्दस्यानेकार्थत्वाङ्गीकारात् प्रकृते कोटिशतवाचकत्वात्पञ्चाशच्छतविस्तीर्णेत्यर्थादविरोध इति । तन्न । पुराणोक्तद्वीपसमुद्रमानादीनामनुपपत्तेः ॥१५॥

ननु मध्यमाधिकारे याम्योदक्पुरयोरित्यनेन परस्परविरुद्धानेकपरिधिमानानामभेदप्रति-पादनात्पुराणोक्तभूपरिधिः पञ्चार्बुदमितोऽपि युक्तः । स्वाभिमतयोजनतन्मतयोजनानि स्वपरिधिभक्ततत्परिधिमितानीत्यभेदाद्योजनभेदस्य नानात्वात् । अतः पूर्वोक्तयुक्त्या यवोदरैरङ्गुलमष्टसंख्यैरित्यादिना यदन्तरयोजनानि गणितानि तान्येव लक्षगुणितानि तन्मतेऽन्तरयोजनानि । तेभ्य उक्तयुक्त्या पञ्चाशत्कोटिमितभूपरिधिरुपपन्न इति तन्मते-ऽप्युपपत्तिरतुल्येत्यतो वसन्ततिलकयाऽऽह—**शृङ्गेति** ।

तेन कारणेन । उक्तमहीप्रमाणप्रामाण्यम् । प्रोक्ता योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताग-नन्दाब्धय इत्युक्तभूपरिधिमानस्य यथार्थानुभवत्वम् । व्यतिरेककेण । भूगोलवृत्तपरिधेरस्म-दुक्तमानाभावे यथार्थानुभवत्वाभाव इति व्यतिरेकसहकारेण । पूर्वाचार्या जगुः, आहुः । नन्वस्मदुक्तमानग्रहेऽपि यथार्थानुभवत्वाभाव इति व्यतिरेकसहचारात्कथं प्रामाण्यमुक्त-मित्यतो व्यतिरेकविशेषणमाह—अन्वययुजेति । अस्मदुक्तमानग्रहे यथार्थानुभवत्वं परिधे-रित्यन्वयसहचारसाहकृतेन व्यतिरेकसहचारेणेत्यर्थः । तथा चान्वयव्याप्त्याऽस्मदुक्तमानग्रहे यथार्थानुभवत्वाभाव इत्याशङ्कानुदय एवेति भावः । अस्मदुक्तमानाभावे यथार्थानुभवत्वं परिधेरस्तीत्याशङ्काया का(वा)रणाय व्यतिरेककेणेत्युक्तमित्यन्वयव्यतिरेकसहचाराभ्यां मदुक्तमानसिद्धिरापरिधिर्यथार्थानुभवत्वं सिद्धम् । नन्वन्वयव्यतिरेकावेवासिद्धौ । कथं ताभ्यां प्रामाण्यमवगतमित्यतस्तेनेतिपदसूचितं कारणमाह—शृङ्गोन्नतीति । हि यस्मात्का-रणात् । अमुना अस्मदुक्तमानेन । परिधिना । भूगोलतत्परिधिना । शृङ्गोन्नत्यादि यत्प्रत्यक्षयोग्यम् । ग्रहयुतिपदाद्ग्रहयोर्युतिर्ग्रहनक्षत्रयोश्च । उदयास्तौ नित्यसूर्यसांनिध्य-जनितौ । नक्षत्रग्रहाणाम् । छायाशब्देन सूर्यच्छाया । चन्द्रशुक्रयोर्दृग्योग्यच्छाया च । अथवाऽनिलकाबन्धः । अत एवाऽऽदिपदाद्भुजच्छायाकर्णौ तदुपयुक्तौ संगृहीतौ । सिद्धस्पष्ट-ग्रहसंनिवेशसूचितफलादेशो वा । घटते संवदति । तथा चास्मदुक्तपरिधिजनितदेशान्तर-फलसंस्कृतसिद्धग्रहेभ्यः प्रत्यक्षयोग्यं संवदति । सूर्यग्रहणं चास्मदुक्तपरिधिभ्याजनितलम्बनेना-

ननुपो (नाऽनुवदती) त्यन्वयः सिद्ध इति भावः । ननु तथाऽपि व्यतिरेकासिद्धावप्रामाण्या-पत्तिरत आह—नेति । अन्येन । अस्मदुक्तातिरिक्तपुराणसंमतत्वदभिमतपरिधिमानेन । शृङ्गोन्नत्यादिकं संवदति । तथा चास्मदुक्तमानाभावे संवादाभाव इति व्यतिरेकस्यापि सिद्धेरिति भावः । एतेनैवान्यपरिधिमानस्यान्वयव्यतिरेकासिद्ध्या प्रामाण्याभावसिद्धिः सूचिता । तथा च भूगोलपरिधौ पुराणोक्तं मानं त्वदुक्त्या घटत इत्यपिमा(ना) ग्रहगणितादावुपजीव्यत्वान्नाऽऽदृतमिति भावः । वस्तुतस्तु त्वदभिमतलक्षयोजनविस्तृतजम्बुद्वीपस्यास्मन्मतैकयोजनत्वापत्त्याऽस्मदभिमतबहुयोजनत्वेन प्रसिद्धजम्बुद्वीपानुभवः सर्वजनसिद्धो दत्तजलाञ्जलिः स्यात् । हिमाद्रिमेर्वादीनां क्षीरसमुद्रादीनां चाल्पायासेनोपलम्भापत्तेश्च त्वदुक्त्या पुराणोक्तपरिधिसमर्थनं वाधितमेवेत्यार्यैराग्रहैकतत्परतर्काद्यग्राहकस्य निराकरणार्थं पद्येनोक्तं दूषणमिति तत्त्वम् ।।१६।।

केदारदत्तः—निरक्ष खमध्य से पृथिवी की परि ध के १६ वें विभाग में गणित से उज्जयिनी नगरी का स्थान होता है ।

निरक्ष खमध्य एवं उज्जयिनी के खमध्यों का एक याम्योत्तर वृत्तीय अन्तर को १६ से गुणा करने पर भूपरिधि का स्पष्ट मान हो जाता है ।

उपपत्ति—इस कथन की उपपत्ति सुस्पष्ट है ।

$$\frac{३६०^0}{१६} = २२।३०$$ यह उज्जयिनी का अक्षांश होता हैं ।

$$\text{अतः} \frac{\text{भूपरिधि}}{१६} = \text{अक्षांश}$$

अतः अक्षांश × १६ = भूपरिधिमान ।

इस प्रकार भास्कराचार्य ने उज्जैन का अक्षांश २२ अंश ३० कला माना हैं । वर्त्तमान सूक्ष्म वेध प्रणाली से उज्जयिनी का अक्षांश २३ अंश ९ कला होता है । $२३^0।९' — २२^0।३०' = ३९'$ अर्थात् आचार्य ने स्वल्पान्तर से उज्जयिनी का अक्षांश आधुनिक वेधसिद्ध सही अक्षांश से ३९ कला कम माना है ।

स्वल्पान्तरीय स्थूल मान से पृथ्वी का $\frac{\text{व्या}}{२} = ४०००$ मील । अर्थात् व्यास = $४००० \times २ = ८०००$ मील । १ में स्थूल परिधि $\frac{१ \times २२}{७}$ । अतः $\frac{८००० \times २२}{७}$ प्रायः २४००० मील भूपरिधि का मान प्राचीनों ने माना है ।

उक्त प्रकार से भास्कराचार्य ने भूपरिधि साधन की गणित प्रक्रिया को सूक्ष्म और सही बताने का कारण बताया है कि उज्जयिनी अक्षांश के आधार से साधित भूपरिधि के मान का—

"(१) चन्द्रश्रृङ्गोन्नति साधन गणित में

(२) दो ग्रहों की परस्पर की युति साधन में

(३) सूर्य चन्द्रमा के ग्रहणों के गणित के साधन में

(४) ग्रहों के उदय और अस्तकाल साधन गणित में

(५) ग्रहों की छायादि से नतांशादि साधन गणित में" उपयोग करने से उक्त गणित सही उतरते हैं अतएव मेरी बुद्धि से साधित उक्त भूपरिधि मान सही होता है—इत्यादि कहा है ॥१५॥१६॥

इदानीं भूगोले परनिवेशमाह—

लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ याम्ये वडवानलश्च ॥१७॥
कुवृत्तपादान्तरितानि तानि स्थानानि षड्गोलविदो वदन्ति ।
वसन्ति मेरौ सुरसिद्धसंघा और्वे च सर्वे नरकाः सदैत्याः ॥१८॥
यो यत्र तिष्ठत्यवनीं तलस्थामात्मानमस्या उपरि स्थितं च ।
स मन्यतेऽतः कुचतुर्थसंस्था मिथश्च ये तिर्यगिवामनन्ति ॥१९॥
अधःशिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छायामनुष्या इव नीरतीरे ।
अनाकुलास्तिर्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वय यथात्र ॥२०॥

वा० भा०—सुगमम् ॥१७॥१८॥१९॥२०॥

मरीचिः—स्यादेतत् । निरक्षदेशादित्यनेन लङ्कादेशः कथमवगतस्तन्नाक्षांशानुत्पत्तौ कारणाभावादित्यतो वस्तुमात्रस्य मध्यपूर्वापरार्धं पार्श्वद्वयेति षड्भागसद्भावनियमाद्भूगोलस्य षड् भागाः क इत्याशङ्कोत्तरभूतषट्स्थानसंनिवेशकथनच्छलेनोत्तरमुपजातिकयाऽऽह—लङ्केति ।

कुमध्ये भूगोलमध्यभागे लङ्का । यद्यपि गोलपृष्ठे मध्यस्य यत्र तत्रापि संभवाल्लङ्का कुमध्य इत्ययुक्तं तथाऽपि व्यवहारार्थमेकस्य प्रदेशस्य मध्यस्य कल्पनावश्यकतया स्वतन्त्रस्य नियोगानर्हत्वाच्च ब्रह्मणा लङ्कैव भूपृष्ठे मध्यत्वेन कल्पितेति ध्येयम् । अस्या लङ्कायाः सकाशात्पूर्वदिग्भागे यमकोटिनामकं नगरम् । चकाराल्लङ्काप्रदेशादेवेत्यर्थः । पश्चिमदिग्भागे रोमकाख्यं नगरम् । ततो लङ्कादेशादधःप्रदेशे लङ्कास्थानस्य मध्यत्वकल्पनयोर्ध्वत्वकल्पनाङ्गीकारात् । अन्यथोर्ध्वाधःप्रदेशयोर्गोलेऽनुपपत्तेः । सिद्धपुरम् । अथानन्तरम् । सौम्य उक्तनगरेभ्य उत्तरदिग्भागे सुमेरुर्हेमाद्रिः । चकारादुक्तपूर्वापरसूत्रस्थनगरचतुष्टयाद्याम्ये दक्षिणदिग्भागे वडवाख्योऽग्निस्तत्स्थानमित्यर्थः । तथा चाग्रे ध्रुवोन्नत्याऽक्षांशस्वरूपप्रतिपादनाल्लङ्कादिपूर्वापरसूत्रस्थदेशेषु तदुन्नत्यभावदर्शनप्रतिपादनाच्चोज्जयिनीदक्षिणसूत्रस्थनिरक्षदेशे लङ्कैवेति भावः ॥१७॥

ननु लङ्कादेशात्पूर्वापरसूत्रस्य सिद्धपुरपर्यन्तं सत्त्वात्तत्र यमकोटिरोमकनगरयोः कियताऽन्तरेण लङ्कादेशादवस्थानमेवं लङ्कास्थानादक्षिणोत्तरसूत्रस्यापि तदवधित्वात्तच्च लङ्कास्थानात्कियताऽन्तरेण मेरुडवानलयोरवस्थानमित्यतस्तदुत्तरं तत्प्रसङ्गात्पूर्वापर-सूत्रस्थलङ्कादिपुरचतुष्के मनुष्यगाम्यत्वेन दशशिरःपुरीत्यादिमध्याधिकारोक्तेन राक्षस-निवाससूचनाच्चावशिष्टमेरुवडवानलयोर्मनुष्यगोचरत्वाभावात्तयोः केषामस्थानमित्या-शङ्कोत्तरं चोपजातिकयाऽऽह—**कुवृत्तेति** ।

भूगोलस्वरूपतत्त्वज्ञाः पूर्वाचार्याः । तानि पूर्वोक्तानि षट्संख्याकानि स्थानानि लङ्कायमकोटिसिद्धपुररोमकमेरुवडवानलात्मकानि परस्परमुक्तान्यतमान्यवहितानि । कुवृ-त्तपादान्तरितानि । भूगोलवृत्तपरिधिचतुर्थांशान्तरं संजातं तेषां तानीत्यर्थः । पूर्वापरसूत्रे दक्षिणोत्तरसूत्रे च पूर्वोक्त्या नगरचतुष्टयस्य सिद्धत्वात्तेषां च गोलपरिधिस्थत्वेन विशेष-तोऽनुक्तेश्च समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायाच्च परिधिचतुर्थांशान्तराण्येव सिद्धानीति च वदन्ति । भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः । ताभ्यश्चोत्तरगो मेरुस्ताचा(वा)नेव सुराश्रय इति सूर्यसिद्धान्तोक्त्या कथयन्ति । तथा च लङ्कायाः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभागेषु यमकोटिरोमकवडवानलमेरुस्थानानि क्रमेण परिधिचतुर्थांशान्तरेण सन्तीति भावः । एतेन प्रतिस्पर्धिनगरयोरुक्तसान्यतमव्यवहितयोः परस्परमन्तरं तु परिध्यर्धमिति । यथा मेरुवडवा-नलयोर्लङ्कासिद्धपुरयोर्यमकोटिरोमकयोर्वेति सूचितम् । मेरौ सुरा इन्द्रादयो देवाः सिद्धा योगाभ्यासरता महर्षयः । अनयोः संघाः समुदायाः । अत्र बहुवचनमनन्तसंख्याद्योतकम् । वसन्त्यधितिष्ठन्ति । और्वे वडवानलस्थाने । नरकाः सर्वे । पापानन्तभेदान्नरकाः । अथाष्टाविंशतिसंख्याकास्तामिश्रा(स्रा)दयः(यः) पुराणप्रसिद्धाः पापपुरुषदाहकाः सदैत्या दैत्यसहिताः । दैत्या अपीत्यर्थः । चकाराद्वसन्तीत्यर्थः वडवानलस्यातिदाहकत्वेन यातनार्थं नरकाणां सर्वेषां तत्रावस्थानं युक्तम् । तत्संसर्गात्तेषामप्यतिदाहकत्वसंभवात् । अत एवा-नास्या(स्वा)दितपरमेश्वरपदारविन्दमकरन्दानां दैत्यानां तत्रैवावस्थानं युक्तमिति भावः । तथा च सूर्यसिद्धान्ते—अनेकरत्ननिचयः जाम्बूनदमयो गिरिः । भूगोलमध्यगो मेरुरुभयत्र विनिर्गतः । उपरिष्टात्स्थितास्तस्य सेन्द्रा देवा महर्षयः । अधस्तादसुरास्तद्वद्द्विषन्तोऽन्योन्य-माश्रिता इति ॥१८॥

नन्वेवं लङ्कातो भूगोलपरिधिचतुर्थांशान्तरस्थितनगराणां परमतिर्यक्त्वेन लोकवसत्य-योग्यत्वमेवं लङ्काधःस्थितसिद्धपुरस्यापि पतनसंभवादित्यतः समे समन्तात्क्व पतत्वियं खे इति पूर्वोक्तस्याभिप्रायमुपजातिकाभ्यां स्फुटयति—**य इति** ।

यो जन्तुः । भूगोलपृष्ठे यत्र यस्मिन्भागे तिष्ठति वसति । स जीवः । अवनीम् । पृथ्वीम् । तलस्थां स्वाधःस्थितां मन्यते । अस्याः । भूमेः । उपरिस्थमात्मानं स मन्यते । चः समुच्चये । तेन भूगोलपृष्ठेऽभितो लोकानां सत्त्वात्तेषां च सर्वेषां स्वाधो भूस्तदुपरि

वयमिति प्रतीतेर्भूगोलस्य सर्वावयवाच्छेदेनाधस्तं तदभितश्चोर्ध्वस्तमिति पूर्वमनेकधा निर्णीतत्वादधःस्थितानामधःप्रदेशाभावात्पतनाभावः ॥१९॥

ननु लङ्कादेशात्तन्नगराणां तिरश्चीनतया तदधिष्ठितलोकास्तिरश्चीनाः प्रत्यक्षसिद्धाः पतनीया एवेत्यत आह—**अध इति**। भूमिगोलस्य निरपेक्षं सर्वावयवावच्छेदेनाधस्तिर्यग्भागाप्रसिद्धेरित्यर्थः। ते। लङ्कादिदेशस्थाः कुचतुर्थसंस्थाः। भूपरिधिचतुर्थांशान्तरेण स्थिताः। मिथः परस्परम्। तिर्यक् तिरश्चीनाः। चकारात्परस्परम्। इवेत्यनेन वस्तुतस्तदभाव आमनन्ति। तथा च यथा लङ्कादेशादितरदेशानां तिरश्चीनतया तदधिष्ठितमनुष्यपातशङ्का तथाऽन्यदेशाल्लङ्कादेशस्यापि तिरश्चीनतया दर्शनात्तत्स्थलोकपतनमप्यनिवारितमिति सर्वलोकपतनानुपपत्त्या तदपतनमेवेति भावः। नन्वधःस्थितानामवश्यं पतनापत्तिरत आह—अधःशिरस्का इति। अधोमुखा वदन्ति। नन्वधःशिरस्का इत्यनेन पतनाभाव इति कुदलान्तरस्था भूपरिध्यर्धान्तरेण स्थिताः परस्परमधः शिरस्का वदतस्तव व्याघातापत्तिरतो दृष्टान्तद्वारा तत्पतनं निवारयति—छायामनुष्या इव। नीरतीरे। तडागनदीजलोपकण्ठे। छायामनुष्याः प्रतिबिम्बमनुष्या इव। तथा च भानं तथा भवति भ्रमेण। वस्तुतो भूमेरधोभागाभावेनाधोमुखत्वमसंभव्येवेति पतनाभाव इति भावः। ननु तथाऽपि तत्स्थलोकाः पतनशङ्कया व्याकुलाः कथं व्यवहरन्तीति मन्दाशङ्काया उपसंहारव्याजेनोत्तरमाह—अनाकुला इति। तिर्यक्स्था अधःस्थास्ते लोकास्तत्र तत्तत्प्रदेशेऽनाकुला अव्याकुला निःशङ्कास्तिष्ठन्ति। चकाराध्य(द्व्य)वहरन्ति। पतनशङ्काया निरस्तत्वादिति भावः। किमत्र मानमतो दृष्टान्तद्वारा प्रत्यक्षं प्रमाणमाह—वयमिति। यथा। अत्र। अस्मदधिष्ठितभूप्रदेशे। वयमनाकुलास्तिष्ठामस्तथेत्यर्थः। तथा चास्मदधिष्ठितप्रदेशस्याप्येकस्मात्प्रदेशात्तिर्यगधःस्थितत्वावश्यंभावाशथाऽस्माकं पतनशङ्का नास्ति तथा तेषामपि। अन्यथाऽस्मदवस्थानानुपपत्तेरिति भूम्यधिष्ठितलोकानां विना स्वाधिष्ठितप्रदेशमधोभागाभावात्स्वतिर्यगधःस्थानयोर्भूगोले स्वावस्थानासंभवाच्चावस्थाने न क्षतिः। नह्यन्याधस्तिर्यग्भागाभ्यां तदितरपतनसंभव इति भूगोलेऽधस्तिर्यगूर्ध्वभागाभिमानः कल्पितावधिप्रदेशान्न वस्तुन इति भावः ॥२०॥

केदारदत्तः—गोलाकार भू बिम्ब की पूर्वापर रूपा मध्य रेखा का सार्थक नाम भूमध्य रेखा या विषुवत् रेखा कहा जाता है, प्राक्कालीन भूगोलशास्त्र वेत्ताओं से लेकर आज तक के भूगोल शास्त्रों की इस कथन में एकवाक्यता है।

अतिदीर्घ प्राचीन काल में लंका द्वीप के किसी लंका नामक नगरी की वस्तु स्थिति भूमध्य रेखा में रही होगी उस अथवा उस लंका नामक नगर की स्थिति भूमध्य रेखा में देख कर, लंका के खमध्यगत पूर्वापरवृत्त का लंका के खमध्यगत याम्योत्तर वृत्त के सम्पात बिन्दु जिसका नाम गोलीय रेखागणित से भी सिद्ध होता है इसे निरक्ष खमध्य कहा गया है।

इस खमध्य बिन्दु के धरातल में भूपृष्ठनिष्ठ बिन्दु का नाम लंका नगरी गणित गोल से सिद्ध होती है। अतः लंका नगरी से नव्वे अंश की दूरी पर पूर्व में यमकोटि नाम की

नगरी और पश्चिम क्षितिजीय भू खमध्य में रोमकपत्तन नाम की नगरी, एवं इसी विषुवद्वृत्त धरातल के अधो भूगोल खमध्य में सिद्धपुर नाम का नगर, एवं भू निरक्ष खमध्य गत लंका नगरी से नव्वे उत्तरदक्षिण में ९० अंश दूरी पर उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव स्थित हैं।

आचार्य को यहाँ पर पौराणिक मत के साथ सहमत होना पड़ रहा है, दक्षिण ध्रुव न कहकर बड़वानलः बड़वानलस्थाने नरकाः, पुराणप्रसिद्धाः पापपुरुषदाहकाः सदैत्या दैत्यसहिता दैत्या अपीत्यर्थः आचार्य इसका नाम दक्षिण बड़वानल कह रहा है।

इस प्रकार भूपृष्ठ के निरक्ष स्थान अर्थात् अक्षांश शून्य स्थान, और साक्ष अक्षांश सत्तायुक्त नगर की स्वदेशीय भूपरिधि स्थान से प्रत्येक ९० अंश की दूरी पर (१) अपना नगर ग्राम, (२) अपने स्थान से पूर्व का नगर, (३) पश्चिम का नगर और (४) अपने नगर से १८०^0 की दूरी पर अधो खमध्य के नगर के साथ उत्तर में (५) भूपृष्ठगत ध्रुव बिन्दु और नीचे (६) भूपृष्ठगत दक्षिण ध्रुव विन्दु सिद्ध होते हैं।

जैसे क्षेत्र दर्शन से स्पष्ट होता है—
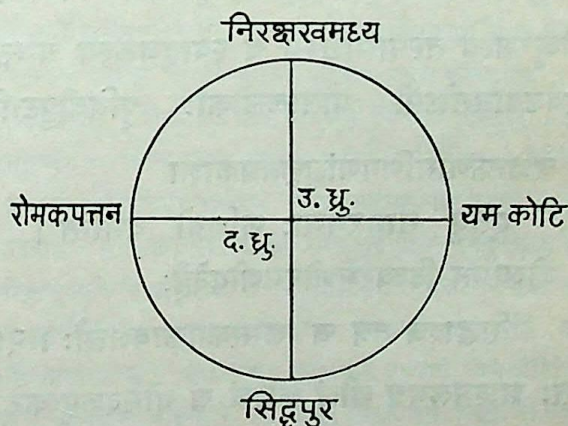
युग महायुग, कल्प कल्पान्तर के दीर्घसमयों में पृथ्वी में होते आ रहे परिवर्तनों से समुद्र की जगह स्थल, स्थल को जगह समुद्र हिमालय जैसे पहाड़ की समुद्र गत स्थिति इत्यादि प्राकृतिक परिवर्त्तनों के होते रहने से, पृथ्वी के कितने नगर देश ध्वस्त हो गये और अनेक नये नगर देशों का निर्माण होता जा रहा है। तदनुसार वर्त्तमान की भौगोलिक स्थिति के अनुसार—भूमध्य रेखा गत स्थानों के नाम निम्न भाँति है।

मलएशिया में Bormes Singpus.

उत्तर मेरु (ध्रुव) में देव योनि दक्षिण ध्रुव में दैत्यों का निवास है।

भूपृष्ठ में जो जहाँ रहता है वह अपने को पृथ्वी के ऊपर और ठीक १८०′ की दूरी के नागरिक को नीचे (पातालगत) समझता है। वस्तुतः गोल पदार्थ गत गोल बिम्बस्थ जन्तु अपने से ऊपर आकाश को ही देखेगा नीचे नीच, निम्न कहीं कुछ भी नहीं है। ज्ञान से "अहम्" भाग जाता है।

जैसे तालाब के किनारे खड़े हुये व्यक्ति का प्रतिबिम्ब जल में विपरीत ही दीखता है। इत्यादि ॥१७–२०॥

इदानीं द्वीपानां समुद्राणां च स्थानमाह—

भूमेरर्धं क्षारसिन्धोरुदक्स्थं जम्बुद्वीपं प्राहुराचार्यवर्याः ।
अर्धेऽन्यस्मिन् द्वीपषट्कस्य याम्ये क्षारक्षीराद्यम्बुधीनां निवेशः ॥२१॥

लवणजलधिरादौ दुग्धसिन्धुश्च तस्मा-
दमृतममृतरश्मिः श्रीश्च यस्माद्बभूव ।
महितचरणपद्मः पद्मजन्मादिदेवै-
र्वसति सकलवासो वासुदेवश्च यत्र ॥२२॥

दध्नो घृतस्येक्षुरसस्य तस्मान्मद्यस्य च स्वादुजलस्य चान्त्यः ।
स्वादूदकान्तर्वडवानलोऽसौ पातालोकाः पृथिवीपुटानि ॥२३॥

चञ्चत्फणामणिगणांशुकृतप्रकाशा
एतेषु सासुरगणाः फणिनो वसन्ति ।
दीव्यन्ति दिव्यरमणीरमणीयदेहैः
सिद्धाश्च तत्र च लसत्कनकावभासैः ॥२४॥

शाकं ततः शाल्मलमत्र कौशं क्रौञ्चं च गोमेदकपुष्करे च ।
द्वयोर्द्वयोरन्तरमेकमेकं समुद्रयोर्द्वीपमुदाहरन्ति ॥२५॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥२१–२५॥

मरीचिः—अथ कीदृग्द्वीपेत्यादिप्रश्नोत्तरं सामान्यतो भूगोलविभागाभ्यां शालिन्याऽऽह—**भूमेरिति**। क्षारसिन्धोः क्षारसमुद्रतीरादुदग्भागस्थं भूगोलस्यार्धे जम्बुद्वीपमाचार्यवर्या ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाचार्यवरिष्ठाः सूर्यादयः प्राहुः। प्रकर्षेण वदन्ति। एतेन क्षारसमुद्रवलयमध्ये मण्डलाकारं जम्बुद्वीपं पुराणप्रसिद्धम्। तथाऽत्र गोलार्धाल्पपरक्षारसमुद्रवलयवेष्टितं सूचितम्। अन्यस्मिन् द्वितीये। अर्धे भूगोलार्धे। याम्ये जम्बुद्वीपसक्तात्क्षारसमुद्रतटाद्दक्षिणदिक्स्थे। द्वीपषट्कस्य। क्षीरादिसमुद्राणां चात्रानुसंधेयो निवेशः। असंकीर्णसमावेशो-

ऽस्तीत्यर्थः। तथा च संपूर्णभूगोले सप्तद्वीपानि लवणादिसमुद्राश्च वर्तन्ते। तदतिरिक्ते भूगोले प्रदेशो नास्तीति सिद्धम्। ननु लवणसमुद्रजम्बुद्वीपसंधिप्रदेशस्य भूमध्यत्वसिद्धेः प्रागुक्तलङ्काकुमध्यत्वानुपपत्तिः। उक्तभूगोलार्धसंधिभूपरिधिवृत्ते तस्या अभावात्। अन्यथा सेतुबन्धानुपपत्तेः। न च गोले मध्यस्य यत्र कुत्रापि संभवाल्लवणसमुद्रपारस्थितलङ्काया-मुक्तसंधौ भ भूमध्ययोः कल्पनात्तत्रावृत्तिरिति वाच्यम्। लङ्कामेर्वोर्भूपरिधिचतुर्थांशान्तरस्य प्रतिपादनात्पुराणप्रसिद्धस्य जम्बुद्वीपमध्यत्वस्यापलापप्रसङ्गात्। न च क्षारसिन्धोरित्यनेन संपूर्णक्षारसमुद्रो जम्बुद्वीपान्तर्गत इति क्षारसमुद्रदक्षिणतटपरिधौ जम्बुद्वीपारम्भे लङ्कायाः सत्त्वात्कुमध्यत्वोपपत्तिः सेतुबन्धोपपत्तिश्चेति वाच्यम्। दक्षिणगोलार्धे क्षारसमुद्रावस्थानानुपपत्तेः। जम्बुद्वीपातिरिक्तपुराणप्रसिद्धलवणसमुद्रस्य जम्बुद्वीपत्वानौचित्याच्चेति चेत्। न। लवणसमुद्रस्योत्तरदिक्स्थतटे जम्बुद्वीपारम्भे लङ्कायाः सत्त्वात्कुमध्यत्वोपपत्तेः। न च सेतुबन्धानुपपत्तिः। सगरपुत्रैरश्वान्वेषणे महीं खनद्भिर्जम्बुद्वीपस्याष्टावुपद्वीपाः कल्पिता इति भागवते प्रसिद्धत्वाल्लङ्काया उत्तरभागे खननेन लवणसमुप्रवा[ह]स्याऽऽगतत्वात्तस्य जम्बुद्वीपान्तर्गतत्वेन प्रसिद्धेः सेतुबन्धोपपत्तेः। अत एवाभितः समुद्रसंबंधाल्लङ्काया उपद्वीपत्वं व्यक्तम्। एतेन समन्तान्मेरुमध्यात्तत्तुल्यभागेषु तोयधेः। द्वीपेषु दिक्षु पूर्वादिनगर्यो देवनिर्मिता इति सूर्यसिद्धान्ताल्लङ्कादिपुरचतुष्कं क्षारोदधिमध्यसंस्थितं ज्ञेयमित्यार्यभट्टोक्तं संगच्छते। केचित्त्वेतद्वचनादेव 'ज्यापिण्डमध्ये परिधिः क्रमेण लवणार्णवः। मेखलेऽवस्थित-स्तस्या देवासुरविभागकृत्। योजनानां शतं त्रिंशद्युतं तस्यापि विस्तृतिः। तन्मध्ये तुल्यभागे तु स्वर्णप्राकारतोरणाः। चतस्र एताः पूर्वाद्या नगर्यो देवनिर्मिताः। यमकोटी च लङ्का च रोमसिद्धपुरी ह्यपीति' ब्रह्मसिद्धान्तोक्तेश्च लवणसमुद्रमध्यपरिधिवृत्ते लङ्कादिपुरचतुष्टय-मङ्गीकृत्य तदवधि भूगोलार्धयोरुत्तरदक्षिणयोर्जम्बुद्वीपात्सार्धषट्समुद्रसहितद्वीपषट्कयोर-वस्थानमिति नोक्तानुपपत्तिरित्याहुस्तन्न। समुद्रद्वीपत्वानङ्गीकारादन्यथा सर्वत्र तदापत्तेः। दृष्टान्तेन लवणमवस्थानस्य ब्रह्मवचनार्थत्वात्। तन्मध्य इत्यस्यापि खननमसिद्धलवण-समुद्रान्तर्गतत्वोक्तितात्पर्याच्च। त[था]च भूवृत्तपादे पूर्वस्यां यमकोटि[टिः सु]विश्रुता। भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा। याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी। पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमका नाम कीर्तिता। उदक्सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तितेति सूर्यसिद्धान्ते। तासां तद्वर्षावधित्वेनैव तद्वर्षत्वसिद्धेरस्मदुक्तेरयुक्तत्वेऽपि समुद्रव्यवधानेन तदासिद्धेर्वारणा-योक्तिर्लवणसमुद्रार्धस्य जम्बुद्वीपान्तर्गतत्वव्यवस्थापिका। ए(अ)त एव क्षाराब्धेः संपूर्णस्या-भावादाचार्यैः क्षाराम्बुधीनामित्युक्तिमुपेक्ष्य क्षारक्षीराद्यम्बुधीनामित्युक्तमिति वाच्यम्। खननासिद्धलवणसमुद्रप्रवाहस्य जम्बुद्वीपत्वोक्तितात्पर्यात्। अनेकग्रहपूर्वादिग्रहणस्य प्रसिद्धेश्च। तदेतद्वृद्धवसिष्ठसिद्धान्तेऽपि व्यक्तम्। भूगोलमध्यवलयाद्याम्ये स्याल्लवणार्णवः। ततो दुग्धार्णवो दध्नो घृतस्येक्षुरसस्य च। मद्यस्य स्वादुनीरस्य सप्तैव क्रमशोऽब्धयः। यथोत्तरं तु परिधिन्यूनस्तेषां क्रमाद्भवेत्। लवणाब्धितटे सौम्ये नगर्यो देवनिर्मिताः। भूमध्यवलये तस्मिन्प्राकारे व्यक्षसंज्ञके। देवासुरविभागाख्ये चतस्रश्च द्विजोत्तम। शोभिताः स्वर्ण-

रत्नाद्यैः प्राकारो दलतोरणैः । वसन्ति तत्र सिद्धाश्च महात्मानो गतव्यथाः । भका भूम-ध्यवलये प्राच्यां बाणोऽङ्गभास्करैः । ततो जन(मनुज)संघैश्च यमकोटिः स्थिता द्विजेति । जम्बुद्वीपभुवोऽर्धे यदुदक्स्थं लवणार्णवात् । अर्धेऽन्यस्मिन्याम्यभागे द्वीपाः स्युः शाकपूर्वका इति चोक्तम् । अत एव । क्षाराम्भोधिर्दक्षिणे व्यक्षगानां जम्बुद्वीपं तस्य सौम्ये महीय इति लल्लेन स्पष्टमुक्तमित्यलम् ॥२१॥

अथ द्वीपसमुद्राणां विशेषतोऽवस्थानज्ञानार्थं क्रमेण क्षारादिसमुद्रान्विवक्षुः प्रथमं समुद्र-द्वयं मालिन्याऽऽह—**लवणेति** ।

आदौ भूगोले समुद्रावस्थानोपक्रमे प्रथमं लवणसमुद्रः । तस्मात्तदनन्तरं दुग्धसमुद्रः । चकारस्तदन्तराले देशावस्थानसूचकः । अन्यथा तदैक्यापत्तेः । तत्सद्भावे प्रमाणमाह—अमृतमिति । यस्मात्समुद्रादमृतं देवाना भक्ष्यत्वेन प्रसिद्धम् । अमृतरश्मिश्चन्द्रः । श्रीर्लक्ष्मीः । चकारादैरावतोच्चैःश्रवादिकं बभूव । तथा च पुराणे । मन्दराचलेन देवैः क्षीरसमुद्रमथनादनेकपदार्था निष्काशिता इति प्रसिद्धत्वात्तन्मध्ये चन्द्रस्य प्रत्यक्षत्वेन तदुत्पादकत्वेन क्षीरसमुद्रसद्भावोऽनुमानगम्य इति भावः । प्रमाणान्तरेण तत्सद्भावमाह—महितेति । यत्र यस्मिन्समुद्रे । च परम् । वासुदेवः परब्रह्मस्वरूपो वसति । तथा च तत्समुद्रस्य परमेश्वरवसतित्वेन पुराणे प्रसिद्धत्वात्तत्सद्भावे आगम एव प्रमाणम् । पुराणा-दीनां वेदमूलकत्वादिति भावः । ननु वसुदेवस्य मनुष्यत्वेन तत्तनयस्यापि तत्त्वेन तदाश्रय-त्वेन समुद्रस्य को वा महिमा । येन तत्सद्भावे संशयो न स्यादित्यतः परमेश्वरत्वं तस्य विशेषणेन संस्थापयति—सकलवास इति । सकले स्थावरजङ्गमात्मके जगति वासो वसतिस्थानं यस्य । अयमेव व्यापकत्वात्परमेश्वर इति भावः । ननु तथाऽपि परमेश्वरस्य तथात्वेऽयं वसुदेवपुत्रः परमेश्वर एवेति कथमवगतमित्यत आह—महितेति । पद्मजन्मादि-देवैः पद्माद्विष्णुनाभिकमलाज्जन्मोत्पत्तिर्यस्येति ब्रह्मा तदादयो देवास्तैर्ब्रह्मेन्द्राद्यनेकदेवैर्महितं पूजितं चरणपद्मं यस्य स इत्यर्थः । तथा च परब्रह्मस्वरूपपरमेश्वरध्यानैकनिष्ठा देवा अपि वसुदेवतनयं मनुष्यरूपं सेवन्त इति पुराणवचनप्रामाण्यात्तद्भिन्नपरमेश्वरसद्भावे प्रमाणाभाव इति भावः न च परमेश्वरस्यामूर्तत्वाच्छरीरादिमूर्तिमत्त्वं तनयत्वादिकं चानुपपन्नमिति वाच्यम् । लीलाविग्रहस्य परमेश्वरेणाऽऽदृतत्वादित एव परिच्छिन्नस्यैव क्षीराब्धाववस्थान-संभवः । एतेनैव ममैतद्ग्रन्थस्य चैतत्पाठकस्य कृतार्था (र्थता) सूचनान्न वैयर्थ्यमिति ध्येयम् ॥२२॥

अथावसिष्ठ (शिष्ट) समुद्रान् क्रमेण विशेषान्तरं चान्यदपीन्द्रवज्रयाऽऽह—दध्न इति । तस्मादनन्तरम् । व्यवहितदेशेनेति प्रत्येकं संबन्धः । चकारात्षष्ठयन्तानां समुद्राः । अन्त्य इति पदात्स्वादूदकसमुद्रानन्तरं समुद्रान्तरं नास्तीति सूचितम् । एवं भूगोले लवणादि-समुद्रषट्कं दक्षिणभागे वलयाकारम् । प्रान्ते स्वादुजलसमुद्रः छत्राकारेणेति सप्त समुद्राः सन्तीत्यर्थः । नन्वेवं मेरुसंमुखभूगोलदक्षिणप्रान्तभागे वडवानलावस्थानं समुद्रावस्थानेन

बाधितमित्यत आह—स्वादूदकान्तरमिति। असौ प्रागुक्तया प्रसिद्धो वडवाग्निः स्वादूदकसमुद्रमध्येऽस्ति। तथा चाग्निजलयोर्विरोधेऽप्यग्निविशेषस्य वडवाख्यस्य जलेऽवस्थानमविरुद्धमत एव वडवात्वं जलान्तःस्थितित्वेनाग्नेरिति भावः। नन्वेवं भूपृष्ठे सकलद्वीपादिसंनिवेशात्पाताललोकावस्थानानुक्तेस्तल्लोकापलापापत्तिः। पुराणे भूमेरधः सप्तपातालसद्भावप्रसिद्धेः। तन्मते भूगोलादभितः सर्वत्राऽऽकाश ऊर्ध्वत्वाङ्गीकारेणाधः प्रदेशसिद्धिरित्यत आह—पाताललोका इति। पृथिव्यन्तो यानि पुटानि गोलाकाराणि भूगर्भविवरणरूपाणि तान्येव स्वावान्तरभेदैः सप्त पाताललोकाः। अतलवितलनितलगभस्ति [म]न्महीतलसुतलपातालात्मका भूपृष्ठादयो भ्वन्तर्गता गोलाकाराः सन्तीति न तदपलाप इति भावः ॥२३॥

ननु पाताललोका इत्ययुक्तमुक्तम्। भ्वन्तःप्रदेशे लोकाधिष्ठानसंचारादेरभावात्। नहि विना लोकसंचारं प्रदेशस्य लोकत्वं संभवतीत्यतो वसन्ततिलकयाऽऽह—**चञ्चदिति**। एतेषु पातालप्रदेशेषु। फणिनो वासुकिप्रमुखाः सर्पाः सासुरगणा असुरा दैत्यदानवास्तेषां समुदायैः सह वर्तमानाः सर्पा दैत्याश्चेत्यर्थः। अधितिष्ठन्ति। पुराणोक्तरीत्या यथायोग्यमधोधः। अत्राऽऽचार्यैरेतेषु वसन्तीति पदाभ्यामेतेषु विलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानक्रीडाविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेयाः। नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्तीति भागवतं प्रमाणं सूचितम्। तथा च पाताललोका इति पूर्वोक्तं युक्तमिति भावः। ननु सूर्यस्य भूगोलादभितो भ्रमणादन्तस्तद्भ्रमणाभावात्पाताले सूर्यकिरणासंसर्गादन्धकारसमये तत्स्थलोकानां कथं संभवत्यालोकाभावादित्यत आह—चञ्चदिति। चञ्चन्तो देदीप्यमाना ये फणामणयस्तेषां गणाः समूहास्तेषां येंऽशवः किरणास्तैः। वृतः प्रकाश आलोको येषां ते। तथा च व्यवहारानुपपत्तिर्न। तत्र महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्त इति भागवतोक्तेरिति भावः। अथ प्रसङ्गान्मेरुपृष्ठस्थितानां सिद्धानां रहः केलिस्थानमिदमेवेत्याह—दीव्यन्तीति। तत्र पातालप्रदेशे। चकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थैवकारपरस्तेन दिने मेरौ प्रकाशप्राबल्येन सर्वजनसंदर्शनाद्यदा सिद्धानां संभोगेच्छा जायते तदा तत्र विहर्तुमशक्ताः पुराणमते रात्र्यभावात्सदैवेति ध्येयम्। सिद्धा मेरुपृष्ठस्था योगिनः। चकाराद्देवा दिव्या दिवि स्वर्गे जाता या रमण्यो बाला मेरोरेव स्वर्गत्वप्रतिपादनान्मेरुस्थनिजकामिन्यस्तासां ये रमणीयदेहा मनोहरसुकुमारमूर्तयस्तैः। आगत्य दीव्यन्ति क्रीडन्ति। अत्रत्यप्रकाशाल्लोकान्तरसंचाराभावाच्च। ननु देहस्य रमणीयत्वं कुत इत्यतो देहविशेषणमाह—लसदिति। लसद्देदीप्यमानं च तत्कनकं च सुवर्णं तद्वदवभासन्ते शोभन्ते। एतादृशैः सुवर्णकान्तिसदृशैरित्यर्थः ॥२४॥

ननु याम्ये द्वीपषट्कस्येत्यादिना प्रथममुद्दिष्टस्य द्वीपषट्कस्यावस्थानमनुक्त्वैव प्रथमं समुद्रावस्थानकथनं नोचितमित्यत उपजातिकयाऽऽह—**शाकमिति**।

अत्र भूगोलस्य दक्षिणार्धभागे द्वयोर्द्वयोः समुद्रयोरन्तरालमेकमेकं द्वीपं पूर्वाचार्या

वदन्ति । अत्र वीप्सया प्रत्येकं समुद्रयोरन्तरेणैकं द्वीपमिति सप्तसमुद्रान्तरतः षड् द्वीपानि । अन्यथा समुद्रव्यवहितसमुद्रयोरन्तरस्य द्वीपत्वापत्तिरिति ध्येयम् । तथा च विना समुद्रावस्थानं वक्तुमशक्यमतः प्रथमं समुद्रावस्थानमुक्त्वा द्वीपावस्थानमुक्तमिति भावः । तन्नामान्याह—शकमिति । क्षारक्षीरसमुद्रयोरन्तरालभूमिर्वलयाकारा शाकसंज्ञं द्वीपम् । ततस्तदनन्तरं क्षीरदध्निसमुद्रयोरन्तरं शाल्मलाख्यम् । ततो दधिघृतयोरन्तरं कौशम् । घृतेक्षुरसयोरन्तरं क्रौञ्चम् । चकारः क्रमार्थे । इक्षुरसमद्ययोरन्तरं गोमेदसंज्ञम् । मद्यसुस्वादुजलयोरन्तरं पुष्करद्वीपम् । चकारात्पुराणोक्तक्रमविरोधेऽपि भूम्याकारादिविशेषान्मतान्तरेण न क्षतिरिति सूचितम् । दधिदुग्धोदधिमध्ये कुशं दधिस्नेहयोस्तथा क्रौञ्चम् । इक्षुरसस्नेहज (हाज्य)योर्मध्ये स्याच्छाल्मलद्वीपमिति लघ्वार्यभट्टोक्तम् । लवणक्षीरदध्याज्यसेक्षुमध्वम्बुसागरैः । सप्तभिः संवृतैरन्तर्द्वीपैः षड्भिश्च संवृतः । शाकशाल्मलसत्कौशक्रौञ्चगोमेदपुष्करैरिति लघुवसिष्ठोक्त्योपेक्षणीयम् । समुद्रद्वीपमानं तु—वृत्तान्यग्नि १३ कुसमितानि वडवाग्निस्थानतो भ्रामयेत्सुस्वादाम्बुधितो भवेति शकलान्यूर्ध्वं त्वमीभिर्लवैः । सार्धैरा२२ कृतिभिर्लवैर्जलनिधेर्मानं ततो द्व्यग्निभि३२द्वीपं पुष्करसंज्ञकं च खयुगैर्भागै४०श्च मध्वम्बुधिः । गोमेदं च रसाब्धिभि४६र्भुजशरैः स्यादैक्षवाम्भोनिधिः क्रौञ्चं सार्धनगे५७षुभिर्घृतनिधिः सार्धद्विषट्कांशकैः ६२ । सार्धांशैर्नगतर्कसंमितलवे६७र्द्विपञ्चकौशाह्वयं दध्नो बाहुनगै७२स्तथाऽश्वगिरिभिः ७७ स्याच्छाल्मलस्यावधिः । सत्र्यंशेन्दुगतः ७१ । २७ पयोनिधिरतः शाकं च तर्काहिभिः ८६ पूर्णाङ्कै९०र्लवणाब्धिसंस्थितिरधोभागे भुवश्चो-

१०

३०

दयः । वृत्तं पञ्चभिरंशैश्च वड़वामुखतो लिखेत् । तानस्थानं तु दैत्यानां जलधेरन्तरस्थितमित्यनेन रोमकोक्तं ध्येयम् ॥२५॥

केदारदत्तः—उत्तरार्ध भूमि में क्षार समुद्र तीर के उत्तर में वलयाकार जम्बू द्वीप है । भूमि के दक्षिण गोलार्ध में क्षारसमुद्रतीरासक्त जम्बूद्वीप के दक्षिण में ६ अन्य द्वीपों की स्थिति कही गई है । तदनन्तर दुग्ध सागर, दधि सागर, घृत सागर, इक्षु (ऊँख) रस सागर, मद्यसागर और सुस्वादु जलसागर भूगोल में स्थित हैं । इन दो-दो समुद्रों के मध्य में वलयाकार सप्तद्वीप स्थित हैं । ब्रह्मा आदि देवों से सदा पूजित परब्रह्म रूप श्री वासुदेव का क्षीर समुद्र में सदा निवास रहता है ।

लवण समुद्र के अनन्तर दुग्ध समुद्र है । दुग्ध सागर से अमृत और अमृत अर्थात् रश्मि चन्द्र की उत्पत्ति हुई है । इसी क्षीरसागर में ब्रह्मादि सकल देवताओं से पूजित परब्रह्म रूप वासुदेव का सदा निवास रहता है ।

दही, घी, इक्षु, मद्य और अन्तिम में स्वादुजल सागर के साथ स्वादूदक समुद्र के मध्य में 'वड़वाग्नि' स्थित रहता है ।

अतल, वितल, नितल, गभस्ति, महीतल, सुतल और पातालादि सप्तलोक इसी पृथ्वीपुर में स्थित हैं।

इन पातालादि लोकों में असुर गणों के साथ अपने देदीप्यमान मणियों से प्रकाशित वासुकि प्रमुख सर्पगणों का समूह आवास करता है।

मेरु में ६ मास के मानव मान के १ दिन में, सम्भोग इच्छा की उत्पत्ति से मेरु-पृष्ठस्थ देवता स्वर्गाङ्गनाओं के साथ क्रीडा नृत्यादिरति में प्रवृत्त होते हैं।

तथा भूगोल के दक्षिण दिग्भाग में दो-दो समुद्रों के मध्य में अन्य शाकशालमल्यादि सातद्वीप पृथ्वीपुटों में संस्थित हैं।

अर्थात् क्षार और क्षीर समुद्र के मध्य में शाक संज्ञक द्वीप, क्षीर और दधि समुद्र के मध्य में शाल्मल नामक द्वीप, दही और घी समुद्र के मध्य में कौशद्वीप, घी और इक्षुरस समुद्र के मध्य में क्रौञ्च द्वीप, इक्षुरस और मद्य समुद्रों के मध्य में पुष्कर द्वीप संस्थित है। अर्थात् उक्त दो-दो समुद्रों के मध्य में उक्तशाकादि सप्तद्वीप स्थित हैं। २१॥२२॥ २३॥२४॥२५॥

इदानीं जम्बुद्वीपमध्ये गिरिनिवेशवशेन नव खण्डान्याह—

लङ्कादेशाद्धिमगिरिरुदग्घेमकूटोऽथ तस्मा-
त्तस्माच्चान्यो निषध इति ते सिन्धुपर्यन्तदैर्घ्याः।
एवं सिद्धादुदगपि पुराच्छृङ्गवच्छुक्लनीला
वर्षाण्येषां जगुरिह बुधा अन्तरे द्रोणिदेशान् ॥२६॥
भारतवर्षमिदं ह्युदगस्मात्किन्नरवर्षमतो हरिवर्षम्।
सिद्धपुराच्च तथा कुरु तस्माद्विद्धि हिरण्मयरम्यकवर्षे ॥२७॥
माल्यवांश्च यमकोटिपत्तनाद्रोमकाच्च किल गन्धमादनः।
नीलशैलनिषधावधी च तावन्तरालमनयोरिलावृतम् ॥२८॥
माल्यवज्जलधिमध्यवर्ति यत्तत्तु भद्रतुरगं जगुर्बुधाः।
गन्धशैलजलराशिमध्यगं केतुमालकमिलाकलाविदः ॥२९॥
निषधनीलसुगन्धसुमाल्यकैरलमिलावृतमावृतमाबभौ।
अमरकेलिकुलायसमाकुलं रुचिरकाञ्चनचित्रमहीतलम् ॥३०॥

वा० भा०—अत्र भूगोलस्यार्धमुत्तरं जम्बुद्वीपम्। तस्य क्षाराब्धेश्च संधि-र्निरक्षदेशः। तत्र लङ्का रोमकं सिद्धपुरं यमकोटिरिति पुरचतुष्टयं भूपरिधिचतुर्थां-

शान्तरं किल कथितम्। तेभ्यः पुरेभ्यो यस्यां दिशि मेरुः सोत्तरा। अतो लङ्-
काया उत्तरतो हिमवान् नाम गिरिः पूर्वापरसिन्धुपर्यन्तदैर्घ्योऽस्ति। तस्योत्तरे
हेमकूटः। सोऽपि समुद्रपर्यन्तदैर्घ्यः। तथा तदुत्तरे निषधः। तेषामन्तरे द्रोणि-
देशा वर्षसंज्ञाः। तत्राऽऽदौ भारतवर्षम्। तदुत्तरं किन्नरवर्षम्। ततो हरिवर्षमिति।
एवं सिद्धपुरादुत्तरतः शृङ्गवान्नाम गिरिः। ततः श्वेतगिरिः। ततो नीलगिरि-
रिति। तेऽपि सिन्धुपर्यन्तदैर्घ्याः। तेषामन्तरे च वर्षाणि। तत्राऽऽदौ कुरुवर्षम्।
तदुत्तरे हिरणमयम्। ततो रम्यमिति। अथ यमकोटेरुत्तरतो माल्यवान्नाम गिरिः।
स तु निषधनीलपर्यन्तदैर्घ्यः। तस्य जलधेश्च मध्ये भद्राश्वं वर्षम्। एवं रोमकादु-
त्तरतो गन्धमादनः। तस्य जलधेश्च मध्ये केतुमालम्। एवं निषधनीलमाल्यवद्ग-
न्धमादनैरावृतमिलावृतं नाम नवमखण्डम्। सा स्वर्गभूमिः। अतस्तत्र देवक्रीड़ा-
गृहाणि। शेषं स्पष्टम् ॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥

मरीचिः—अथ कुलाद्रीन्द्रेत्यवान्तरप्रश्नस्योत्तरदानार्थं जम्बुद्वीपवर्षविभागं विवक्षुः प्रथमं षट् देशविभागरूपवर्षाणि मन्दाक्रान्तयाऽऽह—**लङ्केति**।

अथ द्वीपात्रस्थानकथनानन्तरं लङ्कास्थानादुत्तरदिग्भागे मेर्वभिमुखो हिमगिरि-र्हिमालयपर्वतोऽस्ति। अस्माद्धिमालयादुत्तरभागे मेर्वभिमुखो हेमकूटोऽन्यो द्वितीयः पर्वतः। तस्माद्धेमकूटपर्वतादुत्तरभागे मेर्वभिमुखोऽन्यस्तृतीयो निषधपर्वतः। चकारस्तदन्तरदेश-सूचकः। अन्यथा त्रयाणामैक्यापत्तेः। इतिपदस्य समाप्तिद्योतकत्वादन्यस्तत्सदृशावस्थि-तिकः पर्वतो मेर्वभिमुखो नास्तीति सिद्धम्। नन्वेते पर्वताः किमाकारा इत्यत आह—त इति। त उक्ताः पर्वता हिमालयहेमकूटनिषधाख्याः सिन्धुपर्यन्तदैर्घ्याः। लवण-समुद्रपर्यन्तम्। लवणसमुद्रोत्तरतटावधि दैर्घ्यं दीर्घता येषां त इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। भूमिगोलार्धं जम्बुद्वीपं मेरुयमकोटिरोमकगतपरिध्यर्धसूत्रकृतशकलद्वयात्मकम्। तत्र लङ्कासंबन्धिशकल एते त्रयः पर्वता लङ्काकेन्द्रकाभीष्टभागव्यासार्धत्रयोत्पन्नतच्छकलस्थ-लवणसमुद्रोत्तरतटस्पृष्टाग्रद्वयवृत्तार्धाकाराः। व्यासार्धभागज्ञानं च—लङ्कादेशादूर्ध्व-भागेऽङ्करामैः पञ्चांशाढ्यैरालिखेदासमुद्रम्। वृत्तार्धं तज्ज्ञेयमेवं हिमाद्रिस्तल्लङ्कान्तर-भारतं वर्षसंज्ञम्। भूयश्चैवं साङ्घ्रिभिः षट्शरैः स्याद्वृत्तार्धं तद्धेमकूटाद्रिसंज्ञम्। अन्तर्वर्ष चैतयोः किन्नराख्यं भूयश्चैवं सार्धखाश्वैर्लवैश्च। वृत्तार्धं तन्नैषधाख्याद्रिसंज्ञं चान्तर्वर्षं तद्धरेर्नामवर्षमिति रोमकोक्तम्। अथान्यस्मिञ्जम्बुद्वीपस्य शकलपर्वतावस्थानमाह—एवमिति। सिद्धात्पुराल्लङ्काधःस्थत्वेन प्रसिद्धसिद्धपुरादित्यर्थः। उत्तरभागे मेर्वभिमुखक्रमेण शृङ्गवच्छुक्लनीलास्त्रयः पर्वताः। अपिशब्दात्परस्परं व्यवहिताः। एवं सिन्धुपर्यन्तदैर्घ्याः। सिद्धपुरकेन्द्रकाभीष्टव्यासार्धत्रयोत्पन्नतच्छकलस्थलवणसमुद्रोत्तरतटस्पृष्टाग्रद्वयवृत्ताकाराः। एषां व्यासार्धभागमानं हिमालयादितुल्यम्। एवं सिद्धस्थानकादप्यमीभिर्भागैः कुर्याद्वृत्त-खण्डत्रयं यत्। स्थानानि स्युः शृङ्गवच्छुक्लनीलाख्यानामिति रोमकोक्तम्। अथ पर्वत-

संनिवेशस्य प्रयोजनमाह—वर्षाणीति। एषामुक्तलवणाब्धिपर्वतानाम्। अन्तरे द्रोणिदेशान्। अन्तरे मध्ये द्वयोरवस्थिता ये द्रोणिदेशाः व्यवधातभूतभूमिप्रदेशाः। अन्तरस्थितिप्रदेशस्य व्यवहारप्रयोजकाभिधानज्ञानार्थंद्रोणिदेशा इत्युक्तम्। तान्। बुधा भूगोलतत्त्वज्ञा व्यासादयः। इह जम्बुद्वीपसंबन्धिशकलयोः प्रत्येकं वर्षाणि। जगुराहुः। तथा च समुद्रहिमालययोरन्तरभूमिरेकं वर्षम्। हिमालयहेमकूटयोरन्तरं द्वितीयम्। हेमकूटनिषधयोरन्तरं तृतीयमिति लङ्कासंबन्धिशकले वर्षत्रयम्। तदितरशकले समुद्रशृङ्गवतोरन्तभूमिरेकम्। शृङ्गवच्छुक्लयोरन्तरं द्वितीयम्। शुक्लनीलयोरन्तरं तृतीयमिति वर्षत्रयम्। एवं षड्वर्षाणि। एतेन नीलनिषधान्तरे शकलद्वयान्तर्गतभूमिः पर्वतदैर्घ्याकारा मेरुमध्यैकं वर्षं न भवतीति सूचितम्। बुध इत्यनेन पुराणप्रमाणम्। यतो गोलार्धरूपे मेरुमध्ये मेरुरोपणेन समीकृते पुराणसंमतमादर्शाकारं जम्बुद्वीपमुत्पद्यत इति सूचितम् ॥२६॥

अथैतेषां नामानि दोधकवृत्तेनाऽऽह—**भारतवर्षमिति**।

इदमस्मादधिष्ठितं प्रत्यक्षसिद्धं प्रथमम्। हि निश्चयेन पुराणप्रामाण्यादित्यर्थः। भारताख्यं वर्षम्। अस्माद्भारतवर्षादुत्तरभागे यद्द्वितीयं तत्किन्नरवर्षम्। अतः किन्नरवर्षादुत्तरभागे तृतीयं तद्धरिवर्षम्। एवं लङ्काधिष्ठितजम्बुद्वीपशकले वर्षत्रयं प्रतिपादितम्! तथैवमेव सिद्धपुरात्। सिद्धपुरसंबध्यभीष्टसमुद्रोत्तरतीरादित्यर्थः। चकारात्तदधिष्ठितजम्बुद्वीपशकले प्रथममुद्दिष्टम्। कुरुसंज्ञं वर्षं विद्धि जानीहि त्वम्। तस्मात्कुरुवर्षादुत्तरभागावस्थितत्वेनोक्ते द्वितीयतृतीये क्रमेण हिरण्मयरम्यसंज्ञे वर्षे जानीहि ॥२७॥

ननु पुराणे जम्बुद्वीपं नववर्षात्मकमुक्तमत्र तु त्वया षड्वर्षात्मकमुक्तमिति विरोधात्कथमत्र पुराणप्रामाण्यमित्यतो रथोद्धतयाऽऽह—**माल्यवानिति**।

यमकोटिनगरात्। चकारादुत्तरभागे। माल्यवान्पर्वतोऽस्ति। रोमकात्। चः समुच्चये। उत्तरभागे गन्धमादनः पर्वतः। किल इत्यागमे। आगमप्रमाणेनाङ्गीक्रियत इत्यर्थः। नन्वनयोः पूर्वोक्तपर्वतसंगत्या तथात्वे लाघवात्साहचर्येण लङ्कासिद्धपुराभ्यां पूर्वमेव प्रत्येकं पर्वतचतुष्टयं किं नोक्तम्। पृथगुक्तौ गौरवादत आह—नीलेति। तौ माल्यवद्गन्धमादनपर्वतौ। नीलशैलनिषधावधी। अत्र मध्यस्थशैलपदस्योभयत्र संबन्धान्नीलपर्वतनिषधपर्वताववधी ययोस्तावेतादृशौ। चकाराद्द्वयोःक्रमेण नान्वयः। किंत्वेकैकस्य द्वयोरन्वयस्तेन। सत्पुराभ्याम्। कार्ये भागैरिन्दुतर्कैर्विपादैराशैलान्तः पर्वताख्ये हि रेखे। प्राक्संस्थानान्माल्यसंज्ञोऽपरस्या गन्धाख्यः स्यादप्यमीषां विदध्यात्। संविस्तारो भागयुग्मेनेति रोमकोक्तेर्यमकोटिसंलग्नसमुद्रतटान्मेर्वभिमुखे पादोनैकषष्ट्यंशान्तरे निषधनीलपर्वतयोरन्तरे माल्यवान्पर्वतः। एवं रोमकसंलग्नसमुद्रतटान्मेर्वभिमुखे तद्भागान्तरे निषधनीलप्रदेशान्तरमितो गन्धमादनः पर्वत इत्यर्थः। तथा च पूर्वोक्तपर्वताकारत्वाभावात्पृथगुक्तिरिति भावः। ननु पर्वतद्वयोक्त्याऽत्र पुराणप्रामाण्यं कथं सिद्धम्। नहि ताभ्यां षडतिरिक्तवर्षसिद्धिर्येन तत्सिद्धिरत आह—अन्तरालमिति। अनयोर्माल्यवद्गन्धमादनयोरन्तरम्।

भूम्यैकदेशरूपं मेरुमध्यकमिलावृतसंज्ञं वर्षम्। तथा च षडतिरिक्तवर्षसिद्ध्या प्रामाण्यं सिद्धमेवेति भावः ॥२८॥

ननु तथाऽपि नववर्षसिद्धया कथमत्र तत्प्राणाण्यमित्यतो रथोद्धतयाऽऽह—माल्यवदिति। माल्यवत्पर्वतलवणसमुद्रैकदेशयोरन्तः स्थितं तद्भूखण्डं तच्छकलद्वयसंधिस्थं नीलनिषधयोरन्तररूपं तुकाराद्वर्षं भद्राश्वसंज्ञम्। बुधाः पौराणिका भूगोलतत्त्वज्ञाः प्रोचुः। गन्धशब्दे नामैकदेशो नामग्रहणाद्गन्धमादनः स चासौ शैलश्च। जलराशिर्लवणसमुद्रस्तयोरन्तरे वर्तमानं यद्भूखण्डं शकलद्वयसंधिस्थं नीलनिषधयोरन्तररूपम्। इलाकलाविदो भूगोलश्रितसूक्ष्मयुक्तिज्ञाः। केतुमालसंज्ञं वर्षमूचुः। तथा चात्र पुराणाभिमतनववर्षाणां प्रतिपादनात्पुराणप्रामाण्यं स्वतः सिद्धमिति भावः ॥२९॥

ननु माल्यवद्गन्धमादनपर्वतान्तरत्वेनैवेलावृतप्रतिपादनमयुक्तम्। तस्य निषधनीलपर्वतयोरभ्यन्तरेऽप्यवस्थानादित्यतो द्रुतविलम्बितवृत्तेनेलावृतं विशदयति—**निषधेति**। निषधनीलौ प्रसिद्धौ। सुगन्धो गन्धमादनः। सुमाल्यो माल्यवानेतैश्चतुर्भिः पर्वतैश्चतुर्दिक्षु, आवृत्तमावरणं संजातं यस्येत्येतादृशमिलावृतं वर्षमलमत्यर्थमतिशयेनेत्यर्थः। आबभावशोभत। वर्तमानेऽपि भूतकालसंबन्धाद्युक्तः। तथा च नीलनिषधयोरेवान्तरेणैतदुक्तौ भद्राश्वकेतुमालयोरपीलावृतत्वापत्तिस्तद्वारणार्थं गन्धमादनमाल्यवतोरप्यन्तरत्वेनेलावृतोक्तिरावश्यकेति लाघवात्तयोरेवान्तरेणेलावृत्तोक्तिर्युक्ता। तदुक्त्यैव सिद्धेरिति स्पष्टम्। चतुःपर्वतान्तररूपमिलावृतं सिद्धमिति भावः नन्वावरणेनेलावृतस्य का वा शोभेत्यत आह—अमरेति। अमराणां देवानां रहःक्रीडार्थं यानि कुलायानि गृहाणि तैः समाकुलं व्याप्तम्। तथा चानेकरत्नसुवर्णादिरचितगृहप्रभासंघातशोभायमानेलावृतस्य स्वत एव शोभेति भावः। ननु देवैरपि तत्र क्रीडागृहाणि कुतः कृतानि कथं चान्यत्र न कृतानीत्यत आह—रुचिरेति। रुचिरं शोभायमानं च तत्काञ्चनं सुवर्णं तेन चित्रितं महीतलं भूप्रदेशो यस्यैतादृशमिलावृतम्। तथा चान्यस्मिन्वर्षे सुवर्णभूमित्वासंभवादनेकरत्ननिचयरचितगृहाणामत्रैवाधिकशोभायमानत्वसंभवेनाऽऽवृतत्वेन रहःस्थानत्वाच्चात्रैव गृहाणि कृतानीति भावः ॥३०॥

केदारदत्तः—पुराणों के अनुसार आचार्य यहाँ अष्टादश प्राचीन भूमण्डलीय देशों की स्थिति बता रहा है। भूगोल के उत्तरार्ध उत्तर में जम्बू द्वीप के साथ क्षार समुद्र की सन्धि निरक्ष देश में होती है। पूर्वोक्त लंका, यमकोटि, रोमकपत्तन और सिद्धपुर नाम के ४ पौराणिक नगर गोल सिद्ध होते हैं।

उक्त चारों नगरों की स्थिति भूमध्यरेखा पर होने से इन चारों नगरों का पृष्ठीय केन्द्र बिन्दु ध्रुव है। ध्रुव या मेरु सर्वोपरि सर्वत्रगत भू बिन्दुओं के उत्तर में हैं। निरक्ष देशीय लङ्का नगर से हिमवान् पर्वत उत्तर पूर्व पश्चिम समुद्रों के मध्य में फैला है। इसके उत्तर में हेमकूट नामक पर्वत है जो प्राक् समुद्र तक फैला है। हेमकूट के उत्तर में निषध पर्वत है। इन पर्वतों के मध्य में द्रोणि देश, द्रोणि वर्ष संज्ञक भूखण्ड

कहा जाता है जिसके आदि में भारत वर्ष कहा जाता है। भारत वर्ष के उत्तर में किन्नर वर्ष तदुत्तर में हरिवर्ष है। इसी प्रकार सिद्धपुर (दक्षिण अमेरिका के उत्तर में शङ्खवान नाम का पर्वत) उसके उत्तर में श्वेत गिरि और तदुत्तर में नीलगिरि नामक पर्वत हैं जो प्रागपरयाम्योत्तर में समुद्रों से मिले हुये हैं। इन देशों पर्वतों और समुद्रों के बीच में उत्तरोत्तर कुरु वर्ष, हिरण्मय और रम्यक वर्ष स्थित हैं।

इसी निरक्ष देशीय पूर्व स्वस्तिकधरातलीय स्थित यमकोटि नगर के उत्तर में माल्यवान् नामक पर्वत निषध और नील पर्वत तक दीर्घ विस्तृत कहा गया है। नीलगिरि और समुद्र के बीच में भद्राश्व वर्ष, इसी प्रकार रोमक के उत्तर में गन्धमादन, गन्धमादन और समुद्र के मध्य में केतुमाल, नामक प्रदेश है।

निषध, नील, माल्यवान्, गन्धमादन, ऐरावत, इलावृत्त नामों से इस प्रकार ९ प्रकार की भूखण्डों की संज्ञा कही गई है। भूमण्डल के नवम खण्ड को स्वर्ग भूमि भी कहा गया है जिसे देव क्रीडा घर भी कहते हैं ॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥

इदानीं मेरुसंस्थानमाह—

इह हि मेरुगिरिः किल मध्यगः कनकरत्नमयस्त्रिदशालयः।
द्रुहिणजन्मकुपद्मजकर्णिकेति च पुराणविदोऽमुमवर्णयन् ॥३१॥

विष्कम्भशैलाः खलु मन्दरोऽस्य सुगन्धशैलो विपुलः सुपार्श्वः।
तेषु क्रमात्सन्ति च केतुवृक्षाः कदम्बजम्बूवटपिप्पलाख्याः ॥३२॥

जम्बूफलामलगलद्रसतः प्रवृत्ता
जम्बूनदी रसयुता मृदभूत् सुवर्णम्।
जाम्बूनदं हि तदतः सुरसिद्धसंघाः
शश्वत्पिबन्त्यमृतपानपराङ्मुखास्तम् ॥३३॥

वनं तथा चैत्ररथं विचित्रं तेष्वप्सरोनन्दननन्दनं च।
धृत्याह्वयं यद्धृतिकृत्सुराणां भ्राजिष्णु वैभ्राजमिति प्रसिद्धम् ॥३४॥

सरांस्यथैतेष्वरुणं च मानसं महाह्लदं श्वेतजलं यथाक्रमम्।
सरःसु रामारमणश्रमालसाः सुरा रमन्ते जलकेलिलालसाः ॥३५॥

सद्रत्नकाञ्चनमयं शिखरत्रयं च मेरौ मुरारिकपुरारिपुराणि तेषु।
तेषामधः शतमखज्वलनान्तकानां रक्षोम्बुपानिलशशीशपुराणि चाष्टौ ॥३६॥

वा० भा०—तस्येलावृतस्य मध्ये कनकरत्नमयो मेरुगिरिः कर्णिकाकारस्तदेव देवानामालयम्। तत्र मेरावुपरि शिखरत्रयम्। तेषु शिखरेषु मुरारेर्ब्रह्मणः पुरारेश्च पुराणि सन्ति। शिखराणामधः समन्तादिन्द्रादिलोकपालानां पुराणि

सन्त । कथ मेरोर्विष्कम्भशैला इत्याधारपर्वताः । यस्यां दिशि यमकोटिस्त-द्दिक्प्रभृतिमन्दरसुगन्धविपुलसुपार्श्वा दिक्षु सन्ति । मन्दरे कदम्बः केतुवृक्षश्चैत्ररथं वनमरुणोदं सरः । सुगन्धशैलमस्तके केतुवृक्षो जम्बूः । येनेदं जम्बूद्वीपमुच्यते । नन्दनं वनं मानसं सरः । विपुलशैलमस्तके केतुवृक्षो वटो धृतिर्वनं महाह्लदं सरः । सुपार्श्वमस्तके केतुवृक्षः पिप्पलो वैभ्राजं वनं श्वेतोदं सरः । शेषं सुगमम् ॥३१॥ ३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥

मरीचिः—ननु देवानां स्वर्वासित्वेन भूमौ तदवस्थानाश्रवणात्कथमत्र तेषां गृहाणि संभवन्तीत्यतो द्रुतविलम्बितवृत्तेनाऽऽह—इहेति ।

इह । इलावृतवर्षे । किल निश्चयेन । हि यस्मात् । मेरुपर्वतो मध्यकेन्द्रस्थितोऽस्त्यतो भूमौ देवानामवस्थानं न विरुद्धमिति भावः । ननु तस्येलावृतावस्थाने किं मानमत आह—कनकरत्नमय इति । तथा चेलावृतमेर्वोः कनकरत्नमयत्वेनातिचतुरस्रष्टृरचितसंयोगानुमानं प्रमाणम् । योग्यं योग्यायेत्युक्तेश्चेति भावः । ननु तथाऽपि मेर्ववस्थानात्कथं देवानामवस्थानं सिद्धमत आह—त्रिदशालय इति । तृतीया दशा युवत्वं येषां सदाऽस्तीति त्रिदशाः । त्रिदशा विबुधाः सुरा इत्यभिधानाच्च देवास्तेषामालयो गृहरूपः । तथा च मेरौ तदवस्थान-सिद्धिद्वारेलावृतेऽप्यवस्थानमिच्छागतीनां तेषां नाशक्यमिति भावः । किंच तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्य-पदिशन्तीति भागवतोक्त्या तदवस्थानेऽपि स्वर्वासित्वमविरुद्धमिति । ननु देवावस्थाने बाध-काभावेऽपि क्वचिद्योग्यायोग्यानुचितसंबन्धदर्शनादिलावृते मेर्ववस्थानसाधकानुमानासिद्धौ तत्र तदवस्थानं निष्प्रमाणमित्यतः पुराणमेवात्र प्रमाणमित्याशयेन स्वोपेक्षाविषयं पुराणोक्त-मेरुवर्णनं निबध्नाति—द्रुहिणेति । पुराणविदो व्यासादयः । अमुम् । मेरुपर्वतम् । द्रुहिण-जन्मकुपद्मकर्णिका । द्रुहिणस्य ब्रह्मणो जन्मोत्पत्तिर्यस्मात् । तद्विष्णुनाभिकमलम् । तद्रूप-कम् । पृथिवीपद्मम् । तस्माज्जाता । तत्संबन्धिनीत्यर्थः । या कर्णिका कमलोदरान्तः-स्थिता पीतवर्णा केसरावृता प्रसिद्धा । अत्र मेरुपृष्ठे ब्रह्मणोऽवस्थानात्तत्पर्यन्तं वर्णन-सिद्ध्यर्थं द्रुहिणजन्मेति हठादुपात्तम् । तथा चोत्पत्तिकाले यथा विष्णुनाभिकमलस्थो ब्रह्मा तथैव सृष्टिकाले पृथिवीकमलकर्णिकाधिष्ठितो ब्रह्मेति द्योतितम् । इत्येवं कर्णिकात्वेन । चकारात्कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कतत्रिकूटशिशिरपतगरुचकनिषधसिनीवासकपिलशङ्खवैडूर्यजा-रुधिहंसर्षभनागकञ्जरनारदादयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परितः । प्रकृत्या इति भागवतोक्त्या सकेसरा कर्णिकेत्यर्थः । अवर्णयन् वर्णयन्ति स्म ॥३१॥

ननु मेरोः कर्णिकाकारत्वेनात्युच्चत्वाच्च मूलप्रदेशे भाराक्रान्ततया भग्नत्वापत्तिरित्य-वस्दुत्तरं विशेषान्तरं चोपजातिकयाऽऽह—विष्कम्भेति ।

खलु निश्चयेन । अस्य मेरोः । विष्कम्भशैला आधारपर्वताः । चतुर्दिक्षु वर्तन्त इति शेषः । के त इत्यत आह—मन्दर इति । पूर्वदिशि मन्दरः सुगन्धशैलः पूर्वोक्तगन्धमादन-पर्वतातिरिक्तो दक्षिणदिशि पश्चिमे विपुलः, उत्तरस्यां सुपार्श्वः । अथ पर्वतत्वेनाभिन्नानां

परस्परमितरभेदज्ञापकध्वजवृक्षानाह—तेष्विति । आधारपर्वतेषु केतुवृक्षा ध्वजवृक्षाः क्रमात् मन्दराद्युक्तक्रमात् । कदम्बजम्बूवटपिप्पलाख्याः सन्ति । चकारादाम्रादयोऽप्यन्ये सन्तीत्यर्थः । तथा च व्याससिद्धान्ते—विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजनायुतमुच्छ्रिताः । पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः । विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्थितः । कदम्बस्तेषु जम्बूश्च वटःपिप्पल एव च । एकादशशतायामाः पादपा गिरिकेतव इति ॥३२॥

स्यादेतत् । परमिलावृतं स्वर्णभूमिकं कुत इत्यतस्तदुत्तरं वसन्ततिलकयाऽऽह—**जम्बूफलेति—**

जम्बूवृक्षस्य महतो यानि महान्ति फलानि सुपक्वानि तेभ्योऽमलः स्वच्छो यो गलत्प्रच्यवद्रसस्तस्मादेकीभावापन्ना जम्बूनदी । प्रवृत्ताऽभूदित्यर्थः । मृत् । इलावृतवर्षभूमिसंबन्धिनी मृत्तिका । रसयुता । नदीरसयुता । सुवर्णमभूत् । नन्विदं कुतोऽवगतमित्यत आह—जाम्बूनदमिति । हि यस्मात्कारणात् । तत्सुवर्णम् । जाम्बूनदमभिधानग्रन्थे प्रसिद्धम् । तथा च जम्बूनदीसंबन्धि जाम्बूनदमिति व्युत्पत्त्या जम्बूफलानां महाप्रमाणानां सर्वत्रेतस्ततस्त्रैव पतनसंभवात्तन्नामकसंभूतनद्यास्तदभितः सत्त्वात्तद्रससंबन्धेनेलावृतभूमिः स्वर्णमयीति रुचिरकाञ्चनचित्रमहीतलमिति प्रागुक्तं युक्तमत एवास्य वृक्षस्येतरेभ्योऽतिशयितत्वादेतन्नामकमेतद्द्वीपमिति भावः । अत एव देवास्तद्रसपानं कुर्वन्तीत्याह—अत इति । तद्रससंयोगान्मृत्तिकापरिणामस्य स्वर्णत्वेन ज्ञानादित्यर्थः । सुरसिद्धसंघाः । शश्वन्नित्यम् । तं जम्बूफलामलरसं पिबन्ति । ननु तेषाममृतमेवोत्तमं षष्ठच[पथ्य]मिति कथमेनं पिबन्तीत्यत आह—अमृतपानपराङ्मुखा इति । एतद्रसपानेनास्माकं शरीरं सुवर्णमेव भवतीति मत्वा संजातप्रतीतिका अमृतादप्यधिकमेनमास्वादेन गणयन्तोऽमृतपाने विगतस्पृहा भवन्तीत्यर्थः । तथा च व्याससिद्धान्ते—जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूनामहेतुर्महामुने । महागजप्रमाणानि जम्ब्वास्तस्याः फलानि वै । पतन्ति भूभृतः पृष्ठे शीर्यमाणानि सर्वशः । रसेन तेषां प्रख्याता तत्र जम्बूनदीति वै । सरित्प्रवर्तते साऽपि पीयते तत्र वासिभिः । न स्वेदो न च दौर्गन्ध्यं न जरा नेन्द्रियक्षयः । तत्पानस्वस्थमनसां भूतानां तत्र जायते । तीरमृत्तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशे(शो)षिता । जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणमिति ॥३३॥

अथ वृक्षाणां वनान्तर्गतत्वेन वनान्युपजातिकयाऽऽह—**वनमिति** ।

तेष्वाधारपर्वतेषु । इति पुराणोक्त्या प्रसिद्धं सर्वविगतं वनम् । उद्यानम् । तथा । उक्तवृक्षाश्रयीभूतम् । क्रमेणास्ति । तत्र मन्दरपर्वते चैत्ररथं नामाऽऽश्चर्यकारकम् । दक्षिणभागस्थगन्धमादनाख्याधारपर्वते । अप्सरोनन्दननन्दनम् । अप्सरसां देवाङ्गनानां रहः क्रीडाविहारावलोकनादिना नन्दयतीत्यप्सरोनन्दनं तच्च नन्दनं च । तदाख्यमुद्यानमित्यर्थः । चकारादन्यान्यपि विविधानि वनानि सन्तीत्यर्थः । विपुलपर्वते धृतिसंज्ञं वनम् । ननु देवोद्यानानि भवन्ति चत्वारि । नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमितीति भागवतोक्त्यैतदधिष्ठितं वनं सर्वतोभद्रमिति कथं धृतिसंज्ञकमुक्तमत आह—यदिति । यदि नन्दनं सर्वतो-

भद्राख्यं सुराणां धृतिकरम् । तथा च दैत्यकृतोपद्रवत्रस्तानां पलायनपराणां देवानामेतद्वने सर्वतो भद्रं कल्याणं यत्रेति व्युत्पत्याऽवगततन्नाम्ना धृतिर्भवति । तया तत्रावस्थानं भवत्यतो मया धृतिसंज्ञमुक्तमिति भावः । सुपार्श्वे वैभ्राजसंज्ञम् । भ्राजिष्णु । अनेकमयूरहंसशुकसारिकापरभृतादिपतत्रिविरचितनानाकूजितादिभिः शोभायमानम् । चैत्ररथं नन्दनकं धृतिवैभ्राजवनानि च क्रमश इत्युक्तेश्च ॥३४॥

ननु वनानि विना सरोवरं न भान्तीत्यतः सरोवराणि वंशस्थेनाऽऽह—**सरांसीति**। अथानन्तरमेतेषु वनेषु सरांसि सरोवराणि यथाक्रममुक्तक्रमेणारुणादीनि सन्तीत्यर्थः। चकारादन्यान्यपि वर्तन्त इत्यर्थः । तत्सद्भावे पुराणं प्रमाणमिति देवजलक्रीडास्थानत्वेनाऽऽह—सरःस्विति । उक्तसरोवरेषु देवा रमन्ते । जलक्रीडां कुर्वन्तीत्यर्थः । कुतो जलक्रीडां कुर्वन्तीत्यत आह—जलकेलिलालसा इति । परस्परजलकणसिञ्चनजलमज्जनादिनानाविधजलक्रीडासु कृतान्त करणास्तदिच्छावन्त इत्यर्थः । इच्छाऽपि कुत इत्यत आह—रामारमणश्रमालसा इति । रामाः स्वाङ्गनास्ताभिः सह रमणं क्रीडनं सुरतादिकं तेन संजातो यः श्रमस्तेनालसा व्यापारान्तराक्षमा इत्यर्थः । तदपनोदस्तु जलक्रीडयेति तदिच्छा जायते । तथा च येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्तीति भागवतमत्र प्रमाणमिति भावः ॥३५॥

अथ प्रसङ्गाद्वसन्ति मेरौ सुरसिद्धसंघा इति पूर्वोक्तं साधारणं विशेषतोऽवगमार्थं वसन्ततिलकया विशदयति—**सद्रत्नेति** ।

सद्रत्नकाञ्चनमयं समीचीनरत्नकाञ्चनाभ्यां घटितं तन्मयं शिखरत्रयमस्ति । चकारादन्यान्यपि शिखराणि सन्त्यत एवायं रत्नसानुरभिधीयते । तेषु शिखरेषु मुरारिकपुरारिपुराणि । एकस्मिन् शिखरे मुरारेर्विष्णोः पुरं वैकुण्ठाख्यमस्ति । द्वितीयशिखरे कस्य ब्रह्मणः पुरं शातकुम्भाख्यम् । तृतीयशिखरे शिवलोकाख्यम् । तेषामुक्तपुराणामधोभागे मेरावष्टदिशास्वभितोऽष्टसंख्यानि पुराणि सन्ति । केषामतो नामान्याह—शतमखेति । पूर्वभाग इन्द्रस्यामरावतीपुरम् । आग्नेयभागे वह्नेस्तेजोवत्याख्या । दक्षिणभागे यमस्य संयमिनी । नैरृत्यभागे राक्षसस्य कृष्णाङ्गनाः । पश्चिमभागे वरुणस्य श्रद्धावती । वायव्यभागे वायोर्गन्धवती । उत्तरभागे महोदया शशिनः सोमस्य कुबेरस्येत्यर्थः । वेदे सोमपदेन तदभिधानप्रसिद्धेः । ईशानभाग ईशस्य महेश्वरावान्तरभेदस्य यशोवती पुरी । दिक्पालानामष्टानां तदधोभागे स्वस्वदिशि पुराणि सन्तीति तात्पर्यार्थः । चकारान्मध्यभागे सिद्धानां स्थितिरित्यर्थः ॥३६॥

केदारदत्तः—इलावृत्त के मध्य में कर्णाभूषण की तरह सुवर्णमय मेरु पर्वत स्थित है। इस मेरु पर्वत की तीन चोटियों पर विष्णु, ब्रह्मा और पुरारि प्रभृति (त्रिदशालय) देव वृन्द की स्थिति कही गई है ।

मेरु पर्वत के चारों तरफ की आधार शिलाएँ, अर्थात् मेरु के पूर्व में मन्दर, दक्षिण

में सुगन्ध पर्वत, पश्चिम में विपुल और उत्तर में सुपार्श्व नाम की आधार शिलाएँ विद्यमान हैं। इन आधार शिलाओं में क्रमशः कदम्ब, जम्बू (जामुन) वट और पीपल के वृक्ष सुशोभित हैं।

विशाल जम्बू वृक्ष के सुन्दर पके फलों से द्रवित एकीभूत रस से जम्बू नदी बहती है जिससे इलावृत सम्बन्धिनी मृत्तिका (मिट्टी) रसयुक्त होकर सुवर्णमय हो जाती है अतएव सुवर्ण का नाम जाम्बूनद कहा गया है तथा तत्र स्थित देव योनि के जीव अमृत से भी अधिक सुस्वादु जम्बू रस का पान करते रहते हैं। इस रस के पान से देवगण अपने शरीर को सुवर्णमय कर लेते हैं।

मेरु के उक्त उन चार आधार पर्वतों के पूर्व के मन्दर पर्वत में चैत्ररथ, दक्षिण के गन्धमादन में अप्सराओं व नन्दनन्दनों का विहार स्थान, पश्चिम के विपुल पर्वत में धृतिसंज्ञक वन, और उत्तर के सुपार्श्व नामक पर्वत (मेरु का आधारपर्वत) वैभ्राज संज्ञक वन में अनेक प्रकार के पक्षियों में मयूर-हंस-शुक-सारिकादि पक्षिगण सुखपूर्वक विहार करते रहते हैं।

उक्त वन सम्पत्तियों में अनेक प्रकार के सुन्दर (१) अरुण, (२) मानस, (३) महाह्लद और (४) श्वेतजल नामक चारों तरफ चार सरोवर हैं जिनमें देवगण अप्सरा गणों के साथ जल विहार की आनन्दानुभूति लेते रहते हैं। मेरु की तीन चोटियाँ सुन्दर हैं, रत्न और सुवर्णमय सुशोभित हैं। जिसके एक शिखर (चोटी) में विष्णु भगवान् का वैकुण्ठ नगर, दूसरी चोटी पर ब्रह्मा का शातकुम्भ नामक नगर और मेरु पर्वत की तीसरी चोटी पर आशुतोष भगवान् शङ्कर की नगरी सुशोभित है।

पूर्व में कथित नगरों के अधो (नीचे) भाग में अर्थात् मेरु पर्वत के चारों तरफ की आठों की दिशाओं में और आठ ८ नगर बसे हैं—

(१) मेरु के पूर्व भाग में इन्द्र की अमरावती नगरी, (२) अग्नि कोण में बह्नि की तेजोवती नाम की नगरी, (३) दक्षिण भाग में यमराज की संयमिनी नाम की नगरी, (४) नैऋत्य दिशा में राक्षसों की कृष्णाङ्गना नामक नगरी, (५) पश्चिम भाग में वरुण की श्रद्धावती नाम नगरी, (६) वायु दिशा में वायु देवता की गन्धवती नामक नगरी, (७) उत्तर दिशा में कुबेर की महोदया नामक नगरी और (८) और ईशान में महेश्वर भगवान् शिव की यशोवती नामक नगरी स्थित है। तथा अधोभाग में दश दिक्पालों की मध्यभाग में सिद्ध महात्माओं की नगरी है ॥३१॥३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥

तत्रान्यं विशेषमाह—

विष्णुपदी विष्णुपदात् पतिता मेरौ चतुर्धाऽस्मात्।
विष्कम्भाचलमस्तकशस्तसरःसंगताऽऽगता वियता ॥३७॥

सीताख्या भद्राश्वं सालकनन्दा च भारतं वर्षम् ।
चक्षुश्च केतुमालं भद्राख्या चोत्तरान् कुरून् याता ॥३८॥
या कर्णिताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टाऽवगाहिता पीता ।
उक्ता स्मृता वा पुनाति बहुधाऽपि पापिनः पुरुषान् ॥३९॥
यां चलिते दलिताखिलबन्धो गच्छति वल्गति तत्पितृसंघः ।
प्राप्ततटे विजितान्तकदूतो याति नरे निरयात् सुरलोकम् ॥४०॥

वा० भा०—गङ्गां यामीत्युपक्रमं कुर्वत्यपि नरे तस्य पितॄणां नरकस्थानां यमपाशबन्धास्त्रुटयन्ति । अथ गच्छति मार्गलग्ने तत्पितरो वल्गन्ति । अस्मत्कुलजो गङ्गां गच्छति । अतोऽस्माकं दुष्कृतकर्मविच्छेदादूर्ध्वगतिर्भविष्यतीति हर्षेणोत्पतन्ति । अथ प्राप्ततटे गङ्गासन्नस्थिते स्वकुलजे गङ्गाबलेन मुष्टिघातादिभिरन्तकदूतान् जित्वा देवलोकं यान्ति । एवंविधाया गङ्गाया मन्दाकिन्याः किमन्यद्वर्ण्यत इत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् ॥३७॥३८॥३९॥४०॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाद्भगवच्चरणारविन्दस्मरणोपस्थितायास्तन्मकरन्दप्रवाहरूपगङ्गायाः पुराणप्रसिद्धत्रिलोकागमनं स्वजन्मपाण्डित्यवाग्विलासकृतार्थतासंपादनार्थं ग्रन्थसमाप्तिप्रचयप्रतिबन्धकीभूतविघ्ननिवारकमङ्गलाचरणार्थं च विवक्षुः प्रथमाधारपर्वतेषु गङ्गागमनमुद्गीत्याऽऽह—**विष्णुपदीति** ।

विष्णुपदी विष्णोश्चतुर्भुजस्य वैकुण्ठाधिवासिनः पदं चरणारविन्दं तस्येयं तत्संबन्धिनी गङ्गा । विष्णुपदात् । विष्णोः पीताम्बरस्य पदाद्वैकुण्ठस्थानान्मेरौ उपरितनभागे मण्डलाकारे मध्ये प्रवाहरूपेण पतिता । अस्मान्मेरोः सकाशात् । चतुर्धा । आत्मानं प्रवाहरूपेण चतुर्भेदात्मकं संपाद्य समस्थलेषु जलप्रवाहस्यानेकत्वसंभवात् । वियता–आकाशमार्गेणाऽऽगता सती । आधारपर्वतोपरिभागस्थितसमीचीनप्रागुक्तारुणादिसरोवरेषु संगता संलग्ना । यत्तु विष्णुपदमाकाशं तत्रस्था वियद्गङ्गा मन्दाकिनी । विष्णुपदादाकाशादिति तन्न । पूर्वापरग्रन्थसंगत्यनुपपत्तेः । विना कारणं परमेश्वरसंबन्ध्यर्थापलापकर्तुः सर्वजनतिरस्कारसंभवाच्च ॥३७॥

अथेयं जम्बूद्वीपपवित्रतासंपादनार्थमिव जम्बुद्वीपेऽभित आगतेति गीत्याऽऽह—**सीतेति** ।

सा पुराणाद्युदितमहिमा गङ्गा । मेरुपूर्वभागस्थप्रवाहरूपेणारुणसरोवरमिलनद्वारा सीताख्या । मेरोः पूर्वभागस्थमिलावृतप्रदेशं पवित्रीकृत्य भद्राश्ववर्षं प्रति याता । तन्मार्गेण पर्वतादिभेदनं संपाद्य लवणसमुद्रं गतेत्यर्थः । मेरोर्दक्षिणभागगतप्रवाहात्मकगङ्गा मानससरोवरसंगततयाऽलकनन्दा । भारतं वर्षमस्मदधिष्ठितभारवर्षमार्गेण समुद्रं मिलिता । चकाराद्दक्षिणभागस्थेलावृतप्रदेशहरिवर्षकिंनरवर्षाणि संप्लाव्येत्यर्थः । पश्चिमभागगतप्रवाहात्मक-

गङ्गा महाह्लदसंलग्ना चक्षुराख्या केतुमालम् । चकारात्पश्चिमभागस्थेलावृतप्रदेशमित्यर्थः । तन्मार्गेण समुद्रं गता । उत्तरप्रवाहात्मकगङ्गैकदेशरूपा श्वेतजलसंयुक्ता भद्राख्या । मेरोः सकाशादुत्तरस्थितान् कुरून् देशान् । चकारात्समुद्रं गतेत्यर्थः । कुरूनिति बहुवचनेन मेरूत्तरभागस्थेलावृतरम्यहिरण्मयकुरुवर्षप्रदेशमार्गेणेत्यर्थः ॥३८॥

अथ सेत्यनेन सूचितं महिमानं गीत्याऽऽह—**येति**।

या गङ्गा विष्णुपादारविन्दमकरन्दरूपा । आकर्णिता श्रुता । अभिलाषिता । इच्छाविषयीकृता । वाकारस्य प्रत्येकं समन्वयः । दृष्टा स्वदृग्भ्यां सादरमवलोकिता । स्पृष्टा शरीरैकदेशेन संस्पर्शविषयीकृता । अवगाहिता निखिलशरीरावयवैर्गङ्गाजलस्याऽऽलोडनं तद्विषयीकृता । पीता जलपानेन रसनाविषयीकृता । उक्ता गङ्गेति ताल्वोष्ठाभ्यामुच्चारिता । स्मृता ध्यानविषयीकृता । स्तुता नानाविधतत्स्वरूपवर्णनविषयीकृता । बहुधा । अनेकशः । पापिनो महापातकोपपातकाद्याश्रितान् पुरुषान् मनुष्यान् । अपिशब्दात्प्रायश्चित्तानधिकारिपापिमनुष्यानित्यर्थः । पुनाति बहुप्रकारेण पापनिरासद्वाराऽतिशुद्धान् करोति । । पवित्रतासंपादनोत्तरं परमेश्वरसायुज्यं स्वतः सिद्धम् । सुकृतिनां तु किमाश्चर्यम् । अत्राऽऽकर्णनाद्युक्तक्रमेणोत्तरत्र पूर्वोक्तस्योपजीव्यत्वम् । यथा श्रवणानन्तरं तदभिलाषस्तदनन्तरं दर्शनेच्छेत्यादीति सूचितम् । अथ श्लेषेण शृङ्गारार्थः । या कान्ता मुखचन्द्राधःकृतपूर्णशरच्चन्द्रोक्तक्रमविषयीकृता । बहुधाऽत्यन्तम् । पापिनः कामाभितप्ताननुरागिणः पुरुषान् । पुनाति तद्विरहानलजनितदुःखापनोदनद्वारा सुखयतीत्यर्थः ॥३९॥

अथात्युत्कटमहिमान्तरं दोधकत्वेनाऽऽह—**यामिति**।

नरे मनुष्ये । याम् । गङ्गां प्रति चलिते यामीत्युपक्रमं कुर्वति सति । तत्पितृसंघः । तस्योपक्रमयुक्तमनुष्यस्य । पितरः स्वपितृपितामहप्रपितामहादयो मातामहादयः श्वशुरादय इत्येषां संग्रहार्थं संघोपादानम् । दलिताखिलबन्धो दलिताः खण्डिता अखिलबन्धा यस्यासौ । तत्पितॄणां यमदूतनिबद्धपाशास्त्रुटयन्ति । अनेनोपक्रमभङ्गे कृते पुनस्तन्निबन्धनं भवतीति पापं सूचितम् । गच्छति मार्गसंलग्ने सति । वल्गति । तत्पितृसंघोऽस्मकुलजे गङ्गां गच्छतीत्यस्माकमितो दुष्कृतकर्मविच्छेदात्सुरलोकवासोऽविलम्बेन भवतीति मत्वाऽऽनन्दति । एतेन मार्गात्परावर्तने पुनस्तेषां तद्दुःखं भवतीत्यधिकं पापं सूचितम् । प्राप्ततटे । प्राप्तं गङ्गातीरं येनैतादृशे कुलजे विजिताः पराभाविता गङ्गाबलेन मुष्टिघातादिभिरन्तकदूता यमकिंकरा येनैतादृशः पितृगणः सन्निरयान्नरकलोकात्सुरलोकं प्रति गच्छति । मज्जनादौ यत्फलं तदनिर्वचनीयमित्यपि सूचितम् ॥४०॥

केदारदत्तः—वैकुण्ठाधिनाथ भगवान् विष्णु के चरणों से मेरु शिखर में प्रवाह रूप से श्री गंगा नदी भूमण्डल में पतित (अवतरित) हुई है । आकाश से मेरु पर्वत में गंगा ने अपने प्रवाह की अपनी गतियों से पूर्वोक्त अरुण आदिक सरोवरों में होते हुये जम्बू द्वीप को पवित्र किया है ।

गंगा का अरुण सरोवर से मिलन होते हुये पूर्व में भद्राश्व वर्ष को गंगा ने पवित्र किया है इसी भद्राश्व मार्ग से पर्वतों का भेदन करती हुई लवण समुद्र में गंगा का मिलन हुआ है। मेरु के दक्षिण भागगत प्रवाहात्मक गंगा मानसरोवर होती हुई अलकनन्दा नाम से प्रसिद्ध हुई, भारतवर्ष में अवतरित हुई है और मेरु के दक्षिण भाग के इलावृत्त प्रदेशीय हरिवर्ष और किन्नर वर्षीय देशों में भी गंगा का पवित्र प्रवाह हुआ है।

मेरु के पश्चिम भागस्थ प्रवाह महाह्लद प्रदेशसंल्लग्न चक्षु, केतुमाल और इलावृत्त के पश्चिम भाग में प्रवाहित होती हुई समुदगामिनी हुई है।

उत्तर प्रवाह से श्वेतजल युक्त भद्राश्व अर्थात् मेरु से उत्तर में कुरु देश गत होकर गंगा समुद्रगामिनी हुई है।

श्री गंगा नाम के स्मरण, गंगास्नान की मात्र इच्छा, श्री गंगा दर्शन, शरीर के किसी अंग से गंगा का स्पर्श श्री गंगा में समग्र शरीर से आलोडन, (स्नानादि) गंगा जल पान "गंगागंगेति" नाम का उच्चारण श्री गंगा का ध्यान और अनेक प्रकार से श्री गंगा की स्तुति करने से महापातकी जनसमाज भी पापों से निवृत्त होकर उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं।

और आचार्य की उत्कट गंगा भक्ति भी श्री गंगा की विशेष महिमा वर्णन से स्पष्ट व्यक्त होती है कि—"उस व्यक्ति के सपत्नीक गंगा यात्रार्थ जा रहा हूँ" ऐसे सद् विचार मात्र की उत्पत्ति से पितृपितामहप्रपितामहादि पितर यदि यमदूतों से बद्ध हैं तो वे भी यम बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

यदि गंगातीर्थ यात्रा प्रारम्भ की जाती है तो उस यात्री का पूर्वोक्त पितृ लोक गत पितृ समाज प्रसन्न हो जाता है कि हमारे दुष्कृत कर्मों का क्षय हो गया है।

गंगातट की प्राप्ति, गंगा स्नान, द्रव्य दान और देवऋषिपितृ तर्पण करने से उसके पितरों को नरक में ले जाने के लिये आये हुये यम दूतों से वह जीव मुक्त होकर उसके पितरों को देव दूत सुखेन स्वर्ग गामी करते हैं ॥३७॥३८॥३९॥४०॥

इदानीं भारतस्यापि मध्ये नव खण्डानि सप्त कुलाचलांश्चाऽऽह—

ऐन्द्रं कशेरुशकलं किल ताम्रपर्ण-
मन्यद्गभस्तिमदतश्च कुमारिकाख्यम् ।
नागं च सौम्यमिह वारुणमन्त्यखण्डं
गान्धर्वसंज्ञमिति भारतवर्षमध्ये ॥४१॥

वर्णव्यवस्थितिरिहैव कुमारिकाख्ये
शेषेषु चान्त्यजजना निवसन्ति सर्वे ।
माहेन्द्रशुक्तिमलयर्क्षकपारियात्राः
सह्याः सविन्ध्य इह सप्त कुलाचलाख्याः ॥४२॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥४१॥४२॥

मरीचिः—अथ भारतवर्षस्य नव खण्डानि वसन्ततिलकयाऽऽह—ऐन्द्रमिति ।

इह । अस्मदधिष्टिते भारतवर्षमध्ये । लवणसमुद्रोत्तरतटहिमाद्रयोरन्तरालप्रदेशे । किल निश्चयेन । इत्युक्तक्रमेण यमकोट्यभिमुखहिमाद्र्यग्रात्पूर्वप्रदेशाद्रोमकाभिमुख-हिमाद्र्यग्रपश्चिमभागपर्यन्तं दक्षिणोत्तराणि तिर्यग्रूपाणि खण्डानि । तत्र प्रथममैन्द्रं खण्डम् । द्वितीयं कशेरुखण्डम् । अन्यत्तृतीयं ताम्रपर्णं खण्डम् । अतोऽन्तरम् । चतुर्थं गभस्ति-मत्खण्डम् । चकारादेतदनन्तरं कुमारिकाखण्डं पञ्चमम् । चकारादस्मात्परं षष्ठं नाग-खण्डम् । अनन्तरं सौम्यं खण्डं सप्तमम् । अनन्तरमष्टमं वारुणं खण्डम् । अन्त्यखण्डं नवम-खण्डं गान्धर्वाख्यम् । अनेन दशमं नास्तीति सूचितम् । तथा च व्याससिद्धान्ते—भारत-स्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय । इन्द्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् । नाग-द्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः । अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृत इति । न चास्मिन्वचने गान्धर्ववारुणव्यत्यासदर्शनात्कथमाचार्योक्तक्रमः संगत इति वाच्यम् । ऐन्द्रं कशेरुसंज्ञं च ताम्रपर्णं गभस्तिमत् । कुमारिकाख्यं नागं च सौम्यं वरुणसंज्ञकम् । गान्धर्वमिति खण्डानि नव ज्ञेयानि भारत इति वृद्धवसिष्ठोक्तेः । अत्र लङ्कादेशात्पूर्वा-परयोः समुद्रप्रवाहयोर्दक्षिणोत्तररूपत्वात्कुमारिकाखण्डं पूर्वादिदिक्समुद्रस्पृष्टमतो द्वीपम् । अन्येषामपि दक्षिणभागे समुद्रस्पर्शाद्द्वीपत्वम् । वरुणस्य पश्चिमेशत्वाद्वारुणमन्त उक्तम् । अस्मिन्वर्षे भारताख्ये हिमाद्रिक्षाराम्भोध्योः संयुतेः सार्धविश्वे १३ । भागा देयाः सागरे तत्र चिह्नं भूयः शैले ववग्नि ३१ भागाः प्रदेयाः । मध्ये रेखाचिह्नमस्मिन्विदध्यात्प्राक्-पश्चात्स्तः खण्डके द्वे तथैव । भूयो लङ्कागामिसूत्रेऽङ्कपक्षै २९श्चिह्नं कृत्वा साङ्घ्रि-सप्ताब्धिभिश्च ४७ । शैले तस्माद्रेखिकाचिह्नमेवं पश्चात्कार्यं संयुतिभ्यां ततश्च । चिह्ने कार्ये भूपभा१६गैश्च शैले ताभ्यां सूत्रेणैव खण्डे विभाज्ये । एवं खण्डान्यब्धिसंख्यानि भूयश्चिह्ने कार्ये प्राग्यतस्तद्धिमाद्रौ । भागैरर्कैः १२ सार्धषड्वा२६द्रुसंख्यैरेवं पश्चाद्रेखि-काभ्यां पृथग्द्वे । सूत्रे धार्ये मध्यमे खण्डकानि त्रीण्येवं स्युश्चाङ्कसंख्यानि तत्र । तेषां नामान्यङ्कयेदैन्द्रपूर्वाण्येवं सम्यक्कृत्तिकादीनि भानि । मध्ये कुमारीशकलं तथैन्द्र्यामैन्द्रा-ख्यमग्नेर्दिशि ताम्रपर्णम् । गभस्तिमद्याम्यगतं च वारुणं रक्षःसुगान्धर्वदलं प्रतीच्याम् । वायव्यदिङ्नागदलं हि सौम्ये सौम्यं तथैशे विलिखेत्कशेरुमिति रोमकोक्तं च शुभाशुभ-फलदेशार्थं न तु वस्तुभूतदिक्चक्रमवस्थितिकमिति ध्येयम् । दर्शनार्थं न्यासश्च ॥४१॥

अथ लोकवसतिं नवखण्डकारककुलपर्वतांश्च वसन्ततिलकयाऽऽह—**वर्णेति** ।

इह भारतवर्षे यत्पञ्चमं मध्यमभूतं कुमारिकाखण्डं तस्मिन् । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राणां व्यवस्थितिः । शेषेषु । उर्वरितखण्डेषु । अन्त्यजजनाश्चाण्डालादयः सर्वे वर्णव्यवस्थितिव्यतिरिक्ता निवसन्ति । चकारात्कुमारिकाखण्डे केचन यवनादयः सन्ति । इह भारतवर्षे सप्त कुलाचलाः सन्ति । माहेन्द्रादयः पञ्च । तत्र ऋक्षक एकः पर्वतः पारियात्रश्चैकः षष्ठः सह्यः पर्वतः । विन्ध्यपर्वतेन सप्तमेन सह वर्तमान इति । माहेन्द्रो मलयः सह्यः शुद्धिमान् ऋक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वता इति व्याससिद्धान्तोक्तेः । माहेन्द्रशुक्तिमलया ऋक्षकः परियात्रकः । सह्याचलो विन्ध्यगिरिरिह सप्त कुलाचला इति वृद्धवसिष्ठसिद्धान्तोक्तेश्च । विन्ध्यकुमारिकाखण्डेनैव खण्डकारका रेखाकाराः समुद्रप्रवाहद्वयं चेति ध्येयम् । अत्र नदीनदादिकं पर्वतान्तरं तथेतरवर्षेषु लोकव्यवस्थादिकं तथेतरद्वीपषट्कविषयव्यवस्थादिकं च विस्तरभीत्या प्रकृतानुपयुक्तत्वेनाऽऽचार्यैर्नोक्तं तत्पुराणादिष्ववगन्तव्यम् ॥४२॥

केदारदत्तः—लवणसमुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण अर्थात् हिमालय के पूर्व यमकोटि के अभिमुख का, और हिमालय के पश्चिम रोमक तक के उत्तर दक्षिण के भूखण्डों के ९ विभागों में प्रत्येक का नाम—(१) ऐन्द्रखण्ड, (२) कशेरुखण्ड, (३) ताम्रपर्ण खण्ड, (४) गभस्तिमत्खण्ड, (५) कुमारिकाखण्ड, (६) नागखण्ड, (७) सौम्यखण्ड, (८) वारुण खण्ड, (९) और अन्तिम गान्धर्व खण्ड कहा गया है ।

पाँचवें कुमारिका खण्ड के भारत भूप्रदेश में ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र क्रम की वर्णव्यवस्था प्रचलित है । शेष ८ आठों खण्डों में सभी ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से भिन्न (जिन्हें अन्त्यज कहा गया है) अन्त्यज जातियाँ रहती हैं । तथा इस वर्ण व्यवस्था सम्पन्न कुमारिका खण्ड में क्वचित यवन जातियाँ भी बस गई हैं ।

भारतवर्ष में प्रसिद्ध ७ कुलाचल भी निम्न नामों से प्रसिद्ध हैं ।

(१) महेन्द्राचल, (२) शुक्ति, (३) मलयाचल, (४) ऋक्षाचल, (५) पारियात्राचल, (६) सह्याचल और (७) विन्ध्याचल ॥४१-४२॥

इदानीं लोकव्यवस्थामाह—

भूर्लोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशा-
त्तस्मात्सौम्योऽयं भुवः स्वश्च मेरुः ।
लभ्यः पुण्यैः खे महः स्याज्जनोऽ-
तोऽनल्पानल्पैः स्वैस्तपः सत्यमन्त्यः ॥४३॥

वा० भा०—स्पष्टम् । यदिदमुक्तं तत्सर्वं पुराणाश्रितम् ॥४३॥

इदानीं दिग्व्यवस्थितिमाह—

लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्याम् ।
अधस्तदा सिद्धपुरेऽस्तकालः स्याद्रोमके रात्रिदलं तदैव ।।४४।।
यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम् ।
तन्मत्स्यतोऽन्ये च ततोऽखिलानामुदक्स्थितो मेरुरिति प्रसिद्धम् ।।४५।।

वा० भा०—स्पष्टम् ।।४४।।४५।।

मरीचिः—अथ सप्तलोककथनच्छलेनोपसंहारं शालिन्याऽऽह—**भूरिति** ।

व्यक्षदेशाग्निरक्षदेशात् । लवणसमुद्रोत्तरतटमारभ्य दक्षिणे । भूगोलार्धे भूर्लोकः । तस्मात् । निरक्षदेशाल्लवणसमुद्रोत्तरतटमारभ्य । सौम्यः । उत्तरभूगोलार्धरूपः । अयं जम्बूद्वीपात्मको भूर्लोको भुवर्लोकः । मेरुः स्वर्लोकः । चकार आकाशस्थपुराणप्रसिद्धस्वर्लोक-निरासार्थकः । पुराणेऽपि मेरौ देवस्थानत्वोक्तेस्तदतिरिक्तकल्पने मानाभावात् । भूर्लोको दक्षिणे व्यक्षात्पुटके जलसंज्ञके । जम्बुद्वीपो भुवर्लोको निरक्षादुत्तरे स्थितः । स्वर्लोको मेरुरेव स्यादिति लघुवसिष्ठसिद्धान्तोक्तेश्च । अवशिष्टलोकानाह—खे इति । खे । आकाशे । नक्षत्र-गोलादूर्ध्वं महर्लोको गोलाकारः । अतो महर्लोकादुपरि जनोलोकस्तदुपरि तपोलोकस्तदुपरि सत्यं सत्यलोकः । सत्यमित्यनेन तदुपरि लोकाभावः सूचितः । एतेषां यथोत्तरमुत्कर्षमाह—लक्ष इति । स्वैः स्वकृतैः पुण्यैर्धर्मैः । अनल्पानल्पैः । अधिकाधिकैर्लक्ष्यैः(भ्यः)प्राप्यो मनुष्यैः । अधिकाधिकैरुत्तरोत्तरलोकप्राप्तिर्मनुष्याणां स्यादित्यर्थः । एवं सप्त पाताललोकाः । भूर्लोकादयः सप्तैत इति चतुर्दशभुवनान्युक्तानीत्युपसंहृतमिति भावः ।।४३।।

ननु लङ्काकुमध्ये यमकोटिरस्या इत्याद्युक्तेन लङ्कातो मेरोरुत्तरत्वाल्लङ्कादेशाशाद्धि-मगिरिरुदगित्यादिना मेर्वभिमुखत्वेन गिरित्रयसंनिवेशाद्भारतमिदं ह्युदगस्मादित्यादिना भारतादिवर्षत्रयसंन्निवेशों नेर्वभिमुखं सम्यगुक्तः । परंत्वेवं सिद्धादुदगपि पुराच्छृङ्गवच्छु-क्लनीला इत्यनेन वर्सत्रयसंनिवेशस्य मेर्वभिमुखत्वासिद्धिः । लङ्कावा सिद्धपुरस्याधःस्थत्वेन तत्स्थलोकानां लङ्कादेशस्थलोकाभिमुखन्वेन सव्यापसव्ययोस्तद्वैपरीत्येन संभवात्सिद्धपुर-दक्षिणोत्तरयोः क्रमेण मेरुवडवास्थानयोः संभवात् । पूर्वादिदिशां सव्यानुक्रमेण सद्भाव-निश्चयात् । एवमिलावृतस्य मेरुमध्यत्वेन प्रसिद्धस्यापलापापत्तिः । एवमेव लङ्कात्मक-निरक्षदेशादुक्तभूर्भुवर्लोकादे सिद्धपुराद्व्यस्तत्वापत्तिः । तस्यापि निरक्षदेशत्वात् । नहि भूर्भुवर्लोकयोर्द्वैविध्यं पुराणप्रसिद्धम् । न च सिद्धपुरे पूर्वापरयोर्व्यत्यादुक्तार्थे न क्षतिरिति वाच्यम् । प्रत्यक्षसूर्योदयास्तयोः सर्वत्रैक्यादन्याथ पूर्वापरव्यत्यासे दक्षिणोत्तरयोरपि व्यत्यासापत्त्योमयथोक्तार्थानुपपत्तिरित्यत उपजातिकयाऽऽ—**लङ्केति** ।

लङ्कादेशाच्छिन्नभूगर्भे सूर्यस्योपलक्षणाद्ग्रहनक्षत्रादेर्यस्मिन्काल उदयो भवति तस्मिन्काले । एवकारोऽन्यकालयोगव्यवच्छेदार्थः प्रत्येकमन्वेति । यमकोटिशावच्छिन्नभूगर्भे

मध्याह्नम् । तस्मिन्नेव काले । अधो लङ्काया ऊर्ध्वत्वकल्पनया तदधोभागस्थितसिद्ध-पुरावच्छिन्नभूगर्भेऽस्तकाल: । कालपदोपादानादेक एव कालस्तत्तत्प्रदेशावच्छेदेनोपाधि-भेदात्क्वचिदुदयमध्याह्नादिसंज्ञां लभत इति स्फुटमुक्तम् । तस्मिन्नव काले । रोमकदेशाव-च्छिन्नभूगर्भेऽर्धरात्रं भवति । लङ्कादीनामुपलक्षत्वेन स्पष्टपरिधिसूत्रस्थदेशानां चतुर्थी-शान्तरितानां मध्ये यद्गर्भावच्छेदेनोदयास्तप्रागपरस्थितचतुर्थांशान्तरितदेशावच्छिन्न-भूगर्भयोर्मध्याह्नरात्रे । तदधोदेशावच्छिन्नभूगर्भेऽस्त इत्युक्तमिति ध्येयम् । अत्र युक्तिस्तु ध्रुवद्वयबद्धभचक्रस्य प्रवाहवायुना भूगोलादभितो भ्रमणे स्वाधिष्ठितभूगोलार्धस्य भूगर्भनगरदृश्यत्वेन दृश्यादृश्यार्धगोलसंधो भूपरिधिवृत्तस्य भूगोलक्षितिजत्वाङ्गीकारात्तत्र प्रतिप्रदेशं क्षितिजभेद इति प्रागुक्त्या तत्समसूत्रस्थितस्वस्वाकाशप्रदेशस्थितभ्रमद्ग्रहाशि-बिम्बदर्शनारम्भसमाप्तिकालावुदयास्तावेवं तत्क्षितिजवृत्तम् । तत्पूर्वापरदेशयोश्चतुर्थां-शान्तरितयोर्लग्नमिति तस्थानां तत्समसूत्रस्थं बिम्बं याम्योत्तरवृत्तैकदेशस्थं भवतीति यथायोग्यं मध्याह्नं मध्यरात्रं चेत्यादि सुगमम् । एतेनैवोक्तदेशपृष्ठे क्षितिजानां भूव्या-सार्धयोजनैरुच्छ्रितत्वेनोक्तार्थानिर्वाह: प्रत्यक्षसिद्ध: । एतेनैतत्प्रीत्यन्यथानुपपत्त्या भूर्गोलाकारत्वेनावगतेत्याचार्यैर्भुवो गोलाकारत्वे युक्तिरुक्तेति परास्तम् । भुवो गोलाकारत्व-सिद्धौ तदुक्तरीत्यवगमस्तद्रीत्यवगमेन च भुवो गोलाकारत्वावगम इति परस्पराश्रयात् । न चोक्तव्यवहारस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तल्लिङ्गकभूगोलानुमानेऽन्योन्याश्रयाप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तत्तत्प्रदेशात्तत्तद्व्यवहारस्य युगपन्मनुष्यदृग्गोचरासंभवस्यासिद्धे: कथमसिद्धहेतुना सदनु-मानसं भव: । तथा च सिद्धान्तसुन्दरे—लङ्कापुरोपरि गत: खचर: सुमेरोर्याम्ये कुजेऽथ यमकोटिगतस्य पश्चात् । प्राग्रोमके च वडवाजलतस्तु सौम्ये यस्मात्ततो भवति भू: खलु गोलरूपा । इति । यमवनिकन्दुकाकृतित्वे समुदितवान् हि पृथूदक: सुहेतुम् । न भवति स यत: प्रमाणसिद्ध: खलमतयस्तमतो न मानयन्तीति । अत्र तट्टीकाकृतस्तु यद्येवनुक्तं व्यवहारमाग्रहिणो नाङ्गी कुर्युस्तर्हिपौराणिका अपि देवानां षण्मासदिनरात्रिव्यवहारं कथमाश्रयेरन् । यतो लङ्कासममण्डलादुत्तरभागाश्रिते सुराणां च वडवामस्त(थ्य)स्थानां तदैव रात्र्यादिर्भवति । अतो नाडीवृतस्यैव तेषां क्षितिजत्वं कल्प्यते ! अन्यथैतद्व्यवहार-स्याप्तसंभवप्रसङ्ग: । इत्येवंरूपव्यवहारस्य चोभयत्र साधारणत्वात् । तथा तदेव नैरक्षं सममण्डलं प्राक्स्वस्तिकापेक्षया नवत्यंशान्तरे चोर्ध्वतो मेरुगणाद्दक्षिणदिग्विभागात् । तथा चोक्तवादिसंप्रतिपन्नानिमिषदिनादिव्यवहारीच्छित्तिप्रसङ्गरूपविपक्षबाधकबलेन मूलव्यवहार-स्योपजीवनात् । अतस्तस्य तद्धेतुत्वं युज्यत एवेत्यन्यथाऽनुमानोच्छेद इत्याहु: । तन्न । पौराणिकमते देवदिनरात्र्यो: पारिभाषिकत्वेन सूर्यदर्शनप्रयुक्ततद्व्यवहाराभावादित्यलं व्यधिकरणविवादेन तथा च सर्वदेशेसूर्योदयास्तयोरैक्यनिरासात्प्रतिदेशं सूर्योदयास्तयोभिन्न-पूर्वापरयो: सर्वदेश ऐक्याभावादध:स्थसिद्धपुरे पूर्वापरयोर्व्यत्यासात्सव्यानुक्रमेण तत्रापि दिशामवगमात्तद्दक्षिणोत्तरयोरभिन्नत्वदुक्तार्थे न काचित्क्षतिरिति भाव: ॥४४॥

ननु सूर्योदयास्तयोः सर्वत्रैककालासंभवेऽपि पूर्वापरयोरैक्यमस्तु । अन्यथोदयास्तयोरेकदेशेऽपि कालतः स्थानैक्याभावात्प्रतिदिनं पूर्वापरस्थानभेदप्रसङ्गः । नहि कस्मिन्नपि देशे त्वियं पूर्वा चान्येति कस्यापि प्रतीतिः संभवत्यन्यथा कुण्डार्थदिक्साधनानुपपत्तेरित्यत उपजातिकयाऽऽह—**यत्रेति** ।

यत्र यस्मिन्प्रदेश उदितोऽर्को निशावसाने दर्शनयोग्यतां गतः सूर्यस्तत्र तस्मिन् भागे । किलेत्यागमे । पूर्वा दिक् । प्रागञ्चतीति प्राचीपदविवरणात् । यस्मिन्प्रदेशे प्रतिष्ठामदर्शनतां दिनावसाने गतस्तत्रापरा पश्चिमा दिक् । तथा च प्रतिदेशमुदयास्तयोर्भिन्नत्वेन प्राचीप्रतीच्योर्भेदावश्यंभावाद्यत्र लङ्कास्थानामुदयेन प्राची तत्र सिद्धपुरस्थानामस्तत्वेन प्रतीची । यत्र च लङ्कास्थानामस्तत्वेन प्रतीची तत्र सिद्धपुरस्थानामुदयत्वेन प्राचीति सिद्धपुरप्राच्यपरयोर्व्यत्यासादुक्तार्थः समञ्जसः । न च प्रतिदिनं प्राच्यपरयोरनियतत्वापत्तिरिति वाच्यम् । कस्मिन्भागे प्राक्त्वं कस्मिंश्च भागेऽपरात्वमिति क्षितिजवृत्ते साधारणज्ञानार्थं सूर्योदयास्तयोः स्थूलत्वोपलक्षणेन साधारणोक्तित्वात् । अन्यथा प्राक्प्रतीचीभेदज्ञानासंभवापत्तेः । सूक्ष्मज्ञानं तु त्रिप्रश्नाधिकार उक्तमेवेति भावः । ननु प्राचीप्रतीच्योर्व्यत्यासेऽवश्यं दक्षिणोत्तरयोर्व्यत्यासः । पूर्वाभिमुखपुरुषसव्यापसव्याभ्यां पश्चिमाभिमुखपुरुषसव्यासव्ययोर्भूर्विपरीतसद्भावात्पुनर्दोषतादनस्थ्यमित्यत आह—तन्मत्स्यत इति । ताभ्यां पूर्वापरस्थानाभ्यां वृत्तद्वयसंजातमत्स्यात् । अन्ये दक्षिणोत्तरे चकारान्मत्स्यतः सिद्धे । तथा च पूर्वतः सव्यापसव्ययोर्दक्षिणोत्तरनियमात्सिद्धपुरपर्वतोऽपि सव्यापसव्ययोर्दक्षिणोत्तरे इति भावः । ततश्च दोषाभावः । कथमित्युपसंहारव्याजेनोत्तरमाह—तत इति । तत उक्तप्रकारादखिलानां देशानां मेरुरुदक्स्थितोऽस्तीति पुराणसर्वजनसिद्धं प्रसिद्धं प्रकर्षेण सिद्धमत्रार्थे न किंचिद्विरुद्धमित्यर्थः । तथा च यथा लङ्कास्थानां पूर्वादिविभागस्तथैव सिद्धपुरादिस्थानां पूर्वादिविभागः । कुमध्यपरिधिप्रदेशेभ्यश्चतुर्थांशान्तरेण मेरुवडवानलयोर्दक्षिणोत्तरयोरवस्थानात्तदनुरोधेनैवेष्टदेशोऽपि दक्षिणोत्तरयोस्तदभिमुखत्वसिद्धेः सव्यापसव्यव्यत्यासस्त्ववस्तुभूतोऽधःप्रदेशभ्रमेण भ्रमरूप इत्यत एव मेरुमस्तकोर्ध्वस्थितध्रुव उत्तरध्रुव इति सिद्धमिति भावः ॥४५॥

केदारदत्त :—लवण समुद्र के उत्तरतट से दक्षिणीय भूगोलार्ध में भूलोक, निरक्ष देश लवणसमुद्र के उत्तर तट से प्रारम्भ उत्तर भूगोलार्ध के जम्बू द्वीप में भू और भुवः लोक और मेरु (ध्रुव) को स्वर्लोक कहा गया है। (मेरु = देवस्थान) नक्षत्र गोल से ऊपर महर्लोक, महर्लोक के ऊपर जन लोक, जनलोक के ऊपर तपोलोक, तपोलोक के ऊपर सत्त्यलोक स्थित हैं। बड़े पुण्य से जन, तप, सत्त्य लोक की प्राप्ति होती है।

उक्त इन्हीं विषयों का उल्लेख इसी भुवन कोष अध्याय के प्रकारान्तर से श्लोक १७-२० तक में आचार्य ने कर दिया है जिसे यहाँ पर और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है कि—

गोल पृथ्वी के सूर्याऽभिमुख दिशा में दिन और विपरीत दिशा में रात्रि का होना स्पष्ट है।

निरक्ष देशीय खमध्य का, अर्थात् भूमध्य रेखा के साथ याम्योत्तरवृत्त का सम्पात बिन्दु का नाम निरक्ष खमध्य बिन्दु होता है। एक व्यासार्ध गोल के एक धरातल के गोल में दो बड़े वृत्तों का सम्पात दो जगह होने से उक्त वृत्तों का दूसरे सम्पात स्थान का नाम अधो खमध्य होता है।

किसी भी खमध्य से ९० (नव्वे) अंश की दूरी पर किये गये वृत्त का नाम उस खमध्यीय भू-स्थान का क्षितिज वृत्त होता है। यहाँ पर निरक्ष देशीय क्षितिज का नाम ऊन्मण्डल गोल परिभाषा से स्पष्ट है।

निरक्ष देशीय क्षितिज के साथ निरक्ष देशीय पूर्वापर वृत्त (नाडी वृत्त या विषुवद्वृत्त) के सम्पात बिन्दु का नाम पूर्व स्वस्तिक और पश्चिम स्वस्तिक होता है।

इस प्रकार निरक्ष स्थानीय लङ्का का स्थान भूमध्य में होने से, पूर्वस्वस्तिक का नाम यमकोटि, पश्चिम स्वस्तिक का नाम रोमक पत्तन, और अधो स्वास्तिक का नाम गोल परिभाषा से सिद्धपुर कहना समीचीन है।

अतः पूर्वस्वस्तिक रूप यमकोटि के खमध्यगत सूर्य बिम्ब की स्थिति से, यमकोटि में में मध्याह्न, लङ्का में सूर्योदय, रोमकपत्तन में अर्द्ध रात्रि, और सिद्धपुर में सूर्यास्त का होना गोल रीति से सुस्पष्ट होता है।

अभी तक पुराणों के मतानुसार आचार्य ने मेरु पर्वत की सविशेष स्थिति पूर्व व्याख्यानों में स्पष्ट कर दी है किन्तु गोलीय नियमानुसार 'मेरु' की वस्तुस्थिति कहाँ है? और उसका अपर नाम क्या है? इत्यादि विषयों को यहाँ पर आचार्य गोल दृष्टि से और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

भू पृष्ठीय समाज का जो कोई जीव पृथ्वी पर जो जहाँ स्थित है, उस बिन्दु की पूर्व दिशा में वहाँ का सूर्योदय बिन्दु है, और उस बिन्दु की ९० अंश दूरी पर पश्चिम दिशा वहाँ का सूर्यास्त सिद्ध होता है, यह एक साधारण नियम है। सूत्र से ही प्राची प्रतीची दिशा का ज्ञान आचार्य ने··· 'तत्कालापमजीवयोर्विवरात्'' इसी ग्रन्थ के ग्रहगणिताध्याय के त्रिप्रश्नाधिकार में स्थल विशेष पर स्पष्ट कर दिया है। सूर्योदयास्त विन्दुगत पूर्वापर रेखा पर लम्ब रूप याम्योत्तर रेखा में उत्तर एवं दक्षिण ध्रुव विन्दु होते हैं जो गोल क्षेत्र से सुस्पष्ट है। इन्हीं दोनों उत्तर दक्षिण बिन्दुओं का अपर नाम सुमेरु (उत्तरध्रुव) कुमेरु (दक्षिण ध्रुव) कहा गया है।

एक दिन की क्रान्ति गति शून्य मान कर सायन मेषादि तुलादि में सूर्योदयास्त बिन्दुद्वयगत पूर्वापर धरातलीय रेखा पर लम्ब रूप रेखा के उत्तर शीर्ष में उत्तर और दक्षिण शीर्ष में दक्षिण ध्रुव समीचीन सिद्ध होते हैं।

प्राचीन आचार्य एक रेखा पर दूसरी रेखा को लम्ब रूप करने में रेखान्त और रेखादि बिन्दुओं से नवत्यंश वृत्तों के सम्पात द्वय पर रेखा को याम्योत्तर रेखा कहते थे।

यह एक मछली के आकार का सा चित्र बन जाता था इसलिये, "तन्मत्स्यतोऽन्ये च ततोऽखिलानामुदक् स्थितो मेरुरिति प्रसिद्धम्" ऐसा कहा जाता है।

पृथ्वी के किसी विभाग के किसी बिन्दु से पूर्वापर दिशा शंकु छायादि से ज्ञात कर पूर्वापर रेखा ज्ञान पर मत्स्य रेखा करने से उत्तर दक्षिण ध्रुव गामिनी याम्योत्तर रेखा हो जाती है जो गोल क्षेत्र से स्वतः प्रसिद्ध है। क्षेत्र देखने से स्पष्ट है ॥४४-४५॥
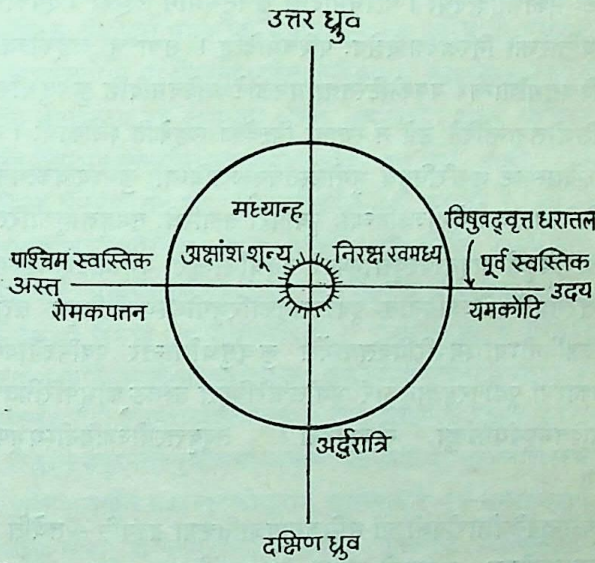
इदानीं विशेषमाह—

यथोज्जयिन्याः कुचतुर्थभागे प्राच्यां दिशि स्याद्यमकोटिरेव।
ततश्च पश्चान्न भवेदवन्तो लङ्कैव तस्याः ककुभि प्रतीच्याम् ॥४६॥
तथैव सर्वत्र यतो हि यत्स्यात्प्राच्यां ततस्तन्न भवेत्प्रतीच्याम्।
निरक्षदेशादितरत्र तस्मात्प्राचीप्रतीच्यौ च विचित्रसंस्थे ॥४७॥

वा० भा०—इष्टप्रदेशान्मेरोरभिमुखीमुत्तरां दिशं निश्चलां कृत्वा निरक्षाभिमुखीं दक्षिणां च निश्चलां कृत्वा तन्मत्स्यात्प्राच्यपरा साध्या। एवं यत्प्राच्यग्रे चिह्नं भवति ततः पुनरुत्तरां दक्षिणां च साधयित्वा यावत्प्राच्यपरा साध्यते तावत्पूर्वरेखायां न पतति। उत्तरायाश्चलितत्वात्। प्राच्यपरा चलिता भवतीत्यर्थः। शेषं सुगमम् ॥४६-४७॥

मरीचि :—ननु मेरोः सर्वदेशेभ्य उत्तरत्वे तस्मादितरसर्वदेशानां दक्षिणत्वापत्त्या तत्रस्थानां दक्षिणोत्तरदिग्विभागानुपपत्तेर्भद्राख्या चोत्तरान्कुरून्यातेति पूर्वोक्तमसंगतमित्यतस्तदुत्तरं विवक्षुस्तत्साधकं दृष्टान्तं प्रथममुपजातिकयाऽऽह—**यथेति**।

यथा लङ्कातो भूपरिधिचतुर्थांशे प्राच्यां दिशि यमकोटिस्तथेत्यर्थः। उज्जयिन्याः सकाशाद्भूपरिधिचतुर्थांशे प्राच्यां दिशि यमकोटिर्भवति। एवकाराद्भूपरिधिचतुर्थांशान्तरे प्राच्यां दिशि नान्या न्यूनाधिकान्तरेण तद्दिशि यमकोट्यन्या न भवतीत्यर्थः। ततो यमकोटिपुरात्। चकारो यमकोटेरवन्ती कस्मिन् दिशीति विपरीत(ता)विपरीतविचारे। अवन्ती पश्चिमदिशि न भवेत्। ननु तर्हि यमकोटेः पश्चिमदिङ् नास्तीत्यत आह—लङ्केति। तस्या यमकोटेः सकाशादित्यर्थः। पश्चिमदिशि कुचतुर्थभागे लङ्का। एवकारान्न्यूनाधिकान्तरे लङ्काव्यतिरिक्तो निरक्षदेशविशेषः पश्चिमदिशि। तथा च लङ्कोज्जयिनीभ्यां पूर्वदिशि भूपरिधिचतुर्थांशान्तरे यमकोटिस्तथा यमकोटे. पश्चिमदिशि कुचतुर्थांशान्तरे लङ्कोज्जयिन्यौ दक्षिणोत्तरान्तरिते उभे न स्यातां किन्त्वेका लङ्केति श्लोकार्थः। अयमभिप्रायः—लङ्कादिनिरक्षदेशस्पृष्टं भूपरिधिसूत्रं भूगोलस्तथैवोज्जयिन्याः कुमध्यत्वकल्पनेन पूर्वापरो यो भूमिगोले परिधिस्तत्सूत्रमार्गेणोज्जयिन्याः पूर्वापरौ तत्परिधेः समवृत्तानुकारित्वात्। एवं च लङ्कातो भूपरिधिवृत्ते तत्पूर्वापरवृत्तानुकारे चतुर्थांशान्तरे यमकोटिरोमकस्थानयोस्तत्पूर्वापरयोर्लङ्कोत्तरसूत्रस्थितोज्जयिनीतः पूर्वापरानुकारिभूगोलस्थपरिधिवृत्तं तत्तुल्यं लग्नं भवतीति लङ्कोज्जयिनीभ्यां स्वपरिधिवृत्तमार्गेण कुचतुर्थांशान्तरे पूर्वापरयोर्यमकोटिरोमके। यमकोटिरोमकाभ्यां पूर्वापरवृत्तानुकारं भूगोलपरिधिवृत्तं तल्लङ्काभूपरिधिवृत्तमेव भवतीति ताभ्यां पश्चिमपूर्वयोर्लङ्का नोज्जयिनी। तद्वृत्तस्योज्जयिनीस्थभूपरिधिभिन्नत्वादिति ॥४६॥

अथ दृष्टान्तबलेनोत्तरोपजीव्यां भूमिकामुपजातिकया द्रढयति—**तथेति**।

तथा दृष्टान्तरीत्या। एवकारो दृष्टान्तरीत्युत्सर्गनिवारणार्थकः। सर्वत्र भूगोलसंबन्धिप्रदेशेषु। हि यस्मात्कारणात्। यतो यस्मात्स्थानात्। यत्स्थानं प्राच्यां भवति। ततः पूर्वदिक्स्थानात्। अवधिभूतं स्थानं प्रतीच्यां न भवेत्। यत्स्थानाद्यत्स्थानं प्रतीच्यां तत्स्थानं पूर्वस्मिन् विलोमगणने न भवेदित्यप्युक्तम्। अर्थात् इष्टप्रदेशमध्यत्वे यत्पूर्वापरानुकारं भूवृत्तं भूगोले। येषु प्रदेशेषु लग्नं ते प्रदेशा इष्टस्थानप्रदेशात्पूर्वापरसूत्रे पूर्वपश्चिमविभागेन यथायोग्यं पूर्वपश्चिमस्था ज्ञेयास्तेभ्य इष्टप्रदेशस्थानं तत्समवृत्तानुकारभूवृत्तेन संलग्नमतस्तेभ्य इष्टस्थानं पश्चिमपूर्वदिक्स्थं न भवेदिति सिद्धार्थः। नन्वयं न नियमः। यस्मान्निरक्षदेशविशेषाद्यः कश्चन निरक्षदेशः पूर्वस्मिन्नपरत्र वा तस्मादवश्यं सोऽपरत्र पूर्वस्मिन्वा भवत्येव। यावन्निरक्षदेशानामेकवृत्तत्वादित्यतस्तदतिरिक्तस्थलेऽयं नियम इत्युपसंहरति—निरक्षदेशादिति। निरक्षदेशादन्यत्र साक्षदेशावधिविषये। यस्मात्कारणात्प्राचीप्रतीच्यौ विचित्रसंस्थे। विचित्रा, आश्चर्यजनिका संस्था ययोरेतादृशे भवतः। चकारो दक्षिणोत्तरयोगव्यवच्छेदार्थकस्तेन यद्देशाद्यत्स्थानं दक्षिणमुत्तरं वा तत्स्थानात्पूर्वस्थानमुत्तरदक्षिणमिति साक्षनिरक्षदेशसाधारणे। अत एवाऽऽश्चर्यास्पदम्। यद्देशाद्यत्स्थानं पूर्वापरयोस्तत्स्थानात्तत्स्थानं पश्चिमपूर्वयोरिति साधारणलोकप्रतीतिस्तु निरक्षपरिध्यनुसृतस्पष्टलघुपरिधिसंबन्धनेति ध्येयम्। तथा चोक्तरीत्या मेरोर्भूचतुर्थांशान्तरेण सर्वनिरक्षदेशेभ्य उत्तरतः सत्त्वात्तन्मध्य-

त्वकल्पनेन यद्भूपरिधिवृत्तं तत्सर्वतो निरक्षदेशाभिमुखत्वेन संभवत्येवं याम्योत्तरवृत्तं च तच्चतुर्थांशान्तरेणेष्टं संभवतीति मेरौ गोलयुक्त्या दिशामसिद्धिः । अत एव मेरुस्थानां पूर्वदिक्संबन्धेन भ्रमतः सूर्यस्य दर्शनाद्यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वेत्यादिता प्राच्यपरज्ञाना-संभवः । न च तन्निशादिनावसाने यत्र तस्योदयास्तौ तयोः प्राच्यपरत्वमिति वाच्यम् । रविविषुवद्वृत्तसंबन्धस्य दैवप्रमाणेन प्रत्यहं स्थानान्तरतया सर्वावयवावच्छेदेन संभवात्प्राक्-परयोरननुगमापत्तेर्मेरौ रविर्भ्रमति भूजगतः समन्तादाशा न काचिदपि तत्र विचारणीया । पूर्वं हि दर्शनमुपैति स चेह पूर्वा तत्रास्ततो भवति सैव कथं प्रतीचीति श्रीपत्युक्तदूषणाच्च । एतेन सविता प्रागञ्चतीति प्राचीपदवीवरणेनानिमिषाणां ब्रह्मसोमसूर्याद्यभिहितागमबलेन सिद्धपुरावस्थितेन जनखमध्य एव स्वयंभुवा सवितुः सर्वापेक्षया प्रागेव नक्षत्रचक्र आयोजित-त्वेन तत्रैव दर्शनयोग्यतावगमादस्मात्तदुपलक्षितस्थान एव तेषां प्राची । तस्माद्यमकोटि-निवासिनरक्षितिजेन मेरुसमवृत्तेन सह मेरुक्षितिजस्य यत्र संपातौ ते एव तेषां प्रागपरे । तौ च सिद्धपुरलङ्काखमध्ययोरेवेति तत्रैव देवपूर्वापरदिशाविति निगर्व इति परास्तम् । कल्पादौ लङ्काक्षितिजे सूर्यसंनिवेशादुक्तदिशा लङ्काक्षितिजस्यैव समवृत्तत्वेन विनिगमना-विरहात् सिद्धपुरस्थानां खमध्य एव प्राचीत्वापत्तेः । रोमकस्थानां च पश्चिमायाः पूर्वत्वा-पाताच्च । परंतु ग्रहगणितोपजीव्यमध्यरेखाया लङ्कादेशसंबन्धेनाभ्युपगमान्निरक्षदेशमौलि-भूतलङ्काक्षितिजस्यैव मेरौ समवृत्तत्वकल्पनात् । तथा चास्माकं रेखापरपूर्वापरस्थानं तदेव मेरुस्थानम् । लङ्कासिद्धपुरयोर्विषुवत्खमध्यस्थानं मेरुक्षितिजे दक्षिणोत्तरस्थानमिति मेरौ दिशाकल्पनस्य युक्तियुक्तत्वेन भद्राख्या चोत्तरान् कुरून्यातेति पूर्वं सम्यगुक्तम् । अत एव— पूर्वशैलात्तु तच्छैलं सीता यात्यन्तरिक्षगा । ततश्च पूर्ववर्षेण भद्राश्वेनैति साऽर्णवम् । तथैवालकनन्दा च दक्षिणेनैत्य भारतम् । प्रयाति सागरं भित्वा समभेदा महामुने । स चक्षुः पश्चिमगिरीनतीत्य सकलांस्ततः । पश्चिमे केतुमालाख्यं वर्षं गत्वैति सार्णवम् । भद्रा तथोत्तरगिरिमुत्तराः कुरवस्तथा । अतो(ती)त्योत्तरमम्भोधौ समभ्येति महामते । इति व्याससिद्धान्तप्रतिपादितं मेरुदिशास्वरूपतत्त्वं भागवतपुराणसंमतमविरुद्धम् । यत्रोदितोऽर्क इत्यादिपूर्वापरव्यञ्जकोक्तिस्तु देशसंबन्धेन यत्र लम्बजलवाजिनोनका इत्यादिनाऽऽचार्यैरेव षष्ट्यक्षांशविषयावधिविषयिणीत्युक्तेति न क्षतिरिति भावः ॥४७॥

केदारदत्तः—पृथ्वीगोल के चतुर्थ विभाग में उज्जयिनी की पूर्व दिशा में, यमकोटि-नामक नगर सही होता है तो यमकोटि नगर के पश्चिम में उज्जयिनी नगर की स्थिति समझनी चाहिए ठीक है । परन्तु गोलपरिभाषा से यह ठीक नहीं है ।

उज्जयिनी, लङ्का और कुरुक्षेत्र तथा भूमिष्ठगत ध्रुव विन्दु को एक याम्योत्तर वृत्त गत स्थिति के होने से जिसे रेखादेश भी कहते हैं । (और जो आजकल के भूगोल शास्त्रियों ने इंगलैण्ड के प्रसिद्ध नगर ग्रीन्विच को ०डिग्री रेखांश देश से रेखा देश भी कहा है ।) इस रेखा देशीय किसी नगर से यमकोटि तो पूर्व में ही कही जावेगी तो यमकोटि के खमध्य

से उज्जयिनी का पूर्वापर वृत्त, यमकोटि के याम्योत्तर वृत्त पर लम्ब रूप नहीं होने से यमकोटि के पश्चिम में उज्जयिनी की स्थिति कभी भी नहीं कही जावेगी क्योंकि उज्जयिनी और यमकोटि के अक्षांशों में एकता नहीं है जो गोल दर्शन से स्पष्ट है ।

वस्तुत: लङ्का द्वीप का अन्तिम भूभाग का अक्षांश लगभग ४।२०′ के तुल्य आधुनिक भूगोल की स्थिति से है । संभव है वर्त्तमान दृश्य लङ्का द्वीप का अधोभाग समुद्र गत हो गया हो, जिसकी तत्कालीन राजधानी लङ्का नामक नगर में रही होगी ?

तथा उक्त प्रकार के लङ्का खमध्य से ९० अंश की दूरी पर PAPUA, NEW GUINEA से १६° आगे एक द्वीप है जिसकी राजधानी के नगर का नाम प्राक्काल में यमकोटि रहा होगा ।

इस प्रकार रेखा देशीय जिस विन्दु से यमकोटि नगर पूर्व में होता है, तो रेखादेशीय वह नगर यमकोटि से पश्चिम में नहीं कहा जावेगा । साक्ष्य देशों में प्राची और प्रतीची (पूर्व पश्चिम) दिग्ज्ञान में पूर्वापर नगरियों की स्थिति अति विचित्र ही होती है ।
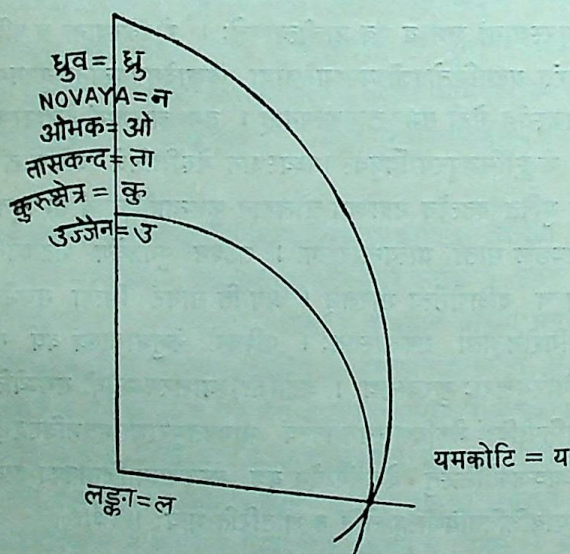
लङ्का का याम्योत्तर वृत्त ल उ कु ध्रु, लङ्का के पूर्वापर वृत्त ल य पर लम्ब वृत्त हैं अत एव, ल विन्दु से ठीक पूर्व में य विन्दु है और य विन्दु के पश्चिम में ल विन्दु भी ठीक है ।

किन्तु उ विन्दु के पूर्व दिशा में य विन्दु तो है किन्तु य विन्दु के ठीक पश्चिम में उ विन्दु नहीं है । क्योंकि ध्रु य रेखा ही ल य रेखा पर लम्ब रूप ९०° का कोण बना रही है क्योंकि उ य रेखा से ल य रेखा पर ९०° का कोण नहीं बन रहा है, रेखागणित से स्पष्ट है ॥४६-४७॥

इदानीं चक्रभ्रमणव्यवस्थामाह—

निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तरौ ।
तदाश्रितं खे जलयन्त्रवत्तथा भ्रमद्भचक्रं निजमस्तकोपरि ॥४८॥
उदग्दिशं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम् ।
उदग्ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेस्तदन्तरे योजनजाः पलांशकाः ॥४९॥
योजनसंख्या भांशैर्गुणिता स्वपरिधिहृता भवन्त्यंशाः ।
भूमौ कक्षायां वा भागेभ्यो योजनानि च व्यस्तम् ॥५०॥

वा० भा०—उदग्दिशं याति यथा यथा नर इत्यनेनापसारयोजनैरनुपातः सूचितः । यदि भूपरिधियोजनैश्चक्रांशा लभ्यन्ते तदाऽपसारयोजनैः किमिति । फलमक्षांशाः । यदि चक्रांशमितपरिधिना भूपरिधिर्लभ्यते तदाक्षांशैः किमिति । फलं निरक्षदेशस्वदेशयोरन्तरयोजनानि स्युः । शेषं स्पष्टम् । एवं निरक्षदेशात्क्षितिचतुर्थांशे किल मेरुः । तत्र नवतिः ९० पलांशाः ॥४८।४९॥५०॥

मरीचिः—अथोपस्थितिनिरक्षदेशानां स्वरूपज्ञानं वंशस्थेनाऽऽह-**निरक्षदेश इति** ।
यतो यस्मिन्भूप्रदेशे दक्षिणोत्तरौ ध्रुवौ नक्षत्रगोलाधिष्ठितौ क्षितिमण्डलोपगौ । स्वाधिष्ठितभूप्रदेशे भूगर्भावच्छेदेन यद्भूगोलार्धं दृश्यमदृश्यं तत्संधिस्थं भूपरिधिवृत्तं क्षितिमण्डलम् । तत्समसूत्रेण भगोले तदाकारवृत्तमुपचारादुच्यते । तत्र विद्यमानौ यद्देशे भूगर्भक्षितिजासक्तौ भगोलस्थौ ध्रुवौ भवतस्तस्मिन्निरक्षेदेशे यदाश्रितं दक्षिणोत्तरध्रुवाभ्यां स्थिरीभूतमित्यर्थः । खे आकाशे । जलयन्त्रवत्, उद्यानादिजलसेकार्थं कूपोदकोद्धारहेतुकं प्रसिद्धं काष्ठघटितं मृद्भाण्डपङ्क्तिसहितं तद्यथा भ्रमति तद्वत् । तथाऽनवरतम् । भ्रमद्भचक्रं पश्चिमाभिमुखं भ्रमद्भाधिष्ठितगोले निजमस्तकोपरि । निजशब्देन क्षितिजासक्तध्रुवसंबन्धिदेशनिवासी । तस्य मूर्धोपरि स पश्यति । ध्रुवद्वयसमान्तरितभूगोलमध्यवृत्तं खपूर्वापरवृत्ताकारेण भवतीत्यर्थः । तथा च ध्रुवयोरक्षस्थानापन्नत्वेन तदौच्च्येऽप्यक्षत्वोपचाराद्यद्देशावच्छिन्नभूगर्भक्षितिजाद्ध्रुवौच्च्याभावस्तद्देशो निरक्षपदवाच्यः । एवं यद्देशे भगोलध्रुवद्वयसमान्तरितमध्यवृत्तं पूर्वापरानुकारं भवति तद्देशो निरक्षपदवाच्य इति लक्षणद्वयेन निरक्षदेशत्वे (त्वं) लङ्कापूर्वापरसूत्रस्थदेशेषु प्रसिद्धमिति भावः ॥४८॥

अक्ष निरक्षदेशातिरिक्तदेशेषु साक्षत्वं वंशस्थेन प्रतिपादयति—**उदगिति** । नरो निरक्षदेशाद्यथा यथा यथोत्तरमित्यर्थः । उत्तरदिशं गच्छति तथा तथा । उत्तरोत्तरम् । खात् । स्वाधिष्ठितभूप्रदेशसमसूत्रेणोर्ध्वस्थभगोलप्रदेशरूपाकाशस्थानादित्यर्थ. । ऋक्षमण्डलं भगोलध्रुवद्वयसमान्तरितमध्यवृत्तं नतं नम्रं दक्षिणदिशि पश्यति । स्वमस्तकोर्ध्वभागमध्यत्वेन भाधिष्ठितगोलभ्रमणं पश्यतीत्यर्थः । नन्वेवं तद्देशस्य निरक्षदेशभिन्नत्वेऽपि साक्षत्वं कथमित्यत आह—**उदग्ध्रुवमिति** । क्षितेः खदेशावच्छिन्नभूगर्भक्षितिजवृत्तोत्तरदिक्स्थाना-

दित्त्वर्थाः । उत्तरध्रुवम् । उन्नतमुच्चस्थानस्थितं पश्यति । यथा निरक्षदेशाद्दक्षिणां दिशं गच्छति तथा दक्षिणध्रुवं क्षितिजादुन्नतं पश्यति । उत्तरतो भचक्रं नतं पश्यतीति चार्थः । तथा च ध्रुवस्य क्षितिजवृत्तलग्नताया अभावान्निरक्षदेशभिन्नत्वेन साक्षत्वम् ननु ध्रुवस्याक्षस्थानापन्नत्वेन प्रत्युत निरक्षदेशस्य साक्षत्वं तदितरदेशस्यान्यतरध्रुवादर्शनात्तदितरध्रुवदर्शनेऽपि निरक्षत्वौचित्यात् । ध्रुवौन्नत्या साक्षत्वप्रतिपादनमसंगतमत आह—तदन्तरे इति । तयोर्भगोलयाम्योत्तरवृत्तस्थयोर्ध्रुवद्वयसमान्तरितभगोलमध्यवृत्तप्रदेशस्वमूर्धोपलक्षिताकाशप्रदेशयोर्ध्रुवक्षितिजवृत्तप्रदेशयोर्वा । अन्तरे मध्ये । याम्योत्तरवृत्ते । पलांशकाः सन्ति । तथा च पलांशानामक्षांशसंज्ञत्वात्तेषां च तदुन्नतिरूपत्वात्साक्षत्वं युक्तमुपपादितमिति भावः । ननु तदुन्नतिदर्शने तदंशज्ञानमिति दूरस्थितभगोले कथमतस्तद्विशेषणेनोत्तरमाह—योजनजा इति । निरक्षदेशात्स्वदेशो याम्योत्तरान्तरेण यैर्योजनैर्भवति तेभ्यो योजनेभ्य उत्पन्ना अक्षांशा इत्यर्थः । तथा चोदग्दिशामित्यनेन यथा निरक्षदेशात्स्वदेशस्यान्तर तथा ध्रुवोन्नतिदर्शनमिति प्रतिपादनान्निरक्षस्वदेशान्तरयोजनोत्पन्ना एव अक्षांशा इति योजनज्ञाने तज्ज्ञानमशक्यं नेति भावः ॥४९॥

ननु योजनज्ञाने तदंशज्ञानं कथमित्यतो योजनांशौ परस्परसंबन्धेन गीत्याऽऽह—**योजनेति** ।

स्वदेशस्वनिरक्षदेशयोरन्तरस्थितयोजनसंख्या षष्टचधिकशतत्रयेण गुणिता स्वपदेन भूमियोजनानां भूमावेव ज्ञानात् तस्याः प्रागुक्तः परिधिस्तेन भक्ता भूमौ योजनसंबन्धिभूपरिधिप्रदेशैकदेशेंऽशा योजनसंबन्धेन भवन्ति । ननु भूमौ योजनानां ज्ञानादुत्पन्नांशा भूमावेवेति कथं तेषामक्षांशत्वं तस्योक्तदिशाऽऽकाशस्थत्वनियमादित्यत आह—कक्षायामिति । भूमिसंबन्धांशाः कक्षायां भाधिष्ठितगोले भूम्यधिप्रदेशद्वयसंबन्धिस्वगोलानुसृतसूत्राभ्यां यद्भगोले ज्ञातं स्थानद्वयं तदन्तराले याम्योत्तरान्तररूपे । अंशाः । वा विकल्पे । उभयत्र भवन्तीत्यर्थः । कक्षाः सर्वा अपि दिविसदामिति मध्यमाधिकारोक्तरीत्या भूवृत्तेंऽशानां कक्षानां कक्षावृत्तांशसंख्यामितत्वकल्पनाल्लघुदशांशमानेनोभयत्र तुल्यांशसंख्यया संभवाद्दशांशत्वमविरुद्धमिति भावः । न च पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यादित्यत्र पूर्वोक्त एतदक्षांशज्ञानावश्यकतयाऽत्र च परिध्यावश्यकतयाऽन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । पूर्व यन्त्रादिवेधेन विषुवन्मध्याह्ने सूर्यनतांशत्वेनाक्षांशाङ्गीकारात् । एतेन वापदोपादानात्स्वपरिधीत्यत्र भूमौ चेद्योजनानि गृहीतानि तदा भूपरिधिः । भगोले चेद्योजनानि गृहीतानि तदा योजनात्मको भगोलपरिधिरिति व्यवस्थेति निरस्तम् । आकाशे योजनगणनासंभवाद्गौरवाच्च । प्रसङ्गादंशज्ञाने योजनमाह—भागेभ्य इति । अंशेभ्यो व्यस्तं योजनानि । भागसंख्या भूपरिधिगुणिता षष्टचधिकशतत्रयभक्ता योजनानि भवन्ति । त्रकारोऽनेन प्रकारेण । भूमाविव योजनज्ञानं न कक्षायामित्यर्थः । मतान्तरोक्तरीत्या कक्षायामपि योजनसंख्याज्ञानमित्यर्थको वा ॥५०॥

केदारदत्तः—अक्षांश रहित भूपृष्ठीय देशों में अर्थात् निरक्ष देशों में रहने वाले प्राणी उत्तर और दक्षिण ध्रुव को अपने क्षितिज में देखते हैं। क्योंकि निरक्ष देशीय भूपृष्ठ खमध्य से ९०° अंश की दूरी पर जो वृत्त बनेगा वह निरक्षदेशीय क्षितिज कहा जाता है। अथवा उसका दूसरा नाम ऊनमण्डल भी कहते हैं जो गोल परिभाषा से स्पष्ट है। इसलिये निरक्ष देशीय मानव, भ्रमणशील नक्षत्र चक्र को अपने मस्तक के ऊपर पश्चिमाऽभिमुख जल यन्त्र की तरह देखता है।

निरक्ष देश से जैसे जैसे उत्तर दिशा की ओर नर का अभियान जब होगा तो दक्षिण दिशाभिमुख नक्षत्र मण्डल नत दिखाई देता है।

इसलिये कि उत्तरध्रुवाभिमुख भूपृष्ठ देश जो निरक्ष खमध्य से उत्तर अक्षांशस्थ हैं अर्थात् स्वदेशीय खमध्य से निरक्ष देशीय खमध्य अक्षांश तुल्यान्तर से दक्षिण को नत हुआ है। ऐसी स्थिति में याम्योत्तर वृत्त में ध्रुव से अपने खमध्य तक उठा हुआ ध्रुव का उन्नतांश = लम्बांश, और खमध्य से निरक्षखमध्य तक अक्षांश तुल्य ध्रुव का नतांश होता है।

योजनात्मक अक्षांश से भूपरिधियोजन ज्ञान त्रैराशिक से किया जा रहा है। जैसे—

उपपत्तिः—यदि भूपरिधि योजन में अंशात्मक ३६०° उपलब्ध होते हैं तो निरक्ष व स्वखमध्य द्वयान्तर तुल्य अपसार योजन में उपलब्ध अंश = अक्षांश सिद्ध होते हैं।

$$\frac{\text{३६०}^\circ \times \text{अपसार योजन}}{\text{भूपरिधि योजन}} = \text{अक्षांश}$$

तथा अक्षांश और भूपरिधि योजन ज्ञान से

$$\frac{\text{भूपरिधि योजन} \times \text{अक्षांश}}{\text{३६०}} = \text{स्वनिरक्ष खमध्यों की योजनात्मक अन्तरित}$$

दूरी सिद्ध होती है ॥४८॥४९॥५०॥

अतस्तत्र ध्रुवर्क्षसंस्थानमाह—

सौम्यं ध्रुवं मेरुगताः खमध्ये याम्यं च दैत्या निजमस्तकोर्ध्वे।
सव्यापसव्यं भ्रमदृक्षचक्रं विलोकयन्ति क्षितिजप्रसक्तम् ॥५१॥

इदानीं भूपरिधिमानं प्राक्कथितमपि विशेषार्थमनुवदति स्म—

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धय-४९६७
स्तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवः सिद्धांशकेनाधिकाः १५८१ $\frac{१}{२४}$

पृष्ठक्षेत्रफलं तथा युगगुणत्रिंशच्छराष्टाद्रयो ७८५३०३४
भूमेः कन्दुकजालवत्कुपरिधिव्यासाहतेः प्रस्फुटम् ॥५२॥

वा० भा०—स्पष्टम् । कृते गोलबन्धे भगोलं परिभ्राम्येदं शिष्याय दर्शयेत् ॥५१॥

भूव्यासः कुभुजङ्गसायकभूमितानि योजनानि चतुर्विंशत्यंशयुतानि १५८१ $\frac{1}{24}$ । परिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धिमितानि ४९६७ । ब्रह्मोक्तभूव्यासस्य कथं त्वदुक्तादन्यः परिधिरिति चेदत्रवोच्यते । महद्युतादि व्यासार्धं प्रकल्प्य वृत्तशतांशादपि सूक्ष्मविभागस्य ज्योत्पत्तिविधिना ज्या साध्या । यत्संख्याकस्य विभागस्य ज्या तत्संख्यया सा गुणिता सती परिधिर्भवति । यतः शतांशादपि सूक्ष्मोंऽशो वृत्तो समः स्यात् । अतोऽयुतद्वयव्यासे २०००० द्विकाग्न्यष्टयमर्तुमितः ६२८३२ परिधिरार्यभटाद्यैरङ्गीकृतः । यत्पुनः श्रीधराचार्यब्रह्मगुप्तादिभिर्व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं परिधिः स्थूलोऽप्यङ्गीकृतः स सुखार्थम् । नहि ते न जानन्तीति । तथा भूपृष्ठक्षेत्रफलं योजनात्मकं युगगुणत्रिशच्छराष्टाद्रयः ७८५३०३४ । कथमिदं जातं तदाह । परिधिव्यासाहतेः प्रस्फुटम् ॥५२॥

मरीचिः—अथ परमाक्षांशविषयविशेषोक्तिव्याजेनोक्तप्रकार उपपत्त्यवगममुपजातिकयाऽऽह—**सौम्यमिति** । मेरुस्थान उत्तरध्रुवम् । खमध्ये । तद्दृश्याकाशमध्यप्रदेशे विलोकयन्ति । दैत्या दक्षिणं ध्रुवं खमध्ये विलोकयन्ति । चकाराद्वडवाग्निसंस्था इत्यर्थः । ननु खस्य मध्यं कथमवगम्यमत आह—निजमस्तकोर्ध्वेति । स्वसमसूत्रेणोपरि यदाऽऽकाशस्थानं भगोले तत्रेत्यर्थः । तस्माद्दृश्याकाशस्याभिमतस्तुल्यत्वेन तस्य खमध्यत्वं युक्तमिति भावः । उक्तमेव पुनर्द्रढयति—सव्यापसव्यमिति । ऋक्षचक्रम् । ध्रुवद्वयसमान्तरितभाधिष्ठितगोलमध्यवृत्तं भ्रमत् । पश्चिमाभिमुखमनवरतं भ्रममाणं क्षितिजप्रसक्तम् । तदवच्छिन्नभूगर्भक्षितिजवृत्तानुकारं मेरुवडवास्थाः पश्यन्ति । ननूर्ध्वाधःस्था अपि देवासुराः कथमेकरीत्या पश्यन्ति । अन्यथैकध्रुवस्य खमध्यस्थत्वेन द्वयोर्युगपद्दर्शना[प]त्तिरित्यत आह—सव्यापसव्यमिति । देवा भ्रमदृक्षचक्रं सव्यमार्गेण पूर्वादिदिक्क्रममार्गेण भ्रमतीति पश्यन्ति । असुरा अपसव्यमार्गेण पूर्वादिदिग्व्युत्क्रममार्गेण भ्रमतीति पश्यन्ति । वडवामेरुस्थानावधिलङ्कास्पृष्टसूत्रसम्बन्धिदेशानां पूर्वापरदिशोरेकत्वाल्लङ्कोभयतो दक्षिणोत्तरदिशोर्व्यस्तत्वाच्च । सव्यापसव्य भ्रमणं नानुपपन्नम् । तथा हि—मेरौ पूर्वादिदिशः क्रमेण यमकोटिलङ्कारोमकसिद्धपुरसंबन्धिनस्तथा वडवास्थानेऽपि यमकोटिसिद्धपुररोमकलङ्कासंबन्धिन इति भचक्रप्रवहवायुहेतुभ्रमणं सर्वदेशे पश्चिमाभिमुखम् । साधारणं मेरौ पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोत्तरदिक्क्रममार्गेण वडवास्थाने पूर्वोत्तरपश्चिमदक्षिणदिक्क्रममार्गेण भवतीति । एतेन भचक्रभ्रमणं देवदैत्ययोः सव्यापसव्यं नियतं कथं भवति । नहि तद्भ्रमानुरोधेन देवा दैत्याश्च तथा भ्रमन्ति यथा तदुपपत्तिरिति निरस्तम् । उक्तार्थे शङ्कानवकाशात् । तथा च न क्षतिः एवं च निरक्षदेशे क्षितिजवृत्तप्रसक्तौ ध्रुवौ तथा मेरुवडवास्थानयोः क्षितिजप्रसक्तं भचक्रं यथा च तत्र भचक्रं खमध्यस्थं तथाऽत्र क्रमेणोत्तरदक्षिणध्रुवयोः

खमध्यस्थत्वम् । तेन च खमध्यस्थ भूगर्भक्षितिजवृत्तपरिधिप्रदेशादभितो नवत्यंशान्तरितत्वान्नवत्यंशाः परमाक्षांशाः । तत्र निरक्षदेशान्मेरुवडवानलयोर्भूक्षितिजवृत्तपरिधिचतुर्थांशान्तरितत्वनिश्चयादन्यथोक्तानुपपत्तेर्भूपरिधिचतुर्थांशयोजनैर्नवत्यंशास्तद्दृष्टयोजनैः क इत्युनुपाते प्रमाणहरेण चतुर्मितेन च्छेदं लवं च परिवर्त्येत्यादिरीत्या फले गुणिते फलस्थाने भांशाः प्रमाणस्थाने भूपरिधिस्तावदिच्छाहतमाद्यहृत्स्यादिच्छाफलमिति त्रैराशिकोक्तप्रकारेण योजनसंख्येत्यादि प्रागुक्तमुपपन्नम् । भागेभ्यो योजनज्ञानं वैपरीत्येन भवेदेवेति किं चित्रमिति भावः ॥५१॥

अथ स्वपरिधीत्यनेनोपस्थितं प्रागुक्तभूपरिधिं संस्मरंस्तत्प्रसङ्गात्प्रागुक्तभूव्यासे विशेषं च वदन्भूगोलस्य स्पष्टफलं विशेषान्तरकथनोपजीव्यं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—**प्रोक्त इति ।**

ननु व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैः परिधिस्तु सूक्ष्म इत्यस्य व्यस्तरीत्या परिधिः ४९६७ खबाणसूर्यै १२५० र्हतः ६२०८७५० भनन्दाग्नि ३९२७ भक्तः फलं सावयवो भूव्यासः १५८१ । २ । २९ तत्कथमवयवो नोक्त इत्यत आह—सिद्धांशकेनेति । एकयोजनस्य चतुर्विंशत्यंशेनावयवेन युक्ता इत्यर्थः । तथा च भनन्दाग्निभक्ते शेषं १६३ तेन हरस्य भागे गृहीते फलं चतुर्विंशतिः सावयवा तत्र स्वल्पान्तरात्सुखार्थमवयवत्यागेन चतुर्विंशतिरेवोक्ता । भूमेर्भूगोलस्य । कुपरिधिव्यासाहतेः । भूपरिधिभूव्यासयोर्घातात् । प्रस्फुटं सूक्ष्मम् । पृष्ठक्षेत्रफलम् । तथा । समकोष्टमितिरूपम् । तन्मानं लाघवादाह—युगगुणत्रिशच्छराष्टाद्रय इति । ननु भूमिगते चतुरस्रादिक्षेत्रे समकोष्टमितिरूपं फलं प्रत्यक्षम् । गोले तथाभूतं सर्वतो वृत्तत्वेन कथं फलं संभवतीत्यतो दृष्टान्तद्वारेण विशदयति—कन्दुकजालवदिति । वस्त्रखण्डतूलादीनां गोलाकारो रज्वादिनिबद्धो बालैः क्रीडार्थं कन्दुकः क्रियते । तदुपरि समन्ताद्यज्जालं तस्य चतुष्कोणाः कोष्टका दृश्यन्ते । तद्वद्गोलोपरि समन्ताच्चतुष्कोणकोष्टकाः समाः क्वचिच्च त्रिभुजक्षेत्राकाराः कोष्टका दृश्यन्त इत्यर्थः । तथा च गोलोपरि पूर्वापरपरिधिमार्गे योजनान्तरेण याम्योत्तरानुकारेण परिधयः परिध्यर्धमितास्तेन गोले परिधिमिता वप्रा दक्षिणोत्तरा भवन्ति । अथ च पूर्वा[पर]परिध्योर्याम्योत्तरयोर्व्यासयोजनान्तरेण लघुवृत्तानि यथोत्तरं स्पष्टपरिधिरूपाणि निरेकव्यासतुल्यानि । तेन गोलेन दक्षिणोत्तरमार्गे पूर्वापराणि वप्रा व्याप्रिता अतः परिधिव्यासाहतितुल्याः कोष्ठा उपपन्नाः । न च दक्षिणोतरमार्गे लघुपानि परिधियोजनान्तरेण निरेकपरिध्यर्धमितान्यतः परिध्यर्धतुल्याः पूर्वापरा वप्राण(इ)ति परिधिवर्गार्धतुल्याः कोष्टा गोलोपरि सर्वतः परिधिदर्शनाद्व्यासादर्शनाच्चोपपान्नाः कथं व्यासपरिधिघातुतुल्या इति वाच्यम् । याम्योत्तरवृत्तसंपातावधिगोलान्तर्व्यासस्य प्रत्यक्षत्वात्फलज्ञानार्थं व्यासपरिध्योरावश्यकत्वात् । व्यासासंबन्धेन फलस्व पूर्वैरुपेक्षितत्वाच्चेति भावः ॥५२॥

केदारदत्तः—मेरु पृष्ठस्थ मानव उत्तर ध्रुव को अपने खमध्य में एवं कुमेरुपृष्ठगत मानव दक्षिण ध्रुव को राक्षस गण अपने खमध्य में देखते हैं ।

भूगर्भविन्दु केन्द्र से ध्रुवाःभिमुख सूत्र का नाम ध्रुव सूत्र होता हैं। ध्रुव सूत्र के अन्त में पृथ्वी में आकाशीय ध्रुव का स्थान होने से उस विन्दु पर, ध्रुव तारा शिर के ठीक ऊपर होने से भूनिष्ठ उस विन्दु का नाम ध्रुव स्थान कहा जाता है क्योंकि वहाँ पर उत्तर या दक्षिण ध्रुवगत सूत्र को आकाश में वर्धमान करने से उत्तर ध्रुव स्थान के खमध्य में उत्तर ध्रुव एवं दक्षिण ध्रुव को तत्रस्थ जन समाज शिर के ऊपर ध्रुव को देखता है।

अतएव उत्तर ध्रुवस्थ दृष्टा को दक्षिण ध्रुवाभिमुखीय दृष्टि एवं दक्षिण ध्रुवस्थ मानव की उत्तर ध्रुवाभिमुखीय दृष्टि वशेन नक्षत्र मण्डल दाहिने और बायें भ्रमणशील दृष्टिपथ में आते हैं देखें भी जाते हैं। जो प्रत्यक्ष सिद्ध है।

योजन माप में पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन है और पृथ्वी का व्यास १५८१ $\frac{१}{२४}$ योजन कहा गया है। पृथ्वी का पृष्ठफल ७८५३०३४ जो जाल से ढके हुये किसी फुटबौल के पृष्ठ फल की तरह परिधि गुणित व्यास के तुल्य होता है।

उपपत्तिः—प्राचीन आचार्यों ने किसी भी वृत्त की परिधि के ३६० अंशों में अर्थात् ३६० × ६० = २१६०० कलाओं में व्यास का मान ६८७६ कला माना है। अतः

त्रैराशिक गणित से १ कला व्यास परिधि का मान

$$= \frac{२१६०० \times १}{६८७६} \text{ होता है।}$$

हर भाज्य को किसी बड़े अंक से गुणा भाग अर्थात् १० हजार से देने पर एक स्वरूप अविकृत होने से १ कलागत परिधि का मान

$$= \frac{२१६००० \times १ \times १००००}{६८७६ \times १००००} = \frac{१८०० \times १२५०}{५७३ \times १२५०}$$

$$= \frac{२२५००००}{५७३ \times १२५०} = \frac{३९२७ \times १}{१२५०} \text{ इस प्रकार}$$

$$\text{इष्ट व्यास में परिधि का मान} = \frac{३९२७ \times \text{इष्ट व्यास}}{१२५०} \text{ सिद्ध होता है।}$$

अथवा स्वरूपान्तर से इष्ट व्यास $\times \left(३\frac{१७७}{१२५०}\right) = \left(३ + \frac{१}{७}\right) \times$ इष्ट व्यास स्वल्पान्तर से परिधि मान सिद्ध होता है।

आचार्य का भूव्यास का मान और भूव्यासादि ज्ञान गणित—

भास्कराचार्य ने अपनी अंकगणित की लीलावती नाम की पोथी के (१ अंगुल = ८ यवोदर, २४ अंगुल = १ हाथ, ४ हाथ = १ दण्ड, और २००० दण्ड = १ क्रोश तथा ४ क्रोश = १ योजन,) परिभाषा प्रकरण में एक स्थान से अन्यस्थानान्तर को मापने का मापदण्ड बताया है।

इस प्रकार १ क्रोश = २००० दण्ड = ८००० हाथ की दूरी को एक क्रोश कहा गया है।

वर्त्तमान में दो हाथ = १ गज = ३ फीट मान से ८००० हाथ = ४००० गज = १२००० फीट = का एक योजन होता है। १७६० गज का १ मील होने से $\frac{१२०००}{१७६०}$ $= \frac{१२००}{१७६०} = ६\frac{६}{७}$ मील = १ योजन कहा जाना चाहिए। स्वल्पान्तरित गणित से ७ मील = १ योजन भी कह सकते हैं।

अतः उक्त $१५८१\frac{१}{२४}$ योजन $= १५८१\frac{१}{२४} \times ७ = ११०६७\frac{७}{२४}$ मील में पृथ्वी की निरक्षदेशीय भूपरिधि का मान सिद्ध होता हैं।

आचार्य ने भू व्यास का मान $१५८१\frac{१}{२४}$ योजन की कल्पना अंगुल, हाथ, आदि कल्पना के आधार से स्वीकार की है। क्वचित् ग्रन्थों में योजनों का मीलों में परिवर्त्तन करने से ५ मील = १ एक योजन भी सही हो रहा है।

अतः $१५८१\frac{१}{२४} \times ५ = ७९०५\frac{५}{२४}$ मीलों में भू परिधि मान ठीक उतरता है।

उक्त त्रैराशिक से $\frac{\text{व्यास} \times ३९२७}{१२५०}$ =सूक्ष्म परिधि तथा, $\frac{\text{व्यास} \times २२}{७}$ = उपरोक्त स्थूल परिधि मान स्पष्ट होता है ॥५१-५२॥

लल्लोक्तस्य नगशिलीमुखबाणभुजंगमेत्याभूपृष्ठफलस्य दूषणमाह—

दुष्टं कन्दुकपृष्ठजालवदिलागोले फलं जल्पितं
लल्लेनास्य शतांशकोऽपि न भवेद्यस्मात्फलं वास्तवम् ।
तत्प्रत्यक्षविरुद्धमुद्धतमिदं नैवास्तु वा वस्तु वा
हे प्रौढा गणका विचारयत तन्मध्यस्थबुद्ध्या भृशम् ॥५३॥

वा० भा०—यल्लल्लोक्तं भूपृष्ठफलं तद्दुष्टम्। यतस्तदुक्तफलस्य शतांशकोऽपि पारमार्थिकं फलं न भवति। अत्यन्तं दुष्टमित्यर्थः। कुतो यतस्तत्प्रत्यक्षविरुद्धम्। प्रत्यक्षबाधो हि महादूषणम्। अथाऽऽत्मन औद्धत्याशङ्कां परिहरन्नाह—इदं मदुक्तं नैवोद्धतं किंतु वस्तु परमार्थः। अथवा किं शपथपरिहारेण। उद्धतमस्तु वा वस्त्वस्तु वा। हे प्रौढा गणका मध्यस्थबुद्ध्या विचारयत। भृशमत्यर्थम् ॥५३॥

मरीचिः—ननु परिधिकथने विशेषावगमार्थं व्यासकथनं प्रसङ्गात्तद्युक्तम्। परन्तु

तत्प्रसङ्गाद्भूपृष्ठफलकथनमनुचितम् । तद्योजनाभावादन्यथा भूवृत्तफलभूगोलान्तर्घनफलयोरुक्तत्वापत्तेरित्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—**दुष्टमिति** ।

लल्लेन । इलागोले पृथ्वीगोले कन्दुकपृष्ठजालवद्यत्फलं स्वरचितगोलग्रन्थे नगशिलीमुखबाणभुजंगमज्वलनवह्निरसेषुगजाश्विनः । कुवलयस्य बहिः परियोजनान्यथ जगुः खलु कन्दुकजालवदित्यनेन जल्पितमुक्तं तद्दुष्टम् । असदित्यर्थः । कुत इत्यत आह—प्रत्यक्षविरुद्धमिति । प्रत्यक्षेण बाधितमित्यर्थः । अत्र हेतुमाह—अस्येति । यस्मात्कारणादस्य लल्लोक्तभूगोलपृष्ठफलस्य शतांशो वास्तवं तत्त्वभूतं फलं भूपृष्ठफलं न भवेत् । अपिशब्दाच्छतांशस्य फलत्वासिद्धौ यथास्थितस्य सुतरां तत्त्वासिद्धिरित्यर्थः । वास्तवं फलं शतगुणितं फलत्वेनोक्तं तदपि समो यतः स्यात्परिधेः शतांश इत्युक्तरीत्या तत्समीचीनमभ्युपेयमिति भावः । ननु तदुक्तफलस्य वस्तुभूतत्वेन त्वदुक्तदूषणं स्वप्रागल्भ्यद्योतकमसंलग्नमेवेत्यत आह—उत्प(द्ध)तमिति । इदं त्वदुक्तं तद्दुष्टमिति मदुक्तमित्यर्थः । उद्धतमसंलग्नं न यदसदित्युक्तं तत्संगतमेवेत्यर्थः । एवकाराद्दोषदृढता तदनुद्धाररूपा सूचिता । ननु दुष्टं जल्पितमिति पदाभ्यामौद्धत्यं तव सुव्यक्तं नेयं प्रामाणिकरीतिरित्यत आह—अस्त्विति । वा पक्षान्तरे । मदुक्तमुद्धतमस्तु । तथा च मदुक्तेरसंगतत्वे त्वौद्धत्यमुचितम् । मदुक्तेर्यथार्थत्वे तादृशोक्तिः स्वस्य पदार्थतत्त्वक्षोददक्षत्वसूचिकेति भावः । ननु वास्तवफलस्यानिर्णयादुक्तदूषणं यत्किंचिदित्यत आह—वस्त्विति । हे प्रौढाः सदसद्विवेचनदक्षा गणका गणितत्वपारंगमाः । यूयं । तत् । लल्लोक्तभूपृष्ठफलं मध्यस्थबुद्धया पक्षपातराहित्येन यथार्थतत्त्वविचारात्मकप्रज्ञया । भृशमिति सूक्ष्मविचारेण । वस्तुभूतं वाकारादवस्तुभूतमिति विचारयत । विचारविषयं कुरुत । तथा च मदुक्तभूपृष्ठफलस्य परिधिव्यासाहतिरूपत्वाद्वस्तुभूतत्वेन लल्लोक्तस्यैतल्लक्षणत्वेनावस्तुभूतत्वान्मदुक्तं दूषणं युक्तमेवेति भावः । एतेन लल्लोक्तभूगोलफलनिरासार्थं मया भूगोलफलमुक्तमिति भूवृत्तफलभूगोलान्तर्घनफलयोरप्रयोजनादनुक्तिरिति तात्पर्यम् ॥५३॥

केदारदत्तः—श्री लल्लाचार्य ने भी अपने दीवृद्धिद तन्त्र ग्रन्थ में भूपृष्ठ फल गणित का साधन किया है जो कदापि समीचीन नहीं है । लल्लाचार्य के भूपृष्ठफल साधन की महान् स्थूलता पर आचार्य ने लल्लाचार्य के लिये कटु शब्द 'जल्पितम्' तक का प्रयोग करते हुये कहा है कि लल्लाचार्य का भूपृष्ठ फल का शतांश भी सही नहीं है । गणित की प्रत्यक्षता ही स्वतः प्रमाण है, आचार्य पुनः नम्रता से भविष्य के खगोल गणितज्ञों से निवेदन कर रहा है कि मध्यस्थ बुद्धि से आप लोग विचार करेंगे ही कि सही गणित क्या है ॥५३॥

ग्रन्थ विस्तार भय से इस विषय का और अधिक व्याख्यान अलम् होगा ।

अथ सद्युक्तिः—

यत्परिध्यर्धविष्कम्भं वृत्तं कृत्तं किलांशुकम् ।
तेनार्धश्छाद्यते गोलः किंचिद्वस्त्रेऽवशिष्यते ॥५४॥

गोलक्षेत्रफलात्तस्माद्वस्त्रक्षेत्रफलं यतः ।
सार्धद्विगुणितासन्नं तावदेवापरे दले ॥५५॥
एवं पञ्चगुणात्क्षेत्रफलात्पृष्ठफलं खलु ।
नाधिकं जायते तेन परिधिघ्नं कुतः कृतम् ॥५६॥
वृत्तक्षेत्रफलं यस्मात्पारिधिघ्नं न युक्तिमत् ।
दुष्टत्वाद्गणितस्यास्य दुष्टं भूपृष्ठजं फलम् ॥५७॥

वा० भा०—गोलपरिध्यर्धप्रमाणो यथा व्यासो भवति तथा वस्त्रं वृत्तं कृत्वा तेन वस्त्रेण गोलोपरिन्यस्तेन गोलार्धं प्रच्छाद्यते । वस्त्रपरिधेः संकोचात्किंचिद्वस्त्रेऽवशेषं भवति । एवं सति गोलव्यासवृत्तक्षेत्रफलाद्वस्त्रवृत्तक्षेत्रफलं सार्धाद्विगुणितासन्नं भवति । तावदेवापरे किल गोलार्धे । एवं वृत्तक्षेत्रफलात्पञ्चगुणादधिकं पृष्ठफलं कथंचिदपि न भवति । किंतु न्यूनमेव स्यात् । तर्हि तेन लल्लेन ।

वृत्तफलं परिधिघ्नं समन्ततो भवति गोलपृष्ठफलम् ।

इति स्वगणिते कथं परिधिघ्नं कृतम् । किंतु वृत्तफलं चतुर्घ्नमेव पृष्ठफलं भवति । अस्य लल्लोक्तस्य गणितस्य दुष्टत्वाद्भूपृष्ठफलमपि दुष्टमित्यर्थः ।

अथ बालावबोधार्थे गोलस्योपरि दर्शयेत् । भूगोलं मृन्मयं दारुमयं वा कृत्वा तं चक्रकलापरिधिं प्रकल्प्य २१६०० तस्य मस्तके बिन्दुं कृत्वा तस्माद्बिन्दोर्गोलषण्णवतिभागेन शरद्विदस्रसंख्येन २२५ धनूरूपेणैव वृत्तरेखामुत्पादयेत् । पुनस्तस्मादेव बिन्दोस्तेनैव द्विगुणसूत्रेणान्यां त्रिगुणेनान्यामेवं चतुर्विंशतिगुणं यावच्चतुर्विंशतिर्वृत्तानि भवन्ति । एषां वृत्तानां शरनेत्रबाहव २२५ इत्यादीनि ज्यार्धानि स्युः । तेभ्योऽनुपाताद्वृत्तप्रमाणानि । तत्र तावदन्त्यवृत्तस्य मानं चक्रकलाः २१६०० । तस्य व्यासार्धं त्रिज्या ३४३८ । ज्यार्धानि चक्रकलागुणानि त्रिज्याभक्तानि वृत्तमानानि जायन्ते । द्वयोर्द्वयोर्वृत्तयोर्मध्य एकैकं वलयाकारं क्षेत्रम् । तानि चतुर्विंशतिः । बहुज्यापक्षे बहूनि स्युः । तत्र महदधोवृत्तं भूमिमुपरितनं लघु मुखं शरद्विदस्रमितं लम्बं प्रकल्प्य लम्बगुणं कुमुखयोगार्धमित्येवं पृथक्पृथक् फलानि । तेषां फलानां योगो गोलार्धपृष्ठफलम् । तद्द्विगुणं सकलगोलपृष्ठफलम् । तद्व्यासपरिधिघाततुल्यमेव स्यात् ॥५४॥५५॥५६॥५७॥

मरीचिः—ननु त्वन्मते यथा वृत्तफलं परिधिव्यासाहतिचतुर्भागरूपं चतुर्गुणं परिधिव्यासाहतिरूपगोलपृष्ठफलं भवति । वृत्तक्षेत्रे परिधिगुणितव्यासपादः फलं तत्क्षुण्णं वेदैरुपरि परितः कन्दुकस्येव जालमिति यद्युक्तेस्तथा लल्लमते वृत्तफलपरिगुणं गोलपृष्ठफलं भवति । वृत्तफलं परिधिघ्नं समन्ततो भवति । गोलपृष्ठफलमिति लल्लाद्युक्तेः । तथा हि । नभःशराभ्रक्षितयोऽस्य विस्तृतिरिति वद्युक्तो भूव्यासः पञ्चाशदधिकसहस्रं १०५० व्यासा-

कृतिघातोऽश्लै(ऽश्वै)र्भक्तः सूक्ष्मो भवेत्परिधिरिति लघ्वार्यभटोक्त्याऽस्मात्स्व(ख)खास(म)रा योजनवेष्टनं भुव इति तदुक्तो भूपरिधिस्त्रयस्त्रिंशच्छतं ३३०० एतस्य स्थूलत्वेन व्यवहारोपयोगित्वेनाङ्गीकारात्सूक्ष्मफलज्ञानार्थं त्वदुक्तसूक्ष्मप्रकाराङ्गीकारेण तत्पक्षे परिधिः सूक्ष्मः किंचिन्न्यूनत्र्यंशाधिकैकोनखामराः ३२ । ८८ । ४० । ४८ । व्यास १०५० गुणित ३४६३६१४ चतुर्भक्ता भूवृत्तपलं सार्धरामाभ्रनन्दशररसनागमितं ८६५९०३ । ३० सूक्ष्मपरिधिना ३१९८४० । ४८ । ४८ गुणितं जातं भूगोलपृष्ठफलं नगशरशरगजगुणरामरसशर नागयमामतं किंचिदधिकत्र्यंशावयवयुतम् २२ । ४८ । तत्रावयवस्यार्धन्यूनत्वेनानिबन्धनसंप्रदायसिद्धम् । अन्यथा लल्लोक्तभूपृष्ठफलानुपपत्तिः । तथा च गोलपृष्ठे परिधेरेव समताप्रत्यक्षत्वेन तदभिप्रायेण दक्षिणोत्तरं पूर्वापरयोश्चोपपत्त्या वृत्तफलस्य परिधिगुणितस्य पृष्ठफलत्वात्प्रत्युत चतुर्गुणितवृत्तफलस्य पृठफलत्वानुपपत्तेः कथं लल्लोक्तभूपृष्ठफलमयुक्तमित्यतोऽनुष्टुभां त्रयेण परिधिगुणितवृत्तफलस्य गोलपृष्ठफलत्वं खण्डयति—**यदिति** ।

यस्य गोलस्य परिध्यर्धं तद्विष्कम्मो व्यासो यस्य तद्वृत्तं गोलपरिध्यर्धमितव्याससंबन्धिवृत्तम् : अंशुकम् । वस्त्रम् । कृत्तं छिन्नम् । तद्वृत्तप्रमाणेन छिन्नवस्त्रजनितवस्त्रमण्डलमित्यर्थः । तेन वृत्तवस्त्रेण गोलोऽर्धगृहीतपरिध्यर्धसंबन्धिगोलस्यार्धशकलं छाद्यते । आच्छाद्यते । किलेत्यतेन गोलस्थवृत्तपरिधिव्यासान्तरितभागयोर्गोपृष्ठे परिध्यर्धतुल्यमेवान्तरमभितं इति गोलार्धच्छादनं परिध्यर्धमितव्यासवृत्तमितवस्त्रवृत्तेन भवति । न न्यूनाधिकाभ्यां ताभ्यां गोलार्धादूला(ना)धिकगोलशलच्छादनसंभवादिति सूचितम् । अनयोक्त्या वस्त्रवृत्तफलमेव गोलार्धे पृष्ठफलत्वेन फलितं सूक्ष्मदृष्टया खण्डयति—किंचिदिति । वस्त्रे गोलार्धच्छादकवस्त्रमण्डले । किंचित् । अंशरूपं वस्त्रम् । गोलार्धच्छादनेऽवशिष्यते । गोलपरिधितो महानपि वस्त्रवृत्तपरिधिर्गोलार्धच्छादने संकोचेन गोलपरिधितुल्यो भवति । तेनैव च गोलपरिधिसक्तवस्त्रप्रदेशाः परिधिभागे नीविसदृशा भवन्तीति तद्वस्त्रे गोलार्धच्छादनाधिकत्वमतस्तद्वस्त्रवृत्तक्षेत्रफलान्न्यूनं गोलार्धपृष्ठफलं सिद्धमिति भावः । नन्वेतावता परिधिगुणितवृत्तफलस्य गोलपृष्ठफलत्वे किं बाधकं सिद्धमत आह—क्षेत्रफलादिति । तस्माद्गोलपरिधिसंबन्धिनो वृत्तक्षेत्रफलाद्वस्त्रवृत्तक्षेत्रफलं यतः कारणात् सार्धद्विगुणितासन्नं भवति । तथा हि । गोलव्यासाद्धाद्वाविंद्विशतिघ्ने विहृतेऽर्थशैलेरित्यादिना परिधिस्वरूपं $\frac{१२}{व्यास ७}$ । वृत्तक्षेत्रे परिधिगुणितव्यासपादः फलमिति गोलवृत्तक्षेत्रपरिधिस्वरूपं १२ । अथ वस्त्रफलार्थं पूर्वपरिध्यर्धरूपं व्यासः ११ । अस्मात्परिधिरूपं २२ । आभ्यांफलं वस्त्रवृत्तफलं । ११ ।

$$\frac{\text{व्यास } २}{७} \qquad \frac{११}{\text{व्यास } १} \qquad \frac{११}{\text{व्यास } ११}$$

अत्र वृत्तफलस्वरूप एकादशवर्गगुणं सप्तवर्गभक्तमिति । सिद्धमत एकविंशतियुतशतमेकोनपञ्चाशद्भक्तं फलं सार्धद्वयासन्न $\frac{२}{२८}$ मतः सार्धद्विगुणितासन्नमित्युक्तं

$$\frac{२८}{१०}$$

सम्यग्वृत्तक्षेत्रफलं तु वृत्ते केन्द्राभिमुखं व्यासार्धमानेन रेखाः परिधिमितास्तेन वृत्तान्तः सूचीमुखशकलानि त्रित्रिभुजाकाराणि परिधिमितानि। तत्र त्रि ० ७ भुजे भुजौ व्यासार्धमितो लम्बोऽपि तन्मितस्तद्भूमेः परिधिपरिध्यंशमितत्वेन २४ समत्वाभावादत एव गणितेन लम्बासिद्धिः तत्र भूम्यर्धलम्बयोः स्वतः सिद्धत्वाल्लम्बगुणं भूम्यर्धं स्पष्टम् । त्रिभुजे फलमित्युक्त्या व्यासचतुर्थांशः फलं तत्परिधिगुणं वृत्तक्षेत्रफलशकलानां परिधितुल्यत्वादिति वृत्तक्षेत्रे परिधिगुणितव्यासपादः फलमित्युक्तं युक्तियुक्तमेव । यद्यपि शकले व्यासार्धानुरोधेनान्तरसमवृत्तैः कोष्ठकानां व्यासार्धमितत्वमिति संपूर्णकोष्ठकाः परिधिव्यासघातार्धतुल्या दृश्यन्त इत्युक्तं फलमसंगतं तथाऽपि तेषां विषमत्वात्समकोष्ठमिति फलाख्यामित्युक्तत्वात्तत्र समकोष्ठगणनयार्धमुत्पद्यत इति दिक् । तथा च गोलवृत्तफलस्य सार्धद्वयगुणितवृत्तक्षेत्रफलान्न्यूनत्वनिश्चयात्परिधिगुणितक्षेत्रफलस्य पृष्ठफलत्वे प्रत्यक्षमेव बाधकमिति भावः ननु भवदुक्त्या परिध्यर्धगुणितवृत्तक्षेत्रफलस्य गोलार्धपृष्ठफलत्वं निरस्त [मिति] न संपूर्णफलस्य वृत्तक्षेत्रफलगुणितवृत्तपरिधित्वम्। इतरशकले सार्धद्वयोनपरिधिगुणितवृत्तक्षेत्रफलस्य तथात्वादित्यत आह—तावदिति। तद्गोलेऽपरदले वस्त्राच्छिन्नगोलार्धातिरिक्तगोलार्धे तावत् । वस्त्रच्छिन्नगोलार्धे यावत् पृष्ठफलं तत्तुल्यम् । एवकारात्तदधिकन्यूननिरासः । अन्यथा गोलार्धत्वव्याघातः । दूषणं स्फुटयति—एवमिति । एवमुक्तरीत्या गोलस्य पृष्ठं फलं पञ्चगुणाद्वृत्तक्षेत्रफलात्स्थूलदृष्टयाऽप्यधिकं न जायते । खल्वित्यनेन स्थूलदृष्टयाऽपि पञ्चगुणितं भवति । सूक्ष्मदृष्ट्या तु तन्न्यूनमेव । वस्त्रावशेषात् । अत एव प (म) या पाट्यां तत्क्षुण्णं वेदैरुपरि परितः कन्दुकस्येव जालमित्युक्तमित्यर्थः । तेन प्रत्यक्षविरोधदूषणेन । तेन लल्लेन । वृत्ते वृत्तक्षेत्रफलं परिधिगुणितम् । कुतः कस्मात्कारणात्कृतं निष्कारणं कृतमित्यर्थः । तेन तद्गणितपाट्युक्तं वृत्तफलं परिधिघ्नं समं भवति ततो गोलपृष्ठफलमित्यसंगतं सिद्धम् । अन्यथा । गोलपृष्ठे परितः परिधिदर्शनात्परिधिवर्गस्य त्वदुक्तरीत्या पृष्ठफलत्वापत्तिः ।

नन्वेतावता तदुक्तं फलं कथं दूषितं तद्गणितपाट्या अप्रसिद्धत्वेन परिधिगुणनोद्भावनस्य तदाशयस्थितत्वाभावात्तेन च तत्फलस्यान्यथैवोपपत्त्योक्तत्वात्तदज्ञानात् । नह्ययं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीत्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—**वृत्तेति** ।

अन्यथा केनापि प्रकारान्तरेण तदुक्तफलानुपपत्त्या परिधिगुणितेन तदुपपत्तेस्तत्तात्पर्यमुद्भावितं युक्तमेव । परे तु यस्मात्पूर्वोक्तदूषणाद्वृत्तक्षेत्रफलं परिधिघ्नं पृष्ठफलं भवतीत्येतत्तात्पर्यं युक्तिमदुपपत्तिसिद्धं नायुक्तमित्यर्थः । ननु तात्पर्याशुद्ध्या फलमयुक्तं कुत इति मन्दाशङ्कापाकरणाय दूषणोपसंहारमाह—दुष्टत्वादिति । अस्य लल्लाशयस्थितस्य गणितस्य पृष्ठफलानयनस्य दुष्टत्वादयुक्तत्वात् । भूपृष्ठजं भूगोलपृष्ठसम्बन्धि फलं लल्लोक्तं नगशिलीमुखेत्यादि भूगोलपृष्ठफलं दुष्टमसत् । तत्फलस्यासंगतप्रकारोत्पन्नत्वादिति भावः ॥५४॥५५॥५६॥५७॥

केदारदत्तः—आचार्य द्वारा यहाँ वृत्त फल, गोल पृष्ठ फल एवं गोलघन फल साधन का सही गणित बताया जा रहा है—

किसी गोल पदार्थ की परिधि का आधा तुल्य व्यास मान कल्पना के तुल्य कोई वस्त्र (कपड़े का टुकड़ा) से उस गोल को ढक देने से वस्त्र से आधा गोल के ढांके जाने पर भी वस्त्र में वस्त्र का कुछ अंश शेष रह जाता है। इस प्रकार गोलव्यास के वृत्तक्षेत्रफल से वस्त्र का क्षेत्रफल $२\frac{१}{२} = \frac{५}{२}$ के तुल्य होता है। इस प्रकार एक गोल का अर्द्धपृष्ठ फल को द्विगुणित कर देने से $\frac{५}{२} \times २ = ५$ गुणित वस्त्र क्षेत्रफल = गोल पृष्ठफल सिद्ध होता है तो लल्लाचार्य ने "वृत्तफलं परिधिघ्नं समन्ततो भवति गोलपृष्ठफलम्" वृत्तफल को परिधि से गुणा करने से गोल का पृष्ठ फल हो जाता है, इत्यादि गणित कैसे कह दिया है ? लल्लाचार्य के गोलपृष्ठ फल साधन की त्रुटि प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रही है।

आचार्य युक्तिपूर्वक गोलपृष्ठ फल साधनप्रकार स्वयं बता रहे हैं कि—किसी भी वृत्त की ३६० अंशों में ३६० × ६० = २१६०० की कलात्मक परिधि होती है।

शाकल्य संहिता में "वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत्परिदृश्यते" किसी भी वृत्त की परिधि का सूक्ष्म विभाग अर्थात् कम से कम ९६वाँ विभाग चापाकार न होकर सरल रेखाकार होता है। अतः २१६०० ÷ ९६ = २२५ कला चाप और कला चाप की ज्या में अभेद हो जाने से एक वृत्तपाद की २१६०० ÷ ४ = ५४०० कलाओं के ५४०० ÷ २२५ = २४ ज्याखण्ड होते हैं। अतः प्रत्येक चाप खण्ड का व्यास = २२५, अन्तिम वृत्त की व्यासार्ध रेखा = ३४३८

इस प्रकार $\frac{\text{ज्यार्ध खण्ड} \times २१६००}{\text{त्रि} = ३४३८}$ —— प्रथमादि २४ वृत्त होते हैं। प्रत्येक वृत्तों के मध्य में एक वलयाकार क्षेत्र होता है।

इस प्रकार के २४ वलय एक-एक गोलपृष्ठ में होते हैं। २२५ कला से कम सूक्ष्म चाप और ज्या के अभेद कल्पना में २४ की जगह यथेष्ट ज्या कल्पनया अनेक कल्पित संख्या तुल्य वलय क्षेत्र होंगे।

इस प्रकार के २४ चतुर्भुजों के आकार में प्रथमादि····चतुर्विंशति ज्यार्धं खण्ड = लम्ब, ऊर्ध्व वलय = मुख अधो वलय = आधार "लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डम्" आचार्य के इसी प्रथम लीलावती गणित ग्रन्थ के सूत्र से $\left(\frac{\text{मुख} + \text{आधार}}{२}\right)$ लम्ब = वलय क्षेत्रफल इस प्रकार के सभी बलयों के क्षेत्र फलों का योग गोलार्ध पृष्ठ फल होता है।

अर्द्धगोल पृष्ठफल × २ = समग्र गोल पृष्ठ फल = व्यास × परिधि के तुल्य ही गोल पृष्ठ फल युक्ति और उपपत्ति से सिद्ध हो रहा है तो गोल पृष्ठ फल = व्यास + परिधि इस सही गणित की जगह वृत्तफल × परिधि = गोल पृष्ठफल कैसे माना जाय ?

अर्थात् लल्लाचार्य से की गई इस गणित साधनिका में असोढव्य त्रुटि हुई है ॥५४।५५।५६।५७॥

अथान्यथा प्रतिपाद्यते—

गोलस्य परिधिः कल्प्यो वेदघ्नज्यामितेर्मितः ।
मुखबुध्नगरेखाभिर्यद्वदामलके स्थिताः ॥५८॥
दृश्यन्ते वप्रकास्तद्वत्प्रागुक्तपरिधेर्मितान् ।
ऊर्ध्वाधःकृतरेखाभिर्गोले वप्रान् प्रकल्पयेत् ॥५९॥
तत्रैकवप्रकक्षेत्रफलं खण्डैः प्रसाध्यते ।
सर्वज्यैक्यं त्रिभज्यार्धहीनं त्रिज्यार्धभाजितम् ॥६०॥
एवं वप्रफलं तत्स्याद्गोलव्याससमं यतः ।
परिधिव्यासघातोऽतो गोलपृष्ठफलं स्मृतम् ॥६१॥

वा० भा०—अत्राभीष्टे कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे यावन्ति ज्यार्धानि तत्संख्या चतुर्गुणा। तन्मितः किल गोले परिधिः कल्प्यः। यथाऽऽमलकगोलपृष्ठे मुखबुध्नगरेखाभिः सहजाभिर्विभक्ता वप्रका दृश्यन्ते तथाऽभीष्टे गोलपृष्ठे मस्तकात्तलगरेखाभिः कल्पितपरिधिसंख्यान् वप्रकान् प्रकल्प्यैकस्मिन् वप्रे क्षेत्रफलं साध्यम्। तद्यथा। इह किल धीवृद्धिदे चतुर्विंशतिर्ज्यार्धानि। अतः षण्णवतिहस्तमितो गोले परिधिः कल्पितः। प्रतिहस्तमूर्ध्वाधोरेखाभिस्तावन्तो वप्रकाश्च कृताः। तत्रैकस्य वप्रकस्यार्धे हस्तान्तरे हस्तान्तरे तिर्यग्रेखाः कृत्वा ज्यासंख्यानि चतुर्विंशतिः खण्डानि कल्पितानि। तत्र जीवाः पृथक्-पृथक् त्रिज्याभक्तास्तिर्यग्रेखाप्रमाणानि भवन्ति। तत्राधस्तनो रेखा हस्तमात्रा। उपरितन्यस्तु ज्यावशेन किंचित् किंचिन्न्यूनाः। सर्वत्र हस्तमित एव लम्बः। लम्बगुणं कुमुखयोगार्धमिति खण्डफलान्यानीयैकीकृतानि। तद्वप्रकार्धे फलम्। तद्द्विगुणमेकस्मिन् वप्रके फलं भवति। तत्साधनार्थमिह सूत्रमिदम्। सर्वज्यैक्यं त्रिभज्यार्धहीनमित्यादि। अत्र सर्वज्यानां शरनेत्रबाहव इत्यादीनामैक्यं सुरयमकृतबाणतुल्यम् ५४२३३। एतत् त्रिज्यार्धेनोनं जातं मनुतत्त्वपञ्चमितम् ५२५१४। एतत् त्रिज्यार्धभक्तं जातमेकवप्रके क्षेत्रफलं व्याससमम् ३०।३३। यत एतावानेव षण्णवतिपरिधेर्गोलस्य व्यासः स्यात् ३०।३३। परिधितुल्यकाश्च वप्रका इति परिधिव्यासघातो गोलपृष्ठफलमित्युपपन्नम्। तथा चोक्तमस्मत्पाटीगणिते—

वृत्तक्षेत्रे परिधिगुणितव्यासपादः फलं त-
त्क्षुण्णं वेदैरुपरि परितः कन्दुकस्येव जालम्।

गोलस्यैवं तदपि च फलं पृष्ठजं व्यासनिघ्नं
षड्भिर्भक्तं भवति नियतं गोलगर्भे घनाख्यम् ।

गोलपृष्ठफलस्य व्यासगुणितस्य षडंशो घनफलं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । पृष्ठफलसंख्यानि रूपबाहूनि व्यासार्धतुल्यवेधानि सूचीखातानि गोलपृष्ठे प्रकल्प्यानि । सूच्यग्राणां गोलगर्भे संपातः । एवं सूचीफलानां योगो घनफलमित्युपपन्नम् । यत्पुनः क्षेत्रफलमूलेन क्षेत्रफलं गुणितं घनफलं स्यादिति तत्प्रायश्चतुर्वेदाचार्यः परमतमुपन्यस्तवान् ॥५८॥५९॥६०॥६१॥

मरीचिः—ननु पञ्चगुणितवृत्तक्षेत्रफलाद्गोलपृष्ठफलस्य पूर्वोक्तयुक्त्या न्यूनत्वसिद्धावपि नियतं चतुर्गुणितं पाट्यां कथमुक्तं येन गुणहरयोश्चतुर्मितयोर्नाशात् परिधिव्यासाहतिरूपं पृष्ठफलं युक्तं स्यादित्यतोऽनुष्टुप्चतुष्केण परिधिव्यासाहतिरूपगोलपृष्ठफलं स्वाभिमतं युक्त्या दृढयति—**गोलस्येति** ।

यावन्ति ज्याखण्डकानि कल्पितानि तेषां संख्या चतुर्गुणा तत्संख्यामितो गोलस्य परिधिः कल्पनीयः । जीवाग्राणां परिधिप्रान्तसक्तत्वेन जीवाग्रान्तरस्थपरिधिभागस्य मापकत्वसिद्धेः वृत्तचतुर्थांशे तन्मापकेन ज्यामितसंख्यावगमात्संपूर्णवृत्ते चतुर्गुणज्यामितपरिधिर्युक्तः । विनैतदाश्रयं पृष्ठफलोत्पादनस्याशक्यत्वात् । तद्गोले मापकान्तरेण परिधिमानान्तरसंभवात् कल्प्य इत्युक्तम् । ततोऽनन्तरम् । तद्गोले । पूर्वं यद्वत् । आमलके मुखबुघ्नगरेखाभिः, मुखमग्रभागचिह्नम् । बुघ्नं वृक्षसक्तचिह्नम् । तयोरवधित्वेन विद्यमाना रेखास्ताभिः, स्थिताः अभितः स्वतः सिद्धा वप्रकाः खण्डकानि दृश्यन्ते । तद्वदुक्तपरिधेश्चतुर्गुणज्यामित्यात्मकस्य मितान् । तत्प्रमाणानीत्यर्थः । ऊर्ध्वाधःकृतरेखाभिर्गोल एकप्रदेश ऊर्ध्वभागः कल्प्यस्तस्मात्परिध्यर्धान्तरेणाधोभागः कल्प्यस्तदवधित्वेन परिध्यर्धप्रमाणकृतपरिधिमितरेखाभिः समान्तराभिर्वप्रान् प्रकल्पयेत् । तत्र गोलपृष्ठफलावगमनार्थमेकवप्रके खण्डैर्द्विगुणमिति तुल्यखण्डकल्पनैः क्षेत्रफलम् । एवं प्रतिखण्डं पाटचुक्तक्षेत्रव्यवहारोक्तरीत्या यानि क्षेत्रफलानि तेषामैक्यैः सर्वजीवानां योगस्त्रिज्यार्धहीनस्त्रिज्यार्धभक्तमिति परिणतं यत्प्रसाध्यते सूक्ष्मत्वेन साध्यते तदेकस्मिन्वप्रे गोलव्याससमं चतुर्गुणज्यामितितुल्यपरिधेः खगतव्यासतुल्यं फलं क्षेत्रफलं स्यात् । अयं भावः । परिधितुल्यवप्राङ्कितगोले कल्पितोर्ध्वाधःप्रदेशाभ्यां पूर्वविगतपरिधिमानमापकान्तरेणैकादिजीवामित्यन्तसंख्यागुणितेन प्रत्येकं वलयाकाराणि वृत्तानि यथोत्तरमुपचितानि । गोले निरेकद्विगुणज्यामितितुल्यानि । गोलार्ध उभयतो ज्यामितिमितानि । तेषु क्रमेण प्रथमादिजीवा व्यासार्धे गोलान्तःस्थितव्याससूत्राद्गोलवृत्ते वप्राकारे तत्तद्वलयाकारवृत्तेषु प्रथमाग्रादिजीवाग्राणां क्रमेण सत्त्वेषां च तज्जीवामूलमध्यकेन्द्रत्वाद् वप्रार्धे तद्वृत्तैकदेशखण्डैर्ज्यामितिक्षेत्राणि । तत्र प्रथमक्षेत्रे त्रिभुजमन्यानि विषमचतुर्भुजानि । तेषां भुजौ वप्रान्ते गोलपरिधिवृत्त एकसंख्याति(मि)तौ वलयवृत्तानां मापकान्तरत्वात् । लम्बाश्चैकसंख्यामिताः । उक्तयुक्तेः । प्रथमक्षेत्रे भुजाग्र-

योरैक्यान्मुखाभावः । भूमिस्तु प्रथमवलयाकारवृत्तान्तर्गतपरिध्यैकदेशो वप्रस्थाद्वितीयवलयाकारवृत्तस्य प्रान्तःस्थितदेशो भूमिः । पूर्वक्षेत्रभूमिर्मुखम् । एवमुत्तरोत्तरम् । वप्रकार्धे वलयाकारवृत्तपरिध्यैकदेश एकसंख्यामितः । तद्वृत्तस्य त्रिज्याव्यासार्धोत्पन्नत्वात् । अतस्त्रिज्याव्यासार्ध एकमापकमिता भूमिस्तदा स्वस्वज्याव्यासार्धवृत्ते केति भूमिरेकमापकान्यूनैव । तथा च त्रिज्याभक्ताः प्रथमादिज्याः क्षेत्रेषु भूमयः सिद्धाः । अथ लम्बगुणं भूम्यर्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवतीत्युक्त्या प्रथमखण्डक्षेत्रे प्रथमज्यार्धं त्रिज्याभक्तं क्षेत्रफलम् । द्वितीयक्षेत्रे लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डमित्युक्त्या प्रथमद्वितीयज्ययोरेकस्यार्धं त्रिज्याभक्तं क्षेत्रफलम् । ऐक्यार्धार्धैक्ययोस्तुल्यत्वात्प्रथमद्वितीयाज्यार्धयोरैक्यं त्रिज्याभक्तं द्वितीयक्षेत्रे क्षेत्रफलं परिणतम् । प्रथमद्वितीयक्षेत्रफलयोर्योगः खण्डक्षेत्रद्वयस्य फलम् । तत्र हरभक्तयोरैक्यम् । ऐक्यं हरभक्तं तुल्यमेवेति प्रथमद्वितीयज्यार्धयोरैक्यस्य प्रथमज्यार्धयोजने द्वितीयज्यार्धस्य प्रथमज्यायोजितेति सिद्धम् । ततस्त्रिज्याभक्तं क्षेत्रद्वयस्य फलम् । एवमुत्तरत्रापि तृतीयादिक्षेत्रेषु द्वितीयादितृतीयादिज्यार्धयोरैक्यस्य त्रिज्याभक्तस्य फलत्वात्तद्योजने पूर्वज्यायोगे तदग्रिमज्यार्धं युक्तं त्रिज्याभक्तमिति सिध्यति । तथा च वप्रकार्धेऽन्तिमक्षेत्रस्य भूमेस्त्रिज्याभक्तत्रिज्यारूपत्वात्त्रिज्यार्धं पूर्वजीवायोगे युक्तं ततस्त्रिज्याभक्तमिति सिद्धम् । अत्र भाज्ये सर्वज्यैक्यं त्रिज्यार्धोनं निष्पन्नम् । त्रिज्याभक्तमिदं वप्रकार्धे क्षेत्रफलमेवापरस्मिन् वप्रकार्धे क्षेत्रफलमितीदं द्विगुणं संपूर्णैकवप्रे क्षेत्रफलम् । तत्र गुणेनापवर्त्य एकस्मिन्वप्रे सर्वज्यैक्यं त्रिभज्यार्थं हीनं त्रिज्यार्धभाजितमिति फलमुपपन्नम् । न च वप्रकार्धस्य त्रिभुजाकारत्वेन तत्रोक्तरीत्या ज्यामितेर्लम्बत्वादुक्तदिशा मितेरेव वप्रफलत्वं युक्तमिति वाच्यम् । गोलार्धे परिधिचतुर्थांशमितलम्बभुजयोरिति तिर्यक्त्वेन त्रिभुजत्वानुपपत्तेः । भुजलम्बयोर्ऋजुत्वाङ्गीकारात् । न चैवं खण्डक्षेत्रेऽपि लम्बभुजभूमिमुखानां गोले परिध्यंशत्वेन तिर्यक्त्वात्क्षेत्रानुपपत्तिरिति वाच्यम् । खण्डत्वेन ततः समत्वेन भानात् । अत एव यथा यथा बहूनि खण्डानि तथा तथा क्षेत्रफलमिति समत्वदर्शनेन सूक्ष्मम् । एतेनात्र पाट्युक्तरीत्या फलानयनमनुचितम् । एतद्भुजयोः परिध्यंशत्वेन ऋजुत्वाभावादिति गुरुदूषणं निरस्तम् । लम्बमुखभूमीनामपि परिध्यंशत्वेनैकजातित्वात्क्षेत्रोपपत्तेः परिधिसंबन्धेन भुजलम्बयोस्तुल्यत्वस्याबाधकत्वाच्च । त्रिभुजे लम्बोभयतो जात्यत्र्यस्रयोर्ये फले तद्योगः फलम् । जात्यत्र्यस्रस्याऽऽयतचतुर्भुजक्षेत्रार्धत्वादायतचतुर्भुजक्षेत्रफलस्य समकोष्ठमिति फलाख्यामितिप्रत्यक्षोपपत्त्योपपन्नस्य भुजकोटिघातात्मकस्यार्धं जात्यत्र्यस्रे क्षेत्रफलम् । तथा चाबाधयोः क्रमेण तज्जात्यत्र्यस्रयोर्भुजत्वाल्लम्बस्य च कोटित्वाल्लम्बाबाधाघातार्धयोः क्षेत्रफलयोर्योगे । अबाधायोगस्य भूमित्वात्तत्तदर्धे लम्बगुणं क्षेत्रफलमिति युक्तम् । विषमचतुर्भुजे समलम्बक्षेत्र उभयपार्श्वे जात्यत्र्यस्रमध्य आयतचतुरस्रम् । तत्र जात्यत्र्यस्रे लम्बभुजौ कोटिकर्णौ । लम्बभुजाग्रान्तरभूमिखण्डं भुजः । तथा च भूमिखण्डगुणिते लम्बस्यार्धं क्षेत्रफलमेवमपरजात्यत्र्यस्रे । तयोर्योगे जात्यत्र्यस्रद्वयस्य क्षेत्रफलमत्र गुणितयोर्योगे वा गुणिते समानत्वाद्भूमिखण्डयोयगो लम्बार्धगुणितः । अथ मध्यायतचतुरस्रस्य लम्बमुखयोः कोटिभुजत्वात्तद्घातः क्षेत्र-

फलं तत्र योज्यम् । परं तु संपूर्णभूमिज्ञानेऽपि भूमिखण्डयोगाज्ञानाज्जात्यत्र्यस्रद्वयक्षेत्रफलासिद्धिरतो मुखोनभूमेस्तन्मितत्वान्मुखोनभूमिर्लम्बगुणा तदर्धजात्यत्र्यस्रद्वयक्षेत्रफलम् । अत्र खण्डद्वयेन भूमिगुणमुखगुणलम्बार्धोनमिदं लम्बमुखघातयुतं तेन मुखगुणलम्बार्धयुतं भूमिगुणलम्बार्धसिद्धलम्बार्धमत्रापि गुणितयोर्योगेऽयोगे वा गुणिते समानत्वाल्लाघवाच्च मुखभूम्यैक्यार्धं लम्बगुणक्षेत्रफलं युक्तमित्यलं प्रसङ्गागतविचारेण । तथा च सर्वज्यैक्ये त्रिभज्यार्धहीने चतुर्गुणज्यामितितुल्यपरिध्यवगतसूक्ष्मव्यासगुणितत्रिज्यार्धं भवति । यथा प्रकृते ज्योत्पत्तिविध्यवगतसूक्ष्मावयवचतुर्विंशतिजीवानां योगो जीवावयवयुताष्टत्रिंशदवयवयुतश्चन्द्रतत्त्वाब्धिशरमितः ५४२५१ । ३८ । २४ । त्रिज्या ३४३८ धर्ो-१७१९ नः ५२५३२। ३८ । २४ । अयं च चक्रकलातुल्यपरिधौ द्विगुणवृहत्त्रिज्या ६८७२ न्यासस्तदा(वप्र) चतुर्गुणज्यामितितुल्यषण्णवतिपरिधौ क इत्यनुपातावगतसूक्ष्मसावयवव्यासः ३० । ३३ । ३६ । त्रिज्यार्धघाततुल्यः । यद्वा पठितव[प्र]चतुर्विंशतिजीवानां योगः सुरयमवेदशरमितः ५४२३३ । त्रिज्यार्धोनः ६२५१४ । अयं स्थूलव्यासः ३० । ३२ । ४४ । त्रिज्यार्धघातसमप्रायः कथमेतदिति चेच्छृणु । यद्यप्यत्र बह्व्यो ज्यास्तत्र सर्वज्यैक्ये त्रिभज्यार्धहीने व्यासत्रिगुणितत्रिज्यार्धस्वरूपं न दृश्यते युक्तिभिस्तथाऽपि ज्यात्र[य]प्रकल्पने सर्वज्यैक्ये त्रिज्यार्धहीने तद्व्यासगुणितत्रिज्यार्धस्वरूपस्य युक्तिभिरुपपन्नत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनस्यानुकूलतर्कसहकृतानुमानसिद्धत्वात् । तथा हि । त्रिशदंशानां ज्यात्रिज्यार्धम् । एतद्वर्गोनत्रिज्यावर्गान्मूलम् । त्रयोदशगुणितत्रिज्यापञ्चदशांशासन्नषष्टयंशानां ज्या । त्रिज्यानवत्यंशानां ज्या । आसां योगे त्रिज्यार्धहीने द्वितीयतृतीयज्ययोर्योगो भवति । तत्र द्वितीयज्यायास्त्रयोदशगुणितत्रिज्यातत्पञ्चदशांशरूपत्वात्त्रिज्यासमच्छेदविधिना सा जात्येन द्वितीयज्यायां योज्या । तत्स्वरूपं चाष्टाविंशतिगुणितत्रिज्यापञ्चदशांशरूपमतस्त्रिज्यार्धं षट्पञ्चाशद्गुणितं पञ्चदशभक्तम् । तत्स्वरूपं सिद्धम् । अत्रैव तद्गुण-५६ हरौ १५ चतुर्घ्नज्यामितिरूपद्वादशपरिधेर्द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथ शैलैरित्यस्य व्यस्तविधिना सिद्धं व्यासस्य चतुरशीतिभाज्यद्वाविंशतिहरात्मकस्य सार्धैकापवर्तनेन हरस्थानेर्द्वा(र्धा)श्यविधकावयवस्योर्ध्वाङ्क एकाधिकग्रहणेन च भाज्य ५६ हरात्मक १५ व्यासे पर्यवसन्नाविति । अतस्त्रिज्यार्धहीनात्सर्वज्यैक्यात्त्रिज्यार्धपरेण फलं व्यास एकवप्रफलरूप इति । अतो व्यासमितवप्रफलसिद्धेर्गोले परिधितुल्यवप्राणां सत्त्वादेकवप्रे व्यासमितं फलं तदा परिधिमितवप्रेषु किमित्यनुपातेन परिधिव्यासघातो गोलपृष्ठफलं स्फुटमविरुद्धसिद्धम् । एतेनैव च वृत्तक्षेत्रफलस्य युक्तिसिद्धत्वेनोक्तपृष्ठफलसिद्ध्यर्थं वृत्तफलं चतुर्गुणितं पाठ्यं निःशङ्कमुक्तमिति ध्येयम् ॥५८॥ ५९॥६०॥६१॥

केदारदत्तः—प्रकारान्तर से भूपृष्ठफल साधन—किसी भी गोल (बिम्बाकार) पदार्थ की परिधि ९६ संख्या के तुल्य मान कर उस बिम्ब के मुख और अन्तिम छोर तक गई हुई रेखाओं के मध्यगत गोल पृष्ठ में एक वलय आकार का क्षेत्र (भूमि) बन जाता है । जैसे आंवले के दाने के मुख (शीर्ष) से वृक्ष संसक्त आमल फल चिह्न तक

प्राकृतिक अनेक वलय क्षेत्र दृष्टिगत होते हैं ठीक उसी प्रकार किसी भी बृहत् गोलपृष्ठ पर ९६ वलय क्षेत्र दृष्टिगत हो सकते हैं।

प्रत्येक वलय वप्रक्षेत्र का क्षेत्रफल गोलगत प्रत्येक खण्ड के क्षेत्रफल साधन कर सभी क्षेत्रों के क्षेत्रफलों का योग पूरे गोल का क्षेत्रफल (जिसे गोल पृष्ठफल कहते हैं) हो जाता है।

उसका परिमाण सर्वज्या योग में त्रिज्यार्ध कम कर उसमें त्रिज्यार्ध का भाग देने से उसका मान उस गोल के व्यास के समान होता है। लब्ध फल को परिधि से गुणा करने पर लब्ध फल परिधि और व्यास के गुणनफल के तुल्य होगा, यही गोल का पृष्ठ फल होता है।

उपपत्ति—किसी भी गोल के अभीष्ट चाप विभागों में अभीष्ट संख्या की ज्या की कल्पना करते हुये क्षेत्रफल साधन की युक्ति समझनी चाहिए। पहले भी बता चुके हैं कि वृत्त का ९६वाँ भाग सरलाकार होता है अतएव एक गोल पृष्ठ में ९६ वाँ भाग २२५ कला होने से एक वृत्त पाद में ज्या संख्याओं का मान ९६ ÷ ४ = २४ ज्या होती हैं। उदाहरण से आंवले के दाने के मुख से मूल वृक्षशाखा संलग्न अधो भाग तक में जैसे प्रत्येक दो रेखाओं के बीच में एक एक वलयाकार क्षेत्र दिखाई देता है और प्रत्येक वप्रक्षेत्र में एक एक हाथ की दूरी पर वलय क्षेत्रों की रचना से, अतः परिधि संख्यक ऐसे वप्रक्षेत्र ९६ होते हुये एक वृत्त पाद में २४ संख्यक चतुर्भुजाकार क्षेत्र होते हैं।

प्रत्येक वप्रक्षेत्र में २२५ कला चाप तुल्य एक ज्या का मान लम्ब के तुल्य होने से जिसका स्वरूप $\frac{\text{प्रथमज्या} \times \text{प्रथमज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = प्रथम लम्ब एवं $\frac{\text{द्वितीय ज्या} \times \text{द्वितीय ज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = द्वितीय लम्ब होता है प्रत्येक चतुर्भुज में अधोगत रेखा का मान १ अंगुल और उपरितन रेखायें क्रमशः कुछ न कुछ न्यून १ अंगुल से न्यून होती हैं। और यत्र तत्र सभी चतुर्भुजों में लम्ब का मान = १ हाथ होता है। प्रत्येक चतुर्भुज का क्षेत्रफल इन्हीं श्रीभास्कराचार्य से विरचित लीलावती सूत्र के अनुसार "लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्य खण्डं स्पष्टं चतुर्भुजे फलम्" के अनुसार $\frac{\text{लम्ब} \times (\text{आधार} + \text{मुख})}{२}$ = का फल सिद्ध होता है।

अतएव यहाँ पर $\frac{\text{लम्ब (प्रथम ज्या + द्वितीय ज्या)}}{२}$ एक वप्रार्ध का फल होगा।

इसी प्रकार $\frac{(\text{द्वितीय ज्या} + \text{तृतीय ज्या}) \times \text{लम्ब} = \text{१ हाथ}}{२}$ = द्वितीय-तृतीयादि वप्रार्धों का फल होगा।

प्रत्येक वप्रार्ध फल को द्विगुणित करने से समूचे वप्र का क्षेत्रफल सिद्ध होता है।

$$\text{सभी का योग} = \frac{\text{सर्वज्यैक्य} - \frac{\text{त्रि}}{२}}{\frac{\text{त्रि}}{२}}$$

इस प्रकार सर्वज्यैक्य = ५४२३३ में त्रिज्यार्ध = १७१९ (त्रि ज्या = ३४३८) कम करने में ५२५१४ होता है।

५२५१४ में त्रिज्यार्ध १७१९ से भाग देने से ३० । ३३ = व्यास के तुल्य एक वलय का क्षेत्रफल स्पष्ट है।

पूर्व में जिस गोल की परिधि एक एक हाथ के माप से ९६ हाथ मापी गई है उस वृत्त का व्यासमान "व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैः" से परिधि

$$= \frac{३०।३३ \times ३९२७}{१२५०} = \text{९६ हाथ के तुल्य होती है।}$$

गोल में वप्रक्षेत्रों की संख्या एक एक हाथ दूरी पर के वलय क्षेत्रों की संख्या = ९६ मानी गई है। एक वलय क्षेत्रफल = व्यास अतः सम्पूर्ण वलयों के क्षेत्रफलों का मान = व्यास × परिधि के तुल्य स्पष्ट आचार्य ने लोलावती ग्रन्थ में और वृत्तफल, गोल-पृष्ठ फल एवं गोल घनफल साधन का सही प्रकार भी दिया है। जैसे—

वृत्त परिधि की सूक्ष्म एक बड़ी महत्तमाङ्क संख्या = स, वृत्त परिधि = प मानने से वृत्त के एक सूक्ष्म विभाग का मान $\frac{\text{प}}{\text{स}}$ होगा। स संख्यक त्रिभुजों में प्रत्येक का क्षेत्र-फल $= \frac{\text{प} \times \text{त्रि}}{२\text{स}} = \frac{\text{प}}{२\text{स}} \times \frac{\text{व्यास}}{२} = \frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास}}{४\text{स}}$ वृत्त में एक त्रिभुज के क्षेत्रफल को स संख्या से गुणा करने से $\frac{(\text{परिधि} \times \text{व्यास}) \times \text{स}}{४ \times \text{स}} = \frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास}}{४}$ = वृत्त का क्षेत्र-फल। अतः गोल पृष्ठफल $= \frac{\text{परिधि} \times \text{व्यास} \times ४}{४}$ = परिधि × व्यास के तुल्य गोलपृष्ठ-फल सिद्ध होता है।

यदि किसी गोल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स संख्यक विभागों में एक विभाग का मान = स। स संख्या से गोल पृष्ठ फल में भाग देने से $\frac{\text{पृष्ठफल}}{\text{स}}$ = एक विभाग का मान। गोल केन्द्र से "स" संख्यक प्रति विभाग तक गई रेखा का मान = त्रिज्या। इस प्रकार "स" संख्या तुल्य सूची क्षेत्र संख्या होती है। अतः एक सूची क्षेत्र का क्षेत्रफल $= \frac{\text{पृष्ठफल}}{\text{स}} \times \frac{\text{व्यास}}{२}$। अतः "स" संख्यक समग्र सूची क्षेत्रों का क्षेत्रफल $= \frac{\text{पृष्ठफल} \times \text{स}}{\text{स}} \times \frac{\text{व्यास}}{२}$

"समखातफलत्र्यंशः सूची खाते फलम्" इस सूत्र से $\frac{\text{गोल पृष्ठ फ} \times \text{स}}{\text{स}} \times \frac{\text{व्यास}}{२ \times ३}$

$= \frac{\text{गोल पृष्ठ फल} \times \text{व्यास}}{६}$ = गोल घन फल इत्यादि । विशेष स्पष्टता लीलावती ग्रन्थ के अध्ययन से विद्यार्थियों ने समय समय पर समझना चाहिए । ।।५८।।५९।।६०।।६१।।

इदानीं भूमेः प्रलयभेदौ प्रलयांश्चाऽऽह—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात्स्याद्योजनं भूभवभूतपूर्वैः ।
ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः प्राकृतिकेऽखिलायाः ।।६२।।
दिने दिने यन्म्रियते हि भूतैर्दैनंदिनं तं प्रलयं वदन्ति ।
ब्राह्मं लयं ब्रह्मदिनान्तकाले भूतानि यद्ब्रह्मतनुं विशन्ति ।।६३।।
ब्रह्मात्यये यत्प्रकृतिं प्रयान्ति सर्वाण्यतः प्राकृतिकं कृतीन्द्राः ।
लीनान्यतः कर्मपुटान्तरत्वात्पृथक् क्रियन्ते प्रकृतेर्विकारैः ।।६४।।
ज्ञानाग्निदग्धाखिलपुण्यपापा मनः समाधाय हरौ परेशे ।
यद्योगिनो यान्त्यनिवृत्तिमस्मादात्यन्तिकं चेति लयश्चतुर्धा ।।६५।।

वा० भा०—अत्र लयो नाम भूतविनाशः । स तु सांप्रतं प्रत्यहमुत्पद्यते । स दैनंदिन उच्यते । यो ब्रह्मदिनान्ते चतुर्युगसहस्रावसाने लोकत्रयस्य संहारः स ब्राह्मो लय उच्यते । तत्राक्षीणपुण्यपापा एव लोकाः कालवशेन ब्रह्मशरीरं प्रविशन्ति । तत्र मुखं ब्राह्मणाः । बाह्वन्तरं क्षत्रियाः । ऊरुद्वयं वैश्याः । पादद्वयं शूद्राः । ततो निशावसाने पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो मुखादिस्थानेभ्यः कर्मपुटान्तरत्वाद्ब्राह्मणादयस्तत एव निःसरन्ति । तस्मिन् प्रलये भुवो योजनमात्रवृद्धेर्विलयो नाखिलायाः । अथ यदा ब्रह्मण आयुषोऽन्तस्तदा यः प्रलयः स महाप्रलय उच्यते । तत्र ब्रह्मा ब्रह्माण्डे । तत् पाञ्चभौतिके । भूर्जले । जलं तेजसि । तेजो वायौ । वायुराकाशे । आकाशमहंकारे अहंकारो महत्तत्त्वे । महतत्त्वं प्रकृतौ । एवं सकलभुवनलोका अक्षीणपुण्यपापा एवाव्यक्तं प्रविशन्ति । यदा भगवान् सिसृक्षुः प्रकृतिपुरुषौ क्षोभयति तदा तानि भूतानि कर्मपुटान्तरत्वात्प्रकृतेः स्वत एव निःसरन्ति । यथाऽऽह श्रीविष्णुपुराणे पराशरो जगदुत्पत्तिकारणम्—

प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय इति ।

सृज्यशक्तयस्तत्कर्माणि । तान्येव सृष्टौ मुख्यं कारणम् । इतराणि निमित्तकारणानि । अन्यैरप्युक्तम्—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
नह्यात्मनां भवति कर्मफलोपभोगः कायाद्विनेत्यादि ॥

अस्मिन् प्रलयेऽखिलाया भुवो नाश इत्यर्थः। तथा ज्ञानाग्निदग्धाखिलपुण्य-पापा योगिनो विषयेभ्यो मनः समाधाय समाहृत्य तद्धरौ समाहितं कृत्वा यान्ति देहं त्यजन्ति। अनिवृत्तिं यान्ति। स आत्यन्तिको लय इति ॥६२॥६३॥६४॥६५॥

मरीचिः—ननु भूमिगोलस्य ब्रह्मदि [ने] वृद्धिश्रवणात्तद्दिनान्तसंबन्धिभूमिगोलस्य लल्लेन पृष्ठफलमुक्तम्। तथा हि। लल्लोक्तो भूव्यासः १०५०। अस्य तद्दिनान्तेऽग्राभ्यां वृद्धियोजनानि सप्ताङ्काभ्रनवाश्विमिता २९०९७ न्येकस्मादेतदर्धे ब्रह्मदिनान्ते भूव्यासः सप्तेन्द्रत्रिशन्मितः ३०१४७। अस्माद्द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथ शैलैरित्यनेन परिधिः किंचिदूनो गृहीतः सावयवः किंचिदूनस्यार्धैकावयवयुतः सप्ताब्धिनवमितः ९४७। ४७। १। ३०। अनयोर्घातयुतं ऋलमुपपन्नम् २८५६३३८५.५७। तथा च लल्लमतेऽपि व्यासपरिधिघातात्मकपृष्ठफलाङ्गीकारात्तदभिप्रायानभिज्ञतया भवदुक्तदोषो भवदज्ञानं सूचयति। भावावबोधविरहितो न दुनोति दोष इत्युक्तेरित्यत इन्द्रवजयाऽऽह-**वृद्धिरिति**।

विधेरह्नि ब्रह्मणो दिने भुवो भूगोलस्य। समन्ताद्भूपृष्ठे। भूभवभूतपूर्वैः। भूम्युत्पन्नतृणवृक्षप्राणिपर्वतपाषाणपतनादिभिः क्रमेण योजनं वृद्धिः स्यात्। तथा च कल्पे प्राथमिको भूव्यासो योजनद्वयाधिक इति। हिरण्यगर्भस्य दिने तु काश्यपी समन्ततो वृद्धिमुपैति योजनमिति लल्लोक्त्यैव तन्मितवृद्ध्यप्रसिद्धचोक्तलल्लाभिप्रायस्त्वयुक्त इति भावः। नन्वेवमपि त्वया योजनद्वयाधिकप्राथमिकभूव्यासतदवगतपरिधिभ्यां कथं भूपृष्ठफलं नोक्तमत आह—ब्रह्मेति। ब्रह्मसंबन्धिनि लये नाशे। आरब्धे सति। योजनमात्रवृद्धेर्भुवः क्रमेण नाशस्तथा च भूवृद्धेः स्थैर्याभावात्कल्पान्ते तादृशगोलसद्भावाच्चास्माकं तत्फलस्य प्रयोजनाभाव इति तन्नोक्तमिति भावः। अथ प्रसङ्गात्सर्वभूमिनाशसमयमाह—प्राकृतिक इति। प्रकृतिसंबन्धिनि प्रलयकाले संपूर्णाया भूम्या नाशः ॥६२॥

ननु पुनश्च नाशं समुपैति वेधसो निशात्यये कृत्रिममृन्मयश्च यः। समस्तमेतद्भुवनादि वेधसः क्षये क्षयं याति विहाय शाश्वतमिति लल्लोक्त्या ब्राह्मलये सकलभूमिनाशो ब्रह्मरात्र्यन्ते योजनमात्रवृद्धिनाश इति सिद्धेन विरोध इत्यतश्चतुर्भेदात्मकं लयं विवक्षुः प्रथमं लयमुपजातिकयाऽऽह—दिन इति।

प्राणिनाशो लयस्तत्र सांप्रतं दिने दिने प्रत्यहं भूतैः प्राणिभिर्यन्म्रियते देहस्वाम्यं त्यज्यते तं प्रलयमवान्तरभेदेन। हि निश्चये। दैनंदिनं वदन्ति। पूर्वाचार्या इति शेषः। ब्रह्मदिनान्तकाले यो भूतविनाशस्तल्लयं ब्राह्मं ब्रह्मसंबन्धिनमवान्तरभेदेन वदन्ति। ननु ब्रह्मदिनान्ते ब्रह्मणो नाशाभावाद् ब्राह्मलयत्वं कथमत आह—भूतानीति। यद्यस्मात्कारणाद् भूतानि प्राणिनः। ब्रह्मतनुं शरीरं व्रजन्ति प्रविशन्ति। तथा च ब्रह्मणो नाशाभावेऽपि ब्रह्मशरीरे भूतानां लयः इति ब्राह्मलयः। तद्दिनान्ते। तत्कालमारभ्य तद्रात्र्यन्तं यावद्योजनमात्रवृद्धेः क्रमेण नाश इति न क्षतिः ॥६३॥

अथ तृतीयं लयभेदं विशेषान्तरं चोपजातिकयाऽऽह—**ब्राह्ममिति**।

ब्रह्मणः शतवर्षावसाने ब्रह्मणो नाशे सर्वाणि भूतानि यद्यस्मात्कारणात् प्रकृतिं प्रयान्ति गच्छन्ति । प्रकृतौ लीनानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकीम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहमिति भगवद्गीतोक्तेः । अतः कारणात्तादृशं प्रलयमवान्तरभेदेन प्राकृतिकं प्रकृतिसंबन्धिनं कृतीन्द्रास्तत्तत्त्वाभिज्ञश्रेष्ठा वदन्तीति पूर्वश्लोकोक्तमन्वेषणीयम् । तत्र संहारक्रमस्तु ब्रह्म सर्वभूतैः सह ब्रह्माण्डे ब्रह्माण्डं तत्पाञ्चभौतिके । तत्र भूर्जले जलं तेजसि तेजो वायौ वायुराकाश आकाशोऽहंकारेऽहंकारो महत्तत्वे महत्तत्त्वं प्रकृताविति । ननु प्रलयानन्तरं जीवानां नैयत्यात्पुनः सृष्टिसंभवः कथमित्यत आह— लीनानीति । अतः प्रलयानन्तरम् । ईश्वरसिसृक्षया प्रकृतेर्विकारे क्षोभ उत्पन्ने सति । लीनानि भूतान्येव कर्मपुटान्तरत्वात् । तेषां भूतानां लयेऽपि पूर्वार्जितसदसत्कर्मसमूहस्य संपुटरूपस्य प्रत्येकं समूहत्वात् । तत्तत्कर्मभोगार्थं पृथक्प्रकृतेः क्रियन्ते सृज्यन्ते । एवं ब्राह्मलयेऽक्षीणपुण्यपापा एव लोका ब्राह्मणा मुखं, बाहुद्वयं क्षत्त्रियाः, ऊरुद्वयं वैश्याः, पादद्वयं शूद्रा इत्यादिवेदोक्तक्रमेण । ततो ब्रह्मरात्र्यन्ते पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो मुखादिस्थानेभ्यः कर्मपुटान्तरत्वाद्ब्राह्मणादयः स्वत एव निःसरन्ति । एवं दैनंदिनप्रलयेऽपि जन्तवः स्वकर्मवशेन यस्मिन्ल्लोकेऽधितिष्ठन्ति तत्कर्मनाशात्ते पुनः पृथिव्यां कर्मान्तरवशत उत्पद्यन्ते । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' इत्युक्तेः पुनः सृष्टावक्षतिः प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय इति विष्णुपुराणोक्तेः सृज्यशक्तयस्तत्कर्माणि तान्येव सृष्टौ मुख्यं कारणमितराणि निमित्तकारणानीति तदर्थः । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। इति भगवदुक्तेश्च प्रकृतेर्वशात्प्राचीनकर्मनिमित्ततः स्वभावबलादित्यर्थः । नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमित्युक्तत्वाच्चेति भावः ।।६४।।

अथोपजातिकया चतुर्थं लयभेदं मुक्त्याख्यं वदन्ल्लयमुपसंहरति—**ज्ञानाग्नीति** । यद्यस्मात्कारणाद्योगिनो योगशास्त्रोक्तयोगाभ्यासकाः । बाह्यविषयेभ्यो मनः समाहृत्य हरौ परमेश्वरे समाधाय संलग्नं कृत्वा । अनिवृत्ति देहत्यजनेन परमेश्वरैकतया पुनरनुत्पत्तिं यान्ति प्राप्नुवन्ति । अस्मात्कारणात्तं योगिलयमवान्तरभेदेनाऽऽत्यन्तिकं प्रलयं कृतीन्द्रा वदन्तीति पूर्वश्लोकस्थमत्राप्यन्वेषणीयम् । ननु कर्मणामनन्तत्वादनिवृत्तिर्न संभवति । तेषां भोगैकनाश्यत्वेव पुनरुत्पत्तेर्निरोद्धुमशक्यत्वादित्यत आह—ज्ञानेति । ज्ञानमात्मज्ञानं तद्रूपो योऽग्निस्तेन दग्धानि भस्मीकृतान्यखिलानि समग्राणि पुण्यानि च पापानि च यैस्ते तथा । यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथेति भगवदुक्त्या ज्ञानेन प्रारब्धकर्मातिरिक्तकर्मणां भोगाभावेऽपि नाशसंभवादनिवृत्तिः संभवत्येव । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशादिति भगवदुक्तेश्च । प्रकृतेर्वशात्प्राचीनकर्मनिमित्ताभावादेव कार्यानुपपत्तेरिति भावः । तथा चोक्तं भगवद्गीतायाम्—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं

स याति परमां गतिम् । मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः । अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममेति । चकारोऽन्य उक्तातिरिक्तः प्रलयो नास्तीति सूचकः । महाप्रलयश्च सर्वजन्तूनां मुक्तिः । सा तु न कदाऽऽप्यनीदृशं जगदित्याद्युक्त्या शास्त्रान्तरे निरस्तैवेत्युपसंहारव्याजनेनाऽऽह—इतीति । इत्युक्तप्रकारेण । लयः प्राणिनाशश्चतुर्धा चतुर्भेदात्मकः । अचेतनविनाशस्त्वेकरूप एव । भास्कराविरोधिनस्तु—नगशिलीमुखबाणभुजंगमज्वलनवह्नि-रसेषुगजाश्विन इत्यनेन व्यासः १०५० परिधिः ३२९८ । ४०४८ । घातरूपश (च) क्राङ्कवह्निरसवेदगुणमितं पृष्ठफलमुक्तं न त्वन्यत् । तथा हि—नगेषु पर्वतेषु । शिलीमुखः सायकः । करवालो वज्रमिति यावत् । न पतति यस्येति नगशिलीमुखः । पर्वतशत्रुरिन्द्र इत्यर्थः । बाणाद्भवतीति बाणभूः । स चासौ जङ्गमश्च प्राणिविशेषः स्वामिकार्तिकेयस्तस्य ज्वलनं मुखं देवमुखत्वेन वह्नेः प्रसिद्धेः । स्वामिकार्तिकेयस्य देवत्वावगमार्थं मुखवाचकं ज्वलनपदं लक्षणया दत्तम् । तस्य षडाननत्वेन प्रसिद्धेः षट्संख्या वह्निरसेति यथाश्रुतम् । इषुवद्गच्छतीति इषुर्वायुस्तस्माज्जातो मेघः । धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातो हि मेघ इति कालिदासोक्त्या पञ्चमहाभूतमयत्वेन वायोरधिकभागत्वात् । मेघपदेन सप्तदशसंख्या प्रसिद्धा । तया गुणिता । अश्विनौ द्वयमिति मध्यपदलोपिसमासादिषु गजाश्विनश्चतुस्त्रिंशत् । अतो दुष्टं कन्दुकपृष्ठजालवदित्यादि लयश्चतुर्धेत्यन्तं ग्रन्थो व्यर्थ इत्याहुस्तन्न । पदार्थानामसंगतत्वाद्बाणभूजङ्गमेति दीर्घत्वापत्तेश्च ॥६५॥

केदारदत्तः—पृथ्वी के बहुत प्रकार के प्रलय भेदों का व्याख्यान किया जा रहा है—

प्राणियों के विनाश का नाम भी प्रलय है जो प्रतिदिन में प्रतिक्षण भी होता रहता है इस प्रलय का नाम दैनन्दिनीय प्रलय है ।

ब्रह्मा के एक दिनान्त में अर्थात् चतुर्युगीय एक महायुग मापक १००० महायुगों के १ ब्रह्मदिनान्त में जो प्रलय होता है उसे ब्राह्म दिनान्त का प्रलय कहते हैं । इस प्रलय में क्षीण पाप पुण्य का समग्र लोक ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्म दिनान्त के अनन्तर ब्रह्म की रात्रि शेष में पुनः सृष्टि का निर्माण होता है और ब्रह्मा के मुखादि अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रान्त्यजादि की पुनः उत्पत्ति होती है । ब्रह्म दिनारम्भ में एक योजन मात्र भूमि के विस्तार की जो वृद्धि होती है उसी का प्रलय होता है ।

तथा अपने मान के दिन मास वर्षों में ब्रह्मा की शतायु प्रमाण वर्षों की पूर्ति समय में यह सारी पृथ्वी-एवं ब्रह्माण्ड के सभी ग्रह नक्षत्रादिक पिण्डों का विनाश हो जाता है, यही महाप्रलय कहा जाता है । अर्थात् पञ्च भौतिक पिण्डों में पृथ्वी का जल में, जल का तेज (विद्युत) में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का अहङ्कार में, अहङ्कार का महत्तत्त्व में, और महत्तत्त्व का पूर्ण प्रकृति में अर्थात् अव्यक्त में प्रलय हो जाता है ।

पुनः भगवान् की सृष्टि करने की इच्छा होने से प्रकृति पुरुष में क्षोभ होने से प्रकृति से पुनः जीवों का स्वयं आगमन होकर सृष्टि क्रम यथापूर्व बनता रहता है।

ज्ञानरूपी अग्नि से विदग्ध सकल पाप पुण्य शरीरी योगी महात्माओं का मन, विषयों से पृथक् होकर अखिल ब्राह्माण्ड नायक श्री भगवतचरणों में मन समर्पित होकर शरीर त्याग से जो जीव अनिवृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्म-लीन हो जाने पर पुनः जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त होने का नाम आत्यन्तिक लय या प्रलय कहा जाता है ॥६२॥६३॥६४॥६५॥

अथ ब्रह्माण्डगोलमाह—

भूभूधरत्रिदशदानवमानवाद्या ये याश्च धिष्ण्यगगनेचरचक्रकक्षाः।
लोकव्यवस्थितिरुपर्युपरि प्रदिष्टा ब्रह्माण्डभाण्डजठरे तदिदं समस्तम् ॥६६॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥६६॥

मरीचिः—अथ पूर्वोक्तभ्वादिसंस्थानोपसंहारव्याजेन ब्रह्माण्डगोलं वसन्ततिलकयाऽऽह—**भूभूधरेति**। तत्। इदं प्रतिपादितं समस्तभुवनादिकं ब्रह्माण्डभाण्डजठरे ब्रह्माण्डगोललक्षणं यद्ब्रह्माण्डं तस्योदरे मध्येऽस्तीत्यर्थः। तत्किमित्यपेक्षायामाह—भूभूधरेति। भूर्भूमिः। भूधराः पर्वताः। त्रिदशा देवाः। दानवाः। मनुष्याः। आद्यपदात्सिद्धोरगा ये उक्ताः। या धिष्ण्यगगनेचरयोश्चक्रकक्षाः। नक्षत्राणामाश्रयभूतं चक्रं मूर्तो गोलो ग्रहाणां कक्षा उपर्यु-पर्यवस्थानमाकाश इति क्रमेणान्वयः। चः समुच्चये। उपर्युपरि नक्षत्रसंस्थानोपरि। यथोत्तरं लोकावस्थितिः खे महः स्याज्जनोऽतोऽल्पानल्पैः स्वैस्तपः सत्यमन्त्य इत्यनेनोक्तं यावत्तत्सर्वमित्यर्थः ॥६६॥

केदारदत्तः—ब्रह्माण्डभाण्ड जठर में, पृथ्वी, पहाड़, देवता, दानव, मानवादि, तथा नक्षत्र ग्रह और नक्षत्र ग्रहों के भ्रमण मार्ग (कक्षा) अर्थात् भूः, भुवः स्वः महः जनः, तपः, सत्यम्—अन्त्य आदि अनेक लोकालोक यथास्थान स्थित हैं ॥६६॥

इदानीमन्योदितं ब्रह्माण्डमानं पूर्वं कथितमपि प्रसङ्गादनुवदति स्म—

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्भुजङ्गेन्दुभि-—
१८७१२०६९२००००००००
र्ज्योतिःशास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः।
तद्ब्रह्माण्डकटाहसंपुटतटे केचिज्जगुर्वेष्टनं
केचित्प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥६७॥

करतलकलितामलकवदमलं सकलं विदन्ति ये गोलम् ।
दिनकरकरनिहततमसो नभसः स परिधिरुदितस्तैः ॥६८॥
ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि ।
यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ॥६९॥

वा० भा०—प्रमाणशून्यत्वात्प्रयोजनाभावाच्चास्माभिर्ब्रह्माण्डमानं न कथितमित्यर्थः ॥६७॥६८॥६९॥

इति श्रीगोलभाष्ये भुवनकोशप्रश्नाध्यायः ।

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाद्ब्रह्माण्डगोलपरिमाणज्ञानार्थं मध्याधिकारान्तर्गतकक्षाध्यायादिभूतं शार्दूलविक्रीडितवृत्तमेवात्रानुवदति—**कोटिघ्नैरिति** । ज्योतिर्विदभिमतकक्षैव ब्रह्माण्डगोलपरिधिमानमिति तात्पर्यार्थः ॥६७॥

ननु ब्रह्माण्डगोलेऽयं बाह्यपरिधिरन्तर्वेति संशय इत्यतो निश्चयं गीत्या प्रागुक्तयाऽऽह—**करतलेति** । पूर्वमियं व्याख्याता ॥६८॥

अथ ब्रह्माण्डमानस्य स्वमतेनानुक्तिदर्शनात्प्रसङ्गात्खकक्षाभिप्रायं स्वमतेनोक्त मत्रेन्द्रवज्रयाऽनुवदति—**ब्रह्माण्डमिति** । पूर्वं प्रतिपादितार्था ॥६९॥

अथ भूमिप्रश्नोत्तरभूतप्रतिज्ञाताध्यायः समाप्त इति फक्किकयाऽऽह—इति गोलाध्याये भुवनकोश इति । गोलाध्याये सिद्धान्तशिरोमण्युत्तरार्धग्रन्थे । भुवननानां चतुर्दशलोकानां कोशः संग्रहः । संस्थानेनोक्त इत्यर्थः ।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
सूक्तः शिरोमणिमरीच्यभिधे धरादिसंस्थामयो भुवनकोश इतः समाप्तिम् ॥
इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकसुतविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचौ भुवनकोशाध्यायः ॥

केदारदत्तः—इस विषय में इसी सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के ग्रह गणिताध्याय के मध्यमाधिकार की श्लोक २४, २५, २६, २७ का केदारदत्तीय "शिखा" भाष्य द्रष्टव्य है, अतएव ग्रन्थ गौरव भय से यहाँ पर पुनः पिष्टपेषण अनावश्यक है ॥६७॥६८॥६९॥

इति सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के भुवनकोशाध्यायः-३ की श्री पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

●

अथ मध्यगतिवासना

इदानीं भूमेरुपरि सप्त वायुस्कन्धास्तानाह—

भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वः स्यादुद्वहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च।
अन्यस्ततोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः ॥१॥

भूमेर्बहिर्द्वादश योजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम्।
तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यग्गतिस्तस्य तु मध्यसंस्था ॥२॥

नक्षत्रकक्षाखचरैः समेतो यस्मादतस्तेन समाहतोऽयम्।
भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन ॥३॥

वा० भा०—प्रसिद्धमिदम् ॥१॥२॥३॥

मरीचिः—अथ संसिद्धाद्युगादिभगणैः खेटोऽनुपातेन यः स्यात्तस्यास्फुटता कथमित्यादि-प्रश्नोत्तरभूतमध्यगतिवासनाध्यायो व्याख्यायते। तत्र मूलभूतभचक्रचलनकारणत्वेन वायु-विशेषान् विवक्षुः प्रथमं वायुभेदान्वसन्ततिलकयाऽऽह—**भूवायुरिति**।

इह ब्रह्माण्डगोलान्तः। इमे सप्त पवना वायवो गोलाकाराः प्रसिद्धाः। पुराणोक्ता इत्यर्थः। इमे क इत्यतस्तेषां क्रममाह—भूवायुरिति। तत्र प्रथमो वायुगोलो मध्यभूमि-गोलरूपः। भूमिसंबन्धाद्भूवायुः पृथ्व्यभितो भूवायुगोलः प्रथममस्तीत्यर्थः। ननु वायो-श्चलत्वात्स वायुः कथं वातीत्यत आह—आवह इति। आसमन्ताद्वहतीत्यावहः। सर्वदि-गभिमुखसंचारोऽनियतगतिक इत्यर्थः। कीर्तितः कुमरुदावहः परैरिति लल्लोक्तेश्च। एतेन भूमेर्द्वादशयोजनेषु वसति क्ष्मावायुरत्राम्बुदस्तस्मादावहसंज्ञकः प्रवह इत्यस्मात्स पश्चाद्ग-तिरित्यनेन भूवायुरावह इति वायुद्वयमुक्तमिति निरस्तम्। तदूर्ध्वस्तस्माद्वायुगोलादूर्ध्वं स्थितिर्यस्येति तदूर्ध्वः प्रवहगोलरूपो द्वितीयोऽस्ति। तदनु ततः प्रवहादनु पश्चादूर्ध्व-मित्यर्थः। उद्वहो। गोलाकारो वायुस्तृतीयः। चतुर्थः संवहसंज्ञो वायुगोलश्चकारादुद्वह-वायूर्ध्वमित्यर्थः। ततः संवहादपिशब्दादूर्ध्वमित्यर्थः। अन्यः पञ्चमो वायुगोलः सुवह-संज्ञः। एतेनाज्ञानात्सप्तवाय्वनुपपत्तिभयेन सुवहो नाऽऽदृतः। तस्मादुद्वहसंवहौ परिपरापूर्वा-परोतत्परावित्यनेन तदुपेक्षणीयम्। अस्मात्सुवहादूर्ध्वं परिपूर्वकः। परिशब्दः पूर्वं यस्येति परिपूर्वको वहशब्दस्तेन षष्ठो वायुगोलः परिवहसंज्ञक इत्यर्थः। सप्तमो वायुगोलः परा-वहः। उक्तवायुभ्यो बाह्य ऊर्ध्वस्थः। अनेनास्योपरि वायुगोलो नास्तीति सूचितम्।

स्यादावहः प्रवह उद्वहसंवहौ च स्वादिर्वहः परिवहश्च परावहश्च । स्कन्धाः क्रमेण मरुतामिह सप्तसंख्या विश्वंभरापवनमावहमाहुरेके इति श्रीपत्युक्तेः ॥१॥

अथ द्वितीयवायोरादिज्ञानार्थं प्रथमवायुगोलस्य भूमितोऽवस्थानावधिं तदाश्रितपदार्थांश्च द्वितीयवायुगोलवहनस्वरूपं चोपजातिकयाऽऽह—**भूमेरिति** ।

भूमेर्भूगोलपृष्ठादभितो बहिर्द्वादश योजनानि तत्पर्यन्तमित्यर्थः । भूवायुरावहाख्योऽस्ति । एतेन वायुगोलातिबाह्यपरिधिर्भूगर्भतो भूव्यासार्धद्वादशयोजनरूपव्यासार्धान्तरित इति सूचितम् । शराद्रिरामानलयोजनानि भूवायुकक्षा कथिता पृथिव्याः । समुद्रशैलाम्बरशीतभासस्तदीयविष्कम्भमुशन्ति सन्त इति लल्लोक्तेः कठ (षड्) योजनानि भूमेर्भूवायुर्भ्रमति सर्वकाष्ठास्विति लघ्वार्यभटोक्तेश्च । अत्र भूवायौ । अम्बुदा मेघाः। विद्युत्प्रसिद्धा । आद्यशब्दादिन्द्रधनुर्गन्धर्वनगरकरकादीनि । निर्घातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्तः कुवाद्योः संदृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वं तथाऽन्यदिति श्रीपत्युक्तानि संगृह्यन्ते । सुजलजलधिमध्ये वाडवोऽग्निः स्थितोऽस्मात्सलिलभरनिमग्नादुत्थिता धूममालाः । वियति पवननीताः सर्वतस्ता द्रवन्ति द्युमणिकिरणतप्ता विद्युतस्तत्स्फुलिङ्गा इत्यनेन स्वादूदकसमुद्रोत्पन्नः । सजलमेघपरम्परा धूमज्योतिःसलिलमरुत्संघात्मका अचेतनाः । प्रत्यहं तदनागमस्तु वायोस्तथाविधेश्वरेच्छादिप्रयुक्तवेगाभावात् । आगमे च तत्कल्पनात् । किमत्र विनिगमकमिति चेन्न । तथाविधेश्वरेच्छाया नियामकत्वात् । गर्जितं तु जलेऽनलसंबन्धादुच्छलनं वायुना च धूमस्येतस्ततो नयनम् । तदुभयसंयोगजकर्मवशेनाऽऽकाशाच्छब्दोत्पत्तिरिति । तत्र करकास्तु-

उद्भूतैः पांसुभिर्भूमेः प्रचण्डपवनोच्चयात् । मेघमण्डलमानीतैर्मालिन्यपरिवर्जितैः ।
मिश्रणाज्जलबिन्दूनां पिण्डीभावो भवेदिह । दृषद्वन्निपतन्त्येते द्रवन्ते च पुनः क्षिताविति ।
अकस्माद्वैद्युतं तेजः पार्थिवांशकमिश्रितम् । वात्यावद्भ्रमदाघाते प्रतिकूलानुकूलयोः ।
वाय्वोस्तत्पतितं प्रायो ह्यकालप्राप्तवर्षणे । यतः प्रावृषि नैवैते पांसवः प्रसरन्ति हि ।
तत्त्रेधा पार्थिवं चाऽऽप्यं तैजसं तत्तदुत्थितैः । गर्तनिर्जरदाहैश्च भूमिस्थैरनुमीयत इति ।

विद्युत्पातसंभवश्च । इन्द्रधनुस्तु । सूर्यस्य विविधा वर्णाः पवनेन विघट्टिताः । कराः साभ्रे वियति धनुःसंस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुरिति वराहमिहिराचार्योक्तम् । संमूर्छिता रवीन्द्वोः किरणाः पवनेन मण्डलीभूताः । नानावर्णाकृतयस्तन्वभ्रे व्योम्नि परिवेष इति । इति परिवेषः । उल्का तु—यासां गतिर्दिवि भवेद्गणितेन गम्यास्तास्तारकाः सकलखेचरतोऽतिदूरे । तिष्ठन्ति या अनियतोद्गतयश्च ताराश्चन्द्रादधो हि निवसन्ति तदाश्रितास्ताः । शीतांशुवज्जलमयास्तपनात्स्फुरन्ति ताश्चावहप्रवहमारुतसंधिसंस्थाः । पूर्वानिले स्तिमितभावमुपागतेऽस्मिंस्ताराः पतन्ति कुहचिद्गुरुतावशेनेति प्रसिद्धाः । वर्षान्ते निर्जला मेघा वायुना विरलीकृताः । ईषद्बाष्पावशेषास्तु पतन्ति वसुधातले । धूमावयवरूपैस्तैश्छाद्यन्ते गिरयो द्रुमाः । ग्रामारामादयस्ते तु पुनरर्कांशुशोषिताः । भूवायुना विशीर्णास्तु विलीयन्ते नभस्तले । तद्रजःसंहतिर्धेनुमहिषीक्षीरनाशकृदिति रजःसंहतिप्रतिपादनम् । संध्यारागस्तु—भूम्युत्थितै रजोधूमैर्दिगन्तव्योम्नि संस्थितैः । सूर्यस्य किरणैर्मिश्रैरारुण्यमवभासते । विरला-

वयवं वस्तु यद्दृष्टेर्व्यवधायकम् । तेनाभ्रमरुणीभूतं दृश्यते शक्रचापवत् । संध्यारागः स विज्ञेयो दिनादौ च दिनात्यये । राकायां तु निशावक्त्रे तथैवेन्दुकरोद्गम इति सर्वं ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धमतोऽत्र तद्विचारानुद्योग इति मन्तव्यम् । अथैते मेघादयोऽनियतगतिकाः प्रवहे न संभवन्ति । ततोऽप्यूर्ध्वेऽपि न संभवन्ति । ग्रहनक्षत्राणां मेघच्छन्नत्वानुपपत्तेः । इति भूवायौ तिष्ठन्तीति युक्तमुक्तम्—तदूर्ध्वग इति । यो द्वितीयः प्रवहवायुस्तस्माद्भूवायोरूर्ध्वं गतो विद्यमानः स प्रवहवायुगोलो नित्यमनवरतं प्रत्यग्गतिः पश्चिमाभिमुखसंचारी । सोऽनियतगतिको न भवतीत्याह—तस्येति । प्रवहस्य मध्यसंस्था मध्यमा स्थितिः । अन्यूनानधिकवेगेन संस्थित इत्यर्थः । तुकारादन्ये वायवोऽनियतगतिकाः । अनियतदिगभिमुखसंचारिण इति सूचितम् ।।२।।

अथ प्रकृतमूलभूतभचक्रनित्यभ्रमणमुपजातिकयोपपादयति—**नक्षत्रेति** ।

अतोऽस्मात्कारणात्प्रवहवायुसद्भावादित्यर्थः । तेन पश्चिमाभिमुखनियतगतिना प्रवहवायुना । अयं प्रत्यक्षो भपञ्जरः । भानां नक्षत्राणामधिष्ठानार्थं पञ्जरः पाञ्चभौतिको गोलाकारो मध्याकाशात्मको नीलरूपो ब्रह्मनिर्मितः । समाहतः प्रतिप्रदेशं तदाघातगोचरोऽजस्रमनवरतं भ्रमति । स्वाकाशावरणेन तदाधारोऽपि प्रवहवायुरित्यस्यान्तरिक्षावस्थानेऽप्यक्षतिः । ननु भपञ्जरस्य तदाघाताद्भ्रमणसंभवेऽपि ग्रहाणां प्रत्यक्षसिद्धं भ्रमणं कथमुपपन्नं स्यादत आह—खेचरचक्रयुक्त इति । खेचराणां ग्रहाणां चक्रं समूहः सप्तग्रहास्तैर्युतः । तथा च प्रवहवायोराघातेन केवलं भपञ्जर एव भ्रमतीति न, अपि तु ग्रहा द(अ)पि तदनुसारेण भ्रमन्तीति भावः । ननु भपञ्जरेण ग्रहाणां संबन्धाभावात्पञ्जरभ्रमणे तेषां भ्रमः कथं किंच नक्षत्रतत्पञ्जरयोर्भिन्नत्वात्तत्पञ्जरभ्रमणे नक्षत्राणां भ्रमणमप्यनुपपन्नमत आह—नक्षत्रकक्षाखचरैरिति । यस्मात्कारणादयं भपञ्जरो नक्षत्राणि कक्षाक्रमेण खचराश्च ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण वा । कक्षाशब्दो रूढः । तैः समेतो युतः । तथा च [ग्रह]नक्षत्रपञ्जरयोराधेयाधारत्वेन भेदेऽप्या धारचलन आधेयचलनस्य सुप्रसिद्धत्वान्नक्षत्रभ्रमणे न क्षतिरन्यथा भपञ्जरत्वानुपपत्तेः । शन्यादिसप्तग्रहाणां भपञ्जरान्तर्गताकाशस्थानां भपञ्जरेण स्वाश्रयाधेयत्वेन संबन्धसद्भावाद्भपञ्जरान्तर्गतप्रवहवायुना ग्रहभ्रमणमप्युपपन्नमिति भावः । अत्र पञ्जरशब्दसामर्थ्यादाश्रयभूतमूर्तगोलान्तःपरिधिभागः एवेतरततो नक्षत्राणि ब्रह्मणा स्थापितानि । अन्यथा तददर्शनापत्तेः । अत एव नक्षत्राणां साक्षादाकाशावस्थानाभावाखचरत्वं न । ग्रहाणां तादृशाधाराभावात्खचरत्वं पूर्वैरङ्गीकृतमित्यवधेयम् । केचित्तु नक्षत्राश्रयमूर्तपञ्जरकल्पने मानाभावाद्गौरवाच्चेदमुपेक्ष्य यस्मात्प्रवहवायुर्नक्षत्रकक्षाखचरैः समेतोऽतस्तेन प्रवहानिलेन समाहतो भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तोऽजस्रं भ्रमतीत्यर्थान्नक्षत्राणि तदधःस्था ग्रहाश्च प्रवहवाय्वाधाराणि प्रवहवायुनैव स्वस्वमार्गे भ्रमन्ति । तृणपर्णवसनादेर्वाय्वाधारेण तज्जनितान्तरिक्षगमनादर्शनादित्याहुस्तन्न । सृष्ट्वा भचक्रमित्यादिना प्रथमपूर्वार्धे भचक्रस्य वायौ स्थापनोक्त्वा नक्षत्रकक्षाखचरैः समेत इत्यस्य पौनरुक्त्यापत्तेः । तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्व इति ग्रन्थपूर्वार्धोक्तस्य व्यर्थत्वापत्तेश्च । किंच भवन्मते

नक्षत्राणां तेजोगोलत्वेऽपि भूभागानामुपष्टम्भकत्वस्वीकारात्परस्परं न्यूनाधिकतद्बिम्बदर्शनेन गुरुलघुत्वसिद्ध्या वायुना समकालभ्रमणानुपपत्तिः । नक्षत्राणां मूर्ताधारकल्पने च वायुनाऽऽधारभ्रमणे तत्स्थानामतुल्यगुरुलघुबिम्बनक्षत्राणां समकालभ्रमणोपपत्तेः । न चैवं ग्रहगोला अपि मूर्ता एव कल्प्या इति वाच्यम् । ग्रहाणामूर्ध्वाधोगमनस्याणुपृथुबिम्बदर्शनेन प्रत्यक्षसिद्धस्यानुपपत्तेः बिम्बस्य गोलपरिधिभेदकत्वासिद्धेः । गोलस्य पञ्चमहाभूतत्वेन सदा ग्रहनक्षत्राणामदर्शनापत्तेः । पदार्थान्तरकल्पनस्य गौरवाच्च । कल्पनाया दृष्टमूलकत्वात् । एतेन सप्तग्रहाणां सप्ताकाशास्तदुपरि भचक्राकाशस्तदुपर्यप्याकाशोऽस्ति राशिसंज्ञः । स च नक्षत्रघटिषष्ट्या नियतपश्चिमगत्यैकवारं भ्रमति । तद्भ्रमणेनैव भचक्राकाशः शन्यादिकक्षास्थानीयाः सजीवाः सावयवाः परस्परसंलग्ना आकाशाश्च पश्चिमाभिमुखं भ्रमन्ति । शन्याद्याकाशास्तु स्वशक्त्या पूर्वस्यां यान्ति । काचविमलमणिवन्निर्मलसचेतने सावयवे भूताद्यावेशवति स्वस्वाकाशाधिष्ठिता नक्षत्रग्रहा भूदृष्ठस्थैः सम्यगेव दृश्यन्ते । यथा रत्नघटमध्यस्थोऽपि दीपो दूरस्थैर्यथावस्थित एवावलोक्यते । खस्था गोलाकारा विशिष्टशक्तिमन्तो भूमिवन्निराधारा जीवविशेषा एवाऽऽकाशशब्देनोच्यन्ते । तैराकाशैरेव मण्यादिवत्स्वाधिष्ठितो निर्गतिकोऽपि ग्रह इतस्ततो नीयते । आकाशगतिरेव तत्स्थग्रहगतिरिति लोकैरुपचर्यते । कदलीपुष्पपुटवच्च तेषामाकाशानां संलग्नतेति यवनमतमपास्तम् । स्यादेतत् । नक्षत्रग्रहाणामुदयास्तदर्शनोपपत्त्यर्थं पश्चिमदिगभिमुखनियतगतिप्रवहवायोः कल्पनागौरवं कितूक्तोपपत्त्यर्थं लाघवाद्भूमेरेव नियतपूर्वगतिः षष्टिनाक्षत्रघटीनिष्पन्नपरिवर्तरूपा कल्प्यतां भपञ्जरस्तु स्थिर एव । विरुद्धभानं च नौस्थो विलोमगमनादचलं यथा च ना मन्यते चलति नैवमिला भ्रमेण । लङ्कासमापरगतिप्रचलद्भचक्रमाभाति सुस्थिरमपीति वदन्ति केचिदिति सिद्धान्तशेखरे निरस्तमिति चेन्न । यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयः खगाः । इषवोऽभिनभः समुज्झिता निपतन्तः स्युरपांपतेर्दिशि । पूर्वाशाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद्घनः । अथ मन्दगमात्तदा भवेत्कथमेकेन दिवा परिभ्रमः । इत्यनेन लल्लेन । यद्येवमम्बरचरा विहगाः स्वनीडमासादयन्ति न खलु भ्रमणे धरित्र्याः । किंचाम्बुदा अपि न भूरिपयोमुचः स्युर्देशस्य पूर्वगमनेन चिराय हन्त । भूगोलवेगजनितेन समीरणेन केत्वादयोऽप्यपरदिग्गतयः सदा स्युः । प्रासादभूधरशिरांस्यपि संपतन्ति तस्माद्भ्रमत्युडुगणस्त्वचलाऽचलैवेत्यनेन श्रीपतिना च तत्पक्षनिरासात् । भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः । पर्येत्यजस्रं तन्नाधो ग्रहकक्षा यथाक्रममिति सूर्यसिद्धान्तोक्तेश्च ॥३॥

केदारदत्तः—वायु के विशेष नामों के व्याख्यान के साथ वायु के भेद बताये जा रहे हैं—

सौरमण्डल के भीतर गोलाकार पृथ्वी के ऊपर सात प्रकार के पवन (वायु) भी निरन्तर भूमण्डल के ऊपर आकाश में अपनी गतियों से प्रवाहित होते हैं या प्रचलन कर रहे हैं। जिनमें प्रथमादिक वायु गोलों के नाम इस प्रकार से हैं।

१. भूवायुगोल जिसे आवह कहते हैं और वह जो भूपरिधि के साथ क्रियाशील है, अर्थात् यह वायु पृथ्वी के सभी पूर्वापरादि दशों दिशाओं में प्रगतिशील हैं।

२. भू वायु गोल के ऊपर दूसरा प्रवह नामक गोल में प्रवह वायु चलता है।

३. प्रवह वायु गोल के ऊपर उद्वह संज्ञक वायु गोल है।

४. उद्वह संज्ञक वायु गोल के ऊपर में संवह संज्ञक वायु गोल है।

५. संवह संज्ञक वायु गोल के ऊपर 'सुवहं' संज्ञक वायु गोल है।

६. 'सुवह' संज्ञक वायु गोल के ऊपर परिवह संज्ञक वायु गोल है।

७. परिवह संज्ञक वायु गोल के ऊपर परावह संज्ञक वायु गोल है।

पृथ्वी से नियत स्थानीय परावह वायु संज्ञक गोल के ऊपर में वायु का अभाव होने से तदुपरि के समीपग चन्द्र विम्ब में वायु का अभाव स्वयं सिद्ध होता है ॥१॥

भूमि के ऊपर १२ योजन लगभग भूपृष्ठ से ६० मील ऊपर में की दूरी पर भूवायु गोल मण्डल में सजल मेघ, विद्युत, इन्द्र धनुष, गन्धर्व नगर आदि पदार्थ रहते हैं।

भूवायुगोल मण्डल के ऊपर प्रवह वायु मण्डल है और इस प्रवह वायु मण्डल का नित्य पृथ्वी के चारों तरफ प्रत्यक् गमन (पश्चिमाऽभिमुख) पश्चिम भ्रमण होता है। प्रवह वायु की गति एक रूपा स्थिरात्मिका मध्यमागति होती है ॥२॥

नक्षत्र और ग्रहों से युक्त यह भचक्र नित्य प्रवह वायु के वेग से पूर्व से पश्चिमाभिमुख भ्रमण करता रहता है।

अपनी-अपनी कक्षाओं में स्थित सूर्यादि सात ग्रहों के साथ अनन्त संख्यक नक्षत्रों में प्रसिद्ध अश्विनी से रेवती तक २७ नक्षत्रों के साथ यह भचक्र प्रतिक्षण प्रवह वायु के वेग से भ्रमण करता देखा जाता है। इस भचक्रमें २७ नक्षत्रों में किसी भी नक्षत्र की स्वयं की गति सत्ता नहीं है। गति शून्यता के कारण इन तारकापुञ्जों की संज्ञा नक्षत्र संज्ञा कही गई है। तथा इस भचक्र स्थित प्रवह वायु की गति के साथ स्वयं की गति से गमन शील होने से प्रत्येक ग्रह अपनी कक्षा में प्रतिक्षण विलक्षण गति के साथ पूर्वाभिमुख गमन करता है ॥३॥

इदानीं ग्रहाणां पूर्वगतिमनुपलक्षितामपि दृष्टान्तेन दृढीकुर्वन्नाह—

यान्तो भचक्रे लघुपूर्वगत्या खेटास्तु तस्यापरशीघ्रगत्या।
कुलालचक्रभ्रमिवामगत्या यान्तो न कीटा इव भान्ति यान्तः ॥४॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥४॥

मरीचिः—अथाश्विनीस्थग्रहस्य कालान्तरे भरण्यादिस्थत्वदर्शनान्यथानुपपत्त्या ततोऽपराशाभिमुखं भपञ्जर इत्यादिनोक्तग्रहपूर्वगतिरसंगता प्रत्यक्षत्वाभावादित्यतस्तामुपजातिकया द्रढयति—**यान्त इति**। खेटा ग्रहास्तस्य भपञ्जरस्यापरशीघ्रगत्या पश्चिमदिगभि-

मुखप्रवहवायुप्रेरितद्रुततरगत्या । षष्टिनाक्षत्रघटीसंबन्धिचक्रपरिवर्तरूपया स्वस्वकक्षायोजनमितप्रदेशात्मिकया यान्तो गच्छन्तः प्रत्यक्षोपलब्धा भचक्रे । भपञ्जरपरिधिविशेषरूपक्रान्तिवृत्तात्मके लघुपूर्वगत्या, अपरदिगभिमुखप्रवहवायुजनितकक्षायोजनमितगतेरतिन्यूनभूतया पूर्वगत्या क्रान्तिवृत्तैकदेशाप्रदेशेन यान्तो गच्छन्तोऽपि न भान्ति । पूर्वदिगभिमुखगमनकर्माश्रया ग्रहा इति प्रतीतिः प्रत्यक्षतो लोकानां न भवतीत्यर्थः । पश्चिमपूर्वगत्योस्तुल्यत्वे ग्रहाणां चलनानुपपत्तेः । पूर्वगतेरधिकत्वे तु पूर्वगमनस्य प्रत्यक्षत्वापत्त्या पश्चिमगमनस्याप्रत्यक्षत्वापत्तिरतो न्यूनगतेरभावात्पूर्वगतिः प्रत्यक्षतो न दृश्यत इति भावः । तुकारान्नक्षत्राणां पूर्वगतिर्ग्रहवन्नास्तीति सूचितम् । ननु ग्रहाणां पश्चिमगतिः प्रवहवायुकृता पूर्वगतिस्तु किंप्रयुक्तेति चेन्न । तस्यापरशीघ्रगत्येत्यत्र तस्येत्यनेन परसंबन्धोक्तिवल्लघुपूर्वगत्येत्यत्र परसंबन्धानुक्त्या स्वत एव ग्रहाणां पूर्वगतेः सद्भावात् । न च स्वशक्त्यैव नक्षत्रग्रहाः पश्चिमाभिमुखं यान्ति । पूर्वस्मिन्प्रवहवायुना तस्य पूर्वाभिमुखगमनकल्पनादिति वाच्यम् । भपञ्जरस्थानेऽपि प्रवहवायोः सत्त्वान्नक्षत्राणामपि ग्रहवत्पूर्वगत्युपलम्भप्रसङ्गात् । भपञ्जरान्तरिक्षावस्थानार्थं वायुकल्पनस्याऽऽवश्यकत्वाच्च । आधारगमनोपजीव्ययोर्वाय्वोः कल्पने तु गौरवात् । ग्रहाणां पूर्वगतेस्तुल्यत्वापत्तेश्च प्रवहः पश्चिमो वायुरिति लघुवसिष्ठसिद्धान्ताद्युक्तेश्च । यद्यपि भपञ्जराधो ग्रहाणा कक्षाक्रमेण स्वस्वाकाशे गोलेऽवस्थानादन्तरिक्षे पूर्वगमनसंभवाद्भचक्रे लघुपूर्वगतया यान्त इत्युक्तमसंगतं तथाऽपि स्वस्वाकाशगोले पूर्वस्मिन्नाकाशमार्गे गच्छन्तोऽपि ग्रहाः कियच्चलिता इति प्रश्नोत्तरं गतिसंख्याज्ञानरूपं स्वस्वमार्गेण शक्यमतः पूर्वबिम्बावस्थानसमसूत्रेण भपञ्जरे यत्स्थानं चलितबिम्बस्थानसमसूत्रेण यत्रावस्थानं तयोरन्तरसूत्रेण क्रान्तिवृत्तैकदेशेन गतिज्ञानसंभवात्प्रवहवायुसंबन्धेन समसूत्रेण ग्रहावस्थानं भचक्रे युक्तमत एव कक्षावृत्तं क्रान्तिवृत्तानुकारमित्युक्तं युज्यते । ननु वस्तुता ग्रहाः पूर्वस्मिञ्शक्त्या यान्ति तर्ह्यवश्यं तत्पूर्वगमनस्य प्रतिक्षणं दर्शनापत्तिः । पश्चिमतोऽधिकमात्रेणैव दर्शनविशेषादित्यत आह—कुलालचक्रभ्रमिवामगत्येति । इवशब्दो दृष्टान्तद्योतकः । तेन यथा कुलालो घटनिर्मापकः । तस्य यद्घटोत्पादकं चक्रं कीलस्थितमध्यकमन्तरिक्षस्थं सिद्धम् । तस्य या दण्डजनितो भ्रमो भ्रमणं यद्दिगभिमुखं तद्वामात्तद्विपरीतदिगभिमुखा या गतिश्चक्रपरिध्यंशरूपा तया यान्तः स्वव्यापाराद्गच्छन्तः कीटाः पिपीलिकादयोऽणुरूपा जन्तुविशेषा नो भान्ति । स्वव्यापाराद्गच्छन्तीति न प्रतिभाति । किंतु चक्रभ्रमानुकारमेव गच्छन्तीति भान्ति तद्वद्ग्रहा अपि पूर्वदिशि स्वशक्त्या गच्छन्तोऽपि प्रवहप्राबल्यात्पश्चिमदिश्येव गच्छन्तीति भान्तीत्यर्थः । किमत्र मानमिति चेन्न । कुलालचक्रे भ्रमप्रागभावाद् यत्र कीटस्थानं तत्र चिह्नं कृत्वा भ्रमविरतौ कीटदर्शनं तत्रैव न भवति । किंतु भ्रमविपरीतदिशि तच्चिह्नात्कियताऽन्तरेण भवतीति प्रत्यक्षप्रमाणात् । ननु ग्रहाणां पूर्वगतिकल्पने गौरवम् । लाघवात्प्रवहवायुकृतपश्चिमदिगभिमुखप्रत्यक्षसिद्धग्रहभ्रमेणैवाश्विन्यादिस्थस्य भरण्यादिस्थत्वापत्तेः । तथा हि । भपञ्जरस्य प्रवहवायुना षष्टिनक्षत्रघटीभिः परिवर्तस्ततोऽत्रस्ताच्छनिबिम्बं गुरु तेन

भपञ्जरस्य नेतुमशक्यमिति नाक्षत्रषष्टिघटीभिः पूर्वभपञ्जरस्थानात्पूर्वतोऽवलम्बः शनेः। ततोऽधस्तात्क्रमेण गुरुभौमादयश्चन्द्रान्ता यथोत्तरं गुरुभूता इत्यधिकमुत्तरोत्तरं तेषां पूर्वतोऽवलम्बः प्रवहवायुकृतः। अत एव नक्षत्रग्रहाणामेका पश्चिमगतिः। तत्र नक्षत्राण्यति शीघ्राणि तदधःस्थाः शन्यादयो यथोत्तरं मन्दगतस्य इति। तथा च सिद्धान्तसुन्दरे—भवलये प्रवहानिलवेगतो भ्रमति स द्युचरोऽपरदिङ्मुखम्। द्रुतमपूर्वगतीनमुखा ग्रहा गुरुतयाऽन्तरिताः किल पूर्वत इति। न चैवं बुधचन्द्रशुक्रभौमसूर्यगुरुशनीनां यथोत्तरं बिम्बाधिक्यवशेन गुरुताधिक्यात्तत्क्रमेणैव यथोत्तरं पूर्वतोऽधिकावलम्बनापत्तिः। नहि चन्द्राच्छुक्रादयस्तथा येनोपपत्तिरिति वाच्यम्। उक्तक्रमानुरोधेन बिम्बमहत्त्वेऽपि कक्षाक्रमेण तद्गुरुत्वाभ्युपगमात्। अथेदमनुपपन्नम्। तेजसां गोलकः सूर्यो ग्रहर्क्षाण्यम्बुगोलका इत्यार्षवचनेनाधिकबिम्बे भूजलभागानामधिकानां तत्त्वाद्गुरुताधिक्यात्। भूजलयोरेव गुरुत्वेन सूर्यस्य गुरुत्वाभावादवलम्बनानुपपत्तिश्चेति चेन्न। चन्द्रव्यतिरिक्तग्रहनक्षत्राणां तैजसत्वाङ्गीकारात्। चन्द्रस्य तु शृङ्गोन्नतत्वानुपपत्त्या जलमयत्वाभ्युपगमः। ननु हन्तैवं पूर्वं सूर्यस्यैवावलम्बनानुपपत्तिरिदानीं तु चन्द्रव्यतिरिक्तानां सर्वेषां तदनुपपत्तिरिति सम्यक्त्वपक्षः समर्थित इति चेन्न। तैजसत्वेऽपि भूभागानां तत्रोपष्टम्भकत्वकल्पनेन गुरुत्वसिद्धेः। अथ गौरवेण ग्रहाणां गत्यपलापः कथं युक्तः। चन्द्रमण्डलापेक्षया बुधव्यतिरिक्तानामतिविस्तृतत्वेन तदपेक्षया गुरुताधिकत्वसंभावनया विधोः सकाशादर्कादीनामन्तरकलानामाधिक्यमेव स्यात्। सर्वत्रापि ग्रहनक्षत्रादिषु तेजोगोलरूपेषु पार्थिवस्योपष्टम्भकस्य त्वयैव स्वीकारादिति चेत्सत्यम्। सर्वत्र कार्यानुसारादेव निमित्तानुसरणमतश्चन्द्रमण्डले जलपृथिव्योरुभयोरपि गुरुत्वाश्रयत्वेनोपष्टभ्योपष्टम्भकद्वयसमाजादधिकैव गुरुता। रव्यादिषु च तेजसो गुरुत्वानाधारत्वादुपष्टम्भकपार्थिवावयवमात्रगौरवेण तदपेक्षया लाघवान्मरुता लोष्टतूलपिण्डयोरिवाऽऽशुविलम्बाभ्यां प्रत्यङ्नयनात्। क्वचिदुपष्टम्भकस्य त्वयाऽपि स्वीकारात्तज्जातीयत्वेन ममाप्यन्यत्र तथा प्रकल्पनस्य केनचिदप्यवार्यत्वात्। न च चन्द्रबिम्बव्यासः साशीतिचतुःशती। रवेस्तु सार्धानि षट्सहस्राणि द्वाविंशत्यधिकानि। ततो विस्तृतत्वेन विधुमण्डलोपस्थितोपष्टम्भकद्वयापेक्षया रव्यादिमण्डलोपष्टम्भकस्य भूयस्त्वसंभवेन सूर्यादीनां चन्द्राद्गौरवाल्पताया असंभव इति वाच्यम्। तत्र तूलपिण्डादिवद्विरलतयैवोपष्टम्भकस्वीकारात्। भौमादिष्वपि सर्वमपीदं तुल्यम्। अत्र केचित्। प्रकृष्टधर्मजत्वेन तैजसत्वेन चायोनिजत्वाद्बाल्यवार्धक्यादिरभावादपि सर्वेषामप्यर्कलोकवासिनां समशरीरत्वमेव। तथा चोपष्टम्भकमपि तत्र सममेवेति तुल्यगुरुत्वेनैव नावलम्बः। न च प्रतीतिबाधः। तदभावेऽपि स्वशक्त्यैव तदुपपत्ते। अथ कथमेषु फले चरसाम्यम्। तेषु भवन्नय एव परिमाणान्यथात्वोपदेशादुपलम्भाच्चेति चेन्न। तत्तत्संसर्गितेजःप्रसरानुसारं तुल्यपरिमाणमण्यादितेजःप्रकर्षानुकर्षवन्मण्डलन्यूनाधिक्यस्य सम्भवेन मण्डलाभिप्रायेणैव तथोपदेशात्। उपलम्भस्तु व्यवधानदोषाद्भ्रम एवाऽऽहुस्तन्न। यतोऽरुन्धतीवसिष्ठयोरेकलोकोपविष्टयोरश्विन्यादिता-

रागणस्य च प्रत्येकतारकास्वन्योन्यं व्यवधानतारतम्याभावेऽपि लघुत्वपृथुत्वोपलम्भेन तल्लोकनिवासिनामपि समशरीरत्वमशक्यनिर्वचमेवेति । अन्ये तु विवादास्पदमर्कमण्डल-मुपष्टम्भकशून्यमभिभूतगुणानधिकरणत्वाद्दीपवत् । यन्नैवं तन्नैवं यथा सुवर्णमिति व्याप्ते-र्व्यतिरेकीयत्वम् । अभिभूतरूपस्पर्शाद्यधिकरणत्वादिति हेतुः । आदिपदग्राह्यं चन्द्रवत्त्वं करकादौ व्यभिचारवारकम् । अन्यथा तत्रानभिभूतरूपस्पर्शयोः सत्त्वेनोपष्टम्भकशून्य-त्वाभावेन व्यभिचारापत्तिरिति । तन्न । हेतोरसिद्धेः । आदिपदाग्राह्यद्रवत्वघटितस्य हेतो-र्दृष्टान्तदीपेऽभावाच्च । न प्रकृतहेतोः करकायामभावेन व्यभिचारः । तत्र द्रवत्वस्य शीत-प्रतिबन्धत्वेऽप्यनभिभवादिति वाच्यम् । अभिभवो हि न सजातीयसाक्षात्कारग्रहणकृतम-ग्रहणम् । किंतु सजातीयस्थितिकृतमेव साजात्यम् । न च गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्या किंतु गुणत्वेनैव । तच्च द्रवत्वेऽप्यक्षतमिति न व्यभिचारः । यत्तु दीपादौ रूपस्यारुणकपिलाभि-भूतत्वात्साधनवैकल्यमिति । तन्न । तत्र भास्वरत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नरूपस्य स्वीकारात् । अभिभवे हि घटादीन्न प्रकाशयेत् । अत एव तद्गतशुक्लत्वस्यैवाभिभवो न रूपस्येति निरस्तम् । प्रमाणाभावात् । एवं चोपष्टम्भकाभावाद्गौरवासिद्धौ कथं प्राग्गत्यपलाप इति । न च भौमशुक्रादौ रूपानभिभवेऽपि स्पर्शाभिभवोऽस्तीति कथं तत्रोपष्टम्भकशून्यत्वं साध-यितुं शक्यमिति वाच्यम् । तत्र स्पर्शस्याप्यनभिभूतत्वात्त्वक्संयुक्तसमवायाभावाच्च रवि-स्पर्शवत्तत्स्पर्शस्याप्यग्रहः । न च रविकिरणस्पर्शवत्तत्किरणस्पर्शोऽपि कुतो न गृह्यत इति वाच्यम् । मणिप्रभास्पर्शवदनुद्भूतत्वादित्याहुस्तच्चिन्त्यम् । सूर्यबिम्बस्यानुपष्टब्धत्वेन मुकुरवन्मूर्तिमदुपलम्भानुपपत्तेः । विरलतया प्रभासौरालोकादिवद्भागविशेषावगम्यत्वानुप-पत्तेश्च । निबिडोपष्टब्धत्वाभावेन प्रबलवाय्वाहतत्वाच्चिरानपायत्वानुपपत्तेः । सौदामिनी-दामवदुद्भूतरूपस्पर्शादिमदसंसर्गितेजस्त्वाच्चेति । तथा चोपष्टब्धत्वेन गुरुत्वाद्ग्रहाणां भचक्रे प्रवहवेगजनितावलम्बनसंभवात्स्वशक्तिपूर्वगमनमयुक्तम् । न चैवं नक्षत्राणामपि गुरुलघुत्वतारतम्यादसमकालभ्रमणापत्त्या नाक्षत्रषष्टिघटीमितनक्षत्रपरिवर्तनकालस्य प्रत्यक्षसिद्धस्यानुपपत्तिरिति वाच्यम् । भपञ्जरस्य प्रवहवायुना परिभ्रमणात्तदाश्रयाणां गुरुलघुनक्षत्राणामपि भ्रमणकालस्य तुल्यत्वोपपत्तेः । अथ प्रवहवायुगोलस्य ध्रुवद्वयाक्षव-शतो भ्रमणात्तदनुरोधेन नक्षत्रग्रहाणामपि भ्रमणात्कल्पादिकालीनमेषादिस्थग्रहाणां वायु-भ्रमणदिग्विपरीतर्जुमार्गे विषुवद्वृत्तेऽवलम्बनापत्तिर्न क्रान्तिवृत्तादौ तिरश्चीनावलम्बनं प्रत्यक्षसिद्धं युक्तमिति चेन्न । विषुवद्वृत्ते ग्रहाणामवलम्बनेऽपि क्रान्तिवृत्तविक्षेपवृत्तभागानां स्वाभिमुखानामाकर्षकत्वेन तत्प्रदेशस्थत्वोपपत्तेः । पूर्वगतिकल्पनपक्षेऽप्येतत् कल्पनस्य तुल्यत्वात् । अन्यथा ग्रहस्थानादृजुपूर्वभागे विषुवद्वृत्त एव तदधिष्ठानापत्तेः । अत एव—स्वव्यापारात्प्राग्गतिः खेचराणामूर्ध्वाधस्ताद्याम्यसौम्यापराणि । गोलाभिज्ञैः पञ्च यातानि यानि तेषामुक्तान्यन्यहेतूनि तानि । प्रत्यग्गतिः प्रवहवायुवशेन तेषां नीचोच्चवृत्तजनितो-र्ध्वमधश्च सा स्यात् । याम्योत्तरा त्वपमवृत्तविमण्डलाभ्यां षोढा गतिर्निगदितैवमिह ग्रहा-णामित्यनेन प्राचीनैः षड्विधा गतिरुक्ता । मत्पक्षे तु परतन्त्रपञ्चविधगत्यैव निर्वाहाद-

तिलाघवम् । एतेन गुरुत्वात्तल्लम्बनस्य प्रत्यहमेकरूपतापत्तिः । गुरुत्वाभेदादिति विसदृशं ग्रहावलम्बनं कुत इति निरस्तम् । आकर्षकाकर्षणतारतम्यात् । स्यादेतत् । यदेक एव ग्रहः षोढा पञ्चधा वाऽन्वह्न्य (म) जस्रं गच्छतीति व्याहतिरूपम् । न ह्येकस्यैव पुरुषस्य दिग्भेदेनानेकगतिमत्त्वं युज्यते । किंचासौ समयविभेदेन गतिविशेषमाचरति किमेकसमयावच्छेदेन वा । नाऽऽद्यः । कालविशेषेऽन्यान्यगतिकरणेन पूर्वपूर्वगतिविच्छेदे ग्रहचारमात्रस्य गणितासाध्यताप्रसङ्गात् । यतो नह्यनियतार्थोऽनुपातगम्यः । नान्त्यः । युगपदेकसमयावच्छेदेनैव विरुद्धानेकदिग्गतिमतो ग्रहस्य शरीरमुन्मथ्येत निष्क्रियं वा प्रसज्येत । उभयत्र समाकर्षणसाम्यादिति चेन्न । विरुद्धदिक्क्रियावत्पुरुषे हि तत्प्रयत्नरूपैकनिमित्तसत्त्वेन तदैकाश्रयत्वेन चाथबा दारुविशेष एकैकप्रदेशावच्छेदेन समबल-पुरुषद्वयविरुद्धाकर्षणरूपसमाननिमित्तसत्त्वेन तदैकाश्रयत्वेन च निष्क्रियत्वमुन्मथनं वा स्यात् । अन्यथा दार्वादौ प्रदेशभेदेनाऽऽकर्षकपुरुषप्रबलदुर्बलभावैरेकदिङ्नयनेन तदनुपपत्तेः । इष्टदिशि वर्तमानलक्ष्यवस्तुप्रभेदेन प्रेरितशरस्यैकदैव मरुदाघातादिना भिन्ननिमित्तेन लक्ष्यापेक्षयान्यदिङ्नयनस्य प्रत्यक्षतो दर्शनाच्च । प्रकृते तु ग्रहाणां विरुद्धदिक्क्रियात्वे वा पातापमाद्यसमाननिमित्तसत्त्वेन समाननिमित्तसमानाश्रयत्वाभावान्न दोषः । न चैवमेषां बलवन्निमित्तगतिरेव स्यादिति वाच्यम् । वायोर्ग्रहबिम्बानां चाऽऽधाराधेयभावेन नौजल-न्यायेन गत्यन्तरापरित्यागात् । नहि नौस्थैरकृष्यमाणा नौस्तीरानुगतत्वमपहाय स्रोतोनु-गतत्वमेवाऽऽचरति । किंतूभयाकर्षणशक्तितारतम्येन दिग्द्वयगतिरेव भवति । अथान्या-कृष्टत्वेन नामसंभवात् । किंतु न समं संभवेदु)-भयत्र गमनं तथाऽपि ग्रहपूर्वगत्यङ्गीकारेण षोढाग्रहगतिपक्षे का गतिरिति चेन्न। जलमुत्तरतां नरादीनामपि तथात्वस्य बहुशो दर्शनात् । अथ तत्र स्रोतस्तीरपक्ष(थ)योस्तिर्यक्त्वमात्रं परं प्रकृतवद्विरोधो नास्तीत्यतस्तत्र युज्यताम् । प्रकृते तु प्रसिद्धवैरुध्ये को दृष्टान्त इति चेन्न । तत्रैव प्रवाहपतितकीटादीनां स्रोतावैरुध्येन गतेः प्रसिद्धत्वात्सममेव कीटविशेषशलाकादिप्रवाहप्रक्षेपेणोक्तार्थस्य बालैरपि ज्ञायमानत्वात् । अथ भवत्वेव तत्रापि सूक्ष्मतरक्षणाभेदेन विरुद्धदिग्द्वयगतेः क्रमानुमानमिति चेन्न । प्रकृत आधाराधेयभावेन विरुद्धदिग्गत्योरनुपपत्त्यभावात् । आधारबलेनाऽऽधेयस्य तद्गत्यनुविधानेऽपि गत्यन्तराप्रतिबन्धात् । शकटपिपीलिकानरनौकाचक्रकीटनौकाजलकीट-प्रवाहोदाहरणादिषु सर्वथाऽपि सकलगतिहेतुषु स्वस्वकार्यजनने विरामादर्शनात् । किंच क्रमानुमानस्योक्तग्रहचारगणितासाध्यत्वप्रसङ्गरूपप्रतिकूलतर्कपराहत्वात् । अथैकैकक्षणान्तरेण पूर्वापरभुक्तैर्नैयत्यादेव गणितगम्यतेति चेन्न । तथात्वे तु प्रत्येकैकक्षणप्रच्यवेनैकदिनग्रहभुक्ते-रर्घभोगाप्रसङ्गात् । न च दिनगतेरपि तदनुसारत एव तथा प्रकल्पनमिति वाच्यम् । क्लृप्तशकटपिपीलिकानरनौकाद्युदाहरणेष्वपि तत्त्वापत्तेः । तथा हि । दशहस्तवितस्त्यादि-विस्तृतस्थिरशकटमुखकाष्ठोपान्तनिविष्टा पिपीलिका यैरेव पलैः स्वगत्यनुसारेण शकटमति-क्रामति तैरेव पुनर्वाहादिसमाकृष्टत्वेन पूर्वतश्चालितमपि बाहविलोमगत्याऽतिक्रामत्येव सति चाऽऽधाराधेयभावे आधारगत्यनुविधाने गत्यन्तरे च । तत्रापि यदि क्षणक्रमानुसरणं तदा

त्वेकैकक्षणविलम्बेन स्थिरशकटातिक्रमकालेन तदर्धभोग एव स्यात्पूर्वेण द्विगुणेन वा सर्वभोगः स्यात् । तच्च सर्वथाऽप्यसंभवि । क्वापि कदाऽपि तथोपलम्भाभावात् । तथा चैतद्दृष्टान्तेन प्रकृतापादितानिष्टप्रसङ्गादिनाऽनुमानस्य परातत्वात् । ग्रहचारेऽप्येतत्तुल्यमेवेत्येकदैवानेकदिग्गमनं तथोपलम्भात्संगच्छत एवेति । ननु याम्योत्तरगतौ नीचोच्चगतौ वा संमिश्रदिग्द्वयगमनमेकसमयावच्छेदेनानुपपन्नमेव । अन्यथाऽयोध्यामनुयातुः सममेवान्याकृष्टस्य विन्ध्याद्रिदेवीस्थानगामितापत्तेः । अथ वृक्षारोहणावरोहणस्थले चलतः पक्षिकुलस्य समकालमेव प्रागुच्चादिगमनमुत्तरतः प्रेर्यमाणशरस्य च समीरणप्रयुक्तावलम्बेन प्रागादिगमनमुभयाकर्षकशक्तितारतम्येनोपलभ्यत एवेति नानुपपत्तिरिति चेन्न । तस्यापि सूक्ष्मक्षणानुसारेण क्रमानुमानेनैवोपपादनार्थापत्तेरनुपपद्यमानार्थदर्शने चोपपादकान्तरमात्रविषयकत्वेनैवावताराद-न्यथाप्रतीतार्थस्यानिर्वाहादिति चेत्सत्यम् । सत्यामनुपपत्तौ किलार्थापत्तिरनुसरणीया । प्रकृते तस्या एवानुपपत्तिः । तथा हि । प्रागपरभावेनोपस्थितयोः पादपसरोवरयोः फलजलोपादित्सया यथाकाममारोहावरोहविधिनोड्डीयचलने पारावतादेरेकसमयावच्छेदेनैवोभयत्र गमनप्रसिद्धावपि तदनङ्गीकारपरस्यानुपलक्ष्यसूक्ष्मक्षणभ्रमेणाऽऽकुलचित्तस्य भवतोऽभिमते बलवतः प्रागुपपादितस्यैवानिष्टप्रसङ्गस्य बाधकत्वात् । तद्यथा । सरस्तीरपादपयोरन्तरं सूत्रादिना संधाय तच्च करादिभिर्विगणय्य तदनुसारमेव तावन्मितसंसाधितदारुसंधारणे तत्र चोड्डीनावसरे तदतिक्रमकालेनैव पानीयफ(प)लदशकोन्मितेनैव पुनः केवलं प्रागपरत्वेनापि तस्य संस्थितावतिक्रमो न स्यात् । पूर्वत्रैकैकक्षणविलम्बेन तदर्धभोगकालासन्नकालेनैव तदतिक्रमसंभवात् । एवं याम्योदग्गतावपि । केवलयाम्योत्तरस्थितप्रयोक्तुर्लक्ष्यस्थानान्तरातिक्रमकालेन क्षितिजवृत्तोपगतत्वेन समानान्तरत्वेऽपि शरस्य स्वनिपातं स्थानान्तरातिक्रमो न स्यात् । पूर्ववत्समीकरणप्रयुक्तैकैकक्षणविलम्बेन तावत्त्वानुपपत्तेरिति । तस्माद्ग्रहाणामनेकदिग्गतिमत्त्वं युक्तम् । स्यादेतत् । परं भपञ्जरस्य मूर्तत्वेन ग्रहबिम्बापेक्षयाऽतिमहत्त्वेनातिगुरुत्वाधिक्यात् । तद्भ्रमणनाक्षत्रषष्टिघटिकाकाले कथं लघुभूतानां प्रवहवायुनाऽवलम्बनं प्रागुपपादितं संभवतीति चेन्न । भपञ्जरस्य सम्पूर्णवायुगोलबाह्याभ्यन्तराघातप्राबल्येन नाक्षत्रषष्टिघटिकाकाले परिवर्तनात् । तस्मिन्नेव काले ग्रहबिम्बानां तल्लघुभूतानामपि तदन्तर्गतवायुचक्रैरेवाल्पवेगाघाताभ्यां बिम्बगुरुलघुत्वतारतम्येन तथाभ्रमणस्य प्रत्यक्षोपलम्भात् । तथा च पा(या)न्तो भचक्रे लघुपूर्वगत्या खेटा इत्युक्तं न युक्तिसहमिति चेत् । अत्र सिद्धान्तसुन्दरटीकाकृतस्तु तैजसशरीरवतामपि ग्रहाणां पार्थिवोपष्टम्भकभागसाहित्येन गुरुत्वसंभवेऽपि न तेषां पूर्वतोऽवलम्बः । वाय्वाधेयेषु तेषु तद्गतिसमनियतगतितया, आधारनियतस्वभावेन तत्प्रतिबन्धात् । तथा हि । हिष्प्रयत्नेषु शकटोपविष्टपुरुषेषु नौकाभाद्यारूढेषु वा कुलालचक्रोपगतकीटादिषु वा स्वाधारचलनानुविधानेऽपि तद्विपरीतदिशि नावलम्बस्तद्वत्रापि समनियतवेगवदाधारत्वस्यैव नियामकत्वात् । ननु भवतु शकटचक्रादौ निबिडावयवे तथा भूभ्रमणाभ्युपगमवाद इव समानदेशयोर्नरकरिणोराधारचलनानुविधानेनावलम्बनवत्तथाऽपि विरलावयवजलपवनादौ तदसंभवात् । तथा हि । समकालमेव

जलप्रक्षिप्तशालशलाकादौ वायुप्रयुक्ततृणतालपर्णादौ च गौरवानुसारेण विलम्बिताविलम्बितगतिमत्त्वस्यैव दर्शनात् । तथा च प्रकृतेऽपि तत्कल्पनं केन वारणीयम् । कल्पनाया दृष्टानुसारित्वादिति चेन्न । यद्यपि जलेऽङ्गुलान्तरेणापि प्रतिप्रदेशमुच्चावचभूमिसंबन्धाज्जलान्तरेण प्रतिघाताद्वायौ च वाय्वन्तरोन्नततरुभूधरादिवस्त्वन्तराघातात्प्रतिक्षणमप्यसमानवेगतया तदसंभवस्तथाऽपि निश्चले घारादौ वाऽनतिशयवेगे वायौ वात्यादौ च लघुगुर्वोरपि वस्तुनोर्गतिसाम्यस्य विपरीतविलम्बादेर्वा सर्वैरपि ज्ञायमानत्वेन तत्र वेगभेदस्योभयत्रापि वेगसमतायाश्चोपलम्भात् । नतु सर्वांशे वेगसाम्यं सर्वदा जलप्रवाहादौ स्थूलं सूक्ष्मतयाऽनुपलक्ष्यक्षणेनापि वायुजलान्तराघातोक्तसंबन्धादेर्वेगान्यथाभावमापादयतो नियन्तुमशक्यत्वात् । अत एव क्वचिदुत्पूरादौ जलस्य तीरावरुद्धतया संपूर्णतादशायां क्षणमपि भागविशेषे वेगस्य समतोपलम्भे शाखाशलाकादेरपि वेगसाम्यकालावधि लोके निरन्तरितत्वादर्शनम् । ननु-पवनजलादौ सिद्धं बेगसाम्यं प्रकृते कथमवगतम् । प्रवहवायोश्चक्रभ्रमानुकारित्वेन दृष्टान्तर्जुगमनविरोधादिति चेन्न । प्रवाहोदकभ्रमस्थाने स्वयमेवावर्तितशरावौदकादौ वा लघुगुरुवृत्तवस्तुद्वयमेकदैवैकप्रदेशावच्छेदेन प्रक्षिप्य व्यक्तमेवोदितं सर्वमुपलमस्व । ननु दृष्टान्तीकृतावर्तिनोदकस्थले केन्द्रादभितः कक्षाभेदेनैव वेगसाम्यं नतु सर्वास्वपि । एवं प्रकृतेऽपि तर्हि चन्द्रादेरर्वागेव कक्षाभेदेन भ्रमत ऊर्ध्वकक्षाभ्रमानुसारभ्रमणादनेकभ्रमणपर्यया ऊर्ध्वपर्ययापेक्षया स्युर्दि(र्दृ)ष्टान्तानुरोधादिति चेन्न । आवर्तकनरकरदण्डादेराघातहेतुत्वात्संनिहितासांनिहितविभागतारतम्येन साक्षात्परम्पराभेदेऽधिकन्यूनवेगयोरुत्पादनात् । प्रकृते चाऽऽधेयलोकादृष्टेश्वरेच्छोपात्तस्वाभाविकत्वरितगतिना सर्वत्र समवेगेन पवनेन सममेव सर्वेषां प्रचालनात् । ननु वर्तमानमपि वेगसाम्यं गौरवेणापह्नूयते । उक्तसंबन्धादिव तस्यापि प्रयोजकत्वादिति चेत्सत्यम् । तस्य नायकत्वमात्रोपस्थित एव बिलम्बहेतुत्वं नत्वाधाराधेयभावापन्नेऽपि । अत एव केवलं पारावाराम्बुसरणस्थले वायोर्नायकतामात्रत्वेनैवोपस्थितौ कदाचिदन्यदिङ्नयनारम्भे नियामकैरिच्छावशादायसनिर्मितहलप्रक्षेपेण तरिस्थिरीकरणे वेगप्रतिबन्धादेव नयनासामर्थ्यम् । यत्र चाऽऽधाराधेयभावस्थले बलाहकादावरुन्धतीवसिष्ठादौ चासमानयोरपि साम्येनैव प्रचालनस्यादृष्टत्वाद्वेगप्रतिबन्धासमर्थत्वमेव । किंच—आधारतापन्ने जलप्रवाहादौ हलप्रक्षेपेण न वेगप्रतिबन्धद्वारा तरिस्थिरीकरणम् । आधाराधेयभावेन तस्य प्रतिबद्धुमेवाशक्यत्वात् । नन्वेवं संनिहिते भस्त्रादिप्रयुक्ते वायौ सिकतातृणपर्णयोर्बिलम्बिताविलम्बितविषये का गतिरिति चेन्न । तत्रापि तस्य नायकतामात्रेण वेगविलम्बस्योचितत्वात् । अथ तत्राऽऽधारत्वमस्तीति कथं तन्मात्रमिति चेन्न । तदसिद्धेः । तथा हि । स्वरूपयोग्यतामात्रेणैवाऽऽधाराधेयत्वम् । ननु लाघवस्य प्रयोजकत्वम् । गौरवस्य प्रतिबन्धकत्वम् । जले दृषद्विशेषापेक्षया लक्षघागुरोरपि दारुविशेषस्याऽऽधेयतानपायात् । ननु तथा गौरवेणाऽऽधेयत्वं क्वचिद्विघत्त एवेति चेन्न । योग्यवस्तुसंबन्ध एव तत्र हेतुर्नतु गौरवम् । अन्यथा गुरुत्वातिशयवृत्तायोग्येनापि तदापत्तेः । तथा च भस्त्रादिस्थले नायकेनैव मरुता नान्तरीयकतया वेगकालावधिक्षणमपि पतनं प्रतिबध्यते नत्वयोग्य-

स्वरूपस्यापि तदाधेयत्वम् । अन्यथा वेगवज्जलाकृष्टत्वेन शिलाया अप्याधेयत्वापत्तिः । तादृशस्थले चाऽऽधारत्वप्रत्ययः पतनशीलताधर्ममुपादायोपपादनीयः । प्रयोगस्त्वौपचारिक एव । तस्माद्वाय्वाधेयस्वरूपयोग्यस्य सकलभपञ्जरस्य समवेगवदाधारवत्त्वेनैव नावलम्बः । आधाराधेयभावो मे जयत्वाच्चन्द्रतारकम् । सुहृदस्य बले दृप्तः को मामपकरिष्यतीत्याहुस्तच्चिन्त्यम् । वायोर्ग्रहबिम्बाधारत्वे तत्पूर्वगत्यङ्गीकारेण पूर्वाधारवाय्वंशस्याग्रे गमनात्तत्साहचर्येण ग्रहबिम्बानां भ्रमणासंभवादवलम्बनापत्तेः । विरलावयवेऽवलम्बनाभावस्यादृष्टत्वाच्च । किंच भस्त्रादिप्रयुक्तवायुवत्प्रवहवायावाधारत्वं नातिरिक्तं मानाभावात्तेन तस्यापि नायकत्वमात्रत्वग्रहविम्बानामबलम्वननिवारणं ब्रह्मणोऽप्यशक्यम् । अपि च प्रवहवायौ सर्वांशत्वावच्छेदेन समवेगकक्षाणां तुल्यकालभ्रमणानुपपत्तिः । तथा हि । शनिकक्षास्थितवाय्वंशानां यथावेगस्तत्तुल्य एव यदि चन्द्रकक्षास्थितवाय्वंशानां वेगस्तदा चन्द्रकक्षावाय्वंशानां स्वल्पचन्द्रकक्षाभ्रमणकालेन तत्समसूत्रस्थशनिकक्षावाय्वंशानां महति शनिकक्षामार्गे चन्द्रकक्षायोजनभ्रमणात्संपूर्णशनिकक्षायोजनभ्रमणमनुपपन्नम् । तस्मात्प्रवहवाय्वंशानां स्वस्वमार्गे तुल्यकाले परिवर्तसंभवादतुल्य एव वेगः । परमेककक्षास्थानां तुल्य एव । अत एव क्वचिज्जलादौ गुरुलघ्वोस्तुल्यगमनं क्रमेणाल्पमहद्वेगेन न तुल्यवेगेन । यत्रैकत्र गुरुलघ्वस्थानेन गमनं तत्र गुर्वाश्रयादेव लघोरनग्रे गमनम् । तस्मादवलम्बनं ग्रहाणां त्वत्पक्षे निवारितुमशक्यमेवेति दिक् । वस्तुतस्तु चन्द्रातिरिक्तग्रहनक्षत्रबिम्बानां तैजसत्वेऽधःकक्षाक्रमेण गुरुताधिक्यादवलम्बनापत्तिः । सूर्यव्यतिरिक्तानां व्यवधानादुष्णस्पर्शानुपलम्भेऽपि रात्रौ सकलनक्षत्रग्रहबिम्बतेजःसंघातेनोष्णस्पर्शोपलम्भापत्तिः । सूर्यबिम्बापेक्षया गुरुशन्यादिबिम्बानामतिमहत्त्वात् । रात्रेरपि प्रकाशप्राबल्यसंभवेन दिनत्वापत्तिश्चातोऽर्कातिरिक्तानां जलमयत्वं प्राचीनाभ्युपगतं युक्तम् । शृङ्गोन्नत्युपपत्त्यर्थं चन्द्रस्य जलगोलत्वाभ्युपगमस्याऽऽवश्यकतया तद्रीत्यैवान्येषां पञ्चताराग्रहनक्षत्राणां जलगोलत्वाभ्युपगमे बाधकाभावाच्च । जलस्य विरलावयवतया तत्पिण्डीभावानुपपत्त्या जलगोलकत्वं न संभवतीति भूभागानामुपष्टम्भकत्वं तत्र वाच्यम् । तेषां च प्रकाशकत्वं सूर्यकरप्रतिफलनादिति प्राग्बहुधोक्तम् । नचैवं भौमादिभ्यः शुक्रस्याधिकः प्रकाशः कुत इति वाच्यम् । तस्य भौमापेक्षयाऽतिसंनिहितत्वाच्चन्द्रापेक्षया दूरस्थत्वाच्च महद्बिम्बत्वाच्च यथाक्रममधिकन्यूनप्रकाशाभाससंभवात् । बुधस्य तु चन्द्रादल्पबिम्बत्वादतिव्यवधानाच्चाल्पप्रकाशदर्शनम् । नन्वेवं चन्द्रबिम्बापेक्षया शुक्रभौमादीनामधिकबिम्बत्वेन चाधिकगुरुत्वसंभवात्सुतरां चन्द्रबिम्बापेक्षयाऽवलम्बनापत्तिः । तैजसत्वे तु पूर्वगत्युपलम्भनेन यथायोग्यमवलम्बनम् । न च सूर्यमण्डले यावन्तो भूभागा उपष्टम्भकास्तावन्त एव भूजलयोः सर्वेषां बिम्बे भागा इति तुल्यगुरुत्वादवलम्बनानुपपत्तिरिति वाच्यम् । योजनात्मकमानेन बिम्बानां तुल्यमानत्वापत्तेः । न चाऽऽदर्शाकारमण्डलेषु समगुरुत्वेऽपि दृढविरलावयवतयाऽल्पमहन्मानोपपत्तिरिति वाच्यम् । ग्रहबिम्बानां गोलत्वेन तदसंभवादिति चेत्सत्यम् । भपञ्जरगोलोऽतिगुरुभूतः प्रवहवायुना बाह्याभ्यन्तरघातप्राबल्याद्येन कालेन भ्रमति तेनैव कालेन शन्यादयोऽधःकक्षाक्रमेणापचितगुरुत्ववन्तः स्वस्वकक्षास्थि-

तवाय्वंशघातादिभिरेव परिभ्रमन्तीति लम्बनासंभवात् । अधःकक्षाक्रमेण वायोर्वेगापचयाद्वाय्वंशानामल्पत्वाच्च । न चैवं भौमापेक्षयाऽधःस्थितसूर्यमण्डलस्य महत्त्वादवलम्बनं स्यादेवेति वाच्यम् । तस्य तैजसत्वेन महत्त्वेऽपि भूभागानामुपष्टम्भकानां भौमबिम्बस्थजलभूभागेभ्योऽल्पत्वात्तदनुरोधेनैव गुरुताल्पत्वात् । अथ तथाऽपि बुधस्य लघुबिम्बत्वात्तदपेक्षयाधःस्थितचन्द्रबिम्बस्य महत्त्वादवलम्बनं निवारयितुमशक्यमिति चेन्न । अल्पबिम्बेऽपि दृढतरसंयुक्तभूजलभागानां बहुत्वेन विरलावयवाल्पभागजनितलघुभूतमहद्बिम्बापेक्षया गुरुताधिक्यनिश्चयात् । तथा च महतोऽपि मृत्पिण्डगोलादल्पे लोहगोले गौरवम् । तददर्शनं च चन्द्रापेक्षयाऽर्घासन्नबिम्बगोलत्वात्त्रिगुणाधिकव्यवधानाच्च सूर्यकिरणप्रतिफलनाल्पज्योत्स्नत्वाच्च । अत एव कदाचिन्नीचासन्ने वक्रकाले किंचित्संनिहितत्वेन दर्शनं संभवति । चन्द्रस्य जडस्याऽऽत्मजो बुधोऽहं ब्राह्मणस्तदुपरि दत्ताधिकारो लोके दृग्गोचरतायां लज्जामि । अतो मया दर्शनं न देयम् । कदाचिद्दर्शनमङ्गीकृताधिकारस्य पापस्योत्पातरूपं स्वसत्ताज्ञापनार्थमित्यन्ये । तथा च ग्रहाणामवलम्बनकल्पने प्रवहभ्रमणदिग्विपरीतदिशि विषुवद्वृत्तमार्गे तदवलम्बनापत्तिभयेन याम्योत्तरादिगतिकल्पनमावश्यकमतो लाघवात्स्वशक्त्या पूर्वगतिकल्पनं युक्तम् । वायुना समं भ्रमणस्योक्तयुक्त्यैवोपपादितत्वादवलम्बनासिद्धेः । न चैवं विषुवद्वृत्तमार्गे स्वशक्त्या गच्छन्तो ग्रहाः कथं न दृश्यन्त इत्यत्रापि याम्योत्तरादिगतिकल्पनेनावलम्बनापेक्षया गौरवमिति वाच्यम् । कल्पादौ ब्रह्मणा विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तसपातरूपभपञ्जरप्रदेशसमसूत्रे स्वस्वमार्गे स्थापिता ग्रहाः क्रान्तिवृत्ते विक्षेप एव वा पूर्वमार्गेण गच्छन्तीति कल्पनाद्विषुवन्मार्गगमने मानाभावात् । किंच क्रामिकविरुद्धगतिद्वयमसभवि । क्रियाविभागोत्तरं पूर्वदेशसंयोगनाशे सति वक्र एवोत्तरदेशसंयोगोपपत्तेः । उत्तरदेशस्य विशिष्यैव करणत्वात् । नीचोच्चगतिस्तु क्रान्तिवृत्तादिसंबन्धाकाशमार्गत्वेन कल्पितवृत्तान्तरमार्गस्थत्वेनैव ग्रहाणां स्वशक्त्या पूर्वगमनेनैवाग्रे प्रतिपादितेति षोढागतिनिरासाद्ग्रहपूर्वगतिः स्वत एकैव पश्चिमगतिस्तु प्रवहादिति तत्त्वम् । नन्वेवं ग्रहाणां योजनशतादिविस्तृतत्वेन यथायोग्यं जलतेजोगोलरूपत्वेनाचेतनानां परतन्त्रगतिसंभवेऽपि स्वव्यापारात्पूर्वगतिः कथं संभवति प्रमाणविरोधादिति चेत् । अत्र पूर्वाचार्याः । तेषां सूर्यादिप्रीतिकामादिप्रतिपादनपरवाक्यैस्तैजसशरीरिचेतनत्वसिद्धौ प्रयत्नोपपत्तिः । प्रीतेः सुखरूपत्वेन चेतनमात्रधर्मत्वात् । न च तद्वाक्यैर्मण्डलरूपाणां चेतनार्णो(नां) कथं सिद्धिरिति वाच्यम् । तदतिरिक्तत्वे मानाभावाद्गौरवाच्च । ननु भवतु चेतनत्वं तथाऽपि कथमेषां शरीरं बिम्बानुकारं कथं च योजनसहस्रादिभिर्विस्तारः । क्वचिदपि शरीरे तददर्शनादिति चेन्न । तत्र संसर्गितेजोन्तरस्य स्वीकारेणार्थस्योपपत्तेः । तथा हि । यथा मण्यादिसंसर्गितेजस्तदभितः प्रसरद्वृत्तानुकारतामुपगच्छति दीपसंसर्गिप्रभारूपं तेजो वा दीपादभितो मण्डलमाबध्नाति तथैव ग्रहादिशरीरसंसृष्टमुत्कृष्टमहस्तत्तच्छरीरादभितो बिम्बानुकारतामापन्नमेवाविरलं प्रसरत्यत एव तस्य स्निग्धतयाऽवरुद्धत्वेन व्यवहितत्वाच्च विविच्यावयवादिकं न भासते किंतु तेजोगोला एव प्रतीयन्ते । व्यवहितसहकारादौ शाखासमुदाय इति । तथा च यस्य ग्रहस्य

संसर्गिमहीयसो महसो भूयस्त्वादिरुत्कर्षस्तथा तथा तस्याभितः प्रसरः । अत एव तत्तत्प्रसरानुसारं पूर्वापरौ याम्योत्तरौ विदिक्संभूतौ च यौ यावधी तत्तदन्तरयोजनान्येव तस्य तस्य बिम्बयोजनविस्तृतं कन्दुकवदगम्यते । चन्द्रस्य तु जलमयो गोलस्तत्र चाधिष्ठातृपुरुषत्वेन कर्णधारनरवन्नियामकत्वेन स्थितो भगवानौषधीशो देवश्चन्द्रो विजयते । अथ ग्रहबिम्बानां गोलरूपाणां मुकुरोदराकारत्वप्रतीतिः कथमिति चेन्न । व्यवधानदोषादसौ वा भ्रम एव । यथा व्यवहिते पर्वतादौ महत्त्वेऽपि ह्रस्वत्वस्य वैषम्येऽपि समत्वस्यैव प्रकृतेऽपि तथा प्रतिभास इति । ते च ब्रह्मणो निवेशादन्तरिक्षे वायुवशाः स्वशरीराणि लोकोपकाराय नियुज्य प्रयत्नेन पूर्वतो वायुना च पश्चिमतो व्रजन्ति । न मे तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षण इति सूर्यसिद्धान्तवाक्यार्थपरिशोधनया शरीरचेतनत्वसंसर्गितेजोविष्टत्वादेरुक्तार्थस्याध्यवसयिमानत्वादिति । नव्यास्तु प्राचामस्मिन्परिकल्पने चन्द्रमसः प्राक्परिसरणं कारणं विना कथमुपपाद्यं साशीतिशतचतुष्टयव्यासस्य तस्य केवलं जलगोलत्वेन लोकविशेषावसायायोग्यत्वेन च तैरेवोक्तेः । अचेतनत्वेन प्रयत्नादेरसत्त्वाच्च । किंच यत्र श्रूयते युद्धप्रसङ्गादाराधकप्रसन्नत्वशास्त्रोपदेष्टृत्वादिकं लोकान्तरावगतिश्चामीषां तत्र सति चैवं वाक्याप्रामाण्यप्रसङ्गश्च यावदाकल्पक्षणमपि परिसरणवैधुर्याभावात्क्लेशाभागित्वेन देवतात्वेऽपि स्वर्गभोगाभावश्चेति । तस्मादेषां शरीरिचेतनानामवासस्थानानि तेजोजलगोलरूपबिम्बानि न तु तदात्मकानि बिम्बानि । नन्वेवं सर्वेषां ग्रहमण्डलानामचेतनतापत्त्या प्रगत्यसंभवतः प्राचां मते तु केवलं चान्द्रगतेरेवेति चेन्न । पितामहाज्ञानुगृहीतैस्तैरेव स्वसामर्थ्यप्रयोगादचेतनस्वावासग्रहरूपबिम्बानां प्रचालनात् । जलादौ नौनियामकैर्नाव इव । अथ तथाऽपि लोकान्तरगत्यसम्भवः । अन्यथा तदवसरे विम्बानामचालनात्त्रैराशिकादिविधिनोक्तग्रहसाधनानुपपत्तेः । गणितस्यानियतविषयत्वाभावादिति चेन्न । सांनिध्यनियमानङ्गीकारात् । बिम्बाधिष्ठातृत्वेऽपि ग्रामाधिकारिणो नृपादेरिव यथाकाममधिष्ठानस्योक्तत्वात् । असंनिधानदशायां चांशान्तराधिकार इत्यन्ये । वस्तुतस्तु यथा लोकेऽचेतनानामपि वस्तुविशेषाणां मणिमन्त्रादिसामर्थ्यात्प्रचालनमिव ग्रहबिम्बेष्वपि स्वाधिष्ठातृदेवसामर्थ्यादेव गतिः । त्वं पूर्वतो गच्छेतिद्वाक्यसामर्थ्यादेव वा तदुपपत्तिः । तादृशपुरुषवाचमपि मन्त्रतुल्यत्वात् । न चैवं नक्षत्रबिम्बाधिष्ठातृभिर्देवैर्नक्षत्रबिम्बानामपि पूर्वतो ग्रहवच्चालनापत्तिरिति वाच्यम् । ब्रह्मणो नियोगाभावात् । यद्वा वह्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्च निर्यग्वहनं स्वभावो यथाऽस्मादृष्टोपात्ताद्वा वह्नेस्तद्वददृष्टाकृष्टत्वेनैव पूर्वगत्या तत्तदुपमण्डलप्रदेशसंबन्धस्तेषाम् । यतस्तद्राशिसंबन्धेऽर्कादिबिम्बानां संजाते लोकेषु सुखतदन्यप्राप्तिसंभव इति । अथ भवदभिमतार्थनिर्वाहकं ग्रहबिम्बयोर्भेदैकमानमिति चेन्न । य एषोऽन्तरादित्ये पुरुषो दृश्यते हिरण्यवर्णो हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश इत्यादौ श्रुतावादित्यपदाभिधेये रविमण्डलेऽधिकरणे पुरुषसंबन्धस्यैव वाक्यार्थत्वादधिकरणाधेयभावापन्नयोर्मण्डलपुरुषयोर्भेदस्य व्यक्तमेवागगमात् । किंच यदेतात्मण्डलं तपति यश्चास्मिन्मण्डले पुरुष इत्यादिश्रुतौ तु मण्डलपुरुषयोराहत्यैव भेदो गम्यत एव । चन्द्रादावपि साधर्म्येणोक्तयुक्त्या वा कल्पनं तुल्यमत एव

जातकशास्त्रे पुरुषाकारग्रहस्वरूपोक्तिः संगच्छते। तस्मात्पश्चिमदिग्गतिवायुप्रवहनिबद्धे भपञ्जरे शीघ्रम् । भ्रमति सखचरे सत्यपि खेटा गतितः प्रयान्ति पूर्वदिशमिति वृद्धवसिष्ठोक्तेश्च । यान्तो भचक्रे लघुपूर्वगत्या खेटा इति न किंचदप्यनुपपन्नमिति वदन्तीत्यलं पल्लवितेन ।।४।।

केदारदत्तः—ग्रहों की पूर्वाऽभिमुखी गति यदि दृष्ट नहीं होती तो कैसे समझा जाय कि ग्रहों में गमनशीलता अर्थात् गतिशीलता है, यह बात दृष्टान्त से स्पष्ट की जा रही है— पश्चिमाभिमुख गति की कुम्हार की चक्की में बैठा हुआ एक अत्यन्त लघु कीट जो पूर्व-गति से चक्की के पाटल में भ्रमण कर रहा है किन्तु द्रष्टा लोगों की दृष्टि में कीट की गति का कुछ भी आभास तक नहीं हो पाता है, मात्र चक्की का भ्रमण ही दृष्टिपथ में होता है उसी प्रकार निरन्तर पश्चिमाभिमुख भ्रमणशील भचक्र में नक्षत्र मण्डल युक्त ग्रह कक्षा स्थित ग्रह जो अपनी गति से पूर्व की ओर चल रहा है नक्षत्र मण्डल में अति अधिक वेग होने से भी गमनशील नक्षत्रमण्डलस्थ ग्रह की भी गति दृष्टिगोचर नहीं हो सकती है ।

विशेष युक्ति या उपपत्ति—वर्तमान में उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त के मध्यमाधिकार में "ग्रहों की प्राक् पूर्व की गति कैसे ज्ञात हुई ?" "ग्रह पूर्वाभिमुख चल कर भगण भोग करते हैं" इस विषय पर विशेष युक्ति सूर्य सिद्धान्त ने बताई है, जैसे—

"पश्चाद् व्रजन्तोऽपिजवानन्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः" (सूर्य सिद्धान्त)

इस प्रसंग में अनेक ग्रहवेध यन्त्रों के द्वारा की गई ग्रहवेध प्रक्रिया ही प्रामाणिक होती है ।

उपपत्ति—भूपृष्ठीय अपने पृष्ठ स्थान से सूर्योदय के समय में क्षितिज में किसी नक्षत्र और ग्रह का एक ही समय में अस्त देखा गया । दूसरे दिन के सूर्यास्त के समय में नक्षत्र के अस्त के अनन्तर सूर्यास्त देखा गया या उक्त नक्षत्र के अस्त के अनन्तर उक्त ग्रह का अस्त देखा गया । तो इससे सिद्ध हुआ कि नक्षत्र अपनी ही जगह पर स्थिर है और ग्रह पूर्व-दिनीय अपने स्थान से पूर्व की ओर चलायमान होने से नक्षत्रास्त के अनन्तर ही ग्रह का अस्त देखा गया है । यह वेध सूर्योदय काल में भी किया गया तो दूसरे दिन नक्षत्र के उदय के पश्चात् ही ग्रह का उदय देखे जाने से प्रत्यक्षतः सिद्ध होता है कि ग्रह अपनी गति से पूर्व की ओर चला गया । सिद्ध हुआ कि आकाश में दृश्यमान नक्षत्र यथास्थान भचक्र के साथ भ्रमण करते हैं किन्तु नक्षत्र बिम्बों से सम्बन्धित गतिमान ग्रह पिण्ड पूर्वाभि-मुख चलते हैं । अतः गतिमान बिम्बों को ग्रह और अचल तेज पुञ्ज तारा बिम्ब का नाम नक्षत्र कहा गया है ।

जैसे ख अ च त वृत्त में भूगोलीय पृष्ठ पर द्रष्टा का पृष्ठीय स्थान। प्रथम सूर्योदय के पृष्ठ क्षितिज में अ = नक्षत्र, क = ग्रह। द्वितीय सूर्योदय में अ = नक्षत्र अपने पूर्व दैनन्दिनीय विन्दु पर है तथा क स्थानीय क' बिन्दु पर वही ग्रह नक्षत्र उदय के अनन्तर अ द्र क' सम्बन्धेन उत्पन्न काल के अनन्तर द्र-अ-क क्षितिज में दृश्य होगा ॥४॥

समं भसूर्यावुदितौ किलाऽऽक्ष्यां षष्ट्या घटीनामुदितं पुनर्भम् ।
रविस्ततः स्वोदयभुक्तिघातात्खाभ्राष्टभू१८०० लब्धसमासुभिश्च॥५
समागतासुसंयुता रवेस्तु षष्टिनाडिकाः ।
स्फुटं द्युरात्रमुद्गमाद्युभुक्तितश्च तच्चलम् ॥६॥
षष्ट्या घटीनां भदिनं सदाक्ष्यां तद्भुक्तितुल्यासुयुतं खरांशोः ।
स्यान्मध्यमं सावनमेवमब्दे तत्संख्यका भभ्रमतो निरेका ॥७॥

वा० भा०—यदा किमपि नक्षत्रं सूर्यश्च किल समकालमुदितः। नह्यर्कोदयवेलायां किमपि नक्षत्रमुपलभ्यते किंतु केवलाऽत्र युक्तिरुच्यत इति किलशब्दः प्रयुक्तः। तस्मात्कालादनन्तरं नाक्षत्राणां घटीनां षष्ट्या ६० तन्नक्षत्रं पुनरुदेति। ततोऽनन्तरं रविरुदेति। स च कियता कालेन। तदर्थमनुपातः। रविः किल क्रान्तिवृत्ते स्फुटगत्या पूर्वतो गतः। यद्यष्टादशशतानि राशिकलाः स्वोदयासुभिरुद्गच्छन्ति तदा स्फुटगतिकलाः कियद्भिरिति। एवं लब्धासुभिर्भोदयानन्तरं रवेरुदयः। अत एव नाक्षत्राः षष्टिघटिकास्तैर्लब्धासुभिरधिका रवेः स्फुटं सावनमहोरात्रं भवति। तच्चाहोरात्रं चलम्। प्रत्यहमन्यादृक्। प्रत्यहं गत्यन्य-

त्वात्प्रतिमासं राश्युदयान्यत्वाच्च । यत्पुनर्घटीषष्ट्या मध्यमभुक्तितुल्यासुयुतया सावनं द्युरात्रमुच्यते तन्मध्यमम् । यतोऽब्दान्ते यावन्ति स्फुटसावनानि तावन्त्येव मध्यमानि स्युः । गतीनामुदयानां च ह्रासवृद्ध्योस्तुल्यत्वात् । तत्कथं नित्यं रविगतिलिप्तासमासुभिः सहितो भाहः सावनाहो भवतीति लल्लादिभिरुक्तम् । स्यादेतत् । यदि विषुवन्मण्डले रविः पूर्वतो याति तर्हि विषुवन्मण्डलस्यैका कलैकेनासुनोदेति तदा रविगतिलिप्तासमासुभिरिति वक्तुं युज्यते । तन्न युक्तम् । रविः क्रान्तिवृत्तेन याति । तत्र मेषराशेः कला अष्टादशशतानि १८०० गगनभूधरषट्कचन्द्रमितैरसुभि १६७० रुद्गच्छन्ति । अन्यस्यान्यैरिति गतिकलानामनुपातेनासवः कर्तुं युज्यन्ते । एवं कृते सति स्फुटमहोरात्रं भवति । यत्तैरुक्तं तन्मध्यममेव । एवं वर्षमध्ये यावन्ति स्फुटसावनानि तावन्त्येव मध्यमानि स्युः । तत्संख्यका भभ्रमतो निरेकेति । यावन्तो भभ्रमा जातास्तत्संख्यकैकोना सतो सावनदिवससंख्या भवति । यतो रविः पूर्वतो गच्छन्नेकं परिवर्तं गतः । अतस्तस्योदयसंख्यैकोनेत्युपपद्यते ॥५॥६॥७॥

मरीचिः—ननु ग्रहाणां प्रत्यहं पूर्वगतिसद्भावे मानाभावोऽश्विन्यादिस्थस्य भरण्यादिस्थत्वमुड्डीयनेनैव संभवतीत्यतः संसिद्धाद्द्युगणाद्युगादिभगणैरित्यादिप्रश्नोत्तरदाने प्रथममुपस्थिताहर्गणस्य संसिद्धत्वं कुत इत्याशङ्कापवारणाय संसिद्धत्वस्थापनार्थं मानोपपत्तिकथनव्याजात्प्रत्यक्षप्रमाणमुपजातिकयाऽऽह—**सममिति** ।

नक्षत्रार्कौ समं युगपदेकसमये नक्षत्रोदयलग्नतुल्यसूर्योदयकालीनसूर्यें भूपृष्ठे तु तदनन्तरम् । उदितो । उदयं क्षितिखसंयोगाभाससिद्धवृत्तसंस्थितत्वं प्राप्तौ । किलेत्यनेन युगपत्सूर्यनक्षत्रदर्शनमसंभव्यपि युक्त्या तन्निश्चयोऽस्तीति सूचितम् । पुनस्तदनन्तरम् । आर्क्ष्या घटीनां षष्ट्या नक्षत्रषष्टिघटिकाभिरित्यर्थः । भं तदेव नक्षत्रं केवलमुदितम् । रविस्तु तदानीं नोदितः । यदि पूर्वतोऽर्को न गच्छेत्तदा पुनरपि भोदयकाले सूर्योदयापूर्वनक्षत्रापत्तेश्चेति प्रत्यक्षमेव पूर्वगतौ मानमुपलब्धमिति भावः । ननु नक्षत्रद्वितीयोदयकालानन्तरं पुनः सूर्योदयः कदा संजात इत्यत आह—रविरिति । ततो नक्षत्रद्वितीयोदयकालान्तरं सूर्यः स्वोदयभुक्तिघातात् । सायनसूर्याधिष्ठितराशेः स्वदेशोदयासुकालः सूर्यस्य तद्दिनजातस्पष्टगतिकलास्तयोर्गुणनफलादित्यर्थः । अष्टादशशतेन भागहारेण यल्लब्धं तन्मितासुभिश्चकारादुदितः । अयं भावः । द्वितीयनक्षत्रोदयकाले सूर्यस्य पूर्वगमनेनाविलम्बितत्वान्नोदयः । तदुदयस्त्ववलम्बितः । सूर्यस्य प्रवहानिलाघातेन यत्कालेन क्षितिजस्थत्वं तत्काले तस्मिन्नपि काले पूर्वचलनात्सूर्योदयद्वयान्तरकालसंबन्धिसूर्यपूर्वगतिस्पष्टकालानामसुभिस्तस्मादुदयः स्पष्टगत्यस्वानयनं चैकराशिकलाभिरुदयासवस्तदा स्पष्टगतिकलाभिः क इत्यनुपातेन । एवं चन्द्रादिग्रहोदयलग्नस्य यन्नक्षत्रोदयलग्नसमत्वं तन्नक्षत्रेण सह तस्योदयसत्त्वेऽपि शराग्रस्थित्योक्तानुपातजगत्यसुभिर्नोदयः । किंतु तदासन्नाभिरेव । विलक्षणग्रह-

बिम्बगमनात् । तदनुक्तिश्चाहर्गणवासनोपयोगित्वादुक्ताहर्गणस्य सूर्यसावनत्वनिश्चया-दिति ॥५॥

अथैतद्भूमिकयाऽवगतं सूर्यसावनमानं प्रमाणिकयाऽऽह—**समागतासुसंयुता इति ।**

षष्टिघटिकाः समागताः स्वोदयभुक्तिघातादिति पूर्वोक्तघातावगता येऽसवस्तैर्युता रवेः स्फुटं द्युरात्रं स्पष्टमहोरात्रमानं स्यात् तुकाराच्चन्द्राद्यहोरात्रमुक्तरीत्या न संभवेदुक्त-युक्तेरिति नोक्तमिति सूचितम् । ननु सूर्याहोरात्रं नियतं सावनषष्टिघटिकामितं तथैतत्कल्पितं मानं नियतं कियदित्यत आह—तदिति । तदुक्तरीत्याऽवगतं सूर्याहोरात्रमानं चलं प्रत्यहं विसदृशम् । तथा च कल्पितमिदं मानं नियतं नेति तन्मानं वक्तुमशक्यमिति भावः । ननु तच्चलं कुतः । समातासुयोजनेन नियतत्वादतश्चलत्वे हेतुमाह —उद्गमादिदि । राश्यु-दयकालानामनियतत्वात्तज्जनितगत्यसवोऽपि भिन्ना इति तद्योजने नियतं मानं न भवेदिति भावः ननु तथाऽपि निरक्षे देशे मानं त्रिधा साक्षे तु षोढेति नियतमेतन्मानं वक्तुमुचित-मित्यत आह—द्युभुक्तित इति दिनगतेः प्रत्यहं विलक्षणत्वात्तज्जनितत्वेनापि प्रत्यहं विलक्ष-णमानं नोक्तरूपेण नियतम् । चकारादेकदिनेऽपि देशभेदेन मानानैयत्यं सूचितम् । तथा च स्वोदयभुक्त्योरन्यादृशत्वसंभवात्तज्जनितासूनां विलक्षणतया तद्योजनविलक्षणमानसिद्धेर्दुर्वार-त्वादिति भावः ॥६॥

नन्वहोरात्रस्य षष्टिघटीमित्वादेतत्कल्पितमहोरात्रमानं तदधिकत्वादयुक्तमित्यतस्तदुत्तरं प्रसङ्गाद्विशेषान्तरं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—**षष्ट्येति ।**

सदा प्रत्यहं घटीनां षष्ट्याऽऽक्ष्यां नक्षत्रदिनम् । नक्षत्रोदयद्वयान्तरालकाले नाक्षत्रषष्टि-घटीमिते भपञ्जरभ्रमणस्योपपादितत्वात् । सदेत्यनेन नक्षत्राणां पूर्वगत्यभा-वान्नाक्षत्रमाने-नानियतं नक्षत्रदिनं न भवेदिति सूचितम् । अत एव तत्षष्टिघटीनां गतिजासूनामप्युदया-धीनत्वात्तद्योगे नाक्षत्रघटिकामापकेन रव्युदयद्वयान्तरालकालरूपसावनं दिनं षष्टिघटीभ्यो-ऽधिकं भवत्येवेति भावः । नन्वेवं नित्यरविगतिलिप्तासमासुभिः सावनो माह(स) इति लल्लाद्युक्तमसंगतम् । न च प्रवहभ्रमणाभिमुखदिग्विपरीतादिशि विषुवद्वृत्तमार्गेणैव रवि-भ्रमणं तेन तत्र कलासूनां समत्वसंभवादुक्तं युक्तमेवेति वाक्यम् । सूर्यस्य विषुवन्मार्गेण स्वतो भ्रमणाभावस्य प्राक्प्रतिपादनादित्य आह—तदिति । तद्भदिनं षष्टिनाक्षत्रघटीमितं गतिकलातुल्यासुभिर्युतं मध्यमं सावनं स्यात् । तथा च लल्लाद्युक्तं सावनमानं मध्यत्वेनाङ्गी-कृतं युक्तमिति भावः यद्यपि लल्लाद्युक्तं मध्यमं न भवति । तस्य मध्यमगत्योत्पन्नासु-संबन्धत्वात् । मध्यगतिकलासूनां मध्यगतिकलाभ्य उक्तरीत्या भिन्नत्वावात्तथाऽपि मध्य-गत्युत्पन्नस्यैकरूपत्वाभावेनोपेक्षितत्वात् । एकरूपत्वेनैव मध्यमत्वाङ्गीकारादुक्तस्य मध्यमत्वं युक्तम् । न च तादृशमानकथनं स्पष्टमानापेक्षया तादृशानियतमध्यमानापेक्षया च न युक्तम-प्रयोजकत्वादिति वाच्यम् । अहर्गणस्यानुपातसाध्यत्वात्तस्य चानियतविषयत्वाभावात् । अहर्गणोपजीव्यत्वेन तन्मानाभ्युपगमात् । अथोक्तमानेन वर्षे सावनसंख्याज्ञानमुपपत्तिसिद्ध-

माह—एवमिति । एवमुक्तेनानेनावगतयुक्त्या । खरांशोः सूर्यस्य तत्संख्या सावनदिनसंख्या । अब्दे सौरवर्षे भभ्रमतः सौरवर्षसंबन्धिभदिनसंख्यातो निरेका । एकोना भवतीत्यर्थः । तथा च पूर्वस्य यदि पूर्वगत्यभावोऽभविष्यत्तदा नक्षत्रसूर्ययोः प्रत्यहं युगपदुदयसंभवाद्यावन्तो भदिवसास्तावन्त एवाभीष्टकाले सूर्यसावनदिवसाः स्युरिति तत्पूर्वगतिसद्भावादवलम्बनेन युगपदुदयासंभवात्पूर्वगत्या चक्रभोगकाले यावन्तो भदिवसास्तावन्त एकोनाः सूर्यसावनदिवसाः, चक्रान्तरेणैकभ्रमस्याजायमानत्वादतः पूर्वगत्या चक्रभोगकालस्य सौरवर्षोक्त्योक्तं सम्यगेव । एवं खरांशोरब्द, इत्यनयोः क्रमेण ग्रहचक्रभोगकाले मध्यगतितुल्यासुम्यः स्पष्टगत्यसूनां ह्रासवृद्ध्योस्तुल्यत्वाच्चक्रभोगकाले मध्याः स्पष्टाश्च सावनदिवसास्तुल्या इत्यवधेयम् ।।७।।

केदारदत्त :—कल्पना कीजिए कि किसी दिन सूर्य बिम्ब के साथ किसी नक्षत्र का उदय एक साथ हुआ, ६० घटी = २४ घण्टे के अनन्तर दूसरे दिन उक्त नक्षत्र को पूर्व क्षितिज में उदय देखा गया किन्तु सूर्य का उदय नहीं हुआ, थोड़ी देर के बाद पुनः सूर्य का उदय भी हो गया ।

रविनिष्ठ राशि के उदयमान से गुणित और १८०० से विभक्त, लब्ध फल तुल्य काल को ६० घटी में जोड़ देने से जितना समय होगा उतने समय में पूर्व क्षितिज में नक्षत्र के उदय के बाद रवि का उदय होता है । उक्त समय की ही रवि की एक सावन दिन संज्ञा होती है । इसी प्रकार प्राग्गतिक गमनशील सभी ग्रहों का सावन दिन होता है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए ।

ग्रहों की एक दिन की स्थिर गति मान कर उक्त भाँति से ग्रहों के सावन दिन माने गये हैं । वस्तुतः ग्रह गतियों की सूक्ष्म गतियाँ जो क्षण-क्षण में वर्द्धमान या लघीयसी भी होती हैं, तात्कालिक ग्रह गति को प्रमाण मानकर ग्रहों की स्पष्ट गति वश, उक्त मध्यम सावन दिन को स्पष्ट सावन दिन बनाना चाहिए । अतः सावन दिन गतिवशेन प्रतिक्षण में सावन समय चलायमान होता है । क्योंकि नक्षत्र दिन का स्थिर मान मात्र ६० घटी है ग्रह मध्यम गति से उक्त भांति प्राप्त काल को ६० घटी में जोड़ने से जो लब्ध होता है वही काल ग्रह का मध्यम सावन दिन होता है । इस प्रकार एक वर्ष में नक्षत्रों की उदय संख्या में एक कम कर देने से प्राप्त फल के तुल्य ग्रहों की सावन दिन संख्या होती है ।

उपपत्ति :—चूँकि सूर्य का पूर्व गति से भ्रमण क्रान्तिवृत्त में होता है । एक राशि में कला १ × ३० × ६० = १८०० कला होती हैं । त्रैराशिक गणित के अनुपात से यदि रविनिष्ठ राशि की १८०० कला में रविनिष्ठ राशि का उदय मान (कलात्मक) मिलता है तो रविकी १ दिन सम्बन्धिनी स्पष्ट गति कला में कितना काल होगा ? तदर्थ निम्न भाँति के गणित को समझिये—कल्पना कीजिये काल = का, तो

$$\text{का} = \frac{\text{उदयमान} \times \text{सू॰ की स्पष्टागति}}{१८००} = \text{रविगतिकलोत्पन्न काल ।}$$

अतः नक्षत्रोदय के अनन्तर "का" संज्ञक समय में अर्थात् ६० घटी + "का" = में पूर्व दिन सम्बन्धी सूर्योदय के अनन्तर द्वितीय दिन सम्बन्धी सूर्योदय होगा इसी का नाम रवि का स्पष्ट सावन दिन होता है ।

इस प्रकार रवि प्रतिदिन की दैनन्दिनीय अपनी गति से भचक्र में चल कर १ वर्ष में अपनी जगह पर १ भगण पूरा कर आवेगा और पुनः उक्त उस नक्षत्र के साथ संयोग करेगा जबकि उस समय नक्षत्र की भगण संख्या = ३६० होगी, तो ३६० — १ = ३५९ ही रवि की भ्रमण संख्या होगी क्योंकि सूर्य अपनी गति से पूर्व को चलते हुये १ वर्ष में १ भगण का पूर्ण भ्रमण करता है, तो नक्षत्र-भगण—१, के तुल्य रवि की भ्रमण संख्या होगी । अतएव नक्षत्र भ्रमण में—१ = सूर्य सावन दिन संख्या । भभ्रम — सूर्य भगण = सूर्य सावन या नक्षत्र भगण में किसी भी ग्रह भगण को कम करने से उस ग्रह की सावन दिन संख्या होती है, उपपन्न हुआ ।।५।।६।।७।।

इदानीं वर्षमध्ये सावनसंख्यामाह—

पञ्चाङ्गरामास्तिथयः खरामाः सार्धद्विदस्राः कुदिनाद्यमब्दे ।
अस्यार्कमासोऽर्कलवः प्रदिष्टस्त्रिंशद्दिनः सावनमास एव ।।८।।

वा॰ भा॰—एकस्मिन् सौरवर्षे पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशती ३६५ मिताः सावनदिवसाः पञ्चदश १५ नाडिकाश्च त्रिंशत् ३० पलानि च सार्धानि द्वाविंशति २२। ३० विपलानि। एषामुपपत्तिर्मध्यगतिभाष्ये कथितैव। अस्यार्कवर्षस्य द्वादशांशोऽर्कमासो भवतीति युक्तम् । सावनमासस्तु सावनानां त्रिंशतैव भवति ।।८।।

मरीचिः—अथ सौरवर्षे सूर्यसावनदिनसंख्यास्वरूपमति द्यप(भिधाय)तत्स्वरूपेण भभ्रमणसंख्यानवगमात्तत्संख्याज्ञानमशक्यमतस्तत्संख्यां निबध्नंस्तत्प्रसङ्गात्सौरमासे तत्संख्यावगमं सावनमासस्वरूपं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—**पञ्चारामेति** ।

सौरवर्षे पञ्चषष्टयधिकशतत्रयं पञ्चदश त्रिंशत्सार्धद्वाविंशतिरिति कुदिनाद्यं सूर्यसावनदिनघटिकापलाविपलात्मकं भवति । एतदुपपत्तिर्मध्याधिकार उक्ता । न च तद्वेधोपपत्त्याऽनियतमेतन्मतमिति वाच्यम् । प्रागुक्तकल्पसूर्यसावनदिनसंख्यातोऽनुपातेनैकवर्षे तन्नियतत्वावगमात् । वक्ष्यमाणाधिमासोपपत्त्यर्थं सौरमासे सूर्यसावनदिनादिज्ञानमाह—अस्येति । सौरवर्षसंबन्धिसावनदिनाद्यस्य द्वादशांशस्त्रिंशत्षड्विंशतिसप्तदशादिकः सावनदिनाद्यात्मकः सौरमासः ३० । ७ । ३१ । ५२ । ३७ उक्तः । अथ प्रसङ्गाद्वक्ष्यमाणावगमोपपत्त्यर्थं सावनमासे दिनसंख्यामाह—**त्रिंशद्दिन** इति । सावनमासस्वरूपं तन्मानं त्रिंशद्दिनात्मकम् । एवकारादुक्तसौरमाससावनादधिकन्यूनव्यवच्छेदः ।।८।।

केदारदत्तः—एक सौर वर्ष की सावन दिन संख्या = ३६५ दिन १५ घटी, ३० पल २२ विपल और ३० प्रति विपल होती हैं।

सौर वर्ष की दिन संख्या का बारहवाँ विभाग सौर मास एवं ३० संख्या तुल्य सावन दिनों का एक सावन मास होता है।

उपपत्ति—मध्यमाधिकार इसी ग्रन्थ का केदारत्तीय शिखाभाष्य देखिये।

इसी ग्रन्थ का पूर्व भाग ग्रहगणिताध्याय मध्यमाधिकार का "शिखा" भाष्य देखिये ।।८।।

इदानीं चान्द्रमासमाह—

कालेन येनैति पुनः शशीनं क्रामन् भचक्रं विवरेण गत्योः ।
मासः स चान्द्रोऽङ्कयमाः कुरामाः पूर्णेषव २९।३१।५० स्तत्कुदिन-प्रमाणम् ।।९।।

वा० भा०—दर्शान्ते किल शशी रविणा युक्तो भवति। ततो द्वावपि पूर्वत गच्छतः। तयोः शशी शीघ्रगत्वात्प्रत्यहं गत्यन्तरेणाग्रतो याति। एवं गच्छंश्चक्र-कला २१६०० तुल्यमन्तरं यदाऽग्रतो याति तदा रविणा योगमेति। तयोः काल-योरन्तरालं चान्द्रमासः। तत्प्रमाणमनुपातेन। चन्द्रार्कयोर्मध्यगती आदौ सम्यक् सावयवे कृत्वा यदि गत्यन्तरेणैकं कुदिनं लभ्यन्ते तदा चक्रकलातुल्येनान्तरेण कियन्तीत्यनुपातेन चान्द्रमासे कुदिनानि लभ्यन्ते। एकोनत्रिंशद्दिनान्येकत्रिंशद्-घटिकाः पञ्चाशत् पलानि २९।३१।५० इत्युपपन्नम् ।।९।।

मरीचिः—अथोभयोरुपपत्त्यर्थं चान्द्रमासस्वरूपं तन्मानं सूर्यसावनदिनात्मकं चेन्द्रव-ज्रयाऽऽह—**कालेनेति**।

चन्द्रसूर्यगत्योरन्तरेण प्रत्यहं सूर्यादधिकगमनन भचक्रं द्वादशराश्यात्मकं क्रामन्भ्रमन्येन कालेन सूर्यं प्रति पुनर्द्वितीयवारमेति युनक्ति। अनेन यत्काले द्वयोर्योगस्तत्कालयोरवधित्वं द्योत्यते। स कालश्चान्द्रो मासः। सूर्यचन्द्रयोर्भगणान्तरेण चान्द्रमासो दर्शान्तावधिरूप इत्यर्थः। तस्य सूर्यसावनदिनानि मध्यान्याह—अङ्कयमा इति। तस्य चन्द्रमासस्य कुदि-नानां सौरसावनदिवसानां प्रमाणं संख्यामानं मध्यमेकोनत्रिंशद्दिवसाः। एकत्रिंशद्घाटिकाः पञ्चाशत्पलानीति। अत्रोपपत्तिः। क्रामन्भचक्रं विवरेण गत्योरित्यनेन गत्यन्तरेणैकं सूर्यसावनदिनं तदा चक्रांशकलाभिः किमित्यनुपातः सूचित एव। अत्र क्वचिदप्यवयवे निःशेषत्वादर्शनावयवैकदेशास्त्यक्ताः ।।९।।

केदारदत्तः—सूर्यचन्द्रमा के अमान्त काल के प्रथम योग के अनन्तर पुनः जितने समय में द्वितीय योग (द्वितीय अमान्त) होता है उसे चान्द्रमास कहते हैं। एकचान्द्र मास की सावन दिन संख्या २९।३१।५०''''होती है।

उपपत्ति—सूर्यचन्द्रमा के योग काल का नाम अमान्त काल होता है। शीघ्रगतिक चन्द्रमा सूर्य से निरन्तर आगे चल कर पुनः सूर्य से योग करता है, इस प्रकार द्वितीय, तृतीयादि···अमान्त मास होते हैं। अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर जब १२ राशि = ३६० अंश = २१६०० कला होता है तो वही अमान्त काल होने से अनुपात से—

चन्द्रगति—सूर्यगति = गत्यन्तर।

अतः, $\frac{\text{१ सावन दिन} \times \text{२१६०० कला}}{\text{गत्यन्तर}}$ = चान्द्र मासान्त की सावन दिन संख्या

अथवा एक चान्द्र मास की समाप्ति दिन की सावन दिन संख्या = २९ दिन, ३१ घटी ५० पल होते हैं—उपपन्न हैं ॥९॥

इदानीमधिमासोपपत्तिमाह—

चान्द्रोनसौरेण हृतात्तु चान्द्रादवाप्तसौरैर्दशनैर्दलाढचैः ।३२।१६।
मासैर्भवेच्चान्द्रमसोऽधिमासः कल्पेऽपि कल्प्या अनुपाततोऽतः ॥१०॥
सौरान्मासादैन्दवः स्याल्लघीयान्यस्मात्तस्मात्संख्यया तेऽधिकाः स्युः ।
चान्द्राः कल्पे सौरचान्द्रान्तरे ये मासास्तज्ज्ञैस्तेऽधिमासाः प्रदिष्टाः ॥११॥

वा० भा०—अत्र द्वितीयश्लोकस्तावत्प्रथमं व्याख्यायते। सौरान्मासादैन्दवो मासो यतो लघुरतः कारणात्कल्पे सौरमाससंख्ययाश्चान्द्रमाससंख्याऽधिका भवति। यथा धान्यराशिमानेऽष्टसेतिकाहारमितेः षट्सेतिकाहाररमितिरधिका भवतीति बालैरपि बुध्यते। यावन्तश्चान्द्रमासाः कल्पेऽधिका भवन्ति तत्संख्याधिमाससंख्या तज्ज्ञैः कल्पिता। तत्र कियद्भिः सौरैरेकोऽधिमासो भवतीति युक्तिरुच्यते—चान्द्रोनसौरेण हृतात्तु चान्द्रादिति। सौरमासकुदिनेभ्यश्चान्द्रमासकुदिनेषु शोधितेषु शेषं दिन-स्थाने पूर्णमधश्चतुष्पञ्चाशद्घटिकाः सप्तविंशतिः पलानि सावयवानि ०।५४। २७।३१।५२।३०। एकस्मिन् सौरमास इदं सौरचान्द्रान्तरं कुदिनात्मकम्। युगस्याऽऽदेरुपर्येकस्मिन् दर्शान्ते प्राप्त एकश्चान्द्रमासः पूर्णस्तदनन्तरं चतुष्पञ्चाशद्घटिकाभिः सावयवाभिर्मध्यमार्कस्य वृषभसंक्रान्तिस्तत्र रविमासः पूर्णस्ततोऽन्यस्मिन् दर्शान्ते प्राप्तेऽन्यश्चान्द्रमासान्तः। ततो दर्शान्तादुपरि द्विगुणाभिस्ताभिरेव घटीभिर्मिथुनसंक्रान्तिः। एवं त्रिगुणचतुर्गुणादिभिः कर्कटादिसंक्रान्तयो भवन्ति। एवं संक्रान्तिरग्रतो याति। पुनर्दर्शान्तं प्राप्नोति। तदा गतचान्द्रमासेभ्यः सौरा एकोना भवन्ति। यदासंक्रान्तिर्दर्शान्तमतिक्रम्याग्रतो याति तदाऽनुपातेन यावन्तः सौरा भवन्ति तावद्भिरेकोऽधिमासः। तत्रानुपातः। यद्यनेन सौरचान्द्रान्तरेण कुदिनात्मकेन ०।५४।२७।३१।५२।३० एक सौरो मासो भवति तदा चान्द्रमासान्तःपातिभिः कुदिनैः २९।३१।५० कियन्त इति। फलं सूर्यमासाः ३२।१५।३१।२८।४७।

अथ च युगाधिमासैर्युगसौरमासा लभ्यन्ते तदैकेन किमिति । फलमेतावन्त एव सौरमासा लभ्यन्ते । एतावद्भिः सौरमासैरेकश्चान्द्रमासोऽधिको भवति । अत एवाधिमासस्य चान्द्रत्वम् । कल्पेऽपि कल्प्या अनुपाततोऽत इति सुगमम् ॥१०॥११॥

मरीचिः—अथाधिमासोपपत्तिमुपजातिकयाऽऽह—**चान्द्रोनेति ।**

चान्द्रोनसौरेण चान्द्रमाससावनोनितसौरमाससावनेन मध्यमरूपेण चन्द्रात् चान्द्रमाससावनात् । हृताद्यदवाप्तं तत्तुल्यैः सौरैर्मासैर्द्वात्रिंशद्भिर्दलाद्यैः षोडशदिनयुक्तैः । चान्द्रमासश्चान्द्र इत्यर्थः । अधिमासो भवेत् । तुकारात्स्पष्टोऽधिमासोऽधिकैर्न्यूनैर्वा भवतीति सूचितम् । अत्रोपपत्तिस्तु—एकचान्द्रमाससावनादेकसौरमाससावनं तदन्तरेणाधिकम् । तथा चैकचान्द्रमाससमाप्त्यनन्तरं द्वितीयचान्द्रमासान्तर्गतैतत्तुल्यसावनं यदा भवति तदैकः सौरो मासः पूर्ण इति फलितम् । एवं च सौरचान्द्रसावनान्तरमितचान्द्रांधिक्येनैकः सौरमासस्तदा चान्द्रमाससावनतुल्याधिक्येनैकाधिकचान्द्रमासरूपेण क इत्यनुपातेन सावयवाः सौरमासा एकधिकचान्द्रमासतत्पलसंबद्धा यदैते सौरमासास्तदा चान्द्रमासाः सैका एते गणनयेत्यधिकः सौरापेक्षया चान्द्रो मासः । अत्रापि क्वचिदप्यवयवे निःशेषत्वाभावाद्दशनैर्दलाढ्यैरित्येवावयवान्तरत्यागे नोक्तमिति ध्येयम् । ननूक्तयुक्त्यैतावद्भिः सौरमासैरेकाधिमाससंभवावगमेऽपि कल्पाधिकमाससंख्यावगमः कथमहर्गणानयनस्य तदुपजीव्यत्वादित्यत आह—कल्प इति । अत उक्तरीत्या ज्ञातप्रमाणफलाभ्यां सौरमासाधिकमासरूपाभ्यां कल्पे, अपिशब्दाद्युगादौ ज्ञातेच्छासौरवर्षैर्यद्येकाधिमासपतनसंबन्धिसौरमासैरेकोऽधिकश्चान्द्रस्तदा कल्पाद्युक्तसौरमासैः क इत्यनुपाततोऽधिमाससंख्या कल्पा(ल्प्या) ज्ञेया ॥१०॥

ननु चान्द्रमाससावनात्सौरमाससावनस्याधिकत्वदर्शनात्कथमतिविरुद्धमुक्तम् । चान्द्रमासोऽधिमास इति मन्दाशङ्काया उत्तरं शालिन्याऽऽह—**सौरान्मासादिति ।**

यस्मात्कारणात्सौरान्मासात्सौरमाससावनादित्यर्थः । ऐन्दवश्चान्द्रमासः सावनदिनमानात्मको लघीयानल्पस्तस्मात्कारणात्कल्पे ते लघुमानभूताश्चान्द्राः, माससंख्यया चान्द्रमाससंख्ययोरन्तरे ये चान्द्रमासा अधिकास्ते वन्मिता अधिमासाः प्रदिष्टाः । द्वयोरन्तरे शेषस्य चान्द्रत्वेन सिद्धेरित्यर्थः ॥११॥

केदारदत्तः—अधिमास की उत्पत्ति बताई जा रही है—

११वें श्लोक का आशय है कि सौर मास से चान्द्रमास लघु होने के कारण किसी बड़ी संख्या में छोटी संख्या से भाग देने पर लब्धि अधिक होगी अपेक्षया उक्त उसी बड़ी संख्या में बड़ी संख्या से भाग देने से । अत एव कल्प सम्बन्धी सौर चान्दादि मासों में कल्प सौर मास संख्या से कल्पचान्द्र मास संख्या अधिक होती है । अत एव सौर मास संख्या से चान्द्र मास संख्या जितनी अधिक होती है उसी माप से युग अधिमास, महायुगाधिमास, या कल्पाधिमास संख्या अधिक ही होगी अतः चान्द्रात्मक अधिक मास, चान्द्र और सौर मासों के अन्तर के तुल्य सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार ३२ मास, १६ दिनादि घटिकात्मक सौरमानीय काल में १ चान्द्र मास संख्या अधिक हो जाने से इतने समय में चान्द्रमास संख्या ३३ हो जाती हैं।

उपपत्ति—कल्पकुदिन या एक महायुग सम्बन्धी सौर वर्ष में सौर चान्द्र मासों की नियत संख्या बता दी गई है।

एक सौर मास की सावन दिन संख्या = ३६५।१५।२२।३० ÷ १२ = ३०।२६।१७ में

एक चान्द्र मास सम्बन्धी सावन दिनादि = २९।३१।५० को

कम करने से सावनादिनात्मक शेष = ०।५४।२७ होता है।

अर्थात् एक सौर मास में सौर चान्द्र कुदिनों का अन्तर = ०।५४।२७ होता है।

उक्त अन्तर में यदि एक सौर मास की प्राप्ति होती है तो एक चान्द्र मासान्तःपाती सावनदिनात्मक संख्या में कितने सौर मास प्राप्त होंगे, त्रैराशिक अनुपात से—

$$\frac{\text{१ सौरमास} \times \text{२९।३१।५०}}{\text{०।५४।२७}} = \text{३२।१५।३१।२८।२७}$$

सौर मासों में एक चान्द्रात्मक अधिक मास गणित से सिद्ध होता है ।।१०।।११।।

इदानीमवमोपपत्तिमाह—

शशाङ्कमासोनितसावनेन ०।२८।१०
त्रिंशद्धृतां लब्धदिनैस्तु चान्द्रैः ।
रुद्रांशकोनाब्धिरसैः ६३।५४।३३ क्षयाहः
स्यात्सावनोऽतश्च युगेऽनुपातात् ।।१२।।

वा० भा०—युगे चान्द्राणां सावनां च दिनानां यदन्तरं तान्यवमानि। अतः एकस्मिन्मासे चान्द्रसावनान्तरं कुदिनात्मकं गृहीतम्। तत्र दिवसाः पूर्णमष्टाविंशतिघटिका दश पानीयपलानि च ०।२८।१०। इदमेकस्मिश्चान्द्रमासे त्रिंशत्तिथ्यात्मके कुदिनात्मकमवमखण्डम्। यद्यनेन त्रिंशच्चान्द्राणि दिनानि लभ्यन्ते तदा संपूर्णनैकेनावमेन कियन्तीति त्रैराशिकेन लब्धै रुद्रांशकोनाब्धिरसै–६३।५४।३३ रेकः क्षयाहो भवति। स च सावनः। अखण्डस्य रूपस्य सावनेच्छाकल्पनात्। अतोऽनुपातात्कल्पेऽपि ।।१२।।

मरीचिः—अथावमोपपत्तिमुपजातिकयाऽऽह—**शशाङ्केति।**

चान्द्रमाससावनोनितसावनमासर्त्रिशत्सावनदिनेन मध्येनानेन २८।१० त्रिंशद्भाज्याः १ फलं दिनैश्चान्द्रै रुद्रांशकोनाब्धिरसैः स्वरूपस्यैकादशांशोनितचतुःषष्टिमितैः क्षयाहः सावनः। एकदिनसावनस्य क्षयः स्यात्। तथा च चान्द्रमासात्सावनमासस्याधिकत्वाद्यदा चान्द्रमाससमाप्तिस्तदा सावनमाससमाप्तिरन्तरेणोनैवेति चान्द्रमासे तदन्तरं सावनं न्यूनमतस्तदन्तरन्यूनसावनेन त्रिंशत्तिथ्यात्मकश्चान्द्रमासस्तदैकमितन्यूनसावनेन क इत्यनुपातेन

स्वल्पान्तरा रुद्रांशकोनाब्धिरसमिताश्चान्द्रदिवसाः । यदैते तदा सावनदिवसा एकोना इत्येकसावनदिवसोऽवमसंज्ञक इति तात्पर्यम् । तुकारात्स्पष्टमानेन तदासन्नेरेकोऽवम इति सूचितम् । ननु किंचिदूनचतुःषष्टिचान्द्रदिवसैरेकावमपतनज्ञानेऽप्यहर्गणोपजीव्यकल्पावम-संख्याज्ञानं कथं स्यादत आह—अत इति । किंचिदूनचतुःषष्टिचान्द्रदिनैकावमरूपप्रमाण-फलज्ञानादित्यर्थः । युगे महायुगे । चकारात्कल्पेऽपि ज्ञातेच्छारूपचान्द्रदिनैरेकावमपतनसंबन्धि-चान्द्रदिनैरेकोऽवमस्तदा कल्पाद्युक्तचान्द्रदिनैः क इत्यनुपातादवमज्ञानं भवति ॥१२॥

केदारदत्तः—एक महायुग के चान्द्र और सावन दिनों के अन्तर का नाम युग सम्बन्धी अवम या क्षय दिन कहा गया है। यहाँ पर एक मास सम्बन्धी चान्द्र और सावन दिनों का अन्तर ग्रहण कर अनुपात किया गया है। जैसे—

उपपत्ति—एकचान्द्र मास की चान्द्रतिथि = ३०।०।०

तथा एक चान्द्रमास सम्बन्धी सावनदिन संख्या = – २९।३१।५०

दोनों का अन्तर = ०।२८।१०

अतः अनुपात से यदि ०।२८।१० सावनमानात्मक चान्द्र खण्ड में १ तिथि उपलब्ध होती है तो सम्पूर्णात्मक १ (एक) अवम में $\frac{१ \times १}{०।२८।१०}$ = ६३।५४।३३ समय में पूर्णात्मक १ तिथि का क्षय होता है।

वस्तुतः तिथि संख्या अपनी जगह पर गणितागत संख्या में पूर्ण होती हुई भी पूर्व दिन और पर दिन के सूर्योदयों से अस्पृश्य सम्बन्धेन यहाँ पर ऐसी स्थिति में तिथि को क्षय कहा जाता है ॥१२॥

इदानीमधिमासस्य चान्द्रत्वमवमस्य सावनत्वमभिधायाहर्गणात्कल्पगतमानेतुं विलोम-विधिनायान्यवमान्यानीतानि ये चाधिमासास्तेषां विशेषमाह—

सौरेभ्यः साधितास्ते चेदधिमासास्तदैन्दवाः ।
चेच्चान्द्रेभ्यस्तदा सौरास्तच्छेषं तद्वशात्तथा ॥१३॥
सावनान्यवमानि स्युश्चान्द्रेभ्यः साधितानि चेत् ।
सावनेभ्यस्तु चान्द्राणि तच्छेषं तद्वशात्तथा ॥१४॥

वा० भा०—यथाऽहर्गणानयने सौरेभ्यश्चान्द्रान् साधयितुं येऽधिमासा आनी-यन्ते ते चान्द्रास्तच्छेषं च चान्द्रम् । यदि चान्द्रेभ्यः सौरान् साधयितुं तदा सौरास्तच्छेषमपि सौरम् । एवं चान्द्रेभ्यः सावनानि साधयितुमवमान्यानीयन्ते तदा तानि सावनानि । यदि सावनेभ्यश्चान्द्राणि कर्तुं तदा चान्द्राणि स्युः । साध्यत्वं भजन्तीत्यर्थः । तच्छेषमपि तद्वशात् । अभिमतद्युगणादवमैर्हतादित्यादि-नाऽहर्गणात्कल्पगतमानीतं तदा सावनेभ्योऽवसान्यानीतानि । तानि चान्द्राणि । चन्द्रदिवसेभ्योऽधिमासाः साधितास्ते सौरास्तच्छेषं तद्वशादित्यर्थः । अधिमासस्य

चान्द्रत्वे सौरत्वे चाधिमासशेषं तुल्यमेव स्यात् । किंत्वेकत्र रविदिनानि च्छेदः । अन्यत्र चान्द्राणि । एवमवमशेषस्यापि तुल्यत्वमेव । एकत्र चन्द्रदिनान्यन्यत्र कुदिनानि च्छेदः । अधिमासावमशेषयोरिष्टजातित्वं प्रकल्प्य मतिमद्भिश्चन्द्रार्का-नयनानि कृतानि । तत्र ये जडास्ते वासनां पर्यालोचयन्तो भ्रमन्ति ॥१३॥१४॥

मरीचिः—ननु सौराच्चान्द्राणामधिकत्वात्तदन्तरं यथाऽधिमासास्तथैव तदन्तरेण चान्द्रात्सौराणां न्यूनत्वात्तन्मिता न्यूनसौरमासा भवन्तीति कथं नियतमधिमा-सोक्तिरतोऽनुष्टुभाऽऽह—**सौरेभ्य इति ।**

ते सौरचान्द्रान्तरूपा अधिमासाश्चेद्यदि चान्द्रसाधनार्थं सौरेभ्यः साधितास्तदा लब्धा-धिमासाश्चान्द्रा अहर्गणसाधनार्थमिष्टसौरदिवसानां चान्द्रावगमाय तदन्तररूपाधिमासतदन्तर-दिनानीष्टसौरानुपातसाधितानि चान्द्राण्येव । चेद्यदि तदन्तररूपा अधिमासाः सौरसाधनार्थं चान्द्रेभ्यः साधितास्तदा लब्धाधिमासाः सौरा अहर्गणाद्विलोमविधिनेष्टचान्द्रादिष्टसौर-साधनार्थं तदन्तररूपन्यूनसौरमासाः सौरा एवेष्टचान्द्रसाधिता भवन्ति । तथा चाहर्गणस्या-ऽऽवश्यकत्वेन तत्साधनार्थं तदन्तररूपाश्चान्द्रा एवाधिमासाः पूर्वग्रन्थ उक्ताः । चान्द्रसौर-साधनस्यात्यावश्यकत्वाभावात्तदप्रसिद्धया तदन्तरस्य न्यूनसौरसंज्ञोक्तेरुपेक्षितत्वेन सर्वत्रा-धिमासत्वेन प्रसिद्धेः । यदा तादृशापेक्षा तदा सौरत्वेन तत्संज्ञासिद्धेति भावः । अधिमासानां न्यूनसौरमासानां वा सौरचान्द्रान्तररूपत्वाद्विजातीययोः संकलनव्यवकलने अत्र युक्ते इति ध्येयम् । नन्वधिमासानां साध्यजातीयत्वेऽपि तच्छेषं चान्द्रं सौरं वा कथं ज्ञेयमिति मक्ष-(न्द)शङ्काया उत्तरमाह—तच्छेषमिति । अधिमासशेषं तद्वशाल्लब्धाधिमासानां सौरचान्द्र-त्ववशादित्यर्थः । तथा सौरं चान्द्रमित्यर्थः । अधिमासशेषस्याधिमासावयवत्वादिति किं चित्रमिति भावः ॥१३॥

ननूक्तरीत्यैव चान्द्रेभ्यः साधनानां न्यूनत्वात्तदन्तरमवमानीत्युक्तम् । तथा तदन्तरेण सावनेभ्यश्चान्द्राणामधिकत्वादधिकचान्द्रदिनानीति किं नोक्तमित्यतोऽनुष्टभाऽऽह—**सावनानीति ।**

चेद्यदि सावनज्ञानार्थं चान्द्रेभ्योऽवमानि साधितानि तदा तानि सावनान्येवाहर्गणानयने सावनानां न्यूनत्वात् । अवमशब्दस्य न्यूनवाचकत्वात् । अहर्गणाच्चान्द्रदिवसानानयने सावनेभ्यस्तदन्तरावमानि चन्द्रार्थं साधितानि चेत्तदा तानीत्यर्थः । चान्द्राणि तदन्तरेण चान्द्राणामधिकत्वात् । तथा चाहर्गणस्यातिप्रयोजनात्तत्साधनार्थं तदन्तरमवमान्येवोक्तानि । विपरीतसाधनस्यातिप्रयोजनाभावादधिकचान्द्रदिनसंज्ञा तदन्तरस्योपेक्षिता पूर्वैः । यदा तादृशापेक्षा तदा तदन्तरस्य चान्द्रावमत्वेनैव तत्संज्ञायाः सिद्धेरिति भावः । अत्राप्यवमाना-मधिकचान्द्रदिनानां वा चान्द्रसावनान्तररूपत्वाद्विजातीययोर्व्यवकलनसंकलने युक्ते इति ध्येयम् । नन्वधिशेषस्याधिमासवत्तथात्वेऽप्यवमशेषस्यावगमवत्तथात्वकयुक्तम् । अधिमासाद-वमस्य विरुद्धरूपत्वात् । वैपरीत्ये तु तदवयवत्वक्षतिरित्यत आह—तच्छेषमिति । अवमशेषं

तद्दशांशाल्लब्धावमानां सावनचन्द्रत्वानुरोधात् । तथा सावनचान्द्रोक्तसंज्ञाव्यञ्जकमित्यर्थः । अवमशेषस्यावमावयवत्वादधिमासाद्विरुद्धरूपस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाच्चावयवानामवयविजातीयत्वं युक्तमेवान्यथा तदवयवत्वानुपपत्तेरिति भावः ।।१४।।

केदारदत्तः—सौर मान से साधित अधिमास का मान चान्द्र मान में, और चान्द्र मान से साधित अधिमास का मान सौर मान में होता है । तथा लब्ध अधिमास में जो अधिशेष होता है वह भी सौर साधित चान्द्र एवं चान्द्र साधित सौर मानात्मक होता है ।

तथैव, चान्द्रमान एवं सौर मान से साधित अवम और अवम शेष भी क्रमशः सावन और चान्द्रमानात्मक होते हैं ।।१३।।१४।।

उपपत्ति—अहर्गण साधन के समय कल्प कुदिन में कल्पाधिमास तो इष्ट कुदिन में इष्टाधिमासादि होते हैं ।

$$\frac{\text{कल्पाधिमास} \times \text{इष्टकुदिन}}{\text{कल्पकु दिन}} = \text{इष्टाधिमा} + \frac{\text{अधिशे}}{\text{क-कु}}$$

$$= \text{अ}$$

$$\text{एवम्,}\ \frac{\text{कल्प सौरमास} \times \text{इ० चा०}}{\text{काल्प चान्द्र में}} = \text{इ० अ० मा} + \frac{\text{अधिशे}}{\text{क० चा०}} = \text{क}$$

यहाँ पर "अ" समीकरण में अ का मान चान्द्रात्मक है क्योंकि पूर्व में भी चान्द्र मास संख्या अधिक है जो चान्द्रात्मक होती है बता दिया है ।

तथा "क" समीकरण में चान्द्र से साधित अधिमास का मान भी सौरमासात्मक मान सिद्ध होता है ।

$$\text{तथा,}\ \frac{\text{कल्प सावन} \times \text{इष्टचान्द्र}}{\text{कल्प चान्द्र}} = \text{इष्ट सावन} + \frac{\text{सावन शेष}}{\text{कल्प चान्द्र}} = \text{प}$$

$$\text{अन्यच्च—}\ \frac{\text{कल्प अवम} \times \text{इष्ट सावस}}{\text{कल्प सावन}}\ \text{इष्ट सा०} + \frac{\text{सावन शेष}}{\text{कल्प सावन}} = \text{ब}$$

यहाँ पर उभयतः साधित अवम का सावन चान्द्र में "प" = सावन मान में, ब = चान्द्र मान में होता है ।।१३।।१४।।

(इस सम्बन्ध में ग्रहगणिताध्याय का मध्यमाधिकार ग्रहानयनाधिकार श्लोक १ की केदारदत्त शिखा देखिये)

इदानी विशेषः प्रश्नाध्याये—

अहर्गणस्याऽऽनयनेऽर्कमासाश्चैत्रादिचान्द्रैर्गणकान्विताः किम् ।
कुतोऽधिमासावमशेषके च त्यक्ते यतः सावयवोऽनुपातः ।।१५।।

अस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

दर्शावधिश्चान्द्रसमो हि मासः सौरस्तु संक्रान्त्यवधिर्यतोऽतः ।
दर्शाग्रतः संक्रमकालतः प्राक् सदैव तिष्ठत्याधिमासशेषम् ।।१६।।
दर्शान्ततो याततिथिप्रमाणैः सौरैस्तु सौरा दिवसाः समेताः ।
यतोऽधिशेषोत्थदिनाधिकास्ते त्यक्तं तदस्मादधिमासशेषम् ।।१७।।
तिथ्यन्तसूर्योदययोस्तु मध्ये सदैव तिष्ठत्यवमावशेषम् ।
त्यक्तेन तेनोदयकालिकः स्यात्तिथ्यन्तकाले द्युगणोऽन्यथाऽतः ।।१८।।

वा० भा०—मध्यममानेन यावत्यमावास्या तदन्ते चान्द्रमासान्तः । मध्यमार्कस्य यस्मिन् दिने संकान्तिस्तत्र संक्रान्तिकाले रविमासान्तः । तयो रविचन्द्रमासान्तयोरन्तरे यावत्यस्तिथयः सावयवास्ता अधिमासशेषतिथयः । यतः सौरचान्द्रान्तरमधिमासाः । अहर्गणानयने गताब्दा रविगुणास्ते सौरा मासा जाताः । अतस्तेषु चैत्रादिचान्द्रतुल्याः सौरा एव मासा योजितास्ते संक्रान्त्यवधयो जातास्तेषु त्रिंशद्गुणेषु गततिथितुल्याः सौरा एव दिवसा योजिताः । अतः सौरचान्द्रान्तरेणाधिका जातास्तदन्तरमधिमासशेषदिनानि भवन्ति । सौरचान्द्रान्तरत्वात् । अतोऽधिमासशेषदिनान्येभ्यः शोध्यानि । अथ चाधिमासानयनेऽनुपातलब्धैरधिमासैर्दिनीकृतैस्तच्छेषदिनैश्च युक्ताः सौराहाश्चान्द्राहा भवितुमर्हन्ति । एवमत्राधिमासशेषदिनानि क्षेप्याणि । तत्र शोध्यानि । अतः कारणादधिमासशेषं त्यक्तम् । अथावमशेषत्यागकारणमुच्यते । तिथ्यन्तानन्तरं यावतीभिर्घटीभिः सूर्योदयस्ता अवशेषघटिकाः । यतश्चान्द्रसावनान्तरमवमानि । यद्यवमशेषं न त्यज्यते लब्धावमैरवमशेषघटिकाभिश्च तिथय ऊनीक्रियन्ते तदा तिथ्यन्ते सावनोऽहर्गणो भवति । अथ च सूर्योदयावधिः साध्यः । तिथ्यन्ताहर्गणोऽवमशेषघटीभियुक्तः सन्नुदयावधिर्भवति । अतोऽवमशेषे त्यक्ते स्वतः सूर्योदयावधिर्भवति ।१५।१६।।१७।१८।

मरीचिः—अथाहर्गणसाधनोपजीव्याधिमासावमस्वरूपं प्रतिपाद्याहर्गणस्य संसिद्धत्वव्यवस्थापनं विवक्षुः प्रथमं तत्प्रतिपादनेच्छोपजीव्यं पूर्वार्धोक्ताहर्गणानयनखण्डनरूपशिष्यप्रश्नमुपजातिकयाऽऽह—**अहर्गणस्येति** ।

हे गणक । साधुत्वेन स्वीकृतोक्ताहर्गणानयने । अहर्गणस्य ग्रहज्ञानोपजीव्यभूतस्याऽऽनयनप्रकारोक्तौ । मध्याधिकारोक्तकथितकल्पगतोऽर्कसमागण इत्यादिश्लोकत्रयनिबद्धे अर्कमासाः कथितकल्पगतोऽर्कसमागणो रविगुण इत्यनेन जाताः । चैत्रादिगतचान्द्रमासैः । किं कुतोऽन्विताः । गतमाससमन्वित इत्यनेन चैत्रादिगतचान्द्रमासैर्योजयितुं न युक्ताः ।

विजातीयत्वात् । योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योरित्युक्तत्वादित्यर्थः । एवं शुक्लादिगततिथियोजनप्रश्नोऽपि तदुक्त्यैव सिद्ध इति ध्येयम् । ननु सौरमासानामज्ञानादन्यथानुपपत्त्याऽवगतचैत्रादिचान्द्रमासा एव स्वल्पान्तराद्योजिता इत्यतो दूषणान्तरमाह—कुत इति । अधिमासावमशेषके । सौरदिनेभ्यः साधिता अधिमासाश्चान्द्रसिद्ध्यर्थं तथा सावनसिद्धचर्थमिष्टचान्द्रेभ्योऽवमानि साधितानि । तयोः शेषके । शेषाभ्यां क्रमेण दिनादिघट्यादिके । अधिकमासदिनक्षयशेषतो द्युघटिकादिनमत्र न गृह्यत इत्यनेन कुतः कथं संत्यक्ते । तदवयवयोः क्रमेण योजनवियोजनाभ्या(भा)वेनाहर्गणस्य द]ान्तराक्रान्तत्वादित्यर्थः । चकाराद्दोषत्रयाक्रान्तत्वेनास्याशुद्धत्वमहर्गणस्येत्यर्थः । नन्वधिमासावमयोर्निरग्रलब्धत्वात्तच्छेषयोरप्रसिद्धचैव त्यागो ग्रहणं वा न संभवतीति कथं त्यागोक्तिः कथं वा प्रश्न उपपद्यत इत्यत आह—यत इति । यत्कारणादनुपातः । अधिमासावमानयनोपजीव्योऽनुपातोऽहर्गणानयने प्रसिद्धतरः सावयवः । तज्जं फलं निःशेषतया न लभ्यते । उक्तरीत्या तदानयने गुणहरयोरपवर्तनेन केवलं हरस्योत्पन्नत्वात्तेन भाग इष्टसौरचान्द्रयोर्नियतत्वात्फलयोः सावयवत्वसंभावनात् । तर्हि हरतुल्यो गुणो येन तयोर्निरवयवता । तथा च तच्छेषप्रसिद्धेस्त्यागोक्तिः संगता । त्यागोक्त्यैव प्रश्नोऽपि संगतः । उपपत्तिसिद्धावयवत्यागेऽहर्गणस्यासंगतत्वापत्तेरन्यथा सर्वथापि निरवयवग्रहणापत्तिः । नन्वहर्गणस्य सूर्यसावनत्वेन सूर्योदयाद्यवधित्वान्निरवयवत्वसिद्धचन्यथानुपपत्त्या तदवयवत्याग इति वाच्यम् । उपपत्तिसिद्धावयवग्रहणेनाहर्गणस्य सावयवत्वसिद्धा पूर्वावधेः सूर्योदयभिन्नत्वकल्पनादक्षतेः । तस्मादुक्ताहर्गणस्यासंसिद्धत्वमेवास्तीति भावः ॥१५॥

अथ तदुत्तरोपजीव्यमधिमासशेषस्वरूपमुपजातिकयाऽऽह—**दर्शावधिरिति** ।

यतः कारणात् । हि निश्चयेन । दर्शावधिः दर्शान्तावाद्यन्तयोर्मर्यादा यस्यैतादृशो मासश्चान्द्रः संक्रान्त्यवधिमासः सौरः । तुकारादिदमुक्तमहर्गणस्य संसिद्धत्वस्थापनार्थं मध्यमानेन ज्ञेयम् । तस्य स्पष्टमानेनासिद्धेरिति सूचितम् । अतोऽधिशेषस्य सौरचान्द्रान्तररूपत्वोक्तेर्दर्शान्तादग्रे संक्रमकालात्पूर्वं सदा नियतमधिमासशेषमस्ति । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः । अनेनैवासंक्रान्तिमासस्याधिकत्वं सिद्धम् । तथा च मध्यदर्शान्तकालादव्यवहितमध्यसंक्रान्तिकालो यच्चान्द्रकालेनान्तरितस्तद्रूपमधिशेषमहर्गणादौ मध्यमत्वेन फलितम् । मासादावभीष्टकाले त्वभीष्टचान्द्रदिनान्तम् । तत्तुल्यसौरदिनान्तररूपमिति सूचितम् । स्पष्टं तु स्पष्टयोर्दर्शान्तसंक्रान्त्योरन्तरत्राप्रयोजकम् ॥१६॥

अथाहर्गणानयने चान्द्रमासतिथियोजनपूर्वकाधिशेषगत्यामुपजातिकया व्यवस्थापयति—**दर्शान्तत इति** ।

सौरा दिवसा दर्शान्ताद्याततिथिमितैः सौरदिवसैर्युक्ताः । तुकारात्सौरमासाश्चैत्रादिगतचान्द्रमितसौरमासैर्युक्ता इत्यर्थः । तथा च वर्षाणां सौरत्वात्कल्पगतवर्षाणि द्वादशगुणानि मध्यममेषसंक्रान्तिकाले कल्पात्सौरमासास्ततोऽभीष्टमासादौ तज्ज्ञानार्थं

गतसौरमासा मध्यमसंक्रान्त्यवधिका योज्यास्ततोऽभीष्टकाले गतसौरदिवसास्त्रिशद्गुणितेषु योज्याः कल्पादभीष्टकालो गतसौरा दिवसा भवन्तीत्येतदशक्यम् । मध्यममेषादिसंक्रान्त्यज्ञानेन गतसौरमासानां गतसौरदिवसानां चाभीष्टकाले ज्ञानाभावदत आचार्यैर्मध्यमसौरवर्षादिजकल्पगतसौरमासाश्चैत्रादिगतचान्द्रमासतुल्यसौरमासा एव योजितास्ततस्त्रिशद्गुणितेषु तेषु वर्तमानचान्द्रमासादिगततिथिमितसौरदिवसा योजिता इति प्रश्नपूर्वार्धोत्तरम् । चान्द्रत्वेन तद्योजनस्याकृतत्वात्सौरकल्पनेन तद्योजनाच्चेति भावः । अथाधिमासशेषत्यागं व्यवस्थापयति–यत इति । यत्कारणात् । तेऽभीष्टकालजसौरदिवसा अधिशेषोत्थदिनाधिकाः । उक्तरीत्या चान्द्रतुल्यसौरयोजनाच्चन्द्रे वास्तवसौरस्याधिशेषदिनसौराणां चासत्त्वाद्वास्तवाभीष्टकालिकसौरदिवसा यदि शेषदिनतुल्यसौरदिनयुताः साधितसौरदिवसेषु संजाता इत्यर्थः । अस्मात्कारणात्तत्पूर्वश्लोकोपपादितरूपमधिमासशेषमनुपातसिद्धाधिमासानयनेनाधिमासप्राप्तौ यद्ग्राह्यशेषाद्दिनादिकं त्यक्तम् । अहर्गणसिद्धचर्थं न गृहीतम् । यथा मासाः सौराणां योजितास्तथाऽधिशेषरूपाधिमासशेषाद्यवयवो न योजितः सौरदिनेषु । तदवयवस्य पूर्वमधिकत्वेन सत्त्वादन्यथेष्टचान्द्राणां तदधिकत्वेनावास्तवत्वापत्तिरित्यर्थः । न चाधिमासानां वास्तवसौरेभ्योऽसाधनादधिमासानयनावगताधिशेषस्य साधितसौरान्तर्गताधिशेषादधिकत्वेन तुल्यत्वाभावात्कथं त्यागः । अधिशेषयोरन्तरस्य पूर्वमसत्त्वात्तद्योजनावश्यकत्वादिति वाच्यम् । तस्यावास्तवसौरदिनेभ्योऽधिमासानयनोक्त्यैव सिद्धत्वेनासंगतत्वात् ॥१७॥

नन्वेवं कल्पादिष्टचान्द्राणां वास्तवेत्वेनावगमात्तत्साधितावमानि निरग्रकाणि कथं सावनसिद्ध्यर्थं हीनानि कृतानि । नहीष्टचान्द्रेऽवमशेषं न्यूनं येनावमशोधनावसरे तद्वयवत्याग इत्यत उपजातिकयोत्तरमाह—**तिथ्यन्तेति** ।

तिथ्यन्तसूर्योदययोरहर्गणानयनोपजीव्यमध्यमतिथ्यन्तमध्यमसूर्योदयकालयोर्मध्येऽन्तराले । तुकारात्तिथ्यन्तादग्रे सूर्योदयात्पूर्वमितिरूपे सदा नियतमवमशेषमेवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः । अस्ति । अतः कारणादवमशेषस्य चान्द्रसावनान्तरत्वेनोक्तरूपत्वादित्यर्थः । तेनावमशेषेणानुपातावगतावमाधोऽवयवेन घट्याद्यात्मकेन । त्यक्तेनावमशोधनावसरे शोधनार्थमगृहीतेनाहर्गण उदयकालिकः कल्पितनियतमध्यमसावनमानेनावास्तवसूर्योदयकालिक इत्यर्थः । अन्यथा । अवमशेषशोधिते तिथ्यन्तकालिकवास्तवचान्द्रेषु द्युगणस्तिथ्यन्तकाले स्यात् । तथा चाहर्गणसिद्ध्यर्थं पूर्वमवमशेषं हीनं ततः सूर्योदयकालिकत्वसिद्ध्यर्थमवमशेषं योज्यमित्यवमशोधनावसरे लाघवात्पूर्वमेवावमशेषं न शोधितमिति तात्पर्यम् । एवं चाहर्गणानयनमुक्तं साधूपपन्नमिति व्यवस्थापितम् ॥१८॥

केदारदत्तः—अहर्गण गणित साधन करते समय इष्ट सौर मासों में चैत्रादि चान्द्रमासों की संख्या क्यों जोड़ी गई है ? क्योंकि योगान्तर तो सजातीय पदार्थों का ही होता है । तथा इसी अवसर पर अनुपात लब्ध सावयव फल में, अधिक मास शेष तथा क्षय शेष को भी जोड़ना चाहिए था, किन्तु जोड़ा नहीं गया ऐसा क्यों ?

अमान्त से अमान्त तक चान्द्र मास, एवं संक्रान्ति से संक्रान्ति तक सौर मास होता है। अमान्त के आगे संक्रान्ति तक के समय का नाम अधिशेष है।

अमान्त से इष्ट तिथि तक सौर दिन तल्य चान्द्र तिथियों को या अहर्गण साधन में जोड़ा गया है यहाँ पर अधिक शेष तुल्य संख्या का सुविधा के लिये अधिक जोड़ा हो गया अतः आगे की गणित क्रिया में इसका उपयोग नहीं होता है।

इसी प्रकार तिथि के अन्त से सूर्योदय तक अवम धनात्मक अवम शेष संज्ञक काल का भी यहाँ पर त्याग किया गया है।

उपपत्ति—

मध्यम मान से प्रत्येक अमावास्याओं के अन्त में चान्द्र मास की पूर्ति होती है, तदनुसार कल्प या युग के चान्द्र मासों की संख्या निर्दिष्ट की गई है।

तथा मध्यम मान से सूर्य की जितनी संक्रान्तियाँ होती हैं उनकी संख्याओं का भी उल्लेख हो चुका है। चूँकि चान्द्रमास संख्या—सौरमास संख्या = अधिमास संख्या। इसलिये सौर मास और चान्द्रमास के बीच में जितनी भी सावयव तिथियाँ हैं उनकी अधिमास शेष संज्ञा और वह संख्यात्मक होती है।

१२ × सौर वर्ष = चैत्रादि (शुक्ल प्रतिपद) समय तक की सौर वर्षीय संख्या को ३० से गुणा करने पर सौर दिन संख्या चैत्रादि तक समीचीन होती है।

तदुपरि इष्ट समय के अहर्गण साधन में सौर दिन की जगह सौर दिन तुल्य चैत्रादि चान्द्र दिन (तिथि) जोड़े गए हैं, जोड़ना चाहिए सौर दिन। अतः यहाँ पर इसलिये सौर चन्द्र के अन्तर तुल्य अधिक मान ग्रहण किया गया है।

अतएव ऐसी स्थिति में यहाँ पर अधिक शेष दिन तुल्य मान को उक्त इष्ट सौर मास में और कम करना चाहिए इसीलिये अनुपात से प्राप्त अधिक मास और शेष को सौर दिनों में जोड़ देने से इष्ट समय तक की चान्द्रतिथियाँ हो जाती हैं। एक जगह $\frac{\text{अ० शे०}}{\text{क० सौ०}}$ मान जोड़ दिया गया है अतएव वहाँ पर अब अधिशेष जोड़ने की आवश्यकता गणित से प्राप्त नहीं है तस्मात् $\frac{\text{अ० शे०}}{\text{क० सा०}}$ मान का त्याग हुआ है।

अवमशेष अर्थात् अनुपात से प्राप्त इष्टचान्द्र + $\frac{\text{इष्टचान्द्र}}{\text{कल्प चां}}$ सावयब फल $\left(\frac{\text{इ० चां०}}{\text{क० चां०}}\right)$ का त्याग क्यों ?

प्रत्येक तिथ्यन्त के अनन्तर जितने समय में सूर्योदय होता है उतने समय तक की इस काल की संज्ञा अवमशेष घटिका होती है।

चान्द्र दिन–सावन दिन = अवमदि यदि अयमशेष का त्याग न कर लब्ध अवमशेष घटिकाओं को तिथियों में कम करते हैं तो यह अहर्गण सम्बन्धित तिथि के अन्त समय

का होता जो अभीष्ट नहीं है। क्योंकि सारी पञ्चाङ्ग गणित क्रिया का मूल सावन अहर्गण है। सावन गणित क्रिया का मुख्य समय अहर्गण संख्या सूर्योदय काल की है। तिथ्यन्त कालीन अहर्गण में अवशेष घटी जोड़ने से औदयिक अहर्गण होता है अतः अवम-शेष जिसका योग पहिले हो चुका है और यहाँ भी योग प्राप्त होने से योग करने से गणित में द्विगुणित विकार होने से अहर्गण की अशुद्धता या असमीचीनता से सारा ग्रह-गणित दूषित हो जावेगा या अशुद्ध हो जावेगा तस्मात् इस स्थल पर धनात्मक होते हुये भी अवमशेष का संस्कार अवश्य त्याज्य हुआ है ।।१५।।१६।।१७।।१८।।

अथोदयान्तराख्यकर्मोपपत्तिमाह—

अहर्गणो मध्यमसावनेन कृतश्चलत्वात्स्फुटसावनस्य ।
तदुत्थखेटा उदयान्तराख्यकर्मोद्भवेनोनयुताः फलेन ।।१९।।
लङ्कोदये स्युर्न कृतास्तथाऽद्यैर्यतोऽन्तरं तच्चलमल्पकं च ।

वा० भा०—योऽयमहर्गण आनीतः स मध्यमसावनेनैव। कुतः। स्फुटसावनस्य चलत्वात्। तथाविधेनानुपातेन स्फुटो नाऽऽयातीत्यर्थः। युगादेरारभ्य वर्तमान-रविवर्षादेः प्राग्यावान्मध्यमसावनस्तावानेव स्फुटसावनः स्यात्। किंतु रविवर्षा-देरूर्ध्वं यावान्मध्यमसावनस्तावान्न स्फुटः। अतस्तदुत्थखेटा उदयान्तराख्यकर्मो-द्भवेन फलेनोनयुताः सन्तो लङ्कोदये स्युर्नान्यथा। लङ्कायां भास्करोदयमध्या इति यदन्यैरुक्तं तदसत् ।।१९।।

अथोदयान्तरकर्माऽऽह—

मध्यार्कभुक्ता असवो निरक्षे ये ये च मध्यार्ककलासमानाः ।।२०।।
तदन्तरं यत्स्फुटमध्ययोस्तद्द्युपिण्डयोः स्याद्विवरं गतिघ्नम् ।
हृतं द्युरात्रासुभिराप्तलिप्ताहीना ग्रहाश्चेदसवोऽल्पकाः स्युः ।।२१।।
तदन्यथाढ्यास्तु निजोदयैश्चेद्भुक्तासुपूर्वं विहितं तदानीम् ।
कृतं तथा स्याच्चरकर्ममिश्रं कर्म ग्रहाणामुदयान्तराख्यम् ।।२२।।

वा० भा०—सायनांशेन रविणा मेषादेरारभ्य ये भुक्ता राशयस्तत्संबन्धिनो ये निरक्षोदयासवो गगनभूधरषट्कचन्द्रा १६७० इत्यादयस्तेषामैक्यं कृत्वा भुज्य-मानराशेर्ये भुक्ता भागास्तांस्तदुदयासुभिः संगुण्य त्रिशता ३० विभज्य लब्धास-सवोऽपि तत्र क्षेप्याः। एवं मध्यार्कभुक्तासवः स्युः। भदिनान्तादूर्ध्वं तावत्यस्वात्मके काले लङ्कायां मध्यमस्यार्कस्योदयः। तत्काले हि ग्रहाः साध्याः। अथ चाहर्ग-णेन ये सिद्धास्ते मध्यमार्ककलामितेऽस्वात्मके काले भदिनान्तादूर्ध्वं जाताः। अतोऽसूनां कालानां च यदन्तरं तेनार्कोदयोऽन्तरितः। अतस्तदुदयान्तराख्यं

कर्मोच्यते । तैरन्तरासुभिर्ग्रहगतिं संगुण्यार्कसावनाहोरात्रासुभिः २१६५९ विभज्य लब्धकला ग्रहे ऋणं कार्याः । यदि कलाभ्योऽसवोऽल्पकाः स्युः । अन्यथा धनम् । यदि तु स्वदेशोदयैर्मध्यमार्कभुक्तानसूनानीयेदं कर्म कृतं तदौदयिकानां ग्रहाणां चरकर्मापि कृतं स्यात् । यदि तु स्फुटार्कभुक्तानसून्स्वोदयासुभिरानीयेदं कर्म कृतं तदोदयान्तरभुजान्तरचरकर्माणि त्रीण्यपि कृतानि स्युः । तर्हि कथमिदमुदयान्तराख्यं कर्माऽऽद्यैर्न कृतं तदाह । यतोऽन्तरं तच्चलमल्पकं च । वर्षचरणान्तेषु चतुर्ष्वप्यन्तराभावः । तन्मध्येष्वन्तरस्य वृद्धिक्षयौ ॥२०॥२१॥२२॥

मरीचिः—अथाहर्गणवासनया संस्मृ(स्कृ)तोदयान्तरवासनामुपजातिकाचतुष्टयेनाऽऽह—**अहर्गण इति** । अहर्गणो मध्यमसावनेन । कल्पितनियतमानेन मध्यमरविगतिकलातुल्यासुयुतनाक्षत्रषष्टिघटिकामितेन मध्यमेनेत्यर्थः । ननु मध्यमगत्युत्पन्नासुयुतषष्टिघटिकामितेन मध्यमेनेति । कृत उक्तप्रकारेण संजातः । ननु स्फुटसावनस्य वस्तुभूतत्वेन तत्प्रमाणेनैवाहर्गणः कथं न कृत इत्यत आह—चलत्वादिति । स्फुटसावनस्य स्पष्टरविगत्युत्पन्नासुजनितसावनस्य वा । चलत्वात् । अनियतत्वादित्यर्थः । तथा चानुपातस्य नियतविषयत्वेनानियतविषयत्वाच्चानुपातजनिताहर्गणोऽनियतमानेनासिद्धः । किंतु नियतमानेन सिद्ध इति भावः । अत एव नियतमानेन मध्यसूर्योदयस्यासंभवादहर्गणजनितानुपातासिद्धो मध्यमग्रहो न मध्यार्कोदयकाले । किंतु नियतमानावगततदासन्नकाल इति दशशिरःपुरि मध्यमभास्करे क्षितिजसंनिहिते सति मध्यम इति सम्यगुक्तम् । नन्वेवं मध्यार्कोदयकालीना ग्रहाः कथं भवन्तीत्यत आह—तदुत्थखेटा इति । अहर्गणानुपातोत्पन्ना ग्रहाः । उदयान्तराख्यकर्मोद्भवेन स्पष्टाधिकारोक्तोदयान्तरकर्मजनितेन स्वस्वगत्यनुसृतेन कालात्मकेन ऊनयुताः । उक्तानुरोधेन लङ्कोदये लङ्कायां मध्यार्कोदयकाले स्युः । एतेनोद्गमान्तरमहो इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तम् । नन्विष्टग्रहभगणगुणादहर्गणात्कल्पसावनद्युहतात् भगणादिफलं मध्ये लङ्कायां भास्करोदयिक इत्यनेन ब्रह्मगुप्ताद्यैरहर्गणोत्पन्नग्रहस्योदयकालिकत्वमुक्तम् । तेनैतदुदयान्तरं खपुष्पायितं कथमुक्तमित्यत आह—नेति । आद्यैर्ब्रह्मगुप्तादिभिस्तथोदयान्तरफलसंस्कृता ग्रहा न कृता नोक्ताः । प्रत्यक्षतोऽवगतमिदमन्तरमपलपितुं तदनुक्त्या न युक्तमशक्यमिति तैस्तदुपेक्षितं नासिद्धमुक्तमिति कल्पनीयमिति भावः । ननु प्रत्यक्षदृष्टान्तरस्योपेक्षा न युक्तेत्यत आह—यत इति । यस्मात्कारणात्तत् । उदयान्तराख्यमुत्तरं मध्यार्कोदयान्तरजनितं फलमत एवान्वर्थसंज्ञम् । चलमनियतं गत्यसूनामनियतत्वात् । अनियतत्वात्तैरुपेक्षितमिति भावः । नन्वेवं तैः स्पष्टादिक्रिया कथमुक्तेत्यत आह—अल्पकमिति । तदुयान्तरफलमत्यल्पं तत उपेक्षितमित्यर्थः । चः समुच्चये । तेनानियतं बह्वन्तरं वक्तुमावश्यकं नियतमल्पं च वक्तुमुचितमित्येतस्यानियतात्पत्वादुपेक्षितमिति भावः । मया तु वस्तुभूतत्यागस्यानौचित्यादुक्तमिति ध्येयम् । ननूक्तोदयान्तरं तद्रूपं न भवत्येव स्वल्पत्वात् । कल्पात्तद्गणनया प्रकृताहर्गणे तदन्तरजनितानामनेकदिवसानामन्तरयातायातेश्चेत्यत उक्तोदयान्तरं तद्रूपत्वेन प्रतिपादयति—मध्यार्कभुक्ता इति । मध्यगतितुल्यासुयुतषष्टिघटीमित-

सावनमानेन कल्पादनुपातसिद्धो योऽहर्गणो यश्च मध्यगतिकलोत्पन्नासुयुतषष्टिघटीमितप्रतिपादितभिन्नसावनेन गणनयाऽहर्गणस्तयोरन्तरमभीष्टकाले यत्सावनजनितान्तरं तत्र स्फुटमध्यसावनानां वर्षेऽभिमतत्वाद्यावन्तः कल्पादभीष्टवर्षादौ मध्यमसावनाहास्तावन्तः स्फुटसावनदिवसा इति तयोरहर्गणयोः कल्पान्नान्तरं येन बहुदिनान्तरसंभावना । अपि तु वर्तमानसौरवर्षादेरेव तयोरन्तरम् । तत्रापि मानयोर्गतितुल्यासु मध्यगत्युत्पन्नासु जनितयोर्मध्यस्पष्टयोरन्तरेणैव तदुपपत्तेः सौरवर्षादिरभीष्टकालपर्यन्तं सूर्यस्य मध्यगतिभोगेनैवानुपातजत्वान्मध्यार्ककलातुल्या असवः साधिताहर्गणसंबद्धा यत्संख्याका भवन्ति । मध्यार्कस्य प्रतिराश्युदयकालभेदेनोक्तरीत्या यत्संख्याका असवो नियतमध्यममानावगताहर्गणसंबद्धाः । चः समुच्चये । तयोरन्तरं यत्संख्याकं भवति तदेवास्फुटमध्ययोः, अनियतमध्यममानावगतोक्तमानानुपातजयोरहर्गणयोरन्तरं स्यान्नान्यत् । षष्टिघटीनामुभयत्र संबन्धादित्यर्थः । न चेदमन्तरमहर्गणे संस्कार्यं ततोऽस्मादुक्तरीत्या ग्रहसाधनं युक्तमिति स्पष्टाधिकारे ग्रहाणामुदयान्तरसंस्कारः कथमुक्त इत्यत आह—गतिघ्नमिति । तदन्तरे स्वस्वमध्यगत्या कलात्मिकया गुणितं मध्यगत्युत्पन्नासुजनिताहोरात्रमानासुभिर्भक्तं लब्धदिना ग्रहा यथायोग्यं हीनाः यद्यसवः कलाभ्योऽल्पा भवन्ति । तदन्यथा । उक्तवैपरीत्ये । कलाभ्योऽसूनामधिकत्वे तुकाराल्लब्धकलादिना ग्रहा इति लाभः । युक्ताः । असुकालस्य मुक्तत्वादित्यर्थः । तथा च विनार्कज्ञानं तत्संस्कारोऽहर्गणे कर्तुं न शक्यते । सावयवाहर्गणाद्गुणनादौ प्रयासाच्च लाघवाच्चालनं ग्रहे ऋणधनं दत्तमिति भावः । नन्वेवं पूर्वोक्तादधिकसंस्कारोक्त्या गौरवमेवेत्यत आह—निजोदयैरिति । यदि स्वदेशराश्युदयासुभिर्भुक्तासुपूर्वं सावनमध्यार्कासवः । पूर्वंशब्दादहोरात्रासव इत्यर्थः । विहितं कृतं तदानीमुदयान्तराख्यं कर्म चरकर्ममिश्रं चरसंस्कृतं कृतम् । ग्रहाणां संस्कृतं यथा स्यात्तथा कृतं भवतीत्यर्थः । तथा च यदि निरक्षदेशोदयैरद्वयान्तरं साध्यते तदा खलु गौरवं स्वदेशोदयैस्तु भिन्नचरसंस्काराकरणे भोदयान्तरसंस्कारेण तत्सिद्धे गौरवानवकाश इति भावः । तदपेक्षया लाघवं च स्पष्टाधिकारे प्रतिपादितम् ॥१९॥२०॥२१॥२२॥

केदारदत्तः—स्पष्ट और मध्यम सावन दिनों का कालात्मक अन्तर उदयान्तर गणित बताया जा रहा है—स्पष्ट सावन दिन चल है, एक रूप स्थिर नहीं है अतः एव चल सावन से दिन गणना का अनुपात करना संभव नहीं है अत एव मध्यम मानीय सावनदिन संख्यात्मक अहर्गण साधित होता है। सभी गणित-विषय स्फुट सावनात्मक अहर्गण से सम्बन्धित है। गणित साधन क्रिया के अभाव से मध्यममानीय अहर्गण से ग्रहों का सूक्ष्म स्थान ज्ञात किया गया है अत एव मध्यम सावनमान से साधित अहर्गणोत्पन्न ग्रहों की स्थूलता को समक्ष कर "**उदयान्तर**" नामक प्रसिद्ध गणित गवेषणा से प्राप्त मध्यम सावन दिन और स्पष्ट सावन दिनात्मक अन्तर काल से गुणित ग्रह गतियों से प्राप्त विकलात्मक अन्तर (संस्कार) को मध्यम सावन साधित ग्रहों में देने से ही लङ्कोदयकालिक ग्रह स्पष्ट होते हैं।

यह उदयान्तर गणित कर्म क्या है—

अयनांश युक्त सूर्य स्पष्ट की युक्त राशियों के काल में वर्त्तमान राशि के अंशों को उस राशि के उदयासुओं से गुणा कर ३० से भाग देने से वर्त्तमान राशि तक सायन स्पष्ट सूर्य के भुक्त असु (पलों से अनुपात से पल) होते हैं। इस वस्तु का नाम मध्यमार्क भुक्तासु होता है। नक्षत्र दिनान्त के अन्तर उक्त समय के पश्चात् निरक्ष खमध्य में मध्यम सूर्य का उदय होता है, निश्चित यही सही समय है।

अहर्गण से साधित ग्रह नक्षत्र दिनान्त के अनन्तर मध्यम सूर्य के कला तुल्य अधिक काल में निरक्ष क्षितिज में ग्रहों की साधनिका की गई है। यदि राशि की कला १८०० कला का उदयमान उसी राशि के असु १८०० के तुल्य होता तो भी गणित में कोई अन्तर नहीं आता। एक राशि के कलामानों से उत्पन्न असुमानों में विभिन्नता होने से अहर्गण से साधित ग्रह क्षितिज में नहीं होकर कभी क्षितिज के नीचे और कभी क्षितिज के ऊपर ही होगा। इसीलिये जहाँ पर अन्य सभी आचार्यों ने साधित ग्रहों को औदयिक या उदय कालिक शब्द से स्पष्ट किया है, वहाँ पर आचार्य भास्कर ने ग्रह गणिताध्याय में "क्षितिजे, या उदयकाले ग्रहा भवन्ति" ऐसा न कहकर "क्षितिजसन्निधिगे सति मध्यमः" से साधित ग्रह उदय के समीप आगे पीछे होते हैं न कि क्षितिज में उदयकालिक होते हैं ऐसा स्पष्ट कहा भी है।

असुओं और कलाओं से अन्तरित काल का नाम आचार्य ने **"उदयान्तर"** काल कहा है।

उदयान्तर काल से गुणित ग्रह गति में अहोरात्रासु २१६५९ = सावन दिन से भाग देने पर लब्धफल को अहर्गण से साधित मध्यम ग्रहों में धन या ऋण कला से असु अधिक हों तो धन, न्यून हों तो ऋण करने से सही रूप से निरक्ष क्षितिज में ग्रहों का स्थान होने से ग्रह दृक्पथ में आते हैं। यह क्रिया निरक्षोदय मानों से की जाने पर ग्रह का निरक्ष-देशीय ग्रह स्थान ज्ञान स्पष्ट होता है।

अब यदि अपने देशीय उदयमान वशेन यह मध्यम ग्रह वश यह कर्म किया गया है तो याम्योत्तरान्तरात्मक चर संस्कार भी ग्रहों में स्वतः हो जाता है।

स्पष्टार्कस्वदेशोदय मान से किये गये उक्त संस्कार से देशान्तर भुजान्तर और याम्योत्तरान्तर संस्कार जन्य ग्रह स्वदेशीय क्षितिज में स्वयं दृष्ट हो जाते हैं।

पूर्वाचार्यों ने ऐसे उत्तम ग्रह गणित संस्कार की उपेक्षा क्यों की ?

पूर्वाचार्यों के प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ आचार्य भास्कर ने पूर्वाचार्यों की त्रुटि न कह कर "अत्यन्त अल्प अन्तर होने से उक्त उदयान्तर कर्म की पूर्वाचार्यों ने उपेक्षा की है" कह कर विश्राम किया है।

सही अर्थ में भास्कराचार्य की यह ग्रह गोल ज्ञान की चमत्कारिक सूझ की देन है।
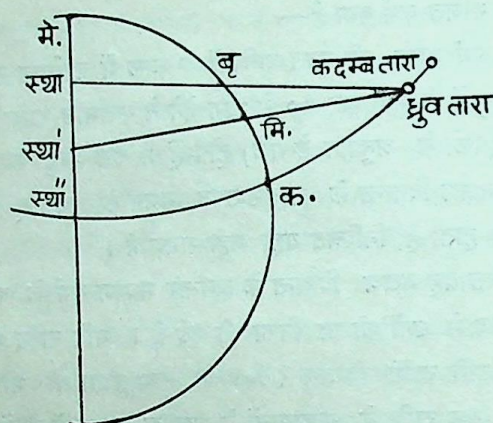
क्षेत्र देखिये ।

मे बृ मि क = क्रान्तिवृत्त या राशि वृत्त ।

मे स्था स्था' स्था'' = विषुवद्वृत्त ।

मे बृ = मेष राशि की कलाएँ = १८००

मे स्था = मेष राशि के उदय असु = १६७०

इसी प्रकार मे मि = मे बृ = बृ मि प्रत्येक की कला १८००

तथा बृ मि० के विषुवांश = असु १७९५

तथा मे क—मे मि = मि. क. = मिथुन की कला १८००

एवं स्था' स्था'' = मिथुन राशि के असु १९३५

पदान्त में तीनों राशियों की कलायें = १८०० + १८०० + १८०० = ५४००

" " " " का असुमान = १६७० + १७९५ + १९३५ = ५४००

इससे सिद्ध होता है कि पदादि पदान्त में उदयान्तर का अभाव पदमध्य में उदयान्तर का परमत्व होता है ।

मध्य सावन मान के अहर्गण से ६० घटी + मध्यमगति कला के सावन दिन और स्पष्ट सावन प्रतिक्षण चल होने से ६० घटी + स्पष्ट रविगति उत्पन्न काल फल में अन्तर स्पष्ट हैं । अत एव मध्यम सावन अहर्गण से साधित ग्रह निरक्ष क्षितिज में न होकर आचार्य ने "क्षितिजसन्निधिगे सति मध्यमः" गणिताध्याय में उदयान्तर गणित का दिग्दर्शन कराते हुये, इस ग्रन्थ के इस गोलाध्याय में यहाँ पर उदयान्तर गणित साधनिका स्पष्ट कर दी है ।

भास्कराचार्य के पूर्ववर्त्ती ग्रह गणित सिद्धान्त मर्मज्ञों का ध्यान इस दिशा में नहीं गया या अत्यन्त स्वल्पान्तर से यह उदयान्तर गणित उपेक्षित हुआ है। वस्तुतः गणित विद्या के वर्षादि मानों में स्वल्पान्तर की उपेक्षा से दीर्घ काल में दृग्गणितैक्यता अन्तर आ जाने स सारा पञ्चाङ्ग कर्म पूर्णरूपेण दोषावह हो जाने का भय रहता है । वस्तुतः जैसा कि आज

का भारतीय ग्रह गणित विवाद की समस्याओं मुक्त नहीं है किन्तु उदयान्तर कर्म जन्य गणित की उपेक्षा मात्र ३ महीनों की अति स्वल्पान्तरित होकर पुनः अपनी जगह पर ठीक आ जाती है ॥१९॥२०॥२१॥२२॥

इदानीं देशान्तरस्वरूपमाह—

येऽनेन लङ्कोदयकालिकास्ते देशान्तरेण स्वपुरोदये स्युः ।
देशान्तरं प्रागपरं तथाऽन्यद्याम्योत्तरं तच्चरसंज्ञमुक्तम् ॥२३॥

वा० भा०—य उदयान्तरकर्मणा लङ्कायामौदयिका ग्रहा जातास्ते देशान्तरकर्मणा स्वपुरौदयिकाः स्युः । तच्च देशान्तरं द्विविधम् । एकं पूर्वापरमन्यद्याम्योत्तरम् । तच्चरसंज्ञमुक्तम् ॥२३॥

तत्र तावत् पूर्वापरमाह—

यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ।
आदौ प्रागुदयोऽपरत्र विषये पश्चाद्धि रेखोदयात्
स्यात्तस्मात्क्रियते तदन्तरभवं खेटेष्वृणं स्वं फलम् ॥२४॥

वा० भा०—लङ्काया मेरुपर्यन्तं नीयमाना रेखोज्जयिनीकुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशन्ती याति सा मध्यरेखेत्युच्यते । रेखायां यदाऽर्कोदयस्तत्कालात्पूर्वमेव पूर्वदेशे भवति । रेखोदयकालादनन्तरं पश्चिमदेशेऽर्कोदयः । तदन्तरकालस्तदन्तरयोजनैः स्पष्टभूवेष्टनादनुपातेन ज्ञायते । यदि स्फुटपरिधियोजनैः षष्टि ६० घटिका लभ्यन्ते तदा रेखास्वपुरयोरन्तरयोजनैः किमितीति त्रैराशिकेन देशान्तरघटिका लभ्यन्ते । मध्यगत्याऽऽथ चाऽऽनीता नाड्यस्ताभिरनुपातः । यदि घटीषष्ट्यां ग्रहस्य गतिकला लभ्यन्ते तदा देशान्तरघटीभिः किमितिः । अथवा योजनैरेवानुपातः । स्फुटपरिधियोजनैर्गतिः प्राप्यते तदा देशान्तरयोजनैः किमिति । फलं कलाः प्रागृणं यतस्तत्राऽऽदावुदयः । पश्चाद्धनम् । यतस्तत्र रेखोदयादनन्तरमर्कोदय इत्युपपन्नम् ॥२४॥

मरीचिः—ननूदयान्तरसंस्कारेण ग्रहा लङ्कोदये भवन्ति तर्हि स्वदेशोदये कथं भवन्तीत्यत इन्द्रवज्रयाऽऽह—**येऽनेनेति** ।

अनेनोदयान्तरफलसंस्कारेण ये ग्रहा लङ्कोदयसूर्यकालिका जातास्ते ग्रहा देशान्तरसंस्कारेण स्वपुरसूर्योदयकाले भवन्ति । ननु रेखापुरे देशान्तरफलानुपलम्भात्तत्र कथं सूर्योदये भवन्ति । नहि तत्र लङ्कार्कोदयादभिन्नः सूर्योदयकालो विषुवद्दिनातिरिक्तदिनेऽपि येनाक्षतिरिति । अतो देशान्तरं विभज्यते—**देशान्तरमिति** । एकं प्रसिद्धं देशान्तरं पूर्वापर-

संज्ञम् । अन्यत् । द्वितीयं याम्योत्तरम् । तथा देशान्तरम् । तदप्रसिद्धिं परिहरति— तद्याम्योत्तरसंबन्धिदेशान्तरं फलं चरसंज्ञमुक्तं पूर्वैः । कालभेदेन भिन्नत्वात् । अतएव चञ्चलत्वाच्चरम् । पूर्वापरसंबन्धिदेशान्तरं फलं स्थिरत्वाद्देशान्तरसंज्ञम् । उभयोर्देश-संबन्धाद्देशान्तरत्वम् । तथा च रेखायां पूर्वापरप्रसिद्धदेशान्तराभावेऽपि याम्योत्तरचररूप-देशान्तरप्रसिद्धेस्तेनैव तत्सूर्योदये भवन्तीति भावः । अत एव लङ्कातः पूर्वापरनिरक्षदेशे देशान्तरेण पूर्वापरेणैवार्कोदयकाले भवन्ति । रेखाभिन्नस्वदेशे तु देशान्तराभ्यामिति लङ्कातः पूर्वापरयाम्योत्तरदेशेषु क्षितिजानां भेदसिद्धेर्भूमेर्गोलकत्वादित्युक्तं सम्यगेव ॥२३॥

अथ पूर्वापरदेशान्तरं तद्यद्रेखादेशसंबन्धीति स्पष्टं रेखादेशकथनव्याजेन मध्याधि-कारोक्तश्लोकार्धेन संसूचयंस्तत्प्रसङ्गात्तद्धनर्णोपपत्तिं शार्दूलविक्रीडितोत्तरार्द्धेनाऽऽह—

यदिति ।

प्रथमार्धं पूर्वं व्याख्यातम् । हि यतः स्वरेखापुरात्पूर्वभागस्थितदेशे रेखादेशार्कोद-यात्प्रथमं सूर्योदयः । रेखापुरात्पश्चिमभागस्थे देशे रेखोदयादनन्तरमुदयस्तस्माद्धेतोः । तदन्तरभवं स्वरेखास्वदेशयोर्योजनात्मकमन्तरं स्पष्टपरिधिसूत्रस्थम् । तस्मादनुपातेन । तन्निजस्थानमध्यस्थितैर्योजनैः खेटभुक्तचर्हतास्पष्टभूवेष्टननेनोद्धृतेति फलितेनाऽऽनयनेनोत्पन्नं तद्देशान्तराख्यं फलं खेटेषु पूर्वापरक्रमेणर्णं धनं क्रियते । लङ्कार्कोदयिकानां चरसंस्कारेण रेखार्कोदयिकत्वसिद्धेश्चरसंस्कारानुक्तावपि प्रथमं देशान्तरफलस्वरूपप्रतिपादने न क्षतिरिति ध्येयम् ॥२४॥

केदारदत्तः—देशान्तर का स्वरूप बताया जा रहा है—

लङ्का के सूर्योदय समय में ग्रहों का साधन किया गया है। लङ्का नगर से अपना नगर ग्राम देश, पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण यत्र तत्र सर्वत्र भूमण्डल में कहीं न कहीं ही होता है। निरक्षदेशीय निर्दिष्ट भू पृष्ठ से पूर्व या पश्चिम के अपने देशों में देशान्तर कर्म से अपने देश के ग्रह होंगे इसे पूर्वापर देशान्तर संस्कार कहते हैं।

उपपत्ति—निरक्ष खमध्य से उज्जयिनी, कुरुक्षेत्र और ध्रुव उत्तर तथा दक्षिण तक गई रेखा का नाम भूपरिधि की याम्योत्तराकारिका भूमध्य रेखा है। उक्त याम्योत्तर रेखा के धरातल गत भू पृष्ठीय याम्योत्तर रेखा के पूर्व और पश्चिम के देशों में पूर्व देशों में पहिले, और पश्चिम देशों में अनन्तर में सूर्योदय होने से निरक्षदेशीय ग्रहों में धन वा ऋण संस्कार देकर अपने भू पृष्टीय क्षितिजोदय कालिक ग्रह होते हैं।

लङ्का के पूर्व देशों में सूर्योदय पहिले होने से लङ्का सूर्योदय में देशान्तर काल ऋण पश्चिम में सूर्योदय अनन्तर में होने से लङ्का के सूर्योदय में देशान्तर काल धन करने से स्वदेश में सूर्योदय होता है।

तथा लङ्का से उत्तर या दक्षिण दिग्गत स्वदेश होने से दोनों देशों के याम्योत्तर अन्तर नाम चरान्तर का उक्त सूर्योदय में धन वा ऋण संस्कार से अपने देश में स्पष्ट सूर्योदय काल होता है। देशान्तर समय ज्ञान के अनन्तर अनुपात से—

$$\frac{\text{ग्रहगति} \times \text{देशान्तर काल}}{\text{६० घटी}} = \text{देशान्तर फल}$$

इस क्षेत्रात्मक फल को पूर्वापर देश सम्बन्ध से क्रमशः ऋण और धन करने से पूर्वापर-देशीय सूर्योदय कालिक ग्रह होते हैं ।।२३।।२४।।

इदानीं भूगोले स्फुटपरिधिप्रदेशं स्फुटताऽनुपातं चाऽऽह—

स्वदेशमेर्वन्तरयोजनैर्यल्लम्बांशजैर्मेरुगिरेः समन्तात् ।
वृत्तं स्फुटो भूपरिधिर्यतः स्यात्त्रिज्याहृतो लम्बगुणः कृतोऽस्मात् ।।२५

वा० भा०—स्वपुरस्य मेरुगर्भस्य चान्तरे यावन्ति योजनानि तावन्ति लम्बांशजानि । यतो निरक्षदेशस्वपुरान्तरयोजनान्यक्षांशजानि । भागेभ्यो योजनानि च व्यस्तमित्युपपद्यत इत्यर्थः । तैर्लम्बांशजैर्योजनैर्मेरुगिरेः समन्ताद्यद्वृत्तमुत्पद्यते स स्फुटो भूपरिधिः । यो मध्यपरिधिः पठितः स निरक्षदेशोपरि । अयं तु स्वपुरोपरि । अतः किंचिन्न्यूनो भवति । अथ तदानयनम् । मध्यपरिधेरभीष्टं त्रिज्यातुल्यं व्यासार्धं प्रकल्प्य तस्मिन् व्यासार्धे स्वपुरे यावती लम्बज्या तावत् स्फुटपरिधेर्व्यासार्धं भवितुमर्हति । अतस्तेन त्रैराशिकम् । यदि त्रिज्याव्यासार्धे मध्यमः परिधिर्लभ्यते तदा लम्बज्यामिते क इति । फलं स्फुटपरिधिरित्युपपन्नम् ।।२५।।

इति गोलाध्याये मध्यगतिवासना ।

मरीचिः—ननु देशान्तरफलानयनं स्पष्टभूपरिध्युपजीव्यम् । तत्र भूर्गोलकत्वात्सर्वत्र भूपरिधेस्तुल्यत्वेन स्पष्टभूपरिधिस्त्वयुक्त इत्यतस्तत्स्वरूपप्रतिपादनपूर्वकं तदानयनोपपत्तिमुपजातिकयाऽऽह—**स्वदेशेति** ।

स्वदेशो मेरुर्मेरुमध्यसमसूत्रेण भूपृष्ठस्थानं तयोरन्तरयोजनैर्भूपृष्ठस्थैर्मेरुगिरेर्मेरुमध्यमसंबन्धिभूगोलपृष्ठस्थानादित्यर्थः । समन्तात्तत्केन्द्रकल्पनेन तद्योजनैर्भूगोलपृष्ठे तदभितो यद्वृत्तं भवति । ननु तद्योजनज्ञानाभावात्कथमिदमत आह—लम्बांशजैरिति । यथा भागेभ्यो योजनानि च व्यस्तमित्युक्त्या निरक्षस्वदेशयोरन्तरयोजनान्यथांशेभ्यस्तथाऽक्षांशोननवतिरूपलम्बांशेभ्यस्तद्योजनानि भवन्ति । स स्पष्टो भूपरिधिर्यतः कारणात्स्यात् । अतः कारणान्निरक्षदेशसंबन्धिपरमः स्पष्टपरिधिरुक्तरूपस्त्रिज्यातुल्यलम्बज्ययोक्तो भूपरिधिस्तदा स्वदेशलम्बज्यया क इत्यनुपातेन लम्बज्यागुणितो भवेत्कुपरिधिः स्पष्टस्त्रिभज्याहृत इत्यनेन पूर्वोक्तेन त्रिज्याहृतो लम्बगुणाः स्पष्टपरिधिसिद्ध्यर्थं कृतः ।।२५।।

ननु खेटोऽनुपातेन यः स्यात्तस्यास्फुटना कथमिति मौलिभूतप्रश्नस्योत्तरं न दत्तमित्यतः फक्किकयोत्तरमाह—इति मध्यमगतिवासनेति । अत्राहर्गणाद्युक्तं वासनया मध्यममानेति ।

मध्यमाधिकारोक्तं मुख्यपदार्थानां निर्णयः कृतः । तदुत्तरं च स्पष्टज्ञानोपजीव्यं स्पष्टीकरण-वासनायां वक्तुमुचितमिति भावः ।।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
यातः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्ति मध्याधिकारगदितार्थसुवासनोऽयम् ।।

इति श्रीसकलसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वर-गणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये मध्यमगति-वासनाध्यायः ।।

केदारदत्तः—अपने भू-पृष्ठीय स्थान विशेष बिन्दु पर, भूपरिधिज्ञान—

अपने स्थान और मेरु नाम ध्रुव स्थान के अन्तर योजन लम्बांश मान से ध्रुव स्थान से समान अन्तरित वृत्त की परिधि अपने देश की स्फुट भूपरिधि होती है । ध्रुव से स्वदेशीय याम्योत्तर में निरक्ष खमध्य तक त्रिज्या होने से पूर्व में पठित भूपरिधियोजन में त्रिज्या से भाग देकर लम्बज्या से गुणा करने से अपने देश की भूपरिधि होती है ।

उपपत्तिः—ध्रुवद्वय और अपने खमध्यद्वय गत याम्योत्तर वृत्त का नाडी वृत्त से जो सम्पात होता है उस सम्पात का नाम निरक्ष खमध्य होता है ।

निरक्ष खमध्य से अपने खमध्य तक याम्योत्तर वृत्त में अक्षांश चाप की ज्या का नाम अक्षज्या है । अक्षांश को ९० में घटाने से ध्रुव से अपने खमध्य तक लम्बांश की ज्या का नाम लम्ब-ज्या है और ध्रुव से निरक्ष खमध्य तक ९० अंश की ज्या का नाम त्रिज्या है ।
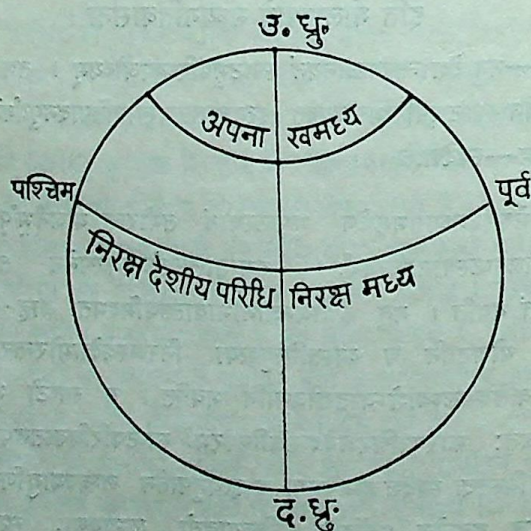
अतः अनुपात से—(क्षेत्र देखिये)

ध्रु० पू० ध्रु० प० = ध्रुव का याम्योत्तर वृत्त ।

ध्रु० ख, नि० ध्रु० = अपने देश में याम्योत्तर वृत्त ।

ख० नि० = अक्षांश =

ध्रु नि = ९०° । अतः ध्रु नि–नि ख = ध्रु ख = लम्बांश

९०° ज्या = त्रिज्या, ख० नि० ज्या = अक्षांश ज्या तथा ध्रु० ख० ज्या = लम्ब ज्या ।

अतः अनुपात से $\frac{\text{पठित भूपरिधि योजन} \times \text{लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = स्देशीय भूपरिधि मान उपपन्न होता है ।२५।।

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रंथ के ग्रह गोलाध्याय के मध्यगतिवासनाध्यायः–४ की श्री पं० हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

●

अथ छेद्यकाधिकारः

इदानीं गोलं विवक्षुरादौ ज्योपत्तिकथने कारणमाह—

पटो यथा तन्तुभिरूर्ध्वतिर्यग्रूपैर्निबद्धोऽत्र तथैव गोलः।
दोःकोटिजीवाभिरमुं प्रवक्तुं ज्योत्पत्तिमेव प्रथमं प्रवक्ष्ये ॥१॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१॥

मरीचिः—अथ मौलिभूतप्रश्नोत्तरदानरूपस्पष्ठीकरणवासनाऽऽरब्धा व्याख्यायते। तत्र विना गोलस्थित्यवगमं तज्ज्ञानमशक्यमतो गोलस्वरूपं विवक्षुस्तदुपजीव्यां ज्योत्पत्तिमुपजातिकया प्रतिजानीते—**पट इति**।

अत्र जगति पटो वस्त्रं यथोर्ध्वतिर्यग्रूपैर्दीर्घविस्तारयोर्निवेशितैस्तन्तुभिर्निबद्धं तत्संनिवेशात्मकं भवति तथा दोःकोटिज्याभिरूर्ध्वतिर्यक्स्थाभिः। एवकारोऽप्यर्थे। तेन कर्णसूत्रेणेत्यर्थः। निबद्धो ग्रहाधिष्ठिताकाशगोलः। ग्रहस्पष्टीकरणार्थं दोःकोटिजीवानां ज्यासाधनप्रकारेण साधनात्तदुक्त्युक्तिरिति ध्येयम्। अमुं ग्रहादिगोलं प्रवक्तुं स्वरूपेण प्रतिपादयितुं प्रथममादौ ज्योत्पत्तिं जीवासाधनप्रकारोपजीव्यखेटात्मकसिद्धजीवामुपपत्तिमित्यर्थः। एवकारोऽप्यर्थे। तेन स्पष्टीकरणवासनात्मकं गोलाश्रितं तच्छोधकं चेत्यर्थः। प्रवक्ष्ये सूक्ष्मत्वेनाहं कथयिष्ये। तथा च विना तन्तुस्वरूपज्ञानं पटस्वरूपज्ञानं तथा विना ज्यास्वरूपज्ञानं तदात्मकं गोलस्वरूपज्ञानमशक्यमिति प्रथमं ज्योत्पत्तिरुच्यत इति भावः ॥१॥

केदारदत्तः—गोल बन्धन की उपमा वस्त्र से दी जा रही है—

जिस प्रकार, पूर्वापरयाम्योत्तरादि अनेक सूत्रों से वस्त्र का निर्माण कर वह उपयोग में आता है उसी प्रकार भुजज्या कोटिज्या उत्क्रम-कोटचुत्क्रम आदि अनेक ज्या और कोटिज्या रेखाओं से संवृत्त पिण्ड का नाम गोल होने से ग्रहगोलीय इस प्रकरण में सर्व प्रथम ज्योत्पत्ति बताई जा रही है ॥१॥

इष्टां त्रिज्यां सा श्रुतिर्दोर्भुजज्या कोटिज्या तद्वर्गविश्लेषमूलम्।
दोःकोटचंशानां क्रमज्ये पृथक् ते त्रिज्याशुद्धे कोटिदोरुत्क्रमज्ये ॥२॥
ज्याचापमध्ये खलु बाणरूपा स्यादुत्क्रमज्या त्रिभमौर्विकायाः।
वर्गार्धमूलं शरवेदभागजीवा ततः कोटिगुणोऽपि तावान् ॥३॥
त्रिभज्यकार्धं खगुणांशजीवा तत्कोटिजीवा खरांसशकानाम्।
क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगमूलाद्दलं तदर्धांशकशिञ्जिनी स्यात् ॥४॥

त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलं तदर्धांशकशिञ्जिनी वा ।
तस्याः पुनस्तद्दलभागकानां कोटेश्च कोटच्यंशदलस्य चैवम् ॥५॥
एवं त्रिषट्सूर्यजिनादिसंख्या अभीष्टजीवाः सुधिया विधेयाः ।
त्रिज्योत्थवृत्ते भगणाङ्किते वा ग्राह्या अभीष्टा विगणय्य जीवाः ॥६॥

वा० भा०—अत्र त्रिज्योत्थवृत्ते भगणाङ्किते वेत्येतदन्त्यवृत्तस्योत्तरार्धमादौ व्याख्यायते । ज्योत्पत्तावभीष्टा त्रिज्या कल्प्यते समायां भूमौ त्रिज्यामिताङ्गुलेन सूत्रेण वृत्तं विलिख्य दिगङ्कितं चक्रांशकैश्चाङ्कितं कृत्वा तत्रैकस्मिन्नेकस्मिन् वृत्त-चतुर्थांशे नवतिर्नवतिर्भागा भवन्ति । ततो यावन्ति ज्यार्धानि कार्याणि तावद्भि-र्विभागैरेकैकं वृत्तचतुर्थांशं विभज्य तत्र चिह्नानि कार्याणि । तद्यथा । यत्र चतुर्वि-शतिर्जीवाः साध्यास्तत्र चतुर्विंशतिर्भवन्ति । एवं द्वितीयुचतुर्थांशेऽपि । ततो दिक्-चिह्नादुभयतश्चिह्नद्वयोपरि गतं सूत्रं ज्यारूपं भवति । एवं चतुर्विंशतिर्ज्या भवन्ति । तासामर्धानि ज्यार्धानि । तत्प्रमाणान्यङ्गुलैर्मित्वा ग्राह्याणि ।

अथाऽऽदितो व्याख्यायते । येष्टा त्रिज्या स कर्णः कल्प्यः । या भुजज्या स भुज-स्तयोः कर्णभुजयोर्वर्गान्तरपदं कोटिः । कोटिज्येत्यर्थः । तत्र ये भुजकोटिज्ये ते भुज-कोटच्यंशानां क्रमज्ये ज्ञातव्ये । भुजज्या त्रिज्यातो यावद्विशोध्यते तावत् कोटच्यं-शानामुत्क्रमज्याऽवशिष्यते । एवं कोटिज्योना त्रिज्या भुजांशानामुत्क्रमज्या स्यात् ।

अथोत्क्रमज्यास्थानं दर्शयति । तत्र पूर्वलिखिते वृत्ते चिह्नयोरुपरि गतं सूत्रं किल ज्या । तदुपरि तयोश्चिह्नयोर्मध्ये यद्वृत्तखण्डं तच्चापं धनुः । चापमध्यस्य ज्यामध्यस्य च यदन्तरं बाणाकारं सोत्क्रमज्येत्युच्यते । त्रिभमौर्विकाया इत्यग्रे संबन्धः ।

एवं साधारण्येन ज्याक्षेत्रं दर्शयित्वाऽथ निर्दिष्टांशानां गणितेन ज्यानयनम् । त्रिभमौर्विकाया यद्वर्गार्धस्य मूलं सा पञ्चचत्वारिंशदंशानां ज्या स्यात् । तस्या यावत् कोटिज्या साध्यते तावत् तावत्येव भवति । यतस्तत्र कोटच्यंशा अपि पञ्चचत्वारिंशत् ।

अत्रोपपत्तिः । त्रिज्या भुजस्त्रिज्या च कोटिस्तद्वर्गयोगपदं वृत्तान्तःसमचतुर-स्रस्य भुजः स्यात् । सैव नवतिभागानां ज्या । तदर्धं ग्राह्यम् । अतो वर्गयोगस्य चतुर्थांशः कृतः । तदेव त्रिज्यावर्गार्धमतस्तन्मूलं शरवेदभागज्येत्युपपन्नम् ।

अथ त्रिंशद्भागानां ज्या त्रिज्यार्धमिता स्यात् । तस्याः कोटिज्या षष्टिभागानां ज्या स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । वृत्तान्तःपातिसमषडस्रस्य भुजो व्यासार्धमितः स्यादिति प्रसिद्धं गणितेऽपि कथितम् । अतस्त्रिज्यार्धं त्रिंशद्भागज्येत्युपपन्नम् ।

अथः प्राग्वदुत्क्रमज्या। षष्टिभागज्ययोना त्रिज्या राशेरुत्क्रमज्या सा कोटिरूपिणी। क्रमज्या भुजरूपिणी। तदग्रयोर्निबद्धसूत्रं तत् कर्णः। तत् त्रिंशद्भागानां ज्यारूपम्। अतस्तदर्धं पञ्चदशभागानां ज्यार्धमित्युपपन्नम्। एवं सर्वत्र तदैवार्धांशकशिञ्जिनोनामुपपत्तिर्ज्ञेया।

अथ प्रकारान्तरेण तदर्धांशकशिञ्जिनीमाह। त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेरित्यादि।

अस्योपपत्तिः। तत्राऽऽद्याक्षरचिह्नैर्बीजप्रकारेण कथ्यते। तत्रोत्क्रमज्योना त्रिज्या किल कोटिज्या। तस्या वर्गोऽयम्। उव १ उत्रिभा २ त्रिव १। अनेनोना त्रिज्याकृतिर्दोर्ज्याकृतिः स्यात्। उव १ उत्रिभा २। अयं क्रमज्यावर्ग उत्क्रमज्यावर्गयुतो जातः। उत्रिभा २। अस्य चतुर्थभागः। उत्रिभा १। अस्य मूलं ग्राह्यम्।
२

अत उक्तं—त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेरित्यादि। एवं तस्या अप्यन्या तदर्धांशकशिञ्जिनीति। एवं कोटिज्याया अपि यावदभिमतखण्डानि स्युः।

तद्यथा। यत्र चतुर्विंशतिः खण्डानि तत्र राशेर्ज्याऽष्टमं खण्डम् ८। तत्कोटिज्या षोडशम् १६। शरवेदभागज्या द्वादशम् १२। अस्मात् खण्डत्रयात् कथितप्रकारेण चतुर्विंशतिः खण्डान्युत्पद्यन्ते। तत्राष्टमात्तदर्धांशकशिञ्जिनी चतुर्थम् ४। तत्कोटिज्या विंशम् २०। एवं चतुर्थाद्द्वितीयम् २। द्वाविंशं च २२। द्वितीयात् प्रथमम् १। त्रयोविंशं च २३। एवं दशमचतुर्दशपञ्चमैकोनविंशसप्तमसप्तदशैकादशत्रयोदशानीत्यष्टमात्।।१०।१४।५।१९।७।१७।११।१३। अथ द्वादशात् षष्टाष्टादशतृतीयैकविंशनवमपञ्चदशानि ६।१८।३।२१।९।१५। त्रिज्या चतुर्विंशमिति २४। अतोऽवशिष्टां ज्योत्पत्तिमग्रे वक्ष्यामः ।।२।।३।।४।।५।।६।।

मरीचिः—तत्र ज्योपजीव्यं जात्यत्र्यस्रं विशेषान्तरं च शालिन्याऽऽह—**इष्टेति।**

अर्धज्याग्रे खेचरो मध्यसूत्रात्तिर्यक्संस्थ इत्यादिनाऽत्र धनुर्ज्ययोरर्धत्वेनाङ्गीकाराद् वृत्तचतुर्थांशरूपार्धधनुषि व्यासार्धरूपाऽर्धज्या। सैव वृत्तचतुर्थांशे त्रिराशीनां सत्त्वान्मध्यमाक्षरलोपेन त्रिज्या। सा केन्द्रादभितः परिधिपर्यन्तं तन्मानमिष्टम्। तदनुरोधेनैव मध्यसूत्रादभीष्टपरिधिप्रदेशैकदेशपर्यन्तसूत्रमर्धज्याभुजज्यारूपा भुजः। त्रिज्याकर्णः। इतरमध्यसूत्रात्तत्पर्यन्तमर्धज्या कोटिज्या तत्तुल्या पूर्वमध्यसूत्र भुजमूलपर्यन्तं केन्द्रात्कोटिः कर्णभुजयोर्वर्गान्तरमूलरूपे। पूर्वं प्रतिपादनात्प्रथमार्धं सुगमम्। ये दोःकोट्योस्तत्क्रमज्ये तदूने त्रिज्ये ते वा कोटिदोरुत्क्रमज्येति स्पष्टाधिकारोक्तेनोत्तरार्धं गतार्थम्। तत्र पृथगिति क्रमार्थकम्। कंदोःकोटिक्रमज्ययोरनष्टत्वज्ञापकं वेति ध्येयम् ।।२।।

अथ पूर्वश्लोकोत्तरार्धोपपत्तिज्ञानार्थमुत्क्रमज्यास्वरूपं वदन्पञ्चचत्वारिंशद्भागानामर्धज्याज्ञानमिन्द्रवज्रयाऽऽह—**ज्याचापमध्य इति।**

मध्यसूत्रादुभयतस्तुल्यपरिध्येकदेशयोः संलग्नऋज्वी रेखा संपूर्णज्या। तत्सं- बद्धोऽस्य परिध्येकदेशः संपूर्णं चापम्। अनयोर्मध्येऽन्तराले मध्यसूत्रान्तर्गतरेखैकदेशा या रेखा बाणरूपाऽवगता सोत्क्रमज्या स्यात्। खल्वित्यनेनोत्क्रमज्यायाः स्वरूपावगमे तदुपपत्तिः सुज्ञेया। तद्यथा—पूर्वमध्यसूत्राद्या भुजज्या तत्तुल्यमेव पूर्वकेन्द्रादितरमध्यसूत्रे कोटिज्या- मूलपर्यन्तमन्तरम्। तदूनं व्यासार्धे कोटयुत्क्रमज्या। एवमितरमध्यसूत्राद्या कोटिज्या तत्तुल्यमेव पूर्वमध्यसूत्रे भुजज्यामूलपर्यन्तं तदूनात्त्रिज्या भुजोत्क्रमज्या। अथ ज्योत्पत्तौ पञ्चचत्वारिंशद्भागानां ज्यानयनमाह—त्रिभमौर्विकाया इति। त्रिज्याया वर्गस्यार्धितस्य मूलं पञ्चचत्वारिंशद्भागानां जीवा। ततोऽनन्तरमियं भुजज्या त्रिज्याकर्ण इति प्रागुक्त्या तद्वर्गविश्लेषमूलमित्यनेनास्याः कोटिज्या तावान् भुजज्यामितेत्यर्थः। अपिशब्दो भुज- कोट्योस्तुल्यत्वनियमव्यवच्छेदार्थकः। तेनात्रोपपत्तिः प्रसिद्धा। तथा हि—पञ्चचत्वारिंशद्भा- गचिह्ने मध्यसूत्राभ्यां वृत्ते भुजकोट्योः समत्वात्तज्ज्ञानेऽपि त्रिज्यामितकर्णज्ञानात्तज्ज्ञानं सुलभम्। कर्णस्य भुजकोटिवर्गयोगमूलत्वात्कर्णवर्गो भुजकोटिवर्गयोरैक्यम्। तत्रापि भुज- कोटयोः समत्वेन प्रकृतकर्णवर्गे भुजज्यावर्गः कोटिज्यावर्गो वा द्विगुणः संभवत्यतः कर्ण- वर्गोऽर्धं भुजज्या तद्वर्गः कोटिज्यावर्गो वा तन्मूलं भुजज्या कोटिज्या वा तुल्यैवेति। तथा गजाग्निवेदाग्निमितत्रिज्यानुरोधेन त्रिज्यावर्गः ११८१९८४४ अस्यार्ध ५९०९९२२। अस्य सूक्ष्मं मूलं पञ्चचत्वारिंशद्भागानां ज्या २४३१।१।५९। इयं स्पष्टाधिकारोक्त- चतुर्विंशज्यासु द्वादशी ॥३॥

अथैकद्विराशिज्याज्ञातज्ञानज्यासंबन्धिभागानां मूर्धांशानां ज्याज्ञानं चोपजातिकयाऽऽह— **त्रिभज्यकार्धमिति**। त्रिज्यार्धे त्रिंशद्भागानां ज्या। त्रिंशद्भागानां कोटिजीवा पूर्वोक्तप्रकारेण षष्टिभागानां ज्या स्यात्। यथा त्रिज्या ३४३८ अर्धमेकराशिज्या १७१९ अष्टमी प्रकृते अस्या वर्गः २९५४९६१ त्रिज्यावर्गाच्छुद्धो ८८६४८८३ अस्य मूलं द्विराशिज्या षोडशी २९७७। २३।४३। क्रमोत्क्रमज्येति येषामंशानां क्रमज्या ज्ञाता तेषामंशानामुक्तरीत्योत्क्रमज्या कोटि- ज्योनत्रिज्यारूपा ज्ञेया। ततस्तयोः क्रमज्ययोर्वर्गयोरैक्यान्मूलस्यार्धम्। ज्ञातक्रमज्योत्क्रम- ज्यासंबन्धिभागानामर्धांशास्तेषां क्रमज्या स्यादित्यर्थः। यथा पञ्चचत्वारिंशद्भागानां क्रमज्या २४३१। एतत्तुल्यैव तेषां कोटिज्या। तयोना त्रिज्या तेषामुत्क्रमज्या १००७। अनयोर्वर्गयो ५९०८९२२। १०१४०४९ योगो ६९२२९७१ अस्य मूलस्यार्धं सार्धद्वा- विंशत्यंशानां ज्या षष्ठी १३१५।४०।१९। यथा वैकराशिक्रमज्या १७१९ द्विराशिज्योन- त्रिज्यैकराश्युत्क्रमज्या ४६१ अनयोर्वर्गयो २९५४९६१।२१२५२१ योगोऽ३१६७४८२स्य मूलार्धं पञ्चदशभागानां चतुर्थी ज्या ८८९।५३। अत्रोपपत्तिः। त्रिज्यामितव्यासार्धेन यद् वृत्तं तद्द्वादशराश्यकं कार्यम्। तत्र परिधौ तद्व्यासार्धेन वृत्तम्। तद्वृत्तपूर्ववृत्तसंपातात्तद्व्या- सार्धेन पुनर्वृत्तम्। पुनस्तत्पूर्वंपरिधिसंपातात्तद्व्यासार्धेन वृत्तमेवं पूर्ववृत्ते षड् वृत्तानि भवन्ति। तेषु व्यासार्धं त्रिज्या। सा पूर्ववृत्ते षडस्रभुजरूपा राशिद्वयस्य संपूर्णज्या तदर्ध-

मेकराशेरर्धज्या। क्षेत्रे षडस्रे हृदयाख्यरज्जुर्बाहोः समा गोलविदो वदन्ति, वृत्ते परीणाह-षडंशजीवा विष्कम्भखण्डेन समोपलब्धेति श्रीपत्युक्तेः। तत्कोटिज्या द्विराशिज्या। आप्य-क्रमज्या कोटिरुत्क्रमज्यान्तभुजस्तद्वर्गयोगपदं कर्णस्तदंशानां संपूर्णज्या। तदर्धतदर्धांशानामर्धं-ज्येति भज्यकार्धमित्याद्युपपन्नम् ॥४॥

अथ प्रकारान्तरेण तदंशार्धांशानां ज्यानयनं लाघवेन वदन्नुक्तरीत्या तत्तदर्धांशानां ज्या भवन्तीतीन्द्रवज्रयाऽऽह—**त्रिज्योत्क्रमज्येति।**

त्रिज्योत्क्रमज्ययोर्घातार्धस्य मूलं यदंशानामुत्क्रमज्या तदंशार्धांशानां क्रमज्या स्यात्। वा प्रकारान्तरे। यथा पञ्चचत्वारिंशद्भागानामुत्क्रमज्या १००७ त्रिज्यागुणा ३४६२०६६ अर्धिताऽ१७३१०३३ स्या मूलं सार्धद्वाविंशत्यंशानां ज्या १३१५। १९। यथा वैकराश्युत्क्रमज्या ४६१ त्रिज्यागुणा १५८४९१८ अर्धं ७९२४५९ मूलं पञ्चदशभागानां ज्या ८९०। १२। नत्वेवं षड्जीवाः सिद्धाः, नान्या इत्यत उक्तप्रकारेणैव तज्ज्ञानमाह—तस्या इति। जीवायाः सकाशात्पुनरेवमुक्तरीत्या तद्दलभागकानाम्। तत्संबन्ध्यंशार्धांशानां ज्या। ततोऽपि तदर्धांशानां ज्येति पुनः पुनरिति यावदभीष्टज्यासिद्धिः। कोटेः कोटचंशस्य चकाराज्ज्या। कोटचंशज्यायाः सकाशादुक्तरीत्या कोटचंशार्धांशानां ज्या। ततोऽपि तदर्धांशानां ज्येति पुनः पुनर्यावदभिमतसिद्धिरिति चार्थः। एतदुक्तं भवति। पञ्चदश-भागानां ज्यातः कोटिज्या पञ्चसप्ततिभागानां विंशतितमा। तदूनत्रिज्या पञ्चदशभागाना-मुत्क्रमज्या। तस्याः सकाशात्त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलमित्यनेन सार्धसप्तभागानां ज्या द्वितीया। एवं तस्याः कोटिज्या सार्धद्वयशीतिभागानां ज्या प्रकृते द्वाविंशी। तदूनत्रिज्या सार्धसप्तभागानामुत्क्रमज्या। प्रकृते द्वितीया। अस्या उक्तरीत्या पादोनचतुरंशानां ज्या प्रकृते प्रथमा। तत्कोटिज्या सपादषडशीत्यंशानां प्रकृते त्रयोविंशी। तदूनत्रिज्या प्रकृते प्रथमोत्क्रमज्या। तत उक्तरीत्यपेक्षया सार्धसप्तकलेन भागद्वयस्य। ततोऽप्युक्तरीत्या सपादषट्पञ्चाशत्कलानां ज्येत्यादि। अस्य पञ्चदशभागक्रमज्योनत्रिज्या पञ्चसप्ततिभागा-नामुत्क्रमज्या। तस्या उक्तरीत्या सार्धसप्तत्रिंशद्भागानां ज्या दशमी तत्कोटिज्या सार्ध-द्विपञ्चाशदंशानां ज्या चतुर्दशी। तदूनत्रिज्या सपादैकसप्तत्यंशानां तदूनत्रिज्या पञ्चम्युत्क्रमेन सार्धसप्तत्रिंशद्भागानामुत्क्रमज्या। अस्या उक्तरीत्या पादोनैकोनविंशत्यंशानां ज्या पञ्चमी। अस्याः कोटिज्यैकोनविंशतितमा ज्या। अस्या उक्तरीत्या तदर्धांशानां ज्या प्रकृतेऽनुपयुक्ता। एवं प्रयोजनवशात्तदर्धांशानां ज्या साध्या। दशम्या क्रमज्ययोना त्रिज्या चतुर्दश्युत्क्रमज्या। अस्या उक्तरीत्या सप्तमी ज्या सपादषड्विंशांशानाम्। तत्कोटिज्या पादोनचतुःषष्टचंशानां सप्तदशी। अनयोः क्रमज्याभ्यामूना व्युत्क्रमज्ये। आभ्यां तद्दलांशानां ज्याऽनुपयुक्ता। द्वितीयकोटिज्योनत्रिज्या द्वाविंशतितमोत्क्रमज्या। अस्या उक्त-रीत्यैकादशी सपादैकचत्वारिंशदंशानाम्। एकादश्या कोटिज्या त्रयोदशी पादोनैकोत्-पञ्चाशदंशानाम्। एकादश्यूनत्रिज्या त्रयोदश्युत्क्रमज्या त्रयोदश्यूनत्रिज्यैकादश्युत्क्रमज्या। आभ्यामर्धांशकज्याऽनुपयुक्ता षण्मितजीवायाः। कोटिज्याऽष्टादशी ज्या सार्धषष्टचंशानां

षण्मितज्योनत्रिज्याऽष्टादश्युत्क्रमज्या। अष्टादशोना त्रिज्या षण्मितोत्क्रमज्या। आभ्यां सपादैकदशांशानां सपादचतुस्त्रिंशदंशानां चोक्तरीत्या तृतीया नवमी च तयोः कोटिज्ये। एवं विंशीपञ्चदश्यौ। एवमर्धांशानामभीष्टज्या साध्योक्तरीत्याऽपेक्षावशादिति। यथा च प्रकृते सार्धद्वाविंशत्यंशज्यायाः कोटिज्या ३१७६। २४ तयोना त्रिज्या तस्या उत्क्रमज्या २६१। ३६ त्रिज्यागुणा ८९८८०८ अर्धं ४४९४०४ मूलं तृतीया ज्या ६७०।३४। एवमन्यान्यप्यानेयानि। अत्रार्धाभ्यधिकावयवस्यैकग्रहणाग्रहणमार्षोक्तानुरुद्धम्। अर्धन्यूनावयवस्यैकग्रहणं क्वचित्तदनुरोधादेवेति ध्येयम्। अत्रोपपत्तिः। भुजोत्क्रमज्योना त्रिज्या कोटिक्रमज्या ऊ१ त्रि १ एतद्वर्गो उव १ उत्रि २ त्रिव १ निस्त्रिज्यावर्गो भुजज्यावर्गः उव१ उत्रि २। अस्य भुजोत्क्रमज्यावर्गो योज्य इत्यधनधनयोस्तुल्योर्नाशादवशिष्टं क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगस्य स्वरूपमुत्क्रमज्या त्रिज्याघातो द्विगुण इति। अस्य मूलदलमिति लाघवादस्यैव दलमूलं ग्राह्यम्। तत्र मूलदलस्य वर्गचतुर्थांशरूपत्वाद्वर्गेण वर्गं गुणयेद्भजेच्चेत्युक्तत्वाच्चोत्क्रमज्या। त्रिज्याघातस्य द्विगुणस्य चत्वारो हर इति भाज्यहरयोर्द्व्यपवर्तनेनोत्क्रमज्या त्रिज्याघातार्धमूलमुपपन्नम्। एवमर्धांशकज्योत्पत्तिसाधनेन सर्वा अपि जीवास्तद्रूपा उत्पत्स्यन्तीति तस्याः पुनरित्याद्युपपन्नम्॥ ५॥

न चैवमनियमाज्ज्याः कियत्यः साध्याः। न त्वत्करीत्या पूर्णभानामेव ज्याज्ञानं येन नवधेयोर्निर्नियताः (?) स्युरित्यतस्तदुत्तरं प्रकारान्तरेण जीवाज्ञानं चोपजातिकयाऽऽह— **एवमिति।**

एवमर्धांशज्यासाधनप्रकारेण। सुधिया गणकेन। अभीष्टजीवा अभीष्टांशानां ज्या विधेयाः सिद्धाः कार्याः। अयमर्थः। स्वेच्छया यन्मिता ज्या इष्टास्तत्संख्यया नवत्यंशास्तत्कला वा भक्ताः, यल्लब्धं तदन्तरेणाभीष्टा ज्या उक्तरीतया साध्याः। सुधियेति हेतुगर्भम्। तेनार्धांशज्याप्रकारेण तदन्तराभावेन यत्र ज्या सिध्यति सोपेक्षणीया। यत्र च तदन्तरे नोक्तप्रकारेण ज्यासिद्धिस्त्र पूर्वापरज्याभ्यामनुपातेन ज्या साध्येति सूचितम्। तत्रोदाहरति—त्रिषडिति। यथाऽत्र ग्रन्थे चतुर्विंशतिजीवाकल्पनेन त्रिषट्सूर्यजिनादयश्चतुर्विंशतिजीवा उक्तरीत्योपपन्नाः। पञ्चचत्वारिंशदंशज्याया अर्धज्यासाधनरीत्या षष्ठी तृतीया जीवा भवति नान्या। तदुद्देशेनैकविंशत्यष्टादश्योर्जीवयोरुद्देशः। कोटिज्याया उपजीव्यत्वात्। एवमष्टादश्या नवमीष्टांशानां ज्याज्ञानासंभवादनुपातस्यात्रासंगतत्वादित्यतः प्रकारान्तरेण सूक्ष्मजीवाज्ञानमाह—त्रिज्योत्थवृत्त इति। त्रिज्यामितव्यासार्धेन कृतवृत्ते। भगणाङ्किते। द्वादशराशिकलाविकलाभिरङ्किते। अभीष्टा जीवा विगणय्य गणयित्वा ग्राह्याः। एतदुक्तं भवति। समभूमौ त्रिज्यामिते च व्यासार्धेनेष्टं वृत्तं भांशाद्यङ्कितं कार्यम्। तत्र वृत्तमध्ये ऊर्ध्वाधरा तिर्यक्रेखा कार्या। रेखासक्तपरिधिभागप्रदेशादुभयत्र समान्तरेण चिह्नं कार्यम्। तच्चिह्नावधि ऋज्वी रेखा तदन्तःस्थितपरिधिभागानां संपूर्णज्या। तदर्धे सूत्रमूर्ध्वरेखैकतरचिह्नयोरन्तरूपं रेखापरिधिसंपाततच्चिह्नान्तरपरिधिप्रदेशस्थितं भागाना-

मर्धज्या तन्मापकेन त्रिज्या तन्मापकेनैव गणयित्वा ज्ञेयमेवं स्वेच्छयाऽभीष्टांशानां सूक्ष्मज्या सिध्यतीति ॥ ६ ॥

केदारदत्तः—किसी समान भूमि में अर्थात् जल आदि से समतल कृत भूमि धरातल में अभीष्ट अंगुल व्यासार्ध रेखा से एक वृत्त बना कर उस वृत्त में पूर्व पश्चिमादि दिक् चिह्न लगाकर उस वृत्त में, ३६० अंश, पुनः एक-एक अंश में ६० विकला....के स्थान अङ्कित करने चाहिए। इस प्रकृत वृत्त के चार चतुर्थांश में ९०° होंगे। एक चतुर्थांश चाप में जितनी जीवा करनी है उस चतुर्थांश चाप के उतने अभीष्ट विभाग करने चाहिए।

गणिताचार्यों ने एक वृत्त के धनु अंश में २४ विभागों की कल्पना की है अतः इस आधार से $\frac{९०° \times ६०}{२४}$ = २२५ कला का एक चाप होता है। प्रत्येक अभीष्ट चिह्नगत सरल रेखा का नाम ज्या होता है। इस प्रकार २४ संख्यक ज्या होती हैं जिनका ज्यार्ध नाम भी होता है।

सोपपत्तिक व्याख्या—किसी भी वृत्त खण्ड की इष्ट त्रिज्या कर्ण, भुजज्या = भुज कर्ण और भुज का वर्गान्तर मूल = कोटि होती है। क्षेत्र देखें—
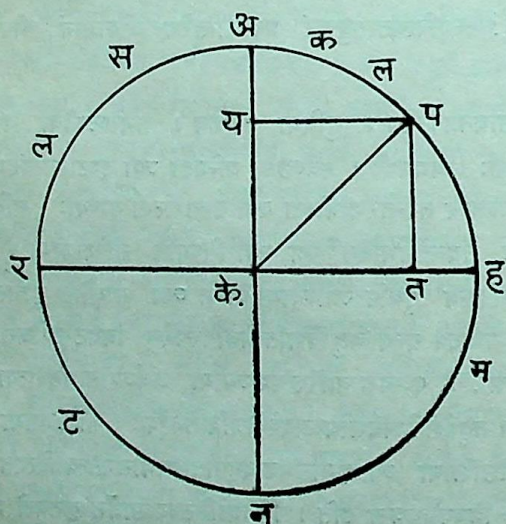
अ क ल प ह म न ट र ल स वृत्त का चतुर्थांश वृत्त = अ ह। अभीष्ट चाप = अ प की ज्या सरल रेखा = प य = केत = भुज।

चाप अ ह = चाप अ प = चाप प ह = कोटि चाप की ज्या = प त = कोटि।

केन्द्र से परिधि तक की केप रेखा = कर्ण।

अतः $के त^{2} + त प^{2} = के प^{2}$ तथा $= के प^{2} - प त^{2} = के त^{2}$ = $भुज ज्या^{2}$

इस प्रकार भुज ज्या^{2} + कोटि ज्या^{2} = केत^2 = कर्ण^2 = कर्ण।

अतः $^2\sqrt{\text{भुज ज्या}^2 + \text{कोटिज्या}^2} = {}^2\sqrt{\text{के त}^2}$ = कर्णवर्ग का मूल = कर्ण

इसी प्रकार यह भुज और कोटि की क्रम ज्या होती हैं।

केह – केत = त्रिज्या – भुज ज्या = त ह = कोटि उत्क्रम ज्या।

तथा के अ – के य = त्रिज्या – कोटि ज्या = अ य = भुजोत्क्रम ज्या।

ज्या और चाप के मध्य में बाण (शर) आकार को भुज सम्बन्धेन कोटि उत्क्रम, और कोटि सम्बन्धेन भुजोत्क्रम होती है।

सरल त्रिकोणमिति, चापीय त्रिकोणमिति नामक आधुनिक ग्रन्थों के अध्ययन से उक्त सभी विषय और अधिक स्पष्ट होते हैं, छात्रों ने उक्त त्रैकोणमितिक ग्रन्थों का सम्यगध्ययन करना चाहिए। तत्कालीन गणित परम्परा और बहुविकसित आधुनिक गणित का चापीय एवं सरल त्रिकोणमितिक गणितों का मूल स्रोत आचार्योक्त यही गणित हैं। शेष स्पष्ट है। यहाँ पर ग्रन्थ गौरवभय से उक्त विषय का मात्र दिग्दर्शन कराया गया है जो पर्याप्त है ॥२॥३॥४॥५॥६॥

क्योंकि इस गणित सम्बन्ध के आधुनिक गणित ग्रन्थ, गणितज्ञों की देन से यत्र तत्र सर्वत्र सुलभ एवं सुबोध गम्य हैं।

अतएव ग्रन्थ विस्तार भय से यहाँ पर इस विषय का संक्षेप किया जा रहा है।

भास्कराचार्यरचिता ज्योत्पत्तिरियमद्भुता। मुनीश्वरेण विवृता गुरुरामप्रसादतः ॥१॥

इदानीं स्पष्टीकरणे फलस्योत्पत्तिमाह—

भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्याद्
यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये।
भूस्थो द्रष्टा नहि भवलये मध्यतुल्यं प्रपश्ये-
त्तस्मात्तज्ज्ञैः क्रियत इह तद्दोःफलं मध्यखेटे ॥७॥

वा० भा०—यदेतद् भपञ्जरेऽश्विन्यादीनां भानां वलयं तद्भूमेः समन्तात्सर्वत्र तुल्येऽन्तरे वर्तते। यतस्तस्य मध्यं कुमध्ये। अथ यस्मिन्वृत्ते ग्रहो भ्रमति तस्य मध्यं कुमध्ये न। तद्भूमेः समन्तात्समानान्तरं नेत्यर्थः। अतो भूस्थो द्रष्टा भवलये मध्यमस्थाने ग्रहं न पश्यति। किंत्वन्यत्र पश्यति। तयोर्भवलये यदन्तरं तद् ग्रहस्य फलमित्यर्थादुक्तं भवति। अत उक्तं—तस्मात्तज्ज्ञैः क्रियत इह तद्दोःफलं मध्यखेट इति ॥७॥

मरीचिः—अथ संसिद्धादित्यादिप्रश्नोत्तरभूतस्पष्टक्रियावासनां निरूपयितुं प्रथमं फलवासनां संक्षिप्तां वक्ष्यमाणार्थनिरूपणसंगतिसूचिकां मन्दाक्रान्तयाऽऽह—भूमेरिति।

तस्मात्कारणात्। इह। अहर्गणानुपातसिद्धमध्यग्रहे। तज्ज्ञैर्मध्यस्पष्टविवेकविद्भिः पूर्वाचार्यैस्तत्स्पष्टाधिकारोक्तं दोःफलं केन्द्रभुजसाधितफलं मन्दं शैघ्र्यं च। साक्षात्परम्परा-संबन्धेन क्रियते संस्क्रियत इत्यर्थः। कारणमाह—भूस्थ इति। हि यतो भूस्थो भूगर्भस्थो द्रष्टा ग्रहबिम्बद्रष्टा भवलये क्रान्तिवृत्ते वक्ष्यमाणरूपे मध्यतुल्यमहर्गणानुपातसिद्धमध्यग्रह-भोगतुल्यं ग्रहबिम्बस्थानं न प्रपश्येत्। अयमर्थः। क्रान्तिवृत्ते रेवतीस्थानान्मेषाद्यङ्कितद्वा-दशराशिभागकलाविकलाङ्किते यत्राहर्गणानुपातसिद्धग्रहभोगमित्या रेवतीस्थानाद्ग्रहचिह्नं तत्समसूत्रेण ग्रहकक्षायां ग्रहबिम्बं न पश्यति। यत्र च ग्रहबिम्बं पश्यति तत्समसूत्रेण क्रान्तिवृत्ते स्थानं पूर्वग्रहचिह्नं तत्समसूत्रेण ग्रहकक्षायां ग्रहबिम्बं न पश्यति। यत्र च ग्रह-बिम्बं पश्यति तत्समसूत्रेण क्रान्तिवृत्ते स्थानं पूर्वग्रहचिह्नात्प्रागपरत्र भवति। तत्रातस्त-त्स्थानयोरन्तरं फलं तेन पूर्वग्रहचिह्नमहर्गणानुपातसिद्धं संस्कृतं स्पष्टग्रहस्थानं भवति। तत्र ग्रहबिम्बस्य समसूत्रेण दर्शनात्स्पष्टत्वम्। अत एव पूर्वग्रहचिह्नसमसूत्रेण ग्रहबिम्बादर्श-नादहर्गणानुपातसिद्धो ग्रहो मध्यो न स्फुट इति प्रत्यक्षप्रमाणासिद्धम्। अत्रापि कारणमाह-भूमेरिति। यतः कारणात्। भूमेर्मध्ये भूगोलमध्यकेन्द्रभागे। भवलयस्य नक्षत्रपञ्जर-गोलस्य खलु निश्चयेन मध्यं केन्द्रं तदैक्यसंबन्धेन। अपिशब्दान्नक्षत्रगोलानुसृतस्वस्वाकाश-भागे प्रवहभ्रमानुसृतग्रहकक्षावृत्तानां भूगर्भे केन्द्रमित्यर्थः। ग्रहः पूर्वगत्या यस्मिन्वृत्ते भ्रमति भगणभोगं करोति। अस्य वृत्तस्य मध्यं केन्द्रं कुमध्ये भूगोलगर्भे न स्यात्। तथा च नक्ष-त्राणां सदैकरूपदर्शनाद्भूगोलाभितः समान्तरेण नक्षत्रगोलोऽस्तीति क्रान्तिवृत्तमपि तथा-ऽस्ति। ग्रहबिम्बानामेकरूपत्वेन दर्शनाभावादणुपृथुबिम्बदर्शनान्यथानुपपत्त्या ग्रहबिम्बाधि-ष्ठितवृत्तं कक्षावृत्तभिन्नत्वेन लाघवात्कल्पितं भूगोलाभितः समान्तरेण नास्तीति क्रान्तिवृ-त्ताङ्कितमेषादिराशिभागाद्यनुरुद्धसमसूत्रेण ग्रहाधिष्ठितवृत्ताङ्कितमेषादिराश्यादिकं न स्या-दिति गणितस्य भूगर्भसंबन्धेनोक्तत्वादहर्गणानुपातसिद्धं क्रान्तिवृत्तानुसृतकक्षावृत्तस्थमध्य-ग्रहचिह्नसमसूत्रेण ग्रहबिम्बादर्शनं युक्तमुक्तम्। यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेण ग्रहबिम्बदर्शनं तत्क-क्षाप्रदेशे मेषादिराश्यादिमानं स्पष्टग्रहभोग इति मध्यस्पष्टग्रहस्थानयोरन्तरं फलं धनमृणं मध्यग्रहे स्पष्टग्रहज्ञानार्थं क्रियत इति फलितार्थः ॥७॥

केदारदत्तः—ग्रह कक्षा केन्द्र भूकेन्द्र से भिन्न है—

भूगर्भकेन्द्र से त्रिज्या व्यासार्ध से उत्पन्न वृत्त को क्रान्ति वृत्त या राशि वृत्त कहा जाता है। अर्थात् अश्विनी आदिक अनेक नक्षत्रों से युक्त वृत्त का नाम क्रान्ति वृत्त है वह भूमि के चारों तरफ समान दूरी पर है। भूपरिधि का गर्भ केन्द्र भूकेन्द्र, उक्त नक्षत्र कक्षादि जिसका अपर नाम क्रान्ति वृत्त है उस वृत्त का केन्द्र बिन्दु भू गर्भ बिन्दु है। लेकिन ग्रह बिम्ब जिन वृत्तों से गमन कर अश्विनी आदिक नक्षत्रों का भोग करते हैं उन वृत्तों का केन्द्र बिन्दु भूगर्भ बिन्दु नहीं है।

भू पृष्ठ से द्रष्टा की दृष्टि गणितागत मध्यम ग्रह पर अर्थात् कक्षा वृत्तस्थ मध्यम ग्रह स्थान पर नहीं हो सकने से मध्यम ग्रह का स्थान स्पष्ट ग्रह के स्थान से भिन्न दृष्टि पथ में

आने से मध्यम ग्रह में मन्दफल और शीघ्र फलों का नियमानुसार मध्यम ग्रहों में संस्कार कर देने से ही स्पष्ट ग्रह बिम्ब कक्षा वृत्त में दृष्टि गोचर होता है। अतः ग्रह कक्षा का केन्द्र बिन्दु भू केन्द्र बिन्दु न होकर अत्यत्र कोई अन्य बिन्दु ग्रहकक्षा केन्द्र होता है। दृश्य कक्षा वृत्त में मध्यम और स्पष्ट ग्रहों का अन्तर ही फल (मन्द फल या शीघ्र फल)

जिस वृत्त में ग्रह भ्रमण करता है उस जगह पर भू केन्द्राभि प्रार्थिक दृश्य ग्रह स्थान मध्यम ग्रह स्थान से भिन्न या अन्तरित होने ग्रह कक्षा केन्द्र भूगर्भ केन्द्र से भिन्न प्रतीत होने से अहर्गण से साधित मध्यम ग्रह में अन्य संस्कार अपेक्षित देखे जाने से मध्यम ग्रह में मन्दफल शीघ्रफल संस्कारों का होना आवश्यक होता है ।।७।।

एवमेकेनैव श्लोकेन संक्षेपाच्छेद्यकसर्वमुक्त्वेदानीं किंचित्सविस्तरं छात्रान्प्रत्याह—

पूर्वापरायतायां तद्भित्तावुत्तरपार्श्वके ।

दर्शयेच्छिष्यबोधार्थं लिखित्वा छेद्यकं सुधीः ।।८।।

वा० भा०—नाद्यापीदं सम्यगस्माभिर्ज्ञायत इति शिष्यैरुक्त आचार्य आह। पूर्वाषरायतायामित्यादि। स्पष्टार्थम् ।।८।।

मरीचिः—तत्वनया फलवासनया फलायनधासना त्वसिद्धा। उच्चकेन्द्रभुजकोटिज्यादेः स्वरूपानवगमात्। किंचोक्तरीत्या फलज्ञानासंभवस्तद्धनर्णनाज्ञानासंभवश्च। ग्रहाधिष्ठित-वृत्तस्य मध्यज्ञानाभावादाकाशस्थितकल्पिततद्वृत्तयोरतिदूरस्थत्वेन तद्विभागाद्यवयवानां मनुष्यनेत्रागोचरत्वादित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह— **पूर्वापरेति।**

सुधीर्गोलाभिज्ञो गणकः। सुधीरित्यनेन यथा शिष्यस्य तदुपपत्तिबोधः स्यात्तथोपपत्ति-ज्ञानाय प्रकाराः कल्पनीया इति सूचितम्। पूर्वापरायतयां पूर्वापरं दैर्घ्यं यस्यास्तस्यां भित्तावुत्तरपार्श्वके। उत्तरदिक्स्थितायामित्यर्थः। अन्यथा पूर्वापरदैर्घ्यभूताया भित्तेरुत्तर-पार्श्वभागानुपपत्तेः। छेद्यकं पूर्वाचार्यप्रयोगानुसाराद्वक्ष्यमाणस्पष्टक्रियोपपत्तिनोधकपरिलेखः छेद्यकपदवाच्यस्तमुक्तप्रकारेण लिखित्वा शिष्यबोधार्थी शिष्यस्य स्पष्टक्रियोपपत्तिज्ञान-संपादनिमित्त शिष्याय तदुच्चकेन्द्रभुजकोठितज्ज्याफलस्पष्टग्रनादिस्वरूपं दर्शयेत्। तथा चाऽऽकाशस्थतद्वृत्तानामतिदूरस्थत्वात्तद्विभागानां नयनागोचरत्वादपि तद्दृष्टान्ते केद्यके तन्निश्चयस्य सुलभत्वादाकाशेऽपि तत्स्वरूपमनुमावगम्यम्। दृष्टान्तस्याऽऽकाशतत्थित्या सिद्धत्वादिति न क्षतिः। अत्र भूमौ खेद्यकलिखने भूम्यभितो ग्राहभ्रमणं प्रत्यक्षसिद्धं न दृश्यत इति भित्तौ तल्लिखनम्। तत्रापि पूर्वपश्चिमदिक्स्थभित्त्योर्ल्खिने तु पूर्वापरग्रह-भ्रमणादर्शनात्तद्दर्शटी पूर्वापरायतायामित्युक्तम्। तत्रापि च दक्षिणदिक्स्थभित्तौ छेद्यक-लिखने पूर्वापरभ्रमदर्शनोपलम्भार्थी मेषादिराशीनामपसव्येन लिखनं भवतीत्युत्तरदिक्स्थभित्तौ तल्लिखने मेषादिराशीनां लिखनं सव्येन भवतीत्युत्तरपार्श्वक इत्युक्तम्। सव्यक्रमस्य भाग-लिखनत्वेन शिष्टसंमतत्वात्। अन्यथा तरक्रमेण वर्णादिलिखनं बाध्येतेति ध्येतम् ।।८।।

केदारदत्तः—छात्रों की बुद्धि में पूर्व का श्लोक का आशय स्पष्ट नहीं होने से यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है--

सद्गोलग्रहगणितविद्या पारङ्गत विद्वान् बुद्धिमान आचार्य (सुधी) से उक्त विषय को स्पष्ट किया गया है कि पूर्व और पश्चिम दिशा गत किसी समभूगत समतल दीवार की उत्तर दिग्गत आयताकार क्षेत्र में छेद्यक = अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि कक्षा क्षेत्र (चक्र) बना कर छात्रों को दिखा कर तदनुसार उक्त विषयों का आचार्य ने छात्रों को समझाना चाहिए ।।८।।

उपपत्ति—ग्रहों की गति पूर्वाभिमुख भगण भ्रमण भोगकालात्मक को परिणामन कर उसे कलात्मक अर्थात् क्षेत्रात्मक किया जाता है इसलिये ग्रह वेध प्रक्रिया से भित्ति की पूर्वापरा स्थिति ही आवश्यक होती है क्योंकि ग्रहों को गति पूर्वाभिमुख होती है पहिले बताया गया है ।

इदानीं कालविम्बेन प्रतारणपरं वाक्नमिति ज्ञात्वा शिष्यैः पुनः पृष्टः सन्नाह--

दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियं यदृषिभिर्ब्राह्मं वसिष्ठादिभिः
पारम्पर्यवशाद्रहस्यमवनीं नीतं प्रकाश्यं ततः ।
नैतद्द्वेषिकृतघ्नदुर्जनदुराचाराचिरावासिनां
स्यादायुःसुकृतक्षयो मुनिकृतां सीमामिमामुज्झतः ।।९।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।९।।

मरीचिः—ननु वक्ष्यमाणक्छेद्यकरूपदृष्टान्तस्याऽऽकाशतत्स्थित्यासिद्धिः कथमवगता । आकाशस्थतद्वस्तुस्वरूपस्य मनुष्यनयनागोचरत्वेन तद्गीतासिद्धेरित्यतस्तदुत्तरं शार्दूलविक्रीढितेनाऽऽह—**दिव्यमिति** ।

यद्दर्शयेदिव्युक्तं तच्छेद्यकमित्यर्थः । ज्ञानं, आकाशस्थितग्रहवस्तुभूतस्थितिप्रतिपादकम् । अतीन्द्रियमिन्द्रियातिक्रान्तम् । मनुष्यदृग्वाङ्मयनसामविषयम् । ब्राह्मं ब्राह्मणा निर्मितम् । तथा च ब्रह्मणा स्वनिर्मितग्रहाकाशस्थितिप्रत्यक्षदर्शनावश्यंभावादिदं स्वतरजनतद्बोधार्थी प्रत्यक्षदर्शनानुरोधेन च्छेद्यकं ग्रहस्थितिज्ञानप्रतिपादकत्वेन निर्मितमित भावः । अत एव दिव्यं स्वर्गलोकैकविषयम् । ब्रह्मणस्तत्राधिष्ठानात् ।

नन्वेवं स्वर्गलोके मनुष्याणां गमनाभावादत्र कथमवगतमेतदित्यत आहं—ऋषिभिरिति । मुनिभिः स्वतपःसामर्थ्या[दि]च्छायामनुग्रहसमर्थैर्वसिष्ठादिभिः वसिष्ठमाण्डव्यरोमशसाकल्यनारदादिभिः पारम्पर्यवशाद् । यथायोग्यं परस्परतत्कथनपरम्परासंबन्धादित्यर्थः । अवनीमस्मदाद्यधिष्ठितंभूप्रदेशविशेषमित्यर्थः । नीतमानीतन् । तल्लेखविषयीकृतमित्यर्थः । अन्यथा स्वर्गलोकस्य भूप्रदेशविशेषत्वात्प्रथमत एवावनीत्स्थत्वादवनीं नीतमित्यस्यानुपपत्तेः । तथा च वसिष्ठस्य ब्रह्मपुत्रत्वात्तद्द्वारा माण्डव्यर्षोस्तज्ज्ञानंत्ततोऽप्यन्यर्षीणां ज्ञानादिति शेषं

सर्वभूगोलगमनाश्रयत्वादत्राऽप्येतस्य दिव्यत्वासिद्धिरत आह—रहस्यमिति । गोप्यम् । तथा च दिव्यत्वादेव गोप्यत्वमत्रिकं सिद्धमन्यथाऽगोप्यत्वे दिव्यत्वमङ्गापत्तिरविशेषादिति भावः । न चैतस्य नोप्यत्वे पूर्वं दर्शयेच्छिष्यबोधार्थमिति कथमुक्तमत आह—प्रकाश्यमिति । ततस्तस्य रहस्यत्वादित्यर्थः । एतद्वक्ष्यमाणच्छेद्यकं द्वेषिकृतघ्नदुर्जनदुराचाराचिरावासिनाम् । द्वेषोऽस्यास्तीति द्वेषी शत्रुः । स्वस्य यः शत्रुः स्वयं वा यस्य शत्रुः वरस्परं वा शत्रुता । कृतघ्नः शत्रुत्वाभावेऽपि कृतमुपतं हन्तीति कृतघ्नः । पदभावेऽपि दुर्जनो निरुपाधिपराहितवाञ्छकस्तदातवेऽपि दुराचारः स्मृत्युक्तनिषिद्धाचरणशोलः स्मृत्युक्तविध्यननुष्ठानकश्च । एतदभावेऽप्यचिरावासिनां चिरकालं वासः संगतिर्यस्य भवति । एतं शत्रुद्वेष्यादिपूर्वोक्ताभावनिश्चये ह्यप्रयोजकमिति ध्येयम् । एतेनामेतत्पठनाधिकारिणामपि प्रकाश्यं कथनीयं नेत्यर्थः । तथा च गोप्यमेतत्प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह । रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्यचित् । सुपरीक्षितशिष्याय दातव्यं ज्ञानमुत्तममिति सूर्यसिद्धान्तवचनाभ्यामुक्तातिरिक्तातिरिक्तायासगोप्यत्वेन दर्शयेदिति पूर्वोक्तं युक्तम् ! भक्ताय शिष्याय चिरोषिताय गुणापपन्नाय च देयमेतत् ।

भ्रात्रे च मित्राय च सूनवे च सुदुर्लभं छेद्यकगोलतन्त्रमिति ।

सिद्धान्तशेखरोक्तेश्चेति भावः ।

ननु उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तत्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधु सद्भिरुच्यते ॥

इत्युक्तत्वाद्द्वेष्याद्युक्तानामपि देयमित्यत आह—स्यादिति । इमामुक्तां सीमां नैतद्द्वेषीत्यादिमर्यादामुज्झतस्त्यक्तुर्ब्राह्मणस्याऽऽयुःसुकृतक्षयः । आयुदयि एतच्छरीरसद्भावसंबन्ध्यवगतकालोपाधिरूपः । सुकृतं स्वार्जितपुण्यमैहिकं पूर्वजन्मार्जितं वा । अनयोर्नाशो भवति । ननु त्वदुक्तसीमोल्लङ्घनेन कथमायुःसुकृतक्षयः संभवति । अन्यथाऽतिप्रसङ्ग इत्यत आह—मुनिकृतामिति । वशिष्ठाद्यृषिप्रणीताम् । तथा च न क्षतिः । न च न मां ब्रूयादवीर्यवतो तथा स्यामिति श्रुत्या विद्याया नैर्वल्यस्यैवोक्तत्वादायुःसुकृतक्षयोक्तौ श्रुतिविरोध इति वाच्यम् । यो यस्य दुःखं ददाति स तस्याशुभं नाशं च वाञ्छतीति नियमादृषिभिः श्रुत्यर्थव्यङ्ग्यस्यैवोक्तत्वात् । नन्वेवच्छरीरारम्भकाणां कर्मणां प्रारब्धकर्मत्वात्तेषां च भोगैक्यनाश्यत्वेन तेषां सर्वेषां भोगार्थं यः कालः स एवाऽऽयुःसुकृतक्षय इत्यस्याऽऽयुषार्जितं यत्सुकृतं तस्य क्षय इत्यर्थान्न किंचिद्विरुद्धमिति वाच्यम् ।

प्रतिकञ्चुककृत्कृतघ्नविद्द्विड्वमिनाधार्मिकमूर्खदुर्जनेभ्यः ।
इह तन्त्ररहस्यमप्रमेयं ददतः स्यात्सुकृतायुषोः प्रणाशः ॥

इति श्रोत्युक्तविरोधादिति चेन्न । आयुषोऽदृष्टरूपत्वान्नाशोपपत्तेः । कालसंकोचेनैव तद्भोगाङ्गीकारात् । इन्द्रपदभोगकालस्य नियतत्वेऽपि नहुषस्येन्द्रपदप्रच्युते शापात्सद्य एव पुराणादौ श्रवणाच्च । अत एव न हीदृशमनायुष्यं यदन्यस्त्री निषेवणमिति याज्ञवल्क्योक्तिः संगच्छते । अन्यथा नीतिशास्त्रस्य व्यर्थतापत्तेरिति संज्ञेयः ॥९॥

केदारदत्तः—अनन्त दूरी पर गमनशील ग्रहों की आकाशस्थ गतिविधि जो दृष्टि-गोचर भी नहीं हो सकती है उसका ज्ञान उक्त छेद्यक से कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान बताया जा रहा है—

वाङ्मनवाणी से अतीन्द्रिय ग्रहगणित गोलज्ञानात्मक यह एक ब्रह्म निर्मित दिव्यज्ञान है। वशिष्ठ आदि ऋषियों की परम्परा से उत्तरोत्तर यह रहस्य पृथ्वी में लाया गया है। इसीलिये द्वेषी, कृतघ्न दुर्जन, दुराचारी को तथा गुरुकुलवासी छात्र को यह रहस्यमय ग्रह ज्ञान नहीं देना चाहिए। दीर्घ समय तक गुरु की सेवा के साथ गुरु सेवारक्त सच्छिस्थ छात्रोंको ही यह ग्रह रहस्यमय ज्ञान देना चाहिये। यही मर्यादा है। अर्थात् मर्यादा भंग करने से आयुक्षय, और सुकृतक्षय होता है। मुनिकृत सदाचार नियमों का उलंघन उचित नहीं होता है ॥९॥

इदानीं विलिख्य च्छेद्यकमाह—

त्रिभज्यकासंमितकर्कटेन कक्षाख्यवृत्तं प्रथमं विलिख्य ।
तन्मध्यतो मध्यमखेटभुक्तितिथ्यंशमानेन महीं सुवृत्ताम् ॥१०॥
कक्षाख्यवृत्ते भगणाङ्किते़ऽत्र दत्त्वोच्चखेटौ क्रियतोऽथ रेखा ।
कुमध्यतुङ्गोपरिगा विधेया तिर्यक् ततोऽन्या सुधिया कुमध्ये ॥११॥
उच्चोन्मुखीमन्त्यफलज्यकां च दत्त्वा कुमध्याद्विलिखेत्तदग्रे ।
त्रिभज्ययैव प्रतिमण्डलाख्यं सैवोच्चरेखा त्वपराऽत्र तिर्यक् ॥१२॥
तुङ्गोर्ध्वरेखा खलु यत्र लग्ना तन्नीचमस्मिन् प्रतिमण्डलेऽपि ।
ततो विलोमं खलु तुङ्गभागैर्मेषादिरस्मात्खचरोऽनुलोमम् ॥१३॥
देयस्तदुच्चान्तरमत्र केन्द्रं दोर्ज्योच्चरेखाखगयोश्च मध्ये ।
तिर्यक्स्थरेखाखगयोस्तु कोटिः सोर्ध्वाऽधरा बाहुगुणस्तुतिर्यक् ॥१४॥

वा० भा०—भित्तेरुत्तरपार्श्वे बिन्दुं कृत्वा तस्माद्बिन्दोस्त्रिज्यामितेन कर्कटेन वृत्तं विलिखेत्। तत्कक्षावृत्तम्। यस्य ग्रहस्य च्छेद्यकं विलिख्यते तस्य मध्यमभुक्तिपञ्चदशांशेन तस्मिन्नेव बिन्दौ यत्वृत्तं क्रियते सा भूः। लम्बनावनतिदर्शनार्थमियं भूः। अन्यथा बिन्दुरेव भूः कल्प्यते। तत्कक्षावृत्तं चक्रांशैरङ्क्यम्। तत्रेष्टस्थाने मेषादिं प्रकल्प्य तस्मान्मध्यमग्रहमुच्चं च दत्त्वा तदग्रयोश्चिह्ने कार्ये। भूम्युच्चरुपरि गता रेखा कार्या। सोच्चरेखा। अथ भूमध्यं उच्चरेखाजनितमत्स्येन तिर्यग्रेखाऽन्या कार्या। अथ ग्रहस्यान्त्यफलज्यामितं सूत्रं भूमध्यादुच्चरेखायां दत्त्वा तदग्रेचिह्नात्त्रिज्यामितेनैव कर्कटकेन यद्वृत्तं विलिख्यते तत्प्रतिमण्डलम्। तत्रापि सैवोच्चरेखा। किंतु तन्मध्येऽन्या तिर्यग्रेखा कार्या। प्रतिमण्डलमपि

चक्रांशैरङ्कयम्। अथोच्चरेखोपरि नीयमाना यत्र लगति तत्र प्रतिमण्डऽलेप्युच्चं कल्प्यम्। तस्मादुच्चांशभागान् विलोमतो गणयित्वा तदग्रे मेषादिः कल्प्यः। ततो ग्रहोऽनुलोमं देयः। तत्र ग्रहोच्चयोरन्तरं केन्द्रम्। उच्चरेखायास्तिर्यग्ग्रहगामिनी रेखा सा दोर्ज्या। प्रतिमण्डलमध्ये या तिर्यग्रेखा तद्ग्रहयोरन्तरं कोटिज्या। सा किलोर्ध्वरूपा भवति ॥१०।११।१२।१३।१४॥

मरीचिः—अथ च्छेद्यकविधानकथने प्रथमं वृत्तद्वयलिखनमुपजातिकयाऽऽत—**त्रिभज्यकेति**। कर्कटकशलाकाग्रयोरन्तरं त्रिज्याप्रमाणं धृत्वाऽभीष्टस्थानात्तेन कक्षासंज्ञं वृत्तं प्रथममादौ लिखित्वा तद्वृत्तमध्यकेन्द्रादभितो मध्यग्रहगविकलापञ्चदशांशमितव्यासार्धेन सुवृत्तां महीं पृथ्वीसज्ञं वृत्तं लिखेत्। मध्यमकक्षावृत्तस्य भूगर्भतस्त्रिज्यामितकलान्तरितत्वाद्भूगोलपृष्ठे तस्य भूव्यासार्धयोजनैस्तस्मादेवान्तरितत्वाद्भूव्यासार्धयोजनानां च ग्रहयोजनात्मकगतिपञ्चदशांशासन्नत्वान्मध्यगतिकलापञ्चदशांशेनैव पृथ्वीवृत्तं सम्यक्। कलासाहचर्यात्। योजनात्मकव्यासार्धेन कक्षावृत्तलिखने तु भूव्यासार्धयोजनैरेव भूवृत्तलिखनं युक्तम्। भूवृत्तलिखनं तु नतकर्मोपपत्तिदर्शनार्थमिति ध्येयम् ॥१०॥

अथ वृत्ते खेटोच्चयोर्दानं वृत्तस्य समचतुर्थांशज्ञानार्थं रेखाद्वयसंनिवेशं चोपजातिकयाऽऽह—**कक्षाख्येति**।

अथानन्तरं सुधिया गणकेन। अथ लिखिते कक्षाख्यवृत्ते। उच्चग्रहौ मध्याधिकानीतौ दत्त्वा तच्चिह्नं कृत्वेत्यर्थः। रेखा कार्या। आकाशस्थकक्षावृत्त उच्चग्रहस्थानयोः सत्त्वात्तद्दानं व्यर्थमित्यत्रेत्याकाशस्थकक्षावृत्तवारकम् अत्रे। युक्तौ पृथ्वीवृत्ते तद्दानापत्तिवारणार्थं कक्षावृत्ते इत्युक्तम्। ननु वृत्ते गृहोच्चयोर्दानमशक्यं तत्स्थानज्ञानाभावादित्यत आह—भगणाङ्किततेति। द्वादशराशिभागकलाविकलाभिः समान्तरेणाङ्किते। तथा च वृत्ते ग्रहोच्चयोर्भोगगणनपातस्थानज्ञानान्न क्षतिः। ननु तथाऽप्यवधिप्रदेशनियमाद्भोगगणनाया अशक्यत्वात्तत्स्थानज्ञानाभाव इत्यत आह—क्रियत इति। तथा च तद्वृत्तेऽभीष्टप्रदेशात्सव्येन मेषादिराशीनङ्कयित्वा मेषादिस्थानात्सव्यक्रमेणोच्चग्रहभोगयोर्गणनया तत्स्थानज्ञानं भवत्येवेति भावः। अथ वृत्ते रेखा कथं कार्येत्यत आह—**कुमध्यतुङ्गोपरिगेति**। कुवृत्तं मध्ये यस्याः सा चासौ तुङ्गोपरिगा च। उच्चस्थानात्षड्भान्तरेण चिह्नं कृत्वा तत्स्थानमारभ्योच्चस्थानपर्यन्तमृज्वी वृत्तमध्यभागस्थाविन्दुस्पृष्टा रेखा कार्येत्यर्थः। कुमध्ये कुवृत्तं मध्ये यस्यैतादृशे कक्षावृत्ते तत उच्चरेखायास्तिर्यगन्या द्वितीया रेखा कार्या। सुधियेत्यनेनोच्चस्थानादुभयत्र नवत्यंशान्तरेण तद्रेखाग्रं स्यादिति सूचितम् ॥११॥

ननूच्चस्थानाद्वृत्तचतुर्भागाः कुतः कृताः कुतश्च ग्रहस्थानान्न कृता इत्यतः प्रतिमण्डललिखनादिप्रतिपादनच्छलेनोत्तरमुपजातिकयाऽऽह—**उच्चोन्मुखीमिति**।

कुमध्यात् कुवृत्तस्य मध्यं स्थानं बिन्दुरूपं तस्मादित्यर्थः। यद्यपि तत्कक्षावृत्तमध्यं भवति तथाऽपि संनिहितत्वेन लाघवाच्च कुमध्ये नोक्तमिति ध्येयम्। उच्चस्थानाभिमुखीम्।

अन्त्यफलज्यकां परमफलज्या स्पष्टाधिकारोक्तपरिध्यवगतत्रिज्योद्भवभुजफलरूपामित्यर्थः । तदग्रेऽन्त्यफलज्यामितरेखैकदेशस्य चिह्नरूपस्याग्रे त्रिभज्यया प्रतिमण्डलं विलिखेत् । एवकाराद्यन्मितव्यासार्धेन कक्षावृत्तं तन्मितव्यासार्धेन प्रतिमण्डलमन्वर्थसंज्ञं लिखेत् । ननु ग्रहकक्षायास्त्रिज्याव्यासार्धत्वेऽपि कलामानभेदाद्ग्रहकक्षामण्डलभेदस्तद्वत्रापीति सूचितम् । अथैतद्वृत्तसमचतुर्भागज्ञानार्थमाह—सैवेति । अत्र प्रतिमण्डले । ऊर्ध्वरेखा सा कक्षावृत्तस्थोच्चस्थानस्पृष्टा नेया । ननूर्ध्वरेखाया उच्चस्थानपर्यन्तं सत्त्वादुच्चासन्नप्रतिमण्डलभागपर्यन्तं तद्भाग इत्यत आह—त्विति । तुर्विशेषे । तेनोच्चस्थानादग्रे प्रतिमण्डलभागपर्यन्तमृजुमार्गेणोर्ध्वरेखा वर्धनीयेत्यर्थात् समञ्जसमेवेति भावः । तिर्यग्रेखाऽपरा प्रतिमण्डलसंबद्धोर्ध्वरेखाभागाभ्यां मत्स्यावुत्पाद्य तन्मुखपुच्छाग्ररेखा प्रतिवृत्तमध्यरूपतच्चिह्नसक्ता प्रतिमण्डलपरिधिभागपर्यन्तं कार्येत्यर्थः । एवकारादूर्ध्वरेखावत्कक्षावृत्तस्थतत्तिर्यग्रेखा प्रतिमण्डले तिर्यग्रेखा न भवति । तद्रेखायाः प्रतिमण्डलमध्यस्थत्वाभावादित्यर्थः । तथा च ग्रहस्थानात्कक्षावृत्तसमचतुर्भागाः प्रयोजनाभावान्न कृता इति भावः ॥१२॥

अथ प्रतिमण्डलप्रयोजनरूपां स्पष्टीकरणवासनां विवक्षुः प्रथमं केन्द्रभुजकोटिज्यास्वरूपमत्र ोपजातिकेन्द्रवज्राभ्यां प्रतिपादयति—**तुङ्गोर्ध्वरेखेति** ।

कक्षावृत्तस्थोच्चस्थानादूर्ध्वं या रेखैकदेशरूपा । अस्मिन् लिखिते प्रतिमण्डले । यत्र परिध्येकदेशे लग्ना सक्ता । तत्र प्रतिमण्डलपरिध्येकदेशे । उच्चमुच्चचिह्नं खलु निश्चयेन कार्यम् । अपिशब्दः समुच्चयार्थकस्तेन कक्षावृत्तप्रतिवृत्तयोरुच्चचिह्नं कार्यं नैकत्र । प्रतिमण्डलोच्चस्थानज्ञानार्थमेव कक्षावृत्त उच्चभोगस्थानज्ञानस्याऽऽवश्यकत्वान्न तत्र तत्त्वत उच्चमित्यर्थः । ततः प्रतिमण्डलोच्चस्थानात् । तुङ्गभागैर्गणितागतोच्चराश्यादिभोगस्य भागात्मककरणेन ये सावयवा भागास्तैरित्यर्थः । विलोमं कक्षास्थितमेषादिराशिक्रममार्गाद्विपरीतमार्गेणापसव्येनेति तात्पर्यार्थः । कक्षास्थितभागप्रमाणेन प्रतिवृत्ते गणनया यत्र चिह्नं तत्र मेषादेश्चिह्नं खलु निश्चयेन कार्यम् । गणितागतोच्चभोगस्य मेषादितः सिद्धत्वेन यथा कक्षावृत्ते मेषादित उच्चभोगेन राशिक्रमभागादुच्चचिह्नं कृतं तथाऽत्रोच्चस्थानज्ञानात्तद्भागैर्वैपरीत्येन मेषादिस्थानस्योपपत्तिसिद्धत्वादित्यर्थः । अस्मात् प्रतिवृत्तस्थमेषादिचिह्नात् । गणितागतो ग्रहः । अनुलोमं सव्यमार्गेण । कक्षावृत्तवत्प्रतिवृत्ते देयं तदुच्चान्तरम् । प्रतिवृत्तस्थग्रहोच्चचिह्नयोरन्तरालं प्रतिवृत्तपरिध्येकदेशरूपम् । उच्चाद्ग्रहाद्वा केन्द्रं ज्ञेयमत्र प्रतिवृत्ते । तेन कक्षावृत्ते ग्रहोच्चान्तरसत्त्वेऽपि केन्द्रं न भवति । तत्रोच्चग्रहयोरसत्त्वादिति सूचितम् । उच्चरेखाखगयोर्वृ तद्द्वयस्पृष्टोर्ध्वाधरोच्चरेखैकदेशप्रतिवृत्तस्थग्रहचिह्नयोर्मध्येऽन्तरालेऽर्धज्याकारा ऋज्वी रेखा प्रतिवृत्तान्तभुजज्या चकारात्तद्रेखैकदेशासन्नोच्चतत्षड्भान्तरस्थानान्यतरग्रहचिह्नयोरन्तरालमल्पं प्रतिवृत्तपरिध्येकदेशरूपं तद्धनुर्भुज इत्यर्थः । तिर्यक्स्थरेखाखगयोः प्रतिवृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखैकदेशप्रतिवृत्तस्थग्रहचिह्नयोरन्तराले प्रतिवृत्तान्ततोऽर्धज्याकारा ऋज्वी रेखा कोटिः कोटिज्येत्यर्थः । अत्र कोटिग्रहणाद्भुजज्याकोटिज्ययोर्जात्यत्र्यस्रसंबन्धेन भुजकोटित्वमस्तीत्युक्तम् । तत्र त्रिज्यायाः कर्णत्वादिति ध्येयम् ।

चकारात्तिर्यग्रेखैकदेशासन्नप्रतिवृत्तभागगतस्थग्रहयोः प्रतिवृत्तेऽन्तरमल्पं परिध्येकदेशरूपं कोटिस्तद्धनुरित्यर्थः । ननूक्तभुजकोटिज्ययोस्तत्संज्ञा कुतः । व्यत्ययेनापि संज्ञायाः समुचितत्वादत आह—सेति । तिर्यक्स्थरेखाग्रहान्तरालरूपाऽर्धज्या । ऊर्ध्वाधरा तुङ्गरेखावदित्यर्थः। बाहुगुणः । उक्तरूपा भुजज्या । तिर्यग् वृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखावदित्यर्थः । तथा च—

इष्टाद् बाहोर्यत्स्यात्तत्स्पर्द्धिन्यां दिशीतरो बाहुः ।
त्र्यस्रे चतुरस्रे वा सा कोटिः कीर्तिता तज्ज्ञैः ।

इतिपाट्युक्तपरिभाषानुरोधेन सर्वेषामूर्ध्वाधररेखायां कोटित्वाभ्युपगमात्तदग्रसक्ताग्रतिर्यग्रेखायां भुजत्वाभ्युपगमाच्च तत्संज्ञा सम्यगुक्तेति भावः । तुकारात्कोटिभुजाग्रसक्ततिर्यग्रेखायां कर्णत्वाङ्गीकारात्प्रकृते त्रिज्यायाः कर्णत्वमव्याहतमत एव पूर्वमिष्टा त्रिज्या सा श्रुतिरित्याद्युक्तं सम्यगित्यर्थः ।।१४।।

केदारदत्तः—भूकेन्द्र से ग्रह केन्द्र पृथक है इसकी पृथकता क्षेत्र रचना से बताई जा रही है—

पूर्वापराभूमि के उत्तर तरफ में नियत बिन्दु से इष्ट त्रिज्या तुल्य व्यासार्ध से कक्षावृत्त नामक वृत्त की रचना करनी चाहिए । जिस ग्रह का छेदक बनाया जा रहा है उस ग्रह के मध्यमागति के १५वें अंशात्मक उक्त केन्द्र से जो वृत्त किया जाता है उसे भू (पृथ्वी) माना गया है । (सूर्य ग्रहण में लम्बन और नति साधन के लिये भी) और अन्यत्र सर्वत्र उक्त भूकेन्द्र (बिन्दु रूप) ही पृथ्वी और उसका केन्द्र होता है ।

उक्त कक्षावृत्त में १२ राशियाँ, ३६०° = २१६०० कला आदि संकेत करने चाहिए ।

इष्ट स्थान पर मेषादि बिन्दु मानकर वहाँ से मीनान्त बिन्दु तक वृत्त में १२ राशियाँ अंकित करनी चाहिए ।

मध्यमाधिकार में इष्ट दिन संबंधी अहर्गण से साधित मध्यम ग्रहों में अभीष्ट ग्रह की मेषादि राशि के आधार से जिस राशि अंश कलादि में अभीष्ट ग्रह हो उस बिंदु पर ग्रह = ग्र तथा उस ग्रह की गणितागत जो उच्चराशि है उस जगह उच्च के लिये उ बिंदु लिखना चाहिए ।

भूगर्भ बिंदु से उच्च बिंदु तक की रेखा का नाम उच्च एवं ग्रहगत रेखा का नाम ग्रहगर्भीय से ग्रह गर्भ कर्ण कहा जाता है ।

भूमध्य से उच्च तक गई रेखा पर लम्ब रूप रेखा (मत्स्य करना = लम्ब रूपा अन्य रेखा) करनी चाहिए ।

भूगर्भ से ग्रह की परमफलज्या = अन्त्यफल ज्यामित शलाका का दान उच्च रेखा में देते हुये भूव्यासार्ध में भू केन्द्र में जहाँतक अन्त्यफलज्या है उस बिन्दु को ग्रह प्रतिमण्डल वृत्त का केन्द्र मानकर इस स्थान से त्रिज्यातुल्य व्यासार्ध की दूरी से क्रियमाण वृत्त की ग्रहभ्रमण कक्षा या प्रतिवृत्त संज्ञा होती है ।

वर्द्धित उच्च और कक्षा वृत्तस्थ रेखाएँ जहाँ प्रतिमण्डल में लगती हैं उन बिन्दुओं का नाम प्रतिमण्डलीय उच्च = उं एवं प्रतिमण्डलीय ग्रह = ग्र संकेत से समझना चाहिए।

प्रति मण्डलीय उच्च बिन्दु से विलोम से उच्च राशिमान दान देकर मेषादि का ज्ञान भी प्रतिमण्डल में करते हुए इस वृत्त में मेषादि से मध्यम ग्रह चिह्न ज्ञात करना चाहिए।

ग्रह और उच्च का अन्तर = केन्द्र

ग्रह से उच्च रेखा तक गत रेखा का नाम भुजाकार प्रतिमण्डलीय उच्च रेखागत लम्बरूपिणी तिर्यक् रेखा से ग्रह तक की ऊर्ध्व रेखा का नाम कोटिज्या है।

उपपत्ति—क्षेत्र देखिये—
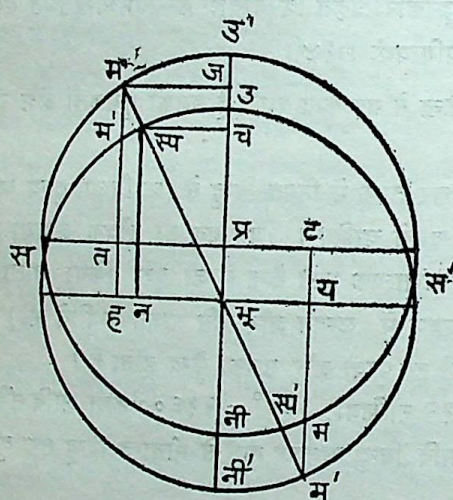
भू भूकेन्द्र से त्रिज्या व्यासार्ध वृत्त = उ स नी

ग्रह कक्षा केन्द्र प्र से त्रिज्या व्यासार्ध वृत्त = उं स नीं स

अपनी कक्षा में गणितागत मध्यम ग्रह = म

भूगर्भ से ग्रह कक्षागत ग्रह कर्ण सूत्र का त्रिज्याव्यासार्धीय वृत्त के साथ सम्पात बिन्दु में स्पष्ट ग्रह। म ग्र से भू केन्द्रगत तिर्यक् त्रिज्या रेखा की समानान्तर रेखा = मं ज = ह भू। कक्षा वृत्तस्थ स्प ग्र = स्पष्ट ग्रह। मं = मध्यम ग्रह। मं स्प = म स्पं = कक्षावृत्त में फल चाप। मध्य केन्द्रज्या और स्पष्ट केन्द्रज्या का अन्तर = फल ज्या = चाप फल। वही पदार्थ अपेक्षित है जिसे मन्द प्रतिवृत सम्बन्ध से मन्द फल और शीघ्र प्रतिवृत्त सम्बन्ध से शीघ्रफल कहा गया है ॥१०॥११॥१२॥१३॥१४॥

इदानीं फलानयन इतिकर्तव्यतोपपत्तिमाह—

मध्यस्थरेखे किल वृत्तयोर्यं तदन्तरालेऽन्त्यफलस्य जीवा।
तदूर्ध्वतः कोटिगुणो मृगादौ कर्क्यादिकेन्द्रे तदधो यतः स्यात् ॥१५॥

अतस्तदैक्यान्तरमत्र कोटिर्दोर्ज्या भुजस्तत्कृतियोगमूलम् ।
कर्णः कुमध्यप्रतिमण्डलस्थखेटान्तरे स्पष्टखगो हि दृश्यः ॥१६॥
कक्षाख्यवृत्ते श्रुतिसूत्रसक्ते फलं च मध्यस्फुटखेटमध्ये ।
मध्येऽग्रगे स्पष्टखगादृणं तत्पृष्ठस्थिते स्वं क्रियते ततश्च ॥१७॥

वा० भा०—तयोः कक्षावृत्तप्रतिवृत्तयोर्मध्यस्थे ये तिर्यग्रेखे तयोरन्तरं सर्वत्रान्त्यफलज्यातुल्यमेव स्यात् । अतोऽन्त्यफलज्याग्रादुपरि प्रतिवृत्तस्य कोटिज्या मृगादौ केन्द्रे भवति । कर्क्यादौ तु तदधः । अतः कोटिज्यान्त्यफलज्ययोर्योगवियोगौ कृतौ । तथा कृते सति कक्षामध्यगतिर्यग्रेखावधेः स्फुटा कोटिर्भवति । कोटितलकुमध्ययोरन्तरं दोर्ज्या स भुजः । तत्कोटिवर्गैक्यपदं कर्ण इत्युपपन्नम् । कर्णो नाम ग्रहकुमध्ययोरन्तरसूत्रम् । तत्सूत्रं कक्षामण्डले यत्र लग्नं तत्र स्फुटो ग्रहः । स्फुटमध्ययोरन्तरं फलम् । तच्च मध्यग्रहात्स्फुटे ग्रहेऽधिके धनमूनं ऋणं क्रियत इत्युपपन्नम् । एवं मन्दफलेन मन्दस्फुटः शीघ्रफलेन स्फुटः स्यात् ॥१५।१६।१७॥

मरिचीः—अथ कर्णस्पष्टग्रहफलतद्धनर्णतास्वरूपमुपजातिकाभिराह—**मध्यस्थरेखे** इति ।

वृत्तयोः कक्षाप्रतिवृत्तयोर्ये मध्यस्थरेखे । द्विवचनात्तन्मध्यस्थं तिर्यग्रेखाद्वयम् । तदन्तराले । तद्रेखयोर्मध्य ऋजुमार्गे परमफलस्य ज्या । किल निश्चयेन । यतो भूमध्यात्तदन्तरेण प्रतिवृत्तमध्यं पूर्वमुपकल्पितमत उपपत्तिसिद्धं तदनन्तरम् । कर्णमार्गे तदन्तराले न तत्तुल्यान्तरं किंत्वधिकं प्रतिमण्डलोच्चस्थानादग्रतः पृष्ठतो वा त्रिभमध्यस्थे प्रतिवृत्तग्रहे मकरादिषड्भान्तरगतं केन्द्रं भवति । तत्रान्त्यफलज्याग्ररूपात्प्रतिवृत्तस्थतिर्यङ्मध्ये रेखैकदेशादुपरि कोटिज्या भवति । त्रिभाधिकान्तरेण स्थितग्रहे तु कर्कादिषडभान्तर्गतं केन्द्रम् । तत्रान्त्यफलज्याग्रादधः कोटिज्या यतः कारणात्तदैक्यान्तरम् । तयोरन्त्यफलज्याकोटिज्ययोर्मृगकर्कादिकेन्द्रे क्रमेण योगोऽन्तरम् । अत्र भूगर्भे कक्षावृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखैकदेशप्रतिवृत्तस्थग्रहान्तर ऊर्ध्वाधररेखारूपा स्पष्टा कोटिः स्यादित्यर्थः । एतत्कोटिमूलसंबंधिकक्षावृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखैकदेशभूमध्ययोरन्तरं भुजज्या तुल्यं भुजः । तयोरुक्तकोटिभुजयोर्वर्गयोगात्पदम् । कुमध्यप्रतिमण्डलस्थखेटान्तरे । कुवृत्तस्य मध्यं बिन्दुस्थानम् । प्रतिवृत्तस्थग्रहचिह्नं तयोरन्तरे रेखारूपः कर्णः स्यात् । कर्णोपयोगमाह—स्पष्टखग इति । हि यतः श्रुतिसूत्रसक्ते कर्णाकारेण यत्सूत्रं तत्संलग्ने । कक्षावृत्तपरिध्येकदेशस्थाने स्पष्टग्रहः । अतः कर्ण आवश्यक इति भाव । ननु किं नाम स्पष्टत्वमत आह—दृश्य इति । यत्र ग्रहः कक्षावृत्तप्रदेशे भूगर्भस्थैर्दृश्यस्तत्स्थाने मेषादितो यो भोगः स स्पष्टो ग्रहभोग इत्यर्थः । अयं भावः । ग्रहस्य कक्षावृत्ते भ्रमणाभावात्प्रतिवृत्ते तद्भ्रमणाद्भूगर्भस्थैः प्रतिवृत्तस्थो ग्रहः स्वदृक्सूत्रेण यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेण दृश्यते तत्र स्पष्टो ग्रहभोगः । यद्यपि प्रतिवृत्तस्थो ग्रहोऽहर्गणानुपातसिद्ध एव दृश्यते तथाऽपि प्रतिवृत्ते क्रान्तिवृत्तानुसृतराश्यङ्कनाभावात्तद्राशीनां कल्पितत्वात्प्रति-

वृत्तस्थग्रहभोगः फलादेशार्थमनुपयुक्तः। दृक्सूत्रं तु कर्ण एव। तत्साधनार्थं स्पष्टा कोटिः क्लृप्ता। यद्यपि भूगर्भे मनुष्याणामभावस्तथाऽपि पृष्ठसमसूत्रसंबंधेन तद्भूगर्भे तेषामवस्थानान्न क्षतिः। फलस्वरूपमाह—फलमिति। चकारस्त्वर्थः। तेन फलमित्यस्यान्वय उत्तरत्र सुबोधः। कक्षावृत्तस्थमध्यस्फुटग्रहचिह्नयोर्मध्येऽन्तराले कक्षावृत्तपरिध्येकदेशे। फलस्य तद्धनर्णतास्वरूपमाह—मध्य इति। कक्षावृत्ते स्पष्टग्रहस्थानान्मध्यग्रहचिह्ने। अग्रगे राशिक्रमानुरुद्धमार्गेणाग्रिमभागस्थे तत्फलमृणं ततस्तस्मिन्मध्यग्रहभोगे क्रियते। पश्चिमभागस्थे धनं क्रियते। चकारादुक्तरीत्यैव मन्दफलं शीघ्रफलं मेषादितुलादिकेन्द्र ऋणधनं धनर्णं स्पष्टाधिकारोक्तं सिद्धमित्यर्थः॥१५॥१६॥१७॥

केदारदत्तः—कक्षावृत्त और मन्दप्रतिवृत्त की केन्द्रगत पूर्वापरा दोनों रेखाओं का लम्ब रूप अन्तर का नाम अन्त्यफल ज्या होता है।

मकरादि केन्द्र में कोटिज्या ऊर्ध्वंगत एवं कर्कादि केन्द्र में अधोगत होती है।

अन्त्य फलज्या और मध्य कोटिज्या का मृग कर्कादि केन्द्र वश योगान्तर स्पष्टा कोटि होती है। स्पष्टा कोटि और भुजज्या का वर्गान्तर मूल कर्ण मान होता है। कर्णाग्र में भूमध्य से प्रतिमण्डलस्थ मध्यमग्रह तक गई रेखा का नाम ग्रह कर्ण होता है। कक्षावृत्त कर्णसूत्र के सम्पात गत बिन्दु पर स्पष्ट ग्रह दृश्य होता है।

कक्षावृत्तस्थ मध्यम स्पष्ट ग्रहों का अन्तर चाप मान फलचाप और फलज्या होता है। मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह आगे रहने से फल धन एवं मध्यम ग्रह से स्पष्ट ग्रह की पश्चिम पश्चात् की स्थिति से फल ऋण होता है।

उपपत्ति—क्षेत्र दर्शन से अतिसुस्पष्ट है।

प्रतिवृत्त में मृगादि कर्कादि केन्द्र से म, या मं = मध्यमग्रह स्प या स्पं = स्पष्ट ग्रह।

भूगर्भ से मध्यम ग्रह म, मं तक गया सूत्र = भू म या भू मं = कर्ण सूत्र है।

मृगादि केन्द्र में म त + तह = मह = स्पष्टा कोटि

कर्कादि केन्द्र में मंट—टय = मंय = स्पष्टा कोटि

मह^2 = ह भू^{2} + भू मं अथवा म य^2 + भू य^2 = कर्ण^2 का मूल = भू म, या भू मं = कर्ण का मान ज्ञात करते हुए—

$$\frac{\text{स्पष्टा केन्द्रज्या} \times \text{अन्त्य फलज्या}}{\text{कर्ण}} = \text{स्पष्ट फलज्या का चाप}$$

= मं स्प अथवा म स्पं = होता है जो सम्यगुणपन्न होता है॥१५॥१६॥१७॥

इदानीं मन्दस्फुटं मध्यमं प्रकल्प्य शीघ्रफलं यत्साध्यते तदुपपत्तिमाह—

मध्यो हि मन्दप्रतिमण्डले स्वे मन्दस्फुटो द्राक्प्रतिमण्डले च।
भ्रमत्यतश्चञ्चलकर्मणीह मन्दस्फुटो मध्यखगः प्रकल्प्यः॥१८॥

वा० भा०—मन्दकर्मपूर्वकं शीघ्रकर्मेत्येतत्स्पष्टार्थम्॥१८॥

मरीचिः—ननूक्तयुक्त्या भौमादिफलक्रमानुपपत्तिः। तथा हि। उक्तरीत्या मन्दशीघ्रोच्चयोः कक्षायां दानात्तदभिमुखस्वान्त्यफलज्याचिह्नाभ्यां मन्दशीघ्रप्रतिवृत्तसंबंधिकर्णसूत्रसंबन्धेन कक्षावृत्ते स्पष्टग्रहस्थानद्वयम्। तत्र मध्यग्रहचिह्नं मन्दप्रतिवृत्तसंबन्धेन कक्षावृत्ते यदन्तरेण स्पष्टग्रहस्थानं तदन्तरं मन्दफलम्। मध्यग्रहचिह्नाच्छीघ्रप्रतिवृत्तसंबन्धेन कक्षावृत्ते यदन्तरेण स्पष्टग्रहस्थानं तदन्तरं शीघ्रफलम्। तथा च भौमादीनां फलद्वयस्य मध्यग्रहादुत्पत्तेः। केन फलेन ग्रहस्पष्टत्वं ज्ञेयमेकेन तदन्यतरेणेति चेत्तदितरस्य वैयर्थ्यापत्तेः। केन तदन्यतरफलेन स्पष्टत्वं भवतीत्यस्यानिर्णयाच्चेत्यत इन्द्रवज्रयोत्तरमाह—**मध्य इति।**

हि यतः। मध्योऽहर्गणानुपातसिद्धभोगात्मको ग्रहः स्वे निजे मन्दप्रतिमण्डले। परस्परग्रहप्रतिवृत्तसंबन्धाशङ्कावारणार्थं स्वे इत्युक्तम्। भ्रमति पूर्वगत्या गच्छति। अतो मन्दफलसंस्कृतो ग्रहो मन्दस्फुटः। न स्फुटः। कारणमाह–मन्दस्फुट इति। मन्दफलसंस्कृतमध्यग्रहः। द्राक्प्रतिमण्डले बिम्बात्मकरूपेण शराभावे भ्रमति। चकार एवकारार्थकस्तेन मध्यग्रहः शीघ्रप्रतिवृत्ते शीघ्रफलसंस्कृतो मन्दप्रतिवृत्ते भ्रमतीति शङ्कानिरासः। तथा च मन्दप्रतिवृत्ते बिम्बात्मकरूपेण भ्रमणाभावान्मन्दफलसंस्कृतो न स्फुट इति भावः। अतः कारणाच्छीघ्रकर्मणि तन्निमित्तमित्यर्थः। इह कक्षायां मन्दस्फुटः प्रदेशविशेषचिह्नात्मको मध्यग्रहः प्रकल्प्यः। वस्तुतस्तस्य मध्यत्वाभावात्। अहर्गणानीतस्यैव मध्यत्वाभ्युपगमाच्च। ननु शीघ्रफलं मध्यग्रहादानेयम्। तथा च कक्षायां मध्यग्रहस्थानसत्त्वेऽपि मन्दप्रतिवृत्ते मध्यमग्रहो भवति तथा तत्सिद्धकक्षास्थितमन्दस्फुटः शीघ्रप्रतिवृत्त उक्तरीत्या देयः। मन्दस्फुटकक्षाप्रदेशकर्णसमसूत्रेण ग्रहबिम्बादर्शनात्। तत्त्वहर्गणानीतस्तत्संबन्धेन कर्णमार्गे यः कक्षाप्रदेशस्तन्मार्गेण शीघ्रप्रतिवृत्तस्थग्रहबिम्बदर्शनात्स कक्षाप्रदेशभोगः स्पष्टग्रहस्येति भौमादिफलक्रमोपपत्तिः। ग्रहबिम्बस्यैकत्वेन मन्दशीघ्रप्रतिवृत्तयोस्तस्य युगपद्भ्रमणासंभवात्। कालनियमे तु मन्दशीघ्रफलयोर्गणितसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च। एकफलसंस्कारेण ब्रह्माद्यार्यैर्भौमादिबिम्बानामदर्शनोपलम्भात्। ग्रहबिम्बस्यैकत्वेन तस्य शीघ्रप्रतिवृत्तेऽवस्थानान्मन्दप्रतिवृत्ते मध्यमध्यग्रहावस्थानं तन्मध्यग्रहज्ञानार्थं कल्पितं न वस्तुभूतम्। तत्र बिम्बमन्यथा शीघ्रफलानुपपत्तेः। विपरीतक्रमावस्थानकल्पनं त्वार्षोक्तफलदानक्रमदर्शनेन सूर्यचन्द्ररीतिविपरीतरीतिकल्पनगौरवेण च निरस्तमिति तात्पर्यम्। यत्तु कक्षामण्डलनेमिगं दिविसदश्चिह्नं स मध्यग्रहो यन्मन्दप्रतिमण्डले स च मृदुस्पष्टः स्फुटः शैघ्रग इति। तत्र मध्यमन्दस्फुटयोरेव मन्दशीघ्रप्रतिवृत्तयोः क्रमेण दानोक्तेः स्फुटत्वानुपपत्तिश्च ॥१८॥

केदारदत्तः—शीघ्र फल साधन की युक्ति बतायी जा रही है—गणितागत मध्यम ग्रह अपमे प्रतिमण्डल वृत्त में, और मन्दस्पष्ट ग्रह अपने शीघ्र प्रति वृत्त में भ्रमण करता है। इसलिये जिस प्रकार मन्द कर्म गणित से मन्दस्पष्ट ग्रह का ज्ञान कक्षावृत्त में हुआ है उसी प्रकार मन्दस्पष्ट ग्रह को मध्यम ग्रह मानकर उक्त साधनिका से शीघ्रफल संस्कार द्वारा स्पष्ट ग्रह का ज्ञान करना चाहिये। ध्यान रहे कि सूर्य और चन्द्रमा के स्पष्टीकरण के लिये मात्र मन्दफल साधन पर्याप्त है उसी प्रकार भौमादि ५ तारा ग्रहों का मन्द–

स्पष्टीकरण के अनन्तर उनकी स्थिति शीघ्र प्रतिवृत्त में होती है न कि कक्षावृत्त में अत एव शीघ्र प्रतिवृत्तीय ग्रह ज्ञान पूर्वक पुनः उनके मन्दस्पष्ट ग्रहों में मन्दफल साधन के अनन्तर शीघ्रफल साधन और उसका संस्कार आवश्यक होता है तभी भौमादि ५ पंचतारा ग्रह सुस्पष्ट होते हैं।

उपपत्ति—पूर्व क्षेत्र से आगत स्पष्ट ग्रह को मन्द स्पष्ट ग्रह समझ कर मन्दस्पष्ट ग्रह = मध्यम ग्रह स्थानीय मान कर प्रतिवृत्त क्षेत्र भङ्गी द्वारा जो ग्रह कर्ण आवेगा उसे शीघ्र कर्ण समझ कर कर्णानुपात से साधित मन्दफल = शीघ्रफल समझ कर मन्दस्पष्ट ग्रह में धन वा ऋण, शीघ्र फल संस्कार से स्पष्ट ग्रह सिद्ध होते हैं। यही उपपत्ति है ॥१८॥

इदानीमुच्चोपपत्तिमाह—

भ्रमन्ग्रहः स्वे प्रतिमण्डले नृभिः स यत्र कक्षावलये विलोक्यते।
स्फुटो हि तत्रास्य फलोपपत्तये प्रकल्पितं तुङ्गमिहाऽऽद्यसूरिभिः ॥१९
यः स्यात्प्रदेशः प्रतिमण्डलस्य दूरे भुवस्तस्य कृतोच्चसंज्ञा।
सोऽपि प्रदेशश्चलतीति तस्मात्प्रकल्पिता तुङ्गगतिर्गतिज्ञैः ॥२०॥
उच्चाद्भषट्कान्तरितं च नीचं मध्यः स्वनीचोच्चसमो यदा स्यात्।
कक्षास्थमध्योपरि कर्णसूत्रपातात्स्फुटो मध्यसमस्तदानीम् ॥२१॥

वा० भा०—उच्चदेशात्क्रमेण चलितस्य फलप्रवृत्तिर्दृश्यते। अतस्तुङ्गं कल्पितम्। शेषं स्पष्टम्। मध्यगतिवासनायां च सविस्तरमुक्तम् ॥१९॥२०॥२१॥

मरीचिः—ननूक्तच्छेद्यके ग्रहदानं कक्षायां प्रतिवृत्ते च युक्तम्। तत्स्पष्टस्वरूपावगमस्य विना तद्दानमशक्यत्वात्परं तूच्चदानं तत्र किमर्थम्। उच्चपदार्थस्याऽऽकाशे दर्शनाभावेनावस्तुभूतत्वादित्यतो वंशस्थवृत्तेन तदुत्तरमाह—**भ्रमन्निति**।

स्वे प्रतिमण्डले मन्दशीघ्रप्रतिवृत्ते स क्रमेणाहर्गणानीतमध्यो मन्दस्फुटो ग्रहो भ्रमन्गच्छन्पूर्वतो नृभिर्भूपृष्ठस्थैर्मनुष्यैः कक्षावृत्ते यत्र यस्मिन्प्रदेशे दृश्यते तत्प्रदेशकर्णसमसूत्रेण भूगर्भसंबन्धद्वारा दृश्यत इत्यर्थः। तत्र तत्कक्षाप्रदेशे। हि यतः स्फुटो यथायोग्यं मन्दस्फुटस्पष्टग्रहयोर्भोगोऽतो ग्रहस्य कक्षावृत्ते मध्यस्फुटग्रहयोरन्तरं फलम्। तदुपपत्तये तदुत्पादनार्थम्। इह कक्षावृत्ते। चाऽऽद्यसूरिभिः प्राचीनगोलतत्त्वाभिज्ञैस्तुङ्गं यथायोग्यं मन्दशीघ्रोच्चं प्रकल्पितं दत्तम्। प्रकल्पितमित्यनेनाऽऽकाशे तददर्शनादवस्तुभूतमपि फलानुपपत्त्याऽङ्गीकृतमित्यर्थः। तथा च मध्यस्फुटग्रहचिह्नयोरन्तररूपफलस्य मध्यस्फुटभुजान्तररूपत्वेन दर्शनात्तस्योच्चरेखाधीनत्वाच्च तज्ज्ञानार्थमुक्तरीत्योभयत्र वृत्त उच्चदानमावश्यकम्। अत एव त्रिज्याहता कर्णहृता भुजज्या तच्चापबाह्वोर्विवरं फलं वेत्युक्तं स्पष्टाधिकारे। अन्यथा फलोपजीव्यभुजकोटिज्ययोः स्वरूपदर्शनानुपपत्त्या कथमपि तत्साधितफलमुपपत्तिसिद्धं न स्यादिति भावः ॥१९॥

ननु फलोपपत्त्यर्थमूर्ध्वरेखासंबन्ध्युच्चसंज्ञं कुतः कृतम्। तदितसंज्ञापेक्षायां कारणाभावादित्यतस्तदुत्तरमुच्चगत्युपपत्तिं चोपजातिकयाऽऽह—**यः स्यादिति**।

भुवो भूगोलगर्भात्प्रतिमण्डलस्य यः प्रदेशो दूरे स्यात्तस्य प्रदेशस्योच्चसंज्ञा कृता। उच्चत्वात्। तथा च ग्रहाधिष्ठितप्रतिवृत्तस्य भूगर्भे मध्यप्रदेशाभावाद्भूमध्यात्प्रतिवृत्तमेकदेशेनोच्चं भवत्येवेति तत्प्रदेशादूर्ध्वरेखाया भुजज्यादिमूलत्वादतस्तत्प्रदेशान्मेषादिभोगमिति ज्ञानार्थमुच्चमहर्गणानुपातसिद्धत्वमुक्तम्। तत्रोच्चभोगज्ञानार्थमेव कक्षायामुच्चप्रदेशाभावेऽप्युच्चस्थानमङ्कितमिति भावः। ननूच्चप्रदेशस्यैकत्वेनाहर्गणानुपातसिद्धोच्चं प्रतिदिनविलक्षणमसंगतम्। नहि कक्षावृत्तं विलोमगत्या प्रत्यहं किंचिच्चलति। येन तदुपपत्तिः। कक्षाप्रदेशस्याऽऽकाशरूपत्वेन चलनासंभवादित्यत आह—सोऽपीति इति। यतः स प्रतिवृत्तसंबन्धी प्रदेशश्चलति। कक्षायामितस्वपूर्वगत्या भवति। यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेणापि यद्दिने तद्द्वितीयदिने तत्कक्षाप्रदेशाग्रिमप्रदेशस्य समसूत्रेणभव तीत्यर्थः। अपिशब्दात्प्रतिवृत्तप्रदेशस्याऽऽकाशरूपत्वेन स्थिरत्वेऽपि वाय्वात्मकत्वकल्पनेन तद्गमनमन्यथानुपपत्त्या कल्प्यत इत्यपि सूचितम्। तस्मात्कारणात्तुङ्गगतिरुच्चस्य गतिः प्रत्यहं गतिज्ञैस्तद्विशेषसूक्ष्मप्रमेयाभिज्ञैः प्रकल्पिता। अनेनावस्तुभूतमपि दृष्टफलोपपत्तिप्रतिपादनार्थमङ्गीक्रियत इति स्पष्टमुक्तम्। तथा च यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रस्थप्रतिवृत्तोच्चस्थानादुक्तरीत्या फलमुपपादितं यद्दिने [तत्] द्वितीयदिने तदुक्तरीत्यैव तदुच्चस्थानादवगतफलं ब्रह्मादिभिर्विसंवादि दृष्टम्। तत्कर्णसिद्धस्पष्टग्रहस्थानद्वारा ग्रहबिम्बादर्शनात्। तैश्च पूर्वोच्चस्थानात्किंचिदन्तरेण कक्षामार्गे सव्ये उच्चस्थाने कल्पिते। तस्मादुक्तरीत्या प्रतिवृत्तकरणेनोक्तरीत्या द्वितीयदिने फलसंवाददर्शनादुच्चं प्रतिक्षणं विलक्षणमस्तीति कल्पितम्। तदुपपत्त्यवगमार्थं च भूगर्भादन्त्यफलज्यायुतत्रिज्याव्यासार्धेन यद्वृत्तमाकाशरूपं तत्र यद्दिने यस्मिन्प्रदेश उच्चं तद्द्वितीयदिने तस्मात्सव्येनाग्रिमप्रदेश उच्चमिति विनिगमनाविरहात्क्रमेण तद्वृत्तप्रदेशानामुच्चत्वमङ्गीकृतम्। तत्रोच्चस्थाने प्रतिवृत्तोच्चप्रदेशपरिध्येकदेशसंलग्नताया आवश्यकत्वादन्यथोच्चत्वव्याघात इति भूगर्भादन्त्यफलज्यान्तरेण प्रतिवृत्तमध्यमनुदिनं सव्येन चलतीति कल्पनात्प्रतिवृत्तमेव चलितं तच्चलनेन कक्षायामुच्चं चलतीति सिद्धम्। अनेकप्रतिक्षणकल्पितप्रतिवृत्तेभ्यः कल्पितैकप्रतिवृत्तगतिकल्पनस्य लघुभूतत्वान्न क्षतिरुक्तार्थ इति भावः ॥२०॥

नन्वनुभवविरुद्धमुच्चचलनं कथमङ्गीक्रियत इत्यतोऽस्य फलोपपत्तये प्रकल्पितं तुङ्गमिति कुत इति पूर्वपक्षोत्तरकथनच्छलेनेन्द्रवज्रया तदुत्तरमाह—**उच्चादिति**।

उच्चस्थानात्षड्राश्यन्तरेण प्रतिवृत्ते कक्षायां वा यत्स्थानं तत्र नीचं···काराद्यथोच्चं चलति तथा नीचमपि चलति। तयोरूर्ध्वरेखासंबन्धेन षड्राश्यन्तर इति नियमात्। यदा यस्मिन्नभीष्टकाले मध्याहर्गणानीतो मन्दस्फुटो वेति यथायोग्यम्। स्वनीचोच्चसमो मान्द्यं शैघ्र्यं स्वपदेन विवक्षितम्। तच्च तन्नीचोच्चं च यथायोग्यं तत्तुल्यं स्यात्तदानीं तदभीष्टकाले। स्फुटो ग्रहो मन्दफलसंस्कृतः शीघ्रफलसंस्कृतो वा मध्यसमः। यथायोग्यमहर्गणानी—

तेन मन्दस्फुटेन वा तुल्यः स्यात् । कुत इत्यतो हेतुमाह—कक्षास्थमध्योपरीति । कक्षावृत्तस्थं यदुक्तरूपं मध्यचिह्नं तदुपरि भूगर्भात्प्रतिवृत्तगतग्रहोपरि नीयमानं सूत्रं कर्णस्तस्य स्वानुरुद्धमार्गेण यत्सूत्रं कक्षामण्डलावधिः । तस्य पातात्संबन्धात् । कक्षाप्रदेशकर्णसूत्रसंपाते खलु स्पष्टग्रहस्थानम् । तत्प्रकृते मध्यग्रहस्थानं एव सिद्धम् । कर्णस्योर्ध्वरेखैकदेशत्वेन सिद्धत्वादित्यर्थः । तथा च नीचोच्चतुल्यग्रहे मध्यस्फुटयोरभेदात्फलाभावः । तदग्रतः पृष्ठतश्च ग्रहे मध्ये स्फुटग्रहचिह्नयोर्भेदात्तदन्तरं फलमुत्पद्यतेऽतो यथोच्चनीचाभ्यामन्तरितग्रहस्तथा फलं भवतीत्युच्चं तद्विप्रकर्षजनितफलज्ञानार्थमुपयुक्तमिति सम्यगुक्तमस्य फलोपपत्तये प्रकल्पितं तुङ्गमितीति भावः । एवं च यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेण मध्यतुल्यः स्पष्टो ग्रहो दृष्टस्तथा द्वितीयपरिवर्ततत्कक्षावृत्तप्रदेशसमसूत्रेण मध्यतुल्यः स्पष्टो दृष्टः । किंत्वन्यप्रदेशसमसूत्रेण दृष्ट इति फलाभावे ग्रह एवोच्चं तच्चलनं प्रत्यक्षप्रमाणान्न किंचिदनुभवविरुद्धमिति तात्पर्यम् ॥२१॥

केदारदत्तः—उच्च स्थान की उपपत्ति बताई जा रही है—

पूर्व कथन में उच्च ग्रहों का अन्तरांश चाप को केन्द्र चाप और केन्द्रचाप की ज्या को केन्द्र ज्या कहा गया है। ग्रह तो अपने वृत्त में वेधादि क्रम से दृश्य है किन्तु उच्च पदार्थ दृश्य नहीं है। उसे कैसे ज्ञात किया गया ? (इत्यादि इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के पूर्व ग्रहगणिताध्याय की शिखा नामक हिन्दी भाष्य ले० केदारदत्त जोशी में देखिए।)

अपने प्रतिमण्डलस्थ पूर्वाभिमुख गमनशील ग्रह को भूपृष्ठस्थ द्रष्टा या वेध करने वाला गणितज्ञ अपनी कक्षा में जहाँ पर ग्रह को देखता है वह स्पष्ट ग्रह होता है। मध्यम ग्रह के तुल्य स्पष्ट ग्रह दृश्य नहीं है। मध्यम ग्रह में धन वा ऋण फल संस्कार से सिद्ध मध्यम ग्रह स्पष्ट ग्रह होता है अर्थात् फल तुल्य चाप के तुल्य आगे या पीछे आकर्षितमध्य ग्रह स्पस्ट ग्रह रूप में देखा गया है। अतः फल तुल्य चाप का आकर्षक कोई स्थान विशेष विन्दु का नाम उच्च विन्दु होता है।

भूमि से अत्यन्त दूरी पर ग्रह कक्षागत विन्दु का नाम उच्च विन्दु है, दीर्घ समय तक वेध करने से उस उच्च बिन्दु की (राश्यादि गणनया) राशि आदि का ज्ञान किया गया है। यह प्रदेश भी गतिमान है इसलिए ग्रहगणितज्ञों से इस बिन्दु की भी गति का ज्ञान किया गया है।

उच्च बिन्दु से ६ राशि की दूरी पर उसी कक्षा में नीचाकर्षक बिन्दु नीच राशि होती है।

उच्च राशि के तुल्य ग्रह की स्थिति में कर्ण कोटि सूत्र की एकता वशेन स्पष्ट केन्द्र ज्या $= \infty =$ मध्य केन्द्र ज्या $= 0$ अतः $0 \sim 0 = 0$ अर्थात् उच्च स्थान स्थित ग्रह की स्थिति में फलाभाव समीचीन है। वेधोपलब्धि ही यहाँ—उपपत्ति है ॥१९॥२०॥२१॥

इदानीमन्यदाह—

उच्चस्थितो व्योमचरः सुदूरे नीचस्थितः स्यान्निकटे धरित्र्याः ।
अतोऽणुबिम्बः पृथुलश्च भाति भानोस्तथाऽऽसन्नसुदूरवर्ती ॥२२॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥२२॥

इदानीमन्यद्वक्तुं प्रकारान्तरमाह—

उक्ता मयैषा प्रतिवृत्तभङ्ग्या युक्तिः पृथक् श्रोतुरसंभ्रमार्थम् ।
स्पष्टीकृतेस्तां पुनरन्यथाऽहं नीचोच्चवृत्तस्य च वच्मि भङ्ग्या ॥२३॥

वा० भा०—इह किल स्पष्टीकरणयुक्तिः प्रतिवृत्तभङ्ग्या मयोक्ता। अथ तामेव नीचोच्चवृत्तभङ्ग्या वच्मि ॥२३॥

इदानीं तां भङ्गिमाह—

कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नतोऽथ वृत्तं लिखेदन्त्यफलज्यया तत् ।
नीचोच्चसंज्ञं रचयेच्च रेखां कुमध्यतो मध्यखगोपरिस्थाम् ॥२४॥
कुमध्यतो दूरतरे प्रदेशे रेखायुते तुङ्गमिह प्रकल्प्यम् ।
नीचं तथाऽऽसन्नतरेऽथ तिर्यङ्नीचोच्चमध्ये रचयेच्च रेखाम् ॥२५॥
नीचोच्चवृत्त भगणाङ्कितेऽस्मिन्मान्दे विलोमं निजकेन्द्रगत्या ।
शैघ्र्येऽनुलोमं भ्रमति स्वतुङ्गादारभ्य मध्यद्युचरो हि यस्मात् ॥२६॥
अतो यथोक्तं मृदुशीघ्रकेन्द्रं देयं निजोच्चाद् द्युचरस्तदग्रे ।
दोर्ज्योच्चरेखावधि खेटतः स्यात्तिर्यक्स्थरेखावधि कोटिजीवा ॥२७॥

वा० भा०—प्रागवत्कक्षावृत्तं चक्रांशाङ्कितं कृत्वा तत्र मध्यग्रहं च दत्त्वा ग्रहचिह्नेऽन्त्यफलज्याप्रमाणेनान्यद्वृत्तं लिखेत्। तन्नीचोच्चवृत्तसंज्ञम्। अथ भूमध्याद्ग्रहोपरिगता रेखा किंचिद्दीर्घा कार्या। साऽत्रोच्चरेखा। नीचोच्चवृत्ते भूमेर्दूरतरे प्रदेशे रेखावृत उच्चं प्रकल्प्यम्। आसन्ने रेखायुते नीचम्। नीचोच्चचिह्नाभ्यां मत्स्यमुत्पाद्य तिर्यग्रेखा मध्ये कार्या। तस्मिन्वृत्ते केन्द्रगत्योच्चस्थानादारभ्य मध्यग्रहो भ्रमति। मान्दे विलोमं शैघ्र्येऽनुलोमम्। अतः कारणान्मन्दकेन्द्रमुच्चाद्विलोमं देयम्। शीघ्रकेन्द्रमनुलोमम्। तदग्रे ग्रहः। अत्रापि ग्रहोच्चरेखान्तरे दोर्ज्या। ग्रहतिर्यग्रेखयोरन्तरे कोटिज्या ॥२४॥२५॥२६॥२७॥

मरीचिः—ननु फलान्यथानुपपत्त्या ग्रहस्थितिप्रतिवृत्तेऽस्तीति कल्पनेन वस्तुतस्तत्र तस्य स्थितिरित्यत उपजातिकयाऽऽह—**उच्चस्थित इति।**

उच्चस्थितो ग्रहो बिम्बरूपो भूगोलादविदूरे स्यात्। नीचस्थितो ग्रहो भूगोलादति समीपे स्यात्। अतित्वं यस्माद्ग्रह ऊर्ध्वमधश्चाधिकं न स्यात्तत्त्वम्। अतो दूरनिकटस्थत्वा-

त्क्रमेणाणुबिम्बः सूक्ष्मबिम्बः पृथुलः स्थूलबिम्बो भाति। भूपृष्ठस्थमनुष्याणां भासते। चकाराद्यथोच्चाद्ग्रहस्यान्तरं तथा तथा बिम्बं वर्धते नीचाद्यथाऽन्तरं तथा ह्रसतीति सूचितम्। भातीत्यनेन ग्रहबिम्बस्याविकृतस्य दर्शनं तथा भवति। ननु वस्तुतस्तदुपचयापचयाविति द्योतितम्। तथा च प्रतिवृत्तस्थग्रहस्योच्चस्थाने भुवो दूरस्थत्वाद्ग्रहबिम्बं सूक्ष्मम्। नीचस्थाने निकटत्वान्महद्दृश्यत इति प्रत्यक्षानुभवादुच्चस्थानान्नीचस्थत्वं कालक्रमेणैव संभवतीति ग्रहस्य प्रतिवृत्तावस्थानं तत्त्वत एव। कक्षावृत्तस्थत्वे तु तस्य भूमितोऽभितस्तुल्यान्तरत्वादविकृतग्रहबिम्बदर्शनापत्तेस्तदितरवृत्तावस्थाने मानाभावाच्चेति भावः। नीचस्थोऽपि कदाचित्सूक्ष्ममूर्तिर्दृश्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—भानोरिति। सूर्यात्सकाशादासन्नसुदूरवर्ती ग्रहः पूर्वापरान्तरेण क्रमेण तथा। अत एवाणुबिम्बो महाबिम्बश्च भाति। तथा च सूर्यमण्डलाद्यथा ग्रह आसन्नस्तथा सूर्यकिरणप्रतिहतनयनैर्ग्रहबिम्बं निष्प्रभमल्पं च दृश्यत इति सूर्यासन्नस्य नीचस्थत्वेऽप्यल्पमूर्तिदर्शनमविरुद्धं सूर्यमण्डलाद्यथा ग्रहेऽतिदूरे तथा सूर्यकिरणाप्रतिहतनयनैर्ग्रहबिम्बं सप्रभं महच्च दृश्यते। अत एव कालांशान्तरेणास्तोदयारम्भौ। न सूर्यसांनिध्यदूरत्वाभ्यां ग्रहबिम्बापचयोपचयौ। तस्याविकृतत्वादन्यथा तद्वशेनापि बिम्बसाधनापत्तेरिति भावः ॥२२॥

अथोक्तमुपसंहरन्नुपपत्तिप्रतिपादकप्रकारान्तरमिन्द्रवज्रया प्रतिजानीते—**उक्तेति**।

स्पष्टीकृतेः स्पष्टाधिकारोक्तगणितक्रियाया युक्तिः पदार्थस्वरूपक्षोदरूपा एषा प्रतिपादिता। प्रतिवृत्तभङ्ग्या प्रतिवृत्तरचनया मया भास्कराचार्येण उक्ता। ननु

ग्रहपरफलमौर्व्या दत्तयोर्ध्वे कुमध्यात्प्रतिबलयमिदं स्याद्व्यासखण्डेन वृत्तम्।
भवति हि निजकक्षामण्डलाग्रे यदन्यत्परफलगुणवृत्तं स्वोच्चनीचाख्यमेतत्।

इत्यादिना पूर्वाचार्यैः प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तयोः कक्षावृत्ते लिखनप्रतिपादनात्तद्विरुद्धं केवलं प्रतिवृत्तरचनं कथमुक्तमित्यत आह—पृथगिति। श्रोतुः स्पष्टीकृतिवासनाजिज्ञासोः। असंभ्रमार्थम्। सम्यगपनेतुमशक्यो यो भ्रमस्तत्त्वाज्ञानं तद्विरुद्धोऽसंभ्रमस्तत्संपादननिमित्तं शिष्यस्य तत्र दुरूहतयाऽबोधो मा भवत्वियेतदर्थमित्यर्थः। पृथङ्नीचोच्चवृत्तव्यतिरेकेण केवलं प्रतिवृत्तरचनयोक्तेत्यर्थः। तथा च शिष्याणां पूर्वोक्तौ वृत्तद्वयसद्भावादेक एव ग्रहस्तत्रात्र च कथं भ्रमतीति भ्रमो भवति। तद्वृत्तमुच्चाभिमुखमुल्लिखेदित्याद्यनुक्तेश्च मया युक्त्युपजीव्यमात्रमेव तदुक्तमधिकृत्यागेनोक्तमित्यविरुद्धमिति भावः। ननु नीचोच्चवृत्ते यज्ज्ञानं तत्प्रतिवृत्ते कथं स्यादिति तत्यागोऽनुचित इत्यत आह—तामिति। स्पष्टीकृतिवासनाम्। पुनर्द्वितीयवारम्। अन्यथा—उक्तरीत्यन्यरीत्या। नीचोच्चवृत्तस्य भङ्ग्या अहं भास्कराचार्यः समनन्तरमेव वच्मि। अत्रापि पृथक्श्रोतुरसंभ्रमार्थमित्यन्वेति। तेन प्रतिवृत्तत्यागात्केवलं नीचोच्चवृत्तरचनया युक्तिं वदामीत्यर्थस्तथा च तज्ज्ञानसंभवान्न क्षतिरिति भावः। नत्वे(न्वे)वमेकत्र तदुभयलिखनं पूर्वाचार्योक्तं युक्तम्। लाघवात्। त्वदुक्तं च गौरवादयुक्तमित्यत आह—च भूय इति। भूयस्तृतीयवारमित्यर्थः। च समुच्चये। तेनोभयमप्येकत्र

लिखित्वा मिश्ररचनया तद्वासनां बच्मीत्यर्थः। तथा च पूर्वोक्तमपि लघुभूतमत्राऽऽदृतम्। तत्र लीलयैव श्रोतॄणां बोधोत्पत्त्यर्थं मया पृथक्प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तभङ्ग्या गुरुभूतमपि पूर्वमत्यावश्यकतयोक्तमिति नायुक्तमिति नायुक्तं मदुक्तं मदुक्तमिति। भावः ॥२३॥

तथ प्रतिज्ञातं विवक्षुः प्रथममुपजातिकया नीचोच्चवृत्तोर्ध्वरेखारचनमाह—**कक्षास्थेति**।

अथ त्रिभज्यकासंमितकर्कटेनेत्यादिना पूर्वोक्तेनाभीष्टस्थाने भगणाङ्कितकक्षावृत्तसंपादनानन्तरमित्यर्थः। कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नतः कक्षावृत्ते मेषादिस्थानान्मध्यग्रहभोगेन यत्स्थानं तच्चिह्नादित्यर्थः। अन्त्यफलज्याव्यासार्धेन वृत्तं लिखेत्। तत्संज्ञामाह—तदिति। लिखितं वृत्तं नीचोच्चसंज्ञं भवति। तत्रैकामूर्ध्वरेखां कुमध्यतो भूवृत्तमध्यबिन्दुस्थानमारभ्येत्यर्थः। मध्यग्रहचिह्नं स्पृष्ट्वा नीचोच्चवृत्तपरिधिपर्यन्तं रचयेत्कुर्यात्। चकारात्कुमध्यतः कक्षास्थसषड्भग्रहचिह्नपर्यन्तं रेखा कार्या। एवं वृत्तत्र[य]स्पृष्टैकोर्ध्वरेखा भवति। कक्षावृत्ते कुमध्यस्पृष्टा तिर्यग्रेखा ग्रहचिह्ना त्रिभान्तरेण कक्षापरिध्येकदेशसक्ताग्रा कार्या ॥२४॥

नन्वन्त्यफलज्योत्पन्नं वृत्तं नीचोच्चसंज्ञं कुत इत्यत उत्तरं तत्समचतुर्भागकरणं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—**कुमध्यत इति**।

कुमध्यतो मध्यबिन्दुस्थानात्। इह कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नमध्यकान्त्यफलज्याव्यासार्धवृत्तपरिधौ। दूरतरे प्रदेशे। अतिदूरस्थितो यः परिधिप्रदेशैकदेशस्तस्मिन्नित्यर्थः। तुङ्गमुच्चं प्रकल्प्यं तच्चिह्नमङ्कनीयमित्यर्थः। प्रकल्प्यमित्यनेन ग्रहविम्बे तत्स्थेऽणुबिम्बदर्शनादुच्चस्थानं सुज्ञेयमन्यथा तज्ज्ञानमशक्यमाकाशे वृत्तानामदर्शनादिति सूचितम्। नन्वतिदूरस्थप्रदेशस्यास्मिन्वृत्ते कथं ज्ञानं स्यादत आह—रेखायुत इति। ऊर्ध्वरेखाग्रसक्ततत्परिध्येकदेश एव दूरस्थानमिति भावः। कुमध्यस्थानादासन्नतरेऽतिनिकटे। तथा चान्त्यफलज्याव्यासार्धवृत्तपरिध्येकदेशोर्ध्वरेखायुतिप्रदेशे नीचं कल्प्यम्। अत्रापि तत्स्थग्रहस्य स्थूलबिम्बदर्शनान्नीचत्वमुच्चस्थानादत्यन्तमिति ज्ञानमन्यथा नेति सूचितम्। तथा च कुमध्यग्रहस्यातिदूरसमीपयोस्तदन्तरेणाभितो भ्रमणादुच्चनीचस्थानसक्तपरिधिवृत्ततन्मध्यस्थकक्षाप्रदेशादन्त्यफलज्याव्यासार्धेन भवतीति तद्वृत्तं नीचोच्चसंज्ञमुभयसंबन्धादिति भावः। अथानन्तरम्। नीचोच्चमध्ये तत्संज्ञवृत्तमध्ये। चकारादूर्ध्वरेखायास्तिर्यक्रेखाग्रहमध्यचिह्नसक्तान्नीचोच्चचिह्नाभ्यामुभयतः समानान्तराग्रं कुर्यात्। मध्य इत्यनेन तिर्यग्रेखा वृत्ततो बहिर्न नेया किंतु वृत्तपरिधिसक्ताग्रा कार्येति सूचितम् ॥२५॥

अथात्र फलवासनोपयुक्तकर्णस्वरूपं विवक्षुः प्रथमं तदुपजीव्यं भुजज्याकोटिज्यास्वरूपसंस्थानमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—**नीचोच्चेति**।

यस्मात्कारणात्। मध्योऽहर्गणानीतो ग्रहो मान्दे मन्दफलवासनोपजीव्यभूते शैघ्र्ये शीघ्रफलवासनोपजीव्यभूते निजकेन्द्रगत्या मन्दनीचोच्चवृत्ते मन्दकेन्द्रगत्या मन्दोच्चगतन्यूनग्रहमध्यगत्या शीघ्रनीचोच्चवृत्ते शीघ्रकेन्द्रगत्या ग्रहगत्यूनशीघ्रोच्चगत्येत्यर्थः। मन्दशीघ्रक्रमेण विलोममपसव्यमार्गेण कक्षायां यत्क्रमेण गच्छति तद्विपरीतमार्गेणेत्यर्थः। अनुलोमं

सव्यमार्गेण कक्षायां यत्क्रमेण ग्रहचिह्नं भवति प्रत्यहं तन्मार्गेणेत्यर्थः। स्थतुङ्गान्मन्द-नीचोच्चवृत्ते मन्दोच्चस्थानात्। शीघ्रनीचोच्चवृत्ते शीघ्रोच्चस्थानादित्यर्थः। आरभ्य तदुच्चस्थानं पूर्वावधि कृत्वेत्यर्थः। भ्रमत्युक्तमार्गं क्रमेण प्रत्यहं गच्छतीत्यर्थः। हि निश्चयेन। तेन मन्दनीचोच्चवृत्ते ग्रहः कक्षागमनमार्गाद्विपरीतमार्गेण गच्छतीत्यतिविरुद्धम्। एकग्रहबिम्बेऽविरतविरुद्धगत्योराश्रयत्वानुत्पत्तेः। नहि ग्रहस्वरूपं द्वेधा दर्शनाभावात्। शीघ्रप्रतिवृत्तेऽपि तथा कल्पनापरोश्चेत्थाशङ्का निरस्ता। एतदाशङ्कावारणस्य वक्ष्यमाणत्वा-दिति सूचितम्। अतः कारणाद्भगणाङ्किते द्वादशराशिभागकलाविकलाङ्किते। अस्मिल्लि-खिते नीचोच्चवृत्ते। मृदुशीघ्रकेन्द्रं निजोच्चान्मन्दनीचोच्चवृत्ते मन्दोच्चस्थानान्मन्दकेन्द्रं शीघ्रनीचोच्चवृत्ते शीघ्रोच्चस्थानाच्छीघ्रकेन्द्रम्। यथोक्तमपसव्यसव्यक्रमेण देयम्। केन्द्र-भोगगणनया वृत्ते चिह्नं कार्यमित्यर्थः। केन्द्रदानप्रयोजनमाह—द्युचर इति। तदग्रे उच्च-केन्द्रचिह्नाग्रस्थितवृत्तपरिध्येकदेशस्य केन्द्ररूपत्वात्तन्मूलमुच्चस्थानं केन्द्रचिह्नं तदग्रस्थानमतः केन्द्राग्रचिह्नम्। द्युचरः। ग्रहचिह्नं कार्यम्। तथा नीचोच्चवृत्त उच्चस्थानात्केन्द्र-भोगान्तरेण ग्रहचिह्नं कार्यमित्यर्थः पर्यवस्यति। ग्रहचिह्नप्रयोजनमाह—दोर्ज्येति। खेटतः कृतग्रहचिह्नादुच्चरेखावधि ऊर्ध्वरेखापर्यन्तम्। ऋज्वी रेखाऽर्धज्याकारा भुजज्या स्यात्। ग्रहचिह्नान्नीचोच्चवृत्तस्थतिर्यग्रेखापर्यन्तमर्धज्याकारोध्र्वाधरा रेखा कोटिज्या स्यात्॥२६॥२७॥

केदारदत्तः—ग्रहबिम्ब कभी महान् कभी लघु क्यों दीखता है—

उच्चराशिगत ग्रह धारित्रीं से अत्यन्त दूर होने से छोटा बिम्ब एवं नीच राशिगत ग्रह धरित्री के समीप होने से बड़ा दिखाई देता है। उत्पत्ति स्वयं सिद्ध उपलब्धि है॥२२॥

ग्रह साधन की जो युक्ति मैंने पूर्व में बता दी है उसे स्पष्टीकरणवासना की जानकारी चाहने वाले गणितज्ञों के असंभ्रमार्थं; अर्थात् जो अच्छी तरह नहीं हटाया जा सकता सुगमता से शिष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाय इसलिये नीचोच्च वृत्त भङ्गि द्वारा मैं उक्त विषय अर्थात् ग्रहस्पष्टीकरण को और अच्छी तरह स्पष्ट कर रहा हूँ यह आचार्योक्ति है॥२३॥

कक्षावृत्तीय मध्यग्रह चिन्ह केन्द्र से अन्त्य फलज्या तुल्य व्यसार्धं से निर्मित वृत्त में नीचोच्च रेखा जो भूगर्भ से मध्य ग्रहकेन्द्र गत रेखा तक गई है उसकी रचना करनी चाहिए। इस नीचोच्चवृत्त में भी भूगर्भीय रेखा सम्पात बिन्दु पर ऊपर में उच्च, और नीचे, नीच बिन्दु की कल्पना करनी चाहिए। इस नीचोच्च वृत्त में राशि, अंश, कलादि कल्पना चिह्न करने चाहिए। इस नीच्चोच्च वृत्त में भी मध्य ग्रह का भ्रमण होता है। उच्च से विलोम मन्द केन्द्र, और अनुलोम में शीघ्र केन्द्र समझ कर अनुपात से मन्द एवं शीघ्र फल साधन करने चाहिए।

उपपत्ति—इसी अध्याय के पूर्व क्षेत्र देखिये ।

ग्र = पारमार्थिक ग्रह ।

त = प्रतिवृत्तीय गणितागत ग्रह ।

स = कक्षा वृत्तीय ग्रह ।

क ग = मन्दान्त्यफलज्या ।

स्प व = मत ।

कन = केन्द्रज्या = ज्या के

$$\text{ग्र ल} = \frac{\text{क न} \times \text{ग्र म}}{\text{क स}} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{ग्र म}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{ग्र म} = \frac{\text{स्प ब} \times \text{क ग्र}}{\text{क स्प}} = \frac{\text{ज्या अं फ} \times \text{वास्तव कर्ण}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{ग्र ल} = \frac{\text{ज्या के}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{ज्या अं फ} \times \text{वास्तव कर्ण}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{त्रैराशिक से ज्या स्प म} = \frac{\text{ग्र ल} \times \text{क स्प}}{\text{क ग्र}} = \frac{\text{ज्या के}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{ज्या अं फ}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{वास्त क}}$$

$$= \frac{\text{ज्या के} \times \text{ज्या अ. फ}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्या के} \times \text{परिधि}}{३६} = \text{त मे} = \text{भुज फल} = \text{दो : फ}$$

भू केन्द्र से मन्द प्रति वृत्तस्थ मध्यम ग्रह तक मन्द कर्ण एवं शीघ्र प्रतिवृत्तस्थं मन्द स्पष्ट ग्रह तक शीघ्र कर्ण होता है । अपनी ग्रह कक्षा में गतिमान ग्रह के परम फल का नाम अन्त्य फल, इसकी ज्या = मन्दान्त्य फलज्या एवं शीघ्र गति वेग से शीघ्र प्रतिवृत्त गमन शील ग्रह के परम फल का नाम परम शीघ्र फल, इसकी ज्या को परम शीघ्रफलज्या कहा गया है ॥२४॥२५॥२६॥२७॥

इदानीं कर्णानयनं फलं चाऽऽह—

ये केन्द्रदोःकोटिफले कृते ते नीचोच्चवृत्ते भुजकोटिजीवे ।
त्रिज्योर्ध्वतः कोटिफलं मृगादौ कर्क्यादिकेन्द्रे तदधो यतः स्यात् ॥२८

अतस्तदैक्यान्तरमत्र कोटिर्दोर्दोःफलं भूग्रहमध्यसूत्रम् ।
कर्णोऽथ मध्यग्रहकर्णमध्ये फलं धनर्णं तदिहोक्तवच्च ॥२९॥

वा० भा०—पूर्वार्धं सुगमम् । कक्षावृत्ते व्यासार्धं किल त्रिज्या । त्रिज्याग्रादुपरि कोटिफलं यतो मृगादौ केन्द्रे भवति कर्क्यादौ तु तदधोऽतस्तदैक्यान्तरं स्पष्टा कोटिः । तस्मिंस्त्र्यस्रे भुजफलमेव बाहुः । भूग्रहान्तरं कर्णः । दोःकोटिवर्ग-

चोच्चवृत्ते मन्दोच्चात्केन्द्रगत्या विपरीतगमनं भवति । शीघ्रप्रतिवृत्ते शीघ्रोच्चाद्विपरीतगमनं तच्छीघ्रनीचोच्चवृत्तेऽनुलोमगमनं भवतीत्यर्थः । अत एव नीचोच्चवृत्ते भगणाङ्कितेऽस्मिन्नित्यादिना ग्रहचिह्नदानं प्रतिवृत्तस्थितिवैपरीत्येनैवोक्तम् । प्रतिवृत्तस्थित्यनुरोधादत्र ग्रहचिह्नकरणे तु कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नात्प्रतिवृत्तसंबन्धिकर्णसूत्रकक्षासंपातरूपस्पष्टग्रहस्थानं यदन्तरेण यद्दिशि तदन्तरेण नीचोच्चवृत्तसंबन्धिकर्णसूत्रकक्षासम्पातरूपस्पष्टग्रहस्थानं तद्विपरीतदिशीति फलधनर्णताव्यत्ययो (य इत्यर्थापत्तेः) । न च नीचोच्चवृत्तसंस्थायां कक्षावृत्ते पश्चिमानुक्रमेण राश्यङ्कनमतो धनर्णताव्यत्यय इति वाच्यम् । कक्षावृत्तस्य क्रान्तिवृत्तानुकारत्वेन तस्यैकत्वे तद्वैरूप्यासंभवात् । क्रान्तिवृत्तनीचोच्चवृत्तस्थपश्चिमानुक्रमराशिसद्भावकल्पनं च प्रत्यक्षं बाधादयुक्तम् । तत्स्पष्टग्रहस्थानसमसूत्रेण ग्रहबिम्बादर्शनाच्च । अतः प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तस्थित्यैक्यसम्पादनार्थं नीचोच्चवृत्ते तद्विपरीतगमनं ग्रहस्याभ्युपेयमवश्यमिति भावः । एतेन वामं क्रियादिरपि तुङ्गलवैस्तदुच्चान्मेषादितो दिविचरः क्रमतोऽत्र कल्प्य इति प्रतिवृत्तवन्नीचोच्चवृत्ते राशिक्रमस्थानं सिद्धान्तसुन्दरोक्तं तट्टीकाकृत्संमतं निरस्तम् । स्वर्णे तु मन्दस्फुटे । अग्रे पृष्ठगते मृदुस्फुटखगात्स्पष्टग्रहे केन्द्रस (ग) इत्यत्र वा व्यस्तरीत्या फलधनर्णताकथनापत्तेश्च । ननु तथाऽप्येकस्य ग्रहस्योभयत्रावस्थानासंभव इत्याशङ्का नापास्तेत्यत आह-एकेति । सा कक्षास्थराशिक्रममार्गरीत्यवगतप्रतिवृत्तमार्गसम्बन्धिनी ग्रहस्य गतिः, एका मुख्या । ग्रहस्य स्वशक्तिपूर्वगत्यङ्गीकारात्तस्याश्च प्रतिवृत्ते प्रत्यक्षत्वात्कथमन्यथा तत्र मन्दोच्चशीघ्रोच्चाभ्यामनुलोमप्रतिलोमयाने ग्रहस्य भवत इति ग्रहः प्रतिववृत्तस्य एवेति भावः । ननु फलस्वरूपस्य तदुभयप्रकारेणैक्यान्नीचोच्चवृत्तस्थ एव कथं न स्यादित्यत आह-प्रतिभानमिति । अन्यत्, नीचोच्चवृत्तग्रहस्य गमनं प्रतिभानं तत्स्थित्या प्रतिभासते । न वस्तुतो नीचोच्चवृत्ते ग्रहावस्थानगमने कक्षास्थराशिक्रमगमनस्य नीचोच्चवृत्तस्थग्रहानुत्पत्तेः । कथमन्यथा तत्र विलोमगमनं प्रतिवृत्तादिति भावः । ननु नीचोच्चवृत्ते ग्रहस्य तत्त्वतयाऽवस्थानाभावात्फलोपपत्तिज्ञानार्थं नीचोच्चवृत्तभङ्गी यथार्थी कथमुक्ता । फलोपपत्तेः प्रतिवृत्तभङ्ग्या ज्ञानसंभवादत आह—प्राज्ञैरिति । प्रकृष्टं जानन्तीति प्राज्ञाः । प्रज्ञादिभ्योऽणिति प्राज्ञास्तैः पूर्वाचार्यैस्तन्नीचोच्चवृत्तं फलार्थं फलवासनाबोधनिमित्तं परिकल्पितं न वस्तुभूतमुक्तम् । तथा चान्त्यज्यायाः प्रतिवृत्तभङ्ग्यामुपयुक्तत्वात्तस्याः सूर्याद्युक्तग्रहपरिधिव्यासार्धरूपत्वेन ज्ञानात्परिधेश्च वृत्ताश्रयत्वादन्त्यफलज्याव्यासार्धवृत्तं नीचोच्चवृत्तसंज्ञमार्षाभिमतमुपकल्पितम् । कथमन्यथा प्रतिवृत्तोत्पादनार्थमन्त्यफलज्यादानं शक्यमिति लाघवात्तत्रैव स्वबुद्धिवैभवेन फलोपपत्तिज्ञानप्रकार उपकल्पितः । अवस्तुभूतप्रकारेण फलस्वरूपतत्त्वबोधो वस्तुतः प्रतिवृत्तप्रकारः फलवासनाबोधार्थमवगतश्चेति भावः ॥३०॥३१॥

ननूभयत्र फलस्वरूपाभेददर्शनात्स्पष्टग्रहस्थानं भङ्गीद्वयेनैकत्रैव भवतीत्यवश्यमभ्युपेयं तत्कथं संभवति । प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तयोर्महल्लघ्वोर्ग्रहगमनस्यान्यथा प्रतिपादनादिति मन्दशङ्कायामुत्तरं मिश्रभङ्गिकथनरूपमुपजातिकयाऽऽह—**भङ्गीद्वयमिति** । भङ्गीद्वयं

प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तरचनाद्वयं पूर्वोक्तं विमिश्रं समुच्चयेनैककक्षावृत्ते यथोक्तं लिखितम्। अत्र लिखितायां मिश्रभङ्ग्याम्। वृत्तद्वये प्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तयोश्चेद्यदि यथोक्तदत्तः स्वस्वोक्तप्रकारेण चिह्नितो ग्रहश्चिह्न्यते तदानीं तर्हीत्यर्थः। नीचोच्चवृत्तप्रतिवृत्तसंयोग एकत्रैवमवश्यं नियमतो ग्रहः स्यात्। एकवृत्ते यथोक्तग्रहदानेन तद्वृत्तसंपाते ग्रहचिह्नं भवतीत्यतो द्वितीयवृत्ते व्यर्थग्रहदानमित्यस्य वारणार्थकोऽपिशब्दः। द्वितीयवृत्ते यथोक्तग्रहदानेन पूर्वग्रहचिह्ने चिह्नमायाति न वेति संशयनिरासादिति ध्येयम्। तथा च कक्षावृत्तपरिधेः प्रतिवृत्तपरिध्यासन्नस्थितस्याभितः संभवात्तत्परिध्योन्त्यफलज्याधिकान्तराभावात्कक्षावृत्तग्रहचिह्नात्प्रतिवृत्तस्थग्रहचिह्नस्यानतिदूरत्वान्नीचोच्चवृत्तस्य कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नमध्यत्वादनुलोमग्रहदानेन तत्संपात एकग्रहचिह्नं भवति। कथमन्यथा प्रकारद्वयेन कर्णभेदाः। भूगर्भग्रहयोरेकत्वादिति भावः ॥ ३२ ॥

ननु प्रतिवृत्तग्रहगमनान्नीचोच्चवृत्तग्रहगमनं विपरीतं फलवासनान्यथानुपपत्त्या कल्पितं न युक्तम्। एकस्य विरुद्धक्रियाद्वयाश्रयत्वासंभवेन वस्तुतस्तदसंभवात्। नहि कश्चिदपि तथाभूतं प्रसिद्धं येन तद्बलात्तथा कल्प्यम्। सर्वत्र कल्पनाया दृष्टानुरुद्धत्वादित्यतो दृष्टान्तेनोपजातिकया तत्साधयति—**यथेति**

यथा तैलिकयन्त्रमध्ये तिलानां घर्षणेन तैलं यद्यन्त्रात्तद्यन्त्रं लोके प्रसिद्धम्। तदुलूखलमध्ये काष्ठभ्रमो तिलपीडननिमित्तमूर्ध्वकाष्ठं प्रक्षिप्तं तस्य यः स्वतो भ्रमो गोभ्रमतो बलीवर्दभ्रमणाद्विपरीतो भवति। तत्र गौरपसव्यं भ्रमति तदूर्ध्वकाष्ठं तथा भ्राम्यमाणामपि स्वाङ्गेन सव्यं भ्रममुत्पादयतीत्यर्थः। तथा प्रतिमण्डलमार्गेण गच्छतो ग्रहस्य नीचोच्चवृत्ते भ्रमणं गमनमन्यत्-प्रतिमण्डलमार्गाद्विपरीतं भवति। अपिशब्दान्नीचोच्चवृत्तभ्रमणं न वस्तुभूतं किंत्वाभासमात्रं सूचितम्। तथा च प्रतिमण्डलग्रहगमनवत्कक्षायामपि मध्यग्रहगमनात्तदनुरोधेन नीचोच्चवृत्तस्यापि तत्र भ्रमणात्तत्र ग्रहभ्रमणं विपरीतं दृष्टान्तसिद्धमिति भावः ॥ ३३ ॥

केदारदत्तः—पूर्व गति से ग्रह प्रतिमण्डल में भ्रमण करता है। अतः फल साधन के लिये प्राचीनों से नीचोच्चवृत्तभङ्गि की सही कल्पना की गई है। प्रतिमण्डलीय ग्रह की गति इस मन्दनीच्चोच्च वृत्त में विलोम प्रणाली की गति होती है।

उदाहरण से बताया जा रहा है कि तेल पेराई के यन्त्र में स्थापित काष्ठ की गति चालक वृष की गति से विपरीत गति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसी प्रकार नीचोच्चवृत्त और प्रतिमण्डलीय वृत्तस्थ ग्रह एक दूसरे की गति सापेक्ष बाँये या दाहिने गमनशील गति के होते हैं। ॥३०॥३१॥३२॥३३॥

इदानीं मन्दशीघ्रकर्मद्वयेन स्फुटत्वे कारणमाह—

मध्यगत्या स्वकक्षाख्यवृत्ते व्रजेन्मन्दनीचोच्चवृत्तस्य मध्यं यतः।
तद्वृत्तौ शीघ्रनीचोच्चमध्यं तथा शीघ्रनीचोच्चवृत्ते स्फुटः खेचरः।३४।

शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यस्थितिं ज्ञातुमादौ कृतं कर्म मान्दं ततः ।
खेटबोधाय शैघ्र्यं मिथः संश्रिते मान्दशैघ्र्ये हि तेनासकृत् साधिते ।।३५।।

वा०भा०—नीचोच्चवृत्तभङ्गिपर्यालोचनयैवं परिणमतीति स्पष्टार्थम् ।।३४।।३५।।

मरीचिः - ननु तथाऽपि नीचोच्चवृत्तभङ्ग्यां कक्षावृत्तस्थमध्यग्रहचिह्नान्मन्दनीचोच्चवृत्तशीघ्रनीचोच्चवृत्तद्वयस्योल्लिखनात्तदनुरोधेन नीचोच्चवृत्तमध्यस्पष्टग्रहस्थानद्वयान्तरयोर्मन्दशीघ्रफलत्वात्केन फलसंस्कारेण ग्रहस्पष्टत्वं भवतीत्यतः स्रग्विण्याऽऽह—**मध्यगत्येति** ।

मध्यगत्या स्वकक्षाख्यवृत्ते मध्यगत्या ग्रहो गच्छेत् । ननु कक्षावृत्ते ग्रहावस्थानाभावादन्यथा फलानुपपत्तेः कथं तत्र मध्यगत्या ग्रहो गच्छतीत्यत आह—मन्दनीचोच्चवृत्तस्येति । यतः कारणान्मन्दनीचोच्चवृत्तस्य कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नं मध्यं स्यात् । तथा च ग्रहावस्थानाभावेऽपि मध्यग्रहभोगस्थानस्य कक्षायां सत्त्वात्कल्प्यते मध्यग्रहगमनं मध्यगत्या । अन्यथा मन्दनीचोच्चवृत्तं फलज्ञानार्थं कथमुल्लेख्यमिति भावः । एतेन शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नं नास्तीति मध्यग्रहस्थानाच्छीघ्रनीचोच्चवृत्तं नोल्लिखेदिति सूचितम् । ननु तर्हि शीघ्रनीचोच्चवृत्तं कस्मादुल्लेख्यमत आह—तद्वृत्ताविति । मन्दकर्णसूत्रसक्तकक्षावृत्तपरिधिप्रदेशे मन्दस्फुटस्थाने । मन्दनीचोच्चवृत्तादेव तत्कक्षाप्रदेशज्ञानात्तद्वृत्तावित्युक्तम् । ननु मन्दनीचोच्चवृत्तपरिधिस्थग्रहचिह्न इत्यर्थः । मन्दफलरीत्यवगतशीघ्रफलस्यानुत्पत्तेः शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यं भवति । तथा यथा मध्यग्रहस्थाने कक्षायां मन्दनीचोच्चवृत्तमध्यमस्ति तद्वदेव मन्दस्फुटग्रहस्थाने कक्षायामेव शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं भवतीति ततस्तदुल्लेख्यमिति भावः । शीघ्रनीचोच्चवृत्ते मन्दस्फुटग्रहभोगदाने यथास्थानं तत्र स्फुटो बिम्बस्वरूपो ग्रहः । तथा च मध्यग्रहादुभयोः फलयोरभावात्केन फलेन स्पष्टत्वमित्याशङ्कानवकाशः फलद्वयसंस्कारेण स्फुटग्रहभोगस्य ज्ञानादिति भावः ।। ३४ ।।

ननु शीघ्रनीचोच्चवृत्ते स्फुटग्रहावस्थानात्तस्य च मन्दफलसंस्कारेण ज्ञानाच्छीघ्रफलं व्यर्थमित्यतः फलद्वयसंस्कारक्रमोपपत्तिकथनच्छलेन तदुत्तरं तत्प्रसङ्गादन्यदपि स्रग्विण्याऽऽह—**शीघ्रनीचोच्चेति** ।

कक्षावृत्ते शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य मध्यस्थितिः केन्द्रावस्थानं ज्ञातुं शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं कक्षायां कुत्रेत्यस्य ज्ञानार्थं प्रथमं मान्दं कर्म मध्यग्रहे कृतं कक्षायां मन्दस्फुटभोगस्थानस्य तन्मध्यत्वात् । ततोऽनन्तरं खेटबोधाय शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्थितो ग्रहो येन कक्षाप्रदेशमार्गेण दृश्यते तत्कक्षाप्रदेशे तस्य स्फुटभोगज्ञाननिमित्तं शैघ्र्यं कर्म मन्दस्फुटे कृतम् । अथासकृत्साधनोपपत्तिमाह—मिथ इति । हि यतः कारणान्मान्दशैघ्र्ये फले परस्परं संश्रिते सापेक्षे । तेन कारणेन ते फले असकृदनेकवारं साधिते ।

अयमर्थः । मध्यग्रहो मन्दफलसंस्कृतो मन्दस्पष्टो भवति । तत्र मध्यमस्य स्थूलग्रहत्वात्तत्साधितमन्दफलं स्थूलम् । तत्संस्कृतः स्थूलो मन्दस्पष्टस्तत्साधितं शीघ्रफलं स्थूलमतः स्पष्टग्रहोऽपि स्थूलः । अतः स्फुटग्रहस्य वास्तवत्वेन तत्साधितमन्दफलं सूक्ष्ममतस्तत्संस्कारेण मन्दस्पष्टः सूक्ष्मस्तत्साधितशीघ्रफलं सूक्ष्ममतः शीघ्रफलं सूक्ष्ममन्दफलसापेक्षं मन्दफलं च स्फुटग्रहसापेक्षमिति पूर्वं स्फुटग्रहज्ञानाभावादसकृत्साधनेनोत्तरोत्तरं ग्रहसूक्ष्मत्वसिद्धिरिति स्पष्टाधिकारव्याख्याने बहूक्तमित्यलम् । यवनास्तु मन्दप्रतिवृत्ते यत्र शीघ्रोच्चभोगस्थानं तदभिमुखं मन्दप्रतिवृत्तकेन्द्राच्छीघ्रान्त्यफलज्यान्तरेण यत्स्थानं तन्मध्यत्वेन त्रिज्याव्यासार्धवृत्ते शीघ्रप्रतिवृत्तम् । तत्र मन्दप्रतिवृत्तकेन्द्रान्मन्दप्रतिवृत्तस्थशीघ्रोच्चभोगस्थानाभिमुखरेखा शीघ्रप्रतिवृत्ते यत्र लग्ना तत्र शीघ्रोच्चस्थानं मध्यं ततः शीघ्रोच्चभोगान्तरेण विपरीतेन यत्स्थानं तत्र मेषादिरस्मान्मध्यग्रहभोगान्तरेण क्रमेण यत्स्थानं तत्र ग्रहबिम्बभूगर्भाच्छीघ्रप्रतिवृत्तस्थमध्यम् । शीघ्रोच्चस्थानान्मन्दफलान्तरेण यत्र रेखा शीघ्रप्रतिवृत्ते ऋज्वी लग्ना तत्र स्फुटशीघ्रोच्चम् । ततो मन्दस्फुटभोगान्तरेण ग्रहबिम्बपूर्वविगतमेव । स्पष्टशीघ्रोच्चरेखातो ग्रहबिम्बपर्यन्तं शीघ्रप्रतिवृत्ते ऋज्वी रेखा भुजज्या । ग्रहबिम्बात्कक्षावृत्ततिर्यग्रेखापर्यन्तमृज्वी रेखा कोटिज्या । ग्रहबिम्बभूगर्भोत्तरसूत्रं शीघ्रकर्णः । कक्षावृत्ते यत्र शीघ्रकर्णसूत्रं लग्नं तत्र स्पष्टो ग्रहभोगः । तदानयनं च कोटिज्या मन्दस्पष्टग्रहः । तच्छीघ्रोच्चरूपकेन्द्रजशीघ्रप्रतिवृत्तकेन्द्रं यदन्तरेण भूगर्भान्तरेण मृगकर्कादिकेन्द्रवशाद्युतोनेति स्पष्टकोटिस्ततः पूर्वरीत्या भुजज्यया शीघ्रकर्ण इत्यादि ज्ञेयम् । नीचोच्चभङ्ग्या तु कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नान्मन्दनीचोच्चवृत्त उक्तरीत्या यत्र मध्यग्रहस्थानं तन्मध्यत्वेन शीघ्रान्त्यफलज्यया व्यासार्धवृत्तं शीघ्रनीचोच्चवृत्तं तत्र भूगर्भान्मन्दनीचोच्चवृत्तस्थग्रहस्थानरूपशीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यस्पृग्रेखा शीघ्रनीचोच्चवृत्तपरिधौ यत्र लगति तत्र शीघ्रोच्चं तद्रेखावशात्तत्र तिर्यग्रेखां संपाद्य भुजकोटिफले यथोक्ते एव मन्दस्पष्टग्रहदानेन । ततः शीघ्रकर्णस्य शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्थग्रहबिम्बभूगर्भान्तरसूत्ररूपस्याऽऽनयनं त्रिज्यास्थाने मन्दकर्णं धृत्वोक्तरीत्या ज्ञेयमेतन्मते तद्वृत्तौ शीघ्रनीचोच्चमध्यं तथेति यथाश्रुतं संगच्छत इत्याहुः ॥३५॥

केदारदत्तः—ग्रह अपनी मध्यमागति से मन्दनीचोच्च वृत्त में मन्दप्रतिवृत्तवृत्त में गमनशील गति की परिणामित मन्दनीचोच्च वृत्त में घूमता है। अत एव मन्दनीचोच्च वृत्त में ग्रह बिम्ब का केन्द्र होता है।

भौमादि पञ्च तारा ग्रहों की शीघ्रनीचोच्चवृत्त भ्रमण की मध्य केन्द्र स्थिति जानने के लिये सर्व प्रथम मन्दफल संस्कार कर मध्यम ग्रह को मन्दस्पष्ट ग्रह बनाना चाहिए।

मन्द स्पष्ट ग्रह ज्ञान के अनन्तर शीघ्र प्रतिवृत्त भङ्गि क्षेत्र द्वारा स्फुट ग्रह का कक्षा वृत्त में ज्ञान करना चाहिए। यही स्पष्ट ग्रह कक्षा वृत्त में कर्णाग्र संसक्त स्पष्ट ग्रह होता है। उपपत्ति—पूर्व में देखिये सुस्पष्ट है ॥३४।३५॥

इदानीं मन्दकर्मणि कर्णः किं न कृत इत्याशङ्क्योत्तरमाह—

स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह कर्णः कृतो नेति वदन्ति केचित् ।
त्रिज्योद्धृतः कर्णगुणः कृतेऽपि कर्णे स्फुटः स्यात्परिधिर्यतोऽत्र ।३६।
तेनाऽऽद्यतुल्यं फलमेति तस्मात्कर्णः कृतो नेति च केचिदूचुः ।
नाऽऽशङ्कनीयं न चले किमित्थं यतो विचित्रा फलवासनाऽत्र।३७।

वा० भा०—इह कर्णेन यत्फलमानीयते तदेव समीचीनम् । यन्मन्दकर्मणि कर्णो न कृतस्तत् स्वल्पान्तरत्वात् । मन्दफलानि हि स्वल्पानि भवन्ति । तदन्तरं चातिस्वल्पमिति केषांचित्पक्षः । ब्रह्मगुप्तोऽत्र कारणमाह–त्रिज्याभक्तः परिधिः कर्णगुण इत्यादि । मन्दकर्मणि मन्दकर्णतुल्येन व्यासार्धेन यद्वृत्तमुत्पद्यते तत्कक्षामण्डलम् । तेन ग्रहो गच्छति । यो मन्दपरिधिः पाठपठितः स त्रिज्यापरिणतः । अतोऽसौ कर्णव्यासार्धे परिणाम्यते । ततोऽनुपातः । यदि त्रिज्यावृत्तेऽयं परिधिस्तदा कर्णवृत्ते क इति । अत्र परिधेः कर्णो गुणस्त्रिज्या हरः । एवं स्फुटपरिधिस्तेन दोर्ज्या गुण्या भांशै ३६० र्भाज्या । ततस्त्रिज्यया गुण्या कर्णेन भाज्या । एवं सति त्रिज्यातुल्ययोः कर्णतुल्ययोश्च गुणहरयोस्तुल्यत्वान्नाशे कृते पूर्वफलतुल्यमेव फलमागच्छतीति ब्रह्मगुप्तमतम् । अथ यद्येवं परिधेः कर्णेन स्फुटत्वं तर्हि किं शीघ्रकर्मणि न कृतमित्याशङ्क्य चतुर्वेद आह—ब्रह्मगुप्तेनान्येषां प्रतारणपरमिदमुक्तमिति । तदसत् । चले कर्मणीत्थं किं न कृतमिति नाऽऽशङ्कनीयम् । यतः फलवासना विचित्रा । शुक्रस्यान्यथा परिधेः स्फुटत्वं भौमस्यान्यथा तथा किं न बुधादीनामिति नाऽऽशङ्क्यम् । अतो ब्रह्मोक्तिरत्र सुन्दरी ।।३६।।३७।।

मरीचिः—ननु मन्दशीघ्रफलवासनयोक्तरीत्या भेदाच्छीघ्रफलानयने कर्णानुपातवन्मन्दफलानयने कर्णानुपातः कथं नोक्त इत्याशङ्काया उत्तरमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह— **स्वल्पेति ।**

इह ग्रहगणितग्रन्थे । मृदुकर्मणि मन्दफलानयने । कर्णमन्दकर्णानुपातः । स्वल्पान्तरत्वात् विना तदनुपातं यत्फलं तदनुपाताच्च यत्फलं तयोरल्पान्तरत्वाद्यतो मन्दफलमेवाल्पमित्यर्थः । तथा च यत्र परमफलासन्नं फलं तत्र कर्णस्य त्रिज्यासन्नत्वेनाल्पान्तरं यत्र च कर्णस्य बह्वन्तरेण त्रिज्यातोऽधिकत्वं न्यूनत्वं वा तत्र फलस्यैवाल्पत्वेनाल्पान्तरमिति भावः । यथा भौमस्यान्त्यफलज्या २३/२० भुजज्या ११८ भुजफलं २२ । ५६ । ४० मन्दफलांशाः १० । ५८ । २० । कर्णा ११८नुपाताद्भुजफलं २३ । २० । मन्दफलांशाः ११ । १० अनयोरन्तरं द्वादश कला इत्यल्पमन्तरमिति । न कृतो नोक्तः । इत्येवं प्रकारेण मन्दकर्णानुपातानुक्तिं केचिदुपपत्तिज्ञा गणका वदन्ति, अङ्गी कुर्वन्ति । अथात्रास्मादूनस्य देशान्तरोदयान्तरभुजान्तरचरादिकस्य संस्कारो दत्तजलाञ्जलिकः स्यादित्यस्वरसात्केचिदित्युक्तिसूचिताद्ब्रह्मगुप्तोक्तं तत्समाधानमाह—त्रिज्योद्धृत इति । कर्णे मन्दकर्णानुपाते कृते । अपि-

शब्दान्न तत्कृतो मन्दफले विशेष इत्यर्थः । ननु सदा मन्दफलस्यानियतत्वेन त्रिज्यातुल्यत्वाभावान्मन्दफले तत्कृतविशेषो युज्यत एवेत्यतो हेतुमाह—त्रिज्येति । यतः कारणादत्र मन्दकर्मणि परिधिः प्रागुक्तमन्दपरिधिर्मन्दकर्णगुणास्त्रिज्याभक्तः स्फुटो मन्दपरिधिर्भवत । तादृशपरिधेः पुनः स्वेनाऽऽहते परिधिनेत्यादिना भुजकोटिफलानयनं समुचितम् । तेन कारणेन । आद्यतुल्यं उक्तपारिध्यानीतं फलं मन्दफलमायाति । एतदुक्तं भवति । ये प्रागुक्ता मन्दपरिधयस्ते कक्षावृत्ते त्रिज्यासार्धप्रमाणेन सूर्याद्यार्षैरुक्ताः कर्णव्यासार्धे प्रमाणे नापेक्षिताः ग्रहाणां कर्णाग्रे स्थितत्वात् । नहि व्यवधिकरणपरिधिना फलानयनमुचितम् । येनोक्तपरिध्यानीतं फलं युक्तं स्यात् । अतस्त्रिज्याव्यासार्धे उक्ताः परिधयस्तदा कर्णव्यासार्धे का इत्यनुपातेन कर्णव्यासार्धवृत्तरूपस्फुटकक्षाप्रमाणेन परिधयः । अत्र मन्दनीचोच्चवृत्तं कर्णाग्रे न किंतु त्रिज्याग्रे । अन्यथोक्तरीत्या फलानयनानुपपत्तेः । परमेतावान्विशेषस्त्रिज्याव्यासार्धवृत्ते मध्यग्रहस्थानमध्यान्मन्दनीचोच्चवृत्तं मन्दकर्णवशाद्वृहल्लघु भवति । तादृशपरिधिना तद्वृत्ते भुजकोटिफले कार्ये । एवमत्र कर्णोऽप्यसकृत्साध्यः । पूर्वकर्णाज्ञानादिति ज्ञेयम् । तथा च स्थिरमन्दकर्णान्मन्दपरिधिः साध्यस्तस्माद्भुजकोटिफले तद्वृत्ते स्थिरे ग्रहस्फुटक्रियोपजीव्ये ताभ्यां कर्णानुपातेन फले मान्दे स्फुटे । अतः पूर्वमुक्तपरिधेः स्फुटत्वार्थं कर्णो गुणस्त्रिज्याहरस्ततोऽन्ते त्रिज्यागुणः कर्णो हर इति गुणहरयोस्तुल्ययोर्नाशादुक्तपरिध्यानीतभुजकोटिफले मन्दफलज्यागतिफलोपजीव्यकोटिफले एव सिद्धे भवत इति मतमुसंहरति-तस्मात्कारणादन्ते समत्वेन कर्णानुपातयोर्नाशसंभवाल्लाघवादित्यर्थः मन्दकर्णानुपातः फलानयने न कृत इति । एवंप्रकारेण मन्दकर्णानुपातपरिहारं केचिद्ब्रह्मगुप्तश्रीपतिभट्टादयः ।

त्रिज्याभक्तः परिधिः कर्णगुणो बाहुकोटिगुणकाराः ।
असकृन्मान्दे तत्फलमान्द्यसमं नात्र कर्णोऽस्मात् ।।

त्रिज्यागुणः श्रुतिहृतः परिधिर्यतो दोःकोट्योर्गुणो मृदुफलानयनेऽसकृत्स्यात् । स्यान्मन्दमाद्यसममेव फलं ततश्च कर्णः कृतो न मृदुकर्मणि तन्त्रकारैरित्यादिवाक्यैरूचुराहुः । पूर्वमतादेतन्मतं सम्यगिति चार्थः । ननु एवं तत्त्वतो गुणिते तु कक्षामण्डलाश्रयमेव केन्द्रं तत्र च राशित्रये परमफलमागच्छति । युक्त्या च नोपपद्यते । शीघ्रफलतुल्यवासनत्वात्स्वल्पान्तरत्वात्तु तत्कृतमित्युक्तम् । त्रिज्याभक्तः कर्ण इत्यादि प्रतिमण्डलकक्षामण्डलयोः फलस्य स्वल्पान्तरप्रतिपादनपरं मन्दकर्मणि । अन्यथा पुनः शीघ्रकर्मणि तदेव स्यात् । न चैव शीघ्रकर्मण्यपि स्वल्पान्तरत्वात्तत्त्यागापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र परिधेरतिमहत्त्वेन बहुभागान्तरत्वादिति स्वल्पान्तरत्वान्मन्दकर्मणि न कार्य इति । चतुर्वेदाचार्योक्त्या पूर्वोक्तमेव समाधानं युक्तमस्मादित्यन्यतो ब्रह्मगुप्तमतं समर्थयति—नेति । चले शीघ्रफलानयने । इत्थं मन्दकर्णानुपातपरिहारोक्तिवच्छीघ्रकर्णानुपातपरिहारः किं कुतो न स्यात् । इत्थमित्यस्य पुनरावृत्तेरेवं चतुर्वेदाचार्योक्त्या शङ्कनीयं न । एवमाशङ्का न कार्येत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—यत इति । अत्र स्पष्टक्रियागणितोपपत्तिविचारे फलवासना मन्दशीघ्रफलयोरुपपत्तिर्विचित्रा

नानाविधा । नैकरूपेत्यर्थः । तथा च प्रतिमण्डलादिकं फलोत्पादनार्थं बुद्धिकृतानुकाशविभागेन कल्पितं तथोक्तमन्दपरिधयोऽप्यार्षग्रन्थे कर्णानुपातानुक्तिदर्शनात्त्रिज्यावृत्ते मध्यमकक्षावृत्ते कल्पिता उक्तशीघ्रपरिधयः कर्णानुपातानुक्तिदर्शनात्परमशरकलावत्कर्णाग्रे कल्पिता इति शङ्कानवकाशः । आरोपे सति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोप इति भावः । केचिदित्यस्वरसबीजं तु कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नान्मन्दपरिधिवृत्तस्य समुल्लिखनात्तस्य कर्णव्यासार्धवृत्तपरिध्यनुसृतपरिधित्वकल्पने मानाभावो वैयधिकरण्यं च । आगमश्चेत्कर्णानुपातानुक्तावेव लाघवात्कल्प्यतामिति । कल्पकास्तु मन्दकर्णसूत्रसक्तकक्षामण्डलप्रदेशे शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्ये मन्दस्फुटस्थानं न किंतु शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्थं यावनमते । मन्दप्रतिवृत्तस्थत्वान्मन्दप्रतिवृत्तकेन्द्रसमसूत्रेण मन्दप्रतिवृत्तग्रहचिह्नाभिमुखेन कक्षावृत्ते यत्र संपातस्तत्र शीघ्रनीचोच्चमध्यं मन्दस्फुटस्थानं हिन्दुकमते । एवं च कक्षावृत्ते मध्यमन्दस्फुटयोरन्तरं मन्दफलं तज्ज्यामन्दनीचोच्चवृत्तस्योच्चरेखा ग्रहान्तरतुल्यरेखारूपभुजफलतुल्येति मन्दकर्णानुपाताप्रसक्तिः शीघ्रकर्णसमसूत्रेण कक्षावृत्ते स्फुटभोगाङ्गीकाराच्छीघ्रकर्मणि शीघ्रकर्णानुपात इत्याहुस्तच्चिन्त्यम् । कर्णसमसूत्रेण ग्रहबिम्बदर्शनात्तत्समसूत्रसक्तकक्षाप्रदेशे स्पष्टग्रहभोगाङ्गीकारेण सूर्यचन्द्रयोर्मन्दकर्णानुपातं विना स्पष्टीकरणानुपपत्तेः । न च सूर्यचन्द्रयोर्मन्दप्रतिवृत्तस्थयोर्यत्सूत्रं मन्दप्रतिवृत्तमध्याभिमुखं यत्र कक्षावृत्ते लगति तत्र स्पष्टत्वं न कर्णसूत्रेणेति वाच्यम् । भौमादीनामपि शीघ्रप्रतिवृत्तकेन्द्राच्छीघ्रप्रतिवृत्तस्थग्रहबिम्बपर्यन्तं सूत्रं कक्षावृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पष्टो ग्रहभोग इति वि नगमकाभावादङ्गीकाराच्छीघ्रकर्मणि कर्णानुपातानुपपत्तेः । उक्तयुक्तेस्तुल्यत्वात् । अथ सूर्यचन्द्रयोः स्वल्पान्तरत्वात्कर्णानुपातत्याग इति चेद्भौमादिष्वपि तस्य परिहारत्वसंभवेन मन्दस्फुटस्फुटयोर्भिन्नरीत्या स्वरूपकल्पने गौरवात्प्रमाणाभावाच्च ॥३६॥३७॥

केदारदत्तः—मन्द फल एवं शीघ्र फल एवं दोनों फलों का गणित साधन मन्द कर्ण और शीघ्र कर्ण से अनुपात द्वारा साधन करना उचित है ।

शीघ्र फलानयन में कर्णानुपात किया गया है जो उचित है किन्तु मन्दकर्ण में कर्णानुपात नहीं किया गया है । मन्दकर्ण से भी अनुपात द्वारा फल साधन करना चाहिए किन्तु अत्यन्त अल्पअन्तर (अकृत कर्णानुपात से) होने से मन्दकर्म में कर्णानुपात त्यक्त किया गया है क्योंकि कर्णानुपात करने से जो फल मिलता है वह पूर्व साधित फल के आसन्न होता है, यहाँ पर स्वल्पान्तरत्वात् कर्णानुपात त्याज्य हुआ है ।

जो शीघ्रफल में भी शीघ्र कर्णानुपात अनावश्यक था ऐसा कहा जाय तो यह कथन उचित नहीं होने से यहाँ त्याज्य नहीं कर सकते क्योंकि फल साधन के गणित में अन्तर पड़ता है ।

उपपत्ति—मन्द कर्म में मन्द कर्णानुपात व्यासार्धं से जो वृत्त रचना हुई है उस वृत्त का नाम कक्षा मण्डल होने से उसी वृत्त में ग्रह चलता है—

पाठ पठित परिधि को त्रिज्या परिणत किया गया है अतः अनुपात से—

$$\frac{\text{पठित परिधि} \times \text{कर्ण}}{\text{त्रि}} = \text{कर्णाग्रीय स्फुपरिधि तथा मन्दफल}$$

$$\frac{\text{केन्द्रज्या} \times \text{स्प० परिधि}}{३६०} = \text{भुजफल}$$

स्फु० प० का उत्थापन देने से $= \frac{\text{केज्या} \times \text{पठित} \times \text{कर्ण}}{\text{त्रि} \times ३६०}$

इस समीकरण में कर्णानुपात करने से $= \frac{\text{केज्य} \times \text{पाठ. स्फु. प.} \times \text{कर्ण} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times ३६० \times \text{कर्ण}}$

$$= \frac{\text{केज्या} \times \text{पा. प. स्फु. प}}{३६०} = \frac{\text{केज्या} \times \text{भुज्या}}{\text{त्रि}} = \text{मन्द फ. उपपन्न है} ॥३६-३७॥$$

इदानीं नतकर्मवासनामाह—

प्राक्पश्चात् प्रतिमण्डलस्थखचरं द्रष्टा कुमध्यस्थितः
कक्षायां खलु यत्र पश्यति नतं नो तत्र भूपृष्ठगः ।
मध्याह्ने तु कुमध्यपृष्ठगनरौ तुल्यं यतः पश्यत-
स्तेनोक्तं नतकर्म लम्बनविधौ या युक्तिरत्रापि सा ॥३८॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाद्भ्रमन्ग्रहः स्वे प्रतिमण्डले नृभिः स यत्र कक्षावलये विलोक्यते । स्फुटे हि तत्रेत्युक्तमनुपन्नम् । भूगर्भे मनुष्याणामभावादित्याशङ्काया उत्तरं ब्रह्मगुप्तोक्तं नतकर्मेति केषांचिद्भ्रान्ति निरस्य च्छेद्यकलिखितभूवृत्तप्रयोजनं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—**प्राक्पश्चादिति ।**

प्राक्कपाले मध्यरात्रमारभ्य मध्याह्नपर्यन्तम् । पश्चिमकपाले मध्याह्नमारभ्य मध्यरात्रपर्यन्तम् ! अत्र ग्रहाणां स्वस्वदिनरात्र्यर्धाभ्यां कपालं ज्ञेयम् । तस्मिन्काले प्रतिमण्डलस्थग्रहं भूगर्भस्थो द्रष्टः कक्षायां यत्र यस्मिन्भागे यत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेण पश्यति तत्र तत्कक्षाप्रदेशसमसूत्रेणेत्यर्थः । भूपृष्ठस्थितोऽस्मदादिस्तं प्रतिवृत्तस्थं ग्रहं न पश्यति । आनीतकर्णमार्गस्थभूगर्भदृक्सूत्रत्वेन भूपृष्ठदृक्सूत्रत्वाभावात् । किंतु प्रतिमण्डलस्थग्रहभूपृष्ठचिह्नयोरन्तरसूत्रं भूपृष्ठदृक्सूत्ररूपं कक्षायां यत्प्रदेशे लगति तत्समसूत्रेण पश्यति। यथा च भूगर्भपृष्ठयोः स्पष्टग्रहभेदावश्यंभावादुक्तरीत्या भूगर्भ एव स्पष्टग्रहज्ञानद्भूगर्भपृष्ठदृक्सूत्रयोरन्तरं भूगर्भस्पष्टग्रहे भूपृष्ठस्पष्टग्रहभोगसिद्ध्यर्थं संस्कार्यमिति भावः । आर्षग्रन्थे तत्संस्कारानुक्तेर्भूपृष्ठस्थभूगर्भस्थदृक्सूत्रैक्यकल्पनान्न स्पष्टग्रहभेद इत्यस्य निरासार्थकः खलुशब्दस्तेन च्छेद्यके भूवृत्तलिखनेन भूगर्भपृष्ठयोः प्रत्यक्षं भेदाद्यथा भूगर्भप्रतिवृत्तस्थग्रहान्तरे कर्णसूत्रं तथा भूवृत्तपरिधिरूपभूपृष्ठप्रतिवृत्तस्थग्रहान्तरे भूपृष्ठग्रहदर्शनमार्गरूपः कर्णस्तद्भिन्नः प्रत्यक्ष इति कक्षायां ग्रहस्पष्टभोगभेदः प्रत्यक्षसिद्ध इति भूवृत्तलिखनं सप्रयोजनमिति सूचितम् । ननु

तद्दृक्सूत्रयोरन्तरं गणितेनासिद्धमित्यत आह—मध्याह्न इति । ग्रहमध्यंदिने । तुकारात्क-पालसंधिरूपे । तेन ग्रहमध्यरात्रेऽपीत्यर्थः । कुमध्यपृष्ठगनरौ भूगर्भपृष्ठस्थितौ यौ नरौ तौ तं प्रतिवृत्तस्थग्रहं तुल्यकक्षायां समभोगरूपं पश्यतः । यतः कारणात्तेन कारणेन । नतकर्म-स्पष्टाधिकारोक्तं ब्रह्मगुप्तसंमतं नतकर्म । उक्तं युक्तियुक्तमित्यर्थः । तथा च कपालसंधौ याम्योत्तरवृत्तस्थे प्रतिमण्डलस्थग्रहे भूगर्भाश्रितं सूत्रं यत्र कक्षाप्रदेशे लगति तस्माद्भूपृष्ठ-सूत्रं ग्रहोपरि नीतं खगोले याम्योत्तरान्तरे लगति तत्रास्माद्दृशैर्ग्रहो दृश्यात इति तत्सूत्रयोः पूर्वापरान्तराभावात्कक्षायां भोगः स्पष्टस्त्वभिन्न इति तत्सूत्रान्तरं नतवशा-दुत्पन्नमतो युक्तं सूर्यचन्द्रयोर्नतकर्म ब्रह्मगुप्ताभिमतमुक्तमन्येषां स्वल्पान्तरादुपेक्षितमिति भावः । एतद्दूषयति—नो इति । उपलब्धिसिद्धब्रह्मगुप्तोक्तनतकर्मण एतदुपपत्तिश्च-तुर्वेदाचार्याभिमता नो युक्ता । असंगतेत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—लम्बनविधाविति । लम्बना-नयनप्रकारे या युक्तिरस्ति सा युक्तिरत्रं सूत्रान्तरानयनेऽस्ति । अपिशब्दस्तदन्यरीतिव्यव-च्छेदार्थकः । तथा चोक्तनतकर्मणः सूत्रान्तरत्वेनोत्पत्तिकल्पने लम्बनोत्पत्तिसमत्वेन लम्ब-नोक्तरीत्या तदानयनापत्तेः । नहि लम्बनं नताव(दु)त्पद्यते येन विरोधः । नचाऽऽर्षग्रन्थे मध्यलग्नात्मकदशमभावाल्लम्बनस्योक्तेर्न विरोध इति वाच्यम् । तत्र त्रिभोनलग्नसदृक्क्षेप-साधनान्यथानुपत्त्या त्रिभोनलग्नादेव तत्साधनसमर्थनात् । न च लम्बनं त्रिभोनलग्ना-दिदं च नतादित्येव भेद इति वाच्यम् । एकरीत्युत्पन्नत्वेन तादृशनियमाङ्गीकारे नियामका-भावात् । किंच नतफलस्योक्तरीत्योत्पन्नत्वेन मन्दफलाभ्यां साधनानुपपत्तिः । सदा प्राक्क-पाले सर्वग्रहाणां हीनं पश्चिमकपाले युतमित्यस्योपपत्त्या सिद्धत्वाद्विधुः प्रागृणे फले युक्त इतोऽन्यथोन इत्यस्यासंगतत्वापत्तिश्च । ननु लम्बनोक्तरीत्यैव स्पष्टग्रहभोगज्ञानार्थं सूत्रा-न्तरमानेयम् । यथा हि यत्काले ग्रहः कर्तुमिष्टस्तत्काले तत्त्रिभोनलग्नस्य शङ्कुः साध्य-स्ततो मध्यगतिपञ्चदशांशेन गुण्यस्त्रिज्या भाज्यः फलं त्रिभोनलग्नग्रहान्तरज्यया गुण्यं त्रिज्यया भाज्यं फलं कलात्मकं स्पष्टग्रहे त्रिभोनलग्नान्न्यूनाधिके युतोनं भूपृष्ठे स्पष्टग्रहः स्यात् । एतेन—

> कर्णत्रिमौर्व्योर्विवरेण निघ्नः कर्णोद्धृतो भुक्तिशरेन्दुभागः ।
> तत्कालतत्खेटजलम्बनघ्नो वेदोद्धृतः स्युर्नतकर्मलिप्ताः ॥
> प्रथमागतलम्बेनाहतं निजभुक्तिफलं खषड्हृतम् ।
> अथवा नतलिप्तिकाग्रहे स्वमृणं खलु लम्बनोक्तवत् ।
> त्रिज्याल्पके तु श्रवणे गते वा घने फले स्वर्णमिदं विलोमम् ।
> चन्द्रार्कयोर्न ग्रहणे विधेयमेतन्नताख्यं खलु कर्म तज्ज्ञैः ॥
> इदं ग्रहाणां नतकर्मयुक्तं स्वल्पान्तरत्वान्न कृतं तु पूर्वैः ।
> चन्द्रार्कयोर्हि ग्रहणस्य कालान्नान्यत्र कालेऽस्य बहूपयोगः ॥

इति कस्यचिदुक्तं निरस्तम् । निरुपपत्तिकत्वात्परस्परं विरोधोक्तित्वाच्च । तस्मादे-तत्संस्कार आवश्यकोऽन्यथा भूपृष्ठे ग्रहज्ञानं कथमपि न स्यात् । भूगर्भे मनुष्याणामभावा-

त्तत्स्पष्टस्यात्रोपयोगाभावाच्चेति चेन्न । भूपृष्ठे भगोलस्य मध्यत्वाभावेन तच्चारभोगदर्शनस्य फलादेशानुपजीव्यत्वात् । भूगर्भे तन्मध्यत्वेन तच्चारभोगदर्शनस्याऽऽवश्यकत्वाच्च न तत्संस्काराद्ग्रह इति सूर्याद्यार्षाभिप्रायात् । कथमन्यथा तैः सूर्यग्रहणे लम्बनादिदृग्गोचरार्थं ग्रहसंस्करणरूपमुक्तम् । एतदुक्त्यैव तेषां भूगर्भपृष्ठभेदज्ञानावश्यंभानेव ग्रहफलत्वेनैत्फलस्योक्तौ लम्बनादिसाधनं व्यर्थम् । चन्द्रग्रहणेऽपि तदापत्तेश्च । तस्मात्स्वभूपृष्ठसमसूत्रसंबन्धनेन भूगर्भीयस्पष्टग्रह एव भूपृष्ठे स्पष्टग्रहः । अन्यथा भूपृष्ठानामनन्तत्वादेककालेऽनेकग्रहभोगापत्त्या तन्नक्षत्रादिचारेण देशजफलस्यानिश्चयापत्तेः । अत एव सर्वग्रहगणितजातं भूगर्भ एवाङ्गीकृतं न भूपृष्ठे । अन्यथाऽक्षांशचरादिकान्यपि तत्र भिन्नान्युक्तानि स्युः । दृक्प्रत्ययार्थं च भूपृष्ठे लम्बनादिकं साध्यम् । कथमन्ययाऽस्मादृशां सूर्यग्रहणप्रत्यय इत्यादि । एतेन नतमिति खचरविशेषणं कृत्वा नोकारस्य भूपृष्ठग इत्यत्रान्वयान्नतकर्म पूर्वमुक्तमिति तत्स्वरूपप्रतिपादनपरोऽयं श्लोक इति मत्वा परस्परविरुद्धार्थकत्वान्नायं मूलकृत्कृतः । नतमित्यस्य वैयर्थ्यात् । उक्तोपपत्त्या नतकर्मणोऽनुक्तत्वाच्चेत्यादि परास्तम् ॥३८॥

केदारदत्तः—ग्रहों में नत संस्कार लम्बनादि बताया जा रहा है। अपने खमध्य से पूर्व या पश्चिम कपालगत ग्रह को अपने प्रतिमण्डल में भूगर्भ दृष्टि से द्रष्टा जिस स्थल पर ग्रह को देखता है उस स्थल पर भूपृष्ठीय द्रष्टा की दृष्टि में नत होने से वहाँ पर वह ग्रह नहीं होता है कुछ आगे या पीछे दृष्टि में आता है।

तथा मध्याह्न समय में गर्भ और पृष्ठ सूत्र की एकता होने से दोनों (गर्भ पृष्ठ) दृष्टियों से एक ही स्थल पर ग्रह दर्शन होने से यहाँ नतकर्म प्राप्त नहीं होता हैं। अतः ग्रहों में नतकर्म संस्कार भी आवश्यक है जो सूर्य ग्रहण में लम्बन संस्कार की तरह यह संस्कार किया जाना चाहिए।

उपपत्तिः—सारा ग्रहगणित भूगर्भ केन्द्राभि प्रायिक होने से आकाशस्थ ग्रह स्थान भूगर्भ दृष्टि से सम्यक् ठीक होते हैं। किन्तु भूगर्भ से कोई आकाश देखेगा ? सम्भव नहीं है तो भी अनन्त ब्रह्माण्ड के किसी बिन्दु से जब पृथ्वी ही बिन्दु मात्र हैं तब तो पृथ्वी के गर्भ पृष्ठ की कल्पना भी व्यर्थ होती है। यहाँ पर पृथ्वी से दृश्य सौर मण्डलस्थ ग्रहों के स्थान दृश्यादृश्य का गणित किया जा रहा है जो भूगर्भ केन्द्र से सुसाध्य होता है। अतः द्रष्टा पृष्ठ स्थानीय होता है अतः भूपृष्ठ से ग्रहों को देखा जाता है, भूगर्भ केन्द्र से साधित गणित में गर्भ-पृष्ठ भेद जन्य संस्कार लम्बनवत् अपेक्षित है यहाँ पर जिसे नत संस्कार कहा गया है वह खमध्य से पूर्वापर कपालभेद से दृश्य योग्य होने के लिये नत कर्म आवश्यक होता है। ।।३८।।

इदानीं गतिफलाभावस्थानमाह—

कक्षामध्यगतिर्यग्रेखाप्रतिवृत्तसंपाते ।
मध्यैव गतिः स्पष्टा परं फलं तस्य खेटस्य ॥ ३९ ॥

वा० भा०—कक्षावृत्तमध्ये या तिर्यग्रेखा तस्याः प्रतिवृत्तस्य च यः संपातस्तत्र मध्येव गतिः स्पष्टा। गतिफलाभावात्। किंच तत्र ग्रहस्य परमं फलं स्यात्। यत्र ग्रहस्य परमं फलं तत्रैव गतिफलाभावेन भवितव्यम्। ययोरद्यतनश्वस्तनग्रहयोरन्तरं गतिफलम्। ग्रहस्य गतेर्वा फलाभावस्थानमेव धनर्णसंधिः। यत्पुनर्लल्लोक्तम्—

मध्यैव गतिः स्पष्टा वृत्तद्वययोगगे द्युचरे। इति।

ततदसत् नहि वृत्तद्वययोगे ग्रहस्य परमं फलम् ॥ ३९ ॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गात्पूर्वग्रन्थोक्तस्पष्टगत्यानयनभिन्नं स्वोक्तं स्पष्टगत्यानयनप्रकारमुपगीत्या छेदकोक्त्या समर्थयति—**कक्षामध्यगेति**।

कक्षावृत्तमध्ये विद्यमाना या तिर्यग्रेखा भूबिन्दुस्पृष्टा प्रतिवृत्तपरिध्येकदेशस्तयोः संपाते योगे कक्षावृत्तमध्यस्थतिर्यग्रेखासक्तप्रतिवृत्तपरिध्येकदेश इत्यर्थः। ग्रहस्येति। तस्य ग्रहस्य स्पष्टा गतिर्मध्या। एवकारेणात्र पूर्वग्रन्थोक्तप्रकारेणाऽऽनीतस्पष्टगतिनिरासः। मध्यगतितुल्या स्पष्टगतिरित्यर्थः। मध्यगतिस्तु मन्दस्पष्टगतिरेव। कुतस्तत्र मध्यगतितुल्या स्पष्टगतिरित्यत आह— परमिति। तत्र तादृशप्रतिवृत्तपरिध्येकदेशे ग्रहस्य शीघ्रफलं परमम्। तत्र प्रतिवृत्ते केन्द्रस्य परमफलयुतोनत्रिनवराशिमितत्वाद्भुजकोटिज्ययोः परमशीघ्रफलांशकोटिज्याभुजज्यामितयोः सत्त्वात्कर्कादिकेन्द्रत्वाच्च स्पष्टकोटेरभावाद्भुजज्यातुल्य एकः कर्णः। अतो घाताद्भुजज्यान्त्यफलज्ययोर्वा कर्णे तद्वृत्तादित्यनेन फलानयने भुजज्याकर्णयोर्गुणहरयोर्नाशादन्त्यफलज्याऽवशिष्टेति परमं शीघ्रफलमुत्पन्नमतस्तत्र कर्णस्य फलकोटिज्याल्पत्वेन फलांशखाङ्कान्तरशिञ्जिनिघ्नी द्राक्केन्द्रभुक्तिश्रुतिहृदित्यादिना गत्यानयने गुणहरयोस्तुल्यत्वेन नाशाच्छीघ्रकेन्द्रगतिरेवावशिष्टेति तदूनशीघ्रोच्चगतेरेव मन्दस्पष्टगतितुल्यस्पष्टगतित्वम्। युक्तं चैतत्। अद्यतनश्वस्तनग्रहयोरन्तरस्य गतित्वात्फलयोरन्तरस्य गतिफलत्वाद्ग्रहपरमफलं फलान्तराभावाद्गतिफलाभावोत्पत्तेर्निश्चयात्। मान्दकर्मणि ग्रहपरमफले गतिफलाभावनिश्चयाच्च। फलाभावस्थान एव धनर्णसंधित्वाच्च। एतेन मध्यैव गतिः स्पष्टा वृत्तद्वययोगगे द्युचर इति लल्लाद्युक्तं निरस्तम्। त्वदुक्तमार्गेण तत्र ग्रहपरमशीघ्रफलानुत्पत्तेः। अन्यथा प्रतिवृत्तकेवलपदान्ते प्रथमे तृतीये गतिफलाभावस्य भवदानीतस्य पूर्वग्रन्थविरुद्धस्य संगतत्वापत्तेः सर्वत्र मध्यमगतित्वापत्तेश्च ॥ ३९ ॥

केदारदत्तः—मध्यगतितुल्य स्पष्टगति स्थान बताया जा रहा है—

कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त के सम्पात बिन्दु पर ग्रह की मध्यमा गति ही स्पष्ट गति हो जाने से वहां पर मध्यमा गति = स्पष्टा गति हो जाती है। जिससे गति फल का अभाव हो जाता है, और फल का परमत्व हो जाता है।

उपपत्ति—ग्रह का जहाँ पर परम फल होता है वहां पर गति फल का अभाव होगा। क्योंकि अद्यतन स्पष्ट ग्रह श्वस्तन स्पष्ट ग्रह का अभाव ही गतिफल होने से स्वल्पान्तर से अद्यतन स्पष्ट गतिफल = श्वस्तन गतिफल = O = गतिफल का अभाव। उपपन्नम्।

लल्लाचार्य ने इस जगह पर "वृत्तद्वययोगे द्युचरे मध्यैव गतिः स्फुटा" कहा है

वस्तुतः दोनों वृत्तों के योगासन्न में परमफल की सत्ता होने से तत्र फलाभाव स्थानासन्न में ग्रह गति की धन वा ऋण स्थिति होती है। "अतः वृत्तद्वय योगे" लल्लाचार्य का यह कथन समीचीन नहीं है।॥ ३९॥

इदानीं ग्रहस्य वक्रत्वं छेद्यके यथा शीघ्रं दृश्यते तदर्थमाह—

वंशोद्भवाभिः प्रतिमण्डलाद्यं कृत्वा शलाकाभिरिदं यथोक्तम्।
प्रचाल्य तुङ्गं खचरं च गत्या वक्रादि सर्वं खलु दर्शयेद्राक् ॥४०॥

वा० भा०—वंशशलाकाभिश्छेद्यकं कृत्वा तत्राऽद्यतनस्फुटग्रहस्थानं चिह्नयित्वा द्वितीयदिन उच्चं ग्रहं चोच्चवशान्मेषादि च प्रकल्प्यान्यत्फुटग्रहस्थानं चिह्नयम्। तत्पूर्वचिह्नाद्यदि पृष्ठगतं तदा वक्रा गतिर्ज्ञेया ॥४०॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाद्वक्राविपरीतशुद्धावित्यत्र ग्रहस्य पूर्वगमनात्पश्चिमगतेरसंभावितत्वाशङ्कां छेद्यकोक्त्योपजातिकया निरस्यति—**वंशोद्भवाभिरिति।**

वंशोद्भवाभिः शलाकाभिः सरलस्निग्धवंशोत्पन्नशलाकाभिः। इदं प्रतिपादितम्। द्राक्प्रतिमण्डलाद्यं शीघ्रप्रतिमण्डलादिकम्। आदिपदात्कक्षावृत्तं तिर्यगूर्ध्वाधररेखासमलवकलाविकलाविभागाद्यङ्कनादिकं यथोक्तमुक्तरीत्या कृत्वा। प्रत्यहं तुङ्गं ग्रहं शीघ्रोच्चं मन्दस्पष्टग्रहं च। स्वगत्या प्रचाल्याङ्कितं कृत्वेत्यर्थः। वक्रादि। आदिपदान्मार्गगतिं सर्वगतिम्। सर्वं शीघ्रमन्दाद्यष्टविधगमनमार्गोक्तं गुरुः शिष्याय दर्शयेत्। खल्विति पदादवश्यं तत्र वस्तुतत्त्वनिश्चयो भवतीति सूचितम्। यथा हि—वंशशलाकजं कक्षावृत्तं भित्तौ दत्त्वा तत्र राशिविभागाद्यङ्केन मन्दस्पष्टग्रहं दत्त्वा शीघ्रोच्चं च दत्त्वा प्रतिवृत्तं तुल्यमेवान्त्यफलज्याग्रे मध्यं कृत्वा राशिभागाद्यङ्कितभित्तौ देयम्। तत्राप्युक्तरीत्या ग्रहमुच्चं चाङ्कयित्वा स्पष्टग्रहस्थानं कक्षावृत्ते ज्ञेयम्। एवं द्वितीयदिनेऽपि कक्षावृत्ते शीघ्रोच्चं मन्दस्पष्टग्रहं च दत्त्वोच्चोन्मुखान्त्यफलज्याग्रे मध्यं कृत्वा प्रतिवृत्तं भित्तौ देयम्। तत्र ग्रहोच्चयोर्दानेनोक्तरीत्या कक्षावृत्ते स्पष्टग्रहस्थानं ज्ञेयम्। तत्पूर्वदिनजस्पष्टस्थानादग्र एव भवति। नीचासन्ने तु पृष्ठत इति। वक्रगतिगानं कक्षावृत्ते न वस्तुतो वक्रा गतिः। प्रतिवृत्ते ग्रहस्य सत्त्वात्तत्र विपरीतगमनस्यासंभावितत्वादित्यादि स्पष्टाधिकारव्याख्याने बहूक्तमित्यलं पल्लवितेन ॥४०॥

केदारदत्तः—ग्रह की वक्रत्व का गति ज्ञान—

सुपक्व बाँस की लकड़ी को आरा आदि अस्त्र से चीर कर चिक्कन यथा माप की बाँस लकड़ी के खण्डों से अनेक गोल वृत्तों की रचना नियत एक नाप की त्रिज्या से बनाकर उन्हें मन्द प्रतिवृत्त और शीघ्रप्रतिवृत्त आदि वृत्तों से परिचित कर कक्षावृत्तीय बांस वृत्त से अन्त्यफलज्या तुल्य गर्भ केन्द्रान्तर द्वारा उनमें प्रथम दिन सम्बन्धी उच्च और ग्रह के अन्तर का द्वितीय दिन सम्बन्धी उच्च ग्रहान्तर समझ कर दोनों दिनों के

ग्रहों का अन्तर समझ कर यदि पूर्व दिन सम्बन्धी ग्रह चिह्न द्वितीय दिन सम्बन्धी ग्रह चिह्न से पृष्ठगत होता है तो तब ग्रह की वक्र गति समझनी चाहिए ॥४०॥

इदानीं केन्द्रसंज्ञां स्फुटकक्षां चाऽऽह—

वृत्तस्य मध्यं किल केन्द्रमुक्तं केन्द्रं ग्रहोच्चान्तरमुच्यतेऽतः ।
यतोऽन्तरे तावति तुङ्गदेशान्नीचोच्चवृत्तस्य सदैव केन्द्रम् ॥४१॥
ग्रहस्य कक्षा चलकर्णनिघ्नी स्फुटा भवेद्व्यासदलेन भक्ता ।
तद्व्यासखण्डान्तरितः कुमध्यात्स भ्राम्यते हि प्रवहानिलेन ॥४२॥

वा० भा०—श्लोकद्वयमपि स्पष्टम् ॥४१॥४२॥

मरीचिः—अथ ग्रहोच्चान्तरवशतो ग्रहफलोत्पत्तेस्तदन्तरं केन्द्रसंज्ञं कथमुक्तमत उपजातिकयाऽऽह—**वृत्तस्येति** ।

किल यतः केन्द्रसंज्ञमुक्तमतः कारणाद्ग्रहोच्चान्तरं केन्द्रसंज्ञं सूर्यादिभिरुच्यते । ननु वृत्तमध्यभागस्य केन्द्रत्वे ग्रहोच्चान्तरस्य केन्द्रत्वं कुत इत्यत आह—यत इति । यतः कारणात् । उच्चदेशात्तावति ग्रहोच्चान्तररूपेऽन्तरे कक्षावृत्ते मध्यग्रहस्थाने नीचोच्चवृत्तस्य । एवकारात्तदतिरिक्तवृत्तनिरासः । तदा नित्यं केन्द्रं भवति । अतो ग्रहोच्चान्तरं केन्द्रसंबन्धात्केन्द्रसंज्ञमुक्तमित्यर्थः ॥४१॥

ननु ग्रहस्य प्रतिवृत्तस्थत्वात्प्रवहानिलेन भ्रमणे रात्रिदिनयोः सदा महदन्तरितत्वापत्तिः । प्रतिवृत्तप्रदेशयोर्भूगोलोभयतो बृहदल्पयोः सत्त्वादिति मन्दाशङ्कामुपजातिकया परिहरति—**ग्रहस्येति** ।

ग्रहस्य योजनात्मिका मध्याधिकारोक्ता कक्षा शीघ्रकर्णगुणत्रिज्यया भक्ता स्फुटा योजनात्मिका ग्रहस्य कक्षा भवति । अत्र हेतुमाह—तदिति । भूगर्भात्तद्व्यासखण्डान्तरितः शीघ्रकर्णमितव्यासार्धेनान्तरितः स ग्रहो हि यतः प्रवहानिलेन भ्राम्यतेऽतो युक्तं स्फुटकक्षानयनमुक्तम् । 'स्फुटकक्षापरिधिमार्गेण ग्रहो भूगोलादभितस्तुल्यान्तरेण भ्रमतीत्यर्थः । तथा च प्रवहवायोर्भचक्रानुकारभ्रमणात्प्रतिवृत्ताकारेण प्रवहवायुकृतग्रहभ्रमणाभावाच्च न शङ्कावकाश इति भावः । एतेन—

> कक्षामध्यगतिघ्ना स्फुटगत्याप्ता परिस्फुटा भवति ।
> मध्यमकक्षावृत्ते मध्यमया गच्छति ग्रहो गत्या ।
> उपरिष्टात्तल्लब्ध्या तदधिकगत्या त्वधस्थः स्यात् ॥

इति लल्लोक्तं निरस्तम् । कक्षावृत्तमार्गेण ग्रहभ्रमणात्तत्र पूर्वगत्या गमनासंभवात्प्रतिवृत्ते मध्यमगत्यैव ग्रहगमननिश्चयात् । स्पष्टगतेस्तु मध्यमकक्षावृत्त आभासमात्रत्वात् ॥४२॥

केदारदत्तः—केन्द्र संज्ञा के साथ ग्रह की स्पष्ट कक्षा बताई जा रही है—

किसी भी वृत्त का एक नियत केन्द्र बिन्दु होता है उसे वृत्त का केन्द्र कहा जाता है । खगोल में किसी भी वृत्त का एक गर्भ केन्द्र और दो पृष्ठीय केन्द्र होते हैं, जैसे

विषुवद्वृत्त का त्रिज्यागोलीय केन्द्र भू केन्द्र है और उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव ये दो पृष्ठीय केन्द्र होते हैं।

अपने वृत्तस्थ भ्रमणशील ग्रह का तद्वृतीय उच्च स्थान से ग्रह बिम्ब केन्द्र तक जो चाप है उसे भी केन्द्र चाप, उसकी ज्या का नाम केन्द्र ज्या होता है जो पूर्व में सुस्पष्ट हो गई है। इसलिये कि उच्च बिन्दु से मध्यम ग्रह बिम्ब केन्द्र बिन्दु में नीचोच्चवृत्त का केन्द्र होने से उक्त पदार्थ को केन्द्र शब्द से ही उच्चारित किया जाना गोल परिभाषा से समीचीन है।

ग्रह कक्षा योजन को शीघ्र कर्ण से गुणा कर त्रिज्या से भाग देने से भूगर्भ केन्द्र और भूपृष्ठ केन्द्र का अन्तर चाप पृष्ठीय त्रिज्या तुल्य दूरी पर ग्रह अपनी कक्षा में प्रवहवायु से सञ्चालित होकर घूमता है।

उपपत्ति— $\frac{\text{योजनात्मक कक्षा} \times \text{शीघ्रकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$ = फल तुल्य दूरी पर भूव्यासान्तरित शीघ्र कर्णाग्र में ग्रह अपनी कक्षा में प्रवह वेगेन भ्रमण करता है ॥४१॥४२॥

इदानीं भुजान्तरकर्मोपपत्तिमाह—

मध्यमार्कोदयात्प्राक् स्फुटार्कोदयः स्यादृणे तत्फले स्वे यतोऽनन्तरम्।
तेन भास्वत्फलोत्थासुजातं क्षयः स्वं फलं युक्तियुक्तं निरुक्तं ग्रहे ॥४३॥

वा० भा०—स्पष्टं स्फुटगतौ व्याख्यातं च ॥४३॥

मरीचिः—ननु स्पष्टग्रहज्ञानाद्भुजान्तरफलसंस्कारो ग्रहे व्यर्थ इत्यतः स्रग्विण्याऽऽह—मध्यमेति।

तत्फले सूर्यमन्दफले ऋणे सति। यतः कारणाद्मध्यमार्कोदयकालात्पूर्वं स्फुटार्कोदयकालः स्यात्। धनफले मध्यमार्कोदयानन्तरमुत्तरकाले स्फुटार्कोदयः स्यात्। न्यूनाधिकयोः पूर्वानुक्रमस्थयोः प्रवहानिलेन पूर्वापरकालयोरुदयसम्भवात्। तेन कारणेन सूर्यमन्दफलकलोत्पन्नासुजनितं फलं भुजान्तराख्यं क्षयः स्वं क्रमेणर्णं धनम्। युक्तियुक्तमुपपत्तिसिद्धम्। निरुक्तं भानोः फलं गुणितमर्कयुतस्य राशेरित्यादिना स्पष्टाधिकार उक्तम्। तथा च स्पष्टग्रहसिद्ध्यर्थं न भुजान्तरफलसंस्कारः किंतूदयान्तरसंस्कारेण ग्रहस्य स्वनिरक्षे मध्यमार्कोदयकालिकत्वसिद्धेः स्पष्टार्कोदयकालिकत्वसिद्ध्यर्थं भुजान्तरफलसंस्कार इति भावः ॥४३॥

केदारदत्तः—भुजान्तर संस्कार बताया जा रहा है—

पूर्व में स्फुटरव्युदय धन फल में मध्यम सूर्योदय के अनन्तर स्पष्ट रवि का उदय

होता है। रवि के ऋण फल में मध्यम रव्युदय के पहिले ही स्पष्ट रवि का उदय होता है।

मध्य सूर्य के क्षितिज में उदय होते समय स्पष्ट सूर्य क्षितिज के ऊपर या नीचे ऋण और धन मन्द फलों में होता है। इस लिये रविमन्द फल जनित काल के तुल्य समय में आगे या पूर्व में स्पष्ट सूर्योदय होता है। इसी का नाम भुजान्तर कर्म है। जिसकी, उपपत्ति—ग्रहगणिताध्याय में सविशेष कही गई है ॥४३॥

इदानीं छेद्यकोपसंहारेण गणकप्रज्ञां वर्णयन्नाह—

ये दर्भगर्भाग्रधियोऽत्र तेषां स्याच्छेद्यकार्थः परमाणुरूपः।
येऽन्ये जडाः कुण्ठधियश्च तेषां स्यादिन्द्रवज्राहतपक्षतुल्यः॥४४॥

वा० भा०—इन्द्रवज्राहतपक्षः पर्वतस्तत्तुल्यश्छेद्यकार्थो जडानाम्। इन्द्रवज्राछन्दश्च सूचितम्। शेषं स्पष्टम् ॥४४॥

इति श्रीभास्करीये गोलभाष्ये मिताक्षरे स्फुटगतिवासनायां छेद्यकाधिकारः।

मरीचिः—ननु स्पष्टीकृतिवासनाबोधकच्छेदकनिरूपणमिदं कठिनत्वाद्दुर्बोधमतः केषामप्यत्र प्रवृत्त्यसम्भवाद्व्यर्थमिदमुक्तमित्यत आह—**य इति**।

ये गणका दर्भगर्भाग्रधियो दर्भस्य गर्भं मध्यपत्रं तस्याग्रभागस्तद्वत्तीक्ष्णा धीर्येषां ते। अतिसूक्ष्मप्रमेयज्ञाः सुबुद्धयस्तेषामत्र सिद्धान्तशिरोमणौ छेद्यकार्थश्छेद्यकविषयः परमाणुरूपोऽतिसूक्ष्मरूपोऽल्पः सुगमतरः स्यात्। ये गणका अन्ये पूर्वभिन्ना जडा अबोध्याः कुण्ठधियो महता कष्टेनोक्तमात्रग्राहिणो नाधिकज्ञाः। चो वार्थे। तेषामयं छेद्यकार्थ इन्द्रवज्राहतपक्षतुल्यः। इन्द्रवज्रेणाऽऽहताश्छिन्नाः पक्षा यस्यासौ पर्वत इत्यर्थस्तत्तुल्यस्तत्समः कठिनो दुरवबोधः स्यात्। इन्द्रवज्रेति च्छन्दोऽपि सूचितम्। तथा च सुबुद्धीनामेतद्बोधात्तद्द्वारा मन्दानामप्येतद्बोधसंभवात्सर्वेषां प्रवृत्त्युपपत्तेर्न व्यर्थमेतन्निरूपणमिति भावः ॥४४॥

अथ ज्योत्पत्तिमेव प्रथमं प्रवक्ष्ये इत्यनेन यत्प्रतिज्ञातं तन्निरूपितमिति फक्किकयाऽऽह—इति स्पष्टीकरणवासनाछेद्यकाधिकार इति। अत्र वासनारूपः छेद्यकाधिकार इति मध्यमपदलोपी समासः॥

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
यातं शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं ज्योत्पत्तिभङ्गियुगलं स्फुटकर्महेतु॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये छेद्यकाध्यायः॥

केदारदत्तः—कुश के अग्रभाग की तरह तीक्ष्ण बुद्धि के गणकों ग्रहगणितज्ञों के लिये यह छेद्यकाधिकार अत्यन्त परमाणु रूप का है अर्थात् अधिकार का सारा सारभूत विषय आसानी से उनकी बुद्धिगत हो जाता है। और जो गणक विषय को नहीं समझते कुण्ठित बुद्धि के हैं उनके लिये यह छेद्यकाधिकार इन्द्र के वज्र से आहत पक्ष की तरह (पर्वतों के दो पंखे दो हाथ थे जो इन्द्र के वज्र से खण्डित होने से पर्वत अपनी जगह स्थिर हो गये अचल हो गये।—पुराणकथा) है अर्थात् इस अधिकार को समझने के लिये उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाने से वे ग्रहगोलज्ञान सागर तक नहीं पहुँच पाते हैं ॥४४॥

इति सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के छेद्यकाधिकार :—५ की श्री पंडित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न।

अथ ज्योत्पत्तिवासना

आचार्याणां पदवीं ज्योत्पत्त्या ज्ञातया यतो याति ।
विविधां विदग्धगणकप्रीत्यै तां भास्करो वक्ति ॥१॥
इष्टाङ्गुलव्यासदलेन वृत्तं कार्यं दिगङ्कं भलवाङ्कितं च ।
ज्यासंख्ययाऽऽप्ता नवतेर्लवा ये तदाद्यजीवाधनुरेतदेव ॥२॥
द्वित्र्यादिनिघ्नं तदनन्तराणां चापे तु दत्त्वोभयतो दिगङ्कात् ।
ज्ञेयं तदग्रद्वयबद्धरज्जोरर्धं ज्यकार्धं निखिलानि चैवम् ॥३॥
अथान्यथा वा गणितेन वच्मि ज्यार्धानि तान्येव परिस्फुटानि ।
त्रिज्याकृतिर्दोर्गुणवर्गहीना मूलं तदीयं खलु कोटिजीवा ॥४॥
दोःकोटिजीवारहिते त्रिभज्ये तच्छेषके कोटिभुजोत्क्रमज्ये ।
ज्याचापमध्ये खलु योऽत्र बाणः सैवोत्क्रमज्या सुधियाऽत्र वेद्या ॥५॥
त्रिज्यार्धं राशिज्या तत्कोटिज्या च षष्ठिभागानाम् ।
त्रिज्यावर्गार्धपदं शरवेदांशज्यका भवति ॥६॥
त्रिज्याकृतीषुघातात् त्रिज्याकृतिवर्गपञ्चघातस्य ।
मूलोनादष्टहृतान्मूलं षट्त्रिंशदंशज्या ॥७॥
गजहयगजेषु५८७८निघ्नी त्रिभजीवा वाऽयुतेन १०००० संभक्ता ।
षट्त्रिंशदंशजीवा तत्कोटिज्याकृतेषूणाम् ॥८॥
त्रिज्याकृतीषुघातान्मूलं त्रिज्योनितं चतुर्भक्तम् ।
अष्टादशभागानां जीवा स्पष्टा भवत्येवम् ॥९॥
क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगमूलाद्दलं तदर्धांशकशिञ्जिनी स्यात् ।
त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलं तदर्धांशकशिञ्जिनी वा ॥१०॥
तस्याः पुनस्तद्दलभागकानां कोटेश्च कोट्यंशदलस्य चैवम् ।
अन्यज्यकासाधनमुक्तमेवं पूर्वैः प्रवक्ष्येऽथ विशिष्टमस्मात् ॥११॥
त्रिज्याभुजज्याहतिहीनयुक्ते त्रिज्याकृती तद्दलयोः पदे स्तः ।
भुजोनयुक्तत्रिभखण्डयोर्ज्ये कोटिं भुजज्यां परिकल्प्य चैवम् ॥१२॥

यद्दोर्ज्ययोरन्तरमिष्टयोर्यत्कोटिज्ययोस्तत्कृतियोगमूलम् ।
दलीकृतं स्याद्भुजयोर्वियोगखण्डस्य जीवैवमनेकधा वा ।।१३।।
दोःकोटिजीवाविवरस्य वर्गो दलीकृतस्तस्य पदेन तुल्या ।
स्यात्कोटिबाह्वोर्विवरार्धजीवा वक्ष्येऽथ मूलग्रहणं विनाऽपि ।।१४।।
दोर्ज्याकृतिर्व्यासदलार्धभक्ता लब्धत्रिमौर्व्योर्विवरेण तुल्या ।
दोःकोटिभागान्तरशिञ्जिनी स्याज्ज्यार्धानि वा कानिचिदेवमत्र ।।१५।।

स्वगोङ्केषुषडंशोन ६५६९ वर्जिता भुजशिञ्जिनी ।
कोटिज्या दशभिः क्षुण्णा त्रिसप्तेषु५७३विभाजिता ।।१६।।
तदैक्यमग्रजीवा स्यादन्तरं पूर्वशिञ्जिनी ।
प्रथमज्या भवेदेवं षष्टिरन्यास्ततस्ततः ।।१७।।
व्यासार्धेऽष्टगुणाब्ध्यग्नितुल्ये स्युर्नवतिर्ज्यकाः ।
कोटिजीवा शताभ्यस्ता गोदस्रतिथि१५२९भाजिता ।।१८।।
दोर्ज्या स्वाद्यङ्कवेदांश ४६७ हीना तद्योगसंमिता ।
तदग्रज्या तयोश्चापि विवरं पूर्वशिञ्जिनी ।।१९।।
तत्त्वदस्रा नगांशोना २२४ । ५१ एवमत्राऽऽद्यशिञ्जिनी ।
ज्यापरम्परयैवं वा चतुर्विंशतिमौर्विकाः ।।२०।।
चापयोरिष्टयोर्दोर्ज्ये मिथःकोटिज्यकाहते ।
त्रिज्याभक्ते तयोरैक्यं स्याच्चापैक्यस्य दोर्ज्यका ।।२१।।

चापान्तरस्य जीवा स्यात्तयोरन्तरसंमिता ।
अन्यज्यासाधने सम्यगियं ज्याभावनोदिता ।।२२।।
समासभावना चैका तथाऽन्याऽन्तरभावना ।
आद्यज्याचापभागानां प्रतिभागज्यकाविधिः ।।२३।।
या ज्याऽनुपाततः सेष्टव्यासार्धे परिणाम्यते ।
आद्यदोःकोटिजीवाभ्यामेवं कार्या ततो मुहुः ।।२४।।
भावना स्युस्तदग्रज्या इष्टे व्यासदले स्फुटाः ।
स्थूलं ज्यानयनं पाट्यामिह तन्नोदितं मया ।।२५।।

इति ज्योत्पत्तिः ।

उक्ता संक्षेपतः पूर्वं ज्योत्पत्तिः सुगमा च सा ।
सविशेषाऽधुना तत्र विशेषाद्विवृणोम्यतः ।।१।।

वा० भा०—तावदाचार्याणां पदवोमित्यादिश्लोकपञ्चकं सुगमम्। अत्र गणितेन ज्याज्ञानार्थं मूलभूतज्याचतुष्कं सिद्धप्रकारमेवाऽऽह। तत्प्रकारो हि बीजगणितक्रियया। त्रिज्यार्धं राशिज्येत्यादि। त्रिज्यार्धेन १७१९ तुल्या त्रिंश३०दंशानां ज्या भवति। तस्याः कोटिज्या षष्टि ६० भागानाम्। त्रिज्यावर्गार्धपदं पञ्चचत्वारिंशदंशानां ४५ ज्या भवति।

अथ त्रिज्यावर्गात् पञ्चगुणात् त्रिज्याकृतिवर्गपञ्चघातस्य मूलेन हीनादष्ट ८ हृतात् पदं षट्त्रिंशदंशानां ज्या।

अथवा गजहयगजेषु ५८७८ निघ्नी त्रिज्यायुतेन १०००० भक्ता षट्त्रिंशदंशानां ज्या स्यात्। इति गणितलाघवम्। तत्कोटिज्यार्थाच्चतुष्पञ्चाशदंशानां ज्या।

तथा त्रिज्यावर्गस्य पञ्चगुणस्य मूलं त्रिज्याहीनं चतुर्भक्तं सदष्टादशभागानां ज्या भवति। तत्कोटिज्यार्थाद् द्विसप्ततिभागानाम्।

अतोऽन्यथा साधनमाह—क्रमोत्क्रमज्येत्यादि। कोटिज्योना त्रिज्या भुजस्योत्क्रमज्या स्यात्। भुजज्योना त्रिज्या कोटयुत्क्रमज्या स्यात्। भुजक्रमज्योत्क्रमज्ययोश्च वर्गयोगपददलं भुजांशानामर्धस्य ज्या स्यात्। अथवा त्रिज्योत्क्रमज्याघातदलस्य मूलं तदर्धांशकशिञ्जिनी स्यादिति क्रियालाघवम्।

एवमुत्पन्नज्याया अपि कोटिज्या सा तत्कोटिभागानाम्। ततः पुनरेवमन्यास्तदर्धांशकज्याः साध्याः। कोटेश्चैवमन्याः। तद्यथा। यत्र चतुर्विंशतिर्ज्यास्तत्र त्रिज्यार्धमष्टमं ८ ज्यार्धम्। तत्कोटिज्या तु षोडशम् १६। शरवेदांशज्या द्वादशम् १२। अथाष्टमात् तदर्धांशप्रकारेण चतुर्थम् ४। तत्कोटिज्या विंशम् २०। एवं चतुर्थात् द्वितीयं २ द्वाविंशं च २२। द्वितीयादाद्यं १ त्रयोविंशं च २३। विंशतितमाद्दशमं १० चतुर्दशं च १४। दशमात् पञ्चमं ५ एकोनविंशं च १९। द्वाविंशादेकादशं ११ त्रयोदशं च १३। चतुर्दशात् सप्तमं ७ सप्तदशं च १७। अथ द्वादशात् षष्ठ६मष्टादशं च १८। षष्ठात्तृतीय३मेकविंशं च २१। अष्टादशान्नवमं ९ पञ्चदशं च १५। त्रिज्या चतुर्विंशमिति। एवं किल पूर्वैरन्यज्यासाधनमुक्तम्।

इदानीं विनाऽप्युत्क्रमज्ययाऽभिनवप्रकारेणाऽऽह। त्रिज्याभुजज्याहतीत्यादि। त्रिज्याभुजज्याघातेन त्रिज्याकृतिरेकत्रोनाऽन्यत्र युता। द्वे चाधिते। तयोर्मूले। आद्यं भुजोनखाङ्कांशानां दलस्य ज्या। द्वितीयं भुजाढयखाङ्कांशानां दलस्य।

एवमतोऽप्यन्याः । तद्यथा । अष्टमात् षोडशं १६ ज्यार्धम् । षोडशाच्चतुर्थं ४ विंशं च २० । चतुर्थाद्दशमं १० चतुर्दशं च १४ । एवं सर्वाण्यपि ।

प्रकारान्तरमाह—यद्दोर्ज्ययोरन्तरमित्यादि । इष्टदोर्ज्ययोर्यदन्तरं कोटिज्ययोश्च यत् तयोर्वर्गैक्यमूलस्य दलं भुजयोरन्तरार्धस्य ज्या भवति । एवमन्ययोरन्यान्याः । यथैका किल चतुर्थी ४ । अन्याऽष्टमो ८ दोर्ज्या । ताभ्यां द्वितीया २ सिध्यति । द्वितीयाचतुर्थीभ्यां प्रथमे १ त्यादि ।

तथा दोःकोटिज्ययोरन्तरवर्गदलस्य मूलं दोःकोटिभागान्तरार्धस्य ज्या स्यात् । यथाऽष्टमी ८ दोर्ज्या । षोडशी १६ कोटिज्या । ताभ्यां चतुर्थी ४ स्यादित्यादि ।

अथ मूलग्रहणक्रियया विनाऽपि दोःकोटिभागान्तरज्यानयनमाह—दोर्ज्याकृतिरित्यादि । दोर्ज्यावर्गस्त्रिज्यार्धेन भक्तः । तस्य त्रिज्यायाश्च विवरं दोःकोट्यन्तरस्य ज्या स्यात् । कानिचिदेवमत्र ज्यार्धानि साध्यानि । तद्यथा । यत्र किल त्रिंशज्ज्यार्धानि तत्र त्रिज्यार्धं दशमम् १० । तत्कोटिज्या विंशतितमम् २० । शरवेदांशज्या पञ्चदशम् । षट्त्रिंशदंशज्या द्वादशम् १२ । तत्कोटिज्याऽष्टादशं १८ ज्यार्धम् । अष्टादशभागानां ज्या षष्ठम् ६ । तत्कोटिज्या चतुर्विंश२४मिति । क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगमूलादित्यादिना पूर्वोक्तप्रकारेण दशमात् पञ्चमम् ५ । तत्कोटिज्या पञ्चविंशम् २५ । एवं द्वादशात् षष्ठं ६ चतुर्विंशं २४ च । षष्ठात् तृतीयं ३ सप्तविंशं २७ च । अष्टादशान्नवम ९ मेकविंशं २१ च । एतान्येवानेन प्रकारेण सिध्यन्ति नान्यानि । अत उक्तं कानिचिदेवमत्रेति । यद्दोर्ज्ययोरन्तरमित्यादिप्रकारेण । अतोऽत्र पञ्चम५मेका दोर्ज्या नवम९मन्या । आभ्यां यद्दोर्ज्ययोरन्तरमित्यादिना प्रकारेण भुजयोरन्तरार्धस्य ज्योत्पद्यते । तच्च द्वितीयं २ ज्यार्धम् । तत्कोटिज्याऽष्टाविंशम् २८ । आभ्यां क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगमूलाद्दलमित्यादिप्रकारेणाऽऽद्यं १ चतुर्दशं १४ च । एवमन्याश्चतुर्दश सिध्यन्ति ।

अथ ज्याभावना । सा च द्वेधा । एका समासभावना । अन्याऽन्तरभावना । तदर्थमाह—स्वगोङ्गेषुबडंशोनेत्यादि । यत्र किल वसुत्रिवेदाग्नि ३४३८ तुल्या त्रिज्या नवतिश्च ज्यार्धानि तत्र तावदुच्यते । तत्र मूलभूतज्यानां मध्ये काचनेष्टा भुजज्या तत्कोटिज्या च पृथक् स्थाप्या । भुजज्या स्वनवषडिषुरस ६५६९ विभागेन रहिता कार्या । कोटिज्या तु दशगुणा त्रिसप्तपञ्चभि ५७३ र्भाज्या । तयोरैक्यं तदग्रज्या । अन्तरं पूर्वज्या स्यात् । यथा त्रिज्यार्धं त्रिंशत्संख्याकं ज्यार्धम् ३० । ततः समासभावनयैकत्रिंशत्संख्यम् ३१ । तस्माद् द्वात्रिंशत्संख्यमित्यादि । अन्तरभावनया त्वेकोनत्रिंश २९ मष्टाविंश २८ मित्यादि । पूर्णं दोर्ज्यां कोटिज्यां त्रिज्यां च प्रकल्प्य प्रथमं १ खण्डमेवं षष्टिः ६० स्यात् ।

अथ यदि सैव त्रिज्या चतुर्विंशतिर्ज्याधीनि तदर्थमाह—कोटिजीवाशताभ्यस्तेत्यादि। अत्रापि त्रिज्यार्धमष्टमं ८ ज्यार्धं सा भुजज्या। षोडशं १६ कोटिज्या सा कोटिज्या शतगुणा गोदस्रतिथि १५२९ भाजिता। या तु दोर्ज्या सा तु निजेन सप्ताङ्गवेदां ४६७ शेन हीना कार्या। यदि तयोरैक्यं क्रियते तदा नवमं ९ ज्यार्धं भवति। यद्यन्तरं तदा सप्तमं ७ स्यात्। एवं समासभावनया नवमाद्दशमं १० दशमादेकादश ११ मित्यादि। तथाऽन्तरभावनया सप्तमात् षष्ठं ६ षष्ठात् पञ्चम ५ मित्यादि। एवं प्रथमं १ सप्तांशोनतत्त्वदस्रमितं भवति। अथवा पूर्णं दोर्ज्यां त्रिज्यां च कोटिज्यां प्रकल्प्य साध्यते तथाऽपि तदेव। ततः समासभावनया द्वितीयादीन्यखिलानि भवन्ति। अथवा त्रिज्यां दोर्ज्यां प्रकल्प्य पूर्णं कोटिज्यां च प्रकल्प्य साध्यते तदा त्रयोविंश २३ मुत्पद्यते तस्मादन्तरभावनया द्वाविंशम् २२। ततोऽप्येकविंशम् २१। एवमखिलान्यपि निष्पद्यन्ते।

अथ भावनामाह—चापयोरिष्टयोरित्यादि। इष्टयोश्चापयोर्ये दोर्ज्ये ते कर्मभूमौ स्थाप्ये। तयोरधस्तात् कोटिज्ये च। ततः प्रथमकोटिज्या द्वितीयदोर्ज्यया गुण्या। ततो द्वितीयकोटिज्या प्रथमदोर्ज्यया गुण्या। द्वे अपि त्रिज्यया भाज्ये। फलयोः समासश्चापैक्यभुजस्य ज्या भवति। अन्तरं चापान्तरस्य ज्या भवति। इयं सिद्धज्यातोऽन्यज्यासाधने भावना। तद्यथा। तुल्यभावनया प्रथमज्यार्धस्य प्रथज्यार्धेन सह समासभावनया द्वितीयम् २। द्वितीयस्य द्वितोयेनैवं चतुर्थ ४ मित्यादि। अथातुल्यभावनया। द्वितीयतृतीययोः समासभावनया पञ्चमम् ५। अन्तरभावनया प्रथमं १ स्यादित्यादि।

अथेष्टव्यासार्धे ज्याज्ञानार्थमाह—आद्यज्याचापभागानामित्यादि। यावद्भिरंशैरेका ज्या लभ्यते त आद्यज्याचापांशाः। प्रतिभागज्यकाविधिरिति। त्रिसप्तपञ्चभि५७३र्भक्तेत्यादिना प्रागुक्तप्रकारेणैकभागस्य ज्यामानीय तद्भावनातो भागद्वयस्यैवं तेषां भागानां ज्या साध्या साऽभीष्टत्रिज्यया हता वस्वनलाब्धिवह्निभि ३४३८र्भक्ता प्रथमज्या स्यात्। तस्यास्तयैव सह भावनया द्वितीयाद्याः सिध्यन्ति। इति ज्योत्पत्तिवासना ॥१-२५॥

मरीचिः—नन्विदमर्थान्तरमहर्गणानीतग्रहस्य मध्यत्वं कुत इति प्रश्नोत्तरभूतस्पष्टक्रियोपपत्तिकथनस्याऽऽवश्यकत्वादित्यतः फक्किकयाऽऽह—इति ज्योत्पत्तिरिति। तत्कथनमपि ज्याधीनं स्पष्टक्रियाया ज्योपजीव्यत्वादतः प्रथमोपस्थिता ज्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता निरूपितेति नार्थान्तरमिति भावः ॥१॥

अथ प्रसङ्गसंगत्या ज्योत्पत्तिर्मूलकृत्कृता। व्याख्यायते युक्तियुता ग्रन्थान्तर्गतामया ॥१॥
तत्र प्रथमं तदारम्भं सप्रयोजनमार्यया प्रतिजानीते—**आचार्याणामिति**।

यतो ज्ञातया सम्यगवगतस्वरूपया ज्योत्पत्त्या गणक आचार्याणां वराहमिहिराचार्यादीनां पदवीं स्थानं तत्तुल्यत्वं याति प्राप्नोति। ज्योत्पत्तेरतिदुर्गमत्वात्। यथा च गौडदेशादौ ज्ञानोत्कर्षसंपादनेन पण्डितानां भट्टाचार्यपदवीलाभः। अतः करणात्तां ज्योत्पत्तिं भास्करः सिद्धान्तशिरोमणिकर्ता वक्ति निरूपयति। भास्करो वक्तीति परोक्षेयं ग्रन्थान्तर्गततया न गणनीया। किंतु भिन्नग्रन्थत्वेनैव। अन्यथा प्रश्नाध्यायानन्तरे संगत्यभाववारणाय भारदेतदारम्भानुपपत्तेः ग्रन्थान्तर्गतस्वल्पज्योत्पत्तिनिरूपणानन्तरं तदारम्भोपपत्तेश्च। अत एव भिन्नग्रन्थत्वेनान्यकृतशङ्कावारणाय भास्करोपादानं संगच्छते। तत्तु तन्निरूपणेन तत्कर्तुस्तज्ज्ञानादाचार्यपदप्राप्तिसिवाय्यु(द्धयु)त्तरं। तज्ज्ञानस्य पूर्वत्वाभावादितरेषां न तत्पदप्राप्तिसंभावनेति तदनिरूपणे तस्या गुप्तत्वेन येनैव बुद्धया साऽवगता स एव तत्वदं प्राप्नोत्यतस्तन्निरूपणं व्यर्थमेवेत्यत आह—विदग्धेति। विदग्धा गोलादिस्वरूपतत्पज्ञा गणकाः पञ्चाग्रस्त्रदशास्तादिक्षेत्रसूक्ष्मगणितप्रकारज्ञास्तेषां संतोषार्थम्। तथा च ग्रहगणितोपपत्तेर्गोल एव व्यक्तत्वेन तस्य च विना ज्यानिरूपणं वक्तुमशक्यत्वाद्गोलस्वरूपसर्वस्वा ज्योत्पत्तिरेव प्रथमं निरूपणीया। एवं तन्निरूपणेन च तज्ज्ञानात्सुबुद्धीनां तद्विषयेऽधिकबुद्धिस्फुरणात्प्रकारान्तरेणापि तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात्तत्पदप्राप्तिः सुशक्या। अत एव प्रीतिः। अनेनैव चाऽऽधुनिका गणकानामाचार्यं वदन्तीति भावः। ननु तथाऽपि ग्रन्थे ज्योत्पत्तेरुक्तत्वात्पार्थक्येन पुनस्तन्निरूपणं न युक्तमत आह—विविधामिति। पूर्वग्रन्थे पूर्वोक्तानुरोधेन संक्षिप्तोक्ताऽतस्तामिदानीं स्वबुद्धिवैभवेनानेकप्रकारेण विस्तरतो वदामीति भावः ॥१॥

अथ तत्र ज्यारूपप्रतिपादनच्छलेन ज्याज्ञानमुपजातिकेन्द्रवज्राभ्यामाह—**इष्टाङ्गुलेति। द्वित्र्यादीति।**

त्रिज्योत्थवृत्ते भगणाङ्किते वेत्यादिपूर्वोक्तज्योत्पत्त्यवसानार्धं विवरणरूपतया गतार्थमेतत् ॥२॥३॥

अथोक्तप्रकारेण ज्यासिद्धिः शिल्पावगमत्वेनाशक्येति गणितेनोक्तं पूर्वज्याज्ञानं पुनर्वक्तुं तत्प्रतिज्ञां तदुपयुक्तां कोटिज्यां चोपजातिकयाऽऽह—**अथेति।**

अथ ज्यास्वरूपद्वारा तज्ज्ञानप्रतिपादनानन्तरम्। अन्यथा। अन्यरीत्या वा। वृत्तकरणादिनिरपेक्षेण। तर्हि तदसिद्धिरेवेत्यत आह—गणितेनेति। वच्मि कथयामि। ननूक्तप्रकारेण सूक्ष्मं ज्याज्ञानं गणितेन तु स्थूलं सिध्यतीत्यत आह—तान्येवेति। तानि पूर्वावगतानि। एवकारात्तद्भिन्नत्वनिरासः। परिस्फुटानि सूक्ष्माणीत्यर्थः। उत्तरार्धं पूर्वं व्याख्यातमेव ॥४॥

अथ तदानयनोपयुक्तोत्क्रमज्यानयनं तत्वस्वरूपं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—**दोःकोटीति।**

अत्र वृत्तान्तः एवकारादुत्क्रमज्याया उक्तातिरिक्तस्वरूपनिरासः। अत्र ग्रहगणितादौ। सुधियेति हेतुगर्भम्। तेनार्धज्यावदुत्क्रमज्यार्धं ज्येति सूचितमन्यत्पूर्वमेव व्याख्यातम् ॥५॥

अथ प्रतिज्ञातेनाऽऽनयनेनैकद्विग्यासार्धैकराशीनां ज्यासाधनमार्यंयाऽऽह-**त्रिज्यार्धमिति**। पूर्वं प्रतिपादनात्स्पष्टार्थम् ॥६॥

अथाऽऽर्यया षट्त्रिंशज्यासाधनमाह—**त्रिज्येति**।

त्रिज्यावर्गस्य वर्ग पञ्चगुणितस्तन्मूले पञ्चगुणितस्त्रिज्यावर्गो हीनोऽष्टभिर्भक्तः फलमूलं षट्त्रिंशदंशानामर्धज्या स्यादित्यर्थः। अत्रोनस्थाने युतावधारणेन द्विसप्ततिभागज्या स्यादिति ध्येयम्। अत्र लक्ष्मीदासमिश्रास्त्रिज्यार्धस्यैकराशिज्यात्वात्तद्वर्गस्त्रिज्यावर्गपादरूपस्त्रिज्यावर्गद्विघाताष्टमांशतुल्यः। केवलेष्टगुणितभाज्यहाराभ्यां फलयोस्तुल्यत्वात्। तत्र त्रिज्यावर्गद्विघातरूपभाज्यः प्रकारान्तरेणाऽऽनीतो द्विगुणो भाज्यो भाज्योनो भाज्य इति वियोजकभाजस्य भाज्यवर्गमूलरूपत्वाद्द्विगुणो भाज्यो भाजकवर्गमूलेन हीनो भाज्यः स्यात्। तथा चतुर्गुणस्त्रिज्यावर्गस्त्रिज्यावर्गवर्गचतुर्घातान्मूलेन हीनो भाज्यः स्यादित्ययमष्टभक्तः फलमूलमेकराशिज्येति सिद्धम्। एवं तत्कोटिराशिज्यया द्विराशित्वाद्द्विराशिज्यावर्गस्त्रिज्यावर्गत्रिघातचतुर्थांशरूपः। अत्र भाज्यत्रिगुणो भाज्यवर्गमूलरूपभाज्योनो द्विगुणो भाज्यः स्यादित्ययमष्टभक्तो द्विराशिज्यावर्गस्तेन त्रिज्यावर्गो नवगुणस्त्रिज्यावर्गवर्गनवघातान्मूलेऽष्टहीनो भक्तः फलमूलं द्विराशिज्या सिद्धा। तथा चैकरीत्यैकद्विराश्योर्ज्यासाधने गुणकौ चतुर्नवमितौ। तदन्तरं पञ्चेति तदन्तरांशैस्त्रिंशन्मितैः पञ्चगुणकान्तरं तदा षडंशैः किमित्यनुपाताल्लब्धमेकः। अनेनैकराशिज्यासाधनाश्रितचतुर्मितो गुणको युतः षड्त्रिंशदंशानामुक्तरीत्या ज्यासाधनार्थं पञ्चगुणसिद्धो नवषड्भागान्तरेणैकमितगुणान्तरासिद्धयोक्तरीत्या द्वादशांशज्यासाधनार्थं गुणस्यैकमितत्वादुक्तरीत्या तदंशानां ज्याभावापत्तेर्नवत्यासन्नांशानां ज्यायास्त्रिज्याधिकात्तेश्चोक्तमिदमनुपपन्नमिति वाच्यम्। उक्तप्रकारस्य त्रिंशषष्टिभागमूलकत्वेन तदभ्यन्तरस्थितांशानामुक्तरीत्या ज्यासाधनादन्यथा त्रिदशगुणहरणेनोक्तरीत्या ज्यासाधनादन्यथा त्रिददशगुणग्रहणेनोक्तरीत्या चतुर्विंशतिषट्षष्टयंशयोर्ज्यासाधनकथनापत्तेः। न चैवं द्विचत्वारिंशदंशादीनां षडादिगुणग्रहणेन ज्यासाधनकथनापत्तिरिति वाच्यम्। ज्यानां क्षेत्रसंबन्धाद्वर्गतन्मूलद्वारा तत्साधनस्य युक्तत्वेनात्र त्रैराशिकप्रवृत्त्या हठात्तदभ्युपगमेन यथांशबाहुल्यं तथाऽन्तरपातादित्युपपत्तिमालपन्ति। तत्र द्विगुणषड्गुणाभ्यां त्रिज्यावर्गाभ्यामष्टमांशमूलयोरेकद्विराशिज्यात्वात्तदनुरोधेन सार्धसप्तत्रिंशदंशानां त्रिगुणस्य त्रिज्यावर्गस्याष्टमांशान्मूले सूक्ष्मज्यासिद्धिप्रसङ्गात्। षट्त्रिंशदंशज्यायाः साधनोपपत्तेः सूक्ष्मत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्स्थूलत्वाभावाच्च। यत्तु त्रिज्याविंशत्यंशमष्टादशभागोत्क्रमज्यामङ्गीकृत्य व्यासाच्छरोनाच्छरसंगुणाच्चेत्युक्तरीत्याऽष्टादशांशानां क्रमज्यावर्गः। $\frac{\text{त्रिव}\ ३९}{४००}$ अस्माद्दोर्ज्याकृतिर्व्यासदलार्धभक्ता लब्धत्रिमौर्व्योर्विवरेणतुल्या। दोःकोटिभागान्तरशिञ्जिनी स्यादिति वक्ष्यमाणप्रकारेण चतुष्पञ्चाशदंशज्या $\frac{\text{त्रिव०}\ २५९२१}{४००००}$ एतद्वर्गोनस्त्रिज्यावर्गः षड्त्रिंशदंश-

ज्यावर्गः । चिव १४०७९ । अत्र गुणहरौ सहस्रपञ्चकेनापवर्त्य हरस्थानेऽष्टौ ८ गुणस्थाने ४०००० ।

षड्भागोनतानावयवयुतं द्वयं २ । ४५ । ५० अनेन गुणकेनोत्पन्ना षट्त्रिंशदंशज्याऽतिस्थूला । अतो गृहीतो गुणकः षड्भागोनट्चत्वारिंशदवयवाधिकं द्वयं २ । ४५ । ५० अनेन गुणेन इष्टयुक्तेन निघ्न इत्युक्तरीत्या पञ्चमितो गुणकः कृतः । अत–त्रिज्याकृतीषुघातादिति । अत्राभीष्टघ्नगुण ऊनः कार्यस्तत्रेष्टषड्भागाधिकचतुर्दशावयवयुतं द्वयमितं पञ्चानां मूलम् । ततो वर्गेण वर्गं गुणयेदित्यनेन पञ्चगुणस्य त्रिज्यावर्गस्य मूलेनेष्टघ्नगुण्यात्मकेन हीनः केवलगुणाङ्कगुणितो भाज्यः सिद्धोऽयमष्टभक्तः फलमूलं षट्त्रिंशदंशानां ज्योपपन्नेत्याहुस्तन्न । त्रिज्यात्रिंशत्यंशस्याष्टादशांशोत्क्रमज्यात्वे युक्त्यभावात् । भवदुक्तरीतिसिद्धगुणकेनानेन २१४८ । ५६ । ५२ । ४८ षट्त्रिंशदंशज्याया असिद्धौ कारणाभावाच्च । भवत्कल्पितगुणकेनाने २ । ४५ । ५० तज्ज्यायाः सूक्ष्मत्वसिद्धौ प्रमाणाभावाच्च ॥७॥

अथ लघुभूतप्रकारेण तत्साधनं चतुष्पञ्चाशदंशज्याज्ञानं चाऽऽर्ययाऽऽह—**गजहयेति** । त्रिज्याऽष्टसप्ततियुताऽष्टशताधिकपञ्चसहस्रेण गुणिता दशसहस्रेण भक्ता फलं लघुभूतप्रकारेण षट्त्रिंशद्भागानां ज्या । तत्कोटिज्या षट्त्रिंशदंशज्यावर्गोनात्त्रिज्यावर्गान्मूलमित्यर्थः । चतुःपञ्चाशदंशानां ज्या स्यात् । अत्रोपपत्तिः । पञ्चगुणितस्य त्रिज्यावर्गवर्गस्य मूलं त्रिज्यावर्गः पञ्चमूलगुणिततः । तत्र तन्मूलं सावयवं सूक्ष्मासन्नं २ । १४ । १० । अनेन पञ्चगुणितस्त्रिज्यावर्गहतो जातस्त्रिज्यावर्गः पञ्चमूलोनपञ्च २ । ४५ । ५० गुणितः । अयमष्टभक्तः फलमूलं ज्या । तत्र लाघवात्त्रिज्यावर्गमूलं त्रिज्या पञ्चमूलोनपञ्च २ । ४५ । ५० मूलेन सावयवेन सूक्ष्मासन्नेन पादोनचत्वारिंशदवयवाधिकेन १ । ३९ । ४५ । गुणिता अष्टमूलेन सूक्ष्मासन्ने द्विचत्वारिंशदवयवाधिकैकोनपञ्चाशदवयवाधिकद्वयेन २ । ४९ । ४२ भक्तेति सिद्धम् । अत्र सावयवाङ्कगुणनभजनयोः प्रयासाधिक्यात्सवर्णितौ लाघवाद्गुणहरौ ५९८५ । १०१८२ । अत्रापि भजनसौकर्यार्थमयुतमितहरं धृत्वा तत्पञ्चाशद्गुणो गजहयगजपञ्चिमितः । आसन्नमूलगर्भितत्वादेतदानयनं सूक्ष्मासन्नमित्युपपन्नं गजहयेत्यादि ॥८॥

अथार्धांशकज्यानयनेनाष्टादशांशानां ज्यासिद्धावपि पूर्वोक्तज्याया उपपत्तिसिद्धत्वाभावादस्या अपि तथात्वापत्तिभयाल्लाघवाच्चाष्टादशभागानां जीवासाधनं षट्त्रिंशदंशज्योपात्त्युपजीव्यभूतमार्ययाऽऽह—**त्रिज्येति** ।

त्रिज्यावर्गात्पञ्चगुणितान्मूलं त्रिज्यया हीनं चतुर्भिर्भक्तम् । फलमष्टादशांशानां सूक्ष्मा ज्या भवति । एवं तस्याः कोटिज्या द्विसप्ततिभागज्या भवति । अत्राप्यूनितस्थाने युतावधारणेन चतुष्पञ्चाशदंशज्या स्यादिति ध्येयम् । इदं षट्त्रिंशदंशज्यायाः साधनोपपत्तिहेतुकमानयनं कथमिति चेच्छृणु । अष्टादशभागज्यास्वरूपमानयनसिद्धं 'त्रिज्याकृतीषुघातान्मूलं त्रिज्योनितं चतुर्भक्तं' इदं मू १ त्रि १ त्रिज्यातः शुद्धं द्विसप्ततिभागानामुत्क्रमज्यारूपं मू० ४

१ त्रि० ५ । अस्मात्त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलं तदर्धांशकसिञ्जिनीत्यनेन षट्त्रिंशदंश-
४

ज्यासाधने तद्वर्गः सिद्धोऽयं तावत् । मू० त्रि० १ त्रि० व० ५ । अत्र त्रिज्याकृतीषुघातान्मूल-
लाभाभावादासन्नमूलग्रहणाननारगुणने बह्वन्तरपाताच्च प्रथमत एव मूलवर्गस्त्रिज्याकृतीषुघा-
तात्मको वर्गेण वर्गं गुणयेदित्युक्तत्वात्त्रिज्यावर्गगुणितस्तत्पदं मूलत्रिज्याघातरूपं सूक्ष्मं तदून-
स्त्रिज्याकृतीषुघाताष्टभक्तफलं षट्त्रिंशदंशानां ज्यावर्गस्तन्मूलं तेषां ज्येत्युपपन्नं त्रिज्या-
कृतीषुघातात्त्रिज्याक्ववतिवर्गपञ्चघातस्य । मूलोनादष्टहृतान्मूलं षट्त्रिंशदंशज्या' इति ।
अष्टादशभागज्यानयनोपपत्तिस्तु वृत्तपरिधिं समदशविभागं कृत्वा तच्चिह्नद्वयाभ्यां पूर्वापरा
याम्योत्तरा रेखा वृत्ते कार्याः । याम्योत्तररेखाग्रादासन्नसमदशविभागं चिह्नपर्यन्तरेखा
संपूर्णज्या षड्त्रिंशदंशानां तत्संपूर्णज्यामितेन व्यासार्धेन याम्योत्तररेखाग्राद्वृत्तं कार्यम् । तद्-
वृत्ते केन्द्रपरिध्यन्तररेखा षट्त्रिंशदंशज्या सर्वत्रातस्तद्वृत्तव्यासार्धमानं गणितप्रकारेण ज्ञानार्थं
पूर्ववृत्तकेश(न्द्रा)त्पूर्वापररेखायां त्रिज्यार्धं दत्त्वा तच्चिह्नमध्यत्रिज्यार्धरूपेण व्यासार्धेन वृत्तं
मूलवृत्तकेन्द्रपूर्वापररेखाप्रस्पष्टपरिधिकं षट्त्रिंशदंशज्यावृत्तं परिधिसंलग्नं भवतीति प्रत्यक्ष-
मतस्त्रिज्यार्धचिह्नयाम्योत्तररेखाग्रान्तरं कर्णाकारं सूत्रं त्रिज्यार्धोनं षट्त्रिंशदंशसंपूर्णज्या
भवति । तृतीयं लघुवृत्ते त्रिज्यार्धस्य व्यासार्धत्वात् । तत्र प्रथमद्वितीयवृत्तकेन्द्रान्तरं त्रिज्या-
मितं कोटिः । प्रथमतृतीयवृत्तकेन्द्रान्तरं त्रिज्यार्धमितं भुजो द्वितीयतृतीयवृत्तकेन्द्रान्तरं कर्ण
इति क्षेत्रदर्शनात्त्रिज्यार्धज्ययोर्वर्गयोगपदं कर्णस्त्रिज्यार्धोनषट्त्रिंशदंशसंपूर्णज्या । तत्रापि
कर्णवर्गस्य त्रिज्यावर्गपञ्चघातचतुर्थांशरूपत्वात्त्रिज्याकृतीषुघातमूलार्धं कर्णोऽयं त्रिज्योनं
कृत्वा तदर्धकृतं लाघवादस्याः संपूर्णज्यात्वादर्धमष्टादशांशानामर्धज्यात्रिज्याकृतीषुघातान्मूलं
त्रिज्योनितं चतुर्भक्तमित्युपपन्ना । अथ द्वितीयतृतीयवृत्तसंयोगे का युक्तिरिति चेदेकराशिज्या-
ज्ञानोपजीव्यसमषडस्त्रत्रिज्यातुल्यभुजोपलब्धिवदुपलम्भ एव प्रत्यक्षं प्रमाणमवेहि । अत्रो-
भयत्रोपपत्तिः शिल्पयुक्तिरित्यादियवनग्रन्थे सविस्तरं प्रतिपादिता । तत्प्रतिपादनं च ग्रन्थ-
विस्तरभीत्या बहुप्रयासलिखनाच्चोपेक्षितमिति ध्येयम् । अन्ये तु—दशात्प्रभुजवर्गोऽयं भुज-
त्रिज्यावधोनयुक् । त्रिज्यावर्गो भवेदेतन्नियतं नात्र संशय इति । ग्रन्थान्तारोक्तदेकवर्ण-
मध्यमाहरणबीजेनात्र युक्तिस्तथा हि—अष्टादशभागज्यामानं या १ । इदं द्विगुणं दशास्र-
भुजः । या २ । अस्मादुक्तप्रकारेणाव्यक्तस्त्रिज्यावर्गः याव ४ यात्रि २ । अयं त्रिज्यावर्गेण
सम इति समशोधनात्पक्षौ याव ४ यात्रि २ अनयोर्मूलार्थं चतुर्गुणितौ त्रिज्यावर्गयुतौ व्यक्त-
त्रिव १ ।

पक्षे त्रिज्याकृतीषुघातो व्यक्तपक्षे तु याव १६ यात्रि ८ त्रिव १ अनयोर्मूले तत्राव्यक्त-
पक्षमूलं या ४ त्रि १ व्यक्तपक्षमूलं त्रिज्याकृतीषुघातमूलमनयोः पुनः समशोधनादाप्तं
यावत्तावन्मानं मूलं त्रिज्योनितं चतुर्भक्तमितीयमेवाष्टादशभागज्येत्याहुः । लक्ष्मीदास-
मिश्रास्तु पञ्चविंशतिगुणात्त्रिज्यावर्गान्मूलं पञ्चगुणात्त्रिज्यातुल्यं त्रिज्योनं चतुर्भक्तं त्रिज्या-
वर्ग इत्यतो नवतिभागज्यासिद्धौ त्रिज्यावर्गस्य पञ्चविंशतिर्गुणस्तदाऽष्टादशभागज्यासिद्धौ

तस्य को गुण इत्यनुपातात्पञ्चगुणक इत्युपपन्नमुक्तमित्याहुस्तन्न । दशगुणकेनोक्तरीत्या षट्त्रिंशदंशज्यासिद्ध्यापत्तेः । यत्तु पञ्चदशांशज्या गगनाङ्कनागा इति त्रिज्याचतुर्थांशाद-धिकाष्टादशभागज्या भवितुमर्हति । अतो येन गुणत्रिज्याचतुर्थांशोऽष्टादशभागज्या वास्तवा स्यात्तत्प्रमाणं यावत्तावत्प्रकल्प्याष्टाव्यक्ताष्टादशांशज्याया अस्या यात्रि १ तत्त्वाश्विभक्ता
४

असवः कला वेति गणितप्रकारेणाष्टादशांशज्या तुल्यरूपैरेभिः १०६२ साम्यकरणेन लब्ध-गुणकः १ । १४ । १० । अयं सैकः २ । १४ । १० । पञ्चानां मूलमतस्त्रिज्याकृतीषु-घातान्मूलं सैकगुणगुणितगुण्य इत्ययं रूपमितेष्टगुणितगुण्येन त्रिज्यामितेन हीनश्चतुर्भक्तः फलमष्टादशांशानां ज्योपपन्नेत्याहुस्तन्न । गणितप्रकारेणाष्टादशांशज्यायाः सूक्ष्मत्वाभावात्त-त्साम्यकरणसिद्धगुणकस्यापि सूक्ष्मत्वाभावादस्य प्रकारस्य सूक्ष्मत्वानुपपत्तेः ॥९॥

अथेतरज्याज्ञानार्थमर्धांशकज्यानयनप्रकारावुपजातिकयाऽऽ—**क्रमोत्क्रमेति** ।

पूर्वं व्याख्यातम् ॥१०॥

अथोक्तरीत्या तत्संबन्धिनामभीष्टांशानां ज्या साध्येतिवदना(न्)गणितप्रकारेण ज्यान-यनमुपसंहरंश्चेन्द्रवज्रया स्वकल्पितं ज्यानयनं प्रतिजानीते—**तस्या इति** ।

पूर्वार्धं व्याख्यातम् । एवमर्धांशकज्यासाधनप्रकारेणान्यज्यकासाधनम् । सार्धैकैकत्रिरा-शिज्याभ्य इतरस्वसंबन्ध्यभीष्टज्यानां साधनम् । पूर्वैर्ब्रह्मगुप्तलघ्वार्यभटादिभिरुक्तं नैतन्म-त्कल्पितिमित्यर्थः । ननु पूर्वोक्तज्योत्पत्तिकथनेन तव को वोत्कर्ष इत्यत आह—प्रवक्ष्य इति । अथ पूर्वोक्तज्यासाधनं सूक्ष्मत्वेन कथयिष्ये ॥११॥

अथ प्रतिज्ञातं ज्यासाधनमुपजातिकयाऽऽह—**त्रिज्येति** ।

त्रिज्याभुजज्ययोर्घातेन त्रिज्याकृतिरेकत्रोना परत्र युता । तदर्धयोर्मूले । भुजोनस्त्रि-भस्यार्धांशानां ज्या प्रथममूलम् । परं च भुजयुक्तत्रिभस्यार्धांशानां ज्या कोटिं यद्भुजज्य-योक्तप्रकारेण ज्याद्वयमानीतं तद्भुजज्यासंबन्धिकोटिज्यामित्यर्थः । भुजज्यां कल्पयित्वा । एवमुक्तप्रकारेण ज्याद्वयम् । कोटच्शोनयुतनवत्यर्धांशयोः क्रमेण ज्या स्याच्चकारात्तेभ्योऽपि प्रत्येकं ज्याद्वयमुक्तरीत्येति सर्वा अभीष्टा ज्या उत्पादनीया इत्यर्थः । तद्यथा । शून्यभुजां-शेभ्य उक्तरीत्या पञ्चचत्वारिंशदंशानां ज्या । अस्यां सार्धद्वाविंशतिसार्धसप्तषष्टच्ंश-योर्ज्ये प्रकृते षडष्टादशे । षष्ठान्नवमपञ्चदशे । अष्टादशात्तृतीयैकविंशे । एकराशिज्या-ऽष्टमम् । अष्टमात्षोडशम् । षोडशाच्चतुर्थविंशे । चतुर्थाद्दशमचतुर्दशे । विंशाद्द्वितीयद्वा-विंशे । दशमात्सप्तदशे । चतुर्दशात्पञ्चमैकोनविंशे । द्वितीयादेकादशत्रयोदशे । द्वाविंशा-देकत्रयोविंशे । एवमन्यत्रापि शोध्यम् । अत्रोपपत्तिः । भुजज्योनत्रिज्यारूपतत्कोट्युत्क्रम-ज्यायास्त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलं तद्घांशकसिञ्जिनी वेत्यनेन कोट्यर्धांशानां ज्यासाधने भुजज्योनत्रिज्यायास्त्रिज्यागुणने भुजज्याघातोनस्त्रिज्यावर्गस्तद्दलमूलं भुजोनत्रिभरूपकोटेघा-

शानां ज्या । अस्या वर्गस्तु भुजज्यात्रिज्याघातोनस्य त्रिज्यावर्गस्यार्धमनेन समच्छेदविधिना त्रिज्यावर्गो हीनः । कोट्यर्घांशानां कोटिज्यावर्गो भुजज्यात्रिज्याघातयुक्तस्य त्रिज्यावर्गस्यार्धमस्य मूलं कोट्यर्घांशानां ये कोट्यंशा भुजाँशोननवतीनामर्धोननवतिरूपा उक्तरीत्या भुजांशयुक्तनवतेरर्धत्वेन परिणतास्तेषां ज्येत्युपपन्नं त्रिज्याभुजज्याहतिहीनयुक्ते इत्यादि ॥१२॥

अथाभीष्टभुजांशद्वयान्तरार्धांशानां ज्यानयनमुपजातिकयाऽऽह—**यद्दोर्ज्ययोरिति** ।

स्वभिमतयोर्भुजज्ययोर्यदन्तरं तद्भुजसंबन्धिकोटिज्ययोश्च यदन्तरं तयोरन्तरयोर्वर्गयोर्योगस्य मूलं तस्यार्धभुजयोरन्तरार्धांशानां जीवा स्यात् । एवमुक्तप्रकारेण कोटिज्याप्रकारेण चानेकधा जीवा । सर्वाः प्रकारान्तरेण भवन्तीत्यर्थः । परस्परभुजज्याभ्यामनेन प्रकारेण सिद्धा अपि पुनः सिध्यन्तीत्यनेकधेत्यनेन सूचितम् । यथा हि । शून्यत्रिज्यामितभुजज्याभ्यामुक्तप्रकारेण द्वादशी ज्या । अस्याः षष्ठी तत्कोटिज्याऽष्टादशी । अस्या नवमी तृतीया । कोटिज्यायाः पञ्चदशी । एकविंशी । अष्टमात्षोडशं चतुर्थं विंशमित्यादि । ननु क्रमोऽष्टमज्याकृतियोगमूलाद्दलं तदर्धांशकसिञ्जिनी स्यादित्यनेनोक्तप्रकारस्य तुल्यत्वाद्भुजज्ययोरन्तरं कोटिज्ययोश्चान्तरं यथायोग्यं भुजांशद्वयान्तरांशानां । कथमन्यथा तद्वर्गयोगपददलस्य तद्दशांशान्तरार्धांशजीवात्वसिद्धिः । न चेष्टापत्तिः । ज्योनत्रिज्याया उत्क्रमज्यात्वेन भुजज्यान्तरस्य कोटिज्यान्तरस्य वोत्क्रमज्यात्वासिद्धेः । एवमेव तयोः क्रमज्यात्वाभावः । अन्यथा भुजांशान्तरज्यात्वेन तज्ज्यान्तरान्यतरस्य कथनापत्तेः । किंच भुजकोट्यंशान्तरार्धांशानामुक्तप्रकारेण ज्यासाधने भुजज्ययोः कोटिज्ययोश्चान्तरयोस्तुल्यत्वेन क्रमोत्क्रमज्यात्वासंभवः । न च स्वेशेतरांशानां क्रमोत्क्रमज्ययोस्तुल्यत्वाभात् । नहि भुजकोटयंशयोरन्तरं······तमेव नियतं येन तदुपपत्तिरिति । तथा च भुजकोटिज्यान्तराभ्यामतत्वादुक्तज्यासाधनमयुक्तमिति चेन्न । तदन्तरयोर्वर्गयोगस्य तदन्तरांशक्रमोत्क्रमज्यावर्गयोगसमत्वादक्षतेः । अन्यथा तन्मूलदलस्य तदर्धांशज्यासमत्वोपलम्भानुपपत्तेः । भिन्नराशियुगयोर्वर्गयोगस्य समत्वोपलम्भाच्च । यथा राशि २ । ९ वर्ग ४ । ८१ योगः ८५ । राशि ७ । ६ वर्गयोगः ८५ । त्रिज्याकर्णे एव भुजकोटिज्यारूपभुजकोट्योरनेकत्वनिश्चयाच्च । अत्रोपपत्तिः । वृत्तान्तर्मध्यसूत्रात्स्वाभीष्टपरिधिप्रदेशपर्यन्तं भुजज्ये तत्कोटिज्ये यथोक्ते रेखादिना देये । तत्र लघुभुजज्योना बृहद्भुजज्या तदन्तरांशसिद्धभोगखण्डरूपा भुज एवं कोटिज्यान्तरं कोटिः । तद्वर्गयोगपदं कर्णो भुजकोटिज्याग्रसंपातसक्तपरिधिभागयोरन्तरसूत्रं तदन्तरभागानां संपूर्णज्या तदर्धांशानामर्धज्येति यद्दोर्ज्ययोरन्तरमित्याद्युपपन्नम् ॥१३॥

अथ कोटिभुजांशान्तरार्धांशानामुक्तप्रकारेण ज्यासिद्धावपि लघुभूतप्रकारान्तरेण तज्ज्ञानं प्रकारान्तरप्रतिज्ञां चोपजातिकयाऽऽह—**दोःकोटिजीवेति** ।

भुजज्यातत्संबन्धिकोटिज्ययोरन्तरवर्गार्धपदं भुजकोट्यंशान्तरार्धांशानां ज्या स्यादित्यर्थः । अनेन केवलेनाऽऽनयनेन पूर्वप्रकारवत्सर्वजीवासिद्धिर्न स्यादिति कौतूहलादिदमान-

यनं भुजकोटिज्याभ्यामुक्तमिति ध्येयम् । ननूक्तप्रकारेण ज्यासाधनं स्थूलम् । मूलस्य निरवयवत्वेन सर्वत्रालाभात्सावयवत्वं च मूलस्य सूक्ष्मत्वानिश्चयादित्यत आह—वक्ष्य इति । अथ पूर्वोक्तप्रकारेषु मूलग्रहणसंभावनया स्थूलत्वं यद्युच्येत तर्हि समनन्तरमेव मूलग्रहणं विना । अपिशब्दाज्ज्यासाधनं वक्ष्ये कथयिष्ये । अत्रोपपत्तिः । भुजज्यां तत्कोटिज्यां च भुजज्यां प्रकल्प्य तत्कोटिज्ये च व्यत्ययेन भुजज्ये । तयोरतुल्ये । तद्वर्गयोगस्त्वन्तरवर्गो रन्तरे भुजकोटिज्यान्तरतुल्ये । तद्वर्गयोगस्त्वन्तरवर्गो द्विगुणोऽस्य मूलदलं कोटिभुजांशान्तद्विगुणोऽस्य मूलदलं कोटिभुजांशान्तरार्धांशानां ज्या । तत्र पूर्वमेव वर्गेण वर्गमित्युक्तत्वादर्धकरणार्थं चत्वारो हरस्ततो द्वयपवर्तनेनान्तरवर्गार्धमूलदलं कोटिज्येत्युपपन्नम् । वृत्तान्तः पूर्ववद्भुजकोटिज्यान्तरतुल्ये भुजकोटिजात्यत्र्यस्त्रे परिध्यासन्नेप्रत्यक्षे इति नानुपपन्नमेतत् ॥१४॥

अथ प्रतिज्ञातं ज्यासाधनप्रकारमिन्द्रवज्रयाऽऽह—**दोर्ज्याकृतिरिति ।**

भुजज्यावर्गस्त्रिज्यार्धेन भक्तः । फलोना त्रिज्या भुजकोट्यंशान्तरांशानां ज्या स्यात् । ननूक्तप्रकारेण जीवानामसिद्धिरेव । मूलभूतज्याचतुष्कमध्यस्थितभुजकोटिज्याभ्यामेकद्विराशिसंबन्धिन्यामेकराशिज्याया एवोक्तप्रकारेण सिद्धेः । अन्ययोर्भुजकोटिज्ययोरज्ञानादित्यत आह—ज्यार्धानीति । अत्र ज्योत्पत्तौ क्रियमाणामेवमुक्तप्रकारेण कानिचिज्ज्यार्धानि भवन्ति न सर्वाणीति कौतूहलाज्ज्ञातभुजकोटिज्याभ्यामुक्तं तदन्तरभागज्याज्ञानमित्यर्थः । यथा च त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेरित्यादिना तदर्धांशज्या साध्या । ततस्तत्कोटिज्या ताभ्यां भुजकोटिज्याभ्यामुक्तप्रकारेणान्तरभागज्या । अस्याः कोटिज्या । आभ्यां पुनरन्तरभागज्या । यत्रान्या न सिध्यति तत्र भुजज्यायाः कोटिज्याया वोक्तप्रकारेणार्धांशज्या । तस्याः कोटिज्या । ताभ्यामन्तरभागज्येति पुनः पुनर्यथावसरमुक्तप्रकारेण कानिचिज्ज्यार्धानि सिध्यन्तीति नासिद्धिरिति भावः । अत्रोपपत्तिः । दोःकोटिभागान्तरज्याज्ञानार्थं तदन्तरभागकोट्यंशानामुत्क्रमज्या साध्या । उत्क्रमज्योनत्रिज्याया दोःकोट्यंशान्तरभागज्यात्वात् । तत्र भुजांशोननवतयः कोट्यंशाः । एते भुजांशोना अन्तरभागा इति द्विगुणभुजांशोननवतिरूपा एषामुत्क्रमज्या साध्येति फलितम् । तत्रैतदर्धांशज्याया भुजज्यारूपायास्त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलमित्यनेन द्विगुणभुजांशोत्क्रमज्यात्रिज्याघातार्धमूलत्वेन ज्ञानाद्वैपरीत्येन भुजज्यावर्गो द्विगुणस्त्रिज्याभक्त इति पर्यवसितेनोत्क्रमज्याद्विगुणभुजांसानाम् । तत्र द्वयपवर्तनाद्दोर्ज्याकृतिर्व्यासदलार्धभक्तेति सिद्धम् । तदूनत्रिज्याभुजकोट्यंशानां ज्येत्युपपन्नं लब्धत्रिमौर्व्या विवरेणेत्यादि ॥१५॥

ननूक्तसाधनेभ्यस्त्रिभागान्तरेण त्र्यादिभागानां ज्या सिध्यति तदन्तर्गतसंपूर्णभागानामित्यतोऽग्रपूर्वज्यासाधनोपजीव्यं तदुत्तरं तत्प्रसङ्गाल्लघुभूतप्रकारेणाऽऽर्षसंमतचतुर्विंशतिजीवानां साधनं चानुष्टुप्पञ्चकेनाऽऽह—**स्वगोङ्गेष्विति ।**

भुजज्या स्वकीयेन नवषट्पञ्चरसांशेन हीना कार्या । गृहीतभुजज्यासंबन्धिकोटिज्या दशभिर्गुण्या । त्रिसप्तत्यधिकपञ्चशतभक्ता कार्या । तदैतत्फलयोर्योगोऽग्रजीवा । यदंशानां

भुजज्या गृहीता तदंशाग्रिमांशसंख्यामिवांशानां ज्या स्यात्। अन्तरं तत्फलयोरन्तरं पूर्व-सिञ्जिनी। गृहीतभुजज्यासंबन्ध्यंशेभ्यः पूर्वं यांऽशसंख्या तत्संमितांशानां ज्या स्यात्। उत्तरयति--प्रथमज्येति। एवं पूर्णं भुजज्यां च कोटिज्यां च प्रकल्प्योक्तरीत्याऽऽनीतफल-योरैक्यं प्रथमांशस्य ज्या भवेत्। उदाहरति--षष्टिरिति। अष्टत्रिसागरगुणमितायां त्रिज्यायां, प्रथमांशस्य षष्टमितोक्तप्रकारेण भुजज्याया अभावात्कोटिज्यायाश्च परमत्वात्को-टिफलस्यैव सत्त्वात्। कोटिफलं चोक्तत्रिज्यावशात्षष्टिरेव। ततः प्रथमज्यासिद्ध्यनन्तरं ततः प्रथमज्याया अन्या अंशद्वयादीनामुत्तरमुक्तप्रकारेण ज्याः साध्याः। प्रथमज्यायाः कोटिज्या साध्या। आभ्यायग्रसिञ्जिनी। अस्याः कोटिज्या। ततो भुजकोटिज्याभ्यां तद-ग्रज्येत्यादिनवतिनवतिसंख्याकाः ज्याः प्रत्यंशं स्युः। एवमेव त्रिज्यां भुजज्यां कोटिज्यां शून्यं प्रकल्प्य पूर्वसिञ्जिनी साध्या। सा, एकोननवत्यंशानां ज्या। अस्याः कोटिज्या। आभ्यामष्टाशीत्यंशानां पूर्वज्या ज्या। अस्याः कोटिज्या। भुजकोटिज्याभ्यामितरत्पूर्वज्ये-त्यादि वा प्रतिभागं नवतिसंख्याका ज्याः साध्याः। षष्टिर्निरुक्तं त्रिज्योक्तया। तदतिरिक्त-त्रिज्याकल्पनेऽप्युक्तप्रकारेण नवतिसंख्याकाः प्रत्यंशं ज्याः षष्ट्याद्यतिरिक्ताः सिध्यन्तीति स्पष्टं सूचितम्। एतेनोक्तप्रकारेण साधनमुक्तत्रिज्यायाम्। तदतिरिक्तत्रिज्यायां सुधीभिः स्वबुद्ध्योक्तभिन्नगुणहराभ्यामुक्तरीत्याऽऽनयनं कार्यं नोक्तप्रकारेणेति निरस्तम्। उक्त-प्रकारेण सर्वत्र त्रिज्यायां तत्सिद्धेरुपलम्भात्। अन्यथा षष्ट्युद्देशस्य व्यर्थत्वापत्तेः। नन्वेवं नवतिज्यासाधनमेव लाघवाद्युक्तं चतुर्विंशतिजीवासाधनं तु पूर्वोक्तप्रकारावगम्यत्वाद्गुरु-भूतमित्ययुक्तमित्यतश्चतुर्विंशतिज्यासाधनमुक्तरीत्यावगतलघुप्रकारेणाऽऽह—कोटिजीवेति। कोटिज्या शतगुणा। एकोनत्रिंशदधिकसार्धसहस्रभक्ता। ततः कोटिज्यासंबन्धिभुजज्या स्वकीयेन सप्तषष्ट्यधिकचतुःशत४६७भागेनोना। तद्योगसंमिता। तयोरानीतकोटिभुज-फलयोरैक्यतुल्या तदग्रज्या। येषामंशानां भुजज्या तदंशाः पादोनचतुष्टयांशाधिका येंऽशा भवन्ति तेषां ज्येत्यर्थः। तयोरानीतयोः कोटिभुजफलयोरन्तरं च समुच्चयं पूर्वसिञ्जिनी। भुजभागाः पादोनचतुष्टयांशोनतया ये भागास्तेषां ज्या। अपिः समुच्चये। चतुर्विंशति-जीवासाधनमुक्तरीत्या योजयति--तत्त्वदस्रा इति। एवं पूर्णं दोर्ज्यां त्रिज्यां च कोटिज्यां प्रकल्प्य प्रथमज्या तयोक्तरीत्या पादोनचतुष्टयांशानाम्। सा त्वत्र गजाग्निवेदाग्निमिता-त्रिज्यायां तत्त्वदस्रा रूपसप्तांशोनाः सिद्धाः। यथा कोटिज्या ३४३८ शतगुणा ३४३८०० गोदस्रतिथिभाजिता फलं २२४ शेषं १३०४ हराच्छुद्धं तत्त्वदस्राः। अनयोर्योगे हरतुल्य-हरेणैको लभ्यत इति तत्त्वदस्रैर्हरो भक्तः फलं किंचिदूनाः सप्त ६। ४७। ४४। स्वल्पा-न्तरात्सप्ताङ्गीकृताः। अतः सप्तांशोनास्तत्त्वदस्रा उक्ताः। एवमुक्तरीत्या ज्यापरम्परया प्रथमाया द्वितीया द्वितीयायास्तृतीया तस्याश्चतुर्थीत्यादियोगेन त्रिज्यातुल्यभुजज्याग्रहणे-नोक्तरीत्या वियोगेन तत्त्रयोविंशी द्वाविंशीत्यादि ज्यासिद्धं परम्परया। चतुर्विंश-तिसंख्याकाः प्राचीनोक्ता ज्या लाघवात्प्रकारान्तरेणोत्पद्यन्ते। पूर्वमुत्पादितत्वात्॥१६॥ १७॥१८॥१९॥२०॥

अथात्रोपपत्त्यवगमार्थं ज्याभावनया ज्यासाधनप्रकारमभीष्टत्रिज्यानुरोधेन ज्यासाधनं च पाटोस्थज्यासाधनोपेक्षां चानुष्टुप्पञ्चकेनाऽऽह—**चापयोरिति**।

अभीष्टयोरंशाद्यात्मकचापार्धयोर्ये भुजज्ये ते मिथः परस्परं कोटिज्यया गुणिते। अयमर्थः—इष्टांशयोर्भुजज्ये कोटिज्ये च स्थाप्ये। ततः प्रथमा भुजज्या द्वितीयकोटिज्यया गुण्येति। उभयत्र त्रिज्यया भक्ते तयोस्तदागतफलयोर्योगः। ययोश्चापयोरंशाद्यात्मकयोर्भुजज्ये गृहीते तयोरंशाद्यात्मकयोश्चापयोर्योगमितांशाद्यात्मकचापस्य भुजज्या स्यात्। अत्र भुजपदं कोटिज्यावारकं मन्दार्थमिति ध्येयम्। तयोरागतफलयोरन्तरतुल्या मूलभुजज्या संबन्ध्यंशाद्यात्मकचापयोरन्तरमितांशाद्यात्मकचापस्य जीवा स्यात्। ननूक्तप्रकारेणैकसाधैंकराशिज्ययोरसिद्धिरत आह-अन्यज्यासाधने इति। इयं चापयोरित्यादिसार्धानुष्टुभोक्ता ज्याभावना ज्याज्ञानक्षोदरूपविशेषप्रकारात्मिका। सम्यक्-सूक्ष्मा। अन्यज्यासाधने। एकसार्धैकराशिज्येतरज्यासाधननिमित्तं, उदितोक्ता। नैकसार्धैकराशिज्ययोरपि साधनार्थमुक्तेति न क्षतिरिति। भावः। ननूक्तज्यासाधनं द्विविधं भावनया कथं संगृह्यत इत्यत आह—समासभावनेति एका प्रथमा। तयोरैक्यरूपा समासभावना योगभावना। योगत्वात्। अन्या द्वितीया। तयोरन्तरसंमितेति सान्तरभावनाऽन्तरत्वात्। अतो भावनाद्वैविध्याच्चकारादुक्तज्यानयनयोस्तथा भावनात्वम्। तथा च भावनया द्विविधयानयनं युक्तमेव संगृहीतमिति भावः। अनेनार्धेनैतदुक्तज्यानयनयोः स्वोक्तबीजान्तर्गतवर्गप्रकृतिनिरूपणान्तर्गतकनिष्ठज्येष्ठपदसमासान्तरभावनाभ्यां—

> वाज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यं ह्रस्वं लघ्वीराहतिश्च प्रकृत्या।
> क्षुण्णा ज्येष्ठाभ्यासयुग्ज्येष्ठमूलं तत्राभ्यासः क्षेपयोः क्षेपकः स्यात्॥
> ह्रस्वं वज्राभ्यासयोरन्तरं वा लघ्व्योर्घातो यः प्रकृत्या विनिघ्नः।
> घातो यश्च ज्येष्ठयोस्तद्वियोगो ज्येष्ठं क्षेपोऽत्रापि च क्षेपघातः॥ इति।

निरूपिताभ्यां क्रमेणोपपत्तिरस्तीत्याचार्यैः सूचितम्। तथा हि। भुजज्यावर्गोनात्त्रिज्यावर्गान्मूलस्य कोटिज्यात्वादत्र वर्गप्रकृतिविषयत्वं कुत इति चेच्छृणु। भुजज्यावर्गोनत्वेनोद्देशाद्भुजज्यावर्गस्यर्णत्वं सिद्धम्। तेन स्वतो वर्गस्यर्णत्वासिद्धया विना ऋणाङ्कगुणनभजने तस्यर्णत्वासंभवाच्चर्णं तस्य गुणकोऽस्तीति सिद्धम्। स तु केवलभुजवर्गोद्देशादेकसंख्याक एव। एवं भुजवर्गोनत्वेन त्रिज्यावर्गोद्देशात्त्रिज्यावर्गस्य क्षेपकत्वसिद्धिः। तथा च भुजज्याया वर्ग ऋणैकगुणितस्त्रिज्यावर्गयुतस्तन्मूलं कोटिज्या ज्येष्ठपदरूपाऽर्थाद्भुजज्या कनिष्ठपदरूपा।

> इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णो युक्तो वर्जितो वा स येन।
> मूलं दद्यात्क्षेपकं तं धनर्णं मूलं तच्च ज्येष्ठमूलं वदन्ति॥

इति वर्गप्रकृतिस्वरूपप्रतिपादनात्। प्रकृतिरत्र वर्गस्य गुण इति ध्येयम्। अत एव कोटिज्यानयने वर्गप्रकृतिविषयत्वसूचनार्थमेवाऽऽचार्यैर्वर्गप्रकृतिसमाप्त्यवसरे—

ऋणगैः पञ्चभिः क्षुण्णः को वर्गः सैकविंशतिः ।
वर्गः स्याद्वद चेद्वेत्सि क्षयगप्रकृतौ विधिम् ॥

इत्युदाहृतम् । तस्माद्भुजज्याकोटिज्ययोः क्रमेण कनिष्ठज्येष्ठपदरूपत्वाद्

ह्रस्वज्येष्ठक्षेपकान्न्यस्य तेषां तानन्यान्वाऽधो निवेश्य क्रमेण ।
साध्यान्येभ्यो भावनाभिर्बहूनि मूलान्येषां भावना प्रोच्यतेऽतः ॥

तदुक्तत्वात्तुल्यातुल्यसमासान्तरभावनाभ्यां परम्परया बह्व्यो भुजज्यास्तत्कोटिज्याश्च भवन्त्येव । तथा च भुजज्याकोटिज्यात्रिज्यावर्गाणां कनिष्ठज्येष्ठक्षेपरूपाणां पङ्क्त्योराद्य-द्वितीयपदप्रथमाक्षरोपलक्षणपूर्वकमसंकरार्थं न्यासः ।

आ० भु १ आ० को १ त्रिव १ ।
द्वि० भु १ द्वि० को १ त्रिव १ ।

अत्र वज्रस्य तिर्यक्प्रहारस्वभावत्वाज्ज्येष्ठलघ्वोस्तिर्यग्गुणनम् । तेन प्रथमकनिष्ठेन द्वितीयं ज्येष्ठं गुणनीयम् । द्वितीयकनिष्ठेन प्रथमं ज्येष्ठं गुणनीयमिति प्रकृते "चापयोरिष्ट-योर्दोर्ज्ये मिथः कोटिज्यकाहते" इत्युपपन्नम् । अनयोर्योगोऽन्तरं वा ह्रस्वम् । ज्येष्ठं तु प्रकृते भुजज्याघातोनः कोटिज्याघातः । योगकनिष्ठसंबन्धि । अन्तरकनिष्ठसंबन्धि ज्येष्ठं तु भुजज्याघातयुतः कोटिज्याघातः । क्षेपस्तूभयत्र त्रिज्यावर्गवर्ग इति भावः । नातः सिद्धः । एते कनिष्ठज्येष्ठे त्रिज्यावर्गवर्गक्षेपे सिद्धे इति सर्वत्र भुजकोटिज्ययोस्त्रिज्यावर्गक्षेप-संबन्धत्वात् ।

इष्टवर्गहृतः क्षेपः क्षेपः स्यादिष्टभाजिते ।
मूले ते स्तोऽथवा क्षेपः क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे ॥

इत्यनेन भावनासिद्धकनिष्ठज्येष्ठे त्रिज्याभक्ते त्रिज्यावर्गक्षेपसंबन्धिकनिष्ठज्येष्ठे भुज-कोटिज्यारूपे भवतस्तत्र भुजज्ययोः परस्परकोटिज्यागुणितयोर्योगान्तररूपे ह्रस्वे त्रिज्याभक्ते त्रिज्याभक्तयोस्तयोर्योगान्तरे वा कनिष्ठे । अनयोस्तुल्यत्वेन त्रिज्याभक्तयोस्तयोर्योगान्तरे क्रमेण समासान्तरभावनासंबन्धिकनिष्ठे चापैक्यान्तरतुल्यभुजयोर्ज्ये । समासान्तरभावनाभ्या-मुत्पन्नत्वात् । एवं भूजज्याघातयोस्त्रिज्याभक्तयोरन्तरयोगौ क्रमेण ज्येष्ठे तत्कोटिज्यारूपे वक्तुमुचिते अपि गौरवादुपेक्षिते । लाघवाद्भुजज्यावर्गोनात्त्रिज्यावर्गान्मूलस्य कोटिज्यात्वेन ज्ञानात् । भावनोपपत्तिस्तु गुरुतरकृष्णगणकरचितायामाचार्यबीजटीकायां सुबोधा । यथा हि–तत्रासंकरार्थमाद्यद्वितीयादिपदप्रथमाक्षरोपलक्षणपूर्वकं बीजक्रिया लिख्यते । यथा— कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाणां पङ्क्त्योर्न्यासः आक १ आज्ये १ आक्षे १

द्विक १ द्विज्ये १ द्विक्षे १

अथ 'इष्टवर्गहृतः क्षेपः क्षेपः स्यात्' इति वक्ष्यमाणसूत्रोक्तेन 'क्षेपः क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इत्यनेन प्रकारेण परस्परज्येष्ठमिष्टं प्रकल्प्य पङ्क्त्योर्जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः ।

द्विज्ये० आक १ द्विज्ये० आज्ये १ द्विज्येव० आक्षे १ ।
आज्ये० द्विक १ द्विज्ये० आज्ये १ आज्येव० द्विक्षे १ ।

अत्रोर्ध्वपङ्क्तौ द्वितीयज्येष्ठवर्गगुणित आद्यक्षेपोऽस्ति । तत्र द्वितीयज्येष्ठवर्गोऽन्यथा साध्यते । द्वितीयकनिष्ठवर्गः प्रकृतिगुणो द्वितीयक्षेपयुतो जातो द्वितीयज्येष्ठवर्गः । द्विकव० प्र १ द्विक्षे १ । अनेन गुणित आद्यक्षेपो जातः खण्डद्वयात्मकः क्षेपः । द्विकव० प्र० आक्षे १ द्विक्षे आक्षे १ । अत्र प्रथमखण्ड आद्यक्षेपोऽन्यथा साध्यते । ज्येष्ठवर्गे हि खण्डद्वयमस्ति । प्रकृतिगुणः कनिष्ठवर्ग एकम् । क्षेपोऽपरम् । तत्र ज्येष्ठवर्गात्प्रकृतिगुणे कनिष्ठवर्गे शोधिते क्षेप एवावशिष्यते । अत आद्यकनिष्ठवर्गः प्रकृतिगुण आद्य ज्येष्ठवर्गादपनीतो जात आद्यः क्षेपः । आकव० प्र १ आज्येव १ । अयं प्रकृतिगुणेन द्वितीयकनिष्ठवर्गेण गुणितः सन्प्रकृतक्षेपाद्यखण्डं भवेदिति जातमाद्यं खण्डं खण्डद्वयात्मकम् ।

द्विकव० प्र० आकव० प्र १ द्विकव० प्र० आज्येव १ ।

अत्र प्रथमखण्डे प्रकृत्या वारद्वयं गुणनाज्जातं प्रकृतिवर्गेण गुणनम् । तथा सति जातं प्रथमखण्डम् । द्विकव० आकव० प्रव १ । एवमूर्ध्वपङ्क्तौ जातः खण्डत्रयात्मकः क्षेपः ।

द्विकव० आकव० प्रव १ द्विकव० प्र० आज्येव १ द्विक्षे० आक्षे १ ।
अनयैव युक्त्या द्वितीयपङ्क्तावपि जातः खण्डत्रयात्मकः क्षेपः ।

द्विकव० आकव० प्रव १ आकव० प्र० द्विज्येव १ द्विक्षे० आक्षे १ । एवं पङ्क्तिद्वये जाताः कनिष्ठज्येष्ठपदक्षेपाः ।

द्विज्ये० आक १ द्विज्ये० आज्ये १
आज्ये० द्विक १ द्विज्ये० आज्ये १

द्विकव० आकव० प्रव १ द्विकव० प्र० आज्येव १ द्विक्षे० आक्षे १
द्विकव० आकव० प्रव १ आकव० प्र० द्विज्येव १ द्विक्षे० आक्षे १

अत्र ज्येष्ठलघ्वोरेकोऽभ्यास ऊर्ध्वपङ्क्तौ कनिष्ठम् । अपरोऽभ्यासो द्वितीयपङ्क्तौ कनिष्ठम् । ज्येष्ठं तूभयत्र ज्येष्ठाभ्यासरूपमेकमेव अत्र प्रत्येकं वज्राभ्यासस्य कनिष्ठकत्वकल्पने क्षेपो महान् स्यादित्याचार्यैरन्यथा यतितम् । तद्यथा—वज्राभ्यासयोगः कनिष्ठं कल्पितम् । द्विज्ये० आक १ आज्ये० द्विक १ । अस्य वर्गः ।

द्विज्येव० आकव १ द्विज्ये० आक० आज्ये० द्विक २ आज्येव० द्विकव १ ।
प्रकृतिगुणः ।

द्विज्येव०आकव० प्र १ द्विज्ये०आक० आज्ये द्विक०प्र २ आज्येव० द्विकव० प्र १ ।

अयं केन क्षेपेण युतः सन्मूलदः स्यादिति विचार्यते । तत्रास्य खण्डद्वयम् ।

एकैकवज्राभ्यासजज्येष्ठवर्गतुल्यमेकम् । शेषमपरम् । तत्र कनिष्ठवर्गः प्रकृतिगुणः क्षेपयुतो ज्येष्ठवर्गः स्यादिति जातौ पङ्क्तिद्वये ज्येष्ठवर्गौ ।
द्विज्येव० आकव० प्र १ द्विकव० आकवः० प्रव १ द्विकव प्र० आज्येव १ द्विक्षे० आक्षे १ ।
आज्येव० द्विकव० प्र १ द्विकव० आकव० प्रव०१ आकव०प्र० द्विज्येव १ द्विक्षे १ आक्षे १ ।

पङ्क्तिद्वयेऽपि ज्येष्ठाभ्यासलक्षणस्य ज्येष्ठस्य तुल्यत्वादेतौ ज्येष्ठवर्गावपि तुल्यावेव । तृतीयोऽयमपि । द्विज्येव० आज्येव १ । अथ वज्राभ्यासयोगरूपकल्पितकनिष्ठस्य वर्गात्प्रकृतिगुणादस्मात्

द्विज्येव०आकव०प्र १ द्विज्ये०आक० आज्ये० द्विक० प्र २ । आज्येव० द्विकव प्र १ ।
ज्येष्ठवर्गद्वयेऽपि पृथक्पृथगपनीते शेषं तुल्यमेव
द्विज्ये० आक० आज्ये० द्विक० प्र २ । आकव ०द्विकव० प्रव १ आक्षे० द्विक्षे १ ।

इदं शोधितेन ज्येष्ठवर्गेण पुनर्यदि योज्यते तर्हि कल्पितकनिष्ठवर्गः प्रकृतिगुणो यथास्थितः स्यात् । अथायमपि ज्येष्ठवर्गः । द्विज्येव ० आज्येव १ शोधितेन सम इति । अनेन योगे जातः कल्पितकनिष्ठवर्गप्रकृतिगुणः । द्विज्येव० आज्येव १ द्विज्ये० आक० आज्ये० द्विक० प्र २ । आकव० द्विकव० प्रव १ । आक्षे० द्विक्षे १ ।

अस्मात्क्षेपघातेन युक्तात् 'कृतिभ्य आदाय पदानि' इत्यादिना पदमिदं द्विज्ये० आज्ये १ आक ० द्विक० प्र १ लभ्यत इत्युपपन्नं 'लघ्वोराहतिश्च प्रकृत्या क्षुण्णा ज्येष्ठाभ्यासयुग्ज्येष्ठमूलम्' इत्यादि । एवं वज्राभ्यासयो रन्तरं कनिष्ठं प्रकल्प्योक्तयुक्त्याऽन्तरभावनोपपत्तिरपि द्रष्टव्येति । एतेन केनचिद्भावनाप्रकार उपलब्धिरेव वासनेत्युक्तं तत्स्वाज्ञानवशादित्यवधेयम् । अथेष्टवर्गहृतः क्षेपः क्षेपः स्यादिति सूत्रोपपत्तिस्तु तैर्जगद्गुरुभिरेवोक्ता । सा यथा ।

वर्गराशिर्वर्गेण गुणितो भक्तो वा वर्गत्वं न जहतीति सुप्रसिद्धम् । प्रकृते कनिष्ठवर्गं कव १ प्रकृतिगुणः क्षेपयुतो ज्येष्ठवर्गो भवतीति जातो ज्येष्ठवर्गः कव० प्र १ क्षे १ । अथोभयोरपीष्टवर्गेण गुणितयोर्न्यासः ।

इव० कव १ इव० कव० प्र० १ इव० क्षे १ ।

अत्रकनिष्ठज्येष्ठवर्गयोरिष्टवर्गेण गुणनात्तत्पदयोरिष्टमेव गुणकः स्यात् । यतो यैवेष्टवर्गकनिष्ठवर्गाहतिः स एव कनिष्ठहतिवर्गः । एवं ज्येष्ठवर्गेऽपि । इष्टकनिष्ठाहतिवर्गस्य पदं त्विष्टकनिष्ठाहतिरेव स्यात् : एवं ज्येष्ठवर्गस्यापि । अथात्र क्षेपविचार. । प्रकृतिगुणस्य कनिष्ठवर्गस्य केवलज्येष्ठवर्गस्य च यदन्तरं स हि क्षेपः । प्रकृते च तदन्तरालमिष्टवर्गहतः पूर्वक्षेपः । एवमेवेष्टवर्गेण कनिष्ठज्येष्ठवर्गयोर्हरणेऽपि । तदेवमुपपन्नमिष्टवर्गहृतः क्षेप इत्यादीति तत्त्वमाचार्याभिमतम् । कथमन्यथा समासभावना चैकेत्यायत्रोक्तं संगच्छते । केचित्तु त्रिज्याव्यासार्धेन वृत्तं कृत्वा समचतुर्भागाङ्कितेन पूर्वापरा याम्योत्तरा रेखाः

कार्याः। तत्र वृत्तचतुर्थांशे पूर्वापररेखातोऽबृहद्भुजज्यार्धे ज्याकारा सव्यक्रमेणाङ्क्या। तदग्रस्पृष्टपरिधिप्रदेशात्केन्द्रपर्यन्तं त्रिज्यामिता रेखा कार्या। तस्याः पुनस्तत्पद एव लघुभुजज्यार्धज्याकारा सव्यक्रमेणाङ्क्या। तदग्रस्पृष्टपरिधिप्रदेशात्केन्द्रपर्यन्तं त्रिज्यामिता रेखा कार्या। पूर्वापररेखातो लघुभुजज्याग्रपरिधिप्रदेशयोगचिह्नपर्यन्तमर्धज्याकारा रेखा चापैक्यभुजज्या सा भूमिः। लघुभुजज्या लघुर्भुजः। लघुभुजज्यामूलचापैक्यभुजज्यामूलयोरन्तररेखा बृहद्भुजज्यातुल्या प्रत्यक्षप्रमाणावगता बृहद्भुजः। लघुभुजज्यामूलाद्भूमिपर्यन्तं लम्बरेखा लम्ब इत्येतच्छृङ्गाटकाकारक्षेत्राबाधायोगो भूमिरिति तज्ज्ञानार्थमाबाधे साध्ये। तत्र वृहद्भुजज्या भुजस्तन्मूलकेन्द्रान्तरं पूर्वापररेखायां कोटिल्यातुज्यं कोटिः केन्द्रबृहद्भुजज्याग्रान्तरं त्रिज्याकर्ण इति क्षेत्रात्त्रिज्याकर्णे बृहद्भुजज्यासंबन्धिकोटिज्या कोटिस्तदा लघुभुजज्याकर्णे का कोटिरित्यनुपातेन लम्बभूमिसंयोगाल्लघुभुजज्याग्रपर्यन्तं भूखण्डं कोटिर्लब्धाऽऽबाधा। एवं लघुभुजज्या भुजस्तन्मूलकेन्द्रान्तरं कोटिज्या कोटिर्लघुभुजज्याग्रकेन्द्रान्तरं त्रिज्याकर्ण इति क्षेत्रे त्रिज्याकर्णे लघुभुजज्यासंबन्धिकोटिज्या कोटिस्तदा बृहद्भुजज्यामितवृहद्भुजज्यातुल्यकर्णे केत्यनुपातेन लम्बभूसंयोगाच्चापैक्यज्यामूलपर्यन्तं भूखण्डं कोटिर्वृहदाबाधा तयोर्योगश्चापैक्यज्येति सिद्धम्। अथ त्रिज्यावृत्ते बृहद्भुजज्यार्धज्याकारा सव्यक्रमेणाङ्क्या। तत्कर्णरेखाया लघुभुजज्याऽपसव्येन देया। तदग्रकेन्द्रान्तरे त्रिज्यामिता रेखा तदग्रस्पृष्टपरिधिप्रवेशपर्यन्तं पूर्वापररेखाया अर्धज्यासव्यक्रमेण सा चापान्तरज्या। तज्ज्ञानार्थं लघुभुजज्यामूलात् पूर्वापररेखापर्यन्तमूर्ध्वा रेखा कार्या। सा कोटिश्चापान्तरज्या मूललघुभुजज्या मूलयोरन्तरं बृहद्भुजज्यामितं प्रत्यक्षप्रमाणावगतं कर्ण इति क्षेत्रस्य त्रिज्याकर्णे लघुभुजज्यासंबन्धिकोटिज्या कोटिस्तदा बृहद्भुजज्याकर्णे केत्यनुपातेन कोटिज्ञानम्। एतत्कोटिरेखापर्यन्तं लघुभुजज्याग्राल्लम्बरेखा कोटिर्लघुभुजज्या कर्णस्तदन्तरपूर्वकोटिरेखैकदेशो भुजस्तज्ज्ञानं च त्रिज्याकर्णे बृहद्भुजज्यासंबन्धिकोटिज्याभुजस्तदा लघुभुजज्याकर्णे को भुज इत्यनुपातेन। ततस्तयोर्ज्ञातकोटिभुजयोरन्तरं कोटिरेखैकदेशरूपं चापान्तरज्यातुल्यं प्रत्यक्षमित्युपपन्नं चापयोरिष्टयोर्दोर्ज्ये इत्यादीति वदन्ति। तत्र बृहद्भुजज्यातुल्यकर्णसूत्रस्य युक्त्यनुपपादितत्वात्। क्षेत्रानुपातसंबन्धानामनुपपादितत्वेनोक्तानुपाते मानाभावाच्च। अन्यथा त्रिज्याकर्णे भुजज्या कोटिस्तत्कोटिज्या वा कोटिस्तदा भुजज्याकर्णे का कोटिरित्यनुपातादिभिर्भुजज्यावर्गस्य भुजकोटिज्यावधस्य वोत्पत्तेरनिवारितत्वापत्तेरित्यादीति दिक्।

अन्ये त्वत्रेष्टचापचापैक्यज्ययोरन्तरं साध्यते तत्रानुपातः—यदि त्रिज्यातुल्यकोटिज्यया लघुचापदोर्ज्यातुल्यं बृहच्चापैक्यज्यान्तरं लभ्यते तदा बृहच्चापकोटिज्यया किमिति जातं बृहच्चापचापैक्यज्ययोरन्तरम्। एवं यदि त्रिज्या तुल्यकोटिज्यया बृहच्चापदोर्ज्यातुल्यं लघुचापचापैक्यज्ययोरन्तरं लभ्यते तदा लघुचापकोटिज्यया किमिति जातं लघुचापचापैक्यज्ययोरन्तरम्। यदा शून्यमितमेकं चापं द्वितीयं स्वेष्टं तदा स्वेष्टचापज्यातुल्यमेव शून्यमितज्याचापैक्यज्ययोरन्तरमिति बालैरपि बुध्यते। तस्माद्युक्तोऽयमनुपातः। बृहल्लघुसंज्ञे

चापयोरसंकरार्थं धृते । अत उक्तं चापयोरिष्टयोरित्यादि त्रिज्याभक्ति इत्यन्तम् । अनयोर्लब्धयोर्योगः स्वल्पान्तरत्वाच्चापैक्यज्येत्युक्तम् । ननु लघुचापजीवायां लघुचापैक्यज्यान्तरं योज्यं बृहच्चापजीवायां बृहच्चापैक्यज्यान्तरं वा योज्यमित्येव पूर्वोक्तयुक्तिसिद्धं कथं लब्धयोर्योगस्तदैक्यज्ये इत्युक्तमिति चेदुच्यते । तथा कृते तत्त्वाश्विनो नन्दसमुद्रवेदा इति पठितज्यया चापैक्यज्यायाः साम्यादर्शनात्तस्यात्रापि तुल्यत्वाद्वासनामपलपितुं लब्धयोर्योगश्चापैक्यज्येत्युक्तम् । एवं लब्धयोरन्तरं चापान्तरज्येति । यदा(था) तदुपपत्तिः सोदाहरणा । यत्र त्रिभमध्ये चतुर्विंशतिर्जीवास्तत्र प्रथमज्या तत्त्वाश्वितुल्या । तत्त्वाश्विकलाप्रमाणेन पञ्चमनवमजीवाज्ञाने तत्कोटिज्याज्ञाने च चापैक्यज्यासाधनेन चतुर्दशी जीवा ज्ञायते । चापान्तराज्यासाधनेन चतुर्थी ज्ञायते । पञ्चमजीवायाश्चतुर्द्दशजीवायाश्चान्तरं नवमितज्याखण्डात्मकं न च तुल्यानुपातैः साध्यते । यदि त्रिज्यातुल्यकोटिज्यया प्रथमं तत्त्वाश्वितुल्यं ज्यान्तरं लभ्यते तदैकोनविंशतिज्यातुल्यकोटिज्यया किमिति जातं पञ्चमषष्ठज्ययोरन्तरम् । पुनरनुपातः । त्रिज्यातुल्यकोटिज्यया द्वितीयं ज्याखण्डकं तदैकोनविंशतिजीवातुल्यकोटिज्यया किमिति षष्ठसप्तमज्ययोरन्तरम् । एवं सप्तानुपातैः सप्त खण्डानि साध्यानि । ततस्तेषां योगः पञ्चमज्यायाश्चतुर्दशज्यायाश्चान्तरं भवति । तस्मादेकोनविंशतिज्यातुल्या लघुचापकोटिज्या तत्त्वाश्विप्रमुखानि यानि क्रमेण नवसंख्याकानि ज्यान्तराणि तैर्नवधा गुणनीया । सर्वत्रापि त्रिज्यया भाज्येति प्राप्ते 'एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ तदा गुणैक्यमेवैको गुणः' इति युक्त्या लघुचापकोटिज्यायास्तत्त्वदस्राद्यात्मकनवखण्डयोगो नवमीजीवातुल्य एव गुणः कृतः । हरस्तु त्रिज्यैव । अत्र नवमी जीवैव बृहच्चापजीवा संजातेत्युक्तं चापयोरित्यादि । एवं बृहच्चापकोटिज्यातोऽपि ज्यान्तरं साध्यम् । शेषं पूर्ववदित्यालपन्ति । तत्तुच्छम् । अन्यतरशून्यभुजज्यासंभवे भवदुक्तस्य सिद्धेस्तदन्यत्र तदप्रसिद्धेर्ज्यान्तरस्य खण्डात्मकत्वेन लघुचापचापैक्यज्यान्तरस्य लघुदोर्ज्यादिचापैक्यदोर्ज्यान्तरखण्डयोगात्मकत्वादुक्तानुपाते परस्परकोटिज्याप्रमाणेन प्रथमादिज्याखण्डयोगात्मकभुजज्यायाः सिद्धेस्तदसिद्धेः । अन्यथा लघुचापजीवायामेव लघुचापैक्यज्ययोरनुपातसिद्धान्तरयोजनेन, बृहच्चावजीवायां बृहच्चापचापैक्यज्ययोरवगतान्तरयोजनाद्वा चापैक्यज्यासंभवापत्तेः । द्वयोरागतान्तरयोगे चापैक्यज्योत्पत्तौ युक्त्यभावाच्च ।

ननु बृहच्चापभुजज्याशून्यकल्पनेन प्रथमानुपातानीतं तदन्तरमतिस्थूलं बृहच्चापभुजज्या परमत्वेलघुचापभुजज्यासत्त्वेनैक्यज्याया लघुचापकोटिज्यात्वाद्बृहच्चापैक्यचापज्ययोरन्तरस्य लघुचापभुजोत्क्रमज्यामितरस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य पूर्वानुपातेन बृहद्भुजज्यासंबन्धिकोटिज्याया अभावादसिद्धेः । नहि तत्र लघुभुजज्याभाववत्तत्सद्भावेऽपि शून्यमन्तरं युक्तम् । अतस्त्रिज्यातुल्यया बृहद्भुजज्यायामेव लाघवात्समच्छेदविधिना हीनं कृतमतस्त्रिज्यातुल्यया बृहद्भुजज्यया लघुचापभुजोत्क्रमज्यातुल्यं बृहच्चापैक्यचापज्ययोरन्तरं तदा बृहद्भुजज्यया किमित्यनुपातसिद्धान्तरेण हीनं सत्सूक्ष्ममन्तरं स्यात् । उत्क्रमज्याहीनत्रिज्यायास्तत्रैक्यज्यात्वात् । तत्र द्वितीयानुपातज्यान्तरं बृहद्भुजज्यायामेव लाघवात्समच्छे-

दविधिना हीनं कृतमतस्त्रिज्याबृहद्भुजज्ययोर्घात उत्क्रमज्याघातोनस्त्रिज्याभक्त इति सिद्धमत्रापि लाघवाद्बृहद्भुजज्यागुणस्योभयत्र तुल्यत्वादुत्क्रमज्योनत्रिभज्योनत्रिज्या लघुचापकोटिज्यारूपा बृहद्भुजज्यया गुण्या त्रिज्या भक्तेति फलं बृहद्भुजज्यास्थानीयं पूर्वानुपातजस्थूलान्तरेण युक्तमैक्यज्या। एवमन्तरचापज्यासाधनार्थं त्रिज्यातुल्यबृहद्भुजज्याया लघुभुजकोटिज्याया एवान्तरचापज्यात्वाल्लघुभुजोत्क्रमज्यानीतान्तरेण बृहद्भुजज्या हीना कार्येति प्रागुक्तरीत्या बृहद्भुजज्यालघुचापकोटिज्याघातस्त्रिज्याभक्त इति सिद्धम्। बृहद्भुजज्याभाव उक्तरीत्यसिद्धेस्तत्र लघुभुजज्यातुल्यमेव बृहद्भुजज्यायुक्तान्तराचापज्यामानमिति प्रथमानुपातागतं लघुबृहद्भुजज्यान्तरं चापज्ययोरैक्यत्वेन सिद्धमतोऽस्मिन्बृहद्भुजज्यास्थानीयं पूर्वसिद्धं हीनं कार्यम्। शेषमन्तरं चापज्येति युक्तमुपपन्नमिति चेन्न। अनुपातयोरुभयभुजज्यासंबन्धात्तदुभयसंबन्धेन भावाभावयोरप्रसिद्धयाऽनौचित्यप्रसङ्गात्। क्वचिदपि ग्रन्थेऽनया रीत्याऽनुपातोक्तेरभावाच्च। स्थूलानुपातजफलाभ्यां युतहीनाभ्यां सूक्ष्मैक्यज्यासिद्धौ युक्त्यभावात्। स्थूलत्वापत्तेश्च। नहि प्रथमानुपातजफलयुक्तभुजज्याया ऐक्यसूक्ष्मभुजज्याया यदन्तरमधिकं तत्समप्रमाणं द्वितीयस्थूलानुपाते सिद्धम्। यनोक्तरीत्या सूक्ष्मैक्यज्यायां संशयानुत्पादः। अन्तरचापज्योत्पत्तौ तु प्रथमानुपातागतफले बृहद्भुजज्यान्तरं चापैक्यत्वेन सिद्धौ मानाभावः। कच यथाकथंचिदुपपत्तौ शून्यत्रिज्यामितबृहद्भुजज्ययोः क्रमेण लघुभुजज्याकोटिज्ययोरैक्यान्तरचापज्यात्वादुक्तप्रकारानुरोधेन कल्पितऋज्वनुपाताभ्यामागतस्थूलैक्यान्तरज्ययोर्योगान्तरे सूक्ष्मैक्यान्तरज्यासिद्धिरिति लाघवेनोत्क्रमज्यानिरपेक्षतयोपपत्तिकल्पनेनैनं भवदुक्तैतत्समाधनं च व्युत्क्रमजमेवेति। न च मत्समाधानं लाघवोपपत्तितात्पर्यकमिति वाच्यम्। अनुपातागतयोरैक्यान्तरयोर्योगान्तर ऐक्याण्तरचापज्यासिद्धौ मानाभाव इति दिक्।

एवमेव द्वितीयोत्पत्तावपि प्रथमद्वितीयतृतीयज्यान्तरेभ्य एकोनविंशतिजीवाया अनुपातेनाऽऽनीतनवभोग्यखण्डानां योगस्यैकोनविंशतिजीवाप्रमाणासिद्धनवमजीवारूपत्वान्न पञ्चमचतुर्दशजीवान्तरत्वमिति मन्दानामपि गणितेन सुनिर्णीतत्वात्परमेश्वरलीलानुगृहीतव्यधिकरणशरीरसंसूचनकनामधारिणां रूपवैयधिकरण्याभावेऽपि बुद्धिवैयधिकरण्यं समुचितमेवान्यथा तदभिधाव्याघात इत्यलमत्यसंगतेतरदोषगवेषणया। स्यादेतत्। चापयोरिष्टयोर्दोर्ज्ये इत्याद्युक्तज्यासाधनेन पूर्वोक्ताग्रपूर्वजीवासाधनं भवति चतुर्विंशतिज्यामित्यन्तर्गतमुत्पद्यत इति तदाभासे सूचनात्कथमेतदिति चेच्छृणु। राश्यष्टभागज्यायाः सूर्यादिभिर्वनुस्तुल्यत्वेनाङ्गीकारादेकांशज्यायास्तु सुतरामित्येकांशज्या षष्टिर्गजाग्निवेदराममितत्रिज्याप्रमाणेन सिद्धा। तदुक्तज्यानयनप्रकारेण च वा तस्याः कोटिज्या सूक्ष्माष्टावयवाधिकचतुर्विंशत्यवयवधिकैकत्रिंशदवयवोनत्रिज्या ३४३७।२८।३५।५२ यदंशानां ज्या ज्ञाता तस्या एकांशज्यया समासभावनया तदग्रिमांशानां ज्यासिद्धिरन्तरभावनया तत्पूर्वांशानां ज्यासिद्धिस्तथा हि ज्ञातभुजज्या चापयोरिष्टयोर्दोर्ज्ये इत्यादिनैकांशकोटिज्ययाऽनया ३४३७।२८।३५।५२ गुण्या। त्रिज्यया भाज्येति गुणो लाघवात्त्रिज्यामितो धृतस्ततस्तयोस्तुल्यत्वान्नाशाद्भुजज्या-

गुणस्याधिकत्वेन ग्रहाद्वास्तवावयवगुणयोरन्तर ३१।२४।८ गुणिता भुजज्या त्रिज्याभक्ता फलेनोना च । एकांशकोटिज्यागुणितज्ञातभुजज्या त्रिज्याभक्तेति सिद्धं भवति । तत्र गुणान्तररूपगुणः ३१।२४।८। त्रिज्याहरयोर्गुणापवर्ततेन गुणस्थाने रूपं हरस्थाने द्व्यवयवोननन्दरसबाणरसमितास्ते स्वल्पान्तरात्तुल्या एव धृताः ६५६९ । अतः 'स्वगोङ्गेषु षडंशेन वर्जिता भुजसिञ्जिनीति भुजफलं संजातम् । अथ ज्ञातभुजज्यासंबन्धिकोटिज्यैकांशभुजज्यया षष्टिरूपया गुण्या त्रिज्यया भाज्येति गुण ६० हरौ ३४३८ षड्भिरपवर्तितौ गुणस्थाने दश हरस्थाने त्रिसप्तेषवः । अतः कोटिज्या दशभिः क्षुण्णा त्रिसप्तेषुविभाजितेति कोटिफलं संजातम् । तयोरैक्यं स्याच्चापैक्यस्य दोर्ज्यकेत्युक्तेस्तदैक्यमग्रजीवा स्यादित्युक्तम् । चापान्तरस्य जीवा स्यात्तयोरन्तरसंमितेत्युक्तत्वादन्तरं पूर्वशिञ्जिनीत्युक्तं च । एतदानयनेनाषोंक्तत्रिज्यातः प्रथमज्या षष्टिर्भवत्येवेति किं चित्रम् । एवमुक्तानयनस्यैकांशान्तरत्वेन सिद्धत्वात्परम्परया प्रत्यंशं ज्यासिद्धिरनेन भवत्येव । षष्टिज्यायाः सूर्याभिमतत्रिज्याप्रमाणेन ज्ञानात्तन्मूलकत्वेनेदमानयनं मया कल्पितमिति सूचनार्थं व्यासार्धेष्टगुणाब्ध्यग्नितुल्ये इत्युक्तम् । कथमन्यथेतरत्रिज्याप्रमाणेनैकांशज्याया अज्ञानादेतत्कल्पनं संगच्छते ।

ननु तदन्यत्रिज्याप्रमाणेन भुजज्याकोटिज्ययोर्ग्रहण उक्तप्रकारे व्यभिचारस्तद्वारणार्थं तत्त्रिज्योद्देशः । इष्टत्रिज्यानुरोधेन भुजकोटिज्ययोर्ग्रहणेऽप्युक्तप्रकारस्याव्यभिचाभितत्वात् । इष्टत्रिज्यावशेनैवैकांशभुजकोटिज्ययोः कोटिभुजागुणकयोरुक्तार्षत्रिज्यानुपातसिद्धयोरपवर्तनेनेष्टत्रिज्यायाश्च तदपवर्तने चाविकृतगुणहरयोरुक्तयोरेव सिद्धेः । अत एव षष्ट्यादयो नवतिसंख्याका ज्या अष्टगुणाब्ध्यग्निमितत्रिज्याकल्पनेनैव । न तदितरत्रिज्याकल्पनेन सिद्धा इति पूर्वं व्याख्यातं सम्यगेव । ननु सूर्याभिमतत्वेनैकांशज्यायाः षष्टिमिताया अङ्गीकारः सूक्ष्मप्रमेयं वदतां भास्कराचार्याणां नोचितः । चापजीवयोस्तुल्यत्वाभावात् । अन्यथा शेषेभ्य एव सर्वत्र गणितसाधनापत्त्या ज्योत्पत्तिनिरूपणोद्योगस्य व्यर्थत्वापत्तेरिति चेन्न । वृत्तेऽतिसूक्ष्मभागस्य समत्वावश्यंभावात्तन्मितचापस्य ज्यायास्तत्तुल्यत्वसंभवादन्यथाऽऽमलकादौ सर्षपाद्यवस्थानानुपपत्तिस्तत एकांशेऽङ्गीकृतम् । सूर्याद्युक्तराश्यष्टभागसमत्वापेक्षया सूक्ष्मत्वात् । ततोऽप्यधः कलादिष्वनवस्थानात् । तज्ज्यानयनप्रकारस्यातिप्रयासज्ञेयत्वेन सर्वैरनुक्तेश्च । इह किल त्रिज्याव्यासार्धेन वृत्तं कृत्वा तत्र यदर्धधनुर्वाऽर्धज्या ज्ञाता सा द्विगुणा संपूर्णधनुषः संपूर्णज्याभूमिः । धनुः समत्रिभागाङ्कितम् । तत्राङ्कयोरन्तरसूत्रं महत्संपूर्णधनुस्त्रिभागरूपाल्पसंपूर्णधनुः संपूर्णज्यारूपं स्थानत्रयस्थितं यथायोग्यं भुजौ मुखं पार्श्वस्थितौ भुजौ। मध्ये मुखम् । तत्रांशद्वयसंपूर्णधनुः संपूर्णज्यासूत्रं कर्णस्तत्तुल्यस्तत्र द्वितीयः कर्णः । कर्णोर्ध्वाग्रभूम्योरन्तरसूत्रं लम्बद्वयं तुल्यमेव । विरामचतुर्भुजं समकर्णं समलम्बं क्षेत्रं पादयुक्तरीत्या सुव्यक्तम् । लम्बमध्ये लम्बमुखाभ्यामानयतचतुर्भुजं प्रत्यक्षमिति मुखोनभूमिर्लम्बाग्राभ्यामासन्नभूम्यग्रपर्यन्तं भूम्यैकदेशो तयोरैक्यम् । तदर्धं लम्बाग्रादासन्नभूम्यग्रपर्यन्तं भूमिखण्डं भुजः । धनुस्त्र्यंशं संपूर्णज्या पूर्वभुजः कर्णः । लम्बः कोटिरिति तत्क्षेत्रैकदेशे लघुजात्यत्र्यस्रं प्रत्यक्षम् । अतः पूर्वभुजोन-

द्विगुणज्या भु १ ज्या २ अर्धं भु १ ज्या २ वर्गेण भुव १ भुज्या ४ ज्याव ४ पूर्वभुज-
२ ४

वर्गो भुव १ हीनो जातो लम्बवर्गः । भुव ३ भु ज्या ४ ज्याव ४ । अथ लम्बाग्राद्दूरस्थित-
४

भूम्यग्रपर्यन्तं भूमिखण्डं पूर्वोक्तलघुजात्यत्र्यस्रभुज भु १ ज्या २ ऊनभूमिः कोटिः भू १ ज्या
२

२ लम्बो भुजस्तदुभयाग्रसक्तरेखापूर्वोक्तचतुर्भुजकर्णः कर्ण इति महज्जात्यत्र्यस्रं प्रत्यक्षाल्ल-
२

म्बवर्गो भुव ३ भुज्या ४ ज्याव ४ महज्जात्यत्र्यस्रकोटि भु १ ज्या २ वर्ग भुव १ भुज्या
४ २

४ ज्याव ४ युतो जातः कर्णवर्गः । भुव ४ भुज्या ८ । हरभक्तः स्थापितः । भुव १
४ ४

भुज्या २ ।

अथ प्रकारान्तरेण कर्णवर्गः साध्यते । तदर्थं पूर्वोक्तचतुर्भुजकर्णस्यार्धमंशद्वयधनुषः संपूर्णस्यार्धज्या भुजस्तदुत्क्रमज्या कोटिर्धनुस्त्रिभागरूपसंपूर्णधनुषः संपूर्णज्या पूर्वोक्तचतुर्भुजभुजरूपः कर्ण इति जात्यत्र्यस्राच्चतुर्भुजभुजवर्गोऽयं भुव १ ज्ञातज्यासंबन्ध्यर्धं धनुस्त्र्यंशद्वयमितार्धधनुषोऽर्धज्यातदुत्क्रमज्ययोर्वर्गयोगरूपत्वात्तदुत्क्रमज्याद्विगुणत्रिज्याघाततुल्य इति द्विगुणत्रिज्याभक्तस्तदुत्क्रमज्या भुव १ अनयोना त्रिज्या तत्कोटिज्या भुव १ त्रिव २
त्रि २ त्रिव २

एतद्वर्गे भुवव १ भुव० त्रिवव ४ ऊनस्त्रिज्यावर्गस्तज्ज्यावर्गश्चतुर्भुजकर्णार्धवर्गतुल्या
त्रिव ४ त्रिव ४

भुवव १ भुव० त्रिव ४ अर्धवर्गस्य कर्णवर्गचतुर्थांशरूपत्वात्पूर्वसिद्धकर्णवर्गस्य भुव १
त्रिव ४

भुज्या २ चतुर्थांशेनानेन भुव १ भुज्या २ सम इति समच्छेदीकृत्य पक्षयोस्तुल्ययोस्तुल्य-
४

हरावगमेन न समत्वहानिरिति च्छेदगमे न्यासः भुवव १ भुव-त्रिव ४ भु-ज्यात्रिव ० एतौ
भुवव ० भुव-त्रिव १ भु-ज्यात्रिव २

भुजेनापवर्तितौ भुघ १ भु० त्रिव ४ ज्या० त्रिव ० । अत्र समयोः समशुद्धौ न समत्वहा-
भुघ ० भु० त्रिव १ ज्या० त्रिव २

निरिति पक्षयोर्भुजगुणितत्रिज्यावर्गे शोधिते पक्षौ भुघ १ भु० त्रिव ३ ज्या० त्रिव० ।
भुघ० भु० त्रिव० ज्या० त्रिव० २

अत्रापि समयोजनान्न समत्वहानिरिति भुजघने पक्षयोर्योजिते जातौ पक्षौ

भुघ० भु० त्रिव३ ज्या० त्रिव०
भुघ १ भु० त्रिव० ज्या० त्रिव २

समपक्षत्वात्त्रिज्यावर्गभुजयोर्घातस्त्रिगुणः स एव भुजघनयुतो द्विगुणस्त्रिज्यावर्गज्ययोर्घात इति सिद्धम् ।

अत्र द्वितीयपक्षे केवलव्यक्ताभावाद्बीजोक्तरीत्या कथमपि भुजमानं न सिध्येदात्माश्रयादतः केवलाव्यक्तशेषेण त्रिगुणेन त्रिज्यावर्गेण व्यक्तखण्डं द्वितीयपक्षस्थं त्रिज्यावर्गद्विगुणज्याघातात्मकं भक्तं स्थूलं भुजमानं व्यक्तम् । पूर्वभुजज्ञानाभावेन तद्घनस्य प्रथमखण्डस्याज्ञानात् । तत्र भाज्यहरयोस्त्रिज्यावर्गापवर्तनेन द्विगुणज्यात्र्यंशो भुजमानं स्थूलम् ।

अथ प्रथमखण्डेऽपि भुजघनत्वात्स्थूलभुजमानस्य घनस्त्रिगुणेन त्रिज्यावर्गेण भक्तः फलं प्रथमखण्डं भुजैकदेशमानम् । तयोर्योगो भुजमानम् । पूर्वस्मात्सूक्ष्ममपि स्थूलम् । प्रथमखण्डजभुजमानैकदेशस्य स्थूलभुजमानोत्पन्नत्वात् । अतस्तद्घनोऽपि स्वहरेण त्रिगुणेन त्रिज्यावर्गेण भक्तः फलं स्थूलभुजमाने मूलभूते द्विगुणज्यातृतीयांशरूपे युक्तं ततोऽपि सूक्ष्मं स्थूलमेव भुजमानम् । ततः पुनः स्वहरभक्तात्तद्घनाल्लब्धेन द्विगुणाज्ज्यातृतीयांशो युक्तः सूक्ष्मं भुजमानं स्यादित्यसकृद्यावदाविशेषः । सूक्ष्मं भुजज्यामानं तत्संपूर्णधनुस्त्रिभागरूपसंपूर्णधनुषः संपूर्णज्यामानमित्यतस्तदर्धधनुषोऽर्धज्यामानम् । एतत्फलितानयननिबन्धनं च ज्यात्र्यंशस्तद्घनः त्रिज्यावर्गाप्तः स्वत्रिभागयुग्ज्यात्र्यंशे योजितस्तस्मादुक्तरीत्या घनादिजं फलं पुनर्गुणात्त्र्यंशे युतमेवं मुहुः स्फुटम् । मदुक्तेयं तृतीयांशज्यका नोक्ता पुरातनैरिति ।

एवं त्रिभागज्यायाः प्रथमांशज्यायाः प्रथमांशज्यासिद्धिः सूक्ष्मा सुज्ञेया । एतेनैकांशज्यायाश्चापतुल्यत्वं क्वचित्तयोः समत्वावश्यंभावादेकांश एवाङ्गीकृतमिति तत्समाधानं च द्वयमपि निरस्तम् । उक्तप्रकारेणैकांशज्यायास्तथात्वाभावात् । कलाविकलाप्रदेशे तत्सूक्ष्मप्रदेशे तत्समत्वाङ्गीकारस्य सुवचत्वात् । अन्यथा सर्वत्र तत्समत्वापत्तेः । वस्तुतो ज्याचापविवेकेन तत्समत्वं न, किंतु चापज्यान्यूनैवान्यथा तद्व्याघातः तेन कलादिष्वपि तत्तुल्यत्वमयुक्तमपि तत्सूक्ष्मज्ञानप्रकाराभावादङ्गीक्रियते । तत्रापि प्रकारलाभे तत्समत्वमयुक्तमपि तत्सूक्ष्मे ज्ञानप्रकाराभावादङ्गी क्रियते । तत्रापि प्रकारलाभे तत्समत्वं विकलावयवे तस्मादप्यतिसूक्ष्मे व्यवहारायोग्येकल्पनीयमिति तत्त्वम् । एतेन तृतीयांशज्यानयनप्रकारेणैकराशिज्या त्रिज्यार्धरूपा संजाता । तथा हि—त्रिज्यात्र्यंशघनः त्रिघ $\frac{१}{२७}$ त्रिज्यावर्गभक्तः त्रि $\frac{१}{२७}$ स्वत्र्यंश त्रि $\frac{१}{८१}$ अभियुक्तः त्रि $\frac{४}{८१}$ त्रिज्यात्र्यंशे त्रि $\frac{१}{३}$ योजितः सिद्धं त्रि $\frac{३१}{८१}$ । अत्र त्रिज्याया अविकृतत्वादर्थसिद्ध्यर्थं त्रिज्यात्यागेनाङ्का $\frac{२९७९१}{५३१४४१}$ एव गृहीताः $\frac{३१}{८१}$ । एषां घन त्रिज्यात्या-

गात्तद्वर्गभजनत्यागः स्वत्र्यंश $\frac{२९७९१}{१५९४३२३}$ युक्तः $\frac{११९१६४}{१५९४३२३}$। अयं त्र्यंशे $\frac{१}{३}$ योजितो जातः

$\frac{६५०६०५}{१५९४३२३}$। अस्मात्पुनर्घनादिकरणेनासकृत्साध्यं गणितक्रियादक्षगणके यत्रापवर्तः संभवति

तत्र भाज्यहरावपवर्तनीयावेवं परिवर्तान्तरे गणितक्रियासमाप्त्याऽऽसन्नभाज्यहरयोरपवर्तने सिद्धमिदमर्धं $\frac{१}{२}$। एतस्य दृढत्वज्ञानार्थमस्य घनः $\frac{१}{८}$ स्वत्र्यंश $\frac{१}{२४}$ युक्तः $\frac{४}{२४}$। अपवर्तनेन

षष्ठांशः सिद्धः। अनेन त्र्यंशः सिद्धः $\frac{१}{६}$। अनेन त्र्यंशः $\frac{१}{३}$ समच्छेदतया योजितोऽपवर्तनेन

जातमर्धं स्थिरमिलीति सकलभूपालमौलिमणिमयूखमालामिलच्चरणनखनीहारकिरणकर-निकरनिर्वासिताखिललोकस्वान्तध्वान्तसंतानसंतापसंततिचतुरुदधितीरचञ्चत्तरङ्गसमालिङ्गि-तकीर्तिलतावितानो गणितवेधाद्युपायसमासादितालौकिकगणितागमाता(त्ता)व(?)च(च्च)क्षुः साक्षात्कृतसान्तरखण्डब्रह्माण्डमण्डलपारसीकसार्वभौमो **मिरजोलकबेगः** स्वनिर्मिते जीवनामनि ग्रन्थे निपुणं निरूपयांचक्रे। एवं ज्यासाधनप्रकारेण चतुर्विंशतिज्यासाधन उक्तत्रिज्यानुरोधेन प्रथमजीवा सावयवेयं २२४। ५१।१०। १५। कोटिज्यात्रयोविंशी सावयवा ३४३०। ३८। १७। १२। पूर्वरीत्या कोटिज्याया गणितागतप्रथमज्यामितगुणा २२४। ५१। १०। १५ त्रिज्या ३४३८ मितहरौ किंचिदूनसपादद्वयेनानेन २। १४। ५४। ४२। ९ अपवर्तितौ गुणस्थाने शतं १०० हरस्थाने नन्दाश्वितिथयः १५२९। भुजज्यायाश्च सावय-वत्रयोविंशज्या ३४३०। ३८। १७। १२ ऊनितत्रिज्यामितगुण ७। ११। ४२। ४८ त्रिज्या ३४३८ मितहरौ गुणेनापवर्तितौ गुणस्थाने रूपं हरस्थाने सप्तषष्ट्यधिकचतुःशत-४६७मित्युपपन्नं कोटिजीवाशताभ्यस्तेत्यादिसार्धानुष्टुभोक्तम्। अनेनाऽऽनयनेन प्रथमज्या-पादोनचतुष्टयांशानामुक्तत्रिज्यानुरोधेनैव सप्तांशोनास्तत्त्वाश्विनस्तदितरत्रिज्यायास्तूक्त-प्रकारेणेव प्रथमज्या तदितरा। शेषं पूर्वं प्रतिपादितमेव।

अथ प्रसङ्गाज्ज्यान्तरभावनया दोर्ज्याकृतिर्व्यासदलार्धभक्तेत्यादिनोक्तभुजकोटि-भागान्तरज्यासाधनस्योपपत्तिः। भुजकोटिज्ये चापयोर्भुजज्ये। कोटिभुजज्ये तयोः क्रमेण कोटिज्ये। तथा च चापयोरिष्टयोरित्यादिना भुजकोटिज्ययोर्वर्गौ त्रिज्याभक्ताविति सिद्ध-मनयोरन्तरं भुजकोटिभागान्तरांशानां ज्या। तत्र कोटिज्यावर्गस्य भुजज्यावर्गोनायास्त्रिज्या-कृतेस्तुल्यत्वात्तदन्तरे भुजद्विगुणप(भ)वर्गत्रिज्यावर्गयोरन्तरं त्रिज्याभक्तमिति संजातमत्रापि त्रिज्याभक्तयोरन्तरं कृतम्। तत्र भुजवर्गे द्विगुणे त्रिज्याभक्ते ह्यपवर्तनेन दोर्ज्याकृतिर्व्या-सदलार्धभक्ता सिद्धा त्रिज्यावर्गे त्रिज्याभक्ते त्रिज्या जाता। तयोरन्तरे लब्धत्रिमौर्व्योर्वि-वरेणेत्युपपन्नमित्यलं प्रसङ्गागतविचारेण।

नन्वेवं गजगुणवेदराममितत्रिज्यावशादग्रपूर्वज्यासाधने गुणहरयोरुत्पादितत्वादन्यत्रिज्या-नुरुद्धभुजकोटिज्याभ्यामुक्तप्रकारेण स्वत्रिज्यानुरुद्धतत्पूर्वाग्रिमज्ययोः सिद्धिर्भवतीति कथम-

वगतं तद्युक्त्यभावादित्यनवबोधाशङ्काया उत्तरमाह–आद्यज्याचापभागानामिति । आद्याः प्रथमा ये ज्यासंबन्ध्यर्धधनुषो भागास्तेषां प्रकृते नवतिसंख्याकज्यानां साधन एकोंऽशश्च-तुर्विंशतिज्यानां साधने पादोनाश्चत्वारस्तेषां प्रतिभागज्यकाविधिः प्रतिभागा ज्यान्तरांशाः । त्रिभमध्ये यत्संख्याका ज्याः कल्पितास्तत्संख्यया नवत्यंशा भक्तास्तत्फलतुल्यास्तदन्तरेण ज्यानयनं पूर्वाग्रज्यारूपमुक्तं तद्विधिस्तत्प्रकारः कार्यस्तेन तेषां या यन्मिता ज्या भवति । प्रकृते नवतिज्यासाधने गजरामयुगाग्निमितकोटिज्याग्रहणेन कोटिज्या दशभिः क्षुण्णेत्यादि-प्रकारात्षष्टिमिता । चतुर्विंशतिज्यासाधन उक्तत्रिज्यामितकोटिज्यांग्रहणेन कोटिजीवा शताभ्यस्तेत्यादिप्रकारात्सप्तांशोनतत्त्वाश्विमिति(ता) वा । अत्र प्रतिभागज्यकाविधेरिति पाठश्चेत्साधुरिति ध्येयम् । सा प्रथमज्या । इष्टव्यासार्धे परिणाम्यते । गजरामयुगाग्नि-मितत्रिज्यायामियं प्रथमज्या तदेष्टत्रिज्यायां केत्यनुपातेन परिणामस्तस्याः क्रियते । इष्टत्रिज्याप्रमाणेन प्रथमज्या भवतीत्यर्थः । एवमेवोक्तत्रिज्यामितभुजज्याग्रहणात्स्वगोङ्गेषु षडंशेनेत्यादिना दोर्ज्या स्वद्व्यङ्गवेदांशेत्यादिना वा नवतिचतुर्विंशतिज्याक्रमेण प्रथमजीवायाः कोटिज्या भवति । तत इष्टत्रिज्याप्रमाणेन प्रथमभुजज्याप्तकोटिज्यासाधनान्तरमाभ्यामाद्य-दोःकोटिज्याभ्यामेवं चापयोरिष्टयोर्दोर्ज्ये इत्यादिनोक्ततया तृतीया ज्या । तृतीयप्रथमाभ्यां समासभावनया चतुर्थीत्याद्यनुक्रमेण भावनास्ताभिस्तदग्रज्या उत्तरोत्तरं द्वितीयाद्याः ज्याः । इष्ट व्यासदले इष्टत्रिज्यायां स्फुटाः सूक्ष्माः स्युरित्यर्थः । अत्रैवं कार्य इति विसर्गान्तो भावनाभिरिति च पाठद्वयं चेत्क्रमेण युक्तमिति ध्येयम् । तथा च गजरामयुगाग्निमित-त्रिज्यानुरोधेनोत्पन्नप्रकारादुक्तरीत्येष्टत्रिज्यानुरोधेन ज्यासाधनस्य मन्दैरपि युक्तियुक्तत्वेन ज्ञायमानत्वादिष्टत्रिज्यानुरुद्धगुणहरौ पूर्ववदपवर्तेन पूर्वत्रिज्योत्पादितावेव सिध्यत इति पूर्वप्रकारेणैवेष्टत्रिज्यानुरुद्धभुजकोटिज्याभ्यां पूर्वाग्रिमज्ययोर्लाघवात्सिद्धिः प्रत्यक्षप्रमाणा-वगतेति भावः । ननु संक्षिप्तग्रन्थान्तर्गतज्योत्पत्तिरत्रोक्ता । तथा वक्ष्येऽथमूलग्रहणं विनाऽ-पीति प्रतिज्ञातज्यासाधनकथनप्रसङ्गेन + पाठ्युक्तज्यासाधनं—

> चापोननिघ्नपरिधिः प्रथमाह्वयः स्यात्पञ्चाहतः परिधिवर्गचतुर्थभागः ।
> आद्योनितेन खलु तेन भजेच्चतुर्थव्यासाहतं प्रथममाप्तमिह ज्यका स्यादिति ॥

कथं नोक्तम् । मूलग्रहणाभावाल्लाघवाच्च । न चात्रार्धज्याया आवश्यकत्वेन तत्प्रका-रेण संपूर्णज्यासिद्धिरत्रानुपयुक्तेति तदकथनमिति वाच्यम् । चतुर्घ्नेत्यत्र द्विनिघ्नेति पाठे-नार्धज्यायाः सिद्धेरित्यत आह—स्थूलमिति । मया पाट्यां पाटीगणिताध्याये यच्चापोननि-घ्नपरिधिरित्यादिना ज्यासाधनमुक्तं तज्ज्यासाधनमिह ज्योत्पत्तिकथनप्रसङ्गे मया भास्करा-चार्येणोदितमुक्तं न । अत्र कारणमाह—स्थूलमिति । तज्ज्यासाधनमतिस्थूलं ग्रहगणितादौ बह्वन्तरपातभयेनानुपयुक्तमित्युपेक्षितमिति भावः । यथा सार्धराशिज्यासाधनार्थं चापं चतुःपञ्चाशच्छतकलाः ५४०० एताभिरेनाः परिधिकलाः १६२०० गुणिताश्च प्रथमः

+ लीलावत्यां क्षेत्रव्यवहारे (श्लो० २१०) पृ० २१२ ।

८७४८०००० पञ्चाहतः परिधिवर्गचतुर्थभागः ५८३२०००००० प्रथमेन ८७४८००००
हरो जातः ४९५७२०००० द्विनिघ्नव्यास १३७५२ गुणितः प्रथमो १२०३०२४९६००००
हरभक्तः फलं सार्धराशिज्या भसिद्धमिता २४२७ सूक्ष्मा तु कुरामसिद्धमिता त्रिज्या
वर्गार्धपदरूपेति गुणनादौ बह्वन्तरपात इति प्रत्यक्षम् ।

अथोपपत्त्या स्थूलत्वबोधार्थं तदुपपत्तिः । वृत्तेऽभीष्टचापस्य संपूर्णस्य संपूर्णज्या भुजो व्यासरेखा तदग्रसक्ता कर्णस्तद्वर्गान्तरपदं भुजाग्रकर्णाग्रान्तरस्थितोर्ध्वरेखाकोटिरिति त्र्यस्रं प्रत्यक्षम् । तत्राभीष्टज्याया अज्ञानात्कोटिकर्णवर्गान्तरपदेन तस्या ज्ञानम् । तत्रापि कोटेरज्ञानादशक्यमेतत्तथाऽपि कोटिरेखासंबन्धेन यच्चापं परिध्यन्तर्गतं तदेव स्थूलत्वेन कोट्याकारत्वाभावेऽपि कोटिः कल्पिता । व्यासरूपकर्णरेखासंबन्धेन परिध्यर्धे तदाकाराभावेऽपि स्थूलत्वेन कर्णः कल्पितस्तद्वर्गान्तरपदमभीष्टज्यासंबन्धिचापप्रदेशसंबन्धि विशेषरूपं कर्णकोट्योरवास्तवत्वेनाभीष्टज्याया असिद्धेः । परिधिगतकोटिकर्णाभ्यां क्षेत्रादर्शनादभीष्टचापमानासिद्धेश्च । अन्यथेष्टचापांशा एव स्युः । तत्र वर्गान्तरं योगान्तरघातमसमिति कोटिकर्णयोर्योगान्तरघातः कार्यस्तत्र कोटिश्चापोनपरिध्यर्धं कर्णः परिध्यर्धमनयोर्योगश्चापोनपरिधिः । अन्तरं त्वभीष्टचापम् । तयोर्घातो भुजवर्गश्चापोननिघ्नपरिधिः प्रथमसंज्ञः । अयं ज्यासाधनार्थमत्यन्तमुपयुक्तः । परिध्यर्धे व्यासो ज्या तदाऽस्मिन्भुज केति ज्यानुपातोऽभीष्टचापानुपातात्सूक्ष्म इति स्थूलत्वेऽप्यनुपातकारणदर्शनाभावेऽप्यादृतः । अत्र भुजस्य वर्गरूपत्वेन प्रथमसंज्ञयाऽवगतत्वाद्धरस्य परिध्यर्धरूपस्य वर्ग एव कृतः । तत्र परिध्यर्धवर्गस्तु परिधिवर्गचतुर्थांश इति । तत्र केवलयोर्भाज्यहरयोर्यत्फलं तदेवेष्टगुणितयोरपीति हरश्चतुर्गुणः परिधिवर्गः संजातः । हरस्य गुणनाद्भाज्येऽपि तदावश्यकत्वाद्व्यासश्चतुर्गुणप्रथमेन गुणितो भाज्य इत्यत उक्तं चतुर्घ्नव्यासहतं प्रथममिति । अत्र यद्यपि व्यासवर्गफलपदे अपेक्षिते वर्गद्वारा तदानयने वर्गस्यैव साधनावश्यकत्वात्तथाऽपि मूलाग्रहणलाघवेन तद्वर्गानुक्तेरुभयथा स्थूलत्वसंभवात् । तदेवमुक्तप्रकारस्योक्तयुक्त्या स्थूलत्वेन वृत्तषड्भागज्याव्यासार्धरूपोक्तप्रकारेण न सिध्यति । किंतु नवमांशाधिका सिध्यति । तथा हि । परिधिषड्भागश्चायम् । अनेनोनः परिधिः पञ्चगुणितपरिधिषड्भागरूपः परिधिषड्भागेन गुणितो जातः प्रथमः परिधिवर्गस्य पञ्चगुणस्य षड्त्रिंशदंशः पव ५ । अयं चतुर्घ्नव्यासेन गुणितः
३६
परिधिवर्गभक्त इति तुल्ययोः परिधिवर्गयोर्नाशाच्चतुर्गुणो व्यासः पञ्चभिर्गुण्यः षट्त्रिंशद्भक्त इति व्यासो विंशतिगुणः षट्त्रिंशद्भक्त इति सिद्धम् ।

अत्रापि व्यासस्य द्विगुणव्यासार्धरूपत्वाद्व्यासार्धस्य चत्वारिंशद्गुणः षट्त्रिंशद्धर इति गुणहरौ चतुर्भिरपवर्त्य जातौ गुणहरौ दशनवमितौ । तथा च स्वनवमांशाधिकोत्पद्यत इति सिद्धम् । अतस्तत्र वा संज्ञयासनार्थमथ स्वांशाधिकोनेन लवाढ्योनो हरो हरः । अंशस्त्वविकृतस्तत्र विलोमे शेषमुक्तवदित्युक्तत्वादागतं फलं स्वदशमांशेन हीनं कार्यम् । तत्रापि लाघवाद्भाज्ये दशमांशोने फलस्य तुल्यत्वेऽपि लाघवाद्धर एव नवांशाधिकः कृतः । भाज्याद्धरे विपरीत-

त्वात् । हराधिक्येन फलन्यूनत्वसंभवात् । यथोक्तप्रकारेण षड्भागज्यासिद्धावपि परिध्यर्धं-चापस्य व्यासमितसिद्धज्याया असिद्धिः । तथा हि—अत्र प्रथमस्य परिधिवर्गचतुर्थांशरूप-त्वात्परिधिवर्गहरेण हरो नवांशाधिकः कृतः । यथा परिधिवर्गः स्वपादयुक्तो जातः पञ्चा-हृतः परिधिवर्गचतुर्थभागः पव $\frac{५}{४}$ । अयं परिधिषड्भागजनितप्रथमेनानेन पव $\frac{५}{३६}$ समच्छेद-तया हीनो जातः परिधिवर्गश्चत्वारिंशद्गुणितः षट्त्रिंशद्भक्तस्तत्र गुणहरौ चतुर्भिरपवर्तितौ जातौ परिधिवर्गस्य गुणहरौ दशनवमितौ । तेनोक्तप्रकारेण नवांशाधिकः कृतः । परिध्यर्ध-चापे तु प्रथमस्य परिधिवर्गचतुर्थांशरूपत्वात्तदूने पञ्चाहृते परिधिवर्गचतुर्थभागे परिधिवर्ग-तुल्यत्वान्न हराधिक्यमित्युक्तप्रकारेण षड्भागपरिध्यर्धयोः सूक्ष्मज्यासिद्धिस्तदितरज्यास्तु स्वसंबन्धिहराभावाल्लाघवादेतद्रीत्यवगतहरग्रहणेन साधिताः स्थूला एव भवन्ति । स्वस्वह-राणामनुगतैकप्रकाराभवात् । पृथक्पृथक् तद्धरानयनकथने च गौरवादिति पाट्युक्तज्या-साधनस्य स्थूलत्वं स्फुटमेवेत्यलं पल्लवितेन ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥

अथ प्रतिज्ञाता ज्योत्पत्तिर्निरूपितेत्युपसंहारं ज्याविचाराणां कांक्षासिद्ध्यर्थं फक्कि-कयाऽऽह—इति ज्योत्पत्तिरिति ! स्पष्टम् ॥

केदारदत्तः—इस गोलाध्याय ग्रन्थ के मध्यगति वासना अधिकार के अनन्तर छेद्यकाधिकार के श्लोक ६ तक ज्या चाप विषयक जीवा क्षेत्र संस्थान के ६ श्लोकों में, किसी वृत्त के चतुर्थांश $\frac{३६०}{४}$ = ९० अंशों के चाप के १····१५····३०····४५···· ६०····७५····९० के चाप अंशों का चापीय मानों का सरल रेखात्मक मान ज्ञात किया गया है ।

किसी वृत्त के केन्द्रगत वृत्त परिधि तक जाने वाली पूरी रेखा का नाम व्यास और अर्द्धव्यास का नाम त्रिज्या अर्थात् तीन राशियों की ज्या कहा गया है ।

भूगर्भ केन्द्राभिप्रायिक इञ्च, फीट, गज, मील (किलोमीटर) आदि से लेकर अनन्त दूरी तक के वृत्तों में इष्ट वृत्त दूरी की कल्पित दूरी के अभीष्ट वृत्त की व्यासार्ध रेखा का प्रसिद्ध रेखाकार नाम त्रिज्या होता है और यह त्रिज्या अभीष्ट वृत्त की चतुर्थांश चाप की ज्या कही जाती है ।

यदि वृत्त का परमाधिक चाप ९० अंश है तो ९० × ६० = ५४०० कला इस चाप की रेखाकार परम ज्या त्रिज्या का मान = ३४३८ कला प्राचीन आचार्यों ने (प्रारम्भ सूर्य सिद्धान्त से सिद्धान्त ज्यौतिष काल ने) माना है ।

आचार्य ने ज्या चाप गणित के इस विषय में अपनी "लीलावती" (अङ्कगणित) नामक पाटी गणित के वृत्तक्षेत्र व्यवहार में सविस्तार बता दिया है । जैसे आचार्य के प्रश्नानुसार उत्तर में आचार्य की बताई गई गणित प्रक्रिया के उदाहरण से—

जिस वृत्त का व्यास मान, (हाथों, मीलों, किलोमीटर····आदि) ७ है उस व्यास की परिधि क्या होगी ?

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खवाणासूर्यैरित्यादि से—

$\frac{७ \times ३९२७}{११५०} = \frac{२७४८९}{१२५०} = २१\frac{१२३९}{१२५०}$। यहाँ पर लब्धि पूर्ण २१ और शेष $\frac{१२३९}{१२५०}$ को स्वल्पान्तर से १ मान लेने पर परिधि मान = २२ होता है। फलतः ७ व्यास में परिधि = २२ होती है, अतः अनुपात से इष्ट व्यास में $\frac{२२ \times \text{इष्टव्यास}}{७}$ = परिधि होती है। $\frac{२२}{७}$ का तात्पर्य $३\frac{१}{७}$ भी होता है।

आधुनिक गणित से भी सिद्ध दशमलवीय पद्धति से $\frac{२२}{७}$ = ३.१४:५९२६, जो भास्कराचार्य के सूक्ष्म मान = $\frac{३९२७}{१२५०}$ इससे भी ३.१४१६····आधुनिक मान के आसन्न हो जाता है।

फलतः किसी भी वृत की वृत्तपालियों से केन्द्र तक गई रेखा का नाम व्यास और उसका मान जिस माप में जितना हो उसे २२ से गुणा कर ७ से भाग देने से उस वृत्त
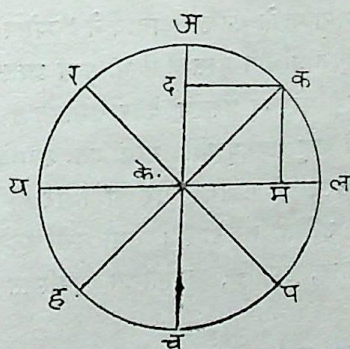
की परिधि का मान स्पष्ट हो जाता है। वृत्त केन्द्र और परिधि के दोनों बिन्दु तक गत रेखा का परमत्व मान व्यास होता है।

जैसे, अ च = कह = लय, = पर = चअ, इत्यादि। यह सभी व्यास रेखा है। इससे बड़ी रेखा वृत्त में हो नहीं सकतीं। यहाँ पर वृत्त व्यास और वृत्त परिधि के गणितीय सम्बन्ध स्पष्ट हैं। किन्तु वृत्त के अनेकों विभागों की चापात्मक वक्र रेखा की जो सरलाकार रेखा होती है उसका मान ज्ञात करना इस प्रकरण का आवश्यक गणित अचार्य ने बताया है।

जैसे चाप = अ क इसकी सरलाकार रेखा का नाम क द = अ क चाप की ज्या से, एवं ९० − चाप अ क = चाप क ल भी ज्या का नाम फम को कोटिचाप कहा गया

है। अथवा यदि कल चाप है तो कल चाप की ज्या = कम, तथा ९०—क ल = अ क की ज्या = क द यह कोटिज्या होतो है।

इस प्रकार १ अंश से ९० अंश तक के चाप की ज्या का गणित मान अंकों में साधित किया गया है। इस प्रकार का ज्या गणित ८ प्रकार का जगह-जगह जहाँ जिसकी आवश्यकता होती है, होता है। जैसे—

१. ज्या २. कोटिज्या ३. स्पर्श ज्या ४. कोटिस्पर्श ज्या ५. छेदन ज्या ६. कोटि छेदन रेखा (ज्या) ७. उत्क्रम ज्या या उत्क्रम रेखा और (८) उत्क्रम चाप कोटि चाप की सरल रेखा का नाम कोट्युत्क्रम ज्या होता है।

वक्राकार अभीष्ट चाप का सरलाकार रेखा का मान कितना होगा? और यह साधनिका गणित से क्या आवेगी? इस प्रकार के प्रश्न और समाधान पर इस ज्योत्पत्ति प्रकरण में आचार्य ने, मूल सही सिद्धान्तों का गणित स्पष्ट कर दिया है।

इसी आधार से आधुनिक प्रकाशित एवं विकसित गणित में यह विषय अत्यधिक अधिक सूक्ष्म रीति से गणित संसार में यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध हैं और ग्रन्थों में जो सरल त्रिकोणमिति एवं चापीय त्रिकोणमिति नाम से प्रसिद्ध हैं तथा सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय की प्राचीन उपलब्ध पुस्तकों में इस छेद्यकाधिकार में ज्योत्पत्ति के मात्र ६ श्लोकों का उल्लेख करते हूये ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर आचार्य ने "ज्योत्पत्ति" नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण पृथक दिया है। अनेक प्राचीन पुस्तकों में भी पूरा ज्योत्पत्ति प्रकरण समाप्ति पर न देकर कुछ आचार्यों ने यहीं पर यह प्रकरण देकर समापन के अनन्तर.... छेद्यकाधिकार का ७ वाँ श्लोक "भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्यादिति" दिया है। तदनुसार मैंने भी उक्त ज्योत्पत्ति प्रकरण को प्रसंगानुसार यहाँ पर ही देना उचित समझ कर प्रकरण प्रसंग का समन्वय उचित समझा है। तथा मरीचि भाष्य पर इस विषय में अत्यन्त अधिक गहन विचार, उपपत्ति, ज्यागणित उपस्थित हुआ है जो तत्काल में आवश्यक था।

आज के युग में इस ज्या चाप गणित सम्बन्ध के अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ सरलत्रिकोण-मिति चापीय त्रिकोणमिति नाम से प्रसिद्ध हैं अत एव यहाँ पर ग्रन्थ गौरव भय से इसका श्रम साध्य "केदारदत्तः" व्याख्यान अनावश्यक ही है सुविधा से उपलब्ध ग्रन्थान्तरों में इस व्याख्यान की अपेक्षा सम्बन्धित ग्रन्थों में और अच्छी व्याख्या की समुपलब्धि से विषय के अध्येता वर्ग को क्लेश नहीं अपि च ऐच्छिक सहायता मिलेगी।

●

अथ गोलबन्धाधिकारः

इदानीं गोलबन्धाधिकारमाह—

सुसरलवंशशलाकावलयैः श्लक्ष्णैःसचक्रभागाङ्कैः ।
रचयेद्गोलं गोले शिल्पे चानल्पनैपुणो गणकः ।।१।।

वा० भा०—स्पष्टम् ।।१।।

मरीचिः—अथोत्तमच्छेद्य कस्य गोलान्तर्गततत्वावगमार्थं गोलस्वरूपप्रतिपादकोऽधिकारः पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रतिज्ञातो ग्रहगणितजातवासनानिर्णायको दृष्टान्तरूपगोलबन्ध आरब्धो व्याख्यायते । तत्र ग्रहगणितसंस्थातिरूपकदृष्टान्तगोलः कथं सिद्धो भवतीत्यतो गीत्याऽऽह—**सुसरलेति** ।

सुसरला अवक्राः । गोलाकारसिद्ध्यर्थमेव ये वंशास्तेषामूर्ध्वाधरच्छेदेन याः शलाका निर्मिता अनतिस्थूलपृष्ठाः समास्तासां यानि बलयानि कृतानि । वंशानां वृत्तासंभवात्तच्छलाकात्तादीत्युक्तम् । एतदुपलक्षणाद्यथाभाग्यं धात्वादिनिर्मितानि तैरित्यर्थः । श्लक्ष्णैः स्निग्धैः । अन्यथा तद्बन्धनादावङ्गुलीषु तदंशाणुकादिलघुशलाकाभेदनसंभावनया दुःखहेतुत्वादुपेक्षणीयत्वापत्तेः । गणको ग्रहगणितवासनानिरूपणप्रदर्शकः । गोलं बुद्धिकृताकाशविभागगोलकल्पितपरिधिरूपानेकवृत्तानुकल्प्यवंशजनितबृत्तानां बन्धनं गोलाकारेण गोलबन्धस्तमित्यर्थः । रचयेच्छिष्यबोधार्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण कुर्यादित्यर्थः । ननु दृष्टान्तरूपैतद्गोले ग्रहगणितपदार्थस्वरूपावगमेऽपि तत्संख्याज्ञानं न स्यादित्यतो वृत्तविशेषणमाह—सचक्रभागाङ्कैरिति । चक्रं द्वादश राशयस्तेषां भागाः प्रदेशास्तेषामङ्काश्चिह्नानि तैः सहितैर्वृत्तैरित्यर्थः । तथा च वृत्ते द्वादश राशिविभागाः समाः कार्यास्तत्रैकैकस्मिन् विभागे त्रिंशद्भागा अङ्कयास्तत एकैकस्मिन्भागे षष्टिकला अङ्क्यास्तत एकैककलाप्रदेशे षष्टिविकला अङ्क्याः । एवं वृत्तानि सर्वाण्यङ्कितानि । ततो ग्रहगणितपदार्थसंख्यावगमोऽप्येतद्गोले सुशक्य इति भावः । गोलबन्धोऽभ्रान्ततया कार्योऽन्यथाऽऽकाशस्थितिविरुद्धतया सिद्धाद्गोलबन्धाच्छिष्याणामयथार्थज्ञानं स्यादिति गणकविशेषणेनाऽऽह—गोल इति । आकाशस्थितौ शिल्पकर्तव्यतायाम् । चः समुच्चये । अनल्पमत्यन्तं नैपुणं निपुणता तदभिज्ञत्वं यस्यासावित्यर्थः । तादृशनिर्मितगोलस्य तत्स्थितिविरुद्धत्वमसंभवीति भावः । विना शिल्पाभिज्ञतां समभागाङ्कनाद्यशक्यमिति तदावश्यकत्वमिति ध्येयम् ।।१।।

केदारदत्तः—गोलाकृतिक बाँस या अन्य उपकरणों से गोल रचना की युक्ति कही जा रही है ।

सुन्दर सरल चिक्कन बाँस के छेदित लकड़ियों से जिनमें १२ राशियों, उन के कला विकलाओं आदि के स्थान अङ्कित किये गये हों ऐसी लकड़ी या अन्य उपकरणों से, शिल्प-

शास्त्र में दक्ष एवं गोलशास्त्र में अत्यन्त बुद्धि सम्पन्न गणक जो ग्रहगोलीय और भगोलीय वृत्तों के सम्बन्धों से सुपरिचित भी हो, ऐसे गणक से भौतिक गोल की रचना करनी चाहिए ।।१।।

अथ गोलबन्धमाह—

कृत्वाऽदौ ध्रुवयष्टिमिष्टतरुजामृज्वीं सुवृत्तां ततो
यष्टीमध्यगतां विधाय शिथिलां पृथ्वीमपृथ्वीं बहिः ।
बध्नीयाच्छशिसौम्यशुक्रतपनारेज्यार्किभानां दृढान्
गोलांस्तत्परितः श्लथौ च नलिकासंस्थौ खदृग्गोलकौ ।।२।।

वा० भा०—आदौ सारदारुमयीं कृत्वा तदर्धस्थाने तत्र प्रोतां पृथ्वीं सूक्ष्मां शिथिलां च विधाय तस्या बहिश्चन्द्रादीनां गोलान्यष्टया सह दृढान्बध्नीयात् । तेषां बहिर्नलिकासंस्थौ खदृग्गोलाविति साधारण्येनोक्तम् ।।२।।

मरीचिः—अथगोलबन्धक्रमेतिकर्तव्यताकथनद्वारा तदुद्देशं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—कृत्वेति ।

आदौ प्रथममिष्टतरुजामभीष्टसारवृक्षकाष्ठसंभूतामन्यथा चिरकालावस्थायित्वानुपपत्तेः । ध्रुवयष्टिं ध्रुवौ दक्षिणोत्तरदिक्स्थौ गोलवृत्तार्धान्तरितौ तयोरन्तरसूत्रं याम्योत्तरसूत्रं बुद्धिकृतं सूक्ष्मं तदनुकल्पा यष्टिर्ध्रुवयष्टिस्तामृज्वीं सरलाग्रभागाम् । अन्यथा वृत्तार्धान्तरत्वं तदग्ररूपध्रुवानुकल्पयोर्न स्यात् । सुवृत्तां निरस्ताम् । अन्यथाऽनवरतभ्रमणानुपपत्तेः । कृत्वा ततोऽनन्तरम् । यष्टिमध्यगतान्तरितं यष्टिमध्यभागस्थां पृथ्वीं भूगोलं कृत्वा । ध्रुवसूत्रमध्यप्रोतत्वेनेव पृथ्वीगोलस्य वस्तुतः सत्त्वात् । तदनुकल्पेनैतत्संपादनम् । ननु यष्टौ पृथ्वीगोलतुल्यानुकल्पनिवेशनं ब्रह्मणोऽप्यशक्यमत आह—अपृथ्वीमिति । यष्टचनुरोधेन लघुगोलरूपा सानुकल्पत्वादन्यथा ध्रुवद्वयसंसक्ताग्रयष्टेरप्यसंभवात् । पृथ्वीगोलादुभयतो यष्टिभागैकदेशौ तुल्यौ स्यातां तथा यष्टिमध्येऽनुकल्पपृथ्वीगोलनिवेशः कार्य इति भावः । नन्वाऽऽकाशे ग्रहभ्रमणे भूभ्रमणाभावादत्र यष्टिभ्रमणसिद्धग्रहगोलभ्रमणे पृथ्वीगोलस्यापि भ्रमणं तदनुरुद्धमनिवार्यं तत्सक्तत्वादत आह—शिथिलामिति । यष्टचसंबद्धामिति । तेन गोलभ्रमणेऽपि तदनुरुद्धं भूगोलभ्रमणमसंभव्येवेति । येन केनापि प्रकारेण गोलभ्रमणदर्शने भूगोलोऽचलत्वेन दर्शनीय इति भावः । बहिः पृथ्वीं गोलादभितः समान्तरेण चन्द्रबुधशुक्रसूर्यभौमगुरुशनिनक्षत्राणां क्रमेणोपर्युपरि दृढान् । अभङ्गत्वेन चिरकालावस्थितियोग्यान् । गोलान्, आकाशस्थतत्स्थित्यनुकल्परूपान् यष्टिसंबद्धान् । अन्यथा तद्भ्रमणे तद्भ्रमणानुपपत्तेः । बध्नीयात् । वंशादिजवृत्तादिसामग्र्या वक्ष्यमाणनिबन्धनप्रकारेण सिद्धान्कुर्यादित्यर्थः । अत्र ग्रहाणामुपर्युपरि कक्षाक्रमेण गोलास्तदुपरि नक्षत्राणामेक एव गोलोऽखिलानां न प्रत्येकं भिन्नास्तद्गोलाः । अन्यथा ग्रहक्रमवन्नक्षत्रक्रमकथनापत्तेरिति ध्येयम् । तत्परितो भगणगोलादभितः समान्तरेण नलिकासंस्थौ नक्षत्रगोलादुभयतो यष्टिप्रदेशावङ्गुलैरुद्धचा-

त्मकाग्रभागतुल्यौ नलिकयोः प्रक्षिप्य यथाशिथिलौ तन्नलिकाद्वयसंबद्धावित्यर्थः । खदृग्गोलकौ खगोलदृग्गोलौ वक्ष्यमाणौ श्लथौ परस्परमसंस्पृष्टौ । एतेन तयोरूर्ध्वाधरान्तरमल्पं भेदार्थं कार्यमन्यथा भगोलस्थान एव खगोलदृग्गोलयोः सत्त्वान्न तदूर्ध्वोर्ध्वमित्युक्तानुपत्तेः । चः समुच्चये । वक्ष्यमाणरीत्या बध्नीयात् । खगोलदृग्गोलयोः स्थिरत्वाद्भगोलस्थाने तन्निबन्धनमशक्यमन्यथा तद्भ्रमापत्तेः । अतो नलिकासंस्थतया शिष्यबोधार्थं भिन्नौ दर्शितौ । न वस्तुत इति भावः ॥२॥

केदारदत्तः—गोल बन्धन कैसा होता है ? स्पष्ट (गोल रचना) बताया जा रहा है—

सारगर्भित वृक्ष के अथवा बाँस के छेदित दीर्घाकार वृत्ताकार लकड़ी के टुकड़ों से (जो दीर्घ समय तक अविकृत रह सकती हैं) ध्रुव यष्टि नामक यष्टि का निर्माण करना चाहिए जिससे ध्रुव तारा वेधेन पृथ्वी में ध्रुव स्थान निश्चित किया जा सकता है । ध्रुवयष्टि के अर्ध विन्दु पर भू केन्द्र कल्पना पूर्वक अतिलघु भूपिण्ड की रचना के साथ, तदुपरि और उपरि उपरि चन्द्र-बुध-शुक्र-सूर्य-मंगल-बृहस्पति-शनि और अन्त में नक्षत्र गोल को भूगर्भ से यथेष्ट त्रिज्या दूरी पर दृढ़ मजबूती से बाँधकर (जिनका परस्पर विच्छेद न हो जो दीर्घ काल तक बँधे रह सकें) उक्त यष्टि के आधार पर एक खगोलान्तरगत दृग्गोल का निर्माण करना चाहिए ॥२॥

इदानीं सविशेषमाह—

पूर्वापरं विरचयेत्सममण्डलाख्यं याम्योत्तरं च विदिशोर्वलयद्वयं च ।
ऊर्ध्वाध एवमिह वृत्तचतुष्कमेतदावेष्ट्य तिर्यगपरं क्षितिजं तदर्धे ॥३॥

वा० भा०—एकं पूर्वापरमन्यद्याम्योत्तरं तथा कोणवृत्तद्वयमेवं वृत्तचतुष्ट्यमूर्ध्वाधोरूपमावेष्टय तदर्धे क्षितिजाख्यं निवेशयेत् । अत्र याम्योत्तरवृत्त उत्तरक्षितिजादुपरि पलांशान्तर एकं ध्रुवचिह्नं कार्यम् । दक्षिणक्षितिजादधोऽन्यत् ॥३॥

मरीचिः—अथ खगोलस्य स्थिरत्वात्प्रथमोद्दिष्टत्वाच्च तं विवक्षुरादौ पञ्चवृत्तनिबन्धनं वसन्ततिलकयाऽऽह—**पूर्वापरमिति ।**

इह खगोलबन्धे कर्तव्ये प्रथमं पूर्वापरं सममण्डलसंज्ञं वृत्तम् । स्वस्थानसंबन्धिवृत्तानुरोधेनाऽऽकाशविभागगोलसंबन्धि महद्वृत्तमतिसूक्ष्मं तदनुकल्पमेकं वंशादिवृत्तं तदुभयसंज्ञं द्वितीयं ध्रुवद्वयोपरिस्थितसूक्ष्मवृत्तानुकल्पं याम्योत्तरवृत्तम् । चः समुच्चये । तेनेदं वृत्तद्वयम् । विदिशोः पूर्वादिदिक्चतुष्टयसंबन्धिरूपचतुर्विदिशां मध्ये विदिशोर्नैर्ऋत्यैशान्योराग्नेयवायव्ययोः संबन्धि वृत्तद्वयम् । चकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थकैवकारपरस्तेनाग्नेयनैर्ऋत्योरैशानीवायव्योरेकं वृत्तमिति वृत्तद्वयकरणनिरासः । गोले तयोः संनिवेशायोगात् । तथा च कोणवृत्तद्वयम् । एवं वृत्तयुगलाभ्यां मुक्तं वृत्तचतुष्कमेतत्स्वस्वमार्गगोचरधर्मार्धे ऊर्ध्वाध आवेष्ट्य निबन्धनेनैतदावृत्य । अत्र याम्योत्तरवृत्तं यष्टयग्रभागद्वयान्तर्गतनलिका-

द्वयभेदनपूर्वकं कार्यमन्यथा खगोलस्य गोलानुकारकत्वानुपपत्तिरिति ध्येयम् । तदर्थे तेषामुक्तवृत्तानां संपाताभ्यामर्धभागे । अपरमुक्तातिरिक्तं तिर्यग्वृत्तं स्वस्थानाद्दृश्यभूगोलार्धसंधिस्थवृत्तानुसृताकाशगोलसूक्ष्मवृत्तानुकल्पवृत्तं क्षितिजम् । भूगर्भोदयास्तोपजीव्यं विरचयेद् बध्नीयात् ।।३।।

केदारदत्तः—पूर्वापर वृत्त (जिसे सममण्डल भी कहते हैं) पर लम्ब रूप याम्योत्तर वृत्त की रचना के साथ पूर्वापर याम्योत्तर वृत्त सम्पातद्वय ऊर्ध्वाधर खमध्यगत दो कोणवृत्तों की रचना करनी चाहिए । इन चारों वृत्तों में प्रत्येक वृत्त के अर्द्ध भाग पर क्षितिज संज्ञक वृत्त की रचना (सम्पात) करनी चाहिए ।।३।।

इदानीमुन्मण्डलमाह—

पूर्वापरक्षितिजसंगमयोर्विलग्नं याम्ये ध्रुवे पललवैः क्षितिजादधःस्थे ।
सौम्ये कुजादुपरि चाक्षलवैर्ध्रुवे तदुन्मण्डलं दिननिशोः क्षयवृद्धिकारि ।४।

वा० भा०—समवृत्तक्षितिजयोर्यौ पूर्वापरौ संपातौ तयोर्ध्रुवचिह्नयोश्च सक्तं यन्निबध्यते तदुन्मण्डलसंज्ञम् । दिनरात्र्योर्वृद्धिक्षयौ तद्वशेन भवतः ।।४।।

मरीचिः—अथात्रोन्मण्डलनिबन्धनं वसन्ततिलकयाऽऽह—**पूर्वापरेति** ।

यद्वंशादिजं वृत्तं पूर्वापरक्षितिजसंगमयोः पूर्वापरवृत्तक्षितिजवृत्तसंपातयोः पूर्वापरदिक्स्थयोरित्यर्थः । विलग्नं निबद्धम् । क्षितिजाद्याम्योत्तरक्षितिजवृत्तसंपाताद्दक्षिणदिक्स्थादित्यर्थः । पललवैरक्षांशैः । अधःस्थे याम्ये ध्रुवे दक्षिणयष्टयग्रप्रोतनलिकागर्भसंबन्धियाम्योत्तरवृत्तैकप्रदेशप्रदेशे दक्षिणयष्टयग्रसमसूत्रस्वरूप इत्यर्थः । संलग्नं कुजाद्याम्योत्तरक्षितिजवृत्तोत्तरसंपातादित्यर्थः । उपरि ऊर्ध्वमक्षांशैः । सौम्ये ध्रुवे, उत्तरयष्टयग्रसमसूत्रस्थतदग्रप्रोतनलिकागर्भसंबन्धियाम्योत्तरवृत्तैकदेशप्रदेशरूपे संलग्नम् । चकारः समुच्चये । एतत् । एतदाकारेण परिणतं नलिकाद्वयभेदकं वृत्तम् । स्वदेशयाम्योत्तरवृत्तस्थनिरक्षदेशभूगर्भक्षितिजवृत्तानुकल्पमुन्मण्डलसंज्ञं स्यात् । निरक्षदेशादुत्तरदेशे त्विदं दक्षिणभागे तूक्तवैपरीत्येनेति ज्ञेयम् । ननु स्वदेशसंबन्धेन यद्वृत्तं तदेवात्र निबन्धनीयं न निरक्षदेशसंबन्धि । अन्यथाऽतिप्रसङ्गापत्तेरित्यत आह—दिननिशोरिति । अहोरात्रयोः क्षयवृद्धिकृत् । तथा च दिनस्याल्पाधिकत्वं रात्रेश्चाल्पाधिकत्वं स्वदेशगोचरमेतद्वृत्तेनैवाग्रे प्रतिपादनीयमस्तीति स्वदेशसंबन्ध्येवैतदुद्वृत्तमिति भावः ।।४।।

केदारदत्तः—उन्मण्डल वृत्त (निरक्षदेशीय क्षितिज वृत्त) रचना बताई जा रही है—

याम्य ध्रुव से अक्षांश तुल्य दूरी पर नीचे और उत्तर ध्रुव से अक्षांश तुल्य दूरी पर संलग्न होकर पूर्व और पश्चिम क्षितिजगत वृत्त की रचना से ऊनमण्डल वृत्त अर्थात् निरक्षदेशीय खमध्य का क्षितिज वृत्त होता है ।।४।।

इदानीं विषुवन्मण्डलमाह—

पूर्वापरस्वस्तिकयोर्विलग्नं खस्वस्तिकाद्दक्षिणतोऽक्षभागैः ।
अधश्च तैरुत्तरतोऽङ्कितं च षष्ट्याऽत्र नाडीवलयं विदध्यात् ॥५॥

वा० भा०—तयोरेव पूर्वापरसंपातयोर्विलग्नं तथा याम्योत्तरवृत्ते खस्वस्तिकाद्दक्षिणतोऽधः स्वस्तिकादुत्तरतोऽक्षांशान्तरे यद्वृत्तं निबध्यते तद्विषुवद्वृत्तम् ॥५॥

मरीचिः—ननु दिननिशोर्घटिकात्मकत्वान्न्यूनाधिकत्वं गोले ज्ञातुमशक्यमत्र कस्मिन्नपि वृत्ते घटिकाङ्कनाभावात्सर्वत्र राश्यंशानामङ्कनादित्यत उपजातिकयाऽऽह—**पूर्वापरेति** ।

अत्र खगोले । पूर्ववृत्ततुल्यमेकं वंशशलाकावृत्तं नाडीवृत्तसंज्ञं विदध्यान्निबध्नीयादित्यर्थः । निबन्धनप्रकारमाह—पूर्वापरस्वस्तिकयोरिति । पूर्वापरदिक्स्थौ यौ स्वस्तिकौ । बहुवृत्तसंपाते पूर्वाचार्याणां तत्संकेताद्बहुत्वमेकद्विभिन्नत्वमत एव पूर्वश्लोके स्वस्तिकपदानुक्तिस्तयोर्लग्नं निबद्धम् । खस्वस्तिकात् । ऊर्ध्वस्थितवृत्तचतुष्कसंपातात् । स्वाक्षभागैर्दक्षिणभागे याम्योत्तरवृत्तप्रदेशे निबद्धम् । अधःस्थिततद्वृत्तचतुष्कसंपातात् । तैः स्वाक्षांशैरुत्तरभागे याम्योत्तरवृत्तप्रदेशे निबद्धम् । चः समुच्चये । नन्विदं निरक्षदेशपूर्वापरवृत्तानुकल्पत्वेन ध्रुवद्वयाभ्यां समान्तरितत्वान्नाडीवृत्तं कुत इत्यत आह—अङ्कितमिति । षष्टया चिह्नषष्टिसंख्याभिः सम्पूर्णवृत्तमङ्कितम् । चः समुच्चये । तेन राशिभागाङ्कननिरासो नेति सूचितम् । षड्भागैरेका घटिकेति सम्पूर्णं वृत्तं षष्टिघटिकाङ्कितम् । तथा चैतद्वृत्तस्य प्रवहभ्रमानुकारत्वेन प्रवहभ्रमणे चाहोरात्रसंभवाद्घटीवृत्तसंज्ञाया युक्तत्वेन गोलेऽनेन दिनरात्रिज्ञानसंभवान्निरक्षदेशपूर्वापरवृत्तनिबन्धनं तत्क्षितिजनिबन्धनवत्स्वदेशे युक्ततरमिति भावः । इदमपि निरक्षदेशादुत्तरभागे तदितरभागेऽस्माद्व्यस्तम् । निरक्षदेशकोणवृत्तद्वयमत्र प्रयोजनाभावान्न निबद्धम् । याम्योत्तरवृत्तं त्वभिन्नमेवेति ध्येयम् ॥५॥

केदारदत्तः—नाड़ी वृत्त या विषुव वृत्त या भूमध्यगत पूर्वापर वृत्त रचना की जा रही है—

पूर्वापर स्वास्तिकों में संलग्न, अपने खमध्य से अक्षांश तुल्य दक्षिण एवं अपने अधः खमध्य से अक्षांश तुल्य दूरी पर संलग्न वृत्त का नाम विषुवद्वृत्त होता है ॥५॥

इदानीं दृङ्मण्डलमाह—

ऊर्ध्वाधरस्वस्तिककीलयुग्मे प्रोतं श्लथं दृग्वलयं तदन्तः ।
कृत्वा परिभ्राम्य च तत्र तत्र नेयं ग्रहो गच्छति यत्र यत्र ॥६॥

वा० भा०—खस्वस्तिके चाधःस्वस्तिके चान्तःकीलकौ कृत्वा तयोः प्रोतं श्लथं दृग्वलयं कार्यम् । तत्तु पूर्ववृत्तेभ्यः किंचिन्न्यूनं कार्यम् । यथा खगोलान्तर्भ्रमति । यद्येक एव ग्रहगोलस्तदैकमेत्र दृङ्मण्डलम् । यो यो ग्रहो यत्र यत्र वर्तते

तस्य तस्योपरीदमेव परिभ्राम्य विन्यस्य दृग्ज्याशङ्क्वादिकं दर्शनीयम् । अथवा पृथक् पृथगष्टौ दृङ्मण्डलानि रचयेत् । तत्राष्टमं वित्रिभलग्नस्य । तच्च दृक्क्षेप-मण्डलम् ।।६।।

मरीचिः—अथाभीष्टदिग्वृत्तनिवेशज्ञानार्थंत्त दृग्वृत्तनिवेशनमिन्द्रवज्रयाऽऽह – **ऊर्ध्वाध-रेति** । तदन्तो बद्धगोलमध्ये । ऊर्ध्वाधरस्वस्तिकयोरन्तर्बद्धकीलद्वये प्रोतं श्लअं शिथिलमनेन पूर्ववृत्तेभ्यस्तथा द्युवृत्तं कार्यं यथा तदन्तस्तद्भ्रमणं भगोलासंस्पृष्टं संभवतीति सूचितम् । दृग्वृत्तं वंशादिजं कृत्वा यत्र-यत्र स्थाने ग्रहो गच्छति तत्र तत्र स्थाने परिभ्राम्य स्वभ्रमणानु-सारेण तद्वृत्तं नेयं संलग्नं कार्यम् । चः समुच्चये । इदं वृत्तमाकाशस्थग्रहस्थानोर्ध्वाधरस्व-स्तिकसंलग्नसूक्ष्मवृत्ता(लघु)नुकल्पम् । अत एव ग्रहस्थिरत्वाभावात्प्रतिप्रदेशसंवन्धेन वृत्तानां निबन्धगौरवमशक्यं चातो मतिमद्भिः शिथिलैतद्वृत्तं तत्प्रोतं कल्पितम् । तद्भ्रमेण सर्व-वृत्ताकारदर्शनात् ।।६।।

केदारदत्तः—गोल में दृङ्मण्डल वृत्त का प्रदेश—

यत्र तत्र स्थित ग्रह बिम्ब केन्द्रगत और ऊर्ध्वाधर खमध्यगत वृत्त का नाम दृङ्मण्डल वृत्त होता है ।

इस वृत्त से ग्रहों का नतांश उन्नतांश क्षेत्र ज्ञान पूर्वक दिन रात्रिगत इष्टकाल ज्ञात होता है ।।६।।

अथ विशेषमाह—

ज्ञेयं तदेवाखिलखेचराणां पृथक् पृथग्वा रचयेत्तथाऽष्टौ ।
दृङ्मण्डलं वित्रिभलग्नकस्य दृक्क्षेपवृत्ताख्यमिदं वदन्ति ।।७।।

वा० भा०—व्याख्यातमेवेदम् ।।७।।

मरीचिः—ननु खगोलनिबन्धनस्थाने ग्रहभ्रमणाभावात्कथमुक्तं तत्र तत्रेत्यादीत्यत आहोपजातिकया—**ज्ञेयमिति** ।

तत्—ऊर्ध्वाधरस्वस्तिकान्तः प्रोतं दृग्वृत्तं खगोलस्थमखिलखेचराणां समस्तनक्षत्राणां सप्तग्रहाणां च ज्ञेयम् । एवकारस्तद्वृत्तस्य नक्षत्रादिसंबन्धाभावेन नक्षत्रादिदृग्वृत्तत्वासं-भवनिरासार्थकः । एतदुक्तं भवति । आकाशगोलसंवन्ध्यूर्ध्वाधरस्वस्तिकग्रहस्थानसक्तवृत्ता-नुकल्पमत्र वृत्तं खलु दृग्वृत्तम् । तथा च नक्षत्रादिस्थानभूगर्भसमसूत्रेण यत्खगोले स्थानं तत्रैव नक्षत्राद्यवस्थानकल्पनाद्दृग्वृत्तनायनं प्रागुचितमुक्तम् । अनुकल्पकत्वाक्षतेः । दृष्टान्त गोले ग्रहबिम्बाद्यभावाच्च । अन्यथा ग्रहगोलस्य खगोलान्तर्गतत्वात्स्थिरत्वदर्शनार्थमुक्तस्य-(स्या) भिन्नगोलनिबन्धनस्यानुपपत्तेरिति । याम्योत्तरवृत्तस्थे नक्षत्रादौ दृग्वृत्तं नलिका-प्रतिबन्धाद्याम्योत्तरवृत्ताकारं सम्यग्भवत्यपि तदाकारं नलिकाभिन्नगोलनिबन्धने तदाकार-दर्शनादिति ध्येयम् । ननु मन्दबोधायैवमुक्तस्यैतद्वृत्तस्य ग्रहगोलसंबन्धाभावेन तदनवबोध इत्यस्वरसादाह—पृथगिति । वा पक्षान्तरे । पृथक् स्वस्वगोले । अष्टौ तथा दृङ्मण्डलानि ।

भ्रमद्गोलानामष्टसंख्यामितत्वात् । रचयेत्कुर्यात् । तथा च खगोलोर्ध्वाधरस्वस्तिकसमकसमसूत्रेण नक्षत्रग्रहगोले यत्स्थानं तदन्तः कीलयुग्मप्रोतं श्लथं दृग्वृत्तं तत्र तत्र भ्रमत्येवेति तेषां सुबोधम् । याम्योत्तरवृत्ते च यष्टिप्रतिबन्धात्तदाकारं सम्यङ्न भवत्यपि तदाकारं दृग्वृत्तं ज्ञेयम् । विशेषमाह—दृङ्मण्डलमिति । वित्रिभलग्नस्थानस्य दृग्वृत्तम् । इदं परिभ्रमानीतं दृक्क्षेपवृत्तसंज्ञम् । पूर्वाचार्या वदन्ति । न दृग्वृत्तमिति । अत एव वित्रिभलग्नशङ्कुदृग्ज्यादृक्क्षेपसंज्ञः सूर्यग्रहणाधिकार उक्तः ॥७॥

केदारदत्तः—उक्त दृङ्मण्डल का प्रयोजन—एक ही चल दृङ्मण्डल का उपयोग सभी ग्रहों पर किया जा सकता है । ऊर्ध्वाधर खमध्यों में बद्ध और इतस्ततः ऐच्छिक ग्रह बिम्ब केन्द्र बिन्दु गत एक ही धरातल गत दृङ्मण्डल की आठों या अनेकों ग्रह तारकों के वेध के लिये इस वृत्त का ग्रहों में वेध के लिये उपयोग किया जा सकता है । अथवा प्रत्येक ग्रह का पृथक् एक ही दृङ्मण्डल इतस्ततः चलायमान करने से इसका उपयोग किया जा सकता है ।

वित्रिभलग्न के दृङ्मण्डल की विक्षेप वृत्त संज्ञा है । लग्न से ९० अंश चाप की दूरी से विधीयमान वृत्त का नाम दृक्क्षेप वृत्त है । दृक्क्षेप वृत्त के क्रान्ति वृत्त के साथ दो सम्पात होते हैं लग्न से पृष्ठगत सम्पात का नाम वित्रिभ और लग्न से अग्रगत सम्पात का नाम सत्रिभ होता है ।।७।।

इदानीमेवं खगोलमुक्त्वा दृग्गोलमाह—

बद्ध्वा खगोले नलिकाद्वयं च ध्रुवद्वये तन्नलिकास्थमेव ।
बहिः खगोलाद्विदधीत धीमान्दृग्गोलमेवं खलु वक्ष्यमाणम् ।।८।।
भगोलवृत्तैः सहितः खगोलो दृग्गोलसंज्ञोऽपममण्डलाद्यैः ।
द्विगोलजातं खलु दृश्यतेऽत्र क्षेत्रं हि दृग्गोलमतो वदन्ति ।।९।।

वा० भा०—तस्मिन्खगोले ध्रुवचिह्नयोर्नलिकाद्वयं बद्ध्वा तन्नलिकाधारमेव खगोलाद्बहिरङ्गुलत्रयान्तरे दृग्गोलं रचयेत् । कथितैः खगोलवृत्तैर्वक्ष्यमाणैर्भगोलवृत्तैः क्रान्तिविमण्डलाद्यैर्यो निबध्यते स दृग्गोलः । कथमस्य दृग्गोलसंज्ञेति तदर्थमाह-द्विगोलजातमित्यादि । यतोऽग्राकुज्यासमशङ्क्वाद्यक्षक्षेत्राणि द्विगोलजातानि । भगोलवृत्तैः खगोलवृत्तमिलितैस्तान्युत्पद्यन्ते । भिन्नगोलबन्धे सम्यङ्नोपलक्ष्यन्त इति दृग्गोलः कृतः ॥८॥९॥

इति खगोलदृग्गोलबन्धौ ।

मरीचिः—अथ क्रमप्राप्तं दृग्गोलबन्धनमुपजातिकयाऽऽह—**बद्ध्वेति** । खगोलखगोले । उक्तप्रकारजनितवृत्तसंनिवेशरूपे ध्रुवद्वये नलिकाद्वयं बद्ध्वा । खगोलसंबन्धियाम्योत्तरवृत्ते दक्षिणोत्तरध्रुवचिह्नयोः प्रत्येकमेकां नलिकां दत्त्वा । तद्दानं च

याम्योत्तरोन्मण्डलभिन्ननलिकामध्यपरिधिरूपमुपक्रम एवोक्तरीत्या संभवति। अन्यथा तद्बन्धनानुपपत्तेः। चकारान्नलिकाछिद्रमार्गेण वृत्तदाननिरासः। भ्रमद्गोलानां नलिकाप्रोतयष्टया तदाधारत्वात्। खगोलादस्माद्बहिरुपरि। एवकारात्तदधोनिरासः। खगोलाज्ञानेन तन्निबन्धनाशक्यत्वात्। तन्नलिकास्थम्। खगोलप्रोतनलिकास्थानान्तरप्रोतदृग्गोलम्। एवं खगोलवद्वंशादिवृत्तैः। धीमान्गणको विदधीत कुर्यात्। धीमानित्यनेन यथा खगोलो वृत्तस्पृष्टो न भवति तथा नलिकाद्वयान्तस्थानान्तरे बध्नीयादिति सूचितम्। ननु तत्प्रकाराभावात्कथं तन्निबन्धनं शक्यमित्यत आह—वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ननु दृग्गोलस्यावास्तवत्वेन तन्निबन्धनं व्यर्थमेवेत्यत आह—खल्विति। निश्चयेनावश्यं तन्निबन्धनं कार्यमित्यर्थः। तथा च तदवास्तवत्वेऽपि तन्निबन्धनं क्षेत्रादिदर्शनार्थमावश्यकमिति भावः ॥८॥

अथ प्रतिज्ञातदृग्गोलस्य निबन्धनं प्रकारदृग्गोलसंज्ञाहेतुं चोपजातिकयाऽऽह—**भगोलवृत्तैरिति।**

भगोलसंबन्धीनि यानि वृत्तानि तैः सहितो युक्तः खगोलो दृग्गोलसंज्ञो भवति। उक्तप्रकारेण खगोलं बद्ध्वा तत्र भगोलवृत्तानि बध्नीयात्। तेन सिद्धो गोलो दृग्गोलत्वेन व्यपदिश्यत इति भावः। ननु भगोलवृत्तानामज्ञानात्कथं तन्निबन्धनमत आह—अपविमण्डलाद्यैरिति। अपमण्डलं क्रान्तिमण्डलम्। विमण्डलं विक्षेपमण्डलं वृत्ताम्। नामैकदेशे नामग्रहणात्। आद्यपदाद्द्युरात्रवृत्तानि। एतानि भगोलसंबन्धिवृत्तानीत्यर्थः। नन्वेतस्योभयगोलवृत्तात्मकत्वात्खगोलभगोलमिश्रगोलत्वं कथं दृग्गोलत्वमत आह—द्विगोलजातमिति। खगोलभगोलवृत्तसंपातजनितं क्षेत्रं द्वितीयाक्षक्षेत्रभिन्नम्। अत्र मिश्रगोले हि यतः खल्वसंशयं दृश्यते। अतः कारणादेनं मिश्रगोलं दृग्गोलं पूर्वाचार्या वदन्ति। तथा च गोलक्षेत्रं खगोले प्रत्यक्षम् भगोले भगोलक्षेत्रं प्रत्यक्षम्। तदुभयजं क्षेत्रं तत्र तत्रादृश्यमतस्तद्दर्शनार्थमयं गोलबन्ध उपकल्पित इत्ययं दृग्गोलसंज्ञ उक्त इति भावः ॥९॥

केदारदत्तः—द्विगोलज दृग्गोल बताया जा रहा है—

इस प्रकार खगोल में दो नलिका (१–दृग्गोलखगोल) जो दोनों ध्रुवों को जो नलिका, २–अपने अग्र भागों में दर्शाती हैं उसके आगे आकाश में खगोलाधार से वक्षमाण दृग्गोल की रचना कर, क्रान्ति वृत्त प्रभृति अनेक उपकरणों से युक्त खगोल एवं दृग्गोल की रचना से द्विगोलोत्पन्न क्षेत्रों की रचना जो दृष्टिगत होती है बनानी चाहिए। अतः एव उक्त सभी पूर्वापरयाम्योत्तर क्षितिज-उन्मण्डल-कोण-क्रान्ति-विमण्ड आदि सभी द्विगोलीय विषयों को दृग्गोलीय समझा जाता है।

गोल का सम्यक् ज्ञान होने से उक्त विषय समझ में आते हैं और गोल रचना ठीक होती है। नहीं तो बुद्धि ही गोल हो जाती है ॥८-९॥

इदानी भगोलबन्धमाह—

याम्योत्तरक्षितिजवत् सुदृढं विदध्या-
दाधारवृत्तयुगलं ध्रुवयष्टिबद्धम् ।
षष्टयङ्कमत्र सममण्डलवत्तृतीयं
नाड्याह्वयं च विषुवद्वलयं तदेव ।।१०।।

वा० भा०—यथा खगोले क्षितिजं याम्योत्तरं च तदाकारमपरमाधारवृत्तद्वयं ध्रुवयष्टिस्थंकृत्वा तदुपर्यन्यत्तृतीयं सममण्डलाकारं घटीषष्ट्या चाङ्कितं कार्यम् । तन्नाडीवृत्तं विषुवद्वृत्तसंज्ञं च ।।१०।।

मरीचिः—अथ भगोलवृत्तानां ज्ञानेऽपि तन्निबन्धनप्रकाराभावाद्दृग्गोलसंबन्धोऽप्यशक्य इत्यतो भगोलबन्धं विवक्षुः प्रथमं वृत्तत्रयनिबन्धनं वसन्ततिलकयाऽऽह--**याम्येति** ।

याम्योत्तरक्षितिजवत् ।यथा खगोले याम्योत्तरवृत्तं खमध्यात्तद्वृत्तार्धे क्षितिजवृत्तं निबद्धं तथैवाऽऽधारवृत्तद्वयं ध्रुवयष्टिबद्धं तत्प्रोतमुभयत्राङ्गुलान्तरेणोपान्तिमभागे सुदृढं विदध्यात् कुर्यात् । अत्र क्षितिजवदिति निरक्षक्षितिजवदिति समीचीनम् । भ्रमद्गोले तस्य तदाकारत्वात् । स्वदेशक्षितिजप्रदेशयोर्ध्रुवयष्टयाग्राभ्यामध ऊर्ध्वं सत्त्वात् । अत्र भगोलवृत्तानां निराधारार्थं खगोलसंबध्यु(द्धत्वमु)क्तम् । तत्रैकेकवृत्तस्यैव ध्रुवयष्टिप्रोतत्वे शिथिलतयाऽर्धार्धे यष्टिः कदाचिन्न स्यादिति वृत्तमावश्यकम् । अत्राऽऽधारवृत्तयुगले षष्टिचिह्नाङ्कितं तृतीयं वृत्तं सममण्डलवत् । यथा खगोले याम्योत्तरक्षितिजवृत्ताभ्यामर्धार्धसमण्डलमस्ति तथेदं वृत्तयुगलार्धार्धे निबद्धं नाडी(ड्या)ह्वयं भवति । भ्रमद्गोले तस्य खगोलबद्धनाडीवल्याकारत्वात् ।

ननु भगोलवृत्ते खगोलवृत्तस्याप्रयोजनात्तद्भगोले किमर्थमत आह—विषुवद्वलयमिति । तत् । यत्षष्टयङ्कं वृत्तं बद्धं तत् । एवकारात्तदतिरिक्तवृत्तनिरासः । विषुवद्वृत्तम् । तथा च भगोले ग्रहस्य तुल्यदिनरात्रिसमय एतद्वृत्तानुरोधेन भ्रमणादस्य विषुवद्वृत्तत्वमिति भावः । चकारो वार्थकस्तेन खगोल एतदनुकारवृत्तं नाडीसंज्ञं स्थिरत्वात् । भगोल एतदनुकारवृत्तविषुवत्संज्ञं चलत्वादित्यर्थः । अत्र षष्टयङ्कनं क्रान्तिवृत्तं नक्षत्रादीनां भ्रमणं षष्टिनाक्षत्रघटीभिरिति दर्शनार्थमिति ध्येयम् ।।१०।।

केदारदत्तः—भगोलबन्ध बताया जा रहा है—

याम्योत्तर क्षितिज वृत्त की तरह सुदृढ़ दो आधार वृत्त जो ध्रुवयष्टि से संलग्न होते हैं उनकी रचना पूर्वक सममण्डल (पूर्वापर वृत्त) के आकार का एक अन्यवृत्त की रचना जिसमें १, २····३····४····५०····६० तक घटिका चिह्न अङ्कित होते हैं, और जिसे विषुवद्वृत्त या नाडीवृत्त कहते हैं उसकी भी रचना भगोलाकाश में करनी चाहिए ।।१०।।

इदानीं क्रान्तिवृत्तमाह—

क्रान्तिवृत्तं विधेयं गृहाङ्कं भ्रम-
त्यत्र भानुश्च भार्धे कुभा भानुतः ।
क्रान्तिपातः प्रतीपं तथा प्रस्फुटाः
क्षेपपाताश्च तत्स्थानकान्यङ्कयेत् ॥११॥

वा० भा०—अथान्यत्तत्प्रमाणमेव वृत्तं कृत्वा तत्र मेषादिं प्रकल्प्य द्वादशराशयोऽङ्क्याः । तत्क्रान्तिवृत्तसंज्ञम् । तस्मिन् वृत्ते रविर्भ्रमति । तथा रवेर्भार्धान्तरे भूभा च । तथा तत्र क्रान्तिपातो मेषादेर्विलोमं भ्रमति । तथा ग्रहाणां विक्षेपपाताः प्रस्फुटा विलोमं भ्रमन्ति । अतः क्रान्तिपातादीनां स्थानानि तत्राङ्क्यानि ॥११॥

मरीचि—अथ भगोले क्रान्तिवृत्तं स्वरूपेण सिद्धं कुर्वन् स्रग्विण्याऽऽह—**क्रान्तिवृत्तमिति**। विषुवद्वृत्तसमं वंशादिजमन्यद्वृत्तं गृहाङ्कं चक्रांशाद्यङ्कितमप्यभीष्टस्थानान्मेषादिद्वादशराशिप्रथमाक्षराङ्कितं विधेयम् । तत्क्रान्तिवृत्तम् । एतद्वृत्तमाकाशस्थितभगोलवृत्तान मध्ये कस्यानुकल्पमत आह—भ्रमतीति । अत्रास्मिन्वृत्ते भानुः सूर्यः स्वकक्षायां भ्रमतीति ।ां स्वपूर्वगत्या गच्छति । भानुतः सूर्यात् । भार्धे षड्भान्तरे कुभा भूछाया स्वकक्षायां भ्रमति । रविः पूर्वगत्या गच्छति । चः समुच्चये । भूम्यभितः सूर्यभ्रमणात्तत्कृतभूछायायास्ततो वृत्तार्धे पतनात् । तथा च यस्मिन्वृत्तेऽर्कः पूर्वगत्या द्वादशराशिभोगं करोति तद्वृत्तानुकल्पमिदमिति भावः । प्रसङ्गादेतद्वृत्तभ्रमणपदार्थान्तरानाह—क्रान्तिपातो वक्ष्यमाणस्वरूपः । स्वगत्या प्रतीपं सूर्यागमनस्थितिविरुद्धं तथा विलक्षणम् । कदाचित्पूर्वतः कदाचित्पश्चिमत इत्यार्षाभिप्रायेणार्थः । मुञ्जालादिमते तु प्रतीपं पश्चिमानुक्रमेण । तथा स्वगत्यर्थः । क्षेपपाताश्चन्द्रादीनां शरपाता वक्ष्यमाणस्वरूपाः । प्रस्फुटा ग्रहशीघ्रफलव्यस्तसंस्कृता वक्ष्यमाणस्वरूपा इत्यर्थः । न मध्यमाः । चकारात्प्रतीपं पश्चिमगतयः । भ्रमति भ्रमन्तीति यथायोग्यम् । नन्वाकाशे ते तत्र भ्रमन्तु । परमतुकल्पवृत्तकथने तत्कथनमयुक्तमत आह—तत्स्थानकानीति । तेषां सूर्यभूछायाक्रान्तिपातशरपातानामत्र वृत्ते यत्र यत्र स्थानं तत्र तत्र तदाद्यक्षराण्यङ्कयेत् ॥११॥

केदारदत्तः—क्रान्तिवृत्त की रचसा—

१२ राशियों के अंशों की कला विकलाओं से अंकित क्रान्ति वृत्त का निर्माण करना चाहिए । सूर्यबिम्ब का भ्रमण क्रान्तिवृत्त में होता है, भूकेन्द्राभिप्रायिक भ्रमण कक्षा क्रम से क्रान्तिवृत्त में सूर्य की गति की जगह सूर्य केन्द्राभिप्रायिक ग्रह कक्षा में पृथ्वी की पूर्वाऽभिमुखी गति वशेन क्रान्ति का ज्ञान होता है । स्पष्ट गणित और वेध सिद्ध ग्रह गणि में अन्तर नहीं पड़ेगा ।

सूर्य बिम्ब केन्द्र से ६ राशि की दूरी पर सूर्य प्रकाश से प्रकाशित विपरीत दिशा में पृथ्वी की छाया चलती है। तथा मेषादि से विलोम गति से क्रान्तिपात का भ्रमण होता है।

इस प्रकार सभी ग्रहों के विमण्डल क्रान्तिवृत्त सम्पात भी विलोम गति से मेष से विलोम, मीन कुम्भादि क्रम से चलते हैं ।।११।।

इदानीं क्रान्तिवृत्तस्य निवेशमाह—

क्रान्तिपाते च पाताद्भषट्कान्तरे नाडिकावृत्तलग्नं विदध्यादिदम् ।
पाततः प्राक् त्रिभे सिद्धभागैरुदग्दक्षिणे तैश्च भागैर्विभागेऽपरे ।।१२।।

वा० भा०—क्रान्तिपातचिह्नात् षड्भेऽन्तरेऽन्यच्चिचह्नं कार्यम्। ते चिह्ने नाडीवृत्तेन संसक्ते कृत्वा पातचिह्नादग्रतस्त्रिभेऽन्तरे नाडीवृत्ताद्भागचतुर्विंशत्योत्तरतो यथा भवत्यपरत्रिभागे त्रिभेऽन्तरे दक्षिणतश्च तैर्भागैर्यथा भवति तथा बध्नीयात् ।।१२।।

मरीचिः—अथैतद्वृत्तनिबन्धनं स्रग्विण्याऽऽह—**क्रान्तिपात इति ।**

इदं निर्मितं क्रान्तिवृत्तम्। क्रान्तिपाते क्रान्तिपातचिह्नितप्रदेशे पातात्क्रान्तिपातस्थानात्। षड्भान्तरे। षड्भान्तरितप्रदेशे। चः समुच्चये। नाडिकावृत्तलग्नं पूर्वोक्तषष्ठ्यङ्कवृत्तप्रदेशाभ्यां षड्भान्तरिताभ्यां संलग्नं कुर्यात्। चकारादुद्वृत्ताकाराधारवृत्तसंलग्ननाडिकावृत्तप्रदेशाभ्यामित्यर्थः। पाततः क्रान्तिपातस्थानात्प्राग्राशिक्रमानुमार्गेण। त्रिभे विभागे त्रिराश्यन्तरितक्रान्तिवृत्तप्रदेशे सिद्धभागैः। चतुर्विंशांशैः। उदग्याम्योत्तरवृत्ताकाराधारवृत्तस्थासन्ननाडिकावृत्तप्रदेशात्। आधारवृत्तप्रदेशेन संलग्नं कार्यं क्रान्तिपातस्थानादपरो राश्यङ्कनविलोममार्गे त्रिभे विभागे त्रिभान्तरितक्रान्तिवृत्तप्रदेशे तैश्चतुर्विंशांशैः। आधारवृत्तप्रदेशे दक्षिणे आसन्ननाडिकावृत्तप्रदेशात्संलग्नं कार्यम्। चः समुच्चये। आधारवृत्तसंबन्धेन बन्धनं च चतुर्विंशांशप्रत्यक्षदर्शनार्थम्। अन्यथाऽपि तन्निबन्धने न क्षतिरिति ध्येयम्। अस्य तात्पर्यार्थः—निरक्षदेशे पूर्वापरवृत्तेऽर्कोदयागतस्तत्कालमारभ्य ब्रह्मादिभिरनुदिनमुत्तरभागे दक्षिणभागे वा गोलवशाद्यथोत्तरं तत्पूर्वापरवृत्तस्थादुपचयेन दृष्टो यावच्चतुर्विंशत्यंशम्। ततोऽपचयेन दृष्टस्तत्र यथोपचयस्तथैवापचय इति सूर्यस्य कालवशेनाप्यविकृतत्वदर्शनाद्वरमतिभिः सूर्याधिष्ठितं वृत्तं कल्पितम्। एतदनुरोधेन भगोले वृत्तं तत्क्रान्तिवृत्तम्। एतद्वृत्ते भगोले प्राधान्येन राशयो ग्रहज्ञानोपयुक्ताः कल्पिताः। एतदन्तरस्यानुगतैकप्रकारेण ज्ञानात्। यतः क्रमणं क्रान्तिः। सूर्यस्यैतद्वृत्ते स्वशक्त्या गमनात्। अन्यग्रहगोलेऽपि तदनुरोधेन क्रान्तिवृत्तं कल्पितम्। चन्द्रादीनां सूर्यवद्दर्शनाभावेऽप्यनुगतान्तरं विनाऽपि कदाचित्सूर्यवृत्ताधिष्ठानं भवत्येव भगणः स्मृत इत्युक्तत्वाच्च। रेवतीतारायाश्चन्द्रादिवृत्तसंबन्धाभावात्सूर्यवृत्तासंबन्धाच्च फलादेशोऽनुगतत्वेन सर्वग्रहाणां क्रान्तिवृत्तानुरोधेनैवाऽऽदृत इति ।।१२।।

केदारदत्तः—क्रान्ति सम्पात चिह्न से ६ राशि की दूरी पर नाडी वृत्त सम्पात समझ कर नाडी क्रान्ति वृत्त सम्पात से प्राग्विभाग में ३ राशि = ९० अंश की दूरी पर पूर्वभाग में २४ अंश उत्तर की तरफ तथा परभाग में २४° दक्षिण की तरफ के अन्तर से एक गोलज धरातल से क्रान्तिवृत्त की स्थापना करनी चाहिए ॥१२॥

इदानीं विमण्डलमाह—

नाडिकामण्डले क्रान्तिवृत्तं यथा क्रान्तिवृत्ते तथा क्षेपवृत्तं न्यसेत् ।
क्षेपवृत्तं तु राश्यङ्कितं तत्र च क्षेपपातेषु चिह्नानि कृत्वोक्तवत् ॥१३॥

क्रान्तिवृत्तस्य विक्षेपवृत्तस्य च क्षेपपाते सषड्भे च कृत्वा युतिम् ।
क्षेपपाताग्रतः पृष्ठतश्च त्रिभे क्षेपभागैः स्फुटैः सौम्ययाम्ये न्यसेत् ॥१४॥

शीघ्रकर्णेन भक्तास्त्रिभज्यागुणाः ।
स्युः परक्षेपभागा ग्रहाणां स्फुटाः ।
क्षेपवृत्तानि षण्णां विदध्या-
त्पृथक् स्वस्ववृत्ते भ्रमन्तीन्दुपूर्वा ग्रहाः ॥१५॥

वा० भा०—अस्य श्लोकस्य समग्रस्य व्याख्यानम् । यथा क्रान्तिवृत्तं पृथक्कृतमेवं विमण्डलमपि राश्यङ्कं पृथक् कृत्वा तत्र मेषादेर्व्यस्तं स्फुटं क्षेपपातं दत्त्वाऽग्रे चिह्नं कार्यम् । अथ क्रान्तिवृत्तस्य विमण्डलस्य च क्षेपपातचिह्नयोः संपातं कृत्वा तस्मात्षड्भान्तरेऽन्यं च संपातं कृत्वा क्षेपपाताग्रतस्त्रिभेऽन्तरे क्रान्तिवृत्तादुत्तरतः स्फुटैः क्षेपभागैः पृष्ठतश्च त्रिभेऽन्तरे तैरेव भागैर्दक्षिणतः स्थिरं कृत्वा विमण्डलं निवेशनीयम् । अथ पठिता ये विक्षेपभागास्ते त्रिज्यागुणाः शीघ्रकर्णेन भक्ताः स्फुटा ज्ञेयाः । अत्रानुपातः । यदि कर्णाग्र एतावन्तस्तर्हि त्रिज्याग्रे कियन्त इति । यतो भगोले त्रिज्यैव व्यासार्धम् । एवं चन्द्रादीनां षड्विमण्डलानि कार्याणि । स्वस्वविमण्डले ग्रहा भ्रमन्ति ॥१३॥१४॥१५॥

मरीचिः—अथ क्रमप्राप्तं विमण्डलनिबन्धनं स्रग्विणीभ्यामाह—**नाडिकामण्डल इति** । यथा नाडिकावृत्ते क्रान्तिवृत्तं निवेशितमुत्तरगोले उत्तरतो दक्षिणगोले दक्षिणतो नाडिकामण्डलादित्यर्थः । तथा च तद्वत्क्षेपवृत्तं विक्षेपवृत्तं क्रान्तिवृत्ते न्यसेत् । क्रान्तिवृत्तप्रदेशाभ्यां विक्षेपक्तान्तरोत्तरदक्षिणगोलप्रदेशौ वृत्तार्धरूपावुत्तरतो दक्षिणतश्च क्रमेण यथा भवतस्तथा शरवृत्तं निवेदनीयम् । ननूक्तप्रकारेण शरोऽपि ग्रहाणां क्रान्तिवदेव सिद्धः । नाडिकावृत्ताच्चतुर्विंशत्यंशैः क्रान्तिवृत्तोत्तरदक्षिणभागयोरवस्थानात् । चतुर्विंशत्यंशैः क्रान्तिवृत्ताच्छरवृत्ततोत्तरदक्षिणभागयोरवस्थानस्योक्तत्वात् । न चेष्टापत्तिः । ग्रहशराणां परमत्वेऽपि चतुर्विंशानुपलम्भादित्यतः साधारणोक्तं विशदयति—**क्षेपवृत्तमिति** ।

क्षेपवृत्तं शलाकजं तुकारात्पूर्ववृत्तसमं चक्रभागाद्यङ्कितमपि मेषादिराशिप्रथमाक्षराद्यङ्कितं यद्वृत्तं तत्क्षेपवृत्तम्। तत्र क्षेपवृत्ते क्षेपयातेषु प्रस्फुटपातस्थाननेषु चिह्नान्युक्तवत्क्रान्तिवृत्ते शरपातस्थानचिह्नानि तथेत्यर्थः। कृत्वा। चः समुच्चये। तेन क्रान्तिशरवृत्ते पातचिह्नाङ्कितेनैकतरम्। क्रान्तिवृत्तस्य विक्षेपवृत्तस्य च। चः समुच्चये। क्षेपपातेऽङ्कितशरपातस्थाने सषड्भे स्वस्वषड्भान्तरितस्थानाभ्यां सह वर्तमाने। युतिं संयोगम्। चः समुच्चये। कृत्वा। क्षेपपातस्थानादग्रिमभागे राशिक्रममार्गेण। त्रिभे त्रिराश्यन्तरितप्रदेशे पृष्ठतो राश्यङ्कनविलोममार्गेण। पातस्थानात्पृष्ठभागे त्रिभान्तरिते प्रदेशे। चः समुच्चये। क्षेपभागैः स्फुटैः परमैर्वक्ष्यमाणैःक्रान्तिवृत्तात्सौम्ययाम्ये। अग्रपृष्ठक्रमेण शरवृत्तं निबन्धयेत्। इदमप्यतीन्द्रियदृग्भिर्ब्रह्मादिभिश्चन्द्रादिगतिदर्शनानुरोधेनोपकल्पितशरवृत्तानुकल्परूपम् ॥१३॥१४॥

ननु शरवृत्तक्रान्तिवृत्तयोरेकत्वात्तयोः सर्वग्रहशरपाताङ्कनात्मकयोः शरपातयोः संपातं कृत्वा विक्षेपवृत्तं निबन्धव्यमित्यतः क्षेपपाते त्विति बहुवचनसूचिताभिप्रायं स्फुटक्षेपभागकथनपुरःसरं स्रग्विण्या विशदयति—**शीघ्रकर्णेनेति।**

ग्रहाणां भौमादीनां क्षेपभागा ग्रहच्छायाधिकारे याः परमशरकलास्ताः षष्टिभक्ता इत्यर्थः। त्रिज्यागुणिताः शीघ्रकर्णेन भक्ताः फलं स्फुटाः परमशरभागाः स्युः। चन्द्रस्य परमशरभागाः सार्धचत्वार एव। शीघ्रकर्णाभावात्। अत्रोपपत्तिः। पठिताः परमशरः कर्णाग्रे। भगोलस्तु त्रिज्याव्यासार्धकः। अतो भगोले क्रान्तिशरवृत्तयोः परमतान्तरज्ञानार्थं कर्णाग्रे परमशरस्तदा त्रिज्याग्रे क इत्यनुपातः समञ्जसः। चन्द्रस्य तु भगोले लक्षितः इति स्थिरः। क्षेपवृत्तानीति। षण्णां चन्द्रादिग्रहाणां शरवृत्तानि पृथक् पृथक् कुर्यात्। तथा च क्षेपपातेष्वित्यनेन चन्द्रादीनां षड्वृत्तानि राश्यङ्कितानि शरवृत्तानि। तेषु क्रमेण चन्द्रादिशरपाता अङ्क्याः। ततः क्रान्तिवृत्ते स्वस्वपातचिह्ने तत्षड्भान्तरे च स्वशरवृत्तं पातस्थाने षड्भान्तरे स्थाने च निबद्धं स्वस्वफुटशरभागैः क्रान्तिवृत्तादुत्तरयाम्ये ग्रहपृष्ठत्रिभान्तरे च निबद्धम्। एवमेकस्मिन्क्रान्तिवृत्ते षट्शरवृत्तानि स्वस्वपातचिह्नस्वस्वस्फुटशरभागवशतो भिन्नानि भवन्ति। ननु भगोलस्थक्रान्तिवृत्ते शरवृत्तानां निबन्धनं नोचितम्। शरवृत्तस्य ग्रहमार्गत्वेन भगोलस्थः कक्षामार्गेण तन्निबन्धनस्योचितत्वादित्यत आह— स्वस्ववृत्ते इति। इन्दुपूर्वाद्याश्चन्द्राद्या ग्रहाः स्वकक्षायां स्वस्वशरवृत्ते भगोलस्था भ्रमन्ति। स्वपूर्वगत्या गच्छन्ति। तथा च यथा सूर्यःस्वकक्षायां भ्रमत्य(न्न)पि तत्र नक्षत्रव्यञ्जकराशीनामभावात्सूर्यवृत्तानुकल्पितभगोलस्थक्रान्तिवृत्ते नक्षत्राश्रितगोलान्तर्गतत्वेन राशीनां सत्त्वात्तत्र सूर्यगतिः समसूत्रतया कल्प्यते। तथैव चन्द्रादीनां भगोलाधोवस्थानेऽपि तत्र राशीनामभावात्तत्समसूत्रेण भगोल एव गतिनक्षत्राद्यधिष्ठानज्ञानार्थं शरवृत्तानि कल्प्यन्त इति युक्तमेव भगोले शरवृत्तबन्धनं लाघवं च। ग्रहगोलानपेक्षणादिति भावः ॥१५॥

केदारदत्तः—गोल में क्षेप वृत्त अर्थात् ग्रहों के भ्रमणमार्ग में विमण्डल वृत्त निवेशन बताये जा रहे हैं—

क्षेपवृत्त में भी राश्यादि अङ्कित कर, मेषादि विन्दु से विलोम क्षेप पातदान बिन्दु पर चिह्न लगाकर, इस बिन्दु पर क्रान्तिवृत्त और क्षेपपात वृत्त अर्थात् विमण्डल वृत्त का सम्पात कर, इस सम्पात बिन्दु से ६ राशि आगे पर क्रान्तिवृत्त विमण्डल का द्वितीय सम्पात करना चाहिए। उक्त सम्पात द्वय बिन्दुओं से तीन राशि की दूरी पर परम शर तुल्य दूरी पर पीछे उत्तर को विमण्डल को स्थिर कर तथा उसी सम्पात से ३ राशि की दूरी पर परमशर तुल्य दूरी पर दक्षिण की तरफ स्थिर बिन्दुगत विमण्डल वृत्त की स्थापना करनी चाहिए।

ग्रहों के पाठ पठित शर को त्रिज्या से गुणा कर शीघ्र कर्ण से भाग देने पर ग्रह गोलीय कक्षावृत्त रूप कान्ति वृत्तीय शर को त्रिज्या वृत्त में परिणत कर उसे स्फुट शर समझना चाहिए।

इस प्रकार त्रिज्यागोल में चन्द्रादि शनि पर्यन्त सभी ग्रहों का इष्ट स्थानीय स्पष्ट शर होता है। सभी ग्रह भूगर्भ से शीघ्र कर्णाग्र दूरी पर अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते हैं इसलिये सभी के शर को कर्णानुपात द्वारा अपने त्रिज्यागोल में परिणत करना उपपत्ति सिद्ध होता है ।।१३।१४।१५।।

इदानीं क्रान्ति विक्षेपं चाऽऽह—

नाडिकामण्डलात् तिर्यगत्रापमः
क्रान्तिवृतावधिः क्रान्तिवृत्ताच्छरः ।
क्षेपवृत्तावधिस्तिर्यगेवं स्फुटो
नाडिकावृत्तखेटान्तरालेऽपमः ।।१६।।

वा० भा०—क्रान्तिवृत्ते यत्स्फुटग्रहस्थानं तस्य नाडीवृत्तात्तिर्यगन्तरं सा क्रान्तिः। अथ विमण्डले च यद् ग्रहस्थानं तस्य क्रान्तिवृत्ताद्यत्तिर्यगन्तरं स विक्षेपः। अथ विमण्डलस्थग्रहस्य नाडीवृत्ताद्यत्तिर्यगन्तरं सा स्फुटा क्रान्तिः ।।१६।।

मरीचिः—अथ प्रसङ्गात्क्रान्तिशरयोः स्वरूपं स्रग्विण्याऽऽह—**नाडिकेति**।

अत्र भगोले नाडिकामण्डलप्रदेशात्। तिर्यग् दक्षिणोत्तरमन्तरमपमः क्रान्तिः। ननु द्वितीयावधेरज्ञानादन्तरज्ञानं कथमित्याह—क्रान्तिवृत्तावधिरिति। नाडिकावृत्तप्रदेशैकदेश-क्रान्तिवृत्तस्थस्पष्टग्रहचिह्नयोरन्तरं ध्रुवप्रोतवृत्तस्थं क्रान्तिरित्यर्थः। शरस्वरूपयाह—क्रान्तिवृत्तादिति। स्पष्टग्रहस्थानसंबन्धिक्रांतिवृत्तप्रदेशात्तिर्यग्याम्योत्तरमन्तरं शरः। अत्र द्वितीयावधिमाह—क्षेपवृत्तावधिरिति। क्षेपवृत्तस्थस्पष्टग्रहस्थानं क्रान्तिवृत्तस्थस्पष्टग्रह-स्थानयोरन्तरं क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तररूपं कदम्बप्रोतवृत्तस्थं शर इत्यर्थः। अथ प्रसङ्गात्स्पष्ट-शरान्तिस्वरूपमाह—एवमिति। नाडिकावृत्तप्रदेशैकदेशग्रहबिम्बाश्रयशरवृत्तप्रदेशैकदेश-

योन्तरे। एवं तिर्यग्ध्रुवप्रोतवृत्तस्थे स्फुटोऽपमः स्पष्टा क्रान्तिः। ग्रहस्य विक्षेपवृत्ते स्थिरत्वात्। एतेन क्रान्तिसंस्कारयोग्यशरोऽपि ध्रुवाभिमुखत्वेनोक्त इति ध्येयम् ॥१६॥

केदारदत्तः—क्रान्तिवृत्तीय ग्रह स्थान से ध्रुवाभिमुख ध्रुवप्रोत वृत्त में क्रान्ति होती है तथा विमण्डलीय ग्रह से क्रान्तिवृत्तस्थ ग्रह स्थान तक कदम्बाभिमुख ग्रह का शर होता है। तथा विमण्डलस्थ ग्रह से क्रान्तिवृत्ताधि ग्रह की स्पष्ट, क्रान्ति होती है ॥
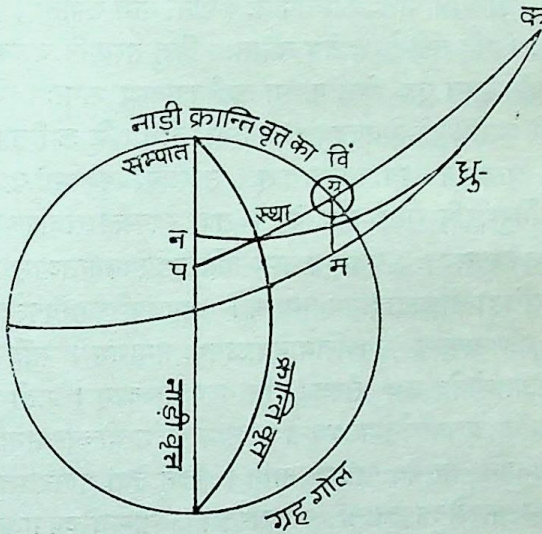
उपपत्ति—क्षेत्र देखिये।

ध्रु = ध्रुव विन्दु

क = कदम्ब तारा

स्था = क्रान्तिवृत्त में ग्रह स्थान।

विंलम = क्रान्तिवृत्त समानान्तर वृत्त

स्थान = ग्रह की स्थानीय क्रान्ति

स्था विं = ग्रह का शर कदम्ब प्रोत में। अनुपात से कदम्ब प्रोतीय शर को ध्रुव प्रोतीय शर बनाने से = ल स्था = ध्रुव प्रोतीय शर।

स्था न + स्थाल = स्पष्टाक्रान्ति ध्रुव प्रोत में जो ग्रह विम्ब से नाड़ी वृत्त तक स्पष्टा दीखती है। यहाँ पर शर युक्त स्थानीय क्रान्ति = स्पष्टा क्रां अन्यत्र और स्थानीय क्रां और ध्रुव प्रोतीय शर का योगान्तर स्पष्टा क्रान्ति होती हैं ॥१६॥

इदानीं क्रान्तिपातमाह—

विषुवत्क्रान्तिवलययोः संपातः क्रान्तिपातः स्यात्।

तद्भगणाः सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे ॥१७॥

अयनचलनं यदुक्तं मुञ्जालाद्यैः स एवायम् ।
तत्पक्षे तद्भगणाः कल्पे गोङ्गर्तुनन्दगोचन्द्राः १९९६६९ ॥१८॥
तत्संजातं पातं क्षिप्त्वा खेटेऽपमः साध्यः ।
क्रान्तिवशाच्चरमुदयाश्चरदललग्नागमे ततः क्षेप्यः ॥१९॥

वा०भा०—क्रान्त्यर्थं पातः क्रान्तिपातः । पातो नाम संपातः । कयोः । विषुवत्क्रान्तिवलययोः । नहि तयोर्मेषादावेव संपातः । किंतु तस्यापि चलनमस्ति । येऽयनचलनभागाः प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागाः । मेषादेः पृष्टतस्तावद्भागान्तरे क्रान्तिवृत्ते विषुवद्वृत्तं लग्नमित्यर्थः । नहि क्रान्तिपातो नास्तीति वक्तुं शक्यते । प्रत्यक्षेण तस्योपलब्धत्वात् । उपलब्धिप्रकारमग्रे वक्ष्यति । तत्कथं ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि नोक्त इति चेत् । तदा स्वल्पत्वात्तैर्नोपलब्धः । इदानीं बहुत्वात् सांप्रतिकैरुपलब्धः । अत एव तस्य गतिरस्तीत्यवगन्तव्यम् । यद्येवमनुपलब्धोऽपि सौरसिद्धान्तोक्तत्वादागमप्रामाण्येन भगणपरिध्यादिवत्कथं तैर्नोक्तः । सत्यम् । अत्र गणितस्कन्ध उपपत्तिमानेवाऽऽगमः प्रमाणम् । तर्हि मन्दोच्चपातभगणा आगमप्रामाण्येनैव कथं तैरुक्ता इति न च वक्तव्यम् । यतो ग्रहाणां मन्दफलाभावस्थानानि प्रत्यक्षैणैवोपलभ्यन्ते । तान्येव मन्दोच्चस्थानानि । यान्येव विक्षेपाभावस्थानानि तान्येव पातस्थानानि । किंतु तेषां गतिरस्ति नास्ति वेति संदिग्धम् । तत्र मन्दोच्चपातानां गतिरस्ति । चन्द्रमन्दोच्चपातवदित्यनुमानेन सिद्धा । सा च कियती तदुच्यते । यैर्भगणैरुपलब्धिस्थानानि तानि गणितेनाऽऽगच्छन्ति तद्भगणसंभवा वार्षिकी दैनंदिनी वा गतिर्ज्ञेया । नन्वेवं यद्यन्यैरपि भगणैस्तान्येव स्थानान्यागच्छन्ति तदा कतरस्या गतेः प्रामाण्यम् । सत्यम् । तर्हि सांप्रतिकोपलब्ध्यानुसारिणी काऽपि गतिरङ्गीकर्तव्या । यदा पुनर्महता कालेन महदन्तरं भविष्यति तदा महामतिमन्तो ब्रह्मगुप्तादीनां समानधर्माण एवोत्पत्स्यन्ते । ते तदुपलब्ध्यनुसारिणीं गतिमुरीकृत्य शास्त्राणि करिष्यन्ति । अत एवायं गणितस्कन्धो महामतिमद्भिर्धृतः सन्नाद्यन्तेऽपि काले खिलत्वं न याति । अतोऽस्य क्रान्तिपातस्य भगणाः कल्पेऽयुतत्रयं तावत् सूर्यसिद्धान्तोक्ताः । तथा मुञ्जालाद्यैर्यदयनचलनमुक्तं स एवायं क्रान्तिपातः । ते गोङ्गर्तुनन्दगोचन्द्रा १९९६६९ उत्पद्यन्ते । अथ च ये वा ते वा भगणा भवन्तु । यदा येंऽशा निपुणैरुपलभ्यन्ते तदा स एव क्रान्तिपातः इत्यर्थः । तं विलोमगं क्रान्तिपातं ग्रहे प्रक्षिप्य क्रान्तिः साध्या ॥१७।१८।१९॥

मरीचिः—अथोपोद्घातसंगत्या क्रान्तिपातस्वरूपमुपगीत्याऽऽह—**विषुवदिति ।** विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोः प्रागुक्तयोः संपातः संयोगाश्रितभगोलप्रदेशविशेषः । क्रान्ति-

विषुवद्वृत्तसंपात इत्यत्र मध्याक्षरलोपात्क्रान्तिपातः। पद्धतौ चक्रपातार्धहानेश्चक्रार्धहानिवत्। यद्वा क्रान्त्यर्थं पातः संपातः क्रान्तिपातः। विषुवद्वृत्ताद्याम्योत्तरान्तरस्य क्रान्तिरूपसंपातत एवाऽऽरम्भात्। ननु भगोलेऽस्य स्वतश्चालनाभावात्तत्संपातस्यापि तत्त्वात्क्रान्तिपातः प्रतीपमिति पूर्वोक्तमयुक्तम्। ग्रहवत्क्रान्तिपातस्वरूपाभावात्। अन्यथा तद्भोगज्ञानाय ग्रहभगणवत्तद्भगणमानकथनापत्तेरित्यत आह—तद्भगणा इति। क्रान्तिपातभगणाः सौरोक्ताः सूर्यसिद्धान्तोक्ताः। व्यस्ताः पश्चिमगत्या द्वादशराशिभोगपरिवर्तसंख्यात्मकाः। कल्पे ब्रह्मदिनेऽयुतत्रयं त्रिंशत्सहस्रम्। तथा च ग्रहवत्संपातस्यापि चलनसंभवादन्यथा तदुक्तभगणव्याघात इति क्रान्तिपातः प्रतीपमित्युक्तं संगच्छत इति प्रभावः। ननु भगोले रेखात्मकक्रान्तिविषुवद्वृत्तसंपातयोरेकत्र संस्थिरत्वात्तच्चलनं बाधितम्। अथ भगोलचलनेनैव तच्चलनम्। तथा हि—कदम्बद्वयस्थैर्यानुरोधे भगोलः स्वशक्त्या कदाचित्पूर्वतश्चलति। तेन तद्गोले निरक्षपूर्वापरगोलानुकारेणाङ्कितं विषुवद्वृत्तं तदनुकारं न भवत्यतस्तदनुकारेण तादृशतद्वृत्तमङ्क्यं विषुवद्वृत्ताख्यं तत् एतद्वृत्तक्रान्तिवृत्तसंपातात्पूर्वविषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तसंपातचलनं प्रत्यक्षम्। न च क्रान्तिपातः प्रतीपमित्युक्त्यनुपपत्त्या गोलचलनं पश्चादिति वाच्यम्। पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्त्या रेवत्याश्रयीभूतक्रान्तिवृत्तप्रदेशाद्गणितागतग्रहभोगानामागतत्वात्क्रान्त्यादिसाधनार्थं क्रान्तिपातस्य हेयत्वोपपत्त्या वक्ष्यमाणयोजनोक्त्यनुपपत्तेः। न च प्रतीपानुपपत्तिः। पूर्वविषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तसंपाताच्चलिताद्रेवत्याधिष्ठानाद्द्वितीयतत्संपातचलनस्यार्थसिद्धस्य प्रतीपत्वेन सिद्धेः। अत एव ग्रहादिभगणवद्भगणोपपत्ती रेवत्यधिष्ठानाद्युक्तेति चेन्न। विषुवद्वृत्तकल्पनेन तत्संपातस्य तत्रैवोत्पत्तेश्चलनासंभवात्। एकस्य चलनेन तदितरस्य भगणकल्पनमन्याय्यम्। कल्पितसंपातानामनेकत्वाद्भगणकल्पनानुपपत्तेश्च। न च विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तानुरोधेन प्रवहवायुगोले वृत्तद्वयं कल्पनीयम्। तत्र तत्संपातान्मेषादयो द्वादशराशिविभागास्तत्क्रान्तिवृत्ते स्थिरा यवनमतवत्सन्ति। तन्मेषादितः स्वशक्त्या नक्षत्रगोलः क्रान्तिवृत्तानुमार्गेण पूर्वतश्चलित इति भगोलस्थक्रान्तिवृत्तविषुवद्वृत्तसंपातचलनात्तत्समसूत्रेण भगणोपपत्तिः सुस्था। प्रवहवायुमेषादिसमसूत्रस्थभगोलस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशस्य रेवतीस्थानात्पश्चिमत्वेन ग्रहभगणवदनुगमार्थं प्रतीपोक्तिः। अत एव क्रान्तिपातयोजनेन ग्रहाणां प्रवहवायुमेषादितः सिद्धिरिति वाच्यम्। राशीनां नक्षत्रानुरोधेन कल्पनाद्भगोले तत्स्थित्या वस्तुभूतराशिकल्पनस्य न्याय्यत्वात्। अन्यत्र स्थिरैतद्विलक्षणराशिकल्पने मानाभावात्। किंच भगोलचलनं क्रान्तिवृत्तानुरुद्धं ध्रुवयोस्तत्संलग्नयोः स्थिरत्वादनुपपन्नम्। अन्यथा ध्रुवयोश्चलनात्प्रवहवायुभ्रमणापत्तिः। प्रतिवर्षमक्षांशादिवैलक्षण्यापत्तिश्च। विषुवद्वृत्तानुरोधेन भगोलचलने तु भगणानुपपत्तिः। भगणभोगस्य क्रान्तिवृत्ताश्रयत्वादिति चेत्। अत्र वदन्ति। भगोल एव मेषादिराशयः। तद्भोगेनैव सर्वेषां भगणभोगः। तत्राऽऽकाशरूपभगोले क्रान्तिवृत्तविषुवद्वृत्तयोर्मूर्तत्वेनाङ्गीकारादीश्वरेच्छया क्रान्तिवृत्तं स्वशक्त्या स्वमार्गेण चलितम्। विषुवद्वृत्तं तु स्वशक्त्याऽचलम्। तथा च

संपाते पूर्वक्रान्तिवृत्ते रेवतीयोगताराया ब्रह्मणा स्थिरत्वेन स्थापितत्वात्तदवधितो ग्रहराश्यादिभोगः संभवति। अथ यदा क्रान्तिवृत्तप्रदेशान्तरमागतं पूर्वक्रान्तिवृत्तप्रदेशो रेवत्याश्रयस्ततश्चलित इति रेवतीस्थानात्संपातश्चलित इति प्रतीत्या क्रान्तिवृत्तस्य पूर्वचलनात्क्रान्तिपातः पश्चिमत इति तद्भगणा व्यस्ता इति नानुपपत्तिरिति। तच्चिन्त्यम्। क्रान्तिवृत्तचलनेन रेवतीचलनेऽपि क्रान्तिवृत्तानधिष्ठितसशरनक्षत्राणां संबन्धाभावाच्चलनाभावाद्ध्रुवकस्थिरत्वानुपपत्ते रेवतीताराया अवधित्वात्। नहि तदनुरोधेन तेषामपि तथा चलनम्। येन तत्स्थिरध्रुवकोपपत्तिः। मानाभावात्। गौरवाच्च। किंच आकाशगोले मूर्तवृत्तद्वयस्य ध्रुवाभ्यां संबन्धाभावात् तदनुगतभ्रमणासंभवः। अन्यथा ध्रुवयोर्व्यर्थत्वापत्तेरिति मूर्तगोलकल्पनं तत्र रेखारूपवृत्तं संपातचलनं क्रान्तिवृत्तानुरुद्धमसंभव्येवेति। नव्यास्तु—अनेकमूर्तवृत्तकल्पनापेक्षया नक्षत्राश्रयो गोल एक एव लाघवात्कल्प्यते। तत्र यद्यपि संपातचलनमनुपन्नं तथाऽपि सर्वेषां नक्षत्राणां चेतनत्वाद्ग्रहवत्पूर्वचलनं स्वशक्त्या संभवति। तेन संपातस्य विपरीतगतिभानं रेवत्याः सकाशाद्ग्रहवदत्रभ्युपगमाद्युक्त। अत्र गमनं सर्वेषां तुल्यम्। एतेन ग्रहा यथा स्वशक्त्या गच्छन्ति तथा नक्षत्राण्यपि कुतो न गच्छन्तीत्याशङ्का निरस्ता। भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते। इति सूर्यसिद्धान्ताद्युक्तेश्चेत्याहुः। तन्न। पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्तेर्ग्रहाणां रेवतीसंयोगानन्तरं पुना रेवतीसंयोगावधिभगणभोगकाले चक्राधिकसंभोगसंभवात्पूर्णचक्रभोगाभावापत्तेः। वस्तुतस्तु भगोलो मूर्त एकस्तत्र दक्षिणोत्तरौ ध्रुवौ कीलकरूपौ स्थिरौ भगोलान्तर्गतरेखावृत्तरूपक्रान्तिवृत्तानुकारं मूर्तं वृत्तम्। प्रतिप्रदेशं मूर्तसूक्ष्मशलाकाभिर्वृत्तैकदेशरूपाभिर्दक्षिणोत्तराभिरग्रप्रोतस्वस्वगतनक्षत्राभिप्रोतं क्रान्तिवृत्तं तथा भगोलभ्रमेणानवरतं भ्रमितं भवति। तत्र गोलस्तत्संपातसक्तक्रान्तिवृत्तप्रदेशेऽधोनेम्यां रेवतीतारा प्रोताऽस्ति स्वस्वस्थाने पूष्यामघे प्रोते नतु नक्षत्राणि भगोले प्रोतानि। नक्षत्रयुक्तक्रान्तिवृत्तस्य भगोले संसक्तत्वाद्भगोलत्वम्। न चैवं भगोलकल्पनं व्यर्थमिति वाच्यम्। ध्रुवासंस्पृष्टमूर्तक्रान्तिवृत्तस्य स्वाकारेणावस्थानार्थं ध्रुवाधारभगोलस्याऽऽधारत्वकल्पनात्। नक्षत्रवद्ध्रुवशकलाप्रोतक्रान्तिवृत्तकल्पने तु तस्य स्वशक्त्या पुनश्चलनासंभवात्। तदेतदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

> भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिले।
> पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम्॥ इति।

तत्क्रान्तिवृत्तमीश्वरेच्छया पूर्वतः स्वाकारेण चलितम्। तच्चलनादपि भगोलोऽतिगुरुत्वाद्दृढसंयोगाभावाच्च क्रान्तिवृत्तानुरुद्धो न चलितः। किंतु ध्रुवशक्त्या स्थिर एव। ततो रेवतीस्थानाद्भगोलसंपातः पश्चादेवेति क्रान्तिपातः प्रतीपमित्यादि न किंचिद्विरुद्धमिति तत्त्वम्। स्यादेतत्।

> त्रिंशत्कृत्वो युगे भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते।
> तद्गुणाद्भूदिनैर्भक्ताद्द्युगणाद्यदवाप्यते।
> तद्दोस्त्रिघ्नाद्दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधा।

इति सूर्यसिद्धान्तवचनादयमर्थः । क्रान्तिवृत्तं स्वाकारेण सप्तविंशतिभागपर्यन्तं पश्चिमतो भगोले क्रमेण चलति । ततस्तत्क्रमेण परावर्त्य स्वस्थाने भवतीत्येवमेकः परिवर्तो भगणः । ननु ग्रहवद्द्वादशराश्यात्मकचक्रभोगाद्भगणः । एतादृशभगणा महायुगे त्रिंशत्कृत्वस्त्रिंशद्वारं विंशतिः षट्शत ६०० मिताः । तेन कल्पे सहस्रगुणिता एते भगणाः षड्लक्षं सिद्धाः । नायुतत्रयम् । न च त्रिंशद्वारं कृतिरित्यनेन त्रिंशत्कृतय इत्यपेक्षितम् । तथा पाठे छन्दोभङ्गः । अतस्तत्र त्रिंशत्कृत्व इति पाठः । त्रिंशद्वारं प्राक्परयोः क्रान्तिवृत्तं युगेऽवलम्बते। युगे त्रिंशन्मितास्तद्भगणा इत्यर्थः । भगणभोगोऽपि ग्रहवच्चक्रभ्रमरूपः क्लृ[प्त]त्वात् । अन्यथाकल्पने मानाभावाच्च । तथा च त्रिंशद्युगभगणाः सहस्रगुणिताः कल्पे तद्भगणाः । अयुतत्रयं जाता इति वाच्यम् । युगे षट्शत ६०० कृत्वो हि भचक्रं प्रविलम्बत इत्येतदेकं प्राक्चलनं युगे तानि च षट्शतमिति सोमब्रह्मसिद्धान्ताभ्यां विरोधापत्तेः । इतरार्षग्रन्थेऽपि त्रिंशद्भगणानुक्तेश्च । किंच तादृशैकपरिवर्तभगणकल्पनाद्द्वादश राशयोऽपि कल्पितास्ततस्तद्भगणादुक्तरीत्याऽयनग्रहभोगं भगणाद्यमानीय भगणस्य गतपरिवर्तरूपतया त्यागादवशिष्टं राश्याद्यं वर्तमानपरिवर्तान्तर्गतम् । तत्रापरचलनारम्भादेव भगणारम्भात्षड्भान्तर्गतत्वे क्रान्तिवृत्तं पश्चिमतोऽनन्तर्गतत्वे पूर्वतस्तत्राप्यनुलोमगमनं पश्चिमतस्त्रिभान्तर्गतानन्तर्गतत्वक्रमेण । तद्भुजो वर्तमानक्रान्तिवृत्तप्रदेशयोर्मेषाद्येकसंज्ञयोरन्तरकल्पनानुरोधाद्राश्यात्मकम् । तस्य वस्तुभूतसप्तविंशत्यन्तर्गतभागरूपत्वेन ज्ञानार्थं नवत्यंशैः सप्तविंशत्यंशास्तदा आयनग्रहभुजांशैः के इत्यनुपाते गुणहरौ नवभिरपवर्त्य अयनांशास्तद्भुजांशास्त्रिघ्नाः सन्तो दशोद्धृता इति सिद्धः शाकल्योक्त्याऽयनांशरूपः क्रान्तिपातः । न ग्रहवद्भगणानीतोऽयनग्रहः क्रान्तिपातः । न चात्रायनग्रहः क्रान्तिपात इत्युक्तं नेति वाच्यम् । सूर्यसिद्धान्तोक्तद्वितीयश्लोकार्धार्थानुक्त्या तदुक्तेरेव समर्थनात् । तथा च सूर्यसिद्धान्तमतमव (मनवबु) ध्यैव स्वग्रन्थ उपन्यस्तं यत्किंचिदेतत् । व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे इत्याचार्याणां बहव उपसंहरन्ति । अत्र केचित् । कल्प इत्यस्य कल्पविंशांशे लक्षणा । तेन सूर्यसिद्धान्तोक्तायनग्रहतुल्य एव तत्प्रमाणेन सिध्यति । यद्वा । अयुतेत्यत्र नियुतेति पाठस्तेन नियुतशब्दस्य लक्षसंख्यावाचकत्वाद्व्यस्ताः पश्चिमा भगणा लक्षत्रयम् । क्रान्तिवृत्तस्य पूर्वगमनात्क्रान्तिपातस्य रेक(वती)तः पश्चिमत्वात् । एतत्तुल्याः प्राग्भागे भगणाः क्रान्तिवृत्तस्य पश्चिमगमने स्थितत्वात् । एवं लक्षषट्ककल्पे भगणाः परस्परव्यवहिताः । ननु स्वतन्त्रव्यस्ता इत्यस्य पूर्वसमाधाने वैयर्थ्याद् द्वितीयमिदं समाधानं युक्तम् । अयनग्रहात् क्रान्तिपातसाधनं सूर्यसिद्धान्तोक्तरीत्या कार्यमिति व्यवहितोद्गोतिस्थतत्संजातपातं सिद्धे (क्षिप्त्वे)त्यनेन सूचितम् । अन्यथा समित्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः । पूर्वापरायनांशयोर्धनर्णत्वाङ्गीकाराद्योगे युतिःस्यादित्यादिबीजोक्तरीत्या क्षिप्त्वेति संकलनं युक्तमिति समुद्धरन्ति तच्चिन्त्यम् । पश्चिमभगणानां प्रोक्तसूर्यसिद्धान्तोक्तरीत्या षड्लक्षमितत्वाल्लक्षत्रयमितत्वासिद्धेः पूर्वपश्चिमक्रान्तिवृत्तगतिभ्यां भगणसिद्ध्या तेषां पश्चिमपूर्वत्वासंभवाच्च । वस्तुतस्तु तद्भगणाः सौरोक्ताः । सौरे सूर्यसिद्धान्ते । त्रिंशत्कृत्वो युगे इत्याद्यर्धेनोक्ताः । अनेनैव च तदानयनं

सूर्यसिद्धान्ते तद्गुणाद्भूदिनैर्भक्तादित्यादिनाऽयनाभिधा इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तमित्यपि सूचितम् । न तु सौरोक्ता इत्यस्याग्रे समन्वयः । व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे इत्यन्तिमचरणस्तु मतान्तरम् । न सूर्यसिद्धान्ताभिमतार्थनिरूपकः । संवादाभावान्मानाभावाच्च । आचार्यामतस्मिन्मत आर्षविरुद्धेऽपि पक्षपातो ग्रहगमनानुगतभचक्रगमनकल्पनात् । कदाचिद्ग्रहवत्कदाचिद्ग्रहविपरीततद्गमने सप्तविंशतिभागपर्यन्तं युक्त्यभावादननुगमनाच्च । किंच यथा ग्रहाणां शरपाताः पश्चिमाभिमुखाः संचरन्ति तथा क्रान्तिपातोऽपि पातत्वेन संचरतीति कल्पनं लाघवाद्युक्तमन्यथा शरपाता अपि क्रान्तिपातगमनानुकारिणः स्युः । न चाश्लेषार्धाद्दक्षिणमयनमुत्तरं रवेर्धनिष्ठाद्यम् । आसीत्कदाचिदेवं येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु, इतिवराहवचनानुपपत्तिः । अयनयोः कर्कमकराद्योः सायनत्वेनाभिमते पुनर्वस्वन्तिमचरणाद्वैश्वद्वितीयचरणाच्च नियतं प्रवृत्तेः । निरयनत्वेन तूत्तरोत्तरमयनांशानामधिकत्वात्तन्न्यूनीकरणेन पूर्वपूर्वनक्षत्रसंभवाच्च । सौरमते तु पूर्वायनांशसद्भावे तदसिद्धेरपि पश्चिमायनांशानां सद्भावे तत्संभवादत एवेदानीं पूर्वायनांशानां सत्त्वाद्यदा पूर्वं पश्चिमायनांशा विंशतिकलाधिकत्रयोविंशतिमिताः स्थितास्तदा तत्संभवादासीदित्युक्तमिति वाच्यम् । एतन्मतेऽपि चत्वारिंशत्कलाधिकषडंशाधिकैकादशराशिमितायनग्रहे तत्संभवात् । एतद्गणोपपत्तिस्तु स्पष्टाधिकारव्याख्यानिरूपितायनांशज्ञानप्रकारेण प्रतिवर्षं तद्गतिर्नवविकला उपलब्धास्तदनुपातेन कल्पेऽयुतत्रयमुपपन्नमिति । एतद्वाक्यं च । खाभ्रखाभ्राग्नयः कल्पे क्रान्तिपातविपर्ययाः । व्यस्ता अङ्कविलिप्ताया गतेः प्रत्यब्ददर्शनादितीति तत्त्वम् । ननु मूलकृत्कृतगोलवासनाभाष्य एतदर्थस्य—अतोऽस्य क्रान्तिपातस्य भगणा व्यस्ताः कल्पे अयुतत्रयं तावत्सूर्यसिद्धान्तोक्ता इति फक्किकया स्वाभिप्रायविरणात्कथं भवदुक्तं तत्त्वं ग्रन्थकारविरुद्धं संगतमिति चेन्न । सूर्यसिद्धान्तोक्तेनैतस्य प्रत्यक्षमसंवादात्फक्किकाया अपि मूलवदर्थात् । तथा हि—त्रयमित्यन्तं परमतम् । सूर्यसिद्धान्तोक्तास्तु तावत्प्रथमं परमतेभ्यः सुतरां मुख्या इति । यद्वा अयुतत्रयं भगणा व्यस्ता शरुबुगुशुचराद्या इति वराहोक्तरीत्या विंविंशतिस्तया अस्ताः क्षिप्ताः । हता इति यावत् । लक्षषट्कं भगणाः सूर्यसिद्धान्तोक्ता इति मूलभाष्ययोरेकं व्याख्यानम् । अयुतत्रयमित्यत्र त्रकारस्य संयुक्ताक्षरत्वात्षड्व्यक्तिप्रतीत्या एकादिषष्ठस्थाने षट्संख्या ग्राह्याऽतो लक्षषट्कमिति व्याख्यानं तु मन्दम् । षडक्षरतात्पर्येणायुतत्रयमित्यस्य ग्रहणे नियामकाभावात् । व्यस्ता इत्यस्यानुपपत्तेश्च ॥१७

ननु क्रान्तिवृत्तस्य चलनात्संपातस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशचलनेऽपि संपातस्य चलनाभावात्कथं क्रान्तिपातभगणा एते उक्ताः सूर्यसिद्धान्तादिवचनेभ्य एषां भचक्रभगणसंख्यात्वाद्ब्रह्मगुप्ताद्यनुक्तेश्चेत्यतः पूर्वग्रन्थसंमत्या क्रान्तिपातग्रहमुद्गीत्या समर्थयति—**अयनेति** ।

मुञ्जालाद्यैराचार्यैः यदुत्तरतो याम्यदिशं याम्यातस्तदनु सौम्यदिग्भागम् । परिसरतां गगनसदां चलनं किंचिद्भवेदपक्रमे । विषुवदपक्रममण्डलसंपाते प्राचि मेषादिः । पश्चात्तुलादिरनयोरपक्रमासंभवः प्रोक्तः । राशित्रयान्तरेऽस्मात्कर्कादिरनुक्रमान्मृगादिश्च । तत्र च परमा क्रान्तिर्जिनभागमिताऽथ तत्रैव । निर्दिष्टोऽयनसंधिश्चलनं तत्रैव संभवतीत्यनेनायन-

चलनं कल्पादौ संपाते रेवतीतारायां ब्रह्मणा निवेशितत्वान्मेषादिस्तस्मात्त्रिंशान्तरे कर्कादिर्मकरादिः प्राक्परयोस्तयोरुत्तरदक्षिणगमनपूर्तेः परमक्रान्तिसंभवादपमसंधिः। एकायनसमाप्तितदितरायनारम्भात्। अथ कालान्तरे कर्कादौ च सूर्यस्य परमक्रान्त्यदर्शनादयनसंध्यभावात्तत्पूर्वस्थान एव परमक्रान्तिदर्शनादयनसंधिः प्रत्यक्ष इति। तेनायनस्य परमगमनस्य संधिरूपस्य चलनं स्थानान्तरे संभवत्यत उक्तमङ्गीकृतम्। सः–अयनचलनात्मकः। एवकारात्तद्भिन्ननिरासः। अयनक्रान्तिपातो विना क्रान्तिपातचलनमयनस्यासंभवात्क्रान्तिपातेऽपि तत्कारणादयनचलनक्रान्तिपातयोरभेदात्पूर्वाचार्यसंमतत्वेनोक्तो न मत्कल्पित इति भावः। ब्रह्मगुप्तेन स्वसत्ताकाले तदनुपलब्ध्या नोक्त इति ध्येयम्। ननूक्तयुतेच(युक्त्यै)व तस्यायनांशत्वसिद्धावपि तज्ज्ञानप्रकारेण प्रतिवर्षं नवविकलागमनादर्शनात्कथमयुतत्रयं तद्भगणा मतान्तरा इत्यतस्तन्निरासार्थं मुञ्जालाद्यङ्गीकृततद्भगणान् प्रत्यक्षोपलब्धिप्रतिवर्षगमनवत्तत्प्रमाणा(न्या)ह—**तत्पक्षे इति।** मुञ्जालादिमते तद्भगणाः क्रान्तिपातभगणा व्यस्ताः कल्पे ब्रह्मदिने। एकत्रिंशदधिकशतत्रयोनं लक्षद्वयम्। तद्भगणाः कल्पे स्युर्गोरसरसगोऽङ्कचन्द्रमिता इति तद्वचनादुक्ताः। एतदनुरोधेन प्रतिवर्षं तद्गतिः एकोनषष्टिकलास्तदवयवश्चतुःपञ्चाशत्तदवयवौ द्वयम्। तदवयव एकत्रिंशत्तदवयवोऽपि द्वादशेति प्रत्यक्षसंवादासन्नम्। ५९। ५४। २। ३१। १२। अत एवाऽऽचार्यैः करणकुतूहल एतद्भगणेभ्यस्तत्कालेऽयनग्रहं भगणाद्यमेनमा–९११८९। ०। १०। ५४। ३५। २३। ५५। ४१। ४८। नीय भगणानां प्रयोजनाभावात्त्यागाद्राशेश्च शून्यतया त्यागाद्यंशादिकस्य स्वल्पान्तरेणैकादशांशानङ्गीकृत्य प्रतिवर्षं तद्गतिकलां चाङ्गीकृत्य अयनांशाः कारणादेर्लिप्तायुक्ता भवा इत्ययनांशसाधनं निबद्धम्। यत्तु सूर्यसिद्धान्तादावयनांशाः सप्तविंशतिपरमास्तथा मुञ्जालाद्यैः प्रत्यक्षोपलब्ध्या किंचित्कलोनत्रिंशद्भागाः -९। ५७। १। १८। परमायनांशा अङ्गीकृताः। तेन सूर्यसिद्धान्तोक्तभगणानीतायनग्रहभुजभागा एभिर्गुण्याः, नवतिभक्तास्तत्र गुणहरौ गुणापवर्तनेन हरस्थाने ३। ०। १७। ५४। तथा च तद्भुजभागा हरभक्ता अयनांशास्तत्र तैर्भुजाद्यकरणसौकर्यलाघवेन सूर्यसिद्धान्तोक्ता भगणाः षड्लक्षं हरभक्ता लघुभूता भगणा उक्तमिताः १९९६६९ स्वपक्षे सिद्धाः कृता इत्याकूतमत्र मन्दमतिकल्पितम्। तदसत्। पूर्वप्रकारेणायनांशानां तदन्तर्गतत्वसिद्ध्या भवदाकूतेन तदसिद्धेः। अन्यग्रहवद्राश्यादिफलत्वेनागमात्। न चेष्टापत्तिः। भवत्कल्पिततत्स्वरूपव्याघातात्। लघ्वार्यभट्टेन चतुर्विंशत्यंशतत्परत्वकल्पनया सूर्यसिद्धान्तोक्तगणरीत्या भगणामसिहटमुघा ५७८१५९ अयनग्रहस्येत्युक्तम्। पाराशर्यमते मुदयसिनवा ५८१७०९ अयनाख्यस्येत्युक्तम्। पराशरसिद्धान्तेऽपि गोत्रात्यष्टचा ५८१७०२ स्तत्रायन १० खगस्य चेति। तदाचार्यैरयनग्रहदोःक्रान्तिज्याचापकेन्द्रवद्धनर्णं स्यात्। अयनलवा इति तदुक्ततदायनस्यासंगतत्वदर्शनादुपेक्षितम्। क्रान्त्यंशोपचयापचयवत्तच्चलने प्रमाणाभावात्सर्वमध्यग्रहसाधारण्येन क्रामिकवृद्धिह्रासगमनसंजातसूर्यसिद्धान्तानयनरीत्यवगतप्रकारेण तद्भुजांशाश्चतुर्गुणितास्तिथ्या भक्ता इत्यनेन तदानयनस्य युक्तत्वात्। पराशरसिद्धान्ते तु—अयनग्रहदोर्ज्याऽथो साङ्घ्रि-

सिद्धांश १४ । १५ जीवया १४१० । ४० संगुणा त्रिभमौर्व्या ३४ । ३८ प्ता विज्ञेयेत्य-यनज(ज्य)का ॥ १ ॥ तत्कार्मुकं चलांशाः स्युर्ग्रहस्वर्णं स्वगोलयोः । तत्संस्कृतात्खगात्-रान्तिलग्नकालादिसाधनमित्युक्तं तद्बहुविरोधादाचार्यैरुपेक्षितम् । आर्यभेदेनोपेक्षितत्वाच्च । तत्र स्फुटायनखेर्दोर्ज्याजिनांश २४ ज्या १३९७ हतोद्धृता । त्रिभज्या ज्यक्रान्तिमौर्वी स्यात्तद्धनुः क्रान्तिरात्मदिक् । इति क्रान्तेः सर्वसंमतत्वेनोक्तेश्च । यत्तु मुञ्जालमते चतुर्विंशत्ययनांशाः परमा इति केषांचिदुक्तं तत्तन्मतानवधारणादित्यलम् ॥१८॥

ननु पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्तेर्ग्रहभोगानां रेवतीस्थानावधित्वेन ज्ञानात्संपात-विलोमगमनरूपायनांशानां ग्रहभोगज्ञाने प्रयोजनाभावात्तन्निरूपणं व्यर्थम् । नहि यवनमत-वत्संपातादत्र ग्रहभोगाः, येन रेवत्यवधित्वेन ज्ञानार्थमयनांशवियोजनमावश्यकमतस्तन्नि-रूपणं सुस्थम् । ग्रहस्य शराभावे राश्यादिभोगाभावे रेवतीतारासंयोगदर्शनादित्यत उद्गीत्याऽऽह—तत्संजातमिति ।

तत्संजातं मुञ्जालाद्युक्तभगणेभ्योऽहर्गणानुपातेन ग्रहवदानीतं भगणादिभोगं भगणाप-गमेन राश्यादिभोगात्मकं पातम् । क्रान्तिपातमयनचलनरूपं ग्रहे क्षिप्त्वा संयोज्य । सौरमते तु—भगणानीतायनग्रहादुक्तरीत्याऽयनांशरूपं कान्तिपातं प्राक्पश्चिमचलनक्र-माद्धनर्णं तुलादिमेषादिषट्कान्तर्गतायनग्रहवशाद्धनर्णं वा । योगे युतिः स्यादित्यादिबीजोक्त-रीत्या धनरूपे ग्रहे संयोज्येत्यर्थः । तथा च सोमसिद्धान्ते—

> युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते ।
> तद्गुणो भूदिनैर्भक्तो द्युगणोऽयनखेचरः ।
> तच्छुद्धचक्रदोर्लिप्तायनांशकाः ।
> संस्कार्या मेषजूकादौ केन्द्रे स्वर्णं ग्रह किल ॥इति॥

अपमः क्रान्तिः साध्या ।तथा च तेषां ग्रहभोगज्ञाने प्रयोजकत्वाभावेऽपि नाडिकामण्ड-लात्तिर्यगत्रापम इत्युक्तत्वात्क्रान्तिसाधनार्थं ग्रहभोगस्य संपातावधित्वेनापेक्षितत्वाद्गणिता-गतभोगेऽयनांशदानमावश्यकमतस्तन्निरूपणं न व्यर्थमिति भावः । प्रसङ्गाच्चरलग्नयोरानय-नार्थं ग्रहेऽयनांशदानं सकारणमाह—क्रान्तिवशादिति । ततः कारणात् । चरदललग्नागमे चरार्धलग्नयोरानयननिमित्तं ततो ग्रहे क्रान्तिपातः पूर्वं क्षेप्यः । कुत इत्यतः कारणमाह—क्रान्तिवशादिति । चरमुदयाः क्रान्तिवशात् । चरकालो राश्युदयासवश्च क्रान्तिज्यात उत्पद्यन्ते । अतः क्रमेण तदानयनार्थं तद्दानं ग्रहे । अक्षप्रभासंगुणिताऽपमज्येत्यादिना चरा-नयनस्य क्रान्त्युपजीव(व्य)त्वात् । अत्र चरदललग्नागमे इति क्रमोक्तिस्तु लग्ने स्वदेशराश्यु-दयसंबन्धेन चरोपजीव्यत्वसूचनार्थम् । एतेन गणितविशेषे ग्रहस्यायनांशसंस्कारो न तु स्फुटत्वसिद्ध्यर्थमित्युक्तम् । ननु स्फुटत्वार्थं ग्रहस्यायनांशसंस्कारः अब्दाः खखर्तुभिर्भाज्या-स्तद्दोस्त्रिघ्ना दशाहृताः । अयनांशा ग्रहे युक्ता इति लघुवसिष्ठसिद्धान्तोक्तेः । संस्कार्या

मेषजूकादौ केन्द्रे स्वर्णे ग्रहे किलेति सोमसिद्धान्तोक्तेश्च । ननु पदार्थविशेषसाधनार्थम् । रेवतीतारास्थानान्मेषादिद्वादशराशीनामभावेन गणितागतग्रहस्य तदवधित्वाभावात् । मेषादौ देवभागस्थो देवानां याति दर्शनम् । असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसंचरः । देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम् । पश्यन्त्यन्योन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षये । मेषादावुदितः सूर्यस्त्रीन्राशीनुदगुत्तरम् । संचरन्प्रागहर्मध्यं पूरयेन्मेरुवासिनाम् । कर्कादीन्संचरंस्तद्वदह्नः पश्चार्धमेव सः । तुलादींस्त्रीन्मृगादींश्च तद्वदेव सुरद्विषाम् । अतो दिनक्षये तेषामन्योन्यं हि विपर्ययात् । अहोरात्रप्रमाणं च भानोर्भगणपूरणात् । दिनक्षपार्धमेतेषामयनान्ते विपर्ययात् । मेषादौ तु सदा वृद्धिरुदगुत्तरतोऽधिका । देवांशे च क्षपाहानिर्विपरीतं तथाऽऽसुरे । तुलादौ द्युनिशोर्वामं क्षयवृद्धी तयोरुभे । धनुर्मृगस्थः सविता देवभागे न दृश्यते । तथा चाऽऽसुरभागे तु मिथुने कर्कटे स्थितः धनुर्मृगालिकुम्भेषु संस्थितोऽर्को न दृश्यते । देवभागेऽसुराणां तु वृषाद्ये-भचतुष्टये । मेरौ मेषादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति भास्करम् । सकृदेवोदितं तद्वदसुराश्च तुलादि-गम् । भूमण्डलात्पञ्चदशे भागे दैवे तथाऽऽसुरे । उपरिष्टाद्व्रजत्यर्कः सौम्ययाम्यायने स्थितः । तदन्तरालयोश्छाया याम्योदक्संभवन्त्यपि । मेरोरभिमुखं याति परस्परविभागयोः । स्वैः स्वैरपक्रमैस्तिस्रो मेषादीनामपक्रमात् । कक्षाः प्रकल्पयेत्ताश्च कर्कादीनां विपर्ययात् । तद्वत्तिस्रास्तुलादीनां मृगादीनां विलोमतः । तुलादिषडशीत्यह्नां षडशीतिमुखं क्रमात् । तच्च-तुष्टयमेवं स्याद् द्विस्वभावेषु राशिषु । षड्विंशे धनुषो भागे द्वाविंशेऽनिमिषस्य च । मिथु-नाष्टादशे भागे कन्यायास्तु चतुर्दशे । भचक्रनाभौ विषुवद्द्वितीयं समसूत्रगम् । अयनद्वि-तयं चैव चतस्रः प्रथितास्तु ताः । तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितयं द्वितयं पुनः । नैरन्तर्यात्तु संक्रा-न्तेर्ज्ञेयं विष्णुपदीत्रयम् । भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम् । कर्कादेस्तु तथैव स्या-त्षण्मासा दक्षिणायनम् । द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादय । मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः । इति सूर्यसिद्धान्तादिवचनार्थपर्यालोचनेन मेषादिराशीनां संपातादेव सिद्धेः । कुत्राप्यार्षग्रन्थे मेषादिराशीनां रेवतीतारास्थानावधित्वानुक्तेश्च । अत एवाऽऽर्ष-ग्रन्थे लग्नेऽयनांशव्यस्तसंस्कारोऽनुक्तः संगच्छते । न चायनांशानां क्रान्तिपातत्वात्तत्संस्का-रेण स्फुटत्वाभ्युपगमे स्वस्वशरपातसंस्कारेण स्फुटत्वाभ्युपगमापत्तिरिति वाच्यम् । शरपा-तानां सदा व्यस्तगत्यैव वैलक्षण्यात्क्रान्तिपातत्वानङ्गीकारात् । न च रेवतीतारास्थानान्मेषा-दिराशयः पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्तेरिति वाच्यम् । संपातादिसप्तविंशतिभागानां क्रान्ति-वृत्तेऽश्विन्यादिनक्षत्रप्रसिद्धेस्तदनुरोधेन रेवतीविभागान्से संपातरूपे भगणपूर्तिरित्यर्थात् । न तु रेवतीयोगतारास्थाने भगणपूर्तिरित्यर्थः । अन्तपदवैयर्थ्यात् । अथ कल्पादौ क्रान्तिवृत्ते संपातस्थानाद्रेवत्यधिष्ठितान्मेषादिद्वादशराशयः । ततः क्रान्तिवृत्तस्य चलने संपातस्थाना-न्मेषादिराशयः पूर्वराशिप्रदेशभिन्ना इति प्रतिक्षणं राश्यननुगमान्नियतैकविषयत्रैराशिकानु-गतगणितागतग्रहस्य संपातावधित्वानुपपत्तिः । न च गणितस्य नियतैकविषयत्वादेव गणि-तागता ग्रहाः कल्पादिस्थमेषादिप्रदेशाद्रेवत्याधिष्ठानादागता अपीदानींतनसंपातमेषाद्यवधि-त्वेन ज्ञानार्थमयनांशसंस्कृता इति वाच्यम् । अननुगतराशिकल्पनस्य न्याय्यत्वादिति चेन्न ।

भगोलातिरिक्तक्रान्तिवृत्तानभ्युपगमेन भगोले संपातादेव रेखारूपक्रान्तिवृत्ते मेषादिद्वादश-राशिकल्पनस्यानुगमात् । अतिरिक्तक्रान्तिवृत्तानभ्युपगमेन भवदपेक्षया कल्पनालाघवाच्च । अयनांशोत्पत्तिस्तु तुल्यनक्षत्रगमनेन पूर्वं नव्यमते प्रतिपादितैव । एतेन रेवत्यवधिभगणाङ्गी-कारे चक्राधिकभोगे दूषणमस्मिन्मतेनेति ध्येयम् । अथ संपातादिमेषादिराशिभोगो न भगण-भोगे नियतैकविषयगणितावगतग्रहभोगस्य संपातावधित्वेनासिद्धे रयनांशसंस्कारो व्यर्थः । नहि गणितागतग्रहा रेवत्यन्तात्सिध्यन्ति । येन संस्कारः । रेवतीतारास्थानानियमादिति चेन्न । संपातावधित्वेऽपि विनाऽयनांशसंस्कारं ग्रहस्पष्टभोगानुपपत्तेः । यथाऽहर्गणानीतस्य ग्रहस्य फलसंस्कारेण स्पष्टत्वसिद्धिः । न च फलयोः फलभङ्ग्योपपत्तिसिद्धत्ववदयनांशानां तथोपपत्त्यभावात्कथं तत्संस्करणमुचितम् । नहि ग्रहस्य मन्दशीघ्रफलानां तुल्यत्वाप्रसिद्ध्या-ऽयनांशानां तुल्यफलत्वमौचित्याच्चेति वाच्यम् । अयनांशानां स्फुटक्रियान्तर्गतफलत्वोपपत्त्य-संभवेऽपि मध्यमक्रियान्तर्गततया तत्संस्काराभ्युपगमात् । स्वाक्षार्कनतभागानां दिक्साम्ये-तरमन्यथा । दिग्भेदेऽपक्रमः शेषस्तस्य ज्या त्रिज्यया हता । परमापक्रमज्याप्ता चापं मेषादिगो रविः । कर्कादौ प्रोह्य चक्रार्धात्तुलादौ भार्धसंयुतात् । मृगादौ प्रोह्य भगणान्म-ध्या ह्नेऽर्कः स्फुटो भवेत् । तन्मान्दमसकृद्वामं फलं मध्यो दिवाकरः ।। इति सूर्यसिद्धान्ते साय-नमध्यार्कोक्तेः । अन्यथाऽहर्गणसाधितार्कतुल्यमध्यमस्यानयने व्यस्तायनांशसंस्कारकथना-पत्तेः । अथाहर्गणानीतग्रहस्य त्रैराशिकावगतत्वेन मध्यमस्य शुद्धत्वात्तसंस्कारानुपपत्तिः । देशान्तरचरभुजान्तरफलानां समयचालनफलत्वात् । नहि देशान्तरादिफलव्यतिरेकेण यथा ग्रहास्तत्तद्दे[शे] तत्तत्काले संभवन्तीत्युक्तं तथाऽयनांशसंस्कारान्य(रोऽन्य)थानुपपत्त्या भग-णानां सान्तरत्व-[कल्प]कदेशे काले वोक्तो येन तत्संस्करणं समुचितम् । तुल्य फलत्वानुप-पत्त्या भगणानां सान्तरत्वकल्पनेन तदनुपातसिद्धग्रहस्य सान्तरत्वमतस्तदन्तरफलस्य न तुल्य-स्यैकरीत्या सर्वग्रहेषु संस्कार इति वाच्यम् । तद्दोस्त्रिघ्ना देशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधा इत्यनेन सप्तविंशत्यंशान्तर्गततयाऽयनफलस्यानुपपत्तेः । धनर्णैकतरस्य समुचितत्वेन धनर्ण-त्वानुपपत्तेश्चेति चेन्न । बीजादिवत्सकलग्रहाणामष्टादशशतवर्षैः परमं सप्तविंशत्यंशाः क्रमे-णान्तरदृष्टमृणम् । ततस्तद्वर्षैः क्रमापचयेनान्तराभावः । ततस्तद्वर्षैः क्रमोपचयेन सप्त-विंशत्यंशा धनम् । ततः क्रमापचयेन तद्वर्षैस्तदभावः । इति सू(ष)ष्टचब्दादिसप्ततिशत-तष्टाः शेषं गतं हराच्छुद्धभोग्यं तयोरल्पं गतभोग्यवशादृणधनम् । तदपि गतं षट्त्रिंच्छत-भोग्यम् । तयोरल्पं त्रिंशादृणधनलाघवात्क्रियालाघवाच्च । किंचैतत्संस्कृतग्रहस्योक्तनक्षत्र-ध्रुवसमत्वे नक्षत्रग्रहयुत्यदर्शनन्नक्षत्रध्रुवका अप्येतत्फलेन संस्कार्यास्तत्समग्रहे तद्युतिदर्शनादतो नक्षत्राणां स्थिरत्वाच्चसंस्कारानुपपत्तिरिति तदुपपत्त्यर्थं नक्षत्रगमनमेतदुक्तमिति । न चास्मिन्कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः । विना तु पातमन्दोच्चान्मेषादौ तुल्यतामिता । इति भवन्मतेऽनुपपत्तिः । तथा हि—सूर्याब्दसंख्यया ज्ञेयाः कृतस्यान्ते गता अमी । स्वच-तुष्कयमाद्रचग्निशररन्ध्रनिशाकरा । इत्यब्दानां सौरयुगवर्षाणां चाष्टाधिकशतायुतापवर्तनेन ग्रहानयनार्थं भगणानां नवाधिकाष्टादशशतं गुणः, चत्वारो हरः । तत्र सूर्यादिशन्यन्तभग-

णानां चतुर्भिनिरग्रभजनाद्गुणपातेन भगणा एवोत्पन्ना राश्यादिस्थाने शून्यमतोऽस्मन्मते ततु-पपन्नम्। अयनांशयोजनेऽयनांशतुल्य एव ग्रहः स्यान्न मेषादिति वाच्यम्। तत्रायनांशभगणपूतिरयनांशाभावात्। तथा चायनसंस्कृतग्रहाणामेव स्पष्टत्वे सिद्धे सकलसंहिताजायकादिव्यवहारस्तेभ्य एव युक्तः। न तदसंस्कृतेभ्यः। एवं च चैत्रादयो मासास्तत्संजातं पातमित्याद्युक्त्या चायनसंस्कृतव्यवहारं निरस्य निर्मूलः प्रवर्तितः तन्मूलिकाः सारण्योऽपि तथैवेत्येकः पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु—संपातादिसप्तविंशतिविभागात्मकनक्षत्राणामश्विन्यादिभिः संबन्धाभावात्कथमश्विन्यादिसंज्ञा समुचिता रेवतीतारास्थानात्सप्तविंशतिप्रदेशा-[ना]मुक्तस्वरूपाश्विन्यादिनक्षत्रैः शरसंबन्धेन संबन्धादश्विन्यादिक्रमनक्षत्रसंज्ञा समुचिता। अन्यथा तेषां यत्किंचित्संज्ञापत्तेः। मेषाश्विप्रथमानवर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशय इत्युक्त्या मेषादिराशीनां रेवतीतारास्थानभूताश्विन्यादित एव प्रसिद्धिः। एषां केवलभगोलाङ्गीकारे नक्षत्रगमनेन रेवतीतारास्थानानियमादननुगमादनुगमार्थं भगोलातिरिक्तं क्रान्तिवृत्तं कल्प्यते। केवलभगोलाङ्गीकारस्य नक्षत्रगमनाश्रवणेनायुक्तत्वाच्च। न च भानां चक्रमिति सूर्यसिद्धान्तादेर्नक्षत्रगमनं प्रसिद्धमिति वाच्यम्। तत्पश्चाच्चलितचक्रमुपचारोऽयमित्यपि। पश्चिमांशक्रमप्राप्ते प्राक्चक्रं चलितं हि तत्। प्राक्चक्रं चलितं चेति नारदैवोपचर्यते। प्रागंशचक्रमप्राप्ते प्राक्चक्रं चलितं भवेदिति। ब्रह्मसिद्धान्तवचनैर्नानाचक्रमित्यस्य क्रान्तिवृत्तार्थत्वात्। सर्वनक्षत्रगमनापेक्षया एकचक्रगमनकल्पनस्य लघुत्वाच्च। न च प्राक्चलनं चक्रस्यैवेति मनुते तु यौ। चलांशसंस्कृतस्तेषां ग्रह एव स्फुटग्रहः। अनभ्युपगमादेतस्योपचारैश्चरेदिति। ब्रह्मसिद्धान्तवचनादतिरिक्ताक्रान्तिवृत्तकल्पने संपातादिराश्मनुगयनक्षत्रसंबन्धयोरभावेऽप्ययनांशसंस्कारो ग्रहस्फुटत्वार्थमिति वाच्यम्। तत्संस्कृताद्ग्रहात्क्रान्तिच्छायाचरदलादिकमिति सूर्यसिद्धान्तोक्ते ब्रह्मसिद्धान्तोक्तस्य स्फुटग्रहोऽयनांशसंस्कृतः। तत्रैव क्रान्त्यादिसाधनार्थं ग्रहः। एतस्यानङ्गीकार उपचारैरग्रयनांशैः क्रान्त्यादिकं चरेत्। न संवदेत्। यद्दिनि(नी)यनिरयनग्रहतुल्यसायनग्रहो यद्दिने तद्दिने तत्क्रान्त्यादिकं भवेदित्यर्थः अत एव ब्रह्मसिद्धान्ते तद्वायचा(क्या)ग्रे दोर्ज्यां त्रिज्याक्रान्तिजीवा चेत्सप्ताङ्कगुणेन्दवः। चापक्रान्तिरुदग्याम्या चक्रपूर्वापरार्धयोरित्युक्तम्। लघुवसिष्ठसोमसिद्धान्तेऽपि क्रान्त्यानयनप्रसङ्गादयनसंस्कार उक्तः। केचित्तु कर्कादिस्था इत्यादिलक्षणैः प्राक्प्रत्यक्चलनं ग्रहस्य यो मनुते जानाति तस्य यः स्फुटग्रहो नाम दक्षिणोत्तरगमनेनोपलक्षितः कर्कमकरादिस्थः सायनो ग्रहः स चलांशसंस्कृत एव न वास्तवः तस्य वास्तवस्यानभ्युपगमादुपचारैश्चरेदिति। अयनांशान्तरे वास्तवस्थानं बोद्धव्यमित्यर्थः। यतोऽयनचलनस्य पूर्वमुपचारसंज्ञा विहिताऽस्तीत्याहुः। न च सूर्यसिद्धान्ते आदिपदात्सर्वत्रायनसंस्कार इति वाच्यम्। आदिपदात्संपातावधिकगणितपदार्थानां संग्रहात्। अन्यथा तत्संस्कृतो ग्रह इत्युक्त्या क्रान्तिच्छायाचरदलादिकमित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अत एवायनांशसंस्कारस्तत्र तत्र कुतः कार्य इत्यपेक्षायां—स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्द्वये। इत्युपपत्तिबोधकं तदग्र एवोक्तम्। अन्यथा समदिनरात्रिरूपविषुवे चराद्युत्पत्त्यापत्तेः। न च ब्रह्मसिद्धान्तेऽयनांश-

संस्कारस्थलानामनुक्तेः सूर्यसिद्धान्तोक्तादिपदात्तदनुरोधेन सर्वग्रह इति वाच्यम् । तत्काल-क्रान्तिकक्षातो राशीनां क्षितिजात्स्वकात् । उदयास्तमयावेव स्वकार्ये नान्यथा यतः । लग्नानयनवेलायां संस्कारोऽत्रायनस्य तु । इष्टः स्यात्क्रान्तिकक्षातो यदन्यत्त [त्र] चापि सः । क्रान्तिकालांशलग्नानां तथा विषुवयोर्द्वयोः । स्फुटा अस्तांशा लम्बनात्परा ज्येति रोमशोक्तेश्च । अथ प्रत्यक्षोपलम्भादेव निरयनं न तु वचनात्सिध्यति । रेवतीतारास्थाना-वधिकमेषादीनामार्षानुक्तेरतोऽयनांशदानं सर्वत्रेति द्योतनार्थं कानिचित्स्थलान्युक्तानीति चेन्न । अष्टौ विंशतिरर्धानि गजाग्निव्यर्धखेषवः । त्रितर्काः सत्रिभागाद्रिरसास्त्र्यङ्काश्च षटशतम् । नवांशा नवसूर्याश्ववेदेन्द्राः शरबाणभूः । खात्यष्टिः खधृतिर्गोतिर्विश्वाश्वि-नस्तथा । वेदाकृतिर्गोदृक् हस्ता धुब्धि (क्वचिद्) हस्ता युगार्थदृक् । रवोत्कृतिस्त्र्यंशही-नाश्वरसहस्ताखहस्तिदृक । खगोश्विनः खदन्ताः षड्दन्ताः शैलगुणाग्नयः । मेषाद्यश्व्यादि-मध्यांशाः षडंशोनाः खषग्डुणाः । इति ब्रह्मसिद्धान्तादौ नक्षत्रध्रुवकाणां रेवतीयोग-तारासन्नप्रदेशाय(व)धिमेषादिराशिसंबन्धेनोक्तेः । अत एव पौष्णस्य रेवतीताराया अन्तोऽस्त्र्यवसिते भृत्ये स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके, इत्यभिधानादन्ते निकटस्थाने भगणपूर्तिरित्यर्थात्पौष्णान्ते भगणः स्मृत इत्युक्तम् । न तु पौष्णे । न च मध्यांशा इत्युक्त्याऽयनांशसंस्कारेण स्पष्टत्वं तेषामिति वाच्यम् । ध्रुवकाणामयनांश-संस्कारानुक्तेः । अन्यथा ग्रहादिवन्मन्दफलादिकल्पनापत्तेः । तस्मादश्वादिमध्यांशा इत्यस्या-श्विन्यादिनक्षत्राणां प्रत्येकमनेकतारासंनिवेशात्मकत्वात्कस्यास्ताराया ध्रुवक इत्यपेक्षायां तन्मध्ये योगताराया अयं ध्रुवक इत्यर्थात् । अत एवाग्रे योगतारोक्तिः । किंच मध्यम-ध्रुवकाभ्युपगमेऽपि निरयनमेषादिराशीनां सिद्धिः । अन्यथाऽयनांशसंस्कृता एतेऽङ्का अश्वादिध्रुवकाः स्युरिति कथनापत्तेः । अत एवागस्त्यो मिथुनान्तगः । विंशे च मिथुन-स्यांशे मृगव्याधो व्यवस्थितः । बहुभुग्ब्रह्महृदयौ वृषे द्वाविंशभागगौ । वृषे सप्तदशे भागे यस्य याम्योंऽशकद्वयात् । विक्षेपोऽभ्यधिको भिन्द्याद्रोहिण्याः शकटं तु सः । इति ब्रह्मसोम-सूर्याद्युक्तावयनांशसंस्कृतसिद्धोक्ताङ्कग्रहणे प्रत्यक्षबाधादयनांशसंस्कारानुक्तेश्चोक्ताङ्कतुल्य-तदसंस्कृतग्रहे रोहिणीशकटभेदादिदर्शनं संगच्छते । नचैते ध्रुवका अयनांशाभावकाल इति तथोक्तं सम्यगिति वाच्यम् । आर्षसिद्धान्ते तथोक्त्यभावात्तथा कल्पने मानाभावात् । अन्यथा सर्ववचनानां काल्पनिकत्वकल्पनेनान्यदा महापूर्वपक्षवचनाविषयत्वापत्तेः । पौरुष-मतानुप्रवेशाच्च । किंच अयनांशदानपरिगणनयैव तदतिरिक्तस्थलेऽयनांशसंस्कारसिद्धिः । अन्यथा परिगणनवैय्यर्थापत्तेः । एतेन ग्रहे बीजरीत्याऽयनांशदानं समर्थितं । बीजरीत्यनुक्तेः । ध्रुवकेऽयनांशसंस्कारानुक्तेश्च । किंच नक्षत्रगमनेन नक्षत्रध्रुवकाणां तत्संस्कारोपपत्तौ ग्रहाणां कथं तत्संस्कार उपपन्नः स्यात् । नहिनक्षत्रगमनानुरोधेन ग्रहा अपि तथा गच्छन्ति । येन तत्संस्कारः । मानाभावात् । न च तत्संस्कारान्यथानुपपत्त्या तेषां तथा कल्पगतिकल्पनं युक्तमिति वाच्यम् । ऋणायनांशकाले ग्रहाणां स्वशक्त्या पूर्वपश्चिमगत्योर्विरुद्धयोरनुत्पत्ति-प्रसङ्गात् । नन्वेवं भवदुक्तं बीजं कथमुपपन्नम् । तत्रापि परमोपचयानन्तरं बीजफलस्या-

पचये ग्रहाणां स्वशक्त्या पश्चिमगमनस्य पर्यवसानात् । नहि गमनं विना बीजफलमुत्पद्यते । न च तत्तत्काले ग्रहस्य न्यूनाधिका पूर्वगतिर्भवतीति वाच्यम् । मध्यममानेन गतिवैलक्षण्य-संभवात् । न च स्फुटगताविति वाच्यम् । बीजोत्पन्नगतिफलस्य च्छेद्यकेऽनुत्पत्तेरिति चेन्न । बीजस्याऽऽर्षानुक्त्यायुक्त्यभावेन चानङ्गीकारात् । तदङ्गीकारे पौरुषमतानुप्रवेशाच्च । न च धनायनांशा एव यथोत्तरमित्यधिकगतिकल्पनेनायनांशयोजनमिति वाच्यम् । आर्ष-विरोधात् । पौरुषमतानुप्रवेशाच्च । अयनांशभगणयुक्तग्रहभगणानां ग्रहभगणत्वेन लाघवोक्तौ नक्षत्रभगणोक्तौ चायनांशपदार्थापलापप्रसंगाच्च । तस्मादयनांशोपपत्त्यर्थं क्रान्तिवृत्तचलनं प्रागुक्तं युक्ततरमिति । एतेनाष्टादशशतशेषेऽब्देभा२७विनिघ्ने विभाजिते विषमे । भुक्ते युग्मे गम्ये खखगजचन्द्रै१८००श्चलांशकलाः स्वर्णम् । छायागणितागतयोर्भान्वोर्विवरे चलांशकास्ते वा । छायार्कादृग्गणितार्को हीनः पूर्वेऽन्यथा पश्चात् । खचराश्चलन्ति तस्मात्पूर्वे युक्ताश्च पश्चिमे हीनाः । तस्मादपच्छायाचरदलनाड्यादिकं साध्यमिति वृद्धवसिष्ठ-सिद्धान्ते । खेचराश्चलन्तीत्यनेनायनांशानां ग्रहगतित्वप्रतिपादनमित्युक्तं निरस्तम् । तत्र पूर्वमयनांशानां ग्रहगतित्वाभावप्रतिपादनं विना तद्ग्रहगमनमिति सिद्धान्तस्याप्रसक्तोक्ति-त्वापत्त्या तस्मादयनांशभागेभ्यो ग्रहा अग्रे चलन्ति । पूर्वानीतग्रहराश्यादिभोगस्तत्स्थाना-त्क्रान्तिवृत्ते इत्ययदि(र्थाद)त एवाग्रे पूर्वे युक्ता इत्याद्युक्तं संगच्छते । अन्यथा तस्मादप-मच्छायाचरदलेत्यादिभागस्य व्यर्थत्वापत्तेः । स्पष्टाधिकारे तदानयनं च क्रान्तिप्रसङ्गा-दन्यथा तत्र विनाऽयनांशसंस्कृतप्र(ग्र)हात्क्रान्तिसाधनापत्तेः । तदुत्क्रान्तिसाधनस्थलेऽयनांश-संस्कारानुक्तेः । निरुपाधितत्संस्कारेऽभिमते मध्यमाधिकार एव तदुक्त्यापत्तेरिति दिक् । अपि च । चलांशसंस्कृतार्केन्द्वोस्तदसंस्कृतयोस्तु वा । विभिन्नैकायनगयोर्युतौ भार्धे तु मण्डले । क्रान्त्योस्तौल्ये क्रमात्पातो वैधृतश्च सुदारुणः । इति शाकल्योक्त्याऽऽवश्यकाय-नांशसंस्कारस्थलेऽपि निरयनपक्षो विकल्पेनोक्तः । अत एव सूर्यसिद्धान्ते । एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा । तद्युतौ मण्डले क्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैधृताभिधः । विपरीतायनगतौ चन्द्रार्कौ क्रान्तिलिप्तिकाः । समस्तदा व्यतीपातो भगणार्धे तयोर्युताविति । तदसंस्कार-पूर्वकं प्रथममुक्त्वा—भास्करेन्द्वोर्भचक्रान्तश्चक्रार्धावधिसंस्थयोः । दृक्तुल्यसाधितांशादि-युक्तयोः स्वावपक्रमाविति तत्संस्कारेणोक्तमग्रे इति न क्षेपकम् । अतोऽन्य निरयनसिद्धिः सुतरामिति । न चैवं लग्नानयनेऽयनांशव्यस्तसंस्कारः कथमार्षमते(गमे)नोक्त इति वाच्यम् । चरसंस्कृतलग्नज्येति ब्रह्मसिन्तोक्त्या—तत्संस्कृताद्द्घ्ना(द्विधा)क्रान्तिर्लग्नमप्युन्नतिः स्फुटा । हरिजं कालभागाश्च लग्नाद्यत्तत्तु साधयेदिति सोमसिद्धान्ते तत्संस्कृताल्लग्नादित्यर्थतात्पर्या-ल्लग्ने ऽयनांशव्यस्तसंस्कारस्य व्यजि(ञ्जि)तत्वात् । अन्यथाऽयनांशसंस्काराभिमतलग्नेऽय-नांशसंस्कारोक्तिरसंगता । गोलयुक्तिविरोधात् । एवं चलसंस्कृतसूर्योने च्छायार्के चाधिके क्रमात् । प्राक्पश्चान्मध्यरेखातो देशः स्वीयस्तदन्तरमिति ब्रह्मवचनेन निरयनसूर्यस्यैव सूर्यत्वं प्रतीयते । अन्यथा सूर्यस्य तत्संस्कृतत्वसिद्ध्या चलसंस्कृतेत्यस्यानुक्तत्वापत्तेः । सूर्यसिद्धान्तेऽपि प्राक्चक्रं चलितं हीनच्छायार्कात्करणागते इत्यत्र निरयन एवोक्तः ।

अत एव तन्मान्दमसकृद्वामं फलं मध्यो दिवाकर इत्यत्रायनांशव्यस्तसंस्कारार्थः सिद्धः । नहि मध्यमाधिकारे तदुक्तं येन सायनत्वमनिवार्यं तन्मान्देत्याद्ययनांशाभावविषयं वचनमित्यन्ये । एतेनैव लग्नेऽयनांशव्यस्तसंस्कारः सिद्धः । किंच सूर्यसिद्धान्ते लग्नानयनेऽयनांशसंस्कारानुक्तेर्निरयनादेवार्काल्लग्नसाधनमतो ल[ग्ने] व्यस्तायनांशसंस्कारो नोक्तः । यद्यपि सायनार्कायनांशोनलग्नकेवलार्कलग्नयोर्न साम्यं तथाऽपि स्वल्पान्तराल्लाघवाच्चाङ्गीकारः स्वतन्त्रेच्छस्य नियोक्तुमशक्यत्वादिति । एतेन भास्कराचार्यैरेव लग्नेऽयनांशा हीनाः कृता न पूर्वैरित्यपि परास्तम् । तत्कालसाधनत्वेरुदयोऽग्रिमांशैर्गुण्यः खरामत्हृतमिष्टघटीपलेभ्यः । संशोध्य चाग्रिमतन्यूनः (नूः) खगुणप्रदोषाल्लग्नं त्वशुद्धहृतमूनमथोऽयनांशैरित्यनेन भास्कराचार्येभ्यः प्राचीनेन भास्वतीकारेण शतानन्देनायनांशहीनलग्नस्योक्तेः । सायनांशखेर्भोग्यं रात्रौ षड्राशिसंयुतात् । भुक्तं सायनलग्नेन कालः स्यात्सान्तरोदये । इत्यनेन किंचित्कलियुगे जाते ब्रह्मा ब्रूते त्रिविक्रम इति तदुक्त्या तत्प्राचीनेन त्रिविक्रमेण तथालग्नस्योक्तेश्च । अयनलवास्ततसंस्कृतरवेर्यदायनचरापलग्नानि । सायनभानौ तुलाजपूर्वस्थे । अयनांशसंस्कृत इने गोलादिस्थे दिनार्थ(र्ध)भे ये स्तः । तत्कालरवेरयनसुसंस्कृतमूर्तेर्दृक्काणभोग्यलवाः । अयनसुसंस्कृतभानोर्भोग्यं तद्विलग्नभुक्तं चेत्याद्युक्त्याऽर्थभेदेनापि तथोक्तेश्च । बराहमिहिरेणापि । आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं खेर्धनिष्ठाद्यम् । नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु । सांप्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत् । इत्युक्तं निरयनाभिप्रायेण । ऋणायनांशतद्भावाभ्यामुक्तोपपत्तेः । अयनांशसंस्काराभिमते कर्कमकरयोरयनप्रवृत्ते सांप्रतमित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अत एव सौम्ययाम्यायने यत्स्वात्क्षेत्रं तदयनाभिधमिति ब्रह्मसिद्धान्तोक्तं युक्तम् । न च सौरवर्षान्तेऽयनांशाभावसंभवादयनकाले तेषामवश्यं संभवात्कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यदिति कथमुक्तमिति वाच्यम् । स्वल्पान्तरात । अन्यथा—अब्दाः खखर्तुभिर्भाज्यास्तद्दोस्त्रिघ्ना दशाहृताः । अयनांशा इति लघुवसिष्ठोक्ततदानयनस्यासंगता (त्या)पत्तेः । तस्माद्रेवत्यासन्नस्थानावधिका एव मेषादिराशयस्तद्भोगेनैव ग्रहाणां भगणभोगा इति गणितागता ग्रहास्तत्प्रमाणेनैव निरयना जातकसंहिताफलादिव्यवहारार्थम् । ननु संपातावधिका मेषादिराशयः । स्वरूपादर्दनात् । नहि तद्व्यञ्जकमाकाशे प्रसिद्धम् । येन तत्सिद्धिस्तद्राशिप्रवेशसंक्रान्तिस्ताभ्य एव चैत्रादयो मासा अयनांशाः संस्कृतार्कचन्द्राभ्यामेव नक्षत्रयोगा ननु ततसंस्कृताभ्याम् । नहि क्रान्त्यादिपदार्थनियनवत्पञ्चाङ्गसाधनार्थमपि सूर्यचन्द्रयोस्तत्संस्कारः क्वचिदार्यग्रन्थ उक्तो येन सायनपञ्चाङ्गसाधनमनिवार्यम् । अर्कोनचन्द्रलिप्ताभ्यस्तिथयः करणानि च । ग्रहस्य भानि सार्केन्द्वोर्योगाः स्युर्भोगभाजिता इति ब्रह्मसिद्धान्ताद्युक्तेः । ननु संक्रान्तिपुण्यकालनिर्णयोपक्रमे मेषतुलयोर्विषुवसंज्ञा मकरकर्कटयोरुत्तरदक्षिणानयनसंज्ञा । स्थिरभे विष्णुपद षडशीतिमुखं द्वितनुभे । विषुवं सूर्ये दक्षिणमयनं सौम्यमृगे सौम्य इति गालवादिवचनात्कथं संगता । नहि समरात्रंदिवे काले विषुवद्विषुवं च तदित्यभिधानान्मेषतुलासंक्रान्तौ त्रिंशद्घटीमितं दिनं कर्कमकरसंक्रान्तावयननिवृत्तिश्च भवति येन युक्ता संज्ञेति चेन्न । अयनांशाभावकाले तत्तद्राशौ तत्संभवात्तत्संज्ञायाः

समुचितत्वेनायनांशसद्भावेऽपि तत्संज्ञोपचारात् । संक्रान्तिषु पुण्यातिशयपुण्यकालकथनलाघवार्थं तत्तत्संज्ञायां मुन्युक्तेश्च । अन्यथा यौगिकत्वेन तत्संज्ञासिद्धौ वचनवैयर्थ्यापत्तेः । किंचद्ब्रह्मसिद्धान्ते पातसाधनेऽस्य पक्षान्तरेणायनांश संस्कृतार्कचन्द्राभ्यामुक्तेः क्रान्त्यभाव सहचरितविषुवत्त्वं सहजतः परमक्रान्तिसहचरितायनांशत्वं च सिद्धम् । अत एव स्यातदयंक्रियविषुबे चलसंभवे ? इति ब्रह्मसिद्धान्तोक्त्या मेषतुलासंक्रान्तौ विषुवत्वमन्यथा विषुवस्य तद्रूपत्वेन चलसंस्कृतीत्यस्य वैयर्थापत्तेरिति । नन्वेवं चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः । नान्योऽन्यत्र च तत्क्षेत्रे नैति तत्क्रान्तिकक्षयेति वचनात्तन्निरासपूर्वकं संपातादिद्वादशमेषादिराशिसंक्रान्तयः संक्रान्तिपुण्यकालोक्त्यनन्तरं कथं ब्रह्मसिद्धान्त उक्ताः । तेषां भवन्मते मेषादित्वाभावात् । नहि राशिप्रारम्भप्रवेशातिरिक्ता संक्रान्तिः, सर्वदा तत्त्वापत्तेरिति चेन्न । यथा मन्दोच्चशीघ्रोच्चपातग्रहाणामन्यराशिस्थितत्वेऽपि तदुत्पन्नमन्दफलशीघ्रफलगतिफलधनर्णतादिज्ञानाय केन्द्रादौ मेषतुलाकर्कमकरादिराशिसंज्ञा सूर्यसिद्धान्ताद्युक्ता । तथा संपातादिद्वादशविभागानां क्रान्तिदिगदिज्ञानाय मेषादिराशिसंज्ञायां बाधकाभावात् । ग्रहमैत्र्या दवद्भावान्मेषाद्या हि प्रकीर्तिताः । वस्तुवृत्तेन मेषाद्या ग्रहमैत्र्यादिकं नहीति ब्रह्मसिद्धान्तोक्तेश्च । अत एब महापूर्वपक्षवचनानि संगच्छन्ते । न चेवं तद्राशिसंक्रान्त्यङ्गीकारः । कथमन्यथा केन्द्रादिसंबन्धेनानेकसंक्रान्त्यङ्गीकारापत्तेरिति वाच्यम् । संस्कृतायनभागार्कसंक्रान्तिस्त्वयनं किल । स्नानदानादिषु श्रेष्ठं मध्यमस्थानसंक्रमः । संक्रान्तेः पुरतो भानुर्भुक्त्या यावद्भिरंशकैः । रवेरयनसंक्रान्तिः प्राग्वात्तद्राशिसंक्रमात् । अर्कबिम्बभरान्नित्यं भचक्रं चलतेऽयनात् । अतः स्यादेतदयनमुच्चनीचोच्चवर्त्मनेति सोमनारदकश्यपवसिष्ठवचनैस्तत्संक्रान्तेरयनसंक्रान्तित्वेनाङ्गीकारात् । न केवलसंक्रान्तितत्त्वेन । अत एव सूर्यो मेषायने प्रोद्यन्संचरन्नुदगुत्तरम् । पूरयेत्प्रागहमध्यं देवानामुत्तमैस्त्रिभिः । याम्यायनाद्यैस्त्रिगृहैरहःपश्चार्धमेव सः । तथा तुलाद्यैर्दैत्यानामपि सौम्यायनादिभिः । सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययादिति ब्रह्मसिद्धान्तोक्तं युक्तम् । यावद्भिरंशैरयनच्युतिः स्यात्तद्भोग्यकालेन दिवाकरस्य । च्युतिभवेद्विष्णुपदादिकानां रहस्यमेतन्मुनिभिः प्रदिष्टमिति श्रीपतिभटोक्तेश्च । न च संक्रान्तिनिरास इति वाच्यम् । 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवृत्ताऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात्किं तस्य पुष्करजलैरभिषेच[नि]नेत्यादिवदयनसंक्रान्तिप्राशस्त्यद्योतनात् । स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः । सुकृतं चलक्रान्तावक्षय पुरुषोऽश्नुते । दिनरात्रिप्रमाणानां निर्णयश्चलसंक्रमात् । ततः सकलकर्माणि पुण्योऽतश्चलसंक्रम इत्युक्तेः । अथ सक्रान्ततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः । अजागलस्तन इव राशिसंक्रान्तिरुच्यते । पुण्यदा राशिसंक्रान्तिः केचिदाहुर्मनीषिणः । एतन्मम मतं न स्यान्न स्पृशेत्क्रान्तिकक्षया इति वृद्धवसिष्ठवचनाद्भवदभिमतसंक्रान्तिनिरासान्निरास एवास्तु । लाघवाद्वचनाच्चैकैयायनसंक्रान्तिः संक्रान्तिरस्त्वतिरिक्तसद्भावे वचनाभावादिति चेन्न । अयनांशैः संस्कृतार्कान्मुख्यसंक्रान्तिरुच्यते । अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयोरित्युक्तेः । चलांशसंस्कृतार्कस्य मूर्ता संक्रान्तिरुच्यते । अमूर्ता राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयो-

रिति रोमशसिद्धान्तोक्तेः संक्रान्तिषु यथा कालस्तदीयेऽप्ययने तथेति जाबाल्युक्तेश्चातिरिक्तराशिसंक्रान्तिसिद्धेः। किंच संक्रान्तिनिरासस्याऽऽर्षोक्त्यैव संक्रान्तेरार्षोक्तत्वं सुतरां सुप्रसिद्धं च। कथमन्यथाऽप्रसक्तनिषेधः संगच्छत इति। अपि च। ब्रह्ममते एकैव संक्रान्तिस्तर्हि संक्रान्तिपुण्यकालोक्त्यनन्तरं चलसंक्रान्ततिग्मांशोरित्युक्तस्यानुपपत्तिः। तन्मते संक्रान्तेस्तद्रूपत्वैनैव सिद्धेरिति। केचित्तु चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः। न किंत्वन्य एवायनसंक्रमः इत्यर्थः। यतस्तत्क्षेत्रं तत्क्रान्तिकक्षाया, अन्यत्र नैति। अयमभिप्रायः—अयनांशैः क्रान्तिमण्डलेन सह चलितः सराशिः क्रान्तिमण्डले पूर्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र न गच्छतीत्याहुः। ननु मेषतुलायनसूर्यस्य विषुवं विषुवद्वृत्तसंबन्धाद्युज्यते चन्द्रादिग्रहाणां तु पाताधिकारोक्तगोलसंधावेव तेषामयनस्थानेऽयननिवृत्त्यारम्भौ न किंतु पाताधिकारोक्तायनसंधाविति तुलामेषायने यान्ति ग्रहा यद्विषुवं च तदिति शाकल्योक्तं साधारणं कथं सगतम्। शरान्तरितत्वेन ग्रहाणां तदा विषुवद्वृत्तसंबन्धाभावाद्ग्रहसमरात्रिदिवत्वाभावाच्चेति चेन्न। शराभावविषयत्वादित्यलमप्रसक्तविचारपल्लविनेन ॥१९॥

केदारदत्त :—क्रान्तिपात अर्थात् अयन चलन से अयनांश ज्ञान—

राशियों का उदयमान, चर, क्रान्ति आदि ज्ञान के लिये गणित का माप मेषादि बिन्दु ही माप दण्ड होता है। अत्यन्त कम गति होने से मेषादि बिन्दु को, सृष्ट्यारम्भ मेषादि की यथार्थ प्राकृत सन्धि मेषादि को स्थिर समझ कर कुछ समय तक ग्रह गणित सिद्धान्तों की रचना होती गई। किन्तु कालान्तर में ग्रहगणितज्ञों को वेधादि से ज्ञात हुआ कि सृष्टचादि का नाड़ीक्रान्तिवृत्तसम्पात स्थिर न होकर कालान्तर में वह भी चल सम्पात है ऐसा ज्ञान हुआ। इस ग्रन्थ प्रणेता आचार्य के समय (शक १०३६) में यह निश्चय हो गया कि सृष्टचादि मेषादि सम्पात कदापि स्थिर नहीं है वह चल है। उसकी वार्षिक गति कितनी है और किस प्रकार की गति है इत्यादि बड़े महत्व की खोज पर यहाँ प्रकाश दिया जा रहा है—

ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति का ज्ञान (जो पूर्व श्लोक में स्पष्ट किया गया है) करना परम आवश्यक है जिससे ग्रह को आकाशीय स्थिति वश, अनेकों पदार्थों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। ग्रह क्रान्ति साधन गणित मेषादि बिन्दु की अपेक्षा रखता है। अतः क्रान्ति साधन के लिये पात अर्थात् दो वृत्तों (क्रान्तिनाडीं) का सम्पात अपेक्षित होता है। क्रान्ति साधनाय पात = अर्थात् वृत्तद्वय सम्पात बिन्दु ज्ञान आवश्यक होता है। सृष्टि के आरम्भ दिन में नाड़ी क्रान्ति वृत्त का जो सम्पात बिन्दु मेषादि बिन्दु नाम से उच्चारित होता था, वह मेषादि बिन्दु भी चल बिन्दु है।

तथा वह मेषादि चल सम्पात विलोमगति से चलता है अर्थात् मेषादि सम्पात पश्चिमाभिमुख मेष से पश्चिम मीन कुम्भ मकर····राशियों में गमनशील है। ग्रहों की पूर्वाभिमुख की तरह पात मेषवृषादि अनुलोम गति शील नहीं है।

अयनचलन नहीं होता है ऐसा समझना या कहना बड़ी त्रुटि है क्योंकि ग्रहवेध से अयन चलन की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। यदि अयन चलन होता है तो ब्रह्मगुप्त प्रभृति महान् खगोलज्ञों ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में इस विषय पर कुछ तो कहना चाहिए था अथवा कुछ प्रकाश डालना चाहिए था उन्होंने इस विषय पर प्रकाश क्यों नहीं दिया? इस नियम का उल्लेख तक क्यों नहीं किया?

इस शंका का समाधान भास्कर स्वयं कर रहे हैं कि आचार्य ब्रह्म गुप्त के समय में अयन चलन का ज्ञान हो गया था किन्तु उसी काल में सम्पात चलन का आभास सा था अत्यन्त स्वल्प अन्तर होने से ग्रहगणित में उल्लेख्य अन्तर के अभाव से ब्रह्म-गुप्ताचार्य ने इस पर प्रकाश नहीं डाला।

वर्त्तमान मे अर्थात् भास्कराचार्य के समय (ई० ११ के समीप पूर्वापर) में अयन चलन लगभग १० अंश पश्चिम हो गया है, इस समय तक के सभी ग्रहगणित इस ज्ञान से परचित हो गए हैं।
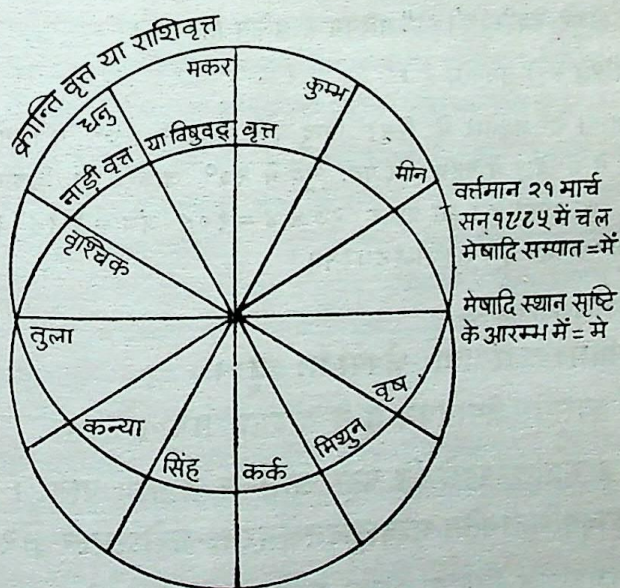
अयनांश ज्ञान (अयन चलन) होने के बावजूद अयन चलन की वार्षिक गति क्या है? इस विषय में आचार्य भास्कर भी (अपने बचाव के लिये) कह रहे हैं कि—

महान् काल में अयनांश में महान् अन्तर पड़ जाने पर अयनांश गति का सही आकलन कैसे किया जायेगा तो भगवत्कृपा से आने वाले भविष्य में, गणकचक्रचूड़ामणि ब्रह्मगुप्त सदृश ग्रहगणितज्ञों की उत्पत्ति होती रहेगी उन लोगों के शोध पूर्ण ग्रन्थ रचनाओं में अयन चलन की वार्षिक या दैनन्दिनीय गति का ज्ञान होता रहेगा।

जिससे अनन्त काल तक ग्रहगणित स्कन्ध का ज्योतिष अपनी प्रतिष्ठा पर यथावत् शुद्ध और स्थिर रहेगा।

अतएव वेधादि ज्ञान परम्परा से विलोम गणित से एक कल्प में अयनांश की भगण संख्या ३०००० कही गई हैं।

आचार्य मुञ्जाल या तत्कालीन अन्य आचार्यों ने एक कल्प में अयनांश भगण संख्या १९९६६९ कही है।

आचार्य भास्कर अन्त में अयनांश भगणों के विवाद में न पड़ कर सम्प्रति के बुद्धिमान् ग्रहणगणितज्ञों द्वारा इष्ट समय में वेध से उपलब्ध अयनांश को अयनांश मान कर ग्रहगणित सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना से अयनांशगति का सुनिर्णय करना चाहिए।

अयनांश ज्ञान की उपपत्ति—ता० २२-१-१९८५ में वर्त्तमान मेषादि से पश्चिम २३।३८।४९" मेषादि विन्दु।

सृष्टयारम्भ समय से वर्त्तमान २१-१-१९८५ तक विन्दु पश्चिमाभिमुख चल कर मे विन्दु = में होकर २३°।३९'।४९" पश्चिम में चलित हो गया।

यही वेधसिद्ध सही अयनांश है।

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार मे स्थिर विन्दु मेष राशि में २७° पश्चिम चलकर अनुलोम गति से मे विन्दु में पहुँच कर पुनः पूर्व में २७° जाकर पुनः विलोम गति से मेंष राशि में २७° जाता है। इस प्रकार २७ × ४ = १०८ अंश = ३।१८° ही अयन चलन में १ भगण होता है। ।।१७।।१८।।१९।।

इदानीं विक्षेपपातानाह—

एवं क्रान्तिविमण्डलसंपाताः क्षेपपाताः स्युः।
चन्द्रादीनां व्यस्ताः क्षेपानयने तु ते योज्याः ।।२०।।

मन्दस्फुटो द्राक्प्रतिमण्डले हि ग्रहो भ्रमत्यत्र च तस्य पातः।
पातेन युक्ताद्गणितागतेन मन्दस्फुटात्खेचरतः शरोऽस्मात् ।।२१।।
पातेऽथवा शीघ्रफलं विलोमं कृत्वा स्फुटात्तेन युताच्छरोऽतः।
चन्द्रस्य कक्षावलये हि पातः स्फुटाद्विधोर्मध्यमपातयुक्तात् ।।२२।।

वा० भा०—तथा क्रान्तिवृत्तविमण्डलयोः संपातः क्षेपपातः। तं ग्रहे प्रक्षिप्य क्षेपः साध्यः। एतदुक्तं भवति। क्रान्तिपातः प्रसिद्धः। यथा तं ग्रहे प्रक्षिप्य क्रान्तिः साध्यत एवं विक्षेपपातं ग्रहे प्रक्षिप्य क्षेपः साध्य इत्यर्थः। अथ विक्षेपपातो मन्दस्फुटे यत् प्रक्षिप्यते तत्कारणमाह—मन्दस्फुट इति। यतः शीघ्रप्रतिमण्डले

मन्दस्फुटगत्या ग्रहो भ्रमति । तत्र च वृत्ते पातोऽतो गणितागतं पातं मन्दस्फुटे प्रक्षिप्य क्षेपः साध्यते । शेषं स्पष्टम् ॥२०॥२१॥२२॥

मरीचिः—अथोपोद्घातसंगत्या शरपातस्वरूपमुपगीत्याऽऽह—**एवमिति ।**

एवमुक्तरीत्या । यथा विषुवत्क्रान्तिवृत्तसंपातस्तथेत्यर्थः । क्रान्तिवृत्तविक्षेपवृत्तयोः संपाताश्चन्द्रादीनां ग्रहाणां क्षेपपाताः । क्षेपवृत्तस्य क्रान्तिवृत्ते संपात इत्यस्य मध्याक्षर-लोपात् क्षेपपाताः क्षेपार्थं पाता इति वा व्यस्ताः पश्चिमगतयो भवन्ति । क्रान्तिशरवृत्तं स्वपश्चिमगत्याऽन्वहं चलतीति भावः । तत्प्रयोजनमाह—क्षेपानयने इति । शरसाधन-निमित्तम् । तुकारस्तदन्यनिरासार्थकैवकारपरः । ते शरपाताः । चन्द्रादीनां योज्याः । तथा च विक्षेपवृत्ते संचरतां ग्रहाणां क्रान्तिवृत्तप्रदेशेन यद्याम्योत्तरमन्तरं स शरः । क्रान्तिवृत्ताच्छरः क्षेपवृत्तावधिस्तिर्यगत्यक्तत्वात् । तस्य क्रान्तिवृत्तसंपाताभ्यामारम्भात्त-त्पातस्थानावधितः शरसाधनोपजीव्यग्रहभोगार्थं मेषाद्यवधिसिद्धग्रहभोगविपरीतपातभोगो योज्य इति भावः ॥२०॥

ननु गोलरीत्या यथा क्रान्तिपातसंस्कृतात्स्पष्टग्रहात्क्रान्तिसाधनं तथा पातयुक्तस्पष्ट-ग्रहाच्छरसाधनमपि युक्तिसिद्धम् । तत्कथं छायाधिकारे मन्दस्फुटात्खेचरतः । स्वपातयुक्ता-दित्युक्तं संगच्छत इत्यतस्तदुत्तरमुपजातिकयाऽऽह—**मन्दस्फुट इति ।**

ग्रहो मन्दस्फुटात्मको वस्तुभूतः । द्राक्प्रतिमण्डले हि यतो भ्रमति संचरत्यतस्तस्य ग्रहस्य पातः । शराभावस्थानत्वेन ज्ञातं मन्दस्पष्टस्थानं दिनान्तरसंबन्धि । अत्र शीघ्र-प्रतिवृत्ते भवति । चकार एवार्थे । तेन कक्षावृत्ते वस्तुभूतग्रहभ्रमणाभावात्तदात्मकशरा-भावस्थानस्यापि कक्षावृत्तेऽभाव इत्यर्थः । एतेन मन्दप्रतिवृत्तेऽनुपातानीतपातोऽपि तत्राऽऽ-स्तामिति निरस्तम् । भौमादीनां मन्दप्रतिवृत्तस्यावास्तवत्वेन कल्पना । नहि तदाऽऽकाशे भौमादयस्तत्त्वतस्तथा संचरन्तीति केनाप्यङ्गीक्रियते । अधिकलानुपलम्भापत्तेः । अत्र चेत्यस्य कर्णव्यासार्धेनोत्पन्नकक्षाशरवृत्तयोः संपाते पात इत्यर्थोऽवधेयः । अस्मात्कारणाद्-गणितागतेनाहर्गणानुपातेन मध्यमग्रहवत्पातभगणेभ्य आनीतेनेत्यर्थः । पातेन भगणत्यागाद्रा-श्याद्यात्मकपातभोगेन युक्तान्मन्दस्फुटाद्ग्रहाच्छरश्छायाधिकारे मन्दस्फुटात्खेचरत इत्यनेन सूचितं द्वितीयश्लोकेन युक्तियुक्तः साधित इत्यर्थः ॥२१॥

ननु समकलग्रहपातसमागमाद्भुजगुणोऽथ निजेषु कलाहतः । निजचलश्रवणेन हृतो भवेदयनमण्डलतः स्फुटसायक ॥ इति श्रीपतिना स्पष्टग्रहाच्छरसाधनं कथमुक्तमित्यतस्तदुत्तरं चन्द्रस्य विशेषं चोपजातिकयाऽऽह—**पात इति ।**

अतः शीघ्रप्रतिवृत्ते गणितागतसद्भावकल्पनेन शरसाधनस्य सपातमन्दस्फुटग्रहादुक्ते-रिति हेतोः पाते शीघ्रफलं स्वग्रहसंबन्धि नतु पातादानीतम् । विलोमं ग्रहे चेद्धनं तदापाते ऋणं चेद्धनमित्यर्थः । कृत्वा संस्कृत्य । तेन तादृशेन पातेन स्फुटात्फलद्वयसंस्कृतमध्यग्रहा-द्युक्तादुक्तरीत्या शरः । अथवा प्रकारान्तरेण पूर्वतुल्य एव भवति । तथा च शीघ्रफलं व्यस्तं

ग्रहे संस्कृतं चेन्मन्दस्पष्टस्तत्र पातो योज्य इति पात एव शीघ्रं फलं व्यस्तं कृत्वा तद्युतः स्पष्टग्रहः कृतः। उभयथाऽविशेषात्सपातमन्दस्पष्टः सिद्धो भवत्यतः स्पष्टपातादस्मात्स्पष्टग्रहयुताच्छरः श्रीपतिना सम्यगुक्तः। अत एव स्पष्टपातज्ञानार्थं मृदूच्चफलमुपान्त्ये तत्प्रतीपं विदध्याच्छशिसुतपाते शैघ्र्यन्त्यं परेषाम्। स्फुटतरनिजपातात्क्षेपसिद्धिर्ग्रहाणामिति तदग्रे स्पष्टमुक्तम्। अत्र वक्ष्यमाणानुरोधेन प्रतीपमित्यस्य शैघ्र्यमन्त्यं परेषामित्यत्र समन्वयः। न मृदुफलमुपान्त्यमित्यत्रेति ध्येयमिति भावः। नन्वेवं चन्द्रस्य द्राक्प्रतिवृत्ताभावान्मन्दप्रतिवृत्तेऽधिष्ठानकल्पना तत्र च मध्यग्रहभोगसद्भावाद्गणितागतपातयुतमध्यमचन्द्राच्छरसाधनमथवा व्यस्तमन्दसंस्कृतपातेन युक्तात्स्पष्टचन्द्रात्तत्साधनमुपपन्नम्। कथं गणितागतपातयुक्तस्पष्टचन्द्रात्तत्साधनमुक्तम्। न च तत्र स्फुटचन्द्रानुक्तेः केवलचन्द्रपदेन मध्य एवेति वाच्यम्। केवलचन्द्रपदेन स्पष्टस्यैवोपस्थितेरित्यत आह—चन्द्रस्येति। हि यतः। चन्द्रस्य पातः कक्षावलये त्रिज्योत्पन्नकक्षाशरवृत्ताधः संपातेन प्रतिवृत्तसंबद्धकर्णव्यासार्धकक्षाशरवृत्तसंपाते। अतः कारणान्मध्यमपातयुक्तान्मध्यग्रहवदागताहर्गणरूपात् सिद्धचन्द्रपातयुक्तात्स्पष्टाच्चन्द्राच्छरः फलबलकल्पनात्। अन्यथा मन्दकर्णानुपातैक्यापत्तेः। अत एव भौमादीनां भगोल एव गणितागतपातकल्पनमपि निरस्तम्। एतत्सविस्तरं ग्रहच्छयाधिकारे शरसाधनवासनायां सम्यक्प्रपञ्चितम् ॥२२॥

केदारदत्तः—अन्य ग्रहों के शर और उनके सम्पात बताए जा रहे हैं—

नाड़ी वृत्त क्रान्तिवृत्त के दो सम्पात बिन्दुओं का नाम मेषादि और तुलादि जो पूर्व में बताया गया है, उसी प्रकार कान्तिवृत्त के साथ जिस जिस ग्रह भ्रमणवृत्ताकार मार्ग का जो जो विमण्डल नामक हैं, प्रत्येक ग्रह के इस विमण्डल वृत्त और क्रान्तिवृत्त के परस्पर के दोनों सम्पातों का नाम उस उस ग्रह के नाम के साथ उस उस ग्रह का पात कहा जाता है। जैसे चन्द्रमा के विमण्डल का क्रान्तिवृत्त के साथ जो दो सम्पात होते हैं उसे चन्द्रपात, एवं अन्य ग्रहों के विमण्डलों का क्रान्तिवृत्त के साथ के सम्पातों का नाम भी भौमपात, बुधपात····आदि नामों से उच्चारित किया जाता है। अतः पातयुक्त ग्रह के भुजांश से ग्रहों की शर की साधनिका होती है।

उपपत्ति—क्रान्ति वृत्त से ग्रह का विमण्डल जितनी दूरी पर होता है वह उस ग्रह का शर होता है। सम्पात से लेकर ३ राशि की दूरी पर ग्रह का वर्धमान वेग में परम शर, पुनः ३ राशि से ६ राशि तक द्वितीय सम्पात में ग्रह के शर का अभाव, ततः ६ से ९ राशि की दूरी पर ग्रह का वर्धमान याम्य शर और ९–१२ राशि तक में अपचीयमान शर शून्य तुल्य होता है।

इष्ट स्थानीय शर ज्ञान के लिये $\frac{\text{परशर} \times \text{सपात इष्टभुजज्या}}{\text{त्रि}}$ = इष्ट स्थानीय शर का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य ग्रहों में पातयुक्त मन्दस्पष्ट ग्रह में शर साधन करना

चाहिए। पात में शीघ्र फल का विलोम दान देने से स्पष्ट पात होता है। इस प्रकार के स्पष्ट पात के ज्ञान से स्पष्ट शर की साधनिका साधन करने से स्पष्ट शर ज्ञात हो जाता है।

चन्द्रमा में केवल मन्द फल संस्कार से मध्य चन्द्रमा की स्फुटता हो जाने से पात सहित स्पष्ट चन्द्रमा से शर साधन करना ही समीचीन होता है ॥२०॥२१॥२२॥

इदानीं ज्ञशुक्रयोर्विशेषमाह—

ये चात्र पातभगणाः पठिता ज्ञभृग्वोस्ते शीघ्रकेन्द्रखगणैरधिका यतः स्युः।
स्वल्पाः सुखार्थमुदिताश्चलकेन्द्रयुक्तौ पातौ तयोः पठितचक्रभवौ विधेयौ॥
चलाद्विशोध्यः किल केन्द्रसिद्ध्यै केन्द्रे सपाते द्युचरस्तु योज्यः।
अतश्चलात्पातयुताज्ज्ञभृग्वोः सुधीभिराद्यैः शरसिद्धिरुक्ता ॥२४॥
स्फुटोनशीघ्रोच्चयुतौ स्फुटौ तयोः पातौ भगोले स्फुट एव पातः।

वा० भा०—ननु ज्ञशुक्रयोः शीघ्रोच्चपातयुतिं केन्द्रं कृत्वा यो विक्षेप आनीतः सशीघ्रोच्चस्थान एव भवितुमर्हति न ग्रहस्थाने। यतो ग्रहोऽन्यत्र वर्तते। अत इदमनुपपन्नमिव प्रतिभाति। तथा च ब्रह्मसिद्धान्तभाष्ये ज्ञशुक्रयोः शीघ्रोच्चस्थाने यावान् विक्षेपस्तावानेव यत्रतत्रस्थस्यापि ग्रहस्य भवति। अत्रोपलब्धिरेव वासना नान्यत् कारणं वक्तुं शक्यत इति चतुर्वेदेनाप्यनध्यवसायोऽत्र कृतः। सत्यम्। अत्रोच्यते। येऽत्र ज्ञशुक्रयोः पातभगणाः पठितास्ते शीघ्रकेन्द्रभगणैर्युताः सन्तस्तद्भगणा भवन्ति। तथा च माधवीये सिद्धान्तचूडामणौ पठिताः। अतोऽल्पभगणभवः पातः स्वशीघ्रकेन्द्रेण युतः कार्यः शीघ्रोच्चाद्ग्रहे शोधिते शीघ्रकेन्द्रम्। तस्मिन् सपाते क्षेपकेन्द्रकरणार्थं ग्रहः क्षेप्यः। अतस्तुल्यशोध्यक्षेपयोर्नाशे कृते शीघ्रोच्चपातयोग एवावशिष्यत इत्युपपन्नम्।

किंच मन्दस्फुटोनं शीघ्रोच्चं प्रतिमण्डले चलकेन्द्रम्। तत् पाते क्षेप्तुं युज्यते। एवं कृते सति विक्षेपकेन्द्रं मन्दफलेनान्तरितं स्यात्। ग्रहच्छायाधिकारे सितज्ञपातौ स्फुटौ स्तश्चलकेन्द्रयुक्तावित्यत्र मन्दस्फुटोनं शीघ्रोच्चं शीघ्रकेन्द्रं पाते क्षिप्तम्। अतस्तत्र मन्दफलान्तरमङ्गीकृतमित्यर्थः। इतरकेन्द्रस्यानुपपत्तेः। अतो मन्दफलं पातेऽव्यस्तं देयम्। यतोऽनुपातसिद्धं चलकेन्द्रं मध्यग्रहोनशीघ्रोच्चतुल्यं भवति। यत्तु भगोले क्रान्तिवृत्तं तत् कक्षावृत्तम्। तत्र यद्विमण्डलं तत्र स्फुटग्रहः। तत्स्फुटपातयोगो हि विक्षेपकेन्द्रम्। अतः स्फुटपातस्थाने संपात कृत्वा ततस्त्रिभेऽन्तरे स्फुटोक्तैः परमविक्षेपांशैः प्राग्वदुत्तरे दक्षिणे च विन्यस्यम्। तथा न्यस्ते विमण्डले स्फुटग्रहस्थाने विक्षेपः स्फुटविक्षेपेण गणितागतेन तुल्यो दृश्यते नान्यथेत्यर्थः ॥२३॥२४॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गात्सितज्ञपातौ स्फुटौ स्तश्चलकेन्द्रयुक्तावित्यत्रोपपत्तिं वसन्ततिलकयाऽऽह —ये चेति ।

बुधशुक्रयोः पातभगणाः । अत्र ग्रन्थे मध्यमाधिकारे भगणाध्याये गजाष्टिभर्गेत्यादिना कुद्विशर ५२१ त्रिनन्दनागा ८९३ इति ये यत्संख्यामिताः पठिता निबद्धाश्चकारात्सूर्यसिद्धान्तादिग्रन्थोक्तास्ते भगणाः शीघ्रकेन्द्रभगणैर्बुधशुक्रयोर्ये शीघ्रकेन्द्रभगणा भवन्ति ताभ्यां क्रमेणाधिका योजिताः सन्तो वास्तवाः पातभगणा यतो यस्मात्कारणाद्भवन्त्यतः कारणात्पठितभगणोत्पन्नौ तत्पातौ क्रमेण तयोर्बुधशुक्रयोश्चलकेन्द्राभ्यां मध्यमसूर्यो नतच्छीघ्रोच्चरूपाभ्यां युक्तौ विधेयौ कार्यौ वास्तवपातज्ञानार्थम् । नन्वेवं तादृशभगणा एव पूर्वं कथं इत्यत आह—स्वरूपा इति । सुखार्थं गणितसौकर्यार्थम् । स्वल्पा वास्तवभगणैकदेशखण्डरूपा उदिता उक्ताः ॥२३॥

नन्वेवं स्फुटमध्यात्स्वपातयुक्ताज्ज्ञशुक्रयोः शीघ्रादिति ब्रह्मगुप्तेन बुधशुक्रयोः शरसाधनं शीघ्रोच्चपातयोगात्कथमुक्तम् । नहि शीघ्रोच्चसाधितः शरस्तयोः संभवति । अन्यथा भौमगुरुशनीनामपि मध्यमसूर्याच्छिरसाधनापत्तेरित्यतस्तत्समाधानमुपजातिकयाऽऽह—चलाविति । किल निश्चयेन । चलाच्छीघ्रोच्चात्केन्द्रसिद्ध्यै मध्यमग्रहः शोध्य सपाते । पठितभगणोत्पन्नपातयुक्ते केन्द्रे द्युचरो मन्दस्पष्टो योज्यः । अत इति पर्यवसितात् । आद्यैर्ब्रह्मगुप्ताद्यैः सुधीभिश्चतुरैर्लाघवाच्चलाच्छीघ्रोच्चात्पातयुताद्बुधशुक्रयोः शरसिद्धिरुक्ता । मध्यग्रहयोः शोध्यक्षेप्यत्वेन तत्रांशादुच्चगणितपातयोगे मन्दफलं यथागते संस्कार्यम् । मन्दस्पष्टे ग्रहे मध्यग्रहान्मन्दफलसंस्कारस्याधिकत्वात् । नहि भौमगुरुशनीनामवास्तवाः पातभगणाः पठिताः । वास्तवास्तु शीघ्रकेन्द्रभगणाधिकाः । येन तेषामपि शरसाधनं शीघ्रोच्चादियुक्तम् । तथाऽऽनयनानुक्तेस्तत्कल्पनासंभवात् । अतएव सूर्यसिद्धान्ते पातस्य द्वादशराशिशुद्धत्वेनाङ्गीकाराद्ग्रहवच्छीघ्रफलं पाते कृत्वा तदूनाः स्पष्टा भौमगुरुशनयः शरसाधनार्थं कृताः । बुधशुक्रयोः पाते व्यस्तं मन्दफलं कृत्वा तदूनं तच्छीघ्रोच्चं शरसाधनार्थं कृतम् । तद्वाक्यं तत्कुजार्किगुरुपातानां ग्रहवच्छीघ्रगं फलम् । वामं तृतीयकं पादं बुधभार्गवयोः फलम् । स्वपातोनाद्ग्रहाज्जीवाद् शीघ्राद्भृगुजसौम्ययोः । विक्षेपघ्नान्त्यकर्णाप्ता विक्षेपास्त्रिज्यया विधोरिति । एतेन बुधसितपाते व्यस्तं मन्दफलमुपान्त्यं शीघ्रफलम् । शेषाणां स्फुटपाताविक्षेपा मध्यमान्मानादिति ब्रह्मगुप्तोक्तार्याव्याख्याने चतुर्वेदाचार्यैर्व्यस्तपदस्योभयत्रान्वयः कृतः । मन्दस्फुटफलव्यस्तास्फुटशीघ्राद्बुधशुक्रयोरथवेति तदुक्तेः । व्यस्तमृदुफलचलाच्चैक्यपातैक्याज्ज्ञसितयोः । परेषां तु व्यस्ताशुफलव्योमगपातैक्याच्चन्द्रपातयोगाच्चेति लघ्वार्यभट्टोक्तेश्च । क्षितिसुतगुरुसूर्यसूनुपाताः खचलफलोनयुता यथा त एव । शशिसुतसितयोस्तु पातभागाः स्वमृदुफलेन च संस्कृताः स्फुटाः स्युरिति यथास्थितमन्दफलसंस्कारस्तदनुरुद्धलल्लेनोक्तः । अपरथा कृतमन्दफलाच्चलादिति श्रीपत्युक्तं च निरस्तम् । ये चात्र पातभगणा इत्यादिना शीघ्रकेन्द्रभगणा जनितशीघ्रकेन्द्ररूपमध्यग्रहोनशीघ्रोच्चरूपकेन्द्रस्य पाते वास्तवमध्यपातत्वावगमार्थं योजनावश्यकत्वेन पातस्य च शरसाधनार्थं मन्दस्पष्टग्रहे

योजनावश्यकत्वाच्च यथास्थितमन्दफलसंस्कारस्य शीघ्रोच्चे पठितपातभगणोत्पन्नत्पाते वोपपन्नत्वात् । नहि मन्दस्पष्टग्रहोनशीघ्रोच्चरूपकेन्द्रवास्तवपार्थी पातस्य क्षेपः । स च शरसाधनार्थं मध्यमग्रहे क्षेप्य इति येन व्यास्तमन्दफलसंस्करणं पाते शीघ्रोच्चे वोपपन्नम् । तादृशक्षेपयोर्भानाभावात् । न च बुधशुक्रयोः पातस्पष्टत्वं व्यस्तमन्दफलसंस्कारेणान्येषां तु शीघ्रफलव्यस्तसंस्कारेणेति वाच्यम् । मानाभावात् । लाघवादनुगमेन तयोरपि व्यस्तशीघ्र-फलसंस्कारेण स्पष्टत्वस्य युक्तत्वात्प्रतिपादितत्वाच्च । अन्यथा स्पष्टग्रहे योजनान्मध्यग्र-हयोर्नाशादुभयफलयथास्थितसंस्कारे मन्दफलयोरपि नाशादुच्चे पाते वा शीघ्रफलस्य ग्रह-वत्संस्कारापत्तेः । एतेन ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तभाष्ये चतुर्वेदाचार्यैर्बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चपाता[भ्यां] युतं केन्द्रं कृत्वा विक्षेप आनीतः । स शीघ्रोच्चस्थान एव भवितुमर्हति न ग्रहस्थाने । यतो-ऽन्यत्र ग्रहो वर्तते । अत इदमनुपपन्नमेव प्रतिभातीत्याशङ्कायामुत्तरं ज्ञशुक्रयोः शीघ्रोच्च-स्थाने यावान्विशेषस्तावानेव यत्रतत्रस्थस्यापि ग्रहस्य भवत्यत्रोपलब्धिरेव वासना । नान्य-त्कारणं वक्तुं शक्यमित्युक्तं निरस्तम् । अतोऽल्पभगणतः पातस्त्वशीघ्रकेन्द्रेण संयुतः कार्य इति भार्धपी(र्गवी)यचूडायामप्युक्त्या तदुपपत्तेर्व्यर्थत्वात् । करणकुतूहले मन्दाभ्यां बुधशुक्र-योरित्यत्रबुधशुक्रपातौ व्यस्तमन्दफलसंस्कृताविति नार्थः । किंतु यथागतमन्दफलसंस्कृतौ । व्यस्तस्य चञ्चलफलविशेषणत्वोक्तेरित्यवधेयम् । एवमाचार्यकृतभाष्ये भगणोपपत्तौ बुध-शुक्रयोस्तु तदा मन्दफलव्यस्तसंस्कृतं यावच्छीघ्रोच्चचन्द्रशुद्धं तावान्पातो ज्ञेय इत्यत्र मन्द-फलव्यस्तसंस्कृतमित्यस्य चक्राशुद्धमित्यत्रान्वयो न शीघ्रोच्चमित्यत्र । तेन चक्रशुद्धशीघ्रोच्चं मन्दफलव्यस्तसंस्कृतमित्यर्थोऽवधेयः । गोलवासनाभाष्ये मन्दस्फुटोनं शीघ्रोच्चप्रतिमण्डले च केन्द्रं तत्पाते क्षेप्तुं युज्यतेऽतो मन्दफलं पाते व्यस्तमित्युक्तं पूर्वग्रन्थावलोकनाभ्यासात् । यद्वा मन्द मन्दफलसंस्कृतो ग्रहः स्फुटो यस्येति बहुव्रीहिणा मन्दस्फुटपदेन मध्यग्रहवशादवशिष्टं मन्दफलं यथागतं पाते संस्कृतं भवतीति मन्दफलं पातेऽव्यस्तं यथागतमित्यर्थः । अव्यस्त-मित्युक्तिस्तु ब्रह्मगुप्तोक्तविपरीततत्संस्कारस्यासंगतत्वसूचनायेति । अन्यथा स्वोक्तविरोध-प्रसङ्गः ॥२४॥

केदारदत्तः—बुध और शुक्र ग्रहों के शीघ्रोच्च में पात जोड़ कर जो शीघ्र केन्द्र होता है और इससे साधित शर भी शीघ्रोच्च स्थानीय शर होता है । वस्तुतः यह शर ग्रह स्थानीय नहीं होता है । क्योंकि ग्रह तो कहीं अन्यत्र स्थित है ।

ब्रह्म सिद्धान्त के भाष्य में—''बुध शुक्र का शीघ्रोच्च स्थान में जो शर की उपलब्धि होती है यत्र तत्र सर्वत्र स्थित ग्रह का भी वही शर होगा'' ऐसा कहा है, किन्तु ।

बुध शुक्र के = जो पात भगण पढ़े गये हैं वे बुध शुक्र के स्वतन्त्र भगण न होकर वे बुध शुक्र के उन पठित भगणों में उनके शीघ्र केन्द्र के भगण भी अधिक हैं । अतः अल्प भगण से उत्पन्न पात में स्वशीघ्रकेन्द्र भगण की योजना उचित होती है । क्योंकि

शीघ्रोच्च में ग्रह को घटाने से शीघ्र केन्द्र होता है । अतः सम्पात शीघ्र केन्द्र के लिये शीघ्र केन्द्रभगण में ग्रह को जोड़ना उपपन्न होता है । तुल्य पदार्थ के जोड़ और घटाने से योज्य पदार्थ अविकृत रहता है ।

किन्तु स्फुशीउच्च—मन्दस्पष्ट = शीघ्र केन्द्र = प्रतिमण्डल में शीघ्र केन्द्र । इसे पात में जोड़ देते हैं इस प्रकार विक्षेप केन्द्र मन्दफल से अन्तरित हो जाता है । क्योंकि मन्द स्पष्ट ग्रह = म. ग्र. ± मन्दफल ।

ग्रह छायाधिकार में, "चलकेन्द्र योग करने से ही बुध शुक्र के पात स्पष्ट पात होते हैं" कहा गया है । अतएव शीघ्रोच्च-मन्दस्पष्ट ग्रह = शीघ्र केन्द्र + पात ऐसा स्वरूप उपपन्न होता है । चूंकि मन्दस्पष्ट ग्रह ± शीघ्र फल = स्पष्ट ग्रह होता है ।

इस लिये मन्दफल को पात में यथाक्रम धन या ऋण करना चाहिए । क्योंकि अनुपात सिद्ध शीघ्र केन्द्र = शीघ्रोच्च—मध्यम ग्रह होता है ।

भगोलीय कक्षावृत्त को ही तत्र क्रान्तिवृत्त समझना चाहिए । तथा वहाँ पर भगोलीय विमण्डल में ही स्पष्ट ग्रह की स्थिति होती है । अतः विमण्डलीय स्पष्ट ग्रह ± पात = विक्षेप केन्द्र होता हैं ।

इसलिये स्फुट पात स्थान में कक्षावृत्त विमण्डल वृत्त के सम्पात समझ कर सम्पात स्थान से तीन राशि आगे और तीन राशि पीछे उत्तर और दक्षिण में स्पष्ट शर का मान होता है ।

इस प्रकार कक्षा वृत्त के साथ विमण्डल वृत्त का न्यास कर स्पष्टग्रह के स्थान पर का शर गणितागत स्फुट शर के तुल्य दृष्टि पथ में होता है ॥२३॥२४॥

इदानीं ग्रहगोले विशेषमाह—

ग्रहस्य गोले कथितापमण्डलं प्रकल्प्य कक्षावलयं यथोदितम् ॥२५॥
निबध्य शीघ्रप्रतिवृत्तमस्मिन् विमण्डलं तत् पठितैः शरांशैः ।
मध्योऽत्र पातो द्युसदां ज्ञभृग्वोः स्वशीघ्रकेन्द्रेण युतस्तु देयः ॥२६॥

वा० भा०—भगोल एव तावद्ग्रहगोलः कल्प्यः । तत्र स्फुट एव पातः । अथ यदि तदन्तर्ग्रहगोलोऽन्यो निबध्यते तदा यथोक्तं विषुवद्वृत्तं क्रान्तिवृत्तं च बद्ध्वा तत् क्रान्तिवृत्तं कक्षामण्डलं प्रकल्प्य तत्र च्छेद्यकोक्तविधिना शीघ्रप्रतिमण्डलं बद्ध्वा तत्र प्रतिमण्डले गणितागतं पातं मेषादेर्विलोमं गणयित्वा तत्र चिह्नं कार्यम् । अथ त्रिज्याव्यासार्धमेवान्यद्वृत्तं राश्यङ्कं विमण्डलाख्यं कृत्वा तत्रापि मेषादेर्व्यस्तं पाताग्रे चिह्नं कृत्वा प्रतिमण्डलविमण्डलयोः प्रथमं संपातं ततो भार्धान्तरे द्वितीयं च संपातं कृत्वा पातादग्रतः पृष्ठतश्च त्रिभेऽन्तरे परमविक्षेपांशैः पठितैः प्रतिवृत्तादुत्तरे दक्षिणे च विमण्डलं विन्यस्यम् । तत्र मन्दस्फुटगत्या पार-

मार्थिको ग्रहो भ्रमति । अतो मेषादेरनुलोमं मन्दस्फुटो विमण्डले देयः । स तत्रस्थः प्रतिमण्डलाद्यावताऽन्तरेण विक्षिप्तस्तावांस्तत्प्रदेशे विक्षेपः। यतो वृत्तसंपातस्थे ग्रहे विक्षेपाभावः । त्रिभेऽन्तरे परमो विक्षेपः । मध्येऽनुपातेन । अतो वृत्तसंपात-ग्रहयोरन्तरं ज्ञेयम् । तदन्तरं पातग्रहयोगे कृते भवति । पातस्य बिलोमगत्वात् । स योगः शरार्थं केन्द्रम् । यदि त्रिज्यातुल्यया केन्द्रज्यया परमः शरस्तदाऽभीष्ट-याऽनया क इति । फलं प्रतिमण्डलविमण्डलयोस्तिर्यगन्तरं स्यात् । विमण्डलस्थ-ग्रहाद्यद्भूमध्यगं सूत्रं तद्भूग्रहान्तरम् । स च शीघ्रकर्णः । यदि भूमध्यात् कर्णाग्रे एतावान् विक्षेपस्तदा त्रिज्याग्रे कियानिति द्वितीयं त्रैराशिकम् । आद्ये त्रिज्या हरो द्वितीये गुणस्तयोर्नाशे कृते केन्द्रज्यायाः परमशरगुणायाः कर्णो हरः । फलं कक्षा-वृत्तसूत्रयोस्तिर्यगन्तरम् । स स्फुटः शरः ॥२५॥२६॥

मरीचिः—अथ बुधशुक्रयोः शीघ्रकेन्द्रयुतगणितागतपातस्य मध्यमपातत्वसिद्धेस्तस्य मन्दस्पष्टग्रहयोजनयोग्यत्वं तर्हि स्पष्टग्रहयोग्यस्पष्टपातस्य स्वरूपं किं सिद्धमित्यतस्त-दुत्तरं स्फुटमध्यपातयोर्गोले दर्शनं च पद्योपजातिकाभ्यां प्रतिपादयति—**स्फुटेति** । तयोर्बु-धशुक्रयोः । पातौ पठितभगणोत्पन्नौ । स्फुटोनशीघ्रोच्चयुतौ । स्फुटशब्देन स्पष्टौ बुधशुक्रौ ताभ्यामूने स्वशीघ्रोच्चे यथागततन्मन्दफलसंस्कृते । ताभ्यां क्रमेण युतौ स्फुटौ पातौ भवतः । मध्यमशीघ्रकेन्द्रयुतगणितापातरूपमध्यमपातस्य व्यस्तशीघ्रफलसंस्कृतस्य स्पष्टत्वोक्तेस्त-स्यात्र सिद्धत्वात् । तथा हि—शीघ्रोच्चे यथागतमन्दफलसंस्कारात्स्पष्टग्रहेणोनिते फलद्वय-व्यस्तसंस्कारेण मन्दफलसंस्काराभावसिद्ध्या मध्यमशीघ्रकेन्द्रं व्यस्तशीघ्रफलसंस्कृतं फलि-मत्र गणितागतपातयोजने मध्यमपातः शीघ्रफलव्यस्तसंस्कृतः स्फुटपातः सिद्धो भवतीति । अत एव शीघ्रोच्चं केवलं न ग्राह्यम् । मध्यमपातस्य व्यस्तफलद्वयसंस्कृतस्य स्फुटत्वापत्तेः । मन्दस्फुटरूपस्फुटोनकेवलशीघ्रोच्चग्रहणे मध्यमपातस्य मन्दफलव्यस्तसंस्कृतस्य स्फुटत्वापत्तेः । नेष्टापत्तिरुक्तविरोधात् । न ह्यत्र यथागतमन्दफलव्यस्तशीघ्रफलसंस्कृतशीघ्रोच्चं ग्राह्यम् । येन मन्दस्पष्टग्रहो युक्तः कल्पनागौरवात् । स्फुटशी घ्रोच्चयोलक्षिणिकत्वापत्तेश्च । एतेन यथागतमन्दफलसंस्कृतशीघ्रोच्चग्रहणं परास्तम् । मध्यमस्फुटपातयोरभेदात् । अथ लाघवा-त्स्फुटपदेन केवलशीघ्रफलसंस्कृतमध्यग्रहः । शीघ्रोच्चं केवलम् । तेन सुष्ठूक्तार्थनिर्वाह इति चेन्न । स्फुटपदेन केवलशीघ्रफलसंस्कृतमध्यग्रहस्यानुपस्थितेः । इष्टापत्तेर्वेत्यलं विस्तरेण । अथ निरुक्तगोले स्फुटपातस्थानं दर्शयति । भगोले पातः शरक्रान्तिवृत्तयोः संपातः स्फुटपातः। एवकारात्तत्र मध्यमपातत्वाभावः । तत्संपातस्य स्फुटविक्षेपस्थानाङ्कनेन तत्स्थानयोर्विरोधि-तत्वात् । यथा प्रतिवृत्तस्थवस्तुभूतो मन्दस्पष्टः कक्षावलये यत्प्रदेशावच्छेदेन दृग्गोचरस्तत्र कक्षाप्रदेशे स्पष्टः कक्षावृत्तस्य क्रान्तिवृत्तानुकारत्वात् । यथा तत्समतदाकाशगोलस्थशर-वृत्तसंपातस्तत्कक्षायुक्ततरस्तत्स्फुटपातसंज्ञः । तत्र गोले वस्तुभूतग्रहबिम्बनियतसंबन्धात् । शराभावे ग्रहबिम्बस्य तत्समसूत्रेण दर्शनाच्चेति । अथ मध्यमपातस्थलदर्शनार्थं वृत्तविशेषम-[न्त्य] स्थानमाह । निरुक्तप्रकारेण संक्रान्तिवृत्तभगोलतन्निबन्धनं तन्निबोध्यम् । तत्कक्षा-

वलयं प्रकल्प्यम्। क्रान्तिवृत्तानुकारत्वाद्ग्रहकक्षावृत्तानुकल्पत्वाच्च। यथोदितं छेद्यकोक्तप्रकारेण निष्पन्नम्। शीघ्रप्रतिवृत्तं निबध्य। अस्मिन्—शीघ्रप्रतिवृत्ते। तत्पठितैस्तस्य ग्रहस्य च्छायाधिकारोक्तैः शरांशैः षष्टिभक्तनिरुक्तशरकलामितैरित्यर्थः। विमण्डलं निवध्यम्। अत्र विमण्डले। तत्संपाते ग्रहाणां मध्यपातो गणितागतः। अयं भावः। भगोलस्थक्रान्तिवृत्ते प्रतिवृत्तनिबन्धने ग्रहगतिर्भचक्रादूर्ध्वमिति प्रतीतिस्तद्वारणार्थं ग्रहगोले क्रान्तिवृत्तानुसृत कक्षावृतं निबध्यम्। तत्रोक्तदिशाऽपवृत्तमपि। तयोः संपातः अथ तत्र ग्रहबिम्बभ्रमणाभावात्तद्भगणभोगकालावधितद्गतिदर्शनानुरोधेनातीन्द्रियदृग्भिर्मुनिभिर्भूगर्भादुच्चप्रदेशाभिमुखान्त्यफलज्यान्तरे स्थितकेन्द्र आकाशगोलश्चलः कल्पितः। तत्र कक्षावृत्ततुल्यं प्रतिवृत्तं संबध्यमुक्तदिशा। एवं शरवृत्तसंबन्धमपि प्रतिवृत्तस्। तयोः संपातावपि। अथ प्रतिवृत्तस्थग्रहभूमध्यान्तररूपं कर्णव्यासार्धकल्पितवंशवृत्तद्वयं यथाप्रतिवृत्तस्थग्रहचिह्नसक्तं तथा भूमध्यादाभितः कक्षाशरवृत्ताकारं निबध्यम्। तयोः संपातो मध्यमपातः। तयोः परममन्तरं पठित [श] रतुल्यम्। तत्र ग्रहयोरन्तरं याम्योत्तरं शरः कर्णगोले। तद्वृत्तयोः प्रतिवृत्तस्थग्रहसंबद्धत्वात्पातयोरन्तरं ग्रहफलतुल्यमिति प्राक्प्रपञ्चितमेवेति। प्रतिवृत्तसंपाते मध्यमपातत्वोक्तौ स्फुटपाताभेदापत्तेः। कक्षाप्रतिवृत्तयोरुच्चस्थानादभिन्नाद्राश्यङ्कनात्। ननु प्रतिवृत्ते प्रतिवृत्ततुल्यविमण्डलं निबन्धनीयम्। कुत्र संपातः कार्य इत्यनुक्तेः। मध्यपातस्थाने तत्संपाते मध्यमपातस्यैवोपपत्त्या प्रथममसिद्धेश्चेत्यलम्। ननूक्तरीत्या कर्णव्यासार्धवृत्तयोः संपाते बुधशुक्रयोरहर्गणानुपातसिद्धः पातभोगो न भवत्यन्येषां तु भवतीति कथमेतदनुगतं नोक्तमत आह—ज्ञभृग्वोरिति। बुधशुक्रयोर्गणितागतपातस्त्वर्थः। स्वस्वमध्यमशीघ्रकेन्द्रेण युतः सन् योज्यः। पातत्वेन ज्ञेयः। न केवलस्तथा च तत्संपाते गणितागतपातयुक्तमध्यमशीघ्रकेन्द्ररूपबुधशुक्रवास्तवमध्यपातभोगस्य दर्शनात्सम्यगेवेति भावः। एतेन प्रागुक्तं छेद्यकं गोलान्तर्गतमित्युक्तं स्पष्टम्। प्रथमवृत्त आद्यतृतीयचतुर्थचरणा वंशस्थस्य द्वितीयचरणस्त्विन्द्रवज्राया इतीदं छन्दो न प्रचुरप्रयोगविषयं तथाऽपि तदानन्त्यान्न दोषः। पातक इति पाठाद्वंशस्थेन्द्रवंशामिश्रितत्वादुपजातिकपद्यं वा ॥२५॥२६॥

केदारदत्तः—ग्रह गोल में स्पष्ट शर का स्वरूप—

ग्रह गोल में कक्षावृत्त को क्रान्तिवृत्त समझकर गोलबन्धाधिकार में कथित गोलबंधन रीति से यहाँ शीघ्र प्रतिवृत्त के साथ पठित शर अंशों से विमण्डल वृत्त की रचना कर बुध शुक्र का मध्यम पात में अपने शीघ्र केन्द्र का योग करना आवश्यक होता है।

उपपत्ति:—भगोल को ही ग्रह गोल समझना चाहिए क्योंकि ग्रह गोल में ही स्पष्ट शर होता है।

यदि भगोलान्तर्गत ग्रह गोल रचना की गई है तो वहाँ पर क्रान्तिवृत्त विषुवद्वृत्त के सम्पात में क्रान्तिवृत्त = कक्षावृत्त समझ कर उक्त विधि से विमण्डल वृत्त के बन्धन द्वारा गणितागत पात को मेषादि से विलोम देकर इस जगह पर एक चिह्न करते हुये

तथा भूगर्भ से त्रिज्या व्यसार्ध से समुत्पन्न वृत्त की विमण्डल वृत्त संज्ञा समझ कर विमण्डल में मेषादि से उलटे (व्यस्त) मेषादि की कल्पना द्वारा उस स्थान पर भी चिह्न लगाना चाहिये ।

इस प्रकार विमण्डल एवं प्रतिमण्डल के सम्पात से ६ राशि दूरी पर द्वितीय सम्पात अवश्य होगा ।

अतः पात से पूर्ववत् ३ राशि आगे एवं पीछे उत्तर दक्षिण में परम शर तुल्य अन्तर में विमण्डल वृत्त का परम उत्तर दक्षिण गमन समझना चाहिए ।

त्रिमण्डल में पारमार्थिक मन्द स्पष्ट ग्रह होता है । पुनः मेषादि से अनुलोम मन्दग्रह दान से, दान बिन्दु से प्रतिमण्डलवृत्त जितने अंशों से अन्तरित होता है उतने वलयाकर देश में शर का मान होता है । वृत्तों के सम्पात में विक्षेप = शर का आभाव, तीन राशि की दूरी पर शर का परमत्त्व–मध्य में अनुपात द्वारा स्पस्ट शर का ज्ञान उपपन्न होता है ।

दोनों वृत्त सम्पात से ग्रह बिम्ब तक का अन्तर = पात + स्पग्रह = योग के तुल्य होता है । जो शर साधन के उपरोक्त योग = यो = विक्षेप केन्द्र ।

अनुपात से—

$$\frac{\text{परमशर} \times \text{यो} = \text{इष्टकेन्द्रज्या}}{\text{त्रि}} = \text{प्रतिमण्डल विमण्डल का लम्ब रूप अन्तर} = \text{अं} =$$

शर = ग्रगोतीय शर = ग्र० गो० श० ।

विमण्डलस्थ ग्रह से भू केन्द्र तक ग्रह भू केन्द्र का अन्तर सूत्र = शीघ्रकर्ण = शी० क० ।

पुनः अनुपात से—

$$\frac{\text{ग्र० गो० श} \times \text{त्रि}}{\text{शी क०}}$$

ग्रह गोलीय शर स्वरूप के उत्थापन से

$$\frac{\text{परमशर} \times \text{इष्टकेन्द्रज्या}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{शीघ्रक}}$$

$$\frac{\text{परमशर} \times \text{इष्ट केन्द्रज्या}}{\text{शीघ्र कर्ण}} = \text{स्पष्ट शर}$$

इस प्रकार ग्रह कक्षावृत्त विमण्डल वृत्तान्तर्गत लम्ब रूप स्पष्ट शर सिद्ध होता है । उपपन्न हुआ ॥२५॥२६॥

इदानीमहोरात्रवृत्तमाह—

ईप्सितक्रान्तितुल्येऽन्तरे सर्वतो नाडिकाख्यादहोरात्रवृत्ताह्वयम् ।
तत्र बद्ध्वा घटीनां च षष्ट्याऽङ्कयेदस्य विष्कम्भखण्डं द्युजीवा मता ।२७।

वा० भा०—नाडीवृत्तादुत्तरतो दक्षिणतो वा सर्वत इष्टक्रान्तितुल्येऽन्तरे यद्वृत्तं निबध्यते तदहोरात्रवृत्तम्। तेन वृत्तेन तस्मिन् दिने रविर्भ्रमतीत्यर्थः। तस्य वृत्तस्य व्यासार्धं द्युज्या ॥२७॥

मरीचिः—अथ द्युरात्रवृत्तनिबन्धनं स्रग्विण्याऽऽह—**ईप्सितेति**। नाडिकाख्याद्विषुवद्वृत्तादुत्तरतो दक्षिणतो वा सर्वतस्तद्वृत्ताभितस्तद्दिश्यभीष्टक्रान्तितुल्येऽन्तरेऽहोरात्रवृत्ताभिधं वंशशलाकजम्। तत्र निबद्धभगोले। बद्ध्वा। घटीनां षष्टयाऽङ्कयेत्। इदं वृत्तं नाडिकावृत्तैकप्रदेशात्क्रान्तिवृत्तस्य शरवृत्तस्य वा प्रदेशौ यदन्तरेण स्थितौ तदन्तरेणैव प्रवहानिलाक्षिप्तौ नित्यं भ्रमतः। प्रवहवायोर्ध्रुवद्वयाश्रयेण भ्रमणाभ्युपगमात्। तद्भ्रमणमार्गंवृत्तस्यानुकल्पम्। ननु भगोले तुल्यवृत्तानां प्रतिपादनादेतत्पूर्वोक्ततुल्यं नेत्यत आह—अस्येति। अहोरात्रवृत्तस्य। विष्कम्भखण्डं व्यासार्धं द्युजीवा द्युज्या मता पूर्वैरङ्गीकृता। तथा च भगोलपरिधिवृत्तानि तुल्यान्येव। भगोलस्थमध्यपरिधिरूपविषुवद्वृत्तादुभयतो भगोलेऽपचयपरिधिग्रहणे तत्तुल्यत्वं न स्पष्टभूपरिधिवत्। अतस्तद्व्यासार्धं पूर्ववृत्तव्यासार्धाद्न्यत्। एतद्वृत्तमार्गेण घटीषष्टया तत्प्रदेशस्य परिभ्रमणपूर्तेरिदमहोरात्रवृत्तम्। तेनैव घटीषष्टयङ्कितं, तद्व्यासार्धं, तत्संबद्धाज्जा (ज्ज्या)काराच्च द्युज्यापूर्ववृत्ततुल्यत्वाभावेनैवाऽऽदृता ॥२७॥

केदारदत्तः—अभीष्ट क्रान्ति चाप को, ९० में कम करने से शेष चाप का नाम द्युज्या होता है। ध्रुव बिन्दु से द्युज्या चाप की दूरी पर जो लघुवृत्त बनते हैं उन्हें अहोरात्र वृत्त कहा जाता है। ये सभी अहोरात्र वृत्त नाड़ी वृत्त के समानान्तर होते हैं। द्युज्या चाप की ज्या का नाम द्युज्या होता है

उपपत्ति—प्रतिदिन सम्बाधी क्रान्ति = क्रां

९०—क्रा चा० = द्युज्या चाप, द्युज्या चाप की ज्या = द्यु०। ध्रुव बिन्दु नाड़ी वृत्त का पृष्ठीय केन्द्र बिन्दु है; अत = ध्रु विन्दु से द्यु माप की त्रिज्या व्यासार्धोत्पन्न वृत्त का नाम अहोरात्र वृत्त में रवि का भ्रमण होता है। इस प्रकार मुख्यतया, मेषान्त, वृषान्त, मिथुनान्त, द्युज्या व्यसार्धोत्पन्न वृत्तों का नाम मेषान्त वृषान्त, मिथुनान्ताहोरामवृत्त कहा जाता है। इसी मासमान से १२ राशियों के नाम के मुख्य १२ अहोरात्र वृत्त, दिनादिमान से—अनेकों अहोरात्र दृत्त होते हैं। नाड़ी वृत्त काल सूचक वृत्त होने से नाड़ी वृत्त के समानान्तर अनेक सभी वृत्त कालज्ञान सूचक उपपन्न होते हैं ॥२७॥

इदानीमन्यदाह—

अथ कल्प्या मेषाद्या अनुलोमं क्रान्तिपाताङ्कात्।
एषां मेषादीनां द्युरात्रवृत्तानि बध्नीयात् ॥२८॥

वा० भा०—क्रान्तिपाताङ्कादारभ्य त्रिंशता त्रिंशता भागैरन्यान् मेषादीन् प्रकल्प्य तदग्रे सूक्तवदहोरात्रवृत्तानि बध्नीयात्। तानि च नाडीवृत्तस्योभयतस्त्रीणि त्रीणि भवन्ति। तान्येव क्रमोत्क्रमतः सायनांशार्कस्य द्वादशराशीनाम् ॥२८॥

ननु भगोले प्रतिप्रदेशं क्रान्तिवृत्ते वा क्रान्तितुल्यान्तरस्थानेकत्वसंभवात्कस्य क्रान्तितुल्यान्तरग्रहणेनेदं निबन्धनीयम्। अन्यथा विनिगमनाविरहेण तत्प्रतिप्रदेशानुरोधेन तन्निबन्धने पूर्ववृत्तानामाच्छादितत्वेन तत्संस्थाज्ञानस्यानुत्पत्तेरित्यत उपगीत्याऽऽह—**अथ कल्प्या इति**। अथ उक्तद्युरात्रवृत्तस्वरूपेण तदनेकत्वसंभावनया गोलाच्छादनसंभवात्तन्निबन्धनमुचितं यद्याशङ्कसे तर्हीत्यर्थः। क्रान्तिपाताङ्कात् क्रान्तिपातचिह्नस्थानादनुलोमं सव्यक्रमेण राश्यङ्कनक्रमानुरोधेनेत्यर्थः। मेषाद्या द्वादश राशयः कल्प्याः। अत्र क्रान्तिवृत्ते क्रान्तिपातस्थानात्समास्त्रिंशद्भागात्मकाः कल्पनीयाः। एतेन रेवतीस्थानाद्ये मेषादिराशयोऽङ्कितास्त एव वास्तवाः ग्रहभोगगणनार्थमेतेऽवास्तवा गौणा इति स्पष्टं सायनपक्षो निरस्तः। अवास्तवाः किमर्थं कल्पनीया इत्यत आह—एषामिति। विषुवत्क्रान्तिवृत्तसंपातस्थानावधिकल्पितावास्तवानां मेषादीनां राश्यन्तप्रदेशानाम्। उक्तरीत्या द्युरात्रवृत्तानि बध्नीयात्। वास्तवराशीनामनियतस्थानत्वाद्द्युरात्रवृत्तनिबन्धनमुपेक्षितमिति। तथा च क्रान्तिवृत्ते त्रिंशद्भागान्तरेण तद्वृत्तनिबन्धेन विरलतया पूर्ववृत्तदर्शनात्तत्संस्थाज्ञानविलोपासंभवाद्युक्तमन्यथाऽहोरात्रवृत्तं विना तद्भ्रमणस्थितिज्ञानासंभवापत्तेः। शरवृत्तं चानियतमतस्तत्संबन्धेन द्युरात्रवृत्तनिबन्धनं नोक्तमशक्यत्वादिति भावः ॥२८॥

केदारदत्तः— नाड़ी क्रान्ति वृत्त सम्पात से मेषान्त वृषान्त, मिथुनान्त क्रान्ति तुल्य उत्तर में, एवं पुनः दक्षिणायन में क्रान्ति कर्कान्त सिंहान्त कन्यान्त तुल्य तथा पुनः तुलान्त, वृश्चिकान्त एवं धन्वन्त क्रान्ति तुल्य तीन वृत्त दक्षिण में पुनः मकर कुम्भ मीनान्त क्रान्ति तुल्य इस प्रकार १२ अहोरात्र लघुवृत्त नाड़ी वृत्त के समातान्तर होते हैं, पूर्व श्लोक में सविषेष व्याख्या स्पष्ट है ॥२८॥

नाडीवृत्तोभयतस्त्रीणि त्रीणि क्रमोत्क्रमात्तानि।
एष भगोलः कथितः खेचरगोलोऽयमेव विज्ञेयः ॥२९॥
अत्रापमण्डले वा सूत्राधारैरधश्च तस्यैव।
शन्यादीनां कक्षा बध्नीयादूर्णनाभजालाभाः ॥३०॥
बद्ध्वा भगोलमेवं यष्ट्यां यष्टिं खगोलनलिकान्तः।
प्रक्षिप्य भ्रमयेत्तं यष्ट्याधारं स्थिरौ खदृग्गोलौ ॥३१॥

वा० भा०—यथाऽयं भगोलो बद्धस्तथैव ग्रहगोला अपि बन्धनीयाः। किंतु छेद्यकमन्तश्चालयितुं नाऽऽयातीति बहिःस्थमेव दर्शनीयम्। अथवाऽत्र भगोले यदपमण्डलं तस्याधोऽधस्तन्निबद्धैः सूत्राधारैर्बद्ध्वा शनैश्चरादीनां कक्षा दर्शनीयाः। एवंविधं भगोलं यष्ट्यां दृढं बद्ध्वा यष्ट्यग्रयोः प्रोते नलिकाद्ये निबद्धौ खगोलदृग्गोलौ कृत्वा भगोलभ्रमणं दर्शयेत् ॥२९॥३०॥३१॥

इति श्रीभास्कराचार्यविरचिते गोलवासनाभाष्ये मिताक्षरे गोलबन्धाधिकारः।

मरीचिः—ननु क्रान्तिवृत्तस्य गोले तिर्यक्त्वाद्द्वादशराशीनां द्युरात्रवृत्तानि भिन्नानि निबद्धुमशक्यानि । तथा हि—मिथुनान्तप्रदेशानां द्युरात्रवृत्तानि त्रीणि बद्धानि । तदन्तरं कर्कान्तनिबद्धं द्युरात्रवृत्तं वृषान्तबद्धद्युरात्रवृत्ताकारत्वेन तदभिन्नमेवं सिंहान्तद्युरात्रवृत्तं मेषान्तद्युरात्रवृत्ताभिन्नम् । कन्यान्तद्युरात्रवृत्तं विषुवद्वृत्तम् । एवं दक्षिणगोलस्थराशिष्व- पीत्यतस्तदुत्तरं वदन्नुक्तभगोलबन्धमुपसंहरंश्चान्यदप्युद्गीत्याऽऽह—**नाडीवृत्तोभयत इति** । तानि द्युरात्रवृत्तानि नाडीवृत्तादुभयत उत्तरदक्षिणभागयोस्त्रीणि त्रीणि क्रमोत्क्रमाद्भवन्ति । तथा च नाडीवृत्तादुत्तरभागे त्रीणि वृत्तानि । नाडिकावृत्तासन्नक्रमेण मेषवृषमिथुनान्तानां द्युरात्रवृत्तानि । तान्येव व्युत्क्रमात्कर्कसिंहकन्यादीनाम् । एवं दक्षिणभागे त्रीणि द्युरात्र- वृत्तानि क्रमेण तुलावृश्चिकधनुरन्तानाम् । तान्येव व्युत्क्रमान्मकरकुम्भमीनादीनामिति षडहोरात्रवृत्तानि गोले । न द्वादश भिन्नानीति नो किंचिद्विरुद्धमिति भावः । नन्वय निबद्धो गोलो भगोलवृत्तादिसंबन्धाद्भगोलो वेत्यत आह—एष इति । कथित उक्त एष गोलो भगोलः । तद्वृत्तसंबन्धात् । ग्रहशरवृत्तादिकं च प्रसङ्गादुक्तं न प्राधान्येनेति ग्रहगोलत्व- मस्य नेति भाव । ननु बध्नीयाच्छशिसौम्येत्यादिना पूर्वं ग्रहगोलानामुद्दिष्टत्वाद्ग्रहगोलाः कथं नोक्ता इत्यत आह—खेचरगोलेऽयमेव विज्ञेय इति । अयमुक्तभगोलो ग्रहाणां गोलो विज्ञेयः । एवकारोऽप्यर्थे । तेनास्य भगोलत्वं चोभयसंबन्धादन्यथा विनिगमनाविरहापत्तेः । उभयथैतस्यानुकल्पत्वादिति भावः ।।२९।।

ननु तथाऽपि ग्रहाणामत्र भगोलाधः स्थितत्वस्य परस्परार्धस्थितत्वस्य चादर्शनादुद्दिष्ट- गोलक्रमविरुद्धमित्यतो गीत्याऽऽह—**अत्रापमण्डल इति** । अत्र भगोलाख्यनिबद्धगोले । अप- मण्डले क्रान्तिवृत्ते । तदनुसृताकाशमार्गे । तस्य क्रान्तिवृत्तस्य । एवकारात्तदतिरिक्तवृत्त- निरासः । अधोभागे । शन्यादीनां शनिगुरुभौमरविशुक्रबुधचन्द्राणां कक्षा वंशशलाकावृ- त्तात्मकाः । बध्नीयात् । नन्वाकाशे तदाकारतया कथं तन्निबन्धनं शक्यमत आह—सूत्रा- धारैस्ता बध्नीयात् । तथा च क्रान्तिवृत्ते समान्तरेण चत्वारि चिह्नानि कार्याणि । तत्र प्रत्येकं सूत्रं बद्ध्वा तत्सूत्रे क्रमेण शन्यादीनां कक्षाश्चतुःस्थाने निबन्धनीया इति भावः । वाकारश्च भेदज्ञानार्थः । अयं प्रकारः कदाचिन्निबद्धगोल एव तद्भेदज्ञानं तदोक्तमधः कक्षासन्निवेशनिबन्धनं न कार्यमिति सूचितम् । ननु सर्वाः कक्षास्तदधोभागे पङ्क्तिक्रमेण निबद्धुमशक्याः । क्रान्तिवृत्तस्य सूक्ष्मत्वादित्यत आह—ऊर्णनाभजालाभा इति । ऊर्णा नाभावुदरे यस्याः सा मर्कटिका । यत्तत्कृतं रश्मिजालं मण्डलाकारं गवाक्षादौ प्रसिद्धं तदा- भासस्तत्सदृशा इत्यर्थः । तद्रश्मिजाले यथोपरिमण्डलं ततोऽपि लघ्वेवं शनेः कक्षावृत्तं क्रान्तिवृत्तमध्ये । शनिकक्षावृत्तमध्ये लघुभूतं गुरुकक्षावृत्तम् । तन्मध्येऽपि भौमादीनां यथो- त्तरमित्यूर्ध्वाधराः कक्षाः, न पङ्क्तिक्रमेणेति भावः । चकारात्स्वस्वकक्षावृत्ते स्वस्वशरवृत्तं प्रतिमण्डलादिकमस्थिरमपि तद्बोधार्थमुक्तरीत्या निबन्धनीयम् । तदा भगोले क्रान्तिवृत्ते षट्शरवृत्तानि ग्रहाणां न निबन्ध्यानीत्यर्थः ।।३०।।

ननु नक्षत्रग्रहाणां भ्रमणदर्शनानां निबद्धगोले तद्दर्शनमनुपपन्नमित्यतो गीत्याऽऽह—

बद्ध्वा भगोलमिति । एवमुक्तप्रकारेण । यष्टचां ध्रुवयष्टचां भगोलं ग्रहगोलसहितं बद्ध्वा निष्पाद्यं । तां यष्टिं खगोलनलिकान्तर्निबद्धखगोलप्रतिदक्षिणोत्तरनलिकाद्वयगर्भे । अङ्गुलाद्यात्मकभगोलबहिःस्थितयष्टिभागाग्रद्वयद्वारा शिथिलां प्रक्षिप्य । तां निबद्धभगोलं प्रत्यक्षभ्रमणानुरोधेन पश्चिमाभिमुखं तन्निर्मापको भ्रमयेत् । तया च निबद्धगोलस्यापि भ्रमणसंभवान्न क्षतिरिति भावः । ननु निबद्धगोलस्य भ्रमणसंभवे खदृग्गोलयोः पूर्वनिबद्धयोर्नलिकासंबन्धेन भ्रमणापत्तिः । नहि तद्भ्रमणमुचितम् । तत्संज्ञाव्याघातादित्यत आह—स्थिराविति । कुत इत्यतः कारणमाह—**यष्टयाधाराविति** । नलिकाया अभ्यन्तर्गर्भंच्छिद्रत्वेऽपि यष्टयाधारत्वात्प्रागुक्तनलिकाद्वयासक्तावित्यर्थः । तथा च नलिकागर्भस्थिताशिथिलाग्रध्रुवयष्टेर्भ्रमणसंभवेन तदाधारभगोलस्य भ्रमणं संभवति । खदृग्गोलाधारनलिकायाः प्रक्षेपानुक्तेस्तद्भ्रमणासंभवात्तयोरपि भ्रमणासंभव इति भावः ॥३१॥

अथाऽऽरब्धोऽधिकारो निरूपित इति फक्किकयाऽऽह—**इति गोलबन्धाधिकार इति** । **स्पष्टम्** ॥

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
याता शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं गोलप्रबन्धरचनाधिकृतिः स्फुटेयम् ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये गोलबन्धाधिकारः संपूर्णः ॥

केदारदत्तः—क्रमोत्क्रम से १२ अहोरात्रवृत्तों के साथ ७ ग्रह कक्षा बन्धन कहा जा रहा है ।

नाडी वृत्त में मेषादि सम्पात से तीन वृत्तों को उत्तर की तरफ और तीन वृत्तों की दक्षिण की तरफ द्युज्या व्यासार्ध से रचना करने से क्रमोत्क्रम गणना से ये १२ बारह द्युज्या व्यासार्ध से उत्पन्न वृत्त होते हैं ।

इसका नाम भगोल = नक्षत्र गोल = राशिवृत्त गोल कहा गया है । इसी को खेचर गोल अर्थात् ग्रह गोल भी कहते हैं । भगोलान्तर्गत खगोल कल्पना से नीचे क्रमशः शनि-गुरु-मंगल-सूर्य-शुक्र-बुध और चन्द्रमा को कक्षावृत्तों की रचना करनी चाहिए ।

मकड़ी के जाल की तरह सर्वोपरि शनिकक्षा से लघु गुरु कक्षा, उससे लघु-मंगल कक्षा वृत्त की तरह गोल बन्धन करना चाहिए ।

इस प्रकार पूर्व में वर्णित यष्टि के आधार से खगोल नलिका (छिद्राकार) से गोल रचना कराकर स्थिर रूप में ग्रह गोल और दृग्गोल भ्रमण से दृष्टियोग्य अनन्त आकाशस्थ अनन्त ग्रह तारकों की स्थिति समझनी चाहिए ॥२९॥३०॥३१॥

इति सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के गोलबन्धाधिकारः—७ की श्री पं० हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

अथ त्रिप्रश्नवासना

अथ त्रिप्रश्नवासना । तत्राऽऽदौ चरस्थानमाह—

उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरात्रवृत्ते चरखण्डकालः ।
तज्ज्याऽत्र कुज्या चरशिञ्जिनी स्याद्व्यासार्धवृत्ते परिणामिता सा ।।१।।

वा. भा.—क्षितिजोन्मण्डलयोर्मध्येऽहोरात्रवृत्ते यावान्कालः स चरखण्डकालः । तत्रोन्मण्डलादुभयतश्चरतुल्येऽन्तरे चिह्नं कृत्वा तयोर्निबद्धसूत्रस्यार्धं कुज्या । सैव त्रिज्यावृत्तपरिणता सती चरज्या स्यादिति त्रिप्रश्ने व्याख्यातम् ।। १ ।।

मरीचिः—अथ महदहः किमहो रजनीतनुरित्यादि दर्शयन् क्षेत्रसंस्थामित्यन्तनिबद्धप्रश्नानामुत्तरं त्रिप्रश्नाधिकारवासनारूपं विना गोलज्ञानमशक्यमतः प्राग्गोलनिबन्धनं निरूप्य तत्प्रश्नोत्तरप्रतिपादनाधिकारस्तदनन्तरारब्धो व्याख्यायते । तत्र महदह इत्यादिप्रश्नोत्तरं विवक्षुः प्रथमं तदुपयुक्तं पूर्वविशिष्टप्रश्नस्य किं चरमित्यस्योत्तरं चररूपप्रतिपादनमुपजातिकयाऽऽह—उन्मण्डलक्ष्मेति । उन्मण्डलक्षितिजवृत्तयोरन्तराले द्युरात्रवृत्तप्रदेशे चरार्धकालः । षष्ट्यङ्कितत्वात् । ननु तज्ज्ञानमशक्यमत आह—तज्ज्येति । तस्य कालस्य याऽर्धज्या, उन्मण्डलादुभयतस्तदन्तरेण द्युरात्रवृत्तचिह्नयोर्बद्धसूत्रार्धं रूपा । अत्र द्युरात्रवृत्ते द्युज्यामितत्रिज्याप्रमाणेनेत्यर्थः । कुज्या । तथा च पूर्वं या कुज्या स्पष्टाधिकारोक्ता सैवैतच्चरस्य ज्या । तच्चापमर्थाच्चरखण्डकालेऽतस्तज्ज्ञानमशक्यं नेति भावः । ननु तथापि द्युज्याप्रमाणसिद्धज्याया उक्तप्रकारेण धनुः कथं भवति । तस्यास्त्रिज्यानुरुद्धत्वेन द्युज्यानुरुद्धत्वाभात् । इत्यत आह—चरशिञ्जिनीति । सा कुज्याप्रमाणेत्यर्थः । कुज्या व्यासार्धवृत्ते परिणामिताऽनुपातेन चरज्या स्यात्—तथा च द्युज्ययेयं कुज्या तदा त्रिज्यया केत्यनुपातात्तज्ज्यायास्त्रिज्यानुरुद्धत्वात्तच्चापमुक्तप्रकारेण युक्तमेवेति भावः । एतेनोन्मण्डलक्षितिजवृत्तसंलग्नद्युरात्रवृत्तप्रदेशयोर्बद्धसूत्रं कुज्येति कस्यचिदुक्तं निरस्तम् । संपूर्णज्यात्वेन तच्चापकरणानुपपत्तेः ।।१।।

केदारदत्तः—निरक्ष क्षितिज और स्वदेशीय क्षितिजों का अन्तरकाल बताया जा रहा है ।

निरक्षदेशीय क्षितिज और अपने क्षितिज के बीच का अहरोत्रवृत्तखण्ड का नाम (अहोरात्रवृत्त में दो देशों का नाम कुज्या याम्योत्तरान्तर का नाम) होता है । त्रिज्यावृत्त परिणत कुज्या का नाम चरज्या होता है ।

उपपत्तिः—क्षेत्र देखिये

ख त थ पू = पूर्वापर वृत्त

नि. पू. स = विषुवद्वृत्त

प च द = व क्षितिज वृत्त

म र घ = निरक्ष क्षितिज वृत्त

स ध ख नि थ = याम्योत्तर वृत्त
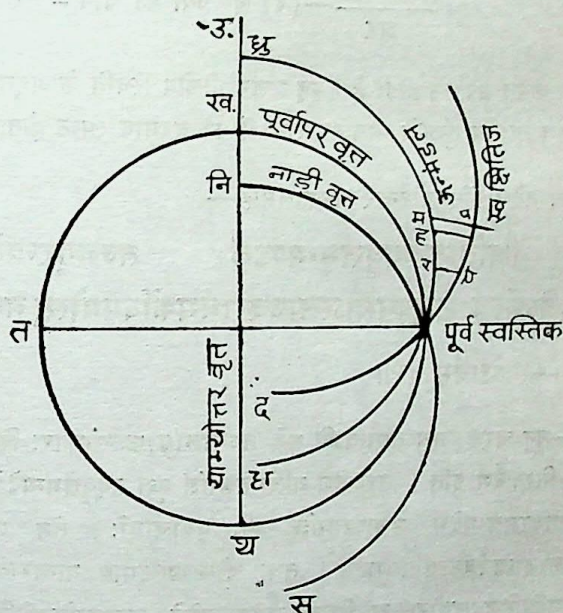
चर = मेषान्त कुज्या = कन्यादि कुज्या स्वह = वृषान्त कुज्या = सिंहादि कुज्या प म = मियुनान्त कुज्या = कर्कादि कुज्या	} उत्तर गोल में अहोरात्र वृत्त में

पू र = मेषान्त क्रान्ति चाप = क्रान्ति चाप की ज्या = क्रान्ति ज्या तथा = चर = कुज्या।

पू ह = वृषान्त क्रान्ति चाप की ज्या = क्रान्ति ज्या = स्वह = कुज्या

पू म = मिथुनान्त क्रान्ति चाप की ज्या = क्रान्ति ज्या तथा प म = कुज्या अहोरात्र वृत्त में।

९०—क्रान्ति चाप = द्युज्या की ज्या = द्यु।

ध्रुव से, ध्रु म, ध्रु ह, ध्रु र = द्युज्या, चाप की ज्या = द्यु अहोरात्रवृत्त सभी के चर = चर, स्वह, और पम।

ध्रु से पू तक ९० चाप की ज्या = त्रिज्या

अनुपात से यदि $\frac{\text{म म} \times \text{त्रि}}{\text{ध्रुम}}$ = (१) चर ज्या का चाप = चर

$\frac{\text{ह्रस्व} \times \text{त्रि}}{\text{धुह}}$ = (२) चर ज्या का चाप = चर

$\frac{\text{र च} \times \text{त्रि}}{\text{ध्रुर}}$—(३) चर ज्या का चाप = चर

आचार्य का कथन उपपन्न होता है। यह उत्तर गोलीय स्थिति के अनुसार होता है। इसी प्रकार दक्षिण गोलीय तुलादि मीनान्त राशियों का चरमान स्पष्ट होता है ।।१।।

इदानीं लंकास्वदेशार्कोदययोरन्तरं चरकालमाह—

निरक्षदेशे क्षितिजाख्यवृत्तमुन्मण्डलं तज्जगुरन्यदेशे ।
स्वे स्वे कुजेऽर्कस्य समुद्गमोऽस्माच्चरार्धमर्कोदययोस्तु मध्ये ।।२।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।२।।

मरीचिः—ननु चरकालस्य तथात्वेऽपि ग्रहे तच्चाल(प)फलसंस्कारः किमर्थमत उपजातिकयाऽऽह—निरक्षदेश इति । निरक्षदेशे यत्क्षितिजसंज्ञं वृत्तं तद्वृत्तमन्यदेशे तत्क्षितिजसंबन्धि निरक्षदेशादुरसूत्रस्थदेश उन्मण्डलसंज्ञं जगुः पूर्वाचार्याः । तेन लङ्काक्षितिजं रेखादेश उन्मण्डलं नान्यत्रैवमन्यत्राप्यूह्यम् । तथा चोन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराल इत्यादिना स्वदेशस्वनिरक्षदेशक्षितिजवृत्तयोरन्तरावस्थितद्युरात्रवृत्तप्रदेशे चरकालोऽस्तीति सिद्धम् । ननु तदन्तरस्य कालत्वं कुतो ग्रहादितद्व्यञ्जकक्रियया संबन्धाभावादत आह—स्वे स्व इति । स्वे स्वे क्षितिजेऽर्कस्य समुद्गम उदयः । एतदुपलक्षणादस्तश्च स्यात् । उन्मण्डले द्युरात्रवृत्तप्रदेशस्थितसूर्यस्य निरक्षदेश उदयास्तौ । स्वदेशे क्षितिजवृत्ते तद्द्युरात्रवृत्ताग्रदेशसक्ते सूर्यस्योदयास्तौ । सूर्य इत्युपलक्षणम् । प्रकृतोपयुक्तत्वाद्वा तद्ग्रहणम् । तस्माद्धेतोरर्कोदययोश्चकारादर्कास्तयोर्निरक्षस्वदेशसंबद्धयोर्मध्येऽन्तराले । चरार्धं सूर्यस्य चरकालः । एतदुपलक्षणाद्ग्रहोदययोस्तदस्तयोर्वाऽन्तरकालो ग्रहचरात्मकः । तथा च ग्रहाणां लङ्कार्कोदयकालिकानां देशान्तरसंस्कारेण स्वनिरक्षदेशार्कोदयकालिकत्वसिद्धिरिति भावः ।।२।।

केदारदत्तः—निरक्षदेशीय और स्वदेशीय सूर्योदयास्तादि काल का नाम चरकाल बताया जा रहा है—

निरक्षदेशीय क्षितिज वृत्त का नाम अनन्त देशों के लिये उस देशाभिप्रायिक इकास नाम उन्मण्डल होता है।

भूपृष्ठीय किसी भी देश के क्षितिज में जो सूर्योदय होता है वह क्वचित् निरक्ष क्षितिजोदय से पहिले और क्वचित् सूर्योदय के अनन्तर में सूर्योदय होता है। निरक्षक्षितिजीय सूर्योदय काल और स्वदेशीय क्षितिजोदय काल का अन्तर चर काल होता है ॥२॥

इदानीं चरफलस्य धनर्णवासनामाह—

आदौ स्वदेशेऽथ निरक्षदेशे सूर्योदयो ह्यस्तमयोऽन्यथाऽतः ।
ऋणं ग्रहेऽस्मादुदये स्वमस्ते फलं चरोत्थं रविसौम्यगोले ॥३॥
याम्ये विलोमं खलु तत्र यस्मादुन्मण्डलं स्वक्षितिजादधस्तात् ।
नाड्याह्वयादुत्तरयाम्यभागौ गोलस्य तावुत्तरयाम्यगोलौ ॥४॥

वा० भा०—सुगमं पूर्वं व्याख्यातं च ॥ ३ ॥ ४ ॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाच्चरघ्नभुक्तिद्युनिशासुभक्तेत्यादिनोक्तचरफलधनर्णसंस्कारवासनामुपजातिकयाऽऽह—आदौ स्वदेश इति । हि यतः । रवावुत्तरगोलस्थिते । स्वदेशे प्रथमं सूर्योदयः । अथ तदनन्तरम् । चरकालेन स्वनिरक्षदेशे सूर्योदयः अत उदयस्थितेरन्यथा वैपरीत्येन सूर्यास्तमयः । निरक्षदेशे प्रथमं सूर्यास्तस्तदनन्तरकालेन स्वदेशे सूर्यास्तः । अत्र स्वक्षितिजवृत्तादुन्मण्डलस्योर्ध्वस्थत्वात् । अस्मात्कारणात् । चरोत्थं चरकालोत्पन्नं फलं चरज्येत्याद्यानीतम् । उदये स्वसूर्योदयकालिकत्वसिद्धये ग्रह ऋणम् । अस्ते स्वदेशसूर्यास्तकालिकत्वसिद्ध्यर्थं धनमुक्तम् । देशान्तरसंस्कृतगणितागतग्रहस्य निरक्षदेशार्कोदयास्तकालीनत्वे पूर्वसिद्धत्वात् ॥३॥

नन्वेवमुत्तरगोले चरफलोनयुतः सूर्योदयास्तयोर्ग्रह इति युक्तिसिद्धं तत्तु दक्षिणगोले ग्रहः सूर्योदयास्तयोस्तद्युतोन इत्युक्तं वासनया सिद्धमित्यत उत्तरं गोलवासनाप्रसङ्गादिन्द्रवज्रयाऽऽह—याम्ये विलोममिति । याम्ये दक्षिणगोलस्थे सूर्ये । विलोममुक्ताद्विपरीत्यम् । खलु निश्चयेन । प्रथमं निरक्षदेशेऽर्कोदयस्तदन्तरं स्वदेशे । सूर्यास्तश्च प्रथमं स्वदेशे तदनन्तरं निरक्षदेश इत्युदयास्तयोर्ग्रहे चरफलं धनमृणमुक्तम् । अत्र हेतुमाह—तत्रेति । दक्षिणगोले यस्मात्कारणादुन्मण्डलं स्वदेशभूगर्भक्षितिजवृत्तादधस्ताद्भवतीति गोले प्रत्यक्षम् । अथ प्रसंगात्ससौम्यगोलोभदलं यदाद्यं याम्योऽपरमित्यत्र वासनामाह—नाड्याह्वयादिति । गोलस्य भगोलस्य । नाडिकावृत्तादुभयतो यावुत्तरदक्षिणदिक्स्थौ गोलार्धभागौ तौ क्रमेणोत्तरदक्षिणगोलौ । स्वदिक्संबन्धात् । तथा च नाडिकावृत्तात्क्रान्तिवृत्तस्योत्तरदक्षिणयोरर्धत्वात्संपातादुत्तरभागे कल्पितमेषादिषड्राशय उत्तरगोलः । संपाताद्दक्षिणभागे कल्पिततुलादिषड्राशयो याम्यगोल इति प्रागुक्तमिति भावः ॥ ४ ॥

केदारदत्तः—स्वदेशोदय कालिक ग्रह साधन—

उत्तर गोल में अपने देशीय क्षितिज में सूर्योदय के अनन्तर निरक्ष देशीय क्षितिज में सूर्योदय होता है । अतः औदयिक ग्रह में चरासु जनित फल ऋण और अस्तकालोदय

ग्रह में चरासुफल धन करने से उत्तर गोल में स्वदेशीय औदयिक या अस्तकालीन ग्रह होते हैं। दक्षिणगोल में पहिले निरक्षदेशीय क्षितिज में अनन्तर चारसजनित काल में स्वदेशीय देश में उदय होने से धन और ऋण करने से स्वदेशीय औदयिक या अस्तकालीन ग्रह स्पष्ट होते हैं।

उपपत्ति:—उत्तरगोल में अपने क्षितिज से ऊपर उन्मण्डल और दक्षिण गोल में ऊनमण्डल के ऊपर स्वक्षितिज है, गोलदर्शन से स्पष्ट है ।। ३।।४।।

इदानीं दिननिशोर्लघुत्वमहत्त्वे हेतुमाह—

अतश्च सौम्ये दिवसो महान्स्याद्रात्रिर्लघुर्व्यस्तमतश्च याम्ये ।
द्युरात्रवृत्ते क्षितिजादधःस्थे रात्रिर्यतः स्याद्दिनमानमूर्ध्वे ।।५।।

वा० भा०—क्षितिजादुपरिस्थेऽहोरात्रवृत्तखण्डे यावान्कालस्तावान्दिवसः। यावांस्तदधस्थे तावतो रात्रिरिति सुगमम् ।। ५ ।।

मरीचिः—अथ चरस्वरूपं प्रतिपाद्य महदह इत्याद्युक्तप्रश्नोत्तरमुपजाततिकयाऽऽह—अतश्च सौम्य इति। सौम्ये रव्युत्तरगोले। अतः स्वदेशे स्वनिरक्षदेशार्कोदयकालात्पूर्वमर्कोदयः स्वनिरक्षदेशार्कास्तकालादनन्तरमर्कास्त इति कारणादित्यर्थः। चकार एवकारार्थः। तेनान्यकारणस्य पुराणोक्तस्य निरासः। दिवसो महान्महाप्रमाणः स्यात्। रात्रिर्लघुरल्पप्रमाणा स्यात्। अत्र महदल्पत्वमितरेतरसापेक्षमिति ध्येयम्। याम्ये रविदक्षिणगोले। अत उत्तरगोलस्थितेः सकाशात्। व्यस्तं विपरीतम्। दिनमल्पप्रमाणं रात्रिर्महतीत्यर्थः। चकारः स्वनिरक्षदेशार्कोदयास्ताभ्यां क्रमेण स्वार्कोदयास्तयोरनन्तरपूर्वसद्भावकारणसूचनार्थकः। ननूक्तोदयास्तयोः पौर्वापर्यभावेन दिनरात्र्योर्महत्त्वमल्पत्वं च कुतः संभवतीत्यत आह—द्युरात्रवृत्त इति। यतः कारणात्क्षितिजवृत्तादधःस्थिते द्युरात्रवृत्तप्रदेशे रात्रिः स्यात्। ऊर्ध्वे क्षितिजवृत्तादूर्ध्वस्थितद्युरात्रप्रदेशे दिनमानं स्यात्। अत एव युक्तं तस्याहोरात्रवृत्तत्वम्। तथा चाहोरात्रवृत्ते भ्रमतः सूर्यस्य क्षितिजवृत्तादूर्ध्वाधरभागयोः क्रमेण दर्शनादर्शनसंभवादुक्तं युक्तमेवेति भावः ।। ५ ।।

केदारदत्तः—उत्तर गोल में चर तुल्य काल के अनन्तर पूर्व में सूर्योदय और दक्षिण गोल में चर तुल्य काल के अनन्तर सूर्योदय होता है। अतः उत्तर में गमनशील ग्रह का दिनमान ३० घटी से अधिक एवं दक्षिण गोल में ३० घटी से कम का दिन मान होता है।

उपपत्ति—अहोरात्रवृत्त ऊनमण्डल के पूर्व सम्पात से याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात निरक्षखमध्य तक का समय १५ घटी = ६ घण्टा है।

यतः १५ घटी + चर घटी = दिनार्द्ध।

अतः २ (१५ घटी + चर घटी) = ३० + २ चर घटी = दिन मान तथा १५ घटी—चर = रात्र्यार्ध।

अतः २ (१५ घटी–चर) = ३० – २ च = रात्रि मान।

तथा ३० + २ चर + ३० – २ च = अहोरात्रमान दक्षिण गोल में होता है। उक्त क्रिया का समीकरण वैपरीत्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। उपपन्न ॥५॥

इदानीं विशेषमाह—

सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे नोन्मण्डलं तत्र कुजाद्यतोऽन्यत्।
षट्षष्टिभागाभ्यधिकाः पलांशा यत्राथ तत्रास्त्यपरो विशेषः ॥६॥

लम्बाधिका क्रान्तिरुदक् च यावत्तावद्दिनं सन्ततमेव तत्र।
यावच्च याम्या सततं तमिस्रा ततश्च मेरौ सततं समार्धम् ॥७॥

वा० भा०—यत्र देशे षट्षष्टे६६रधिकाः पलांशास्तत्रायं विशेषः। अर्कस्योत्तरा क्रान्तिर्यावत्कालं लम्बाधिका भवति तावत्कालं सततं दिनमेव। याम्या क्रान्तिर्यावत्तावत्संततं रात्रिरेव। तद्यथा—यत्र किल सप्ततिः ७० पलांशास्तत्र लम्बो विंशतिः २०। तत्र देशे विषुवद्वृत्तं दक्षिण क्षितिजादुपरिभागविंशत्योत्तरक्षितिजादधश्च तावता। यदा रवेरुत्तरा क्रान्तिर्भागविंशतिर्भवति तदोत्तरक्षितिजे रविबिम्बर्धोदित भूत्वा मध्याह्ने दक्षिणक्षितिजादुपरि याम्योत्तरमण्डले भागचत्वारिंशतोन्नतं भवति। तदा त्रिंशद्घटिका दिनदलम्। अतो दिनं षष्टिः। रात्रिः शून्यम्। ततो द्वितीयदिन उत्तरक्रान्तेरधिकत्वाद्रविरुत्तरक्षितिजं न स्पृशति। एवं प्रतिपर्ययं परमक्रान्ति यावदुपर्युपरि परिभ्रमति। एवं मिथुनान्त उत्तरक्षितिजादुपरि भागचतुष्टयं याति। पुनस्तेनैव क्रमेणावरोहति। विंशतिभागाधिका क्रान्तिर्यावत्तावत्कालं रविः सततं दृश्यः। तावद्दिनमेव। अनयैव युक्त्या दक्षिणगोले क्षितिजादधःस्थेऽर्के संततं रात्रिरिति। अत एव मेरौ षण्मासं दिनम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

मरीचिः—ननु स्वक्षितिजवृत्तस्य सर्वद्युरात्रवृत्तानामर्धे स्थित्यभावाद्दिनरात्र्योरल्पमहत्त्वमेतदुक्तं न युक्तम्। निरक्षदेशे तत्क्षितिजस्य सर्वेषां तेषामर्धे स्थितिसद्भावाद्दिनरात्र्योरल्पमहत्त्वानुपपत्तिरित्यतस्तदुत्तरस्थल्यन्तरस्थितविशेषोद्देशं चोपजातिकयाऽऽह—सदा समत्वमिति। निरक्षदेशे सर्वत्र द्युनिशोरहोरात्र्योः सदा नित्यं समत्वं त्रिंशद्घटीमितत्वम्। तस्याक्षवशान्न्यूनाधिकत्वम्। विषुवद्दिने साक्षदेशेऽपि तयोस्तुल्यत्वं क्षितिजेन तद्द्युरात्रवृत्तार्धच्छेदनादस्तद्वारणार्थ सदेति। तत्र हेतुमाह—नेति। यतः कारणात्तत्र सर्वनिरक्षदेशे। स्वक्षितिजवृत्तात्। अन्यत्। भिन्नम् उन्मण्डलम्। न नास्ति। निरक्षदेशाद्दक्षिणोत्तरसूत्रे ध्रुवद्वयान्तरे तदतिरिक्तनिरक्षदेशासिद्धेः। तथा चेष्टापत्तिः। क्षितिजोन्मण्डलयोरभेदादिति भावः। ननु क्षितिजवृत्तप्रदेशस्य याम्योत्तरवृत्त ऊर्ध्वाधःस्थितविषुवद्वृत्तप्रदेशाभ्यां क्रमेण दक्षिणोत्तरयोर्लम्बांशान्तरितत्वात्षष्टिभागाक्षदेशे जिनांशतुल्यान्तरितत्वम्। तत्र क्षितिजस्य क्रान्तिवृत्तवद्दर्शनात्सर्वद्युरात्रवृत्तानां तत्संबन्धात्तद्देशावधि 'द्युरात्रवृत्ते क्षितिजादधःस्थे

रात्रिर्यतः स्याद्दिनमानमूर्ध्वे' इति दिनरात्रिलक्षणं सूपपन्नम् । यत्र च तदधिकाक्षांशास्तत्र याम्योत्तरवृत्ते विषुवद्वृत्तप्रदेशाभ्यां क्षितिजवृत्तप्रदेशयोर्जिनांशतुल्यलम्बभागान्तरितत्वेन लम्बना(म्बान)धिकक्रान्तिसंबद्धद्युरात्रवृत्तानां क्षितिजसंबन्धाल्लम्बानधिकक्रान्तिपर्यन्तं निगदितरात्रिलक्षणस्य सूपपन्नत्वम् । तदधिकक्रान्तिसंबद्धद्युरात्रवृत्तानां क्षितिजवृत्तसंबन्धाभावात्तत्र कथमुक्तलक्षणं घटत इत्यत आह—षट्षष्टीति । अथोक्तलक्षणेऽव्याप्तिमाशङ्कसे तर्हीत्यर्थः । यत्र देशे । षट्षष्ट्यभ्यधिकाक्षांशाः । अत्राभिग्रहणादधिकपदस्यान्यूनार्थपरतया षट्षष्टिभागाक्षदेशस्यापि तदन्तर्गतत्वं निरस्तमिति ध्येयम् । षडधिकषष्टिभागेभ्योऽधिका अक्षांशास्तत्र देशे । अपरः । अन्यः । विशेषः । अस्ति । अपरो विशेष इत्यनेनोक्तं दिनरात्रिलक्षणमपि तत्रास्तीति सूचितम् । तत्कालाविशिष्टतद्देशानामलक्ष्यत्वान्नाव्याप्तिः । अत्र तु दिनरात्र्योर्लक्षणान्तरस्याप्यभ्युपगमादिति भावः ॥६॥

अथोद्दिष्टं विशेषमुपजातिकयाऽऽह—लम्बाधिकेति । तत्र षष्ट्यधिकाक्षांशदेशे । उत्तरा क्रान्तिर्यावद्यत्कालपर्यन्तं लम्बाधिका स्वदेशलम्बांशान्यूनात्तावत्तत्कालपर्यन्तम् । सततं रात्र्यव्यवहितं दिनम् । चः समुच्चये । तेन लम्बाधिकयाम्यक्रान्तौ वा सततं दिनमित्यस्य निरासः । एवकारात्तदूनोत्तरक्रान्तिकाले तद्देशेऽहोरात्रमस्मद्देशवदितरेतराव्यवहितं भवति । तद्देशे तदधिकक्रान्तिकालस्य योगाभावादित्यर्थः । याम्या दक्षिणा । क्रान्तिर्यावद्यत्कालपर्यन्तम् । स्वलम्बांशादधिका । अत्रापि चः समुच्चये । तेन लम्बाधिकयाम्यक्रान्तिरित्यर्थः । तावत्तत्कालपर्यन्तम् । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । सततं दिनाव्यवहिता । तमिस्रा रात्रिः । अत्रापि तदूनक्रान्तिकाले तद्देशेऽस्मदादिवदितरेतराव्यवहितं द्युनिशं भवतीति ध्येयम् । ननु मेरौ नवतिभागाक्षत्वाल्लम्बांशाभावात्तदधिकन्यूनत्वस्य क्रान्तिभागेष्वसिद्धेस्तत्र कथमिदं लक्षणं संभवतीत्यत आह—तत इति । उक्तकारणाल्लम्बाधिकक्रान्तिरूपात् । एवकारार्थकश्चकारस्तेनान्यकारणनिरासः । मेरौ मेरुमध्यसमसूत्रस्थितभूपृष्ठप्रदेशावलि(च्छि)न्नभूगर्भ इत्यर्थः । सततम् । इतराव्यवहितम् । समार्धं सौरवर्षार्धदिनं रात्रिश्च भवति । तथा च तत्र लम्बांशाभावादेव लम्बस्य शून्यमितत्वसिद्धेस्तदधिकत्वेन सर्वत्र क्रान्तेः प्रसिद्धत्वादुक्तरीत्योत्तरगोल दिनं दक्षिणगोले रात्रिरिति सिद्धम् । गोले सूर्यस्थितिश्चक्रभोगकालात्मकवर्षार्धेनेति समार्धमित्युक्तमिति भावः । अत्रोपपत्तिः—विषुवद्याम्योत्तरोर्ध्वाधःसंपाताभ्यां याम्योत्तरयोः क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तसंपातयोर्लम्बांशान्तरितत्वाल्लम्बतुल्यक्रान्तौ सूर्यस्योदयास्तौ । तत्रोदक्क्रान्त्योदयः । अग्रे तदधिकक्रान्त्या क्षितिजोर्ध्वं परिभ्रमणात् । दक्षिणक्रान्त्या तदस्तः । अग्रे तदधिकक्रान्त्या क्षितिजाधो भ्रमणात् । अतो लम्बाधिकोत्तरदक्षिणक्रान्तौ क्रमेण दिनरात्री । तदूनक्रान्तिसंबद्धाहोरात्रवृत्तानां तत्क्षितिजवृत्तेन खण्डितत्वादर्शनात्तत्तदूनक्रान्तौ द्युरात्रवृत्ते क्षितिजादधःस्थे रात्रिर्यतः स्याद्दिनमानमूर्ध्वं इति लक्षणमविरुद्धमिति तदूनत्वस्यानुद्देशः । अत एवानेन पद्येन तदूनक्रान्तिकाल उत्तरदक्षिणगोलक्रमेण सततं रात्रिदिनमित्यर्थभानमयुक्तम् । प्रत्यक्षविरोधात् ॥७॥

केदारदत्तः—दिन-रात्रि की परमाधिकता और परम लघुता—क्योंकि मात्र उन्मण्डल ही वहाँ एक क्षितिज वृत्त है ।

जहाँ जिन देशों या नगरों के अक्षांश ६६° से अधिक होते हैं वहाँ पर दिन रात्रि-मान में विशेषता होती है । जब तक क्रान्ति, लम्बांश से अधिक रहेगी तब तक उन देशों में सदा दिनमान सूर्य दर्शन रहेगा उत्तरगोल में । तथा जब तक लम्बांश से अधिक क्रान्ति के दक्षिण गोल के प्रदेशों में ग्रह की स्थिति रहेगी तब तक दक्षिण गोल के उन देशों के नगरों में रात्रि ही होगी ।

उपपत्तिः—उदाहरण द्वारा समझाया जा रहा है ।

जिस देश में अक्षांश = ७० तो उस देश में लम्बांश = ९०–७० = २०° । उस देश में निरक्ष क्षितिज वृत्त दक्षिण क्षितिज से २०° ऊपर और उत्तर क्षितिज से २०° नीचे लगा रहेगा ।

जिस समय सूर्य की क्रान्ति २०° के तुल्य होगी उस समय उत्तर क्षितिज में अर्द्धोदित रवि बिम्ब होकर, मध्याह्न में दक्षिण क्षितिज से ऊपर याम्योत्तर वृत्त में रवि ४०° उन्नत रहेगा । अतः उस समय १५ + १५ = ३० दिनार्ध अतः दिनमान = ६० घटी होता है ।

∴ रात्रि मान = ०

इसी के द्वितीय दिन में क्रान्ति की बर्द्धमान स्थिति में सूर्य उत्तर क्षितिज का स्पर्श नहीं करेगा । इस प्रकार परम क्रान्ति तुल्य सूर्य की स्थिति में इस प्रकार मिथुनान्त क्रान्ति १२° + ८° + ४° = २४° में सूर्य उत्तर क्षितिज से ४ अंश ऊपर-ऊपर ही भ्रमण करेगा, पुनः इसी क्रम से परमोत्तरा क्रान्ति की अपचीयता में सूर्य अवरोहण अस्त क्षितिज की ओर जावेगा अतः २० अंश तुल्य क्रान्ति तक सदा सूर्य दर्शन होगा तब तक दिन ही रहेगा । तथा दक्षिणगोल में तब तक सूर्य के क्षितिज से नीचे रहने तक सदा दक्षिण गोल में रात्रि होगी ।

इस प्रकार मेरु = ध्रुव का अक्षांश = ९० लम्बांश = ९०–९० = ० शून्य अतः मेरु में भूपरिधि = ० बिन्दु मात्र भूपरिधि से ध्रुव स्थान में भूपरिधि का अभाव । ध्रुव केन्द्र से ९० अंश की दूरी पर ध्रुव का क्षितिज होने से मेष-वृषभ मिथुनान्त सूर्य में ध्रुव में १५ घटी = ३ महीने तथा कर्क-सिंह-कन्यान्त में ध्रुव में सूर्यास्त होने से १५ घटी = ३ महीने मध्याह्न से सूर्यास्त का समय = ३० घटी = ६ महीने का दिन उत्तर ध्रुव में होगा । तथा तुलादि से मीनान्त ६ महीने तक जब सूर्य रहेगा तो दक्षिण ध्रुव के क्षितिज के ऊपर दक्षिण ध्रुव में दिन रहेगा तो उत्तर ध्रुव में रात्रि रहेगी । गोल दर्शन से स्पष्ट है ।

मेरु का अर्थ स्पष्ट रूप में ध्रुव बिन्दु है। यही मेरु पर्वत भी कहा जाता है। मेरु पर्वत की स्थिति पौराणिक मताधार से संशय शून्य नहीं है। ग्रह खगोल विद्या का मेरु पर्वत ध्रुव ही है उक्त कथन से स्पष्ट है ॥६॥७॥

इदानीं मेरुसंथानमाह—

विषुवद्वृत्तं द्युसदां क्षितिजत्वमितं तथा च दैत्यानाम्।
उत्तरयाम्यौ क्रमशो मूर्धोर्ध्वगतौ ध्रुवौ यतस्तेषाम् ॥८॥
उत्तरगोले क्षितिजादूर्ध्वे परितो भ्रमन्तमादित्यम्।
सव्यं त्रिदशाः सततं पश्यन्त्यसुरा असव्यगं याम्ये ॥९॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥८॥९॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गाद्भवति किं द्युनिशं द्युनिवासिनामित्यादिपद्यार्घोक्तप्रश्नस्योत्तरं विवक्षुः प्रथमं तदुपजीव्यं देवदैत्ययोः क्षितिजस्वरूपं गीत्याऽह—विषुवद्वृत्तमिति। विषुवद्वृत्तं गोलसंधिस्थमहोरात्रवृत्तं द्युसदां मेरुपृष्ठस्थानां देवानां क्षितिजत्वमितं गतम्। देवानां क्षितिजं विषुवद्वृत्तमित्यर्थः। दैत्यानां वडवास्थानाम्। चक्राद्विषवद्वृत्तं तथा क्षितिजम्। ननु साक्षदेश एकं क्षितिजमुभयोर्न दृष्टमित्यतस्तयोस्तत्क्षितिजत्वे कारणमाह—उत्तरयाम्याविति। यतः कारणात्। तेषां देवदैत्यानाम्। क्रमेणोत्तरदक्षिणदिक्स्थौ ध्रुवौ मूर्धोर्ध्वगतौ मस्तकोपर्याकाशभागस्थितौ भवतः। तथा च निरक्षदेशे ध्रुवयोः क्षितिजस्थत्वेन दर्शनात्तन्मध्यस्थितविषुवद्वृत्तं सममण्डलम्। ध्रुवद्वयसक्तमुन्मण्डलं तत्र क्षितिजम्। एवं मेरुस्थाने निरक्षदेशादुत्तर उत्तरध्रुवस्य खमध्यगतत्वेन दर्शनाद्दक्षिणध्रुवस्य स्वाधःस्वस्तिकस्थत्वेनावगमाच्च लङ्काक्षितिजं तत्र सममण्डलम्। तदर्धे तिर्यग्वृत्तमर्थात्तत्र क्षितिजमेव परमदक्षिणदेशवडवास्थाने दक्षिणध्रुवखमध्यस्थत्वादुत्तरध्रुवस्य स्वाधःस्थत्वाच्च लङ्काक्षितिजं सममण्डलं विषुवद्वृत्तं च क्षितिजमेवं च यद्देशे यत्क्षितिजं तदधोभूगोलप्रदेशे तदेव क्षितिजं न विरुद्धमिति भावः ॥८॥

अथ गीत्या प्रश्नोत्तरमाह—उत्तरगोल इति। उत्तरगोले त्रिदशा देवा मेरुपृष्ठस्थाः स्वक्षितिजाद्विषुद्वृत्तरूपादूर्ध्वमुपरि। परितः स्वाभिसमन्तात्। सव्यं भ्रमन्तं सव्यमार्गेण पूर्वादिदिक्क्रममार्गेण प्रवहवायुवशान्मण्डलाकारेण गच्छन्तमादित्यं सूर्यबिम्बं सततमनवरतं पश्यन्ति। अतो देवानामुत्तरगोलो दिन, दक्षिणगोलस्तु तत्क्षितिजादधःस्थत्वात्तेषां रात्रिः। असुरा वडवास्थानस्था दैत्याः। याम्ये दक्षिणगोले। स्वक्षितिजादुपरि स्वाभिसमन्तात्। असव्यगम्। असव्यमार्गेण पूर्वादिदिग्व्युत्क्रममार्गेण प्रवहवशाद्भ्रमन्तमित्यर्थः। सूर्यबिम्बं सततं पश्यन्त्यतो दैत्यानां दक्षिणगोलो दिनमुत्तरगोलश्च तेषां स्वक्षितिजादधःस्थत्वाद्रात्रिः। यद्यपि सव्यासव्यानुक्तावपि देवदैत्यदिनरात्र्योरभिमतयोः सिद्धौ न बाधकं तथाऽपि सदैव नित्यं प्रवहेण वायुना निरक्षदेशोपरिगो भवञ्जरः। स्वपश्चिमाशाभिमुखोऽपि नीयते

सुरासुराणामपसव्यग इति लल्लोक्तं सुरासुरक्रमेणापसव्यसव्यतद्भ्रमणमयुक्तम्। सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषामिति सूर्यसिद्धान्तोक्तिविरोधादित्येतत्सूचिका तदुक्तिरिति ध्येयम्। अथ भूपृष्ठस्थानां यथा भूगर्भक्षितिजाद्भूव्यासार्धोपरि ग्रहादिदर्शनं तथा मेरुस्थानामपि मेरुपृष्ठसमसूत्रेण क्षितिजवृत्ते तदूर्ध्वं च तद्दर्शनादुत्तरगोल इत्याद्युक्तमसंगतम्। मेरोरत्युच्चत्वेन तदवधि ग्रहस्योत्तरगमनासंभवादिति चेन्न। मेरुपृष्ठभागमण्डलस्यातिविस्तीर्णत्वाभावात्तत्पृष्ठवर्तिनां देवानां दैत्यानां चात्युच्चकायत्वेनाधःस्थभूमिगोलस्य स्वाभिमतभूगोलार्धदर्शकत्वकल्पनात्। मेरौ मेषादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति भास्करम्। सकृदेवोदितं तद्वदसुराश्च तुलादिगमिति सूर्यसिद्धान्तोक्तेः। अत्रासुरा इत्यनेन निरक्षदेशाद्दक्षिणदेशे चरसंस्कारो दिनरात्रिव्यवस्था चोक्ताद्वैपरीत्येन। क्षितिजवृत्तावस्थानवैपरीत्यादिति सूचितम्। एतदपि तत्रैव स्फुटम्। उपरिष्टाद्भगोलोऽयं व्यक्षे पश्चान्मुखः सदा। ततस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडिकाः शर्वरी तथा। हानिवृद्धि(द्धी)तथा वामं सुरासुरविभागयोः। मेषादौ तु सदा वृद्धिरुदगुत्तरतोऽधिका। देवांशे च क्षपाहानिर्विपरीतं तथाऽसुरे। तुलादौ द्युनिशोर्वामं कक्षावृद्धी तयोरुभे। देशक्रान्तिवशान्नित्यं तद्विज्ञानं पुरोदितमिति ॥९॥

केदारदत्तः—मेरु संस्थान बताया जा रहा है—

उत्तर ध्रुव में देवस्थान, दक्षिण ध्रुव में राक्षस स्थान होने से, नाड़ीवृत्त दोनों ध्रुवों का क्षितिजवृत्त होता है। क्योंकि दोनों ध्रुव उन दोनों के आकाश खमध्य में होते हैं।

अतः उत्तर गोल में क्षितिज के ऊपर भ्रमण करते हुये देवता लोग, सव्य रूप में, असुर लोग अपसव्य या असव्य रूप में उत्तरगोल में निरन्तर ६ महीने तक एवं दक्षिण गोल में निरन्तर देव दानव, भ्राम्यमाण सूर्य को देखते हैं।

उपपत्तिः—गोल दर्शन से स्पष्ट है कि क्षितिज के ऊपर अहोरात्र क्षितिज सम्पात के उदय सम्पात से अहोरात्र क्षितिज के अस्त सम्पात तक दिन मान कहना परिभाषया समीचीन है। अतः नाड़ीवृत्त के समानान्तर मेषादि ६ अहोरात्र वृत्त नाड़ी वृत्त से उत्तर होने से उत्तर ध्रुव के उदय क्षितिज के ऊपर रहने से वहाँ निरन्तर ६ महीने का दिन एवं तुलादि ६ राशियाँ क्षितिज के नीचे रहने से ६ महीने की रात्रि उत्तर ध्रुव में होती है और ऐसी स्थिति में दक्षिण ध्रुवीय देशों में दिन रात्रि का मान व्यस्त समझना चाहिए ॥८॥९॥

इदानीं दिनरात्रिस्वरूपे पितृदिनं चाऽऽह—

दिनं दिनेशस्य यतोऽत्र दर्शने तमी तमोहन्तुरदर्शने सति।
कुपृष्ठगानां द्युनिशं यथा नृणां तथा पितॄणां शशिपृष्ठवासिनाम्॥१०॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१०॥

मरीचिः—ननु तथाऽपि देवदैत्ययोः सौरवर्षमिताहोरात्रनियमोऽनुपपन्नः। दृश्यादृश्यराशिषट्काभ्यां भगणभोगार्धकालस्यैव दिनरात्रित्वात्। सूर्यकृताहोरात्रस्य सौरवर्षमित-

त्वसंभवेऽपि चन्द्रादिकृताहोरात्रस्य तद्भिन्नभगणभोगकालत्वेन तद्भिन्नमानत्वसिद्धेरित्यतो दिनरात्र्योर्व्यवहारोपयुक्तं लक्षणमन्यदपि वंशस्थेनाऽऽह—दिनं दिनेशस्येति । यतः कारणात् । अत्र जगति । दिनेशस्य सूर्यस्य दर्शने सति दिनं भवति । तथा च ग्रहेषु सूर्यस्यैव तेजोगोलकत्वेन तत्प्रकाशस्यान्यग्रहप्रकाशेभ्योऽधिकत्वात्तस्य चक्षुर्ग्रहणविषयरूपदर्शनं स्वक्षितिजादधःसंचरणे संभवतीति क्षितिजानधः सूर्यसंचरणकालो दिनमिति फलितार्थान्मेघादिव्यवधानादर्शनेऽपि न क्षतिः । अन्येषां तु तादृशकालो गौणदिनं दृश्यकालो वाऽत एव सूर्यस्य दिनेशत्वम् । ननु दिनेशदर्शनकालस्य दिनत्वे रात्रिदर्शनकालस्य रात्रित्वं सिद्धं न दिनाभावरूपता रात्रेः सिद्धेत्यत आह—तमीति । तमोहन्तुः सूर्यस्यादर्शने सति तमी रात्रिर्भवति । तथा च रात्रेस्तमिस्रा तामसीत्यभिधानेनान्धकारप्राचुर्येणावगमात्तत्त्वमन्धकारप्रबलनाशकसूर्यस्यादर्शने भवति । अदर्शनं च क्षितिजाधः सूर्यसंचरणकाल इति तत्कालो रात्रिर्दिनाभावरूपा सिद्धा । सूर्यस्यादर्शनं रात्रिर्दिनं तद्दर्शनात्मकम् । ध्रुवृत्तादुपरि च स्थितोऽर्को दर्शनं स्मृतमिति वृद्धवसिष्ठसिद्धान्तोक्तेः । एवं चाहोरात्रव्यवहारस्य सूर्याधीनत्वाद्देवदैत्ययोः सौरवर्षमहोरात्रं नियतं सम्यगेवोक्तमिति भावः । ननु भूगोलार्धदर्शनसिद्धस्वस्वक्षितिजवृत्तभेदेन दिनरात्र्योः सिद्धौ पितॄणां कथं दिनरात्रिसंभवः । तेषां भूमिस्थत्वाभावेन भूप्रदेशव्यवधानासंभवादित्येतच्च पैत्रं द्युरात्रमित्यनुपपन्नमित्याशयेनोक्तप्रश्नस्य पितृषु किं शशिमासमितं तथेत्यस्योत्तरमाह—कुपृष्ठगानामिति भूगोलपृष्ठसंस्थानां नृणां सचेतनानां यथा सूर्यदर्शनरूपकालोपाधी(धि)क्रमेण द्युनिशमहोरात्रं तथा तद्रूपद्युनिशं राशिपृष्ठवासिनां गोलरूपचन्द्रस्य पृष्ठाधिवासिनां पितॄणामग्निष्वात्तादीनां कर्मिणां भवति । कुपृष्ठगानामित्यनेन मनुष्याणां सूर्यस्य भूगोलाभिभ्रमणकालोपाधिरहोरात्रं भवति । तथा पितॄणां भूस्थत्वाभावेऽपि चन्द्रबिम्बगोलाभितः सूर्यभ्रमणकालोपाधिश्चन्द्रमासमिताहोरात्रं सम्यगुक्तमिति भावः । कुपृष्ठगानां नृणामित्युक्तेन पूर्वावगतं दिनार्धं रात्र्यर्धं च भूगर्भसंबन्धिरविकक्षायोजनैरहोरात्रासवस्तदा भूव्यासार्धयोजनैः के इत्यनुपातजासुभिः क्रमेण हीनं युतं भूपृष्ठस्थानां दिनार्धं रात्र्यर्धं च भवति । भूपृष्ठस्थसूर्योदयास्ताद्यवगतक्षितिजस्याऽऽकाशभूसंयोगाभासस्य भूगर्भक्षितिजात्सर्वतो भूव्यासार्धयोजनैरुच्छ्रितत्वादिति ध्येयम् ॥१०॥

केदारदत्तः—भूपृष्ठ स्थित मानव की तरह चन्द्रपृष्ठस्थ पितरों का दिनमान—जहाँ सूर्यदर्शन है वहाँ दिन, सूर्यदर्शन रहित भूपृष्ठ में रात्रि होती हैं । जैसे भूपृष्ठस्थ प्राणियों की दिन रात्रि होती है उसी भाँति चन्द्रपृष्ठस्थ पितरों की भी दिन रात्रि होती है ॥१०॥

इदानीं संहितोक्तस्याभिप्रायमाह—

दिनं सुराणामयनं यदुत्तरं निशेतरत्सांहितिकैः प्रकीर्तितम् ।
दिनोन्मुखेऽर्के दिनमेव तन्मतं निशा तथा तत्फलकीर्तनाय तत् ॥११॥

द्वंद्वान्तमारोहति यैः क्रमेण तैरेव वृत्तैरवरोहतोनः।
यत्रैव दृष्टः प्रथमं स देवैस्तत्रैव तिष्ठन्न विलोक्यते किम् ॥१२॥

वा० भा०—सांहितिकानां न चेदयमभिप्रायस्तर्हि मेषादेरूर्ध्वं मिथुनान्तं यावैर्य्यैर्वृत्तैरेवाऽऽरोहणं कुर्वन्नपि देवैर्दृष्टस्तैरेव पुनरवरोहणं कुर्वन्किं न दृश्यत इति। अतस्तदसत् ॥११॥१२॥

मरीचिः—नन्वेवं देवानामुत्तरगोलो रात्रिरिति युक्तिसिद्धे-मृगादिराशिद्वयभानुभोगात्षडर्तवः स्युः शिशिरो वसन्तः। ग्रीष्मश्च वर्षा च शरच्च तद्वद्धेमन्तनामा कथितोऽत्र षष्ठः। शिशिरपूर्वमृतुत्रयमुत्तरं ह्ययनमाहुरहश्च तदामरम्। भवति दक्षिणमन्यदृतुत्रयं निगदिता रजनी मरुतां च सेत्यनेनान्यैर्मकरादिषड्भमुत्तरायणं देवानां दिनम्। कर्कादिषड्भं दक्षिणायनं तद्रात्रिरिति कथमुक्तमित्यतस्तदुत्तरं वंशस्थेनाऽऽह—दिनं सुराणामिति। यदिदं सांहितिकैः संहिताप्रणेतृभिः। उत्तरमयनं कल्पितमकरादिषड्भं रविचारसबद्धं सुराणां देवानां मेरुस्थानां दिनं प्रकीर्तितमित्यनेन वासनाविरुद्धमप्यदूष्यं तदुक्तत्वादन्यथा तदुक्तकालशुद्धेरपि तथात्वापत्तेरिति सूचितम्। इतरद्दक्षिणमयनं कल्पितकर्कादिषड्भं रव्याक्रान्तं निशा रात्रिरुक्ता। सुराणामित्यनेन वडवास्थानां दक्षिणायनं दिनमुत्तरायणं रात्रिरिति सूचितम्। तदिदं निरुक्तं दिनोन्मुखे दिनप्रारम्भकालाभिमुखे सूर्ये जाते सति दिनं तत्कालस्य रात्रित्वेऽपि स कालो दिनव्यवहारयोग्यो न रात्रिव्यवहारयोग्यः। मतमङ्गीकृतम्। तथा निशारम्भाभिमुखेऽर्के निशा। दिनेऽपि तद्व्यवहारयोग्यत्वम्। तत्। अङ्गीकृतम्। एवकारादुक्तवासनारूपतदभिप्रायातिरिक्ततदभिप्रायं तन्निरुक्तं न सूचयत्यन्यथा तदनुपपत्तेरित्यर्थः। तथा च मेरुस्थानां कल्पितमेषादिगेऽर्के सूर्योदयः कन्यान्तस्थे सूर्यास्तः। तदन्तराले कर्कादिस्थे क्षितिजात्परमोन्नतत्वेन मध्याह्नमेवं मकरादिस्थे क्षितिजात्परमनीचस्थत्वेन मध्यरात्रमिति वासनासिद्धेरुक्तवासनोक्तत्वेन मेरुस्थानामुत्तरायणं दिनं दक्षिणायनं रात्रिरिति सम्यगेवेति भावः। ननु वस्तुतो मकरादित्रये कर्कादित्रये दिनरात्र्योरभावे तैस्तथा कथमुक्तमित्यत आह—फलकीर्तनयेति। तत्। उत्तरदक्षिणायनं देवदिनरात्रित्वेनोक्तम्। फलकीर्तनाय सदसत्कर्माचरणयोग्यस्वरूपफलयोः संकथनार्थम्। उत्तरायणे देवदिनोक्त्या शुभं कर्म व्रतबन्धादि विधेयम्। दक्षिणायने देवरात्र्युक्त्या विषाग्निशस्त्राद्यसत्कर्म विधेयमिति सूचनार्थं तथोक्तिः। सिद्धान्तपक्षस्तु परं दिनार्धान्निशा निशार्धात्परतो दिनश्रीः। एवं पुराणे गणिते च सौम्यकर्म्यायनाभ्यां सदसत्फलेषु। कर्कं गतेऽर्के हि सुरापराह्णः फलं पुना रात्रिवदाहुरस्य। नक्रं गते चापरात्रमेषामेतत्परं वासरवत्स्मरन्ति। अतश्च कैश्चिद्दशमीष्वपि स्यात्कापालिको वेधविधिः किलोक्तः। मासोऽन्य एवं नियमव्रतादौ पित्र्ये निशार्धे सति पौर्णमास्यामिति **केशवार्कोक्तेश्च**। तथा च **श्रीपतिः**-गृहप्रवेशत्रिदशप्रतिष्ठाविवाहचौलव्रतबन्धपूर्वम्। सौम्यायने कर्म शुभं विधेयं यद्गर्हितं तत्खलु दक्षिणे चेति। अत एव रात्र्यर्धात्पूर्वं संक्रान्तौ पुण्यं परत्रापरदिनपूर्वार्धे पुण्यमर्धरात्रे पूर्वापरदिने मकरकर्कयोः-

संक्रान्तावुत्तरपूर्वकालयोः क्रमेणोत्तरायणकालसंबन्धप्राशस्त्यात्पुण्यत्वमित्युक्तं संगच्छते। अनयैव रीत्या दिनपूर्वापरार्धयोः कल्पितराशिसंक्रान्तौ क्रमेणाऽऽद्यान्त्यदिनं संक्रान्तिदिन-मुत्तरपूर्वमाससंबन्धि यवनैः स्वशास्त्रेऽभिहितमिति भावः ॥११॥

अथ मदुक्ततदाशयव्यतिरेकेण गोलवासनासिद्धरविदर्शनादर्शनप्रयुक्तदिनरात्र्युक्त्या संहितोक्तं संगच्छत इति मन्दावबोधार्थमिन्द्रवज्रयाऽऽह–द्वंद्वान्तमिति। यैरहोरात्रवृत्तैः स्वयंचारविषयैरिनः सूर्यः कल्पितमेषादिमारभ्य द्वंद्वान्तं कल्पितमिथुनराश्यन्तिमभागमारोहति क्रमेण तैरहोरात्रवृत्तैः। एवकारात्तद्भ्रमणमार्गातिरिक्तभ्रमणमार्गनिरासः। उत्क्रमेण कर्कादिमारभ्य कल्पितकन्यान्तमवरोहति। इति गोले रविसंचारप्रसिद्धिः। नन्वेतावता प्रकृते किं दूष[ण]मित्यत आह—यत्रेति। देवैर्मेरुस्थैः स सूर्यः प्रथममारोहणावसरे मेषादित्रये। यत्र भ्रमणमार्गेऽहोरात्रवृत्ते। एवकारात्तदवान्तरप्रदेशानां संग्रहः। दृष्टो नयनज्ञानविषयीकृतः। तत्र तन्मार्गे तत्स्थाने। एवकारात्तदतिरिक्तमार्गनिरासः। सूर्यः। अवरोहणावसरे कर्कादित्रये तिष्ठन् भ्रमन् मेरुस्थैः किं कुतो नाऽऽलोक्यते। तथा च मेरुस्थानां विषुवद्वृत्तस्य क्षितिजत्वात्तदूर्ध्वं कल्पितमेषादिराशिषट्कस्थितोऽर्कः प्रवहेण भ्रमयन्नयनगोचरोऽपि कल्पितमेषादित्रये दृश्यः कल्पितकर्कादित्रये त्वदृश्य इति व्यवधानाभावादयुक्तमन्यथा कल्पितमेषादित्रये तददर्शनापत्तेः। एवं विषुवद्वृत्तरूपक्षितिजादधः कल्पिततुलादित्रये। यन्मार्गे रविर्भ्रमति तन्मार्गेणैव कल्पितमकरादित्रये भ्रमतीति तुलादित्रये न दृश्यो मकरादित्रये च दृश्य इत्यप्ययुक्तम्। क्षितिजव्यवधानस्य तुल्यत्वादन्यथा तुलादित्रये तद्दर्शनापत्तिरिति स्फुटं दूषणमिति भावः। यत्तु यन्मते देवानामुत्तरदक्षिणायने दिनरात्री तन्मते देवा मेरुस्था न किंत्वन्यत्र स्थिता इति चतुर्वेदाचार्योक्तम्। तन्न। भूप्रदेशेऽन्यत्र यस्मिन् कस्मिन्नपि भागे क्षितिजोर्ध्वाधः क्रमेण मकरकर्कादिषड्भभ्रमणाप्रसिद्धेः। नहि यमकोटौ देवा अधिष्ठिताः, क्रान्तिवृत्तं च स्वाकारेण स्थिरं प्रवहवायुभ्रमितम्। येनोत्तरदक्षिणायने देवदिनरात्री सुस्थे। तस्मात्पूर्वोक्तमत्कल्पितवासनयैव सांहितिकोक्तं देवद्युरात्रं सुस्थम्। एतेन मेषवृषभमिथुनसंस्थे दिवसोऽर्के कर्कटादिगे रात्रिः। यैरुदिता विबुधानां मेरुस्थानां नमस्तेभ्यः। येष्वेवोदङ्मेषाद्यादिस्थानेषु सन्निवृत्तोऽपि तेष्वेव कथं दृश्यः पुनर्न दृश्यश्च तत्रस्थ इति वराहमिहिराचार्योक्तं निरस्तमिति सूचितम् ॥१२॥

केदारदत्तः—दिन रात्रि सम्बन्ध में संहिताशास्त्रज्ञों का मत—

मध्य रात्रि के पश्चात् सूर्य दिनोन्मुख हो जाने से मध्य रात्रि से मध्याह्न तक के समय की दिन संज्ञा एवं मध्य दिन के बाद रात्रि की उन्मुखता से, मध्य दिन से रात्रि मध्य तक की रात्रि संज्ञा संहिता शास्त्रकारों के मत से हुई है। इस आधार से उत्तर ध्रुव में कर्कादि से लेकर धन्वन्त तक रात्रि, दक्षिण ध्रुव में दिन तथा मकरादि से मिथुनान्त तक उत्तर ध्रुव में दिन, दक्षिण ध्रुव में रात्रि होती है। यह मत सांहितिकों का है जो गोल युक्ति से बहिर्भूत है ॥११।१२॥

इदानीं पितृदिवसस्योदयास्तादिकालानाह—

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति ।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे दर्शे यतोऽस्माद्द्युदलं तदैषाम् ॥१३॥
भार्धान्तरत्वान्न विधोरधःस्थं तस्मान्निशीथः खलु पौर्णमास्याम् ।
कृष्णे रविः पक्षदलेऽभ्युदेति शुक्लेऽस्तमेत्यर्थत एव सिद्धम् ॥१४॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१३॥१४॥

मरीचिः—स्यादेतत् । कुपृष्ठगानामित्यनेन चन्द्रगोलाभितः सूर्यभ्रमणेन पितृणां चन्द्रमासमितमहोरात्रं व्यवस्थापितं न युक्तम् । चन्द्रविम्बाभितोऽर्कस्य भ्रमणासंभवात् । चन्द्रस्यापि प्रवहभ्रमसद्भावात् । नहि प्रवहेण सूर्यादयो विचन्द्राः पश्चिमा[भि]मुखं भ्रमन्ति । येन तेषामहोरात्रोपपत्तिरिति मन्दाशङ्काया[निरा]करणार्थं तेषां दिनरात्रिविभागं सवासनमुपजातिकेन्द्रवज्राभ्यामाह—विधूर्ध्वभाग इति । ते चन्द्रपृष्ठस्थाः पितरोऽग्निष्वात्तादयः । दर्शेऽमावास्यान्तेऽर्कं स्वमस्तकसमसूत्रेणाऽऽकाशविभागे यतः पश्यन्ति । सूर्यचन्द्रयोस्तुल्यत्वात् । अस्मात्कारणात् तत् । दर्शान्तः । एषां पितृणाम् । द्युदलं मध्याह्नं स्यात् । स एषामिति पाठश्चेत्साधुः । ननु प्रवहभ्रमेण चन्द्रस्योर्ध्वाधस्तिर्यग्भागेषु गमनसंभवात्तत्स्थानां पितृणां प्रपातावश्यंभावात्कथमेषां तत्र स्थितिरित्यत आह—स्वाध इति । स्वस्याधोभागे । सुधादीधिति चन्द्रमामनन्ति वदन्ति पितरः । तथा च चन्द्रस्य भ्रमणेऽपि तेषां तदाधारेणैव स्थितिर्यथा भूगोलेऽस्मादृशामतः स्वाधस्तिर्यग्भागयोस्तेषामवस्थानसंभवान्न प्रपात इति भावः । ननु चन्द्रस्य गोलाकारत्वेन तत्पृष्ठस्याभितः सत्त्वात्तदाश्रयाणां पितृणामस्मद्दृश्यचन्द्रगोलार्धभागेऽपि वसतिसंभवात्कथमेतेषां सूर्यो मस्तकोर्ध्वो भवति । तदाऽर्कस्य चन्द्रादृश्यभावोर्ध्वस्थत्वेन तद्दर्शने चन्द्रस्यैव प्रतिबन्धकत्वादन्यथाऽस्माकमपि रात्रौ सूर्यदर्शनापत्तिरित्यत आह—विधूर्ध्वभाग इति । पितरोऽग्निष्वात्ताद्याः । चन्द्रगोलास्मददृश्यार्धभागमध्ये भूगर्भसमसूत्रस्थे तदभितस्तत्पृष्ठसमभागे वसन्तोऽधितिष्ठन्तः । तथा चास्मद्दृश्यचन्द्रार्धभागे तेषामवस्थानाभावान्नानुपपत्तिरिति भावः । पौर्णमास्यां विधोः सकाशात्षड्राश्यन्तरत्वात्पितरः स्वाधःस्वस्तिकस्थितं सूर्यं चन्द्रकृतव्यवधानाद्यतो न पश्यन्ति तस्मात्कारणादेषां निशीथो मध्यरात्रं स्यात् । खलु निश्चयेन । यथाऽस्माकं देशकालविशेषे सूर्यो दिनार्धे ऊर्ध्वस्वस्तिके भवत्यर्धरात्रेऽधःस्वस्तिके भवति तथा पितृणामपि चन्द्रशराभावे भवति । शरभावे तु तेषामूर्ध्वाधःस्वस्तिकाद्दक्षिणोत्तरतो याम्योत्तरवृत्ते भवत्यपि मध्याह्नमध्यरात्रसंभवोऽस्मादृशामिवेति भावः । अर्थतः । दर्शान्तपौर्णमास्यन्तयोः क्रमेण पितृदिनार्धरात्र्यर्धत्वेनोपपत्तिसिद्धरूपार्थाद्धेतोरित्यर्थः । कृष्णे पक्षदले कृष्णपक्षस्याष्टम्यर्धे रविरस्तमेति प्राप्नोति । दिनान्तो भवतीत्यर्थः । एवकार इत्यर्थे । एवं सिद्धं निष्पन्नम् । यथा निरक्षदेशेऽर्धरात्रमध्याह्नमध्ये सूर्योदयास्तौ तथा पितृणामप्युक्तौ दिनारम्भान्तौ कृष्णशुक्लाष्टम्यर्धे ।

पितरश्चन्द्रबिम्बस्था अग्निष्वात्तादयो रविम्। उदितं कृष्णपक्षार्धं पश्यन्त्यन्यत्र चास्तगमिति शाकल्योक्तेश्च युक्तौ। एतेन कदम्बकुसुमकेसरा इव चन्द्रबिम्बगोले पितृगणाः समन्तात्तिष्ठन्तीति चतुर्वेदाचार्योक्तं निरस्तम्। त्रिंशत्तिथिमितमासस्य पित्र्यहोरात्रत्वेन सिद्धेरुक्तवचनानुपपत्तेः। नहि सर्वेषां पितॄणामुदयास्तावष्टम्यर्धे। चन्द्रबिम्बशौक्ल्यस्य व्यवधानतयाऽदर्शनापत्तेश्च। तथा च प्रवहभ्रमेण सूर्यस्य चन्द्रबिम्बाभितो भ्रमणमनुपपन्नमपि चन्द्राच्छीघ्रगतेः सूर्यः स्वपूर्वगत्या गच्छन्गत्यन्तरेण प्रत्यहं पश्चाद्भवतीति चन्द्राभितः सूर्यं(पूर्व)पश्चिमभ्रमणं नानुपपन्नमिति भावः। यद्यपि चन्द्रबिम्बगोलोर्ध्वभागस्थानां पितॄणां चन्द्रगोलदृश्यादृश्यार्धसंस्थित (धिस्थ) वृत्तस्य क्षितिजत्वात्तत्समसूत्रस्थसूर्यदर्शनस्योदयास्तसंभवादष्टम्यर्धे तदुदयास्तावनुपपन्नौ। नहि पक्षदले तत्समसूत्रस्थत्वेन सूर्यावस्थानम्। सूर्यचन्द्रयोर्नवत्यंशान्तरत्वेन तत्र तस्य तदधःस्थत्वाच्चन्द्रस्य सूर्यकक्षाकेन्द्रत्वाभावात्तत्क्षितिजसमसूत्रस्थसूर्ये नवत्यल्पांशान्तरत्वात्। अत एव शृङ्गोन्नत्यधिकारे चन्द्रस्याष्टयोजनमयश्रवणेनेत्यादिविशेषोक्तिस्तथाऽपि चन्द्रगोलस्याल्पप्रमाणत्वात्पितॄणामत्युच्चकायत्वाच्च त्रिभान्तरितसूर्यसमसूत्रसंबन्धिचन्द्रास्मद्दृश्यगोलार्धान्तर्गतलघुवृत्तस्यैव क्षितिजत्वकल्पनात्। अन्यथा वक्ष्यमाणब्रह्मदिनोपपत्त्यनुपपत्तेः। ब्रह्मणो भूमिगोलार्धाधिकरविसंचारसंबन्धिभूगोलभागस्य दर्शने मानाभावात्। एतेन चन्द्रगोलस्थकेन्द्रसंबन्धिदिनारम्भसमाप्ती चन्द्रात्सूर्यस्य पादोनषट्काष्टभागान्तरितत्वे युक्ते। तत्रार्धशुक्लत्वसंभवात्। पृष्ठे तु चन्द्रव्यासार्धान्तरेण क्षितिजान्तरसंभवात्सूर्यपृष्ठयोजनकर्णेन त्रिज्या तदा चन्द्रबिम्बव्यासार्धयुतचन्द्रस्पृष्टयोजनकर्णेन केत्यनुपातागतफलस्य धनुरंशा नवतिशुद्धास्तदन्तरितत्वे सूक्ष्मेति निरस्तम्। उक्तक्षितिजकल्पनया तदनवकाशात्। अथ कृष्णपक्षः पितृदिनं शुक्लपक्षः पितृरात्रिः। पितृवासरमादितोऽसितं सितपक्षं च वदन्ति शर्वरीमित्युक्तेरिति कथं संगतमिति चेन्न। दिनोन्मुखेऽर्के दिनमेव तन्मतं निशा तथेत्युक्तरीत्या तस्य संगतत्वात्। अन्यथा सवितारमवेक्ष्य शीतगोरुपरिष्टात्पितरः स्वमूर्ध्वगम्। असितान्ततिथौ ततः परं न च पश्यन्ति कथं सिते दल इति लल्लोक्तदूषणापत्तेः। न चैवमेषां पक्षार्धे दिनरात्र्यारम्भाच्चान्द्रमासः पितृदिनमित्युक्तिरसंगतेति वाच्यम्। त्रिंशत्तिथिमितगौणचान्द्रमासस्य तदहोरात्रित्वोक्तिपरत्वात् ॥१३॥१४॥

केदारदत्तः—पितरों का अहोरात्र बताया जा रहा है—

चन्द्रमा के ऊर्ध्व ऊपरी पृष्ठ पर पितर लोग (भौतिक शरीर छोड़ कर जो मृतात्मा रहते हैं।) पितर लोक वासी अपने नीचे पृथ्वी को देखते हैं। जैसे भूपृष्ठ वासी चन्द्रमा को ऊपर देखते हैं वैसे ही चन्द्रपृष्ठ वासी पृथ्वी को आकाश में अपने ऊपर देखते हैं। अर्थात् चन्द्रपृष्ठ वासियों के लिए आकाशस्थ पृथ्वी चन्द्रमा की तरह देखी जाती है।

भू गर्भाभिप्रायिक अमान्त समय में चन्द्रपृष्ठस्थ मृतात्मा अपने अपने स्थान से ऊपर सूर्य को देखते हैं इसलिए अमान्त समय में चन्द्रपृष्ठ में मध्याह्न अर्थात् दिनार्ध होता है।

अमांन्त समय से ६ राशि की दूरी पर पूर्णान्त होने से पूर्णान्त में पितृलोकाभिप्रायिक निशीथ अर्थात् रात्र्यर्ध पितृलोक में होता है।

इस प्रकार निश्चित स्थान से ३ राशि ९०° आगे अर्थात् कृष्णपक्ष की साढ़े सप्तमी को पितृलोकाभिप्रायिक क्षितिज में सूर्योदय होता है और इसी सिद्धान्त से शुक्लपक्ष साढ़े सप्तमी ($७\frac{१}{२}$) को पितृलोकाभिप्रायिक चन्द्र पृष्ठ में सूर्यनारायण अस्त होते हैं।
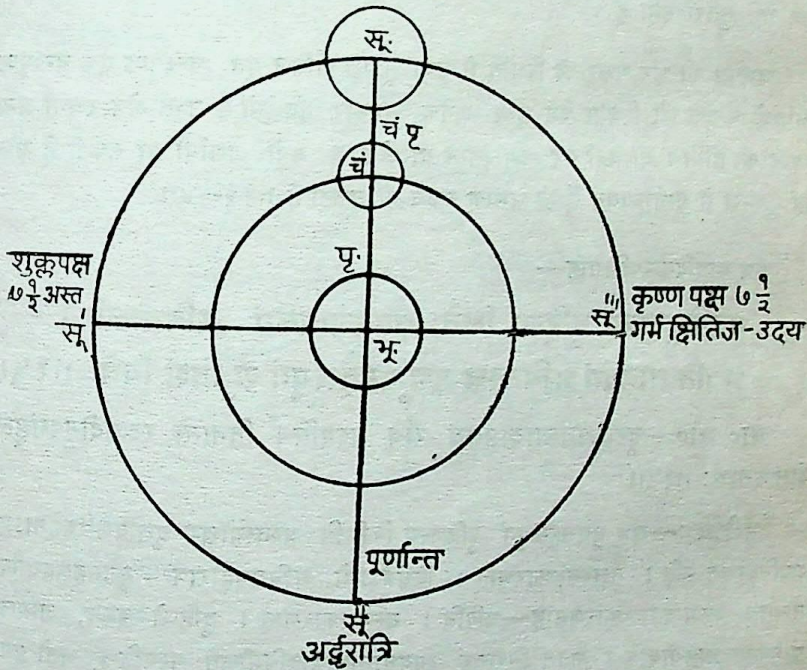
उत्पत्तिः—चित्र देखिये—

सूर्य कक्षा में गर्भाभिप्रायिक अमान्त काल में सू=सू = मध्याह्न या अमान्त

चन्द्र कक्षा में च = अमान्त

पृथ्वी = पृ०

भू = भूगर्भ केन्द्र

सू भू सू = पृथ्वी में गर्भ क्षितिज।

सू सू' = अमान्त के वाद की साड़े सात तिथियाँ

पूर्णान्त = सू'' = अर्द्ध रात्रि।

सू = पितृलोकाभिप्रायिक सूर्योदय = $७\frac{१}{२}$ कृष्ण पक्ष की $७\frac{१}{२}$ तिथियाँ=चं०-सू०=९०°

दशान्त समय में चन्द्र पृष्ठाभिप्रायिक ख मध्य के शिर में सूर्य बिम्ब होने से चन्द्रपृष्ठ में मध्याह्न देखा जाना क्षेत्र दर्शन से स्पष्ट है।

विशेष—अमान्त काल अनेक प्रकार का होता है।

सूर्य भ्रमण मार्ग और और चन्द्र भ्रमण मार्ग की एकता अर्थात् चन्द्रशर के अभाव की स्थिति के समय उक्त क्षेत्र सुतरां समीचीन है। किन्तु चन्द्रमा अपने विमण्डल में भ्रमण करता है, चन्द्र बिम्बोपरि कदम्ब सूत्र जहाँ क्रान्तिवृत्त में लगगां उस जगह पर सूर्य बिम्ब होने से भूपृष्ठ से चन्द्र सूर्योपरिगत रेखा में दोनों सूर्य चन्द्र बिम्बों की स्थिति स्वल्पान्तर शर के अवसर पर ठीक हो सकती है। चन्द्रमा के शराभाव विशिष्टअमान्त में उक्त क्षेत्र सुतरां सही है।

चन्द्रमा की शर सत्ता की स्थिति में तथा भूपृष्ठ क्षैतिज एवं चन्द्रपृष्ठ एवं चन्द्रपृष्ठ क्षितिजों में वृत्त की स्थिति वश अन्य अनेक संस्कार विशेषों से उक्त क्षेत्र रचना अन्य प्रकार की होगी। जो यहाँ पर व्याख्यान या क्षेत्र से नहीं दर्शायी जा सकती है और यह गुरुमुख से ग्रन्थाध्ययन से ही सम्यक् स्पष्ट हो सकती है ॥१३-१४॥

अत्र ब्रह्मदिनोपपत्तिमाह—

यदतिदूरगतो द्रुहिणः क्षितेः सततमाप्रलयं रविमीक्षते ।
भवति तावदयं शयितश्च तद्यु गसहस्रयुगं द्यु निशं विधेः ॥१५॥

वा० भा०—दूरस्थितत्वादाप्रलयं रविं पश्यति। दिनान्ते रव्यादीनुपसंहृत्य शेत इत्यर्थः ॥१५॥

मरीचि :—अथ युगसहस्रयुगं द्रुहिणस्य किमिति प्रश्नस्योत्तरं द्रुतविलम्बितेनाऽऽह-यदतिदूरगत इति। तत्तस्मात्कारणात्। विधेर्ब्रह्मणो द्युनिशमहोरात्रं युगसहस्रद्वयमुक्तं तस्मात् कस्मादतः कारणमाह—यदिति। यस्मात्कारणात्। द्रुहिणो ब्रह्मा, आप्रलयं प्रागुक्तब्रह्मप्रलयावधि। सततं निरन्तरं व्यवधानाभावाद्रविमीक्षते पश्यति। अतो ब्रह्म-प्रलयकालावधि युगसहस्रं ब्रह्मणो दिनं भवति। ननु मेरुस्थानां व्यवधानाद्यथा षण्मासमिता रात्रिर्दिनं च तथैतस्य तत्स्थत्वेन कथं द्युनिशं न स्यात्क्षितिजव्यवधानस्य तुल्यत्वादित्यत आह—अतिदूरगत इति। क्षितेर्भूगोलपृष्ठादत्युच्चस्थानस्थितः। तथा चास्य मेरुशिखरेऽ-वस्थानान्मेरोरेवात्युच्छत्वेन तच्छिखरस्य ततोऽप्यच्चत्वेन तत्कायस्याप्यतिदीर्घत्वाच्च। भूगोलार्धाधिकग्रहसंचारसंबन्धिभूगोलभागस्य दर्शनाद्रविदर्शने व्यवधानासिद्धिरिति भावः। नन्वव्यवधानाद्ब्रह्मप्रलयानन्तरमपि रविदर्शनसंभवादा प्रलयमेव कथं तद्दर्शनं युक्तम्। इष्टापत्तौ सदोदितत्वापत्ते रात्र्यनुपपत्तेश्चेत्यत आह—भवतीति। तावत्। ब्रह्मप्रलय-संबन्धियुगसहस्रमितकालपर्यन्तम्। तदनन्तरम्। अयं ब्रह्मा रविद्रष्टाऽपि शयितो निद्रितः स्वेच्छया भवति। अतो युगसहस्रं तद्रात्रिरिति चार्थः। तथा च व्यवधानाभावेऽपि स्वयं निद्रावशात्तदनन्तरं तावत्कालपयन्त न पश्यत्यतोऽस्य दिनरात्री स्वेच्छाजनिते आगम-प्रमाणसिद्धे। अन्यथा पुराणोक्तदेवदिनवत्सदा दिनत्वापत्तेरिति भावः ॥१५॥

केदारदत्तः—ब्रह्मदिन अर्थात् आप्रलयान्त सूर्य दर्शन—

पृथ्वी से अत्यन्त (अनन्त) दूर स्थित ब्रह्मा, आप्रलय पर्यन्त सूर्य दर्शन करता है अर्थात् ब्रह्मा का एक हजार युग का एक दिन और एक हजार युग की एक रात्रि अर्थात् २ हजार युग प्रमाण का १ दिन अर्थात् अहोरात्र होता है। दिनान्त के अनन्तर रात्रि शयन की तरह ब्रह्मा १ हजार युग के दिनान्त में सारी सृष्टि का समापन कर एक कल्पतक शयन, करने के उपरान्त पुनः नवीन सृष्टि रचना और दूसरे कल्प का प्रारम्भ करता है।

क्षेत्र देखिये—
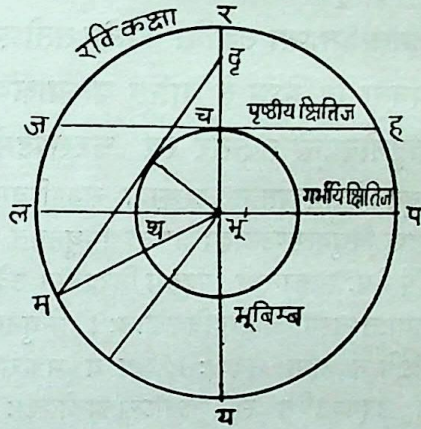
रजम य प ह = सूर्य कक्षा।

ल म = दृश्यांश।

च ह = ह उ।

भू = भूकेन्द्र य थ भू ग = भू बिम्ब।

२४ अंश = जिनांश।

दृश्यांश = ल म।

जिनांश + कुच्छन कला = ज ल + ल म = योग।

अनुपात से $\frac{\text{भू ब्या } \frac{1}{2} \times \text{त्रि}}{\text{योग कोटिज्या}}$

अतः योग—भू व्या द० = दृ उ = च दृ।

अर्थात् विषुवद्वृत्त रूप गर्भ क्षितिज से नीचे २४ अंश तक दृश्यांश मान मानकर इस से जो द्रष्टा की उन्नति च दृ तुल्य की भूगर्भ से ऊँचाई से द्रष्टा के दृष्टि पथ में सदोदित सूर्य दर्शन होता रहेगा।

अर्थात् मानव मान के एक सहस्र युग में आकाश कक्षा सम्बन्धीय क्षितिज में सूर्य का अस्त पुनः इतने ही काल तक अन्धकार जिसे महा प्रलय कहते हैं होता रहता

है । इसी को एक कल्प कहिए । दूरद्रष्टा ऋषियों की बुद्धिस्थ इस खगोल ज्ञान के आधार पर, ही "पुराकल्पेऽपि" पूर्व कल्प में भी "ऐसा होता था" इत्यादि विषय में सविशेष कहा गया है ॥१५॥

इदानीमुदयवासनामाह—

यो हि प्रदेशोऽपममण्डलस्य तिर्यक्स्थितो यात्युदयं तथास्तम् ।
सोऽल्पेन कालेन य ऊर्ध्वसंस्थोऽनल्पेनसोऽस्मादुदया न तुल्याः ॥१६॥
य उद्गमे याम्यनता मृगाद्याः स्वस्वापमेनापि निरक्षदेशे ।
याम्याक्षतस्तेऽतिनतत्वमाप्ता उद्यन्ति कालेन ततोऽल्पकेन ॥१७॥
कर्क्यादयः सौम्यनता हि येऽत्र ते यान्ति याम्याक्षवशादृजुत्वम् ।
कालेन तस्माद्बहुनोदयन्ते तदन्तरे स्वं चरखण्डमेव ॥१८॥

वा० भा०—विषुवदहोरात्रवृत्तानि लङ्कायां समपश्चिमगानि । राशिवलयं तु मकरादौ परमक्रान्त्या विषुवन्मण्डलाद्दक्षिणतो मिथुनान्त उत्तरतो लग्नमतस्तिरश्चीनम् । तत्रापि मेषः स्वक्रान्त्या महत्या तिरश्चीन उदेति, अतोऽल्पकालोदयः, । वृषभस्तदल्पयाऽतस्तस्मात्किंचिदधिककालः । मिथुनस्तदल्पयाऽस्तदधिककालः । एवं निरक्षेऽपि न समा उदयाः । अथ ये मकरादयो याम्ये नतास्ते याम्याक्षवशादतिनता उद्गच्छन्ति स्वदेशेऽतोऽल्पकालोदयाः । ये तु कर्क्यादयः स्वस्वक्रान्त्या सौम्ये नतास्ते याम्याक्षवशादृजुत्वं गता उद्यन्ति । अतश्चिरकालोदयाः । लङ्कास्वदेशोदययोरन्तराले स्वं चरखण्डमेव भवति । यतस्तत्क्षितिजयोरन्तराले चरम् ॥१६॥१७॥१८॥

मरीचिः—अथ भवलयस्य किलार्कलवाः समा इत्याद्युक्तप्रश्नस्येन्द्रवज्रयोत्तरमाह—यो हि प्रदेश इति । अस्मात्कारणात् । उदयाः कल्पितराश्युदयकालासवः । उपलक्षणाद्रा-(श)श्यस्तकालासवः । न तुल्यास्तुल्यप्रमाणा न भवन्ति । हि यस्मात्कारणात् । अपममण्डलस्य पूर्वप्रतिपादितक्रान्तिवृत्तस्य यः प्रदेशः त्रिंशद्भागात्मकः कल्पितराशिस्तिर्यक्स्थितः । प्रवहगत्यनुरोधेन तिरश्चीनतया स्थितः । स राशिरल्पेनास्वात्मककालेन । उदयं क्षितिजप्राग्भागसक्तत्वम् । अस्तं क्षितिजापरभागसक्तत्वम् । तथेति समुच्चये । याति प्राप्नोति । यः क्रान्तिवृत्तस्थकल्पितराशिः । ऊर्ध्वसंस्थः । प्रवहवाय्वंशगमनमार्गावियवप्रदेशाकारेण किंचित्तदासन्नतया वा स्थितः स राशिः । अनल्पेन बहुना कालेनास्वात्मकेनोदयमस्तं च प्राप्नोति । तथा च क्रान्तिवृत्तं यदि विषुवद्वृत्ताकारं स्यात्तदा खलु प्रवहेण स्वकारेण भ्रमक्रमेणैव क्षितिजवृत्ते तदवयवः संलग्नो भवतीति राशीनामुदयाः पञ्च घट्यो नाक्षत्रास्तुल्याः संभवन्ति । न चैवं सूर्यस्य दक्षिणोत्तरगमनात्त्रिंशद्घटीमितेतरदिनमानोपलम्भाच्च । यदि तु क्रान्तिवृत्तमुन्मण्डलाकारं स्यात्तदा निरक्षाक्षितिजे युगपदेव संलग्ना राशयः स्युरित्युदयास्त-

कालमानासंभवः। न चैवं सूर्यस्य ध्रुवतारास्थत्वादर्शनात्। अतः प्रतिपादितक्रान्तिवृत्तभागस्तिरश्चीनोऽल्पकालेनैव क्षितिजवृत्तसंबद्धो भवति। सरलभागस्तु बहुकालेनैव संबद्धो भवतीति निरक्षोदया मेषादीनां त्रयाणामतुल्याः। यथोत्तरमधिकासवः। कर्कादीनां त्रयाणां यथोत्तरं न्यूनास्त एवोदयकालास्तुलादित्रयाणां मेषादित्रयोदयकालाः, । अस्तकालाश्चोदयकालाः। अस्तकालाश्चोदयकालाश्चोदयकालतुल्या इति भावः ॥१६॥

अथ न [त] विषयेष्वखिलेष्वपि ते समा इत्युक्तप्रश्नस्योत्तरं विवक्षुः प्रथमं मकरादिषड्राशिस्वदेशोदयकालानां निरक्षदेशोदयकालान्न्यूनत्वे युक्तिमुपजातिकयाऽऽह-य उद्गम इति। निरक्षदेशे मृगाद्या मकरादयः षड् ये राशयः क्रान्तिवृत्तस्थाः कल्पिताः। उद्गमे प्रवहवशात्पश्चिमाभिमुखगमने। स्वस्वापमेन निजनिजक्रान्त्या। असिशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थैवकारपरः। द्विराशिक्रान्त्यूनत्रिराशिक्रान्तिर्मकरराशेः क्रान्तिः। एकराशिक्रान्त्यूनद्विराशिक्रान्तिः। कुम्भस्यैकराशिक्रान्तिर्मीनस्य। मेषस्यैव (क) राशिक्रान्तिः। वृषस्यैकराशिक्रान्त्यूनद्विराशिक्रान्तिः। मिथुनस्य द्विराशिक्रान्त्यूनत्रिराशिक्रान्तिस्तथेति फलितार्थः। याम्यनता अग्रिमराश्यारम्भप्रदेशात्पूर्वराशिप्रारम्भप्रदेशो दक्षिणस्यां दिशि नत इत्युत्तरोत्तरं षदड्क्षिणदिङ्नतास्त एते मकरादयः षड्राशयः। याम्याक्षतः। दक्षिणपलांशवशात्स्वदेशे निरक्षदुत्तरस्थितेऽतिनतत्वं पूर्वापेक्षयाऽधिकदक्षिणदिङ्नम्रत्वमाप्ताः प्राप्ताः : निरक्षादेशस्य स्वदेशान्नतत्वेन स्वगोलेऽधिकं ते तिरश्चीना भवन्तीति प्रत्यक्षमित्यर्थः। अतः साक्षदेशे। ततो निरक्षदेशोदयकालादल्पकेन। अत्र कप्रत्ययेनाल्पपदस्यानधिकार्थत्वं निरस्तम्। तेन तन्न्यूनेनैव न समेनेत्यर्थः। कालेनास्वात्मकेन। उद्यन्ति प्राक्क्षितिजेऽवतिष्ठन्ति ॥१७॥

अथ कर्कादिषड्राशिस्वदेशोदयकालानां निरक्षोदयकालाधिकत्वे युक्तिं निरक्षस्वदेशोदयकालयोरन्तरस्वरूपं चोपजातिकयाऽऽह—कर्क्यादय इति। हि यतः कारणात्। अत्र निरक्षदेशे कर्क्यादयः षट् क्रान्तिवृत्तस्था ये कल्पिता राशयः सौम्यनताः स्वस्वक्रान्त्या। पूर्वोक्तयोक्तरीत्योत्तरदिशि नताः सन्ति। ते राशयः। याम्याक्षवशात्स्वदेश ऋजुत्वं सरलतां यान्ति गच्छन्ति। तस्मात्कारणात्। निरक्षदेशोदयकालाद्बहुनाऽधिकेन कालेन। उदयन्ति प्राक्क्षितिजेऽवतिष्ठन्ति। याम्याक्षेत्यनेन निरक्षदेशाद्दक्षिणभाग उत्तराक्षांशवशात्कर्कादयोऽधिकं सौम्यनताः। मकरादयस्ते सरला इति वैपरीत्यात्तदुदयाः क्रमेण न्यूनाधिका भवन्तीति ध्येयम्। ननु सामान्यतो न्यूनाधिकोदयकालज्ञानेऽपि विशेषतस्तदन्तरज्ञानाभावान्निरक्षोदयकालेभ्यः स्वदेशोदयज्ञानं कथमुक्तमित्यत आह—तदन्तरदिति। स्वं स्वराशिसंबन्धि। चरखण्डं स्वदेशीयम्। एवकारात्तदतिरिक्तनिरासः। तदन्तरं तयोर्निरक्षस्वदेशराश्युदयकालमानयोरन्तरम्। तथा च क्षितिजे तदुदयात्क्षितिजान्तरालकालस्य चरत्वाच्चरार्धमेव स्वीयं तदन्तररूपमतश्चरखण्डैः स्वदेशोदयानां निरक्षोदयेभ्यः साधनं स्पष्टाधिकारोक्तं युक्तमेवेति भावः ॥१८॥

केदारदत्तः—क्रान्तिवृत्तगत राशियों का उदयास्तगत समय ज्ञान—

मेषादि १२ अहोरात्रवृत्त निरक्षदेश में नाडी वृत्त के समानान्तर होते हैं। क्रान्तिवृत्त

मकरादि में परम क्रान्ति के तुल्य दक्षिण में, और मिथुनान्त में क्रान्तिवृत्त का नाडीवृत्त उत्तर में गमन होता है। तिसपर मेषराशि की अधिक क्रान्ति होने से मेष राशि अल्पोदय कालिक, वृषभ की क्रान्ति मेष क्रान्ति से कम क्रान्ति होने से वृषभोदय काल मेषोदय काल से कुछ अधिक होता है। इसी प्रकार कर्क, सिंह, कन्या राशियों का उदय मान क्रमशः कम, एवं तुला, वृश्चिक, धनूराशियों का उदय मान क्रमशः उत्तरोत्तर कम होता है। क्रान्ति की उत्तरोत्तर ह्रास वृद्धि क्रम से वृद्धिगत क्रान्ति में उदय मान कम और ह्रास-गत से क्रान्ति में उदय मान अधिक होते हैं। पूर्व क्षेत्र में क्षितिज उन्मण्डल के मध्यान्तवर्ती चर खण्ड से सम्बन्धित राशियों का उदयादि ध्यान से समझना चाहिए ।।१६।१७।१८।।

अथ चरखण्डैरूनाधिकत्वं भ्रमणोपरि यथा प्रतीयते तथाऽऽह—

भचक्रपादास्तिथिनाडिकाभिः पृथक्समुद्यन्ति निरक्षदेशे ।
चक्रार्धमाद्यं च तथा द्वितीयं सर्वत्र पूर्णाग्निमिताभिरेव ।।१९।।
मेषादेर्मिथुनान्तो नाडीभिस्तिथिमिताभिरुद्वृत्ते ।
लगति कुजे तदधःस्थे प्रथमं ताभिश्चरोनाभिः ।।२०।।
कन्यान्ताद्धनुषोऽन्तस्तिथिमितनाडीभिरुद्वलये ।
लगति कुजे चोर्ध्वस्थे पश्चात्ताभिश्चराढ्याभिः ।।२१।।
तद्रहितैस्त्रिंशद्भिः कन्यान्तो वा झषान्तो वा ।
चरखण्डैरूनाढ्यास्तेन निरक्षोदयाः स्वदेशे स्युः ।।२२।।
क्षितिजेऽजादिं कृत्वा गोलं भ्रमयन्प्रदर्शयेत्सर्वम् ।
उक्तमनुक्तं चान्यच्छिष्याणां बोधजननार्थम् ।।२३।।

वा० भा०—उदयवासना स्फुटगत्यध्याये कथितैव। इह तु मेषादिं क्षितिजे कृत्वा गोलं भ्रमयन्क्रमेण यदुक्तं वक्ष्यमाणं च सर्वं दर्शयेत्। तत्र सर्वं दृश्यत इत्यर्थः ।।१९।२०।२१।२२।२३।।

मरीचिः—ननु स्वदेशनिरक्षक्षितिजयोरन्तराले संपूर्णचरस्य सत्त्वाद्वृषमिथुनौ राशि-द्वयराशित्रयचराभ्यामूनौ। न चरखण्डाभ्याम्। ततः क्षितिजान्तररूपत्वाभावादित्यतस्तदभि-प्रायं विवक्षुः प्रथमं नियमद्वयमुपजातिकयाऽऽह—भचक्रपादा इति। निरक्षदेशे भचक्रपादाः क्रान्तिपातात्क्रान्तिवृत्तपदानि। कल्पितमेषादित्रयं कर्कादित्रयं तुलादित्रयं मकरादित्रयमिति रूपाणीत्यर्थः। पृथक्। प्रत्येकं पञ्चदशघटिकाभिः समुद्यन्ति। उपलक्षणादुदयास्तं समुपया-न्तीत्यर्थः। क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तयोः प्रवहगोलार्धार्धे ध्रुवसक्तत्वेन स्थितत्वात्। निय-मान्त—चक्रार्धमिति। आद्यं क्रान्तिदात्रदिकं चक्रार्धं क्रान्तिवृत्तार्धम्। कल्पितमेषादिराशिष-ट्कम्। पूर्णाग्निततभिस्त्रिंशन्मिताभिर्घटीभिः सर्वत्र साक्षनिरक्षसाधारणदेशे चकारादुदेति।

उपलक्षणादस्तं च गच्छति । द्वितीयं सषड्भक्रान्तिपातादिकं क्रान्तिवृत्तार्धं कल्पिततुलादिराशिषट्कम् । अथेति पमुच्चये । एवं सर्वत्र । त्रिंशद्घटीभिरुदयास्तं गच्छतीत्यर्थः । मेषादिन्यक्रान्तियोर्विषुवन्मण्डले स्वनिरक्षस्वदेशक्षितिजसंपातयोरुदयास्तसंभवात् । एतेन साक्षे पूर्वोक्तं न संभवति । क्षितिजस्योन्मण्डलभिन्नत्वादित्युक्तमिति ध्येयम् ॥१९॥

ननूक्तनियमाभ्यामाशङ्कोक्ता कथं निरस्तेत्यत आर्ययाऽऽह—मेषादेरिति । मेषादेः उन्मण्डलपूर्वभागलग्नक्रान्तिपातस्थानसंबन्धिकालादित्यर्थः । मिथुनान्तः । क्रान्तिपातात्क्रान्तिवृत्ते पूर्वानुक्रमेण त्रिभान्तरितप्रदेशः पञ्चदशघटीभिरुन्मण्डले पूर्वभागे स्वस्थाने लगति । कुजे । स्वक्षितिजवृत्ते पूर्वभागे ताभिः पञ्चदशघटीभिश्चरोनाभी राशित्रयचरकालरहिताभिः प्रथममुन्मण्डलतल्लग्नकालात्पूर्वकाले लगति । अत्र हेतुभूतं कुजविशेषणमाह—तदधःस्थ इति । उन्मण्डलात्स्वक्षितिजस्य मेषादित्रयमार्गाधःस्थितत्वादित्यर्थः । तथा च राशित्रयचरकालोनितपञ्चदशघटीभिर्मिथुनान्तस्य स्वक्षितिजपूर्वभागसंबद्धोन्मण्डलप्रदेशलग्नमेषादिकालात्स्वक्षितिजपूर्वभागे स्वस्थाने संलग्नत्वादर्थसिद्धमेव स्वचरखण्डोना निरक्षोदया मेषादित्रयाणां स्वदेशोदयाः स्युरिति भावः ॥२०॥

अथैवं तुलादित्रयाणां स्वचरखण्डयुता निरक्षोदयाः स्वदेशोदया भवन्तीत्यत्र युक्तिमुपगीत्याऽऽह—कन्यान्तादिति । कन्यान्तात् । उन्मण्डलक्षितिजपूर्वदिक्स्थसंपातसंलग्नसषड्भक्रान्तिपातसंबन्धिकालादित्यर्थः । धनुषः । क्रान्तिवृत्ते सषड्भक्रान्तिपातस्थानात्तृतीयराशेरन्तोऽन्तिमप्रदेशः पञ्चदशघटिकाभिः । उन्मण्डले पूर्वभागे परमक्रान्त्यन्तरेण लगति । कुजे स्वक्षितिजे पूर्वभागे ताभिः पञ्चदशघटीभिश्चराढ्याभिः । राशित्रयचरकालसहिताभिः पश्चात् । उन्मण्डलतल्लग्नकालान्तरं लगति । अत्र हेतुभूतं कुजविशेषणमाह—चेति । चकारादुन्मण्डलादित्यर्थः । ऊर्ध्वस्थे तुलादित्रयमार्गे क्षितिजस्योपरि स्थितत्वादित्यर्थः । तथा च राशित्रयचरकालाधिकपञ्चदशघटीभिर्धनुरन्तरस्य स्वक्षितिजपूर्वभागे स्वस्थाने संलग्नत्वात् । स्वतःसिद्धं चरखण्डयोजनं तत्स्वदेशोदयसिद्ध्यर्थमिति भावः ॥२१॥

ननूक्तरीत्या कर्कादित्रयाणां स्वचरखण्डोनतथै(यै)व स्वदेशोदया मकरादित्रयाणां च स्वचरखण्डयोजनतयैव सिद्धाः । न योजनन्यूनत्वाभ्यामित्यतस्तदुत्तरमुपसंहारं चोद्गीत्याऽऽह—तद्रहितेति । तद्रहितैस्ताभिश्चरोनाभिः पञ्चदशघटीभिश्चरयुताभिः पञ्चदशघटीभिर्वा हीनैस्त्रिशद्भिस्त्रिशद्घटिकाभिः । अत्र त्रिंशद्भिरिति पाठः प्रामादिकः । विंशत्याद्याः सदैकत्व इत्यमरोक्तेः । खहुताशैरिति पाठश्चेत्साधुः । चरयुताभिः पञ्चदशघटीभिश्चरोनाभिः पञ्चदशघटीभिर्वेति फलितार्थः । कन्यान्तः सषड्भक्रान्तिपातस्थानम् । झषान्तः क्रान्तिपातस्थानम् । वाकार उक्तघटीक्रमव्यवस्थार्थकः । द्वितीयवाकारश्च कन्याझषक्रमेण कर्कादिमकरादिक्षितिजसंलग्नकालावधिक्रमव्यवस्थार्थकः । उन्मण्डलक्षितिजपूर्वसंपाते लगति । तथा च मेषादितः कन्यान्तस्य त्रिंशद्घटीभिः समुदयोक्तेर्मेषादेर्मिथुनान्तस्य गोलयुक्त्या चरोनपञ्चदशघटीभिरुदयप्रतिपादनात्कर्कादित्रयं परमचरयुतपञ्चदशघटीभिरु-

देतीत्यर्थसिद्धेन स्वचरखण्डयुता निरक्षोदयाः कर्कादित्रयाणां स्वोदया भवन्ति । एवं तुलादिषड्राशीनां समुदयकालस्य त्रिंशद्घटीमितत्वाद् युक्ता(तुला)दिराशित्रयसमुदय-कालस्य गोलयुक्त्या चराधिकपञ्चदशघटीमितत्वप्रतिपादनाच्च मकरादित्रयसमुदयकालः परमचरोनपञ्चदशघटीमितोऽर्थसिद्धस्तेन स्वचरखण्डोना निरक्षोदया मकरादित्रयाणां स्वोदया भवन्तीति भावः । अथोपसंहारव्याजेन फलितं पूर्वोक्ताभिप्रायं स्फुटयति—चरखण्डै-रिति । तेन क्रान्तिवृत्तोक्तयदोदयव्यवस्थाफलितार्थेन । निरक्षोदयाः । मकरादिषण्णाम् । निरक्षदेशोदयासवः । चरखण्डैः स्वस्वराशिसंबन्धिभिः । क्रमेणोना युक्ताः स्वदेशे मकरा-दिराशीनामुदयकालासवो भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

ननु तथाऽपि गोलयुक्त्या स्वस्वचरखण्डसंस्कारो राश्युदयकालेषु संदिग्ध एवेत्यत आर्ययाऽऽह—क्षितिजेऽजादिमिति । अध्यापकः क्षितिजे खगोलबद्धक्षितिजपूर्वभागे । अजादिं भगोलस्थक्रान्तिवृत्ताधिष्ठितक्रान्तिपातचिह्नं कृत्वा तत्समसूत्रेण कृत्वा । गोलं पूर्वोक्त-भगोलम् । सर्वं संपूर्णम् । नतु तदवयवरूपमल्पं भ्रमयन् । क्षितिजपूर्वभागे समसूत्रेण योजयन्नित्यर्थः । शिष्याणामेतज्जिज्ञासूनां बोधजननार्थम् । एनज्ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तम् । उक्तम् । यो हि प्रदेशोऽपममण्डलस्येत्यादिझषान्तो वेत्यन्तमुक्तमिदं प्रदर्शयेत् । सूक्ष्मत्वेन यथा बोधः स्यात्तथा दर्शयेदित्यर्थः । नन्विदमक्तं निर्णीतं तत्र भवति । परमुक्ताशङ्कायाः करणं कथं शक्यमत आह—अनुक्तमिति । स्वस्वचरखण्डयोजनन्यूनीकरणयुक्तिप्रति-पादनमत्र स्पष्टतयाऽनुक्तम् । चः समुच्चये । तत्प्रदर्शयेत् । गोलभ्रम एव तद्युक्तिः प्रत्यक्षेति भावः । तत्प्रतिपादनं स्पष्टाधिकारे । उदयवासनावसरे सविस्तरमतोऽत्र तदनु-द्योगः । प्रसङ्गादाह—अन्यदिति । अन्यद्वक्ष्यमाणमत्र प्रदर्शयेत् । तथा चात्र यदुक्तं तत्सर्वं भ्रमद्गोले निर्णीतं भवतीति स्वाज्ञानं निरसनीयमिति भावः ॥ २३॥

केदारदत्तः—चरखण्डों से सम्बन्धित तीन तीन राशियों का उदयकाल—राशि चक्र का चतुर्थांश $\frac{१२}{४}$ = ३ राशियाँ निरक्ष में १५ घटी = १५ × ६० = ९०० पलों में उदय लेती हैं। चरार्ध सम्बन्ध से ६ राशियों का उदय मान ९०० × २ = १८०० पल = ३० घटी में होता है मेषादि से मिथुनान्त चर नाड़ी कम तुल्य १५ घटी में, कन्यान्त से धनुष तक चर पल युक्त १५ घटी में, क्षितिज में लगती हैं।

इस प्रकार चरखण्डों से रहित और युक्त मेषादि संस्कृत निरक्षोदयासु राशियों का अपने देश में स्वदेशोदय मान होता है।

उपपत्ति— $\frac{\text{एक राशिज्या} \times \text{कोणज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = द्युज्या वृत्तीय उदय ज्या = द्यु० वृ० उ०

पुनः $\frac{\text{द्यु० वृ० उ०} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}} = \frac{\text{एक राशिज्या} \times \text{कोणज्या}}{\text{त्रि}} \times \frac{\text{त्रि}}{\text{द्यु}}$

$= \frac{\text{एक राशिज्या} \times \text{कोणज्या} \times \text{द्यु}}{\text{त्रि}}$ = एक राशि की उदय ज्या।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है समीकरण में जहाँ पर क्रान्ति वृत्त और ध्रुव प्रोत-वृत्तोत्पन्न कोण का मान अधिक होता है उसी राशि का उदय मान अधिक होता है ।

मूल में तिर्यक् स्थितत्व का अर्थ अल्पकोणोत्पादकत्व और ऊर्ध्वस्थितत्व का अर्थ अधिककोणोत्पादकत्व समझना चाहिए ।।

१५ + चर = मेषादि, १५ + चर = तुलादि ।

१५ – चर = मकरादि, १५ – चर = कर्कादि उत्पन्न हुआ ।।१९।।२०।।२१।।२२।।२३

अथास्तमयानाह—

योऽभ्युदेति समयेन येन तत्सप्तमोऽस्तमुपयाति तेन च ।

राशिरूर्ध्वमपमण्डलं कुजादर्धमेव सततं यतः स्थितम् ।।२४।।

वा० भा०—यो राशिर्येन कालेनोदेति तेन तत्सप्तमोऽस्तं याति । ये मेषादीनामुदयास्ते तुलादीनामस्तमयाः । ये तुलादीनामुदयास्ते मेषादीनामस्तमया इत्यर्थः । यतोऽपमवृत्तं क्षितिजादुपर्यर्धमेव भवति । अर्धमधश्च । अतो राश्योरुदयमस्तमयं च गच्छतोस्तुल्यकालतोपपद्यते ।।२४।।

मरीचिः—ननु निरक्षे राश्युदयास्तकालमानयोरभेदः साक्षे तयोर्भेदः कुतः संजात इत्यतो राश्यस्तकालवासनां रथोद्धतयाऽऽह—योऽभ्युदेतीति । यो राशिर्येन कालेनाभ्युदेति क्षितिजपूर्वभागसक्तो भवति तेन कालेन । चकारात्तन्न्यूनाधिककालव्यवच्छेदः । तत्सप्तमः । उदितराशेः सकाशात्सप्तमो राशिरस्तं क्षितिजपश्चिमभागसक्तत्वमुपयाति प्राप्नोति । अत्र कारणमाह—ऊर्ध्वमिति । क्षितिजादूर्ध्वं क्रान्तिवृत्तम् । अर्धम् । एवकारान्न्यूनाधिकव्यवच्छेदः । सततं नित्यम् । यतः कारणात् । स्थितमस्ति क्रान्तिवृत्तस्य भूगर्भकेन्द्रत्वात् । अन्यथा तत्केन्द्रत्वानुपपत्तेः तथा च क्रान्तिवृत्तप्रदेशो यथोदेति तथा तत्षड्भान्तरितप्रदेशोऽस्तं

गच्छतीति यद्राशेर्य उदयकालस्तत्सप्तमराशेः सोऽस्तकालोऽत एव लग्नं षड्राशियुतमस्तलग्नं स्यात् । निजचरशकलेन हीनयुक्तो य इह लोचनगोचरं प्रयाति । तदधिकरहितास्त एव नूनं पलवशतः क्रमशो व्रजन्ति चास्तमिति श्रीपत्युक्तेश्चेति भावः ॥२४॥

केदारदत्तः—राशियों की अस्तमय की व्यवस्था—

उदय क्षितिज से अस्तक्षितिज तक क्रान्तिवृत्त की ६ राशियाँ एवं अस्त क्षितिज से उदय क्षितिज तक में ६ राशियाँ रहती हैं। अर्थात् क्रान्तिवृत्त का आधा क्षितिज के ऊपर आधा नीचे रहने से जो राशि क्षितिज में जितने समय में उदय लेती है उतने ही समय में उससे सातवीं राशि पश्चिम क्षितिज में अस्त होती है।

उपपत्ति—स्वतः स्पष्ट है ।।२४।।

इदानीं विशेषमाह—

यत्र लम्बजलवा जिनोनकास्तत्र नोदयचराद्यमुक्तवत् ।
नान्यसंस्थिततयाऽन्यथोदितं येन नैष विषयो नृगोचरः ।।२५।।

वा० भा०—यस्मिन्देशे षट्षष्टि ६६ भागाधिकः पलस्तत्र केचन राशयः सदोदयाः केचन सदास्तमिताः केचन प्रान्तादुद्गच्छन्ति। अतस्तत्र यथा कथितास्तथोदया न भवन्ति। यावत्सदोदितो रविस्तावदहोरात्रवृत्तं क्षितिजं न स्पृशति। अहोरात्रवृत्ते क्षितिजोन्मण्डलयोरन्तरं हि चरम्। अतस्तत्र कुज्याग्राचरज्यादिकमसत्। शेषं स्पष्टम् ॥२५॥

मरीचिः—ननूक्तयुक्त्या स्पष्टाधिकारोक्तस्वदेशोदयास्तकालानयनं सिद्धमप्यसंगतम्। षट्षड्धिकाक्षांशदेशेषु तस्यानिर्वाहात्। तथा हि—लम्बज्याकोटावक्षज्याभुजस्तदा क्रान्तिज्याकोटौ को भुज इत्यनुपातेन लम्बज्याधिकक्रान्तिज्यासंबन्धिकुज्याया अक्षज्याधिकत्वेन तदा द्युज्याया अपि पलज्योनत्वाच्चरज्यायास्त्रिज्याधिकत्वसंभवेन तच्चापानयनस्याशक्तत्वाच्चरानयनमशक्यम्। नहि त्रिज्याधिकवृत्ते क्रमज्या संभवति। तस्याः क्रमधनुरानयनं चोक्तम्। तथा च चरानयनस्य तत्रासंगतत्वाच्चरखण्डानामसिद्धेस्तन्मूलकतदुदयास्तकालज्ञानमुक्तरीत्या तत्र न संभवतीत्यत उत्तरं रथोद्धतयाऽऽह—यत्र लम्बजलवा इति। यत्र देशे। लम्बांशा जिनोनकाः। अत्र कप्रत्ययेनानधिका इत्यर्थं ऊनपदस्य निरस्तस्तेन चतुर्विंशतेरूना लम्बांशाः षट्षर्डाधिकाक्षांशा इत्यर्थः। तत्र देशे। उदयचराद्यम्। मेषादिराशीनामुदयकालासवोऽस्तकालासवश्च। चरसाधनम्। आद्यपदाल्लग्नदिक्साधनादिचरसंबन्धि यत्किंचित्संगृह्यते। उक्तवत्। उक्तानयनप्रकारेणेत्यर्थः। न सिध्यतीति शेषः। यद्यपि तत्र देशे लम्बज्यानधिकक्रान्तेश्चरसाधनं तत्संबन्धिराश्युदयसाधनं चोपपन्नमिति लम्बाधिकक्रान्तिकालोऽप्युद्देश्यस्तथाऽपि द्वादशलग्नानां लग्नानयनेनासिद्धेस्तत्साहचर्येण कालानुद्देशः। उदयप्रसङ्गेनैव तदुपस्थितेरिति ध्येयम्। ननु कथं तत्र तत्सिद्धिरत आह—अन्यथेति। उक्तप्रकारातिरिक्तप्रकारेण तत्सिद्धिरित्यर्थः। ननूक्तसाधनेभ्यः कथं न

तत्सिद्धिरत आह—अन्यसंस्थिततयेति। षट्षडक्षांशावधिर्या गोलस्थितिस्तदतिरिक्ता विलक्षणा गोलस्थितिस्तस्या भावस्तयेत्यर्थः। तथा चोक्तं चरादिसाधनं षट्षडक्षांशावधिदेश-गोलस्थितिसिद्धं न तदधिकाक्षांशावधिदेशगोलस्थितिसिद्धम्। अत उक्तानयनेन तत्र न तत्सिद्धिः। किंतु तद्गोलस्थितिसिद्धतदतिरिक्तप्रकारेणेति भावः। अन्यसंस्थि[त]स्तु लम्बाधिकक्रान्तौ द्युरात्रवृत्तानि तत्र क्षितिजं च स्पृशन्त्येवेति तत्रोन्मण्डलक्षितिजान्तराले द्युरात्रवृत्तैकदेशाभावादुक्तस्वरूपचरासिद्धिस्तत्संबद्धाग्रादिकस्याप्यसिद्धिरिति। ननु तर्हि तद्गोलस्थितिसिद्धप्रकाराः कथं नोक्ताः। अन्यथा तत्र तज्ज्ञानं कथं स्यादत आह—नेति। तत्र चरादिसाधनं पूर्वैर्नोदितं नोक्तम्। सूर्यसिद्धान्तादौ तद्गोलस्थितिसिद्धप्रकाराणाम-दर्शनादिति भावः। तैः कुतो नोक्तमत आह—येनेति। येन कारणेन। एष षट्षडधि-काक्षांशसंबन्धी विषयो देशो नृगोचरो मनुष्यसंचारविषयो न भवति। तथा च मनुष्या-धिकारत्वाच्छास्त्रस्य तद्देशे मनुष्याभावात्तैस्तद्देशसंबन्धिगणितविशेषोऽनुक्तः। प्रयोजना-भावात्। न च षट्षडक्षांशावधिमनुष्यसंचारसंभवात्तत्र कथमिदं संभवतीति वाच्यम्। मनुष्यसंचारसंबद्धदेशगोलस्थित्युक्तचरादिसाधनस्य तत्र गोलस्थितिसंवादेनानिवार्यत्वात्। एवं च चरायुक्तसाधने तद्देशस्यालक्ष्यत्वेनाव्याप्तिर्नेति भावः ॥२५॥

केदारदत्तः—भूगोल में कुज्या-चरज्या अग्रा-आदि से सम्बन्ध रहित स्थान बताये जा रहे हैं—

भूमण्डल में जिस जगह अक्षांश ६६ से अधिक होगा वहाँ पर लम्बांश २४ से अर्थात् परम क्रान्ति से कम होता है। अतः वहाँ पर के द्युज्या व्यासार्ध से निर्मित अहोरात्र वृत्त सदा क्षितिज से ऊपर रहने से उन स्थलों में, क्षितिज स्पर्श के अभाव से कुज्या चर अग्रा आदि का अभाव स्वतः सिद्ध होता है।

उपपत्ति—निरक्ष क्षितिज और स्वक्षितिज के बीच में अहोरात्र वृत्त में कुज्या (द्युज्या वृत्त में) की स्थिति होती है। उस देश में सभी ६ राशियाँ क्षितिज के ऊपर रहती हैं वहाँ रवि सदोदित रहता है, अतः क्रान्ति वृत्त के क्षितिज स्पर्श के अभाव से वहाँ चर कुज्यादि का अभाव स्वतः सिद्ध है। वहाँ पर कुछ राशियाँ सदोदित और कुछ राशियाँ सदा अस्त रहती हैं। और कुछ राशियाँ तो प्रान्त से अर्थात् अन्तिम भाग से उदित होती हैं॥

सदोदित रवि की स्थिति में रवि निष्ठ अहोरात्र वृत्त से सम्पात ही नहीं होने से तथा क्षितिज वृत्त और निरक्ष क्षितिज वृत्त (ऊनण्डल) के परस्पर में सम्पात का ही अभाव होने से चरादिक अग्रा आदि का काल का वहाँ अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥२५॥

इदानीं लग्नशब्दव्युत्पत्त्योदयास्तमध्यलग्नस्थानान्याह—

यत्र लग्नमपमण्डलं कुजे तद्गृहाद्यमिह लग्नमुच्यते ।
प्राचि पश्चिमकुजेऽस्तलग्नकं मध्यलग्नमिति दक्षिणोत्तरे ॥२६॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥२६॥

मरीचिः—अथान्यसंस्थितिप्रदर्शनार्थमुदयास्तकालवासनाप्रसङ्गादुपस्थितलग्नादिस्वरूपं रथोद्धतयाऽऽह—यत्र लग्नमिति । भूगर्भक्षितिजवृत्ते पूर्वभागे क्रान्तिवृत्तम्। यत्र यस्मिन् । रेवत्यादिस्थानदिग्भागे लग्नं तत्समसूत्रेण संलग्नम् । तत् । क्रान्तिवृत्तप्रदेशात्मकम् । गृहाद्यम् । रेवतीस्थानाद्राश्यादिविभागाङ्कितज्ञानप्रमाणम् । इह ज्योतिःशास्त्रे । लग्नं फलादेशोपजीव्यम् । उच्यते पूर्वैरङ्गीक्रियते । पश्चिमक्षितिजविभागे क्रान्तिवृत्तं यत्र लग्नं तद्गृहाद्यमस्तलग्नकं लग्नमिवास्तलग्नकं न तु लग्नम् । दक्षिणोत्तरे । याम्योत्तरवृत्ते । इति यद्विभागे क्रान्तिवृत्तं लग्नं तद्गृहाद्यम् । मध्यलग्नं क्षितिजपूर्वापरभागमध्यस्थत्वात् । गोलेऽधःस्थयाम्योत्तरार्धादर्शनात्क्षितिजोर्ध्वस्थयाम्योत्तरार्धदर्शनात् । क्षितिजोर्ध्वस्थयाम्योत्तरवृत्तप्रदेशसंलग्नत्वेन मध्यलग्नम् । तत्षड्भान्तरितमध्यस्थं च रसातलमदर्शनादनुक्तम् । अत एव लग्नसाधनार्थंक्षितिजात्कालस्तथा मध्यलग्नसाधनार्थं याम्योत्तरवृत्तात्कालः स पश्चिमपूर्वभागयोर्नतसंज्ञः । तत्र पश्चिमनते क्रमलग्नम् । पूर्वनत उत्क्रमलग्नम् । उन्मण्डलवद्याम्योत्तरवृत्तस्य भिन्नत्वाभिन्नत्वान्निरक्षोदयैः साध्यम् । नह्युन्मण्डलाद्यथा क्षितिजं भिन्नं तथा निरक्षयाम्योत्तरवृत्तात्स्वयाम्योत्तरवृत्तं भिन्नं येन स्वोदयैर्लग्नं मध्यम् । एभ्यः प्रत्येकमासन्नयोरन्तरा त्र्यंशेन पूर्वस्मिन्योजनादवान्तरभावसिद्धिरुपकल्पिता । पूर्वाग्रिमभावयोगदलं संधिस्तयोरिति । तदेच्छ्रीपतिभट्टः स्वजातकपद्धतौ स्पष्टमुक्तम्-मध्याह्नांशुमतोर्य एव विवरे कालः स उक्तो नतः सोऽप्यभ्राग्नि३०परिच्युतो रविनिशामध्यान्तरे चोन्नतः । मध्याह्नात्पतिते तु वासरगते तत्प्राक्कपाले नतं यांतेऽह्नि(ताह्नाद्)द्युदलोनिते पुनरिदं प्रत्यक्कपाले भवेत् । रात्रेः शेषे गते वा भवति हि समये जन्म चेत्तद्घटीभिः संयुक्ते वादरार्धे खलु नतघटिकाः प्राक्प्रतीच्योर्भवेयुः । संस्थाप्यैते त्वनष्टे स्फुटसवितुरतः स्वोदयैरिष्टकालात्कुर्याल्लग्नं सषड्भं तदपि सगुणकैरस्तलग्नं निरुक्तम् । लङ्कोदयैः पूर्वनतादृणाख्यं प्रत्यङ्नताद्यन्नु भवेद्धनाख्यम् । लग्नं तदूचुः खलु मध्यलग्नं षड्भाधिकं तच्च रसातलाख्यम् । लग्न चतुर्थाद्धिबुकं कलत्राज्जामित्रभं मध्यविलग्नतश्च । खभं विलग्नाच्च विशोध्य शेषं तत्त्र्यंशमेकद्विगुणं विदध्यात् । लग्नाम्बुजामित्रनभोगृहेषु तदन्तरालोद्भवभावसिद्धयै । सिध्यन्ति भावा द्विगुणाः षडेव शुभाशुभं चिन्त्यमशेषमेभिः । वदन्ति भावैक्यदलं हि संधिं तत्र स्थितः स्यादफलो ग्रहेन्द्रः । ऊनस्तु संधेर्गतभावजातमागामिजं चाभ्यधिकः करोतीति । ननु द्वादश भावा लग्नाद्याः क्रान्तिवृत्ते द्वादश विभागास्ते मेषादिवत्समा युक्ताश्चक्रस्य वृत्ताकारत्वेनातुल्यस्थानविभागकल्पनानौचित्यात्समविभागानां क्लृप्तत्वाल्लग्नाद्युपजीवकफलोपजीव्यस्थानानां समत्वकल्पनौचित्याच्च । अत एव लग्नात्क्रान्तिवृत्तस्य समद्वाद-

शभागास्त्रिंशद्भागात्मका भावरूपाः संहितायां सुप्रसिद्धाः । येंऽशा लग्नस्योदितास्तेषु तिष्ठन्धत्ते लग्नोत्थं फलं खेचरेन्द्रः । एवं तेभ्यो योऽधिकोऽसौ द्वितीयोऽथैवं चिन्त्यं वित्तभावादिषु ज्ञैरिति । लग्नस्य क्षितिजप्राग्भागलग्नस्य मेषाद्यन्यतमस्य राशेरित्यर्थः । अंशा उदिताः । क्षितिजसंलग्नाः । अत्र लग्नभोग्यभागेषु ग्रहो द्वितीय इत्युक्त्या लग्ने प्रथमभावस्यान्तः स्पष्टीकृतः । धनाद्येषु द्वितीयादीनामन्तः । नतु भावादिर्न वा भावमध्यम् । न च क्षितिजस्य प्राधान्याल्लग्ने प्रथमस्थानारम्भः । एवं धनादिषु द्वितीयादेः सुष्ठ्विति वाच्यम् । संहिताकर्तृमुनिभिः फलार्थं तथाऽनङ्गीकारात् । फले वचनविरुद्धयुक्तेरप्रयोजकत्वात् । अथ लग्नचतुर्थसप्तमदशमस्थानानां गोले नियतोक्तेरेवान्तरभावानां तदन्तरस्थत्वेन सामान्यतो ज्ञानेऽपि विशेषतः स्थानाश्रवणात्समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायेनावान्तरभावकल्पनायां बाधकाभावः । पद्धतिकारैः स्वोदितभावेषु भावमध्यत्वमङ्गीकृतम् । अत एव लग्नोत्तरं यत्र प्रथमस्थानविरामस्तत्रैव द्वितीयस्थानारम्भ इति तज्ज्ञानं लग्नद्वितीययोगार्धेन लग्नद्वितीयान्तरार्धस्थाने । एवमन्येषामपि तत्स्थानं संधिरूपं तत्समो ग्रहो निष्फलः । उभयभावसंबन्धेनान्यतरभावफलाभावात् । भावसमो ग्रहो भावमध्ये संपूर्णफल इत्युक्तमिति चेन्न । भावचतुष्टयस्थानवदवशिष्टभावाष्टकस्य नियतखगोलस्थानानुक्तेस्तथा कल्पनस्यान्याय्यत्वादिति चेत् । अत्रोच्यते-सममण्डलस्य प्राक्[ख]स्वस्तिकस्थानाद्द्वादश विभागाः समाः । समवृत्त एकादिद्वादश स्थानानि । स्थानान्ते प्रत्येकं षड्वृत्तानि क्षितिजयाम्योत्तरवृत्तसंपातयोः संलग्नानि नियतान्येव । तेषु क्रान्तिवृत्तप्रदेशा ये लग्नास्ते चलमेषादितो यत्प्रमाणं क्रान्तिवृत्ते तत्प्रमाणरूपा द्वादश भावा मध्यात्मकाः पद्धतिकारैरङ्गीकृताः । तत्र तन्वादयः षड्भागादिनाऽभ्यतुल्याः, जायादयः षट्तन्वादिभिः क्रमेण भागादिना तुल्या इत्यानयनसिद्धा नोक्ता वहुप्रयासात् । लाघवात्स्वल्पान्तराच्च सूक्ष्मभावानुकल्पा अष्ट भावा उक्ताः । सूक्ष्मभावानां साधनं तु मत्कल्पितम् । मृत्योर्धर्मादायतो द्वादशाच्च त्रिप्रश्नोक्त्या साधयेच्छङ्कुमादौ । तस्माद्दोषं चोक्तवच्छङ्कुमूलाग्राभ्यां योगं शङ्कुवाहूत्थकृत्योः । त्रिज्यावर्गात्प्रोभन्य शेषात्पदं यद्धारः स्याद्वै कर्मभावान्तरालात् । जीवा या सदूरसामीप्यभावजा(वाज्जा)ता गुण्याद्वैकराशिज्यया सा । हारेणाऽऽप्तस्यांशपूर्वं धनुर्यत्तेनोनं खं पूर्वभावोऽग्रिमो युक् । एवं सूक्ष्मा उक्तभावा अथैते षड्भिर्युक्ता राशिभिर्वित्तपूर्वाः ॥ इति । अस्य तात्पर्यार्थः—पद्धतिप्रकारेण द्वादश भावान्प्रसाध्याष्टमनवमैकादशद्वादशभावान्सूर्यान्प्रकल्प्य लग्नमेव लग्ना[ग्र]माभ्यामर्कस्य भोग्यस्तनुभुक्तयुक्तो मध्योदयाढ्यः समय इत्यनेनोक्तभावानां दिनगतं ज्ञात्वा त्रिप्रश्नाधिकारोक्तप्रकारेणेष्टशङ्कवः साध्याः । तेभ्यः शङ्कुतलानि भावानामग्राश्च । तयोः संस्कारेण भुजान्प्रसाध्य स्वस्वशङ्कुवर्गस्वभुजवर्गयोर्योगं त्रिज्यावर्गादपास्य शेषेभ्यो मूलानि प्रोक्तभावानां क्रमेण हाराः स्युः । दशमभावोक्तभावयोरन्तराद्या ज्या दूरसामीप्यभावजाता । एतदुक्तं भवति । दशमाष्टमयोरन्तरज्या दूरगा । दशमनवमयोरन्तरज्या समीपगा । एवं दशमद्वादशयोरन्तरज्या दूरगा । दशमैकादशयोरन्तरज्या समीपगेति । सा दूरसमीपक्रमेण

द्विराशिज्ययैकराशिज्यया गुण्या। स्वहारेण भक्ता। लब्धानामंशादिकानि यानि धनूंषि तन्मध्ये पूर्वचापाभ्यामूनो दशमभावः पूर्वभावो भवति। अस्टमनवमभावौ स्तः। अग्रिमचापाभ्यां दशमभावो भवति। एकादशद्वदशभावौ स्तः। एवं सूक्ष्माः प्रतिपादितगोलस्वरूपा उक्तभावा अष्टमनवमैकादशद्वादशभावा भवन्ति। अनन्तरम्। एतेऽष्टमादयः साधिता भावाः षड्राशियुक्ताः क्रमेण द्वितीयतृतीयपञ्चमभावाः सूक्ष्मा इति। संधावविशेषः। अत्रोपपत्तिः—पद्धतिप्रकारसिद्धाष्टादिभावचतुष्टयमनुगतगोलस्थानसंबन्धाभावात्स्थूलं प्रतिपादितगोलस्वरूपाष्टमादिभावचतुष्टयं साध्यम्। तत्र स्थूलभावानां भुजाः सममण्डले क्रान्तिमण्डलप्रदेशविशेषयोर्याम्योत्तरान्तरांशानां ज्यारूपाः। अंशास्तु याम्योत्तरक्षितिजसंपातप्रोतस्थूलभावोपलक्षितक्रान्तिवृत्तप्रदेशगतवृत्तस्थाः। स्थूलाभावस्तादृग्वृत्तनतांशानां दृग्ज्येतिताः कर्णाः तयोर्वर्गान्तरपदानि। प्रतिपादितभुजवृत्तसंपातावधिखस्वतिकात्समवृत्ते ये नतांशास्ते ज्यात्मकानि कोट्यो हारसंज्ञाः। तत्र शङ्कुवर्गोनस्य त्रिज्यावर्गस्य कर्णवर्गत्वात्तस्मिन्भुजवर्गे शोधिते शङ्कुभुजयोर्वर्गयोगहीनस्य त्रिज्यावर्गस्य पदमिति सिद्धम्। अनया कोट्या दशमभावस्थूलभावयोरन्तरांशज्या तदा यथायोग्यं सममण्डलस्थितैकद्विराशिज्यया केत्यनुपातेन सूक्ष्मभावस्थूलभावयोरन्तरांशज्या क्रान्तिवृत्तस्था। खस्वतिकादेकद्विराशिमितसमवृत्तप्रदेशसंबन्धेन क्रान्तिवृत्ते सूक्ष्मभावानां प्रतिपादितत्वात्। ज्यायाश्चापतदन्तरांशा दशमभावहीना अष्टमसंबन्धिभागाः। अष्टमनवमभावौ दशमपृष्ठस्थौ भवतः। एकादशद्वादशसंबन्धिभागाः। दशमे युता एकादशद्वादशभावौ दशमाग्रिमौ स्त इति। लग्नात्षड्भान्तरे तथा सप्तमभावस्थानं यथा च दशमात्षड्भान्तरेऽवश्चतुर्थभावस्थानं तथाऽष्टमादिभावेभ्यः षड्भान्तरे द्वितीयाद्युक्तभावाः क्रान्तिवृत्ते वृत्तानां षड्भान्तरेण स्थानद्वये संलग्नत्वात्। तथा च लग्नस्य स्वदेशक्षितिजसंबन्धेनोक्तेस्वद्द्वितीयादिभावानां समवृत्तसंबद्धवृत्तसंबन्धेनोक्तेः समुचितत्वम्। न चैवं द्वादशभावानां समवृत्तस्थसमविभागवशादुत्पन्नानां समवृत्तस्थसमत्रिंशद्भागान्तरत्वेनैव कथनं युक्तम्। न क्रान्तिवृत्तस्थविषमभागान्तरत्वेन भावकथनमिति वाच्यम्। फलादेशस्य पूर्वैः क्रान्तिवृत्ताश्रयेणैवाङ्गीकारात्क्रान्तिवृत्तस्थग्रहभोगवद्भावानामपि सममण्डलाभिप्रायिकाणां क्रान्तिवृत्ताश्रयेणैवोक्तत्वात्। न च संहितोक्तेनैषां विरोध इति वाच्यम्। तस्याभिन्नार्थत्वात्। तथा हि—लग्नस्य ये भागा उदिताः। पद्धतिसिद्धारम्भान्तसंध्योरन्तरांशास्तेषु स्थितः सन्ग्रहो लग्ने भवति तेभ्यो लग्नांशेभ्यो। विरामसंध्यंशेभ्योऽधिको ग्रहो द्वितीयस्थाने भवति। अर्थादारम्भसंधेर्न्यूनो ग्रहः पूर्वभावे भवति। एवं द्वितीयादिति। न तु पूर्वोक्तोऽर्थः। लग्नात्स्थानरूपद्वादशभावोक्तौ लग्यस्य स्वदेशक्षितिजसंबन्धवदन्येषां स्वदेशवृत्तविशेषसंबन्धाप्रतीतेः केवलक्रान्तिवृत्तसंबन्धेन भावोक्तेरसंगतत्वात्। एतेन ध्रुवप्रोतवृत्तषट्केभ्य उदयसंबन्धेन विषुवस्थानाद्विषुवद्वृत्ते समा द्वादश भावास्तदनुरोधेन क्रान्तिवृत्तविषमप्रदेशात्मका भावा इति कल्पनमपि निरस्तम्। उदयस्य स्वक्षितिजसंबन्धेन ग्रहणादन्येषां निरक्षसममण्डलाभिप्रायेण कल्पनस्य वैयधिकरण्यात्। एवं लग्नात्स्थाननियमार्थं लग्नाद्भावाः सधितास्तथाऽमुकग्रहादमुकग्रहः कस्मिन्स्थान इति ग्रहेभ्यः

प्रत्येकं भावाः साध्याः। स्थाननियमस्य तुल्यत्वादन्यथा लग्नभावनयनामु(नु)पपत्तेः। तत्साधनं तु गोले क्रान्तिवृत्तस्थग्रहभोगचिह्नं यत्र भवति तत्र समप्रोतचलवृत्तमानीय स्थिरं क्षितिज कल्प्यम्। एतत्क्षितिजाभिप्रायेण पूर्वसममण्डले यत्खस्वस्तिकस्थानं तस्मादूर्ध्वाधरं याम्योत्तरं वृत्तं तत्र क्रान्तिवृत्ते लग्नप्रदेश ऊर्ध्वो दशमभावः। अधश्चतुर्थभावः कल्पितप्राक्स्वस्थि (स्ति) कात्सममण्डले त्रिंशद् (दं) शान्तरे कल्पितक्षितिजवृत्तकल्पितयाम्योत्तरवृत्तसंपातद्वयप्रोतं वृत्तमानीय तद्वृत्ते लग्नक्रान्तिवृत्तप्रदेशौ कल्पितक्षितिजादूर्ध्वाधरौ षड्भान्तरितौ क्रमेण द्वादशषष्ठभावौ षष्टयंशान्तरे तादृशवृत्ते लग्नक्रान्तिवृत्तप्रदेशौ क्रमेणैकादशपञ्चमभावौ। पश्चिमस्वस्तिकात्त्रिंशदंशान्तरे षष्टयंशान्तरे तादृशवृत्त आनीय तद्वृत्तयोर्लग्नक्रान्तिवृत्तप्रदेशौ तादृशावष्टमद्वितीयभावौ नवमतृतीयभावौ। ग्रहसषड्भग्रहौ प्रथमसप्तमभावौ। एवं द्वादश भावाः। तत्र नग्नादधश्चतुर्थं याम्योत्तरावृत्त ऊर्ध्वं याम्योत्तरवृत्ते दशममिति लग्नाद्दिनार्धघटीभिर्ऋणलग्नं दशमम्। लग्नाद्रात्र्यर्धघटीभिर्धनलग्नं चतुर्थम्। ग्रहो लग्नम्। सषड्भगहः सप्तमभावः। एभ्यो मृत्य्वादिभावान्प्रसाध्यैभ्यो ग्रहतुल्यलग्नादिष्टकालं प्रसाध्य शङ्क्वादिभुजादिद्वारा पूर्वोक्तसूक्ष्मरीत्या सूक्ष्मभावाः साध्या इति। अत्राऽऽधुनिकाः—ग्रहभावाः पद्धतिकाराणां यद्यभिमताः स्युस्तदा दृष्टिसाधनं तैर्भावैरेव कृतं स्यात्। न दृश्यद्रष्ट्रन्तरराशिवशतः। यथा हि—द्रष्टुर्ग्रहस्यैकादिभावस्थानानि कार्याणि। तद्यथा—द्वादशभावोनग्रहरूपप्रथमभावः प्रथमस्थानमानम्। ग्रहरूपः प्रथमभावोनद्वितीयभावो द्वितीयस्थानम्। द्वितीयभावोनतृतीयभावस्तृतीयस्थानम्। एवं पूर्वभावोनाग्रिमभावोऽग्रिमस्थानमित्यादि। एवं द्वादशस्थानमानानि। त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रसप्तमान्यवलोकयन्ति चरणाभिवृद्धित इति बृहज्जातकोक्त्या स्थानादौ कथितदृष्टेङ्गीकाराच्च। प्रथमादिस्थानान्तवशेन दृष्टिचरणाः सिद्धाः। तच्चक्रे च द्रष्ट्रा वर्जितदृश्ये प्रथमादिस्थानमानानि शोध्यानि। शेषभागाद्यं शोधितान्तिमस्थानतदग्रिमस्थानस्थदृष्टिचतुर्थांशसंख्ययोरन्तरेण क्षयचयेन गुणितम्। अशुद्धस्थानमानेन भक्तं फलेन क्षयचयेन

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	शोधितान्तिम-
०	२	३	२	०	४	३	२	१	०	०	०	स्थानीयदृष्टि-

चतुर्थांशसंख्याहीनयुता दृष्टिचतुर्थांशात्मिका दृष्टिर्भवति। न चैवं पद्धतिकारैर्दृष्टिसाधनं कृतम्। किंच लग्नाद्यदशायां यथा ग्रहभावफलगुणितग्रहषड्बलानि तथा रवीन्द्वोराद्यदशायां तद्भावजग्रहभावफलगुणितग्रहषड्बलानां दशाक्रमबलत्वमित्यस्यैव लाघवात्कथनोपपत्तिर्न तु भिन्नरीत्येति ग्रहभावाभावाद्रवीन्द्वोराद्यदशायां पद्धतिकारैर्लग्नाद्यदशोक्तदशाक्रमबलानयनाद्भिन्नप्रकारेण दशाक्रमबलमुक्तम्। ग्रहभावजग्रहभावफलाप्रसिद्धेः। तस्माद्ग्रहभावा पद्धतिकारैर्नाङ्गीकृता इति वदन्ति। तत्तुच्छम्। दृष्टिसाधन एकादिराशिस्थान एकादिभावस्थान इत्यर्थे तादृशोक्तेः स्फुटत्वात्। यथाश्रुतार्थे च क्रान्तिवृत्तस्थत्रिंशद्भागसमत्वेन ग्रहभावानामङ्गीकृतत्वाद्भावप्रमाणेनैव दृष्टिसाधनस्योक्तेश्च। न चोक्तभावानङ्गीकारे किं नियामकमिति वाच्यम्। उक्तभावप्रमाणेन दृष्टिसाधने देशभेदेनैकसमये भावभेदादभिन्नकाले देश-

भेदेन दृष्टेरनेकत्वापत्तेः। नह्येककाले दृष्टेरनेकत्वं ग्रहाणां युक्तम्। समभेदेनैव दृष्टिभेदस्य सर्वत्र युक्तत्वात्। द्वितीयदूषणं च रवीन्द्वोर्भावसाधनेऽपि तद्दर्शनग्रहभावफलानामनुक्तेस्तद्भावजग्रहफलानामसाधनादेकरीत्या दशाक्रमबलकथनाप्रसङ्गादसंलग्नम्। तस्माल्लग्नभाववद्ग्रहभावाः साध्याः। यद्यपि ग्रहभावेभ्यस्तात्कालिकग्रहमैत्रीचक्रसाधनमयुक्तम्। देशभेदेवा(न) भावभेदात्कदाचिदेकसमये देशभेदेन ग्रहमित्रामित्रत्वविरुद्धधर्माक्रान्तत्वप्रसङ्गात्। नह्यभिन्नकालेऽर्कस्य काशीत्वावच्छेदेन भौमो मित्रं लाभपुरत्वावच्छेदेन शत्रुरित्यादि कस्याप्यनुभवः। तत्कालं सुहृद इत्यत्र कालमात्रहेतुत्वप्रतीतेश्च। तथाऽपि तत्र बाधादुक्तभावेभ्यस्तदसाधनाद्दृष्टिसाधनवत्क्रान्तिवृत्तस्थसमत्रिंशद्भागसमभाववशान्मित्रादिविचारस्य सर्वदेश एकत्वेन युक्तत्वादन्यदेशादिस्थले ग्रहभा[वो]पपत्तेः संभवात्। यथा लग्नादुभयप्रकारेण भावसिद्धौ भवद्भिरुक्तभावा एवाङ्गीकृतास्तथा बाधकाभावे ग्रहाणामप्यङ्गीकार्याः। स्थाननियमस्य तुल्यत्वाद्। लग्नस्य यथा स्थाननियमस्तथा ग्रहस्य नास्तीत्यत्र नियामकमुनिवचनाप्रसिद्धेश्च। यत्तु कृष्णदैवज्ञैः श्रीपतिपद्धत्युदाहरणे भावेभ्यो ग्रहमैत्र्यादिचक्रं साधितं तद्राशिकुण्डल्यां ग्रहभागानेक्षणेन स्थानगणनया मित्रामित्रादिविचारस्य परम्परया सर्वैः कृतस्य निरासार्थम्। ननू(तू)क्तभावेभ्यस्तत्साधनमिति तात्पर्यम्। उक्तभावाकरणस्थलेऽप्युक्तभावाः कार्याः किमुतान्यत्रेत्युक्तिर्ग्रहभावा लग्नभावाङ्गीकारकैरवश्यं कार्या दशाक्रमादावित्याग्रहतात्पर्यं चेति। वस्तुतस्तु पद्धतिकारैर्यल्लग्नभावसाधनमुक्तं देशसंबन्धेन तत्संहिताग्रन्थे कुत्राप्यदर्शनान्निर्मूलम्। न च तदा लङ्कोदयैः कार्यं मध्यलग्नं यथोदितमिति सूर्यसिद्धान्ते। लङ्कोदयैर्लग्नमृणं विधेयं खमध्यजं पूर्वनतासुभिर्यत्। पश्चान्नतप्राणचयैर्धनाख्यं तत्षड्भयुक्तं च रसातलाख्यमिति वृद्धवसिष्ठसिद्धान्ते दशमचतुर्थभावयोरुक्तेर्न भावसाधनमनार्षमिति वाच्यम्। तत्रान्यप्रसङ्गेन तयोरुक्तत्वात्स्थानविचारेणानुक्तेश्च। अन्यथा वसिष्ठभावकथनापत्तेः। न च लग्नं सुखात्सुखं कामात्कामं खात्खं च लग्नतः। त्र्यंशमेतद्द्विगुणितं युज्जा(ञ्ज्या)ल्लग्नादिषु क्रमात्। पूर्वापरयुतेरर्धं संधिः स्याद्भावयोर्द्वयोः। एवं द्वादश भावाः स्युर्भवन्ति हि भसंधय इति पराशरहोरायामुक्तेर्भावसाधनं न निर्मलमिति वाच्यम्। प्रसिद्धनारदादिसंहितासु बृहज्जातके च भावःसाधनादर्शनात्। तस्य पराशरनामकपुरुषोक्तित्वकल्पनात्। न चोक्तभावानां स्वगोलस्थितिसिद्धत्वेद सयुक्तिकत्वात्तदभिप्रायेण संहितोक्तभावश्लोकस्य पूर्वं व्याख्यातत्वान्न निर्मूलत्वमिति वाच्यम्। संहितासु कस्मिन्नप्यार्षग्रन्थे वैतादृशभावसाधनोक्तेरदर्शनादेतद्भावाभिप्रायिकव्याख्यानस्यायुक्तत्वात्। नहि सिद्धियुक्तो वचनान्तराभावेऽपि हठाद्वचनार्थः सूपपन्नः। प्रमाणाभावात्। तस्मात्संहितोक्तभावश्लोकस्य यथाश्रुतार्थत्वाल्लग्नस्य भावाः समाः क्रान्तिवृत्तस्था द्वादशस्थानान्तररूपाः अनतिरिक्तसंधयश्च सिद्धाः। न पद्धत्युक्तभावाः। एवं लग्नस्योक्तभावाभावे सिद्धे ग्रहाणामपि सुतरामुक्तभावासिद्धिः। ग्रहेभ्यः स्थाननियमापेक्षायां लग्नवत्समाः। द्वादशभावाः क्रान्तिवृत्तस्थास्त्रिंशद्भागात्मका एव। एतद्भावकल्पनाभिप्रायेणैव ग्रहाणां दृष्टियोगादिकं चिन्त्यम्। न भागानपेक्षणेन राशि-

कुण्डल्यां तद्विचारः। अत एव पद्धतिषु धीमद्भिर्दृष्टिसाधनं तथैव कृतमित्यलं प्रसङ्गागत-विचारपल्लवितेन ॥२६॥

केदारदत्त—लग्न शब्द की व्युत्पत्ति—

क्रान्तिवृत का राश्यात्मक वह प्रदेश पूर्व क्षितिज में जहाँ पर लगा होता है उस बिन्दु पर की राश्यादिक उस प्रदेश का नाम लग्न होता है। तथा पश्चिम में वृत्त का जो प्रदेश पश्चिम क्षितिज में जहाँ लगा है उसे अस्तलग्न तथा याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात स्थ क्रान्तिवृत्त प्रदेश का नाम दशम लग्न होता है।

इसी आधार से क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तराहोरात्र वृतों के अधोःसम्पात (मध्य रात्रि) बिन्दु का नाम चतुर्थ लग्न कहा जाना चाहिए। आचार्य ने दृश्य गोलार्ध में उदय से अस्त तक के ही लग्नों का निर्देश किया है ॥२६॥

अथ लग्नार्थमर्कस्य तात्कालिकीकरणवासनामाह—

लग्नार्थमिष्टघटिका यदि सावनास्तास्तात्कालिकार्ककरणेन भवेयुरार्क्ष्यः।
आर्क्षोदया हि सदृशोभ्य इहापनेयास्तात्कालिकत्वमथ न क्रियते
यदाऽऽर्क्ष्यः ॥२७॥

वा० भा०—ननु लग्नकरणार्थं या इष्टघटिकास्ताः सावना उत नाक्षत्राः। यदि सावनास्तर्हि नाक्षत्रा उदयाः कथं विसदृशास्ताभ्यो विशोध्याः। अतस्ताभि-र्नाक्षत्राभिर्भवितव्यम्। तथा भोग्यकालसाधनार्थमर्कस्तात्कालिकः किं कृतः। यत उदयावधेरिष्टघटिकास्तथाऽर्कोदयानन्तरमेव राशेर्भोग्यांशाः क्रमेणोद्गच्छन्ति। अत औदयिकार्कस्य भोग्यं ग्रहीतुं युज्यते न तात्कालिकस्य।

तथा प्रतीत्यर्थंमुदाहरणम्। यत्र किल पञ्चाङ्गुला ५ विषुवती तत्र मेषादि-गेऽर्के स्फुटमहोरात्रं चतुश्चत्वारिंशदसुभिरधिकाः षष्टिघटिकाः ६०।७।२। अथ उदयानन्तरमहोरात्रसमे काले ६०।७।२ यावत्तात्कालिकार्काल्लग्नं साध्यते तावद-र्काधिकं स्यान्न समम्। यावदौदयिकार्कात्क्रियते तावत्सममेव। अतोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रतीतेर्युक्तितश्चार्कतात्कालिकीकरणमयुक्तमिव प्रतिभाति। सत्यम्। अत एवोक्तं लग्नार्थमिष्टघटिका इत्यादि।

अत्रेष्टघटिकाः सावनास्तावदाचार्यैरङ्गीकृतास्तासां नाक्षत्रत्वं कर्तव्यम्। तच्चैवम्। यथा प्रागुक्तस्वाहोरात्रसंबन्धिन्यो या गतिकलास्ताः स्वोदयासुभिः संगुण्य राशिकलाभिर्विभज्य फलासुभिरधिकाः सावनतुल्या नाक्षत्राः षष्टिघटिका अहोरात्रवृत्ते नाक्षत्राः स्युः। एवमिष्टघटीसम्बन्धिन्यो या गतिकलास्ताः स्वोदया-सुभिः संगुण्य राशिकलाभिर्विभज्य फलासवस्तास्विष्टघटिकासु सावनासु प्रक्षेप्याः। एवं नाक्षत्राः स्युः। तत औदयिकार्कस्य भोग्यासवः शोध्याः। एवं सत्याचार्येण लाघवार्थमिष्टघटीसम्बन्धिन्यो गतिकला अर्के प्रक्षिप्तास्ततो ये भोग्यासवस्त

औदयिकार्कभोग्यासुभ्यो न्यूना जातास्ते यावदिष्टघटिकाभ्यः शोध्यन्ते तावत्ता इष्टघटीसम्बन्धिगतिकलासुभिरधिकाः कृताः स्युः। एव तासां सावनानां नाक्षत्री-करणार्थमर्कस्य तात्कालिकीकरणमुपपन्नम्।

ननु यद्येवं तर्हि किं सावना अङ्गीकृत्य नाक्षत्रीकरणप्रयासेन। किमु नाक्षत्रा एव नाङ्गीकृताः। सत्यम्। तदप्युच्यते। अत्र त्रिप्रश्ने छायार्थं ग्रहाणां स्वस्वसावनमेवोदितं ग्राह्यम्। तद्यथा। इष्टकाले स्वाहोरात्रवृत्ते यत्र ग्रहः स्थितो यत्र च क्षितिजसंगस्तयोरन्तरे यावन्तो घटीविभागास्तावत्यः सावना नाड्यस्ता हि क्षेत्रविभागीत्मिकाः। अथ चोदयकाले यत्र स्थितो ग्रह आसीत्तत्कु-जमध्ये यावत्यस्तावत्यो नाक्षत्रास्तु कालविभागात्मिकाः। यथा पौर्णमास्यां छायाकरणे चन्द्रस्यासकृद्विधिनोदिता नाडिकास्ताश्छायार्थं न युज्यन्ते। यत्तु कैश्चिच्छायार्थमप्यसकृद्विधिनाऽऽनीतास्तदसत्। अत एव वक्ष्यति—

चन्द्रप्रभार्थमसकृद्विधिनोदितं यत्कैश्चितत्कृतं खलु न सत्तदसावनत्वात्। इति।
जानन्ति ये न निपुणं गणितं सगोलं तेषां तु तन्त्रकरणव्यसनं वृथैव॥

छायायाः क्षेत्रात्मकत्वात्सावनाभिरेव साध्या। अयमर्थस्त्रिप्रश्ने व्याख्यात एव। एतत्सावनघटिकाप्रसङ्गाल्लग्नार्थमपि सावना अङ्गीकृता इत्यर्थः॥२७॥

मरीचिः—ननु लग्नानयने पूर्वं सावनेष्टकाले तात्कालिकः सूर्यः। नाक्षत्रेष्टकाल औदयिकार्क इत्युक्तं कथं युज्यते। उदयकाले यो लग्नराशिस्तद्भोग्यकालस्यैव भोग्यत्वे-नाऽऽनीतत्वादुदयकालिकार्कादेव तत्तदानयनस्योचितत्वात्। न चेष्टकाले सूर्योदयात्सावनना-क्षत्रमानेन घटीसंख्ययोर्भेदादौदयिकार्कभोग्यग्रहणे लग्नभेदापत्तिः। नह्येककाले तद्घटिका-ग्रहणे लग्नभेदः संगच्छते। फलादेशकथनस्याशक्यत्वापत्तेः। क्षितिजप्रदेशे क्रान्तिवृत्तप्रदेश-द्वयस्य संलग्नताया एककालेऽनुपपत्तेश्च। अत उक्तरीत्येष्टकाले तत्तन्मानेन घट्योर्भेदवि (देऽपि) लग्नाभेद इति बोध्यम्। सावनेष्टकाल औदयिकार्कान्नक्षत्रेष्टकाले तद्घटीभिर्व्यस्त-चालितार्काल्लग्नाभेदसिद्धेस्तादृशोक्तौ नियामकाभावादित्यतः प्रसङ्गाद्वसन्ततिलकयाऽऽह। लग्नार्थमिति। लग्नसाधनार्थं यदि सावना इष्टघटिका गृहीतास्तदा तात्कालिकार्कसंपादन-द्वारा ता गृहीताः सावनघटिका नाक्षत्रा लग्नसाधनार्थं स्युः। न तु सावनाः। नन्विदम-संगतम्। एककाल एकावधेस्तत्समत्वासम्भवेन सावननाक्षत्रघट्योर्भेदावश्यंभावात्। तात्कालिकार्केण सावनघटीनां नक्षत्रसिद्धौ मानाभावाच्च। सौरचान्द्रत्वसिद्धिरेव कुतो न स्यात्। नियामकाभावादिति चेत्। न। एककाले भिन्नावधिभ्यां नाक्षत्रसावनघट्योर-भिन्नत्वसम्भवात्। तथा हि—सूर्योदयादिष्टकाले ज्ञाते ज्ञातसावनघटीनां नाक्षत्रघटिकाः कार्यास्तास्तु सावनषष्टिघटीभिर्गतिजासुतुल्यं सावननाक्षत्रान्तरं तदेष्टसावनघटीभिः किमित्यनुपातानीतासुयुतेष्टसावनघट्यः सूर्योदयादेव। तत्र सावननाक्षत्रघट्यन्तरतुल्यकालेन सूर्योदयकालादुपरि यः कालस्तस्य नाक्षत्रघट्यवधित्वकल्पने सूर्योदयावधिसिद्धेष्टकाल-

सम्बन्धिसावनघट्य एवेष्टकाले नाक्ष[त्र]घट्यो भवन्तीति प्रत्यक्षम् । कथमिदं तात्कालिकार्कग्रहणे सिद्धमिति चेच्छृणु स्वोदयभुक्तिघातात्खाभ्राष्टभूलब्धसमासुभिरु(रि)त्युक्तगतिजासुस्वरूपोत्पन्ननाक्षत्रसावनान्तरकालासुस्वरूपतुल्यसूर्योदयाग्रिमकाले क्रान्तिवृत्तप्रदेशः सूर्योदयात्कियान्प्रवहानिलेन चलित इति ज्ञानार्थमुदयासुभिरष्टादशशतकलास्तदा वत्कलासुभिः का इत्यनुपाते तत्स्वरूपग्रहणेनोदयास्य(स्व)ष्टादशशतकलयोस्तुल्यगुणहरत्वेन नाशाद्ग(ह)तिः सूर्योदयावध्यभीष्टसावनघटीगुणा षष्टिभक्तेति चालनस्वरूपमेव सिद्धम् । इदं तत्कालज्ञापकलग्नज्ञानाय सूर्योदयकालिकसूर्यतुल्यलग्नस्य योज्यम् । तल्लग्नयोरेतन्मितान्तरत्वात् तथा च तात्कालिकार्कस्तत्काललग्नस्वरूपस्तत्कालज्ञापक इति साधूक्तं तात्कालिकार्ककरणेनेत्यादि । नन्वेवं सावनघटीनां नाक्षत्रत्वसंपादनं लग्नानयने प्रयोजकं कुत इत्यत आह—आर्क्षोदया इति । हि यतः । इह लग्नानयने । वर्तमानलग्नराशिज्ञानार्थं नाक्षत्रराश्युदयासवोऽभीष्टनाक्षत्रघटचसुभ्यः सजातीयाभ्योऽपनेयाः शोध्याः सन्ति । लग्नस्य केवलप्रवहभ्रमणहेतुकत्वाद्वर्तमानलग्नराशिज्ञानार्थं नाक्षत्रत्वसंपादनमावश्यकमन्यथा लग्नज्ञानासिद्धिरिति भावः । अत एव नाक्षत्रेष्टकाले तात्कालिकार्कं विनौदयिकार्कादेव लग्नसिद्धिः फलितेत्यभिप्रायेण मन्दार्थमाह—तात्कालिकत्वमिति । अथ लग्नसाधनार्थं नाक्षत्रघटीनामेव प्रयोजकत्वसिद्धेर्लाघवात्प्रमत एव सावननिरक्षेपेण नाक्षत्र एव किं नाङ्गीकार्या इत्याशङ्कानन्तरम्, यदा । एतदाशङ्कापरिहारार्थं लग्नानयने इष्टघटिकास्ता नाक्षत्रा एव गृहीतास्तदा सूर्यस्य तात्कालिकत्वं न क्रियते । नापेक्षते । प्रयोजनाभावात् । अन्यथा तदसंगततापत्तिः । तथा च यत्काले लग्नं ज्ञातं तत्कालादभीष्टकाले नाक्षत्रघटीज्ञाने सति लग्नराशिभोग्यकालेष्टतत्कालाभ्यां लग्नसिद्धिरुक्तप्रकारेण भवतीतिचेत्सावनाः प्रष्टुरभीष्टनाडचस्तदैव तात्कालिकतिग्मरश्मेः । आर्क्ष्ये यदेष्टा घटिका विलग्नं कालश्च तत्रौदायिकात्सकृच्चेत्युक्तं त्रिप्रश्नाधिकारे सम्यगिति भावः । ननु तथाऽपि सावनघटिकाभिस्तात्कालिकार्काल्लग्नसाधनं गुरुभूतमाचार्यैः किमर्थमुक्तं कथं च लाघवादौदयिकार्कान्नाक्षत्रघटीभिर्लग्नसाधनं केवलं नोक्तमिति चेन्न । सूर्यग्रहणेऽमान्तघटीनां सावनत्वेन सिद्धेस्तात्कालिकार्काल्लग्नसाबनस्य गुरुभूतस्य ग्रहणगणितार्थमावश्यकत्वाच्च । लम्बनानयनोपजीव्यलग्नसाधनस्य सावनघटीभिरेव लघुभूतत्वात् । नक्षत्रघटीकरणश्रमेण तत्र नाक्षत्रघटीभिर्लग्नसाधने गौरवाच्च । एवमन्यत्रापीत्यलं विचारेण ॥२७॥

केदारदत्तः—लग्न साधन में सूर्य स्पष्ट का तात्कालिकीकरण—
लग्न साधन में यदि इष्ट घटिका सावनमान की हों तो सूर्य की तात्कालिकी करण से इष्ट घटिकायें नाक्षत्र मान की हो जाती हैं ।

राशियों के नाक्षत्र उदयमान इष्ट घटिका भी नाक्षत्र जातीय होनी चाहिए क्योंकि योग और वियोग सजातीय पदार्थों का ही होता है । यदि नाक्षत्रेष्ट घटी से ही लग्न साधन करनी है तो रवि का तात्कालिक करण अनावश्यक है ।

उपपत्ति—आचार्य ने उक्त विषय की स्पष्टता के लिये उदाहरण दिया है कि ५ अंगुल पलभा के नगर में, स्पष्ट अहोरात्र का मान घटी ६०-पल ७ और विपल २ होता है।

अभीष्ट इस नगर में यदि ६०।७।२ इष्टकाल में लग्न साधन करते हैं तो स्पष्ट सूर्य से लग्न मान अधिक आता है और यदि औदयिक स्पष्ट सूर्य से लग्न बनाई जाती है तो सूर्य स्पष्ट के तुल्य ही लग्न आती है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से सूर्य का तात्कालिकी करण उचित नहीं समझा जा रहा ? तो अर्क तात्कालिकीकरणगणित गोल से ठीक नहीं है क्या ?

नहीं, अर्कतात्कालिकीकरण ही गणित गोल से सही है। यदि इष्ट घटिका सावन हैं तो उन्हें नाक्षत्र मान में परिणत करना चाहिए। अनुपात से $\frac{\text{राश्युदयपल} \times \text{गतिकला}}{१८००}$ = फल। ६० घटी + फल = सावनेष्टम् तुल्य नाक्षत्र घटिका।

तथा $\frac{\text{राश्युदयपल} \times \text{इष्ट सम्बन्धी ग्रह गति}}{१८००}$ = इष्टकालीन ग्रह केवल इष्ट घटिका + इष्टकालीन ग्रहासु = नाक्षत्रेष्ट होता है। इस प्रकार सावन मान के लिये स्पष्ट सूर्य का तात्कालिकी करण करने से सावन इष्ट घटिकायें नाक्षत्रेष्ट घटिका हो जाने से राश्युदयासुओं के साथ योग वियोग उचित होता है।

यदि ऐसा ही ठीक है तो इष्टकाल को ही नाक्षत्र में क्यों नहीं मापा गया ? ठीक तो है किन्तु ग्रहवेधादि से जो छाया आदि उपलब्ध होती है वह सावन दिन सम्बन्धी ग्रह गणित उपकरणों से प्रत्यक्ष उपलब्ध होने से सावन इष्ट काल का नाक्षत्र मान में परिणत करने के लिये स्पष्ट सूर्य का तात्किलिकी करण उचित है।

क्षेत्र देखिए।
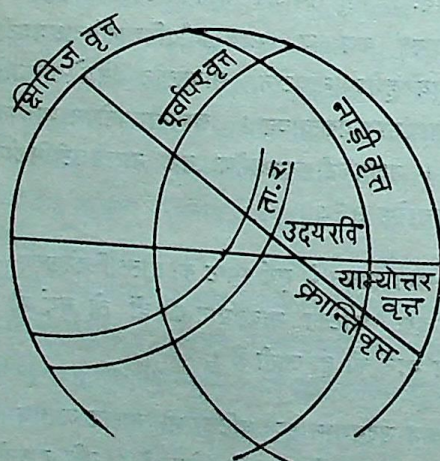
ता० र० = तात्कालिक सूर्य रवि। उ र = उदय रवि।

$$\text{सावन इ} + \frac{\text{साव इ} \times \text{ग्रह ग} \times \text{उदयमा}}{६० \times १८००} = \text{नाक्षत्र इष्ट काल।}$$

$$\therefore \text{सावन इष्ट} = \text{सावन} - \text{इ} + \frac{\text{साव इ०} \times \text{रग} \times \text{उदयमा}}{६० \times १८००} = \text{उदयसूर्य का भोग काल}$$

$$= \text{सा० इ०} + \frac{\text{साव इ} \times \text{रग०} \times \text{उदय० मा०}}{६० \times १८००} - \frac{(\text{उ० र० भु० क} \times १८००)}{१८००} \text{उदयमा}$$

$$= \frac{\text{साव० इ०} + \text{साव० इ०} \times \text{र० ग०} \times \text{उदयमा०}}{६० \times १८००} - \frac{\text{उद०मा०}}{१८००} (१८०० - \text{उ.र.भु.का})$$

$$= \text{साव इ०} + \frac{\text{उ मा०}}{१८००}\left(\frac{\text{सावइ} \times \text{र०ग०}}{६०} - १८०० + \text{उ० र० भु०}\right)$$

$$= \text{सा० इ०} + \frac{\text{उद मा०}}{१८००} \times \text{इ० र० भु का} - १८०० = \text{साव० इ०} \frac{\text{उ० मा०}}{१८००}$$

$$(१८०० - \text{इ० र० भु० क०})$$

$$= \text{सावनइष्ट} - \frac{\text{उदयमान}}{१८००} \times \text{इष्ट राशिभोग्य काल। उपपन्न है ।।२७।।}$$

इदानीं देशविशेषेण राशीन् सदोदितानतुदितांश्चाऽऽह—

त्र्यंशयुङ्नवरसाः ६९ पलांशका यत्र तत्र विषये कदाचन ।

२०

दृश्यते न मकरो न कार्मुकं किंच कर्किमिथुनौ सदोदितौ ।।२८।।

यत्र साङ्घ्रिगजवाजिसंमिता ७८ स्तत्र वृश्चिकचतुष्टयं न च ।

१५

दृश्यतेऽथ वृषभाच्चतुष्टयं सर्वदा समुदितं च लक्ष्यते ।।२९।।

यत्र तेऽथ नवतिः पलांशकास्तत्र काञ्चनगिरौ कदाचन ।

दृश्यते न भदलं तुलादिकं सर्वदा समुदितं क्रियादिकम् ।।३०।।

वा० भा०—अयमर्थस्त्रिप्रश्ने लम्बादिका क्रान्तिरुदक् च यावत्तावददिनं संततमेव तत्रेत्यादिना सम्यक्कथित एव। यत्र वृश्चिकान्तक्रान्तितुल्यो लम्बस्तत्रैते पलांशाः ६९।२९। तत्र धनुर्मकरौ क्षितिजादधःस्थितावेव भ्रमतः। कर्किमिथुनौ तूपर्येव। यत्र तुलान्तक्रान्तितुल्यो लम्बस्तत्राष्टसप्ततिः सप्तदशकलाधिका ७८। १७ पलांशास्तत्र वृश्चिकादिचतुष्टयं क्षितिजादधो वृषभादिकमुपरि। एवं मेरौ नवतिः ९० पलांशास्तत्र तुलादिषट्कमधो मेषादिकमुपरीति सर्वं भ्रगोले सति दृश्यते ।।२८।।२९।।३०।।

मरीचिः—अथान्यसंस्थितिज्ञानार्थं रथोद्धतयाऽऽह—त्र्यंशयुङ्नवरसा इति। यत्र देशेऽक्षांशा विंशतिकलाधिका एकोनसप्ततिः ६९। २०। तत्र देशे मकरः कल्पितमकरराशिः। कदाचन। कस्मिन्नपि काले। सदेत्यर्थः। न दृश्यते। तत्रत्यमनुष्याणां दृष्टिगोचरो न भवतीत्यर्थः। कल्पितधनुराशिरपि न दृश्यते। कल्पितधनुर्मकरराशी तत्रत्यानां नित्यमदृश्याविति फलितार्थः। तत्रैव विशेषान्तरमप्यस्तीति सूचनार्थमाह—किंचेति। तदा तत्कर्कमिथुनाविति। कल्पितकर्कमिथुनराशी नित्यमुदितौ। तत्रत्यानां दृष्टिगोचरयोग्यौ। अत्र मकरकर्कयोः प्रथमोक्त्याऽयनं संधितस्ततस्तदादिरूपादुभयतः प्रत्येकं राशिर्यथायोग्यमदृश्यो दृश्यश्चोभयत्राभिन्नक्रमोक्त्या दृश्यराशेः षडभान्तरो राशिरवश्यमदृश्य इति सूचितम्। अत्रोपपत्तिस्तत्षट्षडक्षांशदेशे याम्योत्तरवृत्तेऽयनसंधिसंलग्नयोस्थानयोः क्षितिजं लगति। तदधिकाक्षदेशे यावन्तोंऽशा अधिकास्तावद्भिरंशैस्ततस्थानाभ्यां दक्षिणोत्तरयोर्याम्योत्तरवृत्ते क्षितिजं संलग्नम्। तत्र यौ क्रान्तिवृत्तप्रदेशौ प्रवहानिलेन संलग्नौ भवतस्तदभ्यन्तरस्थिताल्पक्रान्तिवृत्तप्रदेशो दक्षिणोत्तरयोः क्षितिजात्क्रमेणाध ऊर्ध्वं सदा भ्रमत्यतस्तत्क्रान्तिवृत्तप्रदेशयोरदृश्यत्वे। तथा च यत्रायनसंधितस्तृतीयराशिक्रान्त्यंशान्तरेण क्षितिजं संलग्नं तत्रोक्तरीत्या मिथुनकर्कौ संपूर्णौ दृश्यौ धनुर्मकरौ संपूर्णावदृश्याविति फलितम्। तृतीयराशिक्रान्त्यंशास्तु राशिद्वयक्रान्त्यंशा राशिद्वयक्रान्त्यंशाश्चैते सावयवाः २०। ३७। ३५। एतदूनाः परक्रान्त्यंशा ३। २२। २५ एतदधिकाः षट्षष्टिस्तत्राक्षांशा एते ६९। २२। २५। तत्राऽऽचार्यैः शब्दलाघवार्थं स्वल्पान्तरत्र्यंशयुङ्नवरसा इत्युक्तम्। न्यूनग्रहणात्तदूनाक्षांशेऽयनसंधित उभयत्रैको राशिस्तदनुसारेण परिणतभागैरूनस्तथा। अधिकाक्षांशेषु तत्परिणतभागाधिको राशिस्तथेति सूचितं वा। एतदक्षांशैर्वडवासन्नदेशे तु दृश्यादृश्यत्वे वैपरीत्येनेति ध्येयम्। तथा च यथाऽस्मद्देशे द्वादशराशीनां प्रत्यहमुदयास्तदर्शनादुक्तं लग्नानयनं संगतं तद्देशे तथाऽष्टानां व्यवहितानामेव प्रत्यहं व्यवहिततयोदयास्तदर्शनाद्दृश्यराशीनां क्षितिजसंल्लग्नताया असंभवाच्चाव्यवहितद्वादशराशिलग्नक्रमाभिप्रायं लग्नानयनं समर्थयितुं ब्रह्मणोऽप्यशक्यमित्यन्यसंस्थितिताऽतिस्फुटेति भावः ॥२८॥

अथैतद्दार्ढ्यार्थं स्थलान्तरं विशेषान्तरप्रदर्शकं रथोद्धतयाऽऽह—यत्र साङ्घ्रीति। यस्मिन्देशे पञ्चदशकलाधिकाष्टसप्ततिरक्षांशास्तस्मिन्देशे वृश्चिकचतुष्टयं कल्पितवृश्चिकधनुर्मकरकुम्भा इति राशिचतुष्टयम्। चकारान्नित्यं न दृश्यते। अदृश्यमित्यर्थः। नित्यदृश्यतामाह—अथेति। तद्देशे वृषराशिमारभ्य राशिचतुष्टयम्। वृषमिथुनकर्कसिंहात्मकं सर्वकाले नित्यं समुदितं दृश्यम्। चः समुच्चये। लक्ष्यते गोलस्थित्या ज्ञायते। अस्मादृशां तद्देशस्थत्वासंभवादित्यर्थः। अत्रोपपत्तिः। एकराशिक्रान्त्यंशोन २२। ४३। १५ परक्रान्त्यंशान्तरेणा २३।१२६। ४५ यनसंधिसंलग्नयोग्ययाम्योत्तरस्थानात्तद्वृत्ते यस्मिन्देशे क्षितिजं लगति तत्र देशे द्वितीयतृतीयराशिसंबन्धिक्रान्त्यंसंबद्धा राशयो दृश्यादृश्या उक्तरीत्यैवेति द्वितीयतृतीयक्रान्तिभाग ८। ५४। १८। ३। ३२। २५। योगा ११। १६। ४५। धिकषट्षष्टिरक्षांशाः ७८। १६। ४५। अत्रापि शब्दसौकर्यार्थं साङ्घ्रीत्युक्तम्। स्वल्पा-

न्तरात् । तथा चात्र मीनमेषकन्यातुलानां चतुर्णां क्षितिजसंलग्नतोपपत्तेरन्येषामष्टानां तदनुपपत्तेर्लग्नानयनमुदयारत(सु)ज्ञानाभावाच्चासंगतमित्यन्यसंस्थता वज्रलेपायितेति भावः ॥२९॥

अथ प्रसङ्गात्सर्वराशीनां लग्नत्वासंभवस्थलं प्रसिद्धं रथोद्धतयाऽऽह—यत्र तेऽथेति । अथानन्तरं यस्मिन्देशे याम्योत्तरदेशीयक्षितिजभेदकारका अक्षांशा नवतिस्तस्मिन्प्रसिद्धे मेरुपर्वते कदाचन सदेत्यर्थः । तुलादिकं भदलं भानां द्वादशराशीनां दलमर्धराशिषट्कं न दृश्यते । मेषादिकं राशिषट्कं सदा समुदितं दृश्यं भवतीति शेषः । तथा चात्र विषुवद्-वृत्तस्य क्षितिजत्वात्तन्मार्गेण भ्रमतो कल्पितमेषतुलादिप्रदेशयोरतिसूक्ष्मयोरस्मदादिदृष्टच-विषययोरेव लग्नसंभवः । विषुवद्वृत्तात्क्षितिजरूपादूर्ध्वमधो भ्रममाणं भषट्कं दृश्यमदृश्यं च क्षितिजसंलग्नत्वानुपपत्त्या लग्नायोग्यमिति तत्र लग्नानयनं व्यर्थमेवेत्यन्यसंस्थिततयेति प्रागुक्तमेवेति भावः ॥३०॥

केदारदत्तः—जिस देश में ६९°।२०° के तुल्य अक्षांश होता है उस देश में धनु और मकर राशियाँ क्षितिज के नीचे ही रहने से नहीं दिखाई देती हैं और मिथुन कर्क राशियाँ क्षितिज के ऊपर होने से सदा उदित दिखाई देती हैं।

और जिस देश में अक्षांश ७८/१५ के तुल्य होता है उस देश में वृश्चिक-धनु-मकर और कुम्भ राशियाँ क्षितिज के नीचे रहने से ये राशियाँ अदृश्य अर्थात् नहीं दिखाई देती हैं। और वृषभ-मिथुन-कर्क और सिंह राशियाँ सदा उदित दिखाई देती हैं।

और जहाँ पर अक्षांश = ९० होता है अर्थात् ध्रुव स्थान (सुवर्ण पर्वत) में मेषादि ६ राशियाँ सदा उदित एवं तुलादि ६ राशियाँ क्षितिज के नीचे रहने से सदा अदृश्य रहती हैं।

उपपत्ति—पूर्व में बताया जा चुका है लम्बांश से अधिक क्रान्ति देशों में गोल देखकर उक्त सभी विषय सम्यक्ः मृति पथ में हो जाते हैं। जैसे ध्रुव से ९०° पर नाड़ी वृत्त रूप उत्तर ध्रुव के क्षितिज में उत्तर गोल में ६ राशियाँ क्षितिज के ऊपर होने से सदोदित होती हैं जो दक्षिण ध्रुव के नीचे होने से अस्त होती हैं। तात्पर्यतः उत्तर ध्रुव में हमारे मानव मान का ६ महीना = १ दिन, दक्षिण ध्रुव में मानव मान के ६ महीने की एक रात्रि भी सिद्ध होती है ॥२८।२९।३०॥

इदानीं लल्लोक्तस्य दृश्यादृश्यत्वलक्षणस्य दूषणमाह—

राशेर्यस्य निरक्षजोदयसमाः स्वीयाश्चरार्धासवो
दृश्यस्तत्र सदा स राशिरिति यन्निर्युक्ति लल्लोदितम् ।
यद्येवं रसषट् ६६ पलांशविषये सर्वेऽप्यमी सर्वदा
दृश्याः स्युर्युगपच्चरोदयघटीसाम्यादसत्तत्ततः ॥३१॥

वा० भा०—एकद्वित्रिराशीनां चराण्यधोऽधः शोधितानि तानि चरखण्डानि राशीनां पृथक्पृथक् स्वचरार्धानि चोच्यन्ते। निरक्षोदयासवो गगनभूधरषट्कचन्द्रा १६७० इत्यादयो यत्र देशे यस्य राशेः स्वचरार्धसमाः स राशिस्तत्र देशे सदा दृश्य इत्यत्र का युक्तिः। अन्यथा दृ [illegible] सर्वं युक्तिशून्यमुक्तम्। यद्येवं तर्हि यत्र षट्षष्टिः ६६ पलांशास्तत्र सर्वेषां स्वचरोदयसाम्यं स्यात्। युगपत्सर्वेषां सदा दृश्यत्वं मेरावपि न घटते किंत्वन्यत्रातस्तदसत् ॥३१॥

मरीचिः—ननूक्तं राशेर्नित्यदृश्यत्वं न युक्तम्। यस्य स्वचरार्धसमा निरक्षविषयोदयासवो राशेः। दृश्यः स सदा तस्मिन्दृश्यादृश्योऽन्यथा भवतीति लल्लोक्तस्थले तद्राशीनां व्यक्षोदयासुसमचरखण्डानुपपत्तेरित्यतः शार्दूलविक्रीडितेन तदनूद्य दूषयति—राशेर्यस्येति। यस्माद्द्वादशान्यतमस्य राशेः कल्पितस्य व्यक्षदेशोदयकालासुभिस्तुल्याः स्वीयाः स्वसंबन्धिनश्चरखण्डासवः। मेषादिराशित्रितयस्य यानि चराण्यधोधः परिशोधितानि तानि स्वदेशे चरखण्डकानि। इत्युक्तविध्यानीता तत्र देशे भवन्ति। परकीयसाम्यवारणाय स्वीया इति। तत्र देशे। सः। निरुक्तो राशिस्त्रिशङ्गागात्मकः सदा सर्वकाले दृश्यः। दर्शनयोग्य इति प्रागुक्तं लल्लोदितं लल्लेन स्वकृतगोलग्रन्थे यस्य स्वचरार्धसमा इत्यादिनोक्तं यत्तन्निर्युक्ति निरुपपत्तिकमित्यर्थः। सयुक्तिकमेव किं न स्यादत आह—यदीति। एवं सयुक्तिकमिदमङ्गीक्रियते चेत्तर्हि षट्षष्ट्यक्षांशे देशे। अमी बुद्धिस्था राशयः सर्वे द्वादश। न पुनस्त्रिचतुरा दृश्याश्चतु(क्षु)र्ग्रहणयोग्याः। एतद्देशेष्वपि द्वादशराशीनां क्रमेण तत्त्वादिदमापादनं न युक्तमतो युगपत्। समुदिता मिलिता इत्यर्थः। तत्त्वं च क्षितिजवृत्तानधःस्थत्वम्। तथाऽपि तद्देशे यत्किंचित्काले समुदितराशीनां दर्शनसंभवान्नोक्तदोषापत्तिरितः सर्वदेति। तथा चायमर्थस्तद्देशे द्वादश राशयः क्षितिजानधःस्थत्वेन सर्वकालावच्छेदेन चरखण्डोदयकालघट्योस्तुल्यत्वसद्भावाच्चक्षुर्ग्रहणयोग्या भवेयुरिति। न च चरखण्डनिरक्षोदयसाम्याभावोऽत्रेति वाच्यम्। अक्षांशानां षट्षष्टिमितत्वेनोक्तरीत्या मेषादिराशिचरज्यानां मेषादिजीवास्त्रिगृहद्युमौर्व्या क्षुण्णाहृताः स्वस्वदिनज्ययाऽऽप्ता इत्युक्तनिरक्षोदयज्याभिस्तुल्यत्वात्। यथा हि—अक्षप्रभासंगुणितेत्यादिना कुज्यारूपमक्षज्यायास्त्रिराशिद्युज्यारूपत्वेन परक्रान्तितुल्यलम्बज्याकोटावक्षज्या भुजस्तदा द्वादशकोटौ को भुज इत्यनुपातसिद्धाक्षत्रा(भा)ग्रहणेन द्वादशगुणहरयोर्नाशात्क्रान्तिज्या त्रिराशिद्युज्यागुणा परक्रान्तिज्याभक्तेति सिद्धम्। तत्रापि क्रान्तिज्यास्वरूपग्रहणेन परक्रान्तिज्ययोर्गुणहरयोनाशान्मेषादिज्यात्रिग्रहद्युज्यागुणात्रिज्याभक्तेति कुज्यारूपं फलितम्। ततः सा त्रिज्यकाघ्नी विहृता द्युमौर्व्या चरज्यकेत्यनेन त्रिज्ययोर्गुणहरयोर्नाशान्मेषादिजीवा इत्युक्तरूपचरज्या सिद्धा। तत्र क्षितिजस्य क्रान्तिवृत्ताकारत्वेनोन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराल इत्याद्युक्तचरकालस्य निरक्षोदयकार(ल)त्वेन गोले दर्शनाच्चेति। एकस्यापि राशेस्तत्र नित्यदृश्यत्वासंभवे त्वदुक्त्या द्वादशराशीनां नित्यदृश्यता तत्रासिद्धेति महाविरोधसूचकापिशब्दः। नन्वेवमिष्टापत्तिरत आह—असदिति। तत्। द्वादशराशिनित्यदृश्यत्वम्। तथा।

तत्राङ्गीकृतम् । असत् । न युक्तम् । क्षितिजवृत्तस्यायनसंधिस्थद्युरात्रवृत्त ए[वा]नाधिकत्वासंभवात्सर्वराशिनित्यदृश्यत्वाप्रसिद्धेरित्यर्थः । इयमतिव्याप्तिर्लक्षणाङ्गीकारे । वस्तुतो नित्यदृश्यस्थले तदसंभव एव दोष इति ध्येयम् ॥३१॥

केदारदत्तः—लल्लाचार्य का कथन सदोष है—

जिस राशि का उदय पल या असु, चरासु चरतुल्यकाल के तुल्य होता है वह राशि सदा दृश्य होती है । यह कथन युक्ति शून्य है ।

यदि लल्लाचार्य का कथन समीचीन है तो वहां ६६° अक्षांश देशों में चरासु = राश्युदयासु होने से सभी राशियों को सदा दृश्य होना चाहिए, प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं होता जो पूर्व में बताया गया है, अत लल्लाचार्य का कथन गोल ज्ञान के साथ समन्वयित नहीं होने से सदोष है ॥३१॥

इदानीमन्यद्दूषणमाह—

षट्षष्टिः सदला लवाः पलभवा यस्मिन्नतस्मिन्धनु-
र्नक्रश्चापि न वृश्चिको न च घटः पञ्चाद्रयो ७५।०यत्र च ।
दृश्यः स्यादिति यत्सदा प्रलपितं लल्लेन गोले निजे
गोलज्ञ त्रिलवोनितास्त उदिताः केनोच्यतां हेतुना ॥३२॥

वा० भा०—अत्र त्र्यंशयुङ्नवरसा इत्यादिभिर्भवितव्यम् ।६९।२१॥७८।१५। एषां स्थान एते ६६।३०।७५।०। त्रिभिस्त्रिभिरंशैरूनाः केन हेतुना लल्लेन निजे गोले पठिताः । हे तद्गोलज्ञ तत्प्रोच्यताम् ॥३२॥

[तथा नहि तेषां राशीनां निरक्षोदयसमानि स्वचरखण्डानि । तत्र परार्धान्यपि नाऽऽगच्छन्ति । चरज्यायास्त्रिज्यातोऽधिकत्वात् । अतः पूर्वश्लोकेऽतिदुष्टत्वमित्यर्थः] ॥३२॥

मरीचिः—ननु लल्लेनैव यस्य स्वचरार्धसमा इत्यादि तस्मिन्नित्यन्तं परमतमनूद्य दृश्यादृश्योऽन्यथा भवतीत्यनेन निरस्तम् । तदर्थस्तु नित्यदृश्यराशिर्नित्यादृश्यराशिश्च । अन्यथा । उक्त[प्र]कारेण न भवतीत्यर्थः । कथमन्यथा सदलाः पलस्य भागाः षट्षष्टिर्यत्र विषये स्युः । तत्र न कार्मुकमकरौ जनलोचनगोचरौ स्याताम् । पञ्चभिरधिकाः सप्ततिरंशा यस्मिन्पलस्य विषये स्युः । तत्र न वृश्चिककार्मुकमकरघटादृश्यतां यान्तीति तत्सम(नं)तरमेवोक्तं लल्लेन युज्यते । नहि तदुक्तस्थले तद्राशीनां स्वव्यक्षोदयकालसमचरखण्डसंभवो नैकवाक्यता तत्र । त्रिभराशिश्चरज्यायास्त्रिज्याधिकत्वादुक्तप्रकारेण तद्धनुःषु संभवादधोधःशोधनासंभवेन चरखण्डाज्ञानात् । षट्षष्टयक्षांशे सर्वराशीनां तत्साम्यनिश्चयात्तदधिकाक्षांशदेशे चरखण्डानामधिकत्वसंभवेन तत्साम्याभावनिश्चयाच्च । तथा च लग्नग्रन्थार्थानवबोधादाचार्यैर्लल्लोदितमित्युक्तं कथं संगतमित्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—षट्षष्टिरिति ।

यस्मिन्देशे पलभवा अक्षोत्पन्ना लवा अक्षांशा इत्यर्थः। सदलास्त्रिशतकलाधिकाः षट्षष्टिः षडधिकषष्टिर्भवन्ति तस्मिन्देशे धनुर्मकरश्चः समुच्चये। सदा सर्वकाले दृश्यो दर्शनयोग्यो न भवतीत्यर्थः। यत्र यस्मिन्देशे। पञ्चसप्ततिरक्षांशास्तत्र। अपिशब्दाद्धनुर्मकरावदृश्यौ। चः समुच्चये। अत्र विशेषमाह—नेति। वृश्चिको न दृश्यः। कुम्भः न दृश्यः। चकार एवकारार्थे। तेन सदा न दृश्य इति यत्किंचित्काले दृश्य इति चितार्थस्य निरास इति प्रागुक्तं निजे स्वरचिते गोले गोलग्रन्थे लल्लेन। प्रलपितमुक्तम्। सदलाः पलस्येत्यार्याभ्याम्। यत्। हे गोलज्ञ। सर्वदेशगोलस्थितितत्त्वबोधक। ते तद्राश्यदृश्यतादेशसंबन्ध्यक्षांशा वस्तुभूतास्त्रिलवोनिताः। त्रिभिर्भागैरूनाः। यद्यपि धनुर्द्वयादर्शनाक्षांशा दशकलोनैस्त्रिभिर्भागैरूनाः, वृश्चिकचतुष्टयादर्शनाक्षांशा दशकलोनैस्त्रिभिर्भागैरूनाः वृश्चिकचतुष्टयादर्शनाक्षांशा सपादैस्त्रिभिर्भागैरूनास्तथाऽप्येकोक्तिलाघवात्स्वल्पान्तराच्च भागत्रयोना अङ्गीकृताः। केन हेतुना। केन कारणेन। उदिता लल्लेनोक्तास्तत्कारणमुच्यताम्। तथा च गोलस्थित्या मदुक्ताक्षांशाः तद्राश्यदृश्यतादेशसंबन्धिउपपत्तिसिद्धाः। लल्लोक्तिस्तु निरुपपत्तिका। अतस्तद्ग्रन्थाविरोधार्थं पूर्वोक्तार्यायाः क्लिष्टार्थकल्पनमयुक्तम्। लल्लपूर्वैस्तदनुक्त्या परमप्रतीतेश्च। अत एव प्रलापोऽनर्थकं वच इत्यमरात्प्रलपितमित्यनेन बालकजल्पनवदेतदुक्तमुपेक्षणीयमिति भावः। नन्वाचार्यैर्लल्लोक्तमनवबोधाद्दूषितम्। तथा हि। यस्य क्रान्तिपातावधिकस्य राशेः। उपलक्षणाद्भागादेरित्यर्थः। स्वचरार्धसमाः स्वदेशे सा त्रिभिन्नज्यकाघ्नीत्यादिना यत्साधितं चरं तेन तुल्याः, निरक्षविषयोदयासवः। निरक्षपक्षोक्त्या निरक्षदेशे ये उदयकालासवोऽतुल्या भचक्रपदसम्बन्धिनः। अत्रातुल्यानामुदयकालानां युगपत्तत्तुल्यत्वासंभवात्तेषां योगरूपसमुदायमाक्षिपति। तेन भचक्रपदसंबन्धिनामुदयकालासूनामैक्यं चतुष्पञ्चाशच्छतं ५४००। एततुल्यो यस्य चरकालः स्व(स्वात्म)को यस्मिन्देश इत्यर्थः। तस्मिन्देशे। सः। आसन्नायनसंधित उभयतस्तदवधिभागादिसमुदायः सदा दर्शनयोग्यः। अन्यथा। एतदभावे। दृश्यादृश्य इति यथाश्रुतम्। न चेदमुभयोर्गोलयोः सत्त्वाद्विरुद्धमिति वाच्यम्। ये यत्र न दृश्यन्ते। दक्षिणगोलस्थिता ग्रहा विषये। तत्रैव तत्समीपक्रमान्न सौम्येऽस्तमुपयातीत्यनेन तेनोक्तलक्षणयोर्गोलभेदेन नित्यादृश्यादृश्यत्वोपपादनात्। अथाक्षांशकथनमतिविरुद्धमिति चेन्न। षट्षष्टिः षडधिका षष्टिः सदलाः स्वदलेन सहिता इत्यर्थादेकोनं शतमनुपपन्नम्। नवत्यधिकत्वात्। न च विशिष्टेऽन्वयनाबाद्विशेष्येऽन्वयः। तेनापि षण्णवतिसिद्धयोक्तदोषात्। तस्मात्परिशेषाद्विशेषणे विशेषणमिति न्यायात्षष्टिरित्यत्रान्वयस्तेनैकोनसप्ततिः सिद्धा। एवं पञ्चभिरित्यनेन भूगोलस्थभूतभागास्तात्पर्यानुरोधाल्लक्ष्यते। ते च भूमेश्चत्वारो भागाः। अन्येषामेकैको भाग इत्यष्टौ भागास्तेन षण्णवतिः सिद्धेति विरुद्धोक्तेरसंभवात्। अथात्राऽऽचार्योक्तं दूषणं परिहर्तुमशक्यम्। त्रिलवोनिता इत्यस्य रूपतृतीयांशेन विंशतिकलात्मकेनोना इत्यर्थात्। न चाष्टसप्ततिस्थाने पञ्चदशावयवस्य न्यूनत्वात्कथं त्रिलवोनिता इति वाच्यम्। एकोक्तिलाघवात्तदङ्गीकारात्। विनिगमकाभावादब्धिलवोनिता इत्येव कथं नोक्तमिति चेन्न।

स्वल्पांशस्यैव तत्त्वादिति । तन्न । अर्धन्यूनावयवत्यागस्य स्वल्पान्तरेण सांप्रदायिकत्वादिति चेत् । न । लग्नस्यैतदर्थे तात्पर्याभावात् । अन्यथैतदर्थफलितस्य त्रिज्यान्यूनचरज्यासंबन्धिन उत्तरगोले नित्यं दृश्या इत्यस्य सुगमत्वेन निबन्धनौचित्यप्रसङ्गात् । ऋज्वर्थस्य क्लिष्टार्थत्वोक्तौ प्रेक्षावदुपेक्षणीयत्वाच्चेत्यलं पल्लवितेन ॥३२॥

केदारदत्तः—आचार्य लल्लोक्ति में अन्य दोष—

६९।२१, ७८।१५ अक्षांश की जगह पर तीन-तीन अंश कम करने पर ६६।३० और ७५।० अंशों में जब चर का ही अभाव या त्रिज्या से अधिक ही चरज्या होती है, या वहाँ चरज्या होती ही नहीं तो "जिस राशि के निरक्षोदयासु के तुल्य चरासु होते हैं वह राशि उस अक्षांश में सदोदित होती है" कथन कैसे सिद्ध होगा ? लल्लोक्ति इस स्थल पर अति दुष्टा है ॥३२॥

उपपत्ति—पूर्व श्लोक से सुस्पष्ट है ।

अथाक्षलम्बज्ञानार्थमाह—

यन्त्रवेधविधिना ध्रुवोन्नतिर्या नतिश्च भवतोऽक्षलम्बकौ ।
तौ क्रमाद्विषुवदह्नयहर्दले येऽथवा नतसमुन्नता लवाः ॥३३॥

वा० भा०—चक्रयन्त्रेण ग्रहवेधवद्ध्रुवं विध्येत् । तत्र यन्त्रनेम्यां य उन्नतांशास्तेऽक्षांशाः । ये नतास्ते लम्बांशाः । अथवा विषुवद्दिनार्धे येऽर्कस्य नतोन्नतांशास्तेऽक्षलम्बांशा इति युक्तियुक्तम् ॥३३॥

मरीचि :—अथ द्युज्याकुज्यापमसमनरात्रा(ग्रा)क्षलम्बादिकानामित्याद्यर्थोक्तिप्रश्नस्योत्तरं विवक्षु प्रथमं देशपदार्थोपजीव्यत्वादक्षलम्बयोः स्वरूपं रथोद्धतयाऽऽह—यन्त्रवेधेति। यन्त्रेण चक्रयन्त्रेण यो वेधस्तस्य विधिः प्रकारस्तेनेत्यर्थः । या ध्रुवोन्नतिः । यदंशमिता ध्रुवताराया उच्चता क्षितिजात् । यन्त्रनेम्यां ज्ञाता । स्वमध्याद्यदंशमिता नतिर्नम्रता । तन्नम्रता । तत्र ज्ञाता । चः समुच्चये । तौ द्वौ द्वावुच्चनम्रांशौ क्रमादक्षलम्बकौ स्तः । अत्र कप्रत्ययेन ध्रुवस्य क्षितिजखमध्यास्यामन्तरे एव तयोः स्वरूपम् । अक्षसंबन्धादिति सूचितम् । नन्वेदं खार्धाद्रिवेर्या विषुवद्दिनार्घ इत्यादिना त्रिप्रश्नाधिकारेऽक्षलम्बज्ञानं कथमुक्तमत आह—विषुवदह्नीति । विषुवत्क्षणाभिन्ने मध्याह्ने इत्यर्थः । नतसमुन्नता लवा ये स्युस्ते क्रमेणाक्षलम्बौ प्रकारान्तरेण स्तः । तथा च ध्रुवस्थानां नवत्यंशान्तरिवस्थानस्योक्तवैपरीत्येन तज्ज्ञानजनकत्वसंभवादक्षतिः । अत्र नियतव्यञ्जकाभावात्तत्स्वरूपाप्रतीतेर्ध्रुवस्य नियतव्यञ्जकत्वात्तत्स्वरूपे नित्यप्रतीतिविषय इति भावः ॥३३॥

केदारदत्त :—वेध से अक्षांश और लम्बांश का ज्ञान बताया जा रहा है—

यष्टि वेध, नलिका वेध, चक्रयंत्रादिकों से रात में ध्रुव तारा का वेध करने से ध्रुव का उन्नतांश = अक्षांश और ध्रुव का नतांश = लम्बांश का ज्ञान करना चाहिए ।

अथवा—सायन मेष संक्रमण काल में मध्यान्ह में सूर्य के नतांश का मान अक्षांश और सूर्य के उन्नतांश का मान सूर्य वेध से लम्बांश का ज्ञान होता है ।।३३।।

उपपत्ति—मध्यान्ह में ग्रह बिम्ब से क्षितिज वृत्त तक दृङ्मण्डल में उन्नतांश होते हैं। सायन मेष संक्रमण काल में सूर्य बिम्ब निरक्ष खमध्य पर होने से अपने खमध्य एवं निरक्ष खमध्य का अन्तर चाप = अक्षांश तथा अपने खमध्म से ध्रुव विन्दु तक याम्योत्तर वृत्त में लम्बांश होते हैं। गोल युक्ति से सुस्पष्ट है।

अक्षांश की सूक्ष्मता के लिये उक्त कथन तभी सही होगा जब कि मेष संक्रमण मध्यान्ह में ही होगा। यह विशेष है। स्वल्पान्तर से सायन मेष संक्रमण दिन में भी उक्त कथन स्वल्पान्तर से ठीक कहा जा सकता है ।।३३।।

इदानीं शङ्क्वानयनवासनां सा... —

उन्नतं द्युनिशमण्डले कुजात्सावनं द्युतिविधौ हि तज्ज्यका।
तिर्यगक्षवशतोऽक्षकर्णवच्छेदको न तु नरः स लम्बवत् ।।३४।।

वा० भा०—अस्य वासना त्रिप्रश्ने कथितैव ।।३४।।

मरीचिः—अथ समशङ्कुस्वरूपं विवक्षुः प्रथमं तदुवजीव्यशङ्कुस्वरूपकथनं प्रसङ्ग-स्मारितत्रिप्रश्नोक्ततदानयने मध्याह्नोन्मतांशज्यारूपमध्याह्नशङ्कुवदिष्टकाल उन्नतांशानां ज्येष्ठशङ्कुर्भवितुमर्हतीति स्यादुन्नतं द्युगतशेषकयोरित्यवगतोन्नतकालस्यांशानां ज्येष्ठ-शङ्कुरिति कथं नोक्तं कथं चोन्नतकालाद्धृतिद्वारेष्टशङ्कुसाधनमुक्तमित्युपस्थिताशङ्कां रथोद्धतया परिहरति—उन्नतमिति। द्युनिशमण्डले। ग्रहबिम्बाधिष्ठितद्युरात्रवृत्ते। कुजात्। क्षितिजवृत्तस्य पूर्वभागात्पश्चिमभागाद्वाऽऽसन्नस्थितग्रहबिम्बपर्यन्तम्। यत्। उन्नतं द्व्यद्व्यात्मकं तद्ग्रहस्य सावनम्। ततः किमत आह—द्युतिविधाविति। तज्ज्यका। तस्य सावनस्य ज्या। हि यतः। अक्षवशतः। अक्षांशवशात्स्वदेशे गोले। अक्षकर्णवत्। तिर्यक्। अतो द्युतिविधौ। ग्रहच्छायासाधनप्रकारे। छेदको हृतिर्भवति। नतकर्मादिस्थल उन्नतांशज्या कोटिरूपैवेति सूचितम्। उत्तरयति—न त्विति। सः। उक्तसावनज्यात्मकः। नरो लम्बबत्। वक्ष्यमाणस्वरूपाल्लम्बरूपपरिणतो नैव भवति। तथा च निरक्षदेशेऽहोरात्रवृत्तानां तिर्यक्भावादुन्नतघट्यंशानां ज्यैवेष्टशङ्कुः पलभाभावाद् द्वादशतुल्याक्षकर्णवत्। साक्षे त्वक्षांशवशादेवाहोरात्रवृत्तानां तिर्यक्त्वादुन्नतज्या तिरश्चीना छायार्थं हृतिरिष्टशङ्कुकोटेः कर्णरूपेति तात्पर्यार्थः। यद्यप्युदयास्तसूत्राद्ग्रहबिम्बपर्यन्तं सूत्रस्य हृतित्वप्रतिपादनात्तज्ज्यकेत्युक्तमयुक्तम्। उदयास्तसूत्रस्याहोरात्रवृत्तमध्यस्थत्वा-भावात्। अर्धज्याग्रे इत्यादिना मध्यसूत्रावधित एव ज्यास्वरूपनिरूपणात्। अत एव न तत्कर्मणि नतज्यावदुन्नतकालज्याहृतिर्नोक्ता। किंत्वथोन्नतादूनयुताच्चरेणेत्यादिना कलां प्रसाध्यैवं क्षितिजीवया च कलायुतोना हृतिरिष्टकाल इत्यनेन सोक्ता। तथाऽपि हृतेरर्ध-

ज्यातु[ल्या]कारत्वेन या स्याद्रवेरुन्नतकालजोवाऽभीष्टा हृतिः सा प्रथमं प्रकल्प्या, इत्युक्त-रीत्या वा तदुक्तौ न क्षतिः ॥३४॥

केदारदत्त :—शङ्कु साधन विधान बताया जा रहा है—

क्षितिजाहोरात्रवृत्त सम्पात से अहोरात्रवृत्तस्थ ग्रह तक अहोरात्र वृत्त में उन्नतांश चाप अथवा यत्र कुत्र स्थान स्थित ग्रहोपरिगत दृङ्मण्डल वृत्त में क्षितिज से ग्रहबिम्ब तक उन्नतांश की ज्या का नाम शङ्कु एवं खमध्य से ग्रह बिम्ब तक उन्नतांश ज्या भुज होती है।

इस उन्नतांश ज्या का नाम शङ्कु और नतांश की ज्या का नाभ भुज सर्व साधारण से प्रसिद्ध हैं। ग्रहवेध से दृष्ट इष्ट छाया, ग्रह के सावनात्मक इष्ट काल में हो दृष्टिपथ में होती है।

उपपत्ति—उदय और अस्तक्षितिजाहोरात्र वृत्त सम्पात से उभतयतः पूर्वा पर गत सूत्रों का नाम सोदयास्त सूत्र एवं क्षितिजाहोरात्र वृत्त और ऊनमण्डल वृत्त के दोनों सम्पातगत सूत्रों का नाम निरक्षोदयास्त सूत्र होता है।

ग्रह बिम्ब से क्षितिज धरातलगत सूत्र का नाम शङ्कु तथा ग्रह बिम्ब से अहोरात्र वृत्त व्यासार्ध तक गत सूत्र का नाम उन्नतकाल ज्या होती है। उन्नतकालज्या मूल और शङ्कुमूल का अन्तर शङ्कुतल भुज होता है। तथा ग्रह बिम्ब से सोदयास्त सूत्रगत लम्बाकार सूत्र का नाम इष्ट हृति होती है, गोल दर्शन से स्फुट है। अक्षांश वशात् साक्ष देश में हृति तिर्यक् लम्बरूपिणी हो जाने पर भी वह इष्ट शङ्कु की तरह नहीं होती है।

क्षेत्र देखिये—

ग्र = ग्रह

ग्रमू = शङ्कु

ग्रच = उन्नतकाल ज्या

ग्रह = इष्ट हृति

मूह = शङ्कुतल

ध्यान देकर बुद्धिगत गोल की स्थिति के अनुसार उक्त क्षेत्र से इष्ट हृति और शङ्कु विषय ठीक समझ में आता है ॥३४॥

इदानीं केषांचिद्दूषणमाह—

चन्द्रप्रभार्थमसकृद्विधिनोदितं यत्
कैश्चित्कृतं खलु न सत्तदसावनत्वात् ।
जानन्ति ये न निपुणं गणितं सगोलं
तेषां तु तन्त्रकरणव्यसनं वृथैव ॥३५॥

वा० भा०—व्याख्यातमेव ॥३५॥

मरीचि.—ननु ग्रहसंबन्धेनाहोरात्रवृत्ते यदुन्नतं तत्सावनमेवेति व्यर्था तदुक्तिः उन्नतज्यकेत्यत्रैव तत्सिद्धः । नहि ग्रहः कदाचिदपि स्वगतिविरहेण प्रवहानिलेनैव भ्रमति । येनोन्नतकालस्य तदा नाक्षत्रत्वात्तद्वारणार्थं सावनपदं युक्तम् । तदा सावनत्वासिद्धेरित्यर्थतः सिद्धोद्धतयाऽऽह—चन्द्रप्रभार्थमिति । चन्द्रप्रभार्थम् । चन्द्रस्य च्छायासाधननिमित्तम् । कैश्चित् । लल्लादिभिः । समयोऽसकृदेव साध्य इत्यनेन धीवृद्धिदादिग्रन्थेषु तत्कालग्रहोदयेष्टलग्नाभ्यामसकृत्प्रकारेण । उन्नतमुदितमुक्तम् । यत्तत् सम्यक् । खलु निश्चयेन । न कृतम् । नोक्तमित्यर्थः । कुत इत्यतो हेतुमाह—असावनत्वादिति । तत्कालग्रहोदयेष्टलग्नाभ्यां साधितः कालः सावनस्तेन चालितं ग्रहोदयलग्नं स्वोदयकालीनमुदयलग्नम् । ताभ्यां साधितः कालो नाक्षत्रः सूक्ष्मः स्यादित्यसकृत्प्रकारेण कालस्य सावनत्वाभावेन ग्रहच्छायासाधनत्वानुपजीव्यत्वात् । ग्रहचलनेनैव च्छायाचलनात्तस्य सावनहेतुत्वात् । असकृदित्यस्य वारद्वयं बहुवारं चार्थं इत्युभयथासाधितकालस्य सावनत्वासिद्धेरित्यर्थः । ननु ग्रहस्य नित्योदयास्तकालौ प्रसाध्य स्वोदयकालीनोदयलग्नं स्वेष्टकालीनं लग्नं च साध्यम् । ताभ्यामानीतकालो नाक्षत्र इति पूर्वोक्तसकृद्रीत्या कालः सावन एवेति लल्लोक्तं सुस्थमित्यत आह—जानन्तीति । ये पुरुषाः सगोलं गोलस्वरूपसमेतं गणितं निपुणमत्यन्तं सूक्ष्मविचारेण न जानन्ति तेषां पुरुषाणां तन्त्रकरणव्यसनं गणितस्कन्धान्तर्गतत्वेन ग्रन्थनिर्माणविषयकचित्तैकाग्र्यं वृथा निष्प्रयोजकम् । एवकारात्कदाचिदपि तस्य व्यसनं सप्रयोजनं न भवेत् । तत्त्वाशुद्धया कुत्रचिदपि तदुक्तेरसंगतत्वावश्यंभावात्तज्ज्ञानेन प्रेक्षावतां तद्ग्रन्थे प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति सूचितमा तुकाराद्ये पुनर्गोलतत्त्वं गणितं च निपुणं जानन्ति तेषां ग्रन्थकरणव्यसनं पूर्वग्रन्थाधिकचमत्कारोत्पत्तौ युक्ततरमन्यथा वृथेति सूचितम् । एकदेशज्ञानं तु शूद्रस्य वेदाध्ययनाधिकारवद्ग्रन्थकरणेऽधिकार इति ध्येयम् । तथा चोक्तरीत्या जडकर्मत्वाल्लाघवादिष्टकालिकग्रहोदयलग्नाभ्यां सकृत्साधितकालस्य सावनत्वसिद्धेस्तादृशोक्तिरज्ञानहेतुकेति भावः ॥३५॥

केदारदत्तः— कुछ ग्रह गणितज्ञों ने चन्द्रछाया साधन के लिये असकृत गणित क्रम कहा है जो उचित नहीं है क्योंकि यह गणित कर्म सावन ग्रह की छाया से सम्बन्धित नहीं है । वे आचार्य ग्रहगणित गोल में निपुण नहीं है अर्थात् जो ग्रहगणित गौल ज्ञान से वञ्चित हैं उन्हें उक्त प्रकार के ग्रहगणित् तन्त्र ग्रन्थों की रचना करने का अधिकार नहीं है ।

उपपत्ति या युक्ति—इष्ट कालीन ग्रहस्पष्ट और इष्ट लग्न से साधित काल सावन माप में हैं। इष्टकालीन ग्रह इष्टकाल में भी चलित होकर इष्टकाल तुल्य गतिफल से सम्बन्धित हैं इससे चालित ग्रहोदय और लग्न अपने उदय काल में उदय लग्न होती है। इससे साधित काल सूक्ष्म नाक्षत्र काल होते हैं ऐसा असकृत प्रकार से साधित काल सावनात्मक नहीं है। जिस प्रकार ग्रह अपनी गति से चलित है उसी गति के आधार से ग्रह की छाया भी प्रतिक्षण ग्रह गति वेग की तरह चलनशील है, अतएव वहाँ पर असकृत कर्म प्राप्त ही नहीं है अतः गणित से चन्द्रछायादि इष्टकाल साधन गणित, गोल ज्ञान से बहिर्भूत है।

ग्रहगोल गणिताचार्य भास्कर इस स्थल पर भी "लल्लाचार्य" पर कटु आक्षेप करने में संकोच नहीं कर रहे हैं ॥३५॥

उपपत्ति—पूर्व में द्रव्यष्ट है।

इदानीं शङ्कुस्थानमाह—

दृष्टिमण्डलभवा लवाः कुजादुन्नता गगनमध्यतो नताः।
शङ्कुरुन्नतलवज्यका भवेद्दृग्गुणश्च नतभागशिञ्जिनी ॥३६॥
भास्करेऽत्र सममण्डलोपगे यो नरः स समशङ्कुरुच्यते।
कोणशङ्कुरथ कोणवृत्तगे मध्यशङ्कुरिति दक्षिणोत्तरे ॥३७॥
कुपृष्ठगानां कुदलेन हीनं दृङ्मण्डलार्धं खचरस्य दृश्यम्।
कुच्छन्नलिप्तानुरतो विशोध्याः स्वभुक्तितिथ्यंशमिताः प्रभार्थम् ।३८।

वा० भा०—दृङ्मण्डले क्षितिजादुपरि ग्रहपर्यन्तं येऽशास्त उन्नताः। खमध्या-दधस्ते नताः। उन्नतांशानां ज्या शङ्कुः। नतांशज्या दृग्ज्या। शङ्कुः कुच्छन्न-लिप्ताभिरूनः कार्यः। द्रष्टुः कुदलेनोच्छ्रितत्वात्। अयमर्थो ग्रहच्छायाधिकारे-व्याख्यात एव ॥३६॥३७॥३८॥

मरीचिः—अथ शङ्कुस्वरूपं तत्प्रसङ्गाद्दृग्ज्यास्वरूपं रथोद्धतयाऽऽह–दृष्टिमण्डलेति। दृग्वृत्तसंबन्धिनोंऽशा ये क्षितिजादुन्नता अभीष्टस्थानपर्यंन्तं ते उन्नतांशा अभीष्टस्थानपर्यन्तं खमध्यस्थानान्नतास्ते नतांशाः। ननु शङ्कुदृग्ज्यास्वरूपकथनोपक्रमेऽनयोर्निरूपणं संगति-विरुद्धमत आह—शङ्कुरिति। उन्नतांशानां ज्या शङ्कुर्भवेत्। कप्रत्ययेन तदतिरिक्तां-शानां ज्या शङ्कुर्न भवेत्। नतांशानां ज्या दृग्ज्या स्यात्। च एवार्थे। तेनान्येषामंशानां ज्या सा न भवेत् ॥३६॥

अथ समशङ्कुस्वस्त्यं(रूपं)तत्प्रसङ्गात्कोणदिनार्धशङ्कुस्वरूपे च रथोद्धतयाऽऽह— भास्करेऽत्रेति। समवृत्तोपगते सूर्ये। अत्र दृग्वृत्ते। चलत्वात्। सूर्यस्थानसंबन्धेन यो नरो भवति स समशङ्कुः पूर्वैरुच्यते। कोणवृत्तस्थेऽर्के इति। पूर्वोक्तरीत्या यः शङ्कुर्भवति स

कोणशङ्कुः । अत्र भास्करपदं दर्शनयोग्यच्छायोपजीव्यशङ्कुज्ञानार्थम् वस्तुतः । समवृत्ते । उन्नतानां ज्या समशङ्कुः कोणवृत्ते कोणशङ्कुरिति स्वरूपकथनम् । एवं दक्षिणोत्तरवृत्त इति । पूर्वोक्तरीत्या यः शङ्कुः स मध्यशङ्कुर्दिनार्धशङ्कुरित्यर्थः ॥३७॥

अथ प्रसङ्गाद्ग्रहच्छायाधिकारोक्तस्वभुक्तितिथ्यंशविवर्जितोना महानित्यादिविशेषस्योपपत्तिमुपजातिकयाऽऽह—कुपृष्ठगानामिति । यतः कुपृष्ठस्थितानां मनुष्याणां दृग्वृत्तस्यार्धं कुदलेन भूव्यासार्धेन पूर्वापरयोः प्रत्येकं हीनं दृश्यमस्ति । भूगर्भक्षितिजोपरि दृग्वृत्तार्धस्यतत्स्व(स्थ)दृश्यत्वात् । ततो भूव्यासार्धान्तरेण भूपृष्ठस्थानामुच्छ्रितत्वात्तत्क्षितिजस्यापि तदन्तरेणैवोच्छ्रितत्वात् । क्षितिजादधःस्थस्यादृश्यत्वादतः कारणात् । ग्रहस्य भूगर्भसंबन्धावगतशङ्कोर्मध्ये । कुच्छन्नलिप्ताः । भूव्यासार्धेन च्छन्ना अदृश्याः कलाः स्वभुक्तितिथ्यंशमिताः शङ्कुसंबन्धिग्रहमध्यमगतेः पञ्चदशांशप्रमाणा गतियोजनपञ्चदशांशस्य भूव्यासार्धतुल्यत्वात् । विशोध्या हीनाः कृतास्तेन भूपृष्ठे शङ्कुर्भवति । ननु भूपृष्ठसंबन्धेनाक्षांशचरादीनामपि भिन्नत्वात्तत्साधनावश्यकत्वेपि तन्न साधितं गणितसाधनस्य भूगर्भत एव कक्षामध्यकेन्द्रत्वेनोत्पत्तेस्तथा शङ्कुरपि भूगर्भीय एव न भूपृष्ठसंबन्धेन साध्य इत्यत आह—प्रभार्थमिति । छायासाधननिमित्तमित्यर्थः । तथा च भूगर्भसंबन्धावगतशङ्कोः साधितच्छाया भूगर्भे भवत्यतोऽस्मदादीनां तदप्रतीतेर्भूपृष्ठसंबन्धावगतशङ्कोः साधितच्छायाया अस्मदादिप्रतीतियोग्यत्वान्नलिकाबन्धोपजीव्यत्वाच्चोक्तं सम्यगिति भावः ॥३८॥

केदारदत्तः—शङ्कु की स्थिति और स्थान—

दृङ् मण्डल में क्षितिज से ग्रह बिम्ब तक उन्नतांश और खमध्य से ग्रह तक नतांश होते हैं । उन्नतांश ज्या का नाम शङ्कु और नतांश ज्या का नाम दृग्ज्या होता है ।

पूर्वापराहोरात्र वृत्त सम्पात से क्षितिज धरातल गत रेखा पर लम्ब का नाम समशङ्कु होता है ।

कोणाहोरात्रवृत्रसम्पातगत ग्रह बिम्ब से क्षितिज धरातलगत शंकु का नाम कोण शङ्कु, एवं याम्योत्तराहोत्रवृत्तसम्पात से क्षितिज धरातलगत सूत्र का नाम याम्योत्तराहोरात्र वृत्त सम्पात से क्षितिजधरातल गत ब्रिम्ब का नाम मध्याह्न शङ्कु होता है ।

उपपत्ति—समग्र खगोल गणित भूकेन्द्राभिप्रायिक कक्षा वृत्त में होता है । परन्तु आकाश दर्शक दृष्टा कीतो भूगर्भक्षितिज में दृष्टि न होकर अपने पृष्ठ स्थान पर शङ्कु द्वारा दृष्ट छाया होने से शङ्कु में गर्भ और पृष्ठ के अन्तर रूप भूव्यासार्ध रूपमान में अन्तर पड़ता है । इस लिये गर्भीय नतांशों में भूव्यासार्ध रूप अन्तर को कम करते हुये भूपृष्ठीय स्पष्ट शङ्कु से छाया साधन समीचीन होता है । इसलिये गर्भीय शङ्कु में कुछन्न कला कम करने से शेष तुल्य पृष्ठ शङ्कु से गणित क्रिया करनी चाहिए ।

उपपत्तिः—

चूँकि—

$$\frac{\text{योजन गति तिथ्यंश}}{१५} = \text{भूव्यासार्ध}$$

पृष्ठीय शङ्कु = गर्भीयशङ्कु − कुछन्न कला

अतः गर्भीयशङ्कु−कुछन्न कला = $\frac{\text{गतियोजन}}{१५}$ = पृष्ठीय शङ्कु उपपन्न होता है ॥३६॥३७॥३८॥

इदानीमग्रामुदयास्तसूत्रं चाऽऽह—

क्ष्माजे द्युरात्रसममण्डलमध्यभाग-
जीवाग्रका भवति पूर्वपराशयोः सा ।
अग्राग्रयोः प्रगुणमत्र निबद्धसूत्रं
यत्तद्वदन्ति गणका उदयास्तसूत्रम् ॥३९॥
सूत्राद्दिवाशङ्कुतलं यमाशं याम्यां गतं हि द्युनिशं कुजोर्ध्वे ।
अधश्च सौम्यां निशि सौम्यमस्मात्सद्युक्तियुक्तं नृतलं निरुक्तम् ॥४०॥
सौम्याग्रकाग्रान्नृतलं हि याम्यं याम्याग्रकाग्रात्पुनरेव याम्यम् ।
तदन्तरैक्यं समवृत्तखेटमध्यांशजीवां भुवि बाहुमाहुः ॥४१॥
दृग्ज्यां श्रुतिं चाथ तयोस्तु कोटिं पूर्वापरां वर्गवियोगमूलम् ।

वा० भा०—क्षितिजस्वाहोरात्रवृत्तसंपातयोर्बद्धं सूत्रमुदयास्तसूत्रम् । ग्रहस्थानाल्लम्बः शङ्कुः । तस्य तलमुदयास्तसूत्राद्दक्षिणतो भवति । यतः क्षितिजादुपरि दक्षिणतोऽहोरात्रवृत्तं गतम् । अधस्तूत्तरतो गतम् । अतो निस्युत्तरं नृतलम् । अथ भुज उच्यते । उत्तरगोलेऽग्रोत्तरा नृतलं याम्यमतस्तेनौनाग्रा बाहुर्भवति । बाहुर्नाम शङ्कुप्राच्यपरसूत्रयोरन्तरम् । यदाऽग्रा शङ्कुतलादूना तदा तयोरन्तरं दक्षिणं शङ्कुतलं बाहुः स्यात् । एवं समवृत्तप्रदेशादुपरि । दक्षिणगोले त्वग्रा याम्या शङ्कुतलं च याम्यं तयोर्योगे कृते बाहुः स्यात् । रविसममण्डलयोरन्तराशानां ज्या बाहुः । तत्र या दृग्ज्या स कर्णः । तयोर्वर्गान्तिरपदं पूर्वापरा कोटिः ॥३९॥४०॥४१॥

मरीचिः—अथाग्रास्वरूपमुदयास्तसूत्रस्वरूपं च वसन्ततिलकयाऽऽह—क्ष्माजे द्युरात्रेति । क्षितिजवृत्ते । द्युरात्रसमवृत्तयोर्मध्यस्थितांशानाम् । ज्या । अग्रा । सा । अग्रा । पूर्वपराशयोः क्षितिजस्य पूर्वभागे पश्चिमभागे च भवति । अत्र । निबद्धदृग्गोले । पूर्वापराग्रसंबन्ध्येकद्युरात्रवृत्तप्रदेशयोर्निबद्धसूत्रं यत्तद् गणकाः प्राचीना उदयास्तसूत्रं वदन्ति । गणका वदन्तीत्यनेन प्रतिक्षणं ग्रहस्य द्युरात्रानेकत्वसंबन्धादुदयास्तसूत्रमिदमसंगतमपि स्वल्पान्तरत्वादङ्गीकृतम् । वस्तुभूतसूत्रस्य द्युरात्रान्तरसंबन्धादनुपयुक्त[त्व]मितिसूचितम् । ननूदयास्तसूत्रं किमर्थमत आह—प्रगुणमिति । प्रकर्षेण गुणा विद्यन्ते यस्य तत् । वक्ष्यमाणपदार्थस्वरूपप्रतिपादनोपजीव्यमित्यर्थः ॥३९॥

अथ नलिकाबन्धोपयुक्तभुजस्योपपत्तिं विवक्षुः प्रथमं शङ्कुतलस्वरूपं तदुपयुक्तमुपजातिकयाऽऽह—सूत्रादिति। सूत्रात्। उदयास्तसूत्रात्। दिवा ग्रहदर्शनयोग्यकाल इत्यर्थः। शङ्कुतलम्। शङ्कोर्मूलं दक्षिणदिक्कम्। अत्र हेतुमाह—याम्यामिति। कुजोर्ध्वे। क्षितिजादुपरि। हि यतः। द्युनिशमहोरात्रवृत्तम्। दक्षिणदिशं प्रति। दक्षिणदिशीत्यर्थः। गतं नतमित्यर्थः। अक्षांशवशाद्दक्षिणतो नतेभ्यो द्युरात्रवृत्तप्रदेशेभ्योऽवलम्बसूत्रं दक्षिणत उदयास्तसूत्रात्पततीति भावः। चकारात्क्षितिजवृत्तादधोऽहोरात्रवृत्तमुत्तरदिशं प्रत्युत्तरस्यामित्यर्थः। स्थितम्। अस्मात्कारणात्। निशि। ग्रहादर्शनकाले शङ्कुतलम्। सौम्यमुत्तरदिक्कम्। निरुक्तम्। सौम्यं त्वधोमुखनरस्य तलं प्रदिष्टमित्यनेन शृङ्गोन्नत्यधिकारोक्तमित्यर्थः। ननूत्तरशङ्कुतले तथा प्रतीतेरभावात्त्वदुक्तमसंगतमित्यत आह—सद्युक्तियुक्तमिति। सत्समीचीना युक्तिस्तयाऽन्वितम्। तथा च क्षितिजादधोभागस्थद्युरात्रवृत्त प्रदेशेभ्यः सूत्रमृजुतया नीतमूर्ध्वमुदयास्तसूत्रादुत्तरभागे भवतीति प्रतीतिरिति भावः। निरक्षदेशाद्दक्षिणदेशे तु वैपरीत्यमिति ध्येयम् ॥४०॥

अथ भुजोपपत्तिमुपजातिकयाऽऽह—सौम्याग्रेति। हि यतः। उत्तरगोलसंबन्ध्यग्राया अग्रं तस्मादित्यर्थः। शङ्कुतलं शङ्कुमूलोदयास्तसूत्रान्तरमित्यर्थः। याम्यं दक्षिणदिक्कं भवति। याम्यगोलसंबन्ध्यग्राया अग्रात्पुनः सुतरामित्यर्थः। दक्षिणदिक्कं भवति। एवकाराद्याम्याग्राच्छङ्कुतलमुत्तरमित्यस्य निरासः। अतः कारणात्। तदन्तरैक्यं गोलक्रमेण। तयोः शङ्कुतलाग्रयोरन्तरमैक्यम्। समवृत्तखेटमध्यांशजीवां समवृत्तप्रदेशग्रहयोर्मध्यस्थितांशानां ज्यारूपं गोले। भुवि गोलस्य क्षितिजवृत्तसमभागे भुजं पूर्वाचार्या आहुः ॥४१॥

केदारदत्तः—अग्रा और उदयास्त सूत्र बन्धन—

क्षितिज और अहोरात्र वृत्त सम्पात द्वय बद्ध सूत्र को उदयास्त सूत्र कहते हैं। ग्रह स्थान से क्षितिजधरातलगत लम्ब का नाम शङ्कु का मूल जो उदयास्त से दक्षिण में शङ्कुतल होता है इस लिये क्षितिज के ऊपर अहोरात्र वृत्त दक्षिण की तरफ नत और क्षितिज के नीचे अहोरात्र वृत्त उत्तर को नत होते हैं इसलिये रात्रि में क्षितिज के नीचे शङ्कु मूल उदयास्त सूत्र से उत्तर तरफ नत होते हैं। अग्राग्र बद्ध सूत्र अग्रा, उदयास्त द्वय बद्ध सूत्र स्वोदयास्त और पूर्वस्वस्तिक पश्चिम स्वस्तिक गत सूत्र का नाम पूर्वापर सूत्र होता है।

उपपत्ति—अग्रा और शङ्कुतल के योग वियोग से भुज ज्ञान होता है। जो पूर्वापर और शङ्कुमूल का याम्योत्तरान्तर होता है। दृग्ज्या = कर्ण, सूर्य और पूर्वापर वृत्त के अन्तर चाप की ज्या = भुज अतः कर्ण^2 − भुज^2 = पूर्वापर सूत्र में कोटि होती है। ॥३९॥४०॥४१॥

इदानीं क्रान्तिक्षेत्राण्याह—

क्षेत्राणि वक्ष्येऽपमसंभवानि संक्षेपतोऽक्षःप्रभवाणि चातः ॥४२॥

भुजोऽपमःकोटिगुणो द्युजीवा कर्णस्त्रिभज्या त्रिभुजेऽपमोत्थे ।
मेषादिजीवाः श्रुतयोऽपवृत्ते तद्भूमिजे क्रान्तिगुणा भुजाः स्युः ॥४३॥
तत्कोटयः स्वद्युनिशाख्यवृत्ते व्यासार्धवृत्ते परिणामितानाम् ।
चापेषु तासामसवस्ततो ये तेऽधो विशुद्धा उदया निरक्षे ॥४४॥

वा० भा०—स्पष्टम् । एषां क्षेत्राणामुपपत्तिः स्पष्टाधिकारे दर्शितैव ॥४२॥ ॥४३॥॥४४॥

मरीचिः—अथ भुजस्य कर्णकोटिसापेक्षत्वेन तत्क्षेत्रं प्रदर्शयन्वक्ष्यमाणमिन्द्रवज्रया प्रतिजानीते—दृग्ज्यामिति । अत्र निरुक्तभुजसंम्बन्धिक्षेत्रे । दृग्ज्यां कर्णम् । चकारात्पूर्वाचार्या आहुः । तयोर्भुजकर्णयोर्वर्गान्तरपदं कोटिम् । तुकारात्पूर्वाचार्या आहुः । ननु भुजस्य शङ्कुमूलप्राच्यपरसूत्रान्तरत्वेन प्रतिपादनात् कर्णस्य दृग्ज्यात्वेन स्वरूपप्रतिपादनात् कोटिर्गोले कथं न दृश्यते इत्यत आह—पूर्वापरामिति । तथा च भुजमूलभूगर्भान्तरस्थं प्राच्यपरसूत्रं कोटिर्गोले दृश्यत एवेति भावः । नन्वेतद्भुजस्वरूपप्रतिपादनात्त्रिप्रश्नाधिकारोक्तभुजस्योपपत्तिः कथं प्रदर्शिता । नहि तदधिकारेऽग्राशङ्कुतलयोर्यथोक्तसंस्कारेण भुजः प्रतिपादितः । येन तत्स्वरूपोक्तिरिति चेन्न । उक्तभुजस्वरूपस्य ग्रहसंबन्धेनोक्तत्वात् । छायाग्रस्य ग्रहापरदिङ्नियमादुक्तस्वरूपवैपरीत्येन तदवगमात् । तथा हि । ग्रहषड्भान्तरितप्रदेशसंबन्धेन शङ्कुतलं सौम्यं दिने । रात्रौ दक्षिणम् । अग्रोत्तरगोले दक्षिणा । दक्षिणगोले तूत्तरा । महाशङ्कोर्द्वादशाङ्गुलशङ्कोस्तु पलभा शङ्कुतलम् । कर्णवृत्ताग्राग्रा । अनयोः संस्कारात्त्रिप्रश्नोक्तभुजः सिद्ध एवेति संक्षेपः । अथ द्युज्यानयनोपपत्तिज्ञानार्थं क्रान्तिक्षेत्रं तत्प्रसङ्गादाहितीयक्रान्तिक्षेत्रमपि निरूपणीयम् । तत्र विना प्रतिज्ञां तत्कथने पूर्वापरग्रन्थसंबन्धाभावादसंगतत्वापत्तिरित्यतः क्रान्तिक्षेत्रनिरूपणं प्रतिजानीते-क्षेत्राणीति । अतोऽनन्तरम् । क्रान्त्युत्पन्ननि क्षेत्राणि । संक्षेपतः कानिचित् । सकलानां निरूपणे ग्रन्थबाहुल्यसंभवात् । वक्ष्ये । यद्यपि क्रान्त्युत्पन्नक्षेत्रे उक्ते इति क्षेत्राणीति बहुवचनमनुपपन्नम् । तथाऽपि क्रान्तिवृत्तप्रतिदेशं तत्क्षेत्रयोः संभवेन बहुत्वसंभवः क्षेत्रे भुजकोटिकर्णानां सत्त्वाद्वा । अथ कुज्यासमशङ्क्वादीनामानयनोपपत्तिज्ञानार्थमक्षक्षेत्रनिरूपणं प्रतिजानीते—अक्षप्रभवाणीति । अक्षोत्पन्नानि । चकारात्क्षेत्राणि । संक्षेपतो ल(व)क्ष्ये इत्यर्थः । यद्यपि त्रिप्रश्नाधिकारेऽत्रऽक्षक्षेत्राण्युक्तानीति पौनरुक्त्यं तथापि तत्र पदार्थोद्देशेनैवाऽऽनयनार्थमुक्तेरत्र च तेषां गोले तत्स्वरूपसंनिवेशकथनद्वारोक्तत्वान्न दोषः ॥ ४२ ॥

अथ प्रथमोद्दिष्टक्रान्तिक्षेत्रे उपजातिकेन्द्रवज्राभ्यामाह—भुजोऽपम इति । अपमोत्थे । क्रान्तिवशादुत्पन्ने । त्रिभुजे । जात्यत्र्यस्रे । अपमः क्रान्तिज्येत्यर्थः ।भुजः । द्युज्याकोटिगुणः कोटिसूत्रम् । कोटिरिति यावत् । अत्रापमसंबन्धापेक्षितो गुणशब्दः कोटिसंबन्धेनाऽऽचार्यैर्भ्रमाद्दत्त इत्येतत्परिहारार्थं भुजोऽपमज्या द्युगुणस्तु कोटि रितिपाठः । त्रिराशिज्या कर्णः ।

एतत्क्षेत्रादेवास्य वर्गं त्रिज्याकृतेः प्रोज्झ (ज्झ्य)पदं द्युजीवेति स्पष्टाधिकारोक्तं सूपपन्नम् । द्वितीयमाह—मेषादिजीवा इति । अपवृत्ते क्रान्तिवृत्ते । मेषादिजीवाः । कल्पितमेषादितो राशीनामेकद्वित्रयाणां ज्या कर्णः । तद्भूमिजे । निरक्षभूगर्भक्षितिजवृत्ते । क्रान्तिगुणाः । तद्राशीनां क्रान्तिज्याः । भुजा भवन्ति । तद्राशीनां द्युनिशाख्यवृत्ते । तत्कोटयः । तत्क्षेत्राणां कोटयः । अत्र राशिरित्युपलक्षणम् । पदान्तर्गतभागानामिति ध्येयम् । नन्वेतत्क्षेत्रस्य किं प्रयोजनमत आह—व्यासार्धवृत्त इति । ततस्तत्क्षेत्रात्तासां तद्राशिक्षेत्रसंबन्धिकोटीनामुत्पन्नानाम् । स्वक्रान्तिज्यावर्गहीनायाः स्वदोर्ज्यायाः पदरूपाणामित्यर्थः । व्यासार्धवृत्ते । त्रिज्यावृत्ते परिणामितानाम् । परिणामः संजातो यासाम् । त्रिज्यागुणितानां द्युज्याभक्तानां चेत्यर्थः । चापेषु येऽसवः । ते स्वाधः शुद्धाः निरक्षदेशे तद्राशीनामुदयासवो भवन्ति । ततश्चैतत्क्षेत्रभेदेभ्य एव । एकस्य राशेर्महती ज्यका या द्वयोस्त्रिभस्यापि कृतीकृतानामित्यादिपद्म(द्य)द्वयेन स्पष्टाधिकारोक्तं निरक्षोदयसाधनं सूपपन्नमिति भावः ।।४४।।

केदारदत्तः—क्रान्तिसाधनपूर्वक निरक्ष देशीय उदयासु साधन तथा संक्षेपतः क्रान्ति क्षेत्रों की उत्पत्ति कही जा रही है ।

(१) क्रान्तिज्या = भुज, द्युज्या = कोटि और त्रिज्या = कर्ण ।

(२) क्रान्तिवृत्त में मेषादि तीन राशियों की ज्या = भुजांशज्या = कर्ण तथा क्रान्तिज्या = भुज । अहोरात्र वृत्त में तीनों की कोटियाँ अपनी-अपनी क्रान्तिज्या वर्ग से रहित भुजज्या वर्ग का मूल कोटि का मान भुज कोटिज्या व्याससार्धवृत्त में होने से $\frac{\text{विषुवांशज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}}$ = नाड़ी वृत्त में एकादि राशियों के उदयासु होते हैं । तृतीय राशि उदयासु—द्वितीय राशि उदयासु, एवं द्वितीय राशि उदयासु—प्रथम राशि उदयासु द्वितीय तथाप्रथम राशि उदयासु इस प्रकार मेषादि तीन राशियों के उदयासु पूर्वक १२ राशियों के निरक्षोदयासु होते है ।।४२।४३।४४।।

अथाक्षक्षेत्राण्याह—

भुजोऽक्षभा कोटिरिनाङ्गुलो ना कर्णोऽक्षकर्णस्त्रिभुजं यथेदम् ।
तथाऽक्षलम्बौ भुजकोटिरूपौ त्रिज्या श्रुतिर्दक्षिणसौम्यवृत्ते ।।४५।।

उन्मण्डले प्रागपरोत्थसूत्रा-
त्क्रान्तिज्यका कोटिरथ द्युरात्रे ।
कुज्या भुजोऽग्रा क्षितिजे च कर्णः
क्षेत्रं तथेदं त्रिभुजं प्रसिद्धम् ।।४६।।

अग्रा भुजः स्वे समना च कोटि-
र्द्युरात्रके तद्धृतिरत्र कर्णः ।
भुजोऽपमज्या समना च कर्णः
कुज्योनिता तद्धृतिरेव कोटिः ।।४७।।

उद्वृत्तना दोरपमः श्रुतिः स्यादग्रादिखण्डं खलु तत्र कोटिः ।
उद्वृत्तना कोटिरथाग्रकाग्रखण्डं भुजस्तच्छ्रवणः क्षितिज्या ॥४८॥
कोटिर्नरः शङ्कुतलं च बाहुश्छेदः श्रुतिस्त्र्यस्त्रसहस्त्रमेवम् ।
उत्पाद्य सद्यः स्फुटगोलविद्यैश्छात्राय शास्त्रं प्रतिपादनीयम् ॥४९॥

वा० भा०—अक्षक्षेत्राणां साधनानामप्युपपत्तिस्त्रिप्रश्ने दर्शिता ॥४५॥४६॥ ४७॥४८॥४९॥

इति श्रीभास्करीये गोलभाष्ये मिताक्षरे त्रिप्रश्नवासना ॥

●

मरीचिः—अथाक्षक्षेत्रेष्वाद्यद्वितीयाक्षक्षेत्रे उपजातिकयाऽऽह—भुजोऽक्षभेति । अक्षभा भुजः । द्वादशाङ्गुलः शङ्कुकोटिः । अक्षकर्णः कर्णः । इदमुक्तम् । यथाऽक्षक्षेत्रं जात्यत्र्यस्त्रं तथाऽन्यदपि जात्याऽक्षक्षेत्रत्र्यस्त्रं गोले याम्योत्तरवृत्ते प्रत्यक्षम् । तदाह—अक्षलम्बाविति । अक्षलम्बांशज्ये । भुजकोटी क्रमेण त्रिज्याव(क)र्णः । यथेदं तथेत्यनेन द्वितीयाक्षक्षेत्रं लम्बज्याद्वादशांशापवर्तितं प्रथममुक्तं न तदतिरिक्तमिति सूचितम् ॥४५॥

अथ तृतीयमिन्द्रवज्रयाऽऽह—उन्मण्डल इति । अथानन्तरम् । उद्वृत्ते । प्रागपरोत्थसूत्रात् । विषुवद्वृत्तोन्मडलसंपातबद्धसूत्रभिन्नात् । अहोरात्रवृत्तपर्यन्तं क्रान्तिज्यका सा कोटिः क्षितिजवृत्ते । चकारात्प्रागपरोत्थसूत्रात् । समक्षितिजवृत्तसंपातबद्धसूत्रादित्यर्थः । तदहोरात्रपर्यन्तम् । अग्रा । सा कर्णः । तदन्तराले । द्युरात्रवृत्ते । प्रागुक्ता कुज्या भुजः । इदं निरुक्तं क्षेत्रमक्षक्षेत्रम् । त्रिभुजं जात्यत्र्यस्त्रम् । तथा पूर्वाक्षक्षेत्रप्रत्यक्षवत् । प्रसिद्धम् । गोलप्रत्यक्षमित्यर्थः ॥४६॥

अथ चतुर्थपञ्चमे उपजातिकयाऽऽह—अग्रा भुज इति । अग्रा भुजः स्वे स्वदेशसंबन्धिगोले । समशङ्कुः । चकारात्समवृत्तेऽर्धज्यारूपः । कोटिः । तदहोरात्रवृत्ते भुजाग्रकोट्याप्रान्तरं तद्धृतिः । तस्य समशङ्कोर्धृतिः । एवकारात्तदन्यधृतित्वनिरासः । कर्णः । क्रान्तिज्याभुजः समशङ्कुश्चकारात्प्रागुक्तः कर्णः । अत्र पञ्चमाक्षक्षेत्रे । कुज्योनिता तद्धृतिः कोटिः ॥४७॥

अथ षष्ठसप्तमे इन्द्रवज्रयाऽऽह—उद्वृत्तेनेति । समशङ्कुवदुद्वृत्ताच्छङ्कुरुद्वृत्तशङ्कुः । भुजः । क्रान्तिज्या कर्णः । तत्र षष्ठे क्षेत्रे खलु निश्चयेनाग्रा प्रथमखण्डं कोटिः । उद्वृत्तशङ्कुः कोटिः । अग्राया अन्त्यखण्डं भुजः । कुज्या तस्य सप्तमक्षेत्रस्य कर्णः ॥४८॥

अथेष्टशङ्कुवशादुत्पन्नमक्षक्षेत्रं निरूपयन्द्युज्याकुज्येत्याद्यर्धोक्तप्रश्नस्योत्तरमिन्द्रवज्रयोपसंहरति—कोटिर्नर इति । इष्टशङ्कुः कोटिः शङ्कुतलं बाहुश्छेदः श्रुतिस्त्र्यस्त्रसहस्त्रमेव भुजश्छेद इष्टहृतिः कर्णः ; चकारादेतत्क्षेत्रसंबन्धिनः प्रागुक्तसरूपाः । ननु गणितान्तरोप-

पत्तिप्रतिपादनार्थमन्यान्यप्यक्षक्षेत्राणि सन्ति । तानि कथं नोक्तानीत्यत आह—त्र्यस्रसहस्र-मिति । स्फुटगोलविद्यैः । स्फुटा गोलविद्या येषां ते । तैर्गणकैरित्यर्थः । एवमुक्तदिशा । दृग्गोले वृत्तानां परस्परसंपातात्त्र्यस्रसहस्रं जात्याऽक्षक्षेत्रत्र्यस्राणां सहस्रम् । अनन्तभेदानुत्पाद्य । स्वमतिमाहात्म्यानुरोधादन्यान्यप्यक्षक्षेत्राणि प्रकल्प्येत्यर्थः । छात्राय जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । शिष्येभ्य इत्यर्थः । शास्त्रं ग्रन्थतत्त्वं प्रतिपादनीयम् । तथा च गोलवृत्तभेदेन गोलतत्त्वप्रतिपादनं ब्रह्मणोऽप्यशक्यमायुषोऽल्पत्वादतो मया कल्पनारीतिप्रदर्शनार्थं किंचिदुक्तम् । एतद्रीत्याऽन्यदपि गोलवशात्प्रकल्प्य गणितान्तरपदार्थोपपत्तिरवधेयेति भावः । त्रिप्रश्नोक्ताष्टमक्षेत्रस्य चतुर्थसप्तमविशेषरूपत्वेन तदनतिरेकत्वात्प्रतिपादनमत्र न कृतमिति ध्येयम् ॥४९॥

अथाऽऽरब्धाधिकारो निरूपित इति फक्किकयाऽऽह—इति त्रिप्रश्नाधिकारवासनाधिकार इति । त्रिप्रश्नाधिकारे यदुक्तं तद्वासनाप्रतिपादनात्तदधिकारः । अन्याधिकारोक्तवासनाप्रतिपादनेऽपि न स्वरूपक्षतिरिति ध्येयम् ॥५०॥

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
यातः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं त्रिप्रश्नसम्यगुपपत्तिमयोऽधिकारः ॥२८॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये त्रिप्रश्नाधिकारवासनाधिकारः सम्पूर्णः ॥

केदारदत्तः—अक्ष क्षेत्र बताये जा रहे हैं ।

यह विषय इसी ग्रन्थ के गणिताध्याय के त्रिप्रश्नाधिकार के श्लोक १३-१७ तक की केदारदत्त जोशी कृत संस्कृत दीपिका एवं हिन्दी शिखा भाषा में पेज ३३३ पेज तक में जो अति स्पष्ट है देखिये । (ले० केदारदत्त जोशी—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त द्रव्य राशि से मुद्रित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस सन् १९६४) ।

इति सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के त्रिप्रश्नवासनाध्यायः—८ की श्री पं० हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न ।

●

अथ ग्रहणवासना

अथ ग्रहणवासना। चन्द्रार्कग्रहणयोः स्पर्शे मोक्षे च दिग्व्यत्ययस्योपपत्तिमाह—

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया छादयत्यात्ममूर्त्या।
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव
क्वापि च्छन्नः क्वचिदपिहितो नैष कक्षान्तरत्वात् ॥१

वा० भा०—अर्कादधश्चन्द्रकक्षा। यथा मेघोऽधःस्थः पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयत्येवं चन्द्रोऽपि शीघ्रत्वात्पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। ततः पश्चात्स्पर्शः। निःसरति चन्द्रे पूर्वतो मोक्षो रवेः। अत एव कक्षाभेदात्क्वचिदर्कश्छन्नो दृश्यते। क्वचिदेष न च्छन्नः। यथाऽधःस्थे मेघे कैश्चिद्रविर्न दृश्यते कैश्चिद्दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः ॥१॥

मरीचिः—अथ तिथ्यन्ते चेद्ग्रह उडुपतेरित्यादिसार्धश्लोकोक्तप्रश्नस्योत्तरभूतो ग्रहणवासनाधिकार आरब्धो व्याख्यायते। तत्र प्रथमं ग्रहणस्वरूपं विवक्षुश्चन्द्रग्रहणोपपादनोपस्थितसूर्यस्यैव ग्रहणं—तरणेः प्रग्रहः किं प्रतीच्यामिति प्रश्नस्योत्तरकथनच्छलेन मन्दाक्रान्तयोपपादयति-पश्चाद्भागादिति। चन्द्रः, अधः सूर्याधः स्थितः कक्षाक्रमावगमात्। पश्चाद्भागात्सूर्यपश्चिमप्रदेशात्। अभ्येत्य। अभि सूर्यमण्डलसमन्तात्। मानैक्यखण्डानधिकशरान्तरेणाऽऽगते (त्ये)त्यर्थः। सूर्यमण्डलं छादयति। ननु योजनात्मकरविबिम्बा[द्]योजनात्मकचन्द्रबिम्बस्यातिलघुत्वेन तच्छादकत्वासंभवात्पुराणोक्तो राहुरेवाऽऽच्छादक इत्यत आह-आत्ममूर्त्येति। आत्मनश्चन्द्रस्य मूर्तिः स्वरूपं जलगोलरूपं तेनेत्यर्थः। तथा चातिदूरस्थितमहदर्कबिम्बस्य सूक्ष्मत्वेन दर्शनादतिनिकटस्थाल्पचन्द्रबिम्बस्य तथाऽतिसूक्ष्मत्वेन दर्शनाभावाद्भूस्थजननयनावरणकत्वोपाधिनाऽर्कबिम्बाच्छादकत्वं चन्द्रबिम्बस्य नासंभव्यत एवाङ्गुलात्मकतद्बिम्बयोरल्पान्तरम्। राहुबिम्बस्याऽऽकाशे खपुष्पायितत्वात्तच्छादकत्वं न तर्कसहमिति भावः। नन्वेवमर्कग्रहणदिने चन्द्रस्यापि राहुतुल्यत्वेन तच्छादकत्वमपि तथेत्यत आह—स्फुरदसितयेति। स्फुरत् प्रत्यक्षायितम्। असितं श्यामं यस्यास्तयेत्यर्थः। तथा च कृष्णपक्षत्रयोदश्यादौ चन्द्रबिम्बेऽला(ऽल्पा) ज्योत्स्ना। तथा चेतरावशिष्टो भागः कृष्णत्वेन प्रत्यक्षस्तथाऽमावास्यान्ते तदनुरोधात्संपूर्णमण्डले कृष्णत्वम्। ज्योत्स्नाया अभावात्तदर्शनम्। सूर्यग्रहणे तत्सान्निध्यादेव च्छादकत्वेन तद्रूपदर्शनमतश्चन्द्रस्य न राहुतुल्यत्वम्। अन्यथा तच्चारगणितानुपपत्तेरिति भावः। यद्यपि चन्द्रगोलोर्ध्वदेशे सूर्यकिरणफलनाच्चन्द्रमूर्तिः सिताऽप्यस्ति तथाऽपि स्फुर दित्यनेन भूस्थजनदृग्विषयेति तदनुक्तिः। भूस्थानामेत्र

ग्रहणादर्शनादिति ध्येयम् । नन्वेतावता प्रश्नस्योत्तरं किं सिद्धमत आह—पश्चादिति । ततः । यतः प्रागुक्तं युक्तिसहं तस्मात्कारणादित्यर्थः । अस्य सूर्यस्य । पश्चात् । बिम्बपश्चिमभागे स्पर्शः हरिदिशि बिम्बपूर्वभागे मोक्षः । न त्वाकाशे राहुबिम्बाभावेऽपि पुराणादिसंमतो यः कश्चन राहुरेवैनं ग्रसतीत्यत आह—अत एवेति । अतश्चन्द्रस्याऽऽच्छादकत्वसिद्धेः । एवकाराद्राहुकर्तृकग्रसनप्रसिद्धेर्निरासः । एष सूर्यः । क्वापि क्वचिद्देशे । छन्न आच्छन्नो दृश्यते तदतिरिक्तदेशे । अपिहितः । अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि चेत्यमरोक्त्या । आच्छन्नोऽनाच्छन्न इत्यर्थः । दृश्यते । केचिदपिहित इत्यस्यानाच्छन्न इत्यर्थमङ्गीकृत(त्य) नकारस्योभयत्रान्वयं वदन्ति । तन्न । नकारवैयर्थ्यात् । तथा च राहुकृतार्कग्रासे सूर्यस्यैकत्वेन सर्वदेशिकग्रहणादुक्तानुभवापलापप्रसङ्ग इति भावः । ननु चन्द्रस्याऽऽच्छादकत्वेऽप्युक्तानुभावः कुतः सूपपन्नः । आच्छन्नसूर्यस्यैव सर्वदेशावच्छेदेन दर्शने संभवादित्यत आह—कक्षान्तरत्वादिति । छाद्यच्छादकयोरभिन्नकक्षास्थितत्वाभावादित्यर्थः । तथा च च्छाद्यच्छादकयोरूर्ध्वाधरान्तराभावे सर्वदैशिकग्रहणसंभवस्तदभावे तदभाव इति भावः । नन्विदं कुतोऽवगतमित्यतश्छादकदृष्टान्तमाह—जलदवदिति । यथाऽधःस्थितैर्मेघैरर्कः क्वचिच्छन्नः क्वचिच्च न च्छन्न इति प्रत्यक्षानुभवात्सूर्यस्य ग्रहणेऽपि कल्प्यते । परमियान्विशेषः । मेघानामासन्नस्थितत्वात्स्वस्य भूप्रदेशान्तरेण च्छन्नाच्छन्नत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् । चन्द्रस्यातिदूरस्थत्वेन च्छन्नाच्छन्नत्वं बहुदेशान्तरेणेति भावः ।।१।।

केदारदत्तः—सूर्यग्रहण की स्पर्श मोक्ष दिशा—

पृथ्वी पृष्ठ से आकाश पर दृष्टि पड़ने पर चन्द्रकक्षागत चन्द्रमा के ऊपर की सूर्य कक्षास्थित सूर्य बिम्ब की चन्द्र कक्षा से भिन्न कक्षागत की स्थिति होने से अमान्त में सूर्य से संयोग कर चन्द्रमा अपनी पूर्वाभिमुखी गति से राशिवृत्ताभिप्रायिक सूर्य के साथ होता है तो सूर्य बिम्ब के पश्चिम की तरफ से पहिले सूर्य को ढकता है जैसे पृथ्वी भिन्न प्रदेशों से सूर्य कहीं बादलों से ढँका और कहीं अविकृत विशेष प्रकाश मान पूर्ण दीखता है, उसी प्रकार कहीं चन्द्रमा से सूर्य आच्छादित और कहीं स्वच्छ भी दीखता है। अतएव सूर्य ग्रहण में सूर्य बिम्ब का छादक का कार्य करने से सूर्य का, चन्द्रमा को ही छादक कहा जाता है।

सूर्य बिम्ब को सूर्य के पश्चिम से ढकते हुये अपनी कक्षा में चन्द्रमा जब सूर्य केन्द्र तक पहुँचता है तो उस समय सूर्य का मध्य ग्रहण और जब सूर्य से चन्द्रमा आगे हो जाता है तो सूर्य बिम्ब के पूर्व भाग से ग्रहण का मोक्ष होता है।

बादलों से घिरे आकाश में स्थित सूर्य बिम्ब का कहीं अदर्शन और कहीं पर स्वच्छ धूप, भू पृष्ठीय भिन्न-भिन्न प्रदेशीय समान सूर्य को जैसे देखता है उसी प्रकार चन्द्र बिम्ब से आच्छादित सूर्य की स्थिति से भूपृष्ठ में कहीं सूर्य ग्रहण और कहीं ग्रहणाभाव अर्थात् सूर्यबिम्ब स्वच्छ दिखाई देता है। सूर्य ग्रहण में यही स्थिति कहीं ग्रहण और कहीं ग्रहणाभाव भूपृष्ठ वासी देखता है कि सूर्य बिम्ब का चन्द्रमा से ग्रहण होते समय पश्चिम

स्पर्श और पूर्व में मोक्ष होता है। अतः कहीं सूर्य ग्रहण और कहीं ग्रहणाभाव भी होता है ॥१॥

इदानीं नतिलम्बनयोः कारणमाह—

पर्वान्तेऽर्कं नतमुडुपतिच्छन्नमेव प्रपश्येद्
भूमध्यस्थो न तु वसुमतीपृष्ठनिष्ठस्तदानीम्।
तद्दृक्सूत्राद्धिमरुचिरधो लम्बितोऽर्कग्रहेऽतः
कक्षाभेदादिह खलु नतिर्लम्बनं चोपपन्नम् ॥२॥
समकलकाले भूभा लगति मृगाङ्के यतस्तया म्लानम्।
सर्वे पश्यन्ति समं समकक्षत्वान्न लम्बनावनती ॥३॥
पूर्वाभिमुखो गच्छन्कुच्छायान्तर्यतः शशी विशति।
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निःसरतः ॥४॥
भानोर्बिम्बपृथुत्वादपृथुपृथिव्याः प्रभा हि सूच्यग्रा।
दीर्घतया शशिकक्षामतीत्य दूरं बहिर्याता ॥५॥
अनुपातात्तद्दैर्घ्यं शशिकक्षायां च तद्बिम्बम्।
भूभेन्दोरन्यदिशि व्यस्तः क्षेपः शशिग्रहे तस्मात् ॥६॥

वा० भा०—दर्शान्तकाले रविं पूर्वतः पश्चिमतो वा नतं चन्द्रेण च्छन्नमेव प्रपश्यति भूमध्यस्थो द्रष्टा। यतो दर्शान्ते समौ भवतः। यो भूपृष्ठस्थो द्रष्टा स तदार्कं छन्नं न पश्यति। यतस्तद्दृष्टिसूत्राच्चन्द्रोऽधो लम्बितो भवति। अतः कक्षाभेदाल्लम्बनं नतिश्चोपपद्यते। चन्द्रग्रहे तु लम्बननत्योरभावः। यतः समकलकाले भूभा चन्द्रे लगति। तया छन्नं सर्वे विदेशान्तरस्था अपि नतमपि तं चन्द्रं समं पश्यन्ति। यतस्तत्र च्छाद्यच्छादकयोरेकैव कक्षा जाता। तथा भूभा तावत्पूर्वाभिमुखमर्कगत्या गच्छति। चन्द्रश्च स्वगत्या। स शीघ्रत्वात्पूर्वाभिमुखो गच्छन्भूभां प्रविशति। तेन तस्य प्राक् स्पर्शः। भूभाया निःसरतः पश्चान्मुक्तिः। भानोर्बिम्बं विपुलं पृथ्वी लघुः। अतो भूभा सूच्यग्रा भवति। दीर्घत्वेन चन्द्रकक्षामतीत्य दूरं गता। तद्दैर्घ्यमनुपातात्साध्यते। चन्द्रकक्षाप्रदेशे भूभा चन्द्रबिम्बं चेति सर्वं ग्रहणे प्रतिपादितमेव ॥२॥३॥४॥५॥६॥

मरीचिः—अथ किं न भानोस्तदानीमिति प्रश्नस्योत्तरमत्र लम्बनमस्तीत्युपस्थितं तत्र लम्बनमेव कुतस्तत्रोपपन्नमित्याशङ्कापरिहारं तत्कारणाद्यनतिरपि तत्रोपपन्नेति मन्दाक्रान्तामाह—पर्वान्तेऽर्कमिति। भूमध्यस्थो भूगर्भस्थितो द्रष्टेति कल्पनादुक्तम्। वस्तुतस्तत्र द्रष्टनामाभावात्। पर्वान्ते दर्शान्ते। सूर्यं चन्द्रेणाऽऽच्छन्नम्। एवकारोऽप्यर्थे। तेन कदा-

चित्तत्र चन्द्रानाच्छन्नमित्यर्थलाभः । तथा च मानैक्यखण्डादल्पशरे चन्द्रेणाऽऽच्छन्नमिति तात्पर्यार्थः । प्रपश्येत् । नियतं पश्येदित्यर्थः । तदानीं दर्शान्ते । भूपृष्ठस्थो मनुष्य उडुपतिच्छन्नं न पश्यति । तुकारो नियमार्थे । कुत इत्यतः कारणमाह—तद्दृक्सूत्रादिति । अर्कग्रहे भूगर्भसंबन्धिसूर्यग्रहणे । चन्द्रः, अधः स्वकक्षागोले । तस्य भूपृष्ठस्थस्य दृशः सूत्रं सूत्रस[म]चन्द्राधिष्ठिताकाशगोलप्रदेशादित्यर्थः । लम्बितः । एकदृक्सूत्रस्थत्वं विना छादकत्वासंभव इति भावः । ननु लम्बितत्वमेव कुतो भवतीत्यत आह—कक्षाभेदादिति । अभिन्नकक्षायां द्वयोरेकत्रावस्थानाल्लम्बितत्वासंभव इति कक्षाभेदाल्लम्बितत्वं संजातमिति भावः । ननु खमध्येऽर्कं चन्द्रेणाऽऽच्छन्नमुभावप्येककाले पश्यत इत्यत आह—नतमिति । खमध्यान्नतमर्कं तदाच्छन्नं न पश्यत एककाल इति भावः । ततः किमत आह—इहेति । सूर्यग्रहज्ञानोपजीव्यगणितप्रकारे । खल्वसंशयम् । अतश्चन्द्रस्य लम्बितत्वादित्यर्थः । लम्बनमुपपन्नम् । नतिश्चोपपन्ना । चः समुच्चये ।।२।।

ननुच्छाद्यच्छादकयोरूर्ध्वाधरान्तरान्तरावश्यंभावादुक्तकारणस्य चन्द्रग्रहेऽपि संभवात्तत्र कथं लम्बनावनती नोक्ते इत्यतो गीत्याऽऽह—समकलेति । समकलकाले तुल्यांशादिसमये । कालपदाक्षरमैत्रीप्रयुक्तकलाशब्दस्य स्वाववयोर्भागविकलयोरपि तात्पर्यानुरोधाद्ग्राहकत्वाङ्गीकारात् । पूर्णान्तिकाल इत्यर्थः । यतः कारणाच्चन्द्रे भूच्छाया मानैक्यखण्डाल्पशरे लगत्यतः कारणात् । तथा भूच्छायया म्लानं मलिनं चन्द्रं छादितमिव सर्वे भूस्थजनाः समं तुल्यम् । एककाले ग्रासद्यभिन्नतयाँ ग्रहणविषयतया च पश्यन्ति । अतः कारणात् । तयोश्छाद्यच्छादकयोः समकक्षात्वात् । एककक्षाश्रितत्वाच्छादकस्य लम्बितत्वानुत्पत्त्या चन्द्रग्रहज्ञानोपजीव्यगणितप्रकारे लम्बननती नोपपन्ने । चन्द्रग्रहणाधिकारे भूभायाश्छादकत्वं युक्त्या समर्थितमेव ।।३।।

अथ प्रसङ्गाच्छादकस्य निर्णयेन स्पर्शमोक्षदेशे प्रागुक्ते उपपत्त्योपगीत्या प्रतिपादयति—पूर्वाभिमुख इति । यतश्चन्द्रः पूर्वाभिमुखो गच्छन्सन् भूच्छायामध्ये प्रविशति । तेन कारणेनास्य चन्द्रस्य प्राक् पूर्वभागे प्रग्रहणं स्पर्शः । भूच्छायाया निःसरतश्चन्द्रस्य पश्चात्पश्चिमभागे मोक्षः । भवतीति शेषः ।।४।।

ननु भूछायायाश्चन्द्रकक्षापर्यन्तमसत्त्वात्कथमुक्तं संगच्छते । तस्याः स्थिरत्वस्याल्पगतित्वस्य वा संदिग्धत्वात्प्राक्पश्चिमयोः स्पर्शमोक्षानुपपत्तिश्चेत्यत आर्ययाऽऽह—भानोर्बिम्बेति । हि यतः सूर्यस्य मण्डलमहत्त्वात् । अल्पगोलकभूमेः । अत्रापृथुपृथिव्याः प्रभा हि सूच्यग्रेत्यनेन भूमेरतिमहत्त्वनिरासादत्यल्पत्वनिरासाच्चेन्दोर्महान्सूर्यादल्पो भूमिगोलः । अन्यथा चन्द्रस्य सर्वखण्डग्रसनानुपपत्तिरिति सूचितम् । सूच्यनुकारमग्रं यस्याः साक्षायाः । स्वदैर्घ्येण चन्द्रकक्षामतीत्य । उल्लङ्घ्येत्यर्थः । बहिश्चन्द्रकक्षोर्ध्वम् । दूरं शुक्रकक्षानिकटाध:प्रदेशपर्यन्तं गता । नह्यर्कमण्डलसमो भूगोलो येन तत्करौच्यगमनावधितच्छाया । सूर्यषड्भान्तरस्थितग्रहनक्षत्रयोरदर्शनापत्तेः । तथा चास्याः सूर्यगमनातु(नु)कारिषड्भान्तरगमनादुक्तं संगच्छत एवेति भावः ।।५।।

नन्वेतदार्योत्त रार्धोक्तं सप्रमाणकं कथमवगतमित्यतस्तदुत्त रं भूभासाधनोपपत्ति संसूचयन्प्रसङ्गाच्चन्द्रग्रहे व्यस्तदिशस्तु वेद्या इत्यस्योपपत्ति चोद्गीत्याऽऽह—अनुपातादिति । तस्या भूच्छायाया दीर्घताप्रमाणं छायाव्यवहारोक्तच्छायानयनानुपातात् । शङ्कुः प्रदीपतलशङ्कुतलान्तरघ्नश्छाया भवेद्धि नरदीपशिखौच्यभक्त इतिनिवद्वाहोय(वन्निर्वाह्य)मिति शेषः । तथा च तद्दैर्घ्यमेव प्रभामानमिति भावः । नन्वेवं भूच्छायाया मण्डलाकारत्वाभावान्मानैक्यखण्डासंभवान्नोक्तग्रासानयनानुपपत्तिरत आह—शशिकक्षायामिति । चन्द्राधिष्ठिताकाशगोले चकाराद्भूच्छायाविस्तारः । तद्बिम्बम् । भूभाबिम्बम् । तद्विस्तारसंबन्धिमण्डलस्य तदन्तर्गतत्वेन तत्त्वान्नानुपपत्तिरिति भावः । एतेनैव चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तभूभासाधनस्योपपत्तिः सूचिता । स्यादेतत् । ग्रहणस्य तुल्यतया शरा यथाशाग्रहणे खरांशोरित्यादिना शरदिग्वैलक्षण्यमुक्तं न युक्तमत आह–भूभेति । यतश्चन्द्रबिम्बाच्छरवृत्तस्थाद्भूच्छाया चन्द्रकक्षास्था, अन्यदिशि शरदिग्विपरीतदिशि भवति । तस्मात्कारणाच्चन्द्रग्रहणपरिलेखे । क्षेपश्चन्द्रशरो व्यस्तः विपरीतदिक् । शरस्य क्रान्तिवृत्तमूलकत्वात् । सूर्यग्रहणं सूर्याच्चन्द्रस्य शरदिशि सत्त्वात् । यथादिक्क एव शरः ।।६।।

केदारदत्तः—पर्वान्त का अर्थ दर्शान्त या अमान्त काल होता है । भूमध्यस्थ दृष्टा पर्वान्त काल में पूर्व या पश्चिम से नत (झुका हुआ) चन्द्रमा से ग्रसित सूर्य को देखता है । यह स्थिति भूमध्यस्थ द्रष्टा के लिये होती है किन्तु भूपृष्ठ रूप द्रष्टा की यह स्थिति केवल अपने खमध्यस्थ सूर्य चन्द्र बिम्ब के होने के समय हो सकती है, अन्यत्र नहीं होती है ।

अन्यत्र की भूपृष्ठस्थ द्रष्टा व्यक्ति की स्थिति में पृष्ठीय दृष्टि सूत्रगत सूत्र से चन्द्रमा लम्बित दिखाई देता है । सूर्य चन्द्र की भिन्न कक्षाओं का होना ही लम्बन और नति की उत्पत्ति का कारण है ।

उक्त स्थिति केवल सूर्य ग्रहण में होती है । चन्द्र ग्रहण में छाद्य बिम्ब चन्द्रमा और छादक बिम्ब भू भा (पृथ्वी की छाया) का गमन एक ही कक्षा या एक मार्ग में होने से चन्द्र ग्रहण में नति और लम्बन की उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि चन्द्र ग्रहण में छाद्य छादक की एक कक्षा है । अतः एव आकाश में भूछायागत चन्द्रमा को या ग्रहण लगे हुये चन्द्रमा को भूमण्डल के किसी भी दृश्य चन्द्र प्रदेश से जहाँ से चन्द्रमा उनके क्षितिज के ऊपर रहेगा उस विभाग से सभी चन्द्रग्रहण को एक कालावच्छेदेन देखेंगे ।

सूर्य की गति = भू भा पृथ्वी की छाया की गति और चन्द्रमा की स्वयं अपनी गति होने से चन्द्रमा अपनी गति से भू भा में प्रवेश करेगा अत एवं चन्द्रमा का पूर्व बिम्ब में स्पर्श और भूभा से वहिर्भूत होते समय चन्द्र बिम्ब का पश्चिम बिन्दु भू भा से बाहर होगा । अर्थात् चन्द्रमा का स्पर्श ग्रहग पूर्व बिन्दु एवं मोक्ष ग्रहण पश्चिम बिन्दु से होता है यह स्पष्ट होता है । सूर्य का बिम्ब पृथ्वी बिम्ब से बड़ा होने के नाते सूर्य प्रकाशसे (भू-भा)

पृथ्वी की छाया दीर्घ सूची आकार की होकर कभी-कभी चन्द्रमा को लांघ कर अत्यन्त दूर तक सूची आकार से आकाश में चली जाती है।

अनुपात से चन्द्र ग्रहणाधिकार गणिताध्याय में भू भा बिम्ब, चन्द्र बिम्ब शर और छाया दैर्घ्य का साधन किया जा चुका है।

उपपत्ति—क्षेत्र देखिए—

सूर्य = सू

चन्द्र = च

पृथिवी = पृ०
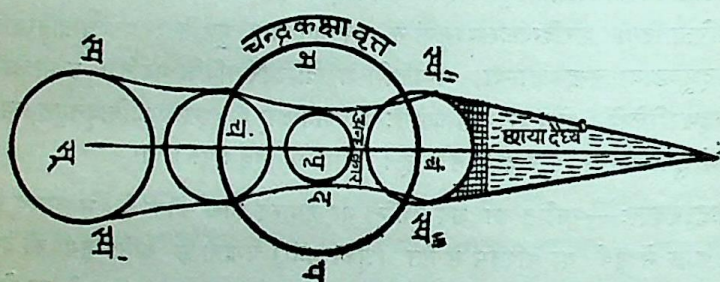
च म च′ प = चन्द्र कक्षा

स्प स्प′ = सूर्य बिम्ब

स्प″ प स्प‴ = दो स्पर्श रेखा

छा य = छाया दैर्घ्य

स्प′ स्प‴ रेखाओं के मध्यगत चन्द्र बिम्ब का स्प′ = स्पर्श स्प″ पर मोक्ष होता है। तथा दैर्घ्य छा स्प′ य स्प″ द = छाया और छाया होता है ॥२॥३॥४॥५॥६॥

इदानीं छादकनिर्णयमाह—

छादकः पृथुतरस्सतो विधोरर्धखण्डिततनोर्विषाणयोः ।
कुण्ठता च महति स्थितिर्यतो लक्ष्यते हरिणलक्षणग्रहे ॥७॥
अर्धखण्डिततनोर्विषाणयोस्तीक्ष्णता भवति तीक्ष्णदीधितेः ।
स्यात्स्थितिर्लघुरतो लघुः पृथक्छादको दिनकृतोऽवगम्यते ॥८॥
दिग्देशकालावरणादिभेदान्न च्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
तन्मानिनः केवलगोलविद्यास्तत्संहितावेदपुराणबाह्यम् ॥९॥
राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्सर्वागमानमविरुद्धमेतत् ॥१०॥

वा० भा०—अर्कच्छादकाच्चन्द्रच्छादकः पृथुतरोऽवगम्यते। कुतः। यतोऽर्धखण्डितस्येन्दोर्विषाणयोः कुण्ठता दृश्यते। स्थितिश्च महती। अर्कस्य पुनरर्धखण्डितस्य तीक्ष्णता विषाणयोः स्थितिश्च लघ्वी। एतत्कारणद्वयान्यथानुपपत्त्याऽर्कस्य च्छादकोऽन्यः। स च लघुः। एवं रवीन्द्वोर्न च्छादको राहुरिति वदन्ति। कुतः। दिग्देशकालावरणादिभेदात्। एकस्य प्राक् स्पर्शः। इतरस्य पश्चात्। रवेः क्वापि ग्रहणमस्ति क्वापि नास्ति। क्वापि दर्शान्तादग्रतः क्वापि पृष्ठतः। अतो राहुकृतं न ग्रहणम्। नहि बहवो राहवः। एवं के वदन्ति। केवलगोलविद्यास्तदभिमानिनश्च। इदं संहितावेदपुराणबाह्यम्। यतः संहितासु राहुरष्टमो ग्रहः। "स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध" इति माध्यंदिनी श्रुतिः।

सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः।
सर्वं भूमिसमं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे॥

इत्यादिपुराणवाक्यानि। अतोऽविरुद्धमुच्यते। राहुरनियतगतिस्तमोमयो ब्रह्मवरप्रदानाद्भूभां प्रविश्य चन्द्रं छादयति। चन्द्रं प्रविश्य रविं छादयतीति सर्वागमानामविरुद्धम्॥७॥८॥९॥१०॥

मरीचिः—ननु भूमेन्द्वोश्चन्द्रसूर्यग्रहणे क्रमेणच्छादकत्वकल्पने गौरवल्लाघवात्पुराणक्लृप्तैकराहोरेवोभयग्रहणे छादकत्वकल्पनं युक्तम्। सूर्यबिम्बपश्चिमभागादागत्यार्कं छादयन्पूर्वतो निःसरति। सूर्यस्य तेजोगोलकत्वेन तत्सांनिध्यगमनाशक्यत्वेन तद्ग्रसनासंभवाद्दूरतो जनदृष्ट्याऽऽवरणसंपादनद्वारा छादकत्वमतः पश्चात्स्पर्श इत्यादि सूपपन्नम्। चन्द्रस्य तु सुधामण्डलत्वेन तल्लालसराहुकृतग्रसनसंभवात्सर्वदेशे ग्रहणमेककाले सममेव संभवति। चन्द्रपूर्वभागादागत्य पश्चिमतो निःसरतीति प्राक्ग्रहणं पश्चान्मोक्ष इत्युपपन्नम्। तथा च भूभेन्द्वोश्छादकत्वप्रतिपादनमयुक्तमित्यतो रथोद्धताभ्यां तदुत्तरमाह—छादक इति। यतः कारणाच्चन्द्रग्रहणेऽर्धखण्डिततनोऽर्धग्रस्तबिम्बस्य चन्द्रस्य। शृङ्गयोःकुण्ठता। अतीक्ष्णत्वं लक्ष्यते प्रतीयते। महती स्थितिर्ग्रहणसद्भावोऽर्कग्रहणकालाधिक्येन प्रतीयते। चः समुच्चये। ततः कारणाच्चन्द्रस्य च्छादकः पृथुतरोऽतीव महान्स्वापेक्षया। अर्धग्रस्तबिम्बस्य सूर्यस्य शृङ्गयोरतीक्ष्णत्वं भवति। स्थितिर्ग्रहणसद्भावकालो लघुश्चन्द्रग्रहणसद्भावकालादल्पः स्यात्। समुच्चयार्थकश्चोऽत्रानुसंधेयः। अतः कारणात्सूर्यस्य लघुः स्वापेक्षयाऽल्पबिम्बश्छादकोऽवगम्यते ज्ञायते। तथा च वस्तुनि द्वैरूप्यासंभवादेकस्यैव च्छादकस्याल्पमहत्त्वासंभवेन राहोर्नाऽऽच्छादकत्वमिति भावः। नन्वेकस्यैव सूर्यबिम्बाल्पत्वचन्द्रबिम्बाधिकत्वाभ्यां बिम्बजल्पनान्न क्षतिरित्यत आह—पृथगिति। परस्परं भिन्न एव च्छादकः। अन्यथाऽर्कचन्द्रयोरङ्गुलात्मकबिम्बमानयोरत्यल्पान्तरत्वेन समत्वाभ्युपगमे तत्कल्पनानुपपत्तेः। छादकस्य सूर्याबिम्बाल्पत्वे 'शाके त्र्य० धी छीघ्र (न्द्र) तुल्ये वृषशरदि भवौ मासि बाणेन्दुनाडीतुल्ये दर्शेऽश्विधिष्ण्ये दिनकरदिवसे भानुसर्वग्रहोऽभूत् तस्मिन्ग्र (ग्र)स्तेऽश्विभं चास्तमितमपि बुधकाव्यसप्तर्षिमुख्यास्तदा दृष्ट्वाऽन्धकाराः

कल्पितमिह जगत्तत्र हा हा चकारेति गणेशदैवज्ञोक्तप्रसिद्धसूर्यसर्वग्रसनानुपपतेश्च। अत एव च्छादकलघुत्वं महत्त्वं च परस्परच्छादकापेक्षया। न ग्राह्यापेक्षया। तेनैव च ग्रस्तेतरभागस्योत्पन्नशृङ्गयोः सूर्ये यथा तीक्ष्णत्वं तथा चन्द्रे न प्रतीयते। अर्धखण्डित-ग्रहणं तु चन्द्रमण्डले तन्न्यूनग्रासे तथा शृङ्गयोरप्रतीतेः। सर्वग्रसननिवारणपरमर्धपदं वा। शाकेऽष्टाद्रिमनून्मितेऽनलशरद्यूर्जेऽष्टनाडीमिते दर्शेज्याहनि मित्रभे भवदिनग्रस्तं महाश्चर्य-कृत्। शेषोऽर्कः परितः सितो वलयतो मध्येऽत्र कृष्णो युतोऽल्पं चान्द्रं वपुरैक्षतात्र कवि-विद्भाद्यन्धकारे जन इति गणेशदैवज्ञोक्तप्रसिद्धवलयाकाररविग्रहणं तु मानान्तरार्धाल्पशरे छादकस्य च्छाद्यबिम्बत्वात्संभवेदेव। चन्द्रच्छादकस्य चन्द्रबिम्बाल्पबिम्बत्वासंभावात्त-दाकारेन्दुग्रहणासंभवः। तथा च सूर्यचन्द्रयोश्छादकभेदावगमादिन्दुभूभयोः प्रागुक्तमाच्छाद-कत्वं युक्तियुक्तम्। नान्ययोरप्रसिद्धत्वात्। ग्राहकैक्य उक्तानुभवानुपपत्त्या राहोर्न च्छाद-कत्वमिति भावः ॥७॥८॥

ननु सर्वदैव चन्द्रबिम्बादधिकं राहुबिम्बं चन्द्रग्रहणे भवति। सूर्यग्रहणे तु सूर्यबिम्बा-दधिकं न्यूनं च भवतीति कल्पनयैकस्यैव राहोर्लाघवाद् ग्रहणकरणताया न क्षतिरित्यतो राहु-निराकरणं द्रढय स्वपक्ष आशङ्कां चेन्द्रवज्रयाऽऽह—दिग्देशेति। दिग्देशकालादिभिः सूर्येन्दोरावरणस्थित्यादिभेददर्शनाद्राहुः पुराणप्रसिद्धश्छादको न संभवति। सूर्यस्य पश्चिमस्पर्शः पूर्वस्मिन्मोक्षः। चन्द्रस्य पूर्वभागे स्पर्शः पश्चिमभागे मोक्षः। चन्द्र-ग्रहणं सर्वदेशे भवति। सूर्यग्रहणमेकत्र देशे भवति। कस्मिंश्च भवति न, पूर्णान्ते चन्द्रस्य मध्यग्रहणम्। तथाऽर्कस्य मध्यग्रहणं दर्शान्ते कदाचित्कदाचित्पूर्वं कदाचित्परत्र। क्वचिद्देशे पूर्वं क्वचिद्देशेऽग्रे मध्यग्रहणमित्यावरणभेददर्शनादावरकः पृथक्। न त्वेकः। द्वयोर्ग्रहणयोरेकरीतित्वापत्तेः। तत्तद्ग्रहणं राहोस्तथा गमने बिम्बमहदल्पत्वयोश्च प्रमाणाभावात्। न त्वाकाशे राहुबिम्बं गमनं च सूर्यचन्द्रवत्प्रत्यक्षं, येन तत्प्रकल्पनं संगच्छेतेति। एवं राहुनिवारणं मानिनः—भूभेन्दुच्छादकपक्षाभिमानिनो वराहमिहि-राद्याः। एवमुपरागकारणमुक्तं दिव्यदृग्भिराचार्यैः। राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्र-सद्भाव इत्यनेन ब्रुवन्ति वदन्ति। ननु भूभेन्द्वोराच्छादकपक्षोऽपि न युक्तः, प्रतिपर्व ग्रहणा पत्तेरत आह—केवलगोलविद्या इति। केवला एका गोलविद्या गोलज्ञानं येषां ते। तथा च गोलस्थित्याऽनयोर्मानैक्यखण्डादूनशरे छादकत्वमङ्गीकुर्वन्तीति न दोष इति भावः। ननु तथाऽपि ग्रहणदर्शनान्यथानुपपत्त्या वैरहेतुकग्रासादिप्रसिद्धेर्लाघवादेकस्यैव पुराणक्लृप्तस्य राहोस्तथा गमनं बिम्बाल्पमहत्त्वं कल्प्यम्। भूभेन्द्वोस्तद्वैराप्रसिद्धचा ग्रासाद्यसंभवापत्तेरिति चेन्न। कोऽसौ किमाकारो राहुरिति तत्स्वरूपस्यैव प्रथमतो निरूपयितुमशक्यत्वात्। तथा हि—किमयं पुरुषाकृतिः शिरोवशेषो वा। मण्डलाकृतिको वा। भुजंगमाकारो वा। अन्यथैव वा। आद्येऽपि प्राकृतो दिव्य आसुरो वेति। नाऽऽद्यः। तस्यास्मदस्वि(दीय) तुल्यतया चन्द्रार्कयोर्ग्राहकत्वानुपपत्तेः। अन्यथाऽस्मादृशामपि तत्त्वापत्तेः। पार्थिव-शरीरतया च तल्लोकनिवासानर्हत्वात्। अत्यल्पनियतजीवितया च तावत्कालानवस्थापित्वे-

नाऽऽकल्पमुपजायमानोपरागोपपादकत्वासंभवाच्च । न द्वितीयः । तस्याऽऽदित्यतया तेजोमयमूर्तित्वेन सूर्यवदुपलम्भस्य निवारितत्वात् । समप्रभावत्वेनाविरोधितया च परस्परं ग्रासादेरयोगाच्च । नान्त्यः । अत्रापि स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा । आद्येवैरानुसंधानेनासौ ग्रसमानो चन्द्रार्कौ न मुञ्चेदेव । द्वितीये तु गणितागतेऽपि ग्रहकाले कदाचिद्यंत्र (दयं न) ग्रसेदेव । परेच्छायां अनियम्यत्वात् । किंच सकृदपि सामान्यजनोपप्लवकारिणामसुराणां गृहीतावतारेणेश्वरेणोन्मूलनस्यानेकधा श्रवणात्कथमर्केन्द्वोरद्याप्युपद्रवमापादयतोऽस्य विषमस्वभावस्य कल्पपर्यन्तमनपाय इति नवि(वी) नाः । न द्वितीयः । प्रमाणाभावात् । तावन्मात्रस्य चिरजीवित्वे दृष्टविरोधाच्च । अथामृतास्वादविशेषाच्छिन्नमपि शिरः किलासुरस्येदं प्राणैरपरित्यक्तं ग्रहतां यातमित्यादिशास्त्रणैवोक्तत्वात्कथं प्रमाणाभाव इति चेन्न । चन्द्रचण्डकरमण्डलाकृतिर्व्योम्नि मेचकतया न लभ्यते । केचिदूचुरपरत्र पर्वण इत्यादिना मण्डलभुजंगमाकृतिकत्वादिति प्रतिपादकैर्वचोन्तरैर्विरोधेन तत्र प्रामाण्यसंदेहात् । तथा च परस्परं वचसोविरोधे यत्र प्रमाणान्तरसहकारस्तस्यैव स्वार्थे प्रामाण्यमिति निर्णयः । अतः शिरोवशेषत्वपक्षे न काचिद्युक्तिः । किंच ग्रहत्वेऽन्यस्तस्य तस्यापम[म]ण्डलप्रदेशविशेषावस्थितस्य षड्भान्तरितयोरप्यर्केन्द्वोः कथं ग्राहकत्वोपपत्तिस्तस्य नियतचारत्वेन तावद्विप्रकृष्टाग्राहकत्वात् । अथ तदैव वेगेन तदभ्यासन्नमागतो राहुरिमौ ग्रसतीति चेत्तस्यैवमनियतगतिकत्वे कदाचिदप्युपरागस्य गणितगम्यता न स्यात् । तस्य नियतार्थैकविषयत्वात् । करचरणावयवविधुरत्वेन गमनासिद्धेश्च । नापि तृतीयः । तस्य मण्डलाकृतिकत्वे चन्द्रार्कादिवदुपलम्भापत्तेः । न च मेचकतया परत्र पर्वणो न लक्ष्यत इत्युक्तत्वादुपलम्भासंभवः । पर्वण्यपि ज्ञापकाभावात् । उपरागसमये तयोरतादृगसितो वर्ण एव परिशेषाज्ज्ञापक इति चेन्न । तदा वर्णस्यानेकत्वात् । किंच तस्य बिम्बाकृतिकत्वे चन्द्रार्कन्यायेन नियतगतिमत्त्वोपलम्भात्षड्भान्तरितमिन्दुं रविं वा कथमसौ संग्रसेदिति । नन्वेतद्द्वयं वयमभ्युपगच्छाम इति चेन्न । विधुग्रस्तोदयकाले षड्भान्तरितः कथं परापरक्षितिजोपगतं पतंगमपि न ग्रसेत् । किंच यथातथास्वरूपस्यापि राहोश्चन्द्रकक्षायामेव नियतनिवासितया विदूरस्थितस्यार्कस्य सर्वथा ग्रसनानर्हत्वात् । नापि तुर्यः । षड्भान्तरितस्यैकतरस्य ग्रासोपपत्तये तावद्विस्तारभुजंगमाकारत्वेऽपि खलु पुच्छविभागयोरुपकल्पेनेन्दुग्रस्तोदयकाले विकल्पेनार्कग्रहोऽपि कथं न स्यात् । पौर्णमास्यन्ते तदेकतरस्यार्कस्य चैकत्रोपस्थितत्वात् । किंच षड्भायतकायत्वे तदन्तरोपस्थिततारापञ्जरास्य स्थगितं को वा न वारयेत् । तमोमयत्वे वाऽचेतनत्वेन वैरानुसंधानेन ग्रासाद्यनुपपत्तेश्च । न चरमोऽनिर्वचनादयोगाच्च । तस्मादुपरागोपपादकं तस्य स्वरूपं कोटिशोयुक्तिबाधितमतस्तद्विषये प्रमाणाभावेन गगनकुसुमायमानो राहुरिति सिद्धम् । अथ यथातथास्वरूपस्यापि तस्य ग्राहकत्वमपि विवेकविरुद्धम् । तथा हि—यद्यमृतपानकालीनवैरानुसंधानात्तदभ्यासन्नमागत्य चन्द्रार्कौ ग्रसति तत्कथमस्य पर्वापेक्षा । अथोत्तमर्णाधमर्णन्यायेन पूर्णत्वाभिलाषात्तदपेक्षेति चेत् । तर्हि सवितुरपूर्णत्वाभावेन यदाकदाचिदेव ग्रासापत्तेः । अथ विधिना पर्वतो [णो] रेव तौ ग्रसेति वियुक्तस्तथैव

ग्रसतीति चेत्तर्हि पर्वान्त एव ग्रासो न त्वादिमध्ययोरित्यत्र को हेतुः। अथ तथैव नियोग इति चेत्। एवमपि नियमाभावान्नियोगस्य नियमरूपत्वात्। यतोऽर्कग्रहे पर्वान्तात्प्रागपरत्र कपालविभागेन लम्बमनाटिकाभिरन्तरितत्वेन ग्रासस्य संभवेन पर्वान्त एव ग्रसेदिति नियमानुपलम्भः। किंच यदि वैरेणायं ग्रसेत्कथमसौ नियतिवशान्मुञ्चेत्। तदैव वा मुञ्चेत्। मासाद्यनन्तरं वा मुञ्चेत्। न मुञ्चेदेव वा। ननु प्रतिनियतेन कालेन। अपि च ग्रसन्नप्यसौ कदाचित्सर्वं तनुं कदाचिदर्धं कदाचित्पादं कदाचिच्च ततो न्यूनाधिकमिति कथं वैरानुसंधानमत्र विनिगमकम्। तथात्वे तु सर्वस्यैवोचितत्वात्। किंच, एकराशिगतत्वेऽयं तत्संनिहितावपि कदाचिक(द)र्केन्दू न ग्रसति। विप्रकृष्टान्तरावपि कदाचिद्ग्रसति। किंच भार्धान्तरावपि तत्र शीघ्रं गत्वा ग्रसति। न त्वेकद्वित्रिराश्यन्तरितावित्येतत्किं निषे(बन्ध)नम्। ननु राहुकेत्वोरेकतरस्य संनिधावेव ग्रहणं भवतीति राहुः केतुर्वा स्वसंनिहितौ तौ गृह्णीयादिति चेत्। एकराशिगतत्वेऽपीत्यादिना दत्तोत्तरत्वात्। तत्र शरेण व्यवहितत्वमेव परिचायकमिति चेत्। भवतु चन्द्रस्य तथा। न परमा(दित्यस्या)विक्षेप(ज्ञेय)स्य विक्षेप(ज्ञेय)भावात्। तथा च राहोर्ग्रहणकरणत्वं कोटिशस्तर्कविरुद्धमिति सिद्धम्। ननु चन्द्रस्य सूर्याच्छादकत्वपक्षोऽप्यनुपपन्नः। तथा हि—ग्रहतारादीनां दिनादर्शनं प्रति सूर्यकिरणावृतत्वमेव प्रयोजकम्। तत्र किमनेन सौमा(म्य) महसवि-(सां ते)पां तेजोभिभवान्मण्डलपरिलोपो विधीयते, किमथवा नयनप्रतिघातो गे(वो) भयमपि वेति। अत्र पक्षत्रयेऽपि सूर्यसर्ववलयाकारग्रहणावसरे प्रौढतारकाणां संदर्शनं सूर्यकराणामवारितत्वेन कथमुपपन्नं भवेदिति साधारणमेकं दूषणम्। अथ तद्ग्रहणावसरे रविकिरणावान्तरा चन्द्रस्तिष्ठतीति पिधायकीभूतेन तेन नयनप्रतिघातापाकरणमेव क्रियत इति। ननु(येन)किरणानामप्रतिहतत्वेन तदवधिप्रसरसत्त्वेन तदा ग्रहतारादिदर्शनमुचितमेव। अन्यदा तु पिधानाभावेन प्रतिघातप्रतिबन्धकासंभवाददर्शनमेवेति चेत्। तर्हि सति विधायके दर्शनमसति च नेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कस्यचिदेकस्यैव पिधायकस्य प्राधान्येन दर्शनं प्रति प्रयोजकत्वव्यवस्थितौ पिधायकत्वाविशेषेणोदयकालेऽपि प्रागभावावच्छेदेन मेघोपगूढे रवावितरभागावस्थितानां दर्शनप्रसङ्गः। उभयत्र सामग्रीवैचित्र्याभावात्। वस्तुत एतन्मेघाद्युपदर्शनं दाक्षिण्यादेवान्ततो गत्वा करतलेनापि पिहिते रवावित्येवाभि(नि)ष्टापादनं ज्यायः। ननु तत्र मेघादीनां संनिहितवृत्तितया तावदवधिकनयनव्यापारवृत्तावपि परतो रविकिरणानां विशेषतः सत्त्वेन प्रतिघातस्यैव वृत्तत्वात्कथमतिदूरनिविष्टानामन्यतारकाणामुपलम्भो भवेदिति चेत्। तर्हि चन्द्रमण्डलावधि चक्षुर्व्यापारोपपत्तावपि तत्परतो लक्षशो योजनान्तारे परिवर्तमानस्य शुक्रस्य तत्परतोऽपि दूरतोऽनेकयोजनान्तरे नक्षत्राणां वृत्तिसत्त्वेनाधोवर्तमानबुधशुक्रकक्षयोः प्रचुरतरकरप्रसरसत्त्वादुपर्यपि चातितरामेवेति चन्द्रादपि परतोऽतितरामेव नयनव्यपारप्रतिबन्ध इति तुल्यमितरत्रापि। तथा च चन्द्रस्याऽऽच्छादकपक्षे सर्वार्कग्रहे तारादर्शनमनुपपन्नमतः पौराणिकमते निरुक्तासुरग्रासपक्ष उपरागावसरे सूर्यस्य गिलनादेव प्रतिघातकतेजोन्तराभावादशेषग्रहतारादिदर्शनमव्याहतमतो राहोरेव करणत्वं युक्तियुक्तमिति चेत्। अत्र सिद्धान्तसुन्दरटीकाकृतस्तु रविकिरणानामुभयाभिभावकत्वमेव।

परं सूर्यस्य कन्दुकाकारत्वेनास्मद्दृश्यार्धवर्तिनो रश्मयो दिवाऽस्मदभिमुखीभूयाधः प्रचरमाणा एव नयनोपघातहेतवो भवन्ति । तथा परभागावच्छेदेनोर्ध्वमुखतया प्रचरमाणा भौमगुरुमन्दनक्षत्रादिकक्षोपस्थितानामेव नयनोपघातं जनयन्ति । तिर्यङ्मुखा अपि स्वस्वाभिमुखीभूतानामिति तुल्यम् । परमधिगतप्राचुर्या एव ते सर्वे तथा । प्रचुरत्वं चात्र व्यवहिततनुरोमादिसूक्ष्मतमपदार्थग्रहप्रतिबन्धकतमःसमाजजनकप्रतिबन्धकाप्रतिहतत्वमेव विवक्षितम् । ननु(तु) तेषां विपरीतानामपि तदुपहन्तृत्वमन्यथाक्षतायामपि तपितदयापत्तेः(?) । ग्रहताराद्यभिभावकत्वं सर्वतोऽपि तारतम्यानुरोधेनैव । तारतम्यं द्वेधा । तथा च यस्य ग्रहादेर्मण्डलं पृथु लघु वा तत्र कराणां तत्पर्याप्तिप्राचुर्योपगमे तस्य तस्यादृश्यत्वमुपजायते । अत एव निशि सूर्यकराणामुन्मुखत्वेन नयनप्रतिघाताभावेन दूरविसारितयाऽनुत्कृष्टत्वेन भुवा प्रतिहतत्वेन भूयस्त्वाभावादप्रचुरत्वेन च प्रत्येकमपि योग्यमण्डलानां लघूनामलघूनां च यथोत्तरं सर्वेषामुपलम्भः । दिवा तु तारतम्यानुरोधात्क्रमेणैव क्षितिजादादित्यकराणां निःसृतत्वेन क्रमिकप्राचुर्योपगमेऽल्पमहीयसां यथोत्तरमेषामभिभवादस्मन्नयनानां च प्रचुरतरकरैस्तथाभावावधि प्रसृतानामपि प्रतिघातादनुपलम्भः । अथाभिभवस्य क्रमिकत्वासिद्धेस्तारतम्यमयुक्तमिति चेन्न । यथोत्तरमितरग्रहे तारादिबिम्बाभिभवेऽपि दिवाऽपि कदाचिदेकद्विनाडिकावद्वि(धि) शुक्रस्य पृथुबिम्बतया संनिहितोपस्थितिकत्वेन सकलकलोपलब्धतया प्रत्यक्षबाधात् । किंच तारतम्यानभ्युपगमे भृगोरिवाल्पतमस्य(सोऽ)रुन्धतीबिम्बस्यापि तदोपलम्भापत्तेः । ननु तथाऽपि प्रकृते किं सिद्धमिति चेच्छृणु । सर्वार्कोपरागावसरे शुक्रादीनां सूर्यापेक्षया राश्यन्तरसंस्थितत्वेनातिदूरमपि तिर्यक्त्वसंभवेन कियतामपि कराणां तदा चन्द्रबिम्बावरुद्धत्वेन तावत्पर्याप्तिप्राचुर्यानुपगमादनल्पबिम्बतया च तेषामनभिभूतत्वात् । तिर्यङ्मुखमयूखानां नयने प्रतिहननार्हत्वेन तावद्दूरमस्मन्नयनव्यापारसंभवेन चातितरामेव तदुपलम्भः सूपपन्नः । ननु नक्षत्राणां दूरे स्थितत्वात्तत्र तत्पर्याप्तसूर्यकरप्राचुर्यसत्त्वेन मण्डलपरिलोपसंभवान्नक्षत्राणां कियतामप्युपलब्धं दर्शनमनुपपन्नमिति चेत्सत्यम् । तारकाणां नक्षत्रोपनक्षत्रभेदस्य वेदेनोपदर्शितत्वेन वस्तुभूतानामश्विन्यादीनां दूरतः संनिवेशस्तेन च तेषामतिव्यवहितत्वेन स्वरूपग्रहशक्यतयाऽर्वागपि चन्द्रकक्षायां तदुपलक्षणत्वेनोपनक्षत्रतया ब्रह्मणा मुनिनियमविन्यासशून्यानि शरध्रुवांशादिविभागानुसंधानेनैवोपकल्पितानि । पुराणेषु चैतदाहत्यैव दक्षेण सप्तविंशतिरेता दुहितरः सोमाय समर्पिता इति । तथा च चन्द्रकक्षायां तदाऽर्ककिरणानां चन्द्रबिम्बावरुद्धत्वेन नक्षत्रमण्डलपरिलोपासंभवान्नयनप्रतिघाताभावाच्च नक्षत्राणां दर्शनं नानुपपन्नम् । ननु तर्हि सर्वेषां दर्शनप्रसङ्ग इति चेत्सौक्ष्म्याद्व्यवधानान्मेघोपप्लवाच्चेति गृहाण । पृथुतरभृगुरोहिण्यादिप्रदेशे तु तदा क्षणमपि दैवादपसारो मेघस्य । अनु(सु)ग्रासपक्षेऽप्यशेषताराणामदर्शनादेतत्कल्पनेनैव कियतां दर्शनमुपपन्नं स्यादित्यालपन्ति । तदसत् । लाघवाच्चन्द्रगोल एवादृश्यभंचक्रकल्पनया सूर्यसिद्धान्तोक्ताष्टमनक्षत्रगोलस्योन्मूलनप्रसङ्गात् । दृश्यताराशनिभेदयुतावधेः शनिस्वरूपदर्शनाच्छनेराच्छादकत्वनिर्णयेन तदुपर्येवैषां नक्षत्राणां स्थितिर्निर्णयस्य सर्वजनीनानुभवसिद्धत्वाच्च । किंच चन्द्रकक्षायां

नक्षत्रकल्पनेऽपसिद्धान्तः । पुराणोक्तस्य स्वरूपान्तरविषयत्वात् । अन्यथा तत्रापि चन्द्रादूर्ध्वं नक्षत्रावस्थानमुक्तमनुपपन्नं स्यात् । अपि च सूर्यतादृशकराणां नयनप्रतिघातमात्रकल्पनेन दिवा नक्षत्रादर्शनसिद्धेः । सर्वार्कग्रहे च सूर्यकराणां तादृशानां चन्द्रेणावरुद्धत्वान्नयनप्रतिघाताभावान्नक्षत्रदर्शनसिद्धेर्मण्डलपरिलोपकल्पनं व्यर्थमेव । न च मेघादिनाऽऽच्छदितरवौ नक्षत्रदर्शनोपपत्तिरिति वाच्यम् । मेघखण्डादेरल्पतया विरलव(लावयवत)या चन्द्रवदतिदृढासन्नत्वाभावाच्च तादृशकिरणावरोधकत्वाभावात् । एतेन शुक्रबुधयोश्चन्द्रोर्ध्वस्थत्वेन सर्वार्कग्रहे तत्पर्याप्ततत्करप्राचुर्याभावकल्पनेन मण्डलपरिलोपासंभवाद्दर्शनमित्युक्तं निरस्तम् । अन्यदेव तदाऽपि तत्पर्याप्ततत्करप्राचुर्याधिक्यसंभवात् । अधःप्रसृतकिरणानामप्यवरोधात् । शुक्रादीनां परमास्तसमयजलादर्शादौ प्रतिबिम्बोपलम्भात्किरणानां मण्डलपरिलोपकत्वासिद्धेश्च । तच्च सर्वार्कग्रहे रात्रिवत्सर्वतारादर्शनं सौक्ष्म्याद्घनघानान्मेघोपप्लवाच्चेति निरस्त तदपि रात्रौ तुल्यमिति दिक् । यत्तु निकटस्थितेन्दुनाऽऽच्छादितोऽर्को दृष्टचभिभवं न करोति दूरस्थितमेघादिनाऽऽच्छादितोऽपि दृष्ट्यभिभवं करोति । यथा निकटस्थितहस्तादिना छादितो दीपोऽन्धकारनाशं न करोति दूरस्थितेनापि महता पटादिना छादितोऽन्धकारनाशं करोतीति । तन्न । हेतूपपादनाभावात् । वस्तुतस्तु बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणं खल्वभिभवः । बलवत्त्वं च यादृशदेशावच्छिन्नस्य यावत्परिमाणकस्य तेजसोग्रहणेन यादृशदेशावच्छिन्नस्य यत्परिमाणकस्य यस्याग्रहणं तादृशदेशावच्छिन्नतावत्परिमाणकस्य तादृशं तं प्रत्यवनाडयं (भिभाव्यं) प्रतोति बोध्यम् । यादृशदेशावच्छिन्नस्येति विशेषणादेकस्यैव सूर्यस्य कदाचिच्छुक्राद्यभिभावकत्वं कदाचिन्नेत्यपि संगच्छते । अन्यथा तत्रैव नियतमभिभावकत्वं स्यात् । अभिभावनदेशावच्छिन्नत्वे तादृशपरिमाणकत्वेऽपि सूर्यादिः शुक्रादेश्चाभिभवमदेशातिरिक्तदेशवृत्तित्वे दर्शनान्न बलवत्त्वमबलत्वं चेत्यतस्तादृशदेशावच्छिन्नं प्रतीत्यभिभाव्यविशेषणम् । अभिभाव्याभिभावकयोस्ताराचन्द्रमसोः पौर्णमास्यादौ प्रक्लृप्ताभिभावनाभिभवदेशस्थितत्वेऽपि कृष्णत्रयोदश्यादावभिभावनाभावाद्यत्परिमाणस्येति । अभिभवदेशस्थस्यापि सूक्ष्मदीपादेः पुञ्जीभवदनलज्वालाजातेन सत्युपचयेऽभिभावनाभोवादभिभाव्येऽपि यत्परिमाणकत्वम् । इदं चैकस्यैव द्रव्यस्योपचयावस्थाभेदेन विभिन्नपरिमाणकत्वमङ्गीकृत्योच्यते । यदि तु परिमाणनाशे समवायिनाशस्य कारणत्वाद्भिन्नमेव तद्द्रव्यमवस्थाभेदश्चाननुगमान्न तद्धेतुरिति भण्यते तदाऽभिभाव्येऽभिभावके च यत्परिमाणकत्वं न देयमेव । तथा च यस्मिन्कस्मिन्नपि देशे यदा कदाचिदपि यस्य कस्यापि नक्षत्रस्य शुक्रादेर्वा दर्शनेऽदर्शने वा न कोऽपि दोषः । प्रतिबन्धकभावकल्पनायाः फलाधीनत्वात् । मेघशकलेन पाणितलेन वाऽऽच्छादिते रवौ ताराणामदर्शने दर्शने वा तदस्ति बलवतः सजातीयस्य ग्रहणम् । एवं किंचिदुपरक्तेऽपि । पूर्णोपरागे तु चन्द्रसकलपार्श्वनिर्गतानां रविकिरणानां ग्रहणेऽपि रात्रौ भूमण्डलपार्श्वनिर्गतानामेव तेषां निर्बलत्वान्न ताराग्रहणप्रतिबन्धः । ननूपरामे(गेऽ)प्यर्धरात्र इवाखिलताराग्रहप्रसङ्गः । आच्छादकयोर्भूमण्डलचन्द्रमण्डलयोरविशेषादिति चेन्न । चन्द्रमण्डलस्य ग्राहकनयनविदूरवर्तित्वा-

दल्पत्वाच्च । भूमण्डलस्य चात्यासन्नत्वान्महत्वाच्च महानस्ति विशेषः । अर्धरात्रे हि भूपार्श्वान्निःसृत्य परमदूरवर्तिनो नक्षत्रमण्डलादिषु प्रतिबिम्बिता एव सूरकरा दृश्यन्ते । न पृथक् । क्षितिजप्रान्तविशकलितत्वात् । प्रतिबिम्बितानां च स्वग्रहाप्रतिबन्धकत्वात्सम्यङ्नक्षत्रग्रहः । सर्वापरागे च चन्द्रमण्डलस्याऽऽच्छादकस्य दूरवर्तिनः सूक्ष्मग्रहणात्संध्यायामिव कतिपयस्थूलताराग्रहस्ता भूमण्डलमिव चन्द्रमण्डलमासन्नमस्माकं येनेदं वक्तुं युक्तं तत्त्वमित्यलं पल्लवितेन । आशङ्कते—तदिति । यत्त्वाहुर्निराकरणपूर्वकं ग्रहणसंस्थाप्रतिपादनं प्रागुक्तं तन्निरूपितमित्यर्थः । संहितावेदपुराणबाह्यम् । राहुरुदगादिदृष्टः प्रदक्षिणं हन्ति विप्रादीनित्यादिसंहिता । स्वर्भानुरिह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध तद् विद्धो न व्यरोचतेत्यादिवेदाः । सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः । सर्वं भूमिसमं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे । निशाकरे वेत्यादिपुराणानि । पुराणपदेन स्मृतयः संगृह्यन्ते । तात्पर्यैक्यात् । एभ्यो बाह्यं विरुद्धमित्यर्थः ॥१॥

अथोपजातिकयोत्तरयति–राहुः कुभेति । राहुः पुराणादिप्रसिद्धोऽसुरो भूछायाबिम्बवृत्ताऽधिष्ठितः संश्चन्द्रबिम्बं छादयति । चन्द्रबिम्बाधिष्ठितः सन्सूर्यबिम्बं छादयति । अतः । तद् ग्रहणसंस्थाप्रतिपादनं सर्वागमानां संहितावेदपुराणस्मृतीनाम् । अविरुद्धम् । एकवाक्यतापन्नमित्यर्थः । प्रागुक्तच्छादकस्य राह्वधिकरणतया तदेकरूपत्वात् । केवलराहोश्छादकत्वनिरासादेतत्कल्पनं युक्तियुक्तम् । ननु भूभेन्द्वोरन्धकाररूपतया न तत्र तदागमनाद्वैलक्षण्यं प्रतीयेतेत्यत आह—तमोमय इति । अन्धकाररूपः । तथा च रूपैक्यान्न विलक्षणप्रतीतिरिति भावः । ननु तद्यथेच्छविहारात्प्रवहवायौ स्थितिनियमाश्रवणाच्च कथं भूभाचन्द्रबिम्बयोस्तद्गमनं संभवतीत्यत आह—शंभुवरप्रदानादिति । शं सुखं यस्माद्भवतीति व्युत्पत्त्या शंभुर्ब्रह्मा । नतु महादेवः । बाराहीग्रन्थादिविरोधात् । तस्य स्वस्मै यद्वरदानं ग्रहणकालिकलोकानुष्ठितकर्मजनितपुण्यांशभागित्वरूपं तस्मात् । ब्रह्मदत्तवरप्रभावादित्यर्थः । तथा च योऽसातसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणाऽयमाज्ञप्तः । आयायन(?)मुपरागे दत्तहुतांशेन ते विभाविता तस्मिन्काले सांविध्य(निध्य)मस्य तेनोपचर्यते राहुरिति वाराहोक्तया तत्र तद्गमनं संभवति । ग्रहणे कमलासनानुभावायु(द्यु)तदत्तांशभुजोऽस्य संनिधानम् । यदतः स्मृतिवेदसंहितासु ग्रहणं राहुकृतं(गतं) प्रसिद्धमिति लब्धो(ल्लो) क्तेश्चेति भावः । केचित्तु बा(रा)हुश्चन्द्राधिष्ठितगोलसंबन्धिचन्द्रविक्षेपक्रान्तिवृत्तसंपातस्थस्य मुखपुच्छविभागेन संपातयोर्द्विधाभूतस्य नियतचारकस्यासुरस्य सूर्यचन्द्रग्रहणयोरसाधारणकारणता पुराणस्मृतिसंहिताकारैर्मुनिभिरुक्ता । नानियतचारकस्यासुरस्येति राहुकृतमेव ग्रहणं पर्यवसितम् । ननु संपातादतिरिक्तस्थानस्थितयोः सूर्येन्द्वोर्ग्रहणदर्शनादुक्तदूषणाच्चोक्तो राहुर्न ग्रहणकारक इति भूभाचन्द्राभ्यामेव चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणं गोलयुक्त्या सम्यगुपपद्यत इति चेन्न । शरस्य ग्रहणज्ञान उपयोगात्तस्य चन्द्रपातसाध्यत्वेन चन्द्रपातात्मकराहोरेव परम्परया ग्रहणकारणत्वपर्यवसानात् । न च ग्रहणार्थं चन्द्रपातोऽपि न स्वीक्रियते येन रहोस्तत्कर्तृत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । विक्षेपवृत्तानभ्युपगमेन चन्द्रपातात्मकराहोरसिद्ध्या प्रतिपर्वग्रहणापत्तेः ।

तथा च प्रतिपर्वग्रहणादर्शनाच्चन्द्रस्य विक्षेपवृत्तावस्थानकल्पनम् । तस्य चावश्यं क्रान्तिवृत्ते संपातात्तत्संपाताधिष्ठात्री देवता पुराणोक्तोऽसुरो राहुः । अन्यथा क्रान्तिवृत्तविद्वा(ध्या)-यतदक्षिणोत्तरतोऽपिधाम(य)कन्यायेन कथममूर्तस्यापि तदुभयसंपातरूपस्याऽऽकाशभागस्य ग्रहबिम्बाकर्षकत्वं भवेत् । अतः स ग्रहणे कारणम् । कथमन्यथा ग्रासानयने शरावश्यकत्वं संगच्छते । यद्यपि राहोर्ग्रहणज्ञाने कारणता न तु ग्रहणसिद्धिः स्वेनेति च्छादकत्वं भूभा-चन्द्रयोर्युक्तं तथाऽपि राहुणाऽपवारं(ल्पावरणं) चन्द्रमाकृष्य च्छाद्यच्छादकयुतिरूपग्रहण-संपादनाद्राहोरेव ग्रहणस्वा(कारणत्वा)त् । ननु तथाऽपि राहोः साक्षात्कारणत्वासिद्धिरिति चेन्न । पिधायकतयोपस्थापिताभ्यां भूभेन्दुभ्यां द्वारद्वारिभावे भ(त)दुपपत्त्या तावदिह ग्रहणक्रियायां तावत्कालपर्यन्तं तयोर्निग्रहे कारणत्वेन भूभेन्द्वोस्तदस्त्रत्वात् । ननु तर्हि पुरा-णादौ कथमेते द्वारत्वेन नोक्ते इति चेत् । न । दण्डादेः संयोगद्वारैव घटजनकत्वेऽपि द्वार-स्यानुक्तसिद्धत्वेन द्वारिण एव प्राधान्येन दण्डजन्यो घट इति लोके व्यवहारवत्तत्संयोजकत्वेन भूभेन्दुद्वारैव राहोर्ग्राहकत्वेऽपि द्वारस्यापुरस्कार्यत्वेन तत्र सर्वत्र तस्यैव तत्त्वेन व्यवहारात् । यथा वा रामचन्द्रशरनिहतो रावणो रामहत इति पुराणोक्त्या तदुपपत्तेः । ननु सूर्य-सिद्धान्तादौ पुराणादौ च पृथक्पृथक्स्वतन्त्रतया तयोर्हेतुत्वोपपादनाद्द्वारद्वारिभावः कुतो-ऽवगत इति चेन्न । यद्यप्येकत्र युतिमात्रोपक्षीणत्वेनापरत्र द्वारतयाऽपुरस्कार्यत्वेन च प्रत्येकै-कमात्रोपगमे स्वतन्त्रप्रमाणाभावात्तथाऽपि तदुभयमूलभूतेन स्वर्भानुरिह वा आसुरः सूर्यो(यं) तमसा विव्याध स विद्धो न व्यरोचतेत्यादिना वेदेन तमोद्वारैव ग्रहणस्य प्रतिपादितत्वेन तस्यातिसुप्रसिद्धत्वात् । अत्र सूर्यपदं सूर्याचन्द्रमसोस्तमःपदं च भूभेन्द्वोरुपलक्षणपरमिति मन्तव्यम् । तथा च तयोः प्रत्येकं लक्षणयोपस्थितावसुरः स्वर्भानुस्तमसास्वार्थभूतेनान्ध-कारेण भूभारूपेण लक्षणीयसूर्यपदोपस्थापितमिदमुभयं याथायोग्यं परस्परपर्युदासाल्लक्ष्य-भूतेन चन्द्रेण स्वार्थभूतमादित्यं विव्याधेत्यादिरर्थो यथोचितः सिध्यति । यत्तु वेदाचार्येणा-प्रतिहतेति यथाश्रुतेऽर्थे कमप्युपक्रमं कल्पयित्वा प्रतारणामात्रेण यथाकथंचिदेवोपरागपरत्वं परिहाय श्रुतेरन्यथैव तात्पर्यं तत्सोमारौद्रीचरोश्श्वेतायाः श्वेतवश्या(त्सा)याः पयसा श्रयण-परमार्थवादतया तत्र पद्य(ठ्य)त इत्यनेनोक्तं तदन्याय एव । यतः संभवति मुख्येऽर्थे गत्यन्तरप्रकल्पनस्यातिजघन्यत्वात् । अन्यथा लोके घटमानयेत्यादिप्रसिद्धपदेऽपि तदापत्तेः । नन्वनया गत्या भवतु सर्वेषामेकत्रावयत्वं तथाऽपि पुराणादिषु वर्तमानानां वैरानुसंधाना-दिसदानां ग्रासग्रहमोक्षादिशब्दानां च का गतिरिति चेत्सत्यम् । अमृतपानकालीनवैरानु-संधानाद्विरुद्धोऽयमतस्तदुपशसा(मा)य विधिना दत्तवरस्य तन्महिम्नैव चन्द्रपातस्थाना[धि] पत्येनोपरागनिमित्तत्वमधिगतवतो भूभाचन्द्रद्वाराऽपि तमुपरागमनुवेलमापादयतस्तन्निमित्तम-नेकजनानुष्ठीयमानजपदानहोमादिजन्यं मुदा येन प्रतिग्रहमाकला[ल्प]मपि वृत्ति[तृप्ति]रनु-[सु] रस्य भवतीति वैरानुसंधानमव्याहतम् । अत एव राहूपरागे स्नायादित्यादिश्रुतिरपि नैमित्तिकत्वेन राहूपरागनिमित्तस्नानादिप्राप्त्यर्थं दानादिकमिति च बोधयतीति तमुद्दिश्य तथैव संकल्पः । ग्रासादिशब्दाः स्वपरतये पिबेयस्य गिलनोद्गिलनन्यायेनाऽऽकर्षणसाम्येना-सुरतृप्तिहेतुत्वादिभिश्च सादृश्योपचारात्सर्वेऽपि गौणा एव । तथा च चन्द्रपातस्थानस्थित-

स्यैव राहोर्ग्राहकत्वसिद्धौ राहुः कुभामण्डलग इत्यादिकल्पनं गौरवमावहतीत्याहुस्तश्चिन्त्यम् । चन्द्रस्य विक्षेपवृत्ते गमनकल्पनया चन्द्रपातस्थानस्य तदाकर्षकत्वावश्यकतया तत्र तदधिष्ठातृभूतदेवतात्वेन राहोरसुरस्यावस्थानासंभवात् । तत्स्थानस्य राहुसंज्ञत्वेऽप्याकाशात्मतया व्यवधायकत्वासंभवेन ग्राहकत्वासंभवाच्च । किंच भवत्कल्पनाद्राहोर्दूरस्थितत्वमेव न पूर्वापरान्तराभावः । अस्मन्मते छादकसमत्वेनावस्थानकल्पनात्तथा परम्परासंबन्धानपेक्षणात् । अपि च ब्रह्मदत्तवरप्रसादात्पातस्थानमधिगतं न कथं भूभाचन्द्रयोः स्थानं लाघवात्स्वशत्रुसांनिध्याच्च । अत एव श्रीपतिना तथैवोक्तं 'भूच्छायायां प्रविष्टः स्थगयति शशिनं शुक्लपक्षावसाने राहुर्ब्रह्मप्रसादात्समधिगतवरस्तत्तमो व्यासतुल्यः । ऊर्ध्वस्थं भानुबिम्बं सलिलमयतनोरप्यधोवर्ति बिम्बं संसृत्यैवं च मासव्युपरतिसमये स्वस्य साहित्यहेतोरिति । परे तु रहयति गृहीत्वा चन्द्रार्कौ त्यजतीति राहुरिति व्युत्पत्त्या भूभाचन्द्रयोरेव चन्द्रसूर्यच्छादनकारकत्वाद्राहुत्वमित्याहुः ।।१०।।

केदारदत्तः—सूर्य चन्द्र ग्रहणों में छादक निर्णय—

सूर्य और चन्द्रमा के छादकों का विश्लेषगण—

चन्द्र ग्रहण में—सूर्य के छादक से चन्द्रमा का छादक पृथुतर है, इसलिये कि चन्द्र बिम्ब के आधे के तुल्य छाद्य होने से चन्द्र बिम्ब दर्शन में कुण्ठता और स्पार्शिकादि स्थिति दीर्घ घटित होती है, तथा सूर्य बिम्ब दर्शन में तीक्ष्णता और स्पर्शादि स्थितियाँ कम समय की देखी जाती हैं । तथा सूर्यग्रहण में चन्द्रबिम्ब छादक होता है, अतः अर्ध ग्रसित सूर्य बिम्ब में शृङ्गों में तीक्ष्णता और स्पर्शादि स्थिति कम समय की होती है । इससे सूर्य का छादक बिम्ब चन्द्र छादक बिम्ब से लघु मालूम पड़ता है ।

इस प्रकार सूर्य और चन्द्र ग्रहणों में दोनों का छादक राहु नहीं है, जैसा राहु कृत सूर्य चन्द्र ग्रहणों का पुराणों में उल्लेख हुआ है । वस्तुतः सूर्यग्रहण में चन्द्रमा ही छादक और चन्द्र ग्रहण में भूछाया के ही छादिका होने से भूच्छाया ही चन्द्रग्रहण में ग्रहण का कारण है न कि राहु ।

तथा सूर्य ग्रहण अमान्त में और चन्द्र ग्रहण पूर्णान्त में होता है । दोनों ग्रहणों का काल भिन्न है । सूर्यग्रहण में पश्चिम में स्पर्श पूर्व दिशा में मोक्ष होता है और चन्द्रग्रहण में पूर्व में स्पर्श पश्चिम में मोक्ष होता है । यह भी दिग्विभिन्नता है । राहु तो एक ही है ऐसा अर्थात् दोनों ग्रहणों में राहुकृत ग्रहण कैसे माना जाय ?

भूमण्डल में सूर्य ग्रहण कहीं पर दृश्य और कहीं पर पूर्ण सूर्य बिम्ब अदृश्य होता है, किन्तु चन्द्र ग्रहण का स्पर्शादि ग्रहणदर्शन भूमण्डलस्थ सभी (अपने-अपने क्षितिज में उदित चन्द्र से) एक समय से देखते हैं, इस प्रकार दिशा, देश और समय की विभिन्नताओं से राहु कृत ग्रहण नहीं होता ।

खगोल मर्मज्ञ, अभिमानी गणितज्ञों का उक्त मत सही है भी तो वेद-पुराण और संहिता शास्त्रों के अनुसार उक्त कथन सही नहीं है । तब कैसे समन्वय किया गया ? तब आचार्य वेद शास्त्रों से सम्मत अर्थ विषय की पुष्टि के लिये कह रहे हैं कि—

राहु भूछाया में घुसकर चन्द्रमा को और चन्द्रमा में घुस कर सूर्य को छादित करता है, स्वरूपतः राहु एक महान् अन्धकार भी है। अतः राहु कृत सूर्य चन्द्र ग्रहणों से पृथ्वी में अन्धकार ही होता है—इत्यादि इस प्रकार के अर्थ से सभी आगमशास्त्रों का कथन की ज्योतिष से सुन्दर समन्वय किया जा सकता है आचार्य का भाव स्पष्ट है ॥७॥८॥९॥१०॥

इदानीं ते लम्बनावनती कुतो हेतोः कुत इति कुदलेन साध्येते इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

यतः क्वर्धोच्छ्रितो द्रष्टा चन्द्रं पश्यति लम्बितम् ।
साध्यते कुदलेनातो लम्बनं च नतिस्तथा ॥११॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥११॥

मरीचिः—अथ किं तैः सिद्धे कुतः कुत इति प्रश्नस्योत्तरमाह—यतः क्वर्धोच्छ्रित इति। इतः प्रभृत्यधिकारान्तमनुष्टुप्छन्दः। यतः कारणात्। भूव्यासार्धयोजनैर्भूगर्भादुच्चस्थितो भूपृष्ठस्थः। द्रष्टा मनुष्यः। लम्बितं चन्द्रं पश्यति। पूर्वं प्रतिपादितत्वात्। अतः कारणाल्लम्बनं भूव्यासार्धयोजनैः साध्यते। लम्बनस्य भूव्यासार्धोच्छ्रितत्वेनोत्पन्नत्वादिति भावः। तथा तत्कारणादेव नतिः। चः समुच्चये। भूव्यासार्धयोजनैः साध्यते। उभयोस्तदुच्छ्रितत्वेनोत्पन्नत्वादुभयोस्तत एव साधनं युक्तमिति भावः ॥११॥

केदारदत्तः—लम्बन और नति साधन का नामकरण—

आचार्य ने इस अधिकार का यहाँ पर ग्रहण वासना नामकरण किया है—ग्रहण वासना का तात्पर्य सूर्य चन्द्र ग्रहण कैसे होते हैं इस ग्रह गणित की उपपत्ति से आचार्य का तात्पर्य है। वस्तुतः ग्रह गणिताध्याय में पर्व सम्भव अधिकार से चन्द्र सूर्य दोनों ग्रहों के ग्रहणों पर पूरा विचार हो चुका है। चन्द्र ग्रहण की अपेक्षा सूर्य ग्रहण में गणित विषय विशेष हैं जिन पर गणिताध्याय में उन विषयों के गणितों का पूर्ण उल्लेख आचार्य स्वयं कर चुके हैं। तिस पर भी आचार्य की मनस्तुष्टि नहीं हो पाई है। अत एव ग्रह गोलाध्याय की रचना में यहाँ पर ग्रहण वासनाधिकार में सूर्य ग्रहण के सविशेष गम्भीर विषयों पर आचार्य ने विशेष प्रकाश दिया है—

अनन्त ब्रह्माण्ड के इस आकाश में पृथ्वी से देखने वाला व्यक्ति अपने भूपृष्ठ से आकाश दर्शन करता है तथा सारा ग्रहगणित की रचना भूकेन्द्राभिप्रायिक हुई है, तो स्पष्ट है भूगर्भ से भूव्यासार्ध की दूरी पर द्रष्टा के स्थिति होने से, अपनी कक्षा स्थित भूगर्भीय ग्रह को, द्रष्टा पृष्ठ स्थान से पूर्वा पर और याम्योत्तर रूप में ग्रहों को लम्बित और नत (झुकाव) रूप में देखता है। अतः भूव्यासार्ध जन्य अन्तर ज्ञान से उत्पन्न नति और लम्बन नाम के दो संस्कार गर्भीय ग्रह में देने से वे ग्रह दृश्य अर्थात् पृष्ठीय दृष्टि के लिये स्पष्ट हो जाते हैं अत एव गर्भीय ग्रह में लम्बन और नति संस्कार आवश्यक हो जाते हैं ॥११॥

इदानीं बालावबोधार्थं छेद्यकप्रकारेण लम्बनमाह—

इष्टापर्वतितां पृथ्वीं कक्षे च शशिसूर्ययोः ।
भित्तौ विलिख्य तन्मध्ये तिर्यग्रेखां तथोर्ध्वगाम् ॥१२॥
तिर्यग्रेखायुतौ कल्प्यं कक्षायां क्षितिजं तथा ।
ऊर्ध्वरेखायुतौ खार्धं दृग्ज्याचापांशकैर्नतौ ॥१३॥
कृत्वाऽर्केन्दू समुत्पत्ति लम्बनस्य प्रदर्शयेत् ।
एकं भूमध्यतः सूत्रं नयेच्चण्डांशुमण्डलम् ॥१४॥
द्रष्टुर्भू पृष्ठगादन्यद्दृष्टिसूत्रं तदुच्यते ।
कक्षायां सूत्रयोर्मध्ये यास्ता लम्बनलिप्तिकाः ॥१५॥
गर्भसूत्रे सदा स्यातां चन्द्रार्कौ समलिप्तिकौ ।
दृक्सूत्राल्लम्बितश्चन्द्रस्तेन तल्लम्बनं स्मृतम् ॥१६॥
दृग्गर्भसूत्रयोरैक्यात्खमध्ये नास्ति लम्बनम् ।

वा० भा०—स्पष्टार्थमपि स्वरूपमात्रं व्याख्यायते । कुदलेनोच्छ्रितो द्रष्टा दृङ्मण्डले स्वस्थानान्नतं ग्रहं पश्यति । अतस्तज्ज्ञानार्थं पृथिवीव्यासार्धस्य योजनानि कक्षाव्यासार्धस्य च योजनान्येकेन केनचिद्धरेण च्छित्त्वा तेन प्रमाणेन भित्तौ विलिखेत् । एतदुक्तं भवति । भूव्यासः कुभुजंगसायकभू १५८१ मितानि योजनानि । एतानि केनचिन्महता हरेण च्छिन्नानि । तद्दलं भूव्यासार्धम् । तेनैव च्छेदेन चन्द्रार्ककक्षाव्यासार्धे छिन्ने । ते तद्व्यासार्धे भवतः । एवं कृत्वा भित्तावुत्तरपार्श्वे बिन्दुं कृत्वा तस्माद्बिन्दोर्भूव्यासार्धेन भूवृत्तं कृत्वा कक्षाव्यासार्धाभ्यां कक्षावृत्ते च कार्ये । तस्माद्बिन्दोरूर्ध्वरेखा तिर्यग्रेखा च कार्या । तिर्यग्रेखा यत्र कक्षायां लग्ना तत्र क्षितिजं कल्प्यम् । ऊर्ध्वरेखा यत्र लग्ना तत्र खमध्यं कल्प्यम् । एवं चन्द्रकक्षायां रविकक्षायां च । ते च कक्षे भगणांशै३६० रङ्कनीये । ते चन्द्रार्कयोर्दृङ्मण्डले । अथ दर्शान्तेऽर्कस्य या दृग्ज्या तच्चापांशैः खमध्यान्नतो बिन्दुः कार्यः । एवं चन्द्रकक्षायामपि तावद्भिरेव मतांशैः । तौ बिन्दू रविचन्द्रौ कल्प्यौ । अथ भूमध्याद्रविबिन्दुगामिनी रेखा कार्या । सा रेखा चन्द्रं भित्त्वा रविं याति । अथ भूपृष्ठगाद्द्रष्टुरन्या रेखा रविबिन्दुं नेया सा रेखा चन्द्रे न लगति । तयोः सूत्रयोरन्तरे चन्द्रकक्षायां याः कला दृश्यन्ते ता वा लम्बनलिप्तास्तुल्या एव भवन्ति । भूगर्भाद्या नीता रेखा तद्गर्भसूत्रम् । समकलौ चन्द्रार्कौ तत्र सदैव भवतः । अथ या रेखा द्रष्टू रविबिन्दुं नीता तद्दृक्सूत्रमुच्यते । दृक्सूत्राच्चन्द्रो लम्बितो भवति । अतस्तल्लम्बनम् । अथ यदा चन्द्रार्कौ खमध्ये भवतस्तदा गर्भ

दृष्टिसूत्रयोरैक्यमतस्तत्र लम्बनाभावः। इयं दृङ्मण्डले लम्बनस्योपपत्तिर्दर्शिता ॥१२॥१३॥१४॥१५॥१६॥

मरीचिः—अत्र कथं चन्द्रं लम्बितं पश्यतीति बालावबोधार्थं पर्वान्तेऽर्कमित्याद्युक्तं विचित्रा(पिपा)दयिषुः प्रथमं छेद्यकं साधयति—इष्टापवर्तितामिति। भित्तौ। उत्तरदिक्स्थ-पूर्वापरायतभित्तिप्रदेशे। आकाशस्थितेः स्फुटं तत्र दर्शनात्। पृथ्वीं मूर्तचन्द्रसूर्ययोः कक्षे कक्षावृत्ते। चः समुच्चये। विलिख्य तत्राभीष्टस्थाने बिन्दुं केन्द्रं प्रकल्प्य। तत् क्रमेण व्यासार्धेन वृत्तत्रयमभिन्नकेन्द्रं लिखित्वेत्यर्थः। तन्मध्ये वृत्तत्रयाभिन्न-भागे तिर्यग्रेखामूर्ध्वगामूर्ध्वरेखाम्। एतेन मध्यादधोरेखायां गोऽङ्गैरित्यर्थात्। सूचितम्। तथाऽव्यवहितरेखयोर्वृत्ते स्वपरिधिचतुर्थांशान्तरं यथा भवति तथा रेखे लिखे-दित्यर्थः। नत्वे(न्वे)तद्वृत्तिलिखनमनुपपन्नमतिमहत्त्वादत आह—इष्टापवर्तितामिति! अभीष्टाङ्केनापवर्तितां भजनद्वारा न्यूनीकृताम्। चकारादेतद्विशेषणं वचनपरिणामात्कक्ष-योरिति सूचितम्। तथा च भूव्यासार्धसूर्येन्दुयोजनकर्णा महताऽभीष्टेनाभिन्नाङ्केनापाव-र्त्याः। पुनरभिन्नाङ्केन भजनासंभव आवश्यक इति द्योतकमपवर्तनम्। तथा च तादृशै-र्व्यासार्धैरतिलघुभूतैर्वृत्तत्रयं कुर्यादिति भावः। वस्तुतो भूवृत्तमिष्टव्यासार्धेन लिखेत्। तद-नुरोधेनैवाभीष्टव्यासार्धाभ्यां तत्कक्षावृत्ते लिखेदिति विशेषणतात्पर्यमिति ध्येयम्।।१२।।

अथानुष्टुप्त्रयेण लम्बनस्वरूपं प्रदर्शयति—तिर्यग्रेखेति। कक्षायां आत्माभिप्रायेणै-कवचनम्। तेनोल्लेखितकक्षावृत्तयोरित्यर्थः। तिर्यग्रेखायुतौ तिरश्चीनरेखासंयोगयोः क्षितिजं कल्प्यम्। विना गोलं कक्षावृत्तार्धस्थतिर्यग्वृत्तदर्शनात्। तमत्र तिरश्चीनरेखायास्तद्वृत्त-व्यासार्धत्वेन तद्रेखाकक्षासंपातयोस्तिर्यक्क्षितिजवृत्तसंलग्नत्वावश्यंभावात्। अत एव क्षितिज-वृत्तादतिरश्चीनरेखायास्तद्वृत्तव्यासार्धत्वेन तद्रेखाकक्षादर्शनेऽपि कल्प्यमित्युक्तम्। पूर्वभागे पूर्वक्षितिजं पश्चिमभागे पश्चिमक्षितिजपश्चिमभाग इति विवेकः। ऊर्ध्वरेखायुतौ कक्षयोरू-र्ध्वरेखासंयोगयोः खार्धं खमध्यं तथा क्षितिजवत्कल्प्यम्। गोले सर्वदिङ्मध्यस्थत्वेनात्र तथा दर्शनात्। ऊर्ध्वरेखासंपाते ऊर्ध्वतिर्यग्वृत्तस्य संलग्नतावश्यंभावात्। एतेन लिखितवृत्तयो-श्चन्द्रसूर्यदृग्वृत्तत्वं सिद्धम्। तत्र दृग्वृत्तस्य तत्तद्गोले तत्कक्षावृत्तसमत्वात्। अन्यथा व(स्व) स्व (मध्य)कल्पनानुपपत्तेः। कल्पितक्षितिजेऽपि दृग्वृत्तक्षितिजवृत्तसंपातत्वमन्यथा दृग्वृ-त्तत्वानुपपत्तेरिति ध्येयम्। दर्शान्तिकाले च तुल्यसूर्यचन्द्रयोर्दृग्ज्या तुल्येव शरानपेक्षणात्। चन्द्रचिह्नस्यैव दृग्वृत्तं न तु बिम्बस्य। अन्यथा सूर्यदृग्वृत्त्याधश्चन्द्रवृत्तलिखनानुपपत्तेः याम्योत्तरान्तरत्वात्। तस्यास्तस्या ये धनुरंशास्तैरनयोर्दृग्वृत्तयोः स्वखार्धा इति चन्द्रौ नतौ कृत्वा स्वस्य (स्व) दृग्वृत्तयोर्भगणांशाद्यं किं तयोः स्वखार्धान्नतांशैः पूर्वापरकपाल-क्रमेण पूर्वापरभागयोः सूर्यचन्द्रयोर्यथायोग्यं चिह्नं कृत्वेत्यर्थः : अत्र नवांशकथनेन तत्का-लस्यांशा उपस्थिता भवन्तीति तद्वारणाय दृग्जा (ग्ज्या) चापांशकैरित्युक्तम्। लवनस्य समुत्पत्ति स्वरूपोत्पत्तिं शिष्याय गुरुः प्रदर्शयेत्। कथं दर्शयेदित्यतो दर्शनप्रकारमाह—एकमिति। भूमध्यतः। भूवृत्तकेन्द्रमध्यादित्यर्थः। एकं सूत्रं रेखेत्यर्थः। सूर्यबिम्बचिह्नं

प्रति नयेत्तदवधा(ध्य)त्र च्छेद्यके रेखा कार्या । एकमित्यनेन सूचितं द्वितीयं सूत्रमाह—बहुरिति । अन्यत्—द्वितीयं सूत्रं भूपृष्ठस्थिताद्द्र ष्टुः सकाशात् । द्रष्टृविधि(हि)तं भूपृष्ठ-स्थानदेशमूर्ध्वरेखाभूवृत्तसंपातरूपमारभ्य सूर्यचिह्नं प्रति नयेत् । तत्सूत्रं दृष्टिसूत्रमुच्यते । गोलज्ञैरित्यर्थात् । सूत्राभ्यां लम्बनस्वरूपं प्रत्यक्षमित्याह--कक्षायामिति । चन्द्रचिह्नवृत्त इत्यर्थः । सूत्रयोरुक्तरेखयोर्मध्येऽल्पान्तरलेपाः कलास्ता लम्बनकलास्वरूपाः ॥ १५ ॥

ननु सूत्रान्तरस्य लम्बनत्वं कुतः सिद्धमित्यत आह—गर्भसूत्र इति । यतः कारणाद्-दृक्सूत्रात् । चन्द्रश्चिह्नात्मको लम्बितस्तेन कारणेन । तत्—सूत्रान्तरमल्पं लम्बनम-न्वर्थसंज्ञं गोलज्ञैरेवोक्तमित्यर्थः । ननु चन्द्रस्य ततो लम्बितत्वं कुत इत्यत आह—गर्भ-सूत्र इति । भूमध्यगर्भस्य गर्भत्वेन व्यपदेशात्तत्संबन्धिसूत्रे सूर्यकक्षाविधिरूपे तत्स्थाने मनुष्याणामभावाद्गर्भसूत्र इत्युक्तम् । चन्द्रार्कौ चिह्नचन्द्रसूर्यौ समलिप्तिकौ । तुल्यराशि-भागकलाविकलात्मकौ । लिप्तापदस्य क्षेत्रविभागेषु लाक्षणिकत्वात् । समभागकाविति तु युक्तः पाठः सदा नियतं स्याताम् । दर्शान्तिकाले सूर्यचन्द्रयोश्चिह्ने स्वदृग्वृत्तिकृते । तत्र भूमध्यसूत्रादर्कोपरि नीतं चन्द्रचिह्नं भेदयतीत्यर्थः । गर्भसूत्रे चन्द्रचिह्नान्न स्थानमिति यावत् । तथा च दृक्सूत्रादुपरिस्थाच्च स्वचिह्नसक्तसूत्रस्याधःस्थत्वेन चन्द्रस्ततोऽवलम्बित इति भावः ॥ १६ ॥

केदारदत्तः—लम्बन और नतिसाधन गणित, की प्रक्रिया—

भूव्यासार्ध तुल्य दूरी पर 'अपने पृष्ठस्थानस्थित दृष्टा, ग्रह को दृङमण्डल में गर्भस्थ ग्रह को न देख कर अपने पृष्ठ स्थान से पृष्ठीय सूत्र में चन्द्र कक्षा में लम्बित चन्द्रमा को देखता है । इस लिये भूव्यास योजन और चन्द्र सूर्य कक्षा व्यास योजन में किसी बड़े एक अंक से भाग देकर उनके प्राकृतिक गणित सम्बन्धों को एक अति लघु व्यासार्ध अर्थात् अगुंलात्मक व्यास मान में नियत करना चाहिए ।

लम्बन ज्ञान के लिये पूर्वापराकार दिवाल(भित्ति) में और नति साधन के लिये याम्योत्तर समतल भित्ति में अंगुलात्मक व्यासार्ध से सूर्य चन्द्र कक्षा और भू बिम्ब की रचना करनी चाहिए । भू गर्भ बिन्दु से भूपृष्ठ तक खमध्य गामिनी रेखा पर भूगर्भ केन्द्र गामिनी पूर्वापरानुरूप लम्बरूपिणी रेखा करनी चाहिए । यह लम्बरूपिणी रेखा चन्द्र सूर्य कक्षा में लगती है वहाँ पर क्षितिज की कल्पना करनी चाहिए । ऊर्ध्वरेखा और चन्द्र-सूर्यकक्षागत रेखा के साथ कक्षाओं के सम्पात विन्दु पर खमध्य बिन्दु की कल्पना करनी चाहिए । चन्द्रसूर्य कक्षाओं में ३६० अंश कलादिकों की कल्पना करनी चाहिए । ये दोनों कक्षाएँ इष्ट समयानुसार चन्द्र और सूर्य से पृथक् पृथक कक्षानुसार दृङ्मण्डलवृत्त होते हैं ।

दर्शान्त समय में सूर्य चन्द्र की दृग्ज्या तुल्य चापांश दूरी पर सूर्य कक्षा में सूर्य तथा चन्द्र कक्षा में चन्द्रमा की कल्पना करनी चाहिए । भूमध्य से रवि बिन्दु गत रेखा चन्द्रबिम्ब को भेदन कर रविकक्षामध्य रवि बिन्दु पर जावेगी । अतः इसे गर्भ सूत्र कहते । पृष्ठ स्थान से चन्द्रबिम्ब गतरेखा रवि कक्षा में जहाँ लगती है वह रवि कक्षा में जहाँ

लगी वहीं पर चन्द्रमा लम्बित है अथवा रवि कक्षागत पृष्ठ सूत्र जहाँ चन्द्र कक्षा में लगता है वहाँ पर गर्भ सूत्र से चन्द्रमा लम्बित होता है ।

जिस समय सूर्य और चन्द्रमा खमध्य में रहते हैं उस समय गर्भ और पृष्ठ सूत्र की एकता से लम्बन का अभाव हो जाता है ।
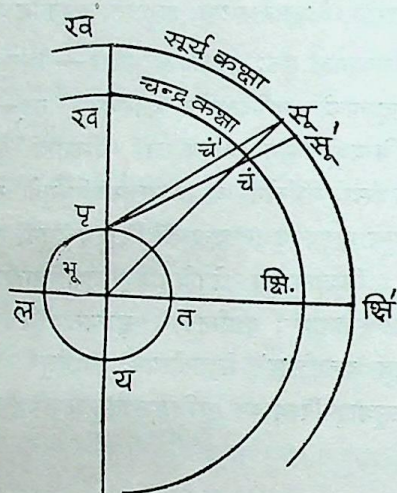
उपपत्ति—पृ त यल = भू बिम्व

ख च चं क्षि = चन्द्र कक्षा

खसू स् क्षि' = सूर्य कक्षा

भू चं सू = गर्भ सूत्र

पृ चं सू = पृष्ठ सूत्र = पृ च सू

सू सू = रवि कक्षा में लम्बन कला पूर्वापरा

च चं = चन्द्र कक्षा में लम्बन कलापूर्वापरा

∠सू चं सू = ∠पृ चं भू अतः दोनों कक्षाओं में लम्बन कला मान तुल्य होता है । पृ ख ख सूत्र में रविचन्द्रमा जिस समय होते हैं, उस समय गर्भीय अमान्त = पृष्ठीय अमान्त होने से लम्बन का अभाव होता है । श्लोक दर्शन से सभी विषय सुस्पष्ट हो रहे हैं ॥१२।१३।१४।१५।१६॥

इदानीं नत्युपपत्तिमाह—

अथ याम्योत्तरायां तु भित्तौ पूर्वोक्तमालिखेत् । १७॥

ये कक्षामण्डले तत्र ज्ञेये दृक्क्षेपमण्डले ।

त्रिभोनलग्नदृग्ज्या या स दृक्क्षेपो द्वयोरपि ॥१८॥

तच्चापांशैर्नतौ बिन्दू कृत्वा वित्रिभसंज्ञकौ ।

तल्लम्बनकलाः प्राग्वज्ज्ञेयास्ता नतिलिप्तिकाः ॥१९॥
कक्षयोरन्तरं यत्स्याद्वित्रिभे सर्वतोऽपि तत् ।
याम्योत्तरं नतिः साऽत्र दृक्क्षेपात्साध्यते ततः ॥२०॥

वा० भा०—इदमेव च्छेद्यकं याम्योत्तरायां भित्तौ पूर्वपार्श्वे लिखित्वा नत्युपपत्तिर्दर्शनीया । ये तत्र कक्षामण्डले ते दृक्क्षेपमण्डले । दर्शान्ते विभोनलग्नस्य या दृग्ज्या स दृक्क्षेपः । द्वयोरपि तावान् । ब्रह्मगुप्तमते तु तच्चापांशा वित्रिभलग्नशरसंस्कृताश्चन्द्रदृक्क्षेपचापांशाः स्युः । तयोर्वृत्तयोः खार्धात्स्वस्वदृक्क्षेपचापांशैर्नतौ विन्दू कार्यौ । तौ च वित्रिभसंज्ञौ । ततः प्राग्वद्भूमध्याद्भूपृष्ठाच्च सूत्रे प्रसार्य लम्बनलिप्तिका ज्ञेयास्ता नतिलिप्तिकाः । नतिर्नाम चन्द्रार्ककक्षयोर्याम्योत्तरमन्तरम् । तद्वित्रिभलग्नस्थाने यावत्सर्वतोऽपि तावदेव भवति । अतो दृक्क्षेपात्साधिता नतिः ॥१७॥१८॥१९॥२०॥

मरीचिः—अथैतल्लम्बनानयनप्रकारसूचनार्थमेतदभावस्थलं वदन्नतिस्वरूपदर्शनार्थं छेद्यकमाह—दृग्गर्भेति । दर्शान्ते खमध्यस्थे सूर्ये लम्बनं नास्ति । कुत इत्यतः कारणमाह—दृग्गर्भसूत्रयोरिति । दृक्सूत्रगर्भसूत्रयोरूर्ध्वरेखारूपत्वेनाभिन्नत्वात्सूत्रान्तररूपलम्बनाभावः । तथा च खमध्ये लम्बनाभावात्क्षितिजस्थाने लम्बनपरमत्वमर्थसिद्धमिति दृग्ज्यातोऽनुपातेन तदानयनं युक्तमेवेति भावः । अथ लम्बनस्वरूपदर्शनानन्तरम् । याम्योत्तरायां दक्षिणोत्तरायतायां भित्तौ । तुकारात्पश्चिमदिक्स्थितायामित्यर्थः । पूर्वोक्तं छेद्यकं खार्धमित्यन्तरम् । आलिखेत । अभीष्टस्थाने बिन्दुं केन्द्रं प्रकल्प्य तदभितो लिखेदित्यर्थः ॥१७॥

अथात्र तच्छेद्यकभिन्नत्वं संज्ञान्तरेण प्रतिपादयन्सूर्यचन्द्रयोर्दृक्क्षेपस्वरूपमाह—ये कक्षेति । तत्र लम्बनच्छेद्यके । ये कक्षावृत्ते प्रवृत्ते सूर्यचन्द्रयोस्ते । अत्र नतिच्छेद्यके दृक्क्षेपवृत्ते ज्ञेये । या दर्शान्तकालीनत्रिभोनलग्नदृग्ज्या स द्वयोः सूर्यचन्द्रयोर्दृक्क्षेपः । अपिशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थैवकारपरः स इत्यत्रान्वेति । तेन ब्रह्मगुप्तमतं सूर्यस्य त्रिभोनलग्नदृग्ज्या दृक्क्षेपः, चन्द्रस्य त्रिभोनलग्नशरसंस्कृतसूर्यदृक्क्षेप इति परास्तम् । ग्रहणाधिकारे दूषितत्वात् ॥१८॥

नतिस्वरूपं प्रदर्शयति—तच्चापांशैरिति । स्वस्वदृक्क्षेपवृत्ते तच्चापांशैर्दृक्क्षेपधनुर्भोगैः खार्धान्नतौ नम्रौ । वित्रिभसंज्ञकौ । वित्रिभलग्नसंज्ञौ बिन्दू कृत्वा । प्राग्वत् । एकं भूमध्यत इत्यादिसार्धानुष्टुबुक्तरीत्या तल्लम्बनकलाश्चन्द्रदृक्क्षेपवृत्तस्थत्रिभोनलग्नस्य चन्द्रदृक्सूत्राद्या लम्बनकलास्ता नतिकला ज्ञेयाः ॥१९॥

न चैवं त्रिभोनलग्नतुल्यत्वाभावेऽपि त्रिभोनलग्नदृग्ज्यारूपदृक्क्षेपान्नतिसाधनं संबन्धाभावादसंगतमित्यतस्तदुत्तरमाह कक्षयोरिति । यत्कारणात् । वित्रिभे त्रिभोनलग्नस्थाने । चन्द्राधिष्ठिताकाशयोर्लग्नसंबन्धिदृक्क्षेपवृत्ते । कक्षयोः, उल्लिखितदृक्क्षेपवृत्तसंबन्धिभूगर्भभूपृष्ठसूत्रयोरर्कत्रिभोनलग्नस्थानैकीभूतयोर्यत् । यत्कलामितमन्तरं स्यात् । तत्कलामितम् । अपिशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थैवकारपरः । सर्वतः । त्रिभोनलग्नस्थानतदतिरिक्तस्थानस्थिते-

ऽर्के । कक्षयोश्चन्द्रकक्षाचन्द्रदृग्वृत्तयोर्याम्योत्तरमन्तरं नतिः । अयं भावः-भूगर्भात्सूत्रं दर्शान्ते सूर्यबिम्बावधिनीतं चन्द्रचिह्नं भेदयति । भूपृष्ठान्नति तथा सूत्रं चन्द्रचिह्नदृग्वृत्तं लगति । तत्र स्थाने चन्द्रबिम्बाधिष्ठिताकाशगोलस्थक्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरदिग्रूपकदम्बद्वयप्रोतचलवृत्त-मानीय चन्द्रगोलस्थक्रान्तिवृत्ते यत्र लगति तत्स्थानयोश्चलवृत्ते यदन्तरं तन्नतिसंज्ञम् । चलवृत्तस्य क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरवृत्तत्वादिति । ततस्तत्कारणात् । सा नतिः । दृक्क्षेपात् । चकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थैवकारपरः । साध्यते । केवलयाम्योत्तरान्तरस्य दृक्क्षेपवृत्ते सत्त्वा-दिति भावः ॥२०॥

केदारदत्तः—नति साधन के लिये च्छेद्यक, याम्योत्तरभित्ति में बनेगा—

जैसे, लम्बन पूर्वापर भित्ति में दर्शाया गया है उसी प्रकार नति भी याम्योत्तर भित्ति में पूर्ववत् दिखानी चाहिए । क्योंकि गर्भ पृष्ठ सूत्र का पूर्वापर अन्तर लम्बन है तथैव गर्भ पृष्ठ सूत्रों का याम्योत्तर अन्तर का नाम नति होती है ।

दर्शान्त काल में स्पष्ट लग्न में ३ राशि कम करने से वित्रिभ लग्न होती है। लम्बन साधन में जो सूर्य चन्द्र की कक्षायें दिखाई गई हैं नति साधन में दोनों के वित्रिभ लग्न के ऊपर खमध्यद्वय गत वृत्त दृक्क्षेप वृत्तों में जो याम्योत्तरान्तर वही नति होती है ।

दर्शान्तकाल में वित्रिभ लग्न की दृग्ज्या का नाम दृक्क्षेप होता है, इस प्रकार दर्शान्त में चन्द्रसूर्य स्पष्ट की एकता से यह दोनों का दृक्क्षेप होता है। चन्द्रमा के शरा-भाव काल में यह स्थिति ठीक है । वस्तुतः यदि चन्द्रमा शराग्र में है तो आचार्य ब्रह्म-गुप्त के मत से चन्द्रदृक्क्षेप में चन्द्र शर संस्कार आवश्यक होता है । दृक्क्षेप चाप तुल्य नतांशों से खमध्य से चन्द्र सूर्य को नत कर नत स्थान में बिन्दु (चिह्न) करना चाहिए । खमध्य से सूर्य चन्द्रमा दृक्क्षेप के अंश तुल्य बिन्दु पर वित्रिभ में नत होते हैं ।

अतः लम्बन क्षेत्र दर्शन की तरह नत सूर्य चन्द्रबिम्बों पर भूगर्भ और भूपृष्ठ सूत्रों का लम्बन की तरह जो अन्तर होगा वही यहाँ पर नति नाम सूर्यचन्द्रमा का याम्योत्तर अन्तर समझना चाहिए । वित्रिभ लग्न स्थान में सूर्य चन्द्र का जो याम्योत्तरान्तर होता है वही अन्तर सर्वत्र होता है । जिस प्रकार नतांश दृग्ज्या से पूर्वापर लम्बन अन्तर रूप साधन किया गया है उसी प्रकार दृक्क्षेप से याम्मोत्तरान्तर साधन किया जाता है ।
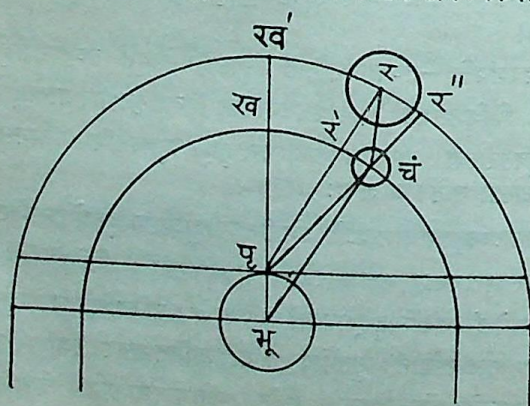
उपपत्ति—नति दर्शन क्षेत्र देखिये—

खमध्य = ख, वित्रिभ = वि, वास्तविक रवि = र, लम्बित रवि = र शेष स्पष्ट है।

अनुपात से = $\frac{\text{दृक्क्षेप} \times \text{दृग्लम्बन ज्या}}{\text{दृग्ज्या}}$ = नति = (१)

लम्बन ज्या = $\frac{\text{परं लं ज्या} \times \text{दृ ज्या}}{\text{त्रि}}$ —इष्ट दृग्लम्बन ज्या

(१) समीकरण में उत्थापन देने से = $\frac{\text{दृक्क्षेप} \times \text{परं लंज्या} \times \text{दृग्ज्या}}{\text{दृग्ज्या} \times \text{त्रि}}$

= $\frac{\text{दृक्क्षेप} \times \text{परं लम्बन ज्या}}{\text{दृग्ज्या}}$ = नति

उपपन्न होती है ॥१७।१८।१९।२०॥

इदानीं स्फुटलम्बनार्थमाह—

यत्र तत्र नतादर्कादधश्चन्द्रावलम्बनम् ।
तद्दृग्वृत्तेऽन्तरं चन्द्रभान्वोः पूर्वापरं तु तत् ॥२१॥

पूर्वापरं च याम्योदग्जातं तेनान्तरद्वयम् ।
अत्रापमण्डलं प्राची तत्तिर्यग्दक्षिणोत्तरा ॥२२॥

यत्पूर्वापरभावेन लम्बनाख्यं तदन्तरम् ।
यद्याम्योत्तरभावेन नतिसंज्ञं तदुच्यते ॥२३॥

नतिलिप्ता भुजः कर्णो दृग्लम्बनकलास्तयोः ।
कृत्यन्तरपदं कोटिः स्फुटलम्बनलिप्तिकाः ॥२४॥

परलम्बनलिप्ता $\frac{४८}{४६}$ घ्नी त्रिज्याप्ता रविदृग्ज्यका ।
दृग्लम्बनकलास्ताः स्युरेवं दृक्क्षेपतो नतिः ॥२५॥

गत्यन्तरस्य तिथ्यंशः परलम्बनलिप्तिकाः $\frac{४८}{४६}$ ।

११८५९
० ७९०
गतियोजन १ निथ्यंशः कुदलस्य यतो मितिः ॥२६॥
४ ३५

स्युर्लम्बनकला नाड्यो गत्यन्तरलवोद्धृताः ।
प्रागग्रतो रवेश्चन्द्रः पश्चात्पृष्ठेऽवलम्बितः ॥२७॥
शीघ्रेऽग्रगे युतिर्याता गम्या पृष्ठगते यतः ।
प्रागृणं तद्धनं पश्चात्क्रियते लम्बनं तिथौ ॥२८॥
याम्योत्तरं शरस्तावदन्तरं शशिसूर्ययोः ।
नतिस्तथा तया तस्मात्संस्कृतः स्यात्स्फुटः शरः ॥२९॥

वा० भा०—स्पष्टार्थमिदं ग्रहणवासनायां व्याख्यातं च ।।२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥२८॥२९॥

मरीचिः—ननु त्रिभोनलग्नतुल्यार्के पूर्वोक्तलम्बनस्वरूपत्वसिद्धेर्न लम्बनातिरिक्ता नतिः सिध्यतीत्यत आह—यत्र तत्रेति । खमध्यान्नतात्सूर्यात् । यत्र तत्र । त्रिभोनलग्नस्थानातिरिक्तस्थाने । अवस्थितात् । अधश्चन्द्रगोले । चन्द्रचिह्नस्यावलम्बनम् यतो दर्शान्ते भूगर्भसूत्रं सूर्योपरिगं चन्द्रचिह्ने लगत्यपि भूपृष्ठसूत्रं सूर्योपरिगतमपि चन्द्रचिह्नादूर्ध्वं चन्द्राधिष्ठितगोले लगति । अत एवात्र पृष्ठसूत्रद्वारा सूर्यावस्थानं युक्तम् । मध्याह्नार्कादधश्चन्द्रावलम्बनस्य कक्षागोलाद्भूगर्भेऽप्युपपत्तेः । तत् । अवलम्बनम् । चन्द्रभान्वोश्चन्द्रचिह्नभूपृष्ठसूत्रसक्तचन्द्राधिष्ठिताकाशगोलप्रदेशे विशेषरूपसूर्यचिह्नयोरित्यर्थः । तद्दृग्वृत्ते । स्वगोलसंबन्धिचन्द्रचिह्नस्थानस्थितवृत्ते । पूर्वापरम् । अन्तरम् । तुकारात्स्वमध्यान्नतार्कात्त्रिभोनलग्नतुल्याद्यचन्द्रचिह्नस्यावलम्बनम् । चन्द्रचिह्नवृत्तं तयोरन्तरमपि न पूर्वापरं किंतु याम्योत्तरं, प्रतिपादितत्वादित्यर्थः । तथा च दृग्वृत्ताकारक्रान्तिवृत्ते लम्बनं केवलं पूर्वापरान्तररूपम् । क्रान्तिवृत्तस्थत्वात् । दृक्क्षेपवृत्ताकारदृग्वृत्ते लम्बनं केवलं याम्योत्तररूपम् । दृक्क्षेपवृत्तस्य क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरवृक्ष(त्त)त्वात् । अन्यन्न(त्र) तु लम्बनं दृग्वृत्ते पूर्वापरमपि क्रान्तिवृत्तदिगनुरोधेन पूर्वापरं याम्योत्तरं चेति द्विविधम् । ग्रहगतेः क्रान्तिवृत्तानुसृतत्वात् । तत्र याम्योत्तरं नतिसंज्ञं प्रागुपपादितम् । पूर्वापरं चन्द्रचिह्नप्रागुक्तप्रोतचलवृत्तक्रान्तिवृत्तसंपातयोः क्रान्तिवृत्तेऽन्तरं लम्बनाख्यमिति व्यक्तं भेद इति भावः ॥२१॥

अथैतदेव स्फुटयन्नाह—पूर्वापरमिति । तेन दृग्वृत्ते सूर्यचन्द्रयोरन्तरदर्शनेनेत्यर्थः । पूर्वापरयाम्योत्तरं चेत्यन्तरद्वयमुत्पन्नम् । तदन्तरयोः स्थलमाह—अत्रेति । चन्द्राधिष्ठिता-

काशगोले । अपमण्डलप्राच्याम् । क्रान्तिवृत्तमार्गे प्रथमोद्दिष्टमन्तरं तत्तिर्यग्दक्षिणोत्तरे क्रान्तिवृत्तस्य तिरी(रश्ची)नं यद्दक्षिणोत्तरवृत्तम् । कदम्बद्वयप्रोतचलल्लत्तं तत्संबन्ध्य-नन्तरोद्दिष्टमन्तरमित्यर्थः । स्वरूपतत्त्वविवेचनं पूर्वं प्रतिपादितमेवेत्यलम् ॥२२॥

ननु तथाऽप्यन्तरद्वयसिद्धौ तयोर्लम्बननतिसंज्ञाक्रमः कथं विनिगमकाभावादत आह— यत्पूर्वापरभावेन लम्बनाख्यं तदन्तरम् । ग्रंथा(यद्या)म्योत्तरभावेन नतिसंज्ञं तदुच्यते । इति । क्रान्तिवृत्ते पूर्वापरत्वेन यदन्तरं तल्लम्बनसंज्ञं यद्याम्योत्तरत्वेनान्तरं तन्नतिसंज्ञं सूर्यादि(पूर्वसूरि)भिरुच्यते । तथा च तद्वचनमेव नियामकमेतत्संज्ञयोरिति भावः ॥२३॥

नन्वेवं क्रान्तिवृत्तदृग्वृत्तस्थलम्बनयोः संज्ञाभेदाभावात्कथं व्यवहार इत्याशङ्कोत्तरं पूर्वापरक्रान्तिवृत्तलम्बनानयनोपजीव्यक्षेत्रसंस्थानकथनच्छलेनाऽऽह—नतिलिप्ता इति । चन्द्र-गोले कदम्बद्वयप्रोतचलवृत्ते सूर्यबिम्बसंबन्धिभूपृष्ठसूत्रसक्तचन्द्रचिह्नवृत्तप्रदेशगते दृग्वृत्त-क्रान्तिवृत्तान्तरयोः कलास्ता नतिकला भुजः । वृत्ते भूगर्भपृष्ठसूत्रयोरन्तरकला दृग्लम्बन-कलाः कर्णः । तयोर्नतिदृग्लम्बनयोर्वर्गान्तरमूलं कोटिः । क्रान्तिवृत्ते चन्द्रचिह्नचलवृत्त-योरन्तरं स्पष्टलम्बनं कलाः । तथा च संज्ञाभेदाद्व्यवहारे न क्षतिरिति भावः । लम्बनं बत किं का च नतिरिति प्रश्नस्योत्तरमेतत्पर्यवसन्नमिति ध्येयम् ।।२४।।

ननु व(न)तिदृग्लम्बनयोरानयनप्रकाराभावाज्ज्ञानासंभवेन स्फुटलम्बनज्ञानं तद्वर्गान्तर-मूलेन न संभवतीत्यतो दृग्गर्भसूत्रयोरैक्यादित्याद्यर्धसूचितानुपातेन तयोरानयनमाह— परलम्बनेति । क्षितिजे लम्बनस्य परमत्वेन तत्र त्रिज्यातुल्यदृग्ज्यायाः सत्त्वात्त्रिज्यातुल्य-दृग्ज्यायाः परमा लम्बनलिप्तास्तदाऽभीष्टदृग्ज्यायाः का इत्यनुपातेन दर्शान्तिकालीनसूर्य-दृग्ज्यायाः परलम्बनकलाभिर्गुणिता त्रिज्यया भुक्ता याः कला लभ्यन्ते ता इत्यर्थः । दृग्लम्बनकला भवन्ति । एवमुक्तानयनप्रकारेण दृक्(ग्)क्षेपतो रविदृग्ज्यास्थाने दृव(ग्)क्षेप-ग्रहणादित्यर्थः । नतिर्भवति । अस्या दृव(ग्)क्षेपवशादुत्पन्नत्वात् । उभयोर्लम्बनरूपतया खमध्येऽभावाच्च । एतेन भूतलमध्यस्थस्य द्रष्टुर्भूपृष्ठगतस्य वा दृष्टिः स्वाभिमुखं याति समं न लम्बनं तेन मध्याह्ने इति लल्लोक्तम् । क्षिप्त(त्य)र्धमध्योपगतस्य दृष्टिर्द्रष्टुर्महीपृष्ठग-तस्य च [चैवम्] । समं स्व(ख)मध्याभिमुखी प्रयाति न लम्बनं तेन भवेद्दिनार्धे इति श्रीपत्युक्तं च निरस्तम् । खमध्यस्थानभिन्नमध्याह्नस्थाने कारणाभावाल्लम्बनाभावानु-पपत्तेः । तथा चोभयोरुक्तप्रकारेण सिद्धेः कृत्यन्तरपदं कोटिरित्यनेन स्फुटलम्बनज्ञानं संभवत्येवेति भावः ।।२५।।

ननु तथाऽपि परमलम्बनकलानां ज्ञानादुक्तदोषस्तदवस्थ एवेत्यतः परमलम्बनकलाः कारणपूर्वकं प्रतिपादयति—गत्यन्तरस्थेति । सूर्यचन्द्रयोर्यत्कलात्मकं गत्यन्तरं तस्य पञ्च-दशांशः परमलम्बनकला भवन्ति । कुत इत्यत आह—गतियोजनतिथ्यंश इति । गति-योजनानां कल्पकुदिनभक्तखकक्षामितानाम् । पञ्चदशांशो यतो यत्कारणाद्घट्य(भूव्या) सार्धमानमुपलभ्यतेऽस्तस्तदुक्तं युक्तमेव । तथा हि—चक्रं कलाभिरष्टत्रिंशदधिकं चतुस्त्रि-

श्च्छतं व्यासार्धं तदा सप्ताङ्गनन्दाच्चि(द्वि)मितभूपरिधौ किमित्यनुपाते भूपरिधिबृह-त्रिज्याघातरूपभाज्यं १७००६५४६ चत्वारिंशदधिकक्रकलामितहरौ २१६०० चत्वारिं-शदधिकचतुर्दशशतेना१४४०पवर्तितौ भाज्यस्थाने योजनगति ११८५ । ४१ । ४५ । हरस्थाने पञ्चदशेति गतियोजनपञ्चदशांशस्य भूव्यासार्धत्वसिद्धावर्थात्कलात्मकगतिपञ्च-दशांशस्य परमलम्बनकलात्वं परमलम्बनस्य भूव्यासार्धमितत्वात् । अतः प्रकृते सूर्यच्चि-न्द्रस्य लम्बितत्वेन तदानयनार्थं गत्यन्तरपञ्चदशांशग्रहणमुचितमिति । एतन्मध्यममानेन लाघवात्स्वरूपावगमार्थमुक्तं स्पष्टगत्यन्तरस्यान्य एवांश इति सूर्यग्रहणाधिकारे विस्तरेण प्रतिपादनादित्यलम् ॥२६॥

अथैतत्कलात्मकं लम्बनं तिथिघटीषु विजातीयत्वात्संस्कारानर्हमतस्तद्घटिकात्मकं साधयंस्तत्संस्कृतिस्तिथाविति प्रश्नस्योत्तरं श्लोकाभ्यामाह—स्युर्लम्बनेति । स्फुटलम्बनस्य गत्यन्तरोत्पन्नत्वेन गतिकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा लम्बनकलाभिः का इत्यनुपाते प्रमाण-फलयोः फलापवर्तनेन प्रमाणस्थाने गत्यन्तरभागास्तथा च स्फुटलम्बनकलाः सूर्यचन्द्र-गत्यन्तरभागैर्भक्ताः फलं लम्बननाड्यः । अनेन गोलस्थितिसिद्धस्फुटलम्बनानयनेन दृङ्नतिमूलकलम्बनानयनसूर्यग्रहणाधिकारोक्तमुपपद्यते । तथा हि—गत्यन्तरभागानां मध्य-मत्वेनाङ्गीकारात्परलम्बनकलानां घटिकाश्चत्वार(स्त्र)स्ताभिर्दृग्लम्बननत्योर्ज्ञानार्थं रवि-दृग्ज्या दृक्क्षेपो (पौ) गुणितौ त्रिज्याभक्तौ फलयोर्वर्गान्तरमूलं दृङ्नतित्वेन प्रकल्प्यावशिष्टं गुणहारक्रियाकरणेन स्फुटं लम्बनमथवा गुणहरयोर्गुणापवर्तनेन सिद्धत्रिज्याचतुर्थांशमितहरेण दृग्ज्या दृक्क्षेपयोर्भक्तयोर्वर्गान्तिरमूलं स्फुटलम्बनं घटिकात्मकमित्यादीति प्रश्नोत्तरभूतां लम्ब-नसंस्कारोपपत्तिमाह—प्रागित्यादि । यतः कारणात् । शीघ्रं शीघ्रगतिग्रहे चन्द्रे । अग्रगे । मन्दगतिग्रहात्सूर्यादग्रिमभागगतेर्युतिरेकसूत्रस्थत्वरूपा । याता पूर्वं जातेत्यर्थः । पश्चाद्भा-गस्थे तु गम्या । अग्रिमकाले युतिर्भविष्यति । तत्तस्माद्धेतोः क्रमेण प्राक् । त्रिभोनलग्न-स्थानात्पूर्वकपाले । त्रिभोनलग्नाधिकरवावित्यर्थः । तिथौ दर्शान्तघटिकासु लम्बनं घटि-कात्मकस्फुटलम्बनं दर्शान्तयुतिकालान्तररूपम् । ऋणं हीनं क्रियते । पश्चात् । त्रिभोनलग्न-स्थानात्पश्चिमकपाले । त्रिभोनलग्नादल्परवावित्यर्थः । धनं युतं क्रियते । भूपृष्ठगतसूत्रस्थ-त्वरूपयुतिकालज्ञानार्थम् । ननु पूर्वापरकपालयोश्चन्द्रस्य सूर्यादग्रिमं पश्चाद्भागस्थत्वं कुत इत्यत आह—प्रागिति । प्राक् । त्रिभोनलग्नाधिकरवौ । सूर्यात्सकाशाच्चन्द्रश्चिह्नात्मकः । दर्शान्तकाले । अग्रतोऽग्रिमभागे । क्रान्तिवृत्ते राशिक्रमानुरुद्धमार्गे विलम्बिते । लम्बितत्व-माप्तः पश्चात् । त्रिभोनलग्नाल्परवौ । पृष्ठ क्रान्तिवृत्ते राशिक्रमानुरुद्धमार्गेण सूर्यात्पश्चि-मभागे लंबितः । अतः पूर्वापरकपालयोर्युतिकालस्य गतगम्यत्वं सूपपन्नम् । चन्द्रस्याधोल-म्बनादिति भावः ॥२७॥२८॥

अथ तत्संस्कृतिर्बाणे किमित्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—याम्योत्तरमिति । चन्द्रार्कबिम्ब-योर्याम्योत्तरं पदं शरस्तावदन्तरं शशिसूर्ययोर्नतिस्तथा तया तस्मात्संस्कृतः स्यात्स्फुटः शर इति । चन्द्रार्कबिम्बयोर्याम्योत्तरं यदन्तरं तावन्मितमेव शरस्तयोः क्रमेण क्रान्तिविक्षेपवृत्त-

योग्यस्थानात् । नतिस्तथा । उक्तरीत्या सूर्यचन्द्रयोर्याम्योत्तरान्तररूपा तस्मात् । उभयोर्याम्योत्तरान्तररूपत्वादित्यर्थः । तथा । नत्या शरः संस्कृतः सूर्यग्रहणोक्तरीत्या । स्फुटः । भूपृष्ठसूत्रसक्तचन्द्रगोलकदेशाच्चन्द्रबिम्बपर्यन्तं याम्योत्तररूपं सूर्यग्रहणगणितक्रियोपयुक्तः स्यात् ॥२९॥

केदारदत्तः—स्पष्ट लम्बन का स्वरूप बताया जा रहा है—

दृङ्मण्डल में जिस किसी भी स्थल पर गर्भीय सूत्र से पृष्ठीय सूत्र में जब सूर्य बिम्ब लम्बित होता है, उस माप से सूर्यचन्द्र का अन्तर दृङ्मण्डल में पूर्वापर लम्बन होता है। तथा पूर्वापर अन्तर के साथ दृक्क्षेप वृत्ताभिप्रायिक सूर्य चन्द्र बिम्बों का याम्योत्तरानुरूप अन्तर नति होती है। इस प्रकार पृष्ठीय स्पर्शादि मोक्षान्त काल साधन के लिये पूर्वापर और याम्योत्तरान्तररूप दो अन्तर कलाओं के काल के तुल्य स्पर्शादि-अमान्त से मोक्ष-पर्यन्त में दो संस्कार आवश्यक होते हैं।

पूर्वक्षेत्र देखिये—नतिकला = भुज, दृग्लम्बन = कर्ण, दोनों का वर्गान्तर मूल = नति। सूर्य दृग्ज्या को परलम्बन से गुणा कर त्रिज्या से भाग देने से दृग्लम्बन कला होती है, इसी प्रकार दृक्क्षेप से नति का साधन करना चाहिए।

उपपत्ति, $\frac{\text{चंगति}-\text{सूर्यगति}}{१५}$ = परम लम्बन = ४८।४६

तथा $\frac{\text{गतियोजन}}{१५}$ = भूव्यासार्ध । ७९०।३५

लम्बन कला को काल में परिणत करने से, $\frac{६० \times \text{लम्बन कला}}{\text{गत्यन्तर}}$ = लम्बन काल होता है।

प्राक्कपाल में सूर्य से चन्द्रमा आगे रहता है इसलिये लम्बन काल दर्शान्त में ऋण, तथा पर कपाल में सूर्य से चन्द्रमा पीछे रहता है इस लिये लम्बन काल ऋण होता है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि दो ग्रहों में यदि शीघ्र गति आगे पहुँच गया तो मन्दगति ग्रह से संयोग कर आगे गया है इसलिये प्राक्कपाल में ग्रहयोग ऐसा हो चुका तथा यदि शीघ्रगति ग्रह मन्द गति ग्रह से पीछे है तो गत्यन्तर जन्य काल के पश्चात् मन्द गति ग्रह का शीघ्रगति ग्रह से योग होगा अतएव ऐसी स्थिति में योग अर्थात् युति गम्य अर्थात् आगे होगी, स्वयं सिद्ध होती है।

इसलिये भी प्राक्कपाल में लम्बन ऋण और परकपाल में धन होता है। यद्यपि श्लो-२१ से २९ तक उपपत्ति स्वरूप यहाँ भी व्याख्या हुई है तथापि छात्रों के लिये सुविधा की दृष्टि से सविशेष यह विषय यहाँ पर स्पष्ट किया जा रहा है।

उपपत्ति—कदम्ब प्रोत में शर याम्योत्तरानुरूप और नति भी याम्योत्तरानुरूपिणी होने से नति संस्कृत शर = स्फुट शर होता है ।

पूर्वदर्शित क्षेत्र देखिये—

र र′ = दृग्लम्बन चाप की ज्या = दृग्लंज्या ।

र′ न = याम्योत्तरानुरूप नति की ज्या = नति ।

अतः ज्या र र′—ज्या रन′ = ज्या र प = शरकोटि व्यासार्धवृत्त में । पुनः अनुपात से शर कोटिव्यासार्ध = ज्या क प

यदि, $\frac{\text{पर}' \times \text{कर}}{\text{क प}} = \frac{\text{ज्या पर} \times \text{त्रि}}{\text{शर को}}$ = र न का चाप = स्पष्ट लम्बन कला । स्पष्ट लम्बन कला का काल ज्ञानाय अनुपात, $\frac{६० \times \text{स्पलं}}{\text{चगति-सूर्यग}}$ = स्पष्ट लम्बन काल, उपपन्न होता है ॥२१…२९॥

अथ वलनवासनामाह—

तुलाजाद्योर्हि संपाते विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोः ।
स्यातां याम्योत्तरे भिन्ने परक्रान्त्यन्तरे च ते ॥३०॥
आयनं वलनं तत्र जिनांशज्यासमं ततः ।
एकैवाऽऽयनसंधौ तु तयोः स्याद्दक्षिणोत्तरा ॥३१॥
एकैव तद्वशात्प्राची तत्र नो वलनं ततः ।
तदन्तरेऽनुपातेन खेटकोटिक्रमज्यका ॥३२॥
जिनज्याघ्नी द्युजीवाप्ताऽऽयनदिग्वलनं भवेत् ।
एवमेव हि संपाते विषुवत्समवृत्तयोः ॥३३॥
उन्मण्डलं भवेत्तत्र विषुवद्दक्षिणोत्तरा ।
क्षितिजं समवृत्तस्य पलज्या च तदन्तरम् ॥३४॥
क्षितिजेऽक्षज्यया तुल्यमक्षजं वलनं ततः ।
तयोरेकैव याम्योदङ्न मध्ये वलनं ततः ॥३५॥
नतक्रमज्यया साध्यमन्तरे त्वनुपाततः ।
नतं खाङ्काहतं भक्तं द्युदलेनाऽऽप्तभागकैः ॥३६॥
क्रमज्याऽक्षज्यया क्षुण्णा द्युज्याभक्ताक्षजं भवेत् ।
प्राक्सौम्यं पश्चिमे याम्यं तच्चापैक्यान्तरात्स्फुटम् ॥३७॥

एवमेव च संपातो यः क्रान्तिसमवृत्तयोः ।
परमं तत्र तत्कालवलनैक्यान्तरं स्फुटम् ।।३८।।
अग्रतः पृष्ठतस्तस्मात्क्रान्तिवृत्ते त्रिभेऽन्तरे ।
तयोर्याम्योत्तरैकत्वात्तत्र नो वलनं स्फुटम् ।।३९।।
न स्पष्टवलनाभावस्तत्र स्यादुत्क्रमज्यया ।
क्रमज्यया ततः कार्यं दार्ढ्यार्थं कथ्यते पुनः ।।४०।।
सर्वतः क्रान्तिसूत्राणां ध्रुवे योगो भवेद्यतः ।।
विषुवन्मण्डलप्राच्या ध्रुवे याम्या तथोत्तरा ।।४१।।
सर्वतः क्षेपसूत्राणां ध्रुवाज्जिनलवान्तरे ।
योगः कदम्बसंज्ञोऽयं ज्ञेयो वलनबोधकृत् ।।४२।।
तत्रापमण्डलप्राच्या याम्या सौम्या च दिक् सदा ।
कदम्बभ्रमवृत्तं च बध्नीयात्परितो ध्रुवात् ।।४३।।
गोले तु जिनतुल्यांशैस्तत्र ज्या क्रान्तिशिञ्जिनी ।
सर्वतः समवृत्ताच्च याम्योदक्कुजसंगमे ।।४४।।
तत्तिर्यग्गतसूत्राणां योगः स समसंज्ञकः ।
समध्रुवकदम्बानामुपरि द्युचरान्नयेत् ।।४५।।
सूत्राणि वृत्तरूपाणि वलनानि तदन्तरे ।
अक्षजं वलनं मध्ये स्यात्समध्रुवसूत्रयोः ।।४६।।
कदम्बध्रुवसूत्रान्तरायनं च त्रिभे ग्रहात् ।
कदम्बसमसूत्रान्तः स्फुटं सर्वदिशां च तत् ।।४७।।
अथवा परितः खेटात्खाङ्कभागान्तरे न्यसेत् ।
त्रिज्यावृत्तं ततस्तत्र विषुवत्समवृत्तयोः ।।४८।।
मध्येऽक्षवलनं विद्याद्विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोः ।
अन्तरं चाऽऽयनं क्रान्तिसमवृत्तान्तरे स्फुटम् ।।४९।।
तत्रापमण्डलं प्राची तस्या याम्योत्तरः शरः ।
वलनानयने क्षेपः क्षिप्तो यैस्ते कुबुद्धयः ।।५०।।

नक्रादिश्च कदम्बश्च स्यातां याम्योत्तरे समम् ।
आयनं वलनं तस्मान्नाऽऽयनादौ प्रजायते ।।५१।।
ततो भ्रमति गोले स मकरादिर्यथा यथा ।
तथा तथा भ्रमत्येष कदम्बो निजमण्डले ।।५२।।
कुम्भादावथ मीनादौ याम्योदग्वलयस्थिते ।
जायते वलनं तद्यत्सौम्यसूत्रकदम्बयोः ।।५३।।
अन्तरं शिञ्जिनीरूपं कदम्बभ्रममण्डले ।
अयनाद्गतकालांशक्रमक्रान्तिज्यका हि सा ।।५४।।
उत्क्रमज्या यतो बाणः शिञ्जिनी तु क्रमज्यका ।
सत्रिभार्कात्क्रमक्रान्तिज्यातो वलनमायनम् ।।५५।।
यैरुक्तमुत्क्रमक्रान्त्या भ्रान्त्या तैर्नाशितं हि तत् ।
युक्त्याऽनयैव विज्ञेयमक्षजं च क्रमज्यया ।।५६।।
परोक्तेरन्यथा ब्रूयाद्यः परान्न प्रदूषयेत् ।
तस्यैव दूषणं तद्धि न दोषोऽतोऽन्यदूषणे ।।५७।।
उत्क्रमज्यानिरासोऽयमन्यथा वाऽथ कथ्यते ।
जिनांशैर्जिनवृत्ताख्यं कदम्बात्परितो न्यसेत् ।।५८।।
क्रान्तियाम्योत्तरं वृत्तं कदम्बद्वयकीलयोः ।
प्रोतं कृत्वा चलं न्यस्तं द्वंद्वान्ते स्याद्ध्रुवोपरि ।।५९।।
द्वंद्वान्ताच्चाल्यतेंऽशैर्यैस्तैरेव चलति ध्रुवात् ।
जिनवृत्ते तदंशानां तत्र ज्या क्रान्तिशिञ्जिनी ।।६०।।
आयनं सैव वलनं द्युज्याग्रे जायते ग्रहात् ।
ग्रहध्रुवान्तरे यस्माद्द्युज्याचापांशकाः सदा ।।६१।।
त्रिज्यावृत्ते यतो देयं तत्रातः परिणाम्यते ।
एवमक्षांशकैर्वृत्तं समाख्यात्परितो न्यसेत् ।।६२।।
समकीलकयोः प्रोतं तथा याम्योत्तरं चलम् ।
तत्तत्खेटोपरि न्यस्तं यैरंशैः खार्धतो नतम् ।।६३।।
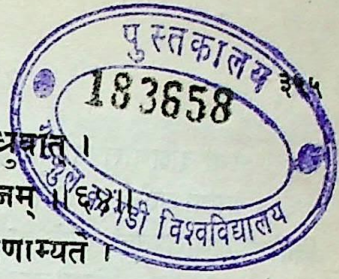
समवृत्तोऽक्षवृत्तो च तैरेव स्यान्नतं ध्रुवात् ।
समवृत्तनतांशज्याऽक्षज्यापरिणताक्षजम् ।।६४।।
द्यु ज्याग्रे वलनं प्राग्वत्त्रिज्याग्रे परिणाम्यते ।
उपपत्त्याऽनया सम्यक् समवृत्तनतांशजम् ।।६५।।
वलनं स्यात्तथा वक्ष्ये स्वाहोरात्रनतादपि ।
अग्रानृतलयोर्योग: समदिक्त्वेऽन्यथाऽतरम् ।।६६।।
तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषपदभक्ताक्षशिञ्जिनी ।
नतासुदोर्ज्यया क्षुण्णा वलनं पलजं स्फुटम् ।।६७।।
नतं खाङ्काहतं भक्तं द्यु दलेनाऽऽप्तभागकैः ।
क्रमज्याऽक्षाज्यया क्षुण्णा स्थूलं वा द्यु ज्यया हृता ।।६८।।
द्यु ज्यावृत्तापवृत्तैक्ये न्यसेद्वा रविमण्डलम् ।
बिम्बाग्रे वलनं तद्यदन्तरं वृत्तयोस्तयोः ।।६९।।
बिम्बान्तबिम्बमध्योत्थक्रान्तिमौर्व्योस्तदन्तरम् ।
अर्कदोर्भोग्यखण्डघ्नं बिम्बार्धं तत्त्वदस्रहृत् ।।७०।।
जिनज्याघ्नं त्रिमज्याप्तमेवं स्यादन्तरं हि तत् ।
बिम्बार्धहृत्त्रिभज्याघ्नमेवं त्रिज्यागतं भवेत् ।।७१।।
गुणहारकबिम्बार्धत्रिज्यानाशे कृते सति ।
भोग्यखण्डं जिनांशज्यागुणं तत्त्वाश्विभाजितम् ।।७२।।
सत्रिभार्कोत्क्रमक्रान्तेस्तत्तुल्यं जायतेऽथवा ।
क्रमक्रान्तेरिदं वीक्ष्य भ्रान्तिं त्यजत बालिशाः ।।७३।।
नामितं छत्रवद्बिम्बं तिर्यक् क्रान्तिस्तु सा समा ।
अत्र द्युजानुपातो यस्तत्तिर्यक्करणाय सः ।।७४।।

वा० भा०—अथ वलनेषु दृक्कर्मणि चोत्क्रमज्यानिराकरणाय मूलसूत्रेऽपि बहूक्तं तथाऽपि किंचिदिहोच्यते । विषुवद्वृत्तं समवृत्तं प्रकल्प्य दक्षिणोत्तरवृत्तस्थे ग्रह आयनवलनस्योपपत्तिप्रतीत्यर्थं पृथग्दर्शयेत् । अपमण्डलप्राच्यपराया एकः कदम्बो याम्याऽन्यः सौम्या दिक् । एवं विषुवद्वृत्तप्राच्यपराया ध्रुवौ । यदा मकरादिर्याम्योत्तरवृत्ते तदैव कदम्बोऽपि । अतो विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोरेकैव याम्यो-

दक्। तथा दक्षिणोत्तरवृत्तस्य कुम्भादेश्च मध्ये स्वाहोरात्रवृत्ते पञ्चगुणाङ्कचन्द्रा १९३५ असवो वर्तन्ते। ते षष्ट्युद्धृताः कालांशाः स्युः ३२। १५। अथ कुम्भादिर्यावद्दक्षिणोत्तरवृत्तं नीयते तावत् कदम्बो निजमण्डले चक्रांशाङ्किते तावद्भिरेव कालांशै ३२। १५ र्दक्षिणोत्तरवृत्तसंपातात्प्रत्यगवलम्बते। कदम्बयाम्योत्तरसूत्रयोरन्तरं वलनम्। सा च तेषामंशानां कदम्बवृत्ते ज्या। अतः क्रमज्या। उत्क्रमज्या तु बाणरूपा भवति। कदम्बवृत्ते या ज्या सा क्रान्तिज्या। अतस्तेषामंशानां क्रमक्रान्तिज्या वलनम्। अथवैकराशेः क्रमक्रान्तिज्या त्रिज्यागुणा द्युज्याहृता तथाऽपि सैव भवति।

अथवाऽन्यप्रकारेणोत्क्रमज्यानिराकरणं द्युज्यानुपातश्च प्रतिपाद्यते क्रान्तिवृत्तेऽर्कस्थानेऽर्कबिम्बं मुद्रिकाकारं विन्यस्य बिम्बपरिधौ यत्र स्वाहोरात्रवृत्तं लग्नं यत्र च क्रान्तिवृत्तं तयोरन्तरं यद्दक्षिणोत्तरं तत्तत्र बिम्बे प्राच्यपरयोर्वलनम्। तच्चार्कक्रान्तेर्बिम्बार्धकलायुतस्यार्कस्य क्रान्तेश्चान्तरम्। अतस्तस्याऽऽनयनम्। रविदोर्ज्यायां क्रियमाणायां यद्भोग्यखण्डं तेन मानार्धकला गुण्याः। शरद्विदस्रै २२५ र्भाज्याः। फलं दोर्ज्ययोरन्तरं स्यात्। तत्र तावत्स्फुटभोग्यखण्डज्ञानायानुपातः। यदि त्रिज्यातुल्यायां कोटौ प्रथमं ज्यार्धं शरद्विदस्रा भोग्यखण्डं तदाऽभिमतायामस्यां किमिति। फलं स्फुटं भोग्यखण्डम्। तेन गुणितं बिम्बार्धं शरद्विदस्रैर्भाज्यम्। एवं स्थिते शरद्विदस्रमितयोर्गुणहरयोर्नाशे कृते बिम्बार्धस्य कोटिज्या गुणस्त्रिज्या हरः। फलं दोर्ज्ययोरन्तरम्। ततः क्रान्त्यर्थमनुपातः। यदि त्रिज्यया जिनज्या लभ्यते तदाऽनेन दोर्ज्यान्तरेण किमिति फलं क्रान्त्यन्तरम्। तद्बिम्बव्यासार्धवृत्ते वलनम्। अथान्योऽनुपातः। यदि बिम्बव्यासार्धवृत्त एतावद्वलनं तदा त्रिज्याव्यासार्धवृत्ते किमिति। अत्र त्रिज्यातुल्ययोर्गुणहरयोस्तथा बिम्बार्धमितयोश्च तुल्यत्वान्नाशे कृते कोटिज्याया जिनांशज्या गुणस्त्रिज्याहरः। फलं कोटिक्रमक्रान्तिज्या। तत् त्रिज्यावृत्ते वलनम्। एवं विषुवद्वृत्तस्थित एव ग्रहे यतो भूमध्यात्खस्वस्तिकस्थबिम्बमध्यं प्रति यत्सूत्रं नीयते तत्त्रिज्यासूत्रं दण्डवत्। तदुपरिस्थं बिम्बं छत्रवत् समन्तात् सममेव। यत्तत्परितस्त्रिज्यावृत्तं यत्र च वलनज्या देया तदपि भूसममेव स्थितम्। अतस्तत्र यथागतमेव वलनम्। यदा किल मेषान्ते ग्रहस्तदा तत्क्रान्त्या खस्वस्तिकादुत्तरे नतं बिम्बं स्यात्। त्रिज्यासूत्रं तदा कर्णरूपम्। बिम्बमध्याच्च लम्बसूत्रं ध्रुवयष्ट्यन्तं द्युज्या। सा तत्र कोटिः। क्रान्तिज्या भुजः। यथा किंचित्कर्णस्थित्या धृते दण्डे छत्रमपि तत्स्पर्धिन्या दिशि कर्णरूपं भवति। तत्र वलनज्ययाऽपि कर्णरूपिण्या भवितव्यम्। यत्पूर्वमानीतं क्रान्त्यन्तरं लम्बसूत्रप्रतिस्पर्धि तत्कोटिरूपं जातम्। तस्य कर्णकरणायानुपातः। यदि द्युज्याकोट्या त्रिज्या कर्णस्तदाऽनया किमिति। पूर्वं कोटिज्याया जिनज्या गुणस्त्रिज्या हरः। इदानीं त्रिज्या गुणो द्युज्या हरः। अत्रापि त्रिज्या-

तुल्ययोर्गुणहरयोर्नाशे कृते कोटिज्या जिनज्यागुणा द्युज्यया भक्ता वलनं स्यादित्युपपन्नम् ।

युक्त्याऽनयैव विज्ञेयमक्षजं च क्रमज्ययेति । यथाऽयनवलनज्ञानार्थं ध्रुवात् परितो जिनभागैः कदम्बभ्रमवृत्तं निबद्धं तथा याम्योत्तरक्षितिजयोर्यः संपातः स समसंज्ञकः । तस्मादप्यक्षांशैः परितोऽक्षबलनज्ञानार्थं वृत्तं बध्नीयात् । तत् किलाक्षवलयसंज्ञम् । तदपि भांशैरङ्क्यम् । तत्राक्षवलनोपपत्तिर्दर्शनीया । तद्यथा । मध्याह्नेऽर्कात्समचिह्नं प्रति नीयमानं वृत्ताकारं सूत्रं ध्रुवचिह्नलग्नं याति । अतस्तत्र विषुवत्समवृत्तयोरेकैव याम्योत्तरा । वलनाभाव इत्यर्थः । अथ यदि दिनार्धान्नतं सूर्यं कृत्वा समचिह्नात् सूर्यं प्रति नीयमानं सूत्रं यत्र सममण्डले लगति तत्खस्वस्तिकयोर्मध्ये यावन्तोंऽशास्तावन्त एवाक्षवृत्ते समसूत्रध्रुवयोर्मध्ये भवन्ति । यतस्तत्समवृत्तानुकारं बद्धम् । तेषां भागानामक्षवलये यावती क्रमज्या तावदेव समसूत्रध्रुवयोरन्तरम् । अथ क्षितिजस्थेऽर्के क्षितिजमेव समसूत्रम् । तत्राक्षवृत्ते समवृत्ते च नवतिर्नतांशाः । तेषां ज्याऽक्षवलयेऽक्षज्यातुल्या स्यात् । अतः सममण्डलगतैर्वलनं साधयितुं युज्यते । ते तु महायासेन ज्ञायन्ते । न तु सुखेन । अतस्तज्ज्ञानार्थं स्थूलोऽनुपातः सुखार्थं कृतः । यदि दिनार्धतुल्येन स्वाहोरात्रनतेन नवतिः सममण्डलनतांशा लभ्यन्ते तदेष्टेन किमिति । लब्धनतांशानां या क्रमज्या साऽक्षज्यावृत्ते परिणाम्यते । यदि त्रिज्यावृत्त एतावती ज्या तदाऽक्षज्यावृत्ते कियतीति । लब्धं किल वलनज्या स्यात् । परं सा द्युज्याग्रे न त्रिज्याग्रे । यतः समसूत्रध्रुवयोरन्तरं तत् । ग्रहध्रुवयोर्मध्ये द्युज्याचापांशा एव वर्तन्ते । यदि द्युज्यावृत्त एतावती तदा त्रिज्यावृत्ते कियतीति । एवं सति पूर्वत्रैराशिके त्रिज्या हरः । इदानीं गुणः । तुल्यत्वात्तयोर्नाशे कृते नतांशज्याया अक्षज्या गुणो द्युज्या हरः फलं स्थूला वलनज्या स्यात् ।

अथ सूक्ष्माऽप्युच्यते । ग्रहणकालेऽर्कस्य शङ्कुः शङ्कुतलमग्रा च साध्या । अग्राशङ्कुतलयोः समदिशोरैक्यमन्यथाऽन्तरं स किल बाहुः पूर्वं प्रतिपादित एव । ग्रहसमवृत्तयोरन्तरं ज्यारूपं दक्षिणोत्तरं बाहुतुल्यं स्यात् । तथा विषुवद्वृत्तादुत्तरतो दक्षिणतो वा क्रान्तिज्यान्तरे द्युज्यावृत्तं तथा समवृत्तादपि बाहुवशादुत्तरतो दक्षिणतो वा बाहुतुल्येऽन्तर उपवृत्तं कल्प्यम् । तदपि भांशैरङ्क्यम् । बाहुवर्गोनत्रिज्यावर्गस्य पदं तस्मिन् वृत्ते द्युज्यावद्व्यासार्धम् । अथ द्युज्यावृत्तोपवृत्तयोर्यौ प्राक्पश्चात्संपातौ तयोर्जीवावद्यत् सूत्रं निबध्यते तस्यार्धमुपवृत्ते नतांशानां ज्या । सैवाहोरात्रवृत्तनतांशानां भुजज्या । अथ तदानयनम् । नतासूनां या भुजजीवा सा द्युज्यावृत्ते परिणाम्यते । यदि त्रिज्यावृत्त एतावती तदा द्युज्यावृत्ते कियतीति । एवमुपवृत्तनतांशज्या भवति । ततो यद्युपवृत्तव्यासार्ध एतावती तदाऽक्षज्याव्यासार्धे कियतीति । ततो द्युज्याग्र एतावती वलनज्या तदा त्रिज्याग्रे कियतीति । अत्र

प्रथमेऽनुपाते त्रिज्या हरो द्युज्या गुणः। तृतीयेऽनुपाते त्रिज्या गुणो द्युज्या हरोऽत-स्तुल्यत्वात्तयोर्नाशे कृते नतासूनां भुजज्याऽक्षजीवया गुणितोपवृत्तव्यासार्धेन भक्ता सा सूक्ष्मा वलनज्या स्यात्। अत उक्तमग्रानृतलयोर्योग इत्यादि।

अथ दृष्टान्तः। यत्र किल बृषभान्तक्रान्तितुल्योऽक्षः २०।३८। तत्र वृषभान्त-स्थोऽर्को दिनार्धे खस्वस्तिके भवति। तदा क्रान्तिवृत्तं दृङ्मण्डलाकारं स्यात्। सत्रिगृहोऽर्को राशिपञ्चकं सिंहान्तः। स च तदा क्षितिजे वर्तते। तत् प्राच्यपर-योरन्तरं क्षितिजे प्रत्यक्षं वलनं दृश्यते। सा च सिंहान्तस्याग्रा। तत् कथं सत्रि-गृहार्कोत्क्रमक्रान्तिर्वलनम्। अतोऽसत्। अस्मदानयनं विना नेदमग्रारूपं वलन-मुत्पद्यत इत्यर्थः।

अथान्यो महान् दृष्टान्तः। यत्र देशे षट्षष्टिभागा ६६ अक्षस्तत्र मेषादौ क्षितिजस्थे सर्वेऽपि राशयः समकालमेव क्षितिजस्था भवन्ति। तदा क्रान्तिवृत्तमेव क्षितिजं भवतीत्यर्थः। तत्र मेषादौ वृषभादौ मिथुनादौ वा स्थिते रवौ परमं त्रिज्या-तुल्यमेव स्फुटं वलनं स्यात्। यतः क्रान्तिवृत्तप्राच्युत्तरा जाता। तथा विक्षेपाभावे सति तदा रवेर्दक्षिणस्यां दिशि स्पर्शः। चन्द्रस्योत्तरस्यामित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। तत्र देशे तस्मिन् काले तस्य त्रिज्यातुल्यस्य वलनस्यान्यथानुपपत्त्याऽस्मदीयमेव वलनानयनं समीचीनम्। तत्र देशेऽक्षज्या ३१।४०। मेषादिगे रवौ द्युज्या ३४३८। चरज्यासवः ०। क्षितिजस्थेऽर्के नतघटिकाः १५। आयनवलनचापांशाः २४। आक्षवलनचापांशाः ६६। स्फुटवलनस्य चापांशाः ९०। वृषादिगे रवौ द्युज्या ३३६६। चरज्यासवः १६७०। नतघटिकाः १९। ३८। आयनवलनचापांशाः २१।४। अक्षजस्य ६८।५६। स्फुटवलनस्य चापांशाः ९०। मिथुनादिगे द्युज्या ३२१८। चरासवः ३४६५। नतघटिकाः २४। ३७। आयनवलनांशाः १२। ३२। अक्षजस्य ७७। २८। स्फुटस्य ९०। एवं सर्वत्र।

अत एव प्रतिवादिनं प्रत्याह—

यत् खस्वस्तिकगे रवौ भवलये दृग्वृत्तवत् संस्थिते
प्रत्यक्षं वलनं कुजे त्रिभयुतार्काग्रासमं दृश्यते।
त्वं चेदुत्क्रमजीवयाऽऽनयसि तत्तादृक् सखे गोलविन्-
मन्ये तर्ह्यमलं तदेव वलनं धीवृद्धिदाद्योदितम्॥
यत्राक्षोऽङ्गरसा लवा दिनमणेस्तत्रोदयं गच्छतो
मेषे वा वृषभेऽपि वाऽप्यनिमिषे कुम्भे स्थितस्यापि वा।
स्पर्शो दक्षिणतस्तदा क्षितिजवत् स्यात् क्रान्तिवृत्तं तत-
स्तद् ब्रूह्युत्क्रमजीवयाऽत्र वलनं व्यासार्धतुल्यं कथम्॥

अनेनैवोत्क्रमज्यानिराकरणेन दृक्कर्मापि क्रमज्यया साध्यम् । वलनमूलत्वाद्-दृक्कर्मणोऽतस्तयोरेकैव वासना ।

इति श्रीभास्करीये सिद्धान्तशिरोमणिगोलवासनाभाष्ये मिताक्षरे वलनवासना ॥

मरीचि :—स्यादेतत् । पश्चाद्भागादित्यादिना पूर्वाभिमुखो गच्छन्नित्यादिना च सूर्यचन्द्रयोः स्पर्शमोक्षदिङ्नियम उक्तस्त्वयुक्तः । ग्रहणाधिकारे वलनदानोक्त्या तदसिद्धेरित्यतो वलनदानस्योपपत्तिसूचनार्थं वलनस्वरूपं वलनानयनोपपत्त्या विवक्षुः प्रथममसंगतोक्तिपरिहारार्थं फक्किकया वलनवासनां प्रतिजानीते—अथ वलनवासनेति । अथानन्तरम् । उपोद्घातसंगत्या । बलनस्वरूपं निर्णीयत इत्यर्थः । प्रतिज्ञातमेवानुष्टुष्टुमेनाऽऽह—तुलाजाद्योरिति । अथ ग्रहणाधिकारे वलनस्याक्षायनवलनद्वयसंस्कारतयोक्तत्वादक्षायनवलनद्वयस्वरूपं निरूपणीयम् । तत्राक्षवलनस्य प्रतिदेशं भिन्नत्वात्सर्वदेशावच्छेदेनाभिन्नत्वमायनवलनमनन्तरोक्तं लाघवादत्र यत्प्रथमं स्वरूपनिर्णयद्वारा निरूपितं तत्रापि तदानयनोपपत्त्यवगमार्थमायनवलनस्वरूपकथनपूर्वकं परमायनवलनस्थानज्ञानमाह—तुलाजाद्योरिति । कल्प्यतुलादि । मेषादिप्रदेशयोर्विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तयोः । याम्योत्तरे दक्षिणादिशाबुत्तरादिशौ च । भिन्ने । पृथक्पृथक्स्थाताम् । नैके । तुलाजादिप्रदेशावच्छेदेन क्रान्तिवृत्तस्य ये दक्षिणोत्तरे कदम्बरूपे तद्भिन्ने विषुवद्वृत्तस्य तत्संबन्धिप्रदेशावच्छेदेन ध्रुवरूपे दक्षिणोत्तरे क्रान्तिवृत्तविषुवद्वृत्तयोरेकाकारत्वासंभवादित्यर्थः । तथा च तयोरन्तरमेवाऽऽयनं वलनमिति भावः । ननु तत्तयोरन्तरमेवं कियदित्यत आह—परक्रान्त्यन्तरे इति । से दक्षिणदिशे उत्तरदिशे च । परमक्रान्तिरन्तरं ययोस्ते इत्यर्थः । चकाराद्वृत्तस्थानयोः पूर्वदिशे पश्चिमदिशे च परक्रान्त्यन्तरेण भिन्ने इत्यर्थः । कुत इत्यतः कारणं सूचयति—हीति । यतः कारणात् । तुलाजादिप्रदेशयोर्विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तयोः संपातो भवतीत्यर्थः । तथा च संपातस्थे विषुवद्वृत्तप्रदेशस्य ध्रुवप्रोतवृत्ताकारेण ध्रुवयोर्दक्षिणोत्तरा । तत्संपातस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशस्य मेषतुलाद्यात्मकस्य कदम्बप्रोतवृत्ताकारेण कदम्बयोर्दक्षिणोत्तरेति क्रान्तिवृत्तविषुवद्वृत्तयोरेकाकारत्वासंभवाद्दक्षिणोत्तरदेशे भिन्ने परक्रान्त्यन्तरे एव भवतः । संपातस्थानात्त्रिभान्तरे परमान्तरत्वेनाऽऽयनसंधौ पूर्वदिशोः पश्चिमदिशोश्च परमक्रान्त्यन्तरत्वादिति भावः । फलितमाह—आयनमिति । ततः परक्रान्त्यन्तरत्वात् । तत्र कल्प्यतुलादौ कल्पमेषादौ चेत्यर्थः । जिनांशज्यासमम् । चतुर्विंशत्यंशानां या ज्या तत्तुल्यम् । परक्रान्तेश्चतुर्विंशत्यंशमितत्वात् । आयनं वलनम् । अयनं गमनं संबन्धि आयनं वृत्तम् । तत्संबन्धि वलनं विषुवद्वृत्तदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तदिशां वलितत्वात् । परिलेखे वलनस्य ज्याकारत्वेन दानोक्तेर्वलनज्यायाः । अत एव । वलनत्वाङ्गीकारात् । अथ तदुपपत्त्यर्थमेव तदभावस्थानज्ञानमाह—एकैवेति । अयनसंधौ संपातात्त्रिभान्तरितप्रदेशे । तयोः क्रान्तिवृत्तविषुवद्वृत्तयोः । दक्षिणा उत्तरा । तुः समुच्चयार्थकचपरः । एका । अभिन्ना । एवकारादयनसंबन्धिप्रदेशावच्छेदेन क्रान्तिवृत्तस्य ये दक्षिणोत्तरे

कदम्बरूपे तद्भिन्ने एवायनसंबन्धितः परकान्त्यन्तरितदक्षिणोत्तरस्थितविषुवद्वृत्त-दक्षिणोत्तरे ध्रुवरूपे ध्रुवात्कदम्बस्य जिनांशान्ततरत्वेन परितो भ्रमणप्रतिपादनात्क्रान्ति-वृत्तविषुवद्वृत्तयोरेकाकारत्वासंभवेन ध्रुवकदम्बयोरेकप्रदेशावस्थानासंभवादित्यसा(स्या) निरासः। कदम्बध्रुवयोरेकप्रदेशावस्थानासंभवेऽपि कदम्बप्रोतध्रुवप्रोतवृत्तयोरैक्यात्पूर्वा-परान्तराभावेन तदैक्यसंभवात्। एतदभ्युपगमे प्रमाणमाह—एकैवेति। तद्वशात्। कदम्ब-ध्रुवप्रोतवृत्तयोरैक्यसंबन्धेन तद्दक्षिणोत्तरयोरभिन्नत्ववशादित्यर्थः। प्राची। उपलक्षणा-त्पश्चिमाऽपि। तयोस्तत्र। एका। अभिन्ना। एवकारादयनसंधितःस्त्रिभान्तरितप्रदेशे। विषुवत्क्रान्तिवृत्तयोः संपाते प्राच्योरपरयोश्चैकप्रदेशावस्थानगत्यक्षत्वाद्दक्षिणोत्तरस्थान-भेदवदत्र स्थानभेदकल्पाज(ल्पनं)बाधितमित्यर्थः। तथा च प्राच्यपरयोरभिन्नत्वात्तदनुरुद्ध-दक्षिणोत्तरयोरभिन्नत्वं स्वतः सिद्धं वृत्तैक्यसंबन्धेनान्यथानुपपत्त्या स्वीकार्यम्। अन्यथा वस्तुतस्तद्भेदे पूर्वयोस्तदनुरुद्धयोस्तद्भेदप्रत्यक्षत्वापत्तेरिति भावः। फलितमाह—तत्रेति। अयनसंधौ। कल्प्यमकरकर्कयोरित्यर्थः। ततः क्रान्तिविषुवद्वृत्तयोर्दिगैक्यात्। वलनं, आयनपलनम्। नो संभवति। विषुवद्वृत्तदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तदिशामभिन्नत्वेन वलितत्वा-भावात्। अथायनवलनस्य परमाभावयोः स्थानं निरूप्य तदुपजीविकां तदानयनोपपत्ति-माह—तदन्तरे इति। तयोर्गोलयनसंध्योरन्तराले। अनुपातेन। अयनसंधितो यथा यथा ग्रहोऽवतरति तथाऽयनवलनमुत्पद्यत इति ग्रहभोगस्य कल्प्यमेश(षा)द्यवधिकस्यायनसंधि-तस्तद्भोगज्ञानार्थं सायनग्रहस्य राशित्रययोजनं तद्भुजज्यया वलनोत्पत्तिस्तत्र ग्रहकोटि-ज्यायाः सत्रिभग्रहभुजज्यातुल्यत्वात्सायनग्रहकोटिज्याऽयनवलनज्ञानार्थं गृहीता। त्रिज्या-तुल्यया ग्रहकोटिज्यया जिनांशज्यातुल्या परमायनवलनज्या कोटिज्ययां केति द्युज्याग्रे इयं त्रिज्याग्रे केति द्युज्यानुपातस्यांग्रे. समर्थितत्वात्त्रिज्ययोर्नाशादनुपातद्वयफलितेन। खेटकोटि-क्रमज्यका। अत्रोत्क्रमज्यानिरासार्थे क्रमपदम्। चतुर्विंशत्यंशानां ज्याचा(या) गुणिता द्युज्यया भक्ता फलमयनदिक्कमायनम्। ग्रहणाधिकारोक्तं सिद्धं भवेत्। ग्रहणाधिकारोक्त-मायनं वलनमनुपाताभ्यां सूपपन्नमिति भावः। अथाक्षवेलनानयनोपपत्त्यर्थं परमस्थानमाक्ष-वलनस्याऽऽह—एवमिति। विषुवत्समवृत्तयोः संपाते। एवम्। यथा विषुवत्क्रान्तिवृत्तसंपाते आयनं वलनं परमं तथाऽत्राक्षवलनं परममित्यर्थः। एवकारात्तदुक्तान्यरीतिव्युदासः। कुत इत्यतो विशदयति—उन्मण्डलमिति। पूर्वश्लोकोत्तरार्धस्थं हीत्यव्ययमत्रान्वेति। ननु पूर्वं यतः कारणात् तत्र विषुवत्समवृत्तसंपाते। उन्मण्डलम्। विषुवद्दक्षिणोत्तरा। संपातस्थ-विषुवद्वृत्तप्रदेशस्य दक्षिणोत्तरा वृत्तं भवेत्। तत्र ध्रुवप्रोतवृत्तस्य तदभिन्नत्वात्। सम-वृत्तसंपातरूपसमशेत(?)वृत्तस्य तदाकारत्वात्, विषुववृत्तस्य ध्रुवयोर्दक्षिणोत्तरा। समवृत्तस्य समयोर्दक्षिणोत्तरेति तात्पर्यार्थः। तदन्तरमाक्षं वलनमिति भावः। तत्कियदत आह—पल ज्येति। तदन्तरम्। तयोर्दक्षिणयोरुत्तरयोश्चान्तरम्। अर्धज्यारूपेणाक्षज्या। चकारात्सं-पातस्थसमविषुवद्वृत्तप्रदेशयोस्त्रिभान्तरितप्राच्योरपरयोश्चान्तरमक्षज्येत्यर्थः। फलित-माह—क्षितिज इति। ततस्तद्दिशोः फलज्यान्तरत्वादित्यर्थः क्षितिजे क्षितिजस्थे ग्रहे। यत्र

तत्रावस्थितस्याप्येकवृत्तसंबन्धेन संपातस्थत्वाभ्युपगमात् । अक्षज्यया सममक्षोत्पन्नं वल-नम् । समवृत्तस्याक्षभेदेन भेदात्तद्दिग्ज्यो(ग्भ्यो)विषुवद्वृत्तदिशां वलितत्वादाक्षं वलनं तत्र परममित्यर्थः । आक्षवलनाभावस्थलमाह–तयोरिति । मध्ये । याम्योत्तरवृत्तस्थे ग्रहे । तयोरेकवृत्तसंबन्धेन याम्योत्तरवृत्तस्थयोर्विषुवत्समवृत्तप्रदेशयोरित्यर्थः । यतः कारणाद्दक्षि-णोत्तरा च । एका । अभिन्ना । अत्राप्येवकारस्तद्दक्षिणोत्तरयोरेकावस्थानाभावात्तद्भि-न्नत्वं तन्निरासार्थः । समध्रुवप्रोतव(वृत्त)प्रोतयोरैक्येन पूर्वापरान्तराभावात्तदभिन्नत्वाङ्गी-कारात्तत्प्राच्योरभिन्नत्वेन दर्शनाच्च । ततः कारणात्तत्र वलनमाक्षवलनं न संभवति । सम-वृत्तदिग्भ्यो विषुवद्वृत्तदिशां तत्राभिन्नत्वेन वलितत्वासंभवात् । अक्षवलनानयनोपपत्ति-माह—नतक्रमज्ययेति । तुकारादुदयमध्यान्यतरमध्याह्नकालयोरित्यर्थः । अन्तराले । नतक्रमज्यया । मध्याह्ने नताभावादाक्षवलनाभावादुदयास्तकालयोर्नतस्य परमत्वादाक्ष-वलनपरमत्वाच्च नतकालस्य क्रमज्यया । अत्र क्रमपदमुपक्रमज्यावारणार्थम् । वलनमनु-पाततः । त्रिज्यातुल्यया । नतकालज्ययाऽक्षज्यातुल्यमाक्षवलनं तदेष्टनतज्यया किमिति द्युज्याग्रे इदं त्रिज्याग्रे किमिति द्युज्यानुपातस्याग्रे समर्थितत्वादनुपातद्वयफलितेनाऽऽनय-नेन ग्रहणाधिकारोक्तेन साध्यम् । तत्कथं फलितमानयनमिति ग्रहणाधिकारोक्तमनुवदति–नतमिति । नतकालस्य भागज्ञानं विना ज्याकरणस्याशक्यत्वात्प्रथमं दिनार्धतुल्यकालेन सम-मण्डलनवत्यंशास्तदेष्टनतकालेन के इत्यनुपातेन नतं भवति । गुणं दिनार्धेन भक्तमाप्ता नत-भागास्तैः क्रमज्या तेषां क्रमज्या । अत्रापि क्रमपदमुत्क्रमज्यानिवारकम् । अक्षज्यया गुण्या द्युज्यया भक्ता फलं प्राङ्नतेरुत्तरदिक्कं पश्चिमनतेर्दक्षिणादिक्कमक्षोत्पन्नं वलनं भवेत् । अथोपजीव्यवलनद्वयमुक्त्वोपजीवकं मुख्यमाह—तदिति । तयोरायनाक्षवलनयोर्ज्यात्मक-योश्चापे वृत्तगते वलने तयोरैक्यान्तरात् । समदिशि योगो भिन्नदिश्यन्तरमिति ग्रहणा-धिकारोक्तसंस्कारादित्यर्थः । स्फुटं मुख्यं वृत्तगतं वलनं भवति । तथा च पश्चाद्भागादि-त्यादिना पूर्वाभिमुखो गच्छन्नित्यादिना च सूर्येन्द्वोः स्पर्शमोक्षदिङ्नियमः क्रान्तिवृत्तदिङ्-नियमेनोक्तः । ग्रहभोगस्य तदनुरुद्धत्वात् । स्वदेशे तु सममण्डलदिङ्नियमानुरोधात्तद्दिङ्-नियमेनोक्तदिङ्नियमितः । किंत्वत्र दिङ्नियमितः समवृत्तदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तदिशां स्फुटवल-नान्तरेण वलितत्वादिति सर्वं साध्विति भावः ॥३०॥३१॥३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥३७॥

नन्वेवं सममण्डलक्रान्तिवृत्तयोर्दिगन्तरस्य स्फुटवलनत्वादायनानयनरीत्या तदनपेक्षं स्व-तन्त्रतयाऽऽनयनं लाघवात्कथं न कृतमित्यत आह—एवमेवेति । क्रान्तिसमवृत्तयोः । एवमेव प्रवहानिलभ्रमक्रान्तिवृत्ततया स्थिरसमवृत्ततया च प्रदेशोऽनियतो न विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्त-योर्भ्रमतोः संपातवत्समवृत्तनिरक्षसमवृत्तयोः स्थिरयोः संपातवद्वा नियत इत्यर्थः । यो यत्प्रदेशे जातः संपातस्तत्र क्रान्तिवृत्तप्रदेशः । तत्कालवलनैक्यान्तरात् । यत्काले समक्रान्ति-वृत्तसंपाते ग्रहस्तत्काले अयनाक्षवलनयोः पूर्वोक्तरीत्या साधितयोः समदिशोर्योगाद्भिन्न-दिशोरन्तरादित्यर्थः । स्फुटं समक्रान्तिवृत्तदिशोरन्तररूपं वलनं परमं भवति । चकार एव-

कारार्थे । तेन तत्संपातादन्यत्र ग्रहे स्फुटवलनं परमं नेति सूचितम् । तथा च क्रान्तिसमवृत्तयोः संपातस्यानियतत्वात्तत्स्थपरमवलनस्य नियतसंख्याभावाद्विना पूर्वत्र प्रतिपादितायनाक्षवलने तज्ज्ञानस्याशक्यत्वाच्च तदनपेक्षं स्थ(स्व)तन्त्रमानयनं स्फुटं वलनस्यासंभवीति भावः ।।३८।।

ननु परमस्य नियतसंख्यत्वनियमात्संपाते स्फुटवलनस्य परमत्वमयुक्तं नियतसंख्याया अभावादित्यत आह—अग्रत इति । तस्मात् । समक्रान्तिवृत्तसंपातात् । क्रान्तिवृत्ते । अग्रतोऽग्रिमभागे । पृष्ठतः पश्चिमभागे । त्रिभेऽन्तरे । त्रिराश्यन्तरितप्रदेशे । स्फुटं मुख्यं वलनं समक्रान्तिवृत्तदिशोरन्तररूपं नो न संभवतीत्यर्थः । अत्र कारणमाह—तयोरिति । तत्र संपातत्रिभान्तरितप्रदेशे । तयोःक्रान्तिसमवृत्तयोर्याम्योत्तरैक्यत्वात् । कदम्बप्रोतसमप्रोतवृत्तरूपयाम्योत्तरवृत्तयोरभिन्नत्वादित्यर्थः । तथा च स्फुटवलनाभावस्य संख्याभावनियतत्वाच्च त्रिभान्तरे स्फुटवलनपरमत्वनियतसंख्यात्वेऽपि दुष्परिहरमन्यथाऽयनाक्षवलया(न)योरुक्तपरमस्थानानुपपत्तिरिति भावः ।।३९।।

स्यादेतत् । उत्क्रमज्यापलं वलनयोरानयने कुतो दत्तम् । क्रमोत्क्रमज्याभ्यां भावा[भा]वयोस्तुल्यत्वादिति मन्दाशङ्कां परिहरन्वक्ष्यमाणवलनस्वरूपादिप्रतिपादनप्रकारान्तरं प्रतिजानीते—न स्पष्टेति । तत्र समक्रान्तिवृत्तसंपातत्रिभान्तरितक्रान्तिवृत्तप्रदेश उत्क्रमज्यया । खेटकोट्युत्क्रमज्यानतांशोत्क्रमज्याभ्यामुक्तरीत्या साधितायनाक्षवलनाभ्याम् । स्पष्टवलनाभावो न स्यात् । तद्वलनयोर्भिन्नदिक्त्वेऽपि तुल्यत्वाभावात् । ततस्तस्माद्धेतोः क्रमज्यया तदुभयमुक्तरीत्या कार्यम् । तयोः समत्वोपलम्भात् । प्रतीतिस्तु धूलीकर्मणा वोपलब्धिस्तथाऽप्यनियमादुपेक्ष्या । अत एव क्रमज्यया ग्रहस्य साक्षात्संबन्धादुक्तदिशां वलने गोले प्रत्यक्षे उत्क्रमज्यायाः साक्षात्संबन्धाभावादानीतवलने गोलबर्हिभूते इत्यवधेयम् । ननु तुलाजाद्योरित्यादिभागोले परमाभावात्मके दर्शिते तूत्क्रमज्याङ्गीकारेऽप्यक्षते मध्येऽप्यनुपातादुक्ते न स्वरूपेणेति वलनस्वरूपानिर्णयात्कथं क्रमज्यया साध्यमुत्क्रमज्यया नेति निर्णयः संगत इत्यत आह—दाढर्यार्थमिति । यद्यपि क्रमज्यायाः सर्वत्र साक्षात्संबन्धेन ग्रहकर्मण्युपयोगादत्रापि क्रमज्यैवान्यथा सर्वत्र ग्रहकर्मणि तदपवाया(दुपयोगा)पत्तेर्वलनस्वरूपस्याप्यनुपातसिद्धत्वादिति निर्णयः सिद्ध एव तथाबुद्धीनां तद्दृढत्वसिद्धयर्थः । पुनर्द्वितीयवारं वलनस्वरूपात्क्रमज्यानिराकरणं प्रकारान्तरेण समनन्तरमेव मया प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।।४०।।

अथ प्रतिज्ञातं विवक्षुर्वलनानां समक्रान्तिविषुवद्वृत्तदिगन्तररूपत्वेन सामान्यतो ज्ञानात्प्रथमं तद्वृत्तानां दिक्स्वरूपकथनोपक्रमे विषुवद्वृत्तदिङ्निर्णयमाह—सर्वत इति । विषुवद्वृत्तस्य क्रान्तिमूलाश्रयत्वाद्विषुवद्वृत्तसव(र्व)प्रदेशेभ्यो विसृतानां क्रान्तिस्वरूपानुकारिणां सूत्राणां वृत्तरूपाणां यतः कारणात् ध्रुवे दक्षिणोत्तरध्रुवयोर्योगः प्रत्येक भवेत् । अतः कारणाद्विषुवन्मण्डलं विषुवद्वृत्तप्रदेशाः प्राच्यां भवन्ति । उपलक्षणात्प्रतीच्याम् ।

तथा च विषुवद्वृत्तस्य यः कश्चन प्रदेशस्तस्माद्विषुवद्वृत्ते नवत्यंशान्तरे प्रागपरयोः प्रदेशौ तौ तस्य पूर्वापरदिशावेवं विषुवद्वृत्तस्य ध्रुवमध्यत्वादिति तात्पर्यम् ।।४१।।

अथ क्रान्तिवृत्तदिङ्निर्णयार्थं कदम्बज्ञानमाह—सर्वत इति । क्रान्तिवृत्तस्य शरमूलाश्रयत्वात्क्रान्तिवृत्तसर्वप्रदेशेभ्यो विसृतानां शरस्वरूपानुकारेण सूत्राणां वृत्तरूपाणां स्थानद्वये योगः । अयं योगः कदम्बसंज्ञो ज्ञेयः । सूत्रैक्यरूपत्वात् । क्रान्तिवृत्तं गोले यत्स्थानाभ्यां मध्ये भवति तत्स्थाने कदम्बरूपे इति भावः । ननु विषुवद्वृत्तसूत्रसंपातो यथा ध्रुवे तथा क्रान्तिवृत्तसूत्राणां संपातः कुत्र भवतीत्यत आह—ध्रुवादिति । ध्रुवस्थानाच्चतुर्विंशतिभागान्तरेण भवतीत्यर्थः । तथा च विषुवद्वृत्तात्क्रान्तिवृत्तस्य तिर्यक्त्वादयनसंधौ तयोश्चतुर्विंशत्यंशान्तरितत्वाद्विषुवद्वृत्तस्य विषुवद्वृत्ताकारभ्रमणं क्रान्तिवृत्तस्य क्रान्तिवृत्तानुकारेण भ्रमणाभावात्कदम्बस्थानं गोले नियतमपि ध्रुवात्यन्तरितश्चतुर्विंशतिभागान्तरे भ्रमतीति भावः । ननु वलनस्वरूपोपक्रमे कदम्बनिरूपणं व्यर्थमत आह—वलनबोधकृदिति । वलनयोरानयनस्फुटवलनस्वरूपयोर्ज्ञानं करोतीत्यर्थः । तथा च तत्स्वरूपप्रदर्शनार्थमेव कदम्बनिरूपणमिति भावः ।।४२।।

अथ क्रान्तिवृत्तदिङ्निर्णयकदम्बभ्रमवृत्तनिबन्धनसमस्वरूपपूर्वकं वलनस्वरूपमनुष्टुप्पञ्चकेन विशदयति—तत्रापमण्डलेत्यादि । कदम्बे अपमण्डलप्राच्याः क्रान्तिवृत्तरूपपूर्वापरवृत्तस्येत्यर्थः । दक्षिणोत्तरा दिक् । चकारो दक्षिणकदम्बे दक्षिणादिगुत्तरकदम्बे उत्तरा दिगिति व्यवस्थार्थकः । ननु यथा विषुवद्वृत्तं ध्रुवमध्यगं स्वाकारेणैव भ्रमति तथा क्रान्तिवृत्तस्य स्वाकारेण भ्रमणासभवाद्यदा कदाचित्प्रवहवायुभ्रमणेन कदम्बमध्यस्थत्वं क्रान्तिवृत्तस्य काकतालीयन्यायात्तदैव तद्वृत्तस्य कदम्बयोर्दक्षिणोत्तरा नान्यदेत्यत आह—सदेति । यथा क्रान्तिवृत्तं भ्रमति तथा कदम्बावपि भ्रमत इति कदम्बयोः क्रान्तिवृत्तदक्षिणोत्तरे सुस्थे इति भावः । दृष्टान्तगोलेऽल्पबुद्धीनामेतत्प्रदर्शनार्थं कदम्बभ्रमवृत्ते निबन्धनं वक्ष्यमाणोत्क्रमज्यानिराकरणप्रदर्शनायाऽऽह—कदम्बभ्रमवृत्तमिति । गोले वंशादिवृत्तनिबद्धगोले । ध्रुवाद ध्रुवस्थानाच्चतुर्विंशतितुल्यभागैः । तुरेवकारार्थे । तेन यवनग्रन्थे सार्धत्रयोविंशतिभागानां परमक्रान्तित्वेनोक्तेस्तन्निवारणं सूचितम् । परितः समन्तात् । कदम्बभ्रमवृत्ते । कदम्बस्य प्रवहभ्रमेणोत्पन्नं वृत्तं गणको बध्नीयात् । जकारो ध्रुवद्वये केन्द्रे प्रकल्प्य कदम्बभ्रमवृत्तद्वयं चतुर्विंशत्यंशव्यासार्धेन निबद्ध्यमिति व्यवस्थार्थकः । तद्वृत्तेंऽशानां ज्या न त्रिज्यानुरुद्धेत्याह—तत्रेति । कदम्बभ्रमवृत्तेऽभीष्टा क्रान्तिज्या भवति । तथा च गोले तद्वृत्तलत्राकारं तद्व्यासो गोले गोलवृत्तैकदेशोऽष्टचत्वारिंशद्भागात्मकः केन्द्रं ध्रुवे । अथ तद्व्यासस्य वृत्तांशत्वेन चापा(बाणा)कारत्वात्तत्संपूर्णज्यासूत्रं कदम्बभ्रमवृत्तस्य । तत्सूत्रार्धे ध्रुवसूत्रसक्ते ध्रुवात्परमक्रान्त्युत्क्रामज्यासूत्रेणाधोभागे केन्द्रं मुख्यम् । अन्यवृत्ते केन्द्रवत् तद्व्यासार्धं परमक्रान्तिज्या सैवात्र परमज्येत्यत्र ज्यापरमक्रान्तिज्यानुरुद्धेति भावः । अथ समवृत्तदिङ्निर्णयार्थं समस्वरूपमाह—सर्वत इति । सम वृत्तात् पूर्वापरवृत्तात् । सर्वतः

सकलप्रदेशेभ्यः । तत्तिर्यग्गतसूत्राणाम् । तस्य पूर्वापरवृत्तस्य तिरश्चीनभागेन तानि विस्तृतानि सूत्राणि वृत्ताकाराणि तेषां यो योगः संपातः । स समसंज्ञः । चकारात्संपातद्वयद्दक्षिणोत्तरौ समाविति । तथा च गोले यत्प्रदेशाभ्यां पूर्वापरवृत्तं मध्यं भवति तत्प्रदेशावेव समाविति भावः । ननु तयोः कुत्र स्थानमत आह—याम्योदक्कुजसंगमे इति । याम्योत्तरक्षितिजवृत्तयोः संपातयोस्तयोरेव स्थानं क्षितिजवृत्तस्य स्वस्तिकोपरि स्थितत्वाच्चेत्यर्थः । तथा च पूर्वोक्तरीत्या पूर्वापरवृत्तस्य दक्षिणोत्तरसमौ दक्षिणोत्तरदिशाविति भावः ।

अथ वलनस्वरूपप्रदर्शनार्थं सूत्राणां संनिवेशमाह—समध्रुवकदम्बानामिति । द्युचरान् क्रान्तिवृत्तस्थग्रहचिह्नात्त्रीणि सूत्राणि वृत्ताकाराणि क्रमेण समध्रुवकदम्बानामुपरि गणको नयेत् । समद्वयप्रोतश्लथं वृत्तं सूक्ष्मं ध्रुवद्वयप्रोतं श्लथं वृत्तं कदम्बद्वयप्रोतश्लथं वृत्तमिति । वृत्तत्रयं ग्रहचिह्नप्रदेशे स्वभ्रमानुकारेण नेयमिति भावः । एभ्यो वलनस्वरूपाणि कलितानीत्याह—वलनानीति । तदन्तरे । तेषां संनिवेशितवृत्ताकारसूत्राणां मध्ये । सूत्रयोरन्तरे प्रत्येकं वलनमिति समध्रुवसूत्रयोरन्तरमाक्षं वलनं ध्रुवकदम्बसूत्रयोरन्तरमायनं वलनं समकदम्बसूत्रयोरन्तरं स्फुटं वलनमिति त्रीणि वलनानि स्वरूपसिद्धानीत्यर्थः । ननु ग्रहचिह्नस्थानात्तत्सूत्रवृत्तयोरन्तरस्य सर्वत्र तुल्यत्वाभावात्तद्वृत्तयोरन्तरं वलनस्वरूपतया कुत्र ग्राह्यमित्यतस्तद्विशदयति-अक्षजमिति । ग्रहचिह्नस्थानात्त्रिभे नवत्यंशान्तरे समध्रुवसूत्रयोः समप्रोतध्रुवप्रोतवृत्तप्रदेशयोर्मध्येऽन्तराले अक्षोत्पन्नं वलनं स्यात् । कदम्बप्रोतध्रुवप्रोतवृत्तप्रदेशयोर्ग्रहचिह्नान्नवत्यंशान्तरितयोरन्तरे आयनं वलनं स्यात् । चकार एवकारर्थे तेन तद्वृत्तयोर्ग्रहचिह्नत्रिभान्तरितप्रदेशातिरिक्तप्रदेशयोरन्तरे वलनस्वरूपाभाव इत्यर्थः । कदम्बप्रोतसमप्रोतसूत्रवृत्तप्रदेशयोर्ग्रहे चिह्नात्त्रिभान्तरितयोरन्तरे स्फुटं पूर्वोक्ताक्षायनवलनसंस्कारजनितं मुख्यं वलनं स्यात् । नन्वेतद्दर्शितवलनं दक्षिणोत्तरयोरन्तररूपं कदम्बसमयोस्तद्दक्षिणोत्तरदिक्त्वादतः कथमेतत्तुल्यं पूर्वापरयोर्वलनमवगतमत आह–सर्वदिशामिति । तत् । प्रतिपादितवलनं सर्वदिशां पूर्वापरतदवान्तरदिशां स्यात् । चकारादिवक्फे(?)एकदिशि यदन्तरं तत्सर्वदिशामन्तरम् । पूर्वादिदिशां समान्तरेणावस्थानादन्यथावस्थानुपपत्तेरित्यर्थः ॥४३॥४४॥४५॥४६॥४७॥

अथाल्पबुद्धीनामेतत्प्रतीत्यर्थं पूर्वापरदिक्पुरस्कारेण वलनस्वरूपाणि श्लोकाभ्यामाह–अथवेति । अथवा पूर्वापरयोर्वलनस्वरूपदर्शनेन तुल्यमानतया सर्वदिशां वलनमेकमिति प्रतीतिरुत्पाद्या । तदर्थमाह–परित इति । क्रान्तिवृत्तस्य ग्रहचिह्नात् परितः समन्तात् । नवत्यंशान्तरे त्रिज्यावृत्तं गोले न्यसेत् क्षिपेत् । ततस्तत्क्षेपणानन्तरं तत्र वृत्ते विषुवत्समवृत्तप्रदेशयोरन्तराले आयनं वलनम् । क्रान्तिसमवृत्तप्रदेशयोरन्तराले स्फुटं वलनम् । चकारात्तद्वृत्ते वलनप्रदेशः पूर्वप्रतिपादितवलनप्रदेशतुल्य इति प्रत्यक्षं ग्रहस्थानात्परितो नवत्यंशान्तरे निवेशितग्रहकि(क्षि)तिजवृत्ते ग्रहचिह्नस्य स्वस्वस्थाने क्रान्तिविषुवत्समवृत्तसंबन्धिपूर्वापरदिशो न ये च तद्वृत्ते कदम्बसमप्रोतवृत्तानां त्रयाणां ग्रहचिह्नस्थाने संपादि-

तानां स्वस्वमार्गे क्रमेण ग्रहचिह्नस्थानस्य क्रान्तिविषुवत्समवृत्तसंबन्धिदक्षिणोत्तरदिशे इति पूर्वापरस्थानाभ्यां दक्षिणोत्तरस्थानयोर्नवत्यंशान्तरितत्वादित्यर्थः ।।४८।।४९।।

ननु पूर्वग्रहणे सूर्यस्य क्रान्तिवृत्तस्थत्वादुक्तस्वरूपस्थि(सि)द्धग्रहणाधिकारोक्तस्फुटवलनं युक्तम् । चन्द्रग्रहे तु नैतद्युक्तं तस्य विक्षेपवृत्तस्थत्वादेवं भौमादीनामपि । अत एव विक्षेपवृत्ते बिम्बस्य सत्त्वेन तत्संबन्धेन वलनसिद्धचर्थं(र्थं)क्रान्तिविक्षेपवृत्तप्रदेशयोः शरान्तरितत्वादुक्तस्फुटवलनस्य ग्रहशरसंस्कारः कृतो लल्लश्रीपतिभ्यां स्वग्रन्थे-क्षेपा विपातस्य विधोर्दिशि स्युरपक्रमक्षेपपलोद्भवानाम् । युतिः क्रमादेकदिशां कलानां कार्यो वियोगोऽन्यदिशां ततो ज्या ।। बाह्ये भवेत्सा वलनस्य जीवा त्रिभवनसहिताच्च ग्राह्यतो व्यस्तजीवारचितमम[र]चापं संस्कृतं स्वेषुणा यत् । पलवलनमनेन स्पष्टमेकीकृतं स्यात्सदृशदिशि वियुक्तं भिन्नदिक्कं कृतज्यमित्यनेन । तथा च चन्द्रादिग्रहाणां शरसंस्कारस्तद्वलनस्याऽऽचार्यैः कथं नोक्त इत्यत आह–तत्रापमण्डलमिति । यतः कारणात् । तत्र वलनस्वरूपे । अपमण्डलं क्रान्तिवृत्तम् । प्राची । उपलक्षणात्पश्चिमा च । तस्याः प्राच्याः पश्चिमायाश्च । शरो दक्षिणोत्तरः । अतः कारणात् । यैर्लल्लादिभिर्वलनानयने जाते सति । सिद्धे वलने । क्षेपो ग्रहशराक्षिप्तः संस्कृतस्ते लल्लादयः कुबुद्धयः कुत्सिता बुद्धिर्येषां ते । मन्दबुद्धय इत्यर्थः । तथा च विक्षेपवृत्तस्थग्रहमण्डले क्रान्तिवृत्तानुसृतप्राच्यपरयोर्मुख्यक्रान्तिवृत्तप्राच्यपरानुकारत्वेन याम्योत्तरशरान्तरितत्वेऽप्यभेदाच्छरज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गमूलरूपद्युज्याव्यासार्धेन विक्षेपवृत्तस्थग्रहबिम्बकेन्द्रस्थाने क्रान्तिवृत्तानुसृतलघुवृत्तस्य गोले विषुवद्वृत्तानुरुद्धाहोरात्रवद्दर्शनादन्यथा ग्रहबिम्बादौ सममण्डलानुसृतदिग्विभागस्य सर्वजनानुभवसिद्धस्य जलाञ्जलिदानापत्तेः । सममण्डले ग्रहावस्थानानियमाद्वलने शरसंस्कारस्त्वयुक्तः । न च ग्रहबिम्बक्रान्तिवृत्तानुसृतप्राच्यपरज्ञानार्थं न वलने शरसंस्कारस्तस्य शरसंस्कारेणैव सिद्धत्वादन्यथैकत्र भूप्रदेशे साधितं प्राच्यपरसूत्रं तदनुरोधेनैव नात्र प्रदेशे दक्षिणोत्तरान्तरिते चालितं प्राच्यपरसूत्रं भवतीति शिष्टव्यवहारानुपपत्तेः । किंतु ग्रहस्य विक्षेपवृत्ते गमनत्तिदनुसृतप्राच्यपरज्ञानार्थं ग्रह(हे) वा [शर]संस्काराभ्युपगमः । ग्रहबिम्बे विक्षेपवृत्तसक्तबिम्बनेमिप्रदेशयोः प्राच्यपरत्वावश्यंभावादिति वाच्यम् । ग्रहस्थानात्त्रिभान्तरिते प्रदेशे वलनस्वरूपाभ्युगमात्तस्य ग्रहस्थानीयशरेणासंबन्धाभावात्तत्संस्कारानुपपत्तेः । अन्यथाऽऽयनाक्षवलने अपि ग्रहस्थाने ग्रहक्रान्तिग्रहोन्नतांशजे स्त इति भावः । ननु वलनस्य सग्रहशरसंस्कारो न कृतः किंतु सत्रिभग्रहशररूपशरवलनस्य ग्रहणाधिकाराक्षिप्तस्य संस्कारः कृतः । अन्यथा विक्षेपानुसृतप्राच्यपरज्ञानासंभवः । अत एव तद्ग्रन्थे सत्रिभग्रहक्रान्तेरायनवलनत्वप्रतिपादनात्तदुपक्रमदत्तक्षेपपदेन सत्रिभग्रहशरलाभः संगच्छते इति चेन्न । विक्षेपवृत्तस्थग्रहबिम्बे पूर्वाचार्यैरनुगमकल्पितक्रान्तिवृत्तस्थफलादेशाद्युपयुक्तग्रहभोगवत्क्रान्तिवृत्तानुसृतप्राच्यपरस्थानयोरेवप्राच्यप - रत्वाभ्युपगमेन विक्षेपवृत्तमार्गेण तत्प्राच्यपरानङ्गीकाराच्छरवलालनसंस्कारस्यासिद्धेः । अन्यथा विक्षेपवृत्ते ग्रहस्य फलादेशाद्युपयुक्तराश्यादिभोगाङ्गीकारापत्त्या तदानयनकथ-

नापत्तेः। अत एव सूर्यसिद्धान्ताद्यार्षग्रन्थे शरवलनानुक्तिः संगच्छते। एतेन यस्य ग्रहस्याऽऽयनवलनं साध्यते तस्य प्रथमतः पाताधिकारोक्तरीत्या गोलायनसंधी साध्ये। तत्राऽऽयनसंधौ ग्रहस्य स्पष्टक्रान्तिः साध्या। तज्ज्या परमक्रान्तिज्या। ततो गोलसंधितो ग्रहस्य राश्यादिभोगसू(स्यो)त्कोटिज्या परमक्रान्तिज्या गुण्या। ग्रहस्पष्टद्युज्यया भाज्या। फलं सूक्ष्मायनवलनज्येति निरस्तम्। उक्तदोषाद्गौरवाच्च। स्पष्टक्रान्तिसाधने स्पष्टशरस्योपयोगात्तस्याऽऽयनवलनोपजीव्यत्वेनाऽऽत्माश्रयादन्योन्याश्रयाच्च। यदपि परमन्तरपरमक्रान्तियोगरूपपरमस्पष्टक्रान्तिज्ययोक्तरीत्याऽऽयनवलनं साध्यते तदप्यतितरामयुक्तम्। तद्गोलस्थितेः कादाचित्कत्वेन सर्वदा तत्साधनस्य गोलस्थितिबहिर्भूतत्वात्। एतेन जातकपद्धतावायनबलं स्पष्टक्रान्त्या साधितम्। तद्यथा-सूर्यस्य परमा क्रान्तिश्चतुर्विंशत्यंशाः। चन्द्रस्य परमशरांशयुतचतुर्विंशत्यंशाः। भौमादीनां परमशकलास्त्रिज्यागुण्याः परमाल्पशीघ्रकर्णेन भक्तास्त्रिज्यावृत्तेः परमाः शरकलास्तासामंशाश्चतुर्विंशत्यंशयुताः परमस्पष्टक्रान्तयः। आसु ग्रहस्येष्टकालिकस्पष्टक्रान्तिरुक्तरीत्या संस्कृता स्वपरस्पष्टक्रान्त्या द्विगुणया भक्ता फलमायनवलनम्। तद्वाक्यं च–कलाद्या परमक्रान्तिः खसागरपुरंदराः। रवेरथ मृगाङ्कस्य गगनेन्दुनगेन्दवः। तत्त्वेन्दवः पर्वतपक्षाः स्व(ख)नन्ददस(स्रा(?)) गजरन्ध्रसंख्याः। रूपाश्विरामाः क्षितिजादिकानां सिद्धान्तसिद्धाः परमाल्पकर्णाः। विक्षेपकाख्यकलिकाः खरसत्रिविधाः (निघ्नाः) कर्णाहृताः परमबाणकलाः स्युरेताः। व्येमावि(श्वि) शक्रसहिताः परमा मयमास्ते खाग्न्या-(ग्न्या) हृतास्तु मिहरादिहरा भवेयुः। स्पष्टक्रान्तिकलाहरैः परिहृताः स्वक्रान्तिदिक्कं पलं याम्यं षष्टिदले युतं शनिसुधाधाम्नोः परेषां विघुक्। सौम्यं व्यत्ययतो विदोऽनवरतं योज्यं त(भ)वेदायनं लिप्ताद्यं वलमत्र तेन सहितं चेष्टा वलं स्यात्स्फुटमिति निरस्तम्। सर्वदा तद्गोलस्थितेरसत्त्वात्साधितायनवलनस्यासंगतत्वात्। एतेन चन्द्रादिग्रहाणां शरक्रान्तिवशेन परमोत्तरदक्षिणगमनभागास्तद्योगेन रूपं बलं तदा शरसंस्कृतापमे दक्षिणोत्तरान्ताद्यावधिस्ततद्योगार्धाभ्यन्तर्गतभोगैः किमित्यनुपातेन बलयानयनं निरस्तम्। तादृशदक्षिणोत्तरान्तावधित्वेनैकच्चि(वि)क्षेपवृत्तस्याभावात्त्रैराशिकानुपपत्तेः। तदभ्यन्तरकाले विक्षेपवृत्तस्य प्रतिलक्षणमन्यथावस्थानाच्च। कदाचित्पद्धत्युक्तप्रकारविरोधात्। ननु पाताधिकारोक्तरीत्या चन्द्रादिग्रहाणां ज्ञातायनसंधिस्थाने उक्तरीत्या स्पष्टक्रान्तिः। सैव परमा तस्यामभीष्टकालिकग्रहस्य स्पष्टा क्रान्तिरुक्तरीत्या संस्कार्या। द्विगुणपरमस्पष्टक्रान्त्या भक्ता फलमायनवलं युक्तम्। ग्रहबिम्बस्य विक्षेपवृत्तस्थत्वेन गोलबहिर्भूतत्वाभावाच्चेति चेत्। सत्रिभग्रहक्रान्तेर्ग्रहायनवलनत्ववद्ग्रहक्रान्तावपि सत्रिभग्रहायनचलनत्वस्यार्थसिद्धत्वेन शरसंस्कारदोषापत्तेः। न चैवं शरसंस्कारोच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्। यत्र ग्रहबिम्बसम्बन्धेन दिनमानाद्यपेक्षा तत्र तत्संबद्धस्पष्टक्रान्तेरपेक्षितत्वात्। आयनवलनवशाद्वलमायनमित्यनेनाऽऽयनस्य क्रान्तिवृत्तस्थकल्पनया कर्क्यादिरूपत्वेन तदादितो ग्रहराश्यादिभोगेन ग्रहचिह्नस्य दक्षिणोत्तरतो गमनानुरोधेन वलोत्पत्तेः। अन्यथा ग्रहस्य

त्रिमण्डलस्थत्वेन जन्मपत्रीगणितफलादेशयोर्विक्षेपवृत्तजनितग्रहराश्यादिभोगाद ?ीकारापत्ते। क्रान्तिवृत्तस्थग्रहराश्यादिभोगात्तदभ्युपगमानापत्तेश्च। तस्मात्स्वचिह्नं संबन्धेनैव ग्रहबिम्बस्य बलवत्त्वमत एव ग्रहबिम्बस्य वर्णानुमानेन युद्धादौ लावट(च्वं) तत्साक्षादेव विशेषोक्तेरिति ध्येयम्। सकलगोलतत्त्वविद्भिः श्रीकेशवदैवज्ञैरपि गुरुतमैः स्वाज्ञा(स्वजा)तकपद्धतौ—सदा कुन्तिभागैर्युता ज्ञस्य सिद्धाः शनीन्द्वोर्युतोनाः क्रमाद्याम्यसौम्यैः। विलोमं परेषां गजाम्भोधिभक्ता भवेदायनं वीर्यमर्कस्य दृग्ध्रमित्यनेनादिशर्मोक्तमुक्त्वा तट्टीकायां तद्व्याख्यावसरे एतदायनवलनं कैश्चिच्छरसंस्कृतक्रान्त्योक्तं, तदसत्। यतो ग्रहस्य याम्योत्तराश्रितमुखेनाऽऽयनं गमनं क्रान्तिवशादेव न शरवशात्। यतो ग्रहशरः क्रान्तिसूत्र एव न पृथक्। अतो ग्रहस्य त्थमु (उन्मुख) वलनं क्रान्तिवशादेव तदुक्तं महता प्रबन्धेन सिद्धान्तशिरोमणौ—वलनानयने क्षेपः क्षिप्तो यैस्ते कुबुद्धय इति। एवमाय[न]वल[न]साधने क्रान्तिः शरसंस्कारो नास्तीति सद्युक्तिरित्यनेन ग्रन्थेन तन्मतमनूद्य दूषितमित्यलमप्रसक्तविचारेण॥ ५०॥

ननु गोले वलनस्वरूपं सिद्धं परंतु वलनक्रमज्यया वोत्पद्यत इति निर्णयस्तु न सिद्ध इत्यतस्तन्निर्णयं विवक्षुः प्रथममायनवलनाभावस्थानमुपपत्त्या प्रतिपादयति—नक्रादिश्चेति नक्रादिः कल्प्यमकरराशेरादिप्रदेशः। चकारात्कल्प्यकर्का[दि]राशेरादिप्रदेशः। कदम्बः पूर्वप्रतिपादितः। चकाराद्द्वितीयकदम्बलत्ताययनसंधिस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशे तद्याम्योत्तररूपकदम्बौ याम्योत्तरे ध्रुवद्वयप्रोतश्च वृत्ते विषुवद्वृत्तयाम्योत्तररूपे समे एककालं स्याताम्। यतः क्रान्तिवृत्तेऽयनसंधौ कदम्बद्वयध्रुवद्वयप्रोतवृत्तयोः श्लथयोः स्वमार्गेणानीतयोरैक्यं सर्वावयवावच्छेदेन भवतीति तात्पर्यार्थः। तस्मात्कारणादयनादौ क्रान्तिवृत्तस्थायनसंधौ आयनं वलनं प्रागुक्तस्वरूपं न प्रजायते। सूक्ष्मदृष्ट्याऽपि नोपलभ्यते। कदम्बध्रुवप्रोतवृत्तयोस्तत्रान्तराभावोपलब्धेः॥५१॥

ननु क्रान्तिवृत्तस्थायनसंधिप्रदेशयोरेकत्रावस्थानाभावाद्विभिन्नप्रदेशे भ्रमणाच्च दैवाद्ध्रुप्रोतचलवृत्ते कदाचित्संलग्नत्वसंभवेऽपि नियमतः कथं तयोस्तत्र युगपत्संलग्नतोक्तिरित्यत आह—ततो भ्रमतीति। गोले, स क्रान्तिवृत्तस्यः कल्प(ल्प्य)मकरादिप्रदेशः। उपलक्षणादयनसंधिप्रदेशः। यथा यथा भ्रमति स्वाहोरात्रवृत्ते तथा तथा तदनुरोधेनेत्यर्थः। एष पूर्वप्रतिपादितः कदम्बो निजमण्डले पूर्वप्रतिपादिते यतो भ्रमति। ततस्तत्कारणादुक्तार्थे न क्षतिः। क्रान्तिवृत्तस्य सर्वावयवावच्छेदेन कदम्बयोर्दक्षिणोत्तरदिग्रूपत्वेनायनसंधिप्रदेशस्यापि तयोस्तत्त्वात्तदभ्रमणानुरोधेन भ्रमणादिति भावः॥५२॥

अथानुष्टुब्द्वयेनायनवलनोत्पत्तिमाह—कुम्भादाविति। अथ अनन्तरम्। कुम्भादौ मीनादौ। तद्वत्। अन्यक्रान्तिवृत्तप्रदेशेऽयनसंधिभिन्ने। याम्योदग्वलयस्थिते। याम्योदग्वृत्ते ध्रुवप्रोतं श्लथं स्थितं यस्मिन्। तादृशे सति। कदम्बभ्रममण्डले। ध्रुवकेन्द्राच्चतुर्विंशत्यंशव्यासार्धेन निबद्धवृत्ते सौम्यवृत्तकदम्बयोर्ध्रुवोप्रततत्संबन्धिवृत्तग्रह-

नवत्यंशान्तास्तकदम्बयोरन्तरं सिञ्जिनीरूपं गोलवृत्तगतमपि याम्योत्तरवृत्तप्रदेशस्य गोले कदम्बभ्रमवृत्तं मध्यसूत्ररूपत्वेन तत्तद्वृत्ते कदम्बस्य तदन्तररूपार्धज्याप्रोत्य-(प्रोत)त्वाज्ज्यारूपम् । ननु वस्तुतोऽर्धज्याकारं वलनमायनं वलनं जायते। उत्पद्यते । एतेन कदम्बभ्रमवृत्ते याम्योत्तरवृत्तप्रदेशरूपव्यासचाप संबन्धिसंपूर्णज्यारूपमध्यसूत्रात्कदम्बपर्यन्तमर्धज्याकारसूत्रं विरूपितवलनस्यार्धज्याकारतया वृत्तपरिधिगतस्य वास्तवायनवलनज्येति व्यञ्जितम् । तस्याः स्वरूपं क्रमज्यानुरुद्धमित्याह—अयनादिति । हि यतः सा उक्तचलनस्य ज्या । अयनादयनसंधितो ये गताः कालांशाः क्रान्तिवृत्ते ये के (क्षेपे) अंशास्तेषामहोरात्रवृत्ते ये कालांशास्तेषामहोरात्रवृत्ते ये कालांशा इत्यर्थः । तेषां क्रमक्रान्तिज्यकामक्रमज्यकामकमज्ययोत्पन्नापरमक्रमक्रान्तिज्यानुरोधेन क्रान्तिज्या । परमक्रमक्रान्तिज्यानुरोधेन क्रान्तिज्या । परमक्रान्तिज्यातुल्यत्रिज्याकल्पनया कदम्बभ्रमवृत्तोऽहोरात्रवृत्तानुरुद्धे याम्योत्तरवृत्तकदम्बयोरन्तरांशानां ज्येत्यर्थः ॥५३॥५४॥

अथैवमुक्तस्वरूपेण वलनं क्रमज्ययोत्पन्नं नोत्क्रमज्ययेति फलितमाह—उत्क्रमज्येति । यतः कारणादुत्क्रमज्या बाणः शररूपः । नतु ज्यारूपा क्रमज्यका ज्याकारा । तुकारान्न बाणरूपा । तथा च यद्वलनं चापगतमुपपन्नं तद्गोलेऽर्धज्याकारं तत्क्रमज्यैवार्धज्येत्युत्क्रमज्याया ज्यात्वाभावात्परमक्रमक्रान्तिज्यामितत्रिज्याप्रमाणेनायनसंधितः क्रान्तिवृत्ते गतभागानां द्युरात्रवृत्ते तत्कालांशानां तन्न्यूनाधिकानां वा तत्साधनार्थे त्रिज्याप्रमाणेन साता(?) भीष्टांशे क्रमज्यायाः खार्कत्रिज्यापरिमाणादभीष्टांशानां खार्कत्रिज्याप्रमाणेन क्रमज्यात्वापत्तेः । उत्क्रमज्यायास्तत्परिमाणमे(वे)कदम्बभ्रमवृत्ते तत्कालांशानामुत्क्रज्याकदम्बवृत्तव्याससूत्रे याम्योत्तरवृत्तैकदेशज्यारूपे । ननु ग्रहसक्तध्रुवप्रोतवृत्तग्रहनवत्यंशान्त[र]मिततत्क्षितिजवृत्तसंपातात्कदम्बव्याससूत्रे प्रागुक्ते यत्र वलनमडवावलनोत्क्रमज्य सिध्यति । अन्यथा तदुत्क्रमचापेन वलनांशसिद्ध्यापत्तेः । परमक्रान्त्युत्क्रमज्यायास्तु वृत्ताभावात्तन्मूलकल्पनान्तरस्यासिद्धिरित्यादीति भावः । ततः कारणत्सत्रिभाकाद्राशित्रययुक्तग्रहात् । क्रमक्रान्त्या । क्रमभुजज्ययाऽनुपातानीतक्रान्तिज्या । तच्चापं क्रान्तिस्तया तुल्यपाचनवलनं सिद्धं नोत्क्रमभुजज्ययाऽनुपातानीतक्रान्तितुल्यः । ननु पूर्वमयनाद्गतकालांशक्रमक्रान्तिज्यका हि सेत्युक्त्या सत्रिभार्कक्रान्तिज्या द्युज्यानुपातफलिता । तथा हि—अयनांशानां क्रान्तिवृत्तस्थानां ज्या कोटिज्या । अस्यास्तत्कालांशज्यासाधनार्थमियं कीटादिगराश्यन्तजकोटिजीवेत्याद्युक्तरीत्या त्रिज्यागुणाग्रहद्युज्यया भक्ता फलं तत्कालांशज्याऽहोरावृत्ते त्रिज्याप्रमाणेन । सा त्रिज्याभक्ता परमक्रान्तिज्यागुणेति त्रिज्यातुल्यगुणहरयोर्नाशादुक्तायनवलनानयनं सिद्धम् । तत्कथमेतद्विरुद्धं सत्रिभार्कक्रान्तितुल्यत्वमुक्तमुपसंहारे इति चेन्न । अत्र तुल्यपदाभावात्क्रान्त्येति तृतीयया करणत्वबोधाक्रान्ताश्रितद्युज्यानुपातागतफलमायवं वलनमित्यविरुद्धार्थादक्षतेः । प्राचीनैः स्वल्पान्तराद्द्युज्यानुपातानङ्गीकारात्तन्मताभिप्रायेणोक्तेर्वा उभयोः क्रमज्या निराकरणासिद्धेः ॥५५॥

नन्वेवं लल्लादिभिरुत्क्रमज्यया कथं वलनानयनमुक्तमित्यतस्तदुत्तरमाक्षवलनानयने उत्क्रमज्यानिराकरणं क्रमज्याग्रहणेनाऽऽह—यैरुक्तमिति । यैर्लल्लश्रीपतिप्रभृतिभिराचार्यैः । उत्क्रमक्रान्त्या उत्क्रमज्ययाऽऽनीतक्रान्त्या तुल्यम् । तत् वलनमुक्तम् । तद्वलनं स्वग्रन्थे तैराचार्यैः । भ्रान्त्या भ्रमेण । भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् । नाशितं न संगतमुक्तम् । हि यतस्तदुक्तेनापि नोत्क्रमज्यासिद्धिरिति भावः । नन्वेवमायनं वलनमुक्तं(त्क्र)मज्यया निरस्तं नाक्षवलनमिति कथं साधारण्येनोक्तं यैरुक्तमित्यादीत्यत आह—युक्त्येति । अक्षजमाक्षं चकाराद्वलनम् । अनया प्रोक्तयुक्त्या । आयनवलनज्यायुक्त्या । तदीत्य(यये)त्यर्थः । एवकारात्तद्भिन्नरीतिव्युदासः । क्रमज्यया । नतकालस्य क्रमज्यया । विज्ञेयं नोत्क्रमज्यया । वलनत्वात् । तथा चोभयोर्वलनयोः क्रमज्यामूलकत्वसिद्ध्या यैरुक्तमित्यादि साधारणोक्तं युक्तम् । एतेषां दूषणार्थं मयोत्क्रमज्यानिरास उक्तः । अन्यथोत्क्रमज्याप्रसङ्गाभावादर्धज्याग्रे इत्यादिना सर्वत्र क्रमज्यायाः प्रसङ्गादप्रसक्तनिराकरणानुपपत्तेरिति भावः ।।५६।।

ननु शुद्धं स्वग्रन्थे निरूपणीयमन्यथा न कंचन निन्देदिति श्रुत्या प्रत्यवायित्वापत्तेरिति यैरुक्तमित्यादीत्याचार्यैः। कथमुच्छृङ्खलतयोक्तमित्यत आह—परोक्तेरिति । यदा—ननु च लल्लेन भ्रान्त्या नोक्तं किंतु तत्त्वतः । त(न)च तर्हि क्रमज्यानिरासः कथं नोक्त इति वाच्यम् । न कंचन निन्देदिति श्रुतेः प्रत्यवायित्वादित्यत आह—परोक्तेरिति । यः पण्डितः परोक्तेरन्योक्तादन्यथा विरुद्धवेलः(वचा)न्ब्रूयात् । कथयेत् । परान् । अन्यान् । स्वानभिमतान् । न प्रदूषयेत् । प्रकर्षेण सूक्ष्मविचारेण न दूषयेत् । अन्येषां दोषोद्घाटनं न करोतीत्यर्थः । सामानाधिकरण्यावगमार्थं चकारोऽनुसंधेयः । परानप्रदूषयन्निति पाठे परान् । अप्रदूषयन्निति पदाभ्यां परान्स्वानभिमतान् । अप्रदूषयन् । अदूषयन्सन् यः परोक्तादन्यथा ब्रूयादिति युक्तोऽन्वयः । तत् दोषकथनम् । एवकारात्तदतिरिक्तपरदूषणोक्तिनिरासः । हि यतः । तस्य दोषकथकस्य नावद्यं वदेदित्यनेन परविरुद्धकथने परोक्तिदोषकथनद्वाराऽन्येषामवद्यज्ञानसंभवाच्च प्रवृत्ति (वक्तु)र्महादोषः स्यात् । अतः कारणात् । अन्यदूषणे स्वानभिमतदोषकथने । दोषः प्रत्यवायित्वं नास्तीत्यर्थः । लौकिके परनिन्दया प्रत्यवायित्वमित्यर्थपरत्वादुक्तश्रुतेः । द्वितीयपक्षे परदूषणे प्रत्यवायित्वाभावात्क्रमज्यानिरासकथनापत्त्या लल्लेन तत्त्वतो नोक्तं किंतु भ्रान्त्यैवेति भावः ।।५७।।

ननूत्क्रमज्यानिराकरणोक्तावयनाद्गतकालांशक्रमक्रान्तिज्यकया सत्रिभार्कक्रमक्रान्तेस्तुल्यत्वाभावात्सत्रिभार्कादित्याद्युक्तमयुक्तम् । न च द्युज्यानुपातात्तत्समत्वोपलम्भाद्युक्तमिति वाच्यम् । आर्षानुक्त्या तदनुपाते मानाभावादित्यस्वरसात्पूर्वोक्तोत्क्रमज्यानिराकरणपरिष्काररूपप्रकारान्तरेणोत्क्रमज्यानिराकरणं विवक्षुः प्रथमं तत्प्रतिज्ञापूर्वकं तदुपजीव्यजिनवृत्तनिबन्धमाह—उत्क्रमज्येति । अथ पूर्वोक्तोत्क्रमज्यानिराकरणोक्तावुक्तास्वरसभयादनन्तरम् । अयं पूर्वोक्त उत्क्रमज्यानिरासः । आयनवलनसाधने पूर्वाचार्योक्तोत्क्रमज्याया निरासः । वाकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थेवकारपरः । तेन पूर्वोक्त एव निरासः, ननु प्रकारान्तरेण तद्भिन्नः । अन्यथा उक्तास्वरससमाधानरूपपरिष्कारोक्त्येत्यर्थः । कथ्यते । मया

प्रतिपाद्यते । तदेवाऽऽह—जिनांशैरिति । यथा ध्रुवात्परितश्चतुर्विंशत्यंशैर्गोले कदम्बभ्रम-वृत्तं निबद्धं तथा कदम्बस्थानाच्चतुर्विंशत्यंशैः समन्तात् । जिनवृत्तसंज्ञं वृत्तमत्वर्थ(?) भांशाद्यङ्कितं न्यसेद् निबन्धयेत् ।।५८।।

अथ तदुपजीव्यं क्रान्तिवृत्तस्य याम्योत्तरवृत्तसंनिवेशमयनसंधौ तत्संस्थानं चाऽऽह—क्रान्तियाम्योत्तरमिति । कदम्बद्वयकीलयोः कदम्बद्वये प्रत्येकमेकैककीले यौ स्थितौ तयोरित्यर्थः । क्रान्तियाम्योत्तरं क्रान्तिवृत्तस्याखिलप्रदेशानां दक्षिणोत्तरवृत्तरूपं वृत्तं चलमस्थिरं प्रोतं कृत्वा । द्वंद्वान्ते । कल्प्यमिथुनान्तप्रदेशे । उपलक्षणादयनसंधावित्यर्थः । न्यस्तं स्वमार्गेणाऽऽनीतं सत् । ध्रुवोपरि ध्रुवद्वयसक्तं स्यात् । अत्र क्रान्तिवृत्ताखिलप्रदेशानां तद्वृत्तं याम्योत्तरवृत्तमित्यत्र हेतुगर्भविशेषणं चलमिति । चलमित्यत्र हेतुगर्भं प्रोतमिति । ध्रुवोपरीत्यत्रायनसंधौ न्यस्तमिति हेतुगर्भमिति ध्येयम् ।।५९।।

अथ जिनवृत्तस्य फलमाह—द्वंद्वान्तादिति । द्वंद्वान्तादयनसंधित इत्यर्थः । यैर्यत्संख्येर्भागैः प्रागुक्तं कदम्बप्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते चाल्यते । आनीयते । तैस्तन्मितैर्भागैः । एवकारान्न्यूनाधिकव्यवच्छेदः । जिनवृत्ते प्रागुक्ते । ध्रुवाद् ध्रुवसक्तप्रदेशात्कदम्बप्रोतवृत्तं चलति । जिनवृत्तस्य क्रान्तिवृत्तानुसृतत्वात् । तेषामंशानां ज्या क्रान्तिज्येत्याह—तदंशानामिति । कदम्बप्रोतवृत्तजिनवृत्तसंपातध्रुवयोर्जिनवृत्तेतरांशानाम् । तत्र जिनवृत्ते । ज्या क्रान्तिज्या भवति । जिनवृत्तेऽपि कदम्बभ्रमवृत्तवत्परमक्रान्तिज्यायास्त्रिज्यात्वकल्पनात् ।।६०।।

ततः किमित्यतः फलितमाह—आयनमिति । सा पूर्वोक्ता क्रान्तिज्या । एवकारस्तदन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः । ग्रहात् । ग्रहचिह्नात् । द्युज्याग्रे । द्युज्याव्यासार्धवृत्ते । आयनवलनं जायते । ग्रहचिह्नात्परितो द्युज्याव्यासार्धेन यद्ग्रहक्षितिजवृत्तानुरुद्धं वृत्तं तस्मिन्वृत्ते कदम्बप्रोतजिनवृत्तसंपातध्रुवयोरन्तरप्रदेशार्धज्या स्यादित्यर्थः । कुत इत्यत आह— ग्रहध्रुवान्तर इति । सदा । अनवरतम् । ग्रहचिह्नध्रुवयोर्मध्ये द्युज्याया धनुरंशाः परमात्कारणात्सन्ति । ध्रुवाच्च तद्वृत्ते क्रान्तिज्येति विरुद्धं नेति भावः ।।६१।।

ननु सत्रिभार्कक्रान्तिज्याया आयनवलनत्वे अयनाद्गतकालांशक्रमक्रान्तिज्यकेत्यादि द्युज्यानुपातगमितमित्यन्तं पूर्वं कथमुक्तमार्षानुक्तेश्चेत्यतस्तदुत्तरं तत्प्रसङ्गादन्यदथाऽऽह—त्रिज्यावृत्ते इति । यतः कारणादायन वलनं त्रिज्यावृत्ते देयमस्ति । आयनवलनज्याया वानु(धनु)रंशाः कार्या इति द्युज्याप्रमाणसिद्धाया धनुःप्रकाराभावात्त्रिज्याप्रमाणेन कार्याः । धनुःकरणस्य शक्यत्वादित्यर्थः । अतः कारणात् । तत्र त्रिज्यावृत्ते । ग्रहक्षितिजवृत्ते सत्रिभार्कक्रान्तिज्यारूपं द्युज्याप्रमाणसिद्धं वलनं त्रिज्यया परिणाम्यते । तदनुरोधेन सिद्धं क्रियते इत्यर्थः । तथा च कदम्बध्रुवद्वयप्रोतयाम्योत्तरवृत्तग्रहक्षितिजसंपातयोरन्तरस्थग्रहक्षितिजप्रदेशस्यार्धे ज्यायनवलनज्या त्रिज्याप्रमाणेन साक(स्यात्क)दम्बभ्रमवृत्ते तस्य विषुवद्वृत्तानुरुद्धत्वादिति पूर्वोक्तं युक्तमार्षैश्च स्वल्पान्तरत्वाद्द्युज्यानुपातो नोक्त इति भावः । यद्यप्यत्रोत्क्रमज्या न निरस्ता तथाऽप्येतदुक्तस्य पूर्वोक्तपरिष्कारतया क्रमज्या-

ग्रहेणाग्रहदर्शनादुत्क्रमज्यानिरासोऽर्थसिद्ध इति ध्येयम् । स्यादेतत् । परं युक्त्याऽनयैव विज्ञेय-मक्षजं च क्रमज्ययेति प्रागुक्तं कथं संगच्छते । नह्यायनाक्षवलनयोरेकरूपता येनोक्तं सम्यक् । तद्भेदानुपपत्तेरित्यतस्तद्विशदीकर्तुमक्षवृत्तनिबन्धनं प्रथममाह-एवमिति । यथा कदम्बाज्जिनांशैः परितो जिनवृत्तं निबद्धं तथेत्यर्थः । समाख्यात्–समस्थानादभितोऽक्षांशै-र्वृत्तमक्षवृत्तं भाशाद्यङ्कितं निबन्धयेत् ।।६२।।

अथानुष्टुब्भिस्त्रिभिस्तद्विशदयति–समकीलयोरिति । तथा यथा कदम्बप्रोतं चलं वृत्तं क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरं वृत्तं तथेत्यर्थः । समस्थाने यौ कीलौ तयोः प्रोतं चलं वृत्तं समवृत्त-याम्योत्तरवृत्तं भवति । एतद्वृत्तग्रहचिह्नोपरि निवेशितं सत् । समवृत्ते खमध्यस्थानाद्यत्सं-ख्यैर्भागैर्नतं संलग्नं भवति तैर्भागैरेवकारस्तन्न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थकः । उत्तरध्रुवस्थानाद-क्षवृत्ते नतं संलग्नं भवति । चकाराद्दक्षिणध्रुवस्थानात्तदक्षवृत्ते उन्नतं संलग्नं भवतीत्यर्थः । समवृत्ते तद्वृत्तसम्बन्धेनोक्ता नतांशास्तेषां ज्या तद्वृत्ते त्रिज्यानुरुद्धा साक्षज्यया परि-णता । अक्षोत्पन्नं वलनं द्युज्याग्रे द्युज्यावृत्ते भवति । कुत इत्यत आह—प्राग्वदिति । यथा पूर्वोक्तं सत्रिभार्कक्रान्तिज्यातुल्यं वलनमायनं द्युज्यावृत्ते तथाऽक्षवृत्तेऽक्षज्यायाः परमज्यात्वेन त्रिज्यात्वात्तत्परिणततन्नतांशज्याऽक्षवृत्ते तन्नतांशानां ज्या सा द्युज्या व्यासा-र्धेन ग्रहचिह्नादभितः क्षितिजवृत्तानुरुद्धवृत्ते ध्रुवसमप्रोताक्षवृत्तसंपातयोर्लग्ने तदन्तरालां-शानामर्धज्यातुल्या द्युज्याप्रमाणेनैव । ध्रुवसंबन्धेन पूर्वोक्तकारणस्यात्रापि सत्त्वादित्यर्थः । त्रिज्याग्रे । ग्रहक्षितिजवृत्ते । तच्चापांशज्ञानार्थं परिणाम्यते । ग्रहक्षितिजवृत्ते ध्रुवकदम्ब-प्रोतवृत्तयोर्ग्रहचिह्नसक्तयोरन्तरालांशानामर्धज्यायनवलनक्रमज्या यथा तथा तद्वृत्ते एव ध्रुवसमप्रोतवृत्तयोर्ग्रहचिह्नसक्तयोरन्तरालांशानामर्धज्या । ननु नतोत्क्रमज्ययोक्तरीत्येय-माक्षवलनांशोत्क्रमज्या वा सिद्धा । तयाऽक्षवृत्ते नतांशोत्क्रमज्यासिद्धेरित्युत्क्रमज्यानिरासोऽ-र्थसिद्धः । उपसंहरति —उपपत्त्येति । अनयोक्तया । उपपत्त्या । युक्त्या । समवृत्तनतांशज पूर्वापरवृत्तस्थनतांशोत्पन्नमाक्षवलनं सम्यक् । निर्दूषणं सिद्धम् । एतेनोपपत्तौ द्युरात्रवृत्तनत-संबन्धाभावान्न तद्घटीभिराक्षं वलनमानीतं तद्युक्तमिति सूचितम् ।।६३।६४।।६५।।

ननु गोले उक्तविधिना समवृत्तनतांशज्ञानसिद्धावपि गणितप्रकारेण तज्ज्ञा-नाभावात्कथमाक्षवलनस्य सूक्ष्मतासिद्धिः । न च समशङ्कुदृग्ज्याचापेन समवृत्तनतांशज्ञान-मिति वाच्यम् । तेषां ग्रहद्युरात्रसमवृत्तसपातसबन्धत्वेन ज्ञानादभिमतत्वासिद्धेरित्यतः सूक्ष्मप्रकारं तत्प्रतिज्ञापूर्वकमाक्षवलनस्य श्लोकाभ्यामाह—वलनं स्यादिति । स्वाहोरात्र-नतात् । स्वस्य ग्रहचिह्नस्य । अहोरात्रवृत्ते । याम्योत्तरवृत्ताद्द्वया(तद्वया)त्मकं नतं तस्मादित्यर्थः । अपिशब्दान्नतस्योपपत्त्याऽऽक्षवलनानयने संबन्धाभावात्तत्तत्साधनस्या-सिद्धत्वप्रसिद्धो सत्यामित्यर्थः । यथाऽऽक्षवलनं सूक्ष्मं स्यात्तथा तदानयनप्रकारं समनन्तरमेव कथयिष्ये । तदाह—अग्रानृलतयोरिति । यस्मिन्काले यस्य ग्रहस्याऽऽक्षवलनं कर्तुमिष्ट तस्य ग्रहचिह्नस्य पूर्वोक्तप्रकारेणाग्राशङ्कुतले साध्ये । तयोरभिन्नदिक्त्वे योगः । अन्यथा ।

विभिन्नदिक्त्वेऽन्तरं कार्यम् । ततोऽक्षांशज्या नतासुदोर्ज्यया । ग्रहचिह्नतत्कालस्य येऽसव-स्तेषां ननु पूर्वोक्तनतघटीभागकलातुल्यासूनां दोरित्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः । भुजस्य ज्यया गुण्या । तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषपदभक्ता । अग्राशङ्कुतलसंस्कारसिद्धाङ्कत्रिज्ययोर्वर्गान्तराद्-गृहीतमूलेन भक्ता । फलं स्फुटं समवृत्तनतांशज्योत्पन्नाक्षवलनतुल्यमाक्षं वलनं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः—समवृत्ते नतांशानां ज्या साध्या । सा नतकालज्यया साधिता । तथा हि—नतकालस्य भुजज्याहोरात्रवृत्ते इति साधितनतासुतुल्या त्रिज्याप्रमाणा सिद्धा द्युज्याप्रमाणेन साध्या तदर्थे नतासुभुजज्याया द्युज्या गुणस्त्रिज्या हरः । अथ यथा विषुवद्वृत्तात्क्रान्त्यन्त-रेण तदनुकाराण्यहोत्रवृत्तानि द्युज्याव्यासार्धरूपाणि तथा समवृत्तग्रहचिह्नान्तरभुजांशान्त-रेणोपवृत्तानि समवृत्तानुकाराणि भुजवर्गोनत्रिज्यावर्गमूलरूपद्युज्याव्यासार्धरूपाणि । तयो-र्द्युरात्रोपवृत्तसंपातयोर्निबद्धसूत्रस्यार्धं नतकासुज्या द्युज्यानुरुद्धा सैवोपवृत्ते भुजवर्गोनत्रिज्या-वर्गमूलरूपद्युज्याप्रमाणेनापि व्यासार्धरूपाणि । तयोर्द्युरात्रोपवृत्तसंपातयोर्निबद्धसूत्रस्यार्धं तत्कालासुज्या(ज्या)दयुज्यानुरुद्धा । सर्वोपवृत्ते भुजवर्गोनत्रिज्यावर्गमूलरूपद्युज्याप्रमाणे-नापि । अतः सत्रिज्याप्रमाणेन साधिता समवृत्ते नतांशज्या । तदर्थं त्रिज्याऽपि गुणः । उपवृत्तद्युज्याऽपि हरः । अत्र तुल्यत्रिज्यामितयोर्गुणहरयोर्नाशान्नतासुज्याया द्युज्या गुणः । उपवृत्तद्युज्या हरः । इयमक्षवृत्तेऽक्षज्याया परिणता । प्रागुक्तरीत्या द्युज्याग्रे वलनमाक्षं तदर्थमक्षज्याऽपि गुणस्त्रिज्याऽपि हरः । ततस्त्रिज्यावृत्ते तत्सिद्धचर्थं त्रिज्याऽपि गुणो द्युज्या हरः । अत्र तुल्ययोस्त्रिज्याद्युज्यारूपगुणहरयोर्नाशान्नतकालभुजज्याऽक्षज्यया गुण्योपवृत्त-द्युज्यया भाज्या फलमाक्षं वलनं सूक्ष्मम् । ततोऽपवृत्तद्युज्याया भुजवर्गहीनत्रिज्यावर्गमूल-त्वाद्भुजज्ययोश्चाग्राशङ्कुतलसंस्कारतया त्रिप्रश्नवासनायां प्रतिपादनादुक्तमानयनं परमाय-नतसंबन्धेन सूक्ष्ममुपपन्नम् ॥६६॥६७॥

ननु दिनार्धतुल्यनतकाले समवृत्ते नवतिनतांशास्तदाऽभीष्टनते के इत्यनुपातेन लाघवात्समवृत्तनतांशज्ञानात्तज्ज्यया पूर्वोक्तप्रकारेणाऽऽक्षवलनं ग्रहणाधिकारोक्तं लघुभूत-मुत्पद्यते । आर्यग्रन्थेऽप्येतदुक्तेस्तत्कथं गुरुभूतमिदमानयनमुक्तमित्यत आह—नतमिति । ग्रहणाधिकारोक्तप्रकारेण वलनं लघुभूतप्रकारान्तरसंभूतमपि स्थूलं सुखार्थमङ्गीकृतं न सूक्ष्मम् । नतकालस्य द्युरात्रवृत्ते समवृत्ताननुसृते सत्त्वात्तदनुसृतोपवृत्ते तदसत्त्वाद्वैजा-त्यान्नतांशानुपातस्यायुक्तत्वात् । स्वल्पान्तरेण तदङ्गीकारे स्थूलत्वसिद्धेः । तथा च सूक्ष्मज्ञानाय गुरुभूतप्रकारोक्तिः संगच्छत इति भावः ॥६८॥

ननु स्पर्शमोक्षादिज्ञानार्थं वलनं ग्रहत्रिभान्तरितप्रदेशे दर्शितमयुक्तम् । तत्र स्पर्शमोक्ष-योरसंभवात् । ग्रहबिम्बे तयोरुपलम्भात्तत्र तद्वलनस्याभावात्तद्वलनजनितपरिलेखस्पर्शमोक्ष-दिग्ज्ञानमुक्तमयुक्तं चेति प्रागुक्तवलनवासना न संगतेत्यस्वरसात्प्रकारान्तरेणाऽऽयनवलन-स्वरूपमाह—द्युज्यावृत्तेति । गोले द्युज्यावृत्त क्रान्तिवृत्तसंपाते रविबिम्बं न्यसेत् । एतेन ग्रहबिम्बस्य विक्षेपवृत्तस्थानत्वेन क्रान्तिवृत्तस्थत्वाभावेऽपि क्रान्तिवृत्तद्युज्यावृत्तसंपातरूप-चिह्ने ग्रहबिम्बं कल्प्यमथवा विक्षेपवृत्तस्थग्रहबिम्बे क्रान्तिवृत्ताहोरात्रवृत्तानुसारेण दिशा-

वङ्कनीये । न त्वहोरात्रविक्षेपवृत्तानुरोधेनेति सूचितम् । ततो वलनं सुज्ञेयमित्याह–बिम्बाग्रे इति । ग्रहबिम्बवृत्तपरिधौ । तयोः क्रान्तिवृत्तद्युज्यावृत्तयोर्यदन्तरं तद्वलनमानयनं स्यात् । बिम्बवृत्तपरिधौ क्रान्त्यनुसृतवृत्तं यत्र लग्नं तत्र पूर्वापरं बिम्बपूर्वापरविभागक्रमेण क्रान्तिवृत्तस्य । यत्र विषुवद्वृत्तानुसृतस्वाहोरात्रवृत्तं लग्नं तत्र विषुवत्पूर्वापरा । तयोरन्तरमयनवलनं भवग्रहबिम्बे इत्यर्थः । वा । पूर्वोक्तात्तत्स्वरूपास्वरसभयादिवेदं पूर्वोक्ताद्भिन्नमभिन्नमपि बोधार्थमङ्गीकार्यमिति भावः । एवमुपवृत्ताहोरात्रवृत्तयोर्ग्रहबिम्बपरिधावन्तरमाक्षं वलनम् । उपवृत्तस्य समवृत्तानुसृतत्वात् । क्रान्तिवृत्तानुसृतवृत्तोपवृत्तयोः सूत्रान्तरं स्फुटवलनमिति ध्येयम् ॥६९॥

ननु तदन्तररूपं वलनं गणितेन कथं ज्ञेयमित्यतस्तदुत्तरं प्रागुक्तवलनस्वरूपसमर्थनं चानुष्टुब्द्वयेनाऽऽह—बिम्बान्तेति । तत् । ग्रहबिम्बसंबन्धि प्रागुक्तं वलनमायनं बिम्बान्तबिम्बमध्योत्थक्रान्तिमौर्व्योः । ग्रहबिम्बवृत्ते परिधिसक्तक्रान्तिवृत्तप्रदेशो बिम्बान्तः । ग्रहबिम्बवृत्तकेन्द्रसक्तक्रान्तिवृत्तप्रदेशो बिम्बमध्यम् । ताभ्यामवगते ये क्रान्तिज्ये तयोरन्तरं भवेत् । प्रागुक्तवलनस्य ज्यास्वरूपमित्यर्थः । क्रान्तिज्यासाधनार्थं ग्रहबिम्बमध्यराशा(श्या)दिभोगो ग्रहभोग एव । बिम्बान्तराश्यादिभोगो बिम्बकलार्धयुतहीनग्रहभोगः प्राक्स(प)रप्रान्तवशात् । यद्यपि बिम्बकलानां व्यासरूपत्वात्क्रान्तिवृत्ते प्रान्तभोगज्ञानाय बिम्बकलार्धोनयुतो ग्रहभोग इत्यसंगतमिति बिम्बकलार्धरूपज्याया या धनुःकालास्ताभिरूनयुत इति वक्तुमुचितं तथाऽप्यल्पान्तराद्बृहज्ज्यानुरोधेन तुल्यत्वाच्च तथा करणेन वाऽप्यक्षतिः । न च ज्ययोरेकस्वरूपाभावात्क्रान्तिज्ययोरन्तरं वलनमित्युक्तम् । अन्यथाऽक्षज्याक्रान्तिज्यासंस्कारेण नतज्यासंस्कारेण नतज्यासिद्ध्यापत्तेः । किंतु तत्क्रातो(न्त्यो)रन्तरं तज्ज्यावलनं युक्तमिति वाच्यम् । क्रान्तिज्ययोरेकवृत्तमध्यसूत्रावधित्वात्क्रान्तिमौर्व्योरन्तरस्य बिम्बाग्रवलनज्यात्वसंभवात् । अन्यथा ज्यारूपयोरग्राशङ्कुतलयोः संस्कारे भुजत्वानापत्तेः । तथा हि—विषुवद्वृत्तमध्यसूत्रात्कल्पितग्रहबिम्बवृत्तकेन्द्ररूपग्रहचिह्नपर्यन्तं सूत्रमर्धज्याकारं बिम्बमध्यक्रान्तिज्या । विषुवद्वृत्तग्रहनेमिस्थक्रान्तिमण्डलप्रदेशयोरन्तरं नेमिस्थक्रान्तिस्तज्ज्या । विषुवद्वृत्तवदतिरिक्तमध्यसूत्रान्नेमिस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशपर्यन्तमर्धज्याकारं सूत्रम् । तत्र प्रतिबिम्बकेन्द्रस्थाहोरात्र उत्तरबिम्बसंबन्धिप्रदेशस्य संपूर्णज्याया ग्रहबिम्बवृत्तमध्यरेखात्वात्तदवधिबिम्बप्रोते (प्रान्ते) मध्यक्रान्तिज्यातुल्यत्वात्तयोरन्तरवलनज्याबिम्बमध्यरेखानेमिस्थक्रान्त्यग्रयोरन्तरार्धज्यासूत्राकारा प्रत्यक्षा । यथा । अन्यथा क्रान्त्यन्तरेण बिम्बपरिधौ केन्द्राहोरात्रवृत्तनेमिस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशयोरन्तरप्रदेशसिद्धावपि ध्रुवप्रोतचलवृत्तस्थितांशसिद्ध्या बिम्बवृत्तस्थितभगणांशप्रमाणेनांशमित्यसिद्धे अन्यप्रकारेण तदवगमेऽपि गौरवात् । यद्यपि विषुवक्षणासन्नग्रहबिम्बपरिधौ क्रान्त्यहोरात्रवृत्तप्रदेशयोरन्तरज्याज्ञानं भिन्नदिक्क्रान्तिज्ययोर्योगेन संभवति । तथाऽपीतरपरिधिप्रदेशे तयोरन्तरज्याज्ञानमेकदिक्क्रान्तिज्ययोरन्तरेणैवेत्याचार्यैरनुगमार्थं तथैवोक्तमुभयत्र(योर्योगेन) वलनस्वरूपत्वात् । अत एवैकदिक्संबन्धे नेमिस्थक्रान्तिज्या महती भिन्नदिङ्नेमिस्थक्रान्ति-

ज्यायाः । तत्रैकदिश्यन्तरं यन्मितं तन्मितमेवान्यदिशीति तदैक्यम् । अन्यथा प्राक्परयोर्वलनसमत्वानुपपत्तेरिति क्षतिः । अत्रान्येषां स्पष्टक्रान्तिज्योरन्तरं वलनं न । किंतु शरासंस्कृतकेवलक्रान्तिज्ययोरन्तरं ग्रहायनवलनमेवं ग्रहान्मानार्धयुतग्रहाध्वकेवलाग्राशङ्कुतले प्रसाध्य भुजौ साध्यौ तयोरन्तरमाक्षवलनज्याग्रहबिम्बे इति ध्येयम् । नन्वेवं प्रत्येकं क्रान्तिज्ययोः साधनद्वारा तदन्तरसाधने गौरवमित्यत आह–अर्कदोरिति । अर्कस्य ग्रहोपलक्षणात्सायनग्रहभुजज्यासाधने यद्भोग्यखण्डस्यान्तरं तेन गुणितं बिम्बमानकलानामर्धं पञ्चविंशतियुतशतद्वयभक्तं यत्सिद्धं तत् चतुर्विंशत्यंशज्यया गुणितं त्रिज्यया भक्तमेवमुक्तप्रकारेण यत्फलं तत् पूर्वं प्रतिपादितम् । हि यतोऽन्तरं न क्रान्तिज्ययोरतो लाघवान्न गौरवमिति भावः । अत्रोपपत्तिः । भुजज्यानीतं क्रान्तिज्ययोरन्तरं साध्यम् । तत्र लाथवाद्भुजज्यान्तरादेब क्रान्तिज्या साध्योभमयथा फलस्य तुल्यत्वात् । अतो ज्यान्तरं साध्यम् । तत्तु भोग्यखण्डरूपमिति बिम्बमध्यक्रान्तिज्यासाधनार्थं गुणज्यासाधने यज्ज्यान्तरं तत्तत्त्वाश्विकलाप्रमाणेन अपेक्षितं बिम्बव्यासकलार्धप्रमाणेन बिम्बमध्यप्रोतयोर्ज्यान्तरस्थानावश्यकत्वात् । अतस्तत्त्वाश्चिकलाप्रमाणेन भोग्यखण्ड लभ्यते । तदा बिम्बार्धकलाप्रमाणेन किमित्यनुपाताज्ज्यान्तरं सिद्धम् । एतत्तुल्यभुजज्यया त्रिज्यातुल्यभुजज्या परमक्रान्तिज्या तदाऽनया केत्यनुपातेन क्रान्तिज्या सैव क्रान्तिज्ययोरन्तरमिति । न चैवं ग्रहक्षितिजे पूर्वं प्रतिपादितमायनवलनं तदानयनं चाऽऽर्यग्रन्थे त्वद्ग्रन्थे च दत्तजलाञ्जलिकं स्यादत आह-बिम्बार्धहृदिति । पूर्वसिद्धा वलनज्या क्रान्तिज्यान्तरमिति यावत् । त्रिज्यया गुणितं बिम्बकलानामर्धेन भक्तम् । एवमुक्तप्रकारेण, त्रिज्यागतं त्रिज्यावृत्तस्थं ज्यारूपवलनं स्यात् । तथा च बिम्बसंबन्धिवलनज्यायास्तदंशज्ञानार्थं धनुःकरणमशक्यमतो धनुःसाधनार्थं बिम्बगता वलनज्या त्रिज्यापरिणता कार्येति प्राचीनैस्त्रिज्यावृत्त एव लाघवात्पूर्वं बलनज्या कृतेत्युभयोरेकस्वरूपत्वान्म वैयर्थ्यमिति भावः ।।७०।।७१।।

नन्वेवं ग्रहणाधिकारोक्तमायनं वलनं लघुभूतमिदं तु गुरुभूतम् । गुणनभजनक्रियाबहुलत्वादत आह—गुणाहारकेति । पूर्वोक्तरीत्या त्रिज्यागतवलनज्यास्वरूपे भोग्यखण्डं बिम्बार्धकलापरमक्रान्तिज्याभिर्गुण्यम् । तत्त्वाश्वित्रिज्याबिम्बार्धकलाभिभज्यिमिति सिद्धे गुणहारकरूपबिम्बार्धत्रिज्ययोरन्त (योर्ना)शे अपगमे कृते सति । तुल्यत्वात् । उत्तरार्धोक्तमुपपन्नम् । तथा चेदमानयनमतिलघुभूवम् । पूर्वोक्तं च प्रत्युक्तं गुरुभूतमिति भावः ।।७२।।

ननूक्तानयनस्य ग्रहणाधिकारोक्तानयनतुल्यत्वं कुतः प्रमाणाभावादित्यतस्तदुत्तरमन्यदप्याह—सत्रिभार्कादिति । तत् । ग्रहबिम्बसंबन्धेनाऽऽनीतं ज्यारूपमायनं पूर्वोक्तमित्यर्थः । सत्रिभार्कात्—राशित्रययुतग्रहात् । क्रमक्रान्तेः । भुजस्य क्रमज्यया साधितक्रमक्रान्तिज्यया इत्यर्थः । तुल्यमभिन्नं जायते । सत्रिभस्य ग्रहकोटितुल्यत्वाद्द्युज्यानुपातानङ्गीकारेण च ग्रहणाधिकारोक्तानयनेन सत्रिभग्रहक्रान्तिज्यासिद्धेरतत्तुल्यमिदं धूलीकर्मणा संवादादिति

भावः । संशयापनोदार्थं तुल्यत्वे कारणमुच्यते । त्रिज्यया तुल्यया कोटिज्यया तत्त्वाश्विमितं भोग्यखण्डं तदेष्टग्रहकोटिज्यया किमित्यनुपातेन भोग्यखण्डानयनपूर्वकं तत्पू(त्प्र)कारानुसरणे तत्त्वाश्वितुल्ययोर्गुणहरयोर्नाशाद्ग्रहकोटिज्या परमक्रान्तिज्यया गुण्या त्रिज्यया भाज्येति द्युज्यानुपातानङ्गीकारे ग्रहणाधिकारोक्तानयनं पर्यवसन्नमिति । अत्राशङ्कुतलसंस्कारं विना भुजज्ञानासंभवादुक्तदिशाऽऽक्षवलनानयनमशक्यमिति नोक्तमाचार्यैरिति ध्येयम् । ननूत्क्रमज्यानिरासोऽयमन्यथा वाऽथ कथ्यते इत्यनेनोत्क्रमज्यानिराकरणं प्रतिज्ञातम् । प्रतिपादितं च तदाद्ये तदन्तरं ग्रन्थे तत्क्रमज्यया वलनं कार्यमिति नोत्क्रमज्यानिरासोक्तिरतो विरोध इत्यतस्तदुत्तरमुपसंहारभूतमाह-अथेति । हे बालिशाः । तत्त्वातत्त्वविवेकज्ञानशून्याः । अथ एतद्ग्रन्थभावनानन्तरम् । इदं वलनानयनम् । क्रमक्रान्तेः । भुजक्रमज्यानीतक्रमक्रान्तिज्यायाः सकाशादुत्पन्नं द्युज्यानुपाताङ्गीकारात् । अन्यथा विना तुल्यपदं क्रमक्रान्तेरित्यनुपपन्नम् । द्वितीयान्तस्य कथनापत्तेः । वीक्ष्य सम्यग्ज्ञात्वा । भ्रान्तिम् । उत्क्रमज्यया वलनं कार्यं तत्क्रमज्ययेति बुद्धिभ्रमं संशयं त्यजत । दूरी कुरुत । तथा च क्रमज्याप्रतिपादनेनैवार्थसिद्धमुत्क्रमज्यानिवारणं तस्य क्रमज्याप्रतिपादनफलत्वादुत्क्रमज्यानिरासः प्रतिज्ञात इति भावः ।।७३।।

ननु तथाऽपि ग्रहबिम्बसंबन्धेन वलनानयनग्रन्थे द्युज्यानुपाताङ्गीकारकारणं न दृश्यते इत्यतस्तमनुपातं समर्थयति । नामितमिति—यतः कारणाद्ग्रहबिम्बं नामितं याम्योत्तरयोर्नतं भवत्यतः सा सत्रिभग्रहसंबन्धिनी समा । ध्रुवाभिमुखी क्रान्तिस्तिर्यक् भवति । तुकाराद्ध्रुवाभिमुखी वस्तुभूता क्रान्तिरपि तिर्यक्त्वेन ध्रुवाभिमुखी न किन्तु कदम्बाभिमुखीति भासते इति सूचितम् । अतः कारणादत्र वलनानयने यो द्युज्यानुपातः क्रियते सोऽनुपातस्तत्तिर्यक्करणाय । सत्रिभग्रहक्रान्तिरूपाय न वलनस्य । तिर्यक्करणाय कदम्बाभिमुखीकरणाय निष्पन्न इत्यर्थः । ननु सदा क्रान्तेर्ध्रुवाभिमुखत्वेन नामितग्रहबिम्बे तत्तिर्यक्त्वं कथं भासतामन्यथा विषुवत्क्रान्तिवृत्तान्तरस्य क्रान्तेर्व्याघातस्ततस्यास्तदेकाभिमुखत्वादित्यत आह—छत्रवदिति । यथाऽऽतपनिवारणं छत्रं स्वमस्तकोपरिस्थं तदा तत्स्वयाम्योत्तरानुसारमेव । यदा तु दण्डितिर्यक्धरणेन छत्रं विदिक्षु नामितं तदा स्वयाम्योत्तराभ्यां छत्रयाम्योत्तरा तिरश्चीनैवेति प्रत्यक्षम् । तथा कल्प्यमेषतुलादिग्रहे विषुवद्वृत्तस्थत्वेन तस्य कल्पितभूमध्यपूर्वापरवृत्तस्थितं ग्रहबिम्बवृत्ते ध्रुवाभिमुखयाम्योत्तरं कं भवत्यतस्तत्र बिम्बवृत्तनेम्यां विषुवत्क्रान्तिप्रदेशयोरन्तरवलनं समं ध्रुवाभिमुखम् । बिम्बकेन्द्रभूगर्भान्तिरसूत्रस्य दण्डानुकरणत्वात् । यदाऽन्यत्र राशौ तदा ग्रहबिम्बस्थलान्नामितमतोऽहोरात्रवृत्तक्रान्तिवृत्तान्तरं बिम्बनेम्यां नतत्वेन तिरश्चीनं न ध्रुवाभिमुखमन्यथा तिरश्चीनभानानुपपत्तेः । किंतु क्रान्तिवृत्ते ग्रहगमनात्तद्याम्योत्तरकदम्बाभिमुखम् । ग्रहबिम्बवृत्ते नेम्यां क्रान्त्यन्तरेण यद्वलनमागतं तत्कोटिरूपं ध्रुवाभिमुखम् । त(प्र)त्यक्षं तु तन्नेम्यां कदम्बाभिमुखं कर्णरूपमतस्तत्र भूगर्भग्रहबिम्बकेन्द्रोत्तरसूत्रस्य त्रिज्यामितस्य तिर्यक्त्वात्त्रिज्या कर्णः द्युज्या कोटिः क्रान्तिज्या भुज इत्यु-

त्पन्नक्षेत्राकद्युज्याकोटौ त्रिज्याकर्णस्तदा क्रान्त्यन्तररूपवलनज्याकोटौ कः कर्ण इत्यनुपातेन कदम्बाभिमुखं कर्णरूपं वलनं भवतोति न किंचिद्विरुद्धमिति भावः ॥७४॥

अथाऽऽरब्धाधिकारो निरूपित इति फक्किकयाऽऽह—इति ग्रहणवासनेति । ग्रहणाधिकारोक्तकठिनपदार्थानामुपपत्तिर्निरूपितेत्यर्थः ।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
याता शिरोमणिमरीचयभिधे समाप्ति सूर्येन्दुपर्वगणितोक्तिसुवासनेयम् ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये ग्रहणाधिकारवासनाधिकारः संपूर्णः ॥

केदारदत्तः—ग्राह्य बिम्ब में, सूर्यग्रहण में सूर्य बिम्ब पर और चन्द्रग्रहण में चन्द्रबिम्ब पर ग्रहण का स्पर्श, मध्य, मोक्ष सम्मीलनोन्मीलनादि किस दिशा में किस बिन्दु पर होंगे—

वलन गणित का साधन क्रम ज्या गणित से ही करना चाहिए। लल्लाचार्य तथा श्रीपति प्रभृति आचार्यों ने वलनगणित साधन में नत काल की क्रम ज्या की जगह नत काल उत्क्रम ज्या ग्रहण की है जो गोलज्ञान बहिर्भूत और युक्तिशून्य है।

ग्रह बिम्ब का स्पर्शादि बिन्दु, बिम्ब के पूर्व पश्चिम आदि दिशा के किस बिन्दु से किधर बलयित है अर्थात् झुकाव है वह स्पार्शिक बिन्दु जो वलयित होता है उसी के गणित ज्ञान को वलन गणित कहा जाता है।

विषुववृत्त को समवृत्त मान कर याम्योत्तर वृत्तगत ग्रह से अयन वलन की उपपत्ति समझनी चाहिए।

क्रान्तिवृत्त पर लम्बरूप कदम्बप्रोत वृत्त के उत्तर दक्षिण कदम्ब नामक दो पृष्ठीय केन्द्र होते हैं तथा विषुववृत्त के दो पृष्ठीय केन्द्र उत्तर दक्षिण ध्रुव भी प्रसिद्ध हैं।

जिस समय मकरादि बिन्दु, याम्योत्तर वृत्त में रहेगा तो कदम्ब भी उस समय याम्योत्तर में रहने से उस समय ध्रुव और कदम्ब की एकवृत्तीय स्थिति से क्रान्ति विषुवद्वृत्त के अन्तर का अभाव गोलदर्शन से स्पष्ट है।

उपपत्ति सहित व्याख्या—पुनः याम्योत्तर वृत्त का कुम्भादि स्थान राशि वृत्त के मध्य में कुम्भ राश्युदयासुमान = १९३५ ÷ ६० = ३२।१५ कालांशों से कदम्ब याम्योत्तर वृत्त सम्पात से ३२।१५ कालांशों में कुम्भादि बिन्दु पश्चिम दिशा में लम्बित रहेगा। क्योंकि कदम्ब और याम्योत्तर सूत्रों का अन्तर कोण ही वलन कहा गया है। उस कोण की ज्या उक्त अंशों की क्रमज्या ही होती है न कि उत्क्रम ज्या। ज्या चाप के मध्य में बाण रूप उत्क्रमज्या का इस स्थल पर बलन का मान कैसे कहा जावेगा ? क्योंकि क्रान्तिमण्डल प्राची से विषुवन्मण्डल प्राची के अन्तराल के चाप का कोणमान कदम्ब सूत्र में ध्रुव और कदम्ब सूत्रों से उत्पन्न कोणमान ग्रह क्षितिज में अयनवलन हैं। वह क्रम ज्या ही होती है वह उत्क्रम ज्या कदापि नहीं होती है।

ल्लाचार्य के वलन साधन गणित में नत की क्रम ज्या की जगह नत की उत्क्रम ज्या गणित साधन भ्रम का प्रकारान्तर (अन्य प्रकार) से निराकरण—

अहोरात्रवृत्त क्रान्तिवृत्त सम्पात बिन्दु पर मुद्रिकाकार (अँगूठी की तरह) ग्रह बिम्ब के निवेशन स्थान पर अर्थात् बिम्ब की परिधि पर जहाँ अहोरात्रवृत्त लगता है वहाँ से क्रान्ति वृत्त दक्षिणोत्तर दिशा में जहाँ पर अन्तरित होता है वहाँ से पूर्वापर वृत्त ग्रह तक वलन होता है।

इस स्थल पर, सूर्य की क्रान्ति में ग्रह बिम्बार्धकला युक्त सूर्य की क्रान्तियों का जो अन्तर होता है उसे तत्कालीन क्रान्त्यन्तर समझिये।

इसका साधन, सूर्य भुज साधनावसर पर जो भोग्य खण्ड होता है उस भोग्य खण्ड से गुणित बिम्बमानार्ध कला और २२५ से भाग देने पर सूर्य की तत्कालीन भुजज्याओं का अन्तर होता है।

इसे अ मानिये तो स्फुट भोग्य खण्ड ज्ञान के लिये

$$\text{यदि} \quad \frac{२२५ \times अ}{\text{त्रि तुल्य कोटि में}} = \text{स्फुट भोग्य खण्ड।}$$

$$\text{पुनः} \quad \frac{\text{स्फु भो. ख} \times \text{बिम्बार्ध}}{२२५} = \text{दोर्ज्यान्तर।}$$

$$= \frac{\text{स्फु भो खं बिम्बार्ध}}{२\cdot५} \frac{\times २२५}{\text{त्रि}} = \text{दोर्ज्यान्तर}$$

$$\frac{\text{स्फु भो ख} \times \text{बिम्बार्ध}}{\text{त्रि}} = \text{दोर्ज्यान्तर।}$$

अतः क्रान्ति साधन के लिये

$$\frac{\text{जिनज्या} \times \text{दोर्ज्यान्तर}}{\text{त्रि}} = \text{क्रान्त्यन्तर}$$

यह क्रान्त्यन्तर बिम्ब व्यासार्ध में है, अतः अनुपात से त्रिज्या व्यासार्ध

वलन =

$$\frac{\text{जिनज्या} \times \text{दोर्ज्यान्तर} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \quad \text{त्रि}} = \frac{\text{दोर्ज्यान्तर} \times \text{जिनांशज्या}}{\text{त्रि}}$$

$$= \text{क्रान्त्यन्तर}$$

यह क्रान्त्यन्तर बिम्ब व्यासार्ध में वलन ज्या का चाप वलन होता है।

$$\text{अनुपात से पुनः,} \quad \frac{\text{वलन ज्या} \times \text{त्रि}}{\text{बिम्ब व्यासार्ध वृत्त}}$$

वलन ज्या में उत्थापन देने से

$$\frac{\text{दोर्ज्यान्तर} \times \text{जिनांशज्या} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \text{बिम्ब व्यासार्ध}} =$$

$$\frac{\text{दोर्ज्यान्तर} \times \text{जिनांश ज्या}}{\text{बिम्ब व्यासार्ध}} = \text{कोटि क्रम ज्या का मान}$$

त्रिज्यावृत्त में वलन ज्या होती है।

जब ग्रह विषुवद्वृत्तस्थ हो तो भूमध्य से खस्वस्तिकस्थ बिम्बकेन्द्रगत सूत्र = त्रिज्या सूत्र के शिर में स्थित बिम्ब चारों तरफ से छत्र की तरह नामित होता है।

बिम्ब से त्रिज्या तुल्य दूरी पर वलन दान देना चाहिए।

यदि मेषान्त में ग्रह हो तो मेषान्त क्रान्ति से खस्वस्तिक से उत्तर में ग्रह बिम्ब नत होता है, त्रिज्या सूत्र = कर्ण, बिम्ब मध्य से ध्रुव सूत्र गत सूत्र पर लम्ब = द्युज्या कोटि, क्रान्तिज्या = भुज बिम्बगत सूत्र कर्णाकार होता है।

$$\frac{\text{त्रि} \times \text{कोटि अन्तर}}{\text{द्युज्या}} = \text{अन्तर}$$

उत्थापन से,

$$\frac{\text{जिन ज्या} \times \text{कोज्या}}{\text{बिम्ब व्यास } \frac{1}{2}}$$

$$\frac{\text{कोटिज्या} \times \text{जिन ज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{वलन ज्या होती है।}$$

इसी युक्ति से अक्षांश की क्रमज्या से आक्षवलन साधन होता है।

यथा—याम्योत्तरक्षितिज सम्पात का नाम सम स्थान।

ध्रुव से २४° वृत्त से कृत वृत्त कदम्ब भ्रमवृत्त में कदम्ब स्थान। समस्थान से अक्षांश व्यासार्धेन क्रियमाण वृत्त का नाम अक्षभ्रमवृत्त।

मध्याह्न में सूर्य से समस्थानगत सूत्र ध्रुव में होकर जावेगा। अतः विषुवत्समवृत्तोपरि एक याम्योत्तर वृत्त होने से आक्षवलनाभाव।

यदि दिनार्ध से सूर्य नत है, समस्थान से सूर्य गत सूत्र का पूर्वापर वृत्त से जहाँ सम्पात वहाँ से खमध्य तक के अन्तरांश वही अंश समसूत्र और अक्षांश वृत्त तक में होते हैं। दोनों की ज्या भी समान होती है। क्षितिजस्थ सूर्य में क्षितिज ही समसूत्र होगा। ऐसी स्थिति में पूर्वापर और अक्ष वृत्त में नतांश=९०° अक्षांश वृत्त में ९० अक्षांशज्या = अक्ष ज्या। अनुपात से दिनार्ध तुल्य नत काल में ९०° तुल्य सममण्डलीय नतांश तो इष्ट नतांश में—

$$\frac{९०° \times \text{इष्ट नतांश}}{\text{दिनार्ध}} = \text{नतांश क्रम ज्या इसके अक्षज्या वृत्त में परि-}$$

णामन देने से

$$\frac{\text{नतांशक्रमज्या } ९०° \times \text{अक्ष ज्या वृत्त}}{\text{दिन} \times \text{त्रिज्या}} = \text{वलन ज्या}$$

यह द्युज्यावृत्त में प्राप्त होने से पुनः अनुपात से त्रिज्या वृत्त में परिणत करने से—

$\frac{\text{वलनज्या} \times \text{त्रि}}{\text{द्युज्या}}$, वलन ज्या का उत्थापन देने से

नतांश क्रमज्या—

$$\frac{\text{अक्षज्या} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु} \times \text{त्रि}}$$

$$= \frac{\text{नतांश क्रम ज्या} \times \text{अक्ष ज्या}}{\text{द्यु}}$$ = स्थूलाक्षवलन ज्या होती है।

अथवा—सत्रिभग्रहोपरिगत ध्रुवप्रोतनाडी वृत्तोत्पन्न कोण समकोण होता है। तथा क्रान्तिवृत्त नाड़ी वृत्तोत्पन्न कोण = जिनांश तुल्य। सत्रिभग्रह की ज्या = खेट कोटिज्या अतः प न स त्रिभुज में

$\frac{\text{सत्रि ग्रज्या} \times \text{जिनज्या}}{\text{त्रि}}$ सत्रिभग्रह की क्रान्ति ज्या यह क्रान्ति ज्या ध्रुव प्रोत वृत्त में होती है, किन्तु अपेक्षित है ग्रह क्षितिज वृत्त में। ग्रहोपरिगत ध्रुव प्रोत वृत्त में ९०−क्रान्ति का नाम 'द्युज्या चाप परिभाषया स्पष्ट है। ग्रह क्षितिज में द्युज्या का मान = ∠ल त म सत्रिभग्रह भु = त प

प त स त्रिभुज में $\frac{\text{सत्रिभग्रक्रां ज्या} \times \text{त्रि}}{\text{द्युज्या}}$ = ग्रह क्षितिज में अयन वलन ज्या। सत्रिभ क्रांज्या का उत्थापन देने से

$$\frac{\text{सत्रि ग्र·ज्या} \times \text{जिन ज्या} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \text{द्यु}} = \frac{\text{खेट कोज्या} \times \text{जिन ज्या}}{\text{द्यु}}$$

सूक्ष्म आयन वलन ज्या उपपन्न होती है।
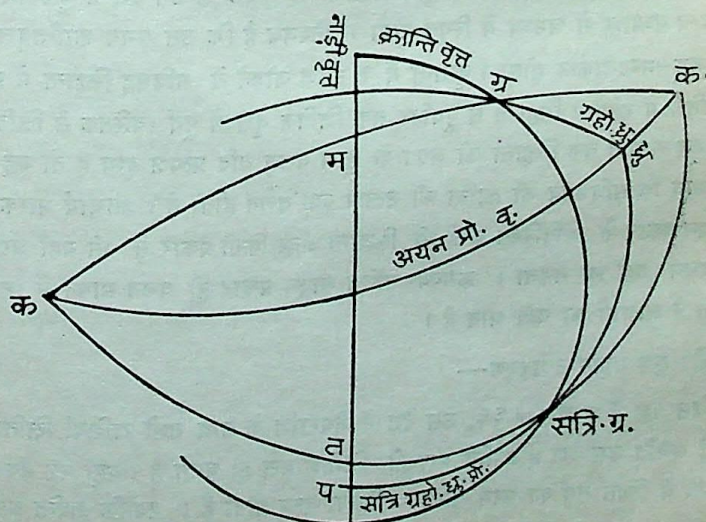
आक्ष वलन के लिये—

याम्योत्तर ध्रुव प्रोतवृत्तोत्पन्न कोण का मान = नतकाल की ज्या । = नतज्या । तथा याम्योत्तर समप्रोतवृत्तोत्पन्न कोण सममण्डलीय नतांश की ज्या = स० म० नत ज्या ।

समस्थान से ग्रह तक उपवृत्त व्यासार्ध की ज्या = उ० वृ० ज्या । समस्थान से अक्षांश मान से विधीयमान वृत्त = अक्षांशवृत्त की ज्या = ज्या अक्ष । ध्रुव से ग्रह तक लम्ब वृत्त में = ज्या लं०

अनुपात से $\frac{\text{समम-नज्या} \times \text{अक्षज्या}}{\text{ग्रह द्यु}}$ = आक्ष वलन ।

पुनः $\frac{\text{अक्षज्या} \times \text{सम मण्डलीयनतज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = द्युज्या वृत्त में अक्षज्या ।

उत्थापन से $\frac{\text{अक्षज्या} \times \text{सम-नतज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्यु} \times \text{त्रि}} = \frac{\text{अक्षज्या} \times \text{सम-नज्या}}{\text{द्यु}}$

$\frac{\text{सम म. न. ज्या}}{\text{द्यु}}$ = आक्ष-व-ज्या

अथवा भुजकोटि = उपवृत्त व्यासार्ध

अतः $\frac{\text{नतकालज्या} \times \text{अक्षज्या}}{\text{उपवृत्त का सार्ध}}$ = आक्षवलन-ज्या उपपन्न होती है ।

दृष्टान्त से उत्क्रम ज्या का निराकरण—

जिस देश में वृषभान्त राशि के तुल्य अक्षांश २०°/३८′ है उस देश में वृषभान्त का रवि बिम्ब मध्याह्न में खमध्य में स्थित होगा । निश्चय है कि उस समय क्रान्तिवृत्त का स्वरूप दृङ्–मण्डलाकार होगा । वृषान्त में ३ राशि जोड़ने से सत्रिग्रह सिंहान्त में होगा जो क्षितिज में रहेगा । सिंहान्त से पूर्वापर तक क्षितिज वृत्त में पूर्व स्वस्तिक से क्षितिजा-होरात्रवृत्त सम्पात तक सिंहान्त की अग्रा के तुल्य वलन यदि प्रत्यक्ष दृश्य है तो यह कैसे माना जाय कि सत्रिभग्रह की क्रान्ति की उत्क्रम ज्या वलन होती है । आचार्य भास्कर के वलनायन प्रकार के अतिरिक्त कोई भी सिद्धान्त अन्य किसी प्रकार से भी यहाँ अग्रा के तुल्य वलन नहीं ला सकता । क्रमज्या गणित साधन प्रकार ही वलन साधन में सर्वथा उपयुक्त है आचार्य का यही भाव है ।

और एक महान उदाहरण—

जिस देश में अक्षांश = ६६, उस देश में मेषराशि के साथ सभी राशियाँ क्षितिज में होती हैं अर्थात् उस देश में क्रान्ति वृत्त ही क्षितिज वृत्त हो जाता है । वहाँ पर मेष-वृष-मिथुनादि में स्थित सूर्य का परम वलन = त्रिज्या तुल्य होता है । क्योंकि क्रान्ति वृत्त से प्राची दिशा उत्तर को होती है ।

शराभाव की स्थिति में सूर्यग्रहण का स्पर्श दक्षिण दिशा से होता है और चन्द्रमा का ग्रहण स्पर्श उत्तर से होगा। इसलिये वहाँ त्रिज्या तुल्य वलन की अन्यथासिद्धि से क्रमज्या प्रकार से ही वलन गणित की साधना समीचीन होती है।

तथा जिस देश में अक्षज्या = ३१।४० मेषादिगत सूर्य द्युज्या = ३४३८ चरासु = ०, क्षितिजस्थ सूर्य में नतघटिका = १५, आयनवलनज्या का चाप = २४° आक्षवलनांश = ६६ स्फुटवलन = ६६ + २४ = ९०°

एवं वृषादि रवि की द्युज्या = ३३३६, चरज्यासु = १६७०, नतघटिका = १९।३८, आयन चापांश = ९०, एवं मिथुनादि सूर्य में द्युज्या = ३२१८, चरासु = ३४६५, नत-घटिका = २४।३७, आयनवलनांश = १२।३२, आक्ष वलन = ७७, स्फुट वलन = ९० यही सर्वत्र क्रमज्या प्रकार से ही सही सिद्ध होते हैं।

इसी आशय को श्लोक से भी आचार्य ने "यत्खवस्वस्तिकगे खौ भवलये दृग्वृत्तवत्सं-स्थिते····व्यासार्धतुल्यं कथम्" स्पष्ट किया है ॥३०-७४॥

इति सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के ग्रहणवासनाध्यायः—९ की श्री पं० हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्या सम्पन्न।

अथोदयास्तवासना

अथोदयास्तवासना । तत्राऽऽदावुदये च दृक्कर्मकारणमाह—

क्रान्तिवृत्तग्रहस्थानचिह्नं यदा स्यात्कुजे नो तदा खेचरोऽयं यतः ।
स्वेषुणोत्क्षिप्यते नाम्यते वा कुजात् तेन दृक्कर्म खेटोदयास्ते कृतम् ।।१।।
नैव बाणः कुजेऽसौ कदम्बोन्मुखस्तत्समुत्क्षेपणं नामनं च द्विधा ।
आयनं चाक्षजं तेन कर्मद्वयं तत्प्रपञ्चः पुनः संविविच्योच्यते ।।२।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।१।।२।।

मरीचिः—अत्रावसरसंगत्या किं दृक्कर्म तथोदयास्तमययोरित्याद्यवशिष्टप्रश्नस्योत्तरभूत आरब्धोऽधिकारो व्याख्यायते । तत्र ग्रहणाधिकारोत्तराधिकाराणां पाताधिकारव्यतिरिक्तानां सर्वस्वभूतस्य दृक्कर्मण उत्पत्तिकारणं किं दृक्कर्मेति प्रश्नोत्तरभूतं स्रग्विण्याऽऽह—क्रान्तिवृत्तग्रहेति । तेन कारणेन । खेटोदयास्ते ग्रहस्य क्षितिजासक्तिस्थपोदयास्तकालयोः । क्षितिजासक्तिलक्षणेनोदयास्तयोरैक्यादेकवचनमिति ध्येयम् । दृक्कर्म । ग्रहच्छायान्धकारोक्तं कृतम् । ग्रहे संस्कृतम् । सूचितं कारणमाह—क्रान्तिवृत्तेत्यादि । यतो यत्कारणात् । यस्मिन्काले । क्रान्तिवृत्तग्रहस्थानचिह्नं क्रान्तिवृत्ते यत्र प्रदेशे ग्रहस्थानं तत्र बिम्बाभावात्कल्पितचिह्नं कुजे स्वदेशभूगर्भक्षितिजवृत्ते । समसूत्रतया सक्तं स्यात् । तस्मिन्काले । खेचरो ग्रहः । अयं बिम्बात्मकः । क्षितिजवृत्ते सक्तो न स्यात् । तथा च यदा ग्रहबिम्बं क्षितिजे भवति तदा तद्राश्यादिभोगचिह्नं क्रान्तिवृत्तस्थं न लगति । किंतु तत्प्रागपरभागो लगतीत्युदयास्तलग्नज्ञानार्थं ग्रहे दृक्कर्मसंस्करणमत एवोदयास्तकालयोर्नान्यत्रेति भावः । ननु सूर्योदये सूर्यतुल्यलग्नान्यथानुपपत्त्या यदा क्षितिजे सूर्यो लगति तदा क्रान्तिवृत्तस्थचिह्नमपीति कल्पनाद्ग्रहत्वाविशेषादितरेषामपीदं तुल्यमिति कथमेतदित्यत आह—स्वेषुणेति । स्वचिह्नक्षितिजासक्तिकाले ग्रहबिम्बं स्वेषुणा क्षितिजात् । उत्क्षिप्यते । ऊर्ध्वप्रवहमार्गे त्यज्यते । नाम्यते । अधस्त्यज्यते । वाकारः कालान्तरविषयव्यवस्थार्थकः । अन्यथोन्नामननामने विरुद्धत्वादेककालासंभवे कथं स्याताम् । तथा च सूर्यस्य तथात्वेऽपि चन्द्रादीनां विक्षिप्त(प्र)तया न तथात्रस्थानमेकरूपमिति भावः ।।१।।

ननु शरसत्त्वात्क्षितिजे यत्र ग्रहचिह्नस्थानं सक्तं तत्र ग्रहबिम्बं सक्तं मा भवतु । परं तु ग्रहचिह्नसक्तक्षितिजप्रदेशात्तद्वृत्त एव शरान्तरेण ग्रहबिम्बं सक्तं कुतो नेत्यतस्तदुत्तरं द्विधेति प्रश्नोत्तरं वदंस्तत्र विस्तृतविचारं स्रग्विण्या प्रतिजानीते—नैव बाण इति । ग्रहविक्षेपः क्षितिजवृत्ते न भवति । एवकारादुन्मण्डले निरक्षक्षितिजत्वान्न भवतीति शरस्य

समभ्रुवाभिमुखत्वासंभवादिति ध्येयम्। कुत इत्यत: कारणमाह–असाविति। ग्रहशर: कदम्बोन्मुख: क्रान्तिवृत्ताद्विक्षेपवृत्तावधि दक्षिणोत्तरान्तरस्य क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तराभिमुखस्य शरत्वात्। अत एव ग्रहबिम्बनामनोन्नामने द्विधोत्पन्ने इत्याह—तदिति। तस्य ग्रहबिम्बस्य उन्नामनं नामनम्। च: समुच्चये। क्षितिजात्। द्विप्रकारेण संभवति। तथा हि—उद्वृत्ताद्ग्रहबिम्बमुन्नामितं नामितं च भवति। स्वक्षितिजवृत्ताच्च नामितमुन्नामितं च भवतीति। ताभ्यां दृक्कर्मद्वयमुत्पन्नमित्याह—आयनमिति। तेन। उन्नामननामनयो: प्रत्येकं द्विधोत्पन्नत्वेनेत्यर्थ:। कर्मद्वयं दृक्कर्मणो द्वैविध्यं सिद्धम्। ते संज्ञया विभजते—आयनमिति। उद्वृत्तादुन्नामननामनाभ्यामुत्पन्नं दृक्कर्म आयनदृक्कर्म। क्षितिजादुन्नामननामनाभ्यामुत्पन्नं दृक्कर्म आक्षदृक्कर्म। क्षितिजस्याक्षांशसंबन्धात्। च: समुच्चये। नन्वनयोर्विवेकेन स्वरूपं न निरूपितमित्यत आह—तत्प्रपञ्च इति। तयोरायनाक्षदृक्कर्मणो: प्रपञ्च: स्वरूपगणितादिविचार: पुनर्विशेषतया संविविच्य भिन्नभिन्नतया तद्विचारं निश्चित्य मया उच्यते प्रतिपाद्यते ॥२॥

केदारदत्त:—ग्रह बिम्बदर्शन कब और कैसे होता है—

क्रान्तिवृत्त में जिस समय ग्रह स्थान की राश्यादि क्षितिज में उदित होती है तो उस समय ग्रहबिम्ब क्षितिज में नहीं रहता। ग्रह अपने शराग्र में कदम्बवृत्ताभिमुख है, इसलिये ग्रह स्थान के उदय शर से पहिले या बाद में आयन और आक्ष संस्कारों से संस्कृत ग्रह की स्थानीय राश्यादि जनित काल (समय) के पूर्व या पश्चात् में ग्रह बिम्ब का क्षितिज में दर्शन होता है। इसलिये यहाँ पर भी ग्रह स्थानीय राश्यादि बिन्दु में पुन: आयन और आक्ष दृक्कर्म संस्कार आवश्यक हो जाते हैं। क्योंकि दक्षिणोत्तर गमन सम्बन्ध से ग्रह बिम्ब क्षितिज के नीचे या क्षितिज के ऊपर रहेगा, भले ही ग्रह स्थान गणित से क्षितिज में है, किन्तु दर्शन तो ग्रह बिम्ब का ही अपेक्षित है।

उपपत्ति:—यत: ग्रहबिम्बोपरिगत कदम्ब प्रोतवृत्त का क्रान्तिवृत्त के साथ जो सम्पात है वही ग्रह का राश्यादि स्थान है। स्थान के उदय के साथ ग्रह का उदय नहीं होगा क्योंकि ग्रह शराग्र में अपने विमण्डल में कदम्बाभिमुख है, यदि क्षितिजवृत्त कदम्बाभिमुख होता तो भी ग्रह का स्थान और ग्रह बिम्ब का एक समयावच्छेदेन उदय होना निश्चित है। जैसे क्षेत्र दर्शन से।

विमण्डलस्थ ग्रह बिम्ब पर कदम्ब प्रोतवृत्त क्रान्ति वृत्त के साथ क्षितिजस्थ स्था, विन्दु पर संयोग हो रहा है, अर्थात् ग्रह स्थान क्षितिज में होने से दृष्टिगत है, तो ग्रह बिम्ब, जो क्षितिज के नीचे ग्रह विन्दु है अभी उदित नहीं हुआ है। क्योंकि ग्रह बिम्ब स्था वि; शराग्र में अभी नमित है। इसलिये स्था विन्दु के उदय होने के पूर्व या पश्चात् में अर्द्धोदित ग्र बिंदु दृश्य होगा। इसलिए नमित ग्रह की क्षेत्रादि समुत्पन्ना

परिणत नाडी वृत्तीय काल के अनन्तर या पूर्व में ही ग्रह बिम्ब दृग्गोचर होगा स्पष्ट है । क्षेत्र देखिये—
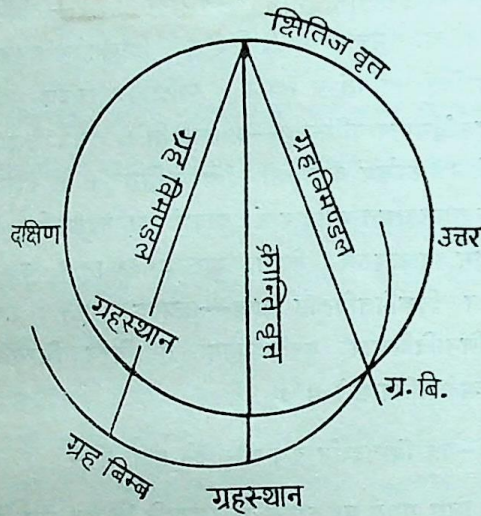
उत्तर दक्षिण गोल क्रम से शरकी उत्तर दक्षिण गोलीय स्थिति वश

ग्रबिम्ब = ग्र वि

ग्रह स्थान = ग्र स्था

क्षितिज वृत्त = क्षि. वृ.

अतः जब ग्र वि क्षि. वृ. में है तो ग्र स्था क्षितिज के नीचे एवं यदि ग्र स्था क्षितिज में है तो ग्र वि क्षितिज के नीचे स्पष्ट है ।।१।।२।।

अथ तत्कर्माऽऽह—

क्षितिजे वलने ये स्तस्तद्वशादिषुणा ग्रहः ।
याम्येन नाम्यते क्ष्माजात् सौम्येनोन्नाम्यते तथा ।।३।।
तद्व्यस्तं वलने याम्ये व्यस्तं प्रत्यक्कुजेऽप्यतः ।
आयनं त्रिज्यया चेत्स्यादस्पष्टेन शरेण किम् ।।४।।
लम्बज्यययाऽक्षजं चेत्स्याद्वलनं किं स्फुटेषुणा ।
इति त्रैराशिकाल्लब्धे त्रिज्याघ्ने द्युज्ययोद्धृते ।।५।।
तच्चापैक्यान्तरप्राणैः कुजात्खेटो नतोन्नतः ।
तैः प्राणैर्यत्क्रमाल्लग्नं नतात्खेटात्प्रजायते ।।६।।

उत्क्रमेणोन्नताद्यच्च तद्ग्रहोदयलग्नकम् ।
उक्तव्यत्ययतः प्रत्यगस्तलग्नं सषड्ग्रहात् ॥७॥
शरे महति भानां तु चरार्धं मध्यमापमात् ।
शरस्फुटात् तथा कृत्वा तच्चापैक्यान्तरासुभिः ॥८॥
विभिन्नैकदिशोर्विद्यादक्षजेन नतोन्नतम् ।
आयनाक्षजयोर्योगवियोगाल्लग्नमुक्तवत् ॥९॥

वा० भा०—अत्र गोले यथोक्तं क्रान्तिमण्डले विमण्डले च ग्रहं दत्त्वा विमण्डलस्थग्रहोपरि द्युज्यावृत्ते च बद्धे यथेयं दृक्कर्मोपपत्तिः सुखेन बालैरपि बुध्यते तथाऽयं सूत्रपाठः कृतोऽतः सुगमा । तथा ग्रहच्छायाधिकार इयमुपपत्तिः सम्यक् कथितैव ॥३॥४॥५॥६॥७॥८॥९॥

मरीचिः—अथ प्रतिज्ञातमनुष्टुभाऽऽह—क्षितिजे वलने इति। ग्रहचिह्नोदयकाले इत्यर्थः । ये । आयनाक्षसंज्ञे यन्मिते वलने भवतः तद्वशात् तदुभयवलनानुरोधेन विक्षेपेण दक्षिणेन क्षितिजात् ग्रहबिम्बं नाम्यते । सौम्येन विक्षेपेण । तथा वलनद्वयानुरोधादुन्नाम्यते । उदयलग्नार्थं दृक्कर्मकरणात्क्षितिजे इत्युक्तम् । अन्यकाले तत्साधनस्य वैयर्थ्यादिति ध्येयम् । उत्तरवलने कदम्बयोर्दक्षिणोत्तरयोः क्रमेण दक्षिणोत्तरध्रुवाभ्यामध ऊर्ध्वं संभवात्स्वसमाभ्यां च सुतरां संभवाद्विक्षेपाग्रस्थग्रहबिम्बस्य कदम्बोन्मुखत्वेन स्वक्षितिजादुत्तरदक्षिणशरक्रमेणोन्नामननामने भवत इति तात्पर्यम् ॥३॥

अथ दक्षिणवलने पश्चिमक्षितिजे च विशेषं दृक्कर्मकालानयनं त्रैराशिकपुरःसरं ताभ्यां ग्रहोदयकालिकलग्नज्ञानं ग्रहास्तकालिकलग्नज्ञानं चानुष्टुप्चतुष्केणाऽऽह—तद्व्यस्तमिति । तत्पूर्वश्लोकोक्तं दक्षिणवलने व्यस्तं विपरीतं ज्ञेयम् । आयनवलने दक्षिणे याम्यशरेण ग्रह उद्वृत्तादुन्नाम्यते । सौम्यशरेण ग्रहबिम्बं नाम्यते । दक्षिणोत्तरध्रुवाभ्यां क्रमेण दक्षिणोत्तरकदम्बयोरूर्ध्वाधःस्थत्वात् । आक्षवलने दक्षिणे तु याम्यशरेण स्वक्षितिजादुद्वृत्तस्थग्रह उन्नाम्यते इति शब्दार्थलभ्यम् । न गोलस्थितिलभ्यम् । समाभ्यां ध्रुवयोर्नियतत्वाद्दक्षिणोत्तरध्रुवयोः क्रमेण समाभ्यामुच्चावचत्वाभावात् । अतोऽस्मात् । उक्तात् । पश्चिमक्षितिजे व्यस्तं विपरीतं ज्ञेयम् । उक्तस्य पूर्वक्षितिजविषयत्वात् । अपिः समुच्चये । तथा चाऽऽयनवलने उत्तरे यदुक्तं दक्षिणशरेण ग्रह उद्वृत्तान्नाम्यते उत्तरशरेणोन्नाम्यते इति तत्पूर्वकपाले । पश्चिमे तु याम्यशरेणोन्नाम्यते । सौम्यशरेणोन्ना(ण ना)म्यते । ध्रुवकदम्बयोर्विपरीतस्थितेः संभवात् । आक्षवलने उत्तरे क्षितिजादुद्वृत्तग्रहो याम्यशरेण नाम्यते । सौम्यशरेणोन्नाम्यते इति पूर्वकपाले । पश्चिमे च याम्यशरेणोन्नाम्यते सौम्यशरेण नाम्यते इति शब्दलभ्यम् । न गोलस्थित्या । एवं दक्षिणायनवलने यदुक्तं तत्पूर्वकपाले । पश्चिमे तु तद्विपरीतम् । याम्यशरेणोद्वृत्ताद्ग्रहो नाम्यते सौम्यशरेणोन्नाम्यते

इति श्लोकोक्तम् । दक्षिणाक्षवलने शब्दलभ्यं पूर्वकपाले । तत्पश्चिमकपाले विपरीतं श्लोकोक्तं गोलस्थितिसिद्धम् । तेन स्वक्षितिजादुद्वृत्तस्थो ग्रहो दक्षिणोत्तरशरयोर्नामितोन्नामितो भवतीति तात्पर्यम् । अथोद्वृत्तान्नतोन्नतग्रहस्य तदन्तरकालानयनार्थमनुपातमाह—आयनमिति । आयनवलनज्या भुजस्त्रिज्या कर्णः षष्टिः, अस्फुटशरः कर्णः स्फुटशरः कोटिः । तन्मूलयोरन्तरे द्युरात्रवृत्त इति क्षेत्रद्वयस्य च्छायाधिकारव्याख्याने प्रतिपादितत्वात्त्रिज्यया श्रुत्या । आयनम् । आयनवलनज्या भुजश्चेद्यदि स्यात्तदाऽस्पष्टेन कदम्बाभिमुखेन शरेण कर्णेन किं भुजमानं लभ्यमित्यनुपातेन द्युरात्रवृत्ते तदन्तरालप्रदेशज्या । एवं स्वक्षितिजादुद्वृत्तस्थनतोन्नतग्रहस्य तदन्तरकालानयनार्थमनुपातमाह—लम्बज्ययेति । लम्बज्या कोटिः, त्रिज्या कर्णः । अक्षवलनज्या भुज इति च्छायाधिकारव्याख्यायां स्वल्पान्तरेण क्षितिजेऽक्षक्षेत्रस्य प्रतिपादितत्वाल्लम्बज्यया कोट्या । अक्षंज वलनम् । अक्षवलनज्या भुजश्चेद्यदि स्यात्तदाऽस्फुटेषुणा ध्रुवाभिमुखशरमितक्रान्तिज्याकोट्या किं भुजमानं लभ्यमित्यनुपातेन द्युरात्रवृत्ते कुज्या । अस्यास्तत्रैवाक्षदृक्कलासु ज्यात्वप्रतिपादनात् । अथ तदसुज्ञानार्थं तच्चापकरणमशक्यं त्रिज्यानुरुद्धज्यायास्तत्संभवादित्यत आह—इतीति । पूर्वोक्तानुपाताभ्यां त्रैराशिकात् । प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोः स्तः फलमन्यजातिः । मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत्स्यादिच्छाफलमित्युक्तानुपातविधेरागते फले त्रिज्यया गुणिते द्युज्यया भक्ते तयोः फलयोर्धनुषी तयोरैक्यम् । अन्तरम् । द्वयोरुन्नतत्वेन नतत्वेन वैकजातित्वे योगः । वैजात्येऽन्तरम् । अधिकशेषवशान्नतोन्नतसंबन्धि ज्ञेयम् । तत्तुल्यासुभिः स्वभूगर्भक्षितिजात् । ग्रहो बिम्बात्मकः स्वक्रान्तिवृत्तस्थचिह्नक्षितिजसंयोगकाले । नत उन्नतो वा भवति । तथा च द्युज्यानुपातेन तयोस्त्रिज्यानुरुद्धत्वात्तच्चापे सुशके । एतेनैव स्वक्षितिजाद्ग्रहबिम्बमुन्नतं नतं कियद्भिरसुभिर्भवतीत्याशङ्काऽपास्तेति भावः । उदयकालिकलग्नसाधनमाह—तैरिति । नतात्खेटात् । नतग्रहबिम्बस्य क्रान्तिवृत्तस्थराश्यादिभोगादित्यर्थः । तैः पूर्वोत्पन्नैर्नतासुभिः क्रमात् । क्रमलग्नप्रकारेण । यल्लग्नं सूक्ष्मं जायते । उन्नताद्ग्रहात् । उन्नतग्रहबिम्बस्य क्रान्तिवृत्तस्थराश्यादिभोगादित्यर्थः । पूर्वोत्पन्नोन्नतासुभिरुत्क्रमेण । विलोमलग्नसाधनप्रकारेण यल्लग्नं भवति तद्ग्रहोदयकालिकं लग्नं ज्ञेयम् । नतोन्नतग्रहस्य तत्कालादग्रिमपूर्वकाले क्षितिजसंलग्नतासंभवात्क्रमविलोमलग्नाभ्यां ग्रहप्रवहभ्रमहेतुकग्रहबिम्बोदयकालिकक्षितिजसंलग्नक्रान्तिवृत्तप्रदेशज्ञानक्रान्तिवृत्तस्थग्रहचिह्नाद् भवत्येवेत्युपपत्तिः सुगमा । छायाधिकारे व्यक्ता च । अथ ग्रहास्तकालिकलग्नसाधनमाह—उक्तव्यत्ययत इति । प्रत्यक् । पश्चिमक्षितिजादुक्तदिशा ग्रहबिम्बस्य साधितनतोन्नतकालादित्यर्थः । उक्तात् । नतोन्नतकालक्रमेण क्रमविलोमलग्नसाधनात् । व्यत्ययो विपरीतम् । नतोन्नतकालक्रमसिद्धविलोमक्रमलग्नसाधनं तेनेत्यर्थः सषड्ग्रहात् । षड्राशियुक्तग्रहाद्यल्लग्नं तद्ग्रहास्तकालिकं लग्नं ज्ञेयम् । पूर्वक्षितिजात्पश्चिमक्षितिजे विपरीतत्वाद्व्यक्तोपपत्तिश्छायाधिकारे प्रतिपादिता । इदं दृक्कर्मगणितजातं तत्रैव विस्तरेण सवासनं व्याख्यातमतोऽत्र मूलानुरोधात्संक्षेपेण व्याख्यातमिति मन्तव्यम् ॥४॥५॥६॥७॥

ननु स्पष्टेषुरक्षवलनेन हतो विभक्तो लम्बज्ययेत्यनेन ग्रहच्छायाधिकारे आक्षदृक्कर्मण: स्थूलं प्रकारान्तरमुक्तं तत्कथमत्र स्वरूपनिरूपणे वक्तुमुचितम्। सूक्ष्मप्रकारनिरूपणस्य तत्रोचितत्वादतोऽनुष्टुभ्यामाह—शरे महतीति। महति शरे संनिवेशितानां भानां नक्षत्राणाम्। महाशरसंबन्धिनक्षत्राणामित्यर्थ:। तुकाराद्वक्ष्यमाणाक्षदृक्कलास्वानयनप्रकारेणाऽऽक्षदृगसव: साध्या:। न पूर्वोक्तप्रकारेण। ग्रहाणामल्पशरनक्षत्राणां च स्वल्पशरत्वात्पूर्वोक्तप्रकारेणापि सुखार्थं साध्या इत्यर्थ:। अत एव चन्द्रपरमशराधिकशरत्वं महत्त्वं शरस्येति केचित्। तदाह—चरार्धमिति। मध्यमापमात्। नक्षत्रोक्तध्रुवकात्साधिताया: सूर्यवत्क्रान्तिज्याया इत्यर्थ:। शरस्फुटात्। शरसंस्कृतक्रान्त्यंशरूपस्पष्टक्रान्तेर्ज्याया: पृथक्। प्रत्येकं चरार्धमुक्तरीत्या चरकालं कृत्वा प्रसाध्य तयोश्चरयोर्विभिन्नैकदिशोर्भिन्नदिशयोरभिन्नदिशयोर्वा क्रमेण योगोऽन्तरम्। तत्तुल्यासुभि:। अक्षजे। आक्षदृक्संबन्धे नतोन्नते। नतमुन्नतं चोक्तदिशा गणको विद्यात्। तुकारादायनदृगसवस्तूक्तप्रकारेणैव सूक्ष्मत्वादिति सूचितम्। तथा च लघुभूतप्रकारेण ग्रहाणां साध्या इत्यभिप्रायेणोक्तं न स्वरूपतस्तत्त्विदमेव ग्रहच्छायाधिकारोक्तप्रथमप्रकारात्मकमिति भाव:। ननु नक्षत्राणामुदयास्तलग्ने कथं पूर्वोक्तप्रकारेण साध्ये। अयनदृक्कर्मसंस्कृतनक्षत्रध्रुवकाणां सत्त्वाद्भिन्नतयाऽऽयनदृगसूनामज्ञानादुभयसंस्कारजनितोन्नतनतकालज्ञानाभावादत आह—आयनाक्षजयोरिति। यद्यपि ग्रहच्छायाधिकारोक्तध्रुवेभ्य आक्षदृङ्नतोन्नताभ्यामुदयास्तलग्ने भवतस्तथाऽप्ययनांशाभावकालिकायनदृक्कर्मसंस्कारात्सान्तरत्वमत: सूक्ष्मसिद्धयर्थे नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारोक्तप्रकारेण केवला ध्रुवका: साध्यास्तेभ्य उक्तदिशाऽऽयनदृगसव: कार्या इत्ययनाक्षजयोर्दृगस्वोरुक्तदिशा योगादन्तराद्वा पूर्वोक्तप्रकारेण केवलध्रुवकादुदयास्तलग्ने सूक्ष्मे साध्ये इति न क्षति: ॥८॥९॥

केदारदत्त:—दृक् योग्य ग्रह संस्कार, अर्थात् ग्रहस्थान से ग्रहबिम्ब तक का अन्तर ग्रह का शर होता है—

क्षितिज में पूर्व साधित आक्ष और आयन वलन संस्कृत स्पष्ट वलन काल से अन्तरित समय में, यदि याम्य शर है तो शराग्र में नमित नीचे झुका हुआ, और उत्तर शर में क्षितिज से ऊपर उठा हुआ शराग्र स्थित ग्रह बिम्ब दर्शन योग्य होता है। इसका विपरीत (व्यस्त) याम्य वलन में पश्चिम क्षितिज में ग्रह स्थान के पूर्व और पर में ग्रह बिम्ब दर्शन योग्य होता है।

उपपत्ति से—

$$\frac{\text{स्पष्ट शर} \times \text{आयन वलनज्या}}{\text{त्रि} = \text{स्त्रुज्या वृत्त में} = \text{अ}}$$

$$\text{तथा,} \quad \frac{\text{आक्ष वलन} \times \text{स्फुट शर}}{\text{ज्यालं}} = \text{द्युज्या वृत्त में} = \text{क}$$

पुनरनुपात से त्रिज्यावृत्तीय वलन

$$\frac{\text{अ} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}} \text{ तथा } \frac{\text{क} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु}} = \text{क}$$

दोनों का संस्कार स्पष्ट वलन काल होता है। संस्कार = स्पष्ट वलन उक्त भाँति संस्कार से लब्ध प्राणों (असुओं) से क्षितिजस्थ ग्रह स्थान से ग्रहबिम्ब नत या उन्नत रहता है।

सूर्य स्पष्ट = सू। इष्टकाल = स्पष्ट वलनासु से नत ग्रह से जो क्रम लग्न, और उन्नत ग्रह से जो उत्क्रम लग्न होती है वही ग्रहोदय लग्न होती है।

इस क्रम का व्यस्त गणित, सू + ६ राशि से जो लग्न वह पश्चिमस्थ ग्रहबिम्ब दर्शनार्थ होता है।

ग्रहों के लघु शर में उक्त गणित ठीक हो जाता है। यदि शर अधिक है तो मध्यम क्रान्ति से शर को स्पष्ट शर बना कर उक्त गणित करना चाहिए। तद्वशेन साधित आयनांश व वलनासुओं से ग्रह स्थान से ग्रह बिम्ब को नतोन्नत समझ कर आयनाक्ष वलन के योग वियोग संस्कृत काल में उक्तवत् लग्न साधन द्वारा ग्रह बिम्ब दर्शन समय ज्ञात करना चाहिए ॥३–९॥

अथ शरस्य स्पष्टीकरणमाह—

सत्रिराशिग्रहद्युज्यानिघ्नस्त्रिज्योद्धृतः शरः।
स्फुटोऽसौ क्रान्तिसंस्कारे दृक्कर्मण्यक्षजे तथा ॥१०॥

वा० भा०—अयं संक्षिप्तो गौणप्रकारः। मुख्यस्तु पूर्वं व्याख्यात एव। तथाऽपीह युक्तिमात्रमुच्यते। विषुवद्वृत्तात्क्रान्तिर्ध्रुवाभिमुखी। क्रान्त्यग्राच्छरः कदम्बाभिमुखः। कथं तेन तिर्यक्स्थेन सा संस्कार्या। अतः क्रान्त्यग्रे यद्द्युज्या-वृत्तं तस्य शराग्रस्य च यदन्तरमृजु तेन संस्कृता सतो स्फुटा भवति। तच्चान्तरं कोटिरूपम्। शरः कर्णरूपः। तद्वर्गान्तरपदं द्युज्यावृत्ते भुजः। एतत्त्र्यस्रं दिग्व-लनजत्र्यस्रसंभवम्। तत्र सत्रिराशिग्रहक्रान्तिः कदम्बध्रुवसूत्रयोरन्तरम्। तज्ज्या भुजः। तद्द्युज्या कोटिस्त्रिज्या कर्णः। यदि त्रिज्ययेयं कोटिस्तदा शरेण केत्युप-पद्यम्। कोटिरूपस्यैव शरस्य ध्रुवोन्मुखस्य ज्ययाऽक्षजं दृक्कर्म कर्तुं युज्यते। शेषोक्तिः स्पष्टार्था ॥१०॥

मरीचिः—ननु ग्रहच्छायाधिकारे स्पष्टो भवति नियतं क्रान्तिसंस्कारयोग्य इत्यनेन स्पष्टशरस्य क्रान्तिसंस्कारोपयुक्तमात्रत्वोक्तेः कथमाक्षदृक्कर्मणि तदङ्गीकार इत्यतोऽनुष्टु-भाऽऽह—सत्रिराशिग्रहेति। शरः गणितागतो मध्यमशरः कदम्बाभिमुखः, त्रिराशियुतग्रह-स्य द्युज्यया गुणितस्त्रिज्यया भक्तः स्फुटः शरो ध्रुवाभिमुखो भवति। क्रान्तिवृत्तस्थग्रह-चिह्नाद्विक्षेपवृत्तग्रहबिम्बस्य यदन्तरं कदम्बाभिमुखं तत्क्रान्तिवृत्तात्कदम्बस्य नवत्यंशान्तरि-

तत्वात्त्रिज्यानुरुद्धमत क्रान्तिवृत्तस्थग्रहचिह्नादासन्नध्रुवस्य द्युज्याचापांशान्तरितत्वाद्ध्रुवाभिमुखतदन्तरसिद्ध्यर्थं द्युज्यापरिणतः शरः स्फुटो भवतीति तात्पर्यम् । न चैवं सत्रिराशिग्रहद्युज्यानुपातोक्तिः कथमुपपन्नेति वाच्यम् । ग्रहच्छायाधिकारे त्रिज्यावर्गादित्याद्युक्तस्पष्टशरसाधनस्योपपत्तावायनवलनज्याभुजास्त्रिज्याकर्णस्तद्वर्गान्तरपदं ध्रुवाभिमुखा यष्टिः कोटिरिति क्षेत्रादायनवलनस्य प्राचीनमते सत्रिभग्रहक्रान्तितुल्यत्वात्तज्ज्यावर्गोनत्रिज्यावर्गपदरूपयष्टेः सत्रिभग्रहद्युज्यात्मकत्वादुक्तमुपपन्नमिति प्रतिपादनात् । ततः किमाशङ्काया उत्तरालाभादत आह—असाविति । स्पष्टशरः क्रान्तिसंस्कारे । क्रान्तिसंस्कारार्थं स्पष्टक्रान्तिसिद्ध्यर्थमिति यावत् । अक्षजे दृक्कर्मणि । आक्षदृक्कलासाधनार्थम् । तथा उपयुक्तः । क्रान्तिध्रुवाभिमुखत्वात्स्वक्षितिजादृक्षायनग्रहचिह्नसक्ताद्ग्रहबिम्बस्पष्टशरान्तरेण ध्रुवाभिमुखनमनोन्नमनाच्चोभयत्र स्पष्टशरोपयोगः । नियतं क्रान्तिसंस्कारयोग्य इत्यनेन तत्राऽऽवश्यकतोक्त्याऽन्यत्र तन्निरासससिद्धिश्चेति भावः ॥१०॥

केदारदत्तः—शर का स्पष्टी करण बताया जा रहा है—

नाडी वृत्त से स्पष्ट क्रान्ति ध्रुवाभिमुख ध्रुव प्रोत वृत्त में शर संस्कार से होती है । किन्तु शर कदम्बप्रोतवृत्त में कदम्ब तारा के अभिमुख होता है यह मध्यम शर है । शर और मध्यम क्रान्ति की स्थिति एकवृत्तीय धरातल में नहीं होने से दोनों को एक वृत्तीय धरातल में लाया जा रहा है । सत्रिभग्रहराशि क्रान्ति = ध्रुवकदम्ब सूत्रों का अन्तर होता है । सत्रिभरा = भुज, एवं सत्रिभरा की द्युज्या = भुज, त्रिज्या = कर्ण

अतः, $\frac{\text{कोटि} \times \text{शर}}{\text{त्रि}}$ = कोटि रूप शर की ध्रुवोन्मुखी ज्या से हो आक्षदृक्कर्म गणित समीचीन होता है ॥१०॥

अथ ब्रह्मगुप्तादिभिः किं स्पष्टो नोक्त इत्याशङ्क्याऽऽह—

ब्रह्मगुप्तादिभिः स्वल्पान्तरत्वान्न कृतः स्फुटः ।
स्थित्यर्धपरिलेखादौ गणितागत एव हि ॥११॥
नक्षत्राणां स्फुटा एव स्थिरत्वात्पठिताः शराः ।
दृक्कर्मणाऽऽयनेनैषां संस्कृताश्च तथा ध्रुवाः ॥१२॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥११॥१२॥

मरीचिः—ननु ब्रह्मगुप्तोक्तं निरूपणीयमिति त्वन्नियमात्स्पष्टशरस्त्वया कथमङ्गीकृतः । स्पष्टशरस्य ब्रह्मगुप्तानुक्तत्वादित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—ब्रह्मगुप्तादिभिरिति । ब्रह्मगुप्तादिभिर्ब्रह्मगुप्तलल्लश्रीपतिभट्टाचार्यैः स्वल्पान्तरत्वात् । यथागतशरस्फुटशरयोरल्पान्तरत्वदर्शनादित्यर्थः । स्फुटः शरः । न कृतः स्वग्रन्थे नोक्तः । ननु तदप्रसिद्ध्या तदनुक्तिः । तथा च स्वल्पान्तराङ्गीकारात्तत्संमत्यैव मयाऽङ्गीकृतो वस्तुरूपत्वाच्चेति भावः । ननु

स्वल्पान्तरत्वेऽपि पदार्थतत्त्वनिरूपणात्मकसिद्धान्तग्रन्थे स्पष्टशरकथनं तेषामप्यावश्यकमन्यथा तदुच्छेदापत्तिरत आह—स्थित्यर्थेति । हि । यतः । स्थित्यर्धपरिलेखादौ । मध्यस्फुटस्थित्यर्धानयने ग्रहणपरिलेखक्रियायाम् । आदिपदाद्ग्रासेष्टग्रासानयनायनदृक्कर्मादीनां संग्रहः । गणितागतः कदम्बाभिमुखः शरः । एवकारात्स्फुटशरमिति स्फुटशरस्य निरासः । उपयुक्तः । तथा चोक्तं बहुस्थलेषु कदम्बाभिमुखशरस्य वस्तुभूतत्वाद्ध्रुवाभिमुखस्पष्टशरस्य क्रान्तिसंस्काराक्षदृक्कर्मणोरेव वस्तुभूतत्वादबहूपयोगात्स्पष्टशरानुक्तिः । स्वल्पान्तरेणापि गणितक्रियालाघवसंभवादिति भावः ॥११॥

ननु ब्रह्मगुप्तादिसिद्धान्ते स्फुटशरकथनाभावाद्ब्रह्मगुप्तोक्तनक्षत्रशरा अस्फुटास्त्वदुक्तनक्षत्रस्फुटशरतुल्याः कथं संभवन्ति । किंचिदप्यन्तरसंभवापत्तेरतोऽनुष्टुभाऽऽह—नक्षत्राणामिति । ब्रह्मगुप्तादिभिर्नक्षत्राणां स्थिरत्वात्पूर्वगतेरभावाद्ये शराः पठिताः । ते । स्फुटाः । ध्रुवाभिमुखाः । एवकारात्तेषां कदम्बाभिमुखत्वं निरस्तम् । तथा च मदुक्तनक्षत्रस्पष्टशराणां ब्रह्मगुप्तोक्तनक्षत्रशरतुल्यत्वे क्षतिर्नेति भावः । ननु नक्षत्रध्रुवाणामायनदृक्कर्मसंस्कारनिमित्तं मध्यमशराः कदम्बाभिमुखा अपि पृथक्किं तैर्नोक्ता अतः आह—दृक्कर्मणेति । एषां नक्षत्राणाम् । ध्रुवाः । आयनेन दृक्कर्मणा संस्कृताः सन्तः सिद्धा एव । चकारात्स्थिरत्वादित्यर्थः । तथा । ब्रह्मगुप्तादिभिः पठिताः । तथा च नक्षत्राणामायनदृक्कर्म पुनःसंस्कारस्यानुचितत्वात्तदुपजीव्यकदम्बाभिमुखशरकथनं व्यर्थमेवेत्युपेक्षितम् । नक्षत्रस्पष्टक्रान्त्यर्थमाक्षदृक्कर्मार्थं च स्पष्टशरस्यैवोपयोगादिति भावः ॥१२॥

केदारदत्तः—ब्रह्मगुप्ताचार्य ने शर की स्फुटता नहीं की—मध्यम और स्पष्ट शर में अत्यन्त अल्प अन्तर पड़ने से आचार्य ब्रह्मगुप्त ने कदम्बप्रोतीय शर की स्पष्टता नहीं की है ।

ग्रहण की स्पर्श मोक्ष आदि स्थिति में भी गणितागत कदम्बाभिमुख शर को ही ग्रहण किया है । तथा नक्षत्रों की स्थिर स्थिति होने से नक्षत्रों का भी ध्रुवप्रोतीय शर ब्रह्मगुप्त ने पढ़ा है । कदम्बध्रुव के अत्यल्पान्तरित दूरी से फल में स्वल्पान्तर दोष को दोष नहीं माना जाता है ॥११॥१२॥

यहाँ पर आचार्य भास्कर की ब्रह्मगुप्ताचार्य पर विशेष आस्था स्पष्ट हो रही है ।
अथ सदूषणानुपहसन्नाह—

क्रान्तिसूत्रे शरं केचिन्मन्यन्ते ते कुबुद्धयः ।
यद्येवमायनं तैश्च दृक्कर्मान्यैश्च किं कृतम् ॥१३॥

किं स्पष्टे वालने सूत्रे दत्तो मध्यशरश्च तैः ।
कोटिवद्वालनात्सूत्रात्स्पर्शमुक्तिशरौ च किम् ॥१४॥

किंच कृत्वा शरं कोटिं स्थित्यर्धानयनं कृतम् ।
तादृक् चेत्स शरस्तेन नानुपातेन सिध्यति ॥१५॥

वा० भा०—यदि क्रान्तिसूत्रे शरस्तदा ध्रुवाभिमुखः स्यात् । निरक्षदेशे क्षितिजस्थो ध्रुवः । ध्रुवाभिमुखशराग्रस्थो ग्रहः क्षितिजं न त्यजति । नामनोन्नामना भावात् । किं तत्राऽऽयनदृक्कर्मणा । अथवाऽऽचार्यैः कृतं ये न मन्यन्ते तैरपि कृतं भ्रान्तत्वात् तथा परिलेखे बिम्बमध्यात्स्पष्टवलनाग्रोपरिगतं सूत्रं क्रान्तिवृत्तप्राची। तस्याः कोटिवच्छरः किं दत्तः । तत्पक्षे ध्रुवसूत्रे नेयः शेषं स्पष्टम् ॥१३॥१४॥१५॥

मरीचिः—अथ ब्रह्मगुप्ताद्यनुक्तस्पष्टशरानयने स्वल्पान्तरसमाधानासहिष्णूनां ब्रह्मगुप्तानुसारिणां केषांचित्समाधानमनूद्यानुष्टुभा दूषयति—क्रान्तिसूत्र इति । ये केचिद्ब्रह्मगुप्तानुसारिणो मदुक्तस्पष्टशरानयनासहिष्णवः क्रान्तिसूत्रे । विषुवद्वृत्ताद्ध्रुवाभिमुखे सूत्रे । न तु क्रान्तिवृत्तात्कदम्बाभिमुखसूत्रे । मतभेदानुपपत्तेः । शरम् । अनुपातागतम् । ब्रह्मगुप्तादिसंमतं मन्यन्ते । यथा विषुवद्वृत्तात्क्रान्तिवृत्तपर्यन्तं ध्रुवाभिमुखी क्रान्तिस्तथा क्रान्तिवृत्ताद्विक्षेपवृत्तपर्यन्तमन्तरं शरो ध्रुवाभिमुखो गणितागत इत्यङ्गीकुर्वन्ति । तेन च मदुक्ततत्समाधानस्पष्टशरसाधने न युक्ते इति द्योतयन्ति । कुबुद्धयः । अल्पबुद्धयः । पदार्थतत्त्वाज्ञाः । तथा च तदुक्तमतत्त्वान्नाङ्गीकार्यमिति भावः । ननु त्वया पूर्वग्रन्थे वस्तुतत्त्वाप्रतिपादनं मत्वा स्वल्पान्तरमित्यवस्तुभूतं समाधानमुक्तं तैश्च तदुक्तस्य वस्तुतत्त्वेन प्रतिपादनाद्दोषाप्रसङ्गात्प्रत्युत त्वदुक्तस्पष्टशरानयनस्य तदुक्त्या व्यर्थत्वाच्चेति कथं ते कुबुद्धय इत्यतो दूषणमाह—यदीति । एवं तदुक्तं सम्यक् । यदि चेदङ्गीक्रियते । चकारस्त्वर्थः । अन्यैः । ब्रह्मगुप्तादिभिः । चकारादार्षोक्तमायनं दृक्कर्म । कृतं स्वग्रन्थे उक्तं तैः तादृशसमाधानकर्तृभिः किं किमर्थमङ्गी क्रियते इत्यर्थः । तन्मते आयनदृक्कर्माङ्गीकरणमयुक्तम् । उन्मण्डले ग्रहचिह्नसंबन्धिकाले शरस्य ग्रहाभिमुखत्वाद्ग्रहबिम्बसंबन्धेन ततस्तस्य नमनोन्नामनाभावादायनदृक्कर्मानुत्पत्तिस्ततो ब्रह्मगुप्तादिग्रन्थे शरस्य ध्रुवाभिमुखत्वेनानुक्तिदर्शनान्मदुक्ततदाशयेनाऽऽयनदृक्कर्मप्रतिपादनमविरुद्धमन्यथा तत्प्रतिपादनानुपपत्तेरिति भावः ॥ १३ ॥

ननु ग्रहचिह्नाद्ग्रहबिम्बस्य ध्रुवाभिमुखशराग्रे स्थित्यभावात्कदम्बाभिमुखशराग्रे सत्त्वात्संपातग्रहचिह्नादनुपातानीतशरस्याऽऽयनग्रहचिह्नध्रुवाभिमुखस्याग्रे ग्रहबिम्बसद्भावाभ्युपगमान्मन्मतेऽप्युक्तमायनदृक्कर्माविरुद्धम् । न चैवं ग्रहचिह्नग्रहबिम्बान्तरकदम्बाभिमुखशरेणैवाऽऽयनदृक्कर्मोत्पत्तेर्गणितागतशरादुक्तं तत्साधनमसंगतमिति वाच्यम् । स्वल्पान्तरत्वादित्यस्वरसाद्दूषणान्तरमनुष्टुभाऽऽह—किं स्पष्ट इति । तैः । ब्रह्मगुप्तानीतशरं ध्रुवाभिमुखत्वेन मन्यमानैरित्यर्थः । स्पष्टवलने सूत्रे ग्रहणपरिलेखे मानैक्यखण्डवृत्ते ब्रह्मशरदिक्चिह्नाद्दक्षिणोत्तररेखातोऽर्धज्याकारेण मध्यकालिकमानैक्यखण्डवृत्तपरिणतस्प-

ष्टवलनं दत्त्वा तदग्रसंबन्धिमानैक्यखण्डपरिधिप्रदेशाद्ग्राह्यवृत्तकेन्द्रपर्यन्तं या रेखा तत्रै-त्यर्थः । मध्यशरः । मध्यग्रहणकालिकशरः किमर्थं दत्तः । त्वन्मते तथा शरदानमसंगतम् । मध्यकालिकवलनाग्रसूत्रस्य क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तररूपत्वेन कदम्बाभिमुखत्वादुक्तशरस्य ध्रुवाभिमुखस्य तत्र दानासंभवात् । ग्राह्यकेन्द्राद्ध्रुवाभिमुखसूत्रकल्पनेन तद्दानकथनापत्ते-श्चेति भावः । चकारादुक्तायनदृक्कर्मसमर्थने आयनदृक्कर्मसाधनार्थं शरस्य त्वया स्वल्पा-न्तरत्वं मयाऽऽक्षदृक्कर्मणोति प्रतिबन्ध्याः सत्त्वेऽप्येतद्दूषणं हठाद्दत्तं प्रतिबन्द्या अनुत्तर-त्वादिति सूचितम् । द्वितीयं दूषणमाह—कोटिवदिति । वलनात्सूत्रात् । चकारः स्पर्श-मोक्षकालिकवलनसंबन्धिग्राह्यकेन्द्राभिमुखरेखाद्वयादिति व्यवस्थार्थकः । स्पर्शमोक्षकालिक-शरौ । क्रमेण कोटिवदर्धज्याकारेण कुतो दत्तौ । त्वन्मते तथा तद्दानमनुचितम् । तद्वलनाग्र-सूत्रस्य क्रान्तिवृत्तानुकारत्वात्तद्दक्षिणोत्तरार्धज्यारेखायाः कदम्बाभिमुखत्वेनोक्तशरदानानु-पपत्तेः । वलनसूत्राद्ध्रुवाभिमुखत्वेन कल्पितऋजुरेखाकारेण तद्दानकथनापत्तेश्चेति भावः । ग्रहणपरिलेखोक्तशरदानकथनानुपपत्तिरूपत्वेन श्लोकार्थस्य फलितत्वाच्छ्लोकोक्तदूषण-मेकमेव । न तु द्वयं त्रयं वेति ध्येयम् ॥ १४ ॥

ननु ग्रहणस्य प्रत्यक्षत्वेन तत्संनिवेशस्य तत्त्वात्परिलेखस्य स्थूलत्वेनोपेक्षाविषयत्वा-दित्यस्वरसादाह--किंच कृत्वेति । शरं ब्रह्मगुप्तोक्तं कोटिं कृत्वा कल्पयित्वा चकारा-त्कोटेर्भुजकर्णसापेक्षत्वात्स्पर्शमोक्षकालिकशरमूलमध्यकल्पितशरमूलयोरन्तरं क्रान्तिवृत्तस्थं भुजं, मानैक्यखण्डं कर्णमिति क्षेत्रं कल्पयित्वेत्यर्थः । अत एव शरस्य कोटित्वद्दानं पूर्वश्लो-कोक्तं स्थित्यर्धानयनं कुत उक्तम् । भुजस्य क्रान्तिवृत्तस्थत्वात्तद्याम्योत्तरान्तररूपकदम्बा-भिमुखशरस्य भुजत्वसंभवादुक्तशरस्य भवन्मते ध्रुवाभिमुखत्वेन भुजत्वासंभवादुक्तं स्थित्य-र्धानयनमुपपन्नमिति भावः । न च क्रान्तिसंस्काराक्षदृक्कर्मभिन्नस्थले त्वदुक्तशरस्य स्थूलत्वे-ऽपि स्वल्पान्तरेणाङ्गीकारस्तत्र तु तस्य सूक्ष्मत्वमेवेति वाच्यम् । बहुषु स्थलेषु सान्तरत्व-कल्पनापेक्षया स्थलद्वये सान्तरत्वकल्पनस्य लघूभूतत्वान्मदुक्तसमाधानस्यैव युक्तत्वात् । ननु स्वतन्त्रस्य नियोगानर्हत्वात्तैर्गौरवमेवाङ्गीकृतम् । बहुषु स्थलेषु वस्तुभूतत्वकल्पना-पेक्षया स्थलद्वये तत्कल्पनस्य लघुभूतत्वेन च मदुक्तमेव सात्रनं युक्तं विनिगमनाविरहादि-त्यस्वरसाद्दृढं दूषणमाह—तादृगिति । शरो ब्रह्मगुप्तसंमतो गणितागतश्चेद्यदि तादृग् ध्रुवाभिमुखोऽङ्गीक्रियते । तर्हि सः । ध्रुवाभिमुखशरः । तेन । उक्तेन । अनुपातेन न सिध्यति । सिद्धो न भवतीत्यर्थः । चेदित्यनेन ब्रह्मगुप्तशरस्य कदम्बाभिमुखत्वेन उक्ता-नयनं सूपपन्नमिति सूचितम् । तथा च गोलयन्त्रस्थध्रुवद्वयप्रोतश्लथवृत्तेन ग्रहबिम्बवेधादव-गतध्रुवाभिमुखशरेण गणितानीतशरस्य तुल्यत्वानियमदर्शनादत एव क्रान्तिवृत्ताच्छरस्य याम्योत्तरत्वादुक्तानुपातेन कदम्बाभिमुखत्वसिद्धौ बाधकाभावः । ग्रहपातयोः क्रान्तिवृत्त-स्थत्वादिति भावः ॥ १५ ॥

केदारदत्तः—क्रान्तिसूत्र में शरकल्पना सदोष है—

कुछ आचार्य शर की सत्ता ध्रुवाभिमुख ध्रुव प्रोत में मानते हैं । यदि शर की

कल्पना ध्रुवाभिमुख की जाती है तो शराग्रस्थित ग्रह क्षितिज से नमित और उन्नमित ही होगा तो वहाँ आयनदृक्कर्म ही अनावश्यक है तो वे आचार्य दृश्यग्रह साधन में आयन-दृकर्म गणित का उपयोग क्यों करते हैं ? अर्थात् उन आचार्यों पर भास्कर का सही आक्षेप है ।

तथा परिलेख में बिम्ब मध्य से स्पष्ट वलनोपरि गत सूत्र क्रान्तिवृत्त प्राची होती है । तो उसमें कोटि की तरह शर दान की क्या आवश्यता थी, उन्हें तो यह शर दान संस्कार भी ध्रुव सूत्र में ही करना चाहिये था, ऐसी स्थिति में शर को मान कर स्थित्यर्धानयन जो किया गया वह तो ध्रुवाभिमुख शर मानने से कैसे स्पर्श मोक्षादि स्थिति ठीक होगी या होती हैं ? ॥१३॥१४॥१५॥

अथोत्क्रमज्यानिवृत्तिमाह--

दृष्टिकर्म वलनं च केनचिद्भ्रान्तितः कथितमुत्क्रमज्यया ।
तत्कृतं तदनुगैस्ततोऽपरैरन्धपूरुषपरम्परोपमैः ॥ १६ ॥
ब्रह्मगुप्तकृतिरत्र सुन्दरी साऽन्यथा तदनुगैर्विचार्यते ।
नोद्धता कृतिरथोद्धताऽस्तु वा मामिका सुगणका विचार्यताम् ॥१७॥

वा० भा०—अत्र ब्रह्मगुप्तकृतिः सुन्दर्यपि चतुर्वेदाचार्यैरन्यथा व्याख्याता। अथाऽऽत्मन औद्धत्याशङ्कां मत्वोक्तम् । हे सुगणका इयं मामिका कृतिर्नोद्धता । अथवाऽस्तूद्धता । सम्यग्विचार्यताम् । अत्र रथोद्धतेति च्छन्दोनामापि सूचितम् ॥१६॥१७॥

मरीचिः—स्यादेतत् । परं वलनवशादानीतदृक्कालौ त्वदुक्तौ कथं युक्तौ । वलनयोः क्रमज्याभ्यामुक्तत्वादेतयोरपि क्रमज्योत्पन्नत्वसिद्धेः । न चानन्तत्वमेतेन कुतोऽन्यथा क्रम-ज्यानीतानां सर्वेषामयुक्तत्वापत्तेरिति वाच्यम् । शैलाङ्कत्रिकुभिर्यथागतभुजज्योनां त्रिभज्या-हतां विक्षेपेण च वेदवेदवसुगोरूपाष्टरुद्रैर्भजेत् । तत्क्षेपायनयोर्विभिन्नककुभोलिप्तादिलब्धं धनं कर्तव्यं द्युचरे त्यजेत्समदिशोः स्यादायनः सग्रहः, ॥ इत्यनेन धीवृद्धिदग्रंथेलल्लेनोत्क्रम-ज्याऽऽनयदृक्कलानां विशेषत उक्तत्वात् । ग्रहभुजक्रमज्योनत्रिज्याया ग्रहकोट्युत्क्रमज्यात्वात्। न च यथागतभुजज्याशब्देन तद्भुजोत्क्रमज्या । तदूनत्रिज्यायाश्च ग्रहकोटिक्रमज्यात्वाल्ल-ल्लेन क्रमज्ययैवोक्तत्वान्न क्षतिरिति वाच्यम् । व्यस्तज्यामथवा ग्रहत्रययुजः क्षेपाहता-मुद्धरेद्भूपाङ्गाब्धिगजैर्ग्रहे धनमृणं कुर्यात्कुलायुक्तवदित्यनेन तदग्रे तेनैव स्पष्टमुत्क्रमज्यया तत्साधनोक्तेरित्यतो रथोद्धतयाऽऽह–दृष्टिकर्मेति । केनचित् । लल्लेन । वलनं वलनद्वय-साधनम् । भ्रान्तितः । भ्रमवशादुत्क्रमज्यया । आयनवलनं ग्रहकोट्युत्क्रमज्ययाऽऽक्षवलनं नतोत्क्रमज्ययेत्यर्थः । कथितमुक्तम् । चकारो यथातथेत्यन्ययद्वयपरः । दृष्टिकर्म । आयन-

दृक्कलात्मकम् । उत्क्रमज्यया । ग्रहकोटयुत्क्रमज्यया । भ्रान्त्योक्तम् । तथा च तदुक्तवलनस्य पूर्वमनेकधा खण्डितत्वात्तद्वलनानुरोधेनोक्तं दृक्कर्मापि खण्डितप्रायम् । मूलाशुद्धया तदविशुद्धेरिति भ्रान्तिजल्पितत्वात्तदुपेक्षणीयमिति भावः । नन्वेकोक्तस्य तथात्वं संभवति । न त्वनेकोक्तस्य तथात्वम् । अन्यथा अतिप्रसङ्गः । उत्क्रमज्यया दृक्कर्म त्वतिप्रसिद्धमनेकोक्तत्वात् । तथा च श्रीपतिः—विक्षेपसत्रिभखगोत्क्रमजाऽपमज्याघातो ग्रहत्रयगुणेन हृतः कलास्ताः । शोध्यास्तयोः समदिशोः भचरेषु देया भिन्नाशयोर्भवति दृग्विधिरेष पूर्वः । यद्वोत्क्रमज्यात्रिभसंयुतस्य रसघ्नविक्षेपहृता विभक्ता । त्रिचन्द्रवेदाभ्रशरैः कलाद्यं प्राग्वद्धनर्णं फलमायनाख्यम् । खनभोघृतिभिः समाहतं प्रथमं दृक्फलमायनाह्वयम् । द्युचराश्रितभोदयासुभिर्विहृतं स्पष्टमिह प्रजायते । इतीत्यत आह—तदिति । ततो लल्लोक्तानन्तरम् । अपरैस्तदन्यैः पुरुषैस्तदनुगैर्भ्रान्तलल्लोक्तमार्गानुसरणशीलैः । तत् । उत्क्रमज्योपजीव्यं दृक्कर्म । कृतं स्वग्रन्थे उक्तम् । तथा चानेकोक्तं प्रसिद्धमपि भ्रान्तोक्तमूलकत्वादसंगतमिति भावः । ननूपपत्तिविचारेण तदनुगानां ग्रन्थकर्तृत्वात्तैस्तथा कथमुक्तमित्यतोऽपरविशेषणमाह—अन्धपुरुषपरम्परोपमैरिति । अन्धा नेत्रद्वयरहिता ये पुरुषा मनुष्यास्तेषां या परंपरा । अतिसंलग्नतया पक्तिः सोपमा दृष्टान्ते येषामेतादृशैरित्यर्थः । तथा चान्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे । इति प्रसिद्धोक्तेः । शतमप्यन्धानां न पश्यतीति न्यायाच्च विचारविस्मरणशीलैस्तदुक्तं च तथेति भावः ।।१६।।

ननु लल्लादिभिस्त्वदुपजीव्यब्रह्मगुप्तोक्तानुरोधादेवोत्क्रमज्यया दृक्कर्म वलनं चोक्तमिति त्वदुक्तौ घृत्यपूर्वकं तद्दूषणं ब्रह्मगुप्तोक्तेः पर्यवसन्नम् । न त्वेवमुचितम् । तस्या भ्रान्तत्वात्तद्दूषणं च त्वयि तदनभिप्रायबोधकत्वं सूचयतीत्यत आह—ब्रह्मगुप्तकृतिरत्र सुन्दरा साऽन्यथा तदनुगैर्विचार्यते । नोद्धता कृतिरथोद्धताऽस्तु वा मामिका सुगणका विचार्यतामिति । अत्र । वलनदृक्कर्मविषये । ब्रह्मगुप्तकृतिः । प्राक्पश्चान्नतविषुवज्ज्यत्रोर्वघात्त्रिज्ययाऽऽप्तचापांशैः । उत्तरयाम्यैः पूर्वा विषुवद्वृत्ते त्रिभे ग्राह्या । सममण्डलाद्विषुवते ग्राह्यास्त्रिग्रहाधिकादुदग्याम्ये । क्रान्त्यंशैपरमण्डलपूर्वास्याश्चन्द्रविक्षेपः । एकान्यदिशोर्युतिवियुतेर्ज्याग्रग्रहणमध्यमोक्षेषु । वलनं निमीलनोन्मीलनेषु कालेऽवतोऽन्यदिशाम् । विक्षेपसत्रिराशिक्रान्तिवधे व्यासदलहृते लिप्ताः शोध्यास्तयोः समदिशोर्यद्यन्यदिशोर्ग्रहे क्षेप्या इति ब्रह्मगुप्तनिर्मितार्यापङ्क्तिः । सुन्दरी । समीचीना । तत्रोत्क्रमज्यया दृक्कर्मवलनयोरप्रतीतेः । गणितसाधारणोक्त्या केवलज्यापदेन तत्रापि क्रमज्यालाभादन्यथा सर्वत्रोत्क्रमज्याग्रहणापत्तेः । ननु तट्टीकाकारैश्चतुर्वेदाचार्यैरेतद्व्याख्यावसरे ज्यापदस्योत्क्रमज्यापरत्वेन विवरणात्कथमुच्यते तत्कृतिः सुन्दरीत्यत आह-सेति । तदनुगैर्ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तव्याख्यातृभिश्चतुर्वेदाचार्यैः सा वलनदृक्कर्मविषयिणी ब्रह्मगुप्तोक्तार्यापङ्क्तिः । अन्यथाप्रतीयमानार्थभिन्नार्थत्वेनोत्क्रमज्यात्वेनेत्यर्थः । विचार्यते । व्याक्रियते । तथा च हेतूपपादनं विना तद्व्याख्यायां मानाभाव उक्तदूषणाच्च तद्यथाश्रुतार्थे पावकाभावाच्चोक्तं न विरुद्धमिति भावः । अतः स्वानीद्धत्यं फलितमित्याह—नेति । मामिका ।

ममेयमित्यर्थः । कृतिः । पूर्वप्रणीतपद्यार्धरूपा । उद्धता । ब्रह्मगुप्तन्यक्कारविषयिणी । मदौद्धत्यसूचिका । न । नास्ति । ब्रह्मगुप्तोक्तस्य मदभिमतत्वात् । ननु तथाऽपि लल्लादि-पूर्वाचार्यन्यक्कारविषयत्वेनापि तवौद्धत्यमनुचितमत आह–अथेति । औद्धत्यपरिहारानन्तरमपि हठादौद्धत्यमापाद्यते तर्हीत्यर्थः । वा पक्षान्तरेण । कृतिरुद्धता । अस्तु तथा च तदुद्धतपदैः कृतेरुद्धतात्वं नार्थतः । तादृशोक्तेर्जगत्प्रसिद्धासंगतोत्क्रमज्यानिवारकत्वतात्पर्यात् । अन्यथा मत्संगतोक्तस्यैकदेशत्वेन सर्वेषां बहुसंमततयोत्क्रमज्याहेयत्वानुपपत्तेरिति भावः । ननु वलनदृष्टान्तेनोत्क्रमज्यानीतदृक्कर्मणोऽसंगतत्वमुक्तं न युक्तं तयोः परस्पराान्वयाभावात् । तथा चैकस्य तथैव भ्रान्तत्वं कल्प्यं लाघवान्न गौरवाद्बहूनामित्यत आह–सुगणका इति । हे सुगणकाः । पदार्थतत्त्वज्ञाः । द्वेषशून्याः । भवद्भिर्विचार्यताम् । मयि भ्रान्तत्वं तेषु वा भ्रान्तत्वमिति । तथा चोपपत्तिविचारेण भ्रान्तत्वं कल्प्यम् । लाघव-गौरवं चात्राप्रयोजके इति मदुक्तस्योपपत्त्या वस्तुभूतत्वनिर्णयान्ममाभ्रान्तत्वमिति भावः । रथोद्धतेति च्छन्दोऽपि सूचितम् । तत्पक्षे व्याख्यानं तु—अत्र सिद्धान्तेषु ब्रह्मगुप्तकृतिः सुन्दरा । आर्यात्मकत्वात् । गोवर्धनार्यावित् । सा । आर्यात्मिका कृतिः । तदनुगैर्ब्रह्मगुप्तानुगैः । आधुनिकैः । अन्यथा । असुन्दरा इति । विचार्यते । पठने आर्याः सुन्दरा न लगन्तीत्यर्थः । अतः कारणात् । मामिका । मदीया कृतिः । रथोद्धता । काव्य-तया रथोद्धता । नोद्धता । नगणेन । उत्कृष्टत्वेन मध्यमत्वेन । हता । अधिगता । मध्य-स्थत्वज्ञानायाऽऽह–सुगणो यस्माद्भवति । प्रस्तारेणोत्पन्न एतादृशा यो रगणस्तावुभयतो यस्यामित्यर्थः । एतादृशी । तदनुगैः । अन्तःस्थरगणादन्वनन्तरं योगः । गुरुः । उपलक्षणा-ल्लघुरपि । तेन लघोरल्पत्वाद्गुरोर्महत्त्वाच्चात्य(न्तः)स्थरगणानन्तरं लघुगुरुभ्यामित्यर्थः । बहुवचनं चरणबहुत्वात् । अत्र सिद्धान्ते । सुन्दराऽस्तु । 'रो नराविह रथोद्धता लगौ' इति वृत्तरत्नाकरोक्तलक्षणात् । नन्वार्या रथोद्धता वा सुन्दरेति न निश्चय इत्यत आह–वा विचार्यतामिति । वा पक्षान्तरे । छन्दस्तत्त्वज्ञैर्युष्माभिः । विचार्यताम् । अनुभवेन या सुन्दरा सैव सुन्दरेति ॥१७॥

केदारदत्तः—ब्रह्मगुप्त पर आस्था एवं चतुर्वेदाचार्य मत में अनास्था—

ब्रह्मगुप्त का कथन अत्यन्त सुन्दर होते हुये भी अन्य आचार्यों से उनका मत अन्यथा समझा गया है । दृक्कर्म और वलन गणित का साधन कुछ आचार्यों ने भ्रान्ति से उत्क्रम-ज्या-विधान से किया है । पुनः उत्तरवर्ती अन्य चतुर्वेदादि आचार्यों ने भी इन्हीं लल्लाचार्य की भ्रान्ति पर ध्यान न देकर उसी भ्रम को अग्रेसरित किया है । यही अन्धविश्वास परम्परा भास्कराचार्य तक चली आ रही है ।

मैंने "सिद्धान्ततः प्राप्त क्रमज्या विधान से आयनाक्ष वलन-दृक्कर्म जो किया है, वह सहृदय विद्वान् गणितज्ञों से मान्य होगा" ऐसी आशा है । या मेरा कथन भी औद्धत्य-पूर्ण है तो भी मान्य ग्रहगणितज्ञ विचार करेंगे ॥१६॥१७॥

अथ व्यभिचारमाह—

उत्क्रमज्याविधानेन दृक्कर्म वलनं तथा ।
यत्तैरुक्तं न तत्तथ्यं व्यभिचारोऽत्र कथ्यते ॥१८॥

जिनाल्पकाक्षांशगुणत्रिभज्याघातो जिनज्याविहृतोऽस्य चापम् ।
तेन त्रिभोनेन समः प्रतीच्यां प्राक्सत्रिभेण द्युचरः कुजे चेत् ॥१९॥
दृङ्मण्डलाकारतयाऽपवृत्तं तद्याम्यसौम्यं क्षितिजं तदा स्यात् ।
क्षिप्तोऽपि खेटः परमेषुणाऽत्र याम्योत्तरत्वात्क्षितिजं न जह्यात् ॥२०॥
दृक्कर्मसंभूतफलद्वयस्य नाशो भवेदत्र धनर्णसाम्यात् ।
नैवोत्क्रमज्याविधिनाऽत्र साम्यं दृक्कर्म कार्यं क्रमजीवयाऽतः ॥२१॥
तथैव नाशो वलनद्वयस्य साम्याद्दिगन्यत्ववियोजनेन ।
न साम्यमत्रोत्क्रमजोवया स्यात्क्रमज्ययोऽतो वलनं विधेयम् ॥२२॥

वा० भा०—यत्र चतुर्विंशतिभागेभ्योऽल्पोक्षस्तत्राक्षज्यात्रिज्ययोर्घातो जिनांशज्याभक्तः। फलस्य यावच्चापं तावतो भुजस्य क्रान्तिज्योत्तराक्षज्यासमा भवतीत्यर्थः। तद्यथा—अक्षांशाः २०। एषां ज्या १२१०। अस्यास्त्रिज्यागुणाया
३८
जिनज्याहतायाश्चापं राशिद्वयम् २। अनेन सत्रिभेण समो ग्रहो ५ यदा पूर्वक्षितिजे। अथवा वित्रिभेण ११ समः प्रत्यक्क्षितिजे ग्रहो भवति तदा वृषभान्तः सस्वस्तिके। अतो दृङ्मण्डलाकारं क्रान्तिवृत्तं स्यात्। अस्य क्रान्तिवृत्तस्य क्षितिजप्रदेशे क्षितिजमेव दक्षिणोत्तरं स्यात्। यतस्तदा कदम्बः क्षितिजे वर्तते। अतः क्षितिजस्थो ग्रहः परमेणापि शरेण कदम्बोन्मुखेन विक्षिप्तः क्षितिजं न त्यजति। क्रान्तिवृत्तग्रहस्थानमेवोदयलग्नं स्यात्। एवं दृक्कर्मफलयोर्धनर्णयोः साम्यं भवति। उत्क्रमज्याविधानेन तयोर्न साम्य स्यात्। अतः क्रमज्ययैव कर्तव्यम्। एवं तत्रैव वर्तमानस्यार्कस्य वलनाभावः। वलनयोर्भिन्नदिशोः साम्यात्। उत्क्रमज्यया नैव साम्यमित्यर्थः। अथ यत्खस्वस्तिकगे रवाविति श्लोकद्वयं पूर्वं व्याख्यातमेव ॥१८॥१९॥२०॥२१॥२२॥

मरीचिः—ननु तैरपि त्वदुक्तमुच्यते इति निर्णयः कथमवगन्तव्य इत्यतोऽनुष्टभाऽऽह—उत्क्रमज्येति। उत्क्रमज्याविधानेन। ग्रहस्य कोटयुत्क्रमज्याग्रहणेनेत्यर्थः। दृक्कर्मवलनं तथेति समुच्चयार्थकम्। उत्क्रमज्यातस्तदानयनम्। तैर्ल्लादिभिर्यदुक्तं स्वग्रन्थे तत्तथ्यं वस्तुभूतं न। कुत इत्यत आह—व्यभिचार इति। तत्र तदुक्तानयने। व्यभिचारः। गोलसिद्ध-

तन्मानभिन्नत्वम् । मया भास्कराचार्येण । कथ्यते । समनन्तरमेव निरूप्यते । तथा चोपपत्तिसिद्धव्यभिचारासंभवात्तदुक्तं व्यभिचाराक्रान्तत्वेनोपपत्त्यसिद्धमेवेति निर्णयः सिद्ध इति भावः । यद्यपि तदुक्तवलनस्य पूर्वमनेकधा खण्डितत्वात्तन्निराकरणं पुनरप्रयोजकं तथाऽपि पूर्ववलनदूषणानां कठिनत्वेन साधारणस्य संशयापत्तिवारणार्थं दृक्कर्मवक्ष्यमाणदूषणेनातिसुगमेन वलननिराकरणसंभवाद्वलनस्यापि पुनर्दृक्कर्मसंलग्नदूषणं दत्तम् । एतेन पूर्वोक्तवलनदूषणानि दृक्कर्मण्यप्रयोजनकानीति सूचितम् ।।१८।।

अथ प्रतिज्ञातव्यभिचारप्रदर्शनार्थं कालदेशविशेषाभ्यां सिद्धां गोलस्थितिमुपजातिकेन्द्रवज्राभ्यां निरूपयति—जिनाल्पकाक्षांशेति । जिनाल्पकाश्चतुर्विंशतेरनधिकायेऽक्षांशास्तेषां ज्या । त्रिज्या । अनयोर्वधश्चतुर्विंशत्यंशज्यया भक्तः । अस्य । फलस्य । धनुःसंबन्धित्रिज्यादिकं भुजोऽक्षज्यातुल्यक्रान्तिज्यायाः स्यात् । तेन भुजेन त्रिभोनेन । त्रिभं वर्जितं यस्मात्तेन तुल्यो ग्रहः प्रतीच्यां पश्चिमभागे क्षितिजवृत्ते चेत्तदा भवति । प्राक्क्षितिजवृत्ते पूर्वभागे । सत्रिभेण भुजोनतुल्यो ग्रहश्चिह्नात्मको यदा स्यात् । वा । उभयत्र भुजतुल्यः सायनो राश्यवयवः । खमध्ये । अत्रोत्तरगोले खमध्ये भुजस्य भुजोनषड्भस्य वा संभवाद्यदा भुजोनषड्भराशिः खमध्ये तदा तत्पूर्वं त्रिभान्तरितराशिः पश्चिमक्षितिजे । तदग्रिमत्रिभान्तरितराशिः पूर्वक्षितिजे । तत्समोऽपि ग्रहस्तत्र भवतीति त्रिभोनेनेत्यस्य त्रिभादूनेनेत्यर्थः । सत्रिभेणेत्यत्र नवभादूनेन तेन भुजेनेति ज्ञेयम् । प्रागङ्कभोनेन खग इति पाठे विभोनेनेति वत्; अङ्कभं, ऊनं यस्मादङ्कभादूनमिति च क्रमेणानुगमार्थो बोध्यः । तदा । तादृशग्रहचिह्नस्य तदक्षांशदेशक्षितिजसक्तत्वोपलक्षककाले । दृङ्मण्डलाकारत्वेन । क्रान्तिवृत्तं स्यात् । तस्य । ग्रहचिह्नसंबद्धक्रान्तिवृत्तप्रदेशस्य । याम्योत्तरवृत्तं क्षितिजवृत्तं स्यात् । क्षितिजवृत्तस्य दृग्वृत्तयाम्योत्तरत्वात् । अतः कारणात् । ग्रहचिह्नात्परमेषुणा । परमशरेण । परमोन्नमनसभावनार्थं परमशरेणेति । क्षिप्तोऽन्तरितः खेटः । ग्रहबिम्बात्मकः । क्षितिजवृत्तं न जह्यात् । न त्यजतीत्यर्थः । क्षितिजान्नत उन्नतो वा न स्यात् । शरभावेन त्यजति । परं शरवलनयोः सत्त्वेन नमनोन्नमनसंभवेऽपि तदसंभव इति महदाश्चर्यसूचकोऽपिशब्दः । कुत इत्यत आह—अस्येति । क्षितिजवृत्तस्य । याम्योत्तरत्वात् । क्रान्तिवृत्तग्रहचिह्नप्रदेशसंबन्धियाम्योरवृत्तत्वादित्यर्थः । तथा च शरस्य क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरत्वेन तदा क्षितिजे ग्रहावस्थानं कदम्बाभिमुखमबाधितमिति भावः ।।२०।।

अथोक्तस्थले स्वोक्तस्यादूषणकथनपूर्वकं प्रतिज्ञाततत्पक्षव्यभिचारमिन्द्रवज्रया प्रदर्शयति—दृक्कर्मसंभूतेति । अत्र । उक्तस्थले । दृक्कर्मसंभूतफलद्वयस्य । आयनाक्षदृक्कर्मकालयोरित्यर्थः धनर्णसाम्यात् । दक्षिणायने ग्रहे पूर्वक्षितिजस्थे । आयनवलनस्य दक्षिणत्वाद्याम्योत्तरशरक्रमेण ग्रहबिम्बस्योन्नमननमने ऋणधनरूपे । अक्षवलनस्योत्तरत्वाद्याम्योत्तरक्रमेण ग्रहबिम्बस्य नमनोन्नमने धनर्णरूपे । उत्तरायणे ग्रहे पश्चिमक्षितिजस्थे । आयनवलनस्योत्तरत्वाद्याम्योत्तरशरक्रमेण नमनोन्नमने धनर्णरूपे । आक्षवलनस्य दक्षिणात्वाद्याम्योत्तर-

शरक्रमेणोन्नमननमने ऋणधनरूपे इति धनर्णयोः साम्यं संख्यातुल्यत्वं तस्मादित्यर्थः । तथा हि—आयनवलनस्य ग्रहद्युज्यापरिणताक्षज्यत्वादायनं त्रिज्यया चेत्स्यादित्यादिना त्रिज्याक्षज्यामध्यमशराणां घातो द्युज्यावर्गभूत(भक्त) इत्यायनदृक्कालरूपम् । आक्षवलनस्यापि तत्र ग्रहद्युज्यापरिणताक्षज्यात्वाल्लम्बज्ययाऽक्षजमित्यादिना त्रिज्यावर्गस्पष्टशराक्षज्याघातो द्युज्यावर्गलम्बज्याघातभक्त इत्याक्षदृक्कालः सिद्धोऽत्रापि स्फुटशरनिमित्तं मध्यमशरस्य सत्रिराशिग्रहद्युज्यारूपलम्बज्यागुणस्त्रिज्याहर इति तुल्ययोर्लम्बज्यात्रिज्ययोर्नाशात्त्रिज्याक्षज्यामध्यमशराणां घातो द्युज्यावर्गभक्त इत्याक्षदृक्कालपूर्वापर(यन)दृक्कालतुल्यः । प्राचीनमतेऽक्षज्याया एवाऽऽयनाक्षवलनत्वाद्द्युज्यानुपाताङ्गीकाराच्च । शराक्षज्याघातस्त्रिज्याभक्त इत्यायन-दृक्कालः । स्पष्टशरनिमित्तं गुणहरौ त्रिज्यालम्बज्ये इति लम्बज्ययोर्नाशादुक्तरूपमेवाक्षदृक्कालस्य सिद्धम् । स्पष्टशरानभ्युपगमे स्वल्पान्तरेण समत्वं ध्येयमिति । नाशः स्पष्टदृक्कर्मानुत्पत्तिः । भवेत् । युक्तं चैतत् । ग्रहबिम्बस्य क्षितिजवृत्तस्थत्वात् । उत्क्रमज्याग्रहणे तयोः साम्यं न भवतीति स्फुटो व्यभिचारस्तेषां मते इत्याह नेति । उत्क्रमज्यातो विधिर्दृक्कर्मानयनप्रकारस्तेनेत्यर्थः । अत्रोक्तस्थले साम्यं-आक्षायनदृक्कालयोस्तुल्यत्वं न भवेत् । क्वचिदेतादृशस्थले साम्यमपि भवेदेवेत्याशङ्कानिवारणार्थक एवकारः । गोलस्थित्या तन्निश्चयात् । तथा हि—उदयास्तयोर्नतोत्क्रमज्यायास्त्रिज्यातुल्यत्वादाक्षवलनमक्षज्या । उक्तग्रहकोट्युत्क्रमज्या त्वक्षांशतुल्यक्रान्त्यंशानां ज्यासंबन्धिदोर्ज्यातुल्या न संभवतीति । फलितमाह—दृक्कर्मेति । अतो यत उक्तस्थले उत्क्रमज्यया व्यभिचारः क्रमज्यया संवदत्यस्माद्धेतोः । क्रमज्यया दृक्कर्म आयनाक्षसंबन्धि कार्यं नोत्क्रमज्ययेति सिद्धमित्यर्थः ॥२१॥

अथ वलनानयने व्यभिचारमुपजातिकया प्रदर्शयति—तथैवेति । आयनाक्षवलनयोः । तथा । यथाऽऽयनाक्षदृक्कर्मणोर्नाशस्तद्वदित्यर्थः । एवकारो दृक्कर्मवलनयोर्भिन्नस्वरूपत्वादुक्तस्थले उभयोर्नाशासंभव इत्याशङ्कावारणार्थकः । ननु दृक्कर्मणोर्धनर्णयोः साम्यान्नाशः संभवति । वलनयोस्तदप्रसिद्धेः कथं नाशः संभवतीत्यत आह—साम्यादिति । द्वयोर्वलनयोर्दिग्भेदत्वादन्तरेण । साम्यात्तुल्यत्वाच्च नाशः । स्पष्टवलनस्य क्रमेणैव संस्कारजत्वात् । अतः कारणात्क्रमज्यया वलनमायनाक्षसंबधि विधेयं कार्यम् । इदमुदाहरणं न स्पष्टवलनाभावस्तत्र स्यादुत्क्रमज्ययेति पूर्वाधिकारोक्तस्येति ध्येयम् ॥२२॥

केदारदत्तः—-उत्क्रमज्या से वलन दृक्कर्मसाधन गणित का व्यभिचार—

लल्लाचार्यादि जिन आचार्यों ने उत्क्रम ज्या से वलन और दृक्कर्म गणित साधन किया है उस गणितमें ग्रहगोलगणित सिद्धान्त से दोष (व्यभिचार) है । क्योंकि, २४ अक्षांश से कम अक्षांश देशों में, $\frac{\text{अक्षांश ज्या} \times \text{त्रि}}{\text{जिनांश ज्या}}$ = फल के चाप से जो क्रान्ति होती है वह उत्तर अक्षांश ज्या के तुल्य होती है । जैसे—

अक्षांश = २०°, अक्षांश ज्या = $\frac{१२१० \times \text{त्रि}}{\text{जिनज्या (१३९७)}}$ = ज्या का चाप २ राशि में, ३ राशि जोड़ने से सत्रिभग्रह = ५ राशि अर्थात् सिंह राशि में हो तो —

अथवा २रा—३रा = ११ राशि कुम्भ राशि पश्चिम क्षितिज में होती है। ऐसी स्थिति तब होगी जब वृषभान्त राशि खमध्य में होगी क्योंकि खमध्य से ९०° पर क्षितिज वृत्त होता है।

निश्चय ही उस समय क्रान्तिवृत्त का स्वरूप दृङ्मण्डल होता है तथा तदुपरि लम्ब रूप वृत्त क्षितिज ही होता है। अर्थात् ऐसी स्थिति में कदम्ब तारा भी क्षितिज में ही होती है। कदम्बाभिमुख शर कदम्ब से विक्षिप्त होने पर भी क्षितिज में ही रहेगा, नामन या उन्नामन उभय स्थितियों में ग्रह स्थान और ग्रह बिम्ब एक समयावच्छेदेन क्षितिज में उदित होकर दृश्य होते हैं। क्रान्ति वृत्त और ग्रहोदय लग्न ही यहां लग्न है। और आक्ष दृक्कर्म= आयन दृक्कर्म, परस्पर एक धन दूसरा ऋण (+ ४ − ४) = ० होने से दृक्कर्म = ० यह सही स्थिति क्रमज्या गणित से ही होती है। उत्क्रमज्या गणित से कदापि संभव नहीं है। यहाँ पर भिन्न दिशाओं के वलनों के होने से वलन का भी अभाव है। उत्क्रमज्या गणित से, जो साम्यता होनी चाहिए नहीं होती अतएव गणित गोल से उत्क्रमज्या प्रकार से वलनादि साधन सदोष है जो सुतरां त्याज्य भी है ॥१८॥१९॥२०॥२१॥२२॥

अथ तन्मतिभ्रमे कारणमाह—

गर्वाद्रसराभस्यात्परविश्वासात्प्रमादतश्चापि ।
मुह्यन्त्यपि मतिमन्तः किं मन्दोऽन्यैस्तथा चोक्तम् ॥२३॥
गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षयं न चार्थस्य ।
रसिकत्वेनाऽऽकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च ॥२४॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥२३॥२४॥

इति श्रीभास्करीये गोलभाष्ये मिताक्षर उदयास्तदृक्कर्मवासना ॥

●

मरीचिः—अथोक्तैतद्दूषणैरीतेर्विपरीतरीत्योत्क्रमज्यानीतायनवलने कल्पितं दूषणं ग्रहाधिकारोक्तं तत्र गणितनिरूपणे शिष्याणां गोलज्ञानाभावाद्दुर्बोधमत्र प्रसङ्गाद्बोधार्थमनुवदति। यत्खस्वस्तिकगे रवौ भवलये दृग्वृत्तसत्संस्थिते प्रत्यक्षं वलनं कुजे त्रिभयुतार्काग्रासमं दृश्यते। त्वं चेदुत्क्रमजीवयाऽऽनयसि तत्तावत्सखे गोलविन्मन्ये तर्ह्यमलं तदेव वलनं धीवृद्धिदाद्योदितमिति। चन्द्रग्रहणाधिकारे व्याख्यातम् ॥२३॥

अथ द्वितीयं तदधिकारोक्तं दूषणं बोधार्थमत्र प्रसङ्गादनुवदति। यत्राऽऽक्षोऽङ्गरसा लवा दिनमणेस्तत्रोदयं गच्छतो मेषे वा वृषभेऽपि वाऽप्यनिमिषे कुम्भे स्थितस्यापि वा। स्पर्शी दक्षिणतस्तदा क्षितिजवत्सा क्रान्तिवृत्तं यतस्तद्ब्रूह्युत्क्रमजीवयाऽत्र वलनं व्यासार्धतुल्यं कथमिति। इदमपि तत्रैव व्याख्यातम् ॥२४॥

ननु यैरुत्क्रमज्ययोक्तं तैः किमाशयेनोक्तम्। न च भ्रान्त्या। सर्वत्र तथात्वापत्तेरित्यत

आर्ययाऽऽह—गर्वाद्रसराभस्यात्परविश्वासात्प्रमादतश्चापि । मुह्यन्त्यपि मतिमन्तः किं मन्दोऽन्यैस्तथा चोक्तम् । मतिमन्तः सुबुद्धयः । अपिशब्दस्तेषां मोहासंभावनायां तत्संभव इति महदाश्चर्यसूचकः । सर्वान्मुह्यन्ति । अध्ययनसमये गुरुणोपदिष्टं स्वबुद्धिवैभवेन झटिति बुद्ध्वाऽहं सुबुद्धिर्यदैव मयाऽवलोक्यं तदैव बुद्ध्या सर्वं निष्काशनीयमिति संजातगर्वादुपेक्ष्य च कालान्तरेऽवलोकनसमये गुरूपदिष्टं विस्मृतं स्वबुद्ध्याऽन्यदेव तन्मालिन्नान्निर्णीतम् । तत्र तस्य मोहे गर्वः कारणम् । अगर्वे च गुरूपदेशानन्तरं तत्कालमेव मुहुस्तद्भावनाभिस्तद्दृढसंस्कारादविस्मरणात्तीक्ष्णबुद्ध्या तदधिकस्फुरणाच्च मोहासंभवः । रसराभस्यात् । गन्धकर्तृत्वेन लोके कीर्त्यातिशयदर्शनादग्रन्थकरणे प्रवृत्तस्य झटित्ययं ग्रन्थो भवत्वित्यभिलाषो रसस्तद्राभस्यं तदतिशयितत्वं तदत्युत्कण्ठा तयाऽऽपातता विचारसंभवात्तत्त्वाज्ञाततया मोहं प्राप्नुवन्ति । सर्वदा बुद्धेरस्थिरतयाऽल्पकाले विचारासंभवात् । रसात्युत्कण्ठाभावे च स्वेच्छया यथावसरं विचारक्षमबुद्ध्या तत्त्वविचारस्य संभवादमोहत्वं संभवति । चः समुच्चये । तेन कारणद्वयेन प्रत्येकं सुबुद्धीनां मोहः संभवतीत्यर्थः । नन्वेवं तस्य सौबुद्ध्यमेव व्याहतमित्यस्वरसादाह—परविश्वासादिति । परस्मिन् स्वस्य विश्वासो निश्चयस्तस्मात् । परः स्वायथार्थज्ञानं तत्त्वतया मत्वा कंचित्सुबुद्धिमुपदिशति । स सुबुद्धिस्तद्वचनप्रामाण्यात्तत्त्वविचारं न करोतीति तस्यापि मोहः । प्रमादतः । विचारितमपि यथार्थतत्त्वं ग्रन्थे दोषवशादन्यदेव लिखितं तादृशो क्रमः प्रमादाद्भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् । अपिशब्दः समुच्चये । मोहे पतदुभयं प्रत्येकं कारणमित्यर्थः । मन्दोऽल्पबुद्धिर्लल्लादिकस्तदुक्तकारणैर्मोहं प्राप्नोतीत्येतत्किं चित्रमित्यर्थः । तथा च भ्रान्तेः क्वचित्संभवान्न सर्वत्रान्यथा ग्रन्थकारस्य नित्यप्रान्ततानिश्चयेन तद्ग्रन्थप्रचारानुपपत्तेरिति भावः । उक्तार्थस्य प्रामाण्यनिश्चयार्थं संमतिं सूचयति—अन्यैरिति । पद्यसंग्रहचारकैः स्वग्रन्थे तथा मदुक्त भिमतम् । उक्तम् । चकारस्तैः कल्पित न किंतु समूलत्वेन लिखितमित्यर्थकः । अत्र किमुतान्ये इति पाठस्त्वयुक्तः । चतुर्थचरणे पञ्चदशमात्रानियमात्त्रयोदशमात्रानुपपत्तेः ॥२५॥

अथ सूचितसंमतिसंबद्धार्यामनुवदति—गणयन्तीति । कुकवयः कुत्सितकाव्यकर्तारो मन्दाः । अपशब्दं व्याकरणासिद्धं शब्दं न गणयन्ति । परकथितमपि स्वदत्तापशब्ददोषं न मानयन्ति । वृत्तभङ्गं परज्ञापितमपि स्वकाव्ये न गणयन्ति अर्थस्य स्वाभिमतप्रमेयस्य क्षयं नाशं परज्ञापितं न मानयन्ति । चः समुच्चये । कुत इत्यतः कुकविविशेषणोक्त्या कारणमाह—रसिकत्वेनेति । कायकर्तृत्वाभिमानजनितसंतोषेणेत्यर्थः । आकुलिता व्याप्ताः । तथा च काव्यकरणदत्तान्तःकरणाः केवलं दोषं गुणं वा न जानन्तीति भावः । वेश्यापतयः सामान्यवनितासुरतकर्तारः । रसिकत्वेन । वेश्यानुरागेण युक्ताः सन्तोऽपशब्दं लोकपित्रादिकर्तृकनिर्भर्त्सनं न मानयन्ति । वृत्तभङ्गं शिष्टाचारभङ्गं न मानयन्ति । अर्थस्य स्वद्रव्यस्य क्षयं नाशं न मानयन्तीति वैश्यिककुकवो समावित्यर्थः । इयं संमतिर्गर्वाद्रसराभस्यादित्युभयत्र नान्यत्रेति ध्येयम् ॥२६॥

अथाऽऽरब्धोऽधिकारो निरूपित इति फक्किकयाऽऽह—इत्युदयास्तवासनाधिकार इति। उदयास्तयोर्दृक्कर्मज्ञानाधीनत्वाद्दृक्कर्मवासनानिरूपणेन तदधिकारवासनैव निरूपिता। तत्रोक्तस्य सुगमोपपत्तिकत्वादित्यर्थः। एतेनैव ग्रहच्छायाधिकारवासना प्रतिपादितेति सूचितम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
याता शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्ति दृक्कर्मयुक्तिनिचयाधिकृतिः स्फुटेयम्॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये दृक्कर्मवासनाधिकारः संपूर्णः॥

केदारदत्तः—मन्द बुद्धि विद्यार्थी या कवि के लिए कहा जा रहा है कि—

गुरु मुख से सम्यगध्ययन में मन न लगाने से विषय बुद्धिगत न होते हुये भी विषय ज्ञान के गर्व (मिथ्या) से, रस के अतिशयत्व लाभ से, पर विश्वास से या अत्यन्त प्रमाद से, बुद्धिमान विद्यार्थी भी मोह के वश में आकर अशुद्ध सिद्धान्त को भी शुद्ध मान बैठता है तो मन्दबुद्धि विद्यार्थी के लिये कहना ही क्या है?

कुत्सित काव्य रचयिता मन्दबुद्धि का कुकवि व्याकरण सिद्ध शब्द के महत्त्व को नहीं जानते, काव्यरचना के अभिमान से उत्पन्न सन्तोष से दूसरे के सही अर्थ बोधक वाक्य को भी नहीं मानते। वेश्या सेवनत्वेन रसिक होने के मिथ्याभिमान से सज्जन वृन्द से कृत निन्दा की भी उपेक्षा करते हैं।

अर्थात्—शिष्टाचार और मर्यादा भङ्ग की भी ऐसे लोग उपेक्षा करते हैं।

ग्रहगणित सिद्धान्त ग्रन्थों में उक्त प्रकार के ग्रन्थ रचयिता लोगों पर आचार्य ने यह कड़ा आक्षेप दर्शाया है आचार्य के इस कथन से लल्लनाचार्य पर ही अधिक आक्षेप हो सकता है॥२३॥२४॥

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के उदयास्तवासनाध्याय :—१०
की श्री पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त
जोशी कृत "केदारदत्त" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न।

●

अथ शृङ्गोन्नतिवासना

अथ शृङ्गोन्नतिवासना । तत्र शुक्लत्वे च कारणमाह—

तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो
दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति ।
तदितरदिशि बालाकुन्तलश्यामलश्री-
र्घट इव निजमूर्तिच्छाययैवाऽऽतपस्थः ॥१॥

सूर्यादधःस्थस्य विधोरधःस्थमर्धं नृदृश्यं सकलासितं स्यात् ।
दर्शेऽथ भार्धान्तरितस्य शुक्लं तत्पौर्णमास्यां परिवर्तनेन ॥२॥

कक्षाचतुर्थे तरणेर्हि चन्द्रकर्णान्तरे तिर्यगिनो यतोऽब्जात् ।
पादोनषट्काष्ट८९लवान्तरेऽतो दलं नृदृश्यस्य दलस्य शुक्लम् ॥३॥
४५

उपचितिमुपयाति शौक्ल्यमिन्दोस्त्यजत इनं व्रजतश्च मेचकत्वम् ।
जलमयजलजस्य गोलकत्वात् प्रभवति तीक्ष्णविषाणरूपताऽस्य ॥४॥

यद्याम्योदक् तपनशशिनोरन्तरं सोऽत्र बाहुः
कोटिस्तूर्ध्वाधरमपि तयोर्यच्च तिर्यक् स कर्णः ।
दोर्मूलेऽर्कः शशिदिशि भुजोऽग्राच्चकोटिस्तदग्रे
चन्द्रः कर्णो रविदिगनया दीयते तेन शौक्ल्यम् ॥५॥

वा० भा०—स्पष्टम् । अस्य वासना पूर्वं कथितैव । तथाऽपि किंचिदिहोच्यते । प्राग्वद्भित्तेरुत्तरपार्श्वे चन्द्रकक्षां रविकक्षां च विलिख्य तत्रोर्ध्वरेखां तिर्यग्रेखां च कृत्वा चन्द्रकक्षोर्ध्वरेखासंपाते चन्द्रबिम्बं विलिख्येदं दर्शयेत् । तिर्यग्रेखाया उपरि चन्द्रकक्षाव्यासार्धमितेऽन्तरेऽन्यां तिर्यग्रेखां कुर्यात् । ता रेखा प्रत्यग्रविकक्षायां यत्र लग्ना तत्र स्थित एवार्कं ऊर्ध्वं रेखावच्छिन्नचन्द्रबिम्बार्धं पश्चिमतः शुक्लं भवति । तस्यार्धमधस्तनं मनुष्यदृश्यम् । तत्रस्थेऽर्के व्यर्केन्दुः सपादचतुर्भागोनं राशित्रयं भवति । २५ । ४५ । एतावत्येव व्यर्केन्दुभुजे बिम्बार्धं पश्चिमं पूर्वं वा शुक्लं भवितुमर्हति । न त्रिभे ॥१॥२॥३॥४॥५॥

मरीचिः—अथ क्रमागतस्य शुक्लस्य द्विजराज एष महसो हान्येत्यादिप्रश्नस्योत्तरभूतश्चन्द्रशृङ्गोन्नतिवासनाधिकारः प्रारब्धो व्याख्यायते। तत्र चन्द्रस्वरूपपूर्वकं तत्प्रकाशव्यवस्थां मालिन्याऽऽह—तरणिकिरणसंङ्गादिति। एष चन्द्रः पीयूषपिण्डोऽभूतगोलरूपो दिनकरदिशि सूर्याभिमुखभागे। तरणिकिरणसङ्गात्। सूर्यकिरणप्रतिफलनात्। चञ्चच्चन्द्रिकाभिः चञ्चत्यो द्योतमाना याश्चन्द्रिकाः कोरकरूपाश्चन्द्रकलास्ताभिरित्यर्थः। चकास्ति द्योतते। तदितरदिशि सूर्यानभिमुखभागे। निजमूर्तिच्छायया। निजश्चन्द्रस्तस्य मूर्तिर्जलगोलरूपा। तस्याश्छायया। सूर्यकिरणप्रतिफलनाभावरूपया। एवकारः कस्यचिच्छ्यामकान्तिप्रतिफलनात्तथेत्यस्य निरासार्थकः। बालाकुन्तलश्यामलश्रीः। बालाया रमणीयरमण्याः कुन्तलानां मूर्धजानां केशानां श्यामलश्रीः। असितस्य शोभा विद्यते यस्यासाविति भवति। एतेन चन्द्रे मुखसाम्यं समर्थितमिति वेद्यम्। उक्तार्थे किं मानमित्यतो दृष्टान्तकथनच्छलेन प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याह—घट इति। आतपस्थः सूर्यकिरणसंबद्धसूत्रप्रदेशे स्थापितः। घट इव। तथा च घटे सूर्याभिमुखभागे उज्ज्लता। तदितरभागे छायत्वेन घट इव। तथा च घटे सूर्याभिमुखभागे उज्ज्वलता। तदितरभागे छायत्वेन श्यामलतेति प्रत्यक्षदर्शनाच्चन्द्रगोलेऽपि तथा कल्पनं युक्तमिति भावः। तथा च चन्द्रो जलगोलरूपः। केवलं जलस्य विरलावयवतया गोलासंभवादसिततरपृथ्वीभागोपष्टम्भकः स्वतोऽप्रकाशकोऽर्ककरसंबन्धात्प्रकाशक इति सिद्धम्। तथा च श्रीपतिः—धाम्ना धामनिधेरयं जलमयो धत्ते सुधादीधितिः सद्यःकृत्तमृणालकन्दविशदच्छायां विवस्वद्दिशि। हर्म्ये घर्मघृणेः करैर्घट इवान्यस्मिन्विभागे पुनर्बालाकुन्तलकालतां कलयति स्वच्छां तनोश्छायया। पयोमये शीतकरेऽर्करश्मयो विमूर्छिता घ्नन्ति तमस्विनीतमः। निकेतनाभ्यन्तरगं तमः स्वयं यथाऽन्तरा वाऽपलदर्पणाश्रिताः॥ इति ॥१॥

ननु चन्द्रस्य सदासिताश्रयत्वे पक्षान्ते तदाश्रयत्वेन कथं न दृश्यते। कथं च पौर्णमास्यन्ते संपूर्णमण्डलं शुक्लतया दृश्यते। अमान्ते मण्डलमपि न दृश्यत इत्यत इन्द्रवज्रयाऽऽह—सूर्यादधःस्थस्येति। दर्शेऽमान्ते सूर्यात्। अधःस्थस्य विधोश्चन्द्रगोलस्य। अमान्ते शराभावे सूर्यचन्द्रयोः पूर्वापरान्तराभावात्कक्षाक्रमेणोर्ध्वाधरान्तरसद्भावात्। अधःस्थं भूगोलाभिमुखमर्धम्। गोलार्धं नृदृश्यं भूस्थजनदृग्गोचरम्। सकलासितम्। सम्पूर्णंश्यामं स्यात्। सूर्याभिमुखचन्द्रोर्ध्वगोलार्धे भूस्थजनदृगयोग्ये। किरणानां फलनात्। दृश्यगोलार्धे तदफलनाच्छ्यामतयाऽऽकाशभ्रमरूपसमत्वेनाविवेकाच्चन्द्रो न दृश्यत इति भावः। शरसत्त्वे दृश्यगोलार्धे सूर्यकिरणप्रतिफलनेऽप्यतिसूक्ष्मा तच्चन्द्रिका नयनागोचरेति ध्येयम्। अथानन्तरम्। परिवर्तनेन। स्वस्वगत्या प्रत्यहं तयोः स्वस्वकक्षायां गमनेन। पौर्णमास्यां तदन्ते। भार्धान्तरितस्य सूर्यषड्राश्यन्तरितचन्द्रगोलस्य तत्। नृदृश्यगोलार्धं शुक्लं स्यात्। तथा च षड्भान्तरे मानैक्यखण्डाधिकशरे सूर्यकिरणानां दृश्यगोलार्धे प्रतिफलनात्संपूर्णमण्डलं श्वेतं दृश्यते। किरणाप्रतिफलनभागस्योर्ध्वस्थत्वेनादृश्यत्वात्। यद्यपि शरसत्त्वेनादृश्यगोलार्धाल्पप्रदेशे किरणफलनाद्दृश्यगोलार्धे दक्षिणे उत्तरे वाऽल्पप्रदेशे तदफलनसंभ

वात्संपूर्णमण्डलं श्वेतं न भवति तथाऽपि व्यवधानेनातिसूक्ष्मश्यामतया संजातासंपूर्ण-श्वेतमण्डलं संपूर्णतया दृश्यते । न्यूनशरे च किरणाप्रतिफलनस्य भूगोलेन निवारितत्वाद्ग्र (द्ग्र)हणमेव भवतीति भावः ॥२॥

अथ दर्शपूर्णिमान्तयोः सिताभावपरमत्वोक्तेः फला(पक्षा)र्धे त्रिभान्तरितचन्द्रमण्डल-स्यार्धं श्वेतं न्यायासिद्धं पूर्वाचार्यसंमतं निराकर्तुं युक्त्याऽन्यत्र चन्द्रमण्डलार्धं श्वेतं भवतीत्यु-पजातिकया प्रतिपादयति—कक्षाचतुर्थ इति । यतः कारणात् । अस्माच्चन्द्रात् । इनः सूर्यः । कर्णान्तरे । चन्द्रयोजनकर्णोनरवियोजनकर्णमितरविचन्द्रान्तररूपकर्णोनदर्शान्ते शौक्ल्याभावः । पौर्णमास्यन्तरे रविचन्द्रस्पष्टयोजनकर्णयोगमितसूर्यचन्द्रान्तररूपकर्णे शौक्ल्यपरमत्वं तत्र तयोरूर्ध्वाधरान्तरसत्त्वात् । एवं तयोरूर्ध्वाधरान्तराभावे सूर्यचन्द्रान्तर-रूपकर्णस्तदन्य इत्यन्यस्मिन् कर्णे इति कर्णान्तरे इत्यर्थः । तिर्यक् । तिरश्चीनो भवति । स्वकक्षायां चन्द्रकक्षास्थितचन्द्रबिम्बात्कर्णे नोर्ध्वाधो न भवति । किंतु सरलरेखान्तरेण भवतीत्यर्थः । अतः कारणात् । सूर्यचन्द्रयोः पादोनषट्काष्टलवान्तरे पञ्चचत्वारिंशत्कला-धिकपञ्चाशीत्यंशमिते तद्राश्यादिभोगयोरन्तरे इत्यर्थः । अस्य चन्द्रगोलस्य । मनुष्यदृश्यं दलं गोलार्धम् । दलमर्धं शुक्लं न संपूर्णम् । ननु त्रिभान्तरे सूर्यचन्द्रयोः समरेखान्तरा-भावादर्धाधिकचन्द्रमण्डले श्वेततासंभवेन समरेखान्तरेऽर्धमण्डलश्वेततायाः संभवात्किंचिदून-नवत्यंशान्तरेऽर्धशौक्ल्यनिश्चयेऽपि सपादचतुष्टयभागैरूना नवतय इति विशेषतः कथमवगत-मित्यत आह—कक्षाचतुर्थ इति । हि यतः कारणात् । चन्द्रस्तरणेः सूर्यमारभ्येत्यर्थः । कक्षाचतुर्थः । कक्षा चतुर्थी यस्यैत्येतादृशः । कक्षया कक्षाक्रमेण चतुर्थ इति वा । तथा च योजनकर्णाभ्यां भूगर्भतः सूर्यचन्द्रकक्षे विलिख्य तन्मध्ये ऊर्ध्वाधरा तिरश्चीनेति रेखाद्वयं कुर्यात् । तत ऊर्ध्वरेखाचन्द्रकक्षासंपाते चन्द्रबिम्बगोलं प्रकल्प्य तन्मध्यात्ति-र्यग्रेखाः सरलाऽर्ककक्षावधिः कार्या । तद्रेखासूर्यकक्षासंपातेऽर्के चन्द्रगोलस्य पश्चिमो भागः पूर्वभागो वा श्वेतो भवति । चन्द्रमण्डलात्सूर्यकक्षावधिरेखार्धं सूर्यचन्द्रान्तररूपं चन्द्रार्क-योजनकर्णवर्गान्तरमूलमितं तत्र कर्णः । तत्राप्यूर्ध्वभागस्यादर्शनान्मनुष्यदृश्यार्धे श्वेतं दृश्यते । तत्र सूर्यचन्द्रान्तरभागज्ञानार्थे तिर्यग्रेखान्तरस्थितांशा ज्ञेयाः । कक्षामध्यतिर्य-ग्रेखासंपातेऽर्के नवत्यंशान्तरत्वात् । तिर्यग्रेखयोरन्तरे चन्द्रयोजनकर्णस्य सत्त्वाद्रवियोजन-कर्णेन त्रिज्या तदा चन्द्रयोजनकर्णमितरविकक्षाप्रदेशेन केति ज्यामध्यमयोजनकर्णाभ्यामा-नीताऽल्पान्तरत्वात् । २५७ । १३ । अस्या धनुरंशाः ४ । १७ । २२ । तत्र स्वल्पा-न्तरात्सुखार्थे सपादाश्चत्वारो गृहीतास्तदूना नवतयः पादोनषट्काष्टमिता इति भावः । एतेन स्पष्टेन्दुयोजनमयश्रवणेनेत्यादेः शृङ्गोन्नत्यधिकारोक्तविशेषस्योपपत्तिरवधेयेति सूचि-तम् । केचित्तु कक्षाचतुर्थे इति सप्तम्यन्तं पाठं प्रकल्प्य कक्षाचतुर्थांशे त्रिभे सूर्याच्चन्द्रो यतस्तस्माच्चन्द्रात्सूर्यः कर्णान्तरे तिर्यग्भवति । अतोऽस्मात्कारणात्पादोनषट्काष्ठलवान्तरे चन्द्रमण्डलमूर्ध्वे (मर्धे) श्वेतमित्यर्थ इत्याहुस्तन्न । लाघवात्त्रिभे इति कथनापत्तेः । किंच त्रिभे ·.र्णान्तरे सूर्यस्य तिर्यक्त्वे पादोनषट्काष्टभागान्तरेऽर्धशौक्ल्यं कुतः संबन्धा-

भावात् । अथ त्रिभेऽन्तरे यतः कर्णान्तरे चन्द्रसूर्यस्तिर्यग्भवति । न सरलरेखान्तरेणातस्तत्रार्धाधिकशौक्ल्यसंभवादित्यध्याहारेण तदूनेऽन्तरेऽर्धशौक्ल्यसंभावाद्युक्तोऽर्थ इति चेन्न । उक्तभागान्तरे तत्संभवे कारणाकथनात् । कर्णान्तरे इत्यस्यानुपपत्तेश्च ॥ ३ ॥

अथ फलितं प्रश्नोत्तरं तत्प्रसङ्गाच्छृङ्गोन्नतिवासनां चाऽऽह—उपचितिमिति । इनं सूर्यम् । त्यजतश्चन्द्रस्य शौक्ल्यमुपचितिमुपचयमुपयाति । प्राप्नोति । व्रजतः सूर्यं प्रति गच्छतश्चन्द्रस्य मेचकत्वंश्यामत्वमुपचयं प्राप्नोति । चकारोऽव्यवस्थार्थकः । तथा च दर्शान्ते सूर्यचन्द्रयोः समत्वेन केवलमूर्ध्वाधरान्तरत्वात्सूर्यकराश्चन्द्रोर्ध्वगोलार्धप्रतिफलिताः । न तदधो गोलार्धे मनुष्यदृश्ये । ततश्चन्द्रो बहुगत्याऽर्काच्चिया यथाऽग्रे भवति तथा तथा सूर्यस्य पश्चिमभागस्थत्वेन सूर्याभिमुखचन्द्रगोलार्धे दृश्यादृश्यात्मके सूर्यकराः प्रतिफलिता-इत्युत्तरोत्तरं दृश्यार्धशौक्ल्यवृद्धिः । एवं पौर्णमास्यन्ते षड्भान्तरत्वात्सूर्याभिमुखचन्द्रगोलदृश्यार्धे सूर्यकराः प्रतिफलिता इति संपूर्णमण्डलं श्वेतम् । ततस्तदधिकान्तरे सूर्यस्य तत्पूर्वभागस्थत्वेन सूर्यकराश्चन्द्रगोलार्धे दृश्यादृश्यात्मके पूर्वभागे पतन्तीति दृश्यगोलार्ध-पश्चिमभागे तदफलनादसितत्वमित्युत्तरोत्तरमसितवृद्धिः शौक्ल्यापचयः । अत एव सितासितवृद्धचा मासपक्षयोः शुक्लकृष्णत्वमिति भावः । नन्वेवमर्धमण्डलो येनश्शृंततायांगोच्चं कथमुपलभ्यते इत्यत आह—जलमयजलजस्येति । अस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य जलमयश्चसौ-जलजश्चेति पृथ्वीभागोपष्टम्भकोपष्टभ्यजलभागात्मकचन्द्रस्येत्यर्थः । गोलकत्वात् । कन्दुकाकारत्वात् । तीक्ष्णविषाणरूपता । तीक्ष्णशृङ्गरूपत्वम् । प्रभवति । संभवति । एतच्छृङ्गोन्नत्यधिकारे विस्तरेण प्रतिपादितम् । अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रेत्युक्तेरिदं पुष्पिताग्रा वृत्तम् । पुराणमतानुसारिणस्तु—चन्द्रस्य जलमयगोलत्वे सर्वमिदं भवदुक्तमुपपन्नं स्यात्तत्रैव च मानाभावः । अनुमानेन तेजोमयमण्डलत्वस्यैव व्यवस्थापनात् । तथा हि—विमतमिन्दुबिम्बं तैजसं भास्वररूपाधिकरणत्वाद्दीपवदिति सर्वावयवोपपन्नेनान्वयव्यतिरेकिणैवाभिमतसिद्धेरिति । न च दीपे योग्योष्णस्पर्शाधिकरणत्वमुपाधिः । आकरजे सुवर्णादौ प्रभादौ च व्यभिचारेण साध्याव्यापनात् । नापि चन्द्रबिम्बमतैजसम् । शीतस्पर्शाधिकरणत्वात् । भास्वररूपाधिकरणत्वानुपपत्तेः । सितवृद्धिक्षयौ तु दक्षशापादिति पुराणेषु प्रसिद्धत्वात्प्रथमां पिबते वह्निरित्यादिश्रुत्या,भागं देवेभ्यो विधातीत्यादिश्रुत्या च तत्कलानां देवताभोज्यदानत्वाभ्यामित्याहुः । ज्योतिर्विदस्तु नैतदनुमानं चन्द्रस्य तेजोमयमण्डलत्वे मानं हेत्वसिद्धेः । तथा हि—न तावदिन्दुबिम्बे तत्स्वाभाविकं रूपम् अपि तु चण्डकरकरनिकरप्रसारानुसारितया तदुपचयदर्शनेन याचितकमण्डनकमनीयतान्यायेनजपाकुसुमसंनिहितस्फटिकशिलावलारुणगुणत्ववदस्यापि सौरकिरणाश्रयिणोभास्वररूपस्यौपाधिकत्वात् । किंच तद्रूपं न चन्द्रसमवेतं तेजोजलान्यतररूपत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वादव्याप्तवृत्तित्वादन्यसंबन्धानुविधायित्वात्कादाचित्कत्वाच्च । अपि च । तस्य तदीयत्वाभिमाने कथममादौ तथाविधरूपाभावः । अत्र वेदबोधितविविधविबुधपीतत्वं न विषयः । सर्वथैव तस्यायोग्यत्वनिश्चयात् । तथा च तथाविधवेदप्रामाण्यनिर्वाहायावश्यमेवास्मदुक्तमिन्दो-

रम्मयत्वमभ्युपेयम् । अन्यथाऽनुपपन्नत्वेन तस्य निर्वोढुमेवाशक्यत्वात् । अथ स्यादेतत्कथमनुपपत्तिरस्मन्मतेऽपि चन्द्रबिम्बस्योपवृद्ध(ष्टभ्य)द्रव्यत्वेन जलावयवसंमिश्रितत्वेन तद्योग्यतोपपादनादिति चेत्तर्हीहासितचतुर्दश्यमादौ योग्यतया जलभागस्य पीतत्वेन तत्संपर्काभावेनाभिभावकाभावात्खरतररविकरप्रसारपरम्परावशेनाऽऽतपसंपादनद्वाराऽविरलतेजस्युपस्थितावपि दिनकरतुल्यतया क्षणदाया अपि दिनतापत्तिः। अपि च स्ववशमिलन्मधुपालिपालीसमलंकृतसकलभूमण्डलजलगतकमलवनसंजीवनक्षमत्वमपि स्यादेव प्रद्योतनवदिति । अथ तथाभूतस्यापि पुनरुत्पादे किं बाधकमिति चेन्न । कारणचक्रान्तःपातिप्रागभावाह्वयकारणविरहे सकलकारणयौगपद्यरूपसामग्र्यभाव एव । ननु तर्हि पुनस्तदेव द्रव्यान्तरमुत्पाद्यतां तदुत्पादे तु बाधकाभावात् । नवो नवो भवति जायमान इत्यादिनैकवाक्योपस्थितत्वेन विरोधादित्यस्येव तस्यापि वेदेन नवीनत्वोपपादनादिति चेन्न । तत्रैकवाक्यताया एवाभावात् । भावे वा तस्य प्रमाणान्तरबाधितान्यार्थत्वात् । यतो द्वितीयामारभ्य पञ्चमीमवधीकृत्याथवा कृष्णैकादश्यादिचतुर्दशीपर्यन्तमविकृतस्यैवाशेषबिम्बस्य केवलं सितोपचयापचयवतः सर्वजनोपलब्धत्वेन स्वरूपापलापस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अपि च तत्स्वरूपापलापपक्षे वलक्षपक्षादाविनासन्नतया पश्चादेवोदयनियमो न स्यात् । लुप्तकिरणत्वानभ्युपगमेनान्यस्यैवोत्पादस्वीकारात् । किंच चतुर्दशीनिशावसानसमये सूर्यापेक्षया द्वादशभागोन्मितान्तरेण पश्चादुपलक्षितापमण्डलस्थानदिनद्वयानियमेन पुनर्द्विगुणान्तर एव द्वितीयायामुदयनिश्चयो न स्यात् । प्रत्युत्पन्नापरनक्षत्रकेत्वादिवत् । अपि च दिनकरदिश्येव प्रथमकलिकोत्पादनियमोऽपि न भवेद्देवकार्यान्तिरत्वेन कदाचिदपि विपर्यासस्यार्धपूर्णत्वादेवां(व) केनाप्यनिवारितत्वेनोत्पादप्रसङ्गात् । किंच तदपि भवेदेव । अन्यसंबन्धानपेक्षत्वेनानियम्यत्वादिति । तथा च तथोपगमे दोषसहस्रोपदर्शनेन वेदस्यापि प्रत्यहमधिकाधिकप्राशस्त्यप्रतिपादनादिपरतयोत्प्रेक्षादिन्यायेनान्यत्रैव तात्पर्यम् । अन्यथा नवीनांशतात्पर्यकत्वे तिरते दीर्घमायुरित्यादिना भागस्याऽऽनर्थक्यं पूर्वैरपि समाधातुमशक्यमेवेति । तन्नाशोपगमेन परमोपप्लवापादने तदधः कृता दापितिरश्चा (?) । किंच तत्र जलस्योपष्टम्भकत्वमपि विवेकविरुद्धम् । तयोरुपष्टम्योपष्टम्भकभावाभ्युपगम उभयोर्विरोधितया तदेकतरनाशापत्तेः । नन्वारम्भकस्य तेजस्त्वं विध्यात्कथमत्र विरोधापादनमयोग्यत्वादिति चेत्सत्यम् । किमेतदिन्दुमण्डलारम्भकमुद्भूतरूपस्पर्शमथवोद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शमुद्भूतरूपं चेति । नाऽऽद्यः । उष्णस्पर्शानुपलम्भात् । तदुभयसाम्योपगमे तु का हानिरिति चेत्सुन्दोपसुन्दन्यायेन प्रथममन्योन्यापाय एव । अथ कथमपीश्वरेच्छादिना तदपायप्रतिबन्धोऽपि तेजोभागगतस्पर्शस्योत्कर्षेण जलभागस्पर्शाभिभावकत्वं भवेदेव । बलवत्त्वाद्विरोधित्वाच्चेति तदनुपलम्भप्रसङ्ग इति । ननु तत्राप्यन्योन्यसमानबलत्वोपगमे किमुत्तरमिति चेन्न । आश्रयस्याऽऽधिक्यमन्तरा तथात्वस्यासंभवात् । अपि च समबलजलानलसंयोगात्सोऽनुष्णाशीत एव स्यात् । अथ प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्योपष्टम्भकस्य भूयस्त्वकल्पने प्रत्युतान्यगुणानामभिभूतत्वे तथाविधरूपस्यादर्शनप्रसङ्गः । तस्याप्यभिभूतत्वात् । न द्वितीयः । तस्य स्वपरप्रकाशकत्वेन सकल

लोकावगतरूपवत्तयाऽनुद्भूतरूपवत्वाभावादुद्भूतस्पर्शाभावाच्च। नान्त्यः। तस्यानुद्भूतस्पर्शत्वेन व्यवधानेऽपि द्रव्यान्तरस्पर्शापनायकत्वं न स्यात्। व्यवहितसुवर्णादिवत्। अन्यथा कनकस्यापि पीतभागगतस्पर्शापनायकत्वं व्यवधानेऽपि भवेदेव। समजातीयतया द्वयोरविशेषात्। किंच जलतेजसोरुभयोरपि विरलावयवतया तदेकतरोपष्टम्भेऽपि चिरानपायं कार्यं न निर्वहेदेव। तस्यापि विरलावयवतया प्रबलप्रभञ्जनाघातेनाथवा प्रत्यहमारोहावरोहविधौ नीचोच्चदेशसम्बन्धे सूतादेरिव कदाचिदप्यवयवविभागापत्तेरिति दृढतरपिण्डीभावापादनायोभयभूयसां भूभागानामप्युपष्टम्भकत्वमवश्यमास्थेयम्। तथा चोपष्टम्भकभूयस्त्वेनाऽऽरम्भकभागगतरूपाभिभवापत्तिः। नन्वारम्भकरूपस्योत्कृष्टत्वेनाविरोधितया चोपष्टम्भकभूयस्त्वेऽपि न तेन तस्याभिभव इति चेन्न। रजतेऽपि तदनभिभवापत्तेः। उपष्टम्भकभूयस्त्वेऽपि तदारम्भकरूप उत्कर्षाविरोधयोः सत्त्वादिष्टापत्तिरत्रेति चेत्तर्हि निविडतमे तमसि रजतस्योपलम्भप्रसङ्गो रूपस्यानभिभूतत्वात्। तस्माज्जलस्य तदुपष्टम्भकत्वानुपपत्त्याऽनेकप्रकारावगतं वरमारम्भकत्वमेव तस्येति। तथा चेन्दुबिम्बमाप्यं शीतस्पर्शाधिकरणत्वात्करकावदिति सर्वावयवोपपन्नेन निर्दुष्टेनान्वयव्यतिरेकिणा सिद्धमिन्दोरम्मयमण्डलत्वम्। नन्वत्रापि हेत्वसिद्धिर्दोषः। तस्योपष्टम्भकजलभागगतत्वेन चन्द्रस्य तदनाश्रयत्वादिति चेन्न। ज्ञातमतिप्राज्ञोऽसि। यतोऽनन्तरोक्तं सर्वमेव विस्मरसीति हन्त सम्भवति तस्योपष्टम्भकत्वे किल हेतोरसिद्धिः। प्रत्युत तदेवासिद्धमिति किमर्थमिदमनर्थकमाशङ्कनम्। तथा चासिततरपृथिवीपरमाणुपरम्परोपष्टब्धा जलपरमाणव एव परम्परयाऽऽरम्भकत्वेन व्यवस्थिता इति सिद्धम्। किंच स्वानुविधे(द्धे) वस्तुविशेषे जलानलनभस्वतामुत्कर्षावसरे सजातीयद्रव्योत्पादनसामर्थ्यमखिलजनसिद्धम्। तद्यथा—अर्कस्य लोहविशेषादर्शच्छुरिकाकरवालस्वन्तशिलातलादौ संमुखतापन्ने तेजोन्तरजनकत्वमथवा भौमदहनस्याप्यन्तसंयोगिनि घृततैलादौ वह्न्युपचयारम्भकत्वमथवा वर्षाकाले जलदस्योत्कर्षे लवणक्षारेक्षुविकारादौ स्वानुविद्धे जलजनकत्वमेवं प्रकृतेऽपि स्वानुवद्धितया शशिकान्तशिलासु जलभागाविर्भावहेतुत्वेन नियमानुरोधादपि वक्तुमुचितमेवास्यापि तथात्वमिति। अपि च यद्येतदुपलभ्यमानं रूपं वस्तुतस्तदीयमेवाभविष्यत्तदा तैजसव्यवस्थापकमप्यभविष्यत्। अथ तत्तदाश्रितमेव स्याद्यावद्द्रव्यभावि स्यादव्याप्यवृत्ति वा न स्यादन्यसंबन्धानुविधायि वा न स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कपराघातेन तैजसत्वाभिमानमात्रोच्छेदे व्यवस्थितमिन्दोरम्मयत्वमिति। ननु भवतु तावदस्य जलमयगोलकत्वं परंतु प्रतिपादितसितवृद्धिक्षयोपपत्तौ स्मृतिवेदाविरोधप्रसङ्ग इति चेन्न। तयोरनेकोपपत्तिविरोधितया तदतात्पर्यकत्वात्। तथा हि—दिनकरबिम्बापेक्षया पूर्वापरयाम्योत्तरान्तरानुसारेण स्फुरदादित्यकरप्रसारपरम्परावशेन कलोपचयापचयदर्शनेन शृङ्गस्यापि तदनुविधानेनैवोन्नमनादन्वयव्यतिरेकाभ्यामनयोस्तदेकनिमित्तत्वमेवावसीयते। यतः सर्वत्र लौकिकप्रमाणावगतहेतुभावे तयोरेव नियामकत्वात्। तथा चानुमानमपि—चन्द्रे सितोपचयापचयौ संगतादित्यकरनिकरप्रसारापसारनिमित्तकौ। अनन्यथासिद्धतदन्वयस्यातिरेकानुविधायित्वात्। यद्यदन्वयव्य-

तिरेकानुविधायि तत्तन्निमित्तकं यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायी घट इति । तथा चेमौ तस्मात्तथेति । किंच यदि सितवृद्ध्यादि तत्तन्निमित्तकं न स्यात्कदाऽपि विपर्यासादप्युत्पत्तिमत्स्यात् । नियमेन तदेकदिगुत्पत्तिमद्वा न स्यात् । अपि च गणितावगम्यमपि न स्यादनियतोत्पत्तिकत्वात्तस्य च नियतार्थैकविषयत्वात् । न च क्वचिदपि तदन्यथात्वं संभवतीति तस्य तदेकहेतुकत्वमेव पर्यवस्यतीति । ननु बहिर्भागं देवेभ्यो विदधाति । प्रथमां पिबते वह्निरित्यादिवैदिकवचसामन्यथैव क्षयवृद्धिप्रतिपादकानां दक्षेणाभिशप्तत्वेन चन्द्रः क्षयीत्यादिपुराणवाक्यानां च का गतिरिति चेत्सत्यम् । भागे देवेभ्यो विदधात्यस्य पुरा क्षीराब्धिनिर्मंथनावसरे समुदितत्वेन स्वयमनुनिष्पादितबिम्बप्रादुर्भावानुकूलप्रयत्नाकुलितचित्तानाममृतगोलरूपत्वेनोत्तमतया प्रत्येकग्रहणाभिमानेन विवदतामनन्तरं च तदुपकारक्रान्तत्वेन सुरज्येष्ठेनाऽऽज्ञप्तश्चायमौषधीशो देवो निजमूर्तीतरत्वेनोपस्थितं बिम्बं तुल्यमेव पञ्चदशधा विभज्य प्रत्यैकैककलापर्याप्तविभागाधिपत्यप्रदानेन कलहोपशमद्वारा तेष्वानन्दमजनयत्ततश्च प्रतिकल्पमनेनेव प्रकारेणायमेतत्प्रयुक्ताशीर्भिरभिनन्दन्कल्पपर्यन्तमायुरधिगच्छतीति । यथा च भूमण्डले प्रतिदेशं नृपादेरिव तदीयतामात्रप्रतिपादनपरत्वमेव न तु तेन तदपहार एवेति । उपपत्तिविरोधात् । अत एव वस्तुतश्चन्द्रकलानामेव तिथित्वेन पौराणिकैस्तिथीनामाधिपत्यनिरूपणावसरे प्रतिपदो वह्निरेवाधिप इत्युक्तम् । ननु तर्ह्यपहाराभावे कोऽधिपतित्वे तदुपभोगो वैषम्यं च दृष्टान्त इति चेन्न । क्षेत्रोत्पन्नसस्यादौ तदधिकारिणो नृपसेवकादेरिव स्वर्गमात्रफलकतत्तिथिवारनक्षत्रादिसंपादितयागव्रतदानप्रियागमनाद्यनेककाम्यकर्मजनितश्रेयोभागभागित्वस्य शास्त्रेणोपदेशादेषां नितरामेवोपभोगसत्त्वात् तदुक्तं वृहस्पतिना—तिथिलग्नादिकमेवं निर्दुष्टं श्रेयसे विवृद्धिकरम् । यागव्रतदानादौ ततो निविष्टं तदन्वेष्यम् । तदधीशः फलभागाद्यथोत्तरं कर्म । पुष्णाति । उपघातं प्रति हत्वा रक्षति तद्रक्षका भूयेति । तथा च प्रथमां पिबते वह्निरित्यस्यापि सादरावलोकनरूपे पानदानार्थ एव तात्पर्यम् । यतः कदा मदीया कलोदेष्यति तदा च मम फललाभ इति चन्द्रबिम्बे निपुणं निभालयतामेषामुक्तरूपः पानदानार्थ एव संपद्यत इति किमनुपपन्नम् । पुराणवाक्यस्य तु बिम्बातिरिक्ते भोगशरीर एव पक्षद्वयानुसारात्कथंचित्पोषक्षययोः प्रतिपादने तात्पर्यम्, न तु बिम्ब इति । अत एव सितवृद्धिर्हानिर्वा यदि शापाज्ज्ञायते कथं गणितात् । उपरि रवेरिन्दुश्चेदर्वागधं सदा शुक्लम् । रविदुष्टं सितमर्धं कृष्णमदृष्टं यथाऽऽतपस्थस्य । कुम्भस्य तथाऽऽसन्नखेरधःस्थस्य चन्द्रस्य । सितमुन्नयतोऽर्कः सितासितं शुक्लपक्षान्ते । अर्वागधं यस्माद्गणिताच्छृङ्गोन्नतिस्तस्मादिति ब्रह्मगुप्तोक्तं समञ्जसमिति समुद्ध(द्दिग)रन्ति । ननु सूर्यकरप्रसारापसारवशाच्चन्द्रे सितासितोत्पत्तिकल्पने गौरवमतो लाघवादिन्दुमण्डलस्य स्वच्छतया तत्राऽऽदित्यप्रतिबिम्बादेव तदुत्पत्तिकल्पनं युक्तमिति चेत् । अत्र वदन्ति । चन्द्रस्य दिननिष्प्रभत्वरात्रिसुप्रभत्वयोः सर्वलोकानुभवसिद्धयोरनुपपत्तिः । अहोरात्रयोस्तदेकरूपतया दर्शनप्रसङ्गश्च । ननु रश्मिप्रसरपक्षापेक्षया किमत्र प्रतिबिम्बपक्षे वैलक्षण्यमवगतं येन मन्मत एवायमनुयोगो यतस्त्वत्पक्षेऽप्येतदाशङ्कायास्तुल्य-

त्वमिति चेन्न । रश्मिप्रसारपक्षापेक्षया प्रतिबिम्बानुसरणे तावदेतावानेव विशेषो यत्संमुखाव-पवावच्छेदेन योग्ये वस्तुनि प्रतिबिम्बताकालावधि सुप्रभवत्त्वनियम एव । ननु समयभेदेन प्रतिघाताप्रतिघाताविति सर्वत्र कांस्यायसभाजनजलादौ प्रतिबिम्बकालावधि संमुखतापन्ने भागविभागे शेषे दिवाऽपि समुज्ज्वलत्वस्य सकललोकोपलब्धत्वात् । अत एव तद्गतभास्वर-रूपस्य दिवाऽपि प्रतिघाताभावेन व्यवधानेऽपि तद्ग्रहः, ननु तदुपवर्तिनः करप्रसारभाजोऽप्य-न्यभागस्येति । तथा च प्रकृतेऽपि चेत्प्रतिबिम्बानुसरणेनैवोज्ज्वलत्वमास्थीयेत तर्हि दिवाऽपि तस्य भास्वरतयोपलम्भो भवेदेवं सर्वत्र तथैव क्लृप्तत्वात् । किंच प्रतिबिम्बपक्षे प्रतिक्षणमपि संमुखतापन्नभागावच्छेदेनैव प्रतिबिम्बानियमेनान्यभागसंबन्धितया कलादिक्रमेण सितोपचया-पचयौ न स्यातां सलिलप्रवाहादौ तथैवावगम्यत्वात् । अपि च नितरामनुपपन्न एवायं पक्षः । द्वितीयादौ चन्द्रापेक्षया रवेर्विदूरस्थितत्वेन तैरश्चीन्येऽप्यस्मद्दृश्यचन्द्रगोलार्धेन सह संमुखभावाभावेन प्रतिबिम्बस्य सर्वथाऽप्यसंभवात् । अथ कथमेवं तस्य स्वच्छतया कला-दिसंभूतप्रतिनयनादिन्यायेन संमुखत्वेऽपि तदुपपत्तेरेवेति चेन्न । दर्शेऽपि तस्यानिवारि-त्वेन कथं पौर्णमासो न स्यात् । ननु मा भवतु सितमवधीकृत्य प्रतिबिम्बस्तेन व्यव-हितमास्तामसमन्मतं तथाऽपि तस्य स्वच्छतया क्वचिदपि प्रतिबिम्बः स्यादेवानिवा-रितत्वात् । तथा च बहुलाष्टम्यवधिदापक्षं परभागावच्छेदेनैव तत्संभवादवृश्यत्वेऽपि वलक्षपक्षाष्टम्यवधितसंभवत्येवेति तदा त्वन्मतेऽपि दिवाभागविशेषस्य तथा प्रत्यक्षतापत्तिरिति चेत्सत्यम् । उभयोरपि प्रकृष्टत्वेनानुयोगिनो निबिडावयवत्वेन च प्रतिबिम्बस्य परमसौक्ष्म्या-द्रश्मीनां च प्रतिघातेनाकलनादतिस्वच्छशुक्लतमद्रव्यत्वेन तैः सदृशीकृतत्वेन च विविच्य व्यवधानेन तदग्रहात् । दिवा तु तावदतिव्यवधानदोषादतिसौक्ष्म्याच्च चन्द्रकरस्यान्तरा-स्थितमध्यापारं प्रतिहत्य प्रखरं तेजोऽपसार्य प्रतिबिम्बभागस्य चक्षुषा सह संयोगायोग्य-त्वेन स्वाभिव्यक्तिजननानर्हत्वात् । ननु प्रतिबिम्बस्य सौक्ष्म्यं प्रति प्रतियोग्यनुयोगिनोरेक-तरस्याणुत्वमेव प्रयोजकम् । तथा च चन्द्रबिम्बस्यानेकशतयोजनायतव्यासोपेततया रवेरपि तदपेक्षयाऽतीवपृथुमण्डलत्वेन प्रकृते तदयोग एवेति चेन्न । प्रथममुत्सर्गतः प्रतियोगिनो निबिडावयवत्वे चातितरामेव व्यवधानस्यापि तद्विषये मूर्धाभिषिक्तत्वात् । तथा हि— व्यवधानानुसारादेव मणिमयभित्त्यादावन्ततः स्फटिकाचले च क्वचिदपि चलतो दन्तावल-स्याथवा गिरिशिखरोपगतकरितुरगादीनामुपत्यकाभागोपनिबद्धस्फटिकशिलातलादौ दैववशसंपन्ने गङ्गाजलादौ वा यथायथं प्रतिबिम्बसौक्ष्म्यमसौक्ष्म्यं च सर्वजनसिद्धमेव । अत एवेन्दुसुन्दरीवदनादेरादर्शसंबन्धे व्यवधानसंनिधानप्रयुक्तत्वेनैव प्रतिबिम्बे लघुत्वमलघुत्वं चेति । अन्यथा केवलप्रतियोग्यनुयोगिनोरेवाणुमहीयसोः प्रयोजनकत्वे सरसि पारावारे च चन्द्रादीनां तुल्यप्रतिबिम्बता न स्यात् । व्यवधानस्य तुल्यत्वेऽप्यनुयोगिनोरतुल्यत्वादिति । किंच तस्य प्रतिबिम्बत्वे बिम्बानुरूपतापत्त्या कथमस्य कलिकादिरूपतयाऽवस्थानम् । अथ तत्तथैव किंतूपरिभागादन्तरानुसारेणैव क्रमनिःसरणसम्भवेनावगिर्धं तदा तावदेव संभवतीति चेत्तर्हि तत्र संमुखत्वाभावेन प्रतिबिम्बासंभवे बाधकत्वमुक्तमेव । ननु भवन्मतेऽपि तिर-

श्चीनतामात्रेणोपस्थितौ कथमुक्तं निर्गहेदिति चेन्न । पूर्वापरयाम्योत्तरान्तरानुसारितिर-श्चीनतालाभे कराणामनुसरणीयवस्तून्नतभागकृते प्रतिबिम्बावधि संनिभत्वेन घटादेरात-पप्रदेशोपस्थापनेन बालैरपि ज्ञायमानत्वात् । अपि च सकलं गोलार्धमुज्ज्वलं न स्यात् । प्रतिबिम्बस्याल्पप्रमाणत्वात् । ननु तथात्वे तस्य का, उपपत्तिरिति चेन्न । यथा तडागे लघुतरमण्यादौ चाणुतरो भागविशेष एव प्रति बिम्बसंभवेनोज्ज्वलतामुपगच्छति न तु तेषा-मर्धेऽपि तद्वत्प्रकृतेऽपि तथा कथं न भवेदिति । प्रकृते तथैवोपगमेनेष्टापत्तिरिति चेन्न पौर्ण-मास्यन्तेऽखिलदृश्यतैव संपद्यत इति । तथा च सिद्धान्तसुन्दरे—भानुश्चेत्प्रतिबिम्बितो जलमये शीतांशुगोले दिवा निस्तेजा निशि सुप्रभः कथमथो किं सूर्यबिम्बासमः : गोलार्धे रविसो(णो)ज्ज्वलं च सकलं न स्यात्तडागे यथा मासार्धेखिलदृश्यतेति गणकाञ्ज्ञाना-ह्वयः पृच्छतीति । केचित्तु—सुराः सुधामण्डलमापिबन्ति दिनेषु कृष्णप्रतिपन्मुखेषु । तदेव सत्यं न भवेत्वार्थ वा पुराणवेदागमसास्त्रमूलम् । नवो नवोऽयं भवतीति जायमानोऽह्नि केतुः सद्रचोऽग्रमेत्य । भागं च देवेषु ददाति चन्द्रः सुदीर्घमायुस्तिरते तथैव । वेदे सुराः सूर्यकराः प्रसिद्धास्त एव पृच्छन्ति कलाक्रमेण । सितेऽसिते ते क्रमतो हरन्ति तदैकवाक्य-त्वमिदं मतं चेत्याहुः ।। ४ ।।

अथ प्रसङ्गात्स्पष्टो भुजो भवति चन्द्रभुजांश इन्दोरित्यादिना शृङ्गोन्नत्यधिकार आनीतं क्षेत्रं मन्दाक्रान्तया गोलशुक्लमार्गाविबोधकं प्रदर्शयति—यद्याम्योदगिति ।

सूर्यचन्द्रयोर्दक्षिणोत्तरमन्तरं स्वभुजसंस्कारजं यत्संख्याकं भवति तन्मितोऽत्र शृङ्गोन्न-त्युपजीव्यजात्यत्यस्रे भुजः स्यात् । तुकारात्सूर्यचन्द्रयोरूर्ध्वाधरं, अपि शब्दादन्तरं कोटिः । तयोः सूर्यचन्द्रयोश्चकारादन्तरं तिरश्चीनम् । यतस्तद्भुजकोटिवर्गैक्यमूलरूपम् । स तन्मितः कर्ण इति क्षेत्रम् । नन्विदमसंगतं तयोः केवलं याम्योत्तरान्तरस्योर्ध्वाधरान्तरस्य चासिद्धेः । बिम्बयोस्तिर्यगन्तरस्य कर्णत्वे भुजकोटिसंबन्धाभावाच्चेत्यत आह—दोर्मूल इति । सूर्यो भुजस्य मूले । चन्द्रो यद्दिशि सूर्यादुत्तरे दक्षिणे वा तद्दिशीत्यर्थः । भुजस्याग्रम् । अग्रा-त्कोटिश्चकाराद्दण्डरूपेति ब्रह्मगुप्तोक्ततिरश्चीनकोटेर्निरास इति सूचितम् । तदग्रे कोटयग्रे । चन्द्रबिम्बकर्णो रविदिक्चन्द्रबिम्बप्रतिफलनयोग्यसूर्यबिम्बमध्यभागस्थकिरणमार्गः कर्ण इत्यर्थः । तथा च सूर्याधःशङ्कोश्चन्द्रोर्ध्वशङ्कुरधिकस्तदा चन्द्रशङ्कुमूलात्सूर्याधःशङ्कुतुल्यं सूत्रं तथैवावलम्बयेत्सा कोटिश्चन्द्रादवलम्बरूपा शङ्क्वैक्यमिता कोटिमूलसूर्यबिम्बयोस्तिर्य-गन्तरसत्त्वेऽपि तयोर्याम्योत्तरान्तरं स्पष्टभुजतुल्यसूत्रं कोटिमूलाद्भुजो रवितश्चन्द्रस्य भुजा-न्तरत्वात्सूर्यो भुजमूले पूर्वापरान्तरसत्त्वेऽपि याम्योत्तरान्तराभावादविरुद्धो भुजमूलचन्द्रबिम्ब-योरन्तरं कर्णः । एवं सूर्याधःशङ्कोश्चन्द्रोर्ध्वशङ्कुरूनस्तदाऽधोग्रं शङ्कुमूलसक्तं चन्द्रशङ्कु-तुल्यं सूत्रं तदनुसारमूर्ध्वं धार्यं सा शङ्क्वैक्यरूपा कोटिः सूर्यादूर्ध्वावलम्बरूपा । कोटिमूल-चन्द्रबिम्बयोस्तिर्यगन्तरसत्त्वेऽपि स्पष्टभुजतुल्यं सूत्रं कोटिमूलाद्भुजः । अत्रापि पूर्वापरान्त-रसत्त्वेऽपि याम्योत्तरान्तराभावाद्भुजाद्भुजाग्रे चन्द्रः । भुजाग्रसूर्ययोरन्तरं कर्ण इति क्षेत्रं गोले प्रत्यक्षमिति भावः । ननूक्तक्षेत्रस्य प्रयोजनं किमत आह—अनयेति । तेन । यतः कर्णौ

रविदिक्तेन कारणेनेत्यर्थः । तेनेत्यस्य पुनरावृत्त्या सूर्येण । अनया स्वाभिमुखकर्णमार्गेणेत्यर्थः । शुक्लं स्वकिरणप्रतिफलनसंपादनेन चन्द्रगोले शुक्लरूपं दीयते । संपाद्यत इत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मगुप्तोक्तकर्णबिम्बस्यैतद्बिम्बान्तररूपत्वात्तदनुरोधेन चन्द्रसूर्यकरप्रतिफलनं युक्तमतः स्वाभिमतकर्णस्य साक्षात्तदन्तरत्वाभावात्तदनुरोधेन शुक्लरूपमुक्तमङ्गतं तथाऽपि तत्कर्णमार्गेण शुक्लदर्शनात्तथोक्तमिति ध्येयम् ।।५।।

केदारदत्तः—चन्द्रबिम्ब में शुक्लत्व और कृष्णत्व दर्शन का हेतु—

अमृतमय चन्द्रबिम्ब, सूर्य की किरणों के सम्पर्क से सूर्याभिमुख चन्द्र बिम्ब आकाश में द्योतित (चमकीला) होता है । सूर्य की विपरीत दिशा में रमणीय रमणी के शिर में उत्पन्न श्याम वर्ण के केश समूह की श्यामलता की तरह, सूर्याभिमुख धूप में स्थापित घट की तरह अर्थात् सूर्याभिमुख घड़े में घट की उज्वलता, तथा घड़े की विरुद्ध दिशा में घट की श्यामलता की तरह चन्द्रमा दिखाई देता है ।

सूर्य कक्षास्थ सूर्य से नीचे की चन्द्रकक्षा गत चन्द्रमा का आधा भाग $\frac{1}{2}$ दृष्टा के दृष्टियोग्य भाग दृश्य और $\frac{1}{2}$ भाग अदृश्य होता है । अमान्त काल में दृश्यभाग कृष्ण और अदृश्य भाग उज्वल रहता है । तथा पूर्णान्त में सू० से चन्द्रमा ६ राशि आगे रहता है । प्रतिदिन सम्बन्धी सूर्य चन्द्र की गतियों के आधार से परिवर्त्तन रहने से प्रकाश मय $\frac{1}{2}$ चन्द्रमा दृश्य और $\frac{1}{2}$ भाग अदृश्य रहता है । यह सामान्य और स्थूल नियम है ।

सूर्य बिम्ब से चन्द्रबिम्ब जब भगण के चतुर्थांश से अन्तरित होता है तो नरदृष्टि से अर्द्धदृश्यमाण चन्द्रमा का आधा बिम्ब शुक्ल का दृश्यमान होता है ।

जलज होने से जलमय चन्द्रबिम्ब में सूर्य से आगे होते होते शुक्लवृद्धि से शुक्लता और सूर्य समीपगमन में दृश्य चन्द्रबिम्ब में शुक्ल की हानि होती है । अत एव चन्द्र दर्शन शृङ्गाकार बिम्ब की तरह दीखता है क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा दोनों बिम्बों का स्वरूप गोलाकार है ।

सूर्य चन्द्रमा का याम्य अन्तर = भुज = याम्योत्तर, तथा सूर्यचन्द्रमा का जो ऊर्ध्वाधर अन्तर = कोटि, भु^{2} + को^{2} = कर्ण^{2} । कर्ण वर्ग का मूल = कर्ण ।

भुज मूल में सूर्य से चन्द्र दिशाऽभिमुख भुजाग्र से कोटि के अग्रभाग में चन्द्रमा को कर्ण मार्ग से सूर्य; सित = शुक्लाङ्गुल देता है ।।१–५।।

अथाध्यायोपसंहारश्लोकमाह—

ईषदीषदिह मध्यगमादौ ग्रन्थगौरवभयेन मयोक्ता ।
वासना मतिमता सकलोह्या गोलबोध इदमेव फलं हि ।।६।।

वा० भा०—हि यस्मात्कारणाद्गोले ज्ञात इदमेकं फलं यदश्रुताऽपि वासनोह्यते ।।६।।

इति श्रीभास्करीये सिद्धान्तशिरोमणिगोलभाष्ये मिताक्षरे
शृङ्गोन्नतिवासनाध्यायः ।

मरीचिः—अथ गोलप्रश्नाध्याये शृङ्गोन्नतिप्रश्नानन्तरं प्रश्नो नास्ति। तदुत्तरोत्तर-मुत्तरान्तरं च नास्तीति क्षेपकनिवारणसूचनार्थं पूर्वार्धग्रन्थोक्तवासनां स्वाङ्गतयोपसंहरति—ईषदीषदिति। इह गोलाध्याये। मध्यगमादौ। मध्यानां ग्रहाणां गमो ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति ज्ञानं यस्मिन्निति मध्यगमो मध्यमाधिकारः। आदिशब्दात्स्पष्टाधिकारादीनां ग्रहणम्। तद्विषय इत्यर्थः। मया भास्कराचार्येण। ईषदीषत्। सर्वत्रोपपत्तिकथनाशक्यत्वाद्व्यवहिते स्थले स्थलेऽतिकठिनभूतेऽल्पा संक्षिप्तेत्यर्थः। वासनापदार्थस्तत्त्वविचारणा उक्ता प्रतिपादिता। ननु विस्तरेण वासना कुतो नोक्तेत्यत आह—ग्रन्थगौरवभयेनेति। सर्वत्र विस्तरतया तन्निरूपणे ग्रन्थबाहुल्यं भवति। तद्भयेन संक्षिप्तोक्ताऽतिविस्तृतग्रन्थे प्रेक्षावतां विलोकन-श्रमाधिक्येनाप्रवृत्तेरिति भावः। ननु तर्हि पदार्थान्तरवासना गणितोपपत्तिश्च कथं ज्ञेयेत्यत आह—मतिमतेति। गोलस्वरूपतत्त्वज्ञेन सुबुद्धिना गणकेन सकला पूर्वार्धोक्ताखिलपदार्थ-गणितसंबन्धिनी वासना। ऊह्या ज्ञेया। स्वतः। ननु स्वतोऽज्ञातवासनावगमः कथं स्यादित्यत आह—गोलबोध इति। हि यस्मात्कारणात्। गोलबोधे गोलत्वरूपतत्त्वे ज्ञाते सति। इदं स्वतोऽज्ञातवासनाज्ञानं फलं प्रयोजनम्। अन्यथा गोलज्ञानस्याप्रयोजकत्वेऽत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। एवकारादेतत्फलातिरिक्तं प्रधानं फलान्तरं नास्तीति सूचितम्। गोले सा विमला करामलकवत्प्रत्यक्षतो दृश्यते। इत्युक्तत्वात्। मदुक्तत्वात्। मदुक्तरीत्या च सुबुद्धेस्तदवगमो नाशक्यः। ईषन्मया निगदितेयमिहोपपत्तिर्योज्या बुधैर्निजधिया परिभाव्य चान्या। शास्त्रं करोति विदुषामुपदेशलेशं तत्तैलवत्पयसि ते प्रथयन्ति सम्यगिति श्रीपत्युक्तेरिति भावः ॥६॥

अथ प्रारब्धोऽधिकारो निरूपित इति फक्किकयाऽऽह—इति शृङ्गोन्नतिवासनाधिकार इति। स्पष्टम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
याता शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं शीतांशुशृङ्गनमनोन्नतिवासनेयम् ॥

अथ तदधिकारसमाप्त्यैवाऽऽरब्धो वासनाध्यायः समाप्त इति स्पष्टं मन्दार्थं फक्किकयाऽऽह—इति श्रीभास्करीयसिद्धान्तशिरोमणौ वासनाध्याय इति। स्पष्टम्।

वासनाध्यायममलं मरीचिस्थं मुहुर्मुहुः।
दृष्ट्वाऽन्तः परमानन्दं लभन्तां गणकोत्तमाः ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वर-गणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये वासनाध्यायः संपूर्णः ॥

केदारदत्तः—अध्याय के उपसंहार के अवसर पर आचार्योक्ति—

मध्यम स्पष्टादि और समग्र ग्रन्थ के अन्य अधिकारों में मुख्य मुख्य विषयों पर यथोचित कुछ न कुछ उपपत्ति कह दी है। विद्वान् खगोलज्ञों ने सभी विषयों की व्याख्या करते रहनी चाहिए। गोलबोध का यही स्पष्ट फल है। ॥६॥

भू-पृष्ठ से आकाश दर्शन में आकाशीय कोई भी पदार्थ आधा से भी कम दिखाई देता है और वह भी गोलाकार दीखता है । क्षेत्र देखने से स्पष्ट हो रहा है । इति ।

वास्तव में दृष्टा और दृश्य बिम्बों में परस्पर की स्पर्श रेखाओं के अन्तर्गत दृश्य बिम्ब का आधे से अल्प बिम्ब दृश्य और आधे से अधिक ब्रिम्ब सदा अदृश्य होता है । जैसे—स्प पृ स्पं = ३६०° – (< पृ स्प के + < पृ स्पं के + <स्प के स्प स्प इन तीनों कोणों का योग १८० अंश से अधिक है जिसे ३६०° में घटा देने से स्प पृ स्पं दृश्य बिम्ब कोण का मान १८०° से कम स्वतः सिद्ध है ।
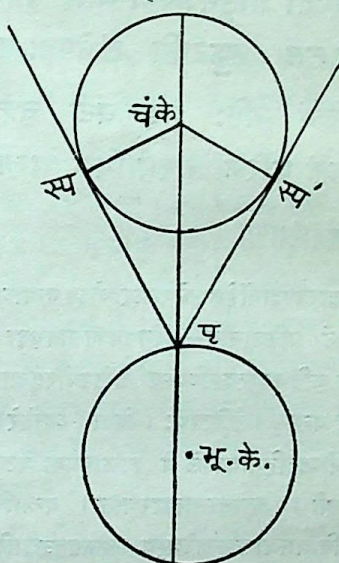
इस प्रकरण को इसी ग्रन्थ के ग्रह गणिताध्याय के श्रृंगोन्नति अधिकार के पृ० २५६ सं० केदारदत्त जोशी कृत शिखा भाष्य उपपत्ति के साथ तथा गुरूणां गुरु श्री पं० सुधाकर द्विवेदी कृत वास्तव चन्द्रश्रृङ्गोन्नति ग्रन्थ अवश्य देखिये। ग्रन्थ विस्तार भय से यहाँ पर इस विषय का अधिक व्याख्यान अनावश्यक है ।

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगोलाध्याय श्रृङ्गोन्नति अधिकार की
पण्डित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्तजोशी कृत
"केदारदत्तः" सोपपत्तिक हिन्दी व्याख्यान सुसम्पन्न ।

अथ यन्त्राध्यायः

अथ यन्त्राध्यायो व्याख्यायते । तत्राऽऽदौ तदारम्भप्रयोजनमाह—

दिनगतकालावयवा ज्ञातुमशक्या यतो विना यन्त्रैः ।
वक्ष्ये यन्त्राणि ततः स्फुटानि संक्षेपतः कतिचित् ॥१॥

गोलो नाडीवलयं यष्टिः शङ्कुर्घटी चक्रम् ।
चापं तुर्यं फलकं धीरेकं पारमार्थिकं यन्त्रम् ॥२॥

वा० भा०—स्पष्टम् ॥१॥२॥

मरीचिः—अथ सिद्धान्तपदार्थोद्देशक्रमेणाऽऽरब्धोऽयं यन्त्राध्यायो व्याख्यायते । तत्राऽऽर्यया तन्निरूपणं सप्रयोजनं प्रतिजानीते—दिनगतकालावयवा इति । यतः कारणात् । यन्त्रैः विप्रकर्षेणासुलभस्य कृतिभूयस्त्वसाध्यस्य कतिपयोपयुक्तार्थस्य साक्षादिवोपलब्धिजनकोऽनुकल्पितो वस्तुविशेषो यन्त्रम् । तैरित्यर्थः । विना । व्यतिरेकेण । दिनगतकालावयवाः । दिनगताः सूर्योदयकालादभीष्टतद्दिनीयकाले ये कालावयवा घट्यादिरूपास्ते ज्ञातुमशक्याः । तेषां ज्ञानं शक्यं नेत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात् । यन्त्राणि वक्ष्ये । तत्स्वरूपादिना कथयिष्ये । तथा च ज्योतिःशास्त्रोक्तफलादेशस्य लग्नग्रहबलादिद्वारा कालाधीनत्वात्तज्ज्ञानं यन्त्रैरिति तत्कथनमावश्यकम् । यद्यपि छायातस्त्रिप्रश्नाधिकारोक्तप्रकारेण कालज्ञानं संभवति तथाऽपि तत्र गणितश्रमाधिक्यादल्पगणितेन विना गणितं वा यन्त्रात्कालसिद्धिरत एवैतत्कथनेन ग्रन्थस्य सचमत्कारत्वमिति भावः । ननु यन्त्रनिर्माणस्य श्रमाधिक्यात्त्रिप्रश्नोक्त्यैव कालज्ञानं सम्यगित्यत आह—तत्स्फुटानीति । तन्निर्माणे श्रमाधिक्याभावात्तस्य स्थिरत्वेनान्यदाश्रमासंभवाच्च यन्त्रात्कालज्ञानमतिलघुभूतमिति भावः । यद्वा गणितानपेक्षतया सुखेन तत्सिद्धिः स्थूलत्वसूचिकेत्यत आह—स्फुटानीति । सूक्ष्माणीत्यर्थः । यन्त्रात्कालज्ञानं सूक्ष्मं न स्थूलं तस्य गोलस्थितितत्त्वतया सिद्धत्वादिति भावः । नन्वेकैकयन्त्रनिरूपणस्य पूर्वं विस्तृतत्वात्सर्वयन्त्रनिरूपणमतिविस्तरेण भवतीति सर्वग्रहगणितवासनोक्तिवद्यन्त्रनिरूपणमुपेक्षणीयमित्यत आह—संक्षेपतः इति । तदुक्तिसारमादाय तन्निरूपणं स्वल्पग्रन्थेन संभवतीत्यनुपेक्षणीयमिति भावः । ननु तथाऽपि यन्त्राणामनेकत्वात्संक्षेपतस्तन्निरूपणे ग्रन्थविस्तृतत्वापत्तिरत आह—कतिचिदिति । यन्त्राणां बुद्धिवैभवेन कल्पितत्वात्तदानन्त्यसंभवेनाखिलानां वक्तुमशक्यत्वादल्पान्येव यन्त्राणि वक्ष्य इति न ग्रन्थविस्तरः संभवतीति भावः ॥१॥

अथ प्रतिज्ञातयन्त्राणां न्यूनाधिकत्वव्यवच्छेदायोद्देशमुद्गीत्याऽऽह—गोलो नाडीवलय-मिति । यन्त्रमिति प्रत्येकमन्वयः । नाडीवलयमित्येकम् । घटोचक्रमिति यन्त्रद्वयेनैकम् । एवं फलकान्तं नव यन्त्राणि । एकं बुद्धिर्यन्त्रम् । एकमिति पृथगुद्देशेन प्रागुद्दिष्टयन्त्रेभ्यो-ऽभ्यर्हितत्वं सूचितम् । कुत इत्यतस्तद्विशेषणमाह—पारमार्थिकमिति । अन्यानि पूर्वोक्तानि यन्त्राण्यनुकल्परूपाण्यवास्तवानि बुद्धिस्तु नानुकल्परूपा स्वयमेव वस्तुभूता यन्त्रम् । उत्कृष्टार्थबोधकमिति वा तया चाभ्यर्हितत्वं सहजतः सिद्धमिति भावः । एतेन कतिचिदि-त्यत्र तानि कियन्तीत्युपस्थितप्रश्नस्य निरासः सूचितः ।।२।।

केदारदत्तः—ब्रह्मांडगत सौर मण्डल की कतिपय वस्तु विशेष की यथार्थ उपलब्धि कराने वाली मानव बुद्धि द्वारा निर्मित पदार्थ का नाम यन्त्र है—

स्थूल और सूक्ष्म भेद से भी समय की आनन्त्योन्मुखी गति का ज्ञान करना संभव नहीं है । महान् काल ब्रह्म का, आदि और अन्त कहाँ से कहाँ तक, यह कहना असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है । "बुद्धिरेव बीजमिति" यथा शक्ति बुद्धिगम्य विषयों पर प्राक्कालीन महामनीषी ब्रह्मर्षियों ने प्रकाश दिया है । प्रकाश नामक एक भौतिक पदार्थ भी गमनशील है । वह भी कालाधीन है या काल ही प्रकाश का कारण है या प्रकाश का विस्तार ही काल है इत्यादि खगोल विषयों की गतिविधि समझने के लिये तादृश या तादृक् भौतिक उपकरणों से मानव द्वारा आज तक निरन्तर प्रयत्न होता आ रहा है, इस विशाल वस्तुस्थिति के ज्ञान के लिये इन भौतिक साधनों को 'यन्त्र' कहा जाना चाहिए और कहा भी जा रहा है ।

आकाशस्थ ग्रह पिण्डों द्वारा समय ज्ञान के लिये यहाँ पर आचार्य कुछ प्रसिद्ध यन्त्रों के उपयोग द्वारा सूक्ष्माति सूक्ष्म दिनगत काल के अवयवों के ज्ञान के लिये यन्त्रों द्वारा इस अध्याय का आरम्भ कर रहे हैं कि आधुनिक युग में घण्टा मिनिट सेकण्ड.... सूचक घटी यन्त्र सर्वत्र सुलभ है ।

यन्त्रों के बिना दिनगत काल के सूक्ष्माति सूक्ष्म अवयवों का ज्ञान नहीं होता है, अत एव संक्षेप से समय सूचक कतिपय यन्त्रों का वर्णन इस यन्त्राध्याय नाम के अध्याय में किया जा रहा है ।

इस प्रकार यन्त्रों में (१) गोलयन्त्र (२) नाडीवलय (३) यष्टि (४) शङ्कु, (५) घटी, (६) चक्र, (७) चाप, (८) तुर्य और (९) फलक यन्त्रों के वर्णन के साथ सर्वोपरि सर्वोत्तम एक यन्त्र है जिसका नाम "धो" अर्थात् बुद्धि यन्त्र है ।

वह जो आध्यात्मिक विषय है वही सर्वोपरि सर्वत्र गमनशील एक सर्वज्ञता बोधक पारमार्थिक "धी" यन्त्र है ।।१।।२।।

अथ प्रथमं गोलयन्त्रमाह—

अपवृत्तगरविचिह्नं क्षितिजे धृत्वा कुजेन संसक्ते ।
नाडीवृत्ते बिन्दुं कृत्वा धृत्वाऽथ जलसमं क्षितिजम् ॥३॥
रविचिह्नस्य च्छाया पतति कुमध्ये यथा तथा विधृते ।
उडुगोले कुजबिन्द्वोर्मध्ये नाड्यो द्युयाताः स्युः ॥४॥

वा० भा०—यथोक्तविधना खगोलान्तर्भगालं तत्र क्रान्तिबृत्ते मेषादोरारभ्य रविभुक्ताराशिभागाद्यं दत्त्वा तदग्रे यच्चिह्नं तदपवृत्तगरविचिह्नमुच्यते । भगोलं चालयित्वा रविचिह्नं क्षिजिज धार्यम् । तथा घृते सति क्षितिजं प्राच्यां विषुवन्मण्डले यत्र लग्नं यत्र खटिकया बिन्दुः कार्यः । ततः क्षितिजवृत्तं जलसमं यथा भवति तथा गोलायन्त्रं स्थिरं कृत्वा भगोलस्तथा चाल्यो यथा रविचिह्नस्य च्छाया भूगर्भे पतति । तथा कृते सति विषुपद्वृत्ते क्षितिजबिन्द्वोर्मध्ये यावत्यो घटिकास्तावत्यस्तस्मिन् काले दिनगता ज्ञेयाः । अपवृत्ते मेषादेरारभ्य प्राक्क्षतिजपर्यन्तं यद्राशिभागाद्यं तल्लग्नं ज्ञेयम् । इतिगोलायन्त्रम् ॥ **३** ॥ ४ ॥

मरीचिः—अभ गोबबन्धोक्तविधिना शिद्धदृष्टान्तगोलस्यैव गोलयन्त्रत्वसिद्धेस्तद्यन्त्रात्प्रथमोद्दिष्टात्कालज्ञानं गीत्यार्याभ्यामाह—अपवृत्तगरेति । अपवृत्तगरविचिह्नम् । खगोलान्तर्भगोलस्थक्रान्तिवृत्ते मेषादेस्तत्कालिकस्पष्टार्कभोगं दत्त्वा कृतचिह्नमित्यर्थः । क्षितिजे । खगोलबद्धक्षितिजप्राग्भागसमसूत्रे । कृत्वा । भगोलप्रचालनेन संपाद्येत्यर्थः । तदानीं कुजेन क्षितिजवृत्तप्राग्भाप्रदेशेन । संसक्ते समसूत्रतया संलग्ने । नाडीवृत्ते । विषुवद्वृत्तप्रदेशे बिन्दुचिह्नं कृत्वा । अथ तदन्तरम् । जलसमं जलं यथा समानमस्ति नोच्चवचं तद्वत् । क्षितिजं खगोलबद्धक्षितिजवृत्तं यथा स्यात्तथा खगोलान्तर्गतभगोलरूपं गोलयन्त्रं धृत्वा । ऊर्ध्वाधःस्वस्तिकयोः परमोच्चनोचतासंपादनद्वारा कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरम् । रविचिह्नस्य । भगोलस्थक्रान्तिवृत्तसूर्यचिह्नस्य । आकाशस्थसूर्यबिम्बजनिता छाया कुमध्ये । भगोलाश्रयभूतयष्टिमध्यप्रोतशिथिलभूगोलमध्यगर्भे यथा षतति तदाऽयं (ग्रं) भवतोत्यर्थः । तथा भ्रमणेन । उडुगोले गाले विधुते सति । कुजबिन्द्वोर्विषुवद्वत्ते खगोलबद्धक्षितिसमसूत्रेण यत्स्थानं तत्कुजम् । बिन्दुर्विषुवद्वृत्ते पूर्वं क्षितिजससूत्रेण कृतं चिह्नं तयोरित्यर्थः । मध्ये । अन्तराले विषुवद्बृत्तप्रदेशे । अङ्किता घट्यो दिनस्य गता भवन्ति । विषुवद्वृत्ते षष्टिवटीनायङ्कीकतत्वात् । अत्रोपपत्तिः—अपवृत्तगरविचिह्नं क्षितिजे कृत्वेत्यनेन सूर्योदयकालिका गोलस्थितिरुक्ता । ततः प्रवाहानिलशेन सूर्यगमनेन दिनगतकालवयवानामुत्पत्तेः । तत्र ततः सूर्यबिम्बस्योर्ध्वंगमनेन स्वाभीष्टकाले सूर्याधिष्ठितद्युरात्रवृत्ते क्षितिजसमसूत्रसक्तद्युरात्रप्रदेशसूर्यबिम्बकेन्द्रयोरन्तरे या अङ्किता घट्यो दिनगतघट्यो द्युरात्रवृत्तस्य षष्ठिघटयङ्कितत्वात् । अत्रापि क्रान्तिवृत्ते प्रतिप्रदेशं द्युरात्रवृत्ता-

निबन्धनात्कल्प्यराश्यादिप्रदेशे तन्निबन्धनात्कल्प्यराश्यादिव्यतिरिक्तसूर्ये तज्ज्ञानमुक्तदिशा न शक्यमतोऽनुगमार्थं विषुवद्वृत्तस्याहोरात्रवृत्तानुसतत्व । त्सूर्योदयकालिकगोलस्थितौ क्षितिजसक्तविषुवद्वृत्तप्रदेशचिह्नं कृतम् । तस्यापि सूर्यबिम्बचलनवशेन चलनसंभवादिति कुजेन संसक्ते नाडीवृत्ते बिन्दुं कृत्वेत्युक्तम् । ततः सूर्यस्य स्वदेशे भ्रमणं तथा सूर्यचिह्नस्य दृष्टान्तगोले भ्रमणदर्शनार्थं जलसमं क्षितिजमित्यनेन दृष्टान्तगोलः स्वदेशे वास्तवगोलानुरुद्धः कृतस्ततोऽभीष्टकाले वास्तवगोले यथाऽर्कस्थितिस्तथा दृष्टान्तगोलेऽर्कचिह्नस्थितिसिद्धचर्थम् । रविचिह्नस्य च्छाया पतति कुमध्ये यथा तथा विधृते उडुगोले इत्युक्तम् । अन्यथा सूर्यबिम्बक्रान्तिवृत्तस्थार्कचिह्नयोरूर्ध्वाधरान्तरसत्त्वेऽप्यभिन्नदृङ्मण्डलानुकारेणावस्थानानुपपत्तेः । तदा विषुवद्वृत्तस्थचिह्नस्याप्यर्कचिह्नानुरोधेन भ्रमणाद्विषुवद्वृत्ते कुजबिन्द्वोरन्तरालघटयो दिनघटय इति सम्यगुक्तम् । दृष्टान्तगोले भूगर्भक्षितिजवृत्तनिबन्धनादुक्तदिशा भूगर्भसूर्योदयाद्गतघटयो न भूपृष्ठसूर्योदयादतो दृष्टान्तगोले निबद्धक्षितिजादूर्ध्वभूव्यासार्धानुरोधेन समान्तरेण ततो लघुवृत्तं भूपृष्ठक्षितिजं निबद्धोक्तदिशा भूपृष्ठन भूगर्भसूर्योदयादिति ध्येयम् । यद्यपि यत्काले दिनगतं ज्ञातुमिष्टं तत्तत्कालिकसूर्यचिह्नाद्युक्तं सूक्ष्मत्वादतो दिनगतज्ञानाभावेन तात्कालिकार्कज्ञानासंभवात्सूर्योदयकालिकसूर्यग्रहणाद्घटयः स्थूला इति सूक्ष्मार्थं चालनेन तात्कालिकं सूर्यं कृत्वोक्तदिशा घटयन्ततः सूक्ष्मा अपि स्थूलः स्थूलघटीभिः सूर्यचालनादतः पुनः सूक्ष्मासन्नघटीचालनेनार्कं कृत्वोक्तदिशा घटयस्ततोऽपिसूक्ष्मा इत्यसकृत्तत्साधनं युक्तम् । एतेन सूर्योदयाभीष्टकालयोर्द्युरात्रभेदाद्युक्तदिशैकद्युरात्रवृत्तघटीग्रहणमयुक्तम् । युक्तं चार्कोदयाभीष्टकालार्कचिह्नस्पष्टवृत्ते तद्ग्रहणमिति निरस्तम् । असकृत्साधनेन निरन्तरत्वसिद्धेस्तथाऽप्याचार्यैर्गणितश्रमाकरणलाघवात्स्वल्पान्तराच्च सकृत्तत्साधनानुक्तेर्न क्षतिः ॥ ४ ॥

केदारदत्तः—गोलयन्त्र की रचना बताई जा रही है—

ग्रह बिम्बोपरिगत कदम्ब प्रोतवृत्त जहाँ पर क्रान्तिवृत्त के साथ सम्पात करेगा उस जगह पर वह उस ग्रह का स्थान होता है । क्रांतिवृत्त में मेषादि से आरम्भ कर स्थान बिन्दु तक भुक्त राशि, अंश, कला, विकलादि बिन्दु को भगोल में चलाकर क्षितिजवृत्त के साथ सम्पात करना चाहिए ।

ऐसी स्थिति में प्राक् क्षितिज में क्षितिजवृत्त का विषुवद्वत्त के साथ जहाँ सम्पात होता है वहाँ पर कोई चिह्न कर देना चाहिए ।

जल की तरह समान धरातल में क्षितिजवृत्त नाडीवृत्त सम्पात के आधार से गोल यन्त्र को स्थिर कर उसमें भगोल की ऐसी स्थापना करनी चाहिए जिससे सूर्य बिम्ब की छाया भूगर्भ बिन्दु में पतित होती है ।

इस प्रकार उक्त स्थिति से विषुवद्वृत्त में क्षितिज वृत्त से जितनी घटिका पलविपलादि होती हैं उतनी ही सूर्योदय से दिन का गत घटिकादि काल होता है तथा

क्रान्तिवृत्त में मेषादि बिन्दु से प्राक्क्षितिज पर्यन्त जो राश्यादिक होती है उसका मान लग्न मान होता है। यह गोलयन्त्र है ॥४॥

अथ नाडीवलयमाह—

अपवृत्ते कुजलग्ने लग्नं चाथो खगोलनलिकान्तः ।
भूस्थं ध्रुवयष्टिस्थं चक्रं षष्टया निजोदयैश्चाङ्क्यम् ॥५॥
व्यस्तैर्यष्टीभायामुदयेऽर्कं न्यक्ष्य नाडिका ज्ञेयाः ।
इष्टच्छायासूर्यान्तरेऽथ लग्नं प्रभायां च ॥६॥
केनचिदाधारेण ध्रुवाभिमुखकीलकेऽत्र धृते ।
अथवा कीलच्छायातलमध्ये स्युर्नता नाड्यः ॥७॥

वा० भा०—अत्र चारुदारुमयमिष्टप्रमाणं चक्राकारं समं नेम्यां षष्टिघटिकाङ्कं यन्त्रं स्वगोलमध्यस्थायां ध्रुवयष्टौ पृथ्वीमध्यस्थाने प्रोतं कार्यम्। तथा स्वोदयप्रमाणेर्मेषादिराशिभिरसमैरुभयपार्श्वयोः षड्वर्गेण च बुद्धिमताऽङ्कनीयम्। तैश्चोदयैर्विलोमैरङ्क्यम्. मेषात् पश्चिमतो वृषो वृषात् पश्चिमतो मिथुन इत्यादि। इत्यादि। स चाङ्कनप्रकारः सर्वतोभद्रयन्त्रे यथा मया पठितः—

वृतौ चक्रभागैस्तदन्तर्घटीभिः स्वदेशोदयैश्चाङ्क्येदस्य पार्श्वम्।
प्रतिस्वोदयं खाग्निभिः क्षेत्रभागैस्त्रिभागाभिधैर्द्वादशांशैर्नवांशैः॥
त्रिभागैर्द्विभागैस्तथा स्वस्वनाथैः प्रयत्नेन षड्वर्गमेवं विभज्य।

एवं यन्त्रं कृत्वा यस्मिन् दिने तेन कालज्ञानं तस्मिन् दिने यावानौदयिको रविस्तद्भुक्तान् राशीन् मेषादेर्दत्त्वा भुज्यमानराशेर्भागान् क्षेत्रभागेषु दत्त्वाग्रे रविचिह्नं कार्यम्। तस्मिन् दिन उदयकाले यष्टिच्छाया या पश्चिमतो गता तस्यां छायायां रविचिह्नं यथा भवति तथा यन्त्रं स्थिरं कार्यम्। ततोऽनन्तरं रविर्यथा यथोपरि याति तथा तथा छायाऽधो गच्छति। छायार्कचिह्नयोर्मध्ये या घटिकास्ता दिनगता ज्ञेयाः। तथा यष्टिच्छायायां यो राशिर्ये च क्षेत्रांशास्तल्लग्नं ज्ञेयम्। सच षड्वर्गः। अथवा किं खगोलान्तःस्थेन यष्टिप्रोतेन। चक्रान्तरिष्टप्रमाणं कीलकं प्रोतं कृत्वा स कीलको ध्रुवाभिमुखो यथा भवति तथा केनचिदाधारेण चक्रं स्थिरं कार्यम्। तथा कृत इष्टकाले कीलच्छाया यत्र लगति तस्य यन्त्राधश्चिह्नस्य च मध्ये नतनाडिका ज्ञेयाः। इति नाडीवलयम् ॥५॥६॥७॥

मरीचिः—अथास्माद्यन्त्रादभीष्टकाले लग्नज्ञानमुद्देशक्रमप्राप्तनाडीवलयप्रतिपादनं तस्माद्दिनगतलग्नज्ञानं च गीत्यार्याभ्यामाह—अपवृत्ते कुजेति। क्रान्तिवृत्ते क्षितिजसंलग्ने लग्नं ज्ञेयम्। चः समुच्चये। तेन यत्काले दृष्टान्तगोले घटिका गृहीतास्तत्काले

(दृष्टान्त)गोलस्थक्षितिजसमसूत्रेण यः क्रान्तिवृत्तप्रदेशस्तस्य मेषादितो यद्राश्याद्यं तन्मितं लग्नमित्यर्थः। अत्रोपपत्तिर्लग्नस्वरूपोक्तिः स्पष्टा। अथ नाडीवलययन्त्रसाधनमाह—अथवेति। गोलयन्त्रनिरूपणानन्तरं नाडीवलययन्त्रमुच्यत इति शेषः। तदाह—खगोलनलिकान्त इति। नलिकाद्वयप्रोतं खगोलमुक्तदिशा कृत्वा तन्नलिकयोर्मध्य इत्यर्थः। ध्रुवयष्टिस्थनलिकाद्वयप्रोताग्रध्रुवयष्टिप्रोतं चक्रं चारुदारुनिर्मितमिष्टव्यासार्धजनितपरिधिप्रमाणं चक्राकारं केन्द्रच्छिद्रमनतिसूक्ष्मनेमिकं कार्यम्। ननु ध्रुवयष्टेर्दीर्घतया कस्मिन् भागे चक्रं प्रोतं कार्यमित्यत आह—भूस्थामिति। यथा भूगोलरचनावसरे यष्ट्यर्धे भूगोलकेन्द्रं भवति तथा भूगोलानुकल्पकाष्ठगोलो निवेश्यते तद्वत्स्थाने चक्रं ध्रुवयष्टिगर्भाभिन्नकेन्द्रकं दृढप्रोतं कार्यमिति भावः। तच्चक्रं नेम्यां षष्ट्या सममङ्क्यं नेम्यां षष्टिभागान् समान् कृत्वैकादिकाः षष्ट्यन्ताः पश्चिमक्रमेण लेख्याः। तदन्तः प्रत्येकं षष्टिपलान्यङ्क्यानीति ध्येयम्। निजोदयैः स्वदेशराश्युदयप्रमाणैर्व्यस्तैः पश्चिमानुक्रमैरित्यर्थः। अम्बरम्। (अङ्क्यम्)। चः समुच्चये। एतदुक्तं भवति। एकादिस्थानान्मेषप्रमाणघटिकावधिर्मेषविभाग उभयपार्श्वयोरङ्क्यस्ततो वृषघटीप्रमाणविभागे वृष उभयपार्श्वयोरेवं मिथुनादयः स्वघटीप्रमाणविभागेउभयपार्श्वयोरङ्क्याः। पश्चिमानुक्रमेण प्रतिराशिविभागं त्रिंशद्भागाः समाः। प्रतिभागसमाः षष्टिकलाः। प्रतिकलं समाः षष्टिविकला अङ्क्या इति। अथास्माद्दिनगतज्ञानप्रकारमाह—यष्टीभायामिति। यद्दिनीयदिनगतं ज्ञातुमिष्टं तद्दिनोदयिकस्पष्टसूर्यभोगमत्र मेषादितो राश्यङ्कनक्रमेण गणयित्वाऽर्कचिह्नं कार्यं तदर्कचिह्नं सर्वोदये द(य)ष्टीभायां न्यस्य। जलसमक्षितिजे खगोले धृते। उदयकालिकयष्टिच्छायाचक्रे यस्मिन्भागे पतति तस्मिन्स्थाने यष्टिभ्रमणेनार्कचिह्नमानीयेत्यर्थः। सूर्योदयकालिकयष्टिच्छायाग्रे भूपृष्ठचोदयकालिकसूर्यचिह्नं भवति तथा यष्टिभ्रमणेन चक्रं स्थिरं कार्यमिति फलितम्। अत्र विषुवद्दिने यष्टिच्छाया चक्रे उभयपार्श्वयोरेकत्र पतति। उत्तरे गोले उत्तरपार्श्वे उत्तरभागस्थयष्टेश्छाया दक्षिणगोले दक्षिणपार्श्वे दक्षिणभागस्थयष्टेश्छाया भवतीति ध्येयम्। ततो यथा यथा रविरूर्ध्वं याति तथा तथाऽर्कचिह्नाद्यष्टिच्छाया चक्रेऽत्रो यात्यतोऽभीष्टकालिकच्छायाग्रसूर्यचिह्नयोर्मध्ये चक्रनेम्यां यावन्तो विभागास्तावत्यो दिनगतघटिका ज्ञेयाः। एता भूपृष्ठस्थाः। भूगर्भसूर्योदयकालिकयष्टिच्छायाभावात्। अथ लग्नज्ञानमाह—अथेति। अनन्तरं प्रभायां छायायां लग्नम्। चः समुच्चये। ज्ञेयम्। अभीष्टकाले यष्टिच्छाया चक्रे यत्र पतिता तस्मिन्स्थानेऽङ्कितं मेषादितो राश्याद्यं तत्तुल्यं तस्मिन्काले लग्नं स्यादित्यर्थः। अत्रोपपत्तिः—अत्र पृथिवीस्थानापन्नं चक्रं नाडीमण्डलानुकारमतो षष्टिघटिकाविभागैरङ्कितम्। अत्र सूर्यचिह्नसंपादनार्थं राशयोऽङ्क्या इत्यस्मिन्काले वृत्ते स्वस्वदेशोदयकालानुरोधेन राशयोऽङ्किताश्छायाव्यञ्जकत्वेन लग्नज्ञाननिमित्तं पश्चिमानुक्रमेणासमा अवास्तवा अपि विपरीता अङ्किताः। सूर्यस्य पश्चिमाभिमुखगमने छायायाः पूर्वाभिमुखगमनात्। अस्य चक्रस्य विषुवद्वृत्ताकारत्वेन विषुवद्दिने तन्नेमिमार्गानुरोधेन सूर्यभ्रमणाद्युभयभागे यष्ट्यर्धयोश्छायाः। अत उत्तरगोले छायोत्तरभागे सूर्यस्य निकटत्वाद्दक्षिणगोले

छाया दक्षिणभागे इत्युभयपार्श्वे राश्याद्यङ्कनं युक्तम्। अत्र चक्रे राश्यङ्कवत्क्रमेण सूर्यचिह्नं कृत्वा स्वदेशानुरुद्धं खगोलं धृत्वोदयकालिकयष्टिच्छाया चक्रे यत्र पतिता तत्र स्थिरं कृत्वाऽग्रे सूर्यगमनानुरोधाच्छाया चलति तथा तथाऽन्तराद्दिनगतघटिकाः॥ अथ सूर्योदयकालेऽर्कतुल्यलग्नसंभवादग्रे छाया यथाऽङ्कितराश्यनुमार्गे चलति तथाऽभीष्टकाले लग्नं भवतीत्युक्तमुपपन्नम्। पूर्वोक्तरीत्याऽत्र कालस्यासकृत्साधनं न। औदयिकसूर्यचिह्ना-देवोक्तरीत्या दिनगतस्य सूक्ष्मत्वसिद्धेरित्यवधेयम् ॥६॥

अथास्माद्यन्त्रात्खगोलानपेक्षतया कालज्ञानं लाघवादुपगीत्याऽऽह—केनचिदाधारेणेति। अथ खगोलनलिकाद्वयप्रोतध्रुवयष्टिप्रोतचक्रकरणतद्भ्रमणादिगौरवात्तदनन्तरमित्यर्थः। वा। प्रकारान्तरेण। राशिशेषे यत्र यस्मिश्चक्रे षष्टिविभागे पूर्वोक्तोदयपूर्वकपश्चिमक्रम-राश्यङ्किते ध्रुवाभिमुखकीलके तच्चक्रकेन्द्रे सूक्ष्मं छिद्रं विधाय सूक्ष्मैककीलो निवेश्यस्तथा यथोभयपार्श्वे कीलः समः स्यात्प्रमाणं यथा चक्रनेम्यां छायाग्रं पतति तथा कार्यम्। स उत्तरभागस्थकीलक उत्तरध्रुवाभिमुखो यथा स्यात्तथेत्यर्थः। केनचिदाधारेण वंशाद्या-धारेण। धृते यन्त्रे। दिनेऽभीष्टकाले कीलच्छाया यत्र पतिता तत्स्थानं यत्र कीलप्रोत-सूत्रावलम्बनेन यन्त्रनेम्यामधःस्थानं तयोरन्तराले या घटिकास्ता नता नाड्यः स्युः। अत्रोपपत्तिः—ध्रुवाभिमुखवरणेन ध्रुवद्वयमध्यस्थत्वसंभवात्तच्चक्रस्य नाडीवलयत्वसिद्धिः। यदा च याम्योत्तरवृत्तेऽर्कस्तदा यन्त्राधः कीलच्छाया तत्र नतकालाभावादभीष्टकाले कीलच्छायायन्त्रतलयोरन्तरे नतघट्य इत्युपपन्नम्। अत्र यद्यपि सूर्यचिह्ने सूर्योदय-कालिकच्छायाग्रं यथा भवति तथा वंशाद्याधारेण धृते पूर्वोक्तरीत्या दिनगतलग्नज्ञाने स्तस्तथाऽपि सूर्योदयकाले ध्रुवादर्शनात्तदभिमुखकीलयन्त्रसिद्ध्यसंभवादाचार्यैः पूर्वोक्तमुपेक्ष्य नतघटीज्ञानमुक्तम्। यदि च ध्रुवाभिमुखमाधारेण रात्रिशेषं संपाद्य सूर्योदये तद्यन्त्रभ्रमण-संभवे सूर्योदयकालिककीलच्छाया पूर्वचिह्ने यथा पतति तथा स्थिरीकृते यत्र(न्त्र)दिनगत-लग्नज्ञाने भवत एवेति ध्येयम्। सूर्योदयकालिककीलच्छायाग्रचिह्नाभीष्टकालिककीलच्छा-याचिह्नयोरन्तरे उन्नतकालघटिकाः सूर्यचिह्नं विना भवन्त्यपि सूर्योदयज्ञानावश्यकता-गौरवात्तथा नोक्तम्। मेषव्यवधानेन सूर्योदयकालाज्ञानेऽभीष्टकाले तदव्यवधानेप्युन्नतकाल-ज्ञानसंभवान्नतघटीनां ज्ञानं लाघवादुक्तं युक्तम् ॥७॥

केदारदत्तः—(२) नाडीवलय यन्त्र से कालज्ञान—

सुन्दर श्रेष्ठतम इष्ट सुदृढ़ लकड़ी की वृत्ताकार चक्र की परिधि में ६० घटिकाओं का चिह्न लगा कर (खगोलान्तर्गतभगोल) खगोल के मध्य में उक्त ध्रुवयष्टि में पृथ्वी के बीच में उसे ध्रुवप्रोत की तरह रखना चाहिए।

स्वदेशोदय प्रमाण के मेषादि द्वादश राशियों के असमान उदय मानों से उक्त वृत्त में चिह्न करने चाहिए। यह चिह्न विलोम क्रम से भी मेष के अनन्तर पश्चिम में वृष, वृष के अनन्तर पश्चिम में मिथुन इत्यादि इस प्रकार से करने चाहिए।

यह अंकन प्रकार आचार्य ने सर्वतोभद्र चक्र में दिया है उसे उपलब्ध कर देखना चाहिए। आचार्य ने यही सर्वतोभद्रस्थ अंकन प्रकार इस जगह पर शिष्यों की सहूलियत के लिये यहाँ भी उक्त वासना भाष्य में दे दिया है।

३६० अंशों से अङ्कित वृत्त की परिधि में स्वदेशोदय का चिह्न कर प्रत्येक स्वोदय का क्षेत्रादि राशि मान ३०° में १०·१० अंश के द्रेष्काण, २°।३० द्वादशांश, ३°।२० से नवमांश १५° मान से होरा का चिह्न, और उन उन लग्न होरा द्रेष्काण द्वादशांश राशियों के अधिपति ग्रहों का नाम इत्यादि षडवर्ग विभाजन पूर्वक चक्र निर्माण करना चाहिए।

इस प्रकार कालज्ञान बोधक यन्त्र के निर्माण पूर्वक जिस दिन उक्त यन्त्र से कालज्ञान अपेक्षित हो उस दिन उदय काल में स्पष्ट सूर्य की राश्यादिकों को मेषादि से चिह्नित कर सूर्य की वर्त्तमान राशि के अंशों को चक्रस्थ राशि भागों में चिह्नित कर आगे स्पष्ट रवि का भी चिह्न अङ्कित करना चाहिए।

उस दिन उदयादि प्राक्कालीन यष्टि की छाया जो पश्चिम दिशा की अभिमुखी है, उस छाया यन्त्र में स्थापित स्पष्ट सूर्य की छाया जैसे लगे उस प्रकार यन्त्र को स्थिर करना चाहिए।

उस स्थिति में सूर्य क्षितिज से जैसे जैसे ऊपर जावेगा तो निश्चित है कि प्रकाश की विरुद्ध दिशा गमनशीला छाया नीचे नीचे जावेगी।

अतः छाया और रवि चिह्न के मध्य में यन्त्रगत पाली में जितनी घटिका होती हैं वही दिनगत घटिका सुस्पष्ट होती हैं। सूर्योदय बिंदु से सूर्य बिम्ब तक प्रसिद्ध सूर्योदयादिष्टकाल हो जाता है।

तथा यष्टि छाया में जो राशि और होरा द्रेष्काणादि हों उन उनराशियों एवं राशीश ग्रहों आदिकों से षडवर्ग ज्ञान करना चाहिए।

अथवा चक्र के भीतर इष्ट प्रमाण के कीलक (शङ्कु) को ध्रुवाभि मुख जैसे हो तैसे स्थापित कर किसी प्रकार किसी आधार से चक्र को स्थिर करने से इष्ट काल में कीलक की छाया जहां लगती है वहाँ से और यन्त्र के अवस्तन चिह्न तक नत घटिका होती हैं। इसी का नाम नाडीवलय है।

उपपत्ति—याम्योत्तर वृत्तस्थ सूर्य की छाया नीचे होगी, वहाँ पर नतकाल का अभाव है। अभीष्ट समय में कील की छाया और यन्त्र तल के मध्य में नतघटिका होती हैं। उपपन्न होता है ॥७॥

अथ घटिकामाह—

घटदलरूपा घटिता घटिका ताम्री तले पृथुच्छिद्रा ।
द्युनिशनिमज्जनमित्या भक्तं द्युनिशं घटीमानम् ॥८॥

वा०भा०-अत्र दशभिः शुल्बस्य पलैरित्यादि यद्घटीलक्षणं कैश्चित्कृतं तद्युक्तिशून्यं दुर्घटं चेत्येतदुपेक्षितम् । इष्टप्रमाणाकारसुछिद्रं पात्रं घटीसंज्ञमङ्गीकृतम् । द्युनिशनिमज्जनसंख्या यदि षट्त्रिंशच्छतानि पानीयपलानि लभ्यन्ते तदैकेन निमज्जनेन किमिति त्रैराशिकम् । इति घटीयन्त्रम् ॥८॥

मरीचिः—अथ नाडीवलयैकदेशसंज्ञात्वेनोपस्थितं घटीयन्त्रमार्ययाऽऽह—घटदलरूपेति । ताम्री । ताम्रसंबन्धिनी । उपलक्षणाद्धातुसंबन्धिनी । घटदलरूपा । घटस्याधस्तनमर्धं तदाकारा । घटिता निर्मिता । तलेऽधोभागे पृथुच्छिद्रा महारन्ध्रा घटिका कार्या । एतेन जलपूर्णपात्रे निक्षिप्ताऽधश्छिद्रे जलागमने जलान्तर्गतमलादिकं वस्तु प्रतिबन्धकं न भवति तथा छिद्रं कार्यमिति सूचितम् । सूक्ष्मच्छिद्रे मलादिकेन तत्प्रतिबन्धसंभवादकारप्रश्लेषो न युक्तः । तन्मानमाह—द्युनिशेति । एतत्पात्रस्य जलपूर्णपात्रेऽनवरतजलागमनेनाहोरात्रे निमज्जनसंख्ययाऽहोरात्रप्रमाणं भक्तं फलं घटिकामानं स्यात् । अत्र सावनाहोरात्रमानस्य प्रतिदिनवैलक्षण्यात्प्रतिदिनं घटिकापात्रस्यैकस्य भिन्नमानत्वापत्तिरित्येकरूपनाक्षत्राहोरात्रमानेन घटीमानमेकरूपं भवति । तथा नाक्षत्रं दिनगतं सूक्ष्मं सावनं तु स्वल्पान्तरमिति ध्येयम् । अत्रोपपत्तिः—इष्टघटिकापात्रद्युनिशनिमज्जनसंख्ययाऽहोरात्रमानं षट्त्रिंशच्छतपलात्मकं लभ्यते तदैकनिमज्जनेन किमिति घटिकापात्रस्य फलमितपलात्मकं मानं युक्तियुक्तम् । एतेन—शुल्बस्य दिग्भिर्विहितं पलैर्यत्षडङ्गुलोच्चं द्विगुणायतास्यम् । तदम्भसा षष्टिपलैः प्रपूर्यं पात्रं घटार्धप्रतिमं घटी स्यात् । त्र्यंशमाषत्रयनिर्मिता या हेम्नः शलाका चतुरङ्गुला स्यात् । विद्धं तया प्राक्तनमत्र पात्रं प्रपूर्यते नाडिकयाऽम्बुभिस्तदिति श्रीपत्युक्तमत्र दशार्धगुञ्जं प्रवदन्ति माषं माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम् । कर्षैश्चतुर्भिश्च पलमिति परिभाषया माषपले ज्ञेये यति निरस्तम् । दुर्घटत्वाद्युक्तिशून्यत्वाच्च ॥८॥

केदारदत्तः—घटी यन्त्र का स्वरूप—

कुछ आचार्यों ने शुल्ब अर्थात् ताम्र के १० पलों के तुल्य घटी काल जो कुछ कहा है वह ठीक नहीं है । वस्तुतः घटी काल मापक या घटी सम्बन्धी काल मापने के लिये यन्त्र निम्न भाँति का है ।

तांवे या अन्य धातु विशेष की घड़े की निम्नाकृति (नीचे के भाग के आकार की) बनाकर उसके तल में ऐसा सूक्ष्म छिद्र करना चाहिए कि एक अहोरात्र में जो ६० बार डूब सके । अर्धबिम्बोदित सूर्योदय काल में किन्हीं दो बड़े जल पूर्ण पात्रों में इस घटी

यन्त्र को जल धरातल में डालकर निरन्तर सावधानी से प्रथम पात्र में घड़ी के जलपूर्ण होने पर (डूबने लग रही हो) तो दूसरे पात्र में दूसरी घड़ी रख देने प १ घटी में से प्रथम घड़ी पात्र के जल की स्थिरता होगी दूसरी घड़ी पात्र में दूसरी घटी डाल देनी चाहिए इस प्रकार दूसरे अर्द्ध सूर्योदय बिम्ब तक ६० घटी होनी चाहिए। यह नाक्षत्र मान है। नक्षत्रोदय प्रथम से नक्षत्रोदय द्वितीय तक का समय यह ६० घटी का नाक्षत्राहोरात्र होता है। मेरी जन्मभूमि जुनायल ग्राम मेरे घर पर यह घटी यन्त्र आज भी विद्यमान है जिसका उक्त कथित उपयोग आसन्न प्रसव समय में, प्रसव दिनीय सूर्योदय से प्रसव समय तक किया जाता है ।।८।।

अथ शङ्कुमाह—

समतलमस्तकपरिधिर्भ्रमसिद्धो दन्तिदन्तजः शङ्कुः।
तच्छायातः प्रोक्तं ज्ञानं दिग्देशकालानाम् ।।९।।

स्पष्टम्। इति शङ्कुयन्त्रम् ।।९।।

मरीचिः—अथ घट्यासन्नतयोपस्थितयोः शङ्कुचक्रयोर्मध्ये सुगमत्वाच्छङ्कुयन्त्रमार्ययाऽऽह—समतलेति। दन्तिदन्तजः। गजदन्तनिर्मितः। उपलक्षणात्सारदारूत्पन्नोऽपि शङ्कुः। समतलमस्तकपरिधिः। तलं मूलम्। मस्तकमग्रम्। तयोः परिधी समौ यस्येत्येतादृशः। आद्यन्तग्रहणान्मध्यप्रदेशेष्वपि तत्तुल्यपरिधिरित्यर्थसिद्धम्। ननु सर्वप्रदेशसमपरिधिकः कथं सिद्धयेदत आह—भ्रमसिद्ध इति। समपरि[धि]वस्तुकरणं यन्त्रं लोके चरखा इत्युच्यते। तत्संलग्नतया भ्रमेण तादृशः सिद्धो भवतीत्यर्थः। दैर्घ्यमिष्टमनुक्तत्वात्। पूर्वैस्तु द्वादशाङ्गुलः शङ्कुरुक्तः। तथा च सिद्धान्तशेखरे—भ्रमविरचितवृत्तस्तुल्यमूलाग्रभागो द्विरददशनजन्मा सारदारूद्भवो वा। अतिऋजुरवलम्बादव्रणः षट्कवृत्तः समतल इह शस्तः शङ्कुरर्काङ्गुलः स्यादिति। नन्वस्य यन्त्रत्वं कुत इत्यत आह—तच्छायात इति। उक्तशङ्कुच्छायायाः सकाशात्। दिग्देशकालानां ज्ञानं त्रिप्रश्नाधिकारे सूक्ष्मत्वेनोक्तम्। पलभाज्ञानाद्देशज्ञानमित्यभीष्टकालद्वादशाङ्गुलशङ्कुच्छायातः पलभानयनं प्रश्नोत्तरत्वेन प्रसिद्धतरम्। तथा चैतत्साधकवस्तुविशेषस्य यन्त्रत्वादुक्तशङ्कावपि यन्त्रत्वं स्वतः सिद्धिमिति भावः ।।९।।

केदारदत्त—शङ्कुयन्त्र निर्माण—

हाथी के दाँत का या अन्य सुदृढ़ परिपक्व, शाल, शीशम साखू आदि लकड़ियों का समान तल मस्तक अर्थात् मूलस्थ परिधि प्रमाण के तुल्य अग्र भाग में भी परिधि होनी चाहिए अर्थात् मूल से शिर तक वर्तुलाकार चिक्कन शङ्कुयन्त्र होता है।

किसी भी इष्ट समय में जल से समतल कृतभूमि में केन्द्र से इष्ट त्रिज्या से वृत्त बना कर केन्द्र में उक्त शंकु की स्थापना से इष्टकाल में जो छाया होती है वही एक प्रकार से खगोल शास्त्र की एक कुञ्जिका है, जिससे (१) दिशा, (२) देश और (३) काल का ज्ञान होता है।

उपपत्ति--एक उदाहरणतः--मध्याह्न काल को इष्टकाल समझकर उक्तशंकु की छाया याम्योत्तर रेखा में पड़ेगी। सायन मेषादि मध्याह्न की छाया पलभा होती है। यदि सायन मेष के ० अंश सूर्य के दिन की छाया पलभा से अधिक है तो, छाया साधन भूमि उत्तरायण उत्तर गोल में और कम है तो दक्षिण गोल दक्षिणायन इत्यादि के साथ था, इष्ट कालिक छाया यदि पश्चिमाभिमुखी तो सूर्य पूर्व कपाल में पूर्वाभि मुखी हो तो पश्चिमकाल में सूर्य होता है। और त्रिप्रश्नाधिकारोक्त प्रक्रिया से रविज्ञान, इष्टकादि अनेक खगोलीय विषयों का ज्ञान करना चाहिये ॥९॥

अथ चक्रमाह—

चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ श्लथशृङ्खलादिकाधारम् ।
धात्री त्रिभ आधारात् कल्प्या भार्धेऽत्र खार्धे च ॥१०॥
तन्मध्ये सूक्ष्माक्षं क्षिप्त्वाऽर्काभिमुखनेमिकं धार्यम् ।
भूमेरुन्नतभागास्तत्राक्षच्छायया भुक्ताः ॥११॥
तत्खार्धान्तिश्च नता उन्नतलवसंगुणीकृतं द्युदलम् ।
द्युदलोन्नतांशभक्तं नाड्यः स्थूलाः परैः प्रोक्ताः ॥१२॥

भा०वा०—धातुमयं दारुमयं वा समं चक्रं कृत्वा तन्नेम्यां शृङ्खलादिराधारः शिथिलः कार्यः। चक्रमध्ये सूक्ष्मं सुषिरमाधारात् सुषिरोपरिगामिनी लम्बवदूर्ध्व-रेखा कार्या। तन्मत्स्य(ध्य)तोऽन्या तिर्यग्रेखा चात्र कार्या। तच्चक्रं परिधौ भगणां-शैरङ्कयित्वाऽऽधारात् त्रिभ इति नवतिभागान्तरे तिर्यग्रेखातत्परिधिसंपाते धात्री क्षितिः कल्प्या। भार्धेऽन्तर ऊर्ध्वरेखानेमिसंपाते खार्धं कल्प्यम्। सुषिरे सूक्ष्मा शलाका प्रदा(खा)तव्या। सा चाक्षसंज्ञा। तच्चक्रमर्काभिमुखनेमिकं च यथा भवति तथाऽऽधारे धार्यम्। तथा धृतेऽक्षस्य च्छाया परिधौ यत्र लगति तत्कुज-चिह्नयोरन्तरे येंऽशास्ते रवेरुन्नतांशाः। ये छायाखार्धयोरन्तरे ते नतांशा ज्ञेयाः। एवमत्र नतोन्नतांशज्ञानमेव भवति। अतोऽन्यैर्घटिका अप्यानीताः। तद्यथा—तस्मिन् दिने गणितेन मध्यदिनोन्नतांशान् दिनार्धमानं च ज्ञात्वाऽनुपातः कृतः। यदि मध्यंदिनोन्नतांशैर्दिनार्धनाड्यो लभ्यन्ते तदैभिः किमित्येवं स्थूला घटिकाः स्युः ॥१०॥११॥१२॥

मरीचिः—अथ चक्रयन्त्रनिर्माणपूर्वकोन्नतकालज्ञानमार्याभ्यामुपगीत्या चाऽऽह—चक्रं चक्रांशाङ्कमिति। धातुमयं दारुमयं वा समं चक्रम्। परिधिस्थाने चक्रांशाङ्कं द्वादशराशिभागैः षष्ट्यधिकशतत्रयमितैरङ्कितम्। परिध्यभीष्टप्रदेशे श्लथश्रृङ्खलादिकाधारम्। शिथिला या श्रृङ्खला। प्रसिद्धा। आदिपदाद्रज्ज्वादि। तत्। आधारं यस्य तत्। यन्त्रधारणार्थं

तत्राभीष्टपरिधिस्थाने शिथिला शृङ्खला नियोज्येत्यर्थः । आधारस्थानादुभयतस्त्रिभे नवत्यंशान्तरे । धात्री । भूमिः । कल्प्या । भार्धे चकारादाधारस्थानात्षड्भान्तरेऽशीत्यधिकशतभागान्तरे खार्धं खमध्यं चकारात्कल्प्यम् । आधारात्खमध्यावध्यूर्ध्वाधरा रेखा कार्या । तन्मध्याद्भूस्थानावधि रेखा कार्येत्यपि चार्थः । तन्मध्ये चक्रयन्त्रकेन्द्रे । सूक्ष्माक्षम् । सूक्ष्मच्छिद्रं विधाय सूक्ष्मकीलं क्षिप्त्वा यथा तच्छाया चक्रपरिधौ स्पृशति तथा दत्त्वेत्यर्थः । इदं चक्रयन्त्रम् । आधारशृङ्खलायां सूर्याभिमुखपरिधिकं यथा स्यात्तथा धार्यम् । तत्र तादृशावस्थितचक्रयन्त्रे । अक्षच्छायया । केन्द्रप्रोतकीलस्य च्छायया । भूमिस्थानाद्ये भुक्ता अंशास्ते उन्नतांशाः । कीलच्छायातदासन्नभूमिस्थानयोः परिधौ यदंशात्मकमासन्नान्तरं ते नतांशा इत्यर्थः । प्रसङ्गान्नतांशज्ञानमाह—तत्खार्धान्त इति । छायाग्रसंबन्धिपरिधिप्रदेशखमध्यस्थानयोर्मध्ये । येंऽशा आसन्नास्त इति चार्थः । नताः । नतांशाः । उन्नतांशेभ्यः कालज्ञानमाह—उन्नतलवसंगुणीकृतमिति । द्युदलं घटिकात्मकदिनमानस्यार्धम् । उन्नतांशैर्गुणितं मध्याह्नकालिकोन्नतांशैर्लम्बांशक्रान्त्यंशसंस्कारसिद्धैर्भक्तम् । फलमुन्नतघटिकाः । नन्वभीष्टकाले पूर्वयन्त्रावगतघटिकाभिरेतास्तुल्या नेत्यत आह—स्थूला इति । उक्तप्रकारेण स्थूलाः सिध्यन्ति न सूक्ष्मा इति । तदतुल्यत्वं स्वतः सिद्धमिति भावः । ननु तर्हि किमर्थं त्वयैता उक्ता इत्यत आह—परैरिति । अन्यैः पूर्वाचार्यैः प्रकर्षेणोक्ताः । तेषां मत एताः सूक्ष्मा इत्यर्थः । तथा च तद्वाक्यम्—इष्टोन्नतांशा द्युदलेन निघ्ना मध्योन्नतांशैर्विहताश्च नाड्यः । दिनस्य पूर्वापरभागयोश्च याताश्च शेषाः क्रमशो भवन्ति ॥ इति । परैरित्यनेन मयैता नाङ्गीक्रियन्त इति सूचितम् । अत्रोपपत्तिः—चक्रं दृ(दि)ङ्मण्डलानुकल्पं तत्र भगणांशा उन्नतज्ञानार्थमङ्क्याः । तस्य खस्वस्तिके प्रोतत्वाच्छ्लथशृङ्खलादिकाधारमित्युक्तम् । शृङ्खलायां धरणेन तस्य लम्बमानस्य खमध्यसमसूत्रतया शृङ्खलास्थनेमिप्रदेशस्थानात् । दृग्वृत्तप्रोतस्थानात् । क्षितिजसमसूत्रसक्तदृग्वृत्तस्य त्रिभान्तरितत्वाद्धात्री त्रिभ आधारात्कल्प्येत्युक्तम् । सूर्यो यदाऽऽधारोपरि खमध्ये तदा छाया आधारात्षड्भान्तरे इति च्छायावशादुन्नतांशनतांशयोर्ज्ञानादारात्षड्भान्तरे खमध्यं छायाया इति । तत्र च्छायाया असंभवात्तत्संभवार्थं तन्मध्ये सूक्ष्माक्षं क्षिप्त्वेत्युक्तम् । यद्यपि सूर्यस्याऽऽधारनतत्वकुजोन्नतत्वयोः सूर्यबिम्बसमसूत्रस्थितनेमिप्रदेशज्ञानात्संभवेन केन्द्रे कीलकसंनिवेशो गौरवं भार्धे खमध्यमित्यप्यतत्त्वं तथाऽपि सूर्यबिम्बस्य दूरे स्थितत्वात्तत्समसूत्रेण लघुचक्रे नेमिप्रदेशे वस्तुभूतज्ञानस्य संशयापत्तिभयेन कीलकसंनिवेश उक्तः । तेन तच्चक्रे सूर्यापरदिशि च्छायासंबन्धासंशयानुत्पत्तिः । दृग्वृत्तं सूर्यनतांशज्ञानार्थमर्कबिम्बोपरि तद्भ्रमेणाऽऽनेयमिति चक्रं सूर्याभिमुखनेमिकं धृतम् । तत्र सूर्यबिम्बसमसूत्रसक्तनेमिप्रदेशतदासन्नभूस्थानयोरन्तरमासन्नमुन्नतांशा इतिः कीलच्छायाग्रतदासन्नभूस्थानयोरन्तरमासन्नं नतांशा इत्युक्तम् । आधारसूर्यबिम्बसक्तनेमिप्रदेशयोरन्तरमासन्नं नतांशा इति च्छायाग्रखार्धान्तरे नतांशा इत्युक्तम् । क्रान्तिलम्बसंस्कारेण मध्याह्नोन्नतांशज्ञानाद्दिनार्धज्ञाने इष्टोन्नतांशैरिष्टोन्नतकालज्ञानं यदि मध्याह्नकालिकोन्नतांशैर्दिनार्धतुल्यमुन्नतं

तदेष्टकालिकोन्नतांशैः किमित्यनुपति(पा)तोपपन्नमुन्नतलवसंगुणं द्युदलमित्यादि । दृग्वृत्तस्य तत्तत्काले भिन्नभिन्नवृत्ताकारत्वसंभवेनानेकवृत्तरूपतयाऽभीष्टमध्याह्नकालयोस्तस्य विसदृशत्वेनैकरूपत्वाभावादनुपातासंभवः । अत एव मध्याह्नोद्यतांशतुल्याभीष्टोन्नतांशे तु दिनार्धतुल्यमुन्नतदृग्वृत्तस्यैकरूपत्वेनोक्तानुपातादुपपद्यते । साधारणांशानुपातस्य स्थूलत्वात्स्थूला इत्युक्तम् । यत्त्वेवमवगतस्य दिनार्धस्य प्रत्यहमन्यादृक्ते(क्त्वे)नानियतत्वेन पुरस्कृत्य मं(य)न्त्रेणानेनानेहसः साधनमशक्यं यतोऽनियतस्य साधकत्वाभावेनास्य नियतद्युरात्रदेशनिरक्षदिनार्धाभिप्रायेण नवतिमितोन्नतभागेषु पञ्चदशघटिकाभिः सकलदेशमध्यदिनार्धरूपाभिरेवाङ्कनादिति स्थूलबीजमाहुस्तन्न । असंगतत्वात् । विषुवद्दिनातिरिक्तदिने क्रान्त्यंशोननवतिभागमितोन्नतांशेषु द्युरात्रवृत्तदेशे पञ्चदशघटिकाङ्कनाच्च द्युरात्रवृत्ते घटिकाङ्कनस्य दृग्वृत्तस्थितोन्नतांशाधीनत्वाभावाच्च । यत्तु(न्त्र)च्छायातोवद्यक्षभा (तोऽग्रप्रभा)भुजस्य विषुवत्कर्णः कर्णस्तत्प्रकृतप्रभायाः क इत्यनुपातेन च्छायाकर्णमानीय तत्कर्णे द्वादशशङ्कुभे कोटिभुजौ तत्त्रिज्याकर्णे काविति महाशङ्कुदृग्ज्ये अनयोर्मध्ये महाशङ्कुरुन्नतभागज्यारूपस्तस्य धनुरुन्नतभागा इति परिहृत्य वेधेन यन्त्रादेव साधिता इति । तन्न । द्वादशवर्गच्छायावर्गयुतिपदत्वेन कर्णानयनानुक्तेः । छायाक्षेत्राक्षक्षेत्रयोरनुपातसंबन्धाभावादुक्तानुपातेन च्छायाकर्णानयनस्यासंगतत्वाच्च । सूक्ष्मं तून्नतांशज्येष्ठशङ्कुस्तस्मादनुपातेन इति प्रसाध्य द्युज्यानुपातेनेष्टान्त्यास्तदूना मध्यान्त्या नतोन्नतात्क्रमज्या तदुत्क्रमधनुर्नतघटिकास्तदूनं दिनार्धमुन्नतघटिका इति गोलवासनासिद्धमेतदाचार्यैर्यन्त्रे गणितश्रमबाहुल्यासहिष्णुभिरुपेक्षितम् । अग्रे फलयन्त्रे विना गणितश्रमं सूक्ष्मतदानयनस्योक्तेः ।

ननु मध्योन्नतांशेष्टनतांशयोर्दृग्वृत्तस्थयोरप्येकवृत्ताश्रयत्वाभावाद्घटिकानां स्थूलत्वमुक्तमेतत्परिहारार्थं तयोरेकवृत्तस्थत्वं साध्यते । तथा हि—यदा मध्योन्नतांशज्या तदाऽभीष्टोन्नतांशज्यया केति समवृत्तेऽभीष्टकालिकोन्नतांशास्तदा सममण्डले नवत्युन्नतांशाः । अतोंऽशानुपातस्य स्थूलत्वान्मध्योन्नतांशज्यया समवृत्ते त्रिज्यातुल्योन्नतांशज्या तदाऽभीष्टोन्नतांशज्यया केति समवृत्तेऽभीष्टकालिकोन्नतांशज्या तद्धनुरभीष्टकाले समवृत्तोन्नतांशाः । एभ्यः समवृत्तनवतिभागैर्द्युरात्रवृत्तस्थदिनार्धतुल्योन्नतं तदाऽभीष्टोन्नतांशैः किमित्यनुपातेनोन्नतघटिकाः सूक्ष्माः । अत एव मध्योन्नतांशज्यया दिनार्धं तदाऽभीष्टोन्नतांशज्यया किमित्युन्नतं स्थूलमेव । न सूक्ष्मम् । प्रमाणेच्छयोरेकवृत्तस्थत्वाभावात् । तथा चोन्नतलवसंगुणमित्यत्र समवृत्तस्थाभीष्टोन्नतांशगुणितं दिनमानार्धं दृग्वृत्तस्थाभीष्टोन्नतांशेभ्यस्तत्साधनमुक्तप्रकारेणेत्यर्थसिद्धम् । द्युदलोन्नतांशभक्तमित्यत्र द्युः—आकाशं तस्य दलमर्धं खमध्यम् । तत्रोन्नतांशा नवतिसंख्याकास्तैर्भक्तमित्यर्थ इति कथं स्थूलत्वम् । अत एवोक्तं ज्ञानराजदैवज्ञैः सिद्धान्तसुन्दरे यन्त्राध्याये—

> तज्ज्या पूर्णगुणाहता दिनदलादित्योन्नतांशज्यया ।
> भक्ता तद्धनुषा हतं दिनदलं खाङ्कोद्धृतं नाडिका ।।इति।

अत्र तट्टीकाकृता यद्यस्मन्मध्याह्नोन्नतज्यायां लङ्कादेशे मध्याह्ने त्रिशन्मितत्रिज्या-मितोन्नतज्या तदेष्टोन्नतांशज्यया केत्यनुपातेन लङ्कादेशे स्वाभीष्टसमये उन्नतांशज्या तद्धनुस्तत्रोन्नतांशास्ततो लङ्कायां नवतिमितमध्योन्नतांशैरस्मद्देशे तद्दिनसंबन्धिदिनार्ध-घटिकास्तदाऽभीष्टनिरक्षदेशजोन्नतांशैरेभिः का इत्यस्मद्देशेऽभीष्टकाले उन्नतघटिका इत्युपपत्तिरुक्ता । सा त्वयुक्ता । साक्षदेशमध्योन्नतांशज्यायां लङ्कादेशे क्रान्तिभागोनन-वत्यंशज्याया एव मध्योन्नतांशज्यात्वात्तत्र त्रिशन्मितमध्योन्नतांशज्याभावात्प्रथमानुपात-स्यायुक्तत्वात् । न च विषुवद्दिने मध्योन्नतांशज्यायास्त्रिज्यातुल्यत्वादनुपात इति वाच्यम् । प्रमाणस्थाने स्वदेशविषुवद्दिनमध्योन्नतांशज्याया लम्बज्यामिताया ग्रहणापत्तेः । लङ्कायां स्वाभीष्टदिने मध्याह्ने नवत्युन्नतांशाभावाद्द्वितीयानुपातस्याप्ययुक्तत्वाच्च । किंच लङ्कायामुन्नतांशसाधनद्वारा स्वदेशे उन्नतकालज्ञानं गौरवं विहाय स्वदेशमध्योन्नतांशैः स्वदिनमानार्धं तदा स्वदेशेष्टनतांशैः किमित्यनुपातेन लाघवादुन्नतानयनस्य युक्तत्वेन स्थूल-त्वानुपपत्तिः । स्वदेशलङ्कादेशयोः संबन्धस्य तुल्यत्वादिति । इति चेन्न । एकवृत्तस्थत्वेन तत्सूक्ष्मत्वेऽपि समवृत्ततत्करणे संबन्धाभावात्सूक्ष्मसिद्धौ मानाभावात् अहोरात्रवृत्ते घटिकानां सत्त्वे तत्साधनेन सूक्ष्मत्वसिद्धेः । समवृत्ताहोरात्रवृत्तयोः संबन्धाभावादागतोन्नतकालस्योप-वृत्तसंबन्धाच्च । श्रीपतिना तु—

कृत्वा सुवृत्तं फलकं हि षष्ट्या चक्रांशकैश्चाङ्कितमत्र मध्ये ।
लम्बस्तदग्रे सुषिरेण तद्वत्केन्द्रेऽर्करश्मिः पततीह दध्यात् ॥
लम्बेन भुक्ता रविभागतोंऽशास्तत्रोदितास्ता घटिकास्तु याताः ।
चक्राख्यमेतद्दलमध्यचापं ज्यारन्ध्रमस्थितलम्बमेतत् ॥
ज्यामध्यतिर्यक्स्थितकीलमेतत्पूर्वापरस्वस्तिककर्तरी स्यात् ।
प्रत्यङ्मुखाः कोटिमुखाच्च नाड्यः समुज्झिताः कीलभया भवन्ति ॥
इदं भवेदर्थशलाकमुर्व्यां स्थितं कपालं द्युतिदिक्स्थचापम् ।
संसाधितांशं खलु चक्रयन्त्रं पीठं भवेत्पूर्वशलाकमेव ॥
मध्यस्थकीलप्रभया विमुक्ताः प्रत्यग्गतास्ता घटिका निरुक्ताः ।
या यन्त्रसिद्धा द्युगतास्तु नाड्यस्ताः स्वद्युमानेन हता विभक्ताः ॥
नभोगुणैः स्पष्टतरा भवन्ति नाड्योऽन्यथा स्थूलतरा निरुक्ताः ।

इत्युक्तं तदतिस्थूलम् । यन्त्रस्य दृग्वृत्ताकारेणोन्नतांशसंबन्धेन लिखितघटीनां स्वदेश-संबन्धाभावात् । न च तासां निरक्षदेशसंबद्धत्वमित्युक्तानुपातेन स्वदेशविषमत्वं युक्तमिति वाच्यम् । वेधावगतोन्नतांशानां स्वदेशविषयत्वेन निरक्षदेशासंबन्धात्तद्घटीनां तद्विषयत्वा-भावादुक्तानुपातानुपपत्तेरित्यलं विस्तरेण ॥१०॥११॥१२॥

केदारदत्तः—इष्ट काल में नतांश, उन्नतांशादि ज्ञापक चक्रयन्त्र ताम्रादि धातुमय या दृढ़ चिरकाल तक स्थायी रहने वाली शीशम, या साल, या साखू आदि की लकड़ी का चक्र निर्माण कर उसको शिथिल आधार (भ्रमण योग्य) बना कर, चक्र में सुन्दर छेद

करना चाहिए। उसकी परिधिस्थ पट्टी में १२ राशियों अंश कला के साथ ६० विभागों में ६० घटी यथा शक्ति एक घटी के ६० पल यथा सम्भव अङ्कित करने चाहिए।

(सुषिर) छिद्र युक्त आधार में लम्बाकर ऊर्ध्व रेखा तदुपरि लम्ब रूपिणी अथ तिर्यक् रेखा करनी चाहिए। आधार से तिर्यग्ररेखा के ९०° नब्बे अंशों पर परिधि और तिर्यक् रेखा सम्पात पर भू पृथ्वी की कल्पना करनी चाहिए। ६ राशि की दूरी पर अर्ध्व रेखा और परिधि सम्पात पर खमध्य की कल्पना करनी चाहिए। छिद्र में सूक्ष्म रेखा गमन शील (चक्रभ्रमणावसर सुविधा के लिये) लकड़ी देनी चाहिए। जिसे अक्ष शब्द से बोधित करना चाहिए।

सूर्याभिमुख परिधि जैसे हो तैसे चक्र की आधार पर स्थापना करनी चाहिए।

इस प्रकार कील अक्ष की छाया जहाँ पर परिधि पर लगती है वहाँ से क्षितिज गत चिह्न तक जो अंश होंगे भूमि से सूर्य तक जो भुक्तांश वे सूर्य के उन्नतांश, तथा छाया और खमध्य के अन्तर में नतांश होते हैं। इस प्रकार नतांश और उन्नतांश का ज्ञान होता है।

अन्य आचार्यों ने उक्त यन्त्र से नत उन्नत घटिकाओं का भी ज्ञान किया है। जैसे— जिस दिन मध्य दिन में उन्नतांश तथा दिनार्ध, ज्ञान कर अनुपात द्वारा नतोन्नत घाटकाओं का ज्ञान प्रकार इस प्रकार से है कि— $\frac{\text{दिनार्घ घटिका} \times \text{आनीत उक्त नतांश या उन्नताश}}{\text{मध्यदिनीय उन्नतांश या नतांश}}$

स्थूल नतोन्नत घटिका होती हैं ॥१०॥११॥१२॥

अथ वेधेन ग्रहज्ञानमाह—

पैत्रर्क्षपुष्यान्तिमवारुणानामृक्षद्वयं नेमिगतं यथा स्यात्।
दूरेऽन्तरेऽल्पेषु भखेचरौ वा तथाऽत्र यन्त्रं सुधिया प्रधार्यम् ॥१३॥
नेमिस्थदृष्ट्याक्षगतं प्रपश्येत् खेटं च धिष्ण्यस्य च योगताराम्।
नेम्यङ्कयोरक्षयुजोस्तु मध्ये येंऽशाः स्थिता भध्रुवको युतस्तैः ॥१४॥
प्रत्यक् स्थिते भेऽथ पुरःस्थिते तैर्हीनो ध्रुवः स्यात् खचरस्य भुक्तम्।

वा० भा०—तत्र यन्त्रस्याधोनेम्यां दृष्टिं कृत्वोर्ध्वनेम्यामुक्तर्क्षाणां मध्ये भद्वितयं युगपन्नेमिगतं यथा स्यात् तथा यन्त्रं स्थिरं कृत्वा नेम्यां धिष्ण्योरेकतरं स्थानमङ्कयेत्। ततोऽग्रे पृष्ठतो वा दृष्टिं चालयित्वा ग्रहं विध्येत्। ग्रहः प्रायोऽक्ष-गतो दृश्यते। अक्षमूलस्य ग्रहस्य चान्तरं शरो ग्रहावधिः। अक्षमूलं नेम्यां यत्र लग्नं दृश्यते तत् स्थानमप्यङ्क्यम्। अथ भग्रहाङ्कयोर्मध्ये येंऽशास्तैर्भध्रुवो युतः स्फुटग्रहो भवति। यदा ग्रहात् पश्चिमस्थं नक्षत्रम्। यदा पूर्वस्थं नक्षत्रं तदा भध्रुवो हीनः स्फुटग्रहो भवति। अथवाऽल्पशरं नक्षत्रं रोहिण्याद्यं ततो दूरेऽन्तरे यदा ग्रहस्तदा तावेव विद्ध्वा प्रोक्तवद्ग्रहज्ञानम्। इति चक्रयन्त्रम् ॥१३॥१४॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गादस्माद्यन्त्राद्वेधेन ग्रहज्ञानं चक्रयन्त्रोपजीवकत्वादेतद[न]न्तरं चापतुर्ये चेन्द्रवज्रामध्योपजातिकाभ्यामाह—पैत्रर्क्षपुष्यान्तिमवारुणानामिति। पैत्रर्क्षं मघा योगतारानक्षत्रे। पुष्यः योगतारानक्षत्रम्। अन्तिमं रेवती योगतारानक्षत्रम्। वारुणं शततारा योगतारानक्षत्रम्। एषां चतुर्णां नक्षत्राणां मध्ये। ऋक्षद्वयं नक्षत्रद्वयं नेमिगतं स्वसमसूत्रतया चक्रयन्त्रनेमिस्थितम्। यथा दूरेऽन्तरे तदासन्नचक्रनेम्यन्तरं त्रिभाधिकं स्यात्तथा। अत्र श्लथशृङ्खलाधारे। यन्त्रं चक्रयन्त्रम्। सुधिया गणकेन प्रकर्षेण धार्यम्। अत्र सुधियेत्यनेन प्रकर्षेण चेदं यन्त्रं तथा येन यत्नेन भवति स यत्नो विधेय इति सूचितम्। अत्र चतुर्णां त्रयाणां वा नेमिस्थत्वेऽपि न क्षतिः।

ननूक्तर्क्षयोरासन्नत्वेऽथवोक्तर्क्षाणामदृश्यत्वे वा कथं यन्त्रं धार्यमित्यत आह—अल्पेषुभखेचराविति। वा प्रकारान्तरे। अल्प इषुशरो ययोस्तादृशे भे खचरौ वा। भखचरौ वा। यथा त्रिभाधिकान्तरौ नेम्यां भवतस्तथा यन्त्रं धार्यम्। अत्र यथा यथा शराल्पत्वं तथा तथा सूक्ष्मत्वं, यथा शराधिकत्वं तथा स्थूलत्वं चन्द्रपरमशरानधिकत्वमल्पत्वं चेति सूचितम्। यथा चोक्तर्क्षाणामेकनक्षत्रं दृश्यं तदा तत्तदन्यदल्पशरं नक्षत्रम्। अल्पशरो ग्रहो वा दूरान्तरेण नेमिगतौ। उक्तर्क्षयोरासन्नत्वे तयोर्नेमिगतत्वं संपाद्य तदन्यतरनक्षत्राद्दूरान्तरेऽल्पशरं नक्षत्रं नेमिगतमल्पशरो ग्रहो वा। उक्तर्क्षाणामदर्शनेऽल्पशरनक्षत्रे दूरान्तरे नेमिगते तदभावे तादृशौ ग्रहौ वा नक्षत्रग्रहौ तादृशौ वा यथा भवतस्तथा चक्रयन्त्रं धार्यमिति भावः।

ततस्तादृशस्थिरचक्रयन्त्रनेमिस्थदृष्टया अक्षगतं चक्रयन्त्रकेन्द्रस्थकीलकप्रदेशे समसूत्रतयाऽऽकाशेऽवस्थितं खेटं ग्रहबिम्बं प्रपश्येत्। वेधकर्तेति शेषः। चकारान्नेमिस्थग्रहबिम्बं चेत्तदेव पश्येदिति लाभः। धिष्ण्यस्य नेमिगतनक्षत्रद्वयातिरिक्तनक्षत्रस्य तदन्यतरनक्षत्रस्य वा योगतारां मुख्यतारामृक्षगतां चकारात् पश्येत्। अक्षयुजोर्नेम्यङ्कयोः अक्षमूलसक्तकेन्द्रसमसूत्रेण चक्रनेम्यां ग्रहबिम्बस्योर्ध्वाधरान्तराभावेन केवलयाम्योत्तरान्तरेण समसूत्रतया यत्स्थानं तत्र चिह्नं कार्यम्। एवं नक्षत्रस्यापि नेम्यां चिह्नं कार्यम्। तयोरित्यर्थः। मध्येऽन्तराले। तुकारादासन्ने। ये यत्संख्याका अंशाः स्थिताः सन्तीत्यर्थः। तैरंशैर्भे ग्रहवेधकालिकवेधितनक्षत्रे। वेधितग्रहात्प्रत्यक्। पश्चिमभागे स्थिते सति। भध्रुवः। वेधितनक्षत्रस्थ ध्रुवतः। [1]आयनदृक्कर्मसंस्कृतो विलोमकर्मसिद्धायुतः।

अथ यदीत्यर्थः। वेधितग्रहाद्वेधितनक्षत्रे पुरः पूर्वभागे स्थिते सति। वेधितनक्षत्रस्य ध्रुव आयनदृक्कर्मसंस्कृतस्तैरन्तरांशैरूनः। खचरस्य वेधितग्रहस्य भुक्तं मेषादिराश्यादिभोगमानं स्यात्। ग्रहबिम्बग्रहनेम्यङ्कयोर्याम्योत्तरमन्तरं कीलशलाकायां शरो यन्त्राद्दक्षिणोत्तरस्थग्रहबिम्बवशाद्दक्षिणोत्तरः। अत्रोपपत्तिः—पुष्यमघारेवतीनक्षत्राणां शराभावाक्रान्तिवृत्तस्थत्वं शतताराया अपि विंशतिकलामितशरेण स्वल्पान्तरात्क्रान्तिवृत्तस्थत्वमङ्गीकृतम्। एवं चक्रयन्त्रस्य दूरान्तरेणोक्तनक्षत्रयोर्नेमिस्थत्वे क्रान्तिवृत्तस्थत्वेन क्रान्तिवृत्तानुकारता संभवति। स्वल्पान्तरेण नेमिस्थत्वे तु तादृशप्रदेशस्य तदनुकारित्वेऽपि तदितर

वृहद्भागस्य तदनुकारित्वसंशयात् । उक्तनक्षत्राभावेऽल्पशरनक्षत्रयोस्तादृशग्रहयोर्वा तादृश-ग्रहनक्षत्रयोर्वा दूरान्तरेण नेमिस्थत्वे स्वल्पान्तरेण क्रान्तिवृत्तानुकारिताऽङ्गीकृता । तादृश-चक्रेण ग्रहनक्षत्रयोर्दर्शनेऽस्यां चक्रनेम्यां ग्रहनक्षत्रयो राश्यादिभोगस्थाने ज्ञाते भवतस्तत्र तयोरन्तरांशा विगणय्य ग्राह्यास्ते नक्षत्रस्य स्थिरत्वाज्ज्ञातैकरूपध्रुवके युतोनाः । ग्रहात्पृष्ठा-ग्रस्थिते नक्षत्रे क्रान्तिवृत्ते । मेषादिराशीनां पूर्वानुक्रमेण सत्त्वात् । नक्षत्रस्थाने तद्ध्रुवकस्य नियतत्वाच्च ग्रहभोगो ज्ञातः स्यात् । अक्षमूलस्य क्रान्तिवृत्तसंबद्धत्वाद्ग्रहविम्बाक्षमूलयो-र्याम्योत्तरमन्तरं शर इत्यादि सुगमम् ॥१३॥१४॥

केदारदत्तः—चक्र यन्त्र से ग्रह वेध द्वारा ग्रह ज्ञान—

योगतारा, मघा, पुष्य, रेवता, शततारा, इन नक्षत्रों का युग्म (मघा-पू. फा-पुष्य अश्लेषा-रेवती-आश्विनी-शततारा-पूर्वाभाद्र) जिस प्रकार उक्त चक्र यन्त्र ऊर्ध्व की पाली में ससूत्रस्थ लगें उस प्रकार यन्त्र की स्थापना करनी चाहिये और नेमि में उक्त नक्षत्रों का स्थान अङ्कित करना चाहिए ।

अल्प शर के नक्षत्र और ग्रह, तीन राशि से अन्तरित जैसे हों वैसे चक्र की नेमि में स्थापित करने चाहिए । क्योंकि जैसे जैसे शर की न्यूनता होती है वैसे वैसे ग्रह गणित में भी सूक्ष्मता आती है ।

नेमिस्थ स्थिर रूप में बृद्धि सहयोग से चक्रयन्त्र की यथेष्ट स्थापना पूर्वक, चक्र यन्त्र के केन्द्रगत कीलक प्रदेश अर्थात् समसूत्र दृष्टि से वेधकर्त्ता गणक ने आकाशस्थ ग्रह को देखना चाहिए । जब ग्रह नेमिस्थ होगा तभी दृश्य होगा ।

अक्षमूल और ग्रह का अन्तर ग्रह का मूल से ग्रह तक जो होता है वही ग्रह का शर होगा ।

नेमि में जहाँ अक्षमूल लगा उस स्थान पर भी चिह्न करना चाहिए । नक्षत्र और ग्रह के बीच के जो अंशादि है, उनसे यदि ग्रह से पश्चिम में नक्षत्र हो तो नक्षत्र ध्रुवक में जोड़ देने से स्फुट ग्रह होता हैं ।

यदि ग्रह से नक्षत्र पूर्व में हो तो उक्त अंशादि में नक्षत्र ध्रुव को कम करने से स्फुट ग्रह होता है ।

अथवा रोहिणी आदि की तरह अल्पशाग्र नक्षत्र आदि से ग्रह यदि दूर अन्तरित ग्रह हो तो दोनों ग्रह नक्षत्रों का वेध कर उक्तवत् ग्रहज्ञान करना चाहिए ।

अथ चापं तुर्यगोलं चाऽऽह—

दलीकृतं चक्रमुशन्ति चापं कोदण्डखण्डं खलु तुर्यगोलम् ॥१६॥

स्पष्टम् ।

वा० भा०—अत्र यन्त्रेषु गोलो गोल एवनाडीवलयं विषुवद्वृत्तम् । तयोर्धटिकाज्ञाने गोलयुक्तिरेव वासना । सम्यग्ध्रुवाभिमुखयष्टिके गोले धृते

यथोक्ताः स्वत एव घटिका ज्ञायन्त इत्यर्थः । यत्तु नाडीवलयं चक्रं कृत्वा यष्ट्यां प्रोतं तत् षड्वर्गाङ्कनार्थमेव । यत्तु चक्रं तद्दृङ्मण्डलम् । तत्र नतोन्नतांशज्ञानमेव गोलयुक्त्या भवति । दृङ्मण्डले क्षितिजादुपरि यैर्भागै रविर्भवति तैरेव पश्चिमक्षितिजादधः कीलकच्छाया लगतीत्यर्थः ग्रहवेधे यदक्षे धिष्ण्यद्वयं नेमिस्थं कृत्वा यन्त्रं धृतं तत् क्रान्तिवृत्ताकारावस्थानार्थम् । अतस्तत्रापि गोलयुक्तिरेव वासना । इति चापतुर्ये ॥१५॥

मरीचिः—अथ चापयन्त्रमाह—दलीकृतमिति । चक्रयन्त्रमर्धितं चक्रयन्त्रस्यार्धाकारेण कृतं कालादियन्त्रं चापं धनुर्यन्त्रमुशन्ति वदन्ति । पूर्वाचार्या इति शेषः । अत्र चापपरिधावशीत्यधिकशतं भागा अङ्क्याः ज्यामध्यभागे सूक्ष्मं सुषिरं कृत्वा सूक्ष्मः कीलो निवेश्यः । कीलोपरि यन्त्रज्यामध्ये श्लथशृङ्खलादिराधारः कार्यः । सूर्यबिम्बस्य वाऽनुरोधेन समसूत्रतयाऽधोभागे एका कोटिर्भवति तथाऽऽधारे यन्त्रं धार्यम् । तथा चापपरिधौ कीलच्छाया यत्र पतति तदपरकोटयन्तरालस्थभागा उन्नतांशाः । चापपरिध्यर्धस्थासाङ्कितखार्धच्छायान्तराले नतांशाः । यद्वा परिध्यर्धे आधारं कृत्वाऽर्काभिमुखनेमिकं चापयन्त्रं धार्यम् । अत्र चापपरिधौ समसूत्रतया यत्र सूर्यचिह्नं तस्मादासन्ना कोटिर्यैरंशैस्ते उन्नतांशाः । आधारस्थानं यैरंशैस्ते नतांशाः । उन्नतांशेभ्यः कालानयनं प्रागुक्तमेव । अत्रोपपत्तिः स्पष्टा । चक्रयन्त्रांशत्वादिति ।

अथ तुर्ययन्त्रमाह—कोदण्डखण्डमिति । कोदण्डस्य धनुषः खण्डमर्धं तुर्यगोलं तुर्याख्यं यन्त्रम् । चक्रतुर्यांशत्वात् । गोलपदेन यन्त्रं गोलविकृतिरिति सूचितम् । खलु निश्चयेन । पूर्वाचार्या वदन्ति । अत्र परिधौ नवत्यंशा अङ्क्याः । केन्द्रकोणे कीलकं निवेश्य सूर्यबिम्बाभिमुखं केन्द्रे यन्त्रे यन्त्रे धृते कीलस्य च्छाया यत्र परिधौ पतति तत्सूर्यपरदिक्स्थपरिधिकोणयोरन्तरमुन्नतांशास्तदपरपरिधिकोणयोरन्तरं नतांशाः । यद्वा—एकस्मिन् परिधिकोणे शृङ्खलादिराधारः कार्यस्तत्र सूर्याभिमुखनेमिकयन्त्रधरणेन सूर्यबिम्बं समसूत्रतया यत्र लग्नं तत्तदधःस्थपरिधिकोणयोरन्तराले उन्नतांशाः । तदाधारयोरन्तराले नतांशाः । उन्नतांशेभ्यः कालसाधनं प्राग्वत् ।

संप्रदायविदस्तु केन्द्रकोणे सूक्ष्मं छिद्रं कृत्वाऽवलम्बसूत्रं गुरुतराग्रं निबध्य केन्द्रकोणैकतरपार्श्वव्यासार्धनेमिप्रदेशे चतुरस्रं कीलं सच्छिद्रं रोपयेत् । तदधः परिधिकोणे तत्पार्श्व एवान्यं सच्छिद्रं कीलं निवेशयेत् । अयं कोणः क्षितिजः । एतदन्यः परिधिकोण आकाशसंज्ञः । अत्र सूर्यतेजः कीलकद्वयच्छिद्रमार्गेण यथा निःसरति तथा सूर्याभिमुखकेन्द्रकं यन्त्रं धार्यम् । तदालम्बसूत्रं परिधौ यत्र लगति तत्प्रदेशाकाशप्रदेशयोरन्तरे उन्नतांशः । तद्क्षितिजप्रदेशयोरन्तरे नतांशा इत्याहुः ।

अत्रोपपत्तिः स्पष्टा । चक्रांशत्वात् । यन्त्रचिन्तामणौ केन्द्रकोणे कीलकं निवेश्य तत्र पट्टी निवेश्य च कलिद्वयासक्तयन्त्रभागे व्यासार्धरेखारूपे त्रिंशत्समानभागानङ्क्य व्यासार्ध-

रेखापरिध्यन्तराले त्रिशज्जीवा अङ्कयित्वा च सर्वं ग्रहगणितजातं बिना गणितश्रमं पट्टी-संनिवेशादिना सुखात्साधितं तद्विस्तरभयान्न प्रतिपादितमित्यालम् ॥१५॥

केदारदत्तः—चाप और तुर्यगोल—

चक्र यन्त्र को अर्धित करने से जो स्वरूप होता है उसे चाप यन्त्र या धनु यन्त्र कहते हैं।

यन्त्रों में गोल यन्त्र, नाडी विषुवद्वृत्त से घटी काल ज्ञान गोल युक्ति से स्पष्ट है।

ध्रुवाभिमुख उक्त यन्त्रों के धारण स्थापित करने से यथोक्तेष्ट समय ज्ञान हो जाता है।

चक्र यन्त्र एक प्रकार का दृङ्मण्डल वृत्त है जिससे नतांश और उन्नतांश ज्ञात होते हैं।

क्षितिज से ऊपर में जितने अंशों में रवि प्राक्कपाल में होता है उतने हो अंशों में पश्चिम क्षितिज से नीचे कीलक की छाया लगती है।

ग्रह वेध के समय दोनों नक्षत्रों को चक्र नेमि में स्थापित करने का तात्पर्य है कि चक्र यन्त्र की स्थिति क्रान्तिवृत्तानुकारिका होती है जो अपेक्षित भी हैं। यही गोल युक्ति से भी सिद्ध होता है ॥१५॥

अथ फलकयन्त्रार्थमाह—

दृङ्मण्डलेऽत्र स्फुटकाल उक्तः सुखेन नान्यैर्यतितं मयाऽतः।
सद्गोलयुक्तेर्गणितस्य सारं स्पष्टं प्रवक्ष्ये फलकाख्ययन्त्रम् ॥१६॥

स्पष्टार्थम् ॥१६॥

मरीचिः—अथ फलकयन्त्रनिरूपणं सहेतुकमुपजातिकया प्रतिजानीते—दृङ्मण्डलेऽत्रेति। यतः कारणात्। अन्यैर्लल्लश्रीपत्यादिभिः पूर्वाचार्यैर्दृङ्मण्डले दृग्वृत्तानुकल्पचक्रादि-यन्त्रं विषयीकृत्येति विषयसप्तमी। चक्रादियन्त्रेभ्य इत्यर्थः। प्रस्फुटकालः। अतिसूक्ष्मदिन-गतकालावयवागमप्रकारः। न स्वग्रन्थे उक्तः। अतः कारणात्। दृङ्मण्डलानुकारयन्त्रात् सूक्ष्मकालज्ञानसिद्धिनिमित्तं मया भास्कराचार्येण। सुखेन। अक्लेशेन। हेलयेत्यर्थः। यतितं यत्नविषयीकृतम्। कल्पितमित्यर्थः। फलकाख्यं यन्त्रम्। फलकसंज्ञं यन्त्रं प्रवक्ष्ये। प्रकर्षेण पूर्वप्रतिपादितयन्त्राधिक्येन। वक्ष्ये कथयिष्ये। क्रियाबलादहमित्यध्याहारः। एतेन फलक-यन्त्रस्य चक्रादियन्त्रवद्दृङ्मण्डलानुकारित्वेनात्र निरूपणं संगतमिति सूचितम्।

अस्याऽऽधिक्यं कुत इत्यतो विशेषणमाह—सगोलयुक्तेरिति। गोलयुक्तिसहितस्य। गणितस्य गणितविशेषस्य। त्रिप्रश्नाधिकारोक्तच्छायेष्टकालसाधकगणितस्य गोलयुक्तिसिद्ध-सूक्ष्मस्येत्यर्थः। सारं सारभूतम्। अल्पगणितश्रमेणास्माद्यन्त्रात्त्रिप्रश्नाधिकारोक्ततद्गणित-सिद्धकालच्छाययोः सूक्ष्मतया सिद्धेः। अतः पूर्वयन्त्रेभ्योऽस्याधिक्यमिति भावः। नन्वस्य सारत्वेन दुर्बोधात्कठिनतरं भविष्यतीत्यत आह—स्पष्टमिति। हेलावगम्यमित्यर्थः ॥१६॥

केदारदत्त :—काल ज्ञान के लिये भाष्कराचार्य का स्वयं निर्मित फलक यन्त्र—

क्षितिजाहोरात्र वृत्त सम्पात से खमध्य तक दृङ्मण्डल में उन्नतांश और सूर्योदय से ग्रह बिम्ब केन्द्र तक का समय (काल) का मान नतांश, होता है। अतः सद्गोल की युक्ति से ग्रहगणित सार का बोधन कराने वाले फलक यन्त्र का आचार्य से वर्णन हो रहा है ॥१६॥

इदानीमभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमाह—

नित्यं जाड्यतमोहरं सुमनसामुल्लासनं सप्रभं
चाक्लेशं समयावबोधनविधौ प्रोद्बोधितज्योतिषम् ॥
सेव्यं मण्डलमध्यगं सुकृतिभिर्यन्त्रं स्फुटं वच्म्यहं ।
नत्वैतद्गुणमेव देवममलं श्रीभास्करं भास्करः ॥१७॥

वा० भा०—वच्मि कथयामि। किम्। यन्त्रम्। किंविशिष्टम्। स्फुटमव्यभिचारि। कः। कर्ताऽहं भास्करः। किं कृत्वा। नत्वा प्रणिपत्य। कम्। भास्करं सूर्यम्। किंविशिष्टम्। मण्डलमध्यगं सूक्ष्मरूपावस्थानम्। पुनः किंविशिष्टमिति प्रतिविशेषणं संबध्यते। नित्यमविनाशिनम्। तथा जाड्यतमोहरं शैत्यतमोहरम्। तथा सुमनसां कमलादीनामुल्लासनम्। तथा। सप्रभं सदीप्तिकम्। तथा—अक्लेशं निरायासम्। क्व। समयावबोधनविधौ कालज्ञानविधाने। प्रोद्बोधितज्योतिषमुल्लासिततारकम्। यदेतत्तारकाणां तेजस्तद्रवितेजःसंजनितमेवेत्यर्थः। तथा सेव्यमुपास्यम्। कैः। सुकृतिभिः पुण्यकृद्भिः।

अथैतान्येव विशेषणानि यन्त्रे व्याख्यायन्ते। किंविशिष्टं यन्त्रम्। जाड्यतमोहरम्। जाड्यं मौर्ख्यं तदेव तमो हरतीति जाड्यतमोहरम्। कदा। नित्यं प्रत्यहम्। तथा सुमनसां विदुषामुल्लासनम्। तथा सप्रभं छायासहितम्। तथाक्लेशं समयावबोधनविधौ। अत्र सुखेन कालज्ञानं भवतीत्यर्थः। तथा प्रोद्बोधितज्योतिषमुज्ज्वलीकृतज्योतिःशास्त्रम्। तथा सुकृतिभिः सुगणकैः सेव्यम्। तथा मण्डलमध्यगम्। मण्डलं मध्यगं यस्येति मण्डलमध्यगमन्तर्लिखितवृत्तमित्यर्थः। तथाऽमलमिति ॥१७॥

मरीचिः—ननु सूक्ष्मकालसाधकगोलनाडीवलययन्त्रयोः सत्त्वात्फलकयन्त्रकथनमावश्यकं नेत्यतस्तदतिशयत्वेन कल्पितफलकयन्त्रस्य निरूपणं नवीनत्वेन मङ्गलाचरणपूर्वकं सगोलयुक्तेर्गणितस्य सारमिति प्रागुक्तं स्फुटयन्शार्दूलविक्रीडितेन शिष्यावधानार्थे पुनः प्रतिजानीते–नित्यं जाड्यतमोहरमिति। अहमेतद्ग्रंथकर्ता भास्करः। तन्नामकाचार्यः। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थकस्तेन पूर्वैरनुक्तमिदमित्यर्थः। श्रीभास्करं करसंघैः शोभायमान सूर्यम्। नत्वा। नमस्कृत्य। कर्तव्यापेक्षया पूर्वकालत्वान्नमस्कारस्य क्त्वानिर्देशः। यन्त्रं

फलकथनश्रम् । वच्मि निरूपयामि । सूर्यसद्भावे प्रमाणमाह—स्फुटमिति । प्रत्यक्षं प्रमाणमन्यथा दिनानुपपत्तेरिति भावः ।

ननु सूर्यस्य ग्रहत्वादभीष्टसिद्धयर्थं नमस्कारानर्हत्वमत आह—देवमिति । ग्रहत्वाच्छुभाशुभफलसूचकत्वेऽपि देवत्वादभीष्टफलदातृत्वेन नमस्कारार्हत्वमेवेति भावः । ननु सूर्यस्य मण्डलात्मकत्वेनाचेतनत्वाद्देवत्वमनुपपन्नमित्यत आह—मण्डलमध्यगमिति । मण्डलं बिम्बं तन्मध्ये गतो विद्यमानः । तथा च नहि मण्डलस्य देवत्वमङ्गीक्रियते येनानुपपत्तिः । किंतु मण्डलाधिष्ठातुर्जीवविशेषस्य देवतात्वमङ्गीक्रियते । यश्चास्मिन्मण्डले पुरुष इति श्रुतेः । ध्येयः सदा सवितृमण्डमध्यवर्ती नारायण इति वाक्याच्च । मण्डलस्य तदभिधायकत्वमुपचारादिति भावः ।

ननु ब्रह्मदिनावसाने तन्नाशाभ्युपगमाद्देवमतरेभ्यः किमस्याऽऽधिक्यं येनास्यैव नमस्कार इत्यत आह–नित्यमिति । ध्वंसाप्रतियोगिनम् । तथा च मण्डलस्य नाशेऽपि तदधिष्ठानपुरुषस्य नारायणत्वेन देवतान्तरेभ्यः स्वतःसिद्धमाधिक्यमिति भावः ।

ननु मण्डलाश्रितदेवस्य कैरपि नमस्काराकरणात्त्वया नमस्कारः कथं कृत इत्यत आह—सेव्यमिति । सुकृतिभिः पुण्यवद्भिरिन्द्रादिदेवैरुपास्यम् । एतत्सेवायां पुण्यवतां प्रवृत्तिरिति भावः । ननु पापपुरुषाणां तत्राप्रवृत्तिरस्य पापानाशकत्वात्स्वतःसिद्धेति कोऽस्य देवतान्तरेभ्य उत्कर्ष इत्यत आह—अमलमिति । पापनाशकमित्यर्थः । पापपुरुषाणामेतत्सेवया पापं नश्यतीति तैरुपास्यमिति भावः । अस्य पापनाशकत्वे प्रमाणमाह—जाड्यतमोहरमिति । जाड्यं शीतम् । तमोऽन्धकारमेते हरति दूरीकरोति । तथा च यो निरुपाधिपूर्वकं जगदन्धकारशीतादिकं नाशयति स सेवोपाधिना तु पापमवश्यं नाशयत्येवेति भावः ।

नन्विन्द्रादिदेवानां पापाभावात्तन्नाशरूपफलासंभवात्फलान्तराभावाच्च कथं तन्नमस्कारे प्रवृत्तिर्न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते इत्यत आह—सुमनसामिति । सुमनसस्त्रिदिवेशा इत्यभिधानाद्देवानामुल्लासनं संतोषकारकमित्यर्थः । तथा च सूर्योदये होमादियज्ञसंभवेन तदंशभोक्तृत्वेन देवतातृप्तौ सूर्यः कारणमिति स्वतृप्तिरूपफलार्थं तन्नमस्कारे प्रवृत्तिरिति भावः ।

यद्वा—अस्य पापनाशकत्वेऽपि फलान्तरदानाशक्यत्वात्कथमेतन्नमस्कारेऽभीष्टसिद्धयर्थं तवप्रवृत्तिरत आह—सुमनसामिति । सुमनसां पुष्पाणां कमलादीनामुल्लासनं विकासकारणमित्यर्थः । तथा च निरुपाधिना फलमचेतने करोति तस्य फलदातृत्वशक्तिः स्वाभाविकीति मह्यं चेतनाय नमस्कारोपाधिना फलं दास्यतीति भावः । ननु यन्त्रनिरूपणे सूर्यनमस्कारः किमर्थं संबन्धाभावादत आह—विक्लेशमिति । समयाववोधनविधौ । दिनगतकालावयवज्ञानप्रकारे । विक्लेशम् । विगताः क्लेशा आयासा यस्मादिति विक्लेशम् । सूर्यबिम्बदर्शने दिनगतकालावयवज्ञानं जनानां सुकरमिति भावः । अक्लेशमिति पाठस्तु लघुभकारस्य

पादान्तस्थं विकल्पे इत्युक्तत्वाद्गुरुत्वेन वृत्तदोषाभावेऽपि पठने भङ्गमिवाऽऽवहतीति ध्येयम् । कुत इत्यतो विशेषणान्तरं हेतुमाह—सप्रभमिति । छायासहितम् । सूर्यबिम्बतेजःप्रतिरोधादावरणच्छाया भवति । तथा च सूर्यकृतशङ्कुच्छायायाः प्रत्यक्षसिद्धायाः कालज्ञानं त्रिप्रश्नाधिकारोक्तमिति च्छायोपजीव्यत्वेन कालज्ञाने सूर्यः कारणमिति भावः ।

ननु रात्रिकालावयवज्ञानेऽर्को न कारणमिति समयावबोधनविधाविति साधारणं कथमुक्तमत आह—प्रोद्बोधितज्योतिषमिति । प्रकर्षेणोल्लासितं ज्योतिर्नक्षत्रचक्रं येन । यदेव नक्षत्राणां तेजस्तद्रवितेजःसंजनितमेवेत्यर्थः । चन्द्रवन्नक्षत्रगोलकानां जलमयत्वेन स्वतो निष्प्रभत्वात् । तथा च रात्रौ नक्षत्रज्ञानात्कालज्ञानसंभवान्नक्षत्रज्ञानं च तद्बिम्बदर्शनेनेति सूर्यकिरणप्रतिफलनात्तद्बिम्बमिति रात्रावपि कालज्ञाने सूर्यः परम्परया कारणमतः समयावबोधनविधाविति साधारणोक्तिः संगतेति भावः । मयामुष्य प्रोद्बोधित ज्ञापितं ज्योतिःशास्त्रं येनेति केचित् ।

ननु यन्त्रनिरूपणावश्यकतापूर्वपक्षोत्तरं न सिद्धमतो यन्त्रविशेषणमाह—एतद्गुणमिति । एतत्सूर्यसंबद्धं विशेषणजातं गुणा यन्त्रान्तरेभ्य उत्कर्षसंपादका यस्येति । तथा चास्य निरूपणेन विशेषान्तरज्ञानसंभवादेतन्निरूपणमावश्यकमिति भावः । एतद्गुणमिति पदद्वयम् । तत्र यन्त्रमित्यत्रैतदन्वयः । एतत्फलकाख्ययन्त्रमित्यर्थः । गुणमिति सूर्यविशेषणम् । सत्त्वरजस्तमोलक्षणत्रिगुणात्मकमित्यर्थः । यन्त्रस्यापीदं विशेषणं ज्याङ्कितमित्यर्थकमिति केचित् । अथैतद्गुणं कथमतो नित्यमित्यादि यन्त्रे व्याख्यायते । नित्यं प्रत्यहम् । जाड्यमज्ञानं तदेवान्धकारस्तं दूरीकरोति । एतदङ्गीकर्तुरुत्तरोत्तरमज्ञाननाशि भवतीत्यर्थः ।

ननु येषामज्ञानं तेषामेवं येषां त्वज्ञानाभावस्तेषामेवं नेति कोऽस्योपयोग इत्यत आह—सुमनसामिति । सुगुणकानामुल्लासनम् । एतद्रीत्याऽन्ययन्त्रकल्पकत्वेनाधिकज्ञानसंपादकमित्यर्थः । ननु तथाऽपि यन्त्रान्तरेभ्योऽस्योत्कर्षो न सिद्ध इत्यत आह—विक्लेशमिति । समयावबोधनविधौ विगताः क्लेशाः श्रमा जनानां यस्मात् । अत्र सुखेन कालज्ञानं भवतीत्युत्कर्षः स्वतःसिद्ध इति भावः । कुतो भवतीत्यत आह—सुप्रभमिति । यन्त्रमध्यस्थकीलच्छायासहितमित्यर्थः । तथा च च्छायाग्रे कीलप्रोतपट्टीसंनिवेशेन तत्कालमेव घटीज्ञानं स्यादिति भावः ।

ननु च्छायाग्रानियमात्पट्टीसंनिवेशः कथं भवतीत्यत आह—मण्डलमध्यगमिति । मण्डलं वृत्तं मध्यगतं यस्येति । तथा च तत्र वृत्तेनावधिकरणात्कीलच्छाया यत्र लगति तत्र पट्टीसंनिवेशेन कालज्ञानं सुकरमिति भावः । नन्वेवं गोलयुक्त्यसिद्धत्वेन सदूषणं भविष्यतीत्यत आह—अमलमिति । निर्दूषणम् । गोलयुक्तिसिद्धत्वात् । नन्वेवमपि स्वल्पान्तरेण स्थूलज्ञापकं भविष्यतीत्यत आह—स्फुटमिति । स्वल्पान्तराभावेनापि सूक्ष्मकालज्ञापकमित्यर्थः । अत एव प्रोद्बोधितं ज्योतिषमुज्ज्वलीकृतं ज्योतिःशास्त्रं येन । ज्योतिःशास्त्रसारभूतमिति भावः । अत एव च सुकृतिभिः सुगुणकैः सेव्यमङ्गीकृतमित्यर्थः ।

अथैतानि विशेषणानि ग्रन्थकर्तरि विभक्तिपरिणामाद्व्याख्यायन्ते । प्रत्यहं जाड्यत-

मोहरः शिष्यमौर्ख्यान्धकारनाशकः। एतच्छिष्याणां ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वात्। सुमनसां सुबुद्धीनां गोलगणिताभिज्ञानाम्। उल्लासकः सन्तोषकारी। कल्पकत्वात्। सप्रभः प्रतिभायुक्तः। ब्रह्मगुप्तोक्तिदूषकत्वात्। कालज्ञानविषये श्रमरहितः। स्वयुक्त्या लाघवेन कालानयनप्रकारकल्पकत्वात्। प्रोद्बोधितं ज्योतिषं येन सिद्धान्तशिरोमणिकर्तृकत्वात्। सुकृतिभिः सुगुणकैः शिष्यभूतैः सेव्य उपास्यः। अत एव मण्डलमध्यमः शिष्यमण्डलमध्यवर्ती। अमलो निष्पापः श्रुतिस्मृत्युक्तकर्मानुष्ठानात्। प्रत्यक्षभूतो देव एवेत्यलं व्यर्थविस्तरेण ॥१७॥

केदारदत्तः—दोष रहित स्वयं का रचित प्रसिद्ध फलक यन्त्र निर्माण में स्वेष्टदेव ग्रहाधीश त्रैलोक्य दीपक सूर्य को नमन पूर्वक—

नित्य रहने वाला, मूर्खत्वरूपी शैत्य अर्थात् अन्धकार का विनाशक, मण्डल मध्यगत, कमल पुष्पादिकों को या प्राणिमात्र का उल्लासक, सुप्रकाशप्रद, क्लेश रहित, कालज्ञान विधान में तारकामण्डल को उल्लसित कारक, तारामण्डल में (स्वतेजदायक होने से) पुण्यकृत् महान महात्माओं से सेवित श्री भगवान् सूर्य नारायण को नमस्कार पूर्वक नित्य जाड्यतम रूपी मूर्खता रूप शीत अन्धकार का नाशक, खगोलज्ञ विद्वानों के लिये आनन्द कारका, क्लेश रहित, छाया से युक्त, अक्लेश से समय का उद्बोधक, ज्योतिष शास्त्र को अपनी ज्योति से उज्ज्वलता प्रदान कारक, सुरुचिक खगोलज्ञों से सुसेवित, मण्डल मध्यगत अर्थात् यन्त्रमध्य लिखित मण्डल युक्त यन्त्रराज "फलक" यन्त्र शिरोमणि को फलक निर्माता आचार्य भास्कर स्वयं नमस्कार कर रहे हैं ॥१७॥

इदानीं यन्त्रलक्षणमाह—

कर्तव्यं चतुरस्रकं सुफलकं खाङ्क॥९०ङ्गुलैर्विस्तृतं
विस्ताराद्द्विगुणा१८०यतं सुगणकेनाऽऽयाममध्ये तथा।
आधारः श्लथशृङ्खलादिघटितः कार्या च रेखा तत-
स्त्वाधारादवलम्बसूत्रसदृशी सा लम्बरेखोच्यते ॥१८॥

लम्बं नवत्य९०ङ्गुलकैर्विभज्य
प्रत्यङ्गुलं तिर्यगतः प्रसार्य।
सूत्राणि तत्राऽऽयतसूक्ष्मरेखा
जीवाभिधानाः सुधिया विधेयाः ॥१९॥

आधारतोऽधः खगुणा३०ङ्गुलेषु
ज्यालम्बयोगे सुषिरं च सूक्ष्मम्।
इष्टप्रमाणा सुषिरे शलाका
क्षेप्याऽक्षसंज्ञा खलु सा प्रकल्प्या॥२०॥

षष्टयङ्गुलव्यासमतश्च रन्ध्रात्
कृत्वा सुवृत्तं परिधौ तदङ्क्यम् ।
षष्टया घटीनां भगणांश३६०कैश्च
प्रत्यंशकं चाम्बुपलैश्च दिग्भिः ॥२१॥

अग्रे सरन्धा तनुपट्टिकैका षष्टयङ्गुला दीर्घतया तथाऽङ्क्या ।

वा० भा०—अत्राऽऽदौ धातुमयं श्रीपर्ण्यादिदारुमयं वा फलकं चतुरस्रं श्लक्ष्णं समं कर्तव्यम् । तच्च नवत्यङ्गुलविस्तारं द्विगुणविस्तारदैर्घ्यम् । तत्समीपे दैर्ध्यमध्ये तस्याऽऽधारः शिथिलः शृङ्खलादिः कार्यः । आधारे धृतं यन्त्रं यथा लम्बमानं स्यात्तथा धृते फलक आधारादधः सूत्रमवलम्बरेखा कार्या । सा च लम्बसंज्ञा । तं लम्बं नवतिभागं कृत्वा भागे भागे तिर्यग्रेखा दीर्घा कार्या । तिर्यक्त्वं तु लम्बभवान्मत्स्यात् । सा रेखा ज्यासंज्ञा ज्ञेया । आधारादधस्त्रिंशदङ्गुलान्तरे या ज्या तस्या लम्बस्य च संपाते सुषिरम् । तत्रेष्टप्रमाणा शलाका क्षेप्या । साऽक्षसंज्ञा । तस्माद्रन्ध्रात् त्रिशदङ्गुलेन कर्कटकेन वृत्तरेखा कार्या । सा षष्टि६०घटिकाभिर्भगणांशकैः खषडग्निसंख्यैः ३६० प्रत्यंशं दशभिर्दशभिः पानीयपलैश्चाङ्क्या । अथ ताम्रादिमयी वंशशलाकामयी वा पट्टिका षष्टयङ्गुला ६० दीर्घतया तैरेव फलकाङ्गुलैस्तथैवाङ्किता कार्या । सा पट्टिकाऽर्धाङ्गुलविस्तृता । एकस्मिन्नग्रेऽङ्गुलविस्तृता कुठाराकारा कार्या । तत्र विस्तारमध्ये छिद्रं कार्यम् । अक्षप्रोतायाः पट्टिकाया लम्बोपरि धृताया एकं पार्श्वं यथा लम्बरेखां न जहाति तथा सरन्धा कार्येत्यर्थः ॥१८॥१९॥२०॥२१॥

मरीचिः—अथ प्रतिज्ञातयन्त्रस्वरूपं शार्दूलविक्रीडितेनाऽह—कर्तव्यं चतुरस्रकमिति । सुगुणकेन । धातुमयं श्रीपर्ण्यादिसुदारुमयं वा । सुफलकं यन्त्रं श्लक्ष्णं समं चतुरस्रमायतचतुस्रम् । कप्रत्ययेन समचतुरस्रस्य वृत्ताकारादेर्वा निरासः । कर्तव्यम् ।

आयतचतुरस्रकरणे विस्तारः कियान् कर्तव्य इत्यत आह—खाङ्काङ्गुलैरिति । नवत्यङ्गुलैर्विस्तृतमित्यर्थः । विस्ताराद्दैर्घ्यस्याऽऽधिक्येऽपि कियन्मितं कार्यमत आह-विस्तारादिति । विस्तारमानापेक्षया द्विगुणमायतं दैर्घ्यं यस्य अशीत्यधिकशताङ्गुलमितं दैर्घ्यं कार्यमित्यर्थः । ततोऽनन्तरम् । यन्त्रविस्तारप्रान्ते । आयाममध्ये । यन्त्रदैर्घ्यमध्ये श्लथशृङ्खलादिना घटितः कृत आधारस्तथा कार्यः । यन्त्रस्यार्धभागे दैर्ध्यनेम्यामाधारशृंखला योज्या यथा तत्र धृतं यन्त्रं लम्बमानं स्यादित्यर्थः । ततोऽन्तरमाधारादाधारस्थानात् । अवलम्बसूत्रसदृशी । यथा लम्बायमानयन्त्रे आधारादवलम्बसूत्रं पतति तदनुकारा रेखा कार्या । चकारः समुच्चये । तुकारादाधारातिरिक्तस्थला तादृशी रेखा आधाराद्वक्रा रेखा वा न कार्येति लाभः । सा रेखा अस्मिन् यन्त्रे । लम्बरेखा । गणकैनोच्यते । लम्बसंज्ञा रेखेति तात्पर्यम् ॥१८॥

अथात्र जीवाङ्कनमिन्द्रवज्रयाऽऽह—लम्बं नवत्यङ्गुलकैरिति । लम्बं रेखात्मकम् । नवतिसंख्याभिरङ्गुलैर्विभज्य भक्त्वा लम्बरेखायां विस्ताराङ्गुलमिता अङ्गुलान्तरेण प्रदेशा अङ्कनादिना कार्या इत्यर्थः । अतश्चिह्नेभ्यः । प्रत्यङ्गुलम् । अङ्गुलमङ्गुलं प्रतीति प्रत्यङ्गुलम् । अङ्गुलान्तरेण सूत्राणि तिर्यग्दैर्घ्याकाराणि प्रसार्य विस्तार्य । तत्र फलकाख्ययन्त्रे । आयतसूक्ष्मा रेखाः प्रसारितसूक्ष्मानुरोधेन दैर्घ्याकारसूक्ष्मरेखा जीवाभिधाना ज्यासंज्ञाः सुधिया गणकेन विधेयाः । मध्या(स्या)दिलिप्तसूत्रादिभिः कार्याः सुधियेत्यनेन विस्ताराङ्गुलमिताः समानान्तरेण दैर्घ्यरेखाः सरलाः कार्या इति तात्पर्यम् ।।१९।।

अथ कीलकर्सनिवेशमिन्द्रवज्रयाऽऽह–आधारतोऽध इति । आधारस्थानादधोभागे त्रिशदङ्गुलेषु ज्यालम्बयोगे । त्रिशज्जीवारेखालम्बरेखयोः संपाते सुषिरं छिद्रं सूक्ष्मं चकारात्कार्यम् । अस्मिन्सुषिरे छिद्रे । इष्टाङ्गुलप्रमाणा शलाका । सूक्ष्मा क्षेप्या । सा शलाका । अत्र यन्त्रे । खलु निश्चयेन । अक्षसंज्ञा प्रकल्प्या । यथा त्रिंशदङ्गुलान्न्यूना छाया भवति तथेष्टशलाका क्षेप्येति ध्येयम् ।।२०।।

अथ प्रधानभूतं वृत्तमिन्द्रवज्रयाऽऽह—षष्टयङ्गुलव्यासमिति । अतः । अक्षमूलभूताच्छिद्रात् । षष्टयङ्गुलव्यासम् । षष्टयङ्गुलपरिमितो व्यासो यस्येत्येतादृशं सुवृत्तम् । चकारात्सुधिया गणकेन कृत्वा छिद्रे केन्द्रं प्रकल्प्य त्रिंशदङ्गुलमितव्यासार्धेन वृत्तं कृत्वेत्यर्थः । तद्वृत्तम् । परिधिस्थाने । घटानां षष्ट्या । षष्टिघटीभिरित्यर्थः । भगणांशकैर्द्वादशराशीनामंशैः । चः समुच्चये । अङ्क्यम् । अङ्कनीयम् । नन्वेकं वृत्तं घटयंशाभ्यां कथमङ्क्यमत आह–प्रत्यंशकमिति । अंशमंशं प्रतीति प्रत्यंशकम् । दिग्भिम्बुरपलैर्दशभिः पानीयपलैः । चकारादङ्क्यम् । प्रथमतो वृत्तपरिधौ षष्टयधिकशतत्रयभगणांशा अङ्क्यास्तत एभिः षष्टिघटीपलानिषट्त्रिंशच्छतमितानि तदैकेनांशेन कानीत्यनुपातेन प्रत्यंशं दशपलान्यङ्क्यानि । चकारात्षडंशेष्वेका घटिका । अंशे षष्टिकलाः षष्टयसुतुल्या अङ्क्या इति सूचितम् ।।२१।।

केदारदत्तः—फलक यन्त्र निर्माण विधि—

किसी धातु विशेष से अथवा दीर्घकाल में भी विकृत न होने वाली सुन्दर चिक्कन समतल लकड़ी में कालज्ञान प्रदर्शक सुफलद चतुष्कोण चकोर आयताकार फलक यन्त्र की रचना करनी चाहिए । जिसका विस्तार ९० अंगुल और जिसकी लम्बाई ९० × २ = १८० अंगुल होनी चाहिए । अर्थात् विस्तार ३$\frac{1}{2}$ हाथ के तुल्य और लम्बाई ३$\frac{1}{2}$ × २ = ७ हाथ होनी चाहिए । अर्थतः पादांगुल से शिर की चोटी मूल तक की पुरुष की ऊँचाई ३$\frac{1}{2}$ हाथ हो तथा विस्तार × २ = दैर्घ्य = (१ हाथ हो) ।

लम्बाई के समीप में यंत्र स्थापित किया जाने वाला कोई ऐसा शिथिल आधार होना चाहिए जिससे यन्त्र को लम्बरूप स्वरूप दिया जा सकता है । तथा आधार से नीचे यन्त्र

में एक लम्बरूप रेखा करनी चाहिए जिसका नाम लम्ब होता है। इस लम्ब को ९० भागों में वितरित कर प्रत्येक भाग में एक एक लम्बरूपिणी दोनों छोरों तक गमन करने वाली रेखा देनी या करनी चाहिए जो आधार गत लम्ब रेखा पर लम्ब रूपिणी होती है। प्रत्येक अंगुल गत तिर्यक् रेखाओं को एक से ९० अंश तक की पृथक् पृथक् ज्या समझनी चाहिए।

आधार के नीचे ३० अंगुल पर जो ज्या और उसका ऊर्ध्वाधर लम्ब के सम्पात पर एक सुषिर = छिद्र करना चाहिए। उसमें अभीष्ट प्रमाण की एक शलाका स्थापित करनो चाहिए जिससे छाया उत्पन्न हो सके। इस शलाका का नाम अक्ष रेखा है। इस छिद्र से ३० अंगुल व्यासार्ध से एक वृत्त बनाना चाहिए इस वृत्त में काल ज्ञानाय ६० घटिकायें एवं ग्रह ज्ञानाय ३६०°१२ राशियाँ कलादि से युक्त वृत्त में चिह्न करने चाहिए। प्रत्येक अंश १०, दश दश पालीयपल से अङ्कित करने चाहिए।

ताम्रादि धातु की या वंशादि बांस आदि की ६० अंगुल की एक पट्टिका जिस अंगुल मान से फलक यन्त्र निर्मित हुआ है उसी अंगुल माप की पट्टिका भी होनी चाहिए। पट्टिका का विस्तार $\frac{1}{2}$ अंगुल होता है तथा दैर्घ्य = ६० अंगुल होना चाहिए। पट्टिका के अग्र भाग में एक अंगुल विस्तार कुठाराकारा (कुल्हाड़ी) होना चाहिए। कुठार के विस्तार में भी एक छिद्र करना चाहिए।

उक्त अक्ष रेखा प्रोत इस पट्टी को लम्ब रेखा में ऐसे रखना चाहिए जिससे अक्ष रेखा का एक भाग जिस प्रकार लम्ब रेखा का त्याग न करै, ऐसे यन्त्र को स्थापित करना चाहिए। १८।१९।२०।२१।

इदानी यन्त्रोपकरणमाह—

यत् खण्डकैः स्थूलचरं पलाद्यं तद्गोकु १९ हृत् स्याच्चरशिञ्जिनीह ॥२२॥

वा० भा०—यत्खण्डकोत्थं चरार्धं पानीयपलात्मकं तस्यैकोनविंशति १९ भागोऽत्र चरज्याज्ञेया। तानि चरखण्डानि। दिङ्नागसत्र्यंशगुणैः १०।८।३।२०। विनिघ्नी पलप्रभा स्युश्चरखण्डकानीति। तानि यथा सार्धचतुरङ्गुले ४।३० पल प्रभादेशे ४५।३६।१५।

अत्रोपपत्तिः खण्डकैश्चरसाधने कथितैव। तच्चरं रूपतश्चरज्यारूपमेवाऽऽगच्छति। तच्च पानीयपलात्मकम्। अतस्तत् षड्गुणितमस्वात्मकं स्यात्। (स्वल्पत्वादस्य ज्या तावत्येव भवति)। ततोऽनुपातः। यदि त्रिज्याव्यासार्धे एतावती चरज्या तदा त्रिशद्व्यासार्धे कियतीति। अत्र त्रिंशच्चरज्याया गुणकस्त्रिज्या हरः। अतः षड्भिस्त्रिंशता च त्रिज्यापवर्तने कृते जात एकोनविंशतिर्हरः १९। रूपं १ गुणः। फलमत्र यन्त्रे चरज्येत्युपपन्नम् ॥२२॥

मरीचि:—अथात्र पट्टीसंनिवेशं चरज्याप्रतिपादनं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—अग्रे सरन्ध्रेति । एका । तनुपट्टिका । अर्धाङ्गुलविस्तृता । ताम्रादिधातुमयी वंशशलाकामयी वा पट्टी । अग्रे एकस्मिन्प्रान्ते इत्यर्थः । सरन्ध्रा । तस्मिन्प्रान्तेऽङ्गुलप्रमाणविस्तृता । कुठाराकारा कार्या । ततस्तत्र विस्तारमध्येऽक्षप्रोतनयोग्यं छिद्रं कार्यम् । अक्षप्रोतपट्टिकाया लम्बोपरि धृताया एकः पार्श्वो लम्बरेखां न जहाति तथा सरन्ध्रा कार्येत्यर्थः । सा पट्टिका छिद्रमारभ्यापर-प्रान्तपर्यन्तम् । दीर्घतया दैर्घ्येण षष्टयङ्गुलप्रमाणा । अङ्क्या । अक्षप्रोता तथा कार्या । अङ्गुलमानं पूर्वाभिन्नमेव ज्ञेयम् ।

अथैतद्यन्त्रयोग्यां चरज्यामाह—यदिति । खण्डकैः । दिङ्नागसत्र्यंशगुणैर्विनिघ्नी पलप्रभा तोयपलात्मकानि । स्थूलानि वा स्युश्चरखण्डकानीत्युक्तैः । लघुज्यकावद्रविदोस्त्रिभागादि-त्यनेन । स्थूलचरं पलादिकं यत्तत् । एकोनविंशतिभक्तम् । इह फलकयन्त्रे क्रियोपयोगिनी चरज्या स्यात् ॥२२॥

केदारदत्तः—पूर्वसाधित चरज्या का १९वाँ भाग यहाँ यन्त्र में चरज्या समझनी चाहिए । तथा पूर्व में उक्त चार खण्डों का साधन जो बताया गया है तदनुसार पलभा × १०, ८, $\frac{\text{१०}}{\text{३}}$ = चरखण्डों से ४-३० पलभा देश में चरखण्डों का मान ४५, ३६, १५ होता है । गणित से $\dfrac{\overset{\text{४।३०}}{\text{१०}}}{\text{४५}}$ $\dfrac{\overset{\text{४।३०}}{\text{८}}}{\text{३६}}$ $\underset{\text{१५}}{\overset{\text{४।३०}}{\text{१०}}} \div \text{३} = \text{४५।३६।१५}$ ये मेषादि तीन राशियों के चरखण्ड होते हैं । त्रिज्या = ३४३८ में १८० का भाग देने से लब्धि १९ होती है, अतः, $\frac{\text{चरज्या} \times \text{१८०}}{\text{३४३८}}$ $\frac{\text{चरज्या}}{\frac{\text{३४३८}}{\text{१८०}}} = \text{१९}$ उपपन्न होता है ॥२२॥

इदानीं यष्टिसाधनमाह—

वेदा ४ भवाः ११ शैलभुवो १७ धृतिश्च १८ विश्वे १३ च बाणाः ५ पलकर्णनिघ्नाः ।

अर्कोद्धृताः स्युः क्रमशः स्वदेशे राश्यर्धलभ्यानि हि खण्ड-कानि ॥२३॥

तैः क्रान्तिपाताढ्यचरवेर्भुजज्या
षष्ट्युद्धृताक्षश्रवणेन युक्ता ।
दिग्घ्नीकृताऽऽप्ता भवतीह यष्टिः
सा पट्टिकायां सुचिरात् प्रदेया ॥२४॥

वा० भा०—४।११।१७।१८।१३।५ एतानि खण्डकानि निरक्षदेशे पलकर्ण-गुणानि द्वादशभक्तानि स्वदेशे भवन्ति। पञ्चदशभिः पञ्चदशभिर्भागैरेकैकं लभ्यते। एवं तैः खण्डकैः सायनांशार्काद्भुजज्या साध्या। सा षष्टिभक्ता पउ-कर्णयुता ततो दशगुणा चतुर्भक्ताऽङ्गुलात्मिका यष्टिर्भवति। सा यष्टिः पट्टिकायां सुषिराद्देया। यष्टिमितान्यङ्गुलानि पट्टिकायां रन्ध्रादारभ्य गणयित्वाऽग्रे चिह्नं कार्यमित्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः। अत्र सुषिरोपरि या ज्यारेखा सा मध्यरेखेति ज्ञातव्या। इह किल दृङ्मण्डलाकारे धृते यन्त्रे कोलच्छाया यत्र परिधौ लगति तन्मध्यरे खयोरतन्र य उन्नतभागास्तेषां ज्योन्नतज्या। मध्यरेखाछाययोर्मध्ये यावन्त्यङ्गुलानि ताव-त्युन्नतज्येत्यर्थः। सैवेष्टकाले शङ्कुः। स एव पलकर्णगुणो द्वादशहृत इष्टहृतिः स्यात्। सा त्रिज्यागुणा द्युज्यया भक्तेष्टान्त्यका स्यात्। अथ त्रिज्योत्तरगोले चरज्यया युता दक्षिणे हीना सत्यन्त्या स्यात्। अन्त्याया इष्टान्त्यकोनाया यच्छेषं सा नतकालस्योत्क्रमज्या स्यात्। अतस्तस्या उत्क्रमचापे कृते नतकालो ज्ञायत इति किल गोले कालज्ञानवासना। इदं धूलोकर्म यन्त्रादेवोपसंहर्तुं यष्टिः कृता। तत्र तावद्राश्यर्धे भुजे द्युज्या ३४१८। राशौ ३३६६। सार्धे राशौ ३२९२। राशि-द्वये ३२१८। सार्धराशिद्वये ३१६१। राशित्रये ३१४१। यदा किल द्वादशाङ्गु-लशङ्कुस्त्रिज्यया गुण्यत आभिर्द्युज्याभिः पृथक् पृथग् विभज्यते तावत् सर्वत्र द्वादशाङ्गुलानि लभ्यन्ते। अधो वेदा इत्यादीनि त्र्यङ्गुलानि। उपरितनान् द्वादश परित्यज्यैषामेवान्योऽनुपातः। एतान्येव स्वदेशे पलकर्णगुणानि द्वादशहृतानि पञ्चदशभागलभ्यानि खण्डकानि कल्पितानि। तैः खण्डकैः सायनांशार्कस्य भुजज्या त्र्यङ्गुलात्मिका भवति। अतः षष्ट्युद्धृता। इयमक्षकर्णेऽतो योज्या। यतो य उपरि त्यक्ता द्वादश ते यावदक्षकर्णेन गुण्यन्ते द्वादशभिर्विभज्यन्ते तावदक्ष-कर्ण एव लभ्यते। एवं द्वादशाङ्गुलस्य शङ्कोरिष्टान्त्या जाता। इयं धूलीकर्मोप-संहारार्थं त्रिंशदङ्गुलस्य शङ्कोः परिणामिता। तत्रानुपातः। यदि द्वादशाङ्गुल-स्येयं तदा त्रिंशदङ्गुलस्य केति। अत्र गुणकभाजकौ त्रिभिरपवर्त्य गुणकस्थाने दश १० भागहारे चत्वारः ४ कृताः। एवमनुपातेन त्रिंशदङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्या यष्टि-संज्ञा भवतीत्यर्थः। यदि त्रिंशच्छङ्कोर्यष्टिमितेष्टान्त्या तदेष्टशङ्कोः कियतीति। एवमिष्टशङ्कुर्यष्ट्या गुण्यस्त्रिंशता भाज्यः। फलमिष्टान्त्येति स्थितम्। तदर्थं सा यष्टिः पट्टिकायां दत्ता तदग्रे चिह्नं च कृतम्॥२३॥२४॥

मरीचिः—अथात्र यष्टिसाधनार्थं खण्डकानयनमिन्द्रवज्रयाऽऽह—वेदा भवा इति। चत्वारः एकादश। सप्तदश। अष्टादश। त्रयोदश। पञ्च। चकारादेते षडङ्काः पल-कर्णगुणाः स्वाभीष्टदेशसंबद्धपलकर्णेन गुणिताः। चः क्रमार्थः। द्वादशभक्ताः। क्रमशः

उत्क्रमात् । स्वदेशे गृहीतपलकर्णसंबन्धिदेशे खण्डकानि भवन्ति । ननु लघुज्याखण्डकानि भुजांशदशांशलभ्यानि तथैतानि न षण्मितत्वादन्यथा नवकथितानि स्युरत आह—राश्यर्ध-लभ्यानीति । हि निश्चयादेतानि षड् राशेरर्घं पञ्चदशभागास्तैर्लभ्यानि भुजांशपञ्चदशां-शेनैतानि लभ्यानीत्यर्थः । षण्मितत्वात् ॥२३॥

अथ यष्टेरानयनं तस्या यन्त्रे संनिवेशं चेन्द्रवज्रयाऽऽह—तैः क्रान्तिपाताढ्येति । तैः स्वदेशसंबन्धिभिरानीतखण्डकैः षडभिः । क्रान्तिपाताढ्यरवेः सायनार्काद्भुजज्या । यथा लघुज्या दशभागेनोक्तखण्डकैस्तथा पञ्चदशभागेनैभिः खण्डकैः सायनसूर्यभुजस्य ज्या कार्या । सा षष्टिभक्ता । अक्षकर्णेन पूर्वगृहीतेन युक्ता । ततो दशभिर्गुणिता चतुर्भिर्भक्ता फलमिहास्मिन्फलकयन्त्रे यष्टिर्भवति । सा षष्टिः पट्टिकायां सुषिरात्सूक्ष्मतया देया । अङ्क्या । यस्मिन्दिने कालज्ञानाद्यभीष्टं तद्विनीयोक्तप्रकारेण यष्टिरानेया तत्तुल्यान्यङ्गु-लानि पट्टिकायां सुषिराद्गणयित्वा यष्टिचिह्नं कार्यमित्यर्थः ॥२४॥

केदारदत्तः—यष्टि साधन गणित बताया जा रहा है—

निरक्ष देश अर्थात् विषुवद्वृत्त धरातलगत भूपृष्ठ मे ४।११।१७।१८।१३। और ५. ये अंक द्वादश भक्तपलकर्णगुणित चर खण्डों के होत हैं । प्रत्येक १५ अंश में एक एक खण्ड होता है अतः $\frac{९०}{१५}$ = ६ खण्ड होते हैं ।

सायन सूर्य के भुजांश की ज्या भुजज्या का साधन कर इसमें ६० का भाग देकर इसे पलकर्ण में जोड़ कर जो फल आता है उसे १० से गुणा कर ४ से भाग देने से लब्ध फल का नाम यष्टि का अंगुलात्मक मान होता है ।

उपरोक्त मध्य छिद्र में इस नाप से यष्टि का दान देना चाहिए । पट्टिका में यष्टि माप तुल्य अंगूलरन्ध्र से आरम्भ कर उसमें चिह्न करना चाहिए ।

सुषिर अर्थात् छिद्रोपरि की ज्या रेखा = मध्य रेखा ।

उपपत्ति : फलक यन्त्र को दृङ्मण्डलाकार स्थापित करने से यन्त्रगत कील छाया जहाँ परिधि को स्पर्श कर रही है, वहाँ से मध्य रेखा तक जो उन्नतांश हैं इस उन्नतांश ज्या = उन्नत ज्या होती है । अर्थात् मध्य रेखा और छाया के मध्य में जितने अंगुल वही उन्नत ज्या होती है । इष्टकाल में यही उन्नत ज्या = शंकु होती है । इसे पककर्ण से गुणित १२ से विभक्त करने पर = इष्ट हृति होती है । इष्टहृति को त्रिज्या से गुणा कर द्युज्या से भाग देने पर वह इष्टान्त्यका होती है । उत्तर दक्षिण गोलग रवि के क्रम से त्रिज्या ± चरज्या = अन्त्या होती है । अन्त्या−इष्टान्त्या = नतकालोत्क्रम ज्या होती है । नतकालो-त्क्रम ज्या का चाप से = नतकाल का ज्ञान होता है । गोल दर्शन से इस प्रकार कालज्ञान सुस्पष्ट होता हैं । इस गोलसिद्ध उपपत्ति को आचार्य धूलिकर्म से सिद्ध करते हैं ?

अथ च–०।१५°।०'।०' जब भुजमान होता है तो द्युज्या = ३४१८ होती है। तथा १।०।०।० भुज में द्युज्या = ३३६६, १।१५।०।० भुज में द्युज्या = ३२९२, २।०।०।० भुज में द्युज्या = ३२१८, २।१५।०।०० भुजज्या में द्युज्या = ३१६१ तथा ३।०।०।० भुज द्युज्या = ३१४१।

तथा १२ अंगुल शंकु को त्रिज्या से गुणा कर उक्त द्युज्याओं से भाग देने से सर्वत्र लब्धि पूर्ण १२ के अवयवों में ४, ११; १७, १८, १३, ५ अङ्क उत्पन्न होते हैं।

साक्षदेश = अपने देश के लिये उक्त खण्डों को $\frac{\text{खण्ड} \times \text{पलक}}{१२}$ फल = १५ अंश भुज्जांश सम्बन्धी फल व्यंगुलात्मक होता है। इसमें ६० से भाग देकर लब्ध फल को ऊपर लब्ध १२ में जोड़ना चाहिए। क्योंकि ऊपर में लब्ध $\frac{१२ \times \text{पलकर्ण}}{१२}$ = पलकर्ण इसी का नाम द्वादशांगुल शंकु की इष्टन्त्या होती है। इसे ३० अंगुल शंकु में परिणत करने से $\frac{\text{इष्टान्त्या} \times ३०}{१२} = \frac{\text{इष्टान्त्या} \times १०}{४}$ = ३० अंगुल शंकु की इष्टान्त्या = यष्टिः होती है।

पुनः, $\frac{\text{यष्टि} = \text{इष्टान्त्या} \times \text{इष्टशंकु}}{३० \text{ अंश}}$ = इष्टान्त्या। इसी के तुल्य यही अंगुल पट्टी में दिये गए हैं ॥२३।२४॥

इदानीं यष्टिप्रयोजनमाह—

धार्यं तथा फलकयन्त्रमिदं यथैव
तत्पार्श्वयोर्लगति तुल्यमिनस्य तेजः।
छायाऽक्षजा स्पृशति तत्परिधौ यमंशं
तत्रांशके मतिमता तरणिः प्रकल्प्यः ॥२५॥
अक्षप्रोतां रविलवगतां पट्टिकां न्यस्य तस्माद्-
यष्टेरग्रादुपरि फलकेऽधश्च गोलक्रमेण।
यत्नाद्देयश्चरदलगुणस्तत्र या ज्या तयाऽत्र
चिछन्ने वृत्ते तलगघटिकाः स्युर्नता लम्बकान्ताः ॥२६॥

वा० भा०—तद्यन्त्रमाधारेऽवलम्बमापं तथा धार्यं यथा यन्त्रोभयपार्श्वयो-स्तुल्यकालमेवार्कतेजो लगति। अर्काभिमुखनेमिकं दृङ्मण्डलाकारमित्यर्थः। तथा धृते सुषिरे प्रोतस्याक्षस्य च्छाया वृत्तपरिधौ यस्मिन्नंशे लगति तत्रांशेऽर्कः

कल्प्यः। अथाक्षप्रोतैव पट्टिका रविचिह्ने स्थाप्या। तथा धृतायां पट्टिकायां यद् पूर्वं कृतं यष्टिचिह्नं तस्मादुपर्युत्तरगोले। दक्षिणगोले तु तदधश्चरज्यामितान्यङ्गुलानि फलके गणयित्वा तत्र चिह्नं कार्यम्। चिह्नस्थाने या ज्यारेखा सा वृत्ते यत्र लग्ना तस्मादधो वृत्ते लम्बरेखावधेर्यावत्यो घटिकास्तावत्यस्तत्काले नता ज्ञेयाः। तद्रविचिह्नं यदि रेखयोर्मध्ये स्थितं तदा तदनुसारिणीं तत्रान्यां रेखां प्रकल्प्य नाड्यो ज्ञेयाः।

अत्रोपपत्तिः। अत्रोत्तरगोले सुषिरादुपरि दक्षिणे तदधश्चरज्यामितान्यङ्गुलानि दत्त्वा तदग्रे चिह्नं कार्यम्। तदन्त्याग्रं ज्ञेयम्। एवं वृत्तस्याधो व्यासार्धं चरज्यया युतोनं कृतं भवति। अतः साऽन्त्या। अथ वृत्तपरिधौ यत्र च्छाया लग्ना तन्मध्यरेखयोरन्तरं किल शङ्कुः। छायोपरि पट्टिकायां न्यस्तायां यत्र यष्टिचिह्नं तन्मध्यरेखयोरन्तरमिष्टान्त्या। यदि त्रिज्याग्रे शङ्कुतुल्यो विप्रकर्षस्तदा यष्ट्यग्रे कियानित्येवं त्रैराशिकं कृतं भवति। सा द्युदलेऽन्त्यायाः। शोध्या। अन्त्याग्रं तु चरज्या मध्यज्याया उत्तरगोल उपरि दक्षिणेऽधो वर्तते। अतो यष्ट्यग्रादुपर्यधश्चरज्या दत्ता। तदग्रे या ज्यारेखा तयाऽवच्छिन्नेऽधोवृत्तखण्डे बाणरूपमन्त्याया अवशेषं भवति। अतस्तदुत्क्रमज्यायाश्चापं नतघटिका भवन्ति। तस्या ज्यारेखायाः सकाशाल्लम्बरेखावधि नतघटिका वृत्ते विगणय्य ग्राह्या इत्यर्थः ॥२५॥२६॥

मरीचिः—अथाभीष्टकालज्ञानार्थमस्मिन्यन्त्रे सूर्यस्थानज्ञानं वसन्ततिलकयाऽऽह—धार्यं तथेति। मतिमता। सुधिया गणकेन। इदं निर्मितं फलकयन्त्रम्। तत्पार्श्वयोरस्य यन्त्रस्य पृष्ठाग्रभागयोः। सूर्यस्य तेजः किरणसमूहः। तुल्यं समकालम्। एवकाराद्भिन्नकाले उभयपार्श्वे किरणपतननिरासः। यद्वा समानतया तेजः। एवकारान्न्यूनाधिकतेजोव्यवच्छेदः। यथा लगति संलग्नं यथा भवति तथा केनापि यत्नेनाऽऽधारे धार्यम्। सूर्याभिमुखविस्तारनेमिकं धार्यमिति तात्पर्यम्। तस्मिन्काले। अक्षजा यन्त्रप्रोतकीलोत्पन्ना छाया। तत्परिधौ। यन्त्रलिखितवृत्तपरिधौ। यमंशं यं प्रदेशं स्पृशति लगति। तत्र तस्मिन्। अंशके विभागे सूर्यचिह्नं प्रकल्प्यम्। वृत्ते छाया यत्र तत्रार्कचिह्नं कार्यमित्यर्थः। छायासूर्ययोर्विरोधात्तत्रार्कस्थानासंभव इति प्रकल्प्येत्युक्तम्। अत एव मतिमतेत्यनेन तत्र चिह्नमितरभेदार्थं सूर्यसंज्ञं कार्यमिति सूचितम् ॥२५॥

अथेष्टकालज्ञानप्रकारं मन्दाक्रान्तयाऽऽह—अक्षप्रोतमिति। तस्मात्। सूर्यचिह्नकरणानन्तरमित्यर्थः। अक्षप्रोतां पट्टिकाम्। एतेन च्छायाग्रहणेऽक्षे पट्टिका न प्रोता कार्या। अन्यथा छायाप्रतिबन्धसंभव इति ध्येयम्। रविलवगताम्। अक्षच्छायावृत्तपरिधिसंपातरूपसूर्यचिह्नसक्ताम्। न्यस्य। संस्थाप्य। यष्टेः पट्टिकायाश्छिद्रमारभ्य य(ष)ष्ट्यङ्गुलमितप्रदेशरूपस्येत्यर्थः। अग्रात्। कृतयष्टिचिह्नात्सकाशाद्गोलक्रमेण। उपरि। ऊर्ध्वम्।

अधः। चकारः पट्टीस्थयष्टिचिह्नप्रदेशसक्तफलकप्रदेशस्य यष्टयग्रत्वसूचकः। अन्यथा यष्ट्यास्तिर्यक्त्वेन तत्स्थयष्टिचिह्नादूर्ध्वाधोभागानुपपत्तेः। व्यधिकरणत्वात्। अत एव फलके इत्युक्तिः। चरदलगुणः। चरदलं चरं तस्य गुणो ज्या चरज्येत्यर्थः। यत्नाद्देयः। फलके यत्र यष्टयग्रस्थानं तस्मात्प्रागानीतचरज्याङ्गुलानि गणयित्वा यत्स्थानमवगतं तत्र चिह्नं कार्यमित्यर्थः।

यत्नादित्यनेन पट्टीस्थयष्टयग्रचिह्नं फलके ज्यारेखायां यदि लग्नं तदा तस्मान्निरवयवानि चरज्याङ्गुलानि ज्यारेखागणनया सुशक्यदेयानि। यदा तु ज्यारेखान्तराले तच्चिह्नं तदा ततस्तदङ्गुलानि तत्प्रमाणेन गणयित्वा सावयवानि सूक्ष्मं देयानीति सूचितम्। ततस्तत्र चरज्याग्रचिह्ने। या। भवत्यन्यतमा ज्या। ज्या रेखा भवति। तया ज्यारेखया। अत्र फलके। वृत्ते छिन्ने संलग्नपरिधौ। तलगघटिकाः। ज्यारेखावृत्तपरिधिसंपाताद्वृत्तेऽधः स्थिता अङ्किता विभागा घटिका यावत्यस्तावत्यो नताः नतघटिका भवन्ति। यदि चरज्याग्रचिह्नं ज्यारेखयोरन्तराले तदा ज्यारेखानुसारिणीं ततो रेखां कुर्यात्सा रेखा वृत्ते यत्र लग्ना तस्मादधःस्था घटिका वृत्ते सावयवा निरवयवा वा यथोचितं गण्या, इति ध्येयम्।

ननु वृत्तपरिधौ ज्यारेखायां स्थानद्वयसंलग्नत्वात्तदधोवृत्तभागस्थघटिकानां नतघटिकात्वमनुपपन्नं प्रत्यक्षविरोधात्। नाडीवलयानीतनतघटीभ्यो द्विगुणत्वाच्चेत्यत आह— लम्बकान्ता इति। लम्बको लम्बरेखा। तदवधिका इत्यर्थः। वृत्ताधोभागस्थयष्टिकाविभागानां न नतघटिकात्वमङ्गीक्रियते। येनोक्तदोषः। किंतु ज्यारेखावृत्तसंपातान्यतरस्थानाल्लम्बरेखावृत्तपर्यन्तं यावन्तो घटीविभागा आसन्नाः सावयवा निरवयवा वा, ता नतघटिका इति भावः।

अत्रोपपत्तिः—वृत्ताकारयन्त्रकरणश्रमापेक्षया चतुरस्राकारयन्त्रकरणं सुगममिति कर्तव्यं चतुरस्रकं सुफलकमित्युक्तम्। एतद्वक्ष्यमाणयुक्त्या परमान्त्यामितमङ्गुलादिप्रमाणेन वक्ष्यमाणाक्षप्रोतस्थानादधो विस्तृतम्। ऊर्ध्वं च परमचरज्यायोगमिताङ्गुलविस्तृतमिदं कार्यम्। अत आचार्यैरत्र त्रिंशन्मितत्रिज्यायाः कल्पितत्वाद्गणितावविदेशे षट्षष्टयक्षांशे परमचरज्यायास्त्रिज्यातुल्यत्वात्गणितविषयदेशेषु लाघवादेकयन्त्रसिद्धयर्थं खाङ्काङ्गुलैर्विस्तृतमित्युक्तम्। ततो वक्ष्यमाणप्रकारेण पट्टिकाग्रस्य सूर्यभ्रमणानुरोधेन भ्रमणार्थं वक्ष्यमाणयष्ट्यानयनावगतपरमयष्टयङ्गुलमितमक्षस्थानादुभयतो दैर्घ्यमावश्यकमतोऽत्र त्रयस्त्रिंशदक्षकर्णदेशे वक्ष्यमाणप्रकारेण परमयष्टेर्नवत्यङ्गुलमितत्वात्फलकयन्त्रमशीत्यधिकशताङ्गुलदैर्घ्यं कार्यम्। अतः सम्यगुक्तं विस्ताराद्द्विगुणायतमिति।

यन्त्रस्य दृग्वृत्ताकारावस्थानासिद्धयर्थं विस्ताराग्रदैर्घ्यमध्यसंपाते आधारः श्लथशृङ्खलादिघटितः कृतो यतस्तत्र धृतमिदं यन्त्रं लम्बमानं सर्वावयवावच्छेदेन दृग्वृत्ताकारं स्यात्। ततो यन्त्रस्य सर्वावयवावच्छेदेन दैर्घ्यमध्यज्ञानार्थमाधारस्थानाल्लम्बरेखा विस्ताराकारा

कार्या। लम्बरेखा नवत्यङ्गुलाङ्किता शीघ्रोपस्थित्यर्थचिह्नस्थानेऽप्यायतरेखा नवति-संख्याका यन्त्रे सर्वावयवावच्छेदेन वक्ष्यमाणक्रियोपयुक्तविस्ताराङ्गुलज्ञानार्थं कार्याः। अथाक्षसंनिवेशार्थमाधारचिह्नादधो यन्त्रभागे त्रिज्यामितषट्षष्टयक्षांशदेशीयत्रिशन्मितं परमचरज्याङ्गुलस्थाने लम्बरेखायतरेखासंपातरूपे सूक्ष्मं छिद्रं कार्यम्। तत्र दृग्वृत्ताकार-धरणेन सूर्यबिम्बकृताक्षच्छाया त्रिशदङ्गुलान्यूना यथा पतति तथेष्टाङ्गुलमितशलाका-रूपोऽक्षो निवेश्यः।

अथ सूर्यस्य वृत्ताकारेण भ्रमणाद्वृत्ताकारं यन्त्रमावश्यकं नतु चतुरस्रम्। अन्यथा षष्टिघटिकाङ्कनानुपपत्तेः कालज्ञानासंभवाच्चेति फलके छिद्रं केन्द्रं कृत्वा त्रिज्याव्या-सार्धेन वृत्तं कल्पितत्रिज्यावशात्षष्टयङ्गुलव्यासं कृतं तद्घटिकाज्ञानार्थं षष्टिघटीभिस्तुल्य-प्रदेशान्तरेणाङ्कितमिष्टकाले नतोन्नतांशज्ञानार्थं द्वादशराशिभागाङ्कितं चैवमत्र त्रैराशि-कानुरोधेन प्रतिभागं दश पलानि भवन्ति। अवशिष्टफलकांशस्तु वक्ष्यमाणक्रियोपयुक्त इति न व्यर्थः।

अथ कालज्ञानार्थमक्षे पट्टिका प्रोता कार्या। अक्षस्थानादधो यन्त्रविस्तारस्य षष्टयङ्गुलावशेषत्वात्षष्टयङ्गुलदीर्घा। अथात्र त्रिशन्मितत्रिज्यानुरोधाच्चरज्या परिणा-मेन साध्या। तत्राऽऽचार्यैः सुखार्थं स्पष्टाधिकारे दिङ्नागसत्र्यंशगुणैर्विनिघ्नी पलप्रभा वोथ-पलात्मकानि। स्थूलानि वास्युश्चरखण्डकानीत्युक्तचरखण्डेभ्यश्चरं चरज्या पलात्मिका सा षड्गुणा ज्यात्मिका। गजाग्निवेदाग्निमितत्रिज्यानुरोधेन चरज्या। पूर्वं चापज्ययोस्तुल्य-त्वेन चापासंभवात्। तत उक्तबृहत्त्रिज्ययोक्तस्थूलखण्डानीतचरं षड्गुणं स्थूलचरज्या तदा त्रिशन्मितत्रिज्यया किमित्यनुपातेन गुण ६। ३०। घातस्य १८। १०। गुणत्वेन गुण १८० हरौ ३४३८ गुणेनापवर्त्य हरस्थाने षड्यवाधिका एकोनविंशतिः १९। ६। अत्रो-भयथा स्थूलत्वादल्पान्तरत्वाच्चावयवस्त्यक्तः। अत उपपन्नं यत्खण्डकैः स्थूलचरं पलाद्यं तद्गोकुहृत्स्याच्चरसिञ्जिनीहेति।

अथ कालज्ञानार्थं यष्टिः साधिता। तदुपपत्तिः—तत्र दृग्वृत्ताकारेणास्मिन्यन्त्रे धृते सूर्योदयकाले वृत्तेऽक्षसंबन्ध्यायतरेखाकारेण च्छाया ततो यथा यथाऽर्क उपरि गच्छति तथा तथा मध्यायतरेखातश्छायाग्रं वृत्तेऽग्रो भवतीत्यभीष्टकाले दृग्वृत्ताकारयन्त्रधारणेऽक्षच्छाया-स्पष्टवृत्तप्रदेशतदासन्नमध्यायतरेखास्पृष्टवृत्तप्रदेशयोरन्तराले वृत्तचतुर्थांशान्तर्गते वृत्तपरि-ध्यैकदेशे येंऽशास्ते उन्नतास्तेषां ज्यामध्यायतरेखातश्छायाग्रावधि यानि फलकाङ्गुलानि तन्मिता(तः) शङ्कुरभीष्टकाले। तत उक्ताक्षक्षेत्रानुपातेन हृतिरभीष्टेयं त्रिज्यापरिण-तेष्टान्त्या। इयं मध्यान्त्यायां होना शेषं नतकालोत्क्रमज्या तदुत्क्रमधनुर्नतकाल इति गोल-युक्त्या कालज्ञानम्। तत्राप्येतद्गुरुगणितं विना यन्त्रादेव लाघवात्तद्घटिकाज्ञानार्थं कल्पित-त्रिशन्मितत्रिज्यातुल्यशङ्कोर्नियतस्पष्टान्त्या साधिता। तत्र तत्साधनार्थं प्रथमतो नियत-द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्या साधिता।

तद्यथा । द्वादशाङ्गुलशङ्कोर्निरक्षदेशे हृतिर्द्वादशमिता । फलकर्णस्य तत्तन्मितत्वात् । द्युज्याप्रमाणेन द्वादशहृतिस्तदा त्रिज्याप्रमाणेन केति निरक्षदेशेष्टान्त्या । तत्रापि द्युज्या नाम नियमाद्गुरुक्रियाऽस्याः परिहारार्थं लाघवात्पञ्चदशांशान्तरेण षड्द्युज्याः । बृहत्त्रिज्याप्रमाणेनैताः ३४१८ । ३३३६ । ३२९२ । ३२१८ । ३१६१ । ३१४१ । स्वल्पान्तरेणावयवत्यागान्निरवयवा अङ्गीकृत्य निरक्षदेशे द्वादशाङ्गुलशङ्कोः पञ्चदशांशान्तरेण षट्त्रिभमध्ये इष्टान्त्या एताः साधयेत्। अभीष्टांशे तत्साधनं ज्यासाधनरीत्या स्थूलमपि

१२	१२	१२	१२	१३	१३
४	१५	३२	५०	६	८

स्वल्पान्तराल्लाघवाच्चाङ्गीकृतम् ।

अत्र बहुस्थानेषु द्वादशाङ्गुलसद्भावादन्यत्र तदधिकत्वाच्च द्वादशभिन्नं खण्डकं कृतम् । शेषं तु द्वितीयं खण्डकम् । तत्र प्रथमखण्डस्याभिन्नत्वाद्द्वितीयं खण्डं ज्यासाधनरीत्या साध्यम् । तत्र निरवयवाङ्कसौकर्यार्थं व्यङ्गुलात्मकं द्वितीयखण्डं धृतम् । ४ । १५ । ३२ । ५० । ६३ । ६८ । अत्रापि लघुज्याखण्डकवत्खण्डानि लघुप्रकारार्थं कृतानि ४ । ११ । १७ । १८ । १३ । ५ ।

तथा च सायनार्कभुजांशाः पञ्चदशभक्ताः

०	०	५	११
४	१५	३२	३८

फलमितक्रमखण्डकयोगः शेषांशैर्भोग्यखण्डकघातात्पञ्चदशांशयुक्तो निरक्षदेशे व्यङ्गुलात्मकं द्वितीयखण्डमिदं षष्टिभक्तं द्वादशमितं प्रथमखण्डे योज्यम् । निरक्षे इष्टान्त्या द्वादशपलकर्णदेशे इयमिष्टान्त्या तदाऽभीष्टपलकर्णे केत्यनुपातेन फलकर्णगुणा द्वादशभक्ताः स्वाभीष्टदेशे द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्या भवति ।

तत्र निरक्षदेशे इष्टान्त्याप्रयोजनाभावात्स्वदेशे उक्तानुपातेन खण्डद्वयं प्रसाध्य तद्योगोऽभीष्टदेशे इष्टान्त्या लाघवात्साधिता । तत्र स्वदेशे उक्तरीत्या प्रथमखण्डं पलकर्णमितम् । द्वितीयस्योक्तरीत्या साधनार्थं स्वदेशे तत्खण्डानि साध्यानि । तानि तु निरक्षदेशखण्डानि पलकर्णगुणानि द्वादशभक्तानि भवन्त्यत उपपन्नं वेदा भवा इत्यादिपद्योक्तम् । एभ्य उक्तरीत्या द्वितीयखण्डं सायनार्कभुजात्स्वदेशे व्यङ्गुलात्मकमतोऽङ्गुलादिकरणार्थं षष्टिभक्तमिदं पलकर्णमितप्रथमखण्डे योज्यम् । स्वदेशे इष्टान्त्या । अत उक्तं तैः क्रान्तिपाताढ्यरवेरित्याद्यर्धम् ।

यद्यपि प्रथमखण्डसाधने उक्तरीतिर्लघुभूताऽपि द्वितीयखण्डसाधने लाघवं न । प्रत्युत प्रतिदेशं षट्खण्डसाधनेन गौरवमतो निरक्षदेशे व्यङ्गुलात्मकं द्वितीयं खण्डं प्रसाध्योक्तानुपातेन स्वदेशे द्वितीयखण्डसाधनं लाघवाद्युक्ततरम् । तथाऽपि निरक्षदेशे द्वितीयखण्डस्य सावयवत्वेन । संभवात्पलकर्णगुणने क्वचिद्गोमूत्रिकागुणनप्रयासभयेनोक्तं साधनं लघुभूतमेव ।

न चैवं पलकर्णगुणनेन स्वदेशे खण्डकानां सावयवत्वसंभवाज्ज्यासाधने गोमूत्रिका-प्रयासदोषतावस्थ्यमिति वाच्यम्। अत्र ज्यासाधनप्रकारस्य प्रधानतयाऽनुद्देशाद्विक्तित्वे-नोद्देशाच्च दोषाभावात्। प्रकारद्वयेन तुल्यफलत्वात्स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगानर्हत्वाद्वा। द्वादशाङ्गुलशङ्कोरियमिष्टान्त्या तदा त्रिशदङ्गुलशङ्कोः केति गुणहरौ ३०। १२। त्रिभिरपवर्त्य दिग्घ्नी कृताप्तेत्याद्युपपन्नम्। अत्र गणितक्रियागौरवात्षड्भिरपवर्तश्चतुरैरा-चार्यैर्न कृतः। एतेन कल्पतरौ पञ्चगुणार्घीकृतेत्युक्तं परास्तमिति ध्येयम्। अस्य त्रिश-दङ्गुलशङ्कोर्यष्टिमितेष्टान्त्या यन्त्रावगतेष्टशङ्कोः केत्यनुपातसिद्धेष्टान्त्यासिद्ध्यर्थं पट्टिकायां दानं कृतमित्यग्रे सुबोधम्।

न च द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्यासाधनरीत्या प्रथममेव निरपेक्षं त्रिशदङ्गुलशङ्को-र्यष्टिः कथं न साधितेति वाच्यम्। प्रथमखण्डस्य पलकर्णमितत्वादिलाघवासिद्धेः।

अथैवं द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्यासाधने त्रिशदङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्यासाधनं व्यर्थम्। यन्त्रावगतेष्टशङ्कोरिष्टान्त्यासाधनस्य द्वादशाङ्गुलशङ्कवनुपातेनापि सिद्धेरिति चेन्न। गणितप्रकारेण कालसाधने द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्याया युक्तत्वेऽपि वक्ष्यमाणयन्त्र-प्रकारेण कालसाधने तस्या अनुपयोगात्। कालसाधनार्थं यन्त्रे त्रिशदङ्गुलव्यासार्धेन वृत्तो-ल्लिखनात्। फलके त्रिशत्त्रिज्याप्रमाणेनाङ्गुलाङ्कनात्। द्वादशाङ्गुलव्यासार्धेन वृत्तो-ल्लिखनेऽपि कालसाधनानुपयोगाच्च। द्वादशत्रिज्यानुरोधेन पूर्वोक्तरीत्या यन्त्रकरणे द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्यैव युक्तेति ध्येयम्। द्वादशकोटौ पलकर्णः कर्णस्तदा त्रिश-न्मितशङ्कुकोटौ क इत्यनुपातेन त्रिशदङ्गुलशङ्कोर्हृतिः सार्धद्वयगणितपलकर्णतुल्या द्युज्या-प्रमाणेनेयं तदा त्रिज्याप्रमाणेन केति त्रिशदङ्गुलशङ्कोरिष्टान्त्या यष्टिसंज्ञा द्युज्या-साधनप्रयासेन सूक्ष्माऽवधेयेति।

अथ कालज्ञानार्थमभीष्टकाले यन्त्रमिदं दृङ्मण्डलानुकारेण लम्बमानमाधारे धार्यम्। तत्र सूर्यबिम्बकेन्द्राभिमुखविस्तारदैर्घ्यान्यतरनेमिकं भवत्यतो दृङ्मण्डलानुकारसिद्ध्यर्थं धार्यम्। तथेत्याद्यर्धोक्तिस्तदैव पार्श्वभागयोस्तुल्यतेजःपतनसंभवात्। तदाऽक्षच्छाया वृत्तपरिधौ यत्र लग्ना तत्र सूर्यस्थानं प्रकल्प्य सूर्यानुरोधेन च्छायाचलनात्सूर्यसमसूत्रपरिधि-प्रदेशतदासन्नमध्यायतरेखावृत्तसंपातरूपक्षितिजप्रदेशयोरन्तरांशानां पदान्तर्गतानामुन्नतांश-त्ववच्छायास्पृष्टपरिधिप्रदेशतदासन्नमध्यायतरेखावृत्तसंपातप्रदेशयोरन्तरांशानांतत्तुल्यानामु-न्नतांशत्वेन ज्ञानसंभवात्। सूर्यबिम्बसमसूत्रापेक्षया छायास्पृष्टप्रदेशस्यासंदिग्धत्वाच्च। ततश्छायास्पृष्टपरिधिप्रदेशरूपसूर्यस्थानचिह्नेऽक्षप्रोतां पट्टिकामानीयाक्षस्थानात्परिधि-पर्यन्तं पट्टिकायां त्रिशदङ्गुलानां सत्त्वान्मध्यायतरेखातः सूर्यचिह्नपर्यन्तमङ्गुलानामिष्ट-शङ्कुत्वाच्च वृत्तबाह्ये मध्यायतरेखातादृशसन्निविष्टपट्टिकास्थितयष्टिचिह्नसंसक्तफलक-प्रदेशयोरन्तरालास्थिताङ्गुलानामिष्टशङ्कविष्टान्त्यात्वमर्थसिद्धम्।

तदि त्रिशदङ्गुलशङ्कुतुल्ये पटिटकोर्ध्वमिष्टशङ्कुतुल्यो विप्रकर्षस्तदा यष्ट्यग्रे

कियान् पट्टिकोर्ध्वं विप्रकर्ष इत्यनुपातसिद्धविप्रकर्षस्येष्टान्त्यत्वात् । अत एव विनानुपात-मिष्टान्त्यासिद्ध्यर्थं पूर्वं सा पट्टिकायां सुषिरात्प्रदेयेत्युक्तं संगच्छते । इयमिष्टान्त्यायां शोध्या नोऽन्त्योत्तरगोले चरज्यायुता त्रिज्या दक्षिणगोले चरज्योना त्रिज्येत्यक्ष-मूलसुषिरादुत्तरगोले चरज्याङ्गुलानि यन्त्रसिद्धानि लम्बरेखायां दत्त्वोर्ध्वं चिह्नं कार्यम् । दक्षिणगोले लम्बरेखायां सुषिरादधस्तानि दत्त्वा चिह्नं कार्यम् । ततश्चिह्नादधो लम्बरेखा-वृत्तान्तर्गता मध्यान्त्येति वृत्तस्याधो व्यासार्धं त्रिंशत्त्रिज्यामितं चरज्यायुतोनं कृतं सिद्धं भवति । अस्यामिष्टान्त्यामिताङ्गुलानि चिह्नादधो दत्त्वाऽवशेषलम्बरेखावृत्तान्तर्गता नतकालोत्क्रमज्येति क्रियागोपनार्थमिष्टान्त्याया मध्यायतरेखारूपाद्यवधि त्यक्त्वाऽन्यचिह्न-समसूत्राद्योऽवधिर्गृहीतस्तदवध्योरन्तरस्य चरज्याङ्गुलमितत्वादिष्टान्त्याया यष्ट्यग्ररूप-द्वितीयाग्रं चालितमुत्तरदक्षिणगोलक्रमेणोर्ध्वमधस्ततस्तदग्रसमसूत्ररेखायां यत्र लग्ना तदधो वृत्तपरिधिपर्यन्तं लम्बरेखैकदेशो नतकालोत्क्रमज्या । तदुत्क्रमधनुः समसूत्ररेखावृत्तपरिधौ यत्र लग्ना तदवधितो लम्बरेखावधि वृत्तपरिध्यधः खण्डम् । तत्राङ्किताद्यघो(घो)नत-कालाद्यद्य(घ)स्तदूनं दिनार्धमुन्नतकालाद्यद्य(घ)इत्युपपन्नमक्षप्रोतामित्यादि सर्वम् ।

नन्वत्र पट्ट्यां यष्टिदानमुक्तं तत्क्वचिन्न संभवति । पट्टिकायाः षष्ट्यङ्गुलदीर्घ-त्वोक्तेस्तदन्तर्गतयष्टेर्दानस्योपपन्नत्वेऽपि षष्ट्यधिकयष्टेः पट्ट्यां संनिवेशस्य ब्रह्मणोऽप्य-शक्यत्वात् । नहि यष्टेः षष्ट्यधिकत्वा(त्व)संभवो येनादोषः । चतुर्विंशत्यधिकाक्षकर्णदेशे विषुवत्क्षण एव यष्टेः षष्ट्यधिकत्वेनान्यस्मिन् काले सुतरामधिकत्वात् । चतुर्विंशतिन्यूनाक्ष-कर्णदेशेऽपि क्वचित्तस्यास्तदधिकत्वाच्च । न च पट्टिकायां यष्टिदानोक्त्या तस्याः षष्ट्य-ङ्गुलदीर्घत्वाङ्गीकारेण षष्टिमितपरमयष्ट्यवधिदेशविषयमिदं मान्यविषयमिति किंचि-दूनद्वाविंशत्यक्षकर्णदेशानन्तर्गतदेशे दुष्टमप्यदुष्टमन्यथा चरसाधनादिगणितस्य षट्षष्ट्यधि-काक्षांशे दुष्टत्वेन दुष्टत्वापत्तेरिति वाच्यम् । पूर्वैर्गणितविषयस्य षष्ट्यक्षांशदेशावधित्वे-नाभ्युपगमादुपदर्शितदोषदेशस्य तदन्तर्गतत्वेन दोषतादवस्थ्यात् । अन्यथा शृङ्गोन्नतौ ब्रह्मगुप्तस्य षट्षष्ट्यक्षांशदेशे दोषोपदर्शनमाचार्योक्तं कथं समञ्जसं स्यात् ।

न चोक्तदेशः षट्षष्ट्यक्षांशदेशानन्तर्गत इति वाच्यम् । षट्षष्ट्यक्षांशदेशे लम्ब-ज्यायाः परमक्रान्तिज्यामितत्वाल्लम्बज्याकोटौ त्रिज्याकर्णस्तदा द्वादशकोटौ कः कर्ण इत्यनुपातावगताक्षकर्णस्य द्वात्रिंशदवयवाधिकैकोनत्रिंशन्मितत्वेनोक्तदेशस्य तदनन्तर्गतत्वा-सिद्धेः । किंचोक्तदेशाविषयत्वे फलकस्य खाङ्काङ्गुलविस्तृतता व्यर्था । प्रयोजनाभावात् । तथा हि—द्वाविंशत्यक्षकर्णात्पलभा १८ । २६ अस्याः परमं चरं ३९३ एकोनविंशतिभक्तं परमा चरज्या १० । ४१ । तथा चोक्तरीत्या तद्देशावधियन्त्रकरणे यन्त्रं द्विसप्तत्यङ्गुल-विस्तृतमेव प्रयोजकं न त्वधिकम् । एवमाधारतोऽध एकविंशत्यङ्गुलेष्वक्षो न तु त्रिंशदङ्गु-लेषु । न च संपूर्णवृत्तनिष्पत्त्यर्थं तथा कृतमिति वाच्यम् । संपूर्णवृत्तस्याप्रयोजनात् ।

न च पट्टिकाभ्रमणावधि यन्त्रस्य दैर्घ्यमावश्यकमतो द्विगुणपट्टिकामितं प्रकृते विंशत्यधिकशताङ्गुलमितं दैर्घ्यं न त्वधिकं सप्रयोजकमिति यथा चारुत्वार्थं विस्ताराद्-

द्विगुणायतमुक्तं तथा चारुत्वार्थं संपूर्णवृत्तनिष्पत्त्यादिपूर्वकं व्यर्थमपि कृतमिति वाच्यम् । विस्ताराद्द्विगुणायतमित्यस्याक्षस्थानादधोऽवशिष्टविस्तारात्षष्ट्यङ्गुलमिताद्द्विगुणं दैर्घ्यमित्यर्थात् । अत एव वृत्तमध्यरन्ध्रादुपरि परमचरज्यामिता रेखा अष्ट । अधश्चाष्टत्रिंशदेव । षट्चत्वारिंशदङ्गुलानि विस्तारे । परमयष्टिमितान्यङ्गुलानि द्विगुणानि षट्सप्ततिर्दैर्घ्ये । एतावता कुरुक्षेत्रपर्यन्तं यावत्तावत्कालज्ञानं स्यादित्याचार्योक्तं भाष्ये युक्ततरम् । व्यर्थस्य चारुत्वस्य शिष्टानङ्गीकारात् । चारुत्वे प्रमाणाभावाच्च ।

न चैवं पट्टिकाभ्रमणबहिर्भूतस्य यन्त्रभागस्य मध्यायतरेखाधःस्थितस्य व्यर्थत्वेन तत्कर्तनापत्तिरिति वाच्यम् । चतुरस्रचारुत्वहानिभयाद्धठात्तदकर्तनात् । तस्मात्षट्षष्ट्यक्षांशावधिदेशविषययन्त्रेऽस्मिन् पट्टिकायां यष्टिदानमव्याप्तं कथं वक्तुमुचितमेषां सूक्ष्मदोषासंसर्गिणामाचार्याणामिति चेन्न । पट्टिकादैर्घ्यस्य षट्षष्ट्यक्षांशदेशीयपरमयष्टिमानत्वेनाभ्युपगमात् । नहि पट्टिकामानं षष्टिमितमङ्गीक्रियते येन दोषः । तथा च गणितावधिदेशेऽनुक्तप्रकारेण सूक्ष्मा परमा यष्टिः षड्भोगोनैकाशीतिमिता । तत्र स्वल्पात्यन्तरादधिकग्रहणे उक्तदोषानुपपत्तेश्चैकाशीत्यङ्गुलदीर्घा पटटिका फलकविस्तारानन्तर्गताग्राऽभ्युपगता । एवं चाग्नेसरन्ध्रेत्यादिपद्ये तत्तु पट्टिकैकाशीत्यङ्गुलेति वास्तवपाठे केनचिदल्पबुद्धिनाऽक्षार्धफलकस्य षष्ट्यङ्गुलविस्तारनिश्चयात्परमचरज्यायास्त्रिज्यातुल्यत्वेन परमान्त्यायाः षष्टिमितत्वाच्च । हठात्तु पटटिकैका षष्ट्यङ्गुलेति पाठः कृतो लेखकदोषादिना वा पतितः । कथमन्यथा व्यर्थशब्दप्रयोगानभ्युपगमादाचार्यैरकेति प्रयुक्तमत्यावश्यकं स्यात् ।

न चैवमाचार्यैर्भाष्ये—अथ ताम्रादिमयी वंशशलाकामयी वा पट्टिका षष्ट्यङ्गुला दीर्घतया तैरेव फलकाङ्गुलैस्तथैवाङ्किता कार्येति कथमुक्तमिति वाच्यम् । तेनैवाल्पबुद्धिना पट्टिकैकाशीत्यङ्गुलेत्यत्रैकार(शब्दलोपात्)शीत्यमित्यस्य स्थाने षष्ट्यमित्यस्य महणाच्च शोधितत्वादन्यथैकेत्यस्य विवरणानुक्त्यनुपपत्तेः ।

एतेन दीर्घत्वं फलके युतमिति त्र्यस्त्रिंशदक्षकर्णदेशीयपट्टिकादैर्घ्याद्द्विगुणदैर्घ्यमुक्तमयुक्तम् । तद्देशीयपरमनवतियष्टिमितपट्टिकाया अस्मिन्यन्त्राक्षे प्रोतत्वानभ्युपगमात् । अन्यथा तत्र परमचरज्यायास्त्रिज्याधिकत्वेन चतुस्त्रिंशन्मितत्वादष्टनवतिमितफलकविस्ताराभ्युपगमापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । तद्देशस्यालक्ष(क्ष्य)त्वेन तद्देशावधियन्त्रकरणस्यातिगर्हितत्वादिति चेन्न । विस्ताराद्द्विगुणायतमित्यत्र दकारद्द्वित्वानभ्युपगमेन समानै(समस्तै)कपदत्वात्फलकविस्तारान्न द्विगुणं फलकदैर्घ्यमित्यर्थात्किंचिदूनद्विगुणविस्तारमितदैर्घ्यं पर्यवसितम् । तेन किंचिदित्यत्र पञ्चमांशग्रहणेन पञ्चमांशेन द्विगुणितफलकविस्तारो द्विषष्ट्यधिकशतम् । तत्तुल्यायतफलकस्य सिद्धत्वात् ।

यद्वा पट्टिकादैर्घ्यस्य यन्त्रविस्तारकैदेशे लम्बमानत्वाद्विस्तारशब्देन ग्रहणम् । विस्तारात्पट्टिकादैर्घ्यादित्यर्थ इति । आधिकदैर्घ्ये दोषाभावाच्चेत्यलं पल्लवितेन ॥२६॥

केदारदत्तः—यष्टि का प्रयोजन और यन्त्र में उसके उपयोग की विधि—

इस फलक यन्त्र में अवलम्ब का आधारस्थान ऐसे स्थापित करना चाहिए जिससे यन्त्र

के दोनों तरफ सूर्य का तेज (किरण) एक कालावच्छेदेन एक समय में लगे, अर्थात यन्त्र की दोनों नेमियों में दृङ्मण्डलाकार वृत्त गत सूर्य की स्थिति होनी चाहिए। इस प्रकार छिद्र प्रोत अक्ष्य की छाया वृत्त की परिधि में जहाँ पर लगती है उस विन्दु पर सूर्य बिम्ब की कल्पना करनी चाहिए। तथा अक्षप्रोत वृत्तपट्टिका रवि विन्दु पर स्थापित करनी चाहिए। इस प्रकार से स्थापित पट्टिका में पूर्व में किया गया यष्टि का चिह्न उससे ऊपर उत्तर गोल में और दक्षिण गोल में नीचे चरज्या के तुल्य अंगुली की गणना पर एक चिह्न कर देना चाहिए। उस चिह्न स्थान पर जो ज्या रेखा वहाँ पर वृत्त में लग रही है उससे नीचे लम्ब रेखा तक जितनी घटिकाएँ गणना से होती हैं उस समय में वही नतघटिका होती है। यदि रवि चिह्न ठीक रेखा में न होकर दो रेखाओं के मध्य में होती है तो उस रवि चिह्नपर एक और तिर्यक् रेखा कर वृत्तपरिधि सम्पातस्थ घटिका चिह्नों में गणनया रवि का नत काल ज्ञात किया जाना चाहिए।

यतः—उत्तर गोल में छिद्र से ऊपर और दक्षिण गोल में नीचे चर ज्या का दान गोल रीति से सिद्ध है। यह अन्त्या का अग्रस्थान होता है, इसी लिये त्रि$\pm$चरज्या अन्त्या होती है। वृत्त परिधिगत छाया और मध्य रेखा के बीच में शंकु है। छाया के ऊपर स्थापित पट्टिका में जहाँ यष्टि का चिह्न है वहाँ से मध्य रेखा तक इष्टान्त्या होती है। यहाँ पर अनुपात से।

$$\frac{\text{शंकु} \times \text{यष्टि}}{\text{त्रिज्या}} = \text{३}। \qquad \frac{\text{त्रि} \times \text{यष्टि}}{\text{शंकु}} = \text{इष्टान्त्या}।$$

दिनार्घ काल में अन्त्या इष्टान्त्या। अन्त्या का अग्र भाग दक्षिण उत्तर गोल में मध्यज्या$\pm$चरज्या, होता है। इसीलिये यष्टि मूल से गोल क्रम से चरज्या का ऊपर नीचे दान किया गया है। दानाग्र विन्दु पर ज्या रेखा उससे कर्तित नीचे के वृत्त खण्ड में वाण रूप अन्त्या का अवशेष रूप उत्क्रम ज्या का चाप जो घटिकात्मक है वही नत काल होता है। ज्या रेखा से लम्ब रेखा तक वृत्त में गणनया जो घटिका होती हैं वही नत काल गोल युक्ति से समीचीन है ॥२५॥२६॥

एवं छायादर्शनात् कालज्ञानमुक्त्वेदानीमेतावत्यभीष्टे काले नते क्वच्छाया लगिष्यतीत्येतदर्थमाह—

लम्बाद्द्या विनतघटिकास्तज्ज्यकातश्चरज्या।
व्यस्ता देया भवति च तथा या परा तत्र मौर्वी ॥
धार्या पट्टी स्पृशति हि यथा तज्ज्यकां यष्टिचिह्नं।
पट्टीस्थाने निपतति तदाऽक्षस्य नूनं प्रभाऽस्य ॥२७॥

वा० भा०—अधस्तनाल्लम्बवृत्तसंपातादूर्ध्वं वृत्ते नतघटिका गण्याः। तदग्रे या ज्यारेखा तस्या अध उत्तरगोले। दक्षिणे तु तदुपरि फलके चरज्यामितान्य-

ङ्गुलानि गणयित्वाऽग्रे चिह्नं कार्यम् । तत्र या ज्यारेखा तस्यां रेखायां पट्टीस्थित-यष्टिचिह्नं यथा लगति तथाऽक्षप्रोतैव सा पट्टी धार्या । पट्टीस्थाने तस्मिन् काले-ऽक्षस्यच्छाया पतिष्यतीति ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिः—कथितप्रकारवैपरीत्येन । यदस्य यन्त्रस्य नवत्यङ्गुलविस्तारस्त-द्द्विगुणं दैर्घ्यमुक्तं तत्सर्वदेशाभिप्रायेण । अथवा यावदेव स्वदेश उपयोगि तावदेव बुद्धिमता कार्यम् । तद्यथा—वृत्तमध्यरन्ध्रादुपरि परमचरज्यामिता रेखाष्टाध-श्चाष्टत्रिंशत् । एवं षट्चत्वारिंश४६दङ्गुलानि विस्तारे । परमयष्टिमितान्य-ङ्गुलानि द्विगुणानि षट्सप्ततिर्दैर्घ्ये ७६। एतावता कुरुक्षेत्रपर्यन्तं यावत्काल-ज्ञानं स्यात् । इति फलकयन्त्रम् ॥२७॥

मरीचिः—अथैतस्य यन्त्रस्य शुद्धाशुद्धत्वज्ञानार्थं कालच्छायाग्रस्थानज्ञानं मन्दकुतूहल-कारणं मन्दाक्रान्तयाऽऽह—लम्बाद्येति । अस्मिन्यन्त्रे लम्बाल्लम्बरेखावृत्तसंपातादधस्त-नादित्यर्थः । विनतघटिकाः । स्वाभिमतकालिकनः तद्यद्यो(नतादधो)वृत्तपरिधौ छाया-पतनयोग्ये देयाः । घटिका गणयित्वा तदग्रे वृते चिह्नं कार्यमित्यर्थः । तज्ज्यकातः । तच्चिह्नसक्ताङ्कितायतरेखातः । रेखाभावे कल्पिततत्स्थानीयान्तररेखात इति ध्येयम् । चरज्याऽङ्गुलात्मिका । व्यस्ता । उपरि फलकेऽधश्च गोलक्रमेणेत्युक्ताद्विपरीता । फलके उत्तरगोलेऽधो दक्षिणगोले ऊर्ध्वमित्यर्थः । देया । तत्र तदग्रस्थाने या अपरा अन्या । अपरेति । चरज्यासंभवे । तदभावे सैवेति ध्येयम् । मौर्वी फलकायतरेखा तथाऽङ्किता । चकारात्कल्पिता वा भवति । तां तदभिन्नज्यकां रेखामित्यर्थः । पट्टी एकाशीत्यङ्गुल-दीर्घाऽक्षप्रोता यष्टिचिह्ने यथा स्पृशति पट्टीस्थितयष्टिचिह्नं तद्रेखायां यथा भवति तथा । हि निश्चयेन । पट्टी छायापतनयोग्यफलकभागे धार्या तदा दत्तनतघटिकासंबन्धिस्वाभि-मतकाले अस्य वृत्तकेन्द्रप्रोतस्याक्षस्य पट्टीस्थाने तदप(त्प)ट्टिसमफलकप्रदेशे प्रभा छाया नूनमसंशयं निपतति भवतीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः—नतकालसंबन्धिवृत्तपरिधिच्छेदिन्या आयतरेखाया ज्ञानार्थं वृत्ते लम्ब-रेखासंपातान्नतघट्यो दत्ताः । अस्य यष्ट्यग्रादुत्तरदक्षिणगोलक्रमेणोर्ध्वाधःस्थितत्वाद् यष्ट्यग्रसक्तायतरेखाज्ञानार्थं चरज्या व्यस्ता दत्ता । तद्रेखासक्तयष्ट्यग्रसंपादनपूर्वकम-क्षप्रोतपट्टीधारणेन च्छायाग्रस्थानासन्ना पट्टी भवतीति पट्ट्यनुरोधच्छाया पतत्येवेति पूर्वोक्तवैपरीत्यात्सुगमता इयं विलोमक्रिया यन्त्रशुद्ध्यर्थम् । अशुद्धयन्त्रेऽभीष्टकालावगत-च्छायास्थाने तत्काले छायाया अदर्शननिश्चयात् । ननु कालस्य शुद्ध्यर्थं यच्छायाग्रस्थाना-दशुद्धकालसिद्धिस्तत्कालाद्वैपरीत्येन तच्छायायाः सिद्धेः कालाशुध्य(द्धि)ज्ञानसंभवात् । यन्त्रशुद्धिरपि साधितकालस्य शुद्धत्वज्ञाननिश्चयार्थमत्यावश्यकेति नतकालच्छायास्थानज्ञान-प्रतिपादकपद्यमेतन्न व्यर्थमिति ध्येयम् ॥२७॥

केदारदत्तः—फलकं यंत्र का शुद्धाशुद्ध परीक्षण—

अधस्तन वृत्तसम्पात से ऊर्ध्व वृत्त सम्पात तक नत घटिकाओं की गणना विन्दु से

उत्तर गोल में नीचे दक्षिण गोल में ऊपर फलक यन्त्र में चरज्या अंगुल तुल्य गणनया चिह्न करना चाहिए। उस जगह पर जो ज्या रेखा है उस ज्या रेखा पर पट्टी स्थिति यष्टि चिह्न जैसे लगता है उसी प्रकार अक्ष प्रोत पट्टी रखने से उस जगह पर उस समय पट्टी स्थान पर अक्ष की छाया अवश्य पड़ेगी तस्मात् यन्त्र रचना शुद्धता है।

उपपत्ति—यन्त्र में यन्त्र का विस्तार = ९० अंगुल, दैर्घ्य = १८० अंगुल यह भूमण्डल में सार्वदेशाभिप्रायिक है। अथवा अपने देश की भौगोलिक स्थिति समझ कर भी पट्टी का निर्माण में विस्तार यदि वृत्त मध्य छिद्र के ऊपर परम चरज्याग्र तुल्य और नीचे ३८ अंगुलात्मका रेखा विस्तार में ४६ तक हो सकती है। और परम यष्टि तुल्य ३८ × २ = ७६ होने से कुरुक्षेत्र पर्यन्त के देशों में फलक यन्त्र से कालज्ञान हो सकता है ॥२७॥

फलक यन्त्र के सम्बन्ध में विशेष उपपत्तिः—

फलक यन्त्र माप में यष्टि साधन—

अनुपात से यदि अक्ष क्षेत्र साजात्य सम्बन्ध से द्वादशांगुल शंकु कोटि में पलकर्ण कर्ण मिलता है तो शंकु कोटि में

$$\frac{\text{पलकर्ण} \times \text{इ० शं}}{१२} = \text{इष्ट हृति}।$$

$$\text{त्रिज्यावृत्त में इष्ट हृति} = \frac{\text{इष्ट हृ०} \times \text{त्रि०}}{\text{द्यु}} = \text{त्रिज्या वृत्तीय इ० हृ०}$$

उत्थापन देने से

$$\frac{\text{पलक} \times \text{इ शं} \times \text{त्रि}}{१२ \times \text{द्यु}} = \text{इष्टान्त्या}।$$

दिनार्घ काल में अन्त्या का स्वरूप = त्रि ± चरज्या इष्टान्त्या स्वरूप में १२ से हरभाज्य को गुणा करने से :

$$\text{यतः}, \frac{\text{त्रि} \times १२}{\text{द्यु}} = १२ + \cdots$$

$\frac{\text{शं} \times \text{प० क} \times \text{त्रि} \times १२}{१२ \times \text{द्यु} \times १२}$ यहाँ पर १२ अ शंकु को त्रिज्या से गुणा कर द्युज्या से भाग देने पर लब्धि तो १२ अवश्य मिलेगी क्योंकि त्रि > द्यु। अर्थात् द्युज्या से त्रिज्या सदा बड़ी होती है ?

इस प्रकार मेषादि तीनों राशियों की १५ पन्द्रह पन्द्रह अंश भुजज्या वशेन, ४। ११।१७।१८।१३।५ खण्ड निरक्ष देश में चरखण्ड होते हैं। इन चरखण्डों को पलकर्ण से गुणा करने तथा १२ से भाग देने से अपने अक्षांश देशीय चर खण्ड होते हैं जो पूर्वस्वरूप से सुस्पष्ट होता है।

उक्त विषय को आचार्य धूलीकर्म से भी स्पष्ट कर रहे हैं—

यतः दर्शित उक्त पूर्व स्वरूप में

$$\frac{(१२ + \text{इष्टव्यंगुल})\ \text{प० क} \times \text{शं}}{१२ \times १२}$$

$$= \frac{\text{शं}}{१२} \times \frac{\text{प क}}{१२}(१२ + \text{इ-व्यं}) = \left(\frac{\text{प क} \times १२}{१२} + \frac{\text{प क} \times \text{इ-व्यं}}{१२}\right)\frac{\text{शं}}{१२}$$

$$= \left(\text{प क} + \frac{\text{प क} \times \text{इ व्यं}}{१२}\right)\frac{\text{शं}}{१२} = \left(\text{प क} + \frac{\text{प क} \times \text{इ व्यं}}{१२ \times ६०}\right)\frac{३०}{१२}$$

क्योंकि शं = ३० अंगुल ।

$$= (\text{प क} + \text{इ० अं०}\ \frac{३०}{१२}$$

$$= (\text{प० क०} \times \text{इ अं०})\ \frac{१०}{४} = \text{दिनार्घ में इष्ट यष्टि}$$

अतः इष्ट काल में इष्ट यष्टि

$$\frac{\text{इष्ट यष्टि} \times \text{इष्ट शंकु}}{३०}\ \text{इष्ट काल में}$$

इष्ट यष्टि का साधन गणित उपपन्न होता है । गणित ग्रहगोलज्ञ शास्त्रकारों ने उक्त फलक यन्त्र का गोलसिद्ध फलक यन्त्र की रचना पूर्ण आस्था के साथ आचार्य के उक्त यष्टिसाधन में त्रुटि बताई है कि गणितागत सीमित अक्षांशीय देशों तक ही यह फलक यन्त्र, कालज्ञानाय सुखद सूक्ष्मतम तथा समीचीन होते हुये भी—

$$\frac{\text{शं} \times \text{यष्टि}}{\text{त्रि}} = \text{इष्टान्त्या}$$

$$\therefore \frac{\text{शं} \times ६०}{३०} = \text{शं} = \frac{\text{शं} \times \text{त्रि} \times \text{त्रि}}{\text{द्यु} \times \text{ज्या ल}}$$

$$२\ \text{शं} = \frac{\text{शं} \times \text{त्रि}^२}{\text{प द्यु} \times \text{ज्या लं}} = \frac{\text{त्रि}^२}{२\ \text{प द्यु} \times \text{ज्या लं}}$$

$$\therefore \text{ज्या लं} = \frac{\text{ज्या}^२\ ४५}{\text{परमाल्पद्यु}}$$

तथा प्रकारान्तर से

$$\frac{\text{त्रि} \times \text{त्रि} \times \text{शं}}{\text{ज्याले} \times \text{द्यु}} = \text{यष्टि}$$

$$= \frac{\text{त्रि}^२ \times ३०}{\text{ज्यालं} \times \text{द्यु}} = \text{यष्टि}$$

यदि द्यु = प द्यु तो $\frac{त्रि^2 \times ३०}{ज्यालं \times द्यु}$ = परमाल्प यष्टि ।

$\frac{त्रि^2 \times ३०}{ज्यालं \times द्यु} = \frac{त्रि^2 \times ३०}{६० \times प\text{-}द्यु}$ = ज्या लं । परमाल्पयष्टि = ६०

$\frac{त्रि^2}{२ \times पद्यु}$ = ज्याल = $\frac{ज्या^2 ४५}{पद्यु}$ = ज्या ल

क्योंकि त्रिज्यावर्गार्धपदं शरवेदांशकज्या भवति

अर्थात् $\sqrt{\frac{त्रि^2}{२}} = ४५^\circ$ की ज्या होती है ।

अर्थात् ६६ अंशांशीय भूपृष्ठीय देशों की सीमा तक में उक्त फलक यन्त्र से काल-ज्ञान समीचीन होगा । आगे सदोष बताया गया है । ६६° अक्षांश से अधिक अक्षांशीय देशो में उक्त फलक यन्त्र त्रुटि पूर्ण हो सकता है ।।२७।।

अथ पष्टियन्त्रमाह—

त्रिज्याविष्कम्भार्धं वृत्तं कृत्वा दिगङ्कित्तं तत्र ।
दत्त्वाऽग्रां प्राक् पश्चाद्द्युज्यावृत्तं च तन्मध्ये ।।२८।।
तत्परिधौ षष्टयङ्कं यष्टिर्नष्टद्युतिस्ततः केन्द्रे ।
त्रिज्याङ्गुला निधेया यष्टयग्रान्तरं यावत् ।।२९।।
तावत्या मौर्व्या यद्द्वितीयवृत्ते धनुर्भवेत्तत्र ।
दिनगतशेषा नाड्यः प्राक् पश्चात् स्युः क्रमेणैवम् ।।३०।।

वा०भा०—समायां भूमौ त्रिज्यामिताङ्गुलेन कर्कटेन वृत्तं दिगङ्कितं च कृत्वा तत्र प्राक् पश्चादग्रा गोलवशादुत्तरा दक्षिणा वा ज्यार्धवद्देया । अग्राग्रयोर्बद्धं सूत्रमुदयास्तसूत्रमुच्यते । अथ तस्यैव वृत्तस्य मध्ये द्युज्यामितेन कर्कटेनान्यद्वृत्तं कृत्वा नाडीषष्टयाऽङ्कनीयम् । ततस्त्रिज्यामिताङ्गुलाया ऋजुयष्टेर्मूलं केन्द्रे लग्नं कृत्वाऽग्रमर्काभिमुखं तथा धार्यं यथा यष्टिर्नष्टच्छाया स्यात् । ततः प्राच्यां दिशि त्रिज्यावृत्ते यदग्राग्रचिह्नं तस्य यष्टयग्रस्य च मध्यमृजुशलाकया मित्वा सा शलाका द्युज्यावृत्ते जीवाबद्धायां न ज्यार्धवत् । ततः शलाकाग्रयोर्मध्ये धनुषि यावत्यो घटिकास्तावत्यस्तदा दिनगता ज्ञेयाः । एवं पश्चिमाग्राग्रयष्टयग्रयोर्मध्ये शलाकया दिनशेषा ज्ञेयाः । दिनशेषोनं दिनमानं दिनगतनाड्यो भवन्ति । यतस्तदैक्यं दिनमानम् ।

अत्रोपपत्तिर्गोलयुक्त्यैव । यष्टिस्त्रिज्या । यद्भुवि वृत्तं लिखितं तत् क्षितिजम् । तत्र पूर्वतः पश्चिमतश्चाग्रा । अग्राग्रयोरुपरिगता रेखोदयास्तसूत्रम् ।

अग्राग्र उदितो रविर्यथा यथाऽहोरात्रवृत्तगत्योपरि गच्छति तथा तथा केन्द्रे निवेशितमूलाया यष्टेरग्रे भ्राम्यमाणे यष्टिर्नष्टद्युतिः स्यात्। यतो यष्ट्यग्रे रविः। अग्रग्रादर्कं यावदहोरात्रवृत्ते यावत्यो घटिकास्तावत्यो दिनगता भवन्ति। तत्राऽऽकाशे द्युज्यावृत्तं लेखितुं नाऽऽयाति। अतोऽग्राग्रयष्ट्यग्रयोरन्तरं शलाकया मित्वा गृहीतम्। ततो भुवि लिखिते द्युज्यावृत्ते तया शलाकया ज्यारूपया धनुषि घटिकाज्ञानं युक्तियुक्तम् ॥२८॥२९॥३०॥

मरीचिः—अथावसरसंगत्या यष्टियन्त्रात्कालज्ञानमायत्रयेणाऽऽह—त्रिज्याविष्कम्भार्धमिति। समभूमिभागेऽभीष्टप्रदेशे केन्द्रं प्रकल्प्य। त्रिज्याविष्कम्भार्धं त्रिज्यामितं व्यासार्धं यस्यैतादृशम्। त्रिज्यामितेन व्यासार्धेनोल्लिखितमित्यर्थः। वृत्तं दिगङ्कितं दिक्साधनावगतपूर्वादिदिक्चतुष्टयाङ्कितम्। यद्यपि समनन्तरोक्ताग्रादानार्थं पूर्वापरादिशोरङ्कनमावश्यकं न दक्षिणोत्तरदिशोरिति सात्रारण्येन दिशामङ्कनमुक्तमयुक्तं तथाऽपि पूर्वापरदिक्स्थानयोः शुद्धयवगमाय दक्षिणोत्तरदिशोरप्यङ्कनमावश्यकमिति ध्येयम्।

कृत्वा संपाद्य। तत्र तस्मिन् वृत्ते। अग्रां वर्तमानदिनजामग्राम्। प्राक्पश्चात्। पूर्वस्थानादपरस्थानाच्च पूर्वापरसूत्रादर्धज्याकारां दत्वा। उत्तरगोले उत्तरदिक्चिह्नाभिमुखां दक्षिणगोले दक्षिणदिक्चिह्नाभिमुखां रेखां संपाद्येत्यर्थः। तन्मध्ये। तस्य त्रिज्याव्यासार्धोल्लिखितवृत्तस्य मध्ये। अन्तर्विभागे तत्केन्द्रं केन्द्रं प्रकल्प्येति तात्पर्यार्थः। द्युज्यावृत्तं वर्तमानदिनद्युज्यामितेन व्यासार्धेन संबद्धवृत्तमित्यर्थः। चकारादुल्लेख्यम्। तत्। द्युज्यावृत्तम्। परिधौ परिधिस्थाने। एतेन द्युज्यावृत्तान्तर्विभागनिरासः सूचितः। षष्ट्यङ्कं षष्टिविभागैः समैर्घटिकारूपैरङ्कितं कार्यमित्यर्थ।

ततोऽनन्तरं यष्टिर्ऋज्वी शलाका त्रिज्यामिताङ्गुलपरिमिता। नष्टद्युतिः। छायाभावो यथा स्यात्तथेत्यर्थः। केन्द्रे निधेया। वृत्तमध्ये मूलं कृत्वा सूर्याभिमुखाग्रा धार्येत्यर्थः। ततोऽनन्तरम्। यष्ट्यग्राग्रान्तरम्। धृतयष्टित्रिज्यावृत्तदत्ताग्रयोरग्रे तयोरन्तरं यावत्। ऋजुसूत्रम्। तदग्रयोर्धृतं यन्मितं भवति तावत्या तत्सूत्रमितया मौर्व्या संपूर्णज्यया। नार्धज्यया। द्वितीयवृत्ते। द्युज्यावृत्ते इत्यर्थः।

एवं प्रागपराग्राग्रहवशात्। क्रमेण प्राक्पश्चात्। पूर्वापरचिह्नावधिकक्रमदत्तज्यावधिना वृत्तस्य पूर्वापरभागयोरित्यर्थः। यत् वृत्तपरिध्येकदेशरूपं धनुः सम्पूर्णं वृत्तपरिध्यर्धान्तर्गतं वा न त्वर्धं भवेत्। तत्र तादृशधनुषि या नाड्यस्ता दिनस्य गताः शेषादापूर्वापरधनु। क्रमेण भवन्ति।

अत्रोपपत्तिः—त्रिज्याव्यासार्धेन यद्भुवि वृत्तं लिखितं तत्क्षितिजवृत्तानुकल्पम्। पूर्वापरस्थानादग्रांशान्तरेण गोलवशात्सूर्यस्योदयास्तसंभवाद्दिगङ्किते वृत्तेऽग्रा पूर्वापरसूत्रादर्धज्याकारा पूर्वापरचिह्नाभ्यामुदयास्तस्थानज्ञानार्थं दत्ता। तत उदयस्थानादर्केऽहोरात्रवृत्ते उपरि यथा गच्छति तथाऽर्कोदयचिह्नान्तराले द्युरात्रवृत्ते दिनगतघटिकाः। अर्का-

स्तच्चिह्नान्तराले दिनशेषघटिकाः । अतः सूर्यबिम्बस्य दूरस्थितत्वात्तदनुकल्पेनाभीष्टकाले सूर्यस्थानज्ञानार्थी यष्टिः केन्द्रे सूर्याभिमुखा धृता । सा तु त्रिज्यापरिमिता । सूर्यभूगर्भयोरन्तरे त्रिज्यात्वात् ।

तत्र भूगर्भज्ञानाद्वृत्तकेन्द्रमेव भूमध्यं भूपृष्ठस्थे कल्पितम् । भूपृष्ठीयकालस्यापेक्षितत्वाच्च । तस्याः सूर्याभिमुखत्वसंपादनार्थं नष्टच्छायात्वमुक्तम् ।

तत्र यष्ट्यग्रसूर्योदयस्थानसक्तद्युज्यावृत्तमाकाशे कर्तुमशक्यमिति भुवि केन्द्रादेव द्युज्यावृत्तं लिखितम् । तत्र घटिकाज्ञानार्थी यष्ट्यग्रोदयस्थानान्तराले सूत्रं द्युज्यावृत्ते संपूर्णज्यालिखितद्युज्यावृत्ते षष्ट्यङ्किते देया । तद्धनुपि घटिका दिनगताः । यष्ट्यग्रास्तस्थानान्तरालसूत्ररूपसंपूर्णज्यादानावगतधनुषि घटिका दिनशेषाः । तत्र ज्याग्रान्तरालेऽत्यल्पं वृत्तखण्डं धनुः । उत्तरगोले त्रिंशदधिकघटीज्ञानार्थं महद्वृत्तखण्डं धनुरित्येतल्लाभार्थं प्राक्पश्चादित्यत्र पूर्वमावृत्त्या सम्यक्व्याकृतमिति ध्येयम् ।

अथ प्रतिक्षणं द्युरात्रवृत्तभेदा(द)यष्ट्यग्रसूर्योदयस्थानान्तरसूत्रस्यैकद्युरात्रवृत्ते संपूर्णज्यात्वासंभवाल्लिखितद्युरात्रवृत्ते तद्दानेन घटीज्ञानमयुक्तमिति चेन्न ।

दिनगतार्थं भूपृष्ठसूर्योदयकालिकांशेषा(शा)र्थं च भूपृष्ठसूर्यास्तकालिकां प्रथमक्रान्तिज्यां द्युज्यां प्रसाध्योक्तरीत्या घट्यः साध्यास्ततस्तत्कालिकां द्युज्यामग्रां प्रसाध्य तदग्रां त्रिज्याद(वृ)त्ते यथायोग्यं दत्त्वा तद्द्युज्यावृत्तं च कृत्वा तत्पूर्वयष्ट्यग्रादुक्तरीत्या घट्यस्ततोऽपि तत्कालिकां द्युज्यामग्रां प्रसाध्योक्तदिशा पूर्वयष्ट्यभग्रादेव घट्य इत्यसकृद्यावदविशेष इत्यवधारणात्स्वल्पान्तराद्वोक्तस्य युक्तत्वात् ॥२८-२९-३०॥

केदारदत्तः—यष्टि यन्त्र की रचना बताई जा रही है—

पारा (पारदा)या जलादि से समतल समान भूमि पर त्रिज्या व्यासार्ध से एक वृत्त की रचना कर दिक्साधन के अनन्तर पूर्वविन्दु और पश्चिमविन्दु से उत्तर दक्षिणगोल क्रम को समझ कर तत्कालीन अग्रा में ज्या की तरह अग्रादान करना चाहिए । अग्राग्र विन्दुगत सूत्र का नाम स्वोदयास्त सूत्र होता है । त्रिज्यावृत्तान्तर्गत उसी केन्द्र से द्युज्या व्यासार्ध से अन्य और एक वृत्त की रचना कर इस वृत्त में ६० घटिकाओं के चिह्न १-२-३ क्रम से करने चाहिए । केन्द्र में त्रिज्याङ्गुलात्मका यष्टि का मूल केन्द्र लग्न कर यष्टि का अग्रभाग सूर्याभिमुख ऐसे रखना चाहिए जिससे यष्टि की छाया ही न हो सके ।

पूर्व दिशा में त्रिज्यावृत्तगत अग्राग्रचिह्न और यष्टि के अग्रभाग के चिह्न के बीच की जगह को अंगुल से माप की शलाका को जीवा की तरह निवेशित कर इन दोनों शलाकाओं के बीच में वृत्त का जो चाप होगा उसमें १-२-३ जो घटिकाएँ इष्ट समय में होंगी वही दिन गत घटिका होती हैं ।

उपपत्ति—भूमि गत त्रिज्या वृत्त = क्षितिज वृत्त ।

यष्टि = त्रिज्या

पूर्व पश्चिम में अग्रा, अग्राग्रगत सूत्र = स्वोदयास्त सूत्र। प्राक्क्षितिज में अग्राग्र बिन्दु पर उदित सूर्य, जैसे जैसे अहोरात्र वृत्त में उदय से ऊर्ध्वङ्गत होता है, वैसे वैसे केन्द्र स्थापित यष्टि मूल से अग्र तक भ्रमण कराने से यष्टि की छायाशून्यता होता है क्योंकि यष्टि के अग्रभाग में सूर्य बिम्ब है।

अतः अग्राग्र से सूर्य तक अहोरात्र वृत्त में गणनया जो जो घटिका होती हैं वही दिन गत घटिका गणनया स्पष्ट होती हैं।

गोल आकाश में द्युज्यावृत्त लिखा नहीं जा सकता अतः अग्राग्र और यष्टि अग्र का अन्तर अंगुल से मापा गया है, अतः भूमि पर प्रदर्शित द्युज्यावृत्त में गणनया उपलब्ध ज्या रूप अंगुल मान का चाप द्युज्यावृत्त में प्रदर्शित घटिकाओं का मान होता है। यहीं दिनगत घटिका होती हैं स्पष्ट है ॥२८-२९-३०॥

अथान्यदाह—

यष्टयग्राल्लम्बोना ज्ञेया दृग्ज्या नृकेन्द्रयोर्मध्ये ।

वा० भा०—नष्टद्युतेर्यष्टेरग्रादधो यावान् लम्बस्तावांस्तस्मिन् काले शङ्कुः। शङ्कुकेन्द्रयोर्मध्ये दृग्ज्या ज्ञेया। शङ्कुप्राच्यपरयोरन्तरं बाहुः। प्रागपराशा-नरान्तरं बाहुरिति वक्ष्यति।

मरीचिः—अथाऽऽतीतघटीनां शुद्धयवगमाय शङ्कुदृग्ज्ययोर्ज्ञानं पलभाया अज्ञानेऽग्रा-ज्ञानाभावात्कथमस्माद्यन्त्रात्कालसाधनमित्याशङ्कयोत्तररूपमग्राज्ञानं चाऽऽर्ययाऽऽह—यष्टय-ग्राल्लम्बोनेति। यष्टयग्रात्। नष्टद्युतेर्यष्टेरग्रादित्यर्थः। लम्बो भूमिपर्यन्तं लम्बायमान-मन्तरम्। ना इष्टकाले शंकुः। तथा चास्मात्किंचित्स्थूलाद्भूपृष्ठशङ्कोस्त्रिप्रश्नोक्तविधिना घट्यः स्वल्पान्तरेण पूर्वागतघटीतुल्या इति शुद्धिः। त्रिपश्नोक्तप्रकारस्य भूगर्भे सूक्ष्मत्वा-दिति भावः।

केदारदत्तः—शङ्कु ज्ञान—

नष्ट छाया की यष्टि के अग्र भाग से नीचे जो लम्ब होता है वह उस समय में इष्ट शङ्कु होता है। शंकुमूल से केन्द्र तक दृग्ज्या, शङ्कु मूल और पूर्वापर सूत्र का अन्तर भुज पूर्व में सिद्ध हो चुका है ॥३०½॥

केवलदिग्ज्ञाने सत्यक्षभामाह—

उदयेऽस्ते यष्टयग्रप्राच्यपरामध्यमग्रा स्यात् ॥३१॥

शङ्कूदयास्तसूत्रान्तरमर्कगुणं नरोद्धृतं पलभा ।

वा० भा०—उदयकालेऽस्तकाले वा यष्टिर्नष्टद्युतिर्ध्रियमाणा सकलैव भूलग्ना स्यात्। एवं यष्टयग्रप्राच्यपरयोरन्तरं त्रिज्यावृत्ते ज्यार्धवत् स्थितम्। साऽग्रा ज्ञेया। ततः प्राग्वदुदयास्तसूत्रमिष्टकाले शङ्कुश्च। शङ्कूदयास्तसूत्रयोरन्तरं द्वादशगुणं शङ्कुना भक्तं पलभा स्यात्।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन । तद्यथा । यद्यस्य शङ्कोः शङ्कूदयास्तसूत्रयोरन्तरं शङ्कुतलं भुजस्तदा द्वादशाङ्गुलस्य शङ्कोः क इति। फलं विषुवतीं भवति ॥

मरीचिः—प्रसङ्गाद्दृग्ज्याज्ञानमाह—ज्ञेयेति । नृकेन्द्रयोः शङ्कुमूलवृत्तकेन्द्रयोर्मध्येऽन्तराले सूत्रं दृग्ज्या ज्ञेया । पलभां विनाऽग्राज्ञानमाह—उदये इति । सूर्योदयकाले सूर्यास्तकाले वा । यष्टयग्रप्राच्यपरामध्यम् । नष्टच्छायायष्टेर्भूसंलग्नाया अग्रं त्रिज्यावृत्तपरिधिसक्तं पूर्वापरदिक्चिह्नं तयोर्मध्यमन्तरालं वृत्तान्तरार्ध ज्याकारम् । अग्रा स्यात् ।

अयमर्थः—सूर्योदयकालिकनष्टच्छाययष्टयग्रसक्तपरिधिप्रदेशपूर्वचिह्नयोरन्तरांशानां पूर्वापरसूत्रादर्धज्यासूत्रमग्रा तत्काले सूर्यास्तकालिकनष्टच्छाययष्टयग्रसक्तपरिधिप्रदेशपश्चिमचिह्नयोरन्तरांशानां पूर्वापरसूत्रादर्धज्यासूत्रं तत्कालेऽग्रा स्यादिति ।

अत्रोपपत्तिः—यष्टयग्रस्य सूर्यबिम्बानुकल्पत्वेन तस्मालम्बसूत्रं भूपृष्ठे शङ्कुः किंचित्स्थूलः । वृत्तकेन्द्रात्त्रिज्यामितयष्टयग्रलम्बरूपत्वात् । त्रिज्याया भूपृष्ठे कर्णत्वाभावात् । भूगर्भसूत्रस्याभावाच्च । शङ्कुमूलकेन्द्रयोरन्तरसूत्रं दृग्ज्या साऽपि किंचित्स्थूला । उदयास्तकाले पूर्वापरस्थानादग्रान्तरेण सूर्यसद्भावादुदयास्तकालिकनष्टच्छायायष्टयग्रेणाग्रज्ञानान्मूलस्य प्राच्यपरसूत्रे सत्त्वाच्चोक्तमग्राज्ञानमुपपन्नम् ॥

केदारदत्तः—दिशाज्ञान से पलभाज्ञान—

उदयकाल और अस्तकाल में नष्ट छाया की तरह की स्थापित यष्टि समग्रवृत्त में भूमि लग्न होती है । इस प्रकार यष्टि का अग्र और पूर्वपश्चिम स्वस्तिकों का अन्तर ज्या खण्ड की तरह हो जाता है । यही अग्रा होती है और उदयास्त सूत्र से पूर्व स्वस्तिक तक शङ्कु होने से, शङ्कु और उदयास्त सूत्र का अन्तर शङ्कुतल होता है ।

उपपत्तिः—यदि शङ्कु में शङ्कुतल तो १२ शङ्कु में भुजज्ञान से भुज ही पलभा हो जाती है ।

$$\frac{\text{शङ्कुतल} \times १२}{\text{शङ्कु}} = \text{पलभा उपपन्न होती है} \quad ॥३१\tfrac{१}{२}$$

अथोद्यन्तमर्कमदृष्ट्वाऽपि—

भुजयोरेकान्यदिशोरन्तरमैक्यं रविक्षुण्णम् ॥३२॥

शङ्क्वन्तरहृत् पलभा प्रागपराशानरान्तरं बाहुः ।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः । यत्र देशे विषुवती ४ तत्रोत्तरगोले प्रथमशङ्कुस्त्रिंशदङ्गुलो दृष्टः । तस्य याम्यो भुजः पञ्चाङ्गुलः । अन्यश्च षट्त्रिंशदङ्गुलः । तस्य याम्यो भुजः सप्ताङ्गुलः । अत्राग्रया विना किल शङ्कुतलं न ज्ञायते । किंतु भुजाग्र-

योर्यावदन्तरं शङ्कुतलयोरपि तावदेवान्तरं भवति । 'तच्छङ्कुतलं कल्पितम् २ । कस्य । शङ्कूच्छ्रयान्तरतुल्यस्य शङ्कोः ६ । यद्यस्य शङ्कोरिदं शङ्कुतलं तदा द्वादशाङ्गुलस्य किमिति । फलं पलभा ४ ।

अथवा पलभाप्रमाणं या १ । यदि द्वादशाङ्गुलस्य शङ्कोः पलभा शङ्कुतलं तदा त्रिंशदङ्गुलस्य षट्त्रिंशदङ्गुलस्य वा किमिति १२ । या १ । ३० ॥ १२ । या १ । ३६ । एवं ज्ञाते शङ्कुतले पृथक् पृथक् या ३० ।
१२
या ३६ । एते स्वस्वयाम्यभुजाभ्यां रहिते जाते उत्तरे अग्रे या ३० रू ६०̇ । या
१२ १२
३६ रू ८४̇ । अनयोरग्रयोः समीकरणे छेदगमे च क्रियमाण इयं क्रियोपपद्यते ।
१२

मरीचिः—अथ ज्ञाताग्रायाः शुद्ध्यर्थं पलभाज्ञानं प्रकारान्तरेण पलभाज्ञानं च वक्ष्यमाणां प्रतिज्ञां च शिष्यावधानार्थमार्याद्वयेनाऽऽह—शङ्कूदयास्तेति ।

अभीष्टकाले यत्र शङ्कुमूलं पूर्वोक्तप्रकारेण दिनगतशेषक्रमेण सूर्योदयकालिकां सूर्यास्तकालिकां वा ज्ञाताग्रां त्रिज्यावृत्ते पूर्वापरचिह्नाभ्यामुक्तरीत्या दत्त्वा तदग्रयोः सक्तं रेखासूत्रमुदयास्तसूत्रम् । तयोर्याम्योत्तरमङ्गुलात्मकं यन्मितमन्तरं द्वादशगुणम् । अभीष्टकालिकावलम्बरूपशङ्कुमानेन भक्तं फलं तद्देशे पलभा । अस्या अक्षकर्णौ प्रसाध्यानुपातानीताग्रासमत्वेन ज्ञाताग्रायाः शुद्धिरवधेयेति भावः ।

ननूदयास्तकाले व्यवधानादिना वृत्तेऽर्कस्थानज्ञानाभावादुक्तरीत्या पुनः कालसाधनमशक्यमित्यतोऽग्राज्ञानार्थं पलभाज्ञानमाह—भुजयोरिति । कस्मिंश्चिद्दिवसेऽभीष्टकालद्वयसंबन्धिभुजौ ज्ञेयौ । तयोरभिन्नदिशयोः क्रमेणान्तरमैक्यं वा द्वादशगुणम् । भुजद्वयसंबन्धिकालद्वयज्ञातालम्बरूपशङ्क्वोरन्तरेण भक्तं पलभा स्यात्तस्या अनुपातेन क्रान्तिज्यातोऽग्राज्ञानं स्यादेवेति कालसाधनं नाशक्यमिति भावः ।

नन्वस्य पलभाज्ञानप्रकारस्य भुजाधीनस्य भुजाज्ञानात्कथं संभव इत्यत आह—प्रागपराशानरान्तरमिति । पूर्वापरसूत्रावलम्बरूपशङ्क्वोर्याम्योत्तरं स भुजः । तथा च वृत्ते दिगङ्कनात्पूर्वापरसूत्रज्ञानान्नष्टच्छायायष्टयग्रावलम्बरूपशङ्कोर्मूलज्ञानाच्च । तयोर्याम्योत्तरान्तरप्रदेशस्य भुजत्वावगमादुक्तरीत्या कालद्वये भुजं शङ्कुं च ज्ञात्वोक्तप्रकारेण पलभाज्ञानसंभव इति भावः ।

अथ तथाऽपि वृत्ते दिक्साधनस्य भुजाज्ञानादसंभवादन्योन्याश्रयदोषाद्भुजाज्ञानमिति पलभाज्ञानस्योक्तप्रकारेणासंभव इत्यस्वरसात्प्रकारान्तरं विवक्षुस्तावत्तत्प्रतिजानीते—यष्टयेति । नष्टच्छा[य]या यष्टया कस्मिंश्चिद्दिवसे । शङ्कुत्रितयम् । भिन्नभिन्नाभीष्टकालत्रितयेऽवलम्बरूपं शङ्कुं प्रत्येकमेवं शङ्कुत्रितयमित्यर्थः । एककाले तत्त्रितयासंभवात् ।

ज्ञात्वा । सर्वम् । उदयास्तसूत्राग्रादिक्पलभात्मकम् । वा प्रकारान्तरेण । पूर्वं तेषां निरूपितत्वात्कथ्यते मया निरूप्यत इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः—शङ्कुमूलोदयास्तसूत्रयोरन्तरमिदं शङ्कोः शङ्कुतलमतोऽवलम्बशङ्कुनैतच्छङ्कुतलं तदा द्वादशाङ्गुलशङ्कुना किमित्यनुपातेन पलभाज्ञानमुक्तमुपपन्नम् । यद्यपि प्रतिक्षणं द्युरात्रवृत्ते भेदाद्यत्कालिकशङ्कुस्तात्कालिकाग्रचिह्नाभ्यामुदयास्तसूत्रं शङ्कुतलज्ञानार्थमुपयुक्तम् । नोदयकालिकमस्तकालिकं वाऽग्राचिह्नाभ्यामुदयास्तसूत्रमतः पलभानयनमनुचितं तथाऽपि तात्कालिकाग्राचिह्नस्योपलक्षकाभावेनाज्ञानात् स्वल्पान्तरादक्षतिः । इयं भूपृष्ठशङ्कुसंबन्धेन भूपृष्ठीयाऽप्यत्यल्पान्तरत्वद्भूगर्भमित्यस्या भूगर्भसंबन्धि गणितं नानुचितमिति ध्येयम् ।

बीजैकवर्णसमीकरणेन द्वितीयानयनोपपत्तिः । पलभामानं या १ अस्माच्छङ्कोः शङ्कुतले द्वादशाङ्गुलशङ्कोः पलभामितशङ्कुतलं तदा लम्बाकारशङ्कोः किमित्यनुपातेन या० शं १ या० १ । १२ । ११ आभ्यां स्वस्वभुजसंस्कारादग्रे साध्ये ।

तथा हि—दक्षिणे गोले भुजस्याग्राशङ्कुतलैक्यरूपतया शङ्कुतलोनदक्षिणभुजोऽग्रा या० शं १ । भु १२ । १२ । उत्तरगोले समवृत्ताद्दक्षिणस्थे ग्रहे भुजस्याग्राहीनशङ्कुतलत्वेन शङ्कुतलयुतोत्तरदक्षिणभुजोनं शङ्कुतलमग्रा । समवृत्तादुत्तरस्थे शङ्कुतलोनाग्राया भुजत्वेन शङ्कुतलयुतोत्तरभुजोऽग्रा या० शं १ । भु १२ । १२ । एवं द्वितीयभुजादप्याग्रा पक्षत्रयभे या० शं १ दभु १० । १२ । तदा भुजस्तु शङ्कुमूलप्राच्यपरसूत्रयोर्याम्योत्तरान्तररूपः प्राच्यपरसूत्राद्याम्य उत्तरो वा शङ्कुमूलानुरोधादवगन्तव्यः ।

इदमग्राद्वयमेकदिनसंबन्धात्स्वल्पान्तरस्योपेक्षया त्रिप्रश्नोक्तभाद्वयस्येत्यादिपद्योपपत्तौ पक्षयोः समत्वप्रतिपादनाद्वा तुल्यमिति च्छेदगमे शोधनार्थं पक्षयोः षड्भेदेन न्यासः ।

दक्षिणगोले १ या०प्र० श १ प्र०उ०भु० १२ | या०प्र०शं १ द० प्रभु० १२ प्रथम |
या०द्वि०शं १ द्वि० उ० भु १२ द्वितीय | या०द्वि०शं १ द० द्विभु० १२ |

उत्तरगोले दक्षिणभुजयोः २ भिन्नगोले दक्षिणभुजयोः ४ । उत्तरगोले उत्तरभुजयोः ३

या० शं १ प्रदभु १२ | भिन्तगोले दक्षिणभुजयोः ५ | या० प्रशं १ प्रदभु १२ तृतीय |
या०दि०शं १ द्विदभु १२ | | या० द्विशं१ द्विदभु १२ |

अथैकव्यक्तं शोधयेदित्यादिना प्रथमादिपक्षत्रयेऽन्त्यपक्षे च भुजयोरेकान्यदिशोरित्याद्युक्तपलभामानमुपपन्नम् । उत्तरगोले दक्षिणोत्तरयोः ६ ।

या० प्रशं १ प्रदभु १२ | या० प्र०शं १ प्र०द० भु० १२ |
या० द्वि० शं १ द्विउभु १२ | या० द्वि० शं० १ द्विद् उभु १२ |
पंचम

चतुर्थपञ्चमपक्षयोस्त्वेकदिशोर्भुजयोर्योगो भिन्नदिशोर्भुजयोरन्तरं द्वादशगुणशङ्कुयोगभक्तं फलं पलभेत्युपपन्नमप्याचार्यैरेकगोलीयभुजयोरङ्गीकारान्न क्षतिः ।

यद्वा—एकदिनीयभुजयोर्ग्रहणात्पञ्चमपक्षस्यासिद्धेश्चतुर्थपक्षस्य विषुवद्दिनीयत्वेन भुज-

योरत्यल्पान्तरत्वादन्तरं शङ्क्वोरन्तरेण भक्तमित्यनेनापि पलभासिद्धिरुपलभ्यते । दर्शितं चोदाहरणं त्रिप्रश्नाधिकारव्याख्यायां भाद्वयस्येत्यादिपद्योपपत्ताविति ।

केदारदत्तः—इष्ट कालीन भुजाओं से पलभाज्ञान—

एक ही या भिन्न दिशाओं के दो भुजों के अन्तर को १२ से गुणाकर दोनों कालों के शङ्कुओं के अन्तर से भाग देने से लब्धफल पलभा होती है ।।३२½।।

उपपत्ति—४ अंगुल पलभादेश में, उत्तरगोलीय प्रथम शङ्कु ३० अंगुल, जिसका याम्य भुज = ५ अंगुल । दूसरे शङ्कु का मान ३६, दक्षिण भुज=७ अंगुल । अग्रा के विना शङ्कुकेतल का ज्ञान नहीं होता है । किन्तु भुजाओं का अन्तर = ७ − ५ = २ यही अन्तर शंकु तलों का भी अन्तर होता है। यदि शंकुतल = २ और शंकुओं की ऊँचाइयों का अन्तर = ३६ − ३० = ६ है तो अनुपात से $\frac{\text{शंकु तलान्तर} \times २}{\text{शंकु अन्तर}} = \frac{२ \times १२}{६}$

= पलभा = ४ उपपन्न होती है ।

यतः सायन मेषादि में उस नगर की पलभा नापने से भी ४ ही अंगुल प्रत्यक्ष देखी गई है ।

अथवा बीजगणित से उपपत्ति ।

कल्पनांकिया पलभा = या तो अनुपात से—

अनुपात से, $\frac{\text{या} \times \text{शं}}{१२} = \text{शं. त०}$, तथा $\frac{\text{या} \times \text{शं}}{१२} = \text{शं'त}$

$\because$ शं त $\pm$ भु = अग्रा $= \frac{\text{या} \times \text{शं}}{१२} \times \text{भु}$, तथा अग्रा' $= \frac{\text{या} \times \text{शं'}}{१२} \times \text{भु'}$

$\because$ भु $\sim$ भु' $= \frac{\text{या} \times \text{शं}}{१२} \sim \frac{\text{या} \times \text{शं}}{१२} = \frac{\text{या}}{१२} (\text{शं} \times \text{शं})$

$= \frac{(\text{भु} \sim \text{भु}) \times १२}{\text{शं} \sim \text{शं'}}$ = या । द्वादशगुणित भुजन्तर को तत्कालीन शङ्कुओं के अन्तर से विभक्त करने से वेधोपलब्ध पलभा के तुल्य पलभा हो जाती है । उपपन्न होता है ।।३२½।।

इदानीं दिग्देशकालानामज्ञाने केवलार्कदर्शनादेव सर्वमाह—

यष्ट्या शङ्कुत्रितयं ज्ञात्वा वा कथ्यते सर्वम् ।।३३।।
आद्यन्तशङ्कुशिरसोस्तिर्यक् सूत्रं निबध्य तत्सक्ते ।
मध्यमशङ्क्वग्राद्द्वे सूत्रे भूमिं पृथङ्नेये ।।३४।।
भूचिह्नद्वितयोपरि सूत्रं तत्रोदयास्तसूत्रं स्यात् ।
तत्केन्द्रान्तरमग्रा सूत्रादत्रान्तरे ततः प्राची ।।३५।।

प्राग्वदतोऽक्षच्छाया तच्छ्रुतिविहृताग्रकार्कसंगुणिता ।
क्रान्तिज्या त्रिज्याघ्नी जिनभागज्योद्धृता + दोर्ज्या ॥३६॥

वा० भा०—त्रिज्यावृत्तं विलिख्य प्राग्वद्यष्टया शङ्कुत्रितयमभीष्टे काले ज्ञात्वा प्रथमतृतीयशङ्क्वग्रयोरेकं सूत्रं तिर्यग्बद्ध्वा मध्यस्थशङ्कोरग्रेऽन्यसूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा तत् सूत्रं तिर्यक्सूत्रलग्नं यथा भवति तथा प्रथमशङ्क्वभिमुखमधः कर्णगत्या त्रिज्यावृत्तपरिधिं नीत्वा तत्र पूर्वभागे चिह्नं कार्यम् । ततोऽन्यत् सूत्रं तदेव वा तृतीयशङ्क्वभिमुखमनेनैव प्रकारेण नत्वा वृत्तपश्चिमभागे चिह्नं कार्यम् । तयोश्चिह्नयोरुपरि गतं सूत्रमुदयास्तसूत्रं स्यात् । सूत्रकेन्द्रयोरन्तरमग्रा । उदयास्तसूत्रादग्रातुल्येऽन्तरे केन्द्रोपरि प्राच्यपरा रेखा कार्या । ततः शङ्कूदयास्तसूत्रान्तरमित्यादिना पलभाज्ञानम् । शेषं स्पष्टम् ।

अत्र गोलेऽहोरात्रवृत्ते यथोक्तं क्षितिजसंपातयोरुदयास्तसूत्रं बद्ध्वा तस्मिन्नेवाहोरात्रवृत्ते चिह्नत्रयं कृत्वा तानि शङ्कुशिरांसि प्रकल्प्याऽऽद्यन्तचिह्नयोस्तिर्यक्सूत्रं च निबध्य मध्यसूत्रात् तिर्यक् सूत्रसक्तमधः नीयमानमुदयास्तसूत्र एव लगतीत्युपपत्तिर्दर्शनीया । ततोऽग्रादिक्पलभाज्ञानं युक्तियुक्तम् । पलभाज्ञाने तद्देशज्ञानम् ॥३३॥३४॥३५॥३६॥

मरीचिः—अन्ये त्वेकगोलीयभुजाग्रयोर्यावदन्तरं तावदेव शङ्कुमूलयोरन्तरमिति शङ्क्वन्तररूपशङ्कोरेकान्यदिकक्रमसिद्धभुजान्तरयोगरूपशङ्कुतलं तदा द्वादशाङ्गुलस्व किमित्यनुपाते भुजयोरित्याद्युक्तं पलभानयनमुपपन्नमित्याहुः ॥३३॥

अथ प्रतिज्ञातं विवक्षुः प्रथमं तत्रोदयास्तसूत्राग्रादिशां ज्ञानमार्यागीतिभ्यामाह—

आद्यन्त्यशङ्कुशिरसोरिति ।

समभूमिभागे त्रिज्याव्यासार्धेन वृत्तं कृत्वा तत्केन्द्रे त्रिज्यामितां शलाकां नष्टच्छायां सूर्याभिमुखीं कृत्वा यष्ट्यग्रलम्बस्थाने तन्मितमृतकाष्ठशङ्कुमभीष्टकाले स्थापयेत् । एवं तदुत्तरान्यकालयोर्व्यवहितयोः शङ्कु स्वस्थाने धार्यौ । तत आद्यन्तशङ्कुशिरसोः प्रथमतृतीयशङ्क्वग्रयोरेकं सूत्रं तिर्यक्शिथिलं निबध्य । मध्यमशङ्क्वग्रात् । प्रथमतृतीयमध्यस्थद्वितीयशङ्कोरग्रात् । द्वे सूत्रे निबध्य । तत्सक्ते । तिर्यक्सूत्रसंलग्ने । भूमिं भूस्थत्रिज्यावृत्तपरिधिम् । पृथग्भिन्नमार्गेण । प्रथमतृतीयशङ्क्वभिमुखक्रमेण । कर्णगत्या नेये । नीत्वा वृत्तपरिधौ स्थानद्वये चिह्नं कार्यमित्यर्थः ।

भूचिह्नद्वितयोपरि तच्चिह्नद्वितयोपरि तच्चिह्नद्वयावधीत्यर्थः । तत्र । वृत्ते सूत्रं रेखाकारम् । उदयास्तसूत्रं भवति । तत्केन्द्रान्तरम् । उदयास्तसूत्रवृत्तकेन्द्रयोरन्तरं याम्योत्तररूपम् । केन्द्राद्याम्योत्तराऽग्रा स्यात् । ततः सूत्रादुदयास्तसूत्रात् । अग्रान्तरे प्राची स्यात् । पूर्वविभागस्थपरिधिसूत्रसंपाते ज्याग्रं यथा भवति तथा वृत्तेऽग्रामर्धज्यारूपां दत्वा तदुत्क्रमज्यासूत्रसक्तपरिधिप्रदेशे पूर्वेत्यर्थः । उपलक्षणात्पश्चिमभागस्थपरिधिसूत्र-

संपातादुक्तदिशा वृत्तपरिधिस्थानं पश्चिमा। पूर्वापरचिह्नावधिरेखा वृत्ते पूर्वापरसूत्रमित्युक्तप्रायम्।

अत्रोपपत्तिः—शङ्क्वग्रेऽहोरात्रवृत्तसंबन्धात्प्रथमतृतीयशङ्क्वग्रयोर्बद्धमेकं सूत्रं संपातादुक्तदिशाऽहोरात्रवृत्तप्रदेशस्य तच्छङ्कुद्वयाग्रान्तरालस्थितपूर्णचापस्य संपूर्णज्या। मध्यमशङ्क्वग्रात्सूत्रद्वयमुभयतस्तत्सूत्रस्पर्शसंपादनेन भूलिखितवृत्तपरिधौ स्वमार्गानुरोधेन नेयम्। वृत्तपरिधौ पूर्वापरभागयोर्यत्र सूत्रं लग्नं तत्र ग्रहोदयास्तसंभवाच्छङ्क्वग्रयोस्तात्कालिकयोर्भूसंलग्नतया तदहोरावृत्तसंबन्धात्तच्चिह्नावधिरेखोदयास्तसूत्रम्। सूत्रद्वयस्याहोरात्रवृत्तस्थसंपूर्णज्याकारेणोदयास्तचिह्नमार्गपरिज्ञानार्थमेव प्रथमतृतीयशङ्क्वग्रबद्धतिर्यक्सूत्रसंस्पर्शोऽप्यावश्यकोऽन्यथा तदसिद्धेः।

यद्यप्यहोरात्रवृत्तभेदादिदमसंगतम्, तथाऽप्येकस्मिन्दिने स्वल्पान्तरत्वादेकद्युरात्रवृत्ताभ्युपगमाद्युक्तमत एव दिनान्तरसंबद्धशङ्कुभ्य उक्तप्रकारेण नोदयास्तसूत्रसिद्धिः। वृत्तकेन्द्रस्य पूर्वापरसूत्रमध्यत्वेनावगमादुदयास्तसूत्रकेन्द्रयोर्याम्योत्तरमग्रा। पूर्वापरोदयास्तसूत्रयोरन्तरालेऽग्रात्वात्। अत एवोदयास्तसूत्राद्यन्तप्रदेशाभ्यामग्रान्तरेण प्राच्यपरे इत्यादि सुगमतरम् ॥३४॥३५॥

अथाऽऽग्रया पलभाज्ञानं तच्छुद्धचर्थं क्रान्तिज्यानयनं च प्रसङ्गात्तच्छुद्धचर्थदोर्ज्यानयनं चाऽऽह—प्राग्वदत इति।

अतः। उदयास्तसूत्रज्ञानात्। प्राच्यपरसूत्रज्ञानाद्वा। प्राग्वत्। क्रमेण शङ्कूदयास्तसूत्रान्तरमर्कगुणमित्यादिना प्रागपराशानरान्तरं बाहुरित्यनेन भुजद्वयज्ञानाद्भुजयेरेकान्यदिशोरित्यादिना वा पलभा स्यात्।

यद्यप्यस्याः शुद्धिर्द्वादशकोटावक्षकर्णः कर्णस्तदा क्रान्तिज्याकोटौ कः कर्ण इत्यनुपातानीताग्रायाः पूर्वावगताग्रासमत्वेन तथाऽपि पलभायास्तदग्रानुरोधेन साधितत्वात्तस्याः सैव सिध्यतीति शुद्धौ संशयसंभवात्पलभाशुद्धचवगमार्थं क्रान्तिज्यानयनमाह—सच्छ्रुतिविहृतेति। पूर्वावगताग्रा द्वादशगुणित। पलभावर्गवेदेन्द्रयुतिमूलरूपपलकर्णेन भक्ता फलं क्रान्तिज्या। तथा च द्युज्यावृत्तनिमित्तं पूर्वं क्रान्तिज्याया आनीतत्वात्तत्समैतत्क्रान्तिज्यात्वेन पलभायाः शुद्धिरवधेयेति भावः।

ननु पूर्वत्रगतक्रान्तिज्याशुद्धिनिर्णयेऽस्याः शुद्धिरिति पूर्वं क्रान्तिज्याशुद्धिनिर्णयः कथमवगत इत्यतः क्रान्तिज्यायाः सायनार्कभुजज्यानयनमाह—त्रिज्याघ्नीति। क्रान्तिज्या त्रिज्यया गुणिता चतुर्विंशत्यंशज्यया भक्ता फलं सायनार्कभुजज्या। तथा च सायनार्कभुजज्यायाः क्रान्तिज्यासाधनात्तत्क्रान्तिज्याया वैपरीत्येन सायनार्कभुजज्यासंवादेन शुद्धिनिर्णयोऽस्त्येवेति भावः।

अत्रोपपत्तिः—शङ्कुतलज्ञानाद्भुजयोर्ज्ञानाद्वा प्रागुक्तप्रकारेण पलभा सिद्धत्येवेति किं चित्रम्। पलकर्णे द्वादशकोटिस्तदाऽग्राकर्णे का कोटिरित्यनुपातेन क्रान्तिज्या। परम-

क्रान्तिज्यया त्रिज्यातुल्या दोर्ज्या तदाऽभीष्टक्रान्तिज्यया केत्यनुपातेनाभीष्टसायनार्क-दोर्ज्येति ॥ ३६॥

केदारदत्तः—दिग्देश कालादि में किसी का भी ज्ञान होने पर भी केवल सूर्यदर्शन से भू पृष्ठ में निज स्थानादि का ज्ञान—

यष्टि से और तीन समयों में तीन शङ्कुओं से सूर्य वेध द्वारा भूमण्डल में वेध स्थान कहां है ? और वर्ष के १२ महीनों में कौन मास आदि है इत्यादि के ज्ञान से समग्र पञ्चाङ्ग ज्ञान जिस विधि से यन्त्र या वेध विधि से होता है वह सब मात्र सूर्य दर्शन से हो जाता है—जैसे—

अभीष्ट समय में तीन शङ्कुओं का ज्ञान कर समतल भूमि में त्रिज्या व्यासार्ध से एक वृत्त बनाकर, प्रथम और तीसरे शङ्कु के अग्र में एक तिर्यक सूत्र बांध कर, मध्य-शंकु के अग्र में अन्य एक सूत्र का अग्र भाग रखकर वह यंत्र लम्बरूप जैसे हो कण-गति से प्रथम शंकु के नीचे त्रिज्या वृत्त की परिवि तक ले जाकर पूर्व विभाग में एक चिह्न करना चाहिए। तथा अन्य सूत्र या वही सूत्र तीसरे शंकु के अभिमुख पूर्व प्रकार ले जाकर वृत्त के पश्चिम भाग में चिह्न करना चाहिए। इन दोनों चिह्नों पर गये हुए सूत्र का नाम उदयास्त सूत्र होता है।

सूत्र और केन्द्र का आकार = अग्रा। उदयास्त सूत्र से अग्रा तुल्य आकार में केन्द्र से पूर्वापर रेखा देनी चाहिए। इस प्रकार शङ्कु मूल और उदयास्त सूत्र का अकार शंकुतल आदि के ज्ञान से पूर्वोक्त विधि से पलभा का ज्ञान हो जाता है।

उपपत्ति—पूर्वापर समानान्तर उदयास्त सूत्र और द्युज्या का सार्ध से केन्द्र से क्रियमाण अहोरात्र वृत्त में उदयास्तादि सूत्र ज्ञान पूर्वक अहोरात्रवृत्त वृत्त तीन शंकुओं के तीन अग्र बिन्दु ज्ञान कर, आद्यन्त सूत्र के शिर में लम्ब सूत्र बाघ कर, मध्य सूत्र से लम्बरूप नीचे की तरफ नीयमान उदयास्त सूत्र में ही उक्त सूत्र लगेगा, अतः अग्रा शंकुतल के ज्ञान से पलभा ज्ञान पूर्वक भूमण्डलस्थ वेव स्थानीय भूपृष्ठ बिन्दु में पलभा-अक्षांशादि ज्ञान हो जाते हैं।

उपपत्ति—आद्यन्त शंकुओं के ऊपर, एक सूत्र जो आदि शंकु की दिशा के अभिमुख-भूमि में जहाँ लगेगा तथा अन्त्य शंकु अग्र अग्र से भूमि पर गत सूत्र जहाँ लगेगा उन बिन्दुओं पर गई हुई रेखा स्वोदयास्त सूत्र होती है जो पूर्वापर सूत्र की समानान्तरा होती है।

पूर्वापर स्वोदयास्त सूत्रों का अन्तर = अग्रा।

शंकुमूल से स्वोदयास्त सूत्र तक शंकुतल।

अग्रा = शंकुतल = भुज ज्ञान से पूर्ववत् पलभा का ज्ञान और पलभा ज्ञान से अक्षांश ज्ञान के अनन्तर स्वदेश ज्ञान होता है ॥३६॥
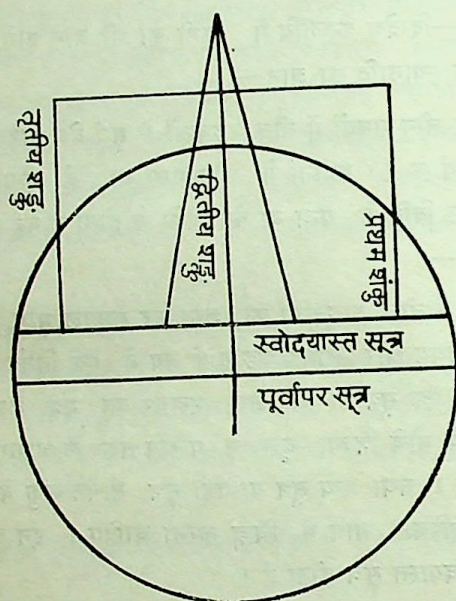
अथ कालज्ञानमाह—

तद्धनुराद्ये चरणे वर्षस्यार्कः प्रजायतेऽन्येषु ।
भार्धाच्च्युतः स भार्धो भगणात् पतितोऽब्दचरणानाम् ॥३७॥
ऋतुचिह्नैर्ज्ञानं स्यादृतुचिह्नान्यग्रतस्ततो वक्ष्ये ।
भात्रितयाद्भ्राभ्रमणं न सदस्माद्दिक्पलाद्यं च ॥३८॥
छायातोऽग्रातो वा भानुः सक्रान्तिपात एव स्यात् ।
पातोनः स्फुटभानुः स्फुटभानूनो भवेत् पातः ॥३९॥

वा० भा०—अत्राग्रातस्तच्छ्रुतिविहताग्रकार्कसंगुणितेत्यादिविलोमविधिना या स्फुटार्कदोर्ज्याऽऽनीता तस्या यद्धनुः स रविर्भवति। एवं वर्षस्य प्रथमचरणे। द्वितीये भार्धाच्च्युतस्तृतीये सभार्धश्चतुर्थे भगणात् पतित इति व्यस्तविधिः। वर्षचरणज्ञानमृतुचिह्नैः।

अत्रान्यैराचार्यैर्भात्रितयाद्दिग्ज्ञानं दिग्ज्ञाने भाभ्रमरेखां चोत्पाद्य केन्द्रभाभ्रमरेखयोर्याम्योत्तरमन्तरं सा मध्यच्छाया। ततः क्रान्तिज्या। विलोमविधिना तस्या रविरक्षश्चैवं वक्ष्यमाणमहाप्रश्नभङ्गार्थं यत् कृतं तदसत्। कुतः। यद्भा-

त्रितयाद्भाभ्रमणं तदपि तावदसत्। अन्यान्यभागग्रहणादन्यथाऽन्यथा भाभ्रमरेखा स्यादिति निपुणैरवलोक्यम्। भाभ्रमनाशे दिक्पलादिकमपि न घटते। अतो यष्ट्या शङ्कुत्रितयं ज्ञात्वेत्यादिना महाप्रश्नभङ्गो युक्तः।

अत्र किलाग्रातो रविर्ज्ञातः। योऽत्राग्रातश्छायातो वा रविर्ज्ञायते स सक्रान्तिपात एव स्यात्। अतः पातोनो रविर्भवति। रव्यूनश्च पातो भवतीति युक्तियुक्तम्। एवं स्फुटरवेर्मध्यमो मध्यमादहर्गणोऽहर्गणात् कल्पगतमिति कालज्ञानम्। इति **यष्टियन्त्रम्** ॥३७॥३८॥३९॥

मरीचिः—अथ प्रसङ्गादुक्तदिशा यष्टियन्त्रादभीष्टदिने सिद्धसायनार्कदोर्ज्यायाः सूर्यज्ञानमन्यदप्यार्याभ्यामाह—तद्धनुराद्य इति।

तस्या दोर्ज्याया धनुर्भाद्यम्। वर्षस्य। कल्प्यमेषादिद्वादशराशिभोगकालस्य प्रथमे चतुर्थांशे सूर्यो भवति। अन्येषु द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु चरणेषु क्रमेण प्रथमचरणार्कः। भार्धात्षडङ्कात्च्युतः शुद्धः। सभार्धः षड्भयुतः। भगणात्। द्वादशराशिभ्यः पतितः शुद्धः सूर्यो भवति।

नन्वभीष्टसमये वर्षचरणज्ञानं कथं स्याद्येनार्कज्ञानमत आह–अब्दचरणानामिति। कल्प्यमेषादिद्वादशराशिभोगात्मकवर्षस्य चतुर्थांशानाम्। ज्ञानम्। अभीष्टकाले तदन्यतमसत्ताज्ञानम्। ऋतुचिह्नैर्वसन्तादिषड्ऋतूनां ज्ञापकचिह्नैर्दृष्टैर्भवति। अत्र वसन्तादयः कल्प्यमेषादिराशिद्वयभानुभोग्रक्रमेण न तु मीनादिक्रमेण। अन्यथा वसन्तेत्यादिचरणसंबन्धात्सूर्यनिर्णयासंभवात्।

ननु चरणस्य राशित्रयभोगकालात्मकत्वादृतूनां च तद्द्वयभोगात्मकत्वादृतुचिह्नैः कथं तज्ज्ञानं संभवति। नह्यृतवचत्वारो नवा चरणचिह्नानि येनेदं सुस्थमिति चेन्न। पदद्वयसंबन्ध्यृतुकालस्य पूर्वापरविभागाभ्यां पदनिर्णयसंभवात्। पूर्वापरविभागज्ञानं चतुश्चिह्नारम्भात्त्रिशत्सौरान्तर्गतानन्तर्गताभीष्टदिनक्रमेण।

न चैवं मीनादिक्रमेऽप्यक्षतिः। अत एव–मृगादिराशिद्वयभानुभोगात्षड्ऋतवः स्युः। शिशिरो वसन्त इत्याद्युक्तानुरोधेन रवेर्भवेदैकगृहादिकस्य यदंशवृन्दं खलु सायनस्य। तदत्र राशिद्वयभागतष्टं लब्धं वसन्ताद्यृतवो भवन्तीति विवाहवृन्दावनकारोक्तिः संगच्छत इति वाच्यम्। मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू इत्यादिश्रुत्या चैत्रादिक्रमचान्द्रवसन्तादिषड्ऋतुप्रतिपादिकया सौरवसन्ताद्यृतूनां कल्प्यमेषाद्यारम्भकानां व्यजिन (व्यावर्तित) त्वात्। कथमन्यथा मेषादिराश्यादिप्रदेशसंचरणसंबन्धेन चान्द्रमासानां चैत्रादिसंज्ञात्वं संगच्छत इति दिक्।

नन्वृतुचिह्नज्ञानाभावादभीष्टदिने कथमृतुज्ञानं कथं चाब्दचरणज्ञानं येनोक्तं निर्वहेदित्यत आह–ऋतुचिह्नानीति। ततः–ऋतुचिह्नाद्वर्षचरणज्ञानसंभवादित्यर्थः। ऋतुचिह्नानि

वसन्तादिषड्ऋतूनां ज्ञापकवस्तूनि । अग्रतः । यन्त्राध्यायसमाप्त्यव्यवहितानन्तरम् । वक्ष्ये । कथयिष्ये । अत्रैवर्तुवर्णने यन्त्रप्रतिपादनमध्ये काव्यग्रन्थः प्रेक्षावतामुन्मत्तप्रलपितो लगतीति पृथक्तद्वर्णनाध्यायः कृतः इति भावः ।

अत्रोपपत्तिः—प्रथमचरणे मेषादित्रयान्तर्गतत्वेन दोर्ज्याधनुरेवार्कः । द्वितीयपदे षड्भाच्छुद्धेन भुजसंभवाद्दोर्ज्याधनुर्भाद्यं भुजः षड्भाच्छुद्धोऽर्को भवति । तृतीयपदे षड्भिरूनेन भुजसंभवाद्भुजः षड्भयुतोऽर्को भवति । चतुर्थपदे द्वादशभ्यः शुद्धेन भुजसंभवाद्भुजो द्वादशभ्यः शुद्धोऽर्को भवति । वर्षचरणानां पृथक्चिह्नानियमादृतुचिह्नेभ्यो नियतेभ्यो ज्ञानं युक्तियुक्तम् । मूलसंक्रमसमां विवस्वतः स्वस्वभाङ्गिमृतवोऽपि बिभ्रतीति विवाहवृन्दावनोक्तेरिति (अ. २ श्लो० ४) संक्षेपः । ननु—

> छायात्रयाग्रोद्भवमत्स्यमध्यस्पृक्सूत्रयोर्यत्र युतिः प्रदेशे ।
> याम्योत्तरा शङ्कुतलात्ककुद्भ्यां क्रमेण सौम्येन्तरगोलयोः स्यात् ॥
> मत्स्योदरद्वयगसूत्रयुतेश्च तस्या भागत्रयस्पृशति यद्भवतीह वृत्तम् ।
> छाया न तत्परिधिमुज्झति मध्यशङ्कोर्मध्यस्थभागमिव साधुमतिः कथंचित् ॥

शङ्कुप्रभाभ्रमणमण्डलयोस्तु मध्यं मध्यप्रभा भवति दक्षिणमुत्तरं चेति ।

श्रीपत्युक्तप्रकारेण समायां भूमौ त्रिज्यामितेन व्यासार्धेन वृत्तं कृत्वाऽभीष्टदिने तत्केन्द्रस्थद्वादशाङ्गुलशङ्कोरभीष्टकालत्रये छायाग्रचिह्नानि त्रीणि ज्ञात्वाऽन्यवाहितचिह्नाभ्यां प्रत्येकमत्स्यमुत्पाद्यैवं छायाग्रत्रितयेभ्यः सिद्धमत्स्यद्वयमुखपुच्छोदरस्पृक्सूत्रयोः स्वस्वमार्गानुसारेण प्रसारितयोर्यत्र प्रदेशे वृत्तान्तर्गते वा योगः स्यात्तत्रोत्तरदक्षिणगोलक्रमेण वृत्तकेन्द्रप्रदेशस्य दक्षिणोत्तरा । तच्छायाग्रान्तरमितेन व्यासार्धेन सूत्रसंपातवृत्तं छायाग्रत्रितयस्पृक्परिधिकं भाभ्रमवृत्तं भवति ।

पूर्ववृत्तकेन्द्राद्यस्मिन्भागे द्वितीयवृत्तकेन्द्रं तत्प्रतिस्पर्धिभागे तावतैवान्तरेण पूर्ववृत्तकेन्द्राच्चिह्नमुत्तरदक्षिणा उत्तरदक्षिणावधिरेखा दक्षिणोत्तररेखा । तदग्राभ्यां मत्स्यमुत्पाद्य पूर्वापरा रेखा तन्मुखपुच्छावधिरेखा । ततो याम्योत्तररेखायां पूर्वकेन्द्राद्यावताऽन्तरेण भाभ्रमवृत्तपरिधिर्लग्नस्तावन्मितमन्तरं मध्याह्नच्छायाया अभीष्टच्छायाग्रपूर्वापरसूत्रयोर्याम्योत्तरान्तरस्य भुजत्वेनाभीष्टच्छायाद्वयसंबन्धेन ज्ञातभुजाभ्यां भाद्यस्य भुजयोरित्यादिना पलभा । मध्याह्नच्छायायास्तत्काले भुजत्वादुक्तदिशा पलभाभुजसंस्कारेण कर्णवृत्ताग्रा । ततोऽस्या मध्याह्नच्छाया वर्गवेदेन्द्रयुतिमूलरूपकर्णानुरोधात्त्रिज्यावृत्तेऽग्रा । अस्या उक्तदिशा, क्रान्तिज्या । अस्या उक्तदिशा रविः । क्रान्त्यंशनतांशसंस्कारेणाक्षांशाः । छायाकर्णे छायाभुजस्तदा त्रिज्याकर्णे को भुज इत्यनुपातानीतदृग्ज्याया धनुर्नतांशाः ।

एवं मध्याह्नच्छायातो मध्याह्ने इत्यनेन सुखेन ज्ञानसंभवादाद्यन्तशङ्कुशिरसोरित्यादि गुरुभूतमग्रादिज्ञानार्थं कथं वक्तुमुचितमित्यत आह—भात्रितयादिति । छायाग्रत्रितयाद्भाभ्रमणं छायाग्रभ्रमणमार्गः साधितो वृत्तपरिध्यैकदेशरूपः सन्समीचीनो न

साधितोऽस्मात्कारणात् । दिगक्षांशौ । आद्यशब्दात्क्रान्तिज्यारव्यादिसाधनम् । चकारान्न सद्भवत्यत एव तदुपेक्ष्य मया भिन्नमार्गेणाग्रादिज्ञानमुपकल्प्योक्तम् । दिने छायाग्राणां बहुत्वसंभवाद्भिन्नभिन्नभात्रितयेन प्रत्येकं छायाभ्रमवृत्तं भिन्नं भवतीति दक्षिणोत्तररेखाया अपि भिन्नत्वम् । न वा सर्वच्छायाभ्रमणवृत्तानां याम्योत्तररेखायामेकत्र संपातो येन मध्याह्नच्छायानिश्चयज्ञानादुक्तं पलादिसाधनं संगतं स्यात् ।

अस्मन्मते तु स्वल्पान्तरादेकदिने एकद्युरात्रवृत्ताभ्युपगमेन च्छायाग्रभेदवद्भेदासंभवात्सर्वशङ्कुत्रितयेभ्य एकमुदयास्तसूत्रं सिद्ध्यति । अत एव च्छायाभेदेन कर्णभेदादेकदिने एव त्रिज्यावृत्ताग्राणामल्पान्तरेण तुल्यत्वेऽपि कर्णवृत्ताग्राणां बह्वन्तरेण भिन्नत्वसंभवः । कर्णानां बह्वन्तरेण भेदसंभवादिति भावः ॥३८॥

नन्वभीष्टदिने यष्टियन्त्रसाधितसूर्यस्याहर्गणादिद्वारा साधितसूर्येण बह्वन्तरेण विसंवादनिश्चयात्कथं यष्टियन्त्रात्सूर्यसाधनमुक्तमत आर्ययाऽऽह-छायातोऽग्रातो वेति ।

छायातः । मध्याह्नच्छायातः । अग्रातो वा । परम्परया क्रान्तिज्याद्वारोक्तवैपरीत्यप्रकारेण यः सूर्यो ज्ञातः स सक्रान्तिपातः सायनः स्यात् । तथा च युक्तायनांशादपम इत्यनेन क्रान्तिज्यायाः सायनानुरोधाद्वैपरीत्येन सायनार्कः सिध्यति । अहर्गणादिना स्पष्टोऽर्को निरयन एवेति तयोरयनांशतुल्यमन्तरं स्वतः सिद्धमिति युक्ततरो विसंवाद इति भावः । एवकारात्—अपमधनुषो मौर्व्यां क्षुण्णा गृहत्रयशिञ्जिनी । जिनलवभवाशिञ्जिन्याऽऽप्ता भवेद्दिनकृद्गुणः । कृतधनुरसौ तादृग्भार्द्धाच्युतोऽथ सषड्गृहो । भगणपतितः स्पष्टोऽर्कः स्यात्पदेषु चतुर्ष्वपि । इति श्रीपत्युक्तनिरयनार्कनिरासः ।

नन्वेवं निरयनार्कज्ञानं कथं स्यादत आह—पातोन इति । क्रान्तिज्यानीतसायनार्कः पातोनक्रान्तिभगणानीतग्रहेणायनसंज्ञेन हीनः । स्फुटभानुरहर्गणादिसाधितः स्फुटार्कः स्यात् । नन्वयनग्रहभगणविसंवादात्कतमपक्षायनग्रहेण हीनः कार्य इत्यतो निर्णयमाह—स्फुटभानून इति । स्वसत्ताकालेऽभीष्टदिने उक्तरीत्या सायनार्कं प्रसाध्याहर्गणादिना स्फुटार्कं च प्रसाध्य तयोरन्तरमयनग्रहे यत्पक्षेण स संवदति तत्पक्षेण स ग्राह्य इति भावः ॥३९॥

केदारदत्त :—छाया···आदि से स्पष्ट रवि का भुजांश ज्ञान—

छाया से अग्रा से त्रिप्रश्नोक्त विधि से क्रान्तिज्या ज्ञान पूर्वक स्पष्ट रवि की भुजांशज्या ज्ञान के अनन्तर भुजांशज्या सम्बन्धी चाप का मान सायन रवि का भुजांश हो जाता है ।

सौर वर्ष के चारों चरणों में, मेषादि से मिथुनान्त तक, कर्कादि से कन्यान्त, तुलादि से धनुषान्त, मकरादि से मीनान्त तक सूर्य का परम भुजांश ३ राशि तक होता है तो वेध से सिद्ध उक्त रवि भुजांश को वर्ष के किस चरण में माना जायगा ? संशय निराकरण के लिये, मेषादि सूर्य में उक्त भुजांश ही स्वयं स्पष्ट रवि है । वर्ष के दूसरे

चरण में वेघ से प्राप्त रवि भुजांश है तो उक्त भुजांश ६ राशि में घटाने से और तृतीय चरण में ६ राशि जोड़ने से और चतुर्थ चरण में १२ राशि में घटाने से स्पष्ट सूर्य का ज्ञान होता है।

मकरादि २, दो राशियों के सूर्य में शिशिर, मीन मेष के सूर्य में वसन्त, वृष मिथुन के सूर्य में ग्रीष्म, कर्क सिंह के सूर्य में वर्षा, कन्या तुला के सूर्य में शरद और वृश्चिक धनु के सूर्य में हेमन्त ऋतु होती है, इस प्रकार रवि भुजांश ज्ञान से मेषादि द्वादश राशिगत सायन सूर्य का ज्ञान होता है।

कुछ आचार्यों ने छाया भ्रमण से अर्थात इष्ट काल में १२ अंगुल शंकु की तीन समय की छाया, ज्ञान कर तीनों छायाग्रों लम्ब रेखाओं के (मत्स्य मुख पुच्छ रेखा) योगादि सम्बन्ध से छायाग्रत्रितयसूत्रस्पृक् परिधि में छाया का भ्रमण आदि (भाभ्रम) छाया भ्रमण वृत्तात्मक परिधि मार्ग में बताया है। स्वल्पान्तर से एक दिन सम्बन्धिनी अभीष्ट छाया भ्रमण वृत्त में हो सकता है। क्रान्तिगति का एकरूप वेग न होने से छाया का भ्रमण वृत्त में न होकर वृत्तों के वलयादि परिवलयादि मार्गों में होता है इत्यादि। विस्तारभय से यह विषय यहाँ अलम समझ कर विशेष ज्ञान के लिये म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी विरचित दिङ्मीमांसा, भाभ्रभ आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

तथा—उक्त प्रकार से वेधज्ञान से साधित स्पष्ट सूर्य का मान चल मेषादि, (नाडी क्रान्तिवृत्त का वर्त्तमान सम्पात) से होता है। यतः सारा फलित ज्यौतिष निरयण गणना से होने से वेधसाधित उक्त स्पष्ट रवि में पात नाम अयनांश कम करना चाहिए, जिससे अहर्गण से साधित स्पष्ट रवि के तुल्य फलादेश के उपयोग का स्पष्ट रवि हो जावेगा।

सौरसिद्धान्तानुसार पात नाम अयन की दोलायमान गति स्थिर सम्पात से २७° अंश पूर्व पुनः २७° पश्चिम पुनः २७ अंश पश्चिम और पुनः २७° पूर्व एवं २७ × २ = ५४ तथा ५४ × २ = १०८ अथवा २७ × ४ = १०८ अंश पूर्व पश्चिम सम्पात चलन से अयनांश का १ भगण होता है अतः ऐसी परिस्थिति में वेधसिद्ध सूर्य स्पष्ट को पात में कम करने से निरयण स्पष्ट रवि होता है। ततः स्पष्ट रविज्ञान से विलोम विधि से मध्यम रवि और मध्यम रवि ज्ञान के अनन्तर मध्यम रवि से बिलोम से अहर्गण ज्ञानकर अहर्गण ज्ञान के अनन्तर विलोम विधि से कल्पगत सौर वर्षों का ज्ञान करना चाहिए ॥३७॥३८॥३९॥

इदानीं धीयन्त्रं विवक्षुरादौ तत्प्रशंसामाह—

अथ किमु पृथुतन्त्रैर्धीमतो भूरियन्त्रैः
स्वकरकलितयष्टेर्दत्तमूलाग्रदृष्टेः ।
न तदविदितमानं वस्तु यद्दृश्यमानं
दिवि भुवि च जलस्थं प्रोच्यतेऽथ स्थलस्थम् ॥४०॥

अत्र प्रश्नः—

वंशस्य मूलं प्रविलोक्य साग्रं तत्स्वान्तरं तस्य समुच्छ्रयं च ।
यो वेत्ति यष्ट्यैव करस्थयाऽसौ धीयन्त्रवेदी वद किं न वेत्ति ।।४१।।

स्पष्टार्थम् ।।४०।।४१।।

अथ यष्ट्या ध्रुववेधेन पलभामाह—

यष्ट्यग्रमूलसंस्थं विद्ध्वा ध्रुवमग्रमूलयोर्लम्बौ ।
बाहुर्लम्बान्तरभूर्लम्बोच्छ्रायान्तरं कोटिः ।। ४२ ।।
कोटिर्द्वादशगुणिता बाहुविभक्ता पलप्रभा ज्ञेया ।

वा० भा०—अत्र समायां भूमौ स्थित्वा गणकेन वेधः कर्तव्यः । **यष्ट्यग्रमूलसंस्थमिति** । यष्टेरग्रे मूले चैकहेलया यथा ध्रुवः संलग्नो दृश्यते तथा यष्टिर्धार्या । ततस्तदग्रान्मूलाच्च लम्बनिपातौ कार्यौ । भुवि लम्बनिपातयोरन्तरे यावन्त्यङ्गुलानि तावान् भुजः । एवं लम्बौच्च्ययोरन्तरे यावन्ति तावती कोटिः । यष्टिप्रमाणं कर्णः । सर्ववेधेष्वप्ययमेव विधिर्ज्ञेयः । ततोऽनुगतः । यद्यनेन बाहुनैतावती कोटिस्तदा द्वादशांगुलेन किमिति फलं पलभा स्यात् ।।४२।।

मरीचिः—अथावशिष्टं धीयन्त्रं पूर्वोक्तयन्त्रान्यथासिद्धिकर्तृत्वेनाभ्यर्हितमालिन्या प्रतिजानीते—अथ किमु इति ।

अथ पूर्वोक्तयन्त्रप्रतिपादनश्रमानुभवानन्तरम् । धीमतो बुद्धिः स्वतो यन्त्रम् । तद्वतो गणकस्य । भूरियन्त्रैर्बहुभिः प्रागुपपादितैर्यन्त्रैः प्रतिपादेन संजाता महाग्रन्था येषां तैरित्यर्थः । किमु किं प्रयोजनमपि तु नैव प्रयोजनमित्यर्थः । कुतोऽतः कारणमाह—नेति । दिवि । आकाशे । भूमौ । चः समुच्चये । भुवो भेदद्वयमाह—जलस्थमिति । स्थलस्थम् । निर्जलप्रदेशस्थम् । यद्वस्तु दृश्यमानम् । नयनगोचरम् । तत् तस्य धीयन्त्रवतः पुरुषस्य । अविदितमानम् । अज्ञातं प्रमाणं यस्य तादृशं न स्यात् । ज्ञातमानं भवेदित्यर्थः ।

ननु केवलधीयन्त्राज्ज्ञातमानं वस्तु कथं स्यान्नहि विना किंचिदाश्रयं बुद्धया ज्ञातुं शक्यते इत्यत आह—स्वकरकलितयष्टेरिति । निजहस्ते गृहीता यष्टिः शलाका स्वाभिमतप्रमाणा येनैतादृशस्य धीयन्त्रवतः पुरुषस्य । तथा च शलाकाश्रयमात्रेण धीमतस्तज्ज्ञानं शक्यमेवेति भावः । ननु गृहीतयष्ट्या कथं वा तस्य तज्ज्ञानं संवन्धाभावादत आह—दत्तमूलाग्रदृष्टेरिति । दत्ता गृहीतयष्टिमूलाग्रयोर्दृष्टिरेका येनैतादृशस्य । तथा च मूलाग्रैकसमसूत्रवस्तुदर्शनरूपवेधसम्बन्धाद्धीमतस्तज्ज्ञानं भवेदेव । निर्बुद्धेस्तु तादृशवेधसद्भावेऽपि तन्मानज्ञापकप्रकारोपकल्पनसामर्थ्याभावान्न तज्ज्ञानमिति भावः । एवं च दृश्यमानवस्तुप्रमाणज्ञानं धीयन्त्राद्भवतीत्यन्येषामुपयोगाभाव इति भावः ।

नन्वेतावता धीयन्त्रमभ्यर्हितमपि तस्याप्रत्यक्षत्वेनानुपादेयत्वमित्यत आह–प्रोच्यत इति । अथातः कारणादित्यर्थः । अतः षाठश्चेत्साधुः । प्रकर्षेण तत्त्वविचारेण तन्मार्गज्ञानार्थं धीयन्त्रसंबन्ध्युपकल्पितप्रकारो निरूप्यते प्रकारस्य बुद्ध्युपजीव्यत्वाद्धीयन्त्रत्वमिति ॥ ४० ॥

ननु पूर्वप्रतिपादितयन्त्राणां दिनगतादिसाधने प्रयोजनं धीयन्त्रेण दृश्यमानवस्तुमानसाधनात्तदसाधनादित्यतो धीयन्त्रनिरूपणं विना बिषयाश्रयमशक्यमित्याशङ्कानिवारकतत्प्रश्नकथनपूर्वकं तदुत्तरमिन्द्रवज्रयाऽऽह–वंशस्य मूलमिति ।

यो गणकः । करस्थया हस्ते धृतया । यष्ट्या । अभिमतशलाकया । वंशस्योपलक्षणादूर्ध्वाधरस्थितवस्तुनः । मूलं भूमिसक्ततद्वस्तुप्रदेशम् । प्रविलोक्य प्रकर्षेण दृष्ट्वा । यष्टिमूलाग्रतद्दृक्सूत्रेण मूलं विद्ध्वेत्यर्थः । अग्रं वस्तुन ऊर्ध्वस्थितमग्रभागम् । चकारात्करस्थया यष्ट्या विद्ध्वेत्यर्थः । तत्स्वान्तरम् । वंशमूलस्वाश्रयभूप्रदेशयोरन्तरं मूल(भू)प्रदेशसूत्रमानमित्यर्थः । तस्य वंशस्य वस्तुन इत्यर्थः । समुच्छ्रयम् औच्च्यमानम् । चकारो मूलाग्रवेधक्रमेणानयोः क्रम इत्यर्थकः । वेत्ति जानाति । असौ गणकः । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः । धीयन्त्रवेदी धीयन्त्रज्ञः किं कतमं वस्तु न वेत्ति न जानाति । इति वद । कथय । अपि तु सर्वं वेत्तीत्यर्थः । तथा च सूर्यवेधेनाग्रवेधादुन्नतांशज्ञानादुन्नतघटीज्ञानं पूर्ववद्भवत्येवेति पूर्वयन्त्राणां व्यर्थतेति भावः ॥४१॥

अथ धीयन्त्रान्दोलसंबन्धिपदार्थज्ञानं भवतीति स्पष्टयितुं पलभाज्ञानं प्रश्नोत्तरं चाऽऽर्याम्यामुद्गीत्याऽऽर्यापूर्वार्धेन चाऽऽह—यष्ट्यग्रमूलेति ।

यष्ट्यग्रमूलसंस्थम् । अभिमतयष्टेर्युगपन्मूलाग्रयोः समसूत्रेण स्थितम् । ध्रुवमुत्तरध्रुवनक्षत्रम् विद्ध्वा एकदृष्ट्या दृष्ट्वा । अग्रे मूले चैकहेलया यथा ध्रुवः संलग्नो दृश्यते तथा यष्टिं धृत्वेत्यर्थः । यष्टेरग्रमूलयोः संबद्धौ लम्बौ भूपर्यन्तं निपात्यौ । ततो लम्बान्तरभूः । लम्बनिपातभूप्रदेशयोरन्तरभूमिप्रदेशसूत्रमानं बाहुर्ज्ञेयः । लम्बोच्छ्रायान्तरम् । लम्बसूत्रयोरन्तरसूत्रमानं लम्बाकारं कोटिर्ज्ञेया । ततः कोटिर्लम्बसूत्रान्तरमानम् । द्वादशभिर्गुणिता बाहुविभक्ता लम्बनिपातभूप्रदेशयोरन्तरसूत्रेण भुजेन भक्ता फलं पलभा ज्ञेया ।

अत्रोपपत्तिः—निरक्षदेशे भूगर्भक्षितिजवृत्तस्थत्वेन यष्ट्या ध्रुववेधे यष्टेर्मूलाग्रे भूसंलग्ने इति यष्टितुल्यं लम्बनिपातान्तरं लम्बाभावाच्च लम्बान्तराभावः । ततोऽन्यत्र ध्रुवस्य क्षितिजादुन्नतत्वेन तद्ध्रुववेधे यष्टिस्तिरश्चीना भवतीति लम्बनिपातान्तरं लम्बयोस्तुल्यत्वाभावाद्यष्टेरल्पं भवति । लम्बौच्च्यान्तरं च तत एव भवति ।

तथा च लम्बौच्च्यान्तरवशेन ध्रुवौच्च्यम् । त एवाक्षांशाः । ऊर्ध्वाधरस्य कोटित्वेन लम्बोच्छ्रायान्तरं कोटिर्यष्टिमूलात्सूत्रेण यष्ट्यग्रलम्बसूत्रे यत्स्थानं तयोरन्तरं सूत्रं लम्बनिपातान्तरभुजतुल्यं भुजो याम्योत्तररूपान्तरत्वात् । यष्टिः कर्णः । अत्रौच्च्यवशेनाक्षांशसद्भावादक्षक्षेत्रेऽक्षज्याया भुजत्वादप्येतत्क्षेत्रानुरोधात्कोटित्वम् । लम्बज्यायां भुजत्वं

कल्पितम् । तेनाक्षज्यास्थानापन्नपलभायाः कोटित्वम् । द्वादशाङ्गुलशङ्कोर्भुजत्वमिति । लम्बनिपातान्तरभूमानभुजे लम्बौच्च्यान्तरं कोटिस्तदा द्वादशाङ्गुलशङ्कुभुजे केत्यनुपातेन पलभा । अन्यथा तदसिद्धेः ।

न चैतत्क्षेत्र एव भुजकोटयोर्व्यत्यासादुक्तं संगच्छते इति वाच्यम् । ऊर्ध्वाधरकोटेरपलापेन वक्ष्यमाणानुपपत्तेः । पलभासिद्धितात्पर्येण कोटित्वेन तत्सिद्धावक्षतेश्च । एवं सूर्यवेधाद्यष्टिकर्णे लम्बोच्छ्रायान्तरं कोटिर्लम्बनिपातान्तरं भुजस्तदा त्रिज्याकर्णे क इत्यनुपातेन शङ्कुदृग्ज्ये भवतः । आभ्यां त्रिप्रश्नोक्तविधिना काल इति धीयन्त्रस्य गोलसंबन्धोऽस्त्येवेति भावः ॥४२॥

केदारदत्तः—बुद्धि ही यन्त्र है—

विशाल ग्रन्थ रचना और गुरु शिष्य परम्परा से उनके अध्ययनाध्यापन से बुद्धि के साथ शास्त्र सम्बर्धन होता है यह सब तो बुद्धि साध्य है, अत एव ज्यौतिष के बृहद् ग्रन्थोक्त अनेकों यन्त्रों के वर्णन से तभी लाभ हो सकता है जब बुद्धि भी साथ दे ।

अत एव अपने हाथ में स्थापित सुन्दर यष्टि के मूल से अग्रभाग की दृष्टि वशेन आकाश में ग्रह तारा आदिकों के वेध से दृश्यमान आकाश से कोई भी मान अविदित नहीं रहता....आकाशस्थ पातालस्थ और जलस्थ सभी वस्तु दृश्य होकर उनकी सभी जानकारियाँ सुलभ होती हैं, अर्थात् बुद्धि ही ग्रह गति ज्ञान के लिये एक महान् यन्त्र हो जाती है ।

प्रश्न

किसी बांस का मूल और अग्र भाग को देखकर और दृष्टा से वंश की अन्तर भूमि और वांस की ऊँचाई भी देखकर ज्ञात होने पर जो हस्तगत यष्टि से वांस की ऊँचाई, अपने से वांस तक की अन्तर भूमि जान सकता है वही बुद्धियन्त्र का ज्ञाता क्या क्या नहीं जान सकता है । अर्थात् तीव्र बुद्धि का धीयन्त्रवेदी गणक ही सब कुछ वही समझ सकता है । तात्पर्य बुद्धि की प्रधानता से है ।

यष्टि से ध्रुववेध द्वारा पलभा ज्ञान—

यष्टि के अग्रभाग से ध्रुव का वेध कर यष्टि के अग्रभाग से भूमिगत लम्ब मान और यष्टि मूल से भूमिगत लम्बमानों के अन्तर मान को लम्बमान मान कर तथा दोनों लम्बमूलों की मध्यगत भूमि को भूमि मान कर और यष्टि को कर्ण मान कर जो एक अक्षक्षेत्र का सजातीय त्रिभुज बनता है उस आधार से अक्ष क्षेत्रानुपात से

$$\frac{\text{ध्रु भू} \times १२}{\text{ध्रु भू भू}} = \frac{\text{लम्बौच्चयान्तर कोटि} \times १२}{\text{अन्तर भूमि}}$$ =पलभा उपपन्न होती है ॥४०॥४१॥४२॥

इदानीं वंशादिवेधमाह—
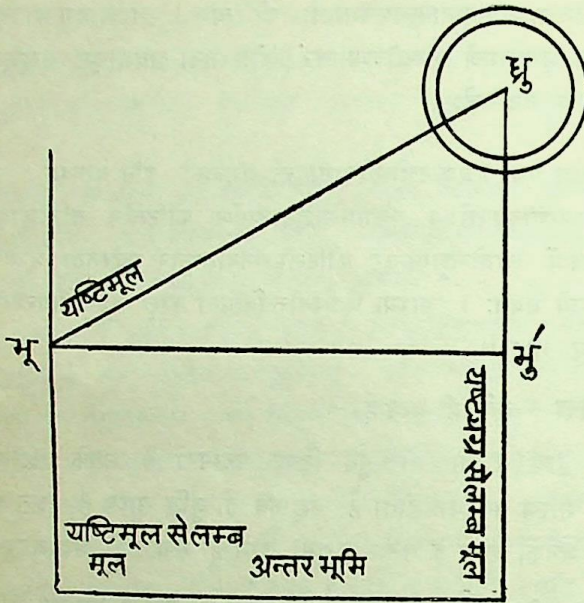
विद्ध्वैवं वंशतलं दृष्टयुच्छ्रायाहताद्वाहोः ॥४३॥

कोटचा लब्धं ज्ञेयं स्ववंशमध्ये महीमानम् ।

विद्ध्वाऽथो वंशाग्रं भूमानं कोटिसंगुणं भक्तम् ॥४४॥

दोष्णा वंशोच्छ्रायो दृष्टयुच्छ्रायेण संयुतो ज्ञेयः ।

उदाहरणम्—

पञ्चशक्राङ्गुला १४५ यष्टिरष्टषष्टिर्दृगुच्छ्रायः ।

षट् करास्तलवेधो दोः कोटिः सप्तदशाङ्गुला ॥

अग्रवेधे रसेशा ११६ दोः कोटिस्तुरगकुञ्जराः ८७।

वंशस्य यस्य तन्मानं चाऽऽत्मवंशान्तरं वद ।

वा० भा०—यष्टिः १४५ । दृगुच्छ्रायः ६८ । तलवेधे बाहुः १४४ । कोटिः १७ । अग्रवेधे बाहुः ११६ । कोटिः ८७ । अत्र तलवेधेऽग्रवेधे वा ध्रुववद्यष्टयग्रमूललम्बयोरन्तरभूर्भुजः । एवं यथोक्तकरणेन लब्धमात्मवंशान्तरम् ५७६ । वंशौच्च्यम् ५०० ।

अत्रोपपत्तिः । आत्मवंशान्तरभूमिर्भुजः । दृष्टयुच्छ्रायः कोटिः । दृष्टिवंशमूलयोर्बद्धं सूत्रं कर्णः । एतत्त्र्यस्रानुसारमेव यष्टचा वेधेन त्र्यस्रमुत्पद्यते । तच्च

लम्बान्तरभूर्भुजः । लम्बौच्च्यान्तरं कोटिः । यष्टिः कर्णः । अतोऽनेनानुपातः । यद्यनया कोट्याऽयं भुजो लभ्यते तदा दृगुच्छ्रायकोट्या क इति । फलमात्म-वंशान्तरभूमिः । एवमग्रवेधेऽपि । एवं वंशमूलादुपरि दृष्ट्युच्छ्रायमितेऽन्तरे चिह्नं कल्प्यम् । तद्दृष्ट्योरन्तरे रेखा भूमानमिता स भुजः । चिह्नोपरिस्थं वंशखण्डं कोटिः । दृष्टिवंशाग्रयोर्बद्धं सूत्रं कर्णः । एतत्त्र्यस्रानुसारमेव वेधस्त्र्यस्रं भवत्यतो-ऽनुपातः । यदि वेधभुजेन वेधकोटिर्लभ्यते तदा भूमितेन भुजेन केति । फलं चिह्नोपरितनवंशखण्डम् । तद्दृष्ट्युच्छ्रायेण युतं सकलवेणुप्रमाणम् ॥४३॥४४॥

मरीचिः—अथ तत्स्वान्तरमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—विद्ध्वेति । एवं यष्ट्यग्रमूलसंस्थ-मिति प्रकारेण वंशतलं वस्तुनो मूलं विद्ध्वा । अग्रमूलयोर्लम्बावित्यादिना प्रागुक्तेन बाहु-कोटी ज्ञेये इति शेषः । ततो दृष्ट्युच्छ्रायाहतात् । वेधसमये यो दृष्टेरुच्छ्रायो यष्टिमूल-संबन्धिलम्बतुल्यस्तेन गुणितात् । भुजालम्बनिपातान्तरात् । लम्बौच्छ्रायान्तररूपकोट्या । भागेन फलम् । स्ववंशमध्ये । आत्मवस्तुनोरन्तराले । भूप्रमाणं ज्ञेयम् ।

अथ तस्य समुच्छ्रयं चेति प्रश्नस्योत्तरमाह—विद्ध्वेति । अर्थो तत्स्वान्तरज्ञानसंपाद-नोत्तरम् । द्वितीयप्रश्नोत्तरं पूर्वप्रश्नोत्तरज्ञानं विना न संभवतीति सूचनार्थमिदमुक्तम् । वंशाग्रम् । ऊर्ध्वाधरवस्तुन ऊर्ध्वमग्रम् । प्रागुक्तरीत्या विद्ध्वा । प्रागुक्तविधिना भुजकोटी ज्ञेये । ततो भूमानम् । प्रागानीतात्मवस्त्वन्तरमहीमानम् । कोटिगुणितम् । भुजेन भक्तम् । फलं वंशोच्छ्रायः । ऊर्ध्वाधरवस्तुन औच्च्यम् ।

ननु प्रत्यक्षविरुद्धमेतदत आह—दृष्ट्युच्छ्रायेणेति । अग्रवेधकालिकयष्टिमूललम्ब-प्रमाणेनेत्यर्थः । संयुतः प्रागानीतवंशोच्छ्रायो युतः । वंशः । वंशस्य वस्तुनो मानं नहि पूर्वानीतो वंशोच्छ्रायो वंशमानं येन बाधः, किंतु दृष्टेरूर्ध्वसमसूत्रेण वंशखण्डमत एव दृष्ट्युच्छ्राययोगात्संपूर्णं वंशमानमिति भावः ।

अत्रोपपत्तिः—आत्मवस्तुनोरन्तराले भूप्रदेशसमसूत्रं भुजः । दृष्ट्युच्छ्रायः कोटिः । दृग्वस्तुमूलयोरन्तरसूत्रं कर्णं इति महत्क्षेत्रान्तर्गतमेव मूलवेधजनितलघुक्षेत्रम् । अतो लघुकोट्या लम्बोच्छ्रायान्तररूपया लघुभुजो लम्बनिपातान्तरभूमितुल्यस्तदा इष्टयुच्छ्राय-कोट्या यष्टिमूललम्बतुल्यया क इति भुजमानमात्मवस्त्वन्तराले भूमिप्रमाणम् । एवं वंशाग्रवेधे वंशमूलादुपरि इष्ट्युच्छ्रायमितेऽन्तरे वंशे चिह्नं कल्प्यम् । तद्दृष्ट्योरन्तररेखा-ऽऽत्मवंशान्तरभूमिता भुजः । चिह्नोपरिस्थं वंशखण्डं कोटिर्दृष्टिवंशाग्रयोः सूत्रं कर्ण इति महत्क्षेत्रान्तर्गतमेवाग्रवेधजनितलघुक्षेत्रमतो लगुभुजेन लघुकोटिस्तदाऽऽत्मवंशान्तरभूमित-भुजेन केत्यनुपातेन इष्ट्युच्छ्रायादुपरि वंशखण्डम् । ४० । ३० ।

अथाल्पबुद्धेरेतच्चमत्कारज्ञानदार्ढ्यार्थमुदाहरणं विवक्षंस्तावद्ग्रन्थासंगतत्वपरिहाराय तत्प्रतिजानीते—उदाहरणमिति । उक्तार्थस्य निदर्शनमुच्यत इति शेषः ।

अथ श्लोकद्वयेन प्रतिज्ञातमाह—पञ्चशका१४५ङ्गुलेति । यष्टिर्वेधशलाका पञ्च-चत्वारिंशदधिकशताङ्गुलदीर्घा । दृष्ट्युच्छ्रायोऽष्टषष्टिमिताङ्गुलः । वक्ष्यमाणमूलाग्रभुज-

कोट्योः शुद्धयर्थं यष्टिमानकथनं न तु मूलाग्रवेधयोस्तुल्ययष्टयपेक्षार्थमिति ध्येयम् । यस्य वंशस्य मूलवेधे दोः । लम्बनिपातान्तरभूमिः षट्हस्ता । सर्वत्राङ्गुलानां सत्त्वाच्च-तुश्चत्वारिंशदधिकशताङ्गुलो भुज इत्यर्थः । कोटिर्लम्बौच्च्यान्तरं सप्तदशाङ्गुलप्रमाणा । तस्यैव वंशस्याग्रवेधे भुजः षोडशाधिकशताङ्गुलानि कोटिः सप्ताशीत्यङ्गुलानि । एवं भुजादिकज्ञानात्तन्मानं तद्भुजादिसंबन्धिनो वंशस्य प्रमाणं कथय ॥४३॥४४॥

केदारदत्तः—वंशादि वेध प्रकार—

यष्टि से इस प्रकार दो बांसों का वेध कर दृष्टि की ऊँचाई से भुज को गुणा कर कोटि से भाग देने से लब्ध फल, अपने और बाँस के मध्य की भूमि का मान होता है।

वंशाग्र भूमिमानको कोटि से गुणा कर, भुज से भाग देने से लब्ध फल को दृष्ट्यु-च्छ्रिति में जोड़ देने से बाँस की ऊंचाई का ज्ञान होता है।

उदाहरण से भी बताया जा रहा है--

यष्टि का मान = १४५, दृष्ट्युच्छ्रिति (दृष्टा की ऊंचाई) = ६८ हाथ, तलवेध बाहु = भुज = १४४ कोटि = १७, अग्र वेध से भुज = ११६ कोटि = ८७ ।

उपपत्ति—वेधकर्त्ता और बाँस के बीच की भूमि = भुज दृष्ट्युच्छ्राय = कोटि, दृष्टि और वंश के मूल में वद्ध सूत्र = कर्ण । इसी के अनुसार यष्टि वेध से पूर्ववत् अक्ष क्षेत्र साजात्य क्षेत्र बनता है। जहाँ पर लम्बान्तर = भुज, लम्बौच्च्यान्तर = कोटि, और यष्टि = कर्ण ।

अनुपात से कोटि में भुज तो दृगुच्छ्राय कोटि में फल = आत्मवंशान्तर भूमि ।

अग्रवेध से भी वंश मूल से ऊपर दृगुच्छ्रायमित अन्तर में चिह्न करने चाहिए । दोनों दृष्टियों के अन्तर रेखा = भूमि चिह्न के ऊपर का बाँस खण्ड = कोटि, दृष्टि और वंशाग्र-बद्ध सूत्र = कर्ण ।

अनुपात से—

$$\frac{\text{वेध कोटि} \times \text{भूमिमित भुज}}{\text{वेध भुज में}} = \text{चिह्न से ऊपर तक बाँस खण्ड ।}$$

दृष्टयुच्छ्रिति + वंश खण्ड = बाँस मान उपपन्न होता है।

गणित के उदाहरण से यथा—

मूलवेध में भुज = १४४, दृष्टयुच्छ्रिति = ६८

१४४ × ६८ = ९७९२ में मूलवेध कोटि १७ से भाग देने से ५७६ उपलब्ध हो जाता है।

$$\text{तथा} \quad \frac{\text{अग्रवेध कोटि} \times १४४}{\text{अग्रवेध भुज}} = \text{४३२ वंश की ऊँचाई ।}$$

बाँस की ऊँचाई + दृगुच्छ्रिति = ३३२ + ६८ = ५०० । समग्र बाँस की ऊँचाई का मान उपलब्ध होता है ॥४३॥४४॥

अथ केवलाग्रवेधेनाऽऽह—

अग्रं विद्ध्वोर्ध्वस्थः पुनरुपविष्टश्च तद्विध्येत् ।।४५।।
निजभुजभक्ते कोटी तदन्तरहृतो दृगौच्च्यविश्लेषः ।
भूमिर्वंशौच्चयमतः पृथक् पृथक् पूर्ववज्ज्ञेयम् ।।४६।।

अत्र प्रश्नः—

ऊर्ध्वस्थस्य गृहादिभिर्व्यवहितस्याप्यग्रमात्रं सखे
वंशस्य प्रगुणस्य यस्य सुसमे देशे समालोक्यते ।
अत्रैव त्वमवस्थितो यदि वदस्यस्यान्तरं चोच्छ्रयं
मन्ये यन्त्रविदां वरिष्ठपदवीं यातोऽसि धीयन्त्रवित् ।।४७।।

उदाहरणम्—

इष्टयष्टयोर्ध्वसंस्थेन वंशाग्रं विध्यता भुजः ।
दृष्टश्चतुष्करोऽथान्ययष्ट्या खाङ्काङ्गुलः सखे ।
निविष्टेन तथा कोटिरङ्गुलं वेधयोरपि ।
आत्मवंशान्तरं ब्रूहि वंशोच्छ्रायं च वेधवित् ।।४८।।

वा० भा०—ऊर्ध्ववेधे भुजः ९६। कोटिः १। उपविष्टवेधे भुजः ९०। कोटिः १। अत्रेष्टौ दृगुच्छ्रायौ कल्पितौ ७२। २४। यथोक्तकरणेन लब्धं भूमानं हस्ताः २८८०। वंशौच्च्ये च हस्ताः ३३।

अत्रोपपत्तिरव्यक्तकल्पनया। तत्राऽऽत्मवंशान्तरभूः या १ यष्ठ्यूर्ध्ववेधभुजेन ९६ अनेनेयं कोटिर्लभ्यते तदा यावत्तावता किमिति। फलं पूर्ववद्दृगुच्छ्रायेण युतं जातं वंशमानम् या १ रू ६९१२ एवमुपविष्टवेधेन च वंशमानम्। या १ रू
९६
२१६० एतौ समाविति समच्छेदीकृत्य छेदगमे शोधनार्थं न्यासः। या ९०
९०   या ९६
रू ६२२०८०। समीकरणेन लब्धं भूमानाङ्गुलानि ६९१२०। वंशयो-
रू २०७३६०
रुत्थापितयोरुभयत्रापि वंशमानं सममेवाङ्गुलानि ७९२। ततश्चैवं क्रियोपपद्यत इत्यर्थः ।।४५।।४६।।४७।।४८।।

मरीचिः—नन्वत्राऽऽत्मवंशान्तरोद्देशाभावात्कथं वंशमानसिद्धिरत आह—आत्म-वंशान्तरमिमिति। मूलवेधसंबन्धिभुजकोटिज्ञानादात्मवंशान्तरं प्रथमानयेत्युभयोः प्रश्नयो-

रुदाहरणाप्रदर्शनार्थमात्मवंशान्तरं नोद्दिष्टम् । अन्यथा षट्करा इत्याद्यर्योद्दिष्टस्य व्यर्थतापत्ते रिति भावः । यथा मूलवेधे भुजः १४४ । दृष्टयुच्छ्रायः ६८ गुणितः ९७९२ मूलवेधकोटया १७ भक्तः फलमात्मवंशान्तराङ्गुलानि ५७६ । अग्रवेधकोटया ८७ गुणितानि ५०११२ । अग्रवेधभुजेन ११६ भक्तानि । फलं वंशोच्छ्रायः ४३२ दृष्टयुच्छ्राय ६८ युतो वंशमान-मङ्गुलात्मकं ५०० । ४६ । ३० ॥४३॥४४॥

ननु व्यवधानान्मूलवेधासंभवेनाऽऽत्मवंशान्तरा(र)ज्ञान(ना)संभवात्कथमग्रमात्रदर्शनेन वंशमानज्ञानं स्यादित्यत आर्योत्तरार्धेनाऽऽर्यया चाऽऽह—अग्रं विद्ध्वेति ।

ऊर्ध्वस्थोऽग्रं बिद्ध्वा भुजकोटी एकत्र स्थापयेत् । पुनर्द्वितीयवारमुपविष्टः सन्तदग्रं विध्येत् । चकारात्तत्संबन्धिभुजकोटी अपरत्र स्थापयेदित्यर्थः । ततः स्वस्व भुजेन स्वस्व-कोटी भक्ते कार्ये । फलयोरन्तरेण भक्तो दृगौच्च्यविश्लेषः । ऊर्ध्वस्थोपविष्टसंबन्धिदृगुच्छ्रा-ययोर्वियोगः । फलमात्मवंशान्तरभूमानम् । अतः । भूमानात् । पृथक्पृथक् ऊर्ध्वस्थोपविष्ट-बेधसंबन्धिभुजकोटिभ्याम् । पूर्ववत् । भूमानं कोटिसंगुणमित्यादिना प्रत्येकं वंशौच्च्यं वंशमानतुल्यं ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिरेकवर्णसमीकरणेन आत्मवंशान्तरभूमानंया १ अस्मादूर्ध्वस्थवेधसिद्धकोटिस्तदा यावत्तावन्मितात्मवंशान्तरभूतुल्यभुजेन केत्यनुपातेनोर्ध्वस्थवेधसिद्धभुजेनोर्ध्वस्थवेधसिद्धकोटेः फलं यावत्तावद्गुणमूर्ध्वस्थदृगुच्छ्रायादुपरि वंशखण्डं याफ १ । एवमुपविष्टवेधसिद्धभुजभक्त-कोटेः फलं यावत्तावद्गुणमुपविष्टदृगुच्छ्रायादुपरि वंशखण्डं याफ १ एते वंशखण्डे स्वस्व-दृगुच्छ्राययुते वंशमानतुल्ये भवतः । वंशस्यैकत्वात् ।

अतस्तुल्ययोः पक्षयोः शोधनार्थं न्यासः । या० फ १ दृ १ । अत्रोर्ध्वस्थदृगौच्च्यादुप-विष्टदृगौच्च्यस्य न्यूनत्वनिर्णयादूर्ध्वं—या० फ १ दृ १ । स्थफलादुपविष्टफलमधिकमे-वान्यथा स्था(सा)म्यासंभव इति ध्येयम् । एकाव्यक्तमित्यादिना तदन्तरहृतो दृगौच्च्य-विश्लेषो भूमानमुपपन्नम् । अस्मादग्रवेधकोटिभुजाभ्यां वंशौच्च्यज्ञानं प्रागुक्तमेव । भूमानं कोटिसंगुणं भक्तम् । दोष्णा वंशोच्छ्राय इत्यनेन स्वस्वभुजभक्तकोटी भूमानगुणिते वंशोच्छ्रायौ । तयोरन्तरं वंशोच्छ्रायान्तरम् । तत्र लाघवात्स्वभुजभक्तस्वकोटयोरन्तरमेव भूमानगुणितं कृतं समत्वात् ।

तथा च भूमानगुणितं स्वभुजभक्तस्वकोटयोरन्तरं वंशोच्छ्रायान्तररूपमितभूमाने सिद्धम् । कथमन्यथा भूमानगुणितं तद्वंशोच्छ्रायान्तरं संगच्छत इति । अतो वंशोच्च्यभेदेऽपि भूमानभेदाभावाद्वंशौच्च्यान्तरतुल्यवंशेऽपि भूमानं तदेव । तथा दृष्टयुच्छ्रायभेदेऽपि भूमाना-भेदाद्दृष्टयुच्छ्रायान्तरतुल्यदृष्टयुच्छ्राये भूमानं तदेवेति रूपमितभूमानसंबंधिवंशोच्छ्रायान्त-रेण स्वभुजभक्तस्वकोट्योरन्तरमितेन स्वरूपं भूमानमात्मवंशान्तरस्थितं लभ्यते तदा दृष्ट-युच्छ्रायान्तरेण किमित्यनुपातेन तदनन्तरहृतो दृगौच्च्यविश्लेषो भूमिरित्युपपन्नम् ।

वंशमूलवेधसंबन्धेन भुजकोटयोरज्ञानादग्रबेधसंबद्ध भुजकोटिभ्यां संबन्धाभावेन दृष्टयु-

च्छ्रायाहताद्वाहोः कोटचा लब्धमिति पूर्वोक्तेन भूमाना(न)सिद्धिरिति केचित्। तन्न। वंशोच्छ्रायदृष्टचुच्छ्रायाभ्यां प्रत्येकं संबन्धस्यैतत्तुल्यत्वादुक्तरीत्या भूमानसिद्धयापत्तेः। अन्तरानुपातासाधारणसंबन्धानुक्तेश्च।

लक्ष्मीदासास्तु व्यवधानाभावेन समग्रवंशदर्शनेन पूर्वोक्तप्रकारविषयेऽपि वंशाग्रतदासन्नाधःप्रदेशवेधाभ्यां ज्ञातभुजकोटिभ्यां वेधावधिवंशौच्च्ययोरेकवंशे ज्ञानप्रकारान्तरबोधकमिदं पद्यं पाठन्तरभिन्नम् तद्यथा—

अग्रं विद्ध्वोर्ध्वस्थः पुनरपि तदधस्तथा विदध्येत्।
निजभुजभक्ते कोटी तदन्तरहते दृगौच्च्यविश्लेषः॥
भूमिर्विश्लेषहृता पृथक्पृथक्पूर्ववज्ज्ञेयमिति।

पूर्ववद्वंशतलमग्रं च विद्ध्वाऽऽत्मवंशान्तरभूमानं भुजकोटी विज्ञाय पुनरूर्ध्वं तदधो वा दृग्विनिधाय वंशाग्रं विध्येत्। तत्रापि भुजकोटी ज्ञात्वा भुजयोरन्तरेण कोटी गुणनीये। स्वस्वभुजाभ्यां भाज्ये। लब्धं दृगौच्च्यविश्लेषः स्यात्। निजवंशान्तरभूर्दृगौच्च्यविश्लेषेण गुणनीया ततः पृथक् पृथक् पूर्ववज्ज्ञेयम्।

एतदुक्तं भवति। विश्लेषहृता भूर्भुजान्तरेण भक्ता वंशोच्छ्रायः पृथक्पृथक् भवतीत्यर्थः। यथा–अग्रवेधे भुजः ४ कोटि ६। ५५। मूलवेधसिद्धभु–५ जकोटि–४भ्यां दृष्टचुच्छ्रायाद्भू १०० मानं १२५ अनेनाग्रवेधकोटि–६। ५५। गुणिता ८६४। ३५ भुजेन ४ भक्ताऽऽप्तं २१६। ८। वंशौच्छ्रायः। अथाग्राधोभागे विद्धे भुजः ४। ३०। कोटिः ६। ३७। एतद्गुणं भूमानं ८२७। ५। भुजेनाऽऽ ४। ३०। प्तं १८३। ४८। वंशोच्छ्रायः। दृगुच्छ्रायेण १०० युतो वंशामानत्रे धावध्येकवंशे ३१६। ९। २८३। ४८। अथाग्रतरासन्नाधःप्रदेशत्रेधसिद्ध भुजयो ४। ४। ३०। रन्तरेण०। ३०। हते कोटी। तत्राऽऽद्या ३। २८। अपरा ३। १९। स्वभुजाभ्यां ४। ४। ३०। क्रमेण भक्ते दृगौच्च्यान्तरे ९०। ५२। ०। ४४। आभ्यां भूमाने १२५ गुणिते १०८। ८२। भुजान्तरेण ०। ३०। भक्ते। स्वकीयौ वंशोच्छ्रायौ। २२६। १८४। दृष्टचुच्छ्राययुतौ पूर्ववत्। तेनाऽऽद्यवेधे ३१६। अन्तरवेधे २८४ वंशदैर्घ्ये वेधावधि।

अत्रोपपत्तिः—यदेताभ्यां भुजाभ्यामेते लम्बोच्छ्रायान्तररूपे कोटी तदा भुजान्तररूपेण भुजेन किमिति। फलं दृगौच्च्यविश्लेषात्मिका कोटिः। अथ द्वितीयोऽनुपातः। यदि भुजान्तररूपेण भुजेन दृगौच्च्यविश्लेषः कोटिस्तदा स्ववंशान्तरभुजेन किमिति। फलं वंशोच्छ्रायरूपा कोटिरिति सर्वमा(म)नवि(व)द्यमित्याहुस्तन्न। ग्रन्थकृद्भाष्यविरोधात्।

किंच। अग्रतदधःप्रदेशवेधसंबन्धिदृष्टचुच्छ्राययोरन्तरस्यैकत्वेन निर्णयात्स्वस्वभुजकोटिभ्यामानीतयोर्दृष्टचुच्छ्रायान्तरयोर्द्वैधानुपपत्तिः।

न च मूलवेधसिद्धदृष्टचुच्छ्रायेण तत्त्रयाणां संभवान्मूलदृष्टचुच्छ्रायात्प्रत्येकं तयो-

दृष्टयुच्छ्राययोरन्तरयोर्द्वैधसंभव इति वाच्यम् । वंशौच्च्यानयने मूलदृष्टयुच्छ्रायस्य संबन्धाभावेनासंगतत्वादिति दिक् ।।४५।।४६।।

ननु बिना मूलदर्शनमग्रदर्शनं न भवत्येवेति पूर्वप्रकारेणैव वंशौच्च्यज्ञानसंभवादुपकल्पितप्रकारो विषयाभावादावश्यको नेति मन्दाशङ्काया [निरा]करणाय प्रश्नं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—उर्ध्वस्थस्येति ।

यस्य वंशस्योर्ध्वस्थस्यातिदीर्घस्याग्रमात्रम् । मात्रपदेनाग्रव्यतिरिक्तसंपूर्णवंशनिरासः । हे सखे मित्र । अनेन सुहृद्भावेन पृच्छयते नेर्ष्यया । अन्यथोपेक्षया तदुत्तरदानाप्रसङ्ग इति सूचितम् । सुसमे देशे । समानभूप्रदेशान्तरेऽज्ञातमाने समालोक्यते सम्यग्दृश्यते ।

ननु संपूर्णादर्शने किंवात्रक्रमत आह—गृहादिभिरिति । गृहं मन्दिरम् । आदिपदाद् वृक्षादि । एभिर्व्यवधानं दर्शनप्रतिबन्धः संजातो यस्येत्यर्थः । अपिशब्दात्प्रतिबन्धबाहुल्यादग्रादर्शनसंभवेऽग्रदर्शनं चित्रकरमिति सूचितम् ।

नन्वेतादृशवंशसद्भावे किं मानमत आह—प्रगुणस्येति । लोकप्रसिद्धस्येत्यर्थः । अत्र । अग्रदर्शनस्थाने । एवकारात्संपूर्णदर्शनस्थानगमननिरासः । त्वमवस्थितः । ऊर्ध्वस्थ उपविष्टो वा । अस्य वंशस्य । अन्तरं मूलप्रदेशादग्रदर्शनस्थानपर्यन्तं भूसूत्रमानम् । उच्छ्रयमौच्च्यमानम् । चः समुच्चये । मूलादर्शनेऽपि विनाऽन्तरभूमानमौच्च्यज्ञानं न भवतीति सूचनार्थमन्तरं चोच्च्छ्रयमिति प्रश्नकमः । यदि वदसि आनयनप्रकारेण कथयसि तर्हि यन्त्रविदां यन्त्रज्ञानां मध्ये वरिष्ठपदवीमुत्तमस्थानं प्रति त्वं यातः । गतः प्राप्तः । असि । इति अहं मन्ये । कुत इत्यत आह—धीयन्त्रविदिति । एतज्ज्ञानं विना धीयन्त्रं न भवतीति । धीयन्त्रस्य सर्वयन्त्राभ्यर्हितत्वेन तज्ज्ञातया(नेन) स्वतः सिद्धैवेयं पदवी त्वयीति भावः ।।

अथाल्पबुद्धीनामेतज्ज्ञानदार्ढ्यार्थमुदाहरणप्रयोजकप्रश्नं श्लोकद्वयेन संगतिप्रदर्शनार्थं प्रतिज्ञापूर्वकमाह—उदाहरणम्—इष्टयष्टचेति ।

उदाहरणनिमित्तकप्रश्नस्योदाहरणोपजीव्यत्वादुदाहरणत्वं व्यवह्रियते इत्यर्थः । हे सखे । इष्टयष्टचा । अभिमतप्रमाणशलाकया । ऊर्ध्वस्थितेन गणकेन । वंशाग्रं विध्यता । वेधविषयं कुर्वता । भुजः लम्बनिपातान्तरभूमिमानरूपश्चतुष्करः षण्णवत्यङ्गुलो दृष्टो गणनया ज्ञातः । अथानन्तरम् । अन्ययष्टचा । पूर्वयष्टिप्रमाणभिन्नप्रमाणया यष्टचा । निविष्टेन । उपविष्टेन । वंशाग्रं विध्यता भुजो नवत्यङ्गुलो ज्ञातः । अन्ययष्टेचत्यनेन वेधद्वये एकशलाकानियमो निरस्तः । वेधयोरुभयोः कोटिः । लम्बोच्छ्रायान्तरमङ्गुलम् । एकाङ्गुलमितम् । तथा वंशाग्रं विध्यता ज्ञातम् । अपिशब्दादेकयष्ट्या बेधयोः कोटितुल्यत्वासंभवेऽपि यष्टचन्तरेण निविष्टोर्ध्वस्थवेधस्थया वेधयोः कोटितुल्यत्वं नासंभावीति सूचितम् । एवं सति । हे वेधवित् । वेधज्ञ । अनेनोद्दिष्टशुद्धाशुद्धिनिर्णयस्त्वमेव कुर्विति भावः । आत्मवंशान्तरम् । भूमिमानं वंशमानम् । चः समुच्चये । कथय । अत्र दृष्टयुच्छ्राययोरनुद्देशस्तत्कल्पनेन वंशमानमात्मवंशान्तरं वानेकधा भवतीति द्योयितु तमिति ध्येयम् ।

ययोर्ध्वस्थनिर्दिष्टवेधयोः कल्पितौ दृगुच्छ्रायौ द्विसप्ततिचतुर्विंशत्यङ्गुलमितौ ७२। २४ निजभुज ९६। ९०। भक्ते १। १ कोटी। अनयोः समच्छेदपूर्वकअन्तरम् ६। अनेन च्छेदंलवं १६। ४० परिवर्त्येत्यादिना दृगौच्च्यविश्लेषो ८६४० ४८। भक्तः। भूमानाङ्गुलानि ६९११०। एभ्यो वशमानाङ्गुलानि ७९२। एवं दृष्च्युच्छ्रायकल्पनाभ्यामनेकधा ॥४७॥

केदारदत्तः—वंश के अग्रवेध से आत्मवंशान्तर भूमिज्ञान—

खड़े होकर यष्टि से वांस का अग्रवेध, पुनः बैठ कर वंश का अग्रवेध करने से कोटियों में अपनी अपनी भुजाओं से भाग देकर उसमें आत्मवंशान्तर से भाग देने से दोनों ऊँचाइयों के अन्तर से भाग देने से लब्ध भूमि ज्ञान से पुनः पूर्ववत् पृथक् पृथक् भुज कोटिज्ञान के अनन्तर पूर्व में प्राप्त आत्मवंशान्तर को कोटि से गुणा कर भुज से भाग देने से दृष्टि उच्छ्रिति + बांस की ऊँचाई प्राप्त हो जाती है।

जैसे—ऊर्ध्ववेध में भुज = ९६, कोटि = १, बैठे हुये भुज = ९० कोटि = १, कल्पित दृष्टयुच्छ्राय = ७२, २४, पूर्व भाँति भूमान = २८८०, और बांसों की ऊँचाई = ३३ हाथ।

उपपत्ति—कल्पना से आत्म वंशान्तर भूमि मान = या। यदि यष्टि के ऊर्ध्व वेध भुज ९६ में कोटि प्राप्त होती है तो या भुज में

$$\frac{\text{या}}{९६},\quad \frac{\text{या}}{९०}\ \text{अतः}\ ७२ + \frac{\text{या}}{९६} = २४ + \frac{\text{या}}{९०}$$

$$\frac{६९१२ + \text{या}}{९६} = \frac{२१६० + \text{या}}{९०} = ६२२'८ + ९० \text{ या} = २०७३६० + ९६ \text{ या}$$

$$\therefore ६ \text{ या} = ४१४७ २०$$

$$\text{या} + \frac{६९१२}{९६} = \text{या} + \frac{२१६०}{९०} \therefore \text{या} = ६९१२० \text{ अंगुल}$$

$\because$ २४ अंगुल = १ हाथ, अतः ६९१२० ÷ २४ = २८८० = भूमान उपपन्न होता है ॥४५॥४६॥४७॥

अथ जलान्तर्वेधमाह—

एवं तोयेऽप्यौच्च्यं तत्र दृगौच्च्योनितं भवति।
किंवा यष्ट्या कोटी दृष्टयुच्छ्रायौ जलान्तके वाहू ॥४८॥

अत्र प्रश्नः—

दूरस्थस्य न दूरगस्य यदि वाऽदृष्टस्य दृष्टस्य वा
वंशस्य प्रतिबिम्बितस्य सलिले दृष्ट्वाऽग्रमात्रं सखे।

अत्रैव त्वमवस्थितो यदि बदस्यस्यान्तरं चोच्छ्रयं
त्वां सर्वज्ञमतीन्द्रियज्ञमनुजव्याजेन मन्ये भुवि ।।४९।।

उदाहरणम्—

दृष्टा चेत् त्र्यङ्गुला कोटिर्बाहुश्च चतुरङ्गुलः ।
ऊर्ध्वस्थेनोपविष्टेन बाहुरेकादशाङ्गुलः ।।
कोटिरष्टाङ्गुला तोये वंशाग्रं विध्यता सखे ।
त्र्येकहस्तौ दृगुच्छ्रायौ वंशौच्च्यं चान्तरं वद ।।

वा० भा०—ऊर्ध्ववंधे कोटिः ३ । भुजः ४ । उपविष्टवेधे कोटिः ८ । भुजः ११ । दृष्टयुच्छ्रायौ क्रमेण । ७२ । २४ लब्धमात्मवंशान्तरं हस्ताः ८८ । वंशौच्च्यं हस्ताः ६३ । अत्रोर्ध्ववेधेऽन्योपविष्टवेधे चाप्या यष्टिरिति ।

अत्रोपपत्तिः । अत्र भित्तेः सुसमे पार्श्वे तिर्यग्रेखा दीर्घा कार्या । सा किल जलसमा भूः । तत्रैकस्मिन्नेकान्तप्रदेश ऊर्ध्वरेखा कार्या । स किल वंशः । वंशमूलादधोगामिनी वंशप्रमाणैवान्या रेखा कार्या तत् किल वंशप्रतिबिम्बम् । अथ भूरेखाया उपर्यन्यप्रान्ते दृगुच्छ्रिताऽन्या रेखा कार्या । दृगुच्छ्रायात् प्रतिबिम्बवंशाग्रगामिनी कर्णरेखा कार्या । सा कर्णरेखा भूरेखायां यत्र लग्ना तत्रस्थे जले वंशाग्रं द्रष्टा पश्यति । जलादुभयतो द्वे त्र्यस्रे भवतः । तत्र जलवंशमूलयोरन्तरं बाहुः । प्रतिबिम्बवंशः कोटिः । अधः कर्णखण्डं कर्णः । अन्यदात्मजलान्तरं बाहुः । दृष्टयुच्छ्रायः कोटिः । ऊर्ध्वकर्णखण्डं कर्णः । एते त्र्यस्रे परस्परानमते । यष्टिवेधेन ये भुजकोटी ते अप्येतदनुसारे । अत उक्तं एवं तोयेऽपीति । किंत्वत्र यदौच्च्यमागच्छति तद्दृगौच्च्येन हीनं कार्यम् । प्रतिबिम्बितस्याधोमुखत्वाद्दृगौच्च्येन सहाऽऽगच्छति । अतस्तदूनं कृतमिति सर्वमुपपन्नम् ।।४८।।४९।।

किंवा यष्टचेत्यस्योदाहरणम्—

षडङ्कैरमरैस्तुल्यान्यङ्गुलान्यथवा क्रमात् ।
आत्मतोयान्तरं दृष्ट्वा वंशौच्च्यं चान्तरं वद ।।

वा० भा०—ऊर्ध्वस्थस्य जलान्तरम् ९६ । उपविष्टस्य जलान्तरम् ३३ । दृष्टयुच्छ्रायौ ७२ । २४ । लब्धं तदेव भूमानं हस्ताः ८८ । वंशौच्च्यं हस्ताः ६६ । इति धीयन्त्रम् ।।

मरीचिः—अथ जलस्थप्रतिबिम्बाद्वस्तुदैर्ध्यमानज्ञानमुद्गीत्याऽऽह—एवं तोयेऽपीति । तोये जले । अपिशब्दात्प्रतिबिम्बिताग्रात्प्रतिबिम्बितस्य । औच्च्यं वंशोच्छ्रायो नतु वंशमानम् । एवमग्रं विद्ध्वोर्ध्वस्थ इत्यादिना ज्ञेयम् ।

नन्वत्राऽऽगतो वंशोच्छ्रायो दृष्टच्युच्छ्र्ययुतो वंशपानमिदं प्रत्यक्षविरुद्धमत आह— तदिवि । जलप्रतिबिम्बितागतवंशोच्छ्रायमानं प्रतिबिम्बिताग्रवेधसंबन्धिदृष्टघुच्छ्रायमानेनोनम् । तुकाराद्वंशमानं स्यात् । तथा च दृष्टचुच्छ्राययुतौ सहजसिद्धोऽविसंवादः । दृगौच्च्यवर्जितस्यात्र विशेषत्वात्तथा करणे संबाद इति भावः ।

जलप्रतिबिम्बिताग्राद्वस्तुदैर्घ्यमानं यष्टिनिरपेक्षेण लाघवादाह—किंचेति । जलप्रतिबिम्बिताग्रदर्शनाद्वस्तुदैर्घ्यमानज्ञानार्थं यष्टचा किं कार्यं यष्टेरप्यावश्यकता नास्तीति भावः । तर्हि तन्मानज्ञानं कथं स्यादत आह—वेति । तन्निरपेक्षप्रकारान्तरेण तज्ज्ञानसंभवादिति भावः ।

ननु यष्टेः साधकक्षेत्रार्थमेव प्रयोजनमिति साधकक्षेत्राभावात्प्रकारान्तरेण कथं तत्सिद्धिरत आह—कोटी इति । दृष्टचुच्छ्रायौ । जलस्थप्रतिबिम्बिताग्रस्योर्ध्वस्थोपविष्टाभ्यां दर्शनंयोयौं दृष्टचुच्छ्रायौ तौ क्षेत्रयोः कोटी भवत इत्यर्थः । जलान्तरे । ऊर्ध्वस्थेनोपविष्टेन च यत्र प्रतिबिम्बं जलस्थाने दृष्टं तत्स्थानाभ्यां स्वावस्थितिभूप्रदेशपर्यन्तमन्तरसूत्रे क्रमेण क्षेत्रयोर्भुजावित्यर्थः । तथाच प्रतिबिम्बिताग्रदर्शनाभ्यां स्वतः सिद्धसाधकक्षेत्राभ्यां निजभुजभक्ते कोटी इत्यादिना वंशमानज्ञानमनिवारितमिति भावः ।

अत्रोपपत्तिः—जले उपरिस्थितवस्तुस्थितेः प्रतिबिम्बाद्वंशमूलादधो वंशान्तरेणाग्रं प्रतिबिम्बितं भवति । तद्दृक्सूत्रं जले यत्र लगति तत्र द्रष्टा प्रतिबिम्बं पश्यति । तथाच प्रतिबिम्बदर्शनस्थानस्वस्थानयोरन्तरं भुजो दृष्टचुच्छ्रायः कोटिर्जलप्रतिबिम्बदर्शनस्थानपर्यन्तं दृक्सूत्रैकदेशः कर्ण इति क्षेत्रं यष्टिवेधितजलप्रतिबिम्बिताग्रजनितलम्बोच्छ्रायान्तरलम्बनिपातान्तरकोटिभुजसंबद्धक्षेत्रवत्संपूर्णप्रतिबिम्बस्य वंशमूलाधः स्थितत्वा दृष्टचुच्छ्रायमितवंशप्रदेशयुतप्रतिबिम्बमानं कोटिर्जलप्रतिबिम्बिताग्रदृक्सूत्रं संपूर्णकर्णौ वंशमूलस्वस्थानान्तरमितं दृष्टचुच्छ्रायमितवंशप्रदेशदृशोः समसूत्रान्तरं भुज इति महत्क्षेत्रानुरुद्धमतो लघुभुजे लघुकोटिस्तदा यावत्तावन्मितमहत्क्षेत्रभुजे केति दृगुच्छ्राययुतवंशमिताः । एवमूर्ध्वस्थोपविष्टाभ्यां स्वस्वदृगुच्छ्राययुतवंशमाने कोटी स्वस्वदृगुच्छ्रायोने वंशप्रतिबिम्बमानतुल्यौ वंशौ भवतः ।

तथा च प्रतिबिम्बिताग्रयष्टिवेधाभ्यां तद्दर्शनाभ्यां वा सिद्धक्षेत्रयोः कोटी स्वस्वभुजभक्ते फले । यावत्तावद्गुणे स्वस्वदृष्टचुच्छ्रायोने वंशौ जातौ तुल्यौ । शोधनार्थमनयोर्न्यासः । या० फ० १६१ / या० फ० ६१२ अत्रोर्ध्वस्थदृगौच्च्यादुपविष्टदृगौच्यस्योनत्वनिर्णयादूर्ध्वस्थफलादुपविष्टफलं न्यूनमेव । कथमन्यथा दृगौच्योनतया पक्षसाम्यसिद्धिः । अत्र समशोधनेन तदन्तरहृतो दृगौच्च्यविश्लेषः इति वंशमूलस्वस्थानान्तरभूमिमानं सिद्धम् ।

अस्माद्भूमानं कोटिसंगुणमित्यादिना क्षेत्रयोरधोमुखत्वेन वंशौच्च्यं दृष्टचुच्छ्रायमितवंशप्रदेशादधः प्रतिबिम्बिताग्रपर्यन्तमतो दृष्टचुच्छ्रायवर्जितं वंशौच्च्यं वंशप्रतिबिम्बमानं

तत्तुल्य एव इत्युपपन्नमेवं तोयेऽपीत्यादि । प्रतिबिम्बस्याधोमुखत्वाद्दृगौच्च्येन सहाऽऽगच्छतीत्यतस्तदूनं कृतमित्यन्ये । लक्ष्मीदासेन संपूर्णवंशप्रतिबिम्बदर्शने मूलवेधादात्मवंशान्तरं ज्ञात्वा प्रतिबिम्बिताग्रवेधजनितकोटिभुजाभ्यां भूमानं कोटिसंगुणं भक्तं दोष्णेत्यादिना वंशौच्च्यं दृगौच्च्योनं वंशमानं भवतीति एतदर्थकमेतदुद्गीत्यर्धमुक्तम् ।

अपरार्धे यष्टिः कोटिदृगौच्च्यविश्लेषं भुजं प्रकल्प्य पूर्ववद्वंशोच्छ्रायः साध्यत इत्यर्थ उक्तस्तत्र दृष्ट्युच्छ्रायान्तरस्य चिन्त्यत्वेनापरार्धस्यायुक्तत्वं प्रतिभाति ॥४८॥

ननु तोयप्रतिबिम्बिताग्रदर्शनेऽवश्यं भूम्यूर्ध्वस्थतवप्र(तदग्र)दर्शनं भवत्येवान्यथा प्रतिबिम्बानुपपत्तेरिति वस्तुभूताग्रदर्शनादेवाग्रं विद्ध्वोर्ध्वस्थ इत्यादिना तन्मानसिद्धेरेवं तोये इत्यस्यानवकाश इत्यतः शार्दूलविक्रीडितेन प्रश्नमाह—दूरस्थस्येति ।

दूरस्थस्य । व्यवधानतया स्थितस्य । यदि वा । अथवा । न दूरगस्य । अव्यवधानतया स्थितस्य । निकटस्थस्येत्यर्थः । नातिविस्तारमितिवन्न दूरगस्येति संगच्छते । अदृष्टस्य । नयनागोचरस्य । दृष्टस्य नयनगोचरस्य वा । दूरनिकटक्रमार्थे । वंशस्य सलिले जले प्रतिबिम्बितस्य । प्रतिबिम्बमेव प्रतिबिम्बितम् । स्वार्थे इत् च । तादृशवंशसंबन्धिप्रतिबिम्बभाव(ग)स्येत्यर्थः अन्यथा बिम्बात्मकवंश(शा)सिद्ध्या प्रतिबिम्बासिद्धेः । अग्रमात्रम् । अग्रमित्यर्थः । अन्यप्रदेशदर्शनस्याप्रयोजकत्वान्मात्रेति ।

हे सखे मित्र । अनेन मया सुहृद्भावेन पृच्छ्यते कोपाविर्भावेनोपेक्षणीयं नेति भावः । तृतीयचरणस्तु पूर्वं व्याख्यात एव तर्हि त्वामुत्तरदातारम् । सर्वज्ञमीश्वरम् । अहम् । मन्ये । ननु तर्हि मम भूमिस्थत्वासंभवः । ईश्वरस्य सर्वत्रावस्थानादत आह—अतीन्द्रियमनुजव्याजेनेति । भूमौ । अतीन्द्रियम् । इन्द्रियमतिक्रान्तम् । बाह्येन्द्रियागोचरम् । जानाति स चासौ मनुष्यः । तस्य च्छलेनातीन्द्रियज्ञमनुष्यत्वेन स्वयमवतरण इति भूमाववस्थाने बाधकाभाव इति भावः ।

अतीन्द्रियज्ञत्वं च प्रतिबिम्बस्यावास्तवत्वात्तद्दर्शनेन वास्तववंशमानज्ञानेनेति ध्येयम् । तथाच दृष्टवस्तुन एव प्रतिबिम्बदर्शनमिति नियमाभावादूर्ध्वस्थवस्तुनोऽग्रस्य सूर्यदिगभिमुखत्वेन कारणान्तरेण वा दर्शनाभावेऽपि जले तत्प्रतिबिम्बं दृश्यत एवेति प्रत्यक्षानुभवाज्जलप्रतिबिम्बाग्रायष्टिव्यतिरेकेण लाघवात्तत्सिद्धेर्वा सूत्रस्यानवकाशो नेति तात्पर्यम् ॥

अथाल्पबुद्धीनामेतज्ज्ञानदाढर्चार्थमुदाहरणाप्रयोजकप्रश्नं विवक्षु संगतिप्रदर्शनार्थं तत्प्रतिजानीते—उदाहरणमिति । प्रागुक्तजलप्रतिबिम्बानयनसूत्रस्य निदर्शनार्थं प्रश्न उच्यत इत्यर्थः । तत्र सूत्रपूर्वार्धोदाहरणप्रश्नं श्लोकद्वयेनाऽऽह—दृष्टा चेत्त्र्यङ्गुलेति ।

प्रश्नेऽल्पबुद्धीनामपि कोपसंभवस्तदपनोदार्थं सखा इति संबोधनम् । अन्यथा तदुत्तरालाभ इति भावः । जले । वंशाग्रं । प्रतिबिम्बवंशाग्रम् । यष्ट्या विध्यता गणकेनोर्ध्वस्थेन। कोटिर्लम्बोच्छ्रायान्तररूपा । त्र्यङ्गुला त्र्यङ्गुलामिता । दृष्टा ज्ञाता । भुजो लम्बनिपातान्तरम् । चतुरङ्गुलः । चकाराज्ज्ञातः उपविष्टेन । प्रतिबिम्बाग्रं यष्ट्या विध्यता

गणकेन । भुज एकादशाङ्गुलो ज्ञातः । अष्टाङ्गुला कोटिर्ज्ञाता । उभयत्र क्रमेण । त्र्येक-हस्तौ । द्विसप्तत्यङ्गुलचतुर्विंशत्यङ्गुलमितावित्यर्थः । दृष्टयुच्छ्रायौ ज्ञातौ चेत् । एवं सति । वंशौच्च्यम् । वंशमानम् । ननु भूमानं कोटिसंगुणमित्याद्यवगतं वंशोच्छ्रायम् । वेधद्वयेन तद्द्वयादेकवचनानुपपत्तेः । पूर्वार्धसंपूर्णोदाहरणासिद्धेश्च ।

ननु वंशमूलस्वस्थानान्तराज्ञानाद्वंशमानं कथं स्यादत आह—चान्तरमिति । अन्तरम् । तद्रूपम् । चः समुच्चये । कथय । अन्तरमानीय वंशमानमानीयेति भावः । वेधयोर्भिन्ना सिद्धा यष्टिरित्युदाहरणानुपपत्तिर्नेति ध्येयम् । यथा । निज-मुक्तभक्तकोट्यो । ३ । ८ । रन्तरेण १ । दृगौच्च्यान्तरं ४८ भक्तमङ्गुलात्मकं भूमानं २११२ । । ४ । ११ । ४४ । अतः पृथक्पृथक्वंशौच्यं १५८४ । १५३६ । स्वस्वदृगौच्च्येन ७२ । २४ । हीनं वंशमानं १५११२ । ५५ । अथानुष्टुभोत्तरार्धोदाहरणप्रश्नमाह—षडङ्कैरमरैति ।

अथवेत्यनेन किं वा यष्टयेत्युत्तरार्धस्येदमुदाहरणमिति स्पष्टीकृतम् । क्रमात् । त्र्येक-हस्तदृगुच्छ्रायक्रमात् । आत्मतोयान्तरम् । प्रतिबिम्बदर्शनस्थानाभ्यामात्मस्थानस्यान्तरद्वय-मित्यर्थः । षण्णवत्या त्रयस्त्रिंशता समान्यङ्गुलानि । तदन्तरमेतदङ्गुलमितं ज्ञात्वेत्यर्थः । अन्तिमचरणस्तु व्याख्यात एव ।

यथा निजभुजभक्तकोट्यो । ७२ । २४ । रन्तरेण । ७२ । दृगौच्च्या-न्तरं ४८ भक्तं भूमान २११२ । ९७६ । ३३ । । ३१६८ । मस्माद्भुज-कोटिभ्यां ९६ । ७२ । ३३ । २४ । पृथक्वंशौच्च्यं १५८४ ॥ २४३६ । दृष्टयूछायोनं वंशमानतुल्यं प्रावसिद्धमेव १५ । १२ ॥ ४९ ॥

अथ यन्त्रादि त्र(म)योच्यते इत्युद्देशे आदिपदग्राह्यं स्वयंवहयन्त्रं निरुरूपयिषुः संगति-प्रदर्शनार्थं तत्प्रतिजानीते—अथ स्वयंवहमिति ।

पूर्वोद्दिष्टदशयन्त्रनिरूपणानन्तरम् । स्वयं वहति अनति निरपेक्षयेत्येतादृशं यन्त्रं निरूप्यते इत्यर्थः । अत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन स्वयंवहयंत्रप्रतिपादनपविरुद्धमिति ध्येयम् ॥४८॥४९॥

केदारदत्तः—जल में अपनी और वांसवृक्ष की ऊँचाई की परिछांहो से बांस वेधादि अन्तर भूमिज्ञान—

जलस्थ बांस के प्रतिबिम्ब वेध में दृगुच्छ्रिति को वंशोच्छ्रिति में कम करना चाहिए । यष्टि वेध से जल मध्य में कोटियों और दृष्टि की ऊँचाइयों और जल आतम प्रतिबिम्ब मूल से जल तक भूमि का ज्ञान होना चाहिए ।

प्रश्न है कि—अदूरगामी दृष्टा के दूर दृष्टि स्थित, दृष्ट या अदृष्ट प्रतिबिम्बित बांस की मात्र अग्रभाग जल में देखा गया है, हे मित्र । तुम यदि ऐसी स्थिति में वहां स्थित हो तो, अपनी जगह से बांस तक की दूरी और बांस की ऊँचाई यदि वता सकते होतो

मैं (भास्कराचार्य) मानव शरीरी तुमको इस भूमण्डल में अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न सर्वज्ञ कहूंगा।

उदाहरण—जल में प्रतिबिम्बित बांस वेध से कोटि = ३ अंगुल, भुज = ४ अंगुल, ऊपर स्थित वाहु = ११ अंगुल और कोटि = ८ अंगुल, दृगुच्छ्रितियाँ = ३ हाथ और १ हाथ तो बांस की ऊँचाई और आत्मवंशान्तरित भूमि का मान बताओ।

ऊर्ध्व वेध से कोटि = ३, भुज = ४, बैठे हुये वेध से कोटि = ८ भुज = ११, दृष्ट्रा की ऊँचाइया क्रमशः ७२, २४ पूर्ववत् आत्मवंशान्तर भूमि = ७८ हाथ, वांस की ऊँचाई = ६३ ऊर्ध्व वेध और अधोवेध में यष्टिमान भिन्न होते हैं।

उपपत्ति—समान भित्ति में एक दीर्घ सरल रेखा ऐसी हो जो जलसम समतल धरातल गामिनी होती हो। उसके एक छोर पर एक लम्बवत् ऊर्ध्व रेखा करनी चाहिए इसी में बांस की ऊँचाई का मान होगा बांस के मूल से नीचे वंश प्रमाण की एक अन्य रेखा करनी चाहिए। यही वंश की प्रतिबिम्ब रेखा होगी।

पूर्वकृत भू रेखा के ऊपरी छोर पर दृष्टि उच्छ्रिति तुल्य एक और अन्य रेखा करनी चाहिए। तथा दृष्टि की उच्छ्रिति से प्रतिबिम्बित वंश रेखा तक कर्ण रेखा करनी चाहिए कर्ण और भूरेखा के सम्पात विन्दु पर जल में वंश के अग्र भाग को दृष्टा देखता है। अतः जल के दोनों तरफ दो त्रिभुज होते हैं, जल और वंशमूल = भुज, प्रतिबिम्बित वंश = कोटि, कर्ण का अधो खण्ड = कर्ण, आत्मजलान्तर = भुज, दृगुच्छ्रिति = कोटि। ऊर्ध्व कर्ण खण्ड = कर्ण। ये त्रिभुज परस्पर सजातीय होते हैं, जो यष्टिवेधित भुज कोटि के तुल्य होते हैं। इसलिये वंश के जलस्थ प्रतिबिम्ब से भी पूर्ववत् अनुपात द्वारा वंश की ऊँचाई आदि का ज्ञान कर ऊँचाई में दृष्टि की ऊँचाई को वांस की ऊँचाई में कम करना युक्तियुक्त होता है क्योंकि प्रतिबिम्बित वंश की स्थिति जल में नीचे होतो है। ॥४८॥४९॥

अथ स्वयंवहमाह—

लघुदारुजसमचक्रे समसुषिराराः समान्तरा नेम्याम्।
किंचिद्वक्रा योज्याः सुषिरस्याधः पृथक् तासाम् ॥५०॥
रसपूर्णं तच्चक्रं द्व्याधाराक्षस्थितं स्वयं भ्रमति।

वा० भा०—ग्रन्थिकीलरहिते लघुदारुमये भ्रमसिद्धे चक्र आराः। किंविशिष्टाः। समप्रमाणाः समसुषिराः समतौल्याः समान्तरा नेम्यां योज्याः। ताश्च नद्यावर्तवदेकत एव सर्वाः किंचिद्वक्रा योज्याः। ततस्तासामाराणां सुषिरेषु पारदस्तथा क्षेप्यो यथा सुषिरार्धमेव पूर्णं भवति। ततो मुद्रिताराग्रं तच्चक्रमयस्कारशाणवद्द्व्याधारस्थं स्वयं भ्रमति। अत्र युक्तिः। यन्त्रैकभागे रसो ह्यारामूलं प्रविशति। अन्यभागे त्वाराग्रं धावति। तेनाऽऽकृष्टं तत् स्वयं भ्रमतीति ॥५०॥

मरीचिः—अथाऽऽर्याषड्भिरुद्गीत्या च प्रतिज्ञातस्वयंवहयन्त्राण्याह—लघुदारुजसमचक्र इति ।

लघुदारुजसमचक्रे । ग्रन्थिकीलस्फाटनादिदोषरहितस्य लघुभूतकाष्ठस्य निर्मितं समपार्श्वभागनेयिकं भ्रमसिद्धं मण्डलम् । नत्वाकाशावकाशसहितं वृत्तमित्यर्थः । सुमसषिराराः । तुल्यच्छिद्रा आरा काष्ठादिघटिताश्चक्रमानुरुद्धकीलकाः । सर्वेषां कीलकानां तुल्यतौल्यानां तुल्यप्रमाणानां चामूलाग्रावकाशरूपच्छिद्राणि तुल्यानि कार्याणीत्यर्थः ।

किंचिद्वक्राः कीलका ऋजवो न कार्याः किंत्वनतिवक्राः । नेम्याम् । चक्रार धारायाम् । समान्तरास्तुल्यान्तराला योज्याः । एकतरनेमिपरिधौ प्रोताः कार्याः नतु चक्रनेमिमध्यपरिधौ । ततस्तासामाराणामुक्तरूपाणाम् । पृथक्प्रत्येकम् । सुषिरस्य च्छिद्रस्य । अर्धे । आरार्धभागात्मके । रसपूर्णे । पारदसंपूरिते । आराग्रे मुद्रियच्छिद्रे च कृते सति । चचक्रम् । तादृशाधारयुक्तचक्रम् ।

द्वयाधाराक्षस्थितम् । आधारद्वयप्रोताग्रकीलमध्यस्थितकेन्द्रकं शिथिलम् । चक्रकेन्द्रशिथिलप्रोतकीलकविनिर्गतोभयाग्रभागावाधारे दृढौ प्रोतौ कार्यौ । तदन्तर्गतचक्रमित्यर्थः । स्वयम् । पुरुषयत्नं विनाऽप्येचतनं स्वतो भ्रमति । आराग्रदिङ्मार्गक्रमेण स्वानुकारमनवरतं चलतीत्यर्थः ।

अत्र युक्तिः—लघुकाष्ठचक्रस्य भ्रमणार्थमल्पः पारदो लगतीति लघुकाष्ठजं चक्रम् । तत्समीकरणे च सर्वत्रावयवभागाः समतौल्या भवन्त्यन्यथा समभ्रमणानुपपत्तेः । अचेतनस्य विना यत्नं भ्रमणार्थं चक्रनेम्यामेकस्मिन्भागे गुरुत्वसंपादनमावश्यकम् ।

ननु पारदेनेति तत्संनिवेशार्थं सच्छिद्रा आरास्तादृशा कृताः । अन्यथा समभ्रमानुपपत्तेः । अथाऽऽराः पारदपूरिता अपि सर्वत्र तुल्यभारतया तच्चलनाभावाच्च तद्भ्रमासंभव इत्यारार्ध पारदः प्रत्येकं दत्तः । अत्रापि तुल्यभारत्वेऽप्याराग्रमर्धस्थानस्थितपारदस्य गमनमग्रपर्यन्तं संभवादधोमुखानामाराणां पारदेन गुरुतया चक्रं नामितम् । ऊर्ध्वमुखानामाराणां पारदोऽग्रान्मूलं प्रविशति । अनया रीत्या चक्रनामनेनोर्ध्वमुखा अप्याराः क्रमेणाधोमुखा भवन्तीति ताभिः पारदगुरुतया चक्रनामनमिति परम्परया चक्रभ्रमणं सूपपन्नम् ।

पारदस्यानिःसरणार्थमाराग्रमुद्रणमन्यथा तन्निःसरणेनोत्तरकाले चक्रभ्रमानुपपत्तेः ॥ अथैवमपि चक्रस्य नेमिपार्श्वाधारत्वेन स्थापितस्य भ्रमासंभव इत्यन्तरिक्षोध्र्वाधिरनेम्यवस्थानार्थं द्वयाधाराक्षस्थितमाराग्राभिमुखं भ्रमत्येव ॥५०॥

केदारदत्त :—अन्य उदाहरण द्वारा—

ऊर्ध्व दृष्टि वशात् जलान्तर = ९६ अंगुल और बैठे हुये भूमि से जलान्तर भूमि यान = ३३ अंगुल मान, अपने से जल तक की अन्तर भूमि जान कर वंश की ऊँचाई ज्ञात करिये ऐसा एक प्रश्न है ।

यहाँ पर, दोनों स्थितियों में दृष्टि की कल्पित ऊँचाई = ७२, और २४ मानने से पूर्व गणित प्रक्रिया से भूमान = ८८ और वांस की ऊँचाई = ६३ हाथ होती है।

स्वयं भ्रमणशील स्वयंवह यन्त्र बताया जा रहा है—

दरार और खूंटे आदि से रहित सुदृढ़ एक लघु हल्के वजन के काष्ट की भ्रमण-शील परिघि आकार का यह यन्त्र होता है। काष्ठ के तुल्य छिद्रात्मक काठ के पंखे के आकार के तुल्य संख्या के तुल्य कीलक की रचना करते हुये। उक्त काष्ठ कीलक एक दम सरल न होकर कुछ वक्राकार होने चाहिए। ये कीलक समान और परस्पर एक दूसरे के समानान्तरित भी होने चाहिए।

उक्त परिधि आकार चक्र के केन्द्र विन्दुस्थ अर्द्धच्छिद्र की पारे से भर देना चाहिए।

इस चक्र को भूमि आधार में स्थापित आधार द्वयप्रोत अग्र कीलक मध्य के शिथिल केन्द्र में स्थापित करना चाहिए।

अर्थात् दो लकड़ी के खम्बों के मध्य स्थित यन्त्र जो स्वयं चलायमान हो जाता है। मध्य में आधेच्छिद्र में पारद होने से उक्त अर्थात् स्वयंवह यन्त्र चक्र भ्रमण करने लगता है। जिसके द्वारा सूर्योदयादि काल ज्ञान भी किया जा सकता है। स्वयं चलायमान होने से इस यन्त्र का नाम स्वथं वह हुआ है ॥५०½॥

यथान्यदाह—

उत्कीर्य नेमिमथवा परितो मदनेन संलग्नम् ॥५१॥
तदुपरि तालदलाद्यं कृत्वा सुषिरं रसं क्षिपेत्तावत्।
यावद्रसैकपार्श्वे क्षिप्तजलं नान्यतो याति ॥५२॥
पिहितच्छिद्रं तदधश्चक्रं भ्रमति स्वयं जलाकृष्टम्।

वा० भा०—यन्त्रनेमिं भ्रमयन्त्रेण समन्तादुत्कीर्य द्वयङ्गुलमात्रं सुषिरस्य वेधो विस्तारश्च यथा भवति ततस्तस्य सुषिरस्योपरि तालपत्रादिकं मदनादिना संलग्नं कार्यम्। तदपि चक्रं द्वयाधाराक्षस्थितं कृत्वोपरि नेम्यां तालदलं विद्ध्वा सुषिरे रसस्तावत् क्षेप्यो यावत् सुषिरस्याधोभागो रसेन मुद्रितः। पुनरेकपार्श्वे जलं प्रक्षिपेत्। तेन जलेन द्रवोऽपि रसो गुरुत्वात् परतः सारयितुं न शक्यते। अतो मुद्रितच्छिद्रं तच्चक्रं जलेनाऽऽकृष्टं स्वयं भ्रमतीति ॥५१॥५२॥

मरीचिः—नन्वाराणां सर्वासां तुल्यतौल्यप्रमाणच्छिद्रपारदसंनिवेशानां संपादनम-शक्यम्। अतिशिल्पकुशलैकसाध्यत्वात्। गौरवाच्चेत्यतः प्रकारान्तरेण लघुभूतेन स्वयंवह-मान्हउत्कीर्येति।

अथ पूर्वप्रकारशक्यत्वं गौरवत्वं चेदाशङ्कसे तर्हीत्यर्थः। वा। प्रकारान्तरेण स्वयंवहं ज्ञेयम्। तदाह। उत्कीर्येति। नेमिम्। लघुदार्वादिजनितचक्रस्य विस्तृतां नेमिं धाराम्। परितः समन्तात्। उत्कीर्य। लोहशस्त्रादिनोभयतः परिधिधारासंपादनपूर्वकं मध्ये द्वयङ्गुल-

वेधविस्तारं भ्रमयन्त्रेण परिधिरूपतया खनित्वेत्यर्थः । तदुपरि । परिध्याकारस्थितच्छिद्रोपरि समन्तात् । तालदलाढ्यम् । तालपत्रभूर्जपत्रादिकम् । मदनेन । मधूत्थेन । महाराष्ट्रभाषा 'मेण' इति प्रसिद्धं तेनेत्यर्थः । मदनेनेति सच्चिक्कणवस्तूपलक्षणम् । संलग्नं कृत्वा । खनितभागमाकाशावकाशं मुद्रयित्वेत्यर्थः । सुषिरे । नेम्यूर्ध्वभागस्थतालपत्रे सूच्यादिवेधेन संपादितच्छिद्रे । रसं पारदं क्षिपेत् । तावत्तत्परिमितम् । नेम्यामेकस्मिन्भागे ऊर्ध्वाधरे छिद्रेण पारदो देय इत्यर्थः ॥५१॥

तत्प्रमाणमाह—यावदिति । यावत्पर्यन्तं रसैकपार्श्वे पारददत्तनेमिभागादितरनेम्यूर्ध्वाधरभागे । क्षिप्तजलं तच्छिद्रमार्गेण दत्तजलम् । अन्यतः पारदसंबन्ध्यूर्ध्वाधरनेमिभागे न याति । न गच्छति । तावत्पर्यन्तं पारदो देय इत्यर्थः । नेम्यर्धाधिकजलप्रक्षेपे पारदश्छिद्रमार्गेण निःसरेत् । अन्तर्जले पारदस्यानवस्थानात् । यत्र च्छिद्रं तत्रोर्ध्वाधररेखाग्रावधित्वेन नेम्यर्धमुभयं पारदजलाभ्यां पूर्णं कार्यमिति तात्पर्यार्थः ।

तत् । स्वप्रोतकीलकोभयाग्रप्रोताधारद्वयमध्यस्थम् । चक्रम् । पिहितच्छिद्रम् । मुद्रितसुषिरम् । जलाकृष्टम् । जलस्य निम्नगत्वेनाधोभागे भाराधिक्याच्चक्रं नामितम् । तेन नामनेन पारदो निःसरेदिति मुद्रितच्छिद्रमावश्यकम् । ततः पारदस्याधोगमनेन भाराधिक्याच्चक्रं परिवर्ताधाधिकं चालितम् । तेन पारदजवाधिक्येन जलमपि स्वस्थाने स्थातुमशक्तमूर्ध्वमार्गेण चलितम् । ततो जलस्याधोगमनवेगात्पारद ऊर्ध्वमार्गेण चलितः । पारदजलयोरैक्यासंभवात् ।

न च प्रथमं पारदस्थाने चक्रं कुतो न नामितमिति वाच्यम् । पूर्वपारदस्य वेगाधिक्याभावाज्जलप्रतिबन्धेन तच्चलनासंभवात् । अतः पारदजलयोरनवरतं नेम्या भ्रमणात्तदाघातेन चक्रं स्वयं पुरुषयत्नं विनाऽपि भ्रमति । जलदिङ्मार्गेणानवरतं चलतीत्यर्थः ॥५२॥

केदारदत्तः—जल से आकृष्ट होकर स्वयं भ्रमण से स्वयंवह यन्त्र—यन्त्र की परिधि को चारों तरफ घुमाकर अंगुल मध्य की गहराई और दो अंगुल विस्तार जैसे हो वैसे उसके ऊपर ताल के पत्र भूर्जादि पत्रों को मोम अर्थात् किसी चिक्कन पदार्थ गूंद आदि से छिद्र में चिपका कर छिद्र में नेमि के अर्ध भाग में पारा (पारद) देने से, तथा अवशिष्ट अर्धभाग में जल देने से—आधार में दो स्तभों के मध्य में स्थापित यन्त्र स्वयं चलित होने लगता है अतः एव इस यन्त्र का स्वयंवह नाम सार्थक होता है। इससे भी काल ज्ञान किया जाता है ॥५१॥५२॥

अथान्यदाह—

ताम्रादिमयस्याङ्कुशरूपनलस्याम्बुपूर्णस्य ॥५३॥

एकं कुण्डजलान्तर्द्वितीयमग्रं त्वधोमुखं च बहिः ।

युगपन्मुक्तं चेत् कं नलेन कुण्डाद्बहिः पतति ॥५४॥

नेम्यां बद्ध्वा घटिकाश्चक्रं जलयन्त्रवत्तथा धार्यम् ।
नलकप्रच्युतसलिलं पतति यथा तद्घटीमध्ये ॥५५॥
भ्रमति ततस्तत् सततं पूर्णघटीभिः समाकृष्टम् ।
चक्रच्युतं तदुदकं कुण्डे याति प्रणालिकया ॥५६॥

वा० भा०—ताम्रादिधातुमयस्याङ्कुशरूपस्य वक्रीकृतस्य नलस्य जलपूर्णस्यैकमग्रं जलभाण्डेऽन्यदग्रं बहिरधोमुखं चैकहेलया यदि विमुच्यते तदा भाण्डजलं सकलमपि नलेन बहिः क्षरति । तद्यथा—छिन्नकमलस्य कमलिनीनलस्य जलभृद्भाण्डे क्षिप्तस्य जलपूर्णसुषिरस्यैकमग्रं भाण्डाद्बहिरधोमुखं द्रुतं यदि ध्रियते तदा भाण्डजलं सकलमपि नलेन बहिर्याति । इदं कुक्कुटनाडीयन्त्रमिति शिल्पिनां हरमेखलिनां च प्रसिद्धम् । अनेन बहवश्चमत्काराः सिद्ध्यन्ति । अथ चक्रनेम्यां घटीर्बद्ध्वा जलयन्त्रवत् द्व्याधाराक्षसंस्थितं तथा निवेशयेद्यथा नलकप्रच्युतजलं तस्य घटीमुखे पतति । एवं पूर्णघटीभिराकृष्टं तद्भ्रमत् केन निवार्यते । अथ चक्रच्युतस्योदकस्याधःप्रणालिकया कुण्डगमने कृते कुण्डे पुनर्जलप्रक्षेपनैरपेक्ष्यम् ॥५३॥५४॥५५॥५६॥

मरीचिः—नन्विदमपि नेम्यर्धयोः पारदजलयोरेकच्छिद्रेण संनिवेशस्यातिशिल्पकुशलैकसाध्यत्वात्साधारणाशक्यमतः सर्वशक्यलघुभूतप्रकारेण स्वयंवहमाह—ताम्रादिधातुमयस्येति ।

ताम्रादिधातुघटितस्य । अङ्कुशरूपनलस्य चक्रीकृतनलस्य जलपरिपूरितस्य एकमग्रम् । कुण्डजलान्तः । भाण्डस्थितजलमध्ये । द्वितीयमग्रम् । अधःप्रदेशाभिमुखम् । भाण्डस्थितजलान्तर्गतनलाग्रादधोमुखम् । भाण्डाद्बहिः कार्यम् । तुकाराद्यथा यथाऽधोमुखाधिक्यं तथा तथाऽल्पकालेन जलस्रवणमिति सूचितम् । चेद्यदि । युगपदेकसमयावच्छेदेन । मुक्तम् । नलस्थितजलस्याग्रद्वयरोधो दूरीकृत इत्यर्थः । तर्हि भाण्डाद्बहिः । कम् । भाण्डस्थितजलम् । नलेन । नलमार्गेण पतति ।

अत्र जलान्तर्गतनलाग्रमेव प्रथममुक्तं तर्हि जलप्रवाहस्य नलिकान्तर्गतस्याधोमुखाग्रच्छादनावरोधाद्बहिर्गमनासंभवान्नलस्थितजलं भाण्डस्थितजलेनाऽऽकर्षितमित्यनन्तरमधोमुखाग्रच्छादने दूरीकृतेऽपि जलं न निःसरति । अधोमुखाग्रमेव प्रथममुक्तं चेत्तर्हि नलस्थजलं केवलं पतति । भाण्डजनलसंबन्धाभावादनन्तरं भाण्डजलान्तर्गतनलिकाग्रमुक्तमपि जलमार्गेण भाण्डस्थजलस्थप्रवाहासंभव इत्यतो नलस्थितजलस्योभयतो युगपत्प्रतिबन्धनिराकरणं युक्तम् । छिन्नकमलिनीनलस्य जलपूर्णसुषिरस्य जलभृतभाण्डाक्षिप्तस्यैकमग्रं भाण्डाद्बहिरधोमुखं दृढं यदि ध्रियते तदा भाण्डजलं सकलमपि बहिः पततीति प्रत्यक्षानुभवाच्च ॥५३॥५४॥

नन्वेतावता स्वयंवहयन्त्रस्य न सिद्धिरत आह—नेम्यामिति ।

चक्रनेम्याम् । घटिका घटीकालसंबन्धिनलकच्युतजलपरिपूर्णंयोग्यं भाण्डम् । तानि । अव्यवहितम् । बद्ध्वा । निबध्य । जलयन्त्रवत् । कूपोदकोद्धरणहेतुकचक्रावस्थानरीत्या । यथा नलकाग्रच्युतजलं तद्घटीमध्ये नेमिस्थघटीभाण्डान्तः पतति । तथा । क्रियया । द्व्याधाराक्षस्थितं चक्रमिदं धार्यम् । ततोऽनन्तरम् । तच्चक्रम् । पूर्णघटीभिः । नलकच्युतजलपरिपूर्णघटीपात्रगुरुताभिः समाकृष्टं नामितं सदनवरतं भ्रमति ।।५५।।

नन्वनवरतभ्रमणमनुपपन्नम् । नलकमार्गेण संपूर्णकुण्डजलनिःसरणानन्तरं नलमार्गेण जलनिःसरणाभावाद्घटीपात्राणां जलपूर्णत्वासंभवेन तद्भाराधिक्याभावेन चक्रनामनासंभवादित्यत आह—चक्रच्युतमिति ।

पूर्णघटीपात्राणां चक्रनामनेनाधोधोगमनानन्तरं तद्भ्रमेणैवोर्ध्वगमनं भवति । तदा तन्मुखेभ्यस्तदन्तः स्थितं जलं चक्रनेमिमार्गेणाधः पतति तदा पात्राणामधोमुखत्वसंभवात् । तज्जलम् । प्रणालिकया जलपातस्थानस्थापितकाष्ठनिर्मितप्रणालिका कुण्डावधिका । तयेत्यर्थः । स्वयमयत्नेनैव । कुण्डं प्रति याति । गच्छति ।

तथा च कुण्डस्य कदाऽपि निर्जलत्वासंभवादनवरतभ्रमणमनुपपन्नं नेति भावः । अत्र स्वयंवहयन्त्राणां भ्रमणं कालानुसारं बुद्ध्वा विधातव्यमिति ध्येयम् ।।५६।।

केदारदत्तः—अन्य प्रकार का स्वयंवह (घटी यन्त्र) यन्त्र—

एक सुन्दर सुदृढ़ ताम्रादि पात्र को पात्र मूल से पात्र परिधि तक जल से पूर्ण करना चाहिए । उसमें एक गोलाकार नलिका कमल वृक्ष की नाल की तरह खोखली नलिका का मुख जल पात्र में रख कर नलिका का अन्तिम भाग नीचे की ढाल में ऐसे रखना चाहिए जिससे एक घटिका में नलिका में स्थापित जल निश्शेष होते हुये जल निःसरण स्थान स्थापित घटिका पात्र को पूर्ण कर दे, इसे एक प्रकार का घटी यन्त्र भी कह सकते हैं.... जल से एकादि घटिका पूर्ति से अहोरात्र में ६० नाक्षत्री घटिकायें होती हैं । नलिका से च्युत जल पुनः पात्र में गिरता रहने से, जल पात्र में पुनः जल प्रक्षेपण क्रिया नहीं करनी पड़ती है । यह भी स्वयंवह यन्त्र हो जाता है ।।५३।।५४।।५५।।५६।।

इदानीमन्येषां स्वयंवहमुपहसन्नाह—

यदधोरन्ध्रनलं तत् सापेक्षत्वात् स्वयंवहं ग्राम्यम् ।
चतुरचमत्कारकरी युक्तिर्यन्त्रं नहि ग्राम्यम् ।।५७।।

मरीचिः—ननु कुण्डचक्रनलकप्रणालिकादिक्रियया गुरुभूतमिदं स्वयंवहमुपेक्ष्य लाघवादृजुनलकं जलपरिपूर्णं केनचिदाधारेणान्तरिक्षे स्थिरं कृत्वाऽधश्छिद्रं सूक्ष्मं कारयेत् । तदधः स्थितं घटीपात्रसहितं चक्रं द्व्याधाराक्षस्थितम् । ऊर्ध्वाधरर्जुनलकाधश्छिद्रस्रवज्जल-

परिपूर्णघटीपात्रगुरुताभिर्नामितं स्वयमेव भ्रमत्येतादृशं यन्त्रं कुतो नोक्तमित्यत आर्यया-ऽऽह-यदधोरन्ध्रनलमिति ।

अधोरन्ध्रनलम् । अधोभागे छिद्रं सूक्ष्मं यस्यैतादृशो नलो यस्यैतादृशं स्वयंवहं चक्रम् । यत्पूर्वं त्वयोपपादितं तदिदं यन्त्रं ग्राम्यम् । न चमत्कारकरम् । कुत इत्यतः कारणमाह—सापेक्षत्वादिति । नलकस्थसंपूर्णजलस्रवानन्तरं नलको जलेन पुनः पूर्णः कार्य-श्चक्रभ्रमार्थमन्यथा तदसंभव इत्यपेक्षया तद्सहितं सापेक्षम् । तस्य भावः सापेक्षत्वं तस्मादित्यर्थः । मध्ये मध्ये जलप्रक्षेपणं नलके आवश्यकमिति पुरुषकृत्यपेक्षत्वाच्चमत्कारं नोत्पादयत्यतो लघुभूतं भवत्कल्पितमुपेक्ष्य स्वकल्पितमनतिगुरुभूतमुक्तमिति भावः ।

ननु ग्राम्याग्राम्यत्वाभ्यामुपेक्षापेक्षविषयेनत्व(यत्वेन)कल्पितयन्त्रे कुतः कृते इत्यत आह—चतुरचमत्कारकरीति ।

हि । यतः । चतुराणाम् । सुबुद्धीनाम् । चमत्कारः समीचीनयुक्त्येदं भ्रामितमिति मनस्यानन्दविशेषस्तं करोति । एतादृशी युक्तिः स्वयंयन्त्रं भवति । ग्राम्येऽपि मन्दानां चमत्कारोत्पत्तेश्चतुरेत्युक्तम् । ग्राम्याचतुरचमत्कारकरी युक्तिर्यन्त्रं न भवत्यन्यथाऽति-प्रसङ्गापत्तिरतो यन्त्राध्याये त्वत्कल्पितमुपेक्ष्य स्वकल्पितं निरूपितमिति भावः ॥५७॥

केदारदत्तः—उक्त स्वयंवह, यन्त्र ग्राम्य यन्त्र कहते हुये—

यह यन्त्र चमत्कार कारक नहीं होने से ऐसे यन्त्रों को ग्राम्य यन्त्र कहा गया है । क्योंकि नल में स्थापित सम्पूर्ण जल स्राव के अनन्तर पुनः नलिका में जल पूर्ति आवश्यक होती है, पुरुष द्वारा अनेक बार जल प्रक्षेप होते रहने से स्वयं वह की तरह यह यन्त्र चमत्कारिक यन्त्र नहीं कहा जा सकेगा ।

चतुरजनमन के लिये स्वयं वह स्वचालित यन्त्र ग्राम्य यन्त्र नहीं कहा जाता है ॥५७॥

एवं बहुधा यन्त्रं स्वयंवहं कुहकविद्यया भवति ।
नेदं गोलाश्रितया पूर्वोक्तत्वान्मयाऽप्युक्तम् ॥५८॥

वा० भा०—स्पष्टार्थमिदम् । अत्र भ्रमणं कालानुसारं स्वबुद्ध्या विधातव्य-मित्यध्याहार्यम् ॥५८॥

इति श्रीभास्करीये सिद्धान्तशिरोमणौ वासनाभाष्ये मिताक्षरे गोले
यन्त्राध्यायः ।

मरीचिः—ननु—कुर्याद्द्विजोऽपि चैवं घटिकां जह्युर्यथेष्टकालेन ।
मेषादीनां युद्धं सूत्रे सक्ते भवेदुभयोः ॥
परिकल्पितकालाध्वनि युक्त्या योगो भवेद्ध्रुवरयोः ।
घटिकाङ्गुलाङ्कितं वा ग्रसति मयूरः क्रमादुरगम् ॥
हन्ति मनुष्यः पटहं छादयति च्छादकस्तथा छाद्यम् ।

एवंविधानि यन्त्रा(ण्येवमनेकानि सिद्धानि) अनेन ग्रन्थेन लल्लोक्तानि सचमत्कृतिस्वयंवहयन्त्राणि कथं नोक्तानीत्यत आर्ययाऽऽह—एवं बहुधा यन्त्रमिति ।

एवम् । उक्तपारदजलादिरीत्या । कुहकविद्यया । कपटयुक्त्या । बहुधा । अनेकम् । स्वयंवहम् । यन्त्रम् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । अनेकानि स्वयंवहयन्त्राणि भवन्तीत्यर्थः । यन्त्रं स्वयंवहमित्युक्तेन स्वयंवहानां कालादिज्ञापकत्वेन यन्त्रत्वाद्यन्त्रप्रतिज्ञासिद्धस्वयंवहप्रतिज्ञापूर्वकमेव तन्निरूपितं नाप्रसक्तमिति स्फुटीकृतम् । तथा च स्वयंवहानामगणितत्वात्सर्वेषां निरूपणमशक्यमतो मया रीतिप्रदर्शनार्थं लघुभूतं प्रकारत्रयमुक्त्वा लल्लोक्तान्युपेक्षितानीति भावः ।

ननु तथाऽपि चमत्कारित्वान्नियतत्वात्तदुपेक्षा न युक्तेत्यत आह—नेति । इदम् । स्वयंवहयन्त्रजातम् । गोलाश्रितया । गोलाश्रितयुक्त्या न भवत्यतो मया गोलसंबन्धिना गोलप्रबन्धोद्यत इत्यनेन प्रतिज्ञातत्वादप्रतिज्ञातमिदमुपेक्षितमिति भावः । गोलाश्रितयेत्यनेन यन्त्राध्यायस्य गोलाध्यायान्तर्गतत्वं स्फुटमुक्तम् ।

ननु तर्हि त्वदुक्तं स्वयंवहयन्त्रनिरूपणं कथं संगतं स्यादित्यत आह–पूर्वोक्तत्वादिति मया । गोलप्रबन्धकर्त्रा । अप्रसक्तानिरूपकेनेत्यर्थ । अपिशब्दादप्रसक्तनिरूपणं जानतेत्यर्थः । उक्तम् । स्वयंवहयन्त्रं निरूपितम् ।

कारणमाह–पूर्वोक्तत्वादिति ।
वज्रच्छन्नं बहिश्चापि लोकालोकेन वेष्टितम् ।
अमृतस्रावयोगेन कालभ्रमणसाधनम् ॥
तुङ्गबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत् ।
गोप्यमेतत्प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह ॥
तस्माद्गुरूपदेशेन रचयेद्गोलमुत्तमम् ।
युगे युगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः ॥
प्रसादात्कस्यचिद्भूयः प्रादुर्भवति कामतः ।
कालसंसाधनार्थाय तथा यन्त्राणि साधयेत् ॥
एकाकी योजयेद्बीजं यन्त्रे विस्मयकारिणि ।
शङ्कुयष्टिधनुश्चक्रैश्छायायन्त्रैरनेकधा ॥
गुरूपदेशाद्विज्ञेयं कालज्ञानमतन्द्रितैः ।
तोययन्त्रकपालाद्यैर्मयूरनरवानरैः ॥
ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत् ॥
पारदाराम्बुसूत्राणि शुल्बतैलजलानि च ॥
बीजानि वासवस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः ॥

इति सूर्यसिद्धान्ते स्वयंवहरीतिप्रदर्शनादित्यर्थः । तथा च पूर्वोक्तरीतिभिन्नरीत्या

निर्मितग्रन्थे प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तिस्तत्तद्रीतिसंरक्षणार्थं यन्त्रस्वयंवहयन्त्रयोः कालज्ञान-रूपैककार्यत्वादेककार्यत्वसंगत्या प्रसङ्गसंगत्या वा संक्षिप्तं तन्निरूपणं संगतमेवेति। भावः ॥५८॥

अथ प्रारब्धयन्त्रनिरूपणं समाप्तमित्यग्रिमग्रन्थसंगतिसूचनार्थं फक्किकयाऽऽह—इति यन्त्राध्याय इति। स्पष्टम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
यातः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्ति यन्त्राधिकार इति बुद्धिविलासगम्यः॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामक-
मुनीश्वरविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याये
यन्त्राध्यायः सम्पूर्णः

केदारदत्तः—कुहुक (जादू) विद्याओं के अनेक यन्त्र—

इस प्रकार स्वयंवह नाम के अनेक यन्त्र हैं जो कुहुक (जादू की) विद्याओं से भले ही उपयोगी हो सकते हैं किन्तु खगोल ज्योतिर्विद्या में इनकी उपयोगिता आवश्यक सी नहीं है।

"उक्त प्रकार के अनेक यन्त्रों का उल्लेख मेरे से पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने अपने रचित ग्रन्थों में किया है जिनका समयानुसार मैंने भी यहाँ उल्लेख सा कर दिया है" इत्यादि ऐसा कहने से—

तात्पर्यतः आचार्य को उक्त स्वयंवह यन्त्रों पर आस्था नहीं है ॥५८॥

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रंथ के ग्रहगोलाध्याय यन्त्राध्याय :—१२ की श्री
पं० हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत
सोपपत्तिक "केदारदत्त :" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न।

●

अथ ऋतुवर्णनाध्यायः

अथ ऋतुवर्णनमाह—

उत्फुल्लन्नवमल्लिकापरिमलभ्रान्तभ्रमद्भ्रामरे
रे पान्थाः कथमव्यथानि भवतां चेतांसि चैत्रोत्सवे ।
मन्दान्दोलितचूतनूतनघनस्फारस्फुरत्पल्लवै-
रुद्वेलन्नववल्लरीष्विति लपन्त्युच्चैः कलं कोकिलाः ॥१॥

स्वकुसुमैर्मलिनामिव मालतीमवहसन्ति वसन्तजमल्लिकाः ।
उपवनं विनिवारयतीव ताः किसलयैर्मलयानिलकम्पितैः ॥२॥

विहाय सौधं तृणकुड्यमण्डपे प्रसिच्यमाने सलिलैः समन्ततः ।
शुचौ रमन्ते विरलं विलासिनः प्रियाजनैः सीकरसेचनोन्मुखाः ॥३॥

निदाघदाहार्तिविघातहेतवे वनाय कामोच्छ्रितचूतकेतवे ।
व्रजन्ति वापीजलकेलिलालसाः शुचौ रतिस्वेदगलज्जलालसाः ॥४॥

मदनदहनखिन्नामागतेऽप्येत्य काले
परिमलवहलानां मालतीनां नदीनाम् ।
अदय दयित सिञ्चस्याऽऽत्मदृग्वारिणा किं
परिमलबहलानां मा लतीनां न दीनाम् ॥५॥

वा० भा०—वर्षाकाले हृदयस्थमदयं दयितं प्रति विरहिणी किलैवं ब्रूते । हे दयित निर्दयास्मिन्नप्यागते काल एत्याऽऽगत्य किं न सिञ्चसि । काम् । मा इति माम् । कथंभूताम् । मदनहनखिन्नाम् । कामाग्निदाहाकुलाम् । पुनः किंविशिष्टाम् । दीनाम् । केन । आत्मदृग्वारिणा स्वदृक्सलिलेन । कासां संबन्धिनि काले । नदीनाम् । कथंभूतानाम् । परिमलबहलानाम् । परि समन्तात् । मलबहलानाम् । न केवलं तासाम् । मालतीनामपि । परिमलबहलानामामोदबहलानाम् । न केवलं तासामपि । लतीनामिति रतीनाम् । तासां च परिमलबहलानाम् । तत्र परस्य भावः परिमा । परिम्णो लवः परिमलवः । तं हरन्तीति परिमलबहराः । तासां परिमलवहराणाम् । रलयोर्बवयोश्चैक्यस्य श्लेषे तु गृहीतत्वात् । मानिनीनां

मानिनां वा कामातुराणां मानभङ्गेन तुच्छत्वमापादयन्तीनां रतीनामित्यर्थः ॥१॥
२॥३॥४॥५॥

अथर्तुवर्णनाध्यायः ।

मरीचिः—यष्टियन्त्रप्रतिज्ञातर्तुचिह्नज्ञानकारणम् ।
अथर्तुवर्णनाध्यायो धिया व्याख्यायते मया ॥१॥

तत्र शृङ्गाराधिदैवतमदनवयस्यत्वेनाधिगतर्तुराजत्वात्प्राधान्येन प्रथमं स्मृतं वसन्तं शार्दूलविक्रीडितेन वर्णयति—उत्फुल्लन्नवमल्लिकेति ।

चैत्रोत्सवे चैत्रमासवाचकमधुशब्दस्य वसन्तर्तुवाचकत्वाच्चैत्रपदेन वसन्तर्तुकालः । यद्यपि वैशाखमासवाचकमाधवशब्दस्य वसन्तर्तुवाचकत्वाद्वैशाखोत्सव इत्यपि सुवचम्, तथाऽपि चैत्रस्तदारम्भक इति द्योतनार्थं चैत्रेत्युक्तम् । स चासावुत्सवश्च । उत्सवहेतुत्वादायुर्घृतमितिवत् । यतो वसन्ते कामिनीकामुकयोर्मदनप्रकाराधिक्यवशेनानुरागप्राबल्यादनङ्गलीलारूपः सततमुत्सवः प्रवर्तत इति ताभ्यामुत्सवत्वेनाङ्गीकृत इति भावः ।

यद्यपि वस्त्रवैडूर्यचरणैरितिवच्चैत्रेत्यत्र वसन्तार्थे नेयार्थत्वं दोषस्तथाऽप्युत्वपदसांनिध्येन चैत्रोत्सवासंभवाद्वसन्त इत्यर्थस्याऽऽवश्यकत्वाद्वसन्तोत्सवस्य लोकप्रसिद्धत्वाददोषः । कोकिलाः । कोकिलस्त्रियः । उच्चैः प्लुतस्वरेण । ननु कोकिलस्त्रियो गृहीताः कुतः पुंलिङ्गेऽपि कोकिला इत्यस्य बहुवचनान्तत्वादत आह— कलमिति । मञ्जुलम् । तथा च पुरुषशब्दापेक्षया स्त्रीशब्दस्य मञ्जुलत्वात्ता गृहीता इति भावः ।

यद्यपि कोकिलत्वसामान्येन कलशब्दोच्चारणान्न स्त्रीणामेव सिद्धिस्तथाऽपि पुरुषस्त्रीतारतम्येन शब्दतारतम्यावधारणादधिककलत्वेन तदवगमः शक्यः । अत एवोच्चैरित्यव्ययमधिकद्योतकं संनिहितं दत्तमिति ध्येयम् । इति । इदं लपन्ति वदन्ति । कोकिलाः कूजितेनैवं वदन्तीत्युत्प्रेक्षार्थालंकारः । लपमित्यत्र यतिभङ्गेऽपि चरणान्तत्वाभावाददोषः ।

अत्र शृङ्गारविरोधिनां यतीनां भङ्गस्य शृङ्गारपोषकगुणत्वाद्वा न दोषत्वम् । इति किं तदाह—रे इत्यादि । पथिक विरुद्धसमये पथिकत्वमालम्बितमित्यनुचितद्योतनार्थं रे इत्यज्ञसंबोधनम् । पान्थाः प्रियाधिष्ठितप्रदेशातिरिक्तप्रदेशेष्वतिकष्टभूतमार्गत्वाभिमानात्तत्संबन्धिनः प्रियाविरहिण इत्यर्थः । अनेन विप्रलम्भाख्यः शृङ्गाररसो व्यज्यते । भवतां विरहिणाम् । चेतांसि मनांसि । अव्यथानि । पीडारहितानि । कथं कुतः । अस्मिन्समये विरहिणामतिदुःखं भवति । भवन्तस्तु व्यथारहिताः । सव्यथत्वेऽत्रावस्थातुमशक्यत्वात्परावर्त्य गतं स्यादित्याश्चर्येण प्रश्न इति भावः ।

ननु भवतीभिराकाशविहारातपसंतापादिस्वदुःखादेवमस्माकं पृच्छ्यते । इत्यतः कलशब्दकारणसूचकं तासां सुखावस्थानमाह—मन्दान्दोलितेत्यादि । मन्दं । शनैरान्दोलिताः कम्पिताः । वायुनेत्यर्थसिद्धम् । यद्यपि न्यूनपदमत्र दोषस्तथाऽपि मन्दान्दोलितेति शब्दश्रवणाद्वायुपदं विनाऽपि तत्कालमेव वायुकम्पिता इति बोधसंभवान्नयूनपदमत्रादोषः । अर्थबोधप्रतिबन्धकत्वाभावात् ।

ये चूताः । आम्रवृक्षाः । अत्राश्लीलं पान्थाधिकदुःखहेतुत्वान्न दोषः । तेषां नूतनाः । अल्पदिनजाः । कोमला इति यावत् । घनाः परस्परं संलग्नाः । स्फारं बहुलाः । स्फुरन्तो देदीप्यमानाः अरुणवर्णा इत्यर्थः । एतादृशैः पल्लवैः पत्रैः । उद्वेल्लन्त्यः परिवेष्टिताः । या नववल्लर्यो नूतनशाखामञ्जर्यस्तासु कोकिलाः पतन्तीत्यर्थः । तथा च वयमाम्रशाखाधिरूढा आतपादिदुःखाभावात्तन्नवाङ्कुरभक्षणसंजातमधुरभाषिणो भवद्विरहदुःखासहिष्णवो युष्मान्कृपया पृच्छाम इति भावः ।

ननूत्सवरूपवसन्ते कथमस्माकं युष्माभिर्दुःखसंभावना कृतेत्यत आह—उत्फुल्लन्नित्यादि । उत्फुल्लन्त्यो विकसन्त्यो या नवमल्लिका नूतनमल्लिकापुष्पाणि । नवेत्यनेन वसन्ते मल्लिका प्रभवतीति स्पष्टमुक्तम् । तासां परिमलाः सुगन्धास्तैर्भ्रान्तं विवेकज्ञानशून्यमुन्मत्तमित्यर्थः । एतादृशं भ्रमत् । इतस्ततो गच्छद्भ्रामरं भ्रमरसमूहो यत्र तस्मिंश्चैत्रोत्सव इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वत्र च दीर्घसमासः प्रसादोदारतौजःसमाधिगुणानां सत्त्वान्न दोषः । तथा च चैत्रोत्सवे नूतनमल्लिकागन्धाहूतभ्रमरान्मल्लिकाप्रियतमासंयोगसुखानुभवान्दृष्ट्वा स्वगृहस्थितरमणीसंस्मरणेन भवतां वियोगिनामत्यन्तदुःखं संभावितम् । संयोग्युत्सवरूपवसन्तस्य भवत्कृतान्तरूपत्वादिति भावः ।

ननु कोकिला इत्यत्र कोकिलस्त्रियः कथं गृहीताः । उक्तार्थस्य कोकिलपुरुषग्रहणे बाधकाभावात् । प्रस्तुतनववल्लरीषु कोकिला इत्यत्र स्त्रीपुरुषसंयोगव्यङ्ग्यात्प(थ्यः प) थिकानामत्यन्तं दुःखयोष(ग) इति चेन्न । पान्थकृतविरहानलव्याकुलानां पथिकस्त्रीणामस्मिन्समये संभावितात्यन्तदुःखाभिः स्त्रीत्वसामान्येन कण्ठमाधुर्यतुल्यतया वा तद्दूतीरूपाभिः पथिकपरावर्तनसंजातसंयोगसुखानुभवार्थमिवैते एवं पृच्छ्यन्ते । भवतां विदेशगमनेऽस्मिन्समये भवत्प्रियतमानां जीवनसंदेह इति भवच्चेतः कथमन्यथमिति निर्दयत्वं सूच्यते ।

अत एव चैत्रोत्सवविशेषणं भ्रामरे इत्यमङ्गलं न दोषः । नहि स्त्रीणां दूताः पुरुषाः संभवन्ति । तासाम्—

> पदन्यासो गेहाद्बहिरहिफणारोपणसमो
> वचो लोकालभ्यं कृपणधनतुल्यं मृगदृशः ।
> निजावासादन्यद्भुवनमपरद्वीपतुलितं
> पुमानन्यः कान्ताद्विधुरिव चतुर्थीसमुदितः ।

इति स्वरूपात् । अत्रानुप्रासः शब्दालंकार इति संक्षेपः ॥१॥

ननु तादृशभ्रमरदर्शनेन स्वरमणीसंस्मरणं कुतो भ्रमरस्य रमणत्वसंभवेऽपि मल्लिकायाः कान्तात्वासंभवादित्यतो द्रुतविलम्बितवृत्तेनोत्फुल्लन्नवमल्लिकामुत्प्रेक्षते—स्वकुसुमैर्मलिनामिवेति ।

वसन्तजमल्लिकाः । वसन्तकाले जाता मल्लिकावल्ल्यः । स्वकुसुमैर्निजोल्लासित पुष्पैर्दन्तोपमैर्मालतीं मालतीवल्लीम् । अवहसन्ति । मालत्या अवहासं कुर्वन्तीत्यर्थः । इवशब्दान्मल्लिकाः कुसुमविकासे मालतीमवहसन्तीत्युत्प्रेक्षालंकारः ।

कुतोऽवहसन्तीत्यतः कारणं मालतीविशेषणेनाऽऽह—मलिनामिति । मलयुक्तां शुष्कां गलत्पत्रां स्वपुष्पशोभारहितामिति यावत् । तथा च [यथा] श्रीमत्पुरुषत्रयाणां कान्ता नवयौवनाः स्वकान्ताधिकप्रीतिं धारयन्त्योऽगणितचारुभूषणभूषिताः स्वसमाजे आगतां दरिद्रकान्तामवहसन्ति तथा मल्लिका मालतीमवहसन्तीति मल्लिकानां सिद्धं कान्तात्वमिति भावः ।

अत्र बहुवचनैकवचनाभ्यामेकस्या बहूपहासैरप्रतिभेत्यत एव मालतीं मलिनामिवेत्युत्प्रेक्षाद्योतनार्थमवहसन्तीत्यग्रेऽपेक्षितोऽपीवशब्दो मलिनामित्यग्रे दत्तः । श्रीमत्कान्ताभिः स्वभूषणैर्भूषिताया अपि दरिद्रकान्तायाः स्वभूषणाभावजनितमनोमालिन्यं तथा मल्लिकापुष्पैर्भूषिताऽपि मालती मलिनैवेति द्योतनार्थं स्वकुसुमैरिति पदं मल्लिकासंनिधानेऽपेक्षितमपि मालतीसंनिधौ दत्तं दूरे । न तु तत्र तद्दानेन मालतीं स्वपुष्पैर्वर्जितामित्यर्थः । मलिनेत्यस्य वर्जितार्थत्वाभावात् । प्रत्युत—

> मा वम संवृणु विषमिदमिति सातङ्कं पितामहेनोक्तः ।
> प्रातर्जयति सलज्जः कज्जलमलिनाधरः शंभुः ॥

इतिवत्पुष्पयुता मालती प्रतीयेत ।

नन्ववहासेन तस्याः को वाऽपकर्ष इत्यत उत्प्रेक्षान्तरमाह—उपवनमिति । उपवनम् । सांनिध्यान्मल्लिकावल्लीसमुदायः । पुष्पवाटिकानां नगराद्बहिर्निकट एवोत्सर्गतः संभवादुपेत्युक्तम् । किसलयैः । कोमलपत्रैर्हस्तरूपैस्तां मालतीम् । विनिवारयतीति विशेषणेन गच्छेति वारणं तस्याः करोतीत्यर्थः । श्रीमतां मङ्गलरूपा उक्तगुणयुताः कान्ता अमङ्गलां दरिद्रवधूमायान्तीं हस्तकम्पनचेष्टया निवारयन्ति । तथा मल्लिका मालतीं स्वपत्रचेष्टया निवारयतीति मल्लिकायाः कान्तात्वं दृढं सिद्धम् । तस्या अपकर्षोऽपि स्पष्ट इति भावः ।

केचित्तु तामित्यत्र बहुवचनान्तं पाठं कृत्वा । उपवनम् । ताः । मालत्यवहसनकारिका मल्लिका विनिवारयति । मालत्या अवहासो न विधेय इत्येवंरूपं निवारणं मल्लिकानां करोतीत्यर्थ इत्याहुस्तन्न । वर्णनीयापकर्षप्रतीतेः ।

पत्राणां करणत्वे हेतुमाह—मलयेत्यादि । मलयकुलपर्वतादागतो वायुस्तेनाऽऽन्दोलितैरित्यर्थः । तथा च वायुप्रेरितपत्रकम्पनेन मल्लिका मालतीं निवारयतीत्युत्प्रेक्षा तदग्रस्थेन पदेन द्योतिता । अत्र मलयेत्यनेन तत्स्थचन्दनतरुसमालिङ्गितभुजंगतरुणीभिर्भुक्तावशिष्टवायुरत्यल्पत्वेन तत्तटादवरोहणेन श्रान्तो मन्दं मन्दमायात्यत एव कम्पितैरित्युक्तमतो वायोस्त्रिधा वर्णनमत्रासंभवि नेति सूचितम् ।

इदं किसलयचालनहेतुरूपत्वाद्विशेषणं समाप्तपुनरात्ततां न बिभर्ति इति ध्येयम् । अत्र

प्रसादमाधुर्यादिगुणाः, अनुप्रासोऽलंकारश्च । तथा च वसन्तस्य चिह्नान्याम्रनवाङ्कुर पल्लवकोकिलाकलस्वनमल्लिकानवपल्लवपुष्पसंभवा इति ।।२।।

अथ क्रमप्राप्तं ग्रीष्मं वंशस्थेन वर्णयति—विहाय सौधमिति ।

शुचौ । आषाढमासस्य तद्वाच्यत्वादाषाढसंबन्धेन ग्रीष्मर्तुस्तत्पदेन लक्ष्यते । न च ग्रीष्म इति विहाय शुचावित्येकदेशग्रहणेन संपूर्णर्तुग्रहणं कुतः कृतमिति वाच्यम् । ग्रीष्मेति भयहेतुनामश्रवणात्संजायमानतापाधिकतापसंभावनया कामिनीकामुकयोः सचिन्तयोः सङ्गाभावाद्विमनस्कता स्यादतस्तदपनोदार्थमेकदेशकालवाचकशब्देन हठात्तदृतुग्रहणात् । तदपनोदस्त्वाषाढस्य पूर्वाषाढानक्षत्रसंबन्धेन तत्त्वात्तेन प्राथमिकपूर्वाषाढानक्षत्रोपस्थितिद्वारा स्वस्वामिनो जलस्योपस्थित्या संजायमानतापशान्तिसंभवात् । एतदृतोः सङ्गप्रतिबन्धकत्वात्तयोः शुचावित्यनेन सचिन्तता द्योतिता ।

विलासिनः । सततं प्रियतमासुखाकाङ्क्षिणस्तरुणाः । सौधो गृहम् । विहाय । त्यक्त्वा तृणकुड्यमण्डपे उशीरतृणनिर्मितभित्तिभिर्निर्मितावारकस्थले सूर्यकरागोचरे इत्यर्थः । कुड्येति ग्राम्यं पदमपि डकारावृत्त्या न दुष्टम् । प्रियाजनैः स्वमनःप्रियतमाजनैः सह । अत्र जनपदेन प्रियाः स्वसखीदूतीसमूहसहिता लभ्यन्ते इति ध्येयम् । विलासिनः क्षणमपि प्रियतमां विना न गमयन्ति सदा तदनुयायिन इति सूचनार्थं विलासिनः प्रियाजनैरिति पदद्वयमव्यवहितमुक्तम् ।

विरलमल्पम् । रमन्ते । अनङ्गलीलामल्पां कुर्वन्तीत्यर्थः । प्रियाजनस्तु स्वेच्छया विरलं न रमते । पुरुषापेक्षयाऽष्टगुणमदनत्वादिति सूचनार्थं विलासिन इत्यस्य पश्चाद्विरलपदं दत्तम् । विलासिनोऽपि स्वेच्छया न रमन्ते । किंतु प्रियतमामनःसंरक्षार्थमिति सूचनार्थं रमन्ते इति व्यवहितमुक्तम् । शुचावित्यस्याग्रे एतद्दानमस्मिन्नपि ग्रीष्मसमयेऽनङ्गलीलां कुर्वन्तीत्यद्भुतव्यञ्जनम् ।

ननु गृहत्यागपूर्वकतृणनिर्मितगृहे रमणं कथं ग्रीष्मजनिततापस्योभयत्र संभवादन्यथा विरलरमणानुपपत्तिरित्यतो मण्डपविशेषणमाह–प्रसिच्यमाने इति । समन्ततः । आवारहेतुभूततृणनिर्मितानां परितः । सलिलैरुशीरकर्पूरैलादिमिश्रितजलैः । प्रकर्षेणानुवेलं सिच्यमाने । कृतसेचने । एतादृशे तन्मण्डपे इत्यर्थः ।

तथा च ग्रीष्मेऽर्ककराणामतितीक्ष्णत्वात्तत्संपाततापित गृहाश्मनिकरसंजातमहोष्मभी राव्यन्तं यावद्गृहे स्थातुमशक्यं कथं वा पुनरनङ्गविहार इति तृणगृहे तापं जलसेकादिनाऽपनीयाल्पं विहारं कुर्वन्ति । तद्बहुत्वे तच्छ्रमाधिक्येनोष्मणः पुनः संभवादूष्मणा सह विहारे तु किं विहारसौख्यं कथं वाऽल्पदुःखाभासासहिष्णुत्वरूपं विलासित्वमत एव जरालवो मन्मथनायकस्य निदाघकालः समया(यो)जगामेति केषांचिद्वर्णनं स्फुटमिति भावः ।

ननु तथाऽपि प्रियासुखासंभवाद्विलासित्वानुपपत्तिरित्यतो विलासिविशेषणमाह— सीकरसेचनोन्मुखा इति । सीकरा अम्बुकणास्तैः सेचनम् । तादृशक्रीडासु । उन्मुखाः ।

प्रियाभिः सह जलक्रीडोद्यता इत्यर्थः। तथा च प्रियया सार्धं जलक्रीडादिना प्रियासुखसंभवाद्विलासित्वानुपपत्तिर्नेति भावः। अत्र रमन्ते इत्यनेन संभोगः शृङ्गाररसो व्यज्यते। प्रसादमाधुर्यादयो गुणाः। अनुप्रासः शब्दालंकारः ॥३॥

ननु तादृशमण्डपे जलक्रीडायोग्यजलाभावात्कथं जलक्रीडोद्यता इत्यतो वंशस्थेनाऽऽह—निदाघदाहार्तीति।

शुचौ। ग्रीष्मर्तौ। आषाढमासे ग्रीष्मप्रारम्भ इति भ्रमवारणाय। ग्रीष्मसमाप्तिद्योतनाय चात्र पुनः शुचावित्युक्तमिति ध्येयम्। वापीजलकेलिलालसाः। वापीषु सरोवरविशेषेषु। जलैः केलयस्तासु सक्तान्तःकरणा विलासिनः। तथा च तन्मण्डपे जलक्रीडायोग्यजलाभावादेव वापीषु जलक्रीडोद्यताः। न च निकटस्थनद्यादौ जलक्रीडोद्यताः किं नेति वाच्यम्। प्राणाधिकप्रियतमामूल्यभूषणस्य प्रवाहपातेन पुनर्लाभाभावात्तद्धानिजनितप्रियतमामनोविभङ्गरूपप्रतिबन्धात्। सरोवरादौ तु नियमितजलात्पतितभूषणस्यानायासेन लाभान्निःशङ्कं जलक्रीडासंभवः। तत्र कमलिनीनां तन्मन्दमकरन्दलोलुपभ्रमराणां च सत्वात्कमलिनीभ्रमरयोर्नायिकानायकत्वापादनेन तदन्योक्तिभिरुपहासचेष्टादर्शनसंभवाच्च। कमलैः परस्परहननरूपकन्दुकादिक्रीडासुखानायासानुभवाच्च विलासित्वसंरक्षणार्थं वापीत्युक्तम्। वनाय। नगरोपवनं गन्तुं प्राप्तुम्। गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनीति सूत्रेण चतुर्थी। व्रजन्ति गच्छन्ति। सरोवरादिकानामुपवने संभवादुपवनं गच्छन्तीत्यर्थः।

ननु जलकेलिलालसाः कुतः संजाताः। उशीरतृणमण्डपे तापासंभवेन सुखावस्थानादित्यतो विलासविशेषणमाह—रतिस्वेदगलज्जलालसा इति। रतयः सानुरागप्रियतमयाऽनङ्गलीलास्ताभिः श्रमाधिक्यद्वारा संजातो यः स्वेदो धर्मस्तस्य गलज्जलानि स्रवदुदकानि तैरलसाः। व्यापारान्तरं कर्तुमक्षमा इत्यर्थः। तथा च सुरतश्रमेण तत्राप्यूष्मणः संभवात्तदपनोदार्थं जलक्रीडोद्यता इति भावः।

ननु गृह एव कमलादियुक्तं सरोवरं क्रीडार्थं कार्यमन्यथा विलासित्वानुपपत्तेः। मार्गे ग्रीष्मबाधासंभवादतो वनगमनमनुपपन्नमित्यतो वनविशेषणमाह—निदाघदाहार्तिविघातहेतवे इति। निदाघो ग्रीष्मोष्मा तेन दाहस्तेनाऽऽर्तिः पीडा तस्या विघातो नाशस्तस्य हेतुः कारणमेतादृशवनायेत्यर्थः। तथा च गृहस्थिततादृशसरोजलस्य सूर्यकरसंतापिताश्मनिकरजानतोष्मभिः सूर्यकिरणैश्च सततमत्युष्णत्वात्तादृशजलेन प्रत्युताधिकदाहो न तापशान्तिः। किंवा जलक्रीडासुखमिति वनस्थितसरोवरे जलस्य सदाशीतलत्वात्तत्र जलक्रीडाकरणार्थं वनं गच्छन्ति। मार्गतत्तापदुःखस्य भाविजलक्रीडासुखात्यन्तपरम्पराभिलाषबलेन निवारितत्वादिति भावः।

ननु सूर्यकराणामनिवारितत्वात्तत्र कथं सदा शैत्यं येन जलक्रीडार्थं वनगमनं युक्तं स्यादतो द्वितीयं वनविशेषणमाह—कामोच्छ्रितचूतकेतवे इति। काममत्यन्तमुच्छ्रिता दीर्घा

ये चूता आम्रवृक्षास्त एव केतवो ध्वजाश्चिह्नानि यस्तैतादृशवनायेत्यर्थः। यद्वा कामस्य मदनस्य उच्छ्रितचूता एव केतवो यत्र मदनोद्दीपनं वनमित्यर्थः। तथा चोपवने घनतराम्रादितरुभिः सूर्यकराणां वारणात्तत्सरोवरजलं सदा शीतलं वनस्य मदनोद्दीपनत्वादनङ्गविहारोऽधिकं तत्र संभाव्यते चेति भावः।

विलासिनो रमण्यश्च रत्युत्सवे ह्यानन्दनिमग्नतयाऽऽत्मानं विस्मृत्योन्मत्ततयाऽश्लीलं प्रलपन्तीति सूचनात्कामोच्छ्रितचूतकेतवे इत्यश्लीलं न दोषः। एवं सुरते तरुणवेगमसहमाना तरुणी तदानन्दात्यन्ताविर्भावेनोपेक्षितनिवारणं तरुणं प्रति जलेऽस्त्यमङ्गलमश्लीलं प्रलपति तदा भर्तुर्दासाधमत्वेनाभ्युपगमादिति सूचनाज्जलेऽस्त्यश्लीलममङ्गलं न दोषः। अत्र संभोगः शृङ्गारो रसः। प्रसादसमतामाधुर्यादयो गुणाः। अनुप्रासचरणैकदेशयमकाभ्यां शब्दालंकारसंसृष्टिरित्यादि ध्येयम्। तथा च ग्रीष्मचिह्नं दाहः ॥४॥

अथ क्रमप्राप्तं वर्षाकालं मालिन्या वर्णयति—मदनदहनखिन्नामिति।

विदेशस्थं प्रियतमं संस्मृतं प्रति विरहिणी वदति। नदीनां सरिताम्। काले। समये। आगते आयाते। तासां सययो ममान्तकतुल्य इति सूचनार्थं कालपदोपादानम्। ननु नदीनां नित्यं स्वस्थाने सत्त्वात्कथं नदीकाल इत्यतो नदीविशेषणमाह—परिमलवहलानामिति। परि समन्तान्मलः परिमलः। स वहल उत्कृष्टो विद्यते यासामेतादृशनदीनामित्यर्थः।

तथा च नदीपूरसमये नदीजलानामत्यन्तमालिन्याद्वर्षां विना नदीपूरासंभवाद्वर्षाकाले इति फलितार्थः। विरहिणीनामेतदृतौ प्रद्वेषादेतत्स्फुटनामाग्रहणमिति ध्येयम्।

ननु प्रियतमाधिष्ठितदेशे नद्यभावात्कथं तेन तदृत्वागमनमनुमेयम्। नदीपूरस्यासंभादत आह—मालतीनामिति। मालतीवल्लीनां काले आगते। ननूपवने मालतीवल्लीनां संभवात्कथं तासामयं कालो नियमित इत्यत आह—परिमलबहलानामिति। परिमलः सुगन्धः स बहल उत्कृष्टो विद्यते यासामेतादृशमालतीनामित्यर्थः। गन्धो दूरं गच्छतीति सूचनार्थं दूरविशेषणं न दोषः।

तथा च वर्षाकाले मालतीनां पुष्पोद्गमात्पुष्पमकरन्दसुगन्धाघ्राणेन वर्षाकालोऽनुमेयोऽन्यदा तासां पुष्पोद्गमाभावादिति भावः। अपिशब्दादेतावत्कालपर्यन्तं त्वया नाऽऽगतमित्येवानुचितं कृतं त्वय्यत्र स्थिते त्वद्भयादिवानेन समयेन कृतान्तरूपेण नाऽऽगतं स्यादित्यत एवादयेति संबोधनम्। दयारहितेति कठोराक्षरश्रवणेन कोपाधिक्यसंभवात्तदागमनं न स्यादिति निर्दयेत्युपेक्ष्यादयेति कोमलोक्तिः।

नन्वदयेत्युक्त्याऽपि स नाऽऽयास्यतीत्यतः संबोधनान्तरमाह—दयितेति। सदयो निर्दयो वा मम शरणं त्वमेवेति भावः। आत्मदृग्वारिणा। स्वस्य दृशोशनन्दुःखाश्रुजलेन। एकवचनेनाविच्छिन्नाश्रुजलधारा सूच्यते। किं कथं न सिञ्चसि। मां त्वमिति दयित सिञ्चसीत्यनेनाध्याहारः स्फुटः।

नन्वहं दूरस्थितस्त्वां कथं सिञ्चामि कथं वा मम सुखदुःखाश्रुजलसंभव इत्यत आह—एत्येति । मन्निवासगृहं तत आगत्येत्यर्थः । तथा चाऽऽगतस्य तव मद्दर्शनान्मदवस्थाज्ञानजनितदुःखाश्रुणः संभवात्सम्यगहमागतो नो चेदनया मृतं स्यादित्यादिप्रियतमादर्शनजसुखजनिताश्रुणः संभवाच्च तज्जलसेचनेनैतत्कालान्तकाक्रान्तां मां सुखयेति भावः ।

ननु तप्तस्य सेचनमुचितं न तवेत्यतः स्वविशेषणमाह—मदनदहनखिन्नामिति । मदनरूपाग्निना पीडिताम् । तथा चास्मिंस्तद्वियोगसमये मदनरूपोऽग्निरत्यन्तं मम दाहं करोतीति युक्तं सेचनमिति भावः । केचित्त्वात्मदृग्वारिणेत्यस्य स्वदर्शनरूपजलेनेत्यर्थमाहुस्तन्न । स्वदर्शनेन तस्या दृष्टिरस्मिन्पततीति तस्यां सेचनासंभवात् । नहि तस्यां तद्दृष्टिः पततीति युक्तं सेचनमिति वाच्यम् । तद्दर्शनलालसायास्तददर्शनेऽपि तद्दृष्टिपातेन विरहव्यथापगमापत्तेः । नहि दर्शनं विना व्यथापगमः संभवति । अत एव विरहबाधाव्याकुलया मूर्छितया च प्रथमं त्वं द्रष्टुमशक्य इति सेचनोत्तरं मया त्वं द्रष्टव्यः सेचनेन मूर्छापगमद्वारा प्रबोधसंभवादिति सूचितम् ।

> अङ्गानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः ।
> इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुवारिधाराभिरुष्णमभिसिञ्चति हृत्प्रदेशम् ॥

इति प्रसिद्धवर्णनादश्रुणा सेचनमविरुद्धम् । ननु त्वया स्वतापस्तत्कालजशीतलमालतीपुष्पैरपनेयस्त्वन्निमित्तं ममाऽऽगमनासंभवादित्यतः स्वविशेषणमाह—मालतीनामिति । मालती इनः सूर्यो यस्याः सा मालतीना । तां मालतीनाम् । यमके निहतार्थो न दोषः । तथा च पुष्पमकरन्दगन्धाहूतभ्रमरभुक्तां मालतीं दृष्ट्वाऽहं तवालाभात्तपामीति मालती मम दाहिका सूर्यतुल्येति भावः ।

केचित्तु मालतीनामित्यत्र मा लतीनामिति पदद्वयं मेत्यस्य मामित्यर्थः । लतीनामित्यस्य रतीनां परिमलबहुलानामिति विशेषणे परिमलबहराणाम् । बवयोर्लरयोः श्लेषे ऐक्यात् । अपचरतीनां सुरतोत्सवानां काले आगतेऽपि कथं भूतानां परिमलवहराणाम् । परस्य भावः परिमा परिम्णा लवः परिमलवस्तं हरतीति परिमलवहरास्तासाम् । उत्कृष्टांशहराणाम् । मानिनां मनस्विनीनां वा कामातुराणां मानभङ्गेन तुच्छदयितानामित्यर्थः ।

तथा च मम मामनाशङ्क्य न यास्यसि चेत्तर्हि अस्मिन्समये मम मानोऽपि नास्ति । सुखेन सुरतं कुर्विति भाव इत्याहुस्तन्न । यमकभङ्गापत्तेः । तदैक्यस्य श्लेषेऽभ्युपगमाच्च । रतीनां समयोऽस्ति मानवत्यहं न सुखेन सुरतं कुर्वित्यादिस्त्रीवचने रसभंगापत्तेश्च । किंच तद्दर्शने महदायासं मन्यमाना कथं सुरताभिलाषं कुर्यादिति ।

ननु शीतलान्तरोपचारात्स्वतापोऽपनेय इत्यत आह—दीनामिति । त्वां विना यत्किंचित्सुखदं वस्तु तन्मम संतापदुःखदमिति मामनन्यशरणामेतदृतुकालान्तकाक्रान्तामङ्गी कुर्विति भावः ।

द्वितीयपादे मालतीनां नदीनामित्यादृत्य मेति माम् । इनात्सूर्यात् । अलति । समर्था-

यमाने। सूर्यादप्यधिकसंतापके। इति कालविशेषणम्। तुर्यपादे मालतीपुष्पाणाम्। परिमलं गन्धम्। बवयोरैक्यात्। वहतीति परिलवहो वायुस्तस्य लानं ग्रहणं यस्या इति स्वविशेषणम्। दीनामित्यस्य हेतुगर्भमिति लक्ष्मीदासाः। अत्र विप्रलम्भः शृङ्गारः। प्रसादमाधुर्यादिगुणाः। अनुप्रासचरणयमकाभ्यां शब्दालंकारसंसृष्टिः ॥५॥

उच्चैर्विरौति हि मयूरकुलं यदम्ब
मन्दं कदम्बमकरन्दविमिश्रितश्च।
वातः प्रवाति पतिरेति न तेन मन्ये
निर्घ्राणनिर्घृणविकर्णविहृत्त्वमस्य ॥६॥

एवंविधं विरहिणी विरहेण खिन्ना
भिन्नाञ्जनच्छविघने गगने घनर्तौ।
मत्वा प्रियं तमदयं हृदयं प्रविष्टं
ब्रूते सपेशलमलं परिहासमिश्रम् ॥७॥

स्वतनुजवनराज्या पुष्पवत्याश्लिषन्त्या
ह्यनुचितकृतसङ्गोऽस्मीति शैलोऽनुतप्तः।
निशि शशिकरचञ्चन्निर्झरैरश्रुकल्पैः
शरदि हृदिजखेदस्वेदवान् रोदितीव ॥८॥

सहस्यकाले बहुशस्यशालिनीं चितामवश्यायकमौक्तिकोत्करैः।
प्रहृष्टपुष्टाखिलगोकुलामिलां विलोक्य हृष्यन्त्यधिकं कृषीवलाः ॥९॥

अरुणनीलनिमीलितपल्लवं प्रचुरफुल्लसमुल्लसनैः श्रियम्।
वहति कांचन काञ्चनकाननं नवतरां नितरां शिशिरागमे ॥१०॥

अपटुतिग्ममरीचिमरीचिभिर्नहि तथा शिशिरे शिशिरक्षतिः।
निशि यथोष्मलपीनघनस्तनीभुजनिपडीनतः स्वपतां नृणाम् ॥११॥

ऋतुव्यावर्णनव्याजादीषदेषा प्रदर्शिता।
कविता तद्विदां प्रीत्यै रसिकानां मनोहरा ॥१२॥

वा० भा०—अथ कविवर्णनम्। का सत्कवीनां विदग्धा भारती वाणी कस्य हृदयं न हरति। अपि तु सर्वाऽपि सर्वस्य। अनवरतरमणीया। सततं रम्या। किं कुर्वती। अभिदधती। कम्। अमितार्थम्। असंख्यमर्थम्। किंविशिष्टम्।

सरसम् । सा च कस्य न हरति । किम् । अर्थं हृदयं वा । या । का । नवरतरमणी । अपूर्वसुरता युवती । किंविशिष्टा । भारती भरतसंबन्धिनी नर्तकस्त्री । कथंभूता सती । कामिता । पुनः किंविशिष्टा । सानुरागा । किं कुर्वती । सरसमभिलपन्ती । विदग्धा ।

मरीचिः—अथ विरहव्यथासंजातोन्मत्ततया पूर्वोक्तं वारं वारं लपन्ती विरहिणी किमर्थमेवं लपसि । नह्येतावता स आयाति । धैर्यं धेहीति प्रत्युत्तरं ददतीं मातरं प्रति वसन्ततिलकया वदति—उच्चैर्विरौतीति ।

हे अम्ब । मातः । अनेन मनुष्या अतिव्यथायां मातुः स्मरणं कुर्वन्ति तन्नाम च प्रलपन्तीति सूचितम् । यत्पूर्वं निःशब्दं स्थितं तदेतन्मयूरकुलं मयूरपक्षिसमुदायः । कुलमित्यनेन पतिकलत्रपुत्रादिसंबन्धिकमयूराः सूचिताः । उच्चैः प्लुतस्वरेण विरौति । मदनोत्सवानन्देन शब्दं करोति । हि निश्चयेनान्यदा त्वेतादृशशब्दाकरणादेतत्कालस्य मदनोत्सवयोगत्वाच्च । विरौतीत्यनेन ते त्वानन्दिताः शब्दं कुर्वन्त्यपि मम रोदनतुल्यमतिगर्हितं लगति । दुःखिते मनसि सर्वमसह्यमिति सूचितम् । वातः । वायुः । मन्दं शनैः प्रवाति । प्रकर्षेणातिमन्दं संचरतीत्यर्थः ।

ननु मन्दवायुरयं तव तापं हरिष्यतीत्यत आह—कदम्बमकरन्दकरम्बित इति । कदम्बपुष्परसमिश्रित इत्यर्थः । कदम्बानामस्मिन्वर्षाकाले प्रफुल्लनाद्वर्षाकालजमेधमुक्तसीकरवहनमपि वायोः स्वतःसिद्धमिति त्रिधा वर्णनानुपपत्तिर्नेति ध्येयम् ।

तथा च भ्रमरोपभुक्तकदम्बकलिकायाः पतिस्मारकत्वात्तदलाभात्तब्दा(द्वद्दा)हिकया रसगन्धानयमानयतीत्यधिकं मम दाहक इति भावः । चः समुच्चये । एवमस्मिन्समये पत्युरपि मदनोद्दीपनसंभवादधिकविरहपीडया विदेशे स्थातुमशक्यत्वादागमनं संभावितमित्यस्मिन्नपि समये पतिर्भर्ता एति आगच्छति न । यद्यायातः स्यात्तर्हि प्राणसंभरणेन प्राणेश्वरः स्यादित्यनागमनेन ममानुरोधाभावात्केवलं पतिर्न प्रियतम इति सूचनार्थं पतिरित्युक्तम् । तेन कारणेनास्य पत्युर्निर्घ्राणनिर्घृणविकर्णविहृत्त्वम् । निर्घ्राणो गन्धग्राहकेन्द्रियेण रहितः । निर्घृणो दयारहितः । परहिंसकः । विकर्णः शब्दग्राहकेन्द्रियरहितः । विहृत् । हृदयशून्यः । एषां भावस्तत्त्वम् । निर्घ्राणत्वनिर्घृणत्वविकर्णत्वहृदयशून्यत्वमित्यर्थः । अहं मन्ये ।

अत्र तादृशवायुगतफुल्लकदम्बरसगन्धाघ्राणेन वर्षाकालं विरहिणीकृतान्तरूपं ज्ञात्वा मत्संरक्षणार्थमागतः स्यात् । यतो नाऽऽगतोऽतस्तस्य घ्रणेन्द्रियाभावस्तद्गन्धाज्ञानेऽनागमनस्य युक्तत्वात् । अथान्यपदार्थगन्धानभवान्न निर्घ्राणत्वमिति चेत्तर्हि निर्दयः । मृन्मय (मन्मृत्यु)करकालज्ञानादपि मत्संरक्षणार्थमनागमनात् । अथायं वायुस्तत्र न गत इति निर्घ्राणनिर्घृणत्वासंभवः । कालाज्ञानेऽनागमनादिति चेत्तर्हि मयूराणामुच्चतरविरावश्रवणेनाऽऽगतः स्यादतो विकर्णत्वम् । बधिरतया तदश्रवणेन युक्तमनागमनम् ।

अथ मयूरशब्दश्रवणेऽपि व्यासङ्गान्तरवशान्नाऽऽगत इति चेत्तर्हि सिद्धं विहृदयत्वम् । सहृदयत्वे विरहव्यथासहत्वाक्षमतया महत्कार्यमुपेक्ष्यापि शीघ्रं धावित्वैवाऽऽगतं स्यात् । अत्र विरहिण्याः क्रोधाविर्भावाच्छ्रुतिकटुपदगुम्फनागुणो न दोष इति ध्येयम् ।

अनेन त्वयाऽहमस्मै सम्यक्परीक्ष्य न दत्तेति तव दोषो मम विरहव्यथात्वेन फलित इति व्यञ्जितम् । अत्र विप्रलम्भः शृङ्गाररसः पतिरेति नेत्यनेन व्यञ्जितः । प्रसाद-माधुर्योदारता गुणाः । मयूरमित्यादौ वैदर्भी रीतिः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥६॥

अथोक्तं हृदि गतेन प्रियतमेन श्रुतं भविष्यत्यत एव तदागमनविलम्ब इति भयादिव हृदि स्थितं प्रियतमं प्रति पुनर्वसन्ततिलकया वदति—एवंविधं विरहिणीति ।

वर्षाणां विना मेघागमनासंभवाद्घनर्तौ वर्षाकाले इत्यर्थः । ननु मेघानामन्यदाऽपि दर्शनाद्घनर्ताविति कथमुक्तमत आह—भिन्नाञ्जनच्छविघने गगने इति । आकाशे भेदं प्राप्तं यत्कज्जलं तस्य कान्तिर्येषामेतादृशमेघा यस्मिंस्तस्मिन् सतीत्यर्थः ।

तथा चान्यदा मेघा विरलाः श्वेताः कदाचिदायान्त्यस्मिन्काले तु नित्यं जलपूर्णतया श्यामा मेघनिकरा आकाशे तिष्ठन्तीति भावः । विरहिणी । प्रोषितभर्तृका युवती । मत्वा । उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लव इत्युन्मत्तीभूयेत्यर्थः ।

> किंचिद्वक्ति करोति हासमसकृन्निर्याति संतिष्ठते
> बाष्पं मुञ्चति किंच रोषकलितां शोणां विधत्ते दृशम् ।
> मुग्धाक्षीति नमत्यकाण्डकुपितेत्याभाषते निष्ठुरे
> त्यालिङ्गत्यधुना स मन्मथशरैर्नीतः परां दुर्दशामित्यादि तद्व्यञ्जकम् ।

नन्वकस्मादुन्मत्तता कथं संजातेत्यतो विरहिणीविशेषणमाह—विरहेण खिन्नेति । विरहेण प्रियतमवियोगेन । एवंविधम् ।

> दृष्टिप्रेम पुरा भ्रमोऽथ मनसि प्रोक्तोऽथ संकल्पको
> निद्रोच्छित्तिरतः शरीरतनुता लज्जाविनाशस्ततः ।
> वैराग्यं विषयेष्वथो निगदिते उन्मादमूर्छे ततो
> मृत्युः स्यादिति पण्डितैः स्मरदशा उक्ता दशैव क्रमाद् ॥ इति ।

दशावस्थाः क्रमेणेत्यर्थः । खिन्ना उन्मादावधि दुःखितेत्यर्थः । अत एव—

> दयिते परदेशसंस्थिते शशिपङ्केरुहचन्दनादिभिः ।
> परितप्यत एव यद्वपुः कथिता सा कविभिर्वियोगिनी ॥

इति लक्षणाद्विरहिणीत्यनेन विरहखिन्नत्वसिद्धावपि विरहेण खिन्नेति पुनरुपादानं मूर्छान्तरितमरणावस्था निकटाऽस्तीति सूचनायेति ध्येयम् । तथा च क्रमेणैवोन्मत्तता संजातेति भावः । तं पतिं प्रतीत्यर्थः । प्रियं मनोहरं ब्रूते वाक्यं वदतीत्यर्थः ।

ननु देशान्तरस्थं प्रति कथं ब्रूते इत्यत आह—हृदयमिति । स्वमानसं प्रति प्रविष्ट-मागतं संस्मृतमित्यर्थः । ननु मनस्यणुरूपे महाकायप्रवेशेऽत्यन्तमस्या दुःखं संभावितम् ।

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमपि न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ।।

इति श्रीहर्षोक्तेश्च । तत्कथमस्या आसन्नमरणाया निकटे लौकिकमार्गेण नाऽऽगतः पतिरित्यत आह—अदयमिति । दयारहितम् । निर्दयस्य कठिनत्वेन प्रवेशे बहुदुःखसंभवादल्पदुःखावगमार्थमदयमिति मृदूक्तिः । तथा च दयारहितस्य परदुःखे इष्टापत्तिरिति भावः ।

नन्वेवादृशं विरोधिनं प्रति किमर्थं ब्रूते फलसिद्ध्यभावादत आह—प्रियमिति । मम मनसि विरहानलाक्रान्तेऽयमद्यापि मद्वेदनाभिज्ञतया मर्तुंकाम स्थित इति प्रियतमत्वेनाभिमतमित्यर्थः । तथा च प्रियं प्रति प्रियं वचनमुक्तं सफलमेवेति भावः ।

ननु स्वविरहवेदनयेयं कठिनमेव वदिष्यतीति प्रियं वचनं कथमत आह—सपेशलमिति । हृदि स्थितं प्रियमुन्नमत्तया त्वद्भ्रमाभ्यासेन वा । वस्तुतो विदेशादागतं जानतीति पुनः परावृत्य गच्छतीत्याशङ्कया कठिनं न वदति, किंतु सपेशलम् । मधुररससहितं अमृतादप्यधिकतरम् । तेनैव तद्वचनश्रवणसक्तान्तःकरणतयाऽत्र स्थिरो भवतीति भावः ।

नन्वेतादृशमप्यल्पार्थं वदिष्यत्यन्तःप्रहर्षादिति मनोहरं कथमत आह—अलमिति । अत्यर्थं सव्यङ्ग्यमित्यर्थः । तथा च मनोहरत्वे न क्षतिरिति भावः ।

ननु तथाऽपि प्राचीनदुःखसंस्मरणादिदं मनोहरमपि कपटवचनं भविष्यत्यन्तःप्रद्वेषसंभवादित्यत आह—परिहासमिश्रमिति । अनङ्गलीलायाम्—

चरणकमलमेकेनाङ्घ्रिणाऽऽक्रम्य भर्तुरपरपदसरोजेनाऽऽश्रयन्ती तदूरं(रू) ।
तरुमिव भुजवल्ल्याऽऽपीड्य चुम्बेन्नताङ्गी कथितमिह मुनीन्द्रैस्तद्धि वृक्षाधिरूढम् ।
जघनपरिसरस्थं श्रोणिदेशं स्वभर्तुर्निजभुजलतिकाभ्यां गाढमालिङ्ग्य रागात् ।
लुलितवसनकेशा चुम्बनं यत्र कुर्यात्स्फुटमिह परिरम्भं जाघनं तं वदन्ति ।।
स्थितं पतिं मीलितनेत्रयुग्मं पश्चात्प्रविश्येद्वनिता कुचाभ्याम् ।
गृह्णात्यसौ तामपि बिद्धकाख्यमालिङ्गनं तन्मुनिभिः प्रदिष्टम् ।।
अङ्केष्व(स्व)तल्पे पतिसंमुखस्था कान्ता समालिङ्गति यत्र गाढम् ।
मिथः प्रवेशं कुरुतो निजाङ्गैः स्यात्क्षीरनीरं परिरम्भणं तत् ।।
वल्लीव वृक्षं सरलाङ्गयष्टिं पतिं समालिङ्गति यत्र कान्ता ।
चुम्बेच्च रागात्कृतमन्दसीत्का प्रोक्तं बुधैर्वल्लरिवेष्टितं तत् ।।
इत्यादि परिरम्भणे । नारीमुखान्ते वदनं स्वकीयं समानयेद्यत्र बलेन कान्तः ।
सा नैव चुम्बेदतिकोपयुक्ता स्याच्चुम्बनं तन्मिलिताभिधानम् ।।
दयितस्य निवेश्य वक्त्रके निजवक्त्रं परिचुम्बिताधरम् ।
न पिबेदबला तदाननं स्फुरिताख्यं किल चुम्बनं तदा ।।
करेण कान्तस्य निमील्य नेत्रे जिह्वां मुखान्तर्विनिधाय वक्त्रम् ।
चुम्बेद्विलोला परिमीलिताक्षीं तद्घाटिताख्यं कवयो वदन्ति ।।

दन्तैर्गृहीत्वा मदनार्तिलोलाऽधरं विचुम्ब्याऽऽशु दशेत्स्वभर्तुः ।
कान्तस्तदीयं कथितं मुनीन्द्रैरित्युत्तरोष्ठं परिचुम्बनं हि ।।
आदाय दन्तच्छदमाशु पत्युः कराङ्गुलीसंपुटकेन नारी ।
जिह्वाग्रदेशेन घ(पु)टे दशेच्चेत्तच्चुम्बनं पीडितसंज्ञकं स्यात् ।।
अधरौष्ठयुगेन कामिनी पतिवक्त्रोष्ठयुगं स्वजिह्वया ।
परिपीड्य विचुम्ब्य नृत्यति कथितं तद्धि समौष्ठसंज्ञकम् ।। इत्यादि चुम्बने ।।
निधाय पादौ रमणांसयोश्चेदुत्तानसुप्ता रमते पुरंध्री ।
प्रतिप्रबन्धं समपादसंज्ञं प्रोचुस्तदा भोगविधानदक्षाः ।।

उत्तानितायाः स्मरमन्दिरोपस्थितस्तदूरुद्वयमुद्गृहीत्वा ।
संस्थाप्य वाह्यं कटितो रमेत कान्तस्तदा स्यात्किल नागराख्यः ।।
स्त्रियोऽङ्घ्रिमेकं विनिधाय भूमावन्यं स्वमौलौ निजपाणियुग्मम् ।
पृथ्व्या समाधाय रमेत भर्ता त्रैविक्रमाख्यं करणं तदा स्यात् ।।
तल्पप्रसुप्ता निजपादयुग्ममूर्ध्वं विधत्ते रमणी कराभ्याम् ।
स्तनौ गृहीत्वाऽथ भजेत कान्तो बन्धस्तदा व्योमपदाख्य उक्तः ।।
कान्तोरुयुग्मान्तरगः स्वहस्तौ निधाय भूमौ रमते पतिश्चेत् ।
बन्धस्तदोक्तः स्मरचक्रनामा प्रेष्टः सदा कामिजनस्य लोके ।।
नारी स्वपादौ दयितस्य वक्षःस्थितौ समालिङ्ग्य करद्वयेन ।
किंचिन्नतोरू रमतेतरामसौ प्रोक्तो मुनीन्द्रैरविदारिताख्यः ।।
उत्तानितोरुद्वयमध्यगामी दृढं समालिङ्ग्य भजेत यत्र ।
कान्तो विलासिप्रिय एष बन्धः सौम्याख्य उक्तः कविभिः पुराणैः ।।

ऊरुयुगं वक्त्रमुदञ्चितं च कृत्वाऽम्बुजाक्षी भजते पतिं चेत् ।
आनन्दकर्ता तरुणीजनानां बन्धोऽयमुक्तः किल जृम्भिताख्यः ।।

कान्तोरुयुग्मं परिवर्तितं चेन्निपीड्य कामाकुलचित्तवृत्तिः ।
रमेत भर्ता यदि वेष्टिताख्यं तदेति बन्धं मुनयो वदन्ति ।।

स्कन्धप्रदेशे विनिधाय जङ्घामेकां स्त्रियोऽन्यामथ संविदार्य ।
अधो विनीय प्रबलं रमेत भर्ता यदा रे(वे)णुविदारितं तत् ।।
विलासिनीं संहतमूरुयुग्मां कृत्वोर्ध्वमालिङ्ग्य भजेत भर्ता ।
उद्भुग्नकः स्यात्प्रमदाङ्घ्रियुग्मे कान्तोरसिस्थे स्फुटता(मा)न्प्रदिष्टः ।।
इत्युत्तानबन्धे । कान्ताङ्घ्रिमेकं हृदये स्वकीये निधाय भर्ता शयने द्वितीयम् ।
कुर्याद्रतिं चेदिति वीणकाख्यः प्रौढाङ्गनायां परिकल्पनीयः ।।
पार्श्वप्रसुप्तप्रमदोपरिस्थः कान्तः समालिङ्ग्य रतिं करोति ।
यत्र प्रदिष्टो मुनिभिः पुराणैर्बन्धस्तदा संपुटनामधेयः ।।

यद्यङ्गनाकुञ्चितपादयुग्मं स्वनाभिदेशे परिकल्प्य भर्ता ।
रतिं प्रकुर्यादिति कर्कटाख्यं तदा कवीन्द्रैः करणं प्रदिष्टमिति तिर्यग्बन्धे ।
प्रेङ्खाविलासं प्रसभं वहन्त्या विपर्ययाज्जङ्घयुगस्य नार्याः ।
पद्मासनं स्यादथ चैकजङ्घाविपर्ययात्तपपदं वदन्ति ॥
स्वजानुयुग्मान्तरनिर्गतौ चेद्भुजौ स्वकण्ठे विनयेन्मृगाक्षी ।
कान्तोऽपि कृत्वेति विधिं प्रगच्छेत्तदा बुधैर्बन्धुरिताख्यमुक्तम् ॥
उक्तप्रकारैर्यदि दम्पती स्वभुजौ तु कृत्वा मणिकूर्परस्थौ ।
स्वैरं रमेते करणं प्रदिष्टं तदा कवीन्द्रैः फणिपाशसंज्ञम् ॥
विधाय जङ्घायुगलं युवत्याः स्वकीययोः कूर्परयोरधास्थाः (थास्याः) ।
कण्ठे स्वबाहू परिणीय गच्छेत्पतिस्तदा संयमनाख्यमेतत् ॥
मुखे मुखं बाहुयुगे स्वबाहू जङ्घाद्वये जङ्घयुगं निवेश्य ।
गच्छेत्पतिश्चेदिति कौर्मकं स्यादूर्ध्वोरुयुग्मात्परिवर्तिताख्यम् ॥
स्थितां स्त्रियं कुञ्चितपादयुग्मां तथैव भर्ता कृततिर्यगङ्गः ।
भजेत चेत्कामकलाविदग्धां बन्धं तदा युग्मपदं वदन्ति ॥
विलासिनीकूर्परमध्यवर्ती कटिं स्वकीयां भ्रमयन्मुहुश्चेत् ।
भजेत भर्तेति दि(वि)र्दितं स्यात्तन्मार्कटं संमुखसंगमेन ॥ इत्युपविष्टबन्धे ।
संवेष्टयित्वा निजकूर्परेण जान(न्वङ्)गनाया अवलम्ब्य कण्ठम् ।
रतिं प्रकुर्यादिति कूर्पराख्यो बन्धः प्रदिष्टः स च जानुपूर्वः ॥
उक्तप्रकारे करणे यदैकः पादौ भवेदूर्ध्वगतोऽङ्गनायाः ।
तदा प्रदिष्टो हरिविक्रमाख्यो बन्धः 'प्रयोऽयं तरुणीजनानाम् ॥
कण्ठं भुजाभ्यामवलम्ब्य भर्तुः श्रोणी निजोरूयुगलेन गाढम् ।
संवेष्ट्य कुर्याद्रतमङ्गना चेदुक्तः कवीन्द्रैरिति कीर्तिबन्धः ॥
इत्युत्थितबन्धादौ ।
जातश्रमं वीक्ष्य पतिं पुरन्ध्री स्वेच्छात एवाथ रतेष्वतृप्ता ।
कंदर्पवेगाकुलिता नितान्तं कुर्वीत पुष्ट्यै पुरुषायितं सा ॥
उत्तानसुप्तं दयितं भुजाभ्यामालिङ्ग्य लिङ्गं विनिवेश्य योनौ ।
भजेन्नितम्बं परिचालयन्ती नारी तदा स्याद्विपरीतबन्धः ॥
सुप्तस्य पुंसो जघनोपरिस्थिता संभ्रामयन्त्यङ्घ्रियुगं विकुञ्चितम् ।
चक्राकृतिः स्त्री नरवद्विचेष्टते तद्भ्रामराख्यं करणं समीरितम् ॥
प्रेङ्खविभ्रमवती स्मरयन्त्रे भर्तृलिङ्गमुपधाय पुरन्ध्री ।
भ्रामयेत्कटिमनङ्गविलोला स्यात्तदा करणमुत्कलिताढ्य(ख्य)म् ॥
विपरीतरते ससीत्कृता वरहासाऽतिमनोरमानना ।
किं तवाऽद्य वशं गतोऽसि मे स्मरयुद्धे विजितोऽसि चाप्यलम् ।

इति मञ्जु रटन्त्यथाऽऽकुला सकचाकर्षणचुम्बिताधरा ।
श्रमनिमीलितचारुलोचना द्रवतां याति तदा विलासिनी ॥
श्लथदेहलतां समूर्छनां दरसंमीलितलोचनोत्पलाम् ।
समवेक्ष्य नितान्तनिःसहामवगच्छेदबलां द्रुतामिति ।
विपरीतरते यदाऽङ्गना हृदि मुष्टया परिताडयेत्पतिम् ।
करघातनकं तदा बुधैरिति संतानितसंज्ञमुच्यते ॥
विस्तीर्णहस्तेन रतौ यदा स्त्री हन्यात्पतिं स्यात्सपताकसंज्ञः ।
अङ्गुष्ठकेनैव कृतप्रहारो विज्ञैः स उक्तः किल बिन्दुमालः ॥
साङ्गुष्ठमध्याङ्गुलिकाप्रहारं शनैः पुरन्ध्री कुरुतेऽतिरागात् ।
यद्येष उक्तः कविभिः पुराणैरानन्दकृत्कुण्डलनामधेयः ॥इति ।

पुरुषायितताडनयोश्च मया त्वमुपद्रुतस्तत्त्रासादि शीघ्रं नाऽऽगतोऽसीत्युपहासैरुपहासान्तरैर्वा संयुक्तमित्यर्थः । तथा चोपहासानां निष्कपटद्योतकत्वाद्वस्तुतः प्रियतमसमागम इव विरहदुःखं विस्मृत्य स्वानन्देन लपतीति भावः । अत्र बिरहाख्यः शृङ्गारो रसः । प्रसादमाधुर्यादिगुणाः । अनुप्रासोऽलंकारः । तथा च नदीपूरमालतीप्रफुल्लनमयूरशब्दकदम्बप्रफुल्लनमेघागमादिकं वर्षाकालचिह्नम् ॥७॥

अथ क्रमप्राप्तां शरदं मालिन्या वर्णयति—स्वतनुजवनराज्येति । शरदृतौ शैलः पर्वत इत्येवमनुतप्तः पश्चात्तापं प्राप्तः सूर्यकिरणतप्त इत्यर्थः । निशि रात्रौ । दिने निर्झराणां सूर्यकिरणैः शोषसंभवाच्छशिकरचञ्चन्निर्झरैः । चन्द्रकिरणप्रतिफलनाद्देदीप्यमाना ये निर्झराः स्वाङ्गस्रवदुदकधारारूपास्तैरश्रुकल्पैर्नेत्रोद्भवोदकतुल्यैरित्यर्थः । कल्पेत्यनेन निर्झरा उपमेया उपमानाश्रुभिरुपमिता इत्युपमालंकारः । रोदिति रोदनं करोति । इवशब्दादेते पर्वतनिर्झराः पर्वतरोदनजाश्रूणीत्युत्प्रेक्षालंकारः । नन्वनुतप्तोऽपि रोदनं कुतः करोति धैर्यधरणेन तदसंभवादित्यतः शैलविशेषणमाह—हृदिजखेदखेदवार्निर्ति । हृदि अन्तःकरणे जातो यः खेदः सहनायोग्यं यद्दुःखं तस्माज्जाता ये स्वेदा घर्मोदकानि तैर्युक्त इत्यर्थः । तथा चात्यन्तदुःखाधिक्येन धैर्यापाकरणाद्रोदनं संभवतीति भावः । अनेन पर्वतनिर्झराः पर्वतघर्मोदकोत्प्रेक्षिताः । अत एव घर्मोदकस्याश्रुत्वासंभवात्तद्भेदेऽपि तद्भेदज्ञानार्थमश्रुकल्पैरिति पृथगुक्तमिति ध्येयम् ।

इति किमतस्तमनुतापमाह-स्वतनुजवनराज्येति । स्वस्य पर्वतस्य तनुः शरीरं तस्माज्जाता या वनराजिर्लतापङ्क्तिस्तयेत्यर्थः । अनुचितकृतसंगः । अनुचितो निन्दितः कृतः संपादितः सङ्गः समालिङ्गनादिकं येनासौ । पुत्रीं प्रति गत इत्यर्थः । एतादृशोऽहमस्मि तिष्ठामि । अस्मीत्यनेनैतादृशं पापं कृत्वाऽपि जीवामि लोकानां मुखं च प्रदर्शयामीत्यतिनिर्लज्जत्वं भ्रष्टत्वं सूचितम् ।

ननु प्रथमं सङ्गः किमर्थं तदनु पश्चात्तापश्च किमर्थमित्यतो वनराजिविशेषणमाह—

आश्लिषन्त्येति ! आश्लेषं समालिङ्गनं कुर्वत्या । तथा च मया स्वेच्छया सङ्गो न कृतः किंतु तदिच्छया बलात्कारेण संजात इति पश्चात्तापः प्रायश्चित्ताधिकारसंपादनार्थं युक्त इति भावः । अपिशब्दात्—

लङ्केश्वरो जनकजाहरणेन वाली तारापहारकृतयाऽप्यथ कीचकाख्यः ।
पाञ्चालिकाग्रहणतो निधनं जगाम तच्चेतसाऽपि परदाररतिं न काङ्क्षेत् ।।
आयुः क्षितिर्विकलताऽप्युपहास्यता च निन्दाऽर्थहानिल द्युते विगतिः परत्र ।
स्यादेव यद्यपि रतेन पराङ्गनायाः प्राहुस्तथाऽप्यनघमित्यपि कारणेन ।।

उर्वशीसुरतचिन्तया ययौ संक्षयं किल पुरूरवा नृपः ।
रक्षणाय निजजीवितस्य तत्संभवेत्परवधूं न कामतः ।।
नारी चोन्नतयौवनाऽभिलषितं कान्तं न चेदाप्नुया-
दुन्मादं मरणं च विन्दति तदा कंदर्पसंमोहतः ।
संचिन्त्येति समागतां परवधूं रत्यर्थिनीं स्वेच्छया
गच्छेत्क्वापि न सर्वदा सुमतिमानित्याह वात्स्यायन : ।।
अपि द्विजश्रोत्रियमित्रभूपसंबन्धिभार्या यदि पञ्च भुक्ताः ।
स्युस्ताश्च दोषाय न चेत्प्रगच्छेद्धेतुं विना कामत एव नैवम् ।।
इत्युक्तेन तदिच्छाकृतसंगाद्दोषाभावेऽप्यहं—
कन्या प्रव्रजिता सती रिपुवधूर्मित्राङ्गना रोगिणी
शिष्या ब्राह्मणवल्लभाऽथ पतितोन्मत्ता च संबन्धिनी ।
वृद्धाऽऽचार्यवधूश्च गर्भसहिता ज्ञाता महापापिनी
पिङ्गा कृष्णतमा सदा बुधजनैस्त्याज्या इमा योषितः ।
इत्यगम्यस्त्रीमुख्यत्वात्—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।

इति धर्मशास्त्रस्यार्थशास्त्रतो बलवत्वाच्च महापातकं मन्यमानोऽधिकममनुपामीति सूचितम् ।

ननु तया कुतस्तवाऽऽश्लेषः कृत इत्यतो वनराजिविशेषणमाह—पुष्पवत्येति । तथा च यौवनमदभ्रामितया मां पितृत्वेनाजानन्त्या पुरुषान्तराभावान्मय्याश्लेषः कृत इति भावः । पुष्पवत्येत्यनेन रजोदर्शनसमये संजातसङ्गादधिकं पापं सूचितम् । अत्रोत्प्रेक्षया पर्वतस्यैतादृशमहापातकिन उपमा व्यज्यते । अत्र शृङ्गाररसाभासो रोदनसूचितकरुणारस-पर्यवसानान्न दोष इति ध्येयम् ।

यदा स्वस्य आत्मनः पर्वतरूपस्य तनुजा शरीरोत्पन्ना या लतापङ्क्तिस्तया पुष्प-वत्या आश्लिषन्त्याऽपि हृदिजखेदस्वेदवान्हृदिजो मदनस्तत्कृता ये खेदा विरहदुःखानि तैः

स्वेदः सात्त्विकभावः प्रथमघर्मोदकं तदाश्रयीभूता भूरुहः। वृक्षास्तु स्वमध्यावस्थायां स्वान्तर्गतजलं स्रवन्तीति प्रसिद्धम्। तन्मदनकृतपीडाजनितघर्मोदकोत्प्रेक्षितमिति मन्तव्यम्।

अनुचितकृतसङ्गाः। अनुचितो निन्दितः कृतः संपादितः संयोगो येनासौ। लतास्तु वृक्षस्कन्धं वेष्टयन्ति। रजोदर्शनसमये स्त्रीसङ्गोऽत्यन्तं निषिद्ध इति हेतोः। अस्मीत्य-हमर्थेऽव्ययम्। उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्चेति सूत्रात्। लताजनकः शैलः शीलसंबन्धी शीलवान् सदाचरणशीलोऽतिश्रोत्रियः पर्वतः। अनुतप्तः सूर्यकिरणतप्तरूपतया संतापं प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा। कन्यायास्तादृशमौद्धत्यं श्रोत्रियपितुः संतापकारकमेवेतिपदस्य पुनरा-वृत्त्या। इति एवंरूपं निशि शशिकरचञ्चन्निर्झरैश्रुकल्पैः रोदितीवेत्युत्प्रेक्षा।

दिने श्रोत्रियस्य स्वशिष्टत्वलज्जासंरक्षणार्थं लोकनिकटे रोदनासंभवाच्च। अस्मीत्य-त्रास्तीति पाठे इतिपदस्य नाऽऽवृत्तिरिति ध्येयम्।

केचित्तु स्वतनुजवनराज्यां जीवसे संश्लिषन्त्यां वितनुजकृतसङ्गोऽस्मीति पाठं प्रकल्प्य स्वकन्यारूपायां वनराज्यां जीवने पानीये क्लीबरूपे भर्तरि संश्लिषन्त्यां सत्यामहं पर्वतो वितनुजकृतसङ्ग। विगतो तनुजः पुत्रो दौहित्रस्यापि पुत्रत्वोक्तेः। तेन कृतः सङ्गः समालिङ्गनं यस्यैतादृशो दौहित्राभाववानस्मीत्यनुतप्तोऽत एव मनसि जातो यः खेदस्तेन खेदवान् रोदितीव। को हि नाम सभर्तृकां वन्ध्यां दुहितरं द्रष्टुमीष्टे।

अत्र लतायाः कुसुमसंभवेऽपि फलरूपपुत्रस्यानुत्पादाद्वन्ध्यात्वमित्यवधेयम्। लता फलभरनमिताङ्गी मां प्रति नाऽऽसतेति युक्तमाहुः। प्रसादमाधुर्यगुणौ। अनुप्रासः शब्दा-लंकारः। तथा च पर्वतलताप्रफुल्लनं चन्द्रज्योत्स्नाजलातिनिर्मलत्वं शरदृतुचिह्नम्॥८॥

अथ क्रमप्राप्तं वंशस्थेन वर्णयति—सहस्यकाल इति। कृषीबलाः कर्षकाः। सहस्य-काले। हेमन्तैकदेशपौषमासग्रहणात्संपूर्णो हेमन्वतुर्गृह्यते। ऋतुप्रक्रमात्। न च हिमस्य काले इति किं नोक्तमिति वाच्यम्। कृषिरक्षणार्थं गृहवाह्यस्थानां कर्षकाणां प्रावरणाल्पतया हिमर्तुनामश्रवणादतिव्याकुलतापत्तेः। न च तथाऽपि मार्गशीर्षनामग्रहणेन कथं स नोक्त इति वाच्यम्। कार्तिकान्तशरत्कालादग्रिममासग्रहणेन हिमर्तोरेकमासमितत्वभ्रमसंभवात्। अन्तिमपौषमासग्रहणे तु पूर्वमासस्य पूर्वमनागतत्वाद्गणना स्वतःसिद्धेति हिमर्तोर्द्विमास-त्वेनावगमाच्च। हकारलोपेन सस्यकालप्रतीत्या कर्षकाणां स्वव्यापारप्रवृत्तिसंभवाच्च।

ननु मार्गशीर्षवाचकसहःशब्दसप्तम्याऽपि पदच्छेदसंभवादकाले इत्यत्रास्य विष्णोः कालो मासानां मार्गशीर्षोऽहमित्युक्तेरित्यर्थसंभवादस्य तद्विशेषणत्वाच्च कथं पौषमास-ग्रहणेऽभिनिवेश इति चेन्न। अकाले इत्यस्य व्यर्थविशेषणत्वात्। कृष्याभमङ्गलार्थप्रतीति-कारकत्वाच्च। इमां(लां) कृषिभूमिं विलोक्य सादरं दृष्ट्वा अधिकमत्यन्तं तुष्यन्ति। अस्मिन्वर्षेऽस्माकं वहुद्रव्यलाभो भवितेति तुष्यन्तीत्यर्थः।

ननु केवलतद्भूदर्शनेन द्रव्यलाभाभावात्तोषः कथं संभवत्यन्यथाऽन्यदाऽपि तदनिवा-

रणात्सहस्यकाले इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिरत इलाविशेषणमाह—प्रहृष्टपुष्टाखिलगोकुलामिति । प्रकर्षेण हृष्टं पुष्टमभिमतभक्षणाच्छरीरारोग्यधारि । एतादृशमखिलं समग्रं गोकुलं गोबलीवर्दसमुदायो यस्याम् । अत्र कुलशब्दस्यानेकरूपसमुदायवाचकत्वादखिलशब्दस्य तत्समुदायवाचकत्वाद्भेदोऽवधेयः । यद्वा—अखिलशब्दोऽदुष्टवाचकः । ननु प्रहृष्टमखिलानां कृषीवलानां गोकुलमिति । कृषीवलानामुपक्रमात्तस्य वैयर्थ्यात् । तथा च तद्विक्रयाद्द्रव्यलाभ इति भावः ।

ननु तत्काले प्रहृष्टपुष्टं गोकुलं कुत इत्यतो द्वितीयं विशेषणमाह— बहुसस्यमा[शा]लिनीमिति । बहुविधसस्यबाहुल्येन शोभायमानाम् । तथा च कृषिभूमावसंख्यसस्यसंभवात्तद्भक्षणेनास्मिन्काले प्रहृष्टपुष्टं गोकुलं जातमिति भावः । अनेन धान्यादपि विक्रयेण द्रव्यलाभादधिकं सुखं युक्तमित्यपि सूचितम् ।

ननु वर्षाकाले सस्यबीजरोपणादनन्तरं शरदि संजाताल्पवृद्धीनां सस्यानां हेमन्ते वर्षाभावात्कथं संरक्षणं वृद्धिर्वा भवति । प्रत्युतातिमृदूनां सूर्यकिरणतापाद्दग्धत्वापत्तिरतस्तृतीयं विशेषणमाह—चितामिति । अवश्यायकमौक्तिकोत्करैः । अवश्यायस्तु नीहार इत्यभिधानादवश्यायो हिमं तस्य कानि जलानि सीकररूपाणि तान्येव मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषामुत्कराः समूहास्तैरित्यर्थः । तथा च हेमन्ते हिमकणपातात्तज्जलैः सस्यानां वृद्धिः कोमलसूर्यकिरणदाहनिवारणं च भवतीति भावः ।

अत्र चितामित्यमङ्गलं शरद्वर्णनविषयपापस्य देहान्तप्रायश्चित्तसूचनान्न दोषः । तादृशपापाभावे कृषिः सम्यक्सस्या भवत्यन्यथा नेति सूचनार्थमत्र तदुपा[दा]नं हठादिति ध्येयम् । अत्र मौक्तिकेत्यनेन कृषिभूमौ हिमजलकणा मौक्तिकानीत्युत्प्रेक्षालंकारः । अत्रानावश्यकोत्प्रेक्षया भूमौ नायिकोपमा व्यज्यत इतीदं पद्यं श्लेषार्थेन नायिकापक्षेऽपि । तथा हि—

हेमन्ततौं कृषीबलाः कृषी बलं येषां ते कृष्युत्पन्नान्नभक्षणाद्बलं जीवनं भवतीति पुरुषा इत्यर्थः । इलाम् । इकारः शंकरः प्रोक्त इत्यभिधानात् । इं शंकरं सुखकारकपुरुषं लात्यनुगृह्णातीतीलाम् । सुखकारकपुरुषानुरागिणी तरुणीमित्यर्थः । विलोक्य सादरं स्फारस्फुट[र]न्नेत्राभ्यामावीयेत्यर्थः । अत्यन्तं तुष्यन्ति । एतां रात्रावालिङ्ग्य हिमपतेष्यामः । अत एव—

हसन्तीं वा हसन्तीं वा हसन्तीं वामलोचनाम् .
हेमन्ते ये न सेवन्ते ते नरा दैववञ्चिताः ॥

इत्युक्तिरिति भावः । नन्वस्या आलिङ्गनेन हिमापगमः कथमित्यत आह—प्रहृष्टेत्यादि । प्रकर्षेण हृष्टा संतुष्टा या पुष्टा परपुष्टा । नामैकदेशे नामग्रहणात् । मिहिरस्तदेक इत्यत्र वराहमिहिरत् । अथवा प्रहृष्टेन पुष्टा संतुष्टेनैवान्यपोषणं क्रियते न दुःखितेनेति प्रहृष्टेन काकेन पुष्टा कोकिलेत्यर्थः । तस्या अखिलमदुष्टं शुभमित्यर्थः । गोकुलं वाक्समूहो

यस्याम् । तथा चैतस्या वचनानां परपुष्टवचनतुल्यतयाऽस्या दर्शनादौ कोकिलोपस्थित्या तत्समयवसन्तस्मरणेन तत्र हिमस्याभावात्तद्ध्यासक्तान्तःकरणानामस्माकं हिमं न लगतीति भावः ।

ननु सा भवद्भिरप्राप्येत्यत आह—बहुसस्येत्यादि । बहु सस्यं यस्य तस्मिन् पुरुषे मा[शा]लिनीं शोभायमानाम् । अत्र सस्योपलक्षणाद्धनादिकं बोध्यम् । तथा चास्माकं द्रव्येण सर्वे वशा इतीयमपि धनस्पृहया सुलभेति भावः ।

नन्वेवं धनस्पृहया स्वयमेव सा यास्यति किमर्थं दर्शनेन स्वानुरागप्रकटनमस्वामित्यत आह—चितामिति । अवश्यायकमौक्तिकोत्करैः । अवश्यो वश्य इच्छाविषयस्तद्भिन्नोऽनिच्छाविषय इत्यर्थः । स आय एवाऽऽयको लाभोऽमूल्यमौक्तिकानीत्यर्थः । तेषामुत्करैश्चितां तद्धारादिभूषणैः संयुक्तामित्यर्थः । तथा च साऽपि धनवती । तथास्पृहाभावाद्विनाऽस्मदनुरागप्रकटनमायातुमशक्येति स्वानुरागप्रकटनमावश्यकमतस्तद्दर्शनमुचितमेवेति भावः ।

एतेन शृङ्गारिणामस्मिन्पद्ये शृङ्गाराभावान्नासिकासंकोचोऽपास्तः । प्रसादादिगुणाः । अनुप्रासोऽलंकारः । तथा च सस्यनिष्पत्तितुषारपातौ हिमर्तुचिह्ने ॥९॥

अथ क्रमप्राप्तं शिशिरर्तुं द्रुतविलम्बितवृत्तेन वर्णयति—अरुणनीलेति । शिशिरागमे शिशिरर्तुप्रारम्भे जाते सति । कांचनकाननम् । कांचनाः कांचनाराख्यवृक्षाः । नामैकदेशे नामग्रहणात् । अत एव तत्त्वचया सुवर्णस्य भस्म भवतीति प्रसिद्धम् । तेषां काननं वनं समुदाय इत्यर्थः । अरुणनीलिममीलितपल्लवप्रचुरफुल्लसमुल्लसनैः । अरुणनीलयोर्भावोऽरुणिमा नीलिमा । आभ्यां मीलिता मिश्रिता युक्ता एतादृशा ये पल्लवा आरक्तनीलतन्मिश्रपत्राणीत्यर्थः ।

प्रचुराण्युत्कृष्टानि यानि फुल्लानि पुष्पाणि तेषां समुल्लसनं विमासनं तैरित्यर्थः । पत्रपुष्पयोर्बहुत्वाद्बहुवचनम् । नवतरां नूतनामपूर्वामित्यर्थः । नितरामतिशयिताम् । कांचन । अनिर्वचनीयाम् । श्रियं शोभां वहति धारयति । प्रसादमाधुर्यादिगुणाः । तृतीयचरणे यमकालंकारः । अन्यत्रानुप्रासालंकारः । तथा च कांचनारिपुष्पोद्गमः शिशिरर्तुचिह्नम् ॥१०॥

ननु गृहे छायादित आनीतसायनार्कभुजातसायनार्कज्ञानार्थं पदज्ञानं वनगमनश्रमेणातिगौरवाल्लाघवाद्गृह एव पदज्ञानार्थं शिशिरर्तुं प्रकारान्तरेण द्रुतविलम्बितवृत्तेन वर्णयति—अपटुतिग्ममरीचीति ।

शिशिरर्तौ । अपटुतिग्ममरीचिमरीचिभिः । अपटवः शत्रुप्राबल्यादसमर्थाः । न विद्यन्ते पटवो येभ्यस्तेऽपटवः । ये तिग्ममरीचेः सूर्यस्य मरीचयः किरणास्तैः । शिशिरक्षतिः । हिमस्य नाशः । हि निश्चयेन । तथा तादृशो न भवति । यथा यादृशः । निशि

रात्रौ । हिमोपचयाधिक्येऽतीत्यर्थः । नृणां पुरुषाणाम् । उष्मलपीनघनस्तनीभुजनिपीडनतः । उष्म ऊष्णतायुक्तौ पीनौ मांसलौ पृथु घनौ निबिडौ कठिनावित्यर्थः । इभकुम्भरूपाविति फलितम् । स्तनौ वक्षोजौ यस्याः सा । तस्या युवत्या भुजाभ्यां नितरां पीडनं दृढाश्लेषस्तेन स्वपतां निद्रादिजनितं सुप्तमिन्द्रियाणां निमीलनमित्युक्तरूपं स्वापं कुर्वताम् । हिमनाशो भवति । अनेन ।

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमाक्ते कान्तापयोधरयुगे रतिखेदखिन्नः ।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्रः ।।

इति वर्णितं ज्ञेयम् । प्रसादादिगुणाः । पूर्वार्धे यमकालंकारः । तथा च शीताधिक्यं शिशिरर्तुचिह्नं तज्ज्ञानं गृहेऽपि भवतीति भावः ।।११।।

ननु परिज्ञानार्थमृतुचिह्नानामावश्यकत्वात्तान्येव वक्तव्यानि । ऋतुवर्णनद्वारा तत्सूचनं गौरवम् । नह्ययं काव्यग्रन्थो येन वर्णनं चारुत्वप्रदर्शकमावश्यकमित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—ऋतुव्यावर्णनेति ।

वसन्तादिषडृतूनां व्यावर्णनं स्वरूपवर्णनं तस्य व्याजाच्छलात् । एषा एकादशपद्यात्मिका कविता ।

अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालंकारौ गुणान्वितौ ।
काव्यमेतदितिरूपा स्वनिर्मितो प्रदर्शिता ।।

प्रकर्षेणोत्तमतया मया दर्शिता । तथा च कविताप्रदर्शनं बिना वर्णनं न भवतीति प्रासङ्गिकर्तुवर्णनं कृतमिति भावः ।

नन्वेकादशवृत्तैः कथं वा भवतां शक्तिर्निर्धारणीयेत्यत आह—ईषदिति । अल्पा । तथा चाल्पकविताप्रदर्शनं परीक्षार्थं युक्तमेवेति भावः । यद्यपि सर्वदेशावच्छेदेनानुगतचिह्नानामभावादृतुचिह्नकथनमेवायुक्तं देशभेदेन तत्कथने ग्रन्थबाहुल्यसंभवात्तच्चिह्नज्ञानाभावाच्चेति तत्प्रयुक्तं वर्णनं च सुतरामयुक्तं तथाऽपि व्याजादित्युक्त्या मया स्वकविताप्रदर्शनार्थे हठात्पूर्वंरुच्यभिसंमतदेशविषयर्तुचिह्नाद्वसन्ताद्यृतवो वर्णिता इति लाभः । कथमन्यथा व्याजादित्युक्तस्यात्रैयर्थ्यम् ।

न चोक्तर्तुचिह्नानां सार्वदेशिकत्वमेवाऽऽस्तामिति वाच्यम् । श्रीमत्सर्वोर्वीपतिचक्रचारुचूडामणिश्रेणीप्रभासंभारार्चितचरणाम्बुजेन विश्वंभराभोगामलकलाकेलिनिकेतनेन स्वयशःप्रतापव्यर्थीकृतद्विजराजप्रखरकरमण्डलेन प्रचण्डकोदण्डोल्लसितभुजदण्डप्रतापतापितारातिभूपालनिवहेनानवरतार्थिजनमनोरथपूरणसंभावितरत्नसानु वितरणशङ्काकुलीकृतपुरंदरेण रूपदर्पजितकंदर्पेण श्रीशाहजहाँसार्वभौमेन । स्वनिखिलानुचरैः समं सादरमवलोकितसुषुमे काश्मीरमण्डले कोकिलरसालमल्लिकानां सदा शीतप्राबल्यान्निदाघदाह[ह]स्य चासंभवात् । सदा वर्षणात्परिच्छिन्नवर्षणमालतीकदम्बमयूराणामभावाच्च । सदा पर्वतनिर्झरादीनां

सत्त्वात्परिच्छिन्ननिर्झराभावात् । सदाऽवश्यायपाताद्धेमन्ते सस्यनिष्पत्त्यभावाच्च काञ्चनारिवृक्षाभावात्सदा शीतप्राबल्याच्चोक्तचिह्नाभावात् । न च चिह्नैनव्यत्यात्र तदनुपलम्भ्यादृत्वभाव इति वाच्यम् ।

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः ।

इति सूर्यसिद्धान्ते देशनियमानुक्तेर्द्विराशिभोगकालस्य सर्वत्र सत्त्वाच्च । अन्यथा मासानामप्यभावापत्तेः । तथा च स्वस्वाभिमतदेशे षड्ऋतूनामनुगतचिह्नानि भूयः संदर्शनैर्निश्चित्य तद्देशे तानि तेषां चिह्नान्यवधेयानि ।

केचित्तु खमध्यस्थे सूर्ये परमतापसंभवात्ततोऽन्यत्र तदपकर्षाद्यथा यथा सूर्यो दूरं गच्छति तथा तथा हिमोपचय इति सायनत्रनुरन्ते निरक्षदेशादुत्तरभागस्थितानामस्माकं हिमपरमत्वाच्च देशे देशे भिन्नव्यवस्थामङ्गीकृत्य लङ्कायां ग्रीष्मवर्षाशिशिरवसन्ताश्चत्वारः सार्धमासमिता ऋतवो मीनसार्धसप्तांशेभ्यः क्रमेण वारद्वयं वर्षे भवन्ति ।

षड्ऋतवस्तु मध्यदेशे वसन्तादयो मेषादिद्विराशिभोग क्रमेण न सर्वत्र मध्यदेशेऽपि देशभेदेनर्तुव्यवस्था भिन्नाऽपि सूक्ष्मभेदान्नोपलक्ष्यते । तथा च तद्वाक्यम्—

सार्धद्वाविंशतिर्मीनस्यान्त्यांशा आदिगास्तथा ।
तावन्त एव मेषस्य ग्रीष्मोऽर्कः संनिधौ यतः ॥
तदारभ्याथ वर्षाः स्युर्यावन्मिथुनभागकाः ।
सार्धसप्त ततः शीतं यावत्कर्कटभागकाः ॥
सार्धद्वाविंशतिस्तस्माद्यावत्सार्धा नगांशकाः ।
कन्यायाः स वसन्तः स्यात्ततो यावत्तुलालवाः ॥
सार्धद्वाविंशतिर्ग्रीष्मः पुनः स्यात्तदनन्तरम् ।
धनुषः सार्धसप्तांशपर्यन्तं प्रावृडेव हि ॥
ततो यावन्मृगस्य स्युः सार्धद्वाविंशतिर्लवाः ।
शीतं ततोऽनुमीनस्य सार्धसप्तांशकावधिः ॥

वसन्तः स्यात्—

इतीत्याहुस्तन्न । देशभेदेनर्तुभेदे मुनिवचनाभावात् । न च निदाघदाहभेदाद्ग्रीष्मभेदेनान्येषामपि भेदसंभव इति वाच्यम् । तापशीतयोरुपरत्या सर्वत्र भेदेऽपि ग्रीष्मस्य तापव्याप्यत्वाभावात् । किंच भवदभिमतलङ्कावसन्तवर्षाकालयोः सूर्यस्य समत्वात्तुल्यान्तरेण तदन्यतरत्वाङ्गीकारापत्तिः । वर्षोत्पत्तौ युक्त्यभावाच्च ।

न च मध्यदेशे तापाधिक्यानन्तरं तापापचये वर्षाः । हिमाधिक्यानन्तरं तदपचये वसन्त इति दर्शनात्तथोक्तमिति वाच्यम् । तर्हि मासमानेन षड्ऋतूनां वारद्वयं वर्षे संभवापत्त्या चतुर्णामनुपपत्तेरिति दिक् ।

ननु कविताप्रदर्शनमेव व्यर्थं येनैतत्प्रदर्शनं युक्तं स्यादत आह—तद्विदामिति। काव्यतत्त्वज्ञानां संतोषार्थमित्यर्थः। ननु काव्यज्ञानां पूर्वकाव्येनैव संतोषसद्भावात्स्वकृतकाव्येन तेषां तोषसंभवे मानं किमतः कविताविशेषणमाह—रसिकानामिति। काव्यरसाभिनिविष्टानां तेषां मनोहरणं कुर्वतीत्यर्थः। तथा च मनोहरवस्तुनि प्रीतिः सहजेति भावः ॥१२॥

सरसमभिलपन्ती सत्कवीनां विदग्धाऽ-
नवरतरमणीया भारती कामितार्थम्।
न हरति हृदयं वा कस्य सा सानुरागा
नवरतरमणी या भारती कामिताऽर्थम् ॥१३॥

न भवति हृतचित्तो वाचमाकर्ण्य रम्यां
परभृतसरसां ना कोऽमलां सत्कवीनाम्।
सततमुपगतानां साम्बुजैर्वा पयोभिः
परभृतसरसां नाकोमलां सत्कवीनाम् ॥१४॥

त्रिदिबमधरयन्तस्तीरपङ्क्तेन नाना-
रुचिरसिकतया वाऽऽश्लेषिताङ्गैः सुवृत्तैः।
कृतिन इह रमन्ते रम्यसारस्वतौघे
रुचिरसिकतया वा श्लेषिताङ्गैः सुवृत्तैः ॥१५॥

वा० भा०—कः ना नरः सत्कवीनां वाचमाकर्ण्य हृतचित्तो न भवति। किंविशिष्टाम्। अमलां निर्दूषणाम्। पुनः कथंभूताम्। सततं रम्याम्। किंविशिष्टाम्। परभृतसरसाम्। परभृतस्य कोकिलस्येव सरसां रसवतीम्। अथ द्वितीयोऽर्थः। के उदके वयः पक्षिणः सन्तश्च ते कवयश्च सत्कवयो हंसाद्या जलपक्षिणः। तेषां वाचं सततं रम्यामाकर्ण्य कः ना हृतचित्तो न भवति। किंविशिष्टाम्। न अकोमलाम्। कोमलाम्। कथंभूतानां तेषाम्। उपगतानां तीरविलासिनामित्यर्थः। केषाम्। परभृतसरसाम्। पराणि च तानि भृतानि पूर्णानि सरांसि। तेषां परभृतसरसाम्। कैः पयोभिः। कथंभूतैः। साम्बुजैः। अथवा। उपगतानां नगरनिकटवर्तिनां सरसां सत्कसंबन्धिनो वयः सत्कवयस्तेषाम्।

अथ किमेवंविधयाऽत्र ग्रन्थे प्राकृतिकानां गणकानामित्याशङ्क्योच्यते । नहि मन्दार्थमेव ग्रन्थ आरभ्यत इत्याह । इह कवीनां द्वे गती । इयमियं वा । एतत्परोऽयं श्लोकः । रमन्ते । के । कृतिनो विद्वांसः । क्व । रम्यसारस्वतौघे । सरस्वतीनदीप्रवाहे । सरस्वत्याः सर्वगतत्वाद्गङ्गाद्या अपि सरस्वत्य उच्यन्ते । अत्र किंविशिष्टा उपलक्षिताः । कैः सुवृत्तैः रम्याचारैः । पुनः कैः । आश्लेषिताङ्गैः । अवलिप्ताङ्गैः । केन । नदीतोरपङ्केन । न केवलं तेन । नानारुचिरसिकतया वा । किं कुर्वन्तः । तथा रमन्ते । अधरयन्तः । अधरीकुर्वन्तः । किम् । त्रिदिवम् । अस्मादप्युपरितनं स्थानं वाञ्छन्तः । अथ द्वितीयोऽर्थः । नानारुच्या रसिकत्वं रसिकता तयेह रम्यसारस्वतौघे वाक्यसमूहे चतुरवचननिचये कृतिनो रमन्ते । कैः कृत्वा । सुवृत्तैः श्लक्ष्णैः श्लोकैः । मालिनीप्रभृतिभिः । किंविशिष्टैः । श्लेषिताङ्गैः । श्लेषोक्तियुक्तचरणैः । पादवृत्तिप्रभृतिभिः । किं कुर्वन्तः । त्रिदिवमधरयन्तः । त्रिदिवसुखादपि काव्यरतिसुखमधिकं मत्वेत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् ॥१३॥१४॥१५॥

इति श्रीभास्करोये सिद्धान्तशिरोमणिवासनाभाष्ये गोलाध्याये मिताक्षरे

ऋतुवर्णनं

मरीचिः—ननु कथिताया मनोहरत्वं कथमित्यतो मालिन्याऽऽह—सरसमभिलपन्तीति । सत्कवीनां लक्षणलक्षितकाव्यनिर्मापकानां भारती काव्यसंबन्धिनी वाणी का कतमा कस्य कतमस्य हृदयं मनः कामितार्थं सादरश्रवणनिमित्तं न हरति । काव्यर्थनकारात्तेषां सर्वा अपि वाण्यः सर्वेषां मनो हरन्तीत्यर्थः । ननु कुतो हरतीत्यत आह—अनवरतरमणीयेति । नित्यं सुन्दरीत्यर्थः । तथा च मनोहरत्वं सुन्दरवस्तुनः स्वतः सिद्धमिति भावः । नन्वनवरतरमणीयैव कुत इत्यत आह—विदग्धेति । चतुरा । तथा च चतुरायास्तथात्वं साहजिकमिति भावः ।

ननु चतुरात्वमपि कुत इत्यत आह—अमितार्थं लपन्तीति । अमितार्थम् । वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदेन । लक्षणाया अव्यङ्ग्यसव्यङ्ग्यभेदातसव्यङ्ग्याया अपि शुद्धागौणीभ्यां भेदाच्छुद्धायाश्चजहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थासारोपासाध्यवसानेति चतुर्भेदाद्गौण्याश्च सारोपासाध्यावसानाभ्यां भेदाच्च सप्त भेदाः । ध्वनेरप्यविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यरूपलक्षणामूलाभिधामूलाभ्यां द्वौ भेदौ लक्षणामूलोऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्याभ्यां द्विधा । अभिधामूलोऽप्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्चलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमाभ्यां द्विधेति चत्वारो भेदाः । एवमसंलक्ष्यक्रमो रसभावादिभेदेन संलक्ष्यक्रमोऽप्यलंकारवस्तुभेदेनानन्तः । एषां लक्षणोदाहरणानि काव्यप्रकाशे । विस्तरभीत्याऽत्र नोक्तानि । एवमसंख्यमर्थमित्यर्थः । अभिलपन्तीव सर्वतः प्रतिपदं वदन्तीत्यर्थः । तथा च चतुरात्वं सिद्धमिति भावः ।

नन्वमितार्थलपनेऽपि चमत्काराभावान्न चतुरात्वमित्यतोऽर्थविशेषणमाह—सरसमिति। वासनाविशेषवतां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको भावः पौनःपुन्येन रत्यादिभिः समं गृहीतकार्यकारणभावसंबन्धैर्विभावादिभिः परिहृतविशेषैः संबन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमावसायादसाधारण्येन प्रतीतैर्नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात्साधारण्यमुपगच्छन्विदात्मना सहाभिव्यक्तस्तत्कालोल्लसच्चर्यमाणानेकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्हृदयमिव प्रविशन्सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्नन्यत्सर्वमेव तिरोदधद्ब्रह्मानन्दसहोदरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रस इति काव्यप्रकाशनिरुक्तः। तेन सहितमित्यर्थः। तथा च सरसार्थलपने चमत्कारः स्वतः सिद्धोऽत एव—

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥

इत्युक्तमिति भावः।

ननु रसिकानां विना कान्तामन्यन्मनोहरं न भवतीत्यतः संशयालंकारद्योतकं पक्षान्तरमाह—वेति। अथवा सा कान्ता भारती भरतसंबन्धिनी नर्तकस्त्री कामितार्थं सुरतोत्सवनिमित्तं कस्य हृदयं न हरत्यपि तु सर्वपुरुषाणां मनो हरति।

ननु तेषां तदभिलाषे मनोहरणं संभवत्यतस्तस्यां तदनभिलाषे मनोहरणं कथं संभवतीत्यत आह—सानुरागेति।

लज्जां न धत्तेऽभिमुखं च पश्येत्पादेन भूमिं विलिखेत्स्थिता च।
व्यनक्ति गात्रं कुरुते च हास्यं दृष्ट्वा कटाक्षं नयने विदध्यात्॥
पृष्टा स्फुटं सस्मितमेव वाक्यं शनैर्व्रजेच्चानुसरेद्व्रजन्तम्।
विलोक्य तं व्याजकथाप्रसङ्गादुच्चैर्वदेत्स्वं परिदर्शयन्ती॥
तन्मित्रवर्गे प्रणयं विदध्यादित्यादिवार्तामसकृच्च पृच्छेत्।
कति स्त्रियोऽस्याऽऽलयगाः सुरूपाः कस्यामयं प्रेम भृशं विधत्ते॥
मृद्गा(द्ना)ति दृष्ट्वा स्वकुचं करेण संस्फोटयेदङ्गुलिकाः सुजृम्भम्।
भूषाविहीना न ददाति तस्मै स्वदर्शनं याचितमप्यजस्रम्॥
पुष्पादिना हन्ति तथाऽतितारं संकाशयेन्मार्ष्टि भुजं करेण।
व्याजेन गच्छेत्सदनं कराङ्घ्रिवक्त्रेषु घर्माम्बु वहेद्विलोक्य॥
इत्यादिचिह्नैरनुरागयुक्ता ज्ञेया विदग्धा मृगशावकाक्षी।

इत्युक्तानुरागयुक्तेत्यर्थः। तथा च—

आभङ्गुराग्रबहुगुणदीर्घा स्वादप्रदा प्रियादृष्टिः॥
कर्षति मनो मदीयं हृदमीनं बडिशरज्जुरिव।
क्लेशयसि किमिति दूति यदशक्यं सुमुखि तव कटाक्षेण॥

कामोऽपि तत्र सायकमकीर्तिशङ्की न संधत्ते ।

इति कटाक्षमात्रेणैव तद्वश्यत्वसंभवात्तदनुरागेण च सुतरां पुरुषाणां मनोहरणं भवतीति भावः ।

ननु विवृद्धानुरागादपि पुरुषाणां तस्यां नानुराग इत्यत आह—नवरतरमणीयेति । नवरतेन प्रथमसंजातसुरतोत्सेवन रम्येत्यर्थः । नवरतार्थं योग्या वा । तथा च यौवनारम्भादस्यां पुरुषानुरागः स्वत एव तदनुरागाच्च सुतरामिति भावः ।

अथ रसिकानां द्वे अपि भारती(त्यौ) मनोहरे इत्युक्त्या द्वयोर्भारत्योः संशयालंकारात्सादृश्यप्रतीतेस्तयोः स्वसंबन्धिविशेषणानि परस्परं विशेषणतया व्याख्यायन्ते । वाणी । सानुरागा ।

त्वमग्रतः संचर चञ्चलाक्षि त्वमेव जीवेश्वर निःसराग्रे ।

इति ब्रुवन्वेश्मनि वह्निदीप्ते मिथोऽनुरागान्मिथुनं विपन्नम् ।।

इत्याद्यनुरागवर्णनयुक्त्या अनुरागे दग्धत्वमप्यनुचितं नेति सूचकं विदग्धपदमत्रामङ्गलमप्यदुष्टमिति ध्येयम् । नवरतरमणीया ।

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा ।

धृत्वा चान्येन वासो विलुलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः ।

भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः ।

शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ।

इत्यादिनूतनसुरतवर्णनेन रम्येत्यर्थः । नर्तकस्त्री । विदग्धा नवरतरमणीया । रसिकानां नित्यं सुन्दरी । अविदग्धस्य तु ।

क्रीडासु सव्रीडमहो विलासान्नीवीनिरोधे निहितं मृगाक्ष्याः ।

कराम्बुजं वीक्ष्य पतिः सरोषाद्ददौ ललाटे सुदृशश्चपेटाम् ।।

इति रसभङ्गकृत्त्वात् । अत्र हेतुगर्भविशेषणं—सरसममितार्थं लपन्तीति । तथा च काव्यं कान्तातुल्यतया रसिकानां मनोहरम् ।

रतरीतिवीतवसना प्रियेव शुद्धैव वाङ्मुदे सरसा ।

अरसा सालंकृतिरपि न रोचते शालभञ्जीव ।।

इत्युक्तेश्चेति भावः । अत्र प्रसादमाधुर्यादिगुणाः । शृङ्गारो रसः । पादयमकालंकारः ।।१३।।

ननु कविसरस्वत्या अपकृष्टनर्तकस्त्रीसाम्यं वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्तीतिवदयुक्तमित्यस्वरसात्प्रकारान्तरेण कविवाण्या मनोहरत्वं मालिन्या प्रतिपादयति—न भवतीति । सत्कवीनां वाचं काव्यसंबन्धिनीमाकर्ण्य सादरं श्रुत्वा सततं नित्यं कः कतमो ना पुरुषस्तत्त्वज्ञो हृतचित्तो हृतं चित्तं यस्यैतादृशो न भवतीति काक्वा तत्सक्तान्तःकरणा व्यापारान्तरशून्याः सर्वेऽपि भवन्तीत्यर्थः । कुत इत्यत आह—रम्यामिति । श्रवणद्वाराऽऽत्मनः सुखहेतुभूताम् । यद्वाऽलंकारैर्भूषितया रम्यामतो मनोहरामिति भावः ।

नन्वरसा सालंकृतिरपि न रोचते इत्यतो रम्यत्वे हेतुं वाग्विशेषणमाह—परभृतसरसामिति। परभृताः कोकिलास्तदपेक्षया सरसां रसवतीम्। कोकिलवागपेक्षयाऽप्यतिमधुरामित्यर्थः। तथा माधुर्यादिगुणाश्रयरसवत्तया मनोहरेति भावः। अत्र परभृतेत्यनेन स्वत उदरपोषणेऽतिचिन्तया सुखाभावः। पित्रादिभिः पोषणे च चिन्ताया असंभवात्सुखाधिक्यम्। अत एव—

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे।
मातृभिः पाल्यमानानां ते हि नो दिवसा गता॥

इत्युक्तिरिति ध्येयम्।

ननु तथाऽपि दुष्टं पदं श्रुतिकट्वित्यादिदूषणैः सरसाऽपि न मनो हरतीत्यत आह—अमलामिति। उक्तदोषरहिताम्। तथा च कोकिलवाण्यां यथा दोषादर्शनं तथाऽत्रापि तदभाव इति भावः।

अथात्र संशयालंकारद्योतनार्थं पक्षान्तरमाह—उपगतानामिति। वा पक्षान्तरे। सत्कवीनाम्। के उदके वयः पक्षिणः। सन्तश्च ते कवयश्च सत्कवयो हंसाद्या जलपक्षिणः। तेसां वाचमाकर्ण्य को नरः सततं प्रत्यहं हृतचित्तो न भवत्यपि तु सर्वं एव भवतीत्यर्थः। पूर्वोक्तविशेषणान्यत्रापि तुल्यान्येवेति ध्येयम्। अत एव नाकोमलाम्। न अकोमलां कोमलामित्यर्थः। इदं विशेषणं कोमलवर्णयुक्तामित्यर्थेन रम्यहेतुगर्भं कविवाचोऽपि ध्येयम्।

ननु हंसानां तादृशी वाणी कथं संभवति। चूताद्यङ्कुरभक्षणासंभवादित्यतस्तेषां विशेषणमाह—उपगतानामिति। पयोभिर्जलैः। परभृतसरसाम्। परमुत्कृष्टं भृतानि पूर्णानि सरांसि सरोवराणि तेषामुपगतानां तीरनिवासिनामित्यर्थः। जलपक्षित्वेनैवैतत्सिद्धेस्तदुपादानं पुनर्व्यर्थमपि कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितसंनिधानादिबोधाय स्थितेष्वेतत्समर्थनमिति वामनोक्तेः।

दोलाविलासेषु विलासीनां कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम्। इत्यत्र कर्णपदवदेषां तीरविच्छेदाभावसूचनार्थमिति ध्येयम्। पुनरुक्तदोषाभ्युपगमे तूपगतानां नगरनिकटवर्तिनाम्। तादृशसरोवराणाम्। सत्काः संवन्धिनो वयः सत्कवयस्तेषामित्यर्थः। तथा च जलपक्षित्वाज्जलपानेन तेषां तादृशी वागिति भावः।

ननु केवलं जलपानेन तादृशवागसिद्धिः प्रत्युत तेषां जीवनस्यापि सन्देहादित्यतः पयोविशेषणमाह—साम्बुजैरिति। जलजातकमलशैवालादिसहितैर्जलैरित्यर्थः। तथा च तेषां पद्ममकरन्दादिभक्षणेन तादृशी वागिति भावः। इदं पक्षिविशेषणमुक्तार्थेन काव्यकर्तॄणामप्यनतिप्रयोजकमिति ध्येयम्।

तथा च संशयालंकारद्योतकं सादृश्यं सरस्वतीवाहनरूपहंसानां वाचोचितम्। स्त्रीवाक्साम्यं तु—

सत्कविरसुनाशूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाऽऽद्रियते का सुधादासी ।।

इत्युक्त्यैव निरस्तमिति भावः । प्रसादमाधुर्यादिगुणाः । चरणयमकालंकारः ।।१४।।

ननु काव्यज्ञप्रीत्यर्थं कविताप्रदर्शनमत्र सिद्धान्तशिरोमणिग्रन्थे न युक्तं काव्यज्ञानामत्राप्रवृत्तेः । केवलगणकानां काव्यज्ञत्वाभावात्तत्प्रीत्यनुपपत्तेश्च कविताप्रदर्शनं व्यर्थमेवेत्यतो मालिन्याऽऽह—त्रिदिवमिति ।

कृतिनः । ज्योतिःशास्त्रसिद्धान्तकाव्यज्ञाः । इहास्मिनग्रन्थे । रम्यसारस्वतौघे । रम्या प्रागुक्तस्वरूपवती वाणी । तस्या ओघे समूहे । एकदेशे काव्यसंबन्धेन संपूर्णग्रन्थे तथात्वाभिमानात् । सुवृत्तैः । मालिनीवसन्ततिलकाशालिनीप्रभृतिभिः । अङ्गैः सुवृत्तप्रतिवृत्तनीचोच्चवृत्तादिछेदकवृत्तैरुपपत्तिबोधकैः सुनिर्मितैस्तेषामाभासे सम्यगुपपत्तिज्ञानाभावात् । वा समुच्चयार्थकचपरः । रमन्ते क्रीडन्ते ।

ननु सुच्छन्दसां सत्त्वेऽपि गणितगोलादौ नीरसत्वेन कथं रमणमित्यतश्छन्दोविशेषणमाह—रुचिरसिकतयेति । रुचिः प्रतिपादितज्ञानेच्छा तया रसिकता । अभिनिवेशरूपक्षोदक्षमत्वं तेनेत्यर्थः । आश्लेषिताङ्गैः । आश्लेषितान्यङ्गानि एकदेशवाक्यानि एषामेतादृशैरित्यर्थः । तथा च गोलगणितपदार्थेषु तेषामेवाभिरुच्या तत्तदभिप्रायबोधरूपरससत्त्वादस्मिन्प्रकरणे च व्यक्तमेव रसिकत्वेन श्लेषयुक्तानि पदानीति रमणमुचितमेवेति भावः । अत्र श्लेषिताङ्गैरित्यनेन श्लेषोपलक्षणाद्वक्रोक्त्यनुप्रासयमकश्लेषचित्रपुनरुक्तवदाभासैः सहितं काव्यमिति मनोहरमिति सूचितम् ।

ननु मण्डलनिष्पादनासंभवात्कथमुपपत्तिबोधकैस्तत्तद्वृत्तौ रमणमित्यतो वृत्तविशेषणमाह—तीरपङ्केनेत्यादि । तीरे निकटे यः पङ्कः कर्दमस्तेन । नानारुचिरसिकतया । नाना अनेकविधा रुचिरा चाकचिक्याधिक्येन सुन्दरी या सिकता वालुका तया । वाकारो विकल्पार्थे । आश्लेषिताङ्गैराश्लेषितानि संयुक्तानि अङ्गानि अवयवा येषामित्यर्थः । तथा मार्गेऽपि तद्रसाभिनिवेशात्पङ्केन सिकतया वा वृत्तानि संपाद्य रमन्ते इति भावः ।

नन्वेतादृशरमणं व्यसनमात्रं न सुखकारकमित्यतः कृतिविशेषणमाह—त्रिदिवमिति । स्वर्गमधरयन्तस्तिरस्कुर्वतः । स्वर्गादप्यत्र सुखमेषां काव्यज्ञानम् । काव्यरसाभिनिविष्टया स्वर्गादप्यधिकं सुखं भवतीत्यनुभवैकवेद्यम् । अत एव यदसेवनीयमसताममृतप्रायं सुवर्णविन्यासम् । सुरसार्थमयं काव्यं त्रिविष्टपं वा समं विद्म इति केषांचिदुक्तिः । ज्योतिःशास्त्रसिद्धान्तज्ञाः पुराणाभिमतमत्युच्चाकाशस्थितं स्वर्गं मेरावेव मानयन्तीत्यधरयन्त इत्यर्थस्तु प्रकृतानुपयुक्त इति ध्येयम् ।

अस्य पद्यस्य श्लेषेण द्वितीयोऽर्थः । कृतिनो जन्मान्तरार्जितानेकपुण्यचयाः पुरुषाः । इहास्मिन्रम्यसारस्वतौघे । रम्यो मनोहरो यः सरस्वत्या नद्या ओघः प्रवाहः । सरस्वत्याः पू(स)र्वंगत्वाद्गङ्गाद्याः सरितः सरस्वत्य उच्यन्ते । सुवृत्तैर्वर्तुलैः कन्दुकरूपैः । सुवृत्तैः सत्कर्माचरणैश्च रमन्ते । ननु वर्तुलाः कथं सिद्धा इत्यत आह—तीरपङ्केनेति । गङ्गातीरमृत्तिकापङ्केन । नानारुचिरसिकतया । नानाविधसुन्दरसिकतया वा । आश्लेषिताङ्गैः ।

मृत्तिकाबालुकाघटितैरिति भावः । यद्वा वृत्तैः प्रत्येकं रमन्ते । तत्र श्लेषिताङ्गैर्मल्लयुद्धैरिति ।

ननु सत्कर्माचरणं तदङ्गानाचरणादफलमित्यत आह—रुचिरसिकयेति । रुचिस्तत्कर्माचरणाभिलाषस्तया रसिकता निरालस्येन यावद्विहितकर्मानुष्ठातृत्वं तेनेत्यर्थः । आश्लेषिताङ्गैः । संबद्धानि अङ्गानि येषां तैरित्यर्थः । तथा च साङ्गकर्मानुष्ठानमालस्याभावात्तत्सक्तान्तःकरणाच्च भवत्येवेति भावः ।

ननु सत्कर्माचरणाद्गङ्गासेवनाच्च फलयोर्भेदात्कस्य फलं भवतीत्यत आह— त्रिदिवमिति । स्वर्गं तत्फलं तिरस्कुर्वन्तः । ततोऽप्युत्कृष्टफलमिच्छन्तः । तथा च ब्रह्मानन्दावाप्तिरूपमोक्षः फलमुभयोर्न तूक्तमिति भावः ।

अत्र श्लेषार्थेन ग्रन्थस्य गङ्गातुल्यताप्रतीतेस्तत्पठनं पुण्यवतां मोक्षहेतुकमिति ध्येयम् । तथा चात्र ग्रन्थे काव्यज्योतिः शास्त्राभिज्ञस्याधिकारत्वात्तत्प्रीतिः कविताप्रदर्शनेन भवत्येव । केवलगणकानां व्युत्पत्त्यभावेऽप्येतदृतुवर्णनाध्यायपठनेनापि काव्यज्ञतासिद्धिश्चेति भावः । अत्र प्रसादादिगुणाः । पादयमकश्लेषालंकाराभ्यामलंकारसंसृष्टिः ।

केचित्तु । रम्यसारस्वतौघे इत्यस्य वाङ्नदीरूपमर्थद्वयं कृत्वा प्रथमार्थे रुचिरसिकतयेत्याद्यासन्नम् । द्वितीयार्थे तीरपङ्केनेत्यादि पूर्वार्धदूरस्थमन्वेतीत्याहुस्तदसत् । प्रथमार्धस्थनानारुचिरसिकतयेत्यादौ श्लेषार्थेन वाक्पक्षेऽर्थसंभवाद्द्वितीयार्धस्थरुचिरसिकतयेत्यादेर्व्यर्थत्वापत्तेः । नहि पूर्वपद्ये सत्कवीनामितिपदवद्रम्यसारस्वतौघे इति पदमत्र स्थानद्वये । येन पूर्वपद्यरीत्या भवदुक्तार्थेन तस्या बैयर्थ्यमिति ।

अन्ये तु इहेत्यस्यास्मिन्नृतुवर्णनप्रकरणे इत्यर्थं रम्यसारस्वतौघे इत्यस्य नदीप्रवाहे इत्येकमेवार्थं कृत्वा रुचिरेत्यादिचतुर्थचरणः प्रकरणपक्षे । तीरपङ्केनेत्यादि पूर्वार्धस्थं नदीप्रवाहपक्षे । तत्र प्रकरणे सुवृत्तैश्छन्दोभिः । प्रबाहे सुवृत्तैः कन्दुकैः । रुचिरसिकतयेत्यत्रार्थभेदः प्राग्रीत्यैवेत्याहुः ॥१५॥

अथ यष्टियन्त्रप्रतिपादनप्रतिज्ञानं फक्किकया निरूपितमित्याह—इत्यृतुवर्णनाध्याय इति । ऋतुचिह्ननिरूपणाध्याय इत्यर्थः । अस्याध्यायस्य गोलान्तर्गतयन्त्रनिरूपणप्रसङ्गेनोक्तेर्यन्त्राध्यायत्वेन गोलाध्यायान्तर्गतत्वं न स्वतन्त्रत्वमिति ध्येयम् ।

ऋतुव्यावर्णनव्याख्यां सालंकारगुणां प्रियाम् ।
सरसाममलां दृष्ट्वा तुष्यन्तु रसिकोत्तमाः ॥
दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्व श्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन् ।
यातः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिमध्याय एष ऋतुवर्णननामधेयः ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमश्रीरङ्गनाथगणकात्मजविश्वरूपापरनामकमुनीश्वरगणकविरचिते सिद्धान्तशिरोमणिमरीचावुत्तराध्याय ऋतुवर्णनाध्यायः संपूर्णः ।

केदारदत्तः—यन्त्राध्याय के श्लोक ३६ में आचार्य ने यन्त्रों और गणित की युक्तियों से स्पष्ट सूर्य का भुजांश ज्ञान किया है। स्पष्ट है कि एक सौर वर्ष में, मेषादि राशित्रय से····कर्कादि, तुलादि····मकरादि····तीन तीन राशियों की स्पष्टसूर्य की स्थिति में वर्षके चार ४ समयों में भुजांशों की एकता होती है तो, आगत सूर्य भुजांश से, सूर्यस्पष्ट की कालस्थिति क्या है ? यह ज्ञान कैसे होगा ? तो आचार्य ने प्रकृति लक्षणों के अनुसार ऋतुओं के ज्ञान के आधार से साधित सूर्य भुजांश से मेषादि मीन पर्यन्त रवि स्पष्ट ज्ञान का समीचीन उपाय बताया है कि वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर और हेमन्त इन ऋतुओं का प्रत्येक ऋतु का वर्ष में दो-दो मास के लिये आगमन होता है, अतएव खगोलज्ञ गणक ने ऋतुओं की प्राकृतिक उपलब्ध प्रत्यक्ष स्थिति से स्पष्ट रवि की राश्यादि का ज्ञान कर लेना चाहिए। क्योंकि मकर कुम्भ के सूर्य में शिशिर, मीन मेष के सूर्य में बसन्त, वृष, मिथुन सूर्य में ग्रीष्म, कर्क-सिंह के सूर्य में वर्षा और कन्या तुला के सूर्य में शरद ऋतु होती है।

खगोलग्रहगणित मर्मज्ञ होते हुये भी अलङ्कार शास्त्र के अपने प्रौढ़ पाण्डित्य परिचय के लिये आचार्य ने—

"ऋतुचिह्नैर्ज्ञानं स्यादृतुचिह्नानि अग्रे वक्ष्ये"

इत्यादि से आचार्य ने इस अवसर पर, वसन्तादि ६ ऋतुओं का वर्णन करते हुये ब्रह्म-रसास्वादप्रद–ग्रहगणितगोलशास्त्र के साथ अलङ्कारादि अनेक शास्त्र ज्ञान का अर्थात् सर्व शास्त्रज्ञता का परिचय दिया है।

ऋतु बर्णनों में अद्यावधि विद्वानों की लेखनी निरन्तर चल रही है चलती रहेंगी।

प्रकृत विषय से ऋतुवर्णन का कोई सम्बन्ध नहीं है, ग्रन्थ विस्तार भय और समय की न्यूनता से तथा यहाँ पर इस विषय की अनावश्यकता वश इसका हिन्दी व्याख्यान नहीं किया जा रहा है। तथा संस्कृत के मरीचि भाष्य से, जो इस सम्बन्ध का यहाँ दिया जा रहा है इससे ही अलङ्कार शास्त्रज्ञों की मनस्तुष्टि अवश्य होगी जो पर्याप्त है। १३।१४।१५॥

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रहगोलाध्याय के ऋतुवर्णनाध्यायः १२ की श्री पंडित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न।

●

अथ प्रश्नाध्यायः ।

अथ प्रश्नाध्यायो व्याख्यायते । तत्राऽऽदौ तदारम्भप्रयोजनं तत्प्रशंसां चाऽऽह—

प्रौढिं प्रौढसभासु नैति गणकः प्रश्नैर्विना प्रायशोऽ-
तस्तां वच्मि विचित्रभङ्गिचतुरप्रीतिप्रदानाय यान् ।
आकर्ण्यापि सुवर्णवर्णवदनं वैवर्ण्यमेति क्षणात्
तस्याखर्वकुगर्वपर्वतशिरःप्रौढ्याऽधिरूढोऽत्र यः ॥ १ ॥

पाट्या च बीजेन च कुट्टकेन वर्गप्रकृत्या च तथोत्तराणि ।
गोलेन यन्त्रैः कथितानि तेषां बालावबोधे कतिचिच्च वच्मि ॥२॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥१॥२॥

मरीचिः—अथोद्दिष्टसिद्धान्तपदार्थविशिष्टप्रश्नाध्याय आरब्धो व्याख्यायते । तत्र तदारम्भं सप्रयोजनं शार्दूलविक्रीडितेन प्रतिजानीते—प्रौढिं प्रौढसभास्विति ।

अतोऽस्मात्कारणात् । तान् प्रश्नान् । वच्मीति क्रियाबलादहं ग्रन्थकर्ता कथयामि । नन्वेतेषां कथनं व्यर्थं प्रयोजनाभावादत आह—विचित्रभङ्गिचतुरप्रीतिप्रदानायेति । नानाविधा भङ्ग्यश्चातुर्यकला येषामेतादृशाः ये चतुराः पूर्वोक्तग्रन्थपटवस्तेभ्यः प्रीतिः प्रश्नार्थश्रवणजनितसंतोषरूपा तस्याः प्रकर्षेण दानं तस्मै । तथा च पूर्वोक्तग्रन्थज्ञसंतोष-प्रयोजनादेषां कथनमव्यर्थमिति भावः ।

ननु पूर्वोक्तग्रन्थज्ञसंतोषः प्रश्ननिरूपणात्कुतो भवत्यतोऽनःपदसूचितकारणमाह—प्रौढि-मिति । प्रौढसभासु गोलगणिततत्त्वज्ञज्योतिर्विदां समाजेषु । गणकः पूर्वोक्तग्रन्थज्ञः । प्रश्नैः स्वकल्पनाविशेषजनितैः परासंभावितोत्तराभासैः । विना व्यतिरेकेण । प्रायशः । उत्सर्गतः । प्रौढिं तदुत्कृष्टत्वम् । नैति न प्राप्नोति । पूर्वोक्तग्रन्थज्ञानस्य सर्वेषां सत्त्वात् । प्रायश इत्यनेन क्वचित्सभासदां पूर्वोक्तग्रन्थ एव दोषवशाद्बुद्धिमालिन्यं तदाऽयं तत्र स्वबुद्धि-वैभवेनापि विना प्रश्नं तदुत्कर्षं वहति । तेषां च क्वचित्कल्पनादक्षतया झटिति तत्प्रश्नो-त्तरकथनादयं स्वप्रश्नैरपि तदुत्कर्षं वहतीति च सूचितम् । तथा च पूर्वोक्तग्रन्थज्ञानां प्रश्नकल्पनया तदुत्कर्षसंभवात्प्रश्ननिरूपणं तत्प्रीत्यर्थमावश्यकमिति भावः ।

ननु प्रश्नैः कुतः प्रौढिर्भवतीत्यतस्तानित्यस्यापेक्षितमाह—यानिति । प्रश्नान् । आकर्ण्य सादरं श्रुत्वा । तस्य प्रश्नार्थश्रोतुः सुवर्णवर्णवदनम् । सुवर्णकान्तिरूपं प्रफुल्लितं मुखम् । क्षणात्प्रश्नश्रवणक्षणाव्यवहितक्षणे इत्यर्थः । वैवर्ण्यं तदुत्तरादानासामर्थ्येन मालि-

न्यम्। अप्रभत्वम्। एति प्राप्नोति। अपिशब्दात्काव्याद्यर्थश्रवणेन सुखानुभवादधिकं प्रफुल्लितं मुखं भवत्यत्र तु विपरीतमित्याश्चर्यं सूचितम्। तथा च प्रश्नश्रवणेनान्येषाम-प्रतिभात्वसंभवादर्थसिद्धा स्वप्रौढिरिति भावः।

ननु प्रश्नश्रोतुः पूर्वोक्तज्ञानाभावाद्भवेदेवाप्रतिभत्वमिति नैतावता प्रौढिसिद्धिर-तस्तस्यैत्यस्यापेक्षितमाह—अखर्वेत्यादि। यः श्रोता। अत्र पूर्वोक्तग्रन्थे। अखर्वकुगर्वपर्वत-शिरः। प्रौढ्या। अखर्वो दीर्घो यः कुगर्वः कुत्सितगर्वः। महत्वारसिकत्वात्। स एव पर्वतस्तस्य शिरस्युपरि प्रकर्षेणोढिरारोहणं तया। अधिरूढः। अधिकमत्यन्तं प्रसिद्धः। तथा च परः पूर्वोक्तग्रन्थतत्त्वज्ञानेऽप्यप्रतिभः प्रश्नश्रवणाद्भवतीति स्वप्रौढिः सिद्धेति भावः ॥१॥

ननु पूर्वं प्रश्नात्प्रथा(श्नास्तथा)सोत्तरा इति विशिष्टोद्देशात्केवलं प्रश्नकथनमनु-चितमित्यतस्तदुत्तरप्रतिज्ञाछलेनोद्देशक्रमेण प्रश्नप्रतिपादनकारणमिन्द्रवज्रयाऽऽह—पाट्या च बीजेनेति।

तेषां प्रश्नानाम्। उत्तराणि। वच्मि। कथयानि। चकारः पूर्वप्रश्नप्रतिज्ञया समुच्च-यार्थकस्तेन सोत्तरान्प्रश्नान्कथयामीति तात्पर्यपर्यवसानात्केवलं प्रश्नकथनं नेति भावः।

ननु प्रश्नैरेव पराप्रतिभतयाऽस्योत्कर्षसिद्धेस्तदुत्तरकथनं व्यर्थमित्यत आह—बालाव-बोधे इति। अत्र निमित्तसप्तमी। तेन बालानां प्रश्नोत्तराज्ञानामवबोधस्तदुत्तरज्ञानं तत्सि-द्ध्यर्थमित्यर्थः। कस्यचित्तीक्ष्णबुद्धेः पूर्वग्रन्थावगमेनैव तदुत्तरकल्पनासामर्थ्यसिद्धेर्बालि-त्युक्तम्। तथा च यं प्रति प्रश्नः कृतस्तेनायमसंगतोऽनुत्तरवानयं संगतश्चेत्त्वमुत्तरं ब्रूहीति चोत्तरिते प्रश्नकर्तुरपि तदुत्तराज्ञानादप्रतिभत्वान्नोत्कर्षसिद्धिरतस्तदुत्तरज्ञानेनोत्कर्षसिद्ध्यर्थं-मुत्तराण्युच्यन्ते इति भावः।

ननु तथाऽपि प्रश्नानामान्त्यानत्सकलप्रश्नानामुत्तरकथनमशक्यमिति कुत्रचिदप्रतिभत्व-संभवान्नोत्कर्षसिद्धिरत आह—कतिचिदिति। संक्षेपेण कतिपयान्युत्तराणि कथयामि। सकलानामानन्त्याद्वक्तुमशक्यत्वात्। इदं पूर्वपद्ये सकलप्रश्नानामानन्त्याद्वक्तुमशक्यत्वा-त्तानीत्यत्राप्यन्वेतीति ध्येयम्। तथा चात्र कतिपयप्रश्नोत्तरप्रदर्शनेन तद्रीत्याऽन्येषां प्रश्नाना-मुत्तराणां च कल्पकत्वसंभवादुत्कर्षसिद्धिरिति भावः।

ननूत्तराणामुक्तानामेकानुगतरीत्यदर्शनात्कथं कल्पकत्वं संभवतीत्यत उत्तरविशेषण-माह—पाट्येत्यादि। पाट्या संकलनादिना यावत्तावदादिवर्णनिरपेक्षेण यदुक्तं पूर्वं गणितं तत्पाटी तयेत्यर्थः। बीजनं यावत्तालदलादिसापेक्षं यदुक्तं पूर्वं गणितं तत्पाटी तयेत्यर्थः। बीजेन यावत्तावदादिसापेक्षं यदुक्तं पाठ्यनन्तरं पूर्वं गणितं तेनेत्यर्थः। चकार प्रश्नेषु योग्यार्थकः। न तु सर्वत्र तयोर्युगपन्निवेशनियमः।

कुट्टकेण। कुट्टको नाम गुणकः। हिंसावाचकशब्दैर्गुणनाभ्युपगमात्। योगरूढ्या गुणक-विशेषश्चायम्। कश्चिद्राशिर्येन गुणित उद्दिष्टक्षेपयुतोन उद्दिष्टहारेण भक्तः सन्निःशेषो

भवेत्स गुणकः कुट्टक इति पूर्वेषां व्यपदेशात्। तत्प्रकारेणेत्यर्थः। चः पूर्वार्थपरः। यद्यपि पाटीबीजयोः कुट्टकनिरूपणात्कुट्टकेनेति पृथगुद्देशोऽनुपपन्नस्तथाऽपि तन्निरपेक्षेणापि कुट्टकस्य प्रधानतया प्रश्नोत्तरसाधकत्वात्पृथगुद्देशः।

वर्गप्रकृत्या। वर्गप्रकृतिप्रकारेणेत्यर्थः। चः पूर्वार्थपरः। अस्या अपि पृथगुद्देशः प्रधानतया प्रश्नोत्तरसाधकत्वात्। पूर्वैराचार्यैः। आर्यब्रह्मगुप्तादिभिः। कथितानि। गोलेन। गोलस्थितिज्ञानेन। यन्त्रैः प्रागुक्तैः। तथा कथितानीत्यर्थः। तथा च प्रश्नोत्तराणामुक्तषट्प्रकारान्यतमरीत्या संभवात्कल्पकत्वं संभवत्येवेति भावः।

गोलेन यन्त्रैरित्यनेनोद्देशक्रमेण प्रश्नोत्तरकथने गोलयन्त्राभ्यामुत्तरदानमशक्यम्। पूर्वं तदज्ञानादिति यन्त्रनिरूपणानन्तरं प्रश्नाध्यायकथनं युक्ततरमिति सूचितम्। एतेन प्रश्नाध्यायः पूर्वग्रन्थसिद्धो न मत्कल्पित इत्यपि सूचितम्। अत्राध्याये उत्तरकथनेऽपि न सोत्तरप्रश्नाध्यायत्वं किंतूत्तराणामपि प्रश्नसापेक्षत्वात्प्रश्नाध्यायत्वं प्राधान्यादिति ध्येयम् ॥२॥

केदारदत्तः—प्रश्नाध्याय का व्याख्यान तथा प्रयोजन कहा जा रहा है—

कोई भी गणक, गोलगणिततत्वज्ञ ज्योतिर्विदों के समाज में, गणित ग्रहगोल सम्बन्धी प्रश्नों के बिना उत्कृष्ट तत्वार्थज्ञता की पदवी नहीं प्राप्त कर सकता है। अतएव नाना प्रकार की चातुर्यकला में चतुर विद्वानों की प्रीति प्रदान के लिये तथा जिन गणितज्ञों की दीर्घकालीन कुत्सित गर्व (अहंकार) रूपी पर्वत की चोटी आरोहण में प्राप्त प्रसिद्धि भी जिन प्रश्नों के श्रवण मात्र से ही सुवर्णवर्णवत् वदन के ज्योतिषी गणों की आकृति भी क्षण भर के लिये विकृत सी हो जाती है उस प्रश्नाध्याय का व्याख्यान आचार्य से हो रहा है ॥१॥

पाटीगणित (अंकगणित) और बीजगणित में वर्णित, प्रसिद्ध कुट्टक व वर्ग प्रकृति सदृश श्रेष्ठ गणितों से महाप्रश्नों के आधार से तथा ग्रहगोल वर्णित अनेकों यन्त्रों के आधार से बाल जनों के बोध के लिये (बालजन का अर्थ अवस्था से बाल्यता नहीं, अर्थात् जो अवस्था सम्पन्न युवक या वृद्ध भी इस विषय को नहीं जानता वह सभी बाल शब्द से उच्चरित होने हैं ऐसा शास्त्रज्ञों का मत है।) (अनधीत शास्त्रम्—बालः) आचार्य स्वयं यहाँ पर प्रश्नाध्याय के कुछ प्रश्नों का व्याख्यान करने जा रहे हैं ॥२॥

अथ बुद्धिमतः प्रशंसामाह—

अस्ति त्रैराशिकं पाटी बीजं च विमला मतिः।
किमज्ञातं सुबुद्धीनामतो मन्दार्थमुच्यते ॥३॥
वर्गं वर्गपदं घनं घनपदं संत्यज्य यद्गण्यते
तत्त्रैराशिकमेव भेदबहुलं नान्यत्ततो विद्यते।

एतद्यद्बहुधाऽस्मदादिजडधीधीवृद्धिदुद्धया बुधै-
र्विद्वच्चक्रचकोरचारुमतिभिः पाटीति तन्निर्मितम् ।।४।।
नैव वर्णात्मकं बीजं न बीजानि पृथक् पृथक् ।
एकमेव मतिर्बीजमनल्पा कल्पना यतः ।।५।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।३।।४।।५।।

मरीचिः—ननु सुबुद्धीनामपि प्रश्नोत्तररीत्यवगमं विनोत्तरकल्पकत्वं न संभवतीति पूर्वं बालेति किमर्थमुक्तमित्यतोऽनुष्टुभा पूर्वप्रतिज्ञां समर्थयति–अस्ति त्रैराशिकमिति ।

अतः कारणात् । मन्दार्थं प्रश्नोत्तराज्ञनिमित्तमुत्तरं मयोच्यते । कथ्यते । अतः कुत इत्यत आह—किमिति । सुबुद्धीनामज्ञातं ज्ञानविषयं किमस्ति येन तदर्थमपि कथनमावश्यकं स्यात् । अपि तु तेषां ज्ञानाविषयं न किमप्यस्ति तेषां सर्वज्ञानविषयकल्पकत्वात् । अतस्तेषां स्वत एव प्रश्नोत्तरज्ञानसंभवात्तन्निमित्तमुत्तरकथनं व्यर्थमेवेति भावः ।

ननु सुबुद्धीनामुत्तरज्ञानं स्वतः कुतः संभवतीत्यतः पाटीबीजयोरुत्तरसाधकयोः स्वरूपमाह–अस्तीति । त्रैराशिकम् । प्रमाणमिच्छा च समानजातीत्याद्युक्तं त्रैराशिकगणितम् : पाटी । अस्ति । वर्तते । मतिर्बुद्धिर्बीजम् । चकारादस्तीत्यर्थः । ननु दोषांशयुक्तया बुद्धया कार्यं न निर्वहतीति साधारण्येन बुद्धिः कथं बीजमुक्तमित्यतो मतिविशेषणमाह–विमलेति । विगतो मलो दोषांशो यस्याः सा शुद्धा बुद्धिरित्यर्थः । एतेन कुट्टकादीनामपि बीजत्वेन ग्रहस्तेषामपि बुद्धिगम्यत्वादिति सूचितम् ।

तथा च सुबुद्धीनां स्वतो विमलबुद्धया कल्पनासामर्थ्यात्त्रैराशिकावगमाच्च गणितकल्पनासंभवात्प्रश्नोत्तरज्ञानं संभवतीति भावः । अतो बालावबोधे कतिचिच्च बच्मीति प्राक्प्रतिज्ञातं नासंगतमिति सिद्धम् ।

केचित्तु 'ननु सूर्यादिप्रणीतशास्त्रेषु कथं पाटीबीजगणिते नोक्ते । मनुष्यकृतौ कथं तत्प्रतिपादनमित्यत आह—किमज्ञातमित्यादि । मयासुरप्रभृतीनां सुबुद्धीनां किं नामाज्ञातमस्ति । पाटीकुट्टकवर्गप्रकृतिबीजप्रतिपाद्यविषयेषु । अतस्त्वार्यसिद्धान्तेषु तानि न प्रतिपादितानि । तन्मूलोत्तरप्रश्नाप्रतिपादनं च । मनुष्यास्तदपेक्षया मन्दबुद्धयोऽतस्तद्बुद्धिविवृद्धये पाटीबीजगणिताद्यमुच्यते' इत्याहुः ।

तदसत् । सूर्याद्यार्षसिद्धान्तप्रसङ्गस्याप्रकृतत्वात्प्रतिज्ञातयारेत्राप्रतिपादनाच्च । मनुष्याणां मन्दत्वेनाभ्युपगमात्तदर्थं तत्कथकस्याऽऽर्षकथकं विनाऽप्रसिद्धेश्च । पूर्वार्धोक्तस्वरूपयोः पाटीबीजयोः सूर्यसिद्धान्तादौ सत्त्वेनोत्तरार्धाभासस्यासंगतत्वाच्चेति ।।३।।

ननु परिकर्मविंशतिं यः संकलिताद्यां पृथग्विजानाति ।
अष्टौ च व्यवहाराञ्छायान्तानभवति गणकः सः ।।

इति ब्रह्मगुप्तोक्तपाटीलक्षणादस्ति त्रैराशिकं पाटीति लक्षणमयुक्तं विरुद्धत्वात् । अन्यथोक्तकारेण पाट्यध्यायनिरूपणानुपपत्तेरित्यतः शार्दूलविक्रीडितवृत्तेनाऽऽह—वर्गं वर्गपदमिति ।

वर्गम् । समद्विघातरूपं गुणनम् । वर्गपदम् । कस्यायं समद्विघात इति वर्गमूलं गृह्यते । घनम् । समानां त्रयाणां गुणनम् । घनपदं कस्यायं समत्रिघात इति घनमूलं गृह्यते । इदं चतुष्टयं संत्यज्य सम्यक्प्रकारेण त्यक्त्वा । यत्किंचिद्यद्गण्यते गणितं क्रियते तद्गणितं त्रैराशिकम् । त्रैराशिकात्मकं यद्गणितं वर्गादिचतुष्टयान्यतमासंबद्धं तत्त्रैराशिकात्मकं भवतीत्यर्थः । एवकारात्त्रैराशिकानन्तर्गततया भासमानमपि तत्तदतिरिक्तं नेत्यर्थः ।

ननु प्रमाणमिच्छेत्याद्युक्तत्रैराशिकस्वरूपादर्शनेन कथं तादृशं गणितं त्रैराशिकमित्यतस्त्रैराशिकविशेषणमाह—भेदबहुलमिति । भेदैः स्वस्वरूपैः । बहुलम् । अनेकविधम् । तथा चेष्टकर्मप्रकीर्णमिश्रव्यवहारच्छायाव्यवहारादिकं त्रैराशिकसंबद्धमेवेति भावः ।

ननु वर्गादिसंबद्धं गणितमपि त्रैराशिकनिबद्धमास्तामित्यत आह—नेत्यादि । अन्यत् । वर्गादिचतुष्टयान्यतमसंबद्धं गणितं विलोमक्रियादि । ततस्त्रैराशिके । सार्वविभक्तिकस्तसिरित्येके । न विद्यते नास्तीत्यर्थः । वर्गादेः पारिभाषिकत्वेन युक्त्यभावाद्गुणनभजनादित्रैराशिकवद्वर्गादौ त्रैराशिक्य(का)संभव इति भावः ।

यद्यपि वर्गादिचतुष्टयान्तमासंबद्धे उदाहरणे राश्यसंबद्धाङ्कयोजनवियोजनाभ्यां त्रैराशिकासंभवादिष्टकर्मप्रसङ्गस्तत्र विलोमकर्मणैव राशिसिद्धेरतस्तादृशं गणितं त्रैराशिकं नेत्यपि वक्तव्यम् । तथाऽपि उद्देशकालापवदिष्टराशिः क्षुण्णो हृतोंऽशैरित्यनेन तादृशगणिते निरपेक्षाङ्कयोजनवियोजनात्त्रैराशिकाप्रसङ्गस्योक्तेर्वर्गादिचतुष्टयान्यतमावच्छिन्ने त्रैराशिकासंभववत्संकलनव्यवकलनत्वाच्छिन्ने तदसंभावात् ।

अमलकमलराशेरित्यादौ त्रैराशिकेनैव सिद्धेश्च तदनुक्तिरिति ध्येयम् । तथा च परिकर्मणां गणितकर्तव्यताहेतुत्वेनोक्तेस्तदितरतादृग्गणितं त्रैराशिकमित्यविरुद्धं पाटीलक्षणमिति भावः ।

नन्वेवं त्रैराशिकमात्रं वक्तव्यं किमर्थं तद्भेदाः । तस्यानेकत्वेन तद्भेदानां सकलानां वक्तुमशक्यत्वादित्यत आह—एतदित्यादि । एतत्त्रैराशिकं बहुधा बहुप्रकारेण प्रकीर्णादिना यद्बुधैर्निर्मत्सरत्वादिमद्भिर्ब्रह्मगुप्तादिभिर्निर्मितं कृतं तत्पाटीगणितमिति । एवमुक्तसकलानां वक्तुमशक्यत्वेऽप्यल्पा एव तद्भेदा उक्ता इति भावः ।

अत्र हेतुमाह—अस्मदादिजडधीधीवृद्धिबुद्ध्येति । वयमादिर्येषां तेऽस्मदादयस्ते च ते जडधियश्च मन्दबुद्धयस्तेषां धीर्बुद्धिस्तस्या बुद्धिर्वर्धनं तद्विषये बुद्धिस्तया । अस्मदादिजडधियां धीवृद्धिर्भूयादिति बुद्ध्येत्यर्थः । तथा च तदल्पभेददर्शनेन तद्रीत्याऽन्येषामपि भेदानां स्वत एव ज्ञानसंभवादतो नानाविधत्रैराशिकज्ञानार्थं पाटीनिरूपणमिति भावः ।

ननु बुधैरपि तद्भेदाः कथं ज्ञाताः । यैन तन्निबन्धनेन पाटी निर्मितेत्यतो बुधविशेषणमाह—विद्वच्चक्रचकोरचारुमतिभिरिति । विदुषां पण्डितानां चक्रं समूहस्तस्मिन् । चकोरा इव चकोराः । अतिसुज्ञाः पण्डिता इत्यर्थः । पक्षिजातिषु चकोराणामतिसुज्ञत्ववर्णन-

प्रसिद्धेः । तेभ्यश्चारुः सुन्दरी मतिर्बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धचधिकबुद्धयः । अतिसुज्ञाधिकश्रेष्ठाः पण्डिता इत्यर्थः ।

चक्रेत्यत्र चन्द्रेति क्वचित्पाठे विद्वांसः सूर्याद्यार्षास्ते च ते चन्द्रास्तेषां चकोराश्चारुमतयो येषां ते । यथा चकोरैश्चन्द्रकिरणाः पीयन्ते तथा ब्रह्मगुप्तादिबुद्धिभिः सूर्याद्यार्षज्ञानांशाः पीयन्ते इत्यर्थः । तथा च बुधैरार्षग्रन्थेषु तद्भेदाभिप्रायं ज्ञात्वा मन्दबुद्धचर्थं तद्विवरणं पाटीरूपं कृतमिति भावः ॥४॥

ननु बुद्धिर्बीजं तर्हि वर्णात्मकं चतुर्भेदं कथं बीजं निरूपितमित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—नैव वर्णात्मकमिति ।

वर्णात्मकं यावत्तावत्कालकनीलकादिवर्णाभिन्नमेकं बीजं नास्ति । एवकाराद्वर्णत्वेन प्रतिपादितमपि तत्त्वतया न ज्ञेयमित्यर्थः । अथ तद्भेदानपि खण्डयति—नेत्यादि । पृथक्पृथग्भिन्नं भिन्नं बीजानि । एकवर्णानेकवर्णतन्मध्यमाहरणभावितात्मकानि चत्वारि न सन्ति । तर्हि बीजं किमित्यत आह—एकमिति । मतिः शुद्धा बुद्धिर्बीजम् । एकं मुख्यम् । एकसंख्याकं च । एवकाराद्बीजस्य चातुर्विध्यप्रतिपादनेऽपि तत्त्वतया तन्नावधेयमित्यर्थः ।

अत्र हेतुमाह—अनल्पेति । यतो हेतोः कल्पना बुद्धिकल्पना । अनल्पा । अनन्ता । तथा च तच्चातुर्विध्यप्रतिपादनं बुद्धिकल्पनया कृतमेवं बुद्ध्या तदुक्तातिरिक्तकल्पनाऽपि संभवतीत्यनेकबीजोपाधिसंभवान्निरूपितं बीजं कल्पनाप्रकाररीतिद्योतकं न तद्रूपमिति भावः ॥५॥

केदारदत्तः—बुद्धिमान् मानव प्रशंसनीय है—

त्रैराशिक गणित अर्थात् आनुपातीय राशि गणित को अंकगणित या पाटी गणित कहते हैं । सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्वच्छ से स्वच्छ बुद्धि का नाम बीजगणित कहा गया है । बुद्धिमान् के लिये कोई वस्तु अज्ञात नहीं है वह सब कुछ सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को बुद्धिगत कर लेता है ।

किन्तु विश्व में सभी बुद्धिमान् ही नहीं होते मन्द बुद्धि के लिये ही सभी विषयों को ग्रन्थ रूप में बताया जाता है । सद्बुद्धि स्वयं ग्रन्थ है ।

वर्ग, वर्गमूल, घन, और घनमूल इत्यादि इन गणितीय विषय चतुष्टय को छोड़कर अन्य सारा अनेक भेद युक्त गणित तो त्रैराशिकगणित विद्या पर अवलम्बित है । त्रैराशिक से इतर और कोई अन्य गणित गणित नहीं है ।

अस्मदादि मूर्खबुद्धि के सदृश मानव के बुद्धि विवर्धन के लिये सूर्यसिद्धान्तादिक आर्षग्रन्थ हैं हीं, चन्द्रचकोर मतिमान् मानवके लिये यहाँ प्रश्नाध्याय का व्याख्यान किया जा रहा है ।

मात्र कल्पना के या, का, नी, पी, (अ, क, ल, प'''मात्र) इत्यादि वर्णात्मक बीज-गणित ही गणित नहीं है। सुन्दर स्वच्छ बुद्धि का नाम बीज है या बीजगणित है, अनन्त कल्पना शक्ति ही बीज या बीजगणित है॥ ३॥४॥५॥

अथ प्रश्नानाह—

अहर्गणस्याऽऽनयनेऽर्कमाताश्चैत्रादिचान्द्रैर्गणकान्विताः किम्।
कुतोऽधिमासावमशेषके च त्यक्ते यतः सावयवोऽनुपातः॥६॥

वा० भा०—अयमस्य भङ्गश्च पूर्वं व्याख्यात एव॥६॥

मरीचिः—अथ प्रश्नस्वरूपरीतिप्रदर्शनार्थं मध्यवासनाध्यायान्तर्गतमहर्गणानयनोपस्थितपूर्वपक्षरूपप्रश्नमुक्तमनुवदति—अहर्गणस्याऽऽनयन इति।

अस्योत्तरं तत्रैव प्रतिपादितम्। मध्याधिकारोक्तो यत्प्रोक्तं फलकीर्तनायेत्यादिप्रश्नस्त्वहर्गणानयनेऽन्तर्भूतत्वात्कादाचित्कत्वाच्चात्र नोक्तः। गोलप्रश्नास्तु न युक्त्येति तेषामनुवादोऽत्र न कृत इति ध्येयम्॥६॥

केदारदत्तः—प्रश्न प्रारम्भ है कि—

अहर्गण गणित साधन के अवसर पर सौर मासों में चैत्रादि चान्द्रमास (विजातीय मास) क्यों युत (जोड़) दिये गये हैं ?

तथा अधिक मास शेष तथा क्षयमास शेष को भी जोड़ना चाहिए था उनका त्याग क्यों किया गया॥६॥

इसी गोलाध्याय के मध्यगतिवासनाधिकार के श्लोक १७-१८-१९—की केदारदत्तः व्याख्योपपत्ति देखिये॥६॥

अथान्यमाह—

चन्द्रश्चन्द्रगुणो रवी रविगुणश्चाङ्गारकोऽङ्गाहत-
स्तद्योगो गुणसंगुणात्सुरगुरो राश्यादिकात्पातितः।
शेषं चापरपर्ययोत्थखचरेणोनं युतं वा शनिः
स्यात्केऽन्ये भगणा वदेति तव चेदस्ति श्रमो मिश्रके॥७॥

वा० भा०—॥७॥

मरीचिः—अथ पाट्युत्तरसंबन्धिप्रश्नं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—चन्द्रश्चन्द्रगुण इति। चन्द्रश्चन्द्रगुणः। एकेन गुणितः। अविकृतः केवल इति यावत्। सूर्यो द्वादशगुणः। अङ्गारको भौमोऽङ्गाहतः षड्गुणः। चकारो ग्रहक्रमगुणक्रमार्थकः। तेन द्वादशगुणो भौमश्च तद्योगोऽङ्गाहत इत्यर्थो निरस्तः। वक्ष्यमाणोत्तरेणैतदर्थं प्रश्नोत्तरासंभवात्।

संभवेऽपि मूलकृद्भाष्ये तयोदाहरणानुक्तेश्च । तद्योगः । तेषां तादृशचन्द्रसूर्यभौमानां योग ऐक्यम् ।

ननु(च) चन्द्रगुण इति व्यर्थमिति वाच्यम् । तदनुक्तौ चन्द्रेतरग्रहाणां गुणदर्शनेन चन्द्रस्य को गुणः कथं वा नोक्त इति शङ्कया मन्दश्रोतृणां व्याकुलतापत्तेः । गुणसंगुणात् । त्रिगुणात् । सुरगुरोर्बृहस्पतेः । राश्यादिकात् । राशिभागकलाविकलात्मकात् । अनेनात्र ग्रहाणामिष्टभगणा न गृहीताः । योगश्च यथास्थानं स्वस्वहरभागफलेनोर्ध्वोर्ध्वं योज्यः । राशिस्थाने द्वादशतष्ट इत्यादि ज्ञेयम् । पातितः । हीनः कार्यः । शेषं राश्याद्यात्मकम् । चस्त्वर्थे । तेनाग्रे शेषान्वयः स्पष्टः ।

अपरपर्ययोत्थखचरेण । कल्पितभगणोत्पन्नग्रहकल्पभगणे तद्ग्रहेण राश्यादिना । ऊनं शनी राश्याद्यात्मकः स्यात् । वा । अथवा । युतं शनिः स्यात् । के अन्ये । उद्दिष्टग्रहान्यग्रहसंबन्धिनो भगणाः कल्पकालसंबन्धिनः के भवन्ति । सामान्यतस्तज्ज्ञानेऽपि विशेषप्रश्न इति । एवंविधप्रश्नस्येत्यर्थः । त्वमुत्तरमित्यध्याहारो वदेत्यनेन स्फुटः । शेषं कल्पितभगणोत्पन्नग्रहेणोनं युतं वा शनिः स्यात्तद्ग्रहं वदेति प्रश्नतात्पर्यं कल्पभगणाज्ञानहेतुकं पर्यवसन्नम् ।

ननु तद्ग्रहराश्यादिभोगज्ञानार्थं भगणप्रश्नः । शनिज्ञानेनैव शन्यूनशेषस्य शेषोनशनेर्वा तद्ग्रहभोगत्वसंभवात्प्रश्नवैय्यर्थ्यापत्तेः । भगणज्ञानेऽप्यहर्गणाज्ञानात्तद्भोगज्ञानानुपपत्तेश्च ।

ननु प्रश्नोत्तरदानासमर्थं मां प्रति प्रश्नोऽनुचित इत्यत आह-तवेति । प्रश्नश्रोतुश्चेद्यदिमिश्रके मिश्रव्यवहारे श्रमोऽभ्यासोऽस्ति । तथा च मिश्रव्यवहाररीत्यैतदुत्तरं तज्ज्ञस्त्वं दातुं शक्तोऽसीति भावः । यद्यपि मिश्रव्यवहाररीत्यैतस्य वक्ष्यमाणमुत्तरं न । किंत्विष्टकर्मणेति मिश्रके इत्युक्तमनुचितम् । तथाऽपि यद्वेष्टकर्माख्यविधेस्तु मूलं मिश्रप्युक्तं तच्च कलान्तरं स्यादित्यनेन मिश्रव्यवहारेऽपीष्टकर्मसंनिवेशस्योक्तेस्तदुक्तिर्नानुचिता । यद्वा मिश्रो मिश्रव्यवहारः के शिरशि मुख्यभागे यस्य तादृशे पाटीगणिते इत्यर्थः । पाटयां व्यवहारनिरूपणोपक्रमे प्रथमं मिश्रव्यवहारनिरूपणात् । पाटयोत्तरस्य पूर्वं प्रतिज्ञातत्वाच्च ॥७॥

केदारदत्तः—प्रश्न है कि—

एक गुणित चन्द्र स्पष्ट के तुल्य स्प. चन्द्र, १२ द्वादश गुणित सूर्य स्पष्ट के तुल्य स्प. सू., ६ छै गुणित मंगल स्पष्ट के तुल्य मंगल स्पष्ट, है । इन तीनों के त्रिगुणित योग को राश्यादिक स्पष्ट गुरु में कम किया जाने पर शेष जो बचता है, उसे कल्पित ग्रहकल्प भगण से उत्पन्न ग्रह से कम कर देने पर, या कथित ग्रह के कल्पभगणोत्पन्न ग्रह में जोड़ देने से शनि ग्रह हो जाता है, तो बताओ यदि मिश्रक गणित में तुम्हारा श्रम है तो कल्पित कथित कल्प भगण विशेषण विशिष्ट की कल्प भगण संख्या क्या है ? ॥७॥

अथास्य भङ्गः—

उद्देशकालापवदेव कार्यं योगान्तराद्यं ग्रहपर्ययाणाम् ।
दृष्टस्य चक्राणि तदूनितानि तैरूनितं तत् क्रमशो विधेयम् ।।८।।
अज्ञातखेटः स्वमृणं कृतश्चेदज्ञातचक्राणि भवन्ति तानि ।
ख्वहाः प्रदेया अविशुद्धशुद्धौ ख्वहैश्च तक्ष्यं कुदिनाधिकं चेत् ।।९।।

वा० भा०—उदाहरणे ग्रहाणां यथा यथा योगोऽन्तरं बाऽभिहितं तथा तथा ग्रहयुगभगणानामपि कार्यम् । यदि शोध्यं न शुध्येत्तदा कुदिनानि दत्त्वा शोधयेत् । तथा गुणकैर्गुणने योगे च कृते यदि राशिः कुदिनाधिको भवति तदा कुदिनैस्तक्ष्यः । एवं योगान्तरादि यद्भवति तेन दृष्टग्रहस्य युगभगणा एकत्रोनाः कार्याः । अन्यत्र तैर्भगणैस्तदूनं कार्यम् । एव कृते प्रथमस्थाने यदवशेषं तेऽन्यभगणा भवन्ति । यद्यन्यभगणा उदाहरणे धनं कृताः । यदि ऋणं कृतास्तदा द्वितीयस्थाने यदवशेषं तेऽन्यभगणा इति ।

अत्रोपत्तिः । यद्ग्रहाणां योगवियोगादिकं तत् तद्युगभगणानां कृतम् । तथाविधैर्भगणैरर्हगणाद्ग्रहवत् फल आनीते तद्योगवियोगादिकमुत्पद्यते । यत्र शोध्यं न शुध्यति तत्र यत् कुदिनानि दत्तानि तत्रेवं युक्तिः । यैर्भगणैर्यादृशो ग्रहो राश्यादिको भवति तैरेव कुदिनाधिकैस्तादृश एव राश्यादिकः स्यात् । भगणशेषयोस्तुल्यत्वात् । किंतु तद्भगणा अधिका आगच्छन्ति ते परित्यक्ताः । प्रयोजनाभावात् । उदाहरणं हि राश्यादिग्रहाणामेव । अनयैव युक्त्या यत्र गुणनादिके कृते कुदिनाधिकत्वं दृश्यते तत्र राशिः कुदिनैस्तक्ष्य इत्युक्तम् । अथैबं योगवियोगादिके ये भगणा जातास्तेऽन्यभगणैरूनाः सन्तो दृष्टग्रहभगणा भवन्ति । दृष्टभगणैरूना अन्यभगणा भवन्तीति विलोमविधिः । यदाऽन्यभगणैर्युक्ता सन्तो दृष्टभगणा भवन्ति तदा तैरेवोना दृष्टभगणा अन्यभगणा भवन्तीत्यर्थात् सिद्धम् ।

अथ बालावबोधार्थं कल्पितभगणैरुदाहरणम् । तत्र रवेर्भगणास्त्रयः ३ । चन्द्रस्य चत्वारः ४ । भौमस्य पञ्च ५ । गुरोः सप्त ७ । शनेर्नव ९ । कुदिनानि षष्टिः ६० । त्रयोविंशति २३ महर्गणं प्रकल्प्य साधिता ग्रहाः

र०	चं	मं०	गु०	श०
१	६	११	८	५
२४	१२	०	६	१२

। अत्र द्वादशगुणोऽर्कः । एकगुणश्चन्द्रः । षड्गुणो भौमः । र. $\begin{matrix}९\\१८\end{matrix}$ । चं० $\begin{matrix}६\\१२\end{matrix}$ । मं० । $\begin{matrix}६\\०\end{matrix}$ एषां योगः १० । ० । अमुं त्रिगुणाद्गुरोर्विशोध्य २४ । १८ शेषम् २ । १८ । अथाज्ञातभगणज्ञानार्थं ग्रहयुगभगणानां यथोक्ते योगे वियोगे च कृते जातम् ११ । ० । एतच्छनिभगणैर्नवभिरूनीकृतं

जातावन्यभगणौ २। यद्यन्यभगणा ऋणं तद्भगणद्वयसंभूतो ग्रहः ९।६। अस्मिन् पूर्वस्मात् २।१८ शोधिते जातः शनिः ५। १२। यद्यज्ञातः खेटः स्वं तदा शनिभगणेषु ९ कुदिनानि ६० प्रक्षिप्यैकादश ११ विशोध्य जाता अन्यभगणाः ५८। एभ्यो जातो ग्रहः २। २४। अनेन पूर्वशेषे युते जातः शनिः ५।१२।।८।।९।।

मरीचिः—अथ सूचितमुत्तरमिन्द्रवज्रोपजातिकाभ्यामाह—उद्देशकालेति।

उद्देशकालापवत्। प्रश्नकर्तुः कथनरीत्या। एवकारस्तद्भिन्नरीतिव्युदासार्थः। ग्रहपर्ययाणाम्। उद्देशकानुरोधेन तत्संबन्धिकल्पकालजतद्भोगानाम्। ग्रहपर्यययोरुपलक्षणत्वादित्यर्थः। योगान्तराद्यम्। संकलनव्यवकलनम्। आद्यपदोपादानात् गुणनभजनं च कार्यम्। यथा च प्रकृतप्रश्ने चन्द्रभगणा यथा स्थिताः। सूर्यभगणा द्वादशगुणाः। भौमभगणाः षट्गुणाः। एषां योगस्त्रिगुणगुरुभगणेभ्यः शोध्यः। शेषमुद्देशकालापवत्कृते सिद्धम्।

अथ प्रश्नोत्तरसिद्ध्यर्थं विलोमविधिमाह—इष्टस्येत्यादि। इष्टस्य प्रश्नालापक(फ) लितपदार्थस्य। चक्राणि। कल्पतद्भोगमानम्। प्रकृते च शनेः कल्पभगणा इत्यर्थः। प्रश्नेऽज्ञातखेटः। अज्ञातनामग्रहभोगः। स्वं युतः। ऋणं हीनः। कृतश्चेत्तद। क्रमशः। युतहीनक्रमेण। तदूनितानि तेनोद्देशकालापवत्कृतसिद्धेन हीनानि कार्याणि। तैः प्रश्नालापफलितपदार्थकल्पपर्ययैः। प्रकृते च शनिभगणैरित्यर्थः।

तत्। उद्देशकालापवत्कृतसिद्धम्। ऊनितं हीनं विधेयं कार्यम्। शेषोनकल्पितग्रहस्येष्टग्रहत्वे उद्दिष्टे सति आलापवदानीतशेषेणेष्टग्रहभगणा युताः कल्पितग्रहभगणाः स्युरिति ध्येयम्। एतस्य विलोमविध्युपलक्षणत्वादज्ञातग्रहादिगुणने आलापवत्कृतसिद्धेन भक्त इष्टस्य पर्ययाः। अज्ञातभजने। आलापवत्कृतसिद्धमिष्टस्य पर्ययैर्भक्तमित्याद्यवधेयम्। तानि। विलोमविध्यवगतानि। अज्ञातनामपदार्थस्य कल्पे पर्यया भवन्ति।

ननु प्रश्नोत्तरगणितकर्तव्यतायां क्वचिच्छोध्यं न शुध्येत्तदा कथं कार्यमित्यत आह—क्वहा इति। अविशुद्धशुद्धौ। यत्र यत्र(न्न) विशुध्यति तदविशुद्धम्। तस्य शोधनार्थं तत्रेत्यर्थः। क्वहाः। कल्पकुदिनानि। प्रदेयाः। संयोज्यानि। प्रकर्षस्तु यावत्पर्यन्तं शुद्धिर्भवति तावत्कुदिनयोजनं नत्वेकदैवेति नियमः। ततः शोधनानुपपत्तिर्नेति भावः।

ननूद्देशकालापवत्कृतसिद्धस्य तैरूनितमित्यादिकरणेऽपि क्वचिच्छेषं कुदिनाधिकम्। नहि तस्य ग्रहभगणात्वानुपपत्तिः। नहि भगणाः कुदिनाधिकाः संभवन्ति। चन्द्रभगणानामपि तेभ्यः कल्प(न्यून)त्वादित्यत आह—क्वहैरिति। भगणविषयं यदि कल्पकुदिनाधिकं तदा कल्पकुदिनैः। चकारस्तद्भिन्नव्युदासार्थः। तक्ष्यं तष्टं कार्यम् तथा च ग्रहभगणत्वानुपपत्तिर्नेति भावः।

अत्रोपपत्तिः। यद्ग्रहाणां योगविभा(यो)गादिकं तद्युगादिभगणानां कृतं यतस्तथाविधैर्भगणैरहर्गणाद्ग्रहवत्फले आनीते तद्योगवियोगादिकमुद्दिष्टमुत्पद्यते। अथैवं योगवियोगा-

दिके कृते ये भगणा जातास्तेऽन्यभगणैरूनाः सन्त इष्टग्रहा भवन्ति । व्यत्यभवन्ति तदा तैरेवोना इष्टभागणा अन्यभगणा भवन्ति इत्यर्थसिद्धम् ।

शोध्यशोधनार्थं क्वचित्कुदिनप्रदानम् । तत्र युक्तिस्तु यैर्भगणैर्यादृशो ग्रहो राश्यादिको भवति तैरेव कुदिनादिकैस्तादृशः एव राश्यादिकः स्यात् । कुदिनानां हरत्वेन भगणशेषयोस्तुल्यत्वात् । किंतु तद्भगणा अहर्गणेनाधिका आगच्छन्ति ते त्यक्ताः । प्रयोजनाभावात् ।

उदाहरणं हि राश्यादिग्रहाणामहर्गणोत्पन्नानामेव । अनयैव युक्त्या यत्र गुणादिके कृते कुदिनाधिकत्वं दृश्यते तत्र राशिः कुदिनैस्तक्ष्य इत्युपपन्नम् ॥८॥९॥

केदारदत्तः—प्रश्न का समाधान बताया जा रहा है—

प्रश्न में जिस प्रकार ग्रहों का योग वियोग बताया जा रहा है उसी प्रकार उन उन ग्रहों के युगभगणों का भी योगान्तर करना चाहिए। शोध्य पदार्थ की शुद्धि न होने से उसमें पुनः कल्प कुदिन संख्या जोड़ देने से शुद्धि हो ही जाती हैं । तथा गुणक से गुणा करने पर यदि राशि मान कुदिन से अधिक होता है तो कुदिन संख्या से तष्टित करने से शेष उपलब्धि से अग्रिम गणित क्रिया करते रहनी चाहिए। इस प्रकार इष्ट ग्रह के युग भगण होते हैं । यदि अन्य भगण धन किये गये हैं तो उदाहरण में उन्हें एक जगह कम करते हुये दूसरी जगह आगत उक्त भगणों में इस भगण संख्या को कम करना चाहिए। अत एव कम करने से प्रथम में अन्य भगण होते हैं ।

उदाहरण में यदि ऋण किये गये हैं तो द्वितीय स्थानीय शेष अन्य भगण होते हैं ।

उपपत्ति—आचार्य ने यहां पर ग्रहों की कथित कल्प सम्बन्धी ग्रह भगणों के सम-अनुपातिक ग्रहों के लघु मानात्मक ग्रहभगण का मान कल्पित किया है । जैसे—

रवि भगण = ३, चन्द्र भगण = ४, मंगल भगण = ५, बृहस्पति भगण = ७, शनि भगण = ९, कल्पकुदिन = ६०, अहर्गण = २३ अत एव कल्पित अहर्गण से साधित ग्रहों में सू० = १ । २४ । चं० ६ । १२, मं० = ११ । ० बृ० = ८ । ६ । ६ । १२ श० = ५ । १२ प्रश्नानुसार सू० = १२ × सू०, १ × चं० = च, ६ मं० = मं१

अतः ६ × सू = ९।१८,च = ६।१२, मं = ६।० योग = २२ ÷ १२ = १०।०।०।०

३ × बृ = २४।१८ = ०।१८ में १०।०।०।० घटाने से २।१८।०।० होता है । अतः अज्ञात ग्रह भगण ज्ञान के लिये, ग्रह युग भगणों का योग और वियोग से ११।०। इसे शनि भगण ९ से कम करने से = २।०, भगण द्वय से उत्पन्न ग्रह = ९।६, इसे पूर्वागत २।१८ में कम करने से ५।१२ होता है । यदि अज्ञात ग्रहमान धन + तो शनि भगणों में कुदिन ६० जोड़ने और ११ घटाने से ६० + ९ = ६९ − ११ = ५८ अन्य ग्रह भगण होते हैं । इस प्रकार के भगणों से उत्पन्न ग्रह २।२४ इसे पूर्व शेष में ३।१ = जोड़ने से ५।१२ होता है ॥८॥९॥

अथान्यं प्रश्नमाह—

ये याताधिकमासहीनदिवसा ये चापि तच्छेषके ।
तेषामैक्यमवेक्ष्य यो दिनगणान् ब्रूतेऽत्र कल्पे गतान् ॥
संश्लिष्टस्फुटकुट्टकोद्भटबटुक्षुद्रैणविद्रावणे ।
तस्याव्यक्तविदो विदो विजयते शार्दूलविक्रीडितम् ॥१०॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥१०॥

मरीचिः—अथ बीजोत्तरे संबन्धिप्रश्नमाह—ये याताधिकेति ।

ये यत्संख्याकाः । याताधिकमासहीनदिवसा अहर्गणानयने गताधिमासाः । तत्र च गतावमदिनानि । अत्र च संख्यावृत्तेर्बहुत्वाद्बहुवचनम् । ये यत्संख्याके । तच्छेषके तयोरधिमासावमयोः शेषे । चः समुच्चये । अपिशब्दानुमासदिनयोर्वैजात्यं प्रश्ने प्रतिबन्धकं नेत्यर्थः । तेषां चतुर्णामैक्यं वियोगमवेक्ष्य ज्ञात्वा । अत्र यत्संबन्धिदिने । कल्पे कल्पादित इत्यर्थः । कल्पादिति पाठश्चेत्साधुः । गतान् दिनगणान् । बहुवचनेन सौरचान्द्रसावनात्मकाहर्गणत्रयं सूचितम् । यो गणको ब्रूते गणितोक्त्या कथयति यस्य गणकस्य विदः कल्पकस्याकल्पकत्वं कुत इत्यत आह—अव्यक्तविद इति । अव्यक्तं बीजगणितं वेत्तीति । बीजगणितज्ञातुः । तथा च बीजस्य बुद्धिरूपत्वात्कल्पकत्वं स्वतःसिद्धमिति भावः ।

अनेनान्य बीजगणितप्रक्रिययोत्तरं सूचितम् । संश्लिष्टस्फुटकुट्टकोद्भटबटुक्षुद्रैणविद्राविणे । संश्लिष्टसंज्ञको यः स्फुटकुट्टक. ।

> एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ तदा गुणैक्यं परिकल्प्य भाज्यम् ।
> अग्रैक्यमग्रं कृत उक्तवद्यः संश्लिष्टसंज्ञः स्फुटकुट्टकोऽसाविति ॥

कुट्टकाध्याये प्रतिपादितः । तत्रोद्भटा अतिकल्पनासमर्था ये बटवो बालकास्त एव क्षुद्रैणा नीचहरिणाः । नीचत्वमल्पज्ञानजनितकुगर्वाश्रियत्वम् । तेषां विद्रावणे । विदारणे । अनेन केवलं स्फुटकुट्टकेन प्रश्नोत्तरदानसमर्थास्तेषामपि भञ्जकोऽयं प्रश्न उत्तरानुपस्थितेरिति सूचितम् ।

शार्दूलविक्रीडितम् । शार्दूलश्चतुष्पदेष्वतिबलान्वितो व्याघ्रविशेषः । तस्य विक्रीडितं तत्क्रीडनं विजयते सर्वोत्कर्षेणास्ति । एतदुत्तरश्रवणेन स्फुटकुट्टककल्पनाभिमानिनां मरणमेव भवतीति भावः । अत्र स्फुटकुट्टकेत्यनेन विना कुट्टकं बीजक्रिययाऽस्योत्तरमशक्यमित्यनेकवर्णसमीकरणबीजेनोत्तरं सूचितम् ।

शार्दूलविक्रीडितं छन्दोऽपि सूचितम् । विदः पण्डितात् । अव्यक्तविदः । बीजगणितज्ञातुः सकाशात् । विश्लिष्टेत्यादि विद्रावणनिमित्तम् । तदुत्तरं कृताष्टाष्टोत्यादि वक्ष्यमाणं तदर्धमित्यर्थः । प्रश्नकर्तुः शार्दूलविक्रीडितं विजयते । एतत्पद्यश्रवणादुत्तरापेक्षा भवतीति भावः ।

तस्य कस्येत्यपेक्षायामाह—ये इत्यादि । याताधिकमासहीनदिवसाः । अवगतवर्णच्छन्दोगणेषु । अधिको मुख्यः । पूर्वोक्तेः । त्रिगुरुत्वाच्च । एतादृशो यो मासगणः स

सगणः । सगणस्यैतद् रूपत्वात् । अहीनाः । युक्ता इत्यर्थः । ये दिवसाः । दिवसा इति सगणोपलक्षकाः । सोऽन्त्यगुरुरित्युक्तेः । स आभ्यां सकाशे द्वितीयभगणान्ते यतिरिति द्योतितम् ।

तथा च मससगणा ये स्युरिति फलितम् । तच्छेषके । तयोः सगणयोः शेषके । उपजीवके तगणे । तगणस्य सगणोत्पन्नत्वात् । ये चापि स्त इति फलितम् । तेषां पूर्वंसिद्धानां मससतगणानामैक्यमक्षरैरेकत्र सन्दर्भो निवेशनम् । अवेक्ष्य । छन्दोभियुक्तोपदेशेन ज्ञात्वा । अवेक्ष्य इति जगणस्वरूपाक्षरत्वाज्जगणोऽपि पूर्वगणमध्ये गण्यः । सगणयोः संनिवेशे द्वितीयाक्षरतश्चतुरक्षरपर्यन्तं जगणस्य प्रत्यक्षत्वात्तयोर्मध्ये निवेश्य इत्यपि सूचितम् । योऽभिज्ञः । अत्र कल्पे छन्दोभेदविचारणे । दिनगणात् । दिनस्वरूपात्प्रकाशरूपान् गणानित्यर्थः । गतान् । गेन गुरुणा युक्तास्तगणा इति मध्यपदलोपिसमासाद्गताः । तान् गतान् । गणान्ते गुरुर्निवेश्य इत्यर्थः । एवमक्षरसंनिवेशं ब्रूते वदति तस्य तच्छार्दूलविक्रीडितं विजयते । सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमिति वृत्तरत्नाकरोक्तलक्षणसिद्धेरितिभावः ।।१०।।

केदारदत्तः—अधिक मास शेषादि प्रश्न है—

गत अधिमास क्षयदिन अधिक शेष और क्षय शेष के ऐक्य के ज्ञात होने पर कल्प से वर्त्तमान समय तक जो गणक अहर्गण सम्बन्धी काल सौर सावन चान्द्रादि समग्र विषयों को बताता है; उसे बीजगणित वेत्ता, संश्लिष्ट संज्ञक स्फुट कुट्टक कल्पना में अत्यन्त समर्थ उन बालकों जिनको अल्पज्ञानजनित कुत्सित अहंकार भरा है उस गर्व को ध्वस्त करने के लिये उक्त प्रश्न के उत्तरदान समर्थ गणक को मैं गणित शास्त्र में सर्वोपरि शार्दूलविक्रीडित (व्याघ्र सिंह) अर्थात् सिंह मानता हूँ। शार्दूलविक्रीडित छन्द भी सूचित किया है। कुट्टकादि अति कल्पना कुशल गणितज्ञ के लिये (क्षुद्र हरिण) नीच हरिण के लिये सिंह जैसा शब्द से घातक है वैसे अल्पज्ञानोत्पन्न कुत्सित अहंकार के ज्योतिर्विद के लिये संश्लिष्ट कुट्टकादि गणितविद् सिंह सदृश सर्व सामर्थ्यवान् है । यही भाव है ।।१०।।

अथास्य भङ्ग.—

कृताष्टाष्टिगोब्ध्यब्धिशैलामरर्तु-
द्विप ८६३३७४४९१६८४घ्ने सशेषाधिमासावमैक्यै
भवेद्व्येकचन्द्राह १६०२९९८९९९९९ भक्तेऽवशेषं
गतेन्दुद्युराशिस्ततः सावनाद्यः ।।११।।

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ।।११।।

मरीचिः—अथ सूचितमुत्तरं भुजंगप्रयातेनाऽऽह—कृताष्टाष्टीति ।
सशेषाधिमासावत्रैक्ये । स्वस्वशेषाभ्यामधिमासावमशेषाभ्यां सहिते । स(स्व)शेषे ।

तादृशेऽधिमासावमे । अहर्गणानयने इष्टाधिमासाः सशेषयुक्ताः । इष्टावमानि स्वशेष-युक्तानि । अनयोर्योगे । प्रागुक्तचतुर्योग इत्यर्थः । वेदाष्टनृपतान(नाग)युगा(गद्वया ४४) द्विवेदरसाष्टभिर्गुणिते । निरेककल्पचान्द्रदिनैर्भक्ते यच्छेषं तद्योगसंबन्धिदिने कल्पाद्गत-चान्द्रदिनगणो भवेत् ।

ननु प्रश्ने दिनगणानित्युक्तमत्रैकः कथमुक्त इत्यत आह—तत इति । चान्द्रदिनगणा-त्सावनाद्यः । पृथगतः पठितावमसंगुणाद्विधुदिनाप्तेत्याहर्गणानयनेन सावनाहर्गणः । आद्यपदात्पृथगयाधिकमाससमाहताद्विधुदिनाप्तगताधिकमासकैः । कृतदिनै रहितोऽर्कदिनो-च्चयो भवति मासगणः खगुणोद्धृतो रविहृतः स च कल्पगताः समा इत्यनेन सौराहर्गण-मासवर्षाण्यानेयानीत्यर्थं ।

अत्रोपपत्तिः—अनेकवर्णबीजप्रक्रियया गतचान्द्रदिनप्रमाणं यावत्तावत् । या १ गत-सौरदिनेभ्यो यावन्तोऽधिमासा यच्च शेषं गतचान्द्रदिनेभ्योऽपि तावन्त एव भवन्ति । तावदेव चाविशेषमतः कल्पाधिमासैरेभिः प्रागुक्तैः १५९३३०००० गुणितभिष्टचन्द्र-दिनमानं यावत्तावन्मितं या १५९३३०००० कल्पचान्द्राहैः प्रागुक्तैरेभिः । १६०२९-९९००००००० भक्तं फलं गताधिमासास्तत्प्रमाणं कालकः १ हरगुणं कालकं भाज्यादपास्य शेषमधिशेषं या १५९३३०००० का १६०२९९९०००००० एवं कल्पावमगुणेन नीलकलब्धेनावमशेषं या २५०८२५५०००० नी १६०२९९९०००००० अनयोर्योगः शेषैक्यं या २६६७५८५०००० का १६०२९९९०००००० इदमधिमासावमाभ्यां कालकनीलकाभ्यां युतं जातं सशेषाधिमासावमैक्यं या २६६७५८५०००० का १६०२९-९८९९९९९ नी १६०२९२४८९९९९९ इदमुद्दिष्टयुतिसममिति पक्षयोः शोधनार्थं न्यासः । या २६६७५८५०००० का १६०२९९८९९९९९९ नी १६०२९९८९९९९-९ रु ।

> आद्यं वर्णं शोधयेदन्यपक्षादन्यान्रूपाण्यन्यतश्चाऽऽद्य भक्ते ।
> पक्षेऽन्यस्मिन्नाद्यवर्णोन्मितिः स्याद्वर्णस्यैकस्योन्मितीनां बहुत्वे ।।
> समीकृतच्छेदगमे तु ताभ्यस्तदन्यवर्णोन्मितयः प्रसाध्याः ।
> अन्त्योन्मितौ कुट्टविधेर्गुणाप्ती ते भाज्यतद्भाजकवर्णमाने ।।
> अन्येऽपि भाज्ये यदि सन्ति वर्णास्तन्मानमिष्टं परिकल्पसाध्ये ।

इत्यनेनात्र यावत्तावदुन्मितिरेकैव का । १६०२९९८९९९९९९ नी १६०२९९८-९९९९९ या २६६ ७५८५०००० अत्र कुट्टककरणार्थं नीलकमानमिष्टं कल्प्यम् । तत्र नीलकस्यावमत्वान्नहीष्टकल्पितं सर्वत्रावमानि संभवन्ति । अन्यस्मिन्नुदाहरणेऽवमानां भिन्न-त्वादत इष्टकल्पनमुपपन्नम् । अत्राधिकस्य वर्णस्य भाज्यस्थस्येप्सिता मितिः । भागलब्धस्य नो कल्प्या क्रिया व्यभिचरेत्तथेत्युक्तेश्च ।

अथ कल्पाधिमासगुणकेन यदि कालकस्तर्हि कल्पावमगुणने क इति फलेन भाज्येऽत्य-(न्य)वर्णनिरासात्कथं तादृशं नोक्तमिति चेन्न। लब्धाधिमासानां निःशेषतया अलब्धत्वेनानुपातानीतलब्धेरयुक्तत्वादन्यथा सशेषाधिमासावमैक्यानुपपत्तेः।

न चैवमधिमासानां सशेषत्वेऽपि लब्ध्यनुपपातः संभवतीति वाच्यम्। केवलभाज्ये हरभक्ते यच्छेषं तद्गुणितगुणकादधिके हरे शेषोत्था लब्धिर्नैव संभवतीत्यतो लब्ध्यनुपातस्य युक्तत्वेऽपि तन्न्यूनहरे शेषोत्थलब्धिसंभवादनुपातेन लब्ध्यसिद्धेः। प्रकृते च गतचान्द्राणां केवलभाज्यत्वेन तद्गुणितावमानां कल्पचान्द्राधिकत्वसंभवादन्यथा गतावमानुपपत्तेरिति दिक्।

अतोऽन्यथा यतितम्। इष्टचान्द्राहाः पृथक्कल्पाधिमासावमाभ्यां गुणिता कल्पचान्द्र-भक्ताः फले गताधिमासावमे। शेषं च तच्छेषे इति। तेषामैक्यं तत्र लाघवादिष्टचान्द्राहाः कल्पाधिमासावमयोगेन गुणिताः कल्पचान्द्रभक्ताः फलं फलैक्यं गताधिमासावमयोगरूपं शेषं तच्छेषैक्यम्। अनयोर्योगश्चतुर्णां योग इति।

तथा हि—गतचान्द्रप्रमाणं या १ कल्पाधिमासावमयोगेनायुताहतशराष्टस(क्ष)सप्त-रसोत्कृत्या गुणितं कल्पचान्द्राहभक्तं फलं कालको गताधिमासावमयोगरूपः। का १

एतद्गुणं हरं भाज्यादपनीय शेषं तच्छेषैक्यं या २६६७५८५०००० का १६०२९९१०००० इदं कालकेन फलेन गताधिमासावमयोगरूपेण युतं जातं सशेषाधिमासावमैक्यम्। या

२६६७५८५०००० का १६०२९९८९९९९९ इदमुद्दिष्टयुतिसममिति पक्षयोः शोधनार्थं

न्यासः। या २६६७५८५०००० का १६०२९९८९९९९९ रु०।
रु १ या० का०

ननु कथमेतौ पक्षौ समौ। उद्दिष्टयुतौ गताधिमासावमतच्छेषाणामव्यक्तपक्षे च तेषां क्रमेण युतित्वात् युतित्वानियमाच्च। तथा हि—यत्र चान्द्रदिवसेभ्यः पृथगधिमासावमतच्छेषे आनीते तत्र शेषयोरैक्यं कल्पचान्द्रदिनेभ्य ऊनं यदि स्यात्तदोक्तरीत्या चतुर्णां योगोऽव्यक्तपक्षे सिद्धः स्यात्।

यदि तु शेषयोरैक्यं कल्पचान्द्रदिनेभ्योऽधिकं तदोक्तरीत्या गताधिमासावमशेषाणां युतिरव्यक्तपक्षे कथं स्यात्। गुणयोगेन गुणिते हरभक्ते शेषैक्यं हरान्न्यूनं स्यात्। न कल्पचान्द्राधिकम्। फलं गताधिमासावमयोगः सैकः स्यात्। तद्युतिस्तु शेषैक्यं हरतष्टं गताधिमासावमैक्येन युतमित्येतद्रूपा। नह्युद्दिष्टयुतिरेतद्रूपेति पक्षसाम्यं न निश्चितम्।

न च प्रश्नयुतिरपि तथैव हरतष्टशेषैक्यग्रहणसरूपा कार्येति पक्षसाम्यमविरुद्धमिति वाच्यम्। प्रश्नपद्ये ये चापि, तच्छेषके इत्यनेन शेषैक्यस्य हरतष्टत्वेनाग्रहात्। सैकत्वानुक्तेश्च। न चाव्यक्तपक्षे व्येकचन्द्रदिनयोजनोद्दिष्टयुतिसाम्यं स्यादिति वाच्यम्। युतिसाम्यार्थं सत्करणप्रसङ्गात्। तादृशयुत्योर्विविक्तज्ञापकाभावाच्चेति चेत्।

उच्यते । गुणयोगे गुणे कल्पिते सति फलप्रमाणं कालकः कल्पेत तर्हि त्वदुक्तयुक्त्या क्वचित्पूर्वफलैक्यशेषैक्ययोरन्यथात्वेन साम्यानुपपत्तिः । इह तु फलैक्यप्रमाणमेव कालकः कल्प्यते । तथा सति हरगुणेऽस्मिन्भाज्यादपनीते शेषैक्यमपि यथावस्थितं स्यान्न हरतष्ट-मिति नास्ति फलैक्यशेषैक्ययोरन्यथात्वं किंतु गुणयोगसंबन्धिनोः फलशेषयोः क्वचिदन्यथात्वं स्यात्परं तस्यानपेक्षितत्वादन्यथात्वेऽपि न क्षतिरतः साम्यं युक्तियुक्तम् । विस्तरस्तु—

नवभिः सप्तभिः क्षुण्णः को राशिस्त्रिंशता हृतः ।
यदग्रैक्यं फलैक्याढ्यं भवेत्षड्विंशतेर्मितम् ॥

इत्युदाहरणावसरे बीजटीकायां गुरुतरपितृव्यकृष्णगणकचरणोक्तोऽवधेयः ।

अथ समशोधनेन यावत्तावदुन्मितिरेकैव । का १६०२९९८९९९९९ रु० उ० पू १ । या २६६७५८५०००० अस्या अन्त्योन्मितौ कुट्टविधेरित्युक्तत्वात्कुट्टकः कार्यः । तत्रोद्दिष्टयुतीनां पृच्छकभेदेन बहुधासंभवात्प्रत्युदाहरणे कुट्टककरणे प्रयासः इति लाघवार्थ-मुद्दिष्टयुतिस्थाने रूपं क्षेपं प्रकल्प प्रत्युदाहरणे भाज्यभाजकयोरेतन्मितत्वेनाऽऽभ्यां कालक-यावत्तावदङ्काभ्यां कुट्टकः साध्यते । तत्र

मिथो भजेत्तौ दृढभाज्यहारौ यावद्विभाज्ये भवतीह रूपम् ।
फलान्यधोधस्तदधो निवेश्यः क्षेपस्तथाऽन्ते खम्.... ॥

इत्यनैकविंशतिस्थानात्मिका वल्ली संपन्ना भवति । यथा ५०१०१८१२२ ४०९१२४२११२६४२१५१० अत्र उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यं त्यजे-न्मुहुः स्यादिति राशियुग्ममित्यनेन जातं राशियुग्ममिदं ७३९१९६२४५०८३१५ ३०८१४९९९९ ऊर्ध्वो विभाज्येन दृढेन तष्टः फलं गुणः स्यादपरो हरेणेति लब्धि-गुणावेतावेव ।

एवं तदैवात्र यदा समास्ताः स्युर्लब्धयश्चेद्विषमास्तदानीम् ।
तथागतौ लब्धिगुणौ विशोध्यौ स्वतक्षणाच्छेषमितौ तु तौ स्तः ॥

इत्यनेनात्रैकोनविंशतिस्थाने लब्धानां तत्त्वाल्लब्धिः कालकाङ्काद्व्येककल्पचान्द्रदिनादूना लब्धिः कृताष्टनृपनन्दाब्धि[युग]सप्तामररसाष्टमिता ८६३३७४४ ९१६८४ गुणा यावत्तावदङ्कात्कल्पाधिमासावमयोगादूनो जातो गुणश्चन्द्राभ्रखखाभ्ररसाद्रिषड्रामशक्रमितः १४३६७६०००९ ।

अथोद्दिष्टयुतिक्षेपे गुणाप्त्योः सिद्धयर्थं रूपक्षेपे एते गुणाप्ती तदोद्दिष्टक्षेपे के इत्यनु-पातेन एते उद्दिष्टयुतिर्गुणे कार्ये । तत्राप्युद्दिष्टयुतौ गुणने गुणाप्तो स्वतक्षणाभ्यामधिके भवतः कदाचिदतस्ताभ्यां तष्टे कार्ये । अत एव—

क्षेपं विशुद्धिं परिकल्प्य रूपं पृथक्तयोर्ये गुणकारलब्धी ।
अभीप्सितक्षेपविशुद्धिनिघ्ने स्वहारतष्टे भवतस्तयोस्ते ॥

इति स्थिरकुट्टकसाधनं संगच्छते । तत्राऽऽचार्यैस्ते भाज्यतद्भाजकवर्गमाने इत्यनेन

लब्धेर्यावत्तावन्मानत्वात्तस्य च गतचान्द्रदिनप्रमाणत्वाल्लब्धिसाधनेन गतचान्द्रदिनप्रमाण-त्वाल्लब्धिसाधनेन गतचान्द्रदिनगणानयनं कृतम् । भ(न)गुणसाधनं तस्य कालकमानतया गताधिमासावमयोगत्वेनोपेक्षितत्वात्प्रश्नश्लोके दिनगणप्रश्नात्तत्प्रयोजनाभावात् । चान्द्रदिन-गणाद्गताधिमासावमानयनेन सौरसावनाहर्गणयोः सिद्धेश्च ।

यद्यपि गुणलब्ध्योः समं ग्राह्यं धीमता तक्षणे फलमित्युक्तेस्तक्षणफलतुल्यत्वग्रहेण लब्धिसाधनार्थं गुणककथनमप्यावश्यकम् । तथाऽपि लब्धितष्टफलगुणतष्टफलस्याधिकत्वे विना गुणमपि लब्धिसाधनसंभवाद्गुणतष्टफलाल्लब्धितष्टफलस्याधिकत्वे गुणतष्टफलतुल्यल-ब्धितक्षणफलग्रहार्थं गुणावश्यकत्वेऽपि प्रकृते तादृशफलासंभवात् । अन्यथेष्टचान्द्राणां कल्पचान्द्राधिकत्वापत्तेः । कल्पान्तेऽधिशेषावमशेषाभावादधिमासावमयोगादुक्तदिशा कल्प-चान्द्रदिनासिद्धिश्चतुर्णां योगादेतदुत्पत्तेः । अत एव चतुरन्यतमाभावेऽपीदमानयनं न भवतीति ध्येयम् ।

अनेकवर्णसमीकरणोपपत्तिस्तु बहूनां वर्णानां मानान्यव्यक्तानि सन्ति तत्रैकवर्ण-समीकरणोक्त्या एकस्मिन्पक्षे यद्येकमेवाव्यक्तं स्यादन्यत्र च रूपाण्येव स्युस्तदा तस्या-व्यक्तस्य मानं सुबोधमतस्तथा यतितव्यं यथैकस्मिन्पक्षे एकमेवाव्यक्तं स्यात्समत्वाविरोधेन तत्रैकतरपक्षे एकं वर्णं विहाय यदवशिष्यते तत्तुल्यं चेदुभयोः पक्षयोः शोध्येत तर्ह्येक-स्मिन्पक्षे एकमेवाव्यक्तं स्यात् । यं विहायावशिष्टं शोध्येत तस्मिन्पक्षे तस्यैव वर्णस्य शेषत्वात्तत्रैकं वर्णमपहाय शेषं पक्षयोः शोध्यमिति यद्यपि नास्ति नियमस्तथाऽपि प्रथमा-तिक्रमे कारणाभावात्प्रथमवर्णमपहाय शेषं पक्षयोः शोध्यं सिद्धयोः पक्षयोरस्ति च समत्वं समक्षेपसमशुद्धौ समत्वाहानेः । तेन च केवलाद्यवर्णस्य संख्यागुणितस्य यन्मानं तदेवापर-पक्षे आद्यादिवर्णानां संख्यागुणितानां समत्वम् । समक्षेपवतां योग इति सिद्धम् ।

तथा च केवलाद्यवर्णस्य संख्यागुणितस्य मानं ज्ञातुमितरपक्षाद्यवर्णस्य संख्या-गुणितस्य ज्ञानमपेक्षितम् । तत्र यदि स्वमानज्ञाने स्वमानज्ञानापेक्षा स्यात्तदाऽऽत्मा-श्रयात्कल्पकोटिशतैरपि मानज्ञानं न स्यादतः सा यथा न भवति तथा यतितव्यम् । इतरपक्षे यः सजातीयप्रथमवर्णः संख्यागुणिस्तत्तुल्यं पक्षयोः शोध्यम् । एवं प्रकृते यदेव संख्यागुणितस्य प्रथमवर्णस्य मानं तदेवेतरपक्षेऽन्यवर्णानां संख्यागुणितानामैक्यमानमिति नास्ति स्वमानज्ञानापेक्षा । अत उक्तं 'आद्यं वर्णं शोधयेदन्यपक्षादन्यानि रूपाण्यन्यतश्चेति' ।

अथ यदि संख्यागुणितस्य प्रथमवर्णस्येदं मानं तदा एकसंख्यागुणितस्य किमिति त्रैराशिकेन जातमाद्यवर्णोन्मानम् । अत्र हरे प्रथमवर्णाद्याक्षरलिखनमाद्यवर्णोन्मान-मिदमिति उपस्थित्यर्थं नतु संख्यागुणिताद्यवर्णो हरः । प्रमाणेच्छयोः प्रथमवर्णेऽपवर्तनात् । अन्यथेच्छया गुणने भावितत्वापत्तेः । अत उक्तमाद्यभक्ते पक्षेऽन्यस्मिन्नाद्यवर्णोन्मितिः स्यादिति ।

अथ द्वितीयादिभाज्यवर्णानां कालकादीनामिष्टानि मानानि प्रकल्प्य स्वस्वगुणक-

गुणितानामैक्यं कृत्वा यदि स्वहरेण ह्रियते तदा भिन्नमभिन्नं वा प्रथमवर्णमानं स्यात्। इतरेषां तु कल्पितान्येव। अथ यद्यभिन्नमानमेवापेक्षितं तर्हि यं कंचिदेकं विहाय परेषां मानानीष्टानि। तथा सति भाज्ये एको वर्णः कानिचिद्रूपाणि च स्युः। अथ तस्य वर्णस्य मानं यथेष्टं कल्प्यं यथा तेनेष्टेन गुणितो वर्णाङ्कस्तै रूपैर्युतो हरभक्तो निःशेषः स्यात्। एवं कृते प्रथमवर्णमानमभिन्नमेव स्यात्।

अथ तादृशस्येष्टस्य ज्ञानार्थमुपायः। इह हि वर्णाङ्कः केन गुणितस्तै रूपैर्युतः स्वहरहृतो निःशेषः स्यादिति विचारः कुट्टके पर्यवस्यति। अथ कुट्टकविधिना यो गुणः स्यात्तेन गुणितो वर्णाङ्कस्तै रूपैर्युतः स्वहरभक्तो निःशेषः स्यादेवेति भाज्यवर्णस्य गुणतुल्ये माने कल्पिते भाजकवर्णस्य मानं लब्धितुल्यमभिन्नमेव स्यादत उक्तं कुट्टविधेरित्यादि साध्ये इत्यन्तम्। अत्र भाज्यवर्णमानानां यदिष्टकालककल्पनमुक्तं तत्तेषां मानेऽनियते सत्येव ज्ञेयम्।

यदि तु केनापि प्रकारेण तन्मानं नियतं सिध्येत्तदा अनियतेष्टकल्पनेन व्यभिचार एव स्यात्। तच्च यत्रैकवर्णोन्मितीनामनेकत्वं संभवति तत्र यथा समपक्षेभ्यः आद्यवर्ण-मानं साधितं तथा भाज्याद्यवर्णस्यापि साध्यम्। अत उक्तं वर्णस्यैकस्योन्मितीनां बहुत्वं इत्यादि ताभ्यस्तदन्यवर्णोन्मितय प्रसाध्या इत्यन्तम्।

अन्त्योन्मितौ भाज्यवर्णमानं नियतं नास्तीति तस्य मानमिष्टं कल्पं (ल्प्यम्)। तत्रापि कुट्टकसिद्धगुणतुल्ये इष्टे कल्पिते भाजकवर्णमानमभिन्नमतो गुणतुल्यं भाज्य-वर्णमानं कल्प्यते। अनेकोन्मितिषु तु भाज्यवर्णमानानां नियतत्वादिष्टकल्पनमयुक्तमत उक्तमन्त्योन्मितौ कुट्टविधेरित्यादि।

अथ पूर्वपूर्ववर्णोन्मितिषूत्तरोत्तरवर्णा भाज्यतया तिष्ठन्तीत्युत्तरोत्तरवर्णमानज्ञानं विना पूर्वपूर्ववर्णमानज्ञानं न सिध्येदत उक्तं विलोमकोत्थापनतोऽन्यवर्णमानानीति। उत्था-पने त्वेकसंख्यामितवर्णस्येदं स्वमानं तदा स्वस्वसंख्यामितवर्णस्य किमित्यनुपातेन स्वमान-गुणनात्तद्वर्णाक्षरनिरसनम्। एवं पूर्वोन्मितिषु भाज्यवर्णानां मानैक्यज्ञानात्तका-(द्भा) जकवर्णाङ्कभक्तं मानं सुव्यक्तम्।

अथ विलोमकोत्थापने क्रियमाणे भिन्नमायाति तदा अभिन्नत्वार्थं भूयः कुट्टकः कार्यः। उक्तयुक्तेरविशेषात्। तेन कुट्टकगुणेन यस्य मानं भिन्नं तदग्रिमवर्णानां मानान्युत्थाप्यानि। एतत्कुट्टकप्रमाणेन तन्मानस्य पूर्वमसिद्धेः। यस्य मानं भिन्नं ततः प्रथमवर्णादिवर्णानुत्थापयेत्। अत उक्तं भिन्नं यदि मानमेवं भूयः कार्यः कुट्टकोऽत्रा-न्त्यवर्ण तेनोत्थाप्योत्थापयेद्यत्समाद्यादिति संक्षेपः। विस्तरस्तु गुरुतरकृष्णगणकनिर्मित-बीजटीकायां (शा० १५२४) ज्ञेयः।

कुट्टकानयनोपपत्तिस्तु तैरेवोक्ता। तथा हि। क्षेप (पा) भावे शून्येन भाज्ये गुणिते हरभक्ते शेषं न स्यादिति शून्यमेव गुणो लब्धिश्च। यदि वा हरतुल्ये गुणे गुणहर-

योस्तुल्यत्वान्नाशे भाज्यतुल्या लब्धिः स्याच्छेषं च न स्यात् । एवं द्व्यादिगुणितहरतुल्ये गुणे हरेण गुणहरयोरपवर्तगुणस्थाने द्व्यादयः स्युरिति द्व्यादिगुणितभाज्यतुल्या लब्धिः स्याच्छेषं च न स्यात् । तस्मात्क्षेपाभावे शून्यमिष्टाहतहरो वा गुणः । लब्धिस्तु शून्यमिष्टाहतभाज्यो वेति । एवमत्र हरतुल्ये गुणोपचये भाज्यतुल्यो लब्ध्युपचयः सर्वत्र । अत एव—

'इष्टाहतस्वस्वहरेण युक्ते ते वा भवेतां बहुधा गुणाप्ती'

इति वक्ष्यति । असत्यपि क्षेपे हरतुल्ये द्व्यादिगुणितहरतुल्ये वा तस्मिन्पूर्वोक्त एव शून्यादिको गुणः स्यात् । सति हि पूर्वोक्तगुणके शेषवशादेव शेषं स्यात् । क्षयोऽपि यत्रैकादिगुणितहरतुल्यः स्यात्तर्हि शेषं कुतः स्यात् । तस्मादेतादृशे क्षेपे सत्यपि पूर्वोक्त एव गुणः । लब्धौ तु हरभक्त क्षेपे यल्लभ्यते तावदधिकं स्माद्धनक्षेपे तु तावन्नूनं स्यात् । अत एव वक्ष्यति—

क्षेपाभावोऽथवा यत्र क्षेपः शुद्धेद्धरोद्धृतः ।
ज्ञेयः शून्यं गुणस्तत्र क्षेपो हारहृतः फलमिति ॥

अथान्यथाक्षेपे भाज्यखण्डद्वयेनोपपत्तिः । हरेण यावद्भाज्यं तावदेकं शेषमपरम् । अत्र पूर्वखण्डस्य हरेण निःशेषभजनाद्येन केनापि गुणकेन गुणितस्यापि तस्य निःशेषभजनं स्यादेव । अथोद्दिष्टः क्षेपः परखण्डेन भक्तः सन्यदि शुध्येत्तर्ह्यत्र या लब्धिः स एव गुणकः स्यात् । परमृणक्षेपे यतस्तेन गुणकेन गुणितस्य भाज्यापरखण्डक्षेपसमत्वनियमात्क्षेपवियोगे नाशः स्यादेव ।

अथ यदि न शुध्येत्तर्ह्यशक्यो गुणकापगमः । अतोऽन्यथा यतितव्यम् । भाजकेन भाज्ये भक्ते यदि रूपं शेषं स्यात्तर्हि द्वियीयखण्डमपि रूपं स्यात्तथा सति येन केनापि क्षेपेण तस्य गुणने क्षेपसमत्वनियमादुक्तयुक्त्या क्षेपसम एव गुणः परमृणक्षेपे । घनक्षेपे तु क्षेपोहरो गुणो यतस्तेन गुणितं भाज्यापरखण्डं क्षेपोनहरसमं स्यादस्य च क्षेपयोगे हरसमता स्यादिति हरेण निःशेषभजनं स्यादेव । लब्धिस्तु केवलं भाज्ये हरभक्ते या स्यात्सैव गुणगुणिता सती गुणितभाज्यस्य स्यात्परमृणक्षेपे । घनक्षेपे तु तादृशी सैका । परखण्डस्य शुद्ध्यभावाद्धरतुल्य शेषत्वाच्च ।

अथ यदि भाज्ये हरेण भक्ते रूपं शेषं न स्यात्तर्हि गुणकावगमो दुर्गमः । अतो भाज्यशेषेण हरं भजेत् । अत्र हरो भाज्यः शेषं भाजकः । अत्रापि यदि शेषं रूपं स्यात्तर्हि क्षेपतुल्यो गुण ऋणक्षेपे । घनक्षेपे तु क्षेपोनहरो गुणः पूर्ववल्लब्धिश्चोक्त युक्तेरविशेषात् । अत्रापि रूपं शेषं यदि न स्यात्तर्हि नास्ति गुणकानुगमः सुगमः । तस्मादस्यापि शेषेण हरीभूतं शेषं भजेत्तत्र यदि रूपं शेषं स्यात्तर्हि तस्मिन् भाज्ये उक्तयुक्त्या क्षेपतुल्यः क्षेपोनहरतुल्यश्च गुणः स्यादृणधनक्षेपयोः । अत्रापि रूपाधिके शेषे गुणो दुर्गमः । तस्मादपरस्परं । भजने सति कुत्रचिद्रूपं शेषमपेक्षितम् ।

ननु यद्यप्युपान्तिमशेषतुल्ये भाज्ये पूर्वशेषेण भक्ते रूपं शेषं स्यादिति ज्ञातस्तस्मिन्गुणस्तथाऽप्युद्दिष्टभाज्ये कथं गुणकसिद्धिरिति चेद्व्यस्तविधिना तमवगच्छ। तथा हि—भाज्यभाजकक्षेपाः। भा १७३ क्षे ३। ह ७१ अत्रानयोर्भाज्यभाजकयोः परस्परभजनाल्लब्धिशेषयोर्वल्ल्यौ ।ल शे। २। ३१। २। ९। ३। ४। २। १। क्रमेण भाज्यभाजकाश्च। भा १७३। भा ७१। भा ३१। भा ९। ह ७१। ह ३१। ह ९। ह ४। अत्रत्यभाज्ये खण्डद्वयं यावद्धरभक्तं तावदैकं शेषमपरम्। एवं खण्डे ८। १ उक्तयुक्त्या ऋणक्षेपे क्षेपसमो गुणः ३ केवलभाज्यलब्धिर्गुणगुणिता सती लब्धिः स्यादिति प्रकृतेऽन्त्यभाज्यलब्धिः २ गुणेनानेन ३ गुणिता लब्धिश्च ६। तदिदमुक्तं—

'मिथो भजेत्तौ दृढभाज्यहारौ यावद्विभाज्ये भवतीह रूपम्।
फलान्यधोधस्तदधो निवेश्यः क्षेपस्तथान्ते खमुपान्तिमेन'॥

इति फलम्। एवमत्रान्त्यो जातो गुणः। अन्त्ये नहः बल(हरहतः) स्वोर्ध्वे लब्धिश्चेति जातं २ २ ३ ६। अथास्मिन्नेव पक्षेऽस्मात्पूर्वभाज्येऽस्मिन्। भा ३१ ह ९। गुणो विचार्यते : अत्राप्युक्तवत्खण्डे २७। ४। अत्र पूर्वखण्डं येन केनापि गुणितं हरभक्तं निःशेषं स्यादेवातः परखण्डादेव गुणविचारो युक्तोऽतो जातौ भाज्यभाजकौ। अत्रान्त्यभाज्यभाजकयोर्व्यत्यासोऽस्तीति गुणलब्ध्योरपि व्यत्यासमात्रम्।

तत्र युक्तिः। भाज्ये ९ गुणेन ३ गुणिते २७ क्षेपेण ३ वियुक्ते २४ हरेण ४ भक्ते सति लब्धिर्भवति ६। अतो व्यस्तविधिना लब्ध्या हरेऽ ४ स्मिन्गुणिते क्षेप ३ युते २७ भाज्ये ९ भक्ते लब्धो गुणः ३ तदेव पर्यवस्यति।

अयं भाज्यस्तस्य लब्ध्या ६ गुणितः २४ तेन क्षेपेण युतः २७ स्वहरेणानेन ९ भक्तः सञ्छुध्यतीत्यन्त्यभाज्यलब्धिरेवात्र गुणकः, लब्धिश्चान्त्यभाज्यगुणः ३ एवं वल्ल्यां जातं २। २। ३। गु ६ ल ३। परमत्र भाज्ये पूर्वखण्डलब्धिर्गुणगुणिता सती स्यात्। गुणश्चात्र वल्ल्यामुपान्तिमः ६ पूर्वखण्डे लब्धिश्च तदूर्ध्वे तिष्ठति ३। अत उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हते जाता पूर्वखण्डलब्धिः १८। द्वितीयखण्डलब्धिश्च वल्ल्यामन्त्या ३। अतस्तया युता पूर्वखण्डलब्धि १८ रस्मिन्भाज्ये ३१ सकला लब्धि स्यात् २१।

एवं जातं वल्ल्यामस्मिन् भाज्ये गुणलब्ध्योः सिद्धत्वादधस्थलब् ३ २। ल २१। गु। ६ ल ३। व्धे प्रयोजनाभावादपगमे जाता वल्ली २। २। २१। ६। तदिदमुक्तमुपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यं त्यजेदिति। एवमस्मिन्भाज्ये ३१। ९। व्यस्तविधिना जातौ लब्धिगुणौ २१। ६। धनक्षेपे। अथ तदूर्ध्वभाज्येऽस्मिस्तस्मिन्नेव क्षेपे गुणो विचार्यते। अत्राप्युक्तखण्डे ६२। ९ कृत्वा पूर्वखण्डं पृथक्संस्थाप्य जातौ भाज्यहरौ ९। ३। ३१।

अत्राप्यनुपदं प्रदर्शितयोर्भाज्यभाजकयोर्व्यत्यासाल्लब्धिगुणयोर्व्यत्यासमात्रं व्यस्तविधेस्तुल्यत्वात्तया जातं वल्ल्यां २ २। ल २१ गु ६। अत्रापि पूर्वखण्ड-

लब्धिर्गुणगुणिता स्यादुणोऽत्राप्युपान्तिमः । तदूर्ध्वे च पूर्वखण्डलब्धिः २ । तत्रोपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हते जाता पूर्वखण्डलब्धिः ४२ । इयं द्वितीयखण्डलब्ध्यात्मकेनान्त्येन ६ युता जाता संपूर्णा लब्धिः ४८ । एवं ज्ञातं वल्ल्यां २ । ४८ ल । २१ गु । ६ ल । अत्राप्यघःस्थलब्धेः प्रयोजनाभावादपगमे जातं २ । ल ४८ । गु २१ । एवमस्मिन्भाज्ये २१ । ३१ व्यस्तविधिना जाताबृणक्षेपे लब्धिगुणौ ४८ । २१ ।

अथ तदूर्ध्वभाज्ये मुख्येऽस्मिन् । १७३ । ७१ । गुणविचारः । अत्राप्युक्तखण्डे १४२ । ३१ कृत्वा जातौ भाज्यभाजकौ ३१ । ७२ । अत्राप्यनुपदं सिद्धयोर्भाज्यभाजकयोर्व्यत्यासाल्लब्धिगुणयोः क्षेपस्य च व्यत्यासे जातौ धनक्षेपे लब्धिगुणौ २१ । ४८ । जातं वल्ल्यां । २ । ४८ गु । २१ ल । अत्रापि पूर्वखण्डलब्ध्यर्थे उपान्तिमेन ४८ । ल ११७ । गु ४८ । स्वोर्ध्वे २ हते ९६ सकललब्ध्यर्थमन्त्येन २१ युते ११७ जातं वल्ल्यां ल ११७ । गु ४८ । ल २१ । अथस्थलब्धेः प्रयोजनाभावादपगमे जातम् । तदेवं मुख्यभाज्येऽस्मि १७३ ह । न्यनक्षेपे जातौ लब्धिगुणौ ११७ । ४८ । तदिदमुक्तं मुहुः स्यादिति राशियुग्ममिति ।

अत्र विनाऽन्त्यभाज्यं सर्वेषु भाज्येषु पूर्वखण्डलब्धिसाधने गुणस्योपान्तिमत्वादुपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हते इति सकललब्धिसाधनार्थमुत्तरखण्डलब्ध्यात्मकेनान्त्येन युते इति च वक्तव्यम् । अन्त्यभाज्ये तु गुणस्यान्तिमत्वादुत्तरखण्डलब्धेरभावाच्चान्त्येन हते स्वोर्ध्वे इत्येव वक्तव्यं स्यादत आचार्येण तदन्तेऽपि शून्यनिवेशनमुक्तम् । यतस्तथा कृते सर्वत्रोपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यं त्यज्योदिति सर्वत्रानुगमः स्यादेवं सिद्धौ लब्धिगुणौ ११७ । ४८ ।

अत्र हरतुल्ये गुणोपचये भाज्यतुल्यो लब्धेरुपचयो भवतीत्युक्तं प्राक् । तयैव युक्त्या हरतुल्ये गुणापचये भाज्यतुल्यो लब्धेरुपचयः स्यादतो हराधिके गुणे यथासंभवमेकादिगुणे हरस्ततस्मादपनेयः । स लघुतरो गुणः स्यादेवमेव तल्लब्धिश्च । अत उक्तमूर्ध्वो विभाज्येन दृढेन तष्टः फलं गुणः स्यादधरो हरेणेति ।

उक्तयुक्त्येव वक्ष्यति गुणलब्ध्योः समं ग्राह्यं धीमता तक्षणे फलमिति । नहि गुणस्यैकगुणहरतुल्यापचये द्विगुणभाज्यतुल्यो लब्धेरपचयः संभवतीत्यादि । एवं सिद्धयोर्मुख्यभाज्यस्य लब्धिगुणयोर्योगजत्वं वियोगत्वं वा कथमवगन्तव्यमिति चेदुच्यते ।

सन्त्यभाज्ये क्षेपतुल्यो वियोगजो गुण इत्युक्तमसकृत् । अतो व्यस्तविधिना योगजो गुणः स्यादुपान्तिमभाज्ये पुनरसौ व्यस्तविधिना तृतीयाभाज्ये वियोगजो गुणः स्यात् । एवं चतुर्थे योगजः पञ्चमे वियोगज इत्यादिनाऽन्त्यभाज्यादारभ्य समभाज्ये योगजो गुणः विषमभाज्ये तु वियोगजो गुणः स्यात् । तत्र मुख्यभाज्यस्य विषमता समता वा परस्परभजनाल्लब्धीनां विषमतया समतया वा नियता भवति । तस्मात्परस्परभजने यदि लब्धयः समास्तदा योगजौ लब्धिगुणौ यदि विषमास्तदा वियोगजौ लब्धिगुणौ मुख्यभाज्ये स्याताम् ।

तत्र वियोगजयोर्लब्धिगुणयोर्वक्ष्यमाणत्वादत्र योगजयोरेव प्रतिपादनं युक्तम् । अत उक्तमेवं तदैवात्र यदा समस्ताः स्युर्लब्धयः इति । विषमलब्धिषु पुनर्वियोगजौ लब्धिगुणौ सिध्यतौऽपेक्षितौ च योगजौ । अतो रूपशेषभाज्ये क्षेपस्य वियोगगुणत्वाद्योगे च क्षेपोनहरस्य गुणत्वाच्च वियोगजौ गुणौ हराच्छुद्धौ योगजौ गुणौ भवेदनयैव रीत्या वियोगजा

' स्युर्लब्धयश्चेद्विषमास्तदानीं यथागतौ लब्धिगुणौ विशोध्यौ ।

स्वतक्षणाच्छेषमितौ तु तौ स्तः' ।।

इत्यलं पल्लवितेन ।। ११ ।।

केदारदत्तः— ११ प्रश्न का समाधान—

उद्दिष्ट अधिमासावमशेषादि के योग को ८६३३७४४९१६८४ से गुणाकर उस गुणनफल में १६०२९९८९९९९९ से भाग देने से गत चान्द्र दिन हो जाते हैं । चान्द्र दिन ज्ञान के अनन्तर सावन दिन ज्ञान पूर्वोक्त अहर्गणादि ज्ञान परम्परा से सुलभ होता है ।।११।।

उपपत्ति—भास्करीय वीजगणित के अनेकवर्णमध्यमाहरण से

गत चान्द्र दिन प्रमाण = या

गत सौर दिनों से आगत अधिमास और अधिक शेष के तुल्य गत चान्द्रदिनों से भी होंगे अधिमासादि संख्या की तुल्यता के माप से,

अनुपात से— $\frac{\text{क अ. मा.} \times \text{या}}{\text{क चां}}$

$$\frac{१५९३३००००० \times \text{या}}{१६०२९९९०००००००} = \text{का} + \frac{\text{क अ मा}}{\text{क. चादि}} = \text{यावास, ऊमा} + \frac{\text{अ शे}}{\text{क चांदि}}$$

हर गुणित कालक को भाज्य में कम करने से शेष = १५९३३००००० का. का १६०२९९९०००००० इन दोनों का योग = शेषैक्य का = २६६७५८५०००० − १६०२९९-९०००००० इष्ट मान नीलक = नी कल्पना कर इस प्रकार क्रिया अग्रसारित करते हुये सशेषाधिमासावम के योग का ८६३३७४४९१६८४ से गुणाकर और १६०२२९९७९९-९९५९ भाजकाङ्क-उपपन्न होते हैं ।। ११ ।।

उदाहरणम्—

ये याताधिकमासहीनदिवसा ये चापि तच्छेषके

तेषामैक्यमवेक्ष्य जिष्णुजकृताच्छास्त्राद्यथैवाऽऽगतम् ।

भूशैलेन्दुखखाभ्रषट्करयुगाष्टाब्ध्यङ्क-

६४८४२६०००१७१ तुल्यं यदा

काले कल्पगतं तदा वदति यः स ब्रह्मसिद्धान्तवित् ।।१२।।

वा० भा०—अहर्गणानयने ये लब्धा अधिमासाः क्षयाहाश्च ये च तच्छेषके

तेषामैक्यं भूशैलेन्दुखखाभ्रषट्करयुगाष्टाब्ध्यङ्क ६४८४२६०००१७१ तुल्यं कृताष्टाष्टिगोब्ध्यादिभि ८६३३७४४९१६८४ गुणितं जातम् ५५९८३४४६८२२२-३२६४२०७७९६४। व्येकचन्द्राहै १६०२९९८९९९९९ भक्तं लब्धम् ३४९२४-१९३२३३६। जातोऽवशेषमितो गतेन्दुद्युगण: १०३००। अस्मात् प्राग्वदवमानि १६१। अवमशेषं च २६७४२६००००००। सावनाहर्गणश्च १०१३९। अथ पृथग्गतेन्दुद्युगणोऽधिमासैर्गुणितो युगेन्दुदिनैर्भक्तो लब्धं गताधिमासा: १०। अधिमासशेषं च ३८१०००००००००। लब्धाधिमासैर्दिनीकृतै ३०० रून इन्दु-द्युगण: १०३००। सौराहर्गणो भवति १००००। अत: कल्पगतम्। सप्तविंशति २७ वर्षाणि। नव ९ मासा:। दश १० दिनानि।

अस्योपपत्तिर्बीजगणितेन। एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नावित्यादिना। कथ-मस्य विषय इति चेत्। उच्यते। गतसौरदिनेभ्यो यावन्तोऽधिमासा यच्च शेषं गतचन्द्रदिनेभ्योऽपि तावन्त एव भवन्ति तावदेव चात्रशेषम्। अवमान्यवमशेषं च चन्द्रदिनेभ्य एव सिध्यति। अतस्तयो: शेषयोश्च योग उदाहृते युगाधिमासावम-योगो गुणो युगेन्दुदिनानि हर:। गतेन्दुदिनप्रमाणं यावत्तावत् १। तद्गुणेन गुणितं हरेण भक्तम्। तत्र लब्धिप्रमाणं कालक: १। तद्गुणितं हरं गुणकगुणिता-द्यावत्तावतो विशोध्य ज्ञातं शेषम्। या २६६७५८५०००० का १६०२९९९००००००। एतदधिमासावमशेषैक्यम्। यो लब्ध: कालक: १ स गताधिमासावमाना-मैक्यम्। तच्छेषे यदि क्षिप्यते तदा चतुर्णां योग: कृतो भवति। या २६६७५८-५०००० का १६०२९९८९९९९९। अस्य चतुर्णां योगस्योद्दिष्टयोगेन समीकरणे क्रियमाणेऽधिमासावमयोगो भाज्य:। व्येकेन्दुदिनानि हर:। उद्दिष्टयोग ऋणक्षेप:। एवं सति लाघवार्थे रूपशुद्धावाचार्येण स्थिर: कुट्टक: कृत:। स च कृताष्टा-ष्टीत्यादि ॥१२॥

मरीचि:—नन्विदमानयनं सौरार्यभट्टादिपक्षसिद्धतद्युतिग्रहणे व्यभिचरत्यतो मन्दा-वबोधैकतदुदाहरणप्रदर्शनच्छलेन भुजंगप्रयातेन तन्निरस्यति—नगाङ्काभ्रेति।

यदा यस्मिन्कालेऽधिमासादिप्रागुक्तचतुर्णामैक्यं सप्तरसखाभ्रशराब्धिशक्राक्षतत्त्वार्कसमं ब्रह्मपक्षे जायते। तदानीम्। तस्मिन्काले हे कुट्टकज्ञ। एतेन प्रश्नश्लोके संश्लिष्ट-स्फुटकुट्टकादिविदारणोक्त्योत्तरं केवलाव्यक्तरीत्याऽस्तीति कस्यचित्प्रातिभानं निरस्तम्। अन्यथा संश्लिष्टस्फुटेत्यस्यानुपपत्ते:। दिनै: सौरचान्द्रसावनदिवसै:। प्रक्रियां सूर्यस्य क्रियाम्। गतदिनात्मकसूर्यक्रियारूपकालोपाधिम्। दिनगणानिति यावत्। प्रचक्ष्व वद। ब्रह्मपक्ष इत्यनेन सौरार्यपक्षसिद्धयुतेरेतदानयनेनासिद्धिरस्यानयनस्य ब्रह्मपक्षसिद्धकल्पो-क्ताधिमासावमचान्द्रदिनेभ्य उपपत्तौ सिद्धत्वादतोऽस्मिन्नानयने ब्रह्मपक्षेतरपक्षाणामलक्ष्य-त्वान्न व्यभिचार:। तत्पक्षयुतौ तु तत्तत्पक्षे आनयनं कार्यमुक्तानयनरीत्येति ध्येयम्। उदाहरणोत्तरं च धूलीकर्मणा सुज्ञेयम् ॥१२॥

केदारदत्तः—उदाहरण से समझाया जा रहा है—

गत अधिमास क्षयदिन अधिशेष और अवशेष के योग ज्ञान, ब्रह्मगुप्त कृत ब्रह्म-सिद्धान्त ग्रह गणित से ६४८४····के तुल्य ज्ञात विषय से कल्पगत वर्ष ज्ञान जो गणक बताता है उसे मैं ब्रह्मसिद्धान्त वेत्ता मर्मज्ञ कहूँगा ।।१२।।

अहर्गण साधन के अवसर पर प्राप्त अधिक मास और क्षयदिन तथा अधिशेष और अवम शेष का जो योगफल ६४८४२६०००१७१ इसे ८६३३७४४९१६८४ से गुणा करने पर ५५९८२४४६८२९१३२६४२२०७७९६४ इसमें चान्द्र दिन = १ = १६१२-९९८९९९९९ से भाग देकर लब्धि ३४९२४१९३२३३६ तथा अवमशेष = १०३०० यह चान्द्राहर्गण होता है ।

इस चान्द्र अहर्गण से पूर्ववत् आवम = १६०१ और अवम शेष = २६७४२६-०००००० और सावन अहर्गण १०१३९ ।

तथा गत चान्द्राहर्गण को अधिक मास से गुणा करने तथा युग चान्द्र दिन से भाग देने पर लब्ध गताधिमास = १० । अधिक मास शेष ३८१०००००००००० । लब्ध अधिक मास × ३० = १० × ३० = ३०० दिनों से चान्द्राहर्गण १०३००—३०० = १०००० = सौराफहर्गण होता है इससे कल्पगत वर्ष साधन हो जाता है जो २७ वर्ष ९ मास और १० दिन के तुल्य होता है ।

उपपत्ति—बीज गणित से उपपत्ति—

गत सौर दिनों से जितने अधिक मास और जितना अधिक शेष, संख्यात्मक माप एकता से उतने ही चान्द्र मास और अवम शेष भी होता है । अवमदिन और अवमशेष का साधन चान्द्र दिनों से ही साधित होता है जो अहर्गण साधनोपपत्ति से सुस्पष्ट है अतः और भी स्पष्ट होगा कि—

अधिक मास + अधिशे + चान्द्रन + चान्द्रशेष····को युगाधिमास और अवमयोग से गुणा करने पर युग चान्द्र दिनों से भाग देने पर लब्धि प्रमाण = या कल्पना से ।

$$\frac{\text{या गुणाक}}{\text{हर}} = \text{लब्धि} = \text{का}$$

$$\frac{\text{का} \times \text{गुणक}}{\text{हर}} = \text{फल},$$

या—फल = शेष =

या २६६७५८५००००—का १६०२९९९०००००० = अधिमास + अवम शेष

अतः या २६६७५८५००००—का १६०२९९९०००००० इन चारों के योग का पूर्व योग के साथ समान पक्ष समीकरण से अधिक मास +

$$\frac{\text{अधिमास} + \text{अवम शेष}—\text{उदिष्ट योग}}{\text{चान्द्र दिन}—१}$$

अत एव रूप शुद्धौ''''बीजगणित से कुट्टक द्वारा = कल्पगत वर्ष मान सिद्ध हो जाता है ॥१२॥

इदानीं महाप्रश्नमाह—

चक्राग्राणि गृहाग्रकाणि च लवाग्राणि ग्रहाणां पृथग्
यानि स्युः कलिकाग्रकाणि विकलाग्राणीह धीवृद्धिदे ।
चन्द्रार्कारगुरुज्ञभार्गवचलच्छायासुतानां तथा
पूर्वे सिद्धमहर्गणागमविधौ न्यूनाहशेषं च यत् ॥१३॥
षट्त्रिंशत्सहितानि तानि कुदिनैस्तष्टानि दृष्ट्वाऽत्रका-
व्याचष्टे स्फुटकुट्टके पटुमतिः खेटान् दिनौघं च यः ।
तं मन्ये गणिताटवीविघटनप्रौढिप्रमत्ताखिल-
ज्योतिर्वित्करिकुम्भपीठलुठनप्रोत्कण्ठकण्ठीरवम् ॥१४॥

अथास्य भङ्गः—

उद्दिष्टं क्वह १५७७९१७५०० तष्टमम्बु-
धिहृतं शुध्येन्न चेत् तत् खिलं
लब्धं रामनखाद्रिलोचनरसत्र्यङ्कद्रि २९३६२७२०३ निघ्नं ततः ।
पश्चाद्रित्रिनवाद्रिसागरयुगच्छिद्राग्निभिः ३०४४७९३७५ संभजे-
च्छेषं स्याद्द्युगणो हरेण स युतो यावद्भवेदीप्सितः ॥१५॥

अस्योदादहरणम्—

पञ्चत्रिंशदहो सखे दिविषदां चक्रादिशेषाणि या-
न्येषां सावमशेषमैक्यमपि यद्धीवृद्धिदे जायते ।
तत्तष्टं कुदिनैः खखेषुभरविच्छिद्रेन्द्र १४९१२२७५०० तुल्यं गुरो-
रिन्दोर्वाऽहनि कुजस्य वा वद यदा कीदृग्द्युपिण्डस्तदा ॥१६॥

वा० भा०—धीवृद्धिदे तन्त्रे ग्रहाणां चक्रादिशेषाणि मिलितान्यवमशेषयुतानि च १४९१२२७५००। एतानि किलोद्दिष्टानि चतुर्भिर्विभज्य लब्धं रामनखाद्रिलोचनरसत्र्यङ्कद्विभिः २९३६२७२०३ संगुण्य पञ्चाद्रित्रिनवाद्रिसागरयुगच्छिद्राग्निभि ३९४४७९३७५ विभज्य शेषमहर्गणो जातः खखाभ्रदिङ्मितः १००००। जातः कुजदिने। द्विगुणे हरे क्षिप्ते जातः सोमवासरे ७८८९६८७५०। त्रिगुणे क्षिप्ते जातो गुरुदिने ११८३४४८१२५।

अत्रोपपत्तिरेको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नावित्यनेनैव। अत्र गुणकाविति द्विवचनमुपलक्षणार्थम्। तेन बहुगुणानामैक्यं गुणो भवति। अग्राणामैक्यमग्रम्। तद्यथा। रूपमहर्गणं प्रकल्प्य ग्रहाणां चक्रादिशेषाण्यानीय तेषामैक्यं युगावमयुतं भाज्यः कल्प्यः। कुदिनानि हरः। उद्दिष्टषट्त्रिंशच्छेषाणां योग ऋणक्षेपः। एषां भाज्यहारक्षेपाणां चतुर्भिरपवर्तः कृतः। ततो लाघवार्थं रूपशुद्धौ लब्धं रामनखाद्रीत्याद्रिस्थिरकुट्टकः कृतः॥१३।१४।१५।१६॥

मरीचिः—नन्वत्र ब्रह्मपक्ष इत्यनेन शाकल्यसंहितोपस्थित्या तत्सिद्धयुतिग्रहणे व्यभिचारस्तदवस्थः। नहि तदतिरिक्तो ब्रह्मणा कृतः पक्षो लोके प्रसिद्धः। किंच सशेषाधिमासावमैक्यमित्यत्राधिमासावमशेषाभ्यां युतगताधिमासानां युतगतावमानां च योग इति प्रतीतेरप्युदाहरणं संदिग्धं, दिनैः प्रक्रियामित्यादि च न समीचीनमित्यस्वरसादुदाहरणान्तरं स्फुटशार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—ये याताधिकमासेति।

अवेक्ष्येत्यन्तं प्रश्नश्लोके व्याख्यातम्। तेनात्र न संदिग्धता। जिष्णुजकृतात्। ब्रह्मगुप्ताचार्यविरचिताच्छास्त्रात्स्फुटसिद्धान्तात् ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तस्य (शा० ५५०) लोके प्रसिद्धत्वात्तत्पक्षस्यैव ब्रह्मपक्षत्वं न शाकल्यसंहिताया इति भावः।

यथा यत्। अहर्गणानयनेन। आगतं सिद्धम्। एवकारात्तदतिरिक्तं चतुरन्यतमं पक्षान्तरसंबन्धि न गृहीतमिति सूचितम्। तत्कियदत आह—भूशैलेत्यादि। एतदङ्कतुल्यं तेषामैक्यम्। यदा यस्मिन् समये। अज्ञाते त्वदज्ञाते इत्यर्थः। तदा तस्मिन्काले यो गणकः कल्पगतं कल्पादित इष्टकाले वर्षादिदिनान्तात्मकं सौरचान्द्रसावनाहर्गणत्रयम्। सौरदिनेभ्यो वर्षज्ञानं सुलभमेवेत्यर्थः। वदति। आनयनेन कथयति। उत्तरदो गणकः। ब्रह्मसिद्धान्तवित् ब्रह्मगुप्तकृतब्रह्मास्फुटसिद्धान्तज्ञः। भवति।

एतत्पद्यदर्शनात्पूर्वोक्तमुदाहरणपद्यं क्षेपकमित्यवगम्यते। अन्यथाऽऽचार्यः प्रश्नाध्यायभाष्ये तदुदाहरणस्योत्तरगणितमेतदुदाहरणगणितलिखनवल्लिखितं स्यात्। यथा तेषां युतिः। ६४४८४२६०००१७१ कृताष्टष्टीत्यादिभिरेभिः ४६३३७४४-५१६८४ गुणितं जातं वेदाङ्गोद्रयाद्रिखाकृतिवेदाङ्गदन्तद्वचङ्कद्वयभ्रगजाङ्गवेदयुगवेदरामाष्टगोपञ्चशरैर्मितं ५५९८३४४४४६८०२९२३२६४२२०७७९६४ व्येकचन्द्राह १६०२९९४९९९९९ भक्तं फलं रसदेवदन्तनन्देन्दुवेदयुगराममितं ३४४१९३२३३६ शेषं च प्रयुतघ्नात्कृतियुगाद्युत्कृतिमितं २६७४२६०००००० सावनाहर्गणस्य १०१३९।

अथ चान्द्राहर्गणात्पृथगथाधिकमाससमाहताद्विधुदिनाप्तगताधिकमासकैरित्यधिमासा दश १०। अधिमासशेषं चाजगुणितकुगजाग्निमितं ३८१००००००० सौराहर्गणः १००००। अतः कल्पगतं सप्तविंशतिवर्षाणि नव मासा दश दिनानि॥१३॥

२७ ९ १०।

अथ कुट्टकोत्तरसंबन्धिमहत्प्रश्नं शार्दूलविक्रीडिताभ्यामाह—चक्राग्राणीति। षट्त्रिंशदिति च।

तानि अग्रकाणि । शेषाणि षट्त्रिंशत्संख्याकानि । एतेन षट्त्रिंशन्न्यूनाधिकशेषाणां योगाद्वक्ष्यमाणमहर्गणानयनं न संभवतीति सूचितम् । सहितानि एकीभूतानि । युक्तानीति यावत् । कुदिनै रविसावनदिनैर्महायुगसंबन्धिभिस्तष्टानि । भजनेनावशिष्टानि दृष्ट्वा ज्ञात्वा । तानि षट्त्रिंशत्कानीत्यपेक्षायामाह—चक्राग्राणीत्यादि । यानि । इह प्रसिद्धे लल्लोक्ते धीवृद्धिदे शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे (शा० ६७०) । तदुक्तोपकरणसामग्र्यां द्युचर चक्रेत्यादिग्रहानयने इत्यर्थः ।

एतेनान्यपक्षात्प्रश्नोद्देशे वक्ष्यमाणमहर्गणानयनमनुपपन्नमिति सूचितम् । चन्द्रार्कार-गुरुज्ञभार्गवचलच्छायासुतानाम् । आरो मङ्गलः । बुधशुक्रयोश्चले शीघ्रोच्चे । छायासुतः शनैश्चरः । द्विजपतिराजसेनाधिपगुरुपण्डितकविमन्दक्रमेण ग्राहोद्देशः कक्षाचारक्रमापेक्षया प्रश्नश्रोतुः कस्यचिदनभिज्ञस्य व्याकुलतासंभवार्थमिति ध्येयम् ।

एषां सप्तानां पृथगसंश्लिष्टानि । प्रत्येकं समन्वयः । चक्राग्राणि भगणेषु लब्धेषु शेषाणि ग्रहाग्रकाणि । एवं राशिशेषाणि । समुच्चयार्थकश्चः प्रत्येकं स्युश्चान्वेति । भाग-शेषाणि बिकलाशेषाणि । एवं भगणादिविकलान्तं पञ्चसंख्यात्वात्पञ्चत्रिंशच्छेषाणि यानि भवन्तीति तात्पर्यार्थः ।

अवशिष्टं शेषमाह—तथेति । अहर्गणानयनप्रकारे यदवमशेषं पूर्वं ग्रहानयनात्पूर्व-काले । ग्रहाणामहर्गणाधीनत्वात्सिद्धं संपादितमस्ति । चकारात्तत्तथा । तत्पङ्क्तिषु संबन्धा-भावेऽपि प्रष्टुरिच्छया सजातीयतया ज्ञेयम् । साजात्यं कुदिनहरत्वेन । अतोऽहर्गणादवमान-यनानुपाते यदवमशेषं तत्तत्पङ्क्तिषु ज्ञेयम् । यद्वाऽहर्गणादागमविधौ गताब्दसाधने पूर्वं प्रथमं यदवमशेषं द्वितीयशेषस्याधिशेषत्वात्तत्तथा तत्पङ्क्तिषु संबन्धाभावेऽपि गण्यम् । अत एव ग्रहोद्देशानन्तरमेतदुद्देशः संगच्छते । एषामैक्यं कुदिनतष्टं दृष्ट्वेत्यर्थः ।

यो गणकः । खेटानुक्तग्रहान् । नन्वहर्गणाद्ग्रहज्ञानं सुलभमेक(मिति)कथमेषां योगाद्-ग्रहानयनं पृष्टमत आह—दिनौघमिति । सूर्यसावनाहर्गणम् । यः समुच्चये । अत्र बहु-वचनान्तः पाठः प्रामादिकः । आचष्टे स्वकल्पनजप्रकारेण कथयति । तथा चाहर्गणज्ञा-भावाद्ग्रहज्ञानमेषां योगात्पृष्टं तत्रापि विनाऽहर्गणं ग्रहज्ञानमस्मादशक्यमतोऽहर्गणप्रश्न एवैषां योगात्फलित इति भावः ।

नन्वेतत्प्रश्नोत्तरदातुरसंभवाद्य आचष्टे इति कथं युक्तमतो य इत्यस्य विशेषणमाह—स्फुटकुट्टकेत्यादि । संश्लिष्टसंज्ञस्फुटकुट्टके । पटुमतिः । तत्कल्पने समर्था बुद्धिर्यस्य । तथा च संश्लिष्टकुट्टकरीत्योत्तरदातुः संभवादुक्तं युक्तमेवेति भावः ।

ननूत्तरदानं तत्कल्पनश्रमसाध्यमिति स स्वदुःखान्न ददात्युत्तरमित्यत आह—तमि-त्यादि । तमुत्तरदम् । गणितरूपा या अटवी वनं तस्य विघटनमुन्मूलनं तेन या प्रौढिर्महत्त्वं तेन प्रमत्ता मदान्धा ये अखिलाः समग्रा ज्योतिर्विदो गणकास्त एव करिणो गजास्तेषां ये कुम्भा गण्डस्थलानि तान्येव पीठानि आसनपट्टास्तेषु लुण्ठनमितस्ततः सुखेन सर्वाङ्गवि-

क्षेपस्तत्र प्रकर्षेणोत्कण्ठ उत्कण्ठितो यः कण्ठीरवः सिंहस्तमहं मन्ये । तथा च सकलज्योतिर्वित्पराजयकारणरूपत्वेन सुखसर्वस्ववर्यतासंपादनादुत्तरदानेऽल्पदुःखं तेनागण्यमित्युत्तरं दास्यत्येवेति भावः ।।१४।।१५।।

अथास्य सूचितमुत्तरं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—उद्दिष्टमिति ।

उद्दिष्टं शेषाणामैक्यं प्रागुद्दिष्टम् । ववहतष्टम् । युगसावनदिनैर्घीवृद्धिदोक्तैस्तष्टम् । यद्यपि प्रश्नश्लोके षट्त्रिंशत्सहितानीत्यत्र कुदिनैस्तष्टस्योक्तेः पुनरत्र तत्तष्टस्योक्तिरसंगता तथाऽपि कुदिनतष्टस्याऽऽवश्यकतासूचनार्थं पुनरुक्तिः । अन्यथोत्तरदानाशक्यत्वापत्तेः पूर्वोक्तस्य संदिग्धत्वाच्च ।

यद्वा प्राक्कुदिनतष्टमैक्यमुद्दिष्टमिति स्वरूपोक्तिः । चतुर्भिर्भक्तं चेद्यदि शुध्येत् । निःशेषम् । न सशेषमित्यर्थः । तर्हि तदुद्दिष्टं खिलं दुष्टम् । तत्प्रश्नोदाहरणमसंबद्धमित्यर्थः । ततः । विनिःशेषभजनेनाखिलज्ञानानन्तरं लब्धं चतुर्भक्तोद्दिष्टफलं त्रिनखभरसाग्न्यङ्कद्विगुणितं पञ्चाद्रित्र्यङ्कसप्ताब्धित्रियुगनन्दरामैर्भजेच्छेषमहर्गणः स्यात् ।

नन्वेवमानीतो वारासंवादात्कदाचिद्व्यभिचरत्यत आह—हरेणेति । सः । अहर्गणः । यावद्यदवधि । ईप्सितोऽभिमतो वारसंवादाद्भवेत्तावत् । हरेण पश्चाद्रि त्र्यङ्कसप्ताब्धियुगनन्दराममितेन युतः पुनः पुनस्तदवधि योज्य इत्यर्थः । मध्याधिकारे तथाऽप्रयोगादिति प्रतिज्ञातमेतदुक्तमिति ध्येयम् ।

अत्रोपपत्तिः—द्युचरचक्रहतो दिनसंचयः ववहृतो भगणादि फलं ग्रह इत्यनेनाहर्गणो भगणगुणितः कुदिनभक्तः फलं गतभगणाः । शेषं भगणशेषम् । तत्पृथक् द्वादशगुणं कुदिनभक्तं फलं राशयः । शेषं राशिशेषम् । तत्पृथक् त्रिंशद्गुणं हरभक्तं फलं भागाः । शेषं भागशेषम् । तत्पृथक्षष्टिगुणं हरभक्तं कलाः । शेषं कलाशेषम् । पृथक्षष्टिगुणं हरभक्तं फलं विकलाः शेषं विकलाशेषम् ।

एवं सप्तानां ग्रहाणां चक्रादिपञ्च शेषाणि पृथक्पृथगानीय तेषामैक्यं पञ्चत्रिंशदग्राणां योगः । अत्राहर्गणेऽवमगुणिते कुदिनभक्ते फलमवमानि । शेषमवमशेषमिदं पूर्वाग्रैक्ये युतं तत्षट्त्रिंशदग्राणां योगो जातोऽस्त(स्त्वु)द्दिष्टः ।

तत्र प्रत्येकं ग्रहभगणगुणितानामहर्गणानां कुदिनभक्तानां फलानि भगणास्तदैक्यं भगणयोगः । शेषाणि भगणशेषाणि तदैक्यं भषणशेषैक्यम् । अतो लाघवात्सप्तग्रहभगणयोगगुणिताहर्गणे कुदिनभक्ते फलं सर्वग्रहगतभगणयोगः शेषं भगणशेषैक्यम् । अस्मादुक्तरीत्या सर्वग्रहगतराशियोगः फलम् । शेषं सर्वग्रहराशिशेषैक्यमस्मादप्युक्तरीत्या भागशेषैक्यम् । ततः कलाशेषैक्यं फलानि च क्रमेण भागैक्यं कलैक्यं विकलैक्यं परयोगग्रहप्रयोजनाभावात्फलेषूपेक्षा ।

अत्राविप लाघवान्निरपेक्षराश्यादिशेषयोगज्ञानार्थमहर्गणस्य भगणयोगगुणितद्वादशभगणयोगगुणितषष्ट्यधिकशतत्रयम् । भगणयोगगुणितस्वषष्टिस्ववर्गाः । भगणयोगगुणितत्वा-

भ्रषष्टिनन्दार्काश्चतुःस्थानेषु गुणका । सर्वत्र कुदिनानां तक्षणत्वात् । भगणशेषैक्यज्ञानार्थं तु राश्यादिपङ्क्तिवत्साजात्यगुणोऽहर्गणस्यैकसंख्यागुणितो भगणयोगः ।

एषमपि पूर्वरीत्या लाघवाद्योगसिद्धयर्थमतुल्यानां गुणकानामेषां ११२ । ३६० । १६०० । १२९६००० योगस्त्र्यद्रिनवघनविश्वमितः १६१७८७३ । तेनाहर्गणस्यैतद्गुण-गुणितो भगणयोगो गुणः कुदिनानि हरः । अत्र शेषं पञ्चत्रिंच्छेषाणां योगः सिद्धः । अस्या-वमगुणितोऽहर्गणः कुदिनतष्टोऽवमशेषरूपा(द्वयें) योज्यः ।

अत्रापि पूर्वरीत्या लाघवाद्योगसिद्धयर्थमहर्गणो युगाद्यवमयुतेन त्रिसप्तनन्दाद्रिकु-विश्वगुणितयुगादिभगणयोगेन गुणितः कुदिनतष्टः शेषं षट्त्रिंशच्छेषाणां योगः स्यादिति सिद्धम् ।

ननु पृथगानीतषट्त्रिंशच्छेषाणां योगस्य हराधिकत्वसंभवेन युगपदानीतशेषस्य हराद-वश्यं न्यूनत्वेन तयोर्विसंवादात्कथमुक्तरीत्या शेषैक्यप्रतिपादनम् । पृथगानीतानां भगणादि-फलानां योगस्य हर[भ]क्तयथागतशेषैक्याप्तफलाधिकयुगपदानीतफले संवादाभावाच्च ।

न चात एव यथागतशेषैक्याद्धरतष्टफलगुणितकुदिवसा युगपदानीतयोगात्मकशेषे योज्या यथागतमग्रैक्यं स्यादिति वाच्यम् । आत्माश्रयादिति चेन्न । यथागतशेषाणां योग-स्याग्रे कार्यक्षमत्वाभावाद्धरतष्टस्य तस्याग्रे उपयोगात्तादृशस्य शेषैक्यं युगपत्प्रकारानीत-शेषैक्यसमत्वादुक्तदिशा तदानयने बाधकाभावात् । फलस्योभयथा प्रयोजनाभावाच्च । अत एव हरतष्टाच्छेषैक्यादेव प्रश्नः सूपपन्नः ।

अस्य दाढ्यार्थमेव सूत्रेऽपि क्वहृतष्टं पुनरुक्तं हराधिकयुतिनिरासार्थकं संगच्छते । तस्माद्गुणकगुणिताहर्गणे कुदिनभक्ते यच्छेदं तन्न्यूने तस्मिन्कुदिनभक्ते लब्धस्य निर-ग्रत्वात्कुट्टके प्रश्नोत्तरं पर्यवसन्नम् ।

तथा हि—गुणकगुणिताहर्गणे हरभक्ते यच्छेषं तदेव षट्त्रिंशच्छेषाणां कुदिननष्टमैक्य-मिति प्रश्ने तज्ज्ञानाच्छेषं ज्ञायत एव गुण्यगुणकयोरभेदात् । पूर्वोक्तगुणक एवाहर्गणेन गुण्य इति सिद्धम् ।

एवं च पूर्वोक्तो गुणकः केन गुणित उद्दिष्टहरतष्टयोगोनः कुदिनभक्तो निःशेषः स्या-दिति कुट्टकप्रकारेण गुणकः स एवाहर्गण. फलं तु भगणाद्यवमान्तानां योगो यच्च भग-णादि सर्वशेषैक्ये हरभक्ते फलं तदैक्यरूपम् । तथा च गुणैक्यरूपः पूर्वोक्तो गुणको भाज्यः । उद्दिष्टमत्रैक्य हरतष्टमग्र योगरूपमृणक्षेपः । अत एव हराधिकयोगस्यात्रर्णक्षेपत्वा-संभवात्केवलयुत्यग्रहणम् । कुदिनानि हर इति संश्लिष्टसंज्ञे स्फुटकुट्टके साध्यः । अत एव—

एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ तदा गुणैक्यं परिकल्प्य भाज्यम् ।
अग्रैक्यमग्रं कृत उक्तवद्यः संश्लिष्टसंज्ञः स्फुटकुट्टकोऽसौ ।

इत्युक्तमाचार्यैः तत्राऽऽचार्यैस्तदानयनं स्वोक्तभगणादिभिर्न कृतम् । अङ्कानामति-महत्त्वतया गणितश्रमाधिक्यसंभवात् । अतस्काले प्रसिद्धतरलग्नोक्तशिष्यधीवृद्धिदभगणा-

दिभिरल्पत्वेन लाघवात्कृतम्। अत एव धीवृद्धिदपेक्षेतरोद्दिष्टयुतेरनेन प्रकारेणाऽहर्गणो न सिध्येदिति व्यभिचारवारणार्थं प्रश्नलोके धीवृद्धिद (शा० ६७०) इत्युक्तम्।

तद्यथा—रव्यादिसप्तानां भगणः। र ४३२०००० चं. ५७७५३३३६ मं २२९६-८२४ बुशीउ। १७९३७०२० बृ. ३६४२२४ शुशीउ ७०२२३८८ श १४६५६४ एषां योगः षट्शराग्निखाब्ध्यष्टनन्दाष्टमितः ८९८४०३५६ त्रिसप्तनन्दात्यष्टिविश्वैः १३१७९१३ गुणः ११८४०७१६३५१८३८८ तदुक्तावम २५०८२५८० युतोऽयं गजरसनवखषट्चष्ट-धृतिनगखाब्धिधृतीन्दुमितो भाज्यः ११८४०७१८८६००९६८। तदुक्तकुदिनानि खखश-रात्यष्टिगोभ्रद्रितिथिमितानि हरः १५७७९१७५०० उद्दिष्टमैवयं हरतष्टमृणक्षेपः। तत्र भाज्यो हरः क्षेपकश्चापवर्त्यः केनाप्यादौ संभवे कुट्टकार्थमित्युक्तेर्भाज्यभाजकक्षेपा अप बर्त्याः। अन्यथा—जपवर्तयोग्येषु भाज्यभाजकक्षेपेषु कुट्टकप्रकारानुपपत्तेः।

परस्परभजने भाज्यभाजकयो रूपशेषाभावात्परस्परभजनेऽन्त्य शेषस्यैवापवर्ताङ्क-त्वात्।

परस्परं भाजितयोर्ययोर्यः शेषस्तयोः स्यादपवर्तनं सः।

तेनापवर्तेन विभाजितौ यौ तौ भाज्यहारौ दृढसंज्ञकौ स्तः। इत्युक्तेः॥

अपवर्ते चान्त्यशेषमप्यपवर्ताङ्केनापवर्तितं स्यादिति रूपशेषमन्त्य स्यादतो न कुट्टक-प्रकारानुपपत्तिः। एतेन यत्र भाज्यभाजकयोः परस्परभक्तयोः शेषं रूपं स्यात्तत्रावर्तनं नाऽऽवश्यकमिति परास्तम्। रूपशेषे वर्तनासंभवात्।

तथा च भाज्यभाजकयोरपवर्तज्ञानार्थं परस्परभजनं भाज्यः ११८४०७१८८६७०-९६८। भाजक १५७७९१७५००। भक्तफलं ७५०४०। भाज्यशेषं २६९४००९६८। अनेन हरे भक्ते फलं ६। शेषेण २१५११६९१ पूर्वशेषभक्तं फलं १२। शेषेण १२६०-६६८ पूर्वशेषं भक्तं फलं १७। शेषेण ८०४०४ पूर्वशेषं भक्तं फलं १६। शेषेण ५४६०४ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषेण २५८०० पूर्वशेषं भक्तं फलं २। शेषेण ३००४ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषेण १७६८ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषेण १२३६ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषेण ५३२ पूर्वशेषं भक्तं फलं २। शेषेण १७२ पूर्वशेषं भक्तं फलं ३। शेषेण १६ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषेण १२ पूर्वशेषं भक्तं फलं १। शेषं चत्वारोऽय-मेवापवर्ताङ्कः।

अनेन ४ पूर्वशेषे भक्ते शेषाभावात्तस्माद्भाज्यभाजकक्षेपाश्चतुर्भिरपवर्त्याः। तत्र भाज्यभाजकौ नियतत्वादपवर्तितौ तौ दृढभाज्य २९६०१७९७१५०२४२ भाजकौ ३९४४-७९३७५। अनयोरपवर्तितत्वात्क्षेपोऽप्यपवर्त्यः। क्षेपस्य भाज्यखण्डत्वात्। अन्यथा भाज्य-भाणकयोरपवर्ते कृते क्षेपस्य यथास्थितत्वे उद्दिष्टे कुट्टकानुपपत्तेः।

यदि च क्षेपस्यापवर्तो न स्यात्तदा तत् कुट्टकोदाहरणं नैव स्यात्। येन च्छिन्नौ भाज्यहरौ न तेन क्षेपश्चैतददुष्टमुद्दिष्टमेवेत्याचार्योक्तेः। अत उक्तं उद्दिष्टं स्वहृतष्टमम्बु-

धिहृतं शुध्येन्न चैतत्खिलमिति । खिलोपपत्तिस्तु शून्यशेषे गुणके क्षेपाभावे एकादिगुणित-हरतुल्ये वा क्षेपे शून्यं शेषं स्यान्नान्यस्मिन्शेषे । तेन हरस्यापवर्तनसंभवे क्षेपस्य सुतराम-पवर्तनसंभवः । अन्यशेषेषु सकलगुणकेषु शेषतुल्ये क्षणक्षेपे शेषोनहरतुल्ये धनक्षेपे वा एका-दिगुणितहरयुतयोरुभयोर्वा शून्यं शेषं स्यान्नान्यस्मिन्क्षेपे ।

अत्र शेषतुल्यस्य शेषोनहरतुल्यस्य वा क्षेपस्यानपवर्तितभाज्यशेषे एवान्तर्भावादपवर्तः स्यादेव । अपवर्तितभाज्यहरयोरनपवर्तितयोस्तयोर्वा एकफलत्वेऽपि शेषयोर्भेदावश्यंभावेनान-पवर्तितभाज्यशेषस्यापवर्ताङ्कगुणितापवर्तितभाज्यशेषरूपत्वात् । एवं केवलस्यापवर्तसंभवे हरयुक्तस्य क्षेपस्य सुतरामपवर्तसंभवः । तदेवं न कमपि तादृशं क्षेपं पश्यामः । यो भाज्य-हरापवर्ताङ्केन नापवर्तेत । तस्माद्यत्र क्षेपेऽपवर्तो न स्यात्तादृशक्षेपशून्यशेषता कथमपि न स्यात् । शून्यशेषक्षेपाणामुक्तरीत्या नियतत्वादिति गुरुतरपितृव्यकृष्णगणकचरणोक्तापवर्ता-ङ्कज्ञानप्रकारोपपत्तिरपि तैरेवोक्ता ।

तथा हि । अपवर्ताङ्कश्चात्रापवर्ताङ्केषु महाञ्ज्ञातव्यो येनापवर्तितयोर्भाज्यभाजकयोः पुनर्नापवर्तः स्यादनेनापवर्तितयोर्दृढत्वोक्तेः । तज्ज्ञानार्थमुपायः । तत्र भाज्यभाजकयोस्तु-ल्यत्वे तन्मित एव महानपवर्त इति मन्दैरप्यवगम्यते । तयोर्वैलक्षण्ये तु यो लघुस्ततोऽधिको-ऽपवर्ताङ्को नैव स्यात् । तेनाङ्केन तयोरपवर्तनस्य बाधितत्वात् । लघुतल्यतुल्या (स्तुल्यत्वात्) ।

यदि लघुना महति भक्ते शेषं न स्यात्तस्य निःशेषभजनरूपत्वाद्यदि च शेषं स्यात्तदा [न] लघुतुल्योऽपवर्ताङ्कः । किंत्वधिकस्य बाधितत्वाल्लघोरपि लघुर्महानपवर्ताङ्कः स्यात् । स्यात । तत्रापि विचारः ।

अत्र हि महतो राशेः खण्डद्वयं यावल्लघुना भक्तं तावदेकं शेषतुल्यमपरम् । एवं सति लघुतो न्यूनाङ्केषु मध्ये यः शेषतोऽधिकस्तस्य नास्त्येवापवर्तकत्वम् । तेन यथाकथं-चिल्लघोरपवर्तो लघुराशिभक्तस्याधिकराशिखण्डस्याप्यपवर्तः स्यान्नतु शेषतुल्यद्वितीय-खण्डस्य । तथा च लघुतो न्यूनाङ्केषु यदि महानपवर्तकः स्यात्तर्हि शेषतुल्यः स्यात् । परं शेषेण लघुराशौ भक्ते यदि शेषं न स्यात्तथा सति शेषतुल्याङ्केन लघोरपवर्तनस्य जातत्वाल्लघुभक्तस्याधिकराशिखण्डस्य शेषतुल्यद्वितीयखण्डस्याप्यपवर्तः स्यात् ।

यदि तु शेषं स्यात्तर्हि पूर्वशेषतो न्यून एव महानपवर्ताङ्कः स्यान्नाधिको बाधि-तत्वात् ।

अथ तत्रापि विचारः । लघुराशेर्हि खण्डद्वयं यावत्पूर्वशेषेण भक्तं तावदेकं द्वितीय-शेषतुल्यं द्वितीयम् । एवं सति पूर्वशेषान्न्यूनाङ्केषु यो द्वितीयशेषादधिकः स्यान्न स्यादय-मपवर्ताङ्कः । तेन यथाकथंचित्पूर्वशेषस्यापवर्तशेषेण भक्तं लघुखण्डस्यापवर्तः स्यान्न द्वितीयशेषतुल्यद्वितीयखण्डस्य ।

तथा सति लघुराशेरनपवर्तनाल्लघुभक्तस्याधिकराशिखण्डस्याप्यनपवर्ते कस्याप्यपवर्तो न स्यात् । तस्मात्पूर्वशेषतो न्यूनाङ्केषु यदि महानपवर्ताङ्कः स्यात्तर्हि द्वितीयशेषतुल्य

एव स्यात् । परं द्वितीयशेषेण पूर्वशेषे भक्ते यदि शेषं न स्यात् । यतस्तथा सति पूर्वशेषापवर्तनस्य जातत्वात्तद्भक्तस्य लघुराशिखण्डस्याथ च द्वितीयशेषतुल्यद्वितीयखण्डस्याप्यपवर्तः स्यात् ।

तथा सति लघुराशेरपवर्तनस्य जातत्वाल्लघुभक्तस्याधिकराशिखण्डस्याप्यपवर्तः स्यात् । पूर्वशेषतुल्यद्वितीयखण्डस्यापवर्तोऽनुपदमेव पूर्वं प्रतिपादित इत्यधिकराशेरप्यपवर्तः स्यादेव ।

यदि च द्वितीयशेषेण पूर्वशेषे भक्ते शेषं स्यात्तर्ह्यनयैव युक्त्या तृतीयशेषतुल्यो महानपवर्ताङ्कः स्यात् । एवमनयोपपत्त्या पूर्वशेष उत्तरोत्तरेण येन शेषेण भक्ते शेषं न स्यात्तच्छेषमन्त्यं महानपवर्ताङ्कः स्यादिति ।

तथा च प्रकृते दृढो भाज्यः २९६०१७९७१५०२४२ । भाजकः ३९४४७९३३५ । उद्दिष्टं चतुर्भक्तं फलं दृढक्षेप इत्यत्र कुट्टकोदाहरणे गुणः साध्यस्तत्रोद्दिष्टयोगानां पृच्छकेच्छयाऽनन्तत्वादेतादृशजात्युदाहरणेषु प्रत्येकं प्रष्टॄणां प्रश्नभङ्गार्थमनेकगुणाः कार्या इत्यनेकगुणसाधनगौरवदर्शनादाचार्यै रूपमृणक्षेपं प्रकल्प्य भाज्यभाजकयोः स्थिरत्वाल्लाघवाच्च क्षेपं विशुद्धिमित्याद्युक्त्या गुणसाधनार्थं स्थिरकुट्टकः कृतः ।

तथा च स्थिरकुट्टकार्थं भाज्यहरक्षेपाणां न्यासः । भाज्यः २९६०१७९७१५०२४२ क्षेपः १ हरः ३९४४७९३७५ । ७५०४० । ६१२१७१५१२८९१२३१०११० । अत्र मिथो भजेत्तावित्यादिना वल्ली उपान्तिमेनेत्यादिना राशियुग्मं ७५६७९६३५६६४२३ ॥ १०८५२१७२ इवं स्वस्वतक्षणाभ्यामूनं स्वत एवास्ति । लब्धीनां समत्वादेतावेव लब्धिगुणौ रूपघनक्षेपेऽपेक्षितौ रूपर्णक्षेपे इति स्वतक्षणाभ्यां शोधितौ जातौ लब्धिगुणौ । लब्धिः २२०३३८३३८३३५८३८१९ गुणः २९३६२७२०३ योगजे तक्षणाच्छुद्धे गुणाप्ती स्तो वियोगजे इत्युक्तेः ।

अत्र युक्तिर्विषमसमलब्धिवत् । अत्र लब्धेः प्रयोजनाभावाल्लब्धिर्न निबद्धा । गुणस्याहर्गणत्वात्तदावश्यकता । स तु रामनखाद्रिलोचनरसत्र्यङ्कद्विमितः । अभीष्टर्णक्षेपे गुणसिध्यर्थमयं चतुर्भक्तोद्दिष्टेन गुण्यः । दृढकुदिनैरेभिः ३९४४७९३७५ तष्टः कार्यः । अभीप्सितक्षेपविशुद्धिनिघ्ने इत्याद्युक्तेः । अत उक्तं लब्धं रामनखाद्रीत्यादि द्युगण इत्यन्तम् ।

अथ लब्धं गोक्ववष्टरामाष्टशरदेवाष्टदेवनस्व(ख)द्विघ्नम् द्विसिद्धखदिनाद्रिनवकुद्वितष्टम् । लब्धिर्भगणादियोगकुदिनतष्टशेषैक्यफलयोर्योगरूपा कथं न निबद्धा । न च प्रयोजनाभावादिति प्रागुक्तमेवेति वाच्यम् । गुणलब्ध्योः समं ग्राह्यं धीमता तक्षणे फलमित्युक्तेः ।

यदा भाज्यतष्टलब्धिफलाद्भाजकतष्टगुणस्य फलमधिकं तदा गुणे भाज्यतष्टलब्धिफलतुल्यगुणतक्षणफलग्रहणार्थं तन्निबन्धनस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेन्न । प्रकृते पूर्वमेव

तष्टफलाभावादुद्दिष्टतादृशयुत्या गुणितेऽपि फलसाम्यनिर्णयादुक्तप्रकारेणाहर्गणसिद्धेर्लब्धि-निबन्धनस्य व्यर्थत्वात् ।

नन्वेवं हरेण संयुतो यावद्भवेदीप्सित इत्यस्य व्यर्थतापत्तिः । उद्दिष्टयुतेः प्रथमा-हर्गणतः संवादात्पूर्वमेवेप्सितसिद्धेरिति चेन्न । दृढकुदिनतष्टेऽहर्गणस्यावश्यं तन्न्यूनत्वाद्युगे ततोऽधिकस्यापि संभवादभीष्टकाले तन्न्यूनोऽहर्गण उद्दिष्टसिद्धावपि वारासंवादादसिद्ध इति तस्मिन्निष्टाहतस्वस्वहरेण युक्ते इत्यादिना दृढकुदिनानि क्षिप्तानि ।

तादृशाहर्गणस्यापि गुणत्वात्तत उद्दिष्टसिद्धेः । एवं तत्रापि वारासंवादे स्त्रतक्षण-योजनमुचितमिति हरेण संयुतो यावद्भवेदीप्सित इत्युक्तम् । ननु तष्टफलसंशयेन कदाचि-द्गुणेऽधिकफलग्रहणस्याहर्गणरूपस्य सिद्ध्यर्थमेतदुक्तम् । युगकुदिनानां परमाहर्गणत्वा-दुक्तरीत्या तदन्तर्वर्तिनियताहर्गणेषु स्वाभीष्टाहर्गणात्पूर्वाहर्गणात्पूर्वाहर्गणे उद्दिष्टा-सिद्ध्यापत्तेः ।

न ह्यगुणादुद्दिष्टासिद्धिः । अत एव गुणरूपाहर्गणेभ्य उद्दिष्टसिद्धावपि वारसंवादात्त-दन्यतम एवाभीष्टकालेऽहर्गणः । नान्यो वारासंवादादित्यलं पल्लवितेन ॥१३।१४।१५।१६॥

केदारदत्तः—महाप्रश्नाध्याय में अन्य प्रश्न और समाधान—

चंद्र सूर्य मंगल वृहस्पति के मध्यम, और बुध भार्गव के शीघ्र केन्द्रों और शनि ग्रहों का मध्यम इत्यादि ग्रह साधन के अवसर पर भगण शेष, अंश शेष और ग्रहों के विकलादि शेष जो पृथक् पृथक् होते हैं इत्यादिकों का ज्ञान धीवृद्धि तन्त्र के अनुसार जानकर पूर्व सिद्ध अहर्गणानुसार न्यूनदिवस, शेष कुदिनों से तष्टित योग ३६ के तुल्य देखकर जो पटुमति गणितज्ञ उक्त सातों ग्रह, और अहर्गण का ज्ञान कर सकता है उसे गणितज्ञों की सभा में सिंह की उपाधि से संमानित करता हूँ ।

उद्दिष्ट योग में, कल्प कुदिन से १५७७९१७५०० से तष्टित करने पर यदि न घटता है । तो प्रश्न ही गलत समझना चाहिए ।

लब्ध फल को २९३६२७२०३ से गुणा कर ३०४४७९३७५ से भाग देकर जो शेष उसे हर में जोड़ देने से ईप्सित अहर्गण होगा उदाहरण से—

हे मित्र ! सभी ग्रहों के भगणादि शेष योग = ३५ है । धीवृद्धिद तन्त्र में यही अवमशेषादि ऐक्य भी कहा गया है । इसे कुदिनों से तष्टित करने पर १४९१२२७५०० के तुल्य होता है तो बताओं गुरु दिन या चन्द्र दिवस या मंगल ग्रह के मंगल वार के दिन अहर्गण मान क्या होगा ?

लल्लाचार्य प्रणीत धीवृद्धिद तन्त्र में, अवम शेष युक्त ग्रह भगणादि शेष में अवमशेष योग = १४९१२२७५००, उदिष्ट इस अंक में ४ का भाग देने से २९३६२७२०३ से गुणा करने पर और ४ से भाग देने से इसमें ३९४४७९३७५ से भाग देने पर शेष संख्या तुल्य अहर्गण मंगलवार को १०००० होता है । द्विगुणित हर जोड़ने से सोमवार के दिन ७८८९६८७५० तथा त्रिगुणित हर जोड़ने से ११८३४४८१२५ गुरु दिन में होता है ।

उपपत्ति—एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ–भास्करीय बोज गणित के अनुसार में गुणकौ विभिन्नौ की जगह बहुत गुणकों का ऐक्य = गुणांक।

शेषों का ऐक्य = फलैक्य।

१ अहर्गण मान कर ग्रहों का भगणादि शेष ज्ञात कर इस ऐक्य में युगावम जोड़ने से लब्ध फल = भाज्य। कल्प कुदिन = हर। उदिष्ट योग ३६ = ऋण क्षेप। भाज्य हार और क्षेप में ४ से अपवर्तन देने से लाघव समझा गया है। तब कुट्टक से लाघव से लब्ध गुणक–२९३६२७२०३ होता है ॥१३॥१४॥१५॥१६॥

इदानीं निरग्रचक्रादपि ग्रहादहर्गणमाह—

लिप्तार्धं दशयुग्भवन्ति विकलास्तासां वियोगस्त्रियुग्-
भागा भागदलं गृहाणि शशिनः खत्रीन्दवस्तद्युतिः
दृष्टा चन्द्रदिने कदा वद पुनस्तादृक् च कान्याहनि
व्यक्ताव्यक्तविविक्तयुक्तिगणितं विद्वन्विजानासि चेत् ॥१७॥

अस्य भङ्गः।

राश्यादेर्विकला दृढकुदिनगुणाश्चक्रविकलिकाभक्ताः
शेषत्यागे लब्धं रूपयुतं भगणशेषं स्यात् ॥१८॥
शेषोनहरो विकलाशेषं तस्मिन्क्ववहाधिके ज्ञेयः।
स खिलः खेटस्त्वखिलेविकलाशेषाद्द्युपिण्डो वा १९
दृढभगणा येन गुणाश्चक्राग्रोना दृढक्ववहैः शुद्धाः।
स द्युगणो दृढकुदिनयुतस्तावद्यावदीप्सितो वारः ॥२०॥

उदाहरणम्।

चक्राग्रं शशिनः खखाभ्रगगनप्राणर्तुभूभि १६५०००० र्हृतं
शुध्येच्चेन्न खिलं फलं कृतगुणाष्टाङ्काहिनागा ८८६८३४ हतम्
विश्वाग्न्यङ्गशराङ्कैः ९४६३१३ श्च विभजेत् स्याच्छेषमह्वा
गणस्तावत् तत्र हरं क्षिपेदभिमते यावद्ध्रुवेद्वासरे ॥२१॥

वा० भा०—लिप्तार्धं दशयुगित्यत्र लिप्ताप्रमाणं यावत्तावत् १ प्रकल्प्योक्त-विधिं कृत्वादय्बीजक्रियया ज्ञातः शशी ११। २२। ५८। ३९ अस्य भगणानां कुदिनानां चापवर्तः १६५०००० दृढभगणः ३५००२ दृढक्ववहाः ९५६३१३ जातो-ऽहर्गणः २५७१५१। अयं जातः शनिवासरे। द्विगुणे क्षेपे क्षिप्ते जातः सोमवासरे

२१६९७७७ षड्गुणे क्षिप्ते जातः शुक्रवासरे ५९९५०२९ सप्तगुणे क्षिप्तेऽनेकधा सोमवासरे २१६९७७७ वा ८८६३९६८। १५५५८१५९ इत्यादि। अथवा शुक्रवासरे ५९९५०२९ वा १२६८२२० वा १९३८३४११ इत्यादि। एवमन्येषां ग्रहाणां स्थिरकुट्टकः कार्यः।

अत्र वासना। भगणशेषं चक्रविकलाभिर्यदि गुण्यते क्वहैर्विभज्यते तदा विकलात्मको ग्रहो लभ्यते। शेषं विकलाशेषं स्यात्। अतो विलोमविधिना भगणशेषानयनम्। राश्यादेर्विकलाः १२७०७१९। दृढकुदिनै ९५६३१३ गुणिताश्चक्रविकलाभि १२९६००० भक्ता.। लब्धम् ९३७६५८। शेषम् ३३१०४७ (१) शेषत्यागे लब्धं रूपयुतमतः कृतम्। यतो विकलाशेषंक्षिप्त्वा चक्रविकलिकाभिर्भाज्या। तद्विकलावशेषमज्ञातम्। अथ विकलाशेषज्ञानमुच्यते। यदत्रावशेषं त्यक्तं तेनोनाश्चक्रविकला न पूर्यन्ते तास्तत्र क्षिप्त्वा यदि भागो ह्रियते तदा लब्धिः सरूपा लभ्यते। अतस्तदेव विकलाशेषम्। विकलाशेषेण कुदिनेभ्यो न्यूनेन भवितव्यम्। एवं यज्ज्ञातं तत् किंचिदधिकमपि भवति। तदसत्। उद्दिष्टग्रहस्य खिलत्वात् ॥१७।१८।१९।२०।२१॥

मरीचिः—अथ मन्दावबोधार्थमस्योदाहरणप्रश्नं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—पञ्चत्रिंशदिति।

बृहस्पतेश्चन्द्रस्य वा मङ्गलस्य वा दिवसे। यदा अज्ञातक(क)लिगतसमये। अहो इत्याश्चर्ये। अपूर्वमहाप्रश्नात्। महाप्रश्नेनैवोत्तरास्फुरणं भविष्यतः संबोधनमाह—सखे इति। अन्येषामेतदुत्तरास्फुरणेऽपि तव मन्निन(न्मत्र)स्य तदुत्तरप्रकारनिबन्धनादेतदुत्तरस्फुरणं नेति भावः।

ग्रहाणां प्रश्नोद्दिष्टानां यानि पृथक्पृथक्चक्रादिशेषाणि पञ्च। पञ्चत्रिंशच्छेषाणि शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे तदुक्ताङ्कैरुक्तप्रकारेण भवन्ति। अनेन तत्पक्षेतरपक्षसिद्धयुतावुक्तप्रकारेणाहर्गणो न सिद्ध्येत्किंतु पूर्वोक्तयुक्त्यत्वा तत्पक्षजस्थिरकुट्टकेनेति दृढमुक्तमन्यथैतद्ग्रन्थस्य ब्रह्मगुप्तपक्षाभिमतत्वात्प्रश्नश्लोके धीवृद्धिदे इत्ययुक्तम्। लेखकदोषादिना पतितमित्याग्रहवादिनो निरासानुपपत्तेः।

एषामज्ञातानामैक्यमपि शब्दादज्ञातं स्यात्। सावमशेषम्। अवशेषयुक्तं तत्षट्त्रिंच्छेषैक्यमज्ञातं कुदिनैस्तदुक्तैस्तष्टं सच्छेषं खखेषुभरविच्छिद्रेन्द्रसमं जायते ज्ञायत इत्यर्थः। तदा तन्मितकुदिनतष्टशेषैक्यसंबन्धिकाले। कीदृक् कियन्मितो धीवृद्धिदाहर्गण इति प्रश्नस्योत्तरं कथय।

यथा कुदिनतष्टायुतिरुद्दिष्टा १४९१२२७५०० चतुर्भक्ता ३७२८०६४७५ रामखाद्रिलोचनरसत्र्यङ्कद्विगुणिता १०९४६६२३९२६५४२०६२५ पञ्चादित्रिनवाद्रिसागरयुगछिद्राग्निभिर्भक्ता २९९९५४७१शेषयुतमहर्गणो धीवृद्धिदे कलिगताहर्गणत्वादयं मङ्गलवारे। एकगुणहरेण युतः २१४७८९३७९ द्विगुणहरेण युतः सोमवारे ७८८९६८७५०।

त्रिगुणहरेण युतो गुरुदिने ११८३४४८१२५। अत्र गुरोरित्यनेन शुक्रस्यापि दिने प्रश्नसंबन्धो बोध्यः ॥ १७ ॥

नन्वयं प्रश्नः स्फुटकुट्टकसंबन्धी न केवलकुट्टकसंबन्धीति मन्दाशङ्केत्यतः केवलकुट्टकसंबन्धिप्रश्नस्योदाहरणं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह–लिप्तार्धमिति।

चन्द्रस्य कलानामर्धं दशभिर्युतं चन्द्रस्य विकला भवन्ति तासां कलाविकलयोर्बहुत्वाद्बहुवचनम्। अन्तरं त्रिभिर्युक्तं चन्द्रस्य भागा भवन्ति। भागानामर्धं चन्द्रस्य राशयो भवन्ति तेषां राश्यादिविकलान्तावयवानां युतिरैक्यं त्रिंशदधिकं शतं सोमवारे यदा कल्पगताज्ञाने दृष्टा ज्ञाता। पुनर्द्वितीयवारं काव्याहनि शुक्रवारे। च समुच्चये। तादृक्पूर्वोक्ता युतिर्ज्ञाता। हे विद्वन्नुत्तरकल्पक त्वमहर्गणं कथय।

ननूत्तरकल्पकत्वं कुत इत्यत आह-व्यक्तेत्यादि। व्युक्तं पाटी। अव्यक्तं बीजम्। आभ्यां विविक्ता स्पष्टा युक्तिर्यस्य तादृशं गणितं जानासि चेद्यदि। अत्रोत्तरं विलोमविधिनाऽनुपातस्थानसंभावितकुट्टकेन चेति व्यक्तमुक्तम्। अव्यक्तमिति तूदाहरणस्पष्टत्वज्ञानार्थम्। नतूत्तरज्ञानार्थं तत्। अन्यथोदाहरणविषयग्रहाज्ञानादुत्तरदानानुपपत्तेः।

तथा च राश्यादिविकलावयवान्तात्मकनामपूर्वकग्रहज्ञानेऽहर्गणमानयेति प्रश्नफलितार्थः। तत्र चन्द्रोक्तिः प्रश्नोदाहरणार्थमेतादृशभङ्ग्या तदुक्तिश्चातुरीप्रदर्शनार्थं मन्दाश्चर्यजनिकेति।

एवमत्र राश्यादिचन्द्रज्ञानार्थं कलाप्रमाणं यावत्तावत्। १ अस्यार्धं दशयुक्तं विकलाः या १। २ रू १०। अनयोन्तरं या १। २ २ ०। त्रियुक्तं भागाः २। या १। रू १४। एषामार्धं राशयः ४। या १। रू १४ कलादीनामेषां योगः ४। या ९। रू २। खत्रीन्दुसम इति पक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे एकवर्णप्रक्रियया लब्धं यावत्तावन्मानमिदं ५८। कलामानम्।

अनेनोत्थापनादुदाहरणालापक्रियया ज्ञातश्चन्द्रो राश्यादिकः ११। २२। ५८। ३९। अयं लक्ष्मीदासेनेष्टकर्मणा षष्टिमितेष्टकल्पनादानीतः स्वल्पान्तरात्तदसत्। दशाद्यादियोजनोक्त्येष्टकर्मासिद्धेः ॥ १८ ॥

अथोत्तरमार्याभ्यामाह—राश्यादेरिति।

उद्दिष्टग्रहस्योद्दिष्टराश्यादेर्विकलास्तस्य राशयस्त्रिंशद्गुणिता भागैर्युक्तास्ते षष्ट्या गुण्याः कलायोज्याः। ते षष्टिगुणिताः। विकलायोज्या इति क्रियया विकलाः कार्याः। दृढकुदिनगुणाः। कल्पसूर्यसावनदिनोद्दिष्टग्रहकल्पभगणैः परस्परं भाजितयोर्ययोरित्याद्यवगतापवर्ताङ्केनापवर्तितौ दृढौ स्तः। तादृशकल्पकुदिनैर्गुण्याः। चक्रविकलाभिर्द्वादशराशिविकलाभिः खखषष्टचङ्काकैः। १२९६००० भक्ताः। शेषस्य त्यागे कृते सति। अत्र त्यागोऽधोवयवकलाग्रहरूपो नतु मार्जनम्। तस्याग्रे प्रयोजनादिति ध्येयम्। लब्धनिरग्रफलमेकसंख्यया युतं भगणशेषं भवति।

ननूक्तरीत्या कष्टप्रश्नेऽपि भगणशेषज्ञानात्कपटप्रश्ने निष्कपटप्रश्नो वेति कथं ज्ञेयमत आह-शेषोनहर इति। पूर्वागतशेषेण हीनो हरः खषष्टयङ्कार्कमितो विकलाशेषं भवति। तस्मिन्विकलाशेषे। ववहाधिके दृढकुदिनेभ्योऽधिके न्यूने सति। स उद्दिष्टो ग्रहः खिलो दुष्टः। द्युचरचक्रहतो दिनसंचय इत्यादिनाऽहर्गणादसिद्ध इति यावत्। ज्ञेयः। तस्मादुद्दिष्टाद्वक्ष्यमाणाहर्गणानयनप्रकारस्तदानीताहर्गणो वा न संगच्छत इति तात्पर्यार्थः।

अखिले उद्दिष्टग्रहेऽहर्गणोत्पन्ने। तुकाराद्विकलाशेषे दृढकल्पकुदिनेभ्यो न्यूने इत्यनेन ज्ञाते सतीत्यर्थः। विकलाशेषात्पूर्वज्ञातात्। द्युपिण्डः।

कल्प्याऽथ शुद्धिर्विकलावशेषं षष्टिञ्च भाज्यः कुदिनानि हारः।
तज्याफलं स्याद्विकला गुणस्तु तत्प्राग्रमस्माच्च कलाळवाग्रम्॥

एवं तदूर्ध्वं चेति कुट्टकाध्यायोक्तप्रकारेणाहर्गणो भगणादिग्रहपूर्वकः स्यात्। यथा हि षष्टिभाज्यो दृढकुदिनानि। विकलाशेषमृणक्षेप इति कुट्टके गुणलब्धी कलाशेषविकले। एवं कलाशेषर्णक्षेपे लब्धी भागशेषकले।

अथ त्रिंशद्भाज्यं भागशेषमृणक्षेपं च प्रकल्प्य गुणलब्धी राशिशेषभागौ। एवं द्वादश भाज्यं राशिशेषेणक्षेपं प्रकल्प्य गुणलब्धी भगणशेषराशी। एवं दृढभगणो भाज्यः। भगणशेषमृणक्षेपः। दृढकुदिनानि हार इति कुट्टके गुणलब्धी अहर्गणगतभगणौ। अत्र वारासंवादे दृढकुदिनान्यहर्गणे क्षेपः। दृढभगणागतभगणे पूर्वकुट्टकचतुष्टयेनापवर्तिते तु गुणलब्ध्योः क्षेपादानं राश्यादीनां नियतत्वादपवर्ते तु यत्राग्रे खिलत्वसंभवस्तत्परिहारार्थं क्षेपदानं कुर्यादिति ध्येयम्।

नन्वेवं भगणशेषज्ञाने पूर्वंभगणशेषं व्यर्थमुक्तमत आह—वेति। विकलाशेषाद्ग्रहज्ञानद्वाराऽहर्गणज्ञानेऽप्युद्दिष्टग्रहज्ञानादत्र ग्रहानयनं गौरवम्। लाघवाद्गतभगणाहर्गणयोर्ज्ञानार्थं विकलाशेषं भगणशेषमानीतं पूर्वं तस्माद्भगणाहर्गणयोर्ज्ञानमुक्तदिशेति पूर्वमुक्तं भगणशेषमव्यर्थमिति भावः।

अत्रोपपत्तिः। भगणशेषं द्वादशगुणं कुदिनभक्तं फलं राशयः। शेषं त्रिंशद्गुणं हरभक्तं फलं भागाः। शेषं षष्टिगुणं हरभक्तं फलं कलाः। पुनस्तद्वत्फलं विकला इत्यत्र राश्यादिविकलासमूहात्मकैकफलार्थं भगणशेषं द्वादशराशिविकलाभिः खाभ्रषष्टयङ्कार्कैः १२९६००० गुणितं कुदिनभक्तं फलं विकलात्मको ग्रहो भवति।

शेषं विकलाशेषम्। अत्र विलोमेन हरगुणितफले शेषयुते भाज्यः स्यादिति विकलाः कुदिनगुणविकलाशेषयुता द्वादशराशिविकला भगणशेषघातरूपो भाज्यो भवति।

स चक्रविकलाभक्तः फलं भगणशेषं स्यादेव। अतो विकलाशेषज्ञानं राश्यादिग्रहादुक्तरीत्या भगणशेषज्ञानम्। तत्र विकलाशेषज्ञानाभावाद्विकलासमूहः। कुदिनगुणश्चक्रविकलाभक्तः फलं भगणशेषं किंचिन्न्यूनं भवति।

तत्त्वे तच्छेषविकलाशेषयोर्योगे चक्रविकलाभक्ते फलं विकलाशेषयोजनेन चक्रविकलाभिर्निःशेषभजनात्तत्र विकलाशेषस्यानियमेऽपि च विकलातधिके विकलाशेषे ज्ञाते सति

शेषस्य विकलाशेषयोगेन चक्रविकला भवन्तीति चक्रविकलाभागे फलं रूपम् । अतः प्राक्सिद्धं भगणशेषं रूपोनमस्त्यतो रूपयुतं सम्पूर्णभगणशेषं स्यात्संपूर्णभगणशेषरूपयोजनेन ज्ञाते सति चक्रविकलाभागावशिष्टस्य भगणशेषे प्रयोजनाभावात्त्यागः । तत्रावशिष्टोनहर एव विकलाशेषम् । कथमन्यथा शेषयोर्योगे चक्रविकलाभक्ते रूपं फलं संभवेत् । एवं चक्रविकलाभक्तावशिष्टोनहरस्यैकाद्विगुणितहरयोजनेन विकलाशेषमस्तीति साधारणज्ञानेऽपि विशेषतो हरगुणस्य ज्ञानादन्यत्र भगणशेषावगमो दुर्गमः । अन्यथा चक्रविकलाभागफलस्य सैकेन हरगुणकेन योजितस्य भगणशेषत्वात्तदवगमापत्तेः ।

अथ चक्रविकलाधिकविकलाशेष उक्तरीत्या भगणशेषज्ञानाभावात्संदिग्धोऽयं प्रकारः । इत्यनेन भगणशेषज्ञानमयुक्तमतो द्युचरचक्रहतो दिनसंचयः क्वहृतो भगणादिफलं ग्रहः । इत्यनेनाहर्गणात्पठितकल्पकुदिनभगणाभ्यां यथा ग्रहस्तथैवापवर्तितभगणकुदिनाभ्यामित्यपवर्तनेन कुदिनानि चक्रविकलानधिकान्यपि भवन्तीति विकलाशेषस्य ततोऽवश्यं न्यूनत्वेन चक्रविकलाभ्यः सुतरां न्यूनत्वसंभवादुक्तप्रतियोगिवैशिष्ट्यभानसंभवादुपकल्पितप्रकारः संगतः । अत एव राश्यादेर्विकला दृढकुदिनगुणा इत्याद्युक्तम् ।

अथ दृढकुदिनानि चक्रविकलाभ्योऽधिकानि तदानयनं संदिग्धमेवेति भौमादीनामेतदानयनं दृढकुदिनानां ताभ्योऽत्यन्तमधिकत्वान्न संभवति परं तेषामपवर्ताङ्कस्तथा सावयवोऽपि कल्प्यो येनापवर्तितकुदिनानि ताभ्योऽनधिकानि भवन्तीति ध्येयम् ।

यदा तु दृढकुदिनानि ताभ्यो न्यूनानि तदा विकलाशेषस्य ततो न्यूनत्वेऽपि शेषोनहरस्य कदाचित्तदधिकत्वसंभवात्कथमिदं विकलाशेषज्ञानमुक्तामत्यतोऽहर्गणानीतग्रहात्तादृशं विकलाशेषमुक्तप्रकारेण नाऽऽयात्येव । विकलाशेषोनचक्रविकलिका तुल्यस्यैव चक्रविकलिकाभागावशिष्टत्वात् ।

कल्पितग्रहात्तु शेषस्यात्तत्वात्स्वहाधिकविकलाशेषसंभवादिति तादृशमुदाहरणं खिलमेव । ग्रहस्याहर्गणोत्पन्नत्वाभावात् । तत्प्रतीतिस्तु भगणशेषाद्राश्यादिग्रहानयनेनोद्दिष्टग्रहासिद्धया । अखिले ज्ञाते तु विकलाशेषात । कल्पाऽथ शुद्धिर्विकलावशेषमित्यादिना ग्रहाहर्गणयोर्ज्ञानं भवत्येव तदुक्तं तस्मिन्स्वहाधिके इत्यादि ।

कल्पाऽथ शुद्धिरित्यादावुपपत्तिस्तु कलाशेषं षष्टिगुणं कुदिनभक्तं फलं विकलाः । शेषं विकलाशेषमित्यत्र कलाशेषं षष्टिगुणं विकलाशेषोनं कुदिनभक्तं निःशेषं स्यादिति षष्टिः केन गुणिता विकलाशेषोना कुदिनभक्ता निरग्रा स्यादिति कुट्टकेन गुणलब्धी कलाशेषविकले ।

एवं कलाशेषानुक्तरीत्या कुट्टकेन गुणाप्ती भागशेषकले । राशिशेषं त्रिंशद्गुणं कुदिनभक्तं फलं भागाः शेषंभागशेषम् । अत उक्तरीत्या त्रिंशकेन गुणा भागशेषोनाः कुदिननिःशेषाः स्युरिति कुट्टकेन गुणाप्ती राशिशेषभागौ भगणशेषं द्वादशगुणं कुदिनभक्तं फलं राशयः ।

शेषं राशिशेषम् । अत उक्तरीत्या द्वादशकेन गुणा राशिशेषोनाः कुदिनभक्ता निरग्राः स्युरिति कुट्टकेन गुणाप्ती भगणशेषराशी । ततोऽहर्गणो भगणगुणितः कुदिनभक्त. फलं गतभगणाः । शेषं भगणशेषम् । अतो ग्रहभगणाः केन गुणा भगणशेषोनाः कुदिनभक्ता निरग्राः स्युरिति कुट्टकेन गुणलब्धी दिनगणगतभगणाविति पितृव्यचरणोक्ता ।

अत्रान्तिमकुट्टकेऽपवर्तनस्याऽऽवश्यकत्वेनापर्तनाद्दृढभगणा येन गुणाश्चक्राग्रोना दृढववहैः शुद्धाः स द्युगण इति वक्ष्यमाणमुपपन्नम् । वारासंवादे इष्टाहतेत्यादिरीत्या गुणेऽहर्गणे दृढकुदिनानि योज्यानि पुनः पुनर्यावदभिमतवारसंवादः ।

गतभगणे दृढभगणा योज्या इति भगणप्रयोजनाभावान्नोक्तमतो दृढकुदिनयुतस्ताव-द्यावदभीप्सितो वार इति वक्ष्यमाणमुपयन्नम् ।

यथोदाहरणं चन्द्रः । ११ । २२ । ५८ । ३९ । अस्य विकलाः १२७०७१९ । कल्पोक्तचन्द्रभगणाः ५७७५३३००००० । रविसावनदिनानि १५७७९१६४५०००० ।

अनयोरयुताहतपञ्चनृपैः १६५०००० अपवर्तनाज्जाताश्चन्द्रदृढभगणाः ३५००२ । दृढकुदिनानि ९५६३१३ । दृढकुदिनगुणा विकलाः १२१५२०५०९९०४७ चक्रविकला-भिर्भक्ताः शेषं ३३१०४७ सैकं फलं भगणशेषं ९३७६५९ शेषोनाश्चक्रविकलाः ९६४९५३ एता दृढकुदिनेभ्योऽधिका इत्यृणपक्षेप्रत्वासंभवादेभ्यः कल्प्याऽथ शुद्धिरित्यादिना ग्रहसावनासंभवोऽतः प्रश्नश्लोके दशेत्यत्र भवेति गस्त्रीत्यत्र गोब्त्रौदि खेत्यत्र क्वचित् चपाठेष्वखिलोदाहरणमिदम् ।

आचार्यैस्तु परव्यामोहनाय कृतम् । खिलोदाहरणं प्रमादादखिलत्वेनोदाहृतम् । नतु खिलत्वेन । अन्यथाऽग्रे राशयः खं लवा इत्याद्युक्तखिलोदाहरणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । उभयोः खिलत्वाङ्गीकारे त्वखिलोदाहरणानुक्तिसिध्यापत्तेः । तदनुक्तौ कारणाभावाच्चेति ध्येयम् ।

तथा चोदाहरणे ग्रहः । ११ । २२ । ५८ । ४० । अस्य विकलाः १२७०७२० । दृढकुदिनैर्विश्वत्र्यङ्गशराङ्कैः ९५६३१३ गुणिताः १२५५२०६०५५३६० चक्रविकलिका-भक्ताः फलम् ९३७६५ । सैकं भगणशेषं ९३७६५९ भागेऽवशिष्टं १२८७३६० अनेनो-नाश्चक्रविकला विकलाशेषं ८६४० ।

अस्य दृढकुदिनाल्पत्वादखिलोदाहरणमतः कल्प्याऽथ शुद्धिरित्यादिना विकलानयनार्थं न्यासः भा ६० क्षे ८६४० ह १५६३१३ एते त्रिभिरपवर्तिताः भा २० क्ष २८८० ह ३ ८७७१ । अत्र गुणाप्ती १४४ । ० इष्टाहतेत्यादिना द्विगुणहर ६२ ७५४२ भाज्याभ्यां ४ युते जाते गुणकले ६२७६८६ । ४० ।

अत्र फलविकला गुणकलाशेषम् । अस्मादप्युक्तरीत्या कलाः । ५८ । भागशेषं ९३५०६४ । अस्मादपि त्रिंशाद्भाज्यं प्रकल्प्य गुणाप्ती ९४९२३ । २ । अत्र द्विगुणत-क्षणयोजनेन जाता भागाः २२ । राशिशेषं ७३२४६५ । अथ द्वादशभाज्यं प्रकल्प्य

गुणाप्ती ३००११७। ३ द्विगुणस्वतक्षणाभ्यां युक्ते जाता राशयः ११ भगणशेषं ९३७६५९।

अस्मादप्यहर्गणो धूलीकर्मणा साध्यः। आचार्योक्तपाठेनापि चन्द्रराश्यादिभोगस्याखिलत्वसिद्धिः। तथाहि लिप्तार्धं दशयुग आर्यभट्टसंकेतेन दृशौ ताभ्यां यादितो दस्याष्टसंख्यात्वात् यादितः श[र]स्य पञ्चसंख्यात्वात्चाष्टपञ्चभ्यां युक्तकलार्धं विकलाः स्युः। कलाविकलयोरन्तरं त्रियुक्। प्रथमाक्षरप्राधान्यत्रिषट्संख्या द्वितीयाक्षररेफस्त्विकारवदप्रयोजकः। तत्संख्याया अग्रहात्। आर्यभट्टेन स्वग्रन्थे द्वितीयसंयुक्ताक्षरसंख्याया निरस्तत्वात्। तया युक्तं भागाः स्युः।

यद्वा त्रियुक् त्रयाणां युग्मं षट्संख्येत्यर्थः। अन्तरं चोभे मिलित्वा भागाः। एककाले भागद्वयासंभवात्। भागार्धं राशयः स्युः। तेषां राश्यादिविकलान्तानां युतिः खत्रीन्दवः।

खः पुंल्लिङ्गो कृशे दीने वर्गशून्योदराग्निषु।
कृपणे निश्चये शान्ते रसे विहगनायके॥

इति माधवैकाक्षराभिधानात्। वमग्निस्तत्संख्या त्रयं तेन त्रयस्त्रिदधिकं शतं युतिरिति।

अतो बीजके वर्णप्रकाराहरेण राश्यादिकश्चन्द्रः ११। २२। ५८। ४२। नह्ययं दुष्टः। एतद्विकलानां १२७०७२२ दृढकुदिनगुणितानां १२१५२०७९६७९८६ चक्रविकलातष्टानां ६०९८६, चक्रविकलाभ्यः शुद्धानां शेषस्य ६८८०१४ दृढकुदिनेभ्यो ९५६३१३ अविकृतत्वाभावात्।

अतो भगणशेषादस्मात् ९३७६६५ चक्राग्रमित्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण कृतगुणाष्टाङ्गाहिनाग ८८६८८६८३४ गुणिता ८३१५४९६५५२७४ द्विश्वाग्न्यङ्गशराङ्कैः ९५६३१३ तष्टाच्छेषमहर्गणः ११८१९३ शुक्रवारे त्र्यङ्कक्त्रष्टभवमितः। फलस्य प्रयोजनाभा ८६९५३७ वः। त्रिगुणहर २८६८९३९ योजनात्सोमवारेऽहर्गणः २९८७१३२ अनयोः सप्तगुणहरयोजनपौनःपुन्येनानेकधा शुक्रसोमवारयोरहर्गणो भवतीति सर्वमवदातम् ॥२०॥

अथ वेत्यनेन सूचितं प्रकारं गीतयाऽऽह—दृढभगणा इति।

अत्र पूर्वं दृढकुदिनसंबन्धेन भगणशेषस्योक्तैर्दृढभगणा येन गुणकेन गुणा आगतभगणशेषोना दृढकुदिनभक्ता निरग्राः स्युः। स कुट्टकप्रकारानीतो गुणोऽहर्गणः। वारासंवादे यदवधि योजनेनाभिमतो वारः स्यात्तदवधि दृढकुदिनयुतोऽभीप्सितोऽहर्गणः। स्यात्।

तथा च भगणशेषं ९३७६५९। अस्मात्कुट्टकप्रकारेण गुण ३५७१५१ लब्धी ९४११। दिनगणतद्भगणौ। अत्राहर्गणः शनिवारे षट्शेषत्वात्कुदिनानां सप्ततष्टानां रूपावशेषत्वात्द्विगुणदृढकुदिन १९१२६२६ युतः सोमवारेऽहर्गणः २१६९७७७। षड्गुणयोजने तु

शुक्रवारेऽहर्गणः ५९९५०२९ । अनयोः सप्तगुणदृढकुदिनयोजनाभ्यामनेकधासोमशुक्र-वारेऽहर्गण इति । अत्रोपपत्तिः प्रागुक्ता ॥१७–२१॥

केदारदत्तः—शेष रहित चक्रभगण से अहर्गण साधन—

किसी चन्द्रवार को चन्द्रमा के, $\frac{\text{कला}}{२}$ ±१० = त्रिकला । कला विकला का त्रिगुणित अन्तर = अंश होते हैं ।

$\frac{\text{अंश}}{२}$ = राशियाँ होती हैं । सबका योग = ३० दृष्ट है । हे विद्वन् यदि आप व्यक्त और अव्यक्त युक्त गणित को जानते तो बताइये शुक्र के दिन में इसी प्रकार की राशियाँ कब होगी ?

राश्यादिक की विकलाओं को अपवर्तित कुदिन से गुणा कर भगण विकलाओं से भाग देकर, शेषव्यक्त लब्धि में १ जोड़ देने से भगग शेष हो जाता है ।

शेष को भाजक में कम करने से विकला शेष हो जाते हैं । यदि विकलाशेष कल्प-कुदिन से अधिक हो तो ऐसे प्रश्न का ग्रह गलत समझना चाहिए ।

शुद्ध प्रश्न में विकलाशेष से अहर्गण या अपवर्तित भगणों को जिससे गुणा करते हैं उसमें भगणशेष कम करने पर उसे अपवर्तित कुदिन में कम करने से वह अहर्गण हो जाता है । अहर्गण में अपवर्तित कल्प कुदिन तब तक जोड़ते जाइये जब तक अभीष्ट वार की उपलब्धि न हो जाय ।

उदाहरण से—चन्द्रमा का भगण शेष में १६५०००० में भाग देने पर लब्ध फल यदि अपवर्तित कुदिन में नहीं घटता है तो प्रश्न अशुद्ध समझा जाना चाहिए ।

भगणशेष को ८८६८३४ से गुणा कर ९४६३१३ से भाग देने पर शेष तुल्य अहर्गण होता है । अहर्गण में दृढ़ भाज्य तक जोड़िये जब तक अभीष्ट वार न प्राप्त हो ।

उपपत्ति—भगणशेष को चक्र की विकला से गुणित करने और कल्प कुदिन से भाग देने पर विकलात्मक ग्रह होता है । शेष=विकलाशेष होता है ।

तदुपरि विलोम गणित से भगणशेष साधन करना चाहिए । राश्यादि ग्रह की विकला = १२७०७१९, को दृढ़ कुदिन = ९५६३१३ से गुणाकर चक्रकला = १२९६००० से भाग देने पर लब्धि = ९३७६५८ शेष = ३३१०४० यह शेष त्याग और लब्धि में १ जोड़ देने से होता है । इसमें विकलाशेष जोड़ कर चक्रकला से भाग देते पर होता है । यहाँ विकलावशेष अज्ञात है । तो विकलावशेष ज्ञान प्रकार—पूर्व में व्यक्त अवशेष को चक्रकला में कम करने से भी विकला पूर्ति नहीं होने से इन्हें भी पूर्वसाधित में जोड़ दे और भाग देने से तब लब्धि मान १ होने से लब्धि में एक जोड़ा गया है । क्योंकि विकला-शेष को कुदिन संख्या से कम होना ही चाहिए । इस प्रकार के गणित साधन से फल अधिक होता है जो असत् अशुद्ध होता है इसलिये कि उद्दिष्ट ग्रह अशुद्ध है ॥१७–२१॥

अथ खिलोदाहरणम् ।

राशयः खं० लवाः पञ्च ५ कलाः षड्वर्ग ३६ संमिताः ।
विकला गोभवो १९ नेदृङ्मध्येन्दुरुदये क्वचित् ॥२२॥

वा० भा०—चं०, । ५ । ३६ । १९ । अतो राश्यादेर्विकला इत्यादिके कृते शेषं सप्तविंशतिः २७ । शेषोनहरो विकलाशेषमिदम् १२९५९७३ । अस्मिन् दृढववहाधिके ज्ञातः खिलः खेटः । ईदृशश्चन्द्रो मध्यम औदयिको न कदाचिद्भवतीत्यर्थः ॥२२॥

मरीचिः—ननु प्रतिप्रश्नं कुट्टककरणेन महद्गौरवमित्यतः शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—चक्राग्रमिति ।

चन्द्रस्येत्यनेनेतरग्रहाणां भगणशेषादुक्तप्रकारेणाहर्गणानयनं भवतीति सूचितम् । भगणशेषं प्राणाः पञ्च । षष्ट्यधिकशतायुतैः १६५०००० भक्तं वदि न शुध्येन्निःशेषं न भवेत्तर्हि तदुद्दिष्टं खिलम् ।

अखिले तु लब्धं युगरामाष्टरसाष्टनागैर्गुणितं रामचन्द्राग्निरसेषुनन्दैर्भजेत्फलत्यागेनावशिष्टमहर्गणः । वारासंवादे तत्रानीताहर्गणे यदवधीष्टे वारेऽहर्गणः स्यात्तदवधि हरं विश्वाग्न्यङ्गशराङ्कमितं क्षिपेत् । पुनः पुनर्योजयेत् ।

यथा भगणशेषं ९३७६१९ कृतगुणाष्टाङ्गाहिनागा ८८६८३४ हतं ८३१५४७ ८८१६०६ विश्वाग्न्यङ्कशराङ्कैस्तष्टं शेषमहर्गणः शनिवारे १५७१५१ फलस्य ८६९५३५ प्रयोजनाभावः । अभीष्टसोमवारार्थं द्विगुणहरयुतोऽहर्गणः २१६९७७७ । शुक्रवारार्थं चायमेव चतुर्गुणहरयुतोऽहर्गणः ५९९५५९ अनयोः सप्तगुणहरयोजनपौनःपुन्येन तयोरनेकधाऽहर्गणः । वाराणां पुनः पुनः संभवात् । निरग्रचक्रादपीत्यादिनाऽग्राच्चेत्यन्तेन मध्याधिकारे प्रतिज्ञातमेतदुक्तमिति ध्येयम् ।

अत्रोपपत्तिः—प्रतिप्रश्नं कुट्टककरणमहदायासगौरवं दृष्ट्वाऽऽचार्यैः सर्वत्र रीतिप्रदर्शनार्थं चन्द्रस्य दृढभगणदृढकुदिनाभ्यां रूपर्णक्षेपे स्थिरगुणकः साधितः । यथा हि चन्द्रदृढभगणाः ३५००२ । भाज्यो हरः । दृढकुदिनानि ९५६३१३ रूपर्णक्षेपः ।

अत्र वल्ली ० । २७ । ३ । ९ । ५ । ४ । ३ । १ । १ । ० । राशियुगं २५४३ लब्धिगुणौ ३२४५९ ॥ ८८६८ ३४ ॥ अत्र प्रयोजनाभावाल्लब्धिस्त्यक्ता । गुणस्याहर्गणस्याहर्गणत्वादस्मात्स्थिरगुणात्कृतगुणाष्टाङ्गाहिनागामितात्पूर्वोक्तरीत्योक्तं सर्वमुपपन्नम् ।

यद्यपि पूर्वभगणशेषस्य दृढकुदिनेभ्यः साधितत्वेन चन्द्रभगणशेषमपवर्तितमेवास्त्यतः पुनरपवर्तनस्यासंभवादयुक्तत्वाच्च खखाभ्रगगनप्राणर्तुभूभिर्हतं शुध्येच्चेन्न खिलं फलमित्युक्तं व्यर्थं तथाऽप्युक्तभगणकुदिनशेषभगणशेषस्यानपवर्तितस्य ज्ञाने कुट्टकार्थं भगणकुदिनयोर्भाज्यहरयोरवश्यमपवर्तितत्वात्क्षेपो भगणशेषमवश्यमपवर्त्यमन्यथोदाहृते कुट्टकानुपपत्तेः ।

तादृशं भगणशेषं कौटिल्येनान्यथा कल्पितं तस्य दुष्टत्वज्ञानाय शुध्येच्चेन्न

खिलमित्याद्युक्तम् । एवं सुधीभिरन्येषां यथासंभवं स्थिरकुट्टको निबध्य इत्यादि ध्येयम् ॥२२॥

केदारदत्तः—अशुद्ध प्रश्न का उदाहरण—

यदि चन्द्र स्पष्ट = ०।५।३६।१९ है तो राश्यादिक विकल्प आदि करने पर शेष = २७, शेष को हर में कम करने से १५९५९७३, यह अंक दृढ़ कुदिन से अधिक है तस्मात् ऐसा ग्रह नहीं हो सकता अतः यह प्रश्न अशुद्ध है ॥२२॥

एवमनेकधा खिलत्वं कुट्टकविषयमभिधायेदानीं वर्गप्रकृतिविषयमाह—

स्याद्यस्मिन्नधिमासशेषककृतिर्दिघ्नी सरूपा कृति-
र्व्येका शेषकृतिर्हृता च दशभिः स्यान्मूलदा वा यदा ।
काले कल्पगतं तदा वदति यस्तत्पादपद्मं बुधाः
सेवन्ते बहुधा प्रमेयवियति भ्रान्ता भ्रमन्तोऽलिवत् ॥२३॥
उद्दिष्टं कुट्टके तज्ज्ञैर्ज्ञेयं निरपवर्तनम् ।
व्यभिचारः क्वचित् क्वापि खिलत्वापत्तिरन्यथा ॥२४॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् । अस्य वर्गप्रकृत्या भङ्गः । तत्राधिमासशेषप्रमाणं यावत्तावत् १ । अस्य कृतिर्दिग्घ्नी सरूपा जाता । याव १० रू १ । इष्टं ह्रस्वमित्यादिना जाते ह्रस्वज्येष्ठमूले ६ । १९ । वा २२८ । ७२१ । अत्र ह्रस्वं यावत्तावन्मानं तदेवाधिमासशेषम् ६ । वा २२८ । अथ द्वितीयोदाहरणेऽधिमासशेषप्रमाणं यावत्तावत् १ । अस्य कृतिर्व्येका दशहृता च जाता याव १।१० रू १ । अस्य मूलप्रमाणं कालकः १ । अतः कालकवर्गसमीकरणे शोधने च कृते जातं प्रथमपक्षमूलम् । या १ । परपक्षस्यास्य काव १० रू १ । वर्गप्रकृत्या मूले जाते ते एव ६ । १९ । वा २२८ । ७२१ । अत्र कनिष्ठं कालकमानं ज्येष्ठं यावत्तावन्मानं तदेवाधिमासशेषम् । १९ वा ७२१ । अतः कल्पगतानयनं कुट्टकेन । तत्राधिमासा भाज्यः । रविदिनानि हारः । अधिमासशेषं षट्कमितमृणक्षेपः । ननु कथमयं क्षेपः । अत्र भाज्यभाजकयोर्लक्षत्रयेणापवर्तनं तत्तु नास्य क्षेपस्येति खिलत्वापत्तिः । सत्यम् । अत उक्तमुद्दिष्टः कुट्टके तज्ज्ञैरित्यादि । अतो लक्षत्रयेणापवर्तने कृतेऽधिमासशेषं षड्दृष्टम् । अतः कुट्टकेन ज्ञातं कल्पगतं चतुर्भिरूनानि त्रयोविंशतिशतवर्षाणि २२९६ । तथा षण्मासाः ६ । षट् तिथयश्च ६ ॥२३–२४॥

मरीचि :—अथ शेषोनहरो विकलाशेषं तस्मिन्क्वहाधिके ज्ञेयः । स खिलः खेट इत्यस्यो दाहरणमनुष्टुभाऽऽह—राशय इति ।

लवा इत्यादौ बहुवचनान्तत्वात्तत्पङ्क्त्यां राशय इति बहुवचनम् । आकाशस्यैकत्वात्खमित्येकवचनम् । राशिः शून्यम् । पञ्च भागाः कलाः । षण्णां वर्गः षट्त्रिंशत् ।

वर्गस्थाने वह्नीति पाठे स्पष्टम् । तत्परिमिताः । एकोनविंशतिर्विकलाः । मध्येन्दुरहर्गणोत्पन्नश्चन्द्रः । ईदृक् उक्तमितः । ० । ५ । ३६ । २९ । क्वचित्कस्मिन्नपि दिवसे न स्यात् ।

नन्विष्टकाले सावयवाहर्गणात्तत्सिद्धिः स्यादेव । अन्यथा मध्यभमानेन भगणभोगानुपपत्तेरित्यत आह—उदये इति । साधिताहर्गणसंबन्धिकाले इत्यर्थः । निरवयवाहर्गणादेतादृशश्चन्द्रो नाऽऽयात्येवेति फलितार्थः । यथा ग्रहः । ० । ५ । ३६ । १९ । अस्य विकलाः २०१७९ । दृढकुदिन ९५६३१ गुणाः १९२९७४४००२७ । चक्रविकलाभक्ताः फलं १४८९० । फलं सैकं भगणशेषं १४८९१ । शेषं २७ चक्रविकलाभ्य ऊनं विकलाशेषं १२९५९७३ ।

अस्य दृढकुदिनाधिकत्वादुद्दिष्टग्रहोऽहर्गणादसिद्ध इति मध्योदयासन्नरूपोदयकालेऽहर्गणसंबन्धे कदाचिदपि न स्यात् । प्रतीतिस्तु भगणशेषं १४८९१ । द्वादशगुणं १७८६९२ दृढकुदिनैर्भक्तं शून्यं राशयः । शेषं त्रिशद्गुणं ५३६०७६० । भूदिनभक्तं भागाः ५ । शेषं ५७९१९५ । षष्टिगुणं ३४७५१७०० । हरभक्तं कलाः ३६ । शेषं ३२४४३२ । षष्टिगुणं १९४६५९२० । हरभक्तं विकलाः २० । विकलाशेषं चे ३३९६६० ति ग्रह उद्दिष्टतुल्यो न सिद्धः । एकविकलान्तरत्वात् । अत एवोद्दिष्टग्रह एकविकलायुक्तोऽङ्गीक्रियते तर्हि खिलत्वम् ।

खिलकल्पनं तु दृढकुदिनाधिकमङ्कचक्रविकलाभ्यः पात्य शेषमृणक्षेपं कु दृढकुदिनानि भाज्यं चक्रविकलाहारं प्रकल्प्य यो गुणस्ता विकलाः फलं भगणशेषं निरेकम् । विकलाभ्यो राश्यादिग्रहज्ञानं सुलभम् ।

यथाऽत्र दृढकुदिनाधिकं १२९५९७३ चक्रविकलाभ्यः १२९६००० शुद्ध २७ मृणक्षेपं प्रकल्प्य कुट्टकार्थं न्यासः । भाज्यः । ९५६३१३ । क्षे २७ । हरः १२९६००० अत्र सप्तविंशत्यपवर्तितः भा ३५४१९ क्षे १ ह ४८००० अत्र फलं १४८९० गुणाविति २०२७९ ॥२३॥

अथ वर्गप्रकृत्युत्तरसंबन्धिप्रश्नं सोदाहरणं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—स्याद्यस्मिन्नधिमासेति ।

यस्मिन्नज्ञातकल्पगतसमये । अधिमासशेषककृतिः । अहर्गणानयनेऽधिमासेषु लब्धेषु यद्भाज्यशेषं तस्य समद्विघातरूपाकृतिर्दशभिर्गुण्या । एकयुक्ता कृतिः कस्यचित्समद्विघातरूपो वर्गः स्यात् । मूलदेति यावत् ।

उदाहरणान्तरमुक्तवैपरीत्येनाऽऽह—व्येकेति । यदा अज्ञातकल्पगतकाले प्रागुक्ताधिशेषस्य वर्गो निरेको दशभिर्भक्तो मूलदः । वा पक्षान्तरे । चः समुच्चये । तेनोदाहरणद्वये तदा स्वस्वकाले यो गणकः कल्पगतं कल्पगतसंबन्धिसौराहर्गणमित्यर्थः । वदति । युक्त्याऽऽनयतीत्यर्थः ।

तस्य गणकस्य चरणकमलं बुधाः, एतदुत्तरकल्पनासमर्थकल्पका बहवः । अनेकप्रकारेण वा । प्रमेयवियति । तदुत्तरविचारणरूपाकाशे भ्रान्ताः । तदुत्तरमामर्जिततया भ्रान्ताः सन्तोऽलिवत्भ्रमरा इवेत्यर्थः । सेवन्ते । उपासनया तदुत्तरं समास्वादयन्तीत्यर्थः ।

एतेनास्य प्रश्नस्योत्तरसूत्रं न कृतम् । वर्गप्रकृतिविषयत्वेनोत्तरस्य स्वतो ज्ञेयत्वसंभवादिति सूचितम् ।

तथाहि—इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णो युक्तो वर्जितो वा स येन । मूलं दद्यात्क्षेपकं तं धनर्णं मूलं तत्र ज्येष्ठमूलं वदन्तीति वर्गप्रकृतिमूलसूत्रेण प्रथमोदाहरणे इष्टं ह्रस्वं षडेवाधिशेषं ६ । एतद्वर्गाद्दशगुणा ३६० त्सैका ३६१ देकोनविंशतिपदस्य लाभात् । अत्र कनिष्ठज्येष्ठरूपक्षेपे ६ । १९ । वज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यमित्यादिना तुल्यसमासभावनया कनिष्ठज्येष्ठे २२८ । ७२१ । अतुल्यसमासभावनया पदे ८६५८ । २७३७९ । तुल्यान्तरभावनया ० । १ । अतुल्यान्तरभावनया पूर्वागते एव पदे । इतीष्टवशादनेकधा ह्रस्वं कालानियमादधिमासशेषम् । अधिशेषवर्गस्य प्रकृतिगुणनोक्तेः । परन्तु भावनोत्थपदे पूर्वपदसंबन्धिकालयोगान्तरतुल्यकाले यथायोग्यमिति ध्येयम् ।

द्वितीयोदाहरणे तूत्तरमनेकवर्णमध्यमाहरणबीजेन । यथा—अधिमासशेषप्रमाणं यावत्तावत् । या १ । अस्य कृतिर्व्येका दशभक्ता या० व० १ रु १ १० अस्या मूलालाभात्तत्प्रमाणं कालकः । का १ इत्ययं वर्गः कालकवर्गसम इति पक्षयोः समच्छेदीकृत्यच्छेदगमे समशोधने च कृतेऽथ समयोर्मूलग्रहणेऽपि समत्वाहानेः प्रथमपक्षमूलं या १ । द्वितीयपक्षस्य कालकवर्गदशकस्य सरूपस्य मूलं वर्गप्रकृत्या कालकवर्गदशके कालकवर्गस्य दशगुणितत्वेन पर्यवसानात् । अतो यस्य वर्गो दशगुणः सरूपो वर्गः स्यात्स एवेष्टं ह्रस्वं कालकमानम् । सिद्धवर्गस्य मूलं ज्येष्ठं द्वितीयपक्षपदं समत्वात्पूर्वपक्षदेन । या १ । सम् । अतः समशोधनादाप्तं यावत्तावन्मानं तदेवाधिशेषमिति ज्येष्ठमधिशेषे पदे पूर्वागते एव ।

एवमत्र वर्गप्रकृत्याऽधिशेषज्ञानेऽधिशेषर्णक्षेपेऽधिमाससौरदिनाभ्यां भाज्यहराभ्यां कुट्टकविधिनाऽवगतगुणकस्य सौराहर्गणत्वेन सिद्धिः । इष्टसौरदिवसा अधिमासगुणाः सौरदिनभक्ताः फलं गताधिमासाः । शेषमधिशेषं तेन हीने भाज्ये हरभक्ते निःशेषावश्यंभावादधिमासाः केनगुणा अधिशेषोनाः सौरदिनभक्ता निःशेषाः स्युरिति कुट्टकप्रश्ने पर्यवसानादित्यादिसुगमतरमुत्तरप्रायं च ॥२४॥

नन्वत्र भाज्योऽधिमासाः १५९३३००००० सौरदिवसा १५५५२०००००००० हारः । अधिमासशेषं वर्गप्रकृतिप्रकारज्ञानमृणक्षेप इत्यत्र भाज्यहरयोरपवर्तनसंभवे रूपशेषार्थमपवर्तनावश्यकत्वाल्लक्षत्रयेणापवर्तनाज्जातो दृढभाज्यहरावेतौ ५३११५१८४००० भाज्यहरयोरपवर्तनात्क्षेपोऽप्यपवर्त्य इति षडादिकनिष्ठरूपक्षेपाणामपवर्तासंभवेन । येन च्छिन्नौ भाज्यहारौ न तेन क्षेपश्चैतद्दुष्टमुद्दिष्टमेवेत्युक्तेः कुट्टकप्रकारो न भवत्येवेत्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—उद्दिष्टमिति ।

क्वचित्कुट्टके । कुत्रचित्कुट्टकान्तरेऽपवर्तनयोग्ये । उद्दिष्टमधिमासशेषाद्विक्षेपरूपम् । तज्ज्ञैः । कुट्टकतत्त्वज्ञैः । निरपवर्तनं भाज्यहरयोरपवर्तेऽपि क्षेपापवर्तनं न ज्ञेयमित्यर्थः । तथाच कुट्टकस्तत्र भवत्येति भावः ।

यथा दृढभाज्यभाजकौ ऋणक्षेपः षट् । अत्र वल्ली ०९७६११२७६० राशियुगमं ४४६४९४३५७२५४ इदमृणक्षेपत्वात्स्वतक्षणशुद्ध फलं ८४८ । गुणो ८२६७४६ मताधिमाससौराहर्गणौ । सौराहर्गणस्त्रिंशद्भक्तः सौरमासाः २७५५८ । शेषं षट् दिनानि । मासा द्वादशभक्ताः फलं वर्षाणि २२९६ चतुरूनत्रयोविंशतिशतं मासाः षट् । एवमुद्दिष्टाधिशेषात्कल्पगतं कुट्टकेनान्यत्रापि ज्ञेयम् ।

अत्रानिष्टापादनरूपहेतुमाह—व्यभिचार इति । अन्यथा निरपवर्तनानङ्गीकारे । क्षेपापवर्तनाभ्युपगम इत्यर्थः । क्वचित्कुट्टकान्तरे क्षेपापवर्तनसंभवे । व्यभिचारः । अनिष्टो गुणः सिध्येत् । यथोक्तप्रकृतिरीत्या अधिशेषकृतिरष्टगुणा खर्वयुता मूलप्रदेति वर्गप्रकृतिरीत्याऽधिशेषं षड्लक्षमुदाहृतम् । एतत्संबन्धी सौराहर्गणोऽयं ८२६७४६००००० ज्ञातोऽस्ति ।

अथ कुट्टके क्षेपस्य ६००००० लक्षत्रयेणापवर्ते कृते गुणः सौराहर्गणः १६८ ०००२७५'८२ न त्वभिमतः । अनपवर्तिते क्षेपे तु गुणोऽभिमतः । सौराहर्गणः पूर्वोऽपी ८२६७४६००००० ष्टाहतेत्यादिनाऽस्मात् १६८००० सिध्यति ६ कुट्टकप्रकारेण ३७६१५८२ ।

ननु न व्यभिचारः । उद्दिष्टाधिशेषेऽभिमतसौराहर्गणसंबन्धाभावादपवर्तिताधिशेषगुणसंबन्धेन सिद्धाहर्गणस्य संबन्धाच्च । प्रतीतिस्तु सौराहर्गणादधिशेषानयनेन स्पष्टा । अन्यथा भाज्यो हरः क्षेपकश्चापवर्त्य इत्यत्र क्षेपकश्चेत्यस्यानुक्तत्वापत्तेरित्यत आह—क्वापीति । क्षेपापवर्तनासंभवे इत्यर्थः । खिलत्वापत्तिः । कुट्टका[प]लापसिद्धया वस्तुतस्त्वखिलेऽपि येनेत्युक्त्या खिलत्वं स्यात् । यथा प्रकृते षडादिकनिष्ठाधिशेषे सौराहर्गणावश्यंभावात्क्षेपापवर्तनाभ्युपगमे तदसंभवे खिलत्वोक्त्या सौराहर्गणज्ञानासंभवः ।

अत्र युक्तिः—अधिमासानयनार्थं लाघवादपवर्तिताधिमाससौरदिनाभ्यां ज्ञातमधिशेषं तस्माद्वर्गप्रकृत्युदाहरणनिबन्धनं वर्गप्रकृत्याऽधिशेषं तदेव सिध्येन्न केवलाधिमाससौरदिनाभ्यां सिद्धमधिशेषं सिध्येदत आचार्यकल्पितवर्गप्रकृत्युदाहरणे वर्गप्रकृत्या ज्ञातमधिशेषमपवर्तितयैव सिद्धमिति पुनरपवर्तनाप्रसङ्गः । अस्यावर्तितभाज्यहरपङ्क्तिस्थत्वेनानपवर्तितभाज्यहरपङ्क्तिस्थत्वाद् ।

न च निरपवर्तनकथनानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अनपवर्तितभाज्यहरपङ्क्तिस्थत्वाङ्गीकारेणास्यापवर्तनाभावेऽप्यपवर्तनप्राप्ते । अत एव पुनरपवर्तनासंभवे खिलत्वमपि न । नह्यपवर्तितभाज्यहरयोरपवर्तः पुनः संभवति ॥ येनास्याधिशेषस्यापवर्तनासंभवात्खिलत्वं

द्युक्तम् । पुनरपवर्तने कृते चापवर्तितभाज्यहरपङ्क्तावपवर्तितक्षेपसद्भावादुद्दिष्टासिद्धिः । केवलापवर्तितक्षेपस्याभावादिति ॥

यत्र तु यथागताधिशेषमुद्दिष्टं वर्गप्रकृत्यादिना तत्र तदपवर्तनीयमेवान्यथोद्दिष्टासिद्धिः खिलत्वापत्तिर्वा । न चात्र कल्पसौरदिनेभ्यः शेषस्य न्यूनत्वनिश्चयात्तस्यानियतत्वाच्च यत्र भाज्यहरावर्तनाङ्केन नापवर्तः स्यात्तत्र लिखत्वनिरासः सर्वथाऽप्यशक्य इति वाच्यम् । अनपवर्तितशेषस्यैकादिगुणितापवर्ताङ्कतुल्यत्वनिश्चयादपवर्तनावश्यंभावात् । यत्रापवर्तनासंभवस्तत्र तच्छेषं कदाऽपि न स्यादिति खिलत्वनिश्चयाच्च । तस्माद्यत्र शेषं वर्गप्रकृत्यादिना ज्ञातं भाज्यहरापवर्तनाङ्केन नापवर्तेत तर्ह्यपवर्तितमेवोद्दिष्टम् । एकोपचयेन शेषसद्भावात् । यत्र शेषमपवर्तितं तेन स्यात्तदधिशेषमनपवर्तितमेवोद्दिष्टम् । अत उद्दिष्टकुट्टके इत्याद्युक्तम् । स्वाभिमतशेषस्यापवर्तितत्वज्ञानार्थमिति दिक् ।

केचित्तु क्षेपाभावे भाज्यहरयोरपवर्तनसंभवेऽपवर्तनं न कार्यम् । अन्यथोदाहरणासिद्ध्या खिलत्वापत्तिः । तत्स्थलं तु बीजानेककरण(वर्ग)समाप्तिभूतोदाहरणम् । षडष्टशतकाः क्रीत्वा समार्धेण दलानि ये । विक्रीय च पुनः शेषमेकैकं पञ्चभिः पणैः ॥ जाताः समपणास्तेषां कः क्रयो विक्रयश्च कः । इति । तद्यथा सर्वगुणाधिक इष्टविक्रयो दशाधिकशततुल्यः कल्पितः । क्रयप्रमाणमव्यक्तं प्रकल्प्य बीजे यावत्तावदुन्मितिरन्त्यरङ्काः । ५४९ या ३० अन्त्योन्मितौ कुट्टविधेर्गुणाप्ती ते भाज्येत्यत्र क्षेपाभावात्क्षेपाभावोऽथवेत्यादिना शून्यं गुणो लब्धिश्च ।

अत्रेष्टाहतेत्यादिना स्वतक्षणयुक्ते गुणलब्धी ३०। ५४९ कालकयावत्तावन्माने । १० भाज्यभाजकयोस्त्रिभिरपवर्ते गुण १० लब्धी ८३ प्रथमलब्ध्योदाहरणसिद्धिर्द्वितीयलब्ध्योदाहरणासिद्धिश्चेति क्षेपाभावेऽपवर्तनं न कार्यमित्यर्थकमुद्दिष्टं कुट्टके तज्ज्ञैरित्यादि सूत्रम् ।

न च भाज्यहारे क्षेपसद्भावं मिथो भजेताविति सूत्रविषयं परिहृत्य क्षेपाभावोऽथवेत्यादि सूत्रं प्रवृत्तमित्यपवर्तनाप्राप्तेरपवर्तननिषेधस्त्वयुक्तः । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् । अपवर्तनस्य मिथो भजेत्ताविति सूत्राङ्गत्वात् । अत एव भाज्यो हारः क्षेपकश्चापवर्त्यं इत्युक्तम् । अतः फलितमुद्दिष्टं कुट्टक इति सूत्रवैयर्थ्यमिति वाच्यम् ।

योगजे तक्षणाच्छुद्धे गुणाप्ती स्तो वियोगजे इति सूत्रेणैव धनभाज्यो भवेत्तदुद्भवेतामृणभाज्यजे इत्यर्थसिद्धेस्तदुपादानं मन्दावबोधार्थमेवोद्दिष्टं कुट्टके इति सूत्रमन्दावबोधकत्वादित्याहुस्तन्न ।

तदुदाहरणप्रसङ्गे तत्रैवैतत्सूत्रस्य कथनापत्तेः । अत्र तादृशस्थलाप्रसङ्गात् । तत्रापि शेषमेकैकमित्यादिना यथास्थितशेषोपयोगादनपवर्तनम् । अपवर्ते शेषाणामप्यवर्तितत्वात् । न तु क्षेपाभावेऽपवर्तनसंभवेऽपवर्तनाभावः । अपवर्तेऽपि शून्यक्षेपात्पूर्वगुणासिद्धिः ।

अतएवाधिमासान्तेऽधिशेषाभावात्तत्संबन्धिन इष्टसौरा अनेकाः सन्ति नहि तेषामन-

पवर्ते सिद्धिः । अपवर्ते तु दृढसौरा एकैकादिगुणितास्ते इत्यपवर्तनं क्षेपाभावेऽप्यावश्यकम् । वर्गप्रकृतिज्ञाताविशेषस्य क्षेपरूपस्यानपवर्तेन खिलत्वावगमात्कुट्टकाप्रवृत्त्या कल्पगतज्ञानानुत्पत्तेरिति निरपवर्तनकथनमावश्यकम् ।

नचैवं भवत्पितृव्यचरणैर्बीजटीकायां तदुदाहरणविवरणान्ते स्वोक्तार्थे उद्दिष्टं कुट्टके इत्यादिपक्षसंमतिः कथमुक्ता विषयैक्याभावादिति वाच्यम् ।

यथा तत्र क्षेपस्य निरपवर्तनमुक्तं तथा अत्र भाज्यहरयोर्निरपवर्तनमिति निरपवर्तनत्वेन संमत्युक्तेरित्यलं दोषगवेषणया ॥ २३–२४॥

केदारदत्तः—वर्गप्रकृतिविषयक प्रश्न—

अधिक मास शेष वर्ग को १० से गुणा करने पर उसमें १ जोड़ देने से संख्या वर्गात्मक हो जाती है । तथा एक कम करने पर शेष के वर्ग को १० से गुणा करने पर वह संख्या मूलप्रद (अर्थात् वर्गात्मक) हो जाती है तो ऐसी स्थिति में जो कल्पगत वर्ष प्रमाण बताता है उसके चरण कमलों की विद्वान् लोग सदा सेवा (संस्तुति) करते हैं ।

प्रमाण प्रमेय के आकाश में भ्रमर की तरह भ्रमण करने वालों से उद्दिष्ट निरवयव, अपवर्तन रहित उद्दिष्ट कुट्टक जिन्होंने कहा है उनके गणित में कहीं व्यभिचार है नहीं पर अशुद्धि जन्य आपत्ति तो हैं ही ।

उपपत्ति—कल्पना किया कि अधिमास शेष = या/आलापोक्ति से या^{2} १० + १ यह कनिष्ठ का मान है । अतः वर्ग प्रकृति गणित से ।

क = ६ ज्ये = १९ अथवा २८८, ज्ये = ७२१ ह्रस्व = या का मान = अधिमास शेष = ६ । अथवा २८८ ।

दूसरे उदाहरण में अधिशे = या, ततः उक्तवत् या^{2} १०,–रु १ इसका मूलमान = का । अतः कालक वर्ग समीकरण से शोधनादि द्वारा प्रश्न का मूल या, पर पक्ष का मू = का^{2} १० + १ वर्ग प्रकृति से मूल पूर्व तुल्य, ६ और १९ या २८८ । ७२१ यहाँ भी कनिष्ठ = कालक मान, ज्येष्ठ = यावत् का मान । यही अधिमास शेष का मान होता है १९ या ७२१ इसके बाद कुट्टक से कल्पगत वर्ष का आनयन सही होता है ।

अधिमास = भाज्य, रविदिन = हर, ६ के तुल्य अधिशेष = ऋण = क्षेप ।

अधिशेष तुल्य क्षेपक कैसे ?

भाज्य भाजक को ३ लाख से अपवर्तन देकर भी इस प्रश्न में अशुद्धि का स्पर्श नहीं होता है ।

इस प्रकार कुट्टक से कल्पगत वर्ष में करने से—४=२३००, २३०० – ४ = २२९६ वर्ष ६ मास और ६ तिथि ।।२३।।२४।।

इदानीं देशविशेषमुद्दिश्य पलांशमप्रश्नानाह—

प्राच्यामुज्जयिनीपुरात् कुपरिधेस्तुर्येऽशके यत् पुरं
तस्मात् पश्चिमतोऽपि तावति ततोऽप्यन्यत् पुरार्देदिशि ।

नैर्ऋत्यां यदतोऽपि तेषु नगरेष्वाचक्ष्व मेऽक्षांशकान्
गोलक्षेत्रविचक्षण क्षणमिदं संचिन्त्य चित्ते मुहुः ।।२५।।

अस्य भङ्गः—

दिग्ज्यापलभाक्षुण्णे त्रिज्यार्कहृते च वाहुकोटिज्ये ।
अपसृतियोजनलवजे तदन्तरं दक्षिणे भागे ।।२६।।
ऐक्यं सौम्ये भूमेर्व्यस्तं पादाधिकेऽपसरे ।
रविगुणमक्षश्रवसा भक्तं तच्चापमक्षांशाः ।।२७।।

वा० भा०—अत्र तद्देशवशेन दिशो ज्ञेयाः । न स्वदेशवशेन । अत्र प्रथमे प्रश्नेऽपसारयोजनलवा नवतिः ९० । तद्दोर्ज्या त्रिज्या ३४३८ । कोटिज्या पूर्णम्० । दिग्ज्यादोर्ज्ययोर्घातः पूर्णम् ० । कोटिज्यापलभयोर्घातश्च पूर्णम् ० । एते त्रिज्ययार्कैश्च यथाक्रमं हृते तथापि शून्ये एव ० । ० । तयोर्योगे वियोगे वा शून्यमेव ० । एतद्रविगुणमक्षश्रवणहृतं शून्यमेव । अतो यमकोटिपत्तने शून्यं पलांशाः ० ।

अथ द्वितीयप्रश्नेऽप्येवं शून्यं पलांशाः । अतो यमकोटेः प्रतीच्यां लङ्केव ।

अथ तृतीयप्रश्ने दिग्ज्या २४३१ । इयमपसारदोर्ज्यमा त्रिज्यामितया गुण्या त्रिज्यया च कोटिज्या पूर्णम् । तयोर्योगस्तादृश एव २४३१ । इयमर्कगुणा लङ्काक्षाकर्ण १२ हताविकृतैव २४३१ दोर्ज्या । अस्याश्चापं पलांशाः ४५ । यत्रैते पलांशास्तत्र पलभा १२ । पलकर्णश्च १६।५८।१४ ।

अथ चतुर्थप्रश्ने सैव दिग्ज्या २४३१ । तथैवोक्तविधौ कृतेऽविकृतैव । किंतु इयमर्कगुणाक्षकर्ण १६ । ५८ । १४ हृता । अस्याश्चापं पलांशाः ३० ।।२५-२७

मरीचि-अथ गोलोत्तरसंबन्धिप्रश्नं सोद्देशं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—प्राच्यामुज्जयनीति ।

उज्जयिनीनगरात्सार्धद्वाविंशत्यक्षांशसंबद्धात् । पूर्वदिशि भूपरिधियोजनानां चतुर्थयोजनान्तरे । यदज्ञाताक्षांशकं नगरं तस्मात्पुरात्पश्चिमतः पश्चिमदिशि ।। तावति भूपरिधिचतुर्थांशयोजनान्तरे । अपिशब्दादेकं परमज्ञाताक्षांशम । ततस्तस्मात्पुरादपिशब्दाद्भूपरिधिचतुर्थांशान्तरे । पुरारेर्महादेवस्य दिशि ऐशान्यां दिशि । अन्यत्—अज्ञाताक्षांशं पुरमस्ति । अतोऽस्मात्पुरादपिशब्दाद्भूपरिधिचतुर्थांशान्तरे ।। नैर्ऋत्यदिशि यदज्ञाताक्षांशं पुरमस्ति ।। एवं तेषु चतुर्षु पुरेषु अक्षांशान्मे मम आचक्ष्वाऽऽनयनेन कथय ।।

ननु कल्पनासामर्थ्याभावात्तदुत्तरं दातुमशक्यमित्यतः संबोधनमाह—गोलक्षेत्रविचक्षणेति ।। गोलक्षेत्रकल्पक । तथा च गोलक्षेत्रकल्पनयैतदुत्तरं तव नाशक्यमिति भावः ।

ननु तथाऽप्यस्योत्तरकल्पनमशक्यमित्यत आह—क्षणमिति ।। इदं प्रश्नस्वरूपतत्त्वं चित्ते क्षणं मुहुः संचिन्त्य विचार्य ।। तथाच प्रश्नस्वरूपविचारणयैवोत्तरस्य स्फुरणं तव

भवतीति भावः ॥ एवं च ज्ञाताक्षांशपुरादभीष्टपुरयोजनान्तरज्ञाने । ज्ञाताक्षांश-पुराद्ङ्मण्डलसंन्निवेशादिनाऽभीष्टपुराक्षांशज्ञानं प्रश्नार्थः ॥ एतदुत्तरं गोलयुक्त्येति सूचितम् ॥२५, २६, २७॥

केदारदत्तः—देशविशेष में पलांश (अक्षांश) ज्ञान—

उज्जयिनी से भूपरिधि के चतुर्थांश में जो नगर प्राक्दिशा में है, तथा उज्जयिनी से भूपरिधि चतुर्थांश में जो नगर पश्चिम में है, तथा उस नगर से भगवान् शङ्कर की ईशान दिशा में जो नगर है, तथा उज्जयिनी से नैर्ऋत्य दिशा में जो नगर है, उन उन नगरों का अक्षांश मान क्या है ? हे गोलक्षेत्रज्ञान में विचक्षण गणितज्ञ ! क्षणमात्र में चित्त में चिन्तना करके शीघ्र बताओ ।

उद्दिष्ट नगर की दिग्ज्या को पलभा से गुणा कर एकत्र त्रिज्या से, अन्यत्र १२ से भाग देने पर, अपसार योजन के भुज और कोटिज्या का ज्ञान हो जाता है ।

दक्षिण दिशा में दोनों का अन्तर उत्तर दिशा में दोनों का योग, भूचतुर्थांश से अधिक अपसार योजन में व्यस्त संस्कार से अक्षांशज्ञान हो जाता है । जैसे—उज्जयिनी खमध्य से पूर्व में ९० अंश की दूरी पर—

$$\text{अपसार योजन} = ९०^\circ \text{ की ज्या} = ३४३८ \text{ कोटिज्या} = ०$$

$$\text{दिग्ज्या} \times \text{दोर्ज्या} = ०, \quad \text{कोटिज्या} \times \text{पलभा} = ० \text{ अतः}$$

$$\frac{\text{दिग्ज्या} \times \text{दोर्ज्या}}{३४३८} = ० \text{ तथा } \frac{\text{कोटिज्या} \times \text{पलभा}}{१२} = ०$$

$$\text{योग वियोग} = ० \pm ० = ०$$

$\frac{० \times १२}{\text{प.क}} = ०$ अत एव उज्जैन से पूर्वदिशा ९०° की दूरी पर यमकोटि का अक्षांश = ०

दूसरे प्रश्न में भी अक्षांश = ० होने से लङ्का अर्थात् विषुवद्वृत्तधरातलगत यम-कोटि से पश्चिमस्थ नगर में भी अक्षांश मान = ० शून्य होता है ।

तृतीय प्रश्न में—

दिग्ज्या = २४३१ को अपसार योजन की भुजज्या = त्रिज्या से गुणा और भाग देने

$$\text{पर } \frac{२४३१ \times ३४३८}{३४३८} = २४३१$$

$$\text{तथा निरक्ष देश में पलभा} = ० \times \frac{\text{दोर्ज्या} \times १}{१२} = ०$$

दोनों का योग = ० + २४३१ = २४३१ का चाप = ४५ = अक्षांश, पलभा = १२ तथा पलकर्ण १६।५८।१४ ।

चतुर्थ प्रश्न—

दिग्ज्या = २४३१ को १२ से गुणा कर पलकर्ण से भाग देने से १६।५८।१४ का का चाप = ३० अंश अक्षांश होते हैं ।।२५, २६, २७।।

अथान्यदुदाहरणम्—

क्षितिपरिधिषडंशे प्राचि धारानगर्या-
स्त्रिनयनदिशि यद्वा पत्तने चाग्निभागे ।
कथय गणक तत्र क्षिप्रमक्षांशकान् मे
क्षितिपरिधितृतीयेऽथांशके तत्र तत्र ।। २८ ।।

वा० भा०—धारायामक्षप्रभा ५। पलकर्णः १३। अत्रापसारयोजनलवाः षष्टिः ६०। तद्दोर्ज्या २९७७। कोटिज्या १७१९। दिग्ज्यायाः प्राच्यामभावः। तस्माद्भुजज्या पूर्णमेव। अतः कोटिज्या पलभा ५ गुणा। अक्षकर्णा १३ प्ता। फलस्य चापमक्षांशाः। एवं प्राच्यां गतस्याक्षांशाः ११।५।०। ईशानदिशं गतस्य दिग्ज्या २४३१। दोर्ज्या दिग्ज्यागुणा त्रिज्याभक्ता कार्या। कोटिज्या तु पलभा ५ गुणा द्वादशभक्ता कार्या। तयोर्योगो द्वादशगुणः पलकर्ण १३ हृतः फलस्य चापमक्षांशाः ४९।१८।२४। ईशान्यां गतस्य। एवमाग्नेय्यां च २१। ५४।३४। अथ त्र्यंशेऽपसारे लवाः ११०। एषां दोर्ज्याकोटिज्ये एते एव २९७७।१७१९। यथोक्तकरणेन जाताः प्राच्यां पलांशाः ११।५।०। ऐशान्याम् २१।५४।३४। आग्नेय्याम् ४९।१८।२४।।

अत्रोपपत्तिः। गोले खस्वस्तिकादिच्छादिक्चिह्नोपरि दृङ्मण्डलं निवेश्यम्। तत्र खस्वस्तिकं स्वस्थानं कल्प्यम्। ततोऽपसारलवाग्र दृङ्मण्डले पुरचिह्नं कार्यम्। ध्रुवात् पुरचिह्नोपरि नीयमानं वृत्ताकारं सूत्रं यत्र विषुवन्मण्डले लगति तत्पुरचिह्नयोरन्तरं तस्मिन्पुरे पलांशाः। अथ तज्ज्ञानार्थमुपायः। अप्रसारयोजनलवानां दोःकोटिज्ये कृते दिग्लवानां च दिग्ज्या। ततोऽनुपातः। यदि त्रिज्यामितया दोर्ज्यया दिग्ज्याभुजो लभ्यते तदाऽपसारलवज्यया किमिति। फलं पुरसममण्डलयोरन्तरं याम्योत्तरं ज्याख्यम्। स भुजः। पुरविषुवद्वृत्तयोर्यावदन्तरं तावतैवान्तरेण सर्वत्र विषुवद्वृत्तादुत्तरतोऽन्यत् स्वाहोरात्रवृत्तं निवेशनीयम्। तस्य क्षितिजेन सह यत्र संपातस्तत्प्राच्यपरयोरन्तरमग्रा। यत्रोन्मण्डले लग्नं तत्प्राच्यपरयोरन्तरं पलांशाः क्रान्तिरूपाः। अथ तज्ज्ञानार्थमपसारलवानां कोटिज्या। स पुरचिह्नाल्लम्बः शङ्कुः स पलभया गुण्यो द्वादशभक्तो जातं शङ्कुतलम्। उत्तरगोल उत्तरभुजस्य शङ्कुतलस्य च योगेऽग्रा भवति। तदन्यथान्तरे कृते सत्यग्रा। अतो वैपरीत्येन क्रान्तिः। तदर्थमनुपातः। यदि पलकर्णे

द्वादश कोटिर्लभ्यते तदाग्रया किमिति। फलं क्रान्तिज्याखपाक्षज्या। अतस्त-च्चापमक्षांशा इत्युपपन्नम्। भूमेः पादाधिकेऽपसारेऽन्तो व्यस्तं यतो विषुवद्-वृत्तमधः सममण्डलादुत्तरतः ॥ २८ ॥

मरीचिः—अथ सूचितमुत्तरमार्याभ्यामाह—दिग्ज्येति। ऐक्यमिति च।

अपसृतियोजनलवजे। ज्ञाताक्षांशपुरादभीष्टज्ञाताक्षांशपुरं यैर्योजनैरन्तरितं तान्य-प्रसारयोजनानि। तेषां भागाः। भूपरिधियोजनैः सप्ताङ्गनन्दाब्धिमितैः षष्ट्यधिकशत्ते-त्रयं भागास्तदैभिर्योजनैः के इत्यनुपातेनोत्पन्नास्तेभ्य उत्पन्ने इत्यर्थः॥ बाहुकोटिज्ये॥ नवत्यल्पा भागा भुजः॥ नवत्यधिकाः साशीतिशतशोधिता भुजः॥ भुजोननवतिः कोटिः तयोरुक्तप्रकारेण ज्ये इत्यर्थः॥

चो बाहुकोटिक्रमार्थः। दिग्ज्यापलभाक्षुण्णे। ज्ञाताक्षपुरादज्ञाताक्षांशपुरं यद्दिशि तद्दिक्संबन्धेन दिगंशाः॥ पूर्वदिशि शून्यम्। दक्षिणोत्तरयोर्नवतिः॥ आग्नेयीनैर्ऋत्यवा-यव्येशानदिक्षु पञ्चचत्वारिंशत्। अवान्तरदिश तत्तारतम्येन दिगंशास्तेषां ज्या तथा बाहुज्या गुण्या। ज्ञाताक्षांशपुरपलभया कोटिज्या गुण्या॥ त्रिज्यार्कहृते। भुजज्यास्थाने-त्रिज्यया भक्ताः कोटिज्यास्थाने दशभिर्भक्ताः।

आभ्यां फलितमाह—तदन्तरमिति॥ ज्ञाताक्षांशपुरादभीष्टपुरं दक्षिणदिगाश्रित-विभागे तयोः फलयोरन्तरम्। उत्तरदिगाश्रितविभागे तयोरैक्यम्। विशेषमाह—भूमेरिति॥ भूपरिधेश्चतुर्थांशादधिकेऽपसारे तत्पुरयोरन्तरे सति व्यस्तं दक्षिणभागे योग उत्तरभागेऽन्त-रमित्यर्थः॥ तदन्तरमैक्यं वा द्वादशगुणितं ज्ञातपुराक्षकर्णेन भक्तं तस्य फलस्य धनुरंशा अज्ञाताक्षपुरे तादृशेऽक्षांशा भवन्ति॥

यथा प्रथमप्रश्नोदाहरणेऽपसारयोजनलवा नवतिस्तद्दोर्ज्या त्रिज्या कोटिज्या पूर्णं दिग्ज्याऽपि पूर्णम्। अत उक्तरीत्या यमकोटिनगरे शून्यमक्षांशाः। द्वितीयोदाहरणेऽप्येवं शून्यं पलांशा इति॥ यमकोटेः प्रतीच्यां लङ्कैव।

तृतीयोदाहरणे दिगंशाः ४५ एषां २४३१ ज्येयमपसारदोर्ज्यया त्रिज्यया गुण्या त्रिज्यया च भाज्या। अत इयमेव लङ्कायां पलभा पूर्णं कोटिज्याऽपि पूर्णमतो द्वितीयफला-भावाद्योगः २४३१। अस्माल्लङ्कायां द्वादशाक्षकर्णत्वादस्तज्येयमेव २४३१। अस्या धनुरंशाः ४५ पलांशाः। यत्रतेऽक्षांशास्तत्र पलभा १२ पलकर्णश्च। १६।५८।१४।

चतुर्थोदाहरणे दिग्ज्या ३४३१ भुजज्या ३४३८ कोटिज्या। उक्तप्रकारेण भुजफल-मेवान्तरं द्वादशगुणं २९१७२ पलकर्णः १६।५८।१४ भक्तं १७१८।५२। अस्य धनुरंशाः २० अक्षांशाः।

अत्रोपपत्तिः॥ ज्ञाताक्षांशपुरगोलखस्वस्तिकप्रोतदृङ्मण्डलेऽन्तरयोजनलवाग्रे खस्व-स्तिकचिह्नं कार्यम्। विषुवद्वृत्तादज्ञाताक्षांशतुल्येन सर्वतः समान्तरेणाहोरात्रवृत्तं गोले निबन्धनीयम्। तदहोरात्रवृत्ते द(दि)गृतस्यचिह्नं स्वभ्रमणेन यत्र भवति तत्राज्ञाताक्षांश-

पुरखस्वस्तिकं ध्रुवादज्ञाताक्षांशपुरखस्वस्तिकोपरि नीयमानं वृत्ताकारं सूत्रं यत्र विषुवन्मण्डले लगति तदज्ञाताक्षांशपुरखस्वस्तिकयोरन्तरं तस्मिन्पुरे पलांशाः ।।

अथ ज्ञाताक्षांशपुरक्षितिजपूर्वोक्ताहोरात्रवृत्तसंपातावधिज्ञाताक्षपुरपूर्वखस्वस्तिकादग्रा तत्संबंधक्रान्तिज्यापूर्वोक्ताहोरात्रवृत्तज्ञाताक्षपुरोन्मण्डलसंपातावधि तत्स्वस्तिकात्सैवाज्ञाताक्षपुरेऽक्षज्येति तदहोरात्रवृत्तसंबन्ध्यग्रा तत्क्रान्तिज्यारूपाक्षज्यासाधनार्थं साध्या ।।

तत्र ज्ञाताक्षपुरसममण्डलाज्ञाताक्षपुरखस्वस्तिकयोर्याम्योत्तरान्तरस्य भुजत्वेन तदग्राशङ्कुतलसंस्कारत्वाद्विपरीतसंस्कारेण भुजशङ्कुतलाभ्यामग्राऽतः क्षितिजे अज्ञाताक्षपुरखस्वस्तिके सति दिग्ज्यैव तदन्तररूपं भुजः ।। तत्रापसारयोजनलवा नवतिः । क्षितिजस्य तत्स्वस्तिकात्परिधिचतुर्थांशान्तरेण सत्त्वादतस्त्रिज्यातुल्ययाऽपसारयोजनलवज्यया क इति तदन्तररूपो भुजः ।

शङ्कुतलं त्वज्ञाताक्षपुरखस्वस्तिकस्थानाज्ज्ञाताक्षपुरक्षितिजसमभूपर्यन्तं लम्बरूपस्य शङ्कुत्वात्तस्य चापसारलवकोटिज्यारूपत्वात् द्वादशकोटौ ज्ञाताक्षपुरपललवा(लभा)भुजस्तदा कोटिज्यारूपशङ्कौ क इत्यनुपातेन ।।

अथ सममण्डलादज्ञाताक्षपुरखस्वस्तिकं दक्षिणतस्तदा भुजस्य दक्षिणत्वेन शङ्कुतलाग्रायोगरूपत्वमग्रोनशङ्कुतलरूपत्वं वेति वैपरीत्येन शङ्कुतलोनभुजोनशंकुतलं याऽग्रा स्यादिति दक्षिणभागे तदन्तरमग्रा । यद्युत्तरतस्तदा भुजस्योत्तरत्वेन शंकुतलोनाग्रारूपत्वाद्वैपरीत्येन शंकुतलयुक्तो भुजोऽग्रेत्युत्तरभागे तदैक्यमग्रा ।। भूपरिधिचतुर्थांशो(र्धांशे)धिकान्तरे त्वज्ञाताक्षपुरखस्वस्तिकं ज्ञाताक्षपुराद्दृश्यगोलार्धेऽतो भुजस्य तत्र वैपरीत्याद्विपरीतं शंकुतलस्योत्तरत्वात् ।

ततोऽग्राया ज्ञातपुराक्षकर्णेन द्वादशकोटिस्तदाऽग्रया केत्यनुपातेन क्रान्तिज्या अज्ञाताक्षपुराक्षज्यारूपा तस्याश्चापमक्षांशा इत्युपपन्नं दिग्ज्याफलभाक्षुण्णे इत्याद्यार्याद्वयम् ।।

अथ दिग्ज्यापुरद्वयाक्षांशज्ञानेऽपसारयोजनलवज्ञानं यद्देशावधिसंबन्धेन दिग्ज्या तदितराक्षांशज्या दिग्ज्यासंबन्धपुरपलकर्णगुणद्वादशभक्ताऽग्रा । ततो व्यासार्धवर्गः । पलभाकृतिघ्न इत्यादिना छायकर्णः । अस्माच्छाया । ततश्छायाकर्णे छायाभुजस्तदा त्रिज्याकर्णे को भुज इति दृग्ज्यापसारयोजनलवज्या ।।

एवं नगरद्वयाक्षांशापसारयोजनलवज्ञाने दिग्ज्याज्ञानमवधिस्थपुराक्षकर्णेनेतरपराक्षज्या गुण्या द्वादशभक्ता फलमग्रा । द्वादशकोटौ पलभा भुजस्तदाऽपसारयोजनलवकोटिज्यारूपशङ्कौ क इति शङ्कुतलयोः संस्कारे भुजः । अपसारयोजनलवज्यातुल्यदृग्ज्ययाऽयं भुजस्तदा त्रिज्यातुल्यया किमिति दिग्ज्येत्यादिकल्पनं सुगमतरं वैपरीत्येन ।

अथ पूर्वोदाहरणेषु भुजकोटिफलयोरन्तरयोगयोश्च न प्रतीतिरित्युदाहरणान्तरप्रश्नं भूमेर्व्यस्ते पादाधिकेऽपसारे इत्यस्योदाहरणप्रश्नं च मालिन्याऽऽह—क्षितिजपरिधीति ।

धारानगर्याः भोजराजधानीत्वेनोज्जयिनीनिकटे प्रसिद्धायाः । प्राचि पूर्वभागे । यद्वा पक्षान्तरे । त्रिनयनदिशि ॥ ऐशानीभागे । चो वार्थे ॥ अग्निभागे आग्नेयदिशि । खपरिधि-योजनषडंशयोजनान्तरे पक्षनं नगरमस्ति । तत्र तस्मिन्नगरे । हे गणक गणनासमर्थ । क्षिप्रं शीघ्रं पूर्वं प्रकारत्वोक्तेः ॥ कल्पनविलम्बाभावात् । ममाक्षांशान्वद ॥

भूमेर्व्यस्तामित्यस्योदाहरणमाह—क्षितिपरिधितृतीये इति ॥ अथानन्तरम् । धारा-नगर्या भूपरिधियोजनतृतीयांशयोजनान्तरे । तत्र प्राचि । ऐशान्याम् । आग्नेय्यामित्यर्थः ॥ नगरमस्ति । तत्र नगरेऽक्षांशान् शीघ्रं कथय ।

यथा प्रथमोदाहरणे दिग्ज्या पूर्णम् । अपसारयोजनलवाः ६० । एषां दोर्ज्या १९७७ कोटिज्या १७९ (१८) । धारायामक्षभा पञ्चाङ्गुला ॥ अत्र भुजफलं पूर्णं । कोटिफलं ७१६ । २५ योगे वियोगे वा कोटिफलमेव द्वादशगुणं ८५२५ । अक्षकर्ण १३ भक्तं ६६१ । ९ । १४ । चापमक्षांशाः ११ । ५ । ११ । १५ ॥

द्वितीयतृतीयोदाहरणे दिग्ज्या २४३१ भुजफलं २१०१ । १३ कोटिफलं ७१६ । १५ । अनयोरैशान्यां योगः २८१७ । ३८ । आग्नेय्यामन्तरं १३८५ । ८ । द्वादशगुणं ३८११ । ३६ । १६६२१ । ३६ । अक्षकर्णभक्तं २६०० । ५४ । १२७८ । ३५ । अन-योश्चापे अक्षांशौ ४९ । १० । १ । २१ । ५० । ५९ ॥

अथापसारयोजनलवाः २२० । एषां पूर्वागते एव भुजकोटिज्ये ॥ प्राच्यामक्षांशाः पूर्वागता एव ११ । ५ । १ । ऐशान्यामाग्नेय्यां दिग्ज्या । २४३१ । भुजकोटिफलं प्रागा-नीतमेव ॥ अनयोरैशान्यामन्तरमाग्नेय्यां योगः ॥ अस्मादक्षांशाः । ऐशान्यां २१ । ५० ५९ । आग्नेय्यां ४९ । १० ॥२८॥

केदारदत्तः—अन्य प्रश्न है—

भूपरिधि के पूर्व के छठे विभाग में धारा नगरी है, वहाँ से ईशान दिशा की तरफ या, अग्नि दिशा की तरफ के नगरों में, हे गणाक ! शीघ्र उन नगरों के अक्षांश मान ज्ञात करो तथा भूपरिधि तृतीयांशस्थ नगर के भी अक्षांश ज्ञात करो ।

धारा नगरी में पलभा मान = ५ अंगुल, पलकर्ण = १३, अपसार योजन लव = ३६० ÷ ६ = ६०, भुजज्या = २९७७, कोटिज्या = १७१९, प्राक्दिशास्थ नगर में फल के चाप = अक्षांश होते हैं ।

इस प्रकार प्राक्दिशा में अक्षांश = ११।५ ईशान दिशा में दिग्ज्या = २४३१ अतः

$\frac{\text{भुजज्या} \times \text{दिग्ज्या}}{\text{त्रि}}$ = अक्षांश होते हैं ।

$\frac{\text{कोटिज्या} \times \text{पलभा}}{१२}$ दोनों का $\frac{\text{योग} \times १२}{\text{पलकर्ण}}$ = लब्ध फल का चाप = अक्षांश =

४९।१८।२४ ईशान में अग्नि दिशा में अक्षांश = २१।५४।३४

$\frac{\text{भूपरिधि}}{३}$ = १२० अंश की भुज ज्या २९७७ । कोटिज्या = १७१९ पूर्ववत् धारा से पूर्व नगर के अक्षांश ११।५।० ईशान में ५१।५४।३, अग्नि दिशा में ४९।१८।२४ ।

उपपत्ति—अभीष्ट दिशास्थ नगर के खमध्य तक दृङ्मण्डल करने पर खस्वस्तिक = स्व स्थान । अपसार योजन सम्बन्धी अंशों के पूर्व में बिन्दु कर, ध्रुव से अभीष्ट नगर चिह्न पर नीयमान वृत्ताकार सूत्र का विषुवद्वृत्त के साथ जहाँ सम्पात होगा वहाँ से अभीष्ट नगर खमध्य तक ध्रुव वृत्त में अक्षांश होते हैं स्पष्ट है ।

अपसार योजन अंशों के और दिगंश के ज्या के अनन्तर अनुपात से—

$\frac{\text{दिग्ज्या} \times \text{अपसार योजन अंशों में}}{\text{त्रिज्या}}$ = स्वनगर खमध्य में ज्या रूप याम्योत्तर अन्तर = भुज । नगर और भूमध्य वृत्तों के अन्तर के तुल्य सर्वत्र विषुवद्वृत्त से उत्तर की तरफ अहोरात्र का क्षितिज वृत्त के सम्पात बिन्दु से पूर्व बिन्दु तक में अग्रा, उन्मण्डल के साथ सम्पात बिन्दु से पूर्वापर कोटि रूप अन्तर = क्रान्ति = अक्षांश सिद्ध होते हैं ।

अपसार लत्र कोटि, नगर चिह्न से लम्ब = शङ्कु ।

$\frac{\text{शं} \times \text{पलभा}}{१२}$ = शङ्कुतल । उत्तर गोल में उत्तर भु × शंत = अग्रा । विपरीत संस्कार से $\frac{१२ \times \text{अग्रा}}{\text{पलकर्ण}}$ = क्रान्ति ज्या रूप = अक्ष ज्या का चाप अक्षांश सिद्ध होते हैं ।।२८।।

अथोक्तानपि प्रश्नानेकीकर्तुमाह ।।

मित्र मित्रस्त्रिनेत्रस्य दिश्युद्गमं याति यत्र त्रिनेत्रर्क्षमध्यस्थितः ।
तत्र मे तान्त्रिकाक्षुब्धमक्षाप्रभां क्षिप्रमाचक्ष्व दक्षोऽसि गोले यदि ।।२९।।

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भिर्यत्रोदितो रविः ।
मासैरस्तमयं याति तत्राक्षांशान् पृथग्वद ।।३०।।

द्युज्यकापमगुणार्कदोर्ज्यकासंयुतिं खखखबाणसंमिताम् ।
वीक्ष्य भास्करमवेहि मध्यमं मध्यमाहरणमस्ति चेच्छ्रुतम् ।।३१।।

द्युज्यापक्रमभानुदोर्गुणयुतिस्तिथ्युद्धृताभ्याहता
स्यादाद्यो युतिवर्गतो यमगुणात् सप्तामरा ३३७ प्तोनिताः ।
नागाद्र्यङ्कदिगङ्ककाः ९१०६७८ पदमतस्तेनाद्य ऊनो भवे-
द्व्यासार्धेऽष्टगुणाब्धिपावकमिते क्रान्तिज्यकातो रविः ।।३२।।

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतिमहीजीवाग्रकाणां युति-
र्दृष्टा खाम्बरपञ्चखेचरमिता पञ्चाङ्गुलाक्षप्रभे ।
देशे तत्र पृथक् पृथग्गणक ता गोलेऽसि दक्षोऽक्षज-
क्षेत्रक्षोदविधौ विचक्षण समाचक्ष्वाविलक्षोऽसि चेत् ॥३३॥

क्रान्तिज्यां विषुवत्प्रभारविहतेस्तुल्यां प्रकल्प्यापराः
कृत्वाग्रासमशङ्कुतद्धृतिमहीजीवा अभीष्टास्ततः ।
द्व्याद्यास्तद्युतिभाजिताः पृथगथ प्रोद्दिष्टयुत्या हता
उद्दिष्टा खलु यद्युतिः पृथगिमा व्यक्ता भवन्ति क्रमात् ॥३४॥

अग्रापमज्याक्षितिशिञ्जिनीनां योगं सहस्रद्वितयं विदित्वा ।
पृथक्पृथक् ता गणक प्रचक्ष्व रूढा सगोले गणिते मतिश्चेत् ॥३५॥

आस्तां तावत् सगोलः सुगणक गणितस्कन्धबन्धप्रसिद्धः
सिद्धान्तो लग्नसिद्ध्यै किमिति बत कृतस्तत्र तात्कालिकोऽर्कः ।
नाडीषष्ट्या द्युरात्रं दशपलयुतया भानवीयं किलाक्ष्या
लग्नं तात्कालिकार्कात् प्रवद किमधिकं तद्द्युरात्रे पलोने ॥३६॥

नाक्षत्रा उत सावनास्तनुकृतौ नाड्योऽथ चेत् सावना
नाक्षत्रा उदयाः कथं विसदृशास्ताभ्यो विशोध्या वद ।
नाक्षत्रा यदि तद्द्युरात्रसदृशे काले गतेऽर्काधिकं
किं लग्नं न समं ततो दिनकरस्तात्कालिकः किं कृतः ॥३७॥

पञ्चाङ्गुला गणक यत्र पलप्रभा स्यात्
तत्रेष्टभा नवमिता दशनाडिकासु ।
दृष्टा यदा वद तदा तरणिं तवास्ति
यद्यत्र कौशलमलं गणिते सगोले ॥३८॥

दिनकरे करिवैरिदलस्थिते नरसमा नरभापरदिङ्मुखी ।
भवति यत्र पटो पुटभेदने कथय तान्त्रिक तत्र पलप्रभाम् ॥३९॥

मार्तण्डः सममण्डलं किल यदा दृष्टः प्रविष्टः सखे
काले पञ्चघटीमिते दिनगते यद्वा नते तावति
केनाप्युज्जयिनीगतेन तरणेः क्रान्तिं तदा वेत्सि चे-
न्मन्ये त्वां निशितं सगर्वगणकोन्मत्तेभकुम्भाङ्कुशम् ॥४०॥

मार्तण्डे सममण्डलं प्रविशतिच्छाया किलाष्टयङ्गुला
दृष्टाष्टासु घटीषु कुत्रचिदपि स्थाने कदाचिद्दिने ।
अर्कक्रान्तिगुणं तदा वदसि चेदक्षप्रभां तत्र च
त्रिप्रश्नप्रचुरप्रपञ्चचतुरं मन्ये त्वदन्यं नहि ॥४१॥

यत्र क्षितिज्या शरसिद्ध २४५ तुल्या स्यात् तद्धृतिस्तत्त्वकुराम-
संख्या ३१२४ ।
तत्राक्षभार्कौ गणक प्रचक्ष्व चेदक्षजक्षेत्रविचक्षणोऽसि ॥४२॥

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिं कुज्योनितां वीक्ष्य यो
विंशत्यश्वरसै ६७२० मितामथ परां षष्ट्यङ्कचन्द्रै १९६० मिताम् ।
कुज्याग्रापमशिञ्जिनीयुतिमिनं वेत्त्यक्षभां चापि तं
ज्योतिर्वित्कमलावबोधनविधौ वन्दे परं भास्करम् ॥४३॥

क्रान्तिज्यासमशङ्कुतद्धृतियुतिं कुज्योनितां वीक्ष्य यः
पूर्णाब्ध्यब्धिमहीमिता १४४० मथ परां खाभ्राष्टभू १८०० संमिताम् ।
अग्राज्यापमशङ्कुतद्धृतियुतिं वेत्त्यक्षभार्कौ च तं
ज्योतिर्वित्कमलावबोधनविधौ वन्दे परं भास्करम् ॥४४॥

यत्र त्रिवर्गेण ९ मिता पलाभा तत्र त्रिनाडीप्रमितं चरं स्यात् ।
यदा तदार्कं यदि वेत्सि विद्वन् सांवत्सराणां प्रवरोऽसि नूनम्
॥४५॥

याम्योदक्समकोणभाः किल कृताः पूर्वैः पृथक्साधनै-
र्यास्तद्दिग्विवरान्तरान्तरगता याः प्रच्छकेच्छावशात् ।
ता एकानयनेन चानयति यो मन्ये तमन्यं भुवि
ज्योतिर्विद्वदनारविन्दमुकुलप्रोल्लासने भास्करम् ॥४६॥

दृष्ट्वेष्टभां योऽत्र दिगर्कवेदीछायाद्वयं वा प्रविलोक्य दिग्ज्ञः ।
वेत्त्यक्षभामुद्धतदैववेदिदुर्दर्पसर्पप्रशमे स तार्क्ष्यः ॥४७॥
भाद्वयस्य भुजयोः समाशयोर्व्यस्तकर्णहतयोर्यदन्तरम् ।
ऐक्यमन्यककुभोः पलप्रभा जायते श्रुतिवियोगभाजितम् ॥४८॥

अक्षाज्यां तरणिं दिशो युगगतं मासं तिथिं वासरं
यः कूपोद्धृतवन्न वेत्ति सहसा पृष्टो दिगर्कादिकम् ।
ब्रूहीत्याशु परैः कथं स कथयत्यस्योत्तरं वक्ति यो
वन्दे तच्चरणावमुष्य गणकाः के वा न सेवापराः ॥४९॥

वंशस्य मूलं प्रविलोक्य चाग्रं तत्स्वान्तरं तस्य समुच्छ्रयं च ।
यो वेत्ति यष्ट्यैव करस्थयासौ धीयन्त्रवेदी वद किं न वेत्ति ॥५०॥

ऊर्ध्वस्थस्य गृहादिभिर्व्यवहितस्याप्यग्रमात्रं सखे
वंशस्य प्रगुणस्य यस्य सुसमे देशे समालोक्यते ।
अत्रैव त्वमवस्थितो यदि वदस्यस्यान्तरं चोच्छ्रयं
मन्ये यन्त्रविदां वरिष्ठपदवीं यातोऽसि धीयन्त्रवित् ॥५१॥

दूरस्थस्य न दूरगस्य यदि वाऽदृष्टस्य दृष्टस्य वा
वंशस्य प्रतिबिम्बितस्य सलिले दृष्ट्वाग्रमात्रं सखे ।
अत्रैव त्वमवस्थितो यदि वदस्यस्यान्तरं चोच्छ्रयं
त्वां सर्वज्ञमतीन्द्रियज्ञमनुजव्याजेन मन्ये भुवि ॥५२॥

तिग्मांशुचन्द्रौ किल सायनांशौ चतुर्द्विराशी च विपातचन्द्रः ।
गृहाष्टकं तत्र वदाशु पातं धीवृद्धिदं त्वं यदि बोबुधीषि ॥५३॥
युक्तायनांशोऽशशतं शशो चेदशीतिरर्कों द्विशती विपातः ।
चन्द्रस्तदानीं वद पातमाशु धीवृद्धिदं त्वं यदि वोबुधीषि ॥५४॥

असंभवः संभवलक्षणेऽपि स्यात् संभवोऽसंभवलक्षणे किम् ।
पातस्य सिद्धान्तमिह प्रचक्ष्व चेत् क्रान्तिसाम्ये प्रसृता मतिस्ते ॥५५॥

भागोनयुक्तं त्रिभ २ । २६ ।। ३ । १ ।। मर्कचन्द्रौ
चेत् सायनांशौ च विपातचन्द्रः ।
भागद्वयोनो भगण ११ । २८ स्तदानीं
पातं वद त्वं यदि बोबुधीषि ।।५६।।
यातेऽपि पाते क्वचिदेष्यलक्ष्म गम्ये न गम्यं वद चित्रमत्र ।
यत् संभवासंभववैपरीत्यं सांवत्सराचार्य विचार्य नूनम् ।।५७।।

वा० भा०—एते प्रश्ना व्याख्याता एव ।।२९-५७।।

मरीचिः—अथैवं प्रश्नानामानन्त्यं तद्वशादुत्तराणामपीति स्वबुद्ध्योत्तरं प्रच्छकप्रश्नानां देयम् । अत्र प्रतिमनुष्यं बुद्धिभेदात्तत्प्रश्नानां वक्तुमशक्यत्वादिति सूचनार्थं सोद्देशप्रश्नं स्रग्विण्याऽऽह—मित्र मित्र इति ।।

हे मित्र । अनेन सुहृत्प्रश्ने कोपो न विधेय इति सूचितम् । यत्र देशे त्रिनेत्रर्क्षमध्य-स्थितः ।। महादेवनक्षत्रमार्द्रा ।। तस्या मध्यभागेऽर्धे स्थितः । मित्रः सूर्यः । सायनार्को राशिद्वयं विश्वांशा नखकला इति ।। त्रिनेत्रस्य दिशि उदयं प्राप्नोति । तत्र देशे मे ममा-भिमतामक्षप्रभां कथय ।

ननु मया वक्तुं न शक्यत इत्यत आह—तान्त्रिकेति ।। तन्त्रतत्त्वज्ञ । तथा च ग्रन्थ-ज्ञस्य तव नाशक्यमुत्तरमिति भावः ।। ननु ग्रन्थे एतदुत्तराभावात्कथं वक्तुमुत्तरं शक्यमित्यत आह—दक्ष इति ।। यदि त्वं गोले गोलस्वरूपज्ञाने समर्थोऽसि ।। तथा च गोलतत्त्वज्ञस्य तव ग्रन्थे एतदुत्तराभावेऽपि कल्पनासामर्थ्यादुत्तरं वक्तुं शक्यमेवेति भावः ।। अत एवाक्षुब्धमक्रोधमिति क्रियाविशेषणम् । उत्तरदानासमर्थो हि क्रोधं करोतीति भावः ।।

ननु तर्हि विचार्य वक्तव्यमित्यतः क्रियाविशेषणमाह—क्षिप्रमिति ।। शीघ्रम् । अस्योत्तरस्य सुगमत्वादल्पविचारेणोत्तरं शक्यमिति विलम्बो न विधेय इति भावः ।। तथा च सायनसूर्यज्ञाने त्रिनेत्रस्य दिश्युद्गमं यातीत्यनेन दिग्ज्यातुल्याग्रालाभादग्राज्ञाने चाक्षभां वदेति प्रश्नस्योत्तरं यद्यग्राकर्णे सायनसूर्योत्पन्नक्रान्तिज्या कोटिस्तदा त्रिज्या-कर्णे केति लम्बज्या ।। अस्या अक्षज्यालम्बज्याकोटौ पलज्या भुजस्तदा द्वादशकोटौ को भुज इत्यक्षभेति मन्दैरपि स्वतो ज्ञेयमित्युत्तरसूत्रं प्रकृतम् । अत्राग्राप्रयोजनादि-ग्ज्यासंबन्धाभावाच्च दिग्ज्योद्देशो व्यर्थोऽपि प्रश्नस्य कठिनाभासभानार्थं दिग्ज्यासूच-नमित्यवधेयम् ।।

यथा दिग्ज्यातुल्याग्रा २४३१ क्रान्तिज्यार्थं सूर्यस्य १२ । ९३ । २० । भुजज्या ३२९२ । ६ । ४० । क्रान्तिज्या १३३७ । ३७ । ३९ । लम्बज्या १८९१ । ५१ । १८ । अक्षज्या २८६९ । १६ अक्षांशाः ५६ । ३६ । २२ । ३० । लम्बांशाः ३३ । २३ । ३३ । ३० । अक्षभा १८ । १० । ३० ।। २९ ।।

अथ स्वत एवोत्तरज्ञानसंबन्धिप्रश्नान्तरमनुष्टुभाऽऽह—एकद्वित्रिचतुरिति ।

यत्र यस्मिन् देशे । एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भिः सौरमासै रविरुदितो दर्शनयोग्यो ऽस्तमयमस्तं गच्छति तत्र देशे पृथक्पृथगक्षांशान्वदेति ।।

अत्र लम्बाधिका क्रान्तिरुदक्च यावत्तावद्दिनं संततमेव तत्रेत्युक्त्या सायनो रविर्मिथुनार्धे । तत आरभ्यैको मासो दिनमारोहणाभ्यां मिथुनार्धक्रान्तिज्यातुल्यलम्बज्यादेशे । एवं मिथुनादौ तत्क्रान्तितुल्यलम्बज्यादेशे मासद्वयं तथैव दिनम् । वृषार्धे तत्क्रान्तिज्यातुल्यलम्बज्यादेशे मासत्रयं दिनम् । वृषादिक्रान्तिज्यातुल्यलम्बज्यादेशे मासचतुष्टयं दिनम् । मेषार्धक्रान्तिज्यातुल्यलम्बज्यादेशे मासषट्कं दिनमिति तत्तत्क्रान्तिज्या एव लम्बज्यास्तद्वर्गोनेभ्यस्त्रिज्यावर्गेभ्यः पदानि पलज्यास्तद्धनुरक्षांशा इति सुगमतरमुत्तरमिति सूत्रं न कृतम् ।

यथैकमासदिनदेशे लम्बांशाः २३ । द्विमासदिनदेशे लम्बांशाः २१ । त्रिमासदिनदेशे १७ । चतुर्मासदिनदेशे १२ । पञ्चमासदिनदेशे ६ । षण्मासदिनदेशे ० । क्रमेणाक्षांशा ६७ । ६९ । ७३ । ७८ । ८४ । ९० ।। एवमन्येषामपि प्रश्नानामुत्तराणि कल्पनीयानीत्यलं पल्लवितेन ।।

स्यादेतत् ।। परं प्रागुक्तो ये याताधिकमासहीनदिवसा इत्यादिप्रश्नो बीजोत्तरसंबन्धेन कथमुक्तस्तदुत्तरे कुट्टकस्यापि संबन्धेन केवलबीजसबन्धाभावादित्यतः सिंहावलोकनन्यायेन केवलबीजोत्तरसंबन्धिप्रश्ने त्रिप्रश्नाधिकारस्फुटोक्तमनुवदति—द्युज्यकापमेति ।

त्रिप्रश्नाधिकारे व्याख्यातम् ।।

नन्वस्योत्तरं कथं बीजेनेत्यतस्तदुत्तरमनुवदति—द्युज्यापक्रमेभानुदोरिति ।

इदमुत्तरं मध्यमाहरणबीजेनोपपन्नमिति बोजोत्तरमस्येति भावः ।।

नन्वेवं चन्द्रश्चन्द्रगुण इति प्रश्नः पाट्युत्तरः कथम् । तदुत्तरे त्रैराशिकदर्शनात्त्रैराशिकस्यैव पाटीत्वादित्यतः पूर्वप्रश्नोत्तरप्रश्नं तदधिकारोक्तमनुवदति—क्रान्तिज्यासमेति ।।

ननु कथमयं पाट्युत्तर इत्यतस्तदुत्तरमनुवदति—क्रान्तिज्यां विषुवदिति ।

अत्रेष्टाग्रासमशङ्कुतद्धृतिकुज्यानां त्रैराशिकादेव सिद्धिः ।। तद्युतिभाजिताः पृथगथ प्रोद्दिष्टयुत्या हता इत्यत्रवद्धा त्रैराशिकमिति भावः ।।

अथोक्तप्रकारस्य व्याप्तिप्रदर्शकं प्रश्नान्तरं तदधिकारान्तस्थपूर्वप्रश्नैकदेशरूपं भिन्नप्रश्नानवगमायानुवदति—अग्रापमज्याक्षितीति ।।

अथ त्रिप्रश्नाधिकारोक्तप्रश्नानुवादप्रसङ्गस्मारिततत्तदधिकाराद्युक्तलग्नानयने उपस्थितं तात्कालिकार्कखण्डनपूर्वपक्षरूपप्रश्नं स्रग्धरावृत्तेनाऽऽह—आस्तां तावदिति ।

हे सुगणक । केवलं गणितक्षमो नापि तूक्तगणितयुक्तगणित । युक्तायुक्तविचारकोऽपि त्वमिति सुपदाल्लाभः ।। सिद्धान्तो ग्रन्थपूर्वार्धरूपः सगोलो ग्रन्थोत्तरार्धसहितः संपूर्णः

सिद्धान्तग्रन्थः। नन्वस्मिन्नप्रसिद्धे विचारः किमर्थमुपयोगाभावादित्यतः सिद्धान्तविशेषणमाह—गणितस्कन्धबन्धप्रसिद्ध इति। ज्योतिःशास्त्रैकदेशभूतगणितस्कन्धे ये बन्धाः प्रबन्धा ग्रन्थास्तेषु प्रसिद्धो मुख्यः ॥ तथाच प्रसिद्धत्वाद्विचारस्याप्युपयोगोऽस्त्येवेति भावः ॥ आस्तां तद्विचारः। दूरे तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ तावत्प्रथमं लग्नसाधनार्थं तात्कालिको लग्नसाधनकालिकः सूर्यः ॥ तत्र त्रिप्रश्नोक्तलग्नानयने ॥ वतेति खेदे ॥ किम्। कुतः कृत इति अस्य विचार आवश्यकः ॥ खेदस्त्वावश्यकलग्नविचारमुपेक्ष्यानावश्यकपदार्थविचारोद्योगकरणात्।

ननु यत्कालिकं लग्नं साध्यं तत्कालिकार्कग्रहेणैव तत्सूक्ष्ममन्यथा सूर्यलग्नयोः संबन्धाभावेन स्थूलत्वापत्तेरित्यतस्तात्कालिकार्ककरणेऽनिष्टमाह—नाडीषष्ट्येति ॥ किल यतः। आक्ष्या नाडीषष्ट्या दशपलयुतया दशपलयुतनाक्षत्रषष्टिघटीभिरित्यर्थः ॥ सूर्यसंबन्ध्यहोरात्रं भवति। दशफलेति षष्टिकलागतितुल्यासुधरणेन। एतदुक्तिरुपलक्षणा तत्कारणात्पलोने घुरात्रे नवपलयुतषष्टिघटीमितकाले। तत्कालिकसूर्यादानीतं लग्नमधिकं तात्कालिकसूर्याधिकं कथं भवतीति प्रकर्षेणास्योत्तरं कथय।

तथाच सूर्योदयकाले लग्नस्य सूर्यतुल्यत्वेनाधिकत्वासंभवेन सुतरां तत्पूर्वकालेऽधिकत्वासंभवः ॥ सूर्योदयानन्तरं तदधिकत्वात् ॥ अतस्ताकालिकार्ककरणे उक्तबाधकात्तदकरणं युक्ततरम्। तेन सूर्याल्लग्नस्य सूर्योदयकाले तुल्यत्वसंभवेन तत्पूर्वकाले न्यूनत्वसंभव इति भावः ॥३७॥

ननु सावनघटीग्रहे तात्कालिकार्ककरणं युक्तम्। अहोरात्रे सावनषष्टिघटीमितत्वात्ततोऽधिकदिनगतकालासंभवेन सूर्योदये सूर्यतुल्यलग्नसिद्धेरुक्तदोषाप्रसङ्गादित्यतः सावनघटीनां नाक्षत्रघटीनां वा ग्रहणे दोषस्तत्रास्त्येवेति शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—नाक्षत्रा उतेति।

अथ हठात्सावनघटचङ्गीकारेण दोषापाकरणं करोषि तर्हि तनुकृतौ लग्नकरणे। नाक्षत्रा नाड्य उताथवा सावना नाड्यास्त्वयाऽङ्गीक्रियन्ते इति त्वां प्रति पृच्छयते ॥ तत्र चेद्यदि सावना उक्तदोषापाकरणायाङ्गीक्रियन्ते तर्हि नाक्षत्रा उदयास्ताभ्यः सावनघटीभ्यः कथं केन प्रकारेण विशोध्यास्तं प्रकारं कथय ॥

ननु शोधने को वा संदेह इत्यत उदयविशेषणमाह—विसदृशा इति। विजातीयाः। तथाच योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योरित्युक्तेः सावनघटीभ्यो नाक्षत्रोदयानां विशोधनमयुक्तमतः शोधनार्थं नाक्षत्रोदयानां सावनीकरणमावश्यकं तत्तु नोक्तमिति महादोष इति भावः ॥

अथ यदि नाक्षत्रास्तदोदयशोधनं संगच्छतेऽपि। द्युरात्रसदृशे दशपलयुतषष्टिनाक्षत्रघटीमितद्युरात्रतुल्यकाले गते। सूर्योदयादिष्टकाले इत्यर्थः ॥ तात्कालिकार्काधिकं लग्नं कथमुक्तम्। समम्। सूर्योदयतुल्यं लग्नं कथं न भवति। तथाच सूर्योदयकाले सूर्यतुल्यं लग्नं नाक्षत्रघटीभिस्तात्कालिकार्केण यदि स्यात्तदा नाक्षत्रघटचङ्गीकारः सुयुक्तियुक्तः ॥ न चैवमिति पूर्वोक्तदूषणमेव। अतः फलितमाह—तत इति। उक्तदूषणादित्यर्थः ॥ सूर्यो लग्नानयने तात्कालिकः कुतः कृत इति ॥

ननु लग्नानयनोत्तरं तदविकार एवाऽऽश्चर्यो यदेष्टा घटिका विलग्नं कालश्च तत्रौद-यिकात्सकृच्चेत्युक्तेर्नाक्षत्र घटयङ्गीकारे तात्कालिकार्कप्रसक्त्योक्तदोषाभावः ।। सावनघ-टयङ्गीकारे तु चेत्सावनाः प्रष्टुरभीष्टनाडयस्तदैव तात्कालिकतिग्मरश्मेरिति तत्रैवोक्ते-स्तात्कालिकार्ककरणे दोषाभावाच्च विजातीयनाक्षत्रोदयशोधनमप्यदोषः ।। कथमन्यथा चन्द्रचक्रदिवसैक्यमूनितं चन्द्रमासभदिनैर्दिनक्षया इत्याद्युक्तं संगच्छेतेति तत्कालिकार्क-खण्डनप्रश्नोऽनुचित इति चेन्न ।।

एतत्प्रश्नस्य सावनघटीग्रहणे तात्कालिकार्को नाक्षत्रघटीग्रहणे औदयिकार्क इत्यत्र युक्तिं वदेति प्रश्ने तात्पर्यपर्यवसानात् । अस्योत्तरं त्रिप्रश्नाध्यायसावनाधिकारे लग्नार्थ-मिष्टघटिका इत्यादिना प्रागेवोक्तम् ।।

अथ गोलसंबन्धिप्रश्नानामानन्त्यसूचनार्थं प्रागुक्तं प्रश्नमनुवदति—पञ्चाङ्गुलेति ।।

अथ स्पष्टकालसंबन्धेनोक्तेः प्रसङ्गादिष्टदिग्नियमप्रश्नसूचनार्थं सममण्डलसंबन्धि प्रश्न-त्रयं क्रमेण पूर्वप्रश्नपूर्वस्थमनुवादेन पूरयति—दिनकरे करिवैरीति ॥

मार्तण्डः सममण्डलमिति । मार्तण्डे समेति ।।

अथ पञ्चाङ्गुला गणकेति प्रश्नस्य प्राक्तनं प्रश्नत्रयं पूरयित्वा प्रसङ्गात्तदग्रिमं प्रश्नचतुष्टयमनुवादेन पूरयति—यत्र क्षितिज्येति ।।

क्रान्तिज्यासमेति ।।

क्रान्तिज्यासमेति ।।

यत्र त्रिवर्गेणेति ।।

अथ प्रसङ्गात्तदधिकारस्थमुक्तप्रश्नातिव्यवहितान्तरं पाश्चात्यं प्रधानभूतमेकायनप्रश्न-मनुवदति—याम्योदक्समेति ।।४६।।

अथ च्छायाप्रश्नप्रसङ्गादविशिष्टं त्रिप्रश्नोक्तं पलभाप्रश्नमनुवदति—दृष्ट्वेष्टभा-मिति ।

नचायमुक्तप्रश्नानामादौ तत्रोक्तेः संनिहितत्वेन याम्योदक्समकोणभा इति प्रश्ना-नुवादात्पूर्वमनुवाद्य इति वाच्यम् । ग्रन्थे तत्प्रश्नयोस्तथा क्रमाभावात् ।। छायाद्वयस्यै-कानयनावगम्यत्वे चात्र च्छायाद्वयात्पलभाप्रश्नाद्भिन्नैकानयनप्रश्नं पूर्वमेतत्प्रश्नानुवाद-स्यानुचितत्वाच्च ।।४७।।

अथोक्तानां त्रिप्रश्नाधिकारप्रश्नानामुत्तराणि तदधिकार एव तत्तत्प्रश्नाग्रे सन्ति नोत्तरान्तरापेक्षेति सूचनार्थं छायाद्वयं वेति प्रश्नस्योत्तरमनुवदति—भाद्वयस्य भुजयो-रिति ।

न चोक्तप्रश्नानामेकतमप्रश्नस्योत्तरकथनमावश्यकमित्येतदुत्तरस्यैवानुवादे किं नि-यामकमिति वाच्यम् । इतरोत्तरानुवादे एतत्प्रश्नेन तदुत्तरासंबन्धप्रतीतेः संगत्यनुपपत्तेः ।।

नच दृष्ट्वेष्टभामिति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमेवानुवाद इति वाच्यम् । तदुत्तरार्याद्वयोक्तगणित-क्रियागौरवात् ।।

अथ प्रागुक्तानां प्रश्नानामुपसंहारार्थकं प्रश्नं शार्दूलविक्रीडितेनाऽऽह—अक्षाभ्यां तरणिमिति । यः । गणकः । अक्षज्याम् । सूर्यम् । दिशः ।। युगगतम् । कल्पादिगतम् । मासं चैत्रादिमासम् । तिथिं शुक्लादितिथिम् । वासरं सूर्याद्यन्यतमवर्तमानवारम् । स्वयं न वेत्ति ।। ननूक्तैतत्सर्वज्ञानाभावासंभवः ।। उक्तान्यतमावश्यं ज्ञानसंभवात् । अन्यथा गणकत्वव्याघात इत्यतो दृष्टान्तमाह—कूपोद्धतवदिति ।। कूपान्तर्गतो यदा निष्काशितस्तस्य यथा तत्कालं दिग्भ्रमस्तथा गणकानां निद्राद्युत्तरबोधसमये तत्सर्वभ्रमसंभवादिति भावः ।। स गणकः । परैश्छिद्रान्वेषिभिः । सहसा अकस्मादेव आशु शीघ्र । दिगर्कादिकम् । आदिपदादक्षज्यायुगगतमासतिथिवाराणां संग्रहः ।। त्वं कथयेति एवं पृष्टः । अस्य प्रश्नस्योत्तरं कथं केन प्रकारेण कथयति ।। सर्वाज्ञानेनावलम्बाभावात् कल्पनाशक्यत्वात् प्रकाराभावादुत्तरं न वदति ।। नन्वेवं प्रश्नोऽयं न संगच्छते ।। प्रश्ने कस्यापि ज्ञानावश्यंभावादन्यथा कल्पनानुपपत्तेरित्यत आह—वक्तीति ।। य एवं पृष्टः कल्पनान्तरेणोत्तरं वदति ।। तस्योत्तरदातुश्चरणावहं वन्दे । अवलम्बाभावेऽपि कल्पनयोत्तरं वदति स उत्कृष्ट इति तन्नमस्कारो ममाऽऽवश्यक इति भावः ।। ननु त्वन्नमस्कारेण तस्य क उत्कर्ष इत्यत आह—अमुष्येति । वा पक्षान्तरे ।। के गणकाः । अस्य सेवापरा न । अपितु सर्व एव गणका एनं सेवन्ते इत्युत्कर्षः सिद्ध इति भावः ।। अस्योत्तरं च यन्त्रवेधविधिना ध्रुवोन्नतिर्या च नतिर्भवतोऽक्षलम्बकावित्यनेनाक्षांशज्ञानम् । तुर्यादियन्त्रेण मध्याह्ने रवेर्नतांशास्तैः संस्कृताः क्रान्त्यंशास्तज्ज्यातो विलोमविधिना दोर्ज्या तस्या धनुरंशाः । प्रथमचरणेऽर्कः सायनः । द्वितीये षड्भाच्च्युतस्तृतीये षड्भयुतश्चतुर्थे द्वादशराशिभ्यः शोध्यः । वर्षचरणज्ञानमृतुचिह्नैः ।। सौम्याद्ध्रुवे वा भवेदित्यनेन दिग्ज्ञानम् । एवं मध्याह्ने प्रत्यहं स्पष्टसूर्यज्ञानम् । अद्यतनश्वस्तनस्पष्टयोरन्तरे स्पष्टा गतिरिति प्रत्यहं स्पष्टगतयो ज्ञेयाः । यस्मिन् दिने गतेरत्यन्ताल्पत्वं तद्दिने यावान्सूर्यः स्पष्टस्तदुच्चम् । तदुच्चाद्विलोमविधिना स्पष्टान्मध्यमः परं सायनः । अस्मादहर्गणः । तस्मादुक्तविधिनाऽयनांशाः स्थूलास्तैर्मध्यमो हीनो निरयनो मध्यः स्थूलः । अस्मादप्यहर्गणं संसाध्यायनांशाः पूर्वापेक्षया सूक्ष्मास्तैः सायनो मध्यमो हीनो निरयनो मध्यः किंचित्सूक्ष्म इत्यसकृत्सूक्ष्मो मध्यमोऽयनांशा अहर्गणश्च ।। अहर्गणः सप्ततष्टो वारः । अहर्गणाद्विलोमविधिना गताब्दा मासास्तिथयश्चेत्यादि यन्त्रात्सुशक्यं सिद्धान्तज्ञस्येति न निबद्धम् । अतएवायं प्रश्नो यन्त्रोत्तरसंबन्धीति ध्येयम् ।।

ननु पाट्याद्युत्तरसंबन्धिप्रश्नाः सोत्तरा उक्तास्तथा यन्त्रोत्तरसंबन्धिप्रश्नाः सोत्तराः कथं नोक्ता इत्यतो यन्त्रोत्तरसंबन्धिप्रश्नाः सोत्तरा यन्त्राध्याये निरुक्ताः सन्तीति सूचनार्थं यन्त्राध्यायस्थं प्रश्नं यन्त्रक्रमेणानुवदति—वंशस्य मूलमिति ।।

ऊर्ध्वस्थस्य गृहादिभिर्व्यवहितस्याव्यग्रमात्रं सुरवे वंशस्य प्रगुणस्य यस्य सुसमे देशे

सललोक्यते ॥ अत्रैव त्वमवस्थितो यदि वदस्यस्यान्तरं वोच्छ्रयं मन्ये यन्त्रविदां वरिष्ठपदवीं यातोऽसि धीयन्त्रवित् ॥

दूरस्थस्येति ॥

अप्याकर्ण्येति । यत्रायनांशसंस्कृतौ सूर्यचन्द्रौ । चः क्रमार्थे ॥ चतुर्द्विराशो राशिचतुष्टयमर्को राशिद्वयं चन्द्रः ॥ विपातचन्द्रः ॥ पातवर्जितचन्द्रो राश्यष्टकम् । तत्र तादृशस्थले । आशु शीघ्रम् । किल निश्चयेन । पातं क्रान्तिसाम्यरूपं कथय ॥ ननु यदायनांशाभावस्तदैते सूर्यचन्द्रपाताः—सू० ४ चं २, पा ६ अत्रायनांशाभावात्पातभुजज्याभावाच्चार्कचन्द्रगोलायनसंधी अविकृतावभिन्नौ । ३ । ६ । ९ ॥ अयनसंधिस्थचन्द्रस्तदा सूर्यपातज्ञानार्थं सूर्यगतिः षष्टिकलाश्चन्द्रगतिः खवसुमुनिमिता कल्पिता । अयनसंधितुल्यश्चन्द्रः ३ स्वेष्टकालात्कियत्कालान्तरेण भवतीत्यभीष्टचन्द्रतदासन्नायनसंध्योरन्तरमेकराशिस्तत्कलाः १८०० । चन्द्रगत्या भक्ताः फलमेष्यं दिनाद्यं २ । १८ । २८ । अनेन चालितः सूर्यः ४ । २ । १६ । पातश्चन्द्रः ६ । ० । ७ । २१ । अत्र चन्द्रस्य मध्यमक्रान्तिरुत्तरा चतुर्विशत्यंशाः २४ । शरो दक्षिणः कलात्मकः २६९ । ५९ । स्पष्टक्रान्तिरुत्तरा १९ । ३०।१ । सूर्यक्रान्तिः २० । ७ । १० । अत्र स्वायनसंधाविन्दोः क्रान्तिस्तत्कालभास्करक्रान्तिरूना यावत्तावत्क्रान्त्योः साम्यं तयोर्नास्तीति पाताविकारोक्त्या पाताभावज्ञानात्खिलमुदाहरणम् । एकादशायनांशाभ्युपगमेऽपि खिलत्वमित्यत आह—धीवृद्धिदमिति ॥ यदि त्वं धीवृद्धिदं लल्लोक्तं तन्त्रं बोबुधोष्यतिशयेन जानासि ॥ तथाच धीवृद्धिदोक्तसूर्यापमादोजपदोद्भवाच्चेद्युग्मादिजश्चान्द्रमसो लघीयान् ॥ अपक्रमा स्यान्न तदाऽस्ति पातस्तदन्तथात्वेऽपमयोः समत्वमित्यनेनात्र सूर्यक्रान्तेः २० । ३२ । चन्द्रस्पष्टक्रान्ति १६ । ४५ । रूनाऽपि सूर्यचन्द्रयो २१ युग्मौजपदस्थत्वात्क्रान्तिसाम्यसंभवः । स चायमयुग्मजश्चन्द्रमसोऽपमश्चेदपक्रमाद्भानुमतोऽधिकः स्यात् ॥ समोद्भवो वाऽनधिकस्तदैतो निपातकालो भवितान्यथाऽत इति लक्षणादेष्य इति धीवृद्धिदपक्षे तदुदाहरणस्य खिलत्वाभाव इति भावः ॥ अत एव विपातचन्द्र इत्युक्तं संगच्छते । न च तत्र तदुक्तप्रकारेण क्रान्तिसाम्यं ज्ञेयमिति प्रश्नोऽनुचित इति वाच्यम् । क्रान्त्योर्युतिरेकदिक्कयोर्विवरं भिन्नदिशोस्तु वैधृतौ ॥ विवरं समदिक्स्थयोस्तयोर्व्यतिपातेऽन्यदिशोः समागमः ॥ प्रथमः स तथाऽपरो युतैं रहितैर्वेष्टघटीफलेन तैः ॥ गतयोरथवाऽपि गम्ययोर्विवरं संयुतिरन्यथा तयोः ॥ प्रथमेष्टघटोअवधेऽमुना विहृते लब्धघटोभिरुत्तरः ॥ पातः प्रथमे गतागते गतगम्यः प्रथमाख्यकालतः ॥ इत्यनेन तत्र गणिते क्रियमाणे पातासंभवात् ॥ तथाहि ॥ प्रथमः ३५ । ५४ । अपरः ३७ । ९ । अस्मात्पातमध्यस्य दिनादिना कालः २।४४।२८। अस्मात्पुनरसकृत्तत्र क्रान्त्योः साम्यानुपलम्भ इति ॥

अथैवमेव क्रान्तिसाम्यसद्भावे तदुक्त्या तदसंभव इति प्रश्नमुपजातिकयाऽऽह—

सूर्यो विंशतियुक्तायनांशोऽष्टशतमिति । अयनांशसंस्कृतश्चन्द्रो दशांशाधिकराशित्रयम् ।

भागाधिकं राशिद्वयम् । विपातः पातविवर्जितश्चन्द्रः केवलो विंशत्यंशाधिकं राशिषट्कं चेद्यदा भवति तदानीं तत्काले पातं गम्यं वा कथय ।। यथैकादशायनांशे नवभागाधिकं राशिद्वयं रविः ।। २ । ९ ।। भागोनत्रिभं शशी । २ । २९ । एकविंशत्यंशाधिकराशित्रयं पातः । ३ । २१ । एते तात्कालिका एव कल्पिताः ।। यतोऽनयोरर्कचन्द्रयोरयनांशसंस्कृतयोर्योगोऽपरार्धे भवति ।। अत एव व्यतिपातेनात्र भवितव्यम् । अत्र रवेर्गोलायनसंधी ११ । २ । १९ । १९ ।। चन्द्रस्यापि पूर्वोक्तप्रकारेण साधितौ । अत उक्तोदाहरणेऽयं चन्द्रः २ । २९ । अस्याऽऽसन्नोऽयनसंधिः संगृह्यते । स्या(सा)यनसंधाविन्दोः क्रान्तिरिति संधि ११ । ८ ।। ३७ । २ । ८ । १। ३७ ।। तुल्यं चन्द्रं प्रकल्प्य साधिता स्फुटा क्रान्तिः सप्तदशाधिकचतुर्दशशतं १४१७ । अथ तत्कालभास्करक्रान्त्यर्थमत्रायनसंधिश्चान्द्रादूनोऽतः प्रागेवायनसंस्थो जातः । स च कियता कालेनेति । चन्द्रायनसंध्योरन्तरांशाः २ । २३ । एषां कलाः १२२३ । चन्द्रभुक्त्या खनवमुनिमितया कल्पितया भक्ताः । लब्धमेकं दिनं घटिकाश्चतुस्त्रिंशत् । अनेन कालेन षष्टिकलासितया कल्पितगत्या चालितो रविः २ । ७ । २६ । अस्य क्रान्तिर्नवाधिकं चतुर्दशशतं १४०९ । अस्याः सकाशात्स्वायनसंधिस्थचन्द्रक्रान्तिरिय १४९७ मधिकाऽतोऽस्ति क्रान्तिसाम्यम् । धीवृद्धिदपक्षे तात्कालिकयोरयनांशसंस्कृतयोः सूर्य २ । २० चन्द्रयो ३ । १० रोजयुग्मपदस्थयोः क्रान्त्योरनयोः १४२६ । २० । २८ । १३२४ । ० । ० अधिकन्यूनत्वात्क्रान्तिसाम्याभावः ।। अत्र तदुक्तानयनेन क्रान्तिसाम्यम् । तथाहि ।। क्रान्त्योरन्तरं प्रथमः । ९२ । २० । अथ कल्पितेष्टघटीभिः ६० । पातस्य गतत्वात्पूर्वं चालिताः सूर्यचन्द्रपाताः सू० २ । ८ । ० चं २ । १६ । ० । पा ३ । १० । ५० । सूर्यचन्द्रयोरपक्रमौ १४१२ । ४ । १४०९ । २५ । अत्र भास्कराचार्यमतेन गतः पातोऽपितूद्दक्तायुग्मजेत्यादिनैष्यः पातः ।। क्रान्त्योरन्तर २ । ३९ । मल्पम् । भास्कराचार्यमतेनेष्टघटिका ६० गुणे प्रथमे ५५४० । आद्यान्त्ययोरन्तरेण ८ । ९ । ४१ । भक्ते जाता अन्या इष्टघटिकाः ६१४७ । एवं पुनराभिरसकृत्कर्मणा जाताः स्थिरा इष्टघटिकाः । ७० । एवं धीवृद्धिदपक्षेऽपि प्रथमान्ययोगेन ९४ । ५९ भक्ते जाता अन्या इष्टघटिकाः । ५८ । १९ । आभिस्तदुक्तानयनेनासकृत्कर्मणा जाताः स्थिरा इष्टघटिकाः । आभिर्घटिकाभिश्चक्रार्धकालात्पातमध्यं गतमिति जातम् । अन्यथा क्रान्त्यन्तरसत्त्वे घटिकास्थैर्यानुपपत्तेः ।।

नन्वेतौ प्रश्नौ कथमनुत्तरौ धीवृद्धिदोक्तलक्षणेन पातसद्भावासद्भावयोस्तदुत्तरत्वादित्यतस्तयोरनुत्तरत्वं प्रश्नव्याजेनोपजातिकया स्फुटं प्रतिपादयति—असंभवः संभवलक्षणेऽपीति । तदुक्तपातसंभवलक्षणेऽसंभवः ।। तदुक्तासकृत्पातमध्यकालासंभवः । परिवर्तान्तरेऽपि क्रान्त्यन्तराभावाप्रसिद्धेः प्रथमः प्रश्नः स्यात् । अपिशब्दात्सर्वत्र संभवलक्षणे तदुक्तपातासंभवलक्षणे पातसंभवः । तदुक्तासकृत्प्रकारेण क्रान्त्यन्तराभावात्पातसंभवः किं कथम् । जातो द्वितीयाप्रश्नः । अत्राप्यपिशब्दान्वयात्सर्वत्रासंभवलक्षणे तत्संभव इति नियमो नेत्यर्थः ।। एवं फलितमाह—पातस्येति ।। इह प्रश्नद्वये पातस्य क्रान्तिसाम्यरूपस्य सि-

द्धान्तं तत्वं कथय चेद्यदि तव बुद्धिः क्रान्तिसाम्ये तद्विचारे प्रसृता विस्तृताऽस्ति ॥ तथा च क्रान्तिसाम्य इत्यनेन तत्काले क्रान्त्योस्तुल्यत्वं वा गणितेन निर्णीतमिति संभवासंभव-लक्षणं धीवृद्धिदोक्तमयुक्तमिति भावः ॥ ५५ ॥

अथ पातगतैष्यविपर्यासोदाहरणप्रश्नं तत्पक्षदोषरूपमिन्द्रवज्रयाऽऽह—भागोनयुक्त-मिति । एकभागोनं त्रिभम् । एकोनत्रिंशदंशाधिकराशिद्वयम् । एकभागयुक्तं त्रिभम् । एक-भागाधिकराशित्रयं चेद्यदि यस्मिन्कालेऽयनांशसंस्कृतौ सूर्यचन्द्रौ । विपातचन्द्रः । केवल-पातायुतः केवलचन्द्रो धीवृद्धिदे पातस्य द्वादशराशिशुद्धस्य पातत्वेनोक्तः । तत्पक्षे विपाते चन्द्र इत्येव वक्तुमुचितम् । भागद्वयोनो भगणः । अष्टाविंशतिभागाधिका एकादश राशयः ॥ च समुच्चये ॥ तदानीं तत्कालं पाते गतगम्यरूपं वद । यदि त्वं तत्त्वमतिशयेन जानासि । अत्र साधितावपक्रमावंशाद्यौ २३ । ५९ । २३ । ५० । सूर्ययुग्मपदस्थचन्द्रयोरधिकन्यून-त्वाद्धीवृद्धिदपक्षे गतः पातः । अत्र तदुक्तासकृत्साधनप्रकारेण गतकाले पातासंभवः ॥ आचार्यपक्षेणैकादशायनांशे चन्द्रगोलायनसंध्यो २ । २९ । १६ । २ । २९ । १६ । रेत-न्मितत्वान्निरयनचन्द्रस्य विंशतिभागाधिकराशिद्वयमितत्वेनौजपदस्थितत्वात्तत्क्रान्तेः । २३ । ५० । सूर्यक्रान्तितो २३ । ५९ । न्यूनत्वादेष्यः ॥ धीवृद्धिदोक्तसकृत्प्रकारेण चैष्यकाले पातसंभवाच्च ॥ यद्यप्यत्र सूर्यापमादोजपदोद्भवादिति धीवृद्धिदोक्तलक्षणेन स्वायनसंधा-विन्दोरित्याचार्योक्तलक्षणेन च पातासंभवस्तथाऽपि तावत्समत्वमेवेत्यादिना क्रान्त्यन्तर-कलानां मानैक्यखण्डादल्पत्वेन क्रान्तिसाम्याङ्गीकारः ॥ तथा भूतक्रान्तिसाम्यस्याग्रेऽपि संभवादेष्यत्वमिति ध्येयम् ॥

नन्वत्रापि तदुक्तलक्षणेन गत एव भवत्वित्यतः पूर्वोपसंहारप्रश्नव्याजेन तदु-त्तरं स्फुटमिन्द्रवज्रयाऽऽह—यातेऽपि पाते इति । गते । एष्यलक्ष्म ॥ धीवृद्धिदोक्तै-ष्यपातलक्षणम् । अपिशब्दात्सर्वत्र यातपाते एष्यलक्षणनियमो नेत्यर्थः ॥ तादृशमुदा-हरणं तु ॥ गोंशोनयुक्तं त्रिभमर्कचन्द्रौ चेत्सातनांशौ च विपातचन्द्रः । भागद्वयाढ्यं हि स्वयं तदानीं यातं वद त्वं यदि बोबुधीतीति कल्पितः मुक्तरीत्या । अत्र सायनार्कः २।२१। सायनचन्द्रः । ३ । ९ । सपातचन्द्र । २ । भास्करोक्तोऽयनसंधिः २ । २९ । १९ । अत्र निरयनचन्द्रस्य द्व्यंशोनत्रिभमितत्वेन प्रथमपदान्तर्गतत्वात्तत्स्पष्टक्रान्ते २३ । ५० । रर्कक्रान्तितोऽ २३ । ४१ । धिकत्वादतः पातः ॥ लल्लोक्तासकृत्प्रकारेणात्र तत्संभवाच्च ॥ लल्लमते चन्द्रस्य द्वितीयपदस्थत्वेन तत्क्रान्ते २३ । ५० । रर्कक्रान्तितो २३ । ४१ ॥ न्यूनत्वाभावादेष्यः । अत्र तदुक्तासकृत्प्रकारेण तदसंभवाच्चेति । क्वचित्स्थलान्तरे भागोन-युक्तं त्रिभमिति प्रागुक्तप्रश्ने । गम्ये एष्यपातरूपे । गम्यमेष्यलक्षणं न किंतु पातलक्षणम् । अत्र लल्लोक्तपाताधिकारे इदमाश्चर्यरूपम् । हे सांवत्सराचार्य । कालप्रधानशास्त्रतत्त्वज्ञ । श्रेष्ठ ॥ यत्संभवासंभववैपरीत्यम् । यस्य क्रान्तिसाम्यरूपपातस्य संभवस्थानेऽसंभवलक्षणम् । असंभवस्थाने संभवलक्षणमिति वैपरीत्यम् । नूनं निश्चयेन विचार्य वद ॥ उत्तरं कथय ॥ तथाच पूर्वोक्तप्रश्नविषयेषु लल्लोक्तपातासंभवासंभवगतागतलक्षणानि व्यभिचरन्तीति महद्दूषणं लल्लोक्तस्येति भावः ॥२९–५७॥

केदारदत्त :—इस प्रकार के अनेक गणितगोल के चमत्कृत बुद्धिवर्द्धक प्रश्न और समाधान भी गोलाध्याय की समाप्ति में आचार्य ने किये हैं। प्रायः इस प्रकार के सभी प्रश्नों का भंग (समाधान) ग्रहगणिताध्याय के त्रिप्रश्नाधिकारान्त में किये गये हैं और जिनका स्पष्टीकरण शिखा नामक हिन्दी भाषा माध्यम से किया गया है। यहाँ पर ग्रंथ विस्तार भय से हम इस प्रश्नाध्याय को—

'दिनकरे करिवैरिदल ४।१५ स्थिते नरसमा नरभापरदिङ्मुखी।
भवति यत्र पुटो पुटभेदने कथय तांत्रिक तत्र पलप्रभाम्॥

मात्र ३९ श्लोकोक्त प्रश्न का सयुक्तिक समाधान यहाँ पर दे रहे हैं। इसी प्रकार विषय वैदुष्य प्राप्त खगोलज्ञों से अन्य प्रश्नों का समाधान स्वयं हो जायगा।

आचार्य का कहना है कि जिस समय सूर्य सिंह राशि में १५ अंश है उस समय उस नगर में १२ अंगुल शङ्कु की छाया १२ अगुल के तुल्य ही पश्चिमाभिमुखी देखी गयी है तो, हे तान्त्रिक (= खगोलज्ञ) उस नगर की पलभा का मान बताओ। आचार्य उस नगर का अक्षांश पलभा आदि का मान का गणित चाहता है।

आचार्य का अलङ्कार शास्त्र में अशेष पाण्डित्य भी स्पष्ट हो रहा है, जैसे—करि-वैरिदल अर्थात् हाथी का वैरी सिंह शब्द का यहाँ पर सिंह राशि का दल अर्थात् ४।१५° स्पष्ट सूर्य बताया जा रहा है। आचार्य की काव्यरचना कौशल की चमत्कृति दृष्टव्य है और माननीय भी। यहाँ पर उपपत्ति में अनुपात किया है।

$$\frac{१२ \times त्रि}{छायाकर्ण} = महाशङ्कु ।$$

$$\sqrt{शङ्कु^२ - क्रान्तिज्या^२}$$

$$= तद्घृति - कुज्या = कोटि$$

$$\frac{क्रान्तिज्या \times १२}{तद्घृति} = पलभा \text{ हो जाती है ।}$$

ध्यान देने से यह स्थिति अहोरात्रवृत्त गत सूर्य का सममण्डल प्रवेश या अहोरात्रसममण्डल सम्पातगत सूर्यकालीन स्थिति संभव होती है। क्योंकि १२ अंगुल शङ्कु के तुल्य शङ्कु में १२ अंगुलात्मक छाया अर्थात् कोटि = भुज हो रहा है। तात्पर्यंयः यह ४५° दृग्ज्या कालीन स्थिति हो सकती है जो गोलपर ध्यान देने से स्पष्ट होती है।

अतः यहाँ पर समशङ्कु का मान जो = ४५° की ज्या = १२ वीं ज्या साघन गणित विधि से ज्या का मान=२४३१ होता है।

स्प० सूर्य = ४।१५।०।० की क्रान्ति ज्या ९८७।४८ होती है। इन दोनों का वर्गान्तर मूल = २२२१।१५ होता है।

क्राज्या × १२ = ११८५३।३६ में उक्त मूल २२२१।१५ का भाग देने से

$\frac{११८५३।३६}{२२२१।१५}$ = ५।२० = अङ्गुलात्मक पलभा सिद्ध होती है।

यह पलभा रीवाँ, सागर, आबू, अहमदाबाद, इन्दौर, उज्जयिनी जबलपुर····प्रायः २४ अक्षांशीय देश (विन्ध्य प्रदेश आदि) में होते हैं जो काशी के खमध्य के अक्षांश से (२५।१८।२४) =१°।१८ कला नीचे होते हैं तथा इस दिन की उत्तर क्रान्ति ८।२४ संभव है ॥२९–५७॥

इदानीं सिद्धान्तग्रथनकालमाह—

रसगुणपूर्णमही १०३६ समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः ।
रसगुण ३६ वर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः ॥५८॥

मरीचिः—नन्वयं त्र्(त्रु)ट्यादिदीत्याद्युक्तनिरूपकस्त्वत्कृतो ग्रन्थो व्यर्थः ॥ अत्रोदित विशेषाणां पूर्वग्रन्थादितत्वसंभवेन त्वत्कल्पितत्वासंभवादित्यत आर्ययाऽऽह–रसगुणपूर्णमहीति । षट्त्रिंशदधिकसहस्रतुल्यशकनृपः शालिवाहनस्तस्य समये । अतीतवर्षसंचयकाले इत्यर्थः ॥ मम भास्कराचार्यस्योत्पत्तिर्जन्माभूत् । तथा चैतद्ग्रन्थस्यैतच्छककालोत्तरं संभवादेतच्छक-पूर्वकाले सर्वजनावगतग्रन्थेष्वेतदुक्तविशेषादर्शनादेते विशेषा मत्कल्पिता इत्ययं ग्रन्थो न व्यर्थ इति भावः ॥ ननूत्पत्त्यनन्तरं तत्कालमेव ग्रन्थानिर्माणाद्ग्रन्थनिर्माणकाले च तदन्तर-कालजनवीनग्रन्थानां संभवात्तेष्वेषां विशेषाणां सद्भावसंभवात्त्वत्कृतग्रन्थवैयर्थ्यमित्यतो ग्रन्थोपसंहारव्याजेन तदुत्तरमाह—रसगुणवर्षेणेति ॥ मया षट्त्रिंशद्वर्षमितेन सिद्धान्त-शिरोमणिनामकोऽयं ग्रन्थः कृतः । मया रचित इत्यनेनाऽऽधुनिककल्पककल्पनया न कृतः किंतु स्वबुद्धिकल्पनयैवेति सूचितम् । तथाच तदन्तरकालजग्रन्थेष्वप्येषां विशेषामदर्शनान्मत्कृतग्रन्थ-वैयर्थ्यं नेति भावः ॥ नन्वेवं लाघवात्ग्रन्थसमाप्तिकालिकशालिवाहनशकातीतवर्षाणां द्विनग-दिङ्मितानां कथनेनैवाऽऽशङ्कानिवारणसंभवादुक्तरीतिगौरवमितिचेन्न ॥ बाल्यं वृद्धिर्वपुः प्रज्ञा त्वक्चक्षुः श्रोत्ररेतसी । दशकेन निवर्तन्ते मनः कर्मेन्द्रियाणि चेत्युक्त्या चत्वारिंशद्वर्षा-नन्तरं क्रमेण बुद्ध्युपचयसंभवात्तत्कालकृतग्रन्थेषु प्रेक्षावतामसंगतत्वसंशयसंभवादप्रवृत्तेरेतद्-ग्रन्थेऽपि तत्संभावनादप्रवृत्तिनिरासार्थं चत्वारिंशदन्तर्गतग्रन्थसमाप्तिकालिकस्ववयोमानकथन-स्याऽऽवश्यकत्वात् ॥५८॥

केदारदत्तः—आचार्य से स्वयं इस सिद्धान्त ग्रन्थ का रचना का काल बताया जा रहा है—

शके १०३६ में मेरा जन्म हुआ है। और अपनी अवस्था के ३६ वें वर्ष में मैंने इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की रचना की है। आधुनिक वर्षमापककाल गणना से शके १०३६ + १३५ = संवत् ११७१ में आचार्य का जन्म और संवत् १२०७ में—इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की रचना हुई है।

अथवा सन् १११४ में आचार्य का जन्म हुआ और सन् ११५० में अर्थात् आज से ८३७ वर्ष पूर्व में आचार्य ने ग्रहगणित केन्द्र के इस श्रेष्ठतम सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की रचना की है ॥५८॥

इस प्रकार प्रश्नाध्याय के सभी प्रश्नों का आचार्य द्वारा जो समाधान भी दिया गया है, विद्यार्थी वर्ग मन लगा कर आसानी से उन सभी प्रश्नों का हल स्वयं कर सकेंगे।

इदानीं विद्वज्जनानुनयादनौद्धत्यप्रतिपादनद्वारेणात्मनः प्रागल्भ्यं प्रार्थयन्नाह—

गणितस्कन्धसंदर्भोऽदभ्रदर्भाग्रधीमतः।
उचितोऽनुचितो यन्मे धाष्टर्यं तत् क्षम्यतां विदः ॥५९॥

वा॰ भा॰—गणितस्कन्धस्य संदर्भो नाम रचनाविशेषः। असावदभ्रदर्भाग्रधीमत एवोचितः। मूलप्रदेशादुपरि यानि पुष्टानि दीर्घाणि दर्भपत्राणि असावदभ्रदर्भस्तस्याग्रं यथा तीक्ष्णं तथा यस्य मतिस्तीक्ष्णा अभेद्यमपि प्रमेयं भित्त्वाऽन्तः प्रविशति तथाविधस्य गणितस्कन्धप्रबन्ध उचितः। अनुचितो मे तथापि कृतः। तद्धाष्टर्यं हे विद्वज्जना गणकाः। क्षम्यताम् ॥५९॥

इदानीमाद्यदूषणापराधं परिहरन्नाह—

ये वृद्धा लघवोऽपि येऽत्र गणका बद्ध्वाञ्जलिं वच्मि तान्
क्षन्तव्यं मम तैर्मया यदधुना पूर्वोक्तयो दूषिताः।
कर्तव्ये स्फुटवासनाप्रकथने पूर्वोक्तिविश्वासिनां
तत्तद्दूषणमन्तरेण नितरां नास्ति प्रतीतिर्यतः ॥६०॥

वा॰ भा॰—स्पष्टार्थम् ॥६०॥

मरीचिः—ननु त्वदुत्कर्षासहिष्णुत्वादभिज्ञाः सामान्यैतद्ग्रन्थाङ्गीकारं न कुर्वन्तीति तद्वैयर्थ्यमित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—गणितस्कन्धेति। मूलप्रदेशादुपरि यानि पुष्टानि दीर्घाणि पत्राणि यस्यासावदभ्रदर्भस्तांयाग्रं तद्वत्तीक्ष्णा बुद्धिर्विद्यते यस्यैतादृशस्याभिज्ञस्य। दर्भगर्भाग्रेति पाठे दर्भस्य मध्यस्थं यत्पत्रं तस्याग्रवदित्यर्थः ॥ गणितस्कन्धसंदर्भः ॥ सिद्धान्तशिरोमणिनामकोऽयं गणितस्कंन्धे उत्कृष्टः प्रबन्धः। उचितः कर्तुं युक्तः। मे ममाल्पप्रज्ञस्यानुचितः कर्तुमयुक्तः। सामर्थ्याभावात् ॥ तथाऽपि कृत इति यद्धाष्टर्यं धृष्टत्वं तद्धृष्टत्व मम हे विदो विज्ञाः क्षम्यतां युष्माभिरयं मम धाष्ट्र्यापराधः क्षन्तव्य इत्यर्थः ॥ तथा चैतत्ग्रन्थकर्तृत्वेन तादृशसौबुद्ध्यानुमानातगुणिषु गुणज्ञो रमत इत्युक्तेश्च मम तन्मान्यस्य ग्रन्थाङ्गीकारं ते कुर्वन्त्यन्यथाऽभिज्ञत्वभङ्गापत्तेरतो नैतद्ग्रन्थवैयर्थ्यमिति भावः ॥५९॥

ननु त्वया स्वकल्पनया केवलं ग्रंथश्चेत्कृतः स्यात्तर्हि त्वद्धाष्ट्र्यापराधक्षमापनं कर्तव्य त्वया तु पूर्वाचार्योक्तिदूषणमप्युक्तमिति त्वदौद्धत्यं कथं क्षन्तव्यमित्यतः शार्दूलविक्री-

डितेनाऽऽह—ये वृद्धा लघव इति । अत्रास्मिन्समये ये पृथिव्यां स्थिता वृद्धाः पुरातना गणकाः सगोलगणिततत्त्वाभिज्ञाः ।। ये लघव आधुनिकाः सांप्रतगणकाः ।। अपिः समुच्चये ।। तान्प्रति । अञ्जलि हस्ततलयोर्मिलनं बद्ध्वा संपुटीकृत्येत्यर्थः ।। अहं वच्मि वदामि ।। किं तदाह—क्षन्तव्यमिति ।। मया भास्करशर्मणाऽधुना सांप्रतं पूर्वोक्तयो ब्रह्मगुप्तलल्लाद्याचार्याणामुक्तयो दूषिताः ।। अघटमानाः प्रदर्शिता इति यद्धाष्ट्र्यं कृतं तत्तैर्लघुवृद्धगणकैः क्षन्तव्यम् । सह्यम् । तथा च युष्माभिर्मदौद्धत्यक्षमापनं गुणज्ञत्वात्कर्तव्यमिति भावः ।। ननु तत्त्वं वक्तव्यं परोक्तमतत्त्वं किमर्थं दूष्यं येनौद्धत्यं स्फुटं भवति ।। प्रदूष्य च क्षमापनविज्ञप्तिरत्यन्तमस्माकं तिरस्कारायेत्यतस्तदुक्तिदूषणे कारणमाह—कर्तव्ये इति ।। यत्तः कारणात् । स्फुटवासनाप्रकथने । तत्त्वतया पदार्थस्वरूपस्य प्रकर्षेण सूक्ष्मविचारेण प्रतिपादने कर्तव्ये सति । पूर्वोक्तिविश्वासिनाम् । पूर्वोक्तिषु विश्वासो यथार्थबुद्धिर्येषामेतादृशां भवताम् । तत्तदूषणम् । तस्य तस्यायथार्थोक्तस्य तत्तद्दूषणं तेन तेन प्रकारेणाघटमानत्वप्रतिपादनम् । अन्तरेण विना । नितरामत्यन्तम् । प्रतीतिस्तत्तत्त्वज्ञानं नास्ति न भवति ।। तथाच विना दूषणं भवतां तदुक्तविश्वासान्मदुक्तेर्यश्चार्थतत्त्वज्ञानासंभवान्मदुक्तमुपेक्षणीयं भवद्भिरतस्तद्दूषणकथनेन पूर्वोक्तिविश्वासापगमान्मदुक्तमेवापेक्षणीयमिति भावः ।।६०।।

केदारदत्त :—विद्वानों से क्षमा प्रार्थना—

ग्रहगणित की रचना विशेषता, कुशवृक्ष मूल से शिर तक की उत्तरोत्तर तीक्ष्णता की तरह अत्यन्त सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि की तरह जो विषय भेदन कर अन्तः प्रविष्ट हो जाती है, ऐसी बुद्धि से ग्रहगणित सिद्धान्त ग्रन्थ रचनात्मक ग्रहगणित प्रबन्धों के निर्माण में मेरी बुद्धि से यदि जो कुछ उचित और यदि अनुचित भी कहा जाने से मुझसे यदि कोई धृष्टता भी हुई हो तो तदर्थ विद्वत्समाज से क्षमा याचना करता हूँ ।।५९।।

विद्वज्जनों से यदि अपराधी हूँ तो क्षमाप्रार्थी भी हूँ—

इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ रचना काल में राष्ट्र में उपलब्ध वर्त्तमान उपस्थित बाल या वृद्ध गणितज्ञों, अथवा पूर्वकाल में भूतपूर्व जो ग्रहगणितज्ञ हुए हैं उन सभी के प्रति मेरी दोनों हाथों के सम्पुटीकरण अर्थात् हाथ जोड़ कर सभी से प्रार्थना है कि, मैंने पूर्वाचार्यों में ब्रह्मगुप्त तथा लल्लाचार्य सविशेष की उपपत्तियों पर जो दोष उद्घाटित किये हैं उस धृष्टता के लिये सभी आचार्यों से क्षमा की प्रार्थना करता हूँ ।

पूर्वाचार्यों से कथित उपपत्तियों में क्वचित् कतिपय स्थल विशेष पर त्रुटियों का उल्लेख किये बिना उपपत्ति में ठीक प्रतीति (विश्वास) नहीं हो पाती है, अतएव दोष का उद्घाटन आवश्यक हो जाने से यत्र तत्र स्थल विशेष पर पूर्वाचार्यों की मूल और सही पक्ष का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, यह सब भी उन्हीं पूर्वाचार्यों की देन है उनसे क्षमा प्रार्थना है । आचार्य की विनम्रता भी स्वतः सिद्ध हो जा रही है ।।६०।।

आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने
नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः ।
श्रौतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः
साधूनामवधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः ॥६१॥

तज्जस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसादः सुधी-
र्मुग्धोद्बोधकरं विदग्धगणकप्रीतिप्रदं प्रस्फुटम् ।
एतद्व्यक्तसदुक्तियुक्तिबहुलं हेलावगम्यं विदां
सिद्धान्तग्रथनं कुबुद्धिमथनं चक्रे कविर्भास्करः ॥६२॥

केचित् पिपठिषन्त्येनं प्रश्नाध्यायं हि केवलम् ।
तदर्थं लिखिता अत्र प्रश्नाः प्राग्गदिता अपि ॥६३॥

प्रश्नानमून् प्रपठतो गणकस्य गोल-
कन्दोल्लसत्सरलयुक्तिशतप्रवालैः ।
प्रश्नोत्तरार्थपरिचिन्तनवारिसिक्त -
मूलामला मतिलता समुपैति वृद्धिम् ॥६४॥

वा० भा०—स्पष्टार्थम् ॥६१-६४॥

इति श्रीमहेश्वरोपाध्यायसुतभास्कराचार्यविरचिते सिद्धान्तशिरो-
मणिवासनाभाष्ये मिताक्षरे गोलाध्यायः समाप्तः ।

मरीचि :—अथ ग्रन्थान्ते मङ्गलमाचरेदिति। विधेः परिसमाप्तग्रन्थस्य प्रचारविघ्नोपशमनार्थं च पितृवर्णनरूपं वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलं 'स्वसिद्धिकारकं शार्दूलविक्रीडितेन शिष्यशिक्षायै निबध्नाति—आसीत्सह्यकुलेति । विज्जडबिडे । विज्जडंबिनामके । इदानीं बिडेति नामैकदेशेन प्रसिद्धे । तत्कुत्रेति तत्प्रसिद्धिं तद्विशेषणेनाऽऽह—सह्यकुलाचलाश्रितपुरे इति । सह्यनामककुलपर्वतान्तर्गतभूप्रदेशैकदेशेऽवस्थितनगरे । महाराष्ट्रदेशान्तर्गते विदर्भापरपर्यायाविराडदेशादपि निकटे गोदावर्या अपि नातिदूरे । यस्मात्पञ्चक्रोशान्तरे गणेशाय नमो नीलकमलामककान्तये इत्युक्तेर्गणेशनीलवर्णप्रतिमा प्रसिद्धाऽसि । महेश्वरकृती । महेश्वरनामकपण्डितो महामहोपाध्यायः । एतेन विज्जडबिडे इत्यत्र विदिति कृतीत्वसंपादकं विशेषणं पण्डितार्थकमिति निरस्तम् । कृतीत्यस्य पण्डितार्थकत्वेन तद्वैयर्थ्यापत्तेः । अत एव बिडेत्यस्य निबिडार्थकत्वेन केवलमूर्खबाहुल्यं नगरस्यापकर्षकमनुचितमतः पण्डितमूर्खयोर्वसतिर्नगरस्यानपकर्षिकेति । आसदिभूत् । अनेन ग्रन्थसमाप्तिकाले न स्थितोऽन्यथा तद्वर्तमाने भूतप्रयोगस्यामाङ्गलिकत्वापत्तेरिति सूचितम् । नन्वयं पण्डितः कथमवगत इत्यतो

विशेषणमाह–श्रौतेत्यादि। वदसंबन्धी स्मृतिसंबन्धी यो विचारस्तत्र यः सारो विचारस्तत्रात्यन्तं समर्थः। अनेन श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानादतिशिष्ट इति सूचितम्। तथाच वेदान्तमीमांसाशास्त्राभिज्ञतया पण्डितोऽवगत इति भावः। ननु केवलतच्छास्त्राभिज्ञतया पण्डितत्वेऽपि असाधारणपण्डितत्वासिद्धिरत आह–निःशेषविद्यानिधिरिति। समस्तविद्यानां स्थानमित्युत्कर्ष इति भावः। ननु तथाऽपि प्रकृते ज्योतिःशास्त्राभज्ञतयोत्कर्षस्याभ्युपगमाद्विशेषस्तदनभिज्ञतया न तत्सिद्धिरित्यर्थः आह दैवज्ञचूडामणिरिति। सकलज्योतिःशास्त्रतत्त्वज्ञदैवज्ञानां शिरोमणिरधिकज्ञानादित्यर्थः। अस्य विशेषणस्य प्रकृतसंपादकत्वात्समाप्तपुनरात्तत्वं नेति ध्येयम्। ननु व्यु(विद्यात्र)दान्नानां नराणामृषिजत्वनियमादयं कस्मादृषेः परम्परया जात इत्यत आह—शाण्डिल्यगोत्रेति। शाण्डिल्यवंशत इत्यर्थः। ननु शूश्रूद्राणामपि तद्वंशजत्वात्तेषामध्ययनाधिकाराभावात्कथमिदमुक्तं सिध्येदत आह–द्विज इति। ब्राह्मणः। यजुर्वेदमाध्यंदिनीशाखाध्यायकः। नन्वेतदधिष्ठितपुरे जडबिडत्वादेतादृशब्राह्मणानामभावादयमेतादृशः कथमित्यतो नगरविशेषणमाह—त्रैविद्यविद्वज्जने इति। त्रैविद्या वेदत्रयाभिज्ञाः पण्डिता जना यत्र। अत एव विज्जडबिडे इत्यत्र विदां जडै, डलयोः सावर्ण्यात्। जलैः। तेज इत्यभिधानात्तेजोभिर्निबिडमिति युक्तोऽर्थः। तथा चैतादृशानां संगत्यैतादृशत्वं नासंभवतीति भावः। ननु तथाऽप्ययं लोकद्वेषकारको लोकमान्य इति नोत्कर्षसिद्धिरतो महेश्वरकृतिनो विशेषणमाह–साधूनामिति। परद्वेषशून्यानामवधिर्मर्यादा। परद्वेषशून्यः कोऽप्यस्मादधिको नास्तीत्यतो लोकमान्य इति भावः। ननु तत्र नगरे परद्वेषिलोकानां सत्त्वादयमेतादृशो नेत्यतः पुरविशेषणमाह–नानासज्जनधाम्नीति। अनेका ये सज्जनाः साधवस्तेषां धाम स्थानभूतं तस्मिन्। तथा च तदुपपत्तिरितिभावः ॥६१॥

अथ तत्संबन्ध्यहमेनं सगुणं ग्रन्थं कृतवानिति शार्दूलविक्रीडितेनोपसंहरति–तज्जस्तच्चरणेति। तज्जस्तस्मान्महेश्वरोपाध्यायाज्जात उत्पन्नः। महेश्वरोपाध्यायपुत्रो भास्करो भास्करशर्माऽऽचार्यः। एतदिदं सिद्धातग्रथनं सिद्धान्तनिबन्धनं चक्रेऽकरोदित्यर्थः। ननु तव कवित्वाशक्तेरिदं निर्मितं कथमित्यत आह=कविरिति। तथाच तच्छक्त्या तन्निर्माणे बाधकाभाव इति भावः। ननु काव्यकर्तृत्वेऽपि कल्पकत्वाभावादिदं कथं निर्मितमित्यत आह–सुधीरिति। सुष्ठु धीर्यस्यासौ। तथा चास्य कल्पकत्वसिद्ध्याऽनेन कल्पनयैवदं निर्मितमिति भावः। ननु सुधीत्वं कृत इत्यत आह–तच्चरणारविन्दयुगुलप्राप्तप्रसाद इति। पितुः पादकमलयुगुलात्सकाशात्प्राप्तः प्रसादो येनासौ। तथा च तच्चरणकमलानुग्रहादधिगतसमस्तविद्य इति सुधीत्वं नानुपपन्नमिति भावः। ननु नवीनत्वेनाऽऽधुनिकबुधानामीर्घ्यंग्रैतदपठनात्कथमेतज्ज्ञानं भवतीत्यत आह–हेलावगम्यमिति। विदां सिद्धान्तरीतिज्ञानामाधुनिकगणकानां हेलयोपेक्षाबुद्ध्या एकवारमवलोकितेनेत्यर्थः। अवगम्यं ज्ञानविषयम्। तथा च विना प्रयत्नं दर्शनमात्रेणैव ज्ञानं भवतीति भावः। कुत इत्युतो

ग्रथनस्य विशेषणान्तरमाह—व्यक्तसदुक्तियुक्तिबहुलामिति । व्यक्ताः स्पष्टाः समीचीना उक्तयो वचनानि यासाम् । एतादृश्यो युक्तयो बहुला बह्व्यो यत्र तदित्यर्थः । यथा च कठिनपदार्थस्याप्यत्रानेकस्पष्टयुक्तिभिः स्वरूपप्रतिपादनात्सुगमं तज्ज्ञानमनायासेन भवतीति भावः । नन्वेतादृशसिद्धान्तग्रन्तनं श्रीपतिभटलल्लादीनामप्यस्तीति व्यर्थमिदं ग्रथनमित्यत आह—कुबुद्धिसथनमिति । कुबुद्धीनां निष्काशनं यस्मात् । तथा च तत्र वलनाद्युत्क्रमज्यया कृतं तद्‌शुद्धमिति ज्ञानमेतन्निबन्धान्न तत इत्यादीति भावः । नन्वेतादृशादप्यस्मात् । बुद्धिप्रसारो न भवतीत्यत आह—विदग्धगणकप्रीतिप्रदमिति । विदग्धा अत्यन्तमत्राभिज्ञा ये गणकास्तेभ्यः प्रीतिं स्वानुरक्ततां प्रकर्षेण ददातीत्यर्थः । तथा चैतद्‌गन्थावलोकनेनात्यन्तं बुद्धिप्रसारादेतदनुरोधेन कल्पनासामर्थ्याच्चास्मिन्नत्यन्तं प्रीतिरिति भावः । ननु तथाऽपि मन्दानामिदमप्रयोजकमित्यत आह—मुग्धोद्‌बोधकरमिति । मुग्धानां सिद्धान्तरीत्यज्ञाना-मुत्कृष्टो बोधो ज्ञानं तत्करोतीत्यर्थः । पठनेन तत्कालमेवानायासेन तज्ज्ञानं स्यादिति भावः । अत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—प्रस्फुटमिति । अतिस्पष्टम् ॥६२॥

ननु त्रिप्रश्नाधिकारोक्तप्रश्नानामत्रानुवादः किमर्थमित्यतोऽनुष्टुभाऽऽह—

केचिद्येऽपि पठन्त्येनं प्रश्नाध्यायं हि केवलम् ।
तदर्थं लिखिता अत्र प्रश्नाः प्रागुदिता अपि ॥

ये गणकाः केचित्कतिपयाः । एनममुं प्रश्नाध्यायं सोत्तरप्रश्ननां निरूपणम् । एनमिति गोलप्रश्नाध्यायनिवारणार्थम् । एनमित्यस्य गन्थरूपार्थवारणस्य प्रश्नाध्यायमिति ॥ केवलम् । एतत्प्रश्नाध्यायव्यतिरिक्तग्रन्थपाठं विनैवेत्यर्थः ॥ अत एवास्मिन्ग्रन्थे तेषां सहजद्वेषेणापठनात्पूर्वोक्तप्रश्नाध्याये॰उत्तरानुक्तेरत्रोत्तरोक्तेरेतद्रीत्या तदुत्तरज्ञानं भवतीत्येन-मेव पठन्तीति लाभकोऽपिशब्दः ॥ तदर्थं तेषां सकलप्रश्नज्ञानार्थमत्र सोत्तरप्रश्ननिरूपणग्रन्थे प्रागुदिताः त्रिप्रश्नाधिकारोक्ताः प्रश्नाः । अपिशब्दात्पौनरुक्त्यदोषाभ्युपगमेनेत्यर्थः ॥ हि निश्चयेन । लिखिताः ॥ उक्ता इत्यर्थः ॥ अन्यथा केवलप्रश्नाध्यायपाठकस्य त्रिप्रश्ना-धिकारोक्तप्रश्नविशेषचमत्कारज्ञानानुत्पत्त्यापत्तेः ॥ अत एव तेषामेतद्‌ग्रन्थपठने प्रवृत्ति-रन्यत्रापि चमत्कारानुमानादिति सूचितम् ॥६३॥

अथास्मिन्ग्रन्थे कश्चित्कल्पकः कल्पनान्तरेण कंचिदध्यायं कृत्वा प्रश्नाध्यायानन्तरं लिखित्वा च तदन्ते रसगुणपूर्णयहीत्यादिपश्चश्लोकलेखनेम ग्रन्थसमाप्तिं करोति तद्वारणं वसन्ततिलकयाऽऽह—प्रश्नानमूनिति । अभूनुक्तान् प्रश्नान् प्रकर्षेण पठतो गणकस्य मति-लता बुद्धिरूपालता । गोलकन्दोल्लसत्सालयुक्तिशतप्रवालैः । गोल एव कन्दस्तत्संबन्धिन्यो या उल्लसत्सरलयुक्तयोऽतिचमत्कृताः सुबोधा युक्तयः । स्तासां शतं बाहुल्यं तदेव प्रवालाः पल्लवास्तैर्वृद्धिं वर्धनं विस्तारमिति यावत् । समुपैति सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोति । एतेन प्रश्नाध्यायस्य गोलाध्यायान्तर्गतत्वं सूचितम् । ननु कन्दस्य शाखाङ्कुराणां वृद्ध्यभा-

वात्कथं पल्लवैर्विस्तारः संभवतीत्यतो मतिलताविशेषणमाह—प्रश्नोत्तरार्थपरिचिन्तनवारिसिक्तमूलेति। प्रश्नानां यान्युत्तराणि उक्तानि तेषामर्थाः पदार्थास्तेषां परिचिन्तनं युक्तायुक्तविचारस्तदेव जलं तेन सिक्तं सिञ्चितं मूलं यस्याः सा। तथा चोक्तप्रश्नोत्तरचिन्तनजलेन तस्या वृद्धिसंभवादनुक्तप्रश्नोत्तरचिन्तनजलेन तस्या वृद्धिसंभवादनुक्तप्रश्नोत्तरकल्पनपल्लवैः सुतरां वृद्धिमुपैतीत्यर्थः। ननु कुण्ठितबुद्धेर्यथाकथंचिदुक्तप्रश्नोत्तरचिन्तनसामर्थ्यसंभवेऽपि कल्पकत्वासामर्थ्यान्न बुद्धिवृद्धिर्भवतीत्यत आह—अमलेति। अकुण्ठितेत्यर्थः। तथा च न क्षतिः। एतेन प्रश्नाध्यायापाठेन कल्पकत्वसंभवात्सर्वेषामयमुपयुक्त इति सूचितम्। तथा च वृद्धिशब्दस्यान्ते मङ्गलार्थकत्वाद्वृद्धिशब्दसूचिता ग्रन्थसमाप्तिः प्रश्नाध्यायसमाप्त्यैवातः प्रश्नाध्यायानन्तरं कस्यचित्कल्पिताध्यायस्य निवारणं सुशक्यम्। मध्ये तु कल्पिताध्यायस्य क्षेपकस्य निवारणं तृ(त्रु)ट्यादिप्रलयान्तकालकलनेत्याद्युक्तक्रमेणैवेति भावः। यद्यपि ग्रन्थसमाप्तित्वात्समुपैत्वित्याशीरर्थकः पाठः सुतरां युक्तस्तथाऽप्यत्राऽऽशीरूपत्वात्तद्वर्धने संशयशङ्कया प्रेक्षावतामप्रवृत्तेः समुपैतीति वर्तमानार्थकः पाठः संगच्छते। अत्रान्तस्थयगणस्य पुत्रफलत्वाद्यथा मतिवृद्धिर्भवति तथा ग्रन्थरूपपुत्रस्य प्रचाररूपा वृद्धिर्भववित्याशीः सूचिता। ग्रन्थादिस्थमगणस्य लक्ष्मीफलत्वादेतत्संपूर्णग्रन्थपाठकस्य लक्ष्मीपुत्रत्वं यावज्जीवं भवतीति सूचितम् ॥६४॥

ननु प्रश्नाध्यायसमाप्त्या ग्रन्थसमाप्तेः सत्वात्कस्याः प्राधान्यमित्यतः फञ्चिकथाऽऽह—इति श्रीभास्कराचार्यविरचिते सिद्धान्तशिरोमणौ प्रश्नाध्याय इति॥ तथा च प्रश्नाध्यायस्य प्राधान्यात्तत्समाप्तिः प्रथमं रसगुणेत्यादिग्रन्थात्पूर्वंथिति भावः॥ अनेनोत्तरार्धं समाप्तं प्रश्नास्तथा सोत्तरा इत्याद्युद्दिष्टत्रयस्य प्रतिपादनसमाप्तेरिति सूचितम्।

दैवज्ञवर्यगणसंततसेव्यपार्श्वश्रीरङ्गनाथगणकात्मजनिर्मितेऽस्मिन्।
यातः शिरोमणिमरीच्यभिधे समाप्तिं प्रश्नाधिकार इति बुद्धिभेदहेतुः ॥१॥

सत्सिद्धान्तशिरोमणेर्दलमिदं रामः प्रसादान्मया
प्रज्ञाशाणनिरूपणेन विमलं व्यक्तीकृतं विस्तरात्।
तद्दृष्ट्वा गणका मुहुर्मुहुरतिक्षोदेन चित्ते चिरं
सन्तः सारतिचारचारुमतयस्तोषं लभन्तां परम् ॥२॥

अथ पूर्वोत्तरार्धयोः संपूर्णयोर्निःशेषोद्दिष्टनिरूपणेन निष्पन्नत्वादन्ते ग्रन्थसमाप्तिद्योतकपद्योक्तेश्च ग्रन्थोऽपि समाप्त इत्याह—समाप्तोऽयं ग्रन्थ इति॥ सिद्धान्तशिरोमणिनामकोऽयं निरूपितो ग्रन्थो वृद्धिमित्यत्र संपूर्ण इत्यर्थः॥

द्विखण्डयोगान्मणिमेतमार्यो न जातु हातुं धिषणां दधातु।
यातोऽस्य शुद्धा खलु विश्वरूपप्रकाशिनी चारुतरा मरीचिः ॥१॥

गङ्गाभैशिलनगराद्गोदावर्यनुगतादुपायातः।
एलवपुरसमदेशे तटे पयो(ष्ण्याः)शुभे दधिग्रामे ॥१॥

ज्योतिर्विद्याविद्भिः सकलैः शिरसा सदा बुधैर्धार्यः ।
व्यजयत यजुःश्रुतिज्ञो गणकश्चिन्तामणिर्नाम्ना ॥२॥
तस्मादभवद्रामः सकलैः सुगुणैर्नितान्तमभिवन्द्यः ।
शासद्विदर्भदेशं मूर्ध्नाऽधाद्भूमिपो यदादेशम् ॥३॥
सोऽजनयत्सोतायां त्रिमल्लसंज्ञं सुतं विनीतायाम् ।
येन सदा विनयेन प्रकाशितं नाम भुवि नयेन ॥४॥
वल्लालस्तत्तनयः सदैव यः कविवरेषु दत्तनयः ।
अपहाय स्वग्रामं काश्यामागाद्भजन्सविष्वग्रा(ग्रा)मम् ॥५॥
ज्योतिःशास्त्रवराम्भोजप्रकाशनदिनेश्वरान् ।
प्रासूत पच्च तनयानयं गणकपुंगवः ॥६॥
ज्यायानमीषां खलु रामनामा सदैव कामारिसमर्पितात्मा ।
विभूषयन्धूर्जटिराजधानीमसाविदानीमपि संचकास्ति ॥७॥
तस्यानुजः सकलशास्त्रसरोजभृङ्गो बीजक्रियाविवृतिकल्पलतानिदानम् ।
श्रीनूरदीनपरमप्रणयैकपात्रं कृष्णो बभूव जनिपद्धतिवृत्तिकारः ॥८॥
तस्यानुजस्तु गोविन्दगणको यत्सुतोऽकरोत् ।
नारायणः केशवोक्तपद्धत्योष्टिप्पणं सुधीः ॥९॥
गौरीवल्लभपादपङ्कजमिलन्माध्वीरसास्वादन-
स्वच्छान्तः करणः श्रुतिस्मृतिरतो गोविन्दविज्ञानुजः ।
ग्रन्थे योऽर्ककृतेऽकरोद्विवरणं गूढप्रकाशं महा-
देवस्वाग्रजनिग्र(गृं)हस्थकमलः श्रीरङ्गनाथोऽभवत् ॥१०॥
तस्याऽऽत्मजो गुरुकृपाजनितावबोधः शास्त्रं विभाव्य निखिलं सहृताऽऽदरेण ।
श्रीभास्करोदितशिरोमणिगूढभावव्याख्यां मुनीश्वरकृती कृतवान् मरीचिम् ॥११
शको भूयुतो नन्दभू १९ हृत्फलस्य निरेकस्य मूलं निरेकं भवेद्भूम् ।
तदर्घं भवेन्मास इन्दूनितोऽयं तिथिद्व्यूनिता पक्षवारौ भवेताम् ॥१२॥
नक्षत्रवारतिथिपक्षयुतिश्च योगो विश्वैर्युताऽखिलयुतिः पदमभ्रवेदाः ।
अस्या यदाऽत्र परिपूर्तिमितो मरीचिः श्रीबासुदेवगणकाग्रजनिर्मितोऽयम् ॥१३॥
हराद्दन्तद्वितत्त्वघ्नान्नगभूषट्त्रि–३६१७ संयुतात् ।
मूलं वीशं ११ हर १९ घ्नाब्धि ७६ भक्तं व्येकफलं हि भम् ॥१४॥
यद्यपि टीका बहलाः शिरोमणेः परमरमणीयाः ।
मन्ये विना मरीचिं तथाऽप्यभिज्ञेषु नास्य माहात्म्यम् ॥१५॥
नैवात्रविस्तृतिदोषं निगदन्तु मनीषिणः ।
लोके मणौ मरीचेर्हि वैपुल्यं परमो गुणः ॥१६॥

तत्त्वावबोधविधुरैः कृताऽप्युपेक्षाऽस्य नो लघुत्वाय ।
विग्रैर्विहिताऽवज्ञा न क्षतये चन्दनस्य तरोः ।।१७।।

यो निर्मितावस्य परः श्रमोऽभूदिमं विजानातु कथं मनुष्यः ।
अतो ममासौ करुणामृताब्धे तोषाय भूयात्कमलापते ते ।।१८।।

अयं मरीचिस्तव सुप्रसादान्निष्पादितो निर्मल एव तस्मात् ।
ममाल्पबुद्ध्या कुहचित्सदोषः स्याद्वा तदा श्रीभगवन्विशोध्यः ।।१९।।

एतस्यार्पणतः प्रयच्छ भगवन्भक्ति निजां मे यया
स्त्रीश्रीपुत्रसुखाद्यनित्यवशतः खिन्नोऽप्यहं नित्यया ।
संसारार्णवतारणैकदृढया स्वान्तं तवाङ्घ्र्यब्जयोरा-
लम्बं मकरन्दलोलुपतया कुर्वे बलं माधव ।।२०।।

शिव राम हरे शिव कृष्ण हरे त्वदनुग्रहतस्त्विति मे वचनम् ।
व्रजतः स्वपतः सुतरामनिशं भवसागरसारणकं भवतु ।।२१।।

सर्वाङ्गानि ममापि ते प्रणतिभिः साफल्यमायान्तु वै
पादौ त्वत्प्रतिमाप्रदक्षिणविधौ तीर्थादियानेऽपि च ।
कर्णौ त्वद्गुणकीर्तनश्रवणतस्त्वत्पुष्पगन्धादिना
घ्राणं ब्रह्मपुरंदरादिदिविषद्ध्येयस्वरूपं ध्रुवम् ।।२२।।

चतुर्भुजं चक्रगदाब्जशङ्खधरं रमासेवितपादपद्मम् ।
खगेश्वरस्थं घनवर्णमेनं चक्षुर्ममेदं विषयीकरोतु ।।२३।।

कायेन वाचा मनसापिचेष्टया हृन्नित्यशो ह्यत्र भवान्तरे वा ।
भो श्रीजगन्नाथ तवार्चने स्यादिमां सदा पूरय मे फलाशाम् ।।२४।।

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकतनय-
मुनीश्वरापरनामकगणकविश्वरूपविरचितः सिद्धान्तशि-
रोमणिमरीचिः समाप्तिमगमत् ।। समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।।

शके १८१२ विकृतिनामाब्दे आश्विनवद्य ३ गुरौ तद्दिने समाप्तम् ।।
हर्डीकरविनायकेन लिखितमिदम् ।

केदारदत्तः—आचार्य ने ग्रन्थ समापन के शुभ अवसर पर अपना वंश परिचय दिया है—

सह्य पर्वत के अन्तर्गत भू-पृष्टीय एक देश में अर्थात् महाराष्ट्र देशान्तर्गत विदर्भ नामक देश के गोदावरी के समीपस्थ त्रैविद्यविद् (वेदत्रयज्ञ) विद्वज्जनों से सेवित श्रौत स्मार्तकर्मानुष्ठानरत समस्त विद्या निधान स्थान विज्जडविड–(विद् वर्तमान प्रसिद्ध ग्राम) ग्राम में शाण्डिल्य गोत्रीय लोकमान्य, अनेक सज्जनों के निवासीय ग्राम में आचार्य

महेश्वर नामक विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र श्रीमद्भास्कराचार्य इस धरणी तल में अवतरित हुये जिन्होंने इस सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की रचना की है।

जिन्होंने पिता के चरणकमल अनुग्रह से समस्त वेद-वेदांग विद्याओं को प्राप्त किया है।

सिद्धान्त रीति ज्ञान निष्ठ आधुनिक गणितज्ञों के लिये उपेक्षा से भी एक बार भी ग्रन्थ के अध्ययन करने से बिना प्रयत्न के भी इस ग्रन्थ का हृदय समझ में आ सकता है जिसकी रचना आचार्य भास्कर से हुई है। कुबुद्धियों की कुबुद्धि का मंथन के साथ सुस्पष्ट समीचीन सुन्दर उक्तियों से समग्र ग्रन्थ विभूषित है। जिसके कठिन विषयों का ज्ञान भी सरलता से पाठकों को बुद्धिगत हो जाता है।

इस ग्रन्थानुशीलन में अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान् गणकों के लिये यह ग्रन्थ प्रकृष्ट रूप में अनुरागवर्द्धक होगा। अर्थात् इस ग्रन्थ के पठन मनन अनुशीलन से उन गुणों का बुद्धि प्रसार होता रहेगा। तथा ग्रहगणित सिद्धान्तरीतिज्ञान से अपरिचित विद्यार्थी के लिये भी सरलता से ग्रन्थ ज्ञान होता रहेगा।

कुछ गणितज्ञ इस ग्रंथ के प्रश्नाध्याय का ही पठन करेंगे, इसलिये भी गोलाध्याय के पूर्व गणिताध्यायादि में प्रश्नों की विवेचना के बावजूद यहाँ पर आवश्यक समझ कर प्रश्नाध्याय का उल्लेख किया गया है।

उक्त प्रश्नों का अध्ययनशील गणक की बुद्धिलता अत्यन्त सुबोध सरल उक्तियों के प्रश्नों के उत्तरों के अर्थरूपी पदार्थों के युक्तायुक्त विचाररूपी जल से सिञ्चित मूल से बुद्धिमानों की वृद्धि विवर्धन अर्थात् बुद्धि वृद्धि की वृद्धि होती रहती है। ग्रन्थ के आदि अन्त में आचार्य द्वारा सिद्धि एवं वृद्धि शब्दों का सुन्दर उपयोग हुआ है॥६१-६४॥

इति सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के ग्रह गोलाध्याय के प्रश्नाध्यायः—१३ की श्री पंडित हरिदत्त ज्योतिर्विदात्मज पर्वतीय श्री केदारदत्त जोशी कृत सोपपत्तिक "केदारदत्तः" हिन्दी व्याख्यान सम्पन्न।

संवत २०४४ श्रावण शुक्ल चतुर्थी गुरुवार उत्तरा फाल्गुनी, बव। ३०-७-१९८७।

श्लोकानुक्रमणिका

———

आपने उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले की पण्डित परम्परा के ज्योतिर्विदों की वंशावली से संसेवित 'जुनायल' ग्राम में जन्म लेकर, अपने पूज्य पिता पंडित हरिदत्त ज्योतिर्विद् से यथोचित ज्योतिष एवं शाक्त तथा तन्त्र शास्त्र का अध्ययन किया। तदनन्तर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ग्रहगणित एवं फलित-ज्योतिष दोनों विषयों में ज्योतिष-शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त कर ब्रह्मर्षि महामना पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय जी के सम्पर्क में रहते हुए, प्राच्य विद्या संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९३८ से सितम्बर सन् १९७५ तक अध्यापन-कार्य करते हुए अवकाश ग्रहण किया। सम्प्रति १/२८ हरिहर्ष-निकेतन, नगवा (नलगाँव), वाराणसी में अपने आवास में श्री केदारेश्वर मंदिर में श्री केदारेश्वर लिङ्ग की पूजा-अर्चन के साथ अपनी दैनिक पूजा, वेद पुराण पाठ और शाक्त तन्त्र उपासना के साथ ज्योतिर्विद्या से जनता की यथोचित सेवा कर रहे हैं। वार्धक्य होने पर भी आप ग्रहगणित-शोध-कार्य, ग्रन्थ-लेखन और धार्मिक-सामाजिक कार्यों में संलग्न रहते हैं।

ग्रहलाघव

त्रिस्कन्ध ज्योतिष में गणित का स्थान सर्वोपरि है। दैवज्ञ श्री गणेश विरचित ग्रहलाघव ग्रहगणित ज्योतिष की एक अद्भुत रचना है। इसमें वर्तमान कल्प से लेकर अहर्गण (दिनसमूह) साधन कर उसके तीन खण्डों के तीसरे लघुखण्डीय दिनसमूह से ग्रहों की आकाशीय वस्तुस्थिति का जो चमत्कारिक सिद्धान्त दिया गया है वह आज सभी ग्रहगणितज्ञों से मान्य हो रहा है। पञ्चाङ्ग गणित साधन की ऐसी सरल शुद्ध उपलब्धि आचार्य श्री गणेशजी तक ही सीमित रही है।

१६ अध्यायों का यह ग्रन्थ बड़े लम्बे अरबों की संख्याओं के गणित की गुणन-भाजन की ग्रहगणित की असुविधा का लघु आंकड़ों द्वारा समाधान चमत्कारिक ढंग से कर देता है। इसीलिए इसे 'ग्रहलाघव' नाम दिया गया है।

(अजिल्द) रु० ५०; (सजिल्द) रु० ६०

मुहूर्त्तचिन्तामणि

किसी भी शुभ कार्य का आरम्भ करने के लिए इष्ट मुहूर्त्त का ज्ञान होना आवश्यक है। इस दिशा में प्रस्तुत कृति अतीव उपयोगी सिद्ध हुई है। इसमें तेरह प्रकरणों में तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, लग्न सम्बन्धी विचारों के, गर्भाधान, नामकरण, उपनयनादि संस्कारों के, गृहारम्भ, गृहप्रवेश, देश-विदेश यात्रा, राजाभिषेक, अभियानादि के लिए शुभ मुहूर्त्त देखने की विधि बतलाई गई है। मूल संस्कृत व्याख्या के साथ 'पीताम्बरा' हिन्दी व्याख्या भी जोड़ दी गई है।

(अजिल्द) रु० ६५; (सजिल्द) रु० ९५

श्री नीलकण्ठ दैवज्ञ विरचित

ताजिकनीलकंठी

आचार्य नीलकंठ ने सन् १५८५ में इस ग्रन्थ की रचना तीन तन्त्रों में की :

(१) **संज्ञातंत्र**—इसमें राशियों का दिग्देश-स्वरूपादि वर्णन, किसी भी नवीन वर्ष प्रवेश का सूक्ष्म समय ज्ञान द्वारा वर्ष कुण्डली ज्ञान, ग्रहों के बलों अथवा परस्पर की दृष्टियों का विचार किया गया है। तथा इसी तन्त्र में वर्ष भर में प्राप्त होनेवाले इन्थशाल-इक्कवाल-इन्दुवारादि सोलह योगों का विवेचन हुआ है।

(२) **वर्षतन्त्र**—इसमें वर्ष-मास-दिनेशादि ग्रह निरूपण, प्रथमादि द्वादश भावों का फल-विचार, दशाक्रम व विचार के साथ राजाओं के आखेट-भोजन-स्वप्न आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

(३) **प्रश्नतंत्र**—इसमें ग्रहों की अवस्था, स्वरूप, जय, पराजय, शरीर, रोग, धन-पुत्र, स्त्री, आयु, तीर्थगमन, विदेशगमन प्रभृति अनेक प्रश्नों का विचार किया गया है। हिन्दी में 'हरिनेत्रवल्लभा' व्याख्या सरल, सुगम और स्पष्ट है।

(अजिल्द) रु० ७०; (सजिल्द) रु० १००

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना

बंगलोर मद्रास